वैदिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में

निघण्टुकोष के पर्यायवाची नामों में अर्थ भिन्नता

डॉ० ज्ञान प्रकाश शास्त्री

वैदिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में

निघण्टुकोष के पर्यायवाची नामों में अर्थभिन्नता

वैदिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में

निघण्टुकोष के पर्यायवाची नामों में अर्थभिन्नता

डॉ. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार
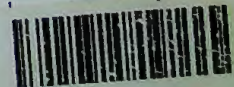
परिमल पब्लिकेशन्स
दिल्ली

प्रकाशक
परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८, शक्ति नगर
दिल्ली - ११०००७
दूरभाष : ०११-२३८४ ५४५६, ५५४४१५१६
E-mail : parimal@ndf.vsnl.net.in
URL : parimalpublication.com

प्रथम संस्करण २००५

मूल्य : १२००.००

ISBN : 81-7110-271-9

मुद्रक:
जे.एन. प्रिंटर्स
२३४, गली नं. ८
पदम नगर, दिल्ली

प्ररोचना

परमात्मना जगन्निर्मितिरियं मानवेतरयोनिप्रसूतानां प्राणिनां भोगाय मानवयोनिजानां प्राणिनां भोगाय मोक्षाय च संकल्पिता। पशुपक्षिणां स्वकर्मफलानुसारं भोगान्तं जीवनम्। मानवानां वेदादिसकलसच्छास्त्र-ज्ञानानुसारं भोगसाधनपुरस्सरं मोक्षान्तं जीवनम्। ज्ञानाज्ञानजनित-कर्मविपाकः सुखात्मकदुःखात्मक-द्वन्द्वानुभवनाय परिकल्पितः। शुद्धज्ञानमीमांसनमृताय प्रतन्यते। ज्ञानमयं चक्षुस्तत्र वेद एव, अतो निगद्यते **'वेदश्चक्षुः सनातनम्'**। निगमागमपारदृश्वानो ये मुक्तात्मनः साक्षात्कृतधर्माणो धृतधर्मदेहा आप्ता जना ऋषि-महर्षि-यति-मुनिपदबोध्या जातास्तैरेवाविकलतया वेदावगमाय वेदाङ्गानि परिकल्पितानि। **'ब्राह्मणेन निष्कारणो षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'** इत्युदीर्य वेदविद्भिर्वेदाङ्गानां महत्त्वमाख्यातम्। वेदं पुरुषधिया ध्यायं ध्यायं यन्नाम रूपकं परिकल्पितं तदतीव याथातथ्यावहं रमणीयम्—छन्दसि पादयोः कल्पे हस्तयोः ज्योतिषि चक्षुषोः निरुक्ते श्रोत्रयोः शिक्षायां घ्राणस्य व्याकरणे मुखस्य चारोपणं वेदपुरुषकल्पनायालम्।

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ उच्यते,
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्,
साङ्गान्यधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः' शास्त्रानुसारं वेदस्य श्रवणश्रावणप्राधान्यात् श्रुतिरिति नामजातम्। प्रथमतः श्रूयते ततो गूढं निगूढं वा चिन्त्यते मन्यते। यथा पुरुषशरीरे श्रोत्रयोर्महिमा विद्यते तथैव वेददेहे निरुक्तस्य महिमा महीयानस्ति। केचन निरुक्तव्याकरणयोरैक्यं मन्वते परमुभयोरैक्यमपि पार्थक्यमावहति प्रवृत्तिवैभिन्यात्। यद्यपि निरुक्तकारो निरुक्तिकरणे व्याकरणमाश्रित्य स्वप्रवृत्तिमातनोति, परं केवलं व्याकरणमेव निरुक्तिमूले न, अपितु तद्भिन्नं यदप्यस्ति तदपि निरुक्तिकरणक्षमम्। अत एवोक्तं वेदार्थवत्तामुद्वीक्ष्य वेदमहिमानं स्थिरयितुं **'निर्ब्रूयात् न निर्ब्रूयादिति न'**। वेदार्थे यदि कश्चिद् वेदवेत्ता वेदभाष्यकरणे अर्थवैचित्र्यं वैविध्यं वैदग्ध्यं ज्ञानविज्ञानचिन्तनपारङ्गत्यं प्रकटयितुं वेदमहिमानं चोद्गातुमीहते तर्हि तेन वेदविदा निरुक्ते निजादरभावोऽभिवर्धनीयः। युगप्रवर्तकेन वेदोद्धारकेण महर्षिणा देवदयानन्देन निरुक्तपद्धत्या यद्वेदभाष्यं कृतं तदमृतमयम्, अज्ञानतिमिरहरम्, भ्रमनिवारकम्, वेदनिष्ठोद्भावकं वैज्ञानिकार्थकपाटोद्घाटकं विद्यते। एकार्थबोधका ये शब्दा भवन्ति ते शब्दाः पर्यायवाचकसंज्ञां लभन्ते। एतत्तु सत्यमेव यद् यदि दश शब्दा एकं पदार्थं प्रकटयन्ति तदा ते स्थूलमेवार्थं सर्वे मिलित्वा कथयन्ति। सूक्ष्मेक्षिकया यदि चिन्त्यते तदा ज्ञायते यत् कश्चित् पर्यायवाचको गुणवत्तया कश्चित् कार्यवत्तया कश्चिद् रूपवत्तया कश्चिद् जातिवत्तया अर्थवैभिन्यं प्रकटयति, एतेन ज्ञायते यत् सर्वे शब्दाः पर्यायवाचका सन्तोऽपि एकार्थं बोधयन्तोऽपि सूक्ष्मतयार्थवैशिष्ट्यमपि प्रकाशयन्ति।

अथ ये वैदिक-लौकिक-संस्कृत-वाङ्मयोपासका वाग्देवी-दत्त-वरप्रसादाः शास्त्रालोचन-कृतभूरिश्रमा तत्त्वालोचन-पर्यालोचन-चतुरा अनूचानकल्पाः ब्रह्मविदः सातत्येनोद्गीथगीतोद्गायका शारदातनय विद्वांसो जगत्यां स्वमहिमानं विकिरन्तो जन्मस्थलीं जन्मना क्रीडास्थलीं क्रीडया पितृस्थलीं बालोचितया लीलया

विद्यास्थलीं विद्यया विभासयन्तः स्वस्वकर्मक्षेत्रमवतीर्य निरालसतया संस्कारवत्या गिरा प्रभाववत्या प्रतिमया प्रगतिदायिन्या गत्या साफल्येन कार्यं साधयन्तो मित्राणां स्वजनानां मत्सरशून्यानां पाठकानां सामाजिकानां मनसि प्रसादमाह्लादमानन्दमुत्साहञ्च जनयन्ति तेषामेवान्यतमो विद्वान् विद्याविनयसम्पन्नः सरलो मधुरो वाग्मी उदार ओजस्वी च विद्यते च ज्ञानप्रकाश शास्त्री। अनेन विदुषा निरुक्तमनुदिनमधीत्य लब्धं किमपि विलक्षणं निरुक्तलोचनपाटवम्।

पर्यायवाचकनामपदानि निघण्टुकोषस्थानि समालोक्य तेषां निगूढार्थपार्थक्ये स्वमतिं वितन्वता विदुषा महता परिश्रमेण शोधकर्मकृतम्। विदुषा लिखिते **'वैदिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में निघण्टुकोष के पर्यायवाची नामपदों में अर्थभिन्नता'** शोधप्रबन्धे तादृशी चिन्तनजन्यार्थ-पद्धतिरक्षिलक्षीक्रियते याऽतीव प्रशस्या।

लेखकेन विदुषा ग्रन्थेऽस्मिन् एकविंशतितमानां पृथिवीवाचकनामपदानाम्, पञ्चदश हिरण्यवाचकनामपदानाम्, षोडश अन्तरिक्षवाचकनामपदानाम्, षट् साधारणवाचकनामपदानाम्, पञ्चदश रश्मिवाचकनामपदानाम्, अष्ट दिशावाचकनामपदानाम्, त्रयोविंशती रात्रिवाचकनामपदानाम्, षोडश उषावाचकनामपदानाम्, द्वादश दिवसवाचकनामपदानाम्, त्रिंशत् मेघवाचकनामपदानाम्, सप्तपञ्चाशत् वाग्वाचकनामपदानाम्, एकोत्तरशतसंख्या-परिगणितनामुदकवाचकनामपदानाम्, सप्तत्रिंशत् नदीवाचकनामपदानाम्, षड्विंशानां अश्ववाचकनामपदानाम्, आदिष्टोपयोजनवाचकदशनामपदानाम्, ज्वलद्वाचकैकादश नामपदानां च सम्यक्तया शुद्धचिन्तान्विता वैदिकसाहित्ये या पाठकजनसुगम्या अर्थभिन्नतोन्मेषिता सा नूनमेवार्थचमत्कृतिप्रसङ्गे विदुषां प्रशंसनविषया भविष्यति।

निगमागमविद्याक्षेत्रमभिनिविष्टानां विदुषां चिन्तनकमलकालिकोन्मेषाय ग्रन्थोऽयं प्रसिद्धिमेष्यतीति मन्यमानोऽहं ग्रन्थलेखकस्याभ्युदयं कामये।

दिनांक-१-८-२००५

(हस्ताक्षर)

(प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री)
आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

पुरोवाक्

भारत ही नहीं अपितु विश्वसंस्कृति की प्राचीनतम निधि वेद हैं, इस सत्य को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है। भारतीय नवजागरण के पुरोधा महर्षि दयानन्द सरस्वती ने **'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है'** इस सत्य को बड़े स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। उसमें वह समस्त ज्ञानविज्ञान निहित है, जो मानव के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक उन्नति के लिये अपेक्षित है। वेद रहस्य के मर्मज्ञ आचार्य यास्क भी निरुक्त के प्रारम्भ में कहते हैं:-**''पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे''**[१] कि पुरुष अर्थात् परमात्मा की विद्या नित्य होने से वेद के मन्त्रों से किया जाने वाला कर्म सफल होता है।

शतपथ-ब्राह्मण का अभिमत है:-**''परोऽक्षकामा हि देवाः''**[२] गोपथ-ब्राह्मण भी कहता है:- **''परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः''**[३] कि देवता परोक्षप्रिय और प्रत्यक्ष से द्वेष करने वाले होते हैं। यह वचन तब और गूढ हो जाता है, जब आचार्य पाणिनि जैसे उद्भट विद्वान्, जिनकी वेद के प्रति निष्ठा को सन्देह से नहीं देखा जा सकता और जिन्होंने अपने व्याकरण का गठन केवल वेद को ध्यान में रखकर किया है और इसी कारण उन्हें अष्टाध्यायी में ११ बार **'बहुलं छन्दसि'**[४] सूत्र परिगणित करना पड़ा है, ने एक भी देवता वाचक शब्द को व्युत्पन्न करने का प्रयास नहीं किया है। भला यह कैसे विश्वास किया जा सकता है कि जो महामनीषी रूस से लेकर सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप भाषाओं को व्याकरण के नियमों बाँध सकता है, वह इन्द्र, अग्नि सदृश देवताओं से अपरिचित रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि वह भी उक्त शतपथ-ब्राह्मण-वचन या उस जैसी किसी परम्परा अथवा मान्यता से प्रभावित है। इसलिये अष्टाध्यायी के माध्यम से देवता वाचक पदों को निष्पन्न करना सम्भव नहीं है।

जब हम देवता के स्वरूप को हृदयङ्गम नहीं कर सकते, तब उनके माध्यम से कर्मसम्पत्ति अर्थात् कर्म की सफलता कैसे सम्भव बनायी जा सकती है? यह एक ऐसा यक्ष प्रश्न है, जो मेरे मन को उद्वेलित करता रहा है और मेरी यह मान्यता भी रही है कि वेद के शब्द, शब्द न होकर कोड (गूढ) हैं और जब तक उनको डिकोड (उनके रहस्य को उद्घाटित) नहीं किया जाता है, तब तक वेद के मर्म को समझना सम्भव नहीं है। उक्त उद्देश्य को सामने रखकर, वैदिक निघण्टु कोष को आधार बनाकर प्रस्तुत अध्ययन की योजना का शुभारम्भ किया गया।

---

१. निरु०,१.१.

२. शत०ब्रा०,६.१.१.२; ७.४.१.१०.

३. गो०ब्रा०,१.२.२१.

४. अष्टा०२.३.६२; ४.३९; ७३; ३.२.८८; ५.२.१२२; ६.१.३३; ७.१.८; १०; १०३; ३.९७; ४.७८;

निघण्टुकोष में पाँच अध्याय हैं। इनमें से प्रथम तीन अध्यायों में कोषकार ने पर्यायवाची, चतुर्थ अध्याय में ऐकपदिक एवं पञ्चम अध्याय में देवतावाची पदों का सङ्कलन किया है। निघण्टु के उक्त तीन विभागों को क्रमशः नैघण्टुक, ऐकपदिक एवं दैवत काण्ड के नाम से जाना जाता है।

प्रस्तुत अध्ययन में नैघण्टुक काण्ड को शोध का विषय बनाया गया है। इस काण्ड के सभी पदों का अध्ययन सीमित कलेवर में सम्भव न होने से प्रस्तुत अध्ययन में उक्त काण्ड के प्रथम अध्याय को लक्ष्य बनाकर गहन अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। सुविधा की दृष्टि से निघण्टु के प्रथम अध्याय को निम्न दस भागों में विभक्त किया गया है:-१. प्रथम अध्याय में पृथिवी एवं हिरण्यवाचक पदों का अध्ययन किया गया है। २. द्वितीय अध्याय में अन्तरिक्ष, साधारण तथा रश्मिवाचक पदों को अध्ययन का विषय बनाया गया है। ३. तृतीय अध्याय में दिशा तथा रात्रिवाचक पदों को ग्रहण किया गया है। ४. चतुर्थ अध्याय में उषा तथा दिवस वाचक पदों का अध्ययन किया गया है। ५. पञ्चम अध्याय में मेघवाचक पदों को उद्देश्य बनाकर कार्य किया गया है। ६. षष्ठ अध्याय में वाग्वाचक पदों का अध्ययन किया गया है और यह जानने का प्रयास किया गया है कि उक्त पद किस विशिष्ट सन्दर्भ में प्रयुक्त किये जाते हैं। सप्तम और अष्टम अध्यायों में उदक वाचक नामपदों का व्यापक अध्ययन किया गया है। जहाँ अन्य भाषाओं में उदक वाचक शब्द एक या दो मिलते हैं, वहाँ दैवीवाक् संस्कृत के प्रथम कोष निघण्टु में एक सौ उदक वाचक पद परिगणित हैं। ये सभी शब्द सामान्य उदक के वाचक नहीं हो सकते, यह ध्यान में रखते हुए वेद और वैदिक साहित्य के आधार पर उनके मध्य विभाजक रेखा खींचने का प्रयास किया गया है। ९. नवम अध्याय में नदी वाचक पदों का विस्तृत और विवेचनापूर्ण अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। १०. दशम अध्याय में अश्व, आदिष्टोपयोजन तथा ज्वलद्वाचक पदों का अध्ययन किया गया है। उक्त शोधपरक अध्ययन का एकादश अध्याय उपसंहार से सम्बन्धित है। इस अध्याय में पूर्व के समस्त अध्यायों का सार प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के आरम्भ में निघण्टु के सङ्कलनकर्ता के विषय में अन्तः साक्ष्य एवं अन्य विद्वानों प्रस्तुत विचारों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है तथा साथ ही निघण्टुकार की परिगणन शैली का परीक्षण करने का भी प्रयास किया गया है।

प्राचीन निरुक्त परम्परा और आज के भाषाविज्ञान का उद्देश्य लगभग समान है। दोनों की मुख्य दृष्टि शब्द के अर्थ पर केन्द्रित है। जहाँ निरुक्त शब्द और अर्थ के सम्बन्धों को प्रत्यक्ष करने पर बल देता है, वहीं भाषाविज्ञान शब्द के मूल स्वरूप तथा अर्थ को जानने के लिये लालायित है।

प्रस्तुत अध्ययन में उक्त दृष्टि को आधार बनाया गया है। शब्द और अर्थ के सम्बन्धों को प्रत्यक्ष करने के लिये जहाँ वेद, ब्राह्मणग्रन्थ और निरुक्त की निर्वचन परम्परा का आश्रय लिया गया है, वहीं व्याकरण और भाषा-विज्ञान के माध्यम से यात्रा करते हुए शब्द के आदिम रूप और अर्थ तक पहुँचने का प्रयास भी किया गया है। इस प्रक्रिया में ऐसा अर्थ प्राप्त होता है, जो अन्य पर्यायवाची शब्दों से भिन्न है।

किसी भी शब्द के मूल तक पहुँचने के लिये प्राचीन साहित्य की आवश्यकता होती है। यह हमारे

देश, संस्कृति और यहाँ तक विश्व का सौभाग्य है कि हमारे पास ऐसी भाषा है, न केवल भाषा है, अपितु ऐसा साहित्य भी है कि जो विश्व में प्राचीनतम है। इसका आश्रय लेकर भाषाविद् शब्दों के उन प्राचीनतम रूपों और उनमें अन्तर्निहित अर्थभण्डार को भी जान सकता है तथा यह पता लगा सकता है कि अमुक शब्द किन परिवर्तनों से होता हुआ आज यहाँ पहुँचा है।

भाषाविदों के समक्ष यह एक चुनौती है कि वे यह पता लगायें कि पर्यायवाची शब्द किस दृष्टि से भिन्न हैं? प्राचीन भाषाविदों ने इस दिशा में गम्भीर प्रयास किया था, इसलिये सम्भवतः, उन्होंने धातु को भाषा के क्षेत्र में प्रतिष्ठापित किया। इसके माध्यम से भी हम पर्यायवाची शब्दों के मध्य विभाजक रेखा खींच सकते हैं।

इस प्रकार पर्यायवाची शब्दों में अर्थभिन्नता का पता लगाने के लिये त्रिविध उपायों को अङ्गीकार किया गया है, प्रथम-धातु और उससे सम्बन्धित व्युत्पत्तियों एवं निर्वचनों का आश्रय लिया गया है। द्वितीय-तुलनात्मक भाषाविज्ञान का आश्रय लेते हुए प्राचीनतम रूप और अर्थ को अन्वेषित करने का प्रयत्न किया गया है। तथा तृतीय-वैदिक उद्धरणों का अध्ययन करके यह ज्ञात करने का अध्यवसाय किया गया है कि किस विशिष्ट सन्दर्भ में उस शब्द का प्रयोग होता रहा है। वह सन्दर्भ विशेष ही उस शब्द का विशिष्ट स्वरूप है। तदनन्तर यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया गया है कि वस्तुतः, उस शब्द का मूल क्या है? प्रत्येक गण के शब्दों में विद्यमान अर्थभेद को सङ्क्षेप में स्पष्ट करने के लिये तालिका प्रस्तुत की गयी है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में शतपथ-ब्राह्मण में व्यक्त भावना को ध्यान में रखते हुए वैदिक नामपदों के विशिष्ट स्वरूप को रूपायित करने का प्रयास किया गया है। यह प्रयास कहाँ तक सफल हुआ है और भविष्य में प्रस्तुत विषय मे किस प्रविधि का प्रयोग अपेक्षित है, इस विषय में आप सभी विद्वज्जनों के निर्देश एवं सुझाव अपेक्षित हैं।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में वैदिक वाङ्मय को हृदयङ्गम बनाने के लिये मैंने आचार्य यास्क, दुर्ग, स्कन्द, सायण, वेङ्कट माधव तथा महर्षि दयानन्द प्रभृति व्याख्याओं का न केवल अवलोकन किया है, अपितु निष्कर्षों को सुसङ्गत बनाने के लिये उनको आधार भी बनाया है। निश्चित रूप से उक्त व्याख्याकारों के अभाव में वेद को निघण्टु के परिप्रेक्ष्य में समझ पाना शायद सम्भव न होता। अतः, उक्त समस्त परम्परा के प्रति मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। जिनके अथक परिश्रम ने वेद के प्रत्येक पद तक पहुँचना सुगम बनाया है, ऐसे विश्वेश्वरानन्द-वैदिक-शोध-संस्थान की महनीय विद्वन्मण्डली को नमन न करना कृतघ्नता होगी। ये वे नींव के पत्थर हैं, जिन पर सुरभारती के शोध का भविष्य निर्भर है। भाषा-विज्ञान की जटिल गुत्थियों को सुलझाने में डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा की कृति **'दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क'** ने विशेषरूप से मार्गदर्शन प्रदान किया है। इसी प्रकार संस्कृतभाषा के शोधपरक अध्ययन की दृष्टि से आधारभूत ढाँचा खड़े करने में पुरोधा की भूमिका का निर्वाह करने वाले श्रीयुत् मोनियर विलियम्स के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित न करना कृतघ्नता होगी। उनकी कृति **'संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी'** ने भी भाषा-विज्ञान और वेद को समझने में विशेष सहयोग प्रदान किया है।

आदरणीय गुरुवर डॉ. रामनाथ वेदालङ्कार, पूर्व आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, का मुझे एम० ए० में अध्ययन करते समय से ही वात्सत्यपूर्ण निर्देशन प्राप्त होता रहा है, वेद के क्षेत्र में उनके कार्य मेरे जैसे छात्रों का सर्वदा पथ-प्रदर्शन करते रहे हैं, मैं हृदय से उनको नमन करता हूँ। श्रद्धेय डॉ. सत्यप्रकाश सिंह, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़, जिनके निर्देशन में मुझे पी-एच०डी० करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, के प्रति आभार प्रकट करने के लिये मेरे पास शब्दों का अभाव है, उनकी विश्लेषण शैली ने मुझे गहरे तक प्रभावित किया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में मैंने गुरुचरणों द्वारा प्रदर्शित शैली का ही अनुसरण करने का यथासम्भव प्रयास किया है। फिर भी, इस शोध-प्रबन्ध में न्यूनतायें रह गयी होंगी, ये सब मेरी अध्ययन की न्यूनता तथा प्रमाद का परिणाम है।

यह अत्यन्त गूढ विषय है। यदि इसमें कुछ भी सार्थक बन पड़ा है, तो वह गुरुजनों के चरणों का सान्निध्य और आशीर्वाद का सुफल ही होगा। निघण्टु पर कुछ कहना असम्भव नहीं तो अत्यन्त दुरूह अवश्य है। इस सब का श्रेय समस्त गुरुजनों को है। ईश्वर अनुकम्पा, गुरुजनों के आशीर्वाद तथा सत् प्रेरणा के विना यह कार्य असम्भव था। अतः, मैं अपनी समस्त गुरुपरम्परा को नमन करता हूँ। विशेषरूप से आर्ष गुरुकुल, एटा, के आचार्य स्वनाम धन्य, परमपूज्य, श्रद्धेय श्री पं० ज्योतिःस्वरूप जी का। यदि शास्त्र में कुछ गति सम्भव हो सकी है तो निश्चितरूप से यह उनके असीम अनुग्रह का फल है। उपलब्धि के इन क्षणों में परम पूज्य गुरुदेव प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री, आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, को स्मरण न करना मानो वेद की मूलचेतना को विस्मृत कर देना होगा, आपके विश्लेषण वेदमार्ग की कठिन से कठिन गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ रहे हैं, अतः आपके चरणों में श्रद्धापूर्वक नमन करता हुआ मैं आशीर्वाद की अपेक्षा रखता हूँ। जिन्होंने मेरा हमेशा उन्नति का पथ प्रशस्त किया है और जिनसे मेरा परिचय शैशवकाल से रहा है, ऐसे महनीय, सात्त्विकवृत्ति सम्पन्न डॉ. महेश विद्यालङ्कार, प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, को श्रद्धापूर्वक स्मरण करता हुआ भविष्य में इसी प्रकार के मार्गदर्शन की उनसे अपेक्षा है।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के स्वनामधन्य कुलपति माननीय प्रो. स्वतन्त्र कुमार को स्मरण न करना गुरुकुल परम्परा की उपेक्षा होगी। आप जबसे कुलपति पद पर अभिषिक्त हुए हैं, निरन्तर गुरुकुल परम्परा को आगे बढ़ा रहे हैं और आपका यह प्रयास है कि महर्षि द्वारा दिखाये गए आलोक में वेद पर कार्य हो, इस उद्देश्य की पूर्ति में जिन संसाधनों की अपेक्षा होती है, उपलब्ध कराते रहते हैं। अतः इस अवसर पर कृतज्ञतापूर्वक आपका उल्लेख सर्वहुत यज्ञ करने वाले तथा इस विश्वविद्यालय के संस्थापक आचार्य मुंशीराम की परम्परा के प्रति नमन है।

इस शोध-प्रबन्ध पर कार्य करना शायद सम्भव ही न होता यदि सम्भव भी होता तो उसको पूर्ण करना कम से कम मेरे जैसे आलसी व्यक्ति के लिये कितना कठिन है, यह मैं ही जानता हूँ। यह शोध कार्य जो

आज साकार रूप ले रहा है, उसके इतने शीघ्र आने का एकमात्र कारण मेरी सहधर्मचारिणी श्रीमती नीलम अरोड़ा हैं, जिनकी सतत प्रेरणा एवं सेवा ने असम्भव को सम्भव कर दिखाया है। गृहस्थ जीवन के सभी दायित्वों से मुक्त रखते हुए मुझे समर्पण भाव से अपने कार्य में लग जाने के लिये बाध्य करने की सीमा तक प्रेरित किया है, उनकी इस मौनसाधना के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। पुत्री कु० दिव्य आस्था, कु० प्राची तथा पुत्र निशान्त कुमार मुञ्जाल ने भी यथासम्भव सहयोग प्रदान किया है। ये सभी आशीर्वाद के अधिकारी हैं।

ज्ञान का क्षेत्र सुविस्तृत है और समस्त शास्त्रों की कौन कहे, शास्त्र की किसी एक विधा को भी पूरी तरह जानना सम्भव नहीं है, अतः, अध्ययन करते समय न्यूनतायें रह जाना स्वाभाविक हैं। यह अपने तरह का प्रथम प्रयास है, इसलिये न्यूनताओं के रह जाने की और भी अधिक सम्भावना है। जो निष्कर्ष गृहीत किये गये हैं, वे किसी भी प्रकार से अन्तिम नहीं है, उसमें अध्ययन की अभी बहुत सम्भावनायें हैं। किसी एक पद का अध्ययन करते समय सभी मन्त्रों को नहीं लिया गया है, यदि सभी मन्त्रों का अवलोकन करने के पश्चात् निर्णय लिया गया होता तो यह अध्ययन अधिक उपयोगी हो सकता था, परन्तु उस समय इसका आकार प्रस्तुत आकार से काफी बड़ा हो जाता, जो शोध-प्रबन्ध के आकार की दृष्टि से उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त इस शोध-प्रबन्ध को पूर्ण करने में जिन संस्थाओं और व्यक्तियों का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहयोग प्राप्त हुआ है, उनके प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

यह कार्य मैंने नेशनल पी.जी. कालेज, भोगाँव, मैनपुरी, में रहते हुए पूर्ण किया है। यही वह संस्था है, जहाँ मैंने अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण ३० वर्ष व्यतीत किए और मुझे बहुत कुछ सीखने का अवसर प्राप्त हुआ, अतः इस अवसर पर उसको स्मरण करना सर्वथा प्रासंगिक है। उक्त कालेज के संस्थापक प्राचार्य श्री रामशरण सक्सेना, वर्त्तमान प्राचार्य जिनके साथ मेरा भ्रातृवत् सम्बन्ध रहा है और आज भी है, ऐसे डॉ. डी.पी. सिंह तथा संस्कृत विभाग के अध्यक्ष परम आदरणीय भ्रातृवर डॉ. मिलापसिंह यादव--इन सभी से मुझे समय-समय पर प्रोत्साहन मिलता रहा है, अतः इनके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

मैं परिमल प्रकाशन के व्यवस्थापक श्री के०एल० जोशीजी के प्रति भी आभार प्रकट करना अपना पुनीत दायित्व समझता हूँ, जिन्होंने उदारता, तत्परता और कुशलता के साथ इस ग्रन्थ को प्रकाशित करके विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत किया है।

तपोमूर्ति, अग्निहोत्री, विपत्ति में निर्विकार रहने वाले, निरन्तर स्वाध्यायशील, वेद पथ के प्रेरक, जिनका स्नेह मेरे प्रगति पथ में कभी बाधक नहीं बना, जिन्होंने मुझे बाल्यकाल में ही गुरुकुल में अध्ययन के लिये भेजने का साहस दिखाया, ऐसे उदारचेता श्रद्धेय पूज्य पितृवर स्व० श्री साँवलदास जी मुञ्जाल की पावनस्मृति में यह सारस्वत श्रद्धा सुमन समर्पित है।

अन्त में, मैं समस्त विद्वत् समाज के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ, जिनके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहयोग से यह कार्य पूर्ण हो रहा है। यह वाक्-सत्ता आत्मसत्ता का ही प्रतिबिम्ब है या यह कहें कि वही ब्रह्म

है। वाक्-तत्त्व ही विश्व के रूप में प्रादुर्भूत हुआ है, उसीसे सम्पूर्ण अमृत और मर्त्य की उत्पत्ति हुई है, वही इस सबका भोक्ता है, वही इन अर्थों का कथन करती है, जो कुछ भी है, उस (वाक्-तत्त्व) से अतिरिक्त नहीं है।[५] वाक् ही शक्तिरूप में निहित अर्थों का आविर्भाव करती है, वाक् ही इन अर्थों को जानती है, वही अर्थों का अभिधान करती है। इस प्रकार वाक्-तत्त्व ही विश्व का निबन्धन है। वही एक प्रविभाग द्वारा उपभोग करती है।[६] अत: मैं उस एक तत्त्व को नमन करता हुआ और उससे इस प्रकार के आशीर्वाद की पुनः पुनः कामना करता हूँ।

विदुषां वशंवदः

दि००१-०७-२००५

ज्ञानप्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

---

५. वा०पद०१.११२. (१२०) की स्वोपज्ञवृत्ति में उद्धृत-'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत् सर्वममृतं मर्त्यं च। अथेद् वाग् बुभुजे वागुवाच पुरुत्रा वाचो न परं यच्चनाह॥'

६. वा०पद०१.११०. (११८) की स्वोपज्ञवृत्ति में उद्धृत-'वागेवार्थं पश्यति वाग् ब्रवीति वागेवार्थं निहितं सन्तनोति। वाच्येव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तदेतदेकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते॥'

सङ्केताक्षर सूची

१.	अ०	अष्टाध्यायी
२.	अथर्व०	अथर्ववेद
३.	उणा०	उणादिकोष
४.	ऋ०	ऋग्वेद
५.	ऋ०वै०पद०	ऋग्वेदवैयाकरणपदसूची
६.	ऐ०ब्रा०	ऐतरेयब्राह्मण
७.	कपि०क०सं०	कपिष्ठलकठसंहिता
८.	काठ०सं०	काठकसंहिता
९.	का०शत०ब्रा०	काण्वीयशतपथ-ब्राह्मण
१०.	कौ०ब्रा०	कौषीतकिब्राह्मण
११.	कौ०उप०	कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्
१२.	गो०ब्रा०	गोपथब्राह्मण
१३.	छा०उप०	छान्दोग्योपनिषद्
१४.	जै०ब्रा०	जैमिनीय-ब्राह्मण
१५.	जै०उप०	जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण
१६.	ता०ब्रा०	ताण्ड्यमहाब्राह्मण
१७.	तै०ब्रा०	तैत्तिरीयब्राह्मण
१८.	तै०आ०	तैत्तिरीयारण्यक
१९.	तै०उप०	तैत्तिरीयोपनिषद्
२०.	तै०सं०	तैत्तिरीय-संहिता
२१.	दया०,ऋ०भा०	दयानन्द ऋग्वेदभाष्य
२२.	दि एटीमोलोजीज ओंफ यास्क	डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा
२३.	दुर्ग, निरु०वृ०	दुर्गकृत, निरुक्तवृत्ति
२४.	दै०ब्रा०	दैवतब्राह्मण
२५.	निघ०	निघण्टुकोष
२६.	निघ०वृ०	आचार्य देवराजयज्वन् कृत, निघण्टुवृत्ति
२७.	निरु०	यास्क, निरुक्त
२८.	शत०ब्रा०	शतपथ-ब्राह्मण
२९.	मै०सं०	मैत्रायणीसंहिता

३०.	यजु०	यजुर्वेद
३१.	शा०ब्रा०	शाङ्खायनब्राह्मण
३२.	शां०आ०	शाङ्खायनारण्यक
३३.	ष०ब्रा०	षड्विंशब्राह्मण
३४.	संस्कृत-इंग्लिशकोष	मोनियर विलियम्स
३५.	संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ	तारणीश झा
३६.	सा०उ०	सामवेद उत्तरार्चिक
३७	सा०ऋ०भा०	सायण, ऋग्वेदभाष्य
३८.	सा०ंमाध०धातु०	सायण माधवीया धातुवृत्ति
३९.	सा०पू०	सामवेद पूर्वार्चिक
४०.	सा०ब्रा०	सामविधानब्राह्मण
४१.	सा०माध०धातु०	सायण, माधवीया धातुवृत्ति

विषय-सूची

भूमिका

यह तथ्य निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है कि वेदव्याख्या के लिये निघण्टु की अपनी एक विशिष्ट उपयोगिता है। वेद के जितने भी प्राचीन और अर्वाचीन व्याख्याकार हुए हैं, उन सभी ने निघण्टु के महत्त्व को स्वीकार करते हुए वेदव्याख्या के प्रसङ्ग में उसको उद्धृत किया है। कुछ ही पृष्ठों का यह ग्रन्थ वेदमार्ग का पथ प्रशस्त करने में जितना महत्त्व रखता है, उतना ही इसका काल और इसका संग्रहकर्त्ता संदिग्ध है। हम यहाँ निघण्टुकार के विषय में प्राप्त मतों एवं अन्तःसाक्ष्यों की समीक्षा करते हुए उचित निर्णय पर पहुँचने का प्रयास कर रहे हैं।

निघण्टुकार

इस विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। कुछ विद्वान् निघण्टु को यास्ककृत मानने के पक्ष में हैं, जबकि दूसरा पक्ष निघण्टु को यास्क से प्राचीन लोगों की कृति मानता है।

प्रथमपक्ष-निघण्टु यास्ककृत

निघण्टु यास्ककृत है, इस विषय में निम्न मत प्रस्तुत किये जा सकते हैं:-

१. आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अपने प्रस्थानभेद नामक ग्रन्थ में यास्क विरचित निघण्टु को पञ्चाध्यायात्मक बताया है। वे इस विषय में कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते हैं।[१]

२. ऋग्वेद-संहिता के भाष्यकार आचार्य वेङ्कटमाधव ने भी निघण्टु को यास्ककृत माना है। लेकिन इन्होंने भी इस विषय में कोई प्रमाण नहीं दिया है।[२]

३. निरुक्त के प्रारम्भ में ''**समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः**''[३] कि समाम्नाय का समाम्नान किया जा चुका है और अब उसकी व्याख्या करनी है, यह पाठ पठित है। इससे यह सूचित होता है कि समाम्नाय का समाम्नान और व्याख्यान करने वाला व्यक्ति एक ही है। यदि निघण्टु की रचना किसी अन्य ने की हो तो '**समाम्नायः व्याख्यातव्यः**' यह पाठ किया जाना उचित होता, लेकिन यास्क पठित वक्तव्य से ऐसा आभास मिलता है कि वे पहले निघण्टु का समाम्नान कर चुके हैं और अब उसका व्याख्यान करने के लिये अग्रसर हो रहे हैं।

४. निरुक्त में आचार्य यास्क निम्न वक्तव्य देते हैं:-''अथ उत अभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति इन्द्राय वृत्रघ्न, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्राय अंहोमुच इति तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नात्। यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात्प्राधान्यस्तुति तत्समामने।''[४] कि ब्राह्मणग्रन्थ भिन्न-भिन्न विशेषणों से संयुक्त करके किसी के

---

१ प्रस्थानभेद, ''तत्रापि निघण्टुसंज्ञकः पञ्चाध्यायात्मको ग्रन्थो भगवता यास्केन कृतः।''

२ ऋग्वेदभाष्य, ७.८७.४. ''तत्रैकविंशतिः नामानि कश्चिद्गौर्बिभर्तीति पृथिवीमाह। तस्य हि यास्कपठितानि एकविंशतिर्नामानि।''

३ निरु० १.१.

४ निरु० ७.१३

लिये हवि का विधान करते हैं, जैसे-'इन्द्राय वृत्रघ्न एकादशं कपालं निर्वपेत्'[१] इसी प्रकार 'इन्द्रायांहोमुच एकादशकपालं निर्वपेत्'[२] के द्वारा वृत्रघ्न इन्द्र, वृत्रतुर इन्द्र और अंहोमुच इन्द्र के लिये हवि का विधान किया गया है। ऐसे प्रयोगों को देखकर कतिपय निरुक्तकार वृत्रघ्न, वृत्रतुर और अंहोमुच आदि देवता वाचक विशेषणपदों को समाम्नाय में परिगणित करते हैं, लेकिन इस प्रकार परिगणन करने पर भी बहुत बड़ी सङ्ख्या में देवतावाचक पद अपरिगणित रह जाते हैं, क्योंकि विशेषणवाचक शब्द तो बहुत अधिक हैं। यदि उन सबकी गणना प्रारम्भ कर दी जाये तो एक बृहत्कोष बन जायेगा। इसलिये प्रधानरूप से स्तुत देवतावाचक पदों का मैं (यास्क) परिगणन करता हूँ।' कहने का आशय यह है कि यास्क केवल विशेष्य वाचक पदों का परिगणन करने के पक्ष में हैं। यदि विशेषण वाचक पदों का भी परिगणन किया जाये तो इनकी सङ्ख्या बहुत हो जायेगी और जिन्होंने ऐसा करने का प्रयास किया है, वे भी सम्पूर्ण देवता वाचक पदों का परिगणन करने में सफल नहीं हुए हैं और उनके इस प्रयास के बाद भी अनेक देवता वाचक पद अपरिगणित रह गये हैं।

आगे अपने कथन को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं:-''अथोत कर्मभिर्ऋषिर्देवता स्तौति वृत्रहा पुरन्दर इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नात्। व्यञ्जनमात्रं तु तत् तस्याभिधानस्य भवति यथा ब्राह्मणाय बुभुक्षितायौदनं देहि, स्नातायानुलेपनं पिपासते पानीयमिति''[३] कि वेद भिन्न-भिन्न कर्मों से किसी देवता की स्तुति करता है, जैसे-इन्द्र की वृत्रहा, पुरन्दर आदि से। वृत्र का वध करने वह इन्द्र 'वृत्रहन्', शत्रु नगरों को ध्वस्त करने से वह 'पुरन्दर' कहलाता है। भिन्न-भिन्न विशेषणों से युक्त देवताओं को देखकर कतिपय निघण्टुकार भिन्न मानकर उन शब्दों का अपने शास्त्र में समाम्नान करते हैं, परन्तु ऐसे देवतापद परिगणित देवतापदों की अपेक्षा बहुत अधिक हैं। वृत्रहा, पुरन्दर आदि शब्द उस इन्द्र के व्यञ्जक अर्थात् विशेषणमात्र हैं। जिस प्रकार कोई कहे कि ब्राह्मण भूखा हो तो चावल दो, स्नान किया हुआ हो तो चन्दन का लेप प्रदान करो और यदि वह प्यासा हो तो उसे जल देना चाहिये। यहाँ अवस्था भेद से एक ही ब्राह्मण बुभुक्षित, स्नात और पिपासित कहा गया है, वस्तुतः, ब्राह्मण अनेक नहीं हैं। इसी प्रकार देवता भी विशेषण भेद से एक ही रहता है, अन्य नहीं होता है।

५. निरुक्त के एक अन्य स्थान पर यास्क कहते हैं:-''**इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं वेदाङ्गानि च**''[४] कि साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने इस ग्रन्थ का समाम्नान किया और वेद तथा वेदाङ्गों का भी समाम्नान किया।' उक्त वक्तव्य में यास्क ने वेद और वेदाङ्ग के समान निघण्टु के ग्रथन किये जाने का उल्लेख किया है।

६. पं॰ शिवनारायण शास्त्री का मत है कि 'हमें जो विचार तथा सूचनायें उपलब्ध हैं, उनके आधार पर निरुक्त के उपजीव्य निघण्टु को यास्क से भिन्न किसी व्यक्ति अथवा पीढ़ियों की कृति बतलाना दुराग्रह ही होगा।[५]

---

१ मै॰सं॰ २.२.११.

२ मै॰सं॰ २.२.१०.

३ निरु॰ ७.१३.

४ निरु॰ १.२०.

५ निरुक्त पूर्वमीमांसा, भूमिका, पृ॰ २९.

'यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठाया ज़ा सकता है कि यास्क जैसे प्रौढ तथा वैज्ञानिक बुद्धि वाले आचार्य से हमें इतने हीन कोटि के कोश सङ्कलन की आशा नहीं थी। अत:, निघण्टु के यास्ककृत होने में सन्देह होता है।'[१]

'इस पर हमारा उत्तर यह है कि यास्क के समय में विद्यमान कोशकला के विकसित न होने का ही दोष है, यास्क का नहीं।--------यदि यह निघण्टु अन्यकृत होता तब भी हम यही कहते कि इस लचर कोश पर व्याख्या लिखने के बजाय यास्क ने अपना कोश क्यों नहीं बनाया? अत:, हमारा यही विचार है कि यास्क ने ही इस कोश का सङ्कलन किया है। उनके पूर्व के कोशों में और भी गड़बड़ियाँ रही होंगी। यास्क ने उन गड़बड़ियों का तो निर्देश भी किया है कि कुछ कोशकारों ने अपने कोशों में देवताओं के पर्यायों तथा विश्लेषणों का भी समाम्नान किया हुआ था, जिससे उनका आकार तो माशा अल्ला खासा बन गया था, पर वे जमाने के आगे टिक नहीं पाये। यास्क ने उन दोषों से अपने निघण्टु को बचाया।'[२]

'यास्क ने न केवल उन पुराने निघण्टुओं में उपलब्ध दोषों को छोड़ा, अपितु उनके कई गुणों को अपने निघण्टु में अपनाया भी। उदाहरण है:- शाकपूणि के निघण्टु में किसी प्रयोजन से शब्दों अथवा शब्दसमूहों को क्रम रखना गुण था। यास्क ने भी यथाशक्य इसकी ओर ध्यान दिया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने निघण्टु में कई नई बातें भी कीं। उदाहरणस्वरूप उनका दैवतकाण्ड पूर्णत: वैज्ञानिक तथा सुगठित है। यही कारण है कि शौनक ने बृहद्देवता में तथा कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में अन्य प्रसिद्ध आचार्यों को छोड़कर यास्क को ही अधिक सम्मान दिया है। अत:, हम यही कह सकते हैं कि आज बीसवीं सदी में हमें निघण्टु जैसा भी लगे, अपने समय में तो वह धुरन्धर ग्रन्थ था। परम्परा ने उसे पूरा सम्मान दिया। हमसे भी उसे यही आशा एवं अपेक्षा है।'[३]

द्वितीयपक्ष-निघण्टु यास्क से पूर्व की रचना

निघण्टु यास्क से पूर्व किन्हीं आचार्यों के द्वारा समाम्नात है, इस विषय में निम्न प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं:-

निरुक्त के उपलब्ध टीकाकारों में आचार्य दुर्ग का विशिष्ट स्थान है। उन्होंने अपनी निरुक्तवृत्ति में अनेक स्थानों पर निघण्टु के रचयिता के प्रश्न पर विचार किया है। उनमें से निम्नलिखित स्थलों को विचारार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है:-

१. आचार्य यास्क ने निघण्टु तथा अन्य वैदिक वाङ्मय के गठन के सम्बन्ध में निम्न वक्तव्य दिया है:-**''उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं वेदाङ्गानि च''**[४] इस पर आचार्य दुर्ग कहते हैं:-**''इमं ग्रन्थं गवादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नातवन्त:।''**[५] इससे यह आशय ग्रहण किया जा सकता है कि

---

१ निरुक्त पूर्वमीमांसा, भूमिका, पृ० २९.

२ निरुक्त पूर्वमीमांसा, भूमिका, पृ० २९-३०.

३ निरुक्त पूर्वमीमांसा, भूमिका, पृ० ३०.

४ निरु० १.२०.

५ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, १.२०. पृ० ११५.

साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों की अपेक्षा अवर विद्वानों ने इस निघण्टु कोष का समाम्नान किया।

२. आचार्य दुर्ग निरुक्तवृत्ति के प्रारम्भ में निघण्टुकोष की सीमा तथा उसके सङ्ग्रहकर्ताओं का उल्लेख करते हुए कहते हैं:-''**इयं च द्वादशाध्यायी** भाष्यविस्तर:। तस्या इदमादिवाक्यं ''**समाम्नाय: समाम्नात:**'' **इति। गवादिदेवपत्न्यन्त: शब्दसमुदाय** उच्यते। ------------ **स च ऋषिभिर्मन्त्रार्थपरिज्ञानायोदाहरणभूत: पञ्चाध्यायीशास्त्रसङ्ग्रहभावेनैकस्मिन्नध्याये ग्रन्थीकृत इत्यर्थ:**''[१] कि यह द्वादश अध्याय वाले निरुक्तभाष्य का विस्तार है। उस भाष्य का प्रथम वाक्य '**समाम्नाय: समाम्नात:**' है। इस निरुक्त में 'गो' से लेकर 'देवपत्नी' पर्यन्त शब्दसमुदाय का विवेचन किया गया है। उक्त गो से प्रारम्भ होकर देवपत्नी पर्यन्त चलने वाले कोष को **ऋषियों** ने मन्त्रार्थ के परिज्ञान के लिये पञ्चाध्यायात्मक कोष में ग्रथित किया है।' उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि **दुर्ग के मत** में निघण्टु यास्क से प्राचीन ऋषियों की रचना है।

३. निरुक्त के प्राचीन व्याख्याकार स्कन्दमहेश्वर स्वामी भी निघण्टु को यास्क से प्राचीन आचार्यों की कृति मानते हैं:-''**समाम्नायशब्देनात्र गवादिर्देवपत्न्यन्त: शब्दसमूह उच्यते, न वेद:। समाम्नात:= सम्भूयाभिमुखेनाम्नात: अभ्यस्त:। ग्रन्थीकृत्य पूर्वाचार्यै: पठित इत्यर्थ:।---------एते गवादय: शब्दा पूर्वाचार्यैरुच्यन्ते**''[२] कि यहाँ 'समाम्नाय' शब्द से 'गो' से प्रारम्भ होकर 'देवपत्नी' पर्यन्त चलने वाला शब्दसमूह कहा जाता है, न कि वेद। उक्त कोष को पूर्वाचार्यों ने ग्रथित करके इस रूप में पढ़ा है। --------- ये गवादि शब्द पूर्व आचार्यों के द्वारा कहे गये हैं। इसी प्रकरण में कुछ आगे जाकर वे पुन: कहते हैं:- ''**अयं संज्ञात्वकथनेन तन्निर्वचनप्रदर्शनेन च परिहीयते व्याख्यात एवायं पूर्वाचार्यै:। तैर्ह्यस्य निघण्टुरिति संज्ञा कृता**''[३] कि निघण्टु संज्ञा तथा उसके निर्वचन प्रदर्शन से ज्ञात होता है कि पूर्व आचार्यों ने इसका व्याख्यान किया है और उन्होंने इसकी निघण्टु संज्ञा भी की है।' उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि निघण्टु यह नामकरण यास्क द्वारा प्रदत्त नामकरण नहीं है। यह संज्ञा यास्कपूर्व आचार्यो द्वारा प्रदान की गयी है। इस प्रकार संज्ञा (निघण्टु) और संज्ञी (कोष) दोनों में यास्क का कोई योगदान नहीं है। ये दोनों यास्क को अपने से पूर्व ऋषियों से प्राप्त हुए हैं।

४. निरुक्त के एक अन्य स्थान पर निघण्टुकोष के '**दावने**'[४] और '**अकूपारस्य**'[५] क्रम में पठित शब्दों की व्याख्या में यास्क ने निम्न मन्त्र उद्धृत किया है:-''**विद्याम ते तस्य अकूपारस्य दावने**''।[६] इस मन्त्र में 'अकूपारस्य' और 'दावने' यह क्रम है। आचार्य दुर्ग इस क्रम-विपर्यय पर कहते हैं:-

''एतस्मिन्मन्त्रे अकूपारस्य दावने इत्ययमनयो: पदयोरनुक्रम: समाम्नाये पुन: 'दावने अकूपारस्य' इति मन्त्रपाठव्यतिक्रमेणानुक्रम:। तेन ज्ञायतेऽन्यैरेवायमृषिभि: समाम्नाय: समाम्नात:, अन्य एवं चायं भाष्यकार.

---

१ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, १.१. पृ० ०५.
२ स्कन्द, निरुक्तवृत्ति, भा०, १. पृ० ०४.
३ स्कन्द, निरुक्तवृत्ति, भा०, १, पृ० ०७.
४ निघ० ४.१.३२.
५ निघ० ४.१.३३.
६ निरु० ४.१८. ऋ० ५.३९.२.

इति। एको हि समाम्नानं भाष्यं च कुर्वन् प्रयोजनस्याभावादेकमन्त्रगतयोः पाठानुक्रमं नाभङ्क्ष्यत्''[1] कि इस मन्त्र में अकूपारस्य, दावने यह पदों का क्रम है, जबकि निघण्टु में इसके विपरीत क्रम है। इससे यह विदित होता है कि निघण्टु का समाम्नान करने वाले ऋषि अन्य हैं और उसका भाष्य करने वाले ऋषि अन्य। यदि एक ही ऋषि समाम्नानकर्ता और भाष्यकार होता तो विना प्रयोजन के मन्त्र में पा: ो भङ्ग न करता।

आचार्य दुर्ग का उपर्युक्त तर्क निश्चित रूप से यह सोचने ो ।वश करता है कि उक्त निघण्टुकोष के यास्ककृत होने की सम्भावना क्षीण है।

५. पं० सत्यव्रत सामश्रमी '**समाम्नाय**' शब्द को पवित्र और अनादि मानते हैं। उनके अनुसार वाङ्मय वाचक मानकर निघण्टु के लिये '**समाम्नाय**' शब्द का प्रयोग अनुचित है।[2] वे निरुक्त के '**इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः**'[3] वाक्य से आचार्य दुर्ग के समान 'निघण्टु' अर्थ ग्रहण करते हैं तथा उन्हीं के समान वे निघण्टु को यास्क से प्राचीन किसी आचार्य की कृति मानना उचित समझते हैं। इस विषय में वे महाभारत के मोक्षधर्मपर्व के एक श्लोक[4] को प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हैं।[5]

पं० सत्यव्रत सामश्रमी के इस कथन से कि '**समाम्नाय**' शब्द पवित्र और अनादि वाङ्मय का वाचक है, सहमत होना कुछ कठिन है। आचार्य यास्क ने समाम्नाय और उसके मूल में निहित 'सम्+आ+'म्ना' धातु का प्रयोग अनेकशः किया है।[6] उक्त शब्द का प्रयोग यास्क ने सभी स्थानों पर सर्वत्र परिगणन, गठन, ग्रथन आदि अर्थों में किया है। अतः, प्रयोग के आधार पर '**समाम्नाय**' शब्द को पवित्र और अनादि वाङ्मय का वाचक सिद्ध नहीं किया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका प्रयोग सामान्य रूप से साहित्य के गठन के लिये होता रहा है।

६. श्री आर०डी० कर्मकर का मत है कि निघण्टु अनेक आचार्यों के द्वारा रचित है। वे इस सम्बन्ध में निम्न तर्क देते हैं:-

(क) निघण्टु के प्रथम तीन अध्यायों के रचयिता से, चतुर्थ अध्याय के द्वितीय खण्ड का रचयिता भिन्न है। इसका कारण यह है कि इसमें कुछ ऐसे शब्द दिये गये हैं, जो पिछले तीन अध्यायों में आ चुके हैं। जैसे-१. अन्धः (२.७.१, ४.२.६.), २. वराहः (१.१०.१३, ४.२.२१.), ४. स्वसराणि (१.९.५, ४.२.२२.) ५. सिनम् (२.७.८, ४२.२८.) ६. वयुनम् (३.१.१०, ४.२.४८.)। इससे स्पष्ट है कि यदि निघण्टु ४.२. खण्ड

---

१ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, ४.१८. पृ० ३४०.

२ निरुक्तालोचन, पृ० २२. ''अद्ययुगीयेन कृतस्य ग्रन्थस्य कथं भवेत्समाम्नायत्वम्......................... सायणमते हि निघण्टोः समाम्नायत्वेनादिमत्वम्। पृ० २५. समाम्नायत्वं तु सिद्धमेवास्य निघण्टोः, समाम्नासिषुरिति क्रियादर्शनात्। वेदतुल्यत्वसमाम्नायत्वयोश्च नास्ति कार्यकृतो विशेषः।

३ निरु० १.२०.

४ महाभारत, मोक्षधर्मपर्व, ३४२.८६-८७.

५ निरुक्तालोचन, पृ० २६. ''एवं चैतस्माच्छ्रुतेर्निघण्टोः खलु ब्राह्मणग्रन्थेभ्योऽपि प्रागाम्नातत्वं गम्यते तादृशसमाम्नायत्वमूलकमतिपुराकालिकत्वं च सुव्यक्तमेव।''

६ निरु० १.१. ''समाम्नायः समाम्नातः।'' निरु० १.२. ''इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः।'' निरु० ७.१३. ''तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नात्।................समामने।''

का रचयिता निघण्टु के पूर्व तीन अध्यायों से परिचित होता, तो उनको दुहराता नहीं।[१]

आचार्य दुर्ग का भी ध्यान निघण्टु में हुए इस पौनरुक्त्य पर गया है। वे इस विषय में कहते हैं:- **''पठितमपि चान्ननामसु (निघ०,२.७.)। अनेकार्थत्वात्तु सन्दिह्यत इत्येष निगम उपात्त:''**[२] कि 'अन्ध:' पद अन्ननाम में पठित है। अनेकार्थक होने से इस पद के विषय में सन्देह होता है। आचार्य दुर्ग की दृष्टि में पुन: पाठ किये जाने का कारण 'अन्ध:' पद की अनेकार्थकता से उत्पन्न सन्देह है। इसी प्रकार वे 'सिनम्' पद के विवेचन के प्रसङ्ग में कहते हैं:-**''व्यभिचारित्वादभिधानानां धन्व सिनमित्येवमादीनि स्वे स्वेऽभिधानवर्गे पठितान्यपि सन्ति नैघण्टुके प्रकरणे, समाम्नातान्येतस्मिन्नैकपदिके प्रकरणेऽनवगतसंस्काराभिप्रायेण, कानिचिदनेकार्थाभिप्रायेण''**[३] कि नैघण्टुक प्रकरण में पर्यायवाचित्व की दृष्टि से शब्द अपने-अपने वर्ग में पठित हैं, जबकि ऐकपदिक प्रकरण में अनवगतसंस्कार (प्रकृति-प्रत्यय की अस्पष्टता) तथा अनेकार्थकता के कारण उनका परिगणन हुआ है। इस प्रकार आचार्य दुर्ग का मन्तव्य स्पष्ट है कि नैघण्टुक शब्दों के परिगणन का आधार पर्यायवाचित्व है, जबकि ऐकपदिक (४.२. खण्ड) प्रकरण में परिगणन करने का कारण शब्दों की अनेकार्थकता तथा उनका स्वर-संस्कार की दृष्टि से असमर्थ होना है। इसलिये एक शब्द भिन्न कारणों से एक से अधिक स्थान पर परिगणित हो गया है। अत:, कर्मकर का मत उचित प्रतीत नहीं होता।

(ख) श्री आर०डी० कर्मकर आगे कहते हैं कि निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में भी प्रथम और तृतीय खण्ड के रचयिता पृथक्-पृथक् हैं। इस अध्याय के प्रत्येक खण्ड में मन्त्र में एक साथ आने वाले कतिपय शब्दयुगलों का परिगणन हुआ है। इस प्रकार के दो शब्दयुगल प्रथम खण्ड में जैसे-**विद्रधे, द्रुपदे** और **दावने, अकूपारस्य**[४] तथा द्वितीय खण्ड में **वाहिष्ठ:, दूत:**[५] तथा **कुटस्य, चर्षणि:**[६] हैं। इनमें से प्रथम शब्दयुगल की मन्त्रगत सन्धि को विगृहीत किया गया है, जबकि दूसरा युगल यथाश्रुतरूप में पठित है। तृतीय खण्ड में निम्न चार युगल हैं, जिनमें से दो **अनवायम्, किमीदिने**[७] और **चन:, पचता**[८] मन्त्र में पठित विभक्त्यन्त हैं, किन्तु दो- **श्रुष्टी, पुरन्धि:**[९] तथा **सदान्वे, शिरिम्बिठ:**[१०] की मन्त्रगत विभक्तियों को परिवर्तित कर दिया गया है। यदि **दावने, अकूपारस्य** को मन्त्र में पठित विभक्ति के अनुरूप रखा जा सकता है तो फिर **पुरन्धिम्, शिरिम्बिठस्य** को क्यों नहीं? इससे विदित होता है कि तृतीय खण्ड और प्रथम खण्ड के रचयिता एक व्यक्ति नहीं है।[११]

---

१ श्री बिश्नुपाद भट्टाचार्य, यास्काज निरुक्त, पृ० २७-२८.
२ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, ५.१. पृ० ३८९.
३ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, ५.५. पृ०
४ निघ० ४.१८-१९.
५ निघ० ४.२.२-३.
६ निघ० ४.२.७०-७१.
७ निघ० ४.३.४३-४४.
८ निघ० ४.३.६४-६५.
९ निघ० ४.३.५०-५१.
१० निघ० ४.३.११९-१२०.
११ यास्काज निरुक्त, पृ० २८-३०.

उपर्युक्त आचार्य कर्मकर के कथन का आशय यह है कि निघण्टु की रचना शैली कोई आदर्श रचना शैली नहीं है। इसमें एकरूपता का अभाव पाया जाता है। जो सम्भावना श्री कर्मकर महोदय ने प्रकट की है, उसे सर्वथा अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह भी सम्भव है कि निघण्टु किसी एक व्यक्ति की रचना हो, परन्तु जिस प्रकार प्रथम आविष्कृत वस्तु में कल्पना अपने आदर्शरूप में न होकर अपने न्यूनतम स्तर पर होती है, उसमें रूपात्मकता, शैली, उपयोगिता आदि की दृष्टि से न्यूनता रह जाना स्वाभाविक है। इसी प्रकार निघण्टु कोषविधा का प्रथम प्रतिरूप है। इससे पूर्व किसी कोष के विद्यमान न होने से निदर्शन के अभाव में उक्त प्रकार की न्यूनताओं का रह जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

७. डॉ. लक्ष्मणसरूप भी निघण्टु को एक व्यक्ति की रचना न मानकर पूरी पीढ़ी या सम्भवतः, अनेक पीढ़ियों के संयुक्त परिणामों का प्रयास मानते हैं।[१] श्री वैजनाथ काशीनाथ राजवाडे भी निघण्टु को यास्क से प्राचीन तथा अनेक आचार्यों की रचना मानते हैं।[२]

८. श्री बिश्नुपाद भट्टाचार्य निघण्टुकार के विषय में अपने विवेचन का उपसंहार करते हुए अपने पक्ष के समर्थन में निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं:

(क) प्रथम यह निघण्टु, जिस सङ्कलन कर्ता के नाम से प्रसिद्ध है, यह केवल अयथार्थ नाम है। जैसाकि प्रोफेसर स्कोल्ड ने प्रदर्शित किया है कि निघण्टु यह नामकरण निघण्टु के प्रथम काण्ड का है, जिसमें पर्यायवाची पद हैं। लेकिन बाद में यह नामकरण अन्त के दोनों (नैगम एवं दैवत) काण्डों के लिये प्रयुक्त होने लगा।' यह तथ्य प्रथम काण्ड के नैघण्टुक नामकरण से सिद्ध हो जाता है।

(ख) इस विषय में द्वितीय हेतु यह है कि जब यास्क यह कहते हैं:-**''तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते'' ''तत् ऐकपदिकमित्याचक्षते'' या ''दैवतमित्याचक्षते''**। यहाँ यास्क इसके द्वारा निरुक्त के प्राचीन आचार्यों की परम्परा का उल्लेख कर रहे हैं।

(ग) इस विषय में तृतीय हेतु यह है कि यास्क के अपने वक्तव्य यह सिद्ध करते हैं कि निघण्टु स्वयं उनकी रचना है।

(घ) इस विषय में चतुर्थ हेतु यह है कि यास्क से पूर्व निघण्टु विद्यमान थे, उन्हीं के उद्धरण यास्क के निरुक्त में पाये जाते हैं।

(ङ) इस विषय में पञ्चम हेतु यह है कि निघण्टु में कुछ निश्चित शब्दों की पुनरुक्ति यह सिद्ध नहीं करती कि निघण्टु की रचना में एक से अधिक आचार्यों का योगदान है।

(छ) इस विषय में अन्तिम हेतु यह है कि प्रत्येक निघण्टु, जो कोष का एक सामान्य नाम है, यास्क से पूर्व उसमें तीन काण्ड थे:-नैघण्टुक, ऐकपदिक या नैगम तथा दैवत काण्ड। यास्क नवीन वर्गीकरण करते, इसके स्थान पर उन्होंने केवल अपने समय की उक्त विभाजन (काण्ड) परम्परा का पालन किया।

---

१ निघण्टु और निरुक्त, भूमिका, पृ० १४.

२ यास्काज निरुक्त, पृ० २१५.

इस प्रकार विस्तृत विवेचना के उपरान्त श्री बिश्नुपाद भट्टाचार्य दो प्रकार के निष्कर्ष ग्रहण करने के लिये विवश हैं। वे दोनों सम्भावनायें मानकर चल रहे हैं: प्रथम-यह यास्क द्वारा सङ्कलित कोष है। द्वितीय-यास्कपूर्व अनेक आचार्यों का इसके सङ्कलन में योगदान है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुछ विद्वान् निघण्टु को यास्क की रचना मानते हैं, परन्तु इस विषय में विवाद बहुत अधिक है कि निघण्टु यास्ककृत है या किसी अन्य द्वारा सङ्गृहीत है, इन दोनों पक्षों के विषय में पर्याप्त प्रमाण मिल जाते हैं, इसलिये निःसन्दिग्धरूप से यह नहीं कहा जा सकता कि निघण्टु यास्ककृत ही है? तथापि यह अधिक संभव प्रतीत होता है कि निघण्टु यास्क से प्राचीन आचार्यो की रचना हो। इस विषय में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं:-

१. निघण्टु के परिगणन में ऐसे बहुत से शब्द छूट गये हैं, जो यास्क की दृष्टि में ऐकपदिक हैं और इसी कारण वे उन शब्दों का निर्वचन करने के लिये प्रस्तुत होते हैं, पर उनका निघण्टु में परिगणन नहीं हुआ है। जैसे-जार, जामातृ, मातरिश्वन्, मुहुर्त, शल्मलि, शरीर, शरद्, श्मशान, हस्त इत्यादि।

२. दूसरा कारण यह है कि ऐसे बहुत से शब्द हैं कि जिन अर्थों में वे परिगणित हैं, उस अर्थ में यास्क उनका निर्वचन नहीं करते, लेकिन उनसे भिन्न अर्थों में उनका निर्वचन करते हैं। जैसे-निघण्टु के व्याख्याकार आचार्य यास्क ने 'स्वः' पद के आदित्य और अन्तरिक्षपरक अर्थ सिद्ध करने वाले अनेक निर्वचन दिये हैं, परन्तु निघण्टु[१] में परिगणित उदकपरक अर्थ सिद्ध करने वाला एक भी निर्वचन प्रस्तुत नहीं किया है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि यास्क निघण्टुकोष के सङ्कलन कर्ता नहीं हैं। इसका कारण यह है कि शब्द के जिस अर्थ से वे सहमत हैं, उसको ध्यान में रखकर वे निर्वचन करते हैं और जिस अर्थ से वे असहमत हैं, उसकी वे उपेक्षा कर जाते हैं। यदि निघण्टु यास्ककृत होता तो यास्क निघण्टु का संशोधन कर सकते थे और जिस रूप में वे निघण्टु को देखना चाह रहे हैं, उन अर्थों में तत्तत् शब्दों को समाम्नान अवश्य करते।

३. तीसरा कारण यह है कि यास्क के निरुक्त का मुख्य उद्देश्य वेद का विश्लेषण करना है और निघण्टु के पाँचवें अध्याय में देवतापदों का परिगणन किया गया है, परन्तु वह सङ्ग्रह वेद में आये सम्पूर्ण देवताओं का सङ्ग्रह नहीं है। उदाहरणार्थ-आत्मा, सीता, रोग आदि अनेक देवताओं का परिगणन करना निघण्टुकार भूल गये हैं। यदि निघण्टु यास्ककृत होता तो यास्क सभी ऐकपदिक तथा समस्त देवता वाचक शब्दों का परिगणन अवश्य करते।

४. इसके अतिरिक्त यदि निघण्टु यास्क रचित होता तो निरुक्त के सबसे प्राचीन वृत्तिकार आचार्य दुर्ग तथा स्कन्दस्वामी अवश्य इसका उल्लेख करते। वे स्पष्टरूप से कहते हैं कि उक्त निघण्टु का प्रणयन पूर्व आचार्यों (ऋषियों) के द्वारा किया गया है। उक्त तथ्य यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि निघण्टु यास्ककृत नहीं है।

५. यास्क ने ऐसी अनेक धातुओं का परिगणन किया है, जो निघण्टुकोष में समाम्नात नहीं हैं।

---

१ निघ० १.१२.८६.

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि दोनों पक्षों के तर्कों को ध्यान में रखकर किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। फिर भी, निघण्टु के यास्ककृत होने की सम्भावना क्षीण है। यास्क जिस प्रकार की प्रतिभा के धनी हैं, उस प्रकार का कौशल निघण्टुकोष के गठन में दिखलायी नहीं पड़ता है।

निघण्टुकार की शैली

भारतीय परम्परा में निघण्टु से प्राचीन कोई कोष उपलब्ध नहीं होता है। जिस प्रकार ऋग्वेद विश्व का प्राचीतम साहित्य माना जाता है, उसी प्रकार वेद का अध्ययन करने के लिये गठित निघण्टुकोष भी। इसकी प्राचीनता तथा महत्त्व के सम्बन्ध में यह कहना पर्याप्त होगा कि उक्तकोष की वृत्ति निरुक्त का वेदाङ्गों में परिगणन किया गया है। सम्भवतः, इस आधार हम निघण्टु को कोषविधा के क्षेत्र में विश्व का प्राचीनतम कोष मान सकते है।

मानव जाति का प्रथम कोष होने के कारण यह कोष विधा का आदर्श प्रतिरूप नहीं है। जैसी उत्कृष्ट प्राचीन भारतीय प्रतिभा का परिचय निरुक्त और व्याकरण के क्षेत्र में प्राप्त होता है, उस प्रकार की प्रतिभा निघण्टु के गठन में परिलक्षित नहीं होती है। इसका कारण यह है कि यास्कीय निरुक्त और पाणिनीय व्याकरण ये सब परम्परा की देन हैं। लेकिन कोषविधा की प्रथम कृति होने से निघण्टु में उस जैसी कुशलता का अभाव पाया जाना स्वाभाविक है। यह अपने आप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि उस पुराकाल में निघण्टुकार ने कोषविधा की सङ्कल्पना की और कोष को साकार रूप प्रदान किया। इसके अतिरिक्त जिस युग में उक्तकोष का गठन किया गया था, उस युग में उक्तकोष की उपयोगिता निर्विवाद रूप से थी, लेकिन आज भी यह कोष अपनी उपयोगिता और प्रासङ्गिकता बनाये रखे हुए है। यास्क सदृश प्राचीन, मध्यकालीन सायण एवं वेङ्कट सदृश वेद-भाष्याकार उक्त ग्रन्थ का अवलम्बन लेते ही हैं, लेकिन अर्वाचीन भाष्यकारों की भी इसके विना गति नहीं है। यदि आज निघण्टुकोष का लोप हो जाये तो वेद के अर्थ का समझना वैसे भी कोई सरल कार्य नहीं है, तब यह और भी अधिक दुरूह और जटिल हो जायेगा। इस प्रकार समय के प्रवाह के साथ न जाने कितने साहित्य अपनी प्रासङ्गिकता और उपयोगिता खो देते हैं, लेकिन निघण्टु के साथ ऐसा नहीं है। यह आज भी निर्विवादरूप से वेद व्याख्या की दृष्टि से उपयोगी है और भविष्य में भी इसकी उपयोगिता बनी रहने की पूर्ण सम्भावना है।

हम यहाँ सङ्क्षेप में निघण्टुकार की शैली की कुछ विशेषताओं और न्यूनताओं को प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं:-

निघण्टु के गठन का जहाँ तक प्रश्न है। प्रथम अध्याय में निघण्टुकार ने निम्न विषयक गणों का परिगणन किया है:-**१.पृथिवीवाचक, २.हिरण्यवाचक, ३.अन्तरिक्षवाचक ४.अन्तरिक्ष और द्युलोकवाचक समानपद, ५. रश्मिवाचक ६.दिशावाचक ७.रात्रिवाचक ८.उषावाचक ९.दिवसवाचक १०.मेघवाचक ११.वाग्वाचक १२.उदकवाचक १३.नदीवाचक १४. अश्ववाचक १५. आदिष्टोपयोजन, १६. ज्वलतो नामधेय।**

उपर्युक्त गणों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि निघण्टुकार ने इस गण में प्राकृतिक या भौतिक पदार्थों का परिगणन किया है। सर्वप्रथम निघण्टुकार पृथिवीवाचक पदों का परिगणन करते हैं, तत्पश्चात् पृथिवी के गर्भ में भौतिक सम्पदा के वाचक हिरण्यवाचक पदों का समाम्नान करते हैं, जो प्रकरण की दृष्टि से उचित प्रतीत होता है।

पृथिवी से ऊपर अन्तरिक्षलोक को स्थित माना जाता है, अतः, क्रम की दृष्टि से अन्तरिक्ष पदों का परिगणन युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। अन्तरिक्षवाचक पदों के अनन्तर निघण्टुकार अन्तरिक्ष और द्युलोकवाचक समानपदों का समाम्नान करते हैं। यह भी क्रम की दृष्टि से समीचीन माना जा सकता है। इसके पश्चात् निघण्टुकार रश्मि, दिशा, रात्रि, उषा और दिवस वाचक गणों का गठन करते हैं। इनमें भी सामञ्जस्य के दर्शन होते हैं। द्युलोक से रश्मि प्रादुर्भूत होती हैं और रश्मियों से दिशा का बोध होता है। रश्मियों के अभाव से रात्रि, रात्रि के पश्चात् उषा और उससे दिवस का जन्म होता है। इस क्रम में एक सुसम्बद्धता है।

इसके अनन्तर निघण्टुकार मेघ, वाक्, उदक और नदीवाचक गणों का गठन करते हैं। इनमें भी अन्तःसम्बन्ध विद्यमान है। मेघ से मेघगर्जना और उससे उदक की प्राप्ति होती है और वह उदक नदी रूप में प्रवाहित कर देता है।

इसके पश्चात् निघण्टुकार अश्व, आदिष्टोपयोजन तथा ज्वलद्वाचक पदों का परिगणन करते हैं। इन तीनों गणों में वाहन उसके उपयोग में आने वाले नामपदों का समााम्नान हुआ है।

इस प्रकार निघण्टुकार ने निश्चित आधार पर निघण्टुकोष का समाम्नान किया है। ये आधार उस युग की आवश्यकताओं और सीमाओं को देखते हुए युक्तिसङ्गत प्रतीत होते हैं। निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि निघण्टुकार ने प्रथम अध्याय के गठन में चार तत्त्वों को ध्यान में रखा है:-प्रथम-पृथिवी और पृथिवी के गर्भ में समाहित सम्पदा। द्वितीय-अन्तरिक्ष और द्युलोक एवं उससे सम्बन्धित प्रकाश सम्बन्धी पद। तृतीय-मेघ, तज्जन्य उदक तथा उस उदक से जन्म लेने वाली नदी से सम्बन्धित पद। चतुर्थ-वाहन और उसमें उपयोग में आने वाली अग्नि। इस प्रकार एक निश्चित रूपरेखा के आधार पर निघण्टुकार ने निघण्टु का गठन किया है, यह स्वीकार किया जा सकता है।

निघण्टुकोष की द्वितीय विशेषता यह है कि निघण्टुकार ने हिरण्यवाचक गण में सुवर्ण से भिन्न अन्य धातुओं के वाचक पदों का भी समाहार किया है, जैसे-चन्द्र अयस् आदि। ठीक इसी प्रकार वे उदक वाचक गण में तरल पदार्थों का अभिधान करने वाले शब्दों का परिगणन करते दिखायी देते हैं। इसी प्रकार वे अश्ववाचक गण में अश्व से भिन्न वाहन वाचक पदों का समाहार करते हैं। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि निघण्टुकार शब्द या अर्थ विशेष के वाचक गण में उससे समता रखने वाले अन्य पदों का समाम्नान करते हैं। कहने का आशय यह है कि हिरण्यवाचक गण हिरण्य के पर्यायवाची शब्दों का गण मात्र नहीं है, उसे धातुवाचक गण कहना अधिक उचित है। हिरण्य नाम रखने के मूल में यह कारण प्रतीत होता है कि उसमें सुवर्ण वाचक पद अधिक मात्रा में परिगणित किये गये हैं। इसी प्रकार उदकवाचक तथा अन्य गणों के विषय में भी समझना चाहिये। इसे विसङ्गति दोष न मानकर निघण्टुकार की शैली माना जाना चाहिये।

यह पहले ही निरूपित किया जा चुका है कि निघण्टु कोषविधा का प्रथम प्रतिरूप है, अतः उसमें न्यूनतायें रह जाना स्वाभाविक है। हम कतिपय न्यूनताओं को यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं:-

१. उदकवाचक गण में निघण्टुकार ने 'अपः' और 'आपः' का परिगणन किया है। ये दो पद न होकर एक ही पद हैं। निघण्टुकार ने ऐसा क्यों किया है, अस्पष्ट है।

२. एक ही गण के कुछ शब्दों को निघण्टुकार ने एकवचन में परिगणित किया है और कुछ को बहुवचन में, यह रहस्य समझ से परे है। यह निघण्टुकार की अव्यवस्थित शैली का निदर्शन है।

३. उदकवाचक गण में **'एकशतमुदकनामानि'** (निघ०,१.१२.)कहा है। लेकिन उक्त गण में १०१ पदों का परिगणन प्राप्त होता है।

४. निघण्टु में पवित्र शब्द का परिगणन उदकवाचक गण में किया है, परन्तु यह पवित्र शब्द सोम के विशेषणरूप में अधिक प्रयुक्त हुआ है। रसरूपता के आधार पर सोम को उदक माना जा सकता है। इस प्रकार विशेषण का परिगणन निघण्टुकार ने कर लिया है, परन्तु वे पवित्र शब्द के विशेष्यरूप सोम का परिगणन नहीं करते।

५. कहीं विशेषण के रूप में प्रयुक्त शब्द को पदार्थ का वाचक मान लिया गया है, जैसे-'पूर्ण' पद का उदक वाचक गण में परिगणन किया गया है।

६. इसके अतिरिक्त वेद में 'कशा' पद का प्रयोग लोकप्रचलित अर्थ (पशुताडनरज्जु) में और हुआ है, जिसकी ओर निघण्टुकार का ध्यान नहीं गया है। लेकिन जिस 'कशः' शब्द के उदकवाचक अर्थ के उदाहरण दुर्लभ हैं, ऐसे 'कशः' शब्द का परिगणन कोषकार ने उदकवाचक गण में किया है।

७. निघण्टुकार ने उदकवाचक गण में **महत्** और **महः** इन दो पदों का परिगणन किया है। इसी प्रकार वह **आपः** और **अपः** का परिगणन करते हैं। ये दोनों युगल अर्थ और रूप दोनों दृष्टियों से समान हैं। अतः, इनके परिगणन करने का औचित्य सन्दिग्ध है। इसी प्रकार वे **सत्** और **सत्य** पद का परिगणन करते हैं।

८. आचार्य देवराजयज्वन् का 'उर्व्यः' नदीवाचक नामपद के विवेचन के प्रसङ्ग में यह कहना कि आगे आने वाले नामपदों के निगम अन्वेषणीय हैं, सत्य प्रतीत होता है। उपलब्ध होने पर भी उक्त पद वेद में नदीवाचक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हैं। यह स्थिति निघण्टु के गठन के विषय में यह प्रश्न उपस्थित करती है कि क्या निघण्टु में वेद के शब्दों का ही सङ्कलन किया गया है अथवा इतर साहित्य से भी उसमें शब्द समाहित किये गये हैं? 'उर्व्यः' से प्रारम्भ होने वाला नदीवाचक शब्दों का परिगणन तथा अन्य गणों में परिगणित शब्द कुछ और ही सङ्केत देते हैं। इसके अतिरिक्त एक तथ्य और अपनी ध्यान आकर्षित करता है कि निघण्टुकार ने **'ऊर्जस्वत्यः'** इस बहुवचनान्त शब्द का पाठ किया है, लेकिन एक भी स्थान पर बहुवचनान्त पद का पाठ देखने को नहीं मिलता है।

९. निघण्टुकार **'ह्वार्यः'** के स्थान पर **'ह्वार्याणाम्'** पद का पाठ करते हैं। परन्तु षष्ठी-विभक्ति-बहुवचन में किसी अन्य पद का कोषकार पाठ नहीं करते हैं। इस पर देवराजयज्वन् का कथन है कि यह यथादृष्टपाठ है, लेकिन यह शैली कोष की दृष्टि से आपत्तिजनक है।

१०. निघण्टुकार ने पर्यायवाची पदों का परिगणन करते समय गणों में मात्र पर्यायवाची पदों का समावेश नहीं किया है। वे ऐसे पदों का भी समाम्नान करते हैं, जो तत्सदृश अर्थ की प्रतीति कराते हों, जैसे- तमः, तमस्वती, पयः, पयस्वती। जबकि इनमें से कतिपय के उदाहरण भी उपलब्ध नहीं होते हैं।

इस प्रकार निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि यद्यपि निघण्टुकोष की गठन-शैली आदर्श नहीं है और न इसमें सम्पूर्ण तत्तद्वाचक पदों का परिगणन हो पाया है, परन्तु जिस उद्देश्य को लेकर उक्तकोष का सङ्कलन किया गया था, उसकी पूर्ति में यह युगों तक सहायक बना रहा है, यही इसकी सफलता का प्रमाण है। इसके अतिरिक्त इसके साथ ही भारतीय, सम्भवतः, विश्व साहित्य में कोष विधा का सूत्रपात हुआ है, इस दृष्टि से उक्तकोष का महत्त्व किसी बहुमूल्य धरोहर से कम नहीं है।

प्रथम अध्याय

निघण्टुकोष में पाँच अध्याय हैं। इनमें से प्रथम तीन अध्यायों में कोषकार ने पर्यायवाची, चतुर्थ अध्याय में ऐकपदिक एवं पञ्चम अध्याय में देवतावाची पदों का सङ्कलन किया है। निघण्टु के उक्त तीन विभागों को क्रमशः नैघण्टुक, ऐकपदिक एवं दैवत काण्ड के नाम से जाना जाता है।

प्रस्तुत अध्ययन में नैघण्टुक काण्ड को शोध का विषय बनाया गया है। इस काण्ड के सभी पदों का अध्ययन सीमित कलेवर में सम्भव न होने से प्रस्तुत अध्ययन में उक्त काण्ड के प्रथम अध्याय को लक्ष्य बनाकर गहन अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। यहाँ सर्वप्रथम निघण्टु में विहित क्रम का अनुसरण करते हुए पृथिवीवाचक नामपदों का अध्ययन कर रहे हैं।

पृथिवीवाचक नामपद

निघण्टुकोष के पृथिवीवाचक नामपदों में निघण्टुकार ने २१ नामपदों का परिगणन किया है। हम यहाँ उक्त गण में समाम्नात पदों का क्रमशः विवेचन करने का प्रयास कर रहे हैं।

१. गौः

निघण्टुकोष के पृथिवीवाचक गण में सर्वप्रथम 'गौः' पद पठित है।[१] इसके अतिरिक्त निघण्टुकार ने इसका द्यु और अन्तरिक्ष, रश्मि, वाक्, आदिष्टोपयोजन तथा स्तोतृ अर्थ में भी परिगणन किया है।[२]

शतपथ-ब्राह्मण 'गौ' के स्वरूप का प्रतिपादन करता हुआ कहता है:-''**इमे वै लोका गौर्यद्धि किंच गच्छतीमांस्तल्लोकान् गच्छति**''[३] कि ये सभी लोक गतिशील होने के कारण 'गौ' हैं, क्योंकि इनमें जो कुछ भी वह सब गतिशील है। इस पक्ष में 'गम्' धातु से 'गौ' पद सिद्ध होता है।

आचार्य यास्क 'गौः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**गौरिति पृथिव्या नामधेयम्। यद्दूरं गता भवति**''[४] कि यह दूर तक फैली हुई होती है अथवा यह सूर्य से बहुत दूर स्थित होती है, अतः, पृथिवी को 'गो' कहा जाता है।

(ख)''**यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति**''[५] कि इसमें सब प्राणी गति करते हैं, इसलिये पृथिवी को 'गो' कहते हैं। इस पक्ष में 'गम्' धातु से 'गो' शब्द निष्पन्न होता है।

(ग)''**गातेर्वौकारो नामकरणः**''[६] कि अथवा यह पद?'गाङ्' गतौ' धातु से निष्पन्न होता है। इस पक्ष में 'गाङ्' गतौ'+ओ' से 'गो' शब्द निष्पन्न होता है।

---

१ निघ० १.५.३; ११.४; १५.७; ३.१६.७.

२ निघ० १.१.१.

३ शत०ब्रा०, ६.१.२.

४ निरु० २.५.

५ निरु० २.५.

६ निरु० २.५.

गो पद के एक अन्य अर्थ का उल्लेख करते हुये आचार्य यास्क कहते हैं कि यह 'गो' शब्द पशु अर्थ का वाचक भी है।[१] इसके अतिरिक्त तद्धित प्रत्यय से होने वाली अर्थ-प्रतीति विना प्रत्यय के भी हो जाती है।[२]

आचार्य देवराजयज्वन् 'गो' शब्द का निर्वचन प्रस्तुत करते हुये कहते हैं:-''गौः (पृथिवी)। 'गम्लृ' गतौ'। गौरिति पृथिव्या नामधेयम्, यद्दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति। (निरु०,२.५) अस्य स्कन्दस्वामी-दूरं गता भवति नैरन्तर्येणात्माकाशादिवत् दूरेऽप्युपलब्धेर्गतिक्रियाव्यवहार:''[३] कि गौ यह पृथिवीवाचक नामपद है। यह दूर तक गयी हुई होती है और इस पर भूत गमन करते हैं, अतः, पृथ्वी को 'गौ' कहा जाता है। इस पर स्कन्दस्वामी कहते हैं कि आत्मा और आकाशादि के समान दूर तक भी उपलब्ध होने वाली वस्तु के लिये गति (क्रिया) का व्यवहार होता है। भिन्न-भिन्न स्थानों अर्थात् सर्वत्र प्राप्त होने वाली वस्तु दूर कही जाती है। प्रत्ययार्थ तथा रूढ्यर्थ सम्बन्ध से 'गम्' धातु यहाँ निरन्तर दूर तक उपलब्ध होने वाली गमनशीलता का बोध कराती है।[४]

निघण्टुकोष के गत्यर्थक धातुओं में 'गमति' क्रिया पद परिगणित है।[५] यास्क द्वारा निर्वचन में पठित क्रिया पद से यह सङ्केत मिलता है कि यास्क तथा देवराजयज्वन् दोनों को नैघण्टुक 'गमति' धातु से 'गौः' पद निर्वचन करना अभीष्ट नहीं है। जबकि निघण्टु में परिगणित धातु से वैदिक पदों का निर्वचन करना अधिक समीचीन है, क्योंकि इनके परिगणन करने के मूल में वैदिक पद ही हैं।

(ख)''गातेर्वा स्तुत्यर्थस्य। गीयते स्तूयतेऽसाविति, गायन्ति वास्यां स्थिता इति गौ:''[६] कि इसकी स्तुति किये जाने से अथवा इस पर स्थित होकर लोग स्तुति करते हैं, अतः, पृथिवी को 'गौ' कहा जाता है। इस पक्ष में स्तुत्यर्थक 'गा' धातु से 'गौ' शब्द सिद्ध होता है। प्रस्तुत प्रकरण को स्पष्ट करते हुये आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं कि **'गोषदसि'** आदि वाक्यों का गार्हपत्य प्रकरण में विनियोग होता है और प्रकरणानुरोध से यहाँ 'गो' शब्द निश्चित रूप से 'पृथिवी' अर्थ का अभिधायक है।[७]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गो' पद को धेनु, पृथिवी, वाक्, ग्रावा प्रभृति अर्थों का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। परन्तु यास्क एवं उणादिकोषकार उक्तपद को 'गम्' गतौ' और 'गा' गतौ' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[८] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'गो' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[९] मोनियर विलियम्स 'गो' पद को 'गम्' धातुमूलक मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद गाय, पशु, पशुओं के समूह अर्थ में आया है। ऋग्वेद में यह पद गाय या वृषभ से उत्पन्न होने वाले

---

१ निरु० २.५.
२ निरु० २.५. 'गव्या गमयतीषूनिति।''
३ निघ०वृ०, १.१.१.
४ स्कन्द, निरुक्तवृत्ति,भा०२, पृ० २७-२८.
५ निघ०२.१४.
६ निघ०वृ०, १.१.१.
७ निघ०वृ०, १.१.१.
८ वै०पद०को० पृ० १२४९.
९ ऋ०वै०पद० पृ० १९०.

या उससे सम्बन्धित द्रव्य जैसे-दुग्ध, मांस, चर्म के लिये व्यवहृत हुआ है।[१] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में 'guou' पशु अर्थ में, ग्रीक में 'bous' लैटिन में 'guovs' गाय अर्थ में है। अतः, वे उक्त यास्कीय निर्वचन को **'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि'** सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं।[२] वेद से प्राप्त अनेक सङ्केत 'गो' को 'गम्' धातु से व्युत्पन्न मानते प्रतीत होते हैं।[३]

वैदिक साहित्य में 'गो' शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है। मधुच्छन्दा ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुये कहते हैं कि शत्रुवध करते समय द्यावापृथिवी इन्द्र की महिमा को व्याप्त करने में समर्थ नहीं हैं। अतः, हे इन्द्र! स्वर्लोक से आने वाले जलों तथा पृथिवी को धन-धान्य देने के लिये प्रेरित करो।[४] गौतम ऋषि कहते हैं कि यज्ञ के द्वारा अथर्वा ने सर्वप्रथम् सुपथ का विस्तार किया। व्रत का पालन करने वाले तथा प्रकाशमाान विस्तृत सूर्य ने पृथिवी आदि लोकों को धारण करके गतिशील बनाये रक्खा है।[५] गौतम ऋषि आगे कहते हैं कि इस जगत् में पृथिवी को सूर्य की माना जाता है अर्थात् यह सौर परिवार की है।[६] इसी प्रकरण में ऋषि गौतम कहते हैं कि इन्द्र को छोड़कर कौन ऐसा है, जो गतिशील पृथिवी को धुरि से जोड़ सके।[७] एक स्थान पर ऋषि कहता है कि उसने ही ओषधि, सोम, जल और पृथिवी को उत्पन्न किया है।[८] गृत्समद ऋषि इन्द्र के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि वही सूर्य को उत्पन्न करता है तथा वही रात्रि के साथ दिवस का सम्बन्ध कराने वाली पृथिवियों को प्राप्त होता है।[९] विश्वामित्र ऋषि इन्द्र के विषय में कहते हैं कि सम्पूर्ण संसार के प्रलयकर्ता इन्द्र बलयुक्त हैं तथा गमनशील पृथिवी का पुराकाल में नाश करने वाले हैं।[१०] इसी सूक्त में आगे वे पुनः गो (भूमि) पति और पृथिवी की रक्षा करने वाले इन्द्र से गो (भूमि) की रक्षा करने की प्रार्थना करते हैं।[११] मथित यामायन ऋषि कहते हैं कि संसार में प्रत्यावर्तन का नियम चलाने वाला इन्द्र पुनः हमें रहने के लिये पृथिवी प्रदान करे, जिससे हम जीवन का भोग कर सकें।[१२] केतुराग्नेय ऋषि का कथन है कि अग्नि की कृपा से हम भूमि आदि को प्राप्त करते हैं।[१३] मेध्यातिथि ऋषि पवमानदेव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो लोक पृथिवी आदि लोकों के समान भूर्णि (भ्रमण करने वाले) हैं, वे दीप्तिमान् और वेगवाले

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३६३.

२ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ८७.

३ ऋ० १.८३.१, ८६.३, ११२.१८, ३.५६.२, ६.२८.१, ८.२०.१९, ४५.१०, ५१.५, ७१.५.

४ ऋ० १.१०.८. ''नहि त्वा रोदसी उभे ऋधायमाणमिन्वतः। जेषः स्वर्वतीरपः सं गा अस्मभ्यं धूनुहि।''

५ ऋ० १.८३.५. ''यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि। आ गा आजत्।''

६ ऋ० १.८४.१५. ''अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।''

७ ऋ० १.८४.१६. ''को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य।''

८ ऋ० १.९१.२२. ''त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।''

९ ऋ० २.१९.३. ''अजनयत्सूर्यं विदद्गा अक्तुनाह्नां वयुनानि साधत्।''

१० ऋ० ३.३०.१०. ''अलातृणो बल इन्द्र व्रजो गोः पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार।''

११ ऋ० ३.३०.२१. ''आ नो गोत्रा दर्दृहि गोपते गाः ।''

१२ ऋ० १०.१९.६. ''आ निवर्त नि वर्तय पुनर्न इन्द्र गा देहि। जीवाभिर्भुनजामहै।''

१३ ऋ० १०१५६.२. ''यया गा आकरामहे सेनयाग्ने तवोत्या।''

महान्धकार को दूर करते हुए प्रक्रमण करते हैं।[१]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद स्पष्टरूप से 'गो' को सूर्य के द्वारा घुमाया जाने वाला प्रतिपादित करता है। कहीं पृथिवी को वह गतिशील और कहीं भूर्णि बतलाता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थ और यास्क के निर्वचनों से भी 'गो' के गतिशील होने की पुष्टि होती है। आचार्य स्कन्दस्वामी तथा देवराजयज्वन् यास्क के द्वितीय निर्वचन को स्तुत्यर्थक 'गा' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं। लेकिन निघण्टु के गत्यर्थक क्रियापदों में 'गाति'[२] का समाम्नान होने से यह सङ्केत मिलता है कि आचार्य यास्क को 'गौ' पद गत्यर्थक 'गा' धातु से निष्पन्न करना अभीष्ट है। पाणिनि व्याकरण में गति तथा स्तुति अर्थवाली 'गा' दो भिन्न धातुएँ हैं। निघण्टु में 'गो' शब्द वाक् तथा स्तोतृ वाचक भी है। इसलिये स्तुति अर्थवाली 'गा' धातु से वाक् और स्तोतृ वाचक 'गो' शब्द एवं गति अर्थवाली 'गा' धातु से पृथिवी वाचक 'गो' को व्युत्पन्न करना अधिक समीचीन है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि वेद में गतिशील होने के कारण पृथिवी को 'गो' नाम से अभिहित किया गया है। अतः, विना किसी सङ्कोच के 'गो' पद का मूल गत्यर्थक 'गम्' या 'गा' धातु को माना जा सकता है।

२. ग्मा

निघण्टुकोष के पृथिवीवाचक नामपदों में 'ग्मा' पद पठित है।[३] आचार्य देवराजयज्वन् 'ग्मा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''ग्मा गच्छतेः। गच्छतीहीयम्-इति माधवः''**[४] कि गतिशील रहने के कारण पृथिवी को 'ग्मा' कहा जाता है-ऐसा आचार्य माधव का मत है। इस पक्ष में 'गम्' धातु से 'ग्मा' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य दुर्ग 'ग्मा' का निर्वचन 'गो' की पद्धति के अनुसार करते हुए कहते हैं:-**''ग्मा गमनात्। अस्यां गच्छन्ति भूतानि''**[५] कि इस पर प्राणी गमन करते हैं, अतः, पृथिवी को 'ग्मा' कहते हैं। इस पक्ष में 'गम्' धातु से 'ग्मा' पद सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष उक्त पद का मूल 'गम्' धातु को मानता है। उसके अनुसार यह पृथिवीवाचक नामपद है।[६] मोनियर विलियम्स एवं ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार भी 'ग्मा' पद का मूल 'गम्' धातु है।[७] मोनियर विलियम्स के अनुसार ग्मा, ज्मा, क्ष्मा इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध है। उनकी दृष्टि में 'क्ष्मा' पूर्वोक्त दोनों का मूल रूप है।[८] अर्थ की दृष्टि से निश्चित रूप से तीनों में साम्य है। पाणिनीय व्याकरण में कवर्ग के स्थान पर चवर्ग तथा वर्ग के प्रथम वर्ण के स्थान पर उसी वर्ग का तृतीय वर्ण परिवर्तन

---

१ ऋ० ९.४१.१. ''प्र ये गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः। घ्नन्तः कृष्णमप त्वचम्।''

२ निघ० २.१४.३९.

३ निघ० १.१.२.

४ निघ०वृ०, १.१.२.

५ दुर्ग,निरु० २.९. पृ० १५९.

६ वै०पद०को०, पृ० १२१०.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३२६; ३७०.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३२६; ३७०.

अनुमन्य है।[१] लेकिन 'क्ष' वर्ण स्थान पर उक्त वर्ण परिवर्तन दृष्टिगत नहीं होता।

वैदिक साहित्य में 'ग्मा' का बहुत अधिक प्रयोग देखने को नहीं मिलता। विमद ऐन्द्र ऋषि कहते हैं कि भोगों की कामना करने वाला मनुष्य पूछता है कि दूरवर्ती द्युलोक और पृथिवी से आए गमनशील ये दोनों (प्राण और अपान) किस प्रयोजन से मरणधर्मा शरीर में हैं?[२] वैकुण्ठ इन्द्र ऋषि इन्द्र के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि मुझ इन्द्र को ही प्राणी द्यु, पृथिवी और जलों के देवता के नाम से पुकारते हैं।[३] शुनःशेप ऋषि वरुण की स्तुति करते हुए कहते हैं कि वरुण समस्त द्युलोक और पृथिवीलोक का प्रकाश करने वाला है।[४] अत्रि ऋषि कहते हैं कि अभीष्ट की प्राप्ति कराने वाले दोनों देव अन्तरिक्ष और पृथिवीलोक में प्रकाशित होते हैं।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सर्वत्र वेद में 'दिवः' के साथ 'ग्मः' पद का उल्लेख हुआ है तथा द्युलोक के साथ पृथिवी को प्रकाशित माना गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह पृथिवी 'ग्मा' है, जो देवता के आलोक से आलोकित हो रही है। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि उक्तपद भी 'गो' के समान 'गम्' धातु से व्युत्पन्न प्रतीत होता है।

३. ज्मा

निघण्टुकोष के पृथिवीवाचक नामपदों में 'ज्मा पद पठित है।[६] आचार्य देवराजयज्वन् उक्तपद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**जमतिर्गतिकर्मा। गतौ पूर्ववदर्थः**''[७] कि गतिशील या दूर तक उपलब्ध रहने के कारण पृथिवी को 'ज्मा' कहा जाता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'जम्' धातु से 'ज्मा' शब्द सिद्ध होता है।

आचार्य सायण भी 'ज्मा' का निर्वचन 'जम्' धातु से करते हैं:-''**जमन्ति गच्छन्त्यस्यामिति ज्मा पृथिवी**''[८] कि इस पर प्राणी गमन करते हैं, इसलिये पृथिवी 'ज्मा' कहलाती है।

(ख)''अथवा 'जमु' अदने'। अदन्ति वास्यां भूतानि''[९] कि इस पर प्राणी भक्षण करते हैं, इसलिये पृथ्वी को 'ज्मा' कहते हैं। इस पक्ष में भक्षणार्थक 'जम्' धातु से 'ज्मा' से पद निष्पन्न होता है।

(ग)''यद्वा, 'जनी' प्रादुर्भावे'। जातानि स्वकारणात्, जायन्ते वास्यामोषधयः''[१०] कि अपने कारण से प्रादुर्भूत होने के कारण अथवा इस पर ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, अतः, पृथ्वी 'ज्मा' कहलाती है। इस पक्ष

---

१ पाणिनि, अष्टा०, ७.४.६२; ८.२.३९; ४.५३.

२ ऋ० १०.२२.६. ''अध ग्मतोशना पृच्छते वां कदर्था न आ गृहम्। आ जग्मथुः पराकाद्दिवश्च ग्मश्च मर्त्यम्।''

३ ऋ० १०.४९.२. ''मा धुरिन्द्रं नाम देवता दिवश्च ग्मश्चापां च जन्तवः।''

४ ऋ० १.२५.२०. ''त्वं विश्वस्य मेधिर दिवश्च ग्मश्च राजसि।''

५ ऋ० ५.३८.३. ''उभा देवावभिष्टये दिवश्च ग्मश्च राजथः।''

६ निघ० १.१.३.

७ निघ०वृ०, १.१.३.

८ सायण भाष्य,ऋ० ८.१.१.

९ निघ०वृ०, १.१.३.

१० निघ०वृ०, १.१.३.

में 'जन्' धातु से ज्मा' पद निष्पन्न होता है।

(घ)''यद्वा, 'अञ्जू' व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु'। व्यक्ता सर्वेषां प्रत्यक्षा न ह्याकाशादिवदव्यक्ता पृथिवी। अक्ता सिक्ता भवति वृषेण''[१] कि अन्य आकाशादि भूतों के समान अव्यक्त न होने या वर्षा से सिक्त हो जाने से पृथिवी को 'ज्मा' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अञ्ज्' धातु से 'ज्मा' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्त पद को अव्युत्पन्न मानते हैं।[२] मोनियर विलियम्स 'ज्मन्' की तुलना 'क्ष्मन्' से करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद 'पृथिवी पर चलने' अर्थ में आया है।[३]

वैदिक साहित्य में 'ज्मा' का प्रयोग बहुत अधिक नहीं हुआ है। ऋग्वेद में दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि यह अग्नि पृथिवी का जाना जाता है। इसके अतिरिक्त सूर्य तथा प्राणियों की आह्लादित करने वाली उषा अपने तेज के साथ उदित होती है और तमस् को दूर भगाती है।[४] वामदेव ऋषि कहते हैं कि बृहस्पति बल से पृथ्वी की दिशाओं को नियमित करता है।[५] बार्हस्पत्य भरद्वाज ऋषि अश्विन् देवों का स्तवन करते हुए कहते हैं कि ये देव निशा की समाप्ति पर पृथ्वी की दिशाओं से अन्धकार को दूर कर के प्रकाश को फैलाते हैं।[६] काण्व ऋषि इन्द्र का स्तवन करते हुए कहते हैं कि वह पृथ्वी और महान् अन्तरिक्ष से भी ऊपर स्थित देदीप्यमान स्थान से आकर मेरी वाणी को सुनकर वृद्धि प्राप्त करे।[७] वसिष्ठ ऋषि इन्द्र का गुणगान करते हुए कहते हैं कि वह कर्म से पृथिवी पर वर्तमान जन्तुओं को अभिभूत करता है।[८] एक अन्य सूक्त में वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि वसुसंज्ञक पृथ्वी के देव यहाँ रमण करें।[९] ऋजिष्वा ऋषि का कथन है कि जो कोई महान् देव पृथिवी और अन्तरिक्ष में उत्पन्न हुए हैं, वे सर्वविध सुख प्रदान करें।[१०] रेणु ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं कि तू उस नेतृतम भगवान् की स्तुति कर, जिसकी महिमा समस्त प्रकाशित होने वाले पदार्थ और पृथिवी की सीमाओं को भी अभिभूत करती है अर्थात् लाँघ जाती है।[११]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में वह पृथिवी 'ज्मा' है, जिसे सूर्य की जाना जाता है अर्थात् सूर्य के आने से जहाँ गतिविधि दिखलायी देती है, बृहस्पति (सूर्य) बल से इस पृथिवी की दसों दिशाओं का निमयन करता है, अश्विनीदेव प्रातःकाल में अन्धकार को दूरकर प्रकाश फैलाते

---

१ निघ०वृ०, १.१.३.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० २१७. वै०पद०को०, पृ० १३९२.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ४२६.

४ ऋ० १.१५७.१. ''अबोध्याग्निर्ज्म उदेति सूर्यो व्यु१षाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा।''

५ ऋ० ४.५०.१. ''यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान्बृहस्पतिः त्रिषधस्थो रवेण।''

६ ऋ० ६.६२.१. ''या सद्य उस्रा व्युषि ज्मो अन्तान्युयूषतः पर्युरू वरांसि।''

७ ऋ० ८.१.१८. ''अध ज्मो अध वा दिवो बृहतो रोचनादधि। अया वर्धस्व तन्वा गिरा ममा जाता सुक्रतो पृण।''

८ ऋ० ७.२१.६. ''अभि क्रत्वेन्द्र भूरध ज्मन्न ते।''

९ ऋ० ७.३९.३. ''ज्मया अत्र वसवो रन्त देवाः।''

१० ऋ० ६.५२.१५. ''ये के च ज्मा महिनो अहिमाया दिवो जज्ञिरे अपां सधस्थे।''

११ ऋ० १०.८९.१. ''इन्द्रं स्तवा नृतमं यस्य मह्ना वि बबाधे रोचना वि ज्मो अन्तान्।''

हैं, अन्तरिक्ष से भी उच्चस्थान से इस पृथ्वी पर इन्द्र स्तुति को सुनकर आता है, वह कर्म से पृथिवीस्थ प्राणियों को व्याप्त करता है, इस 'ज्मा' पर वसु रमण करते हैं, अन्तरिक्ष और पृथिवी पर उत्पन्न होने वाले देव सर्वविध सुख प्रदान करते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि सूर्य अर्थात् प्रकाश के सम्बन्ध से प्राणियों की आजीविका तथा अन्य प्रकार के कर्म से युक्त पृथिवी वेद के ऋषि की दृष्टि में 'ज्मा' है। इसके अतिरिक्त वेद 'ज्मा' के साथ 'अन्त' शब्द का प्रयोग करता है। इससे यह सूचित होता है कि देवों की दृष्टि से यह पृथिवी सीमित है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जिसमें प्राणी नानाविधकर्म में संलग्न हैं, ऐसी पृथिवी वेद की दृष्टि में 'ज्मा' है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए गत्यर्थक 'जम्' धातु को 'ज्मा' पद का मूल माना जा सकता है।

४. क्ष्मा

निघण्टुकोष के पृथ्वीवाचक नामपदों में 'क्ष्मा' पद समाम्नात है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'क्ष्मा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**क्षायन्ति अवयवं गच्छन्त्यस्यां पदार्था इति वा**''[२] कि पदार्थ इस पर टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, इसलिये पृथिवी को 'क्ष्मा' कहा जाता है। इस पक्ष में क्षयार्थक 'क्षै' या 'क्षि' से धातु 'मनिन्' प्रत्यय होकर 'क्ष्मा' शब्द सिद्ध होता है।

(ख)''**यद्वा, 'क्षि' निवासगत्योः'। क्षियन्ति निवसन्त्यस्यां प्राणिनः**''[३] कि इस पर प्राणी निवास करते हैं, अतः, पृथिवी 'क्ष्मा' नाम से अभिहित होती है। इस पक्ष में निवास और गति अर्थवाली 'क्षि' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय होकर 'क्ष्मा' पद निष्पन्न होता है।

(ग)''**यद्वा, 'क्षि' हिंसायाम्'। हिंस्यन्तेऽस्यां पापकृत इति वा**''[४] कि पाप करने वाला इस पर मारा जाता है, अतः, पृथिवी 'क्ष्मा' कहलाती है। इस पक्ष में भी 'क्ष्मा' पद पूर्ववत् सिद्ध होता है।

(घ)''**यद्वा, 'क्षमूष्' सहने'। क्षमते वा प्राणिजातरूपम्**''[५] कि समस्त प्राणियों के भार को वहन करती है, अतः, यह 'क्ष्मा' कहलाती है। इस पक्ष में 'क्षम्' धातु से 'डाप्' प्रत्यय होकर 'क्ष्मा' रूप निष्पन्न होता है।

(ङ)''**यद्वा, 'क्ष्मायी' विधूनने'। भारं विधूनयति वा प्राणिनः स्वकीयकाले**''[६] कि समय आने पर यह प्राणियों के भार को कँपा देती है अर्थात् भूकम्प आदि त्रासदियों के द्वारा भार को कम कर देती है, अतः, पृथिवी को 'क्ष्मा' कहा जाता है। इस पक्ष में 'क्ष्माय्' धातु से 'डाप्' प्रत्यय होकर 'क्ष्मा' पद सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'क्ष्मा' पद को अव्युत्पन्न नामपद मानता है। अन्य विद्वान् 'क्ष्माय्, क्षम् या

---

१ निघ० १.१.४.

२ निघ०वृ०, १.१.४.

३ निघ०वृ०, १.१.४.

४ निघ०वृ०, १.१.४.

५ निघ०वृ०, १.१.४.

६ निघ०वृ०, १.१.४.

'क्षि' निवासे' धातु से व्युत्पन्न मानते हैं।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्त पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स भी 'क्ष्मा' और 'क्षमा' इन दोनों को तुलनीय बताकर एक मानने का सङ्केत देते हैं।[३] उणादिकोष के अनुसार सहनार्थक 'क्षम्' धातु से 'क्षमा' पद सिद्ध होता है।[४] निघण्टुकार ने पृथिवीवाचक नामपदों में 'क्ष्मा' और 'क्षमा' इन दो पदों को भिन्न मानते हुए परिगणन किया है।[५] वस्तुतः, ये दो भिन्न पद न होकर एक ही पद है, जैसे-पृथ्वी और पृथिवी।

वैदिक साहित्य में 'क्ष्मा' का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। आङ्गिरस ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं कि वह यश की इच्छा रखने वाला सुक्रतु इन्द्र पृथिवी के साथ बढ़ता हुआ, अपने ओज से कृत्रिम सदनों को नष्ट करके जल को बहाता है।[६] अत्रि ऋषि पृथ्वी के सम्बन्ध में कहते हैं कि यह दृढ़ता से वनस्पतियों को धारण करती है।[७] रुद्र की स्तुति करते हुए वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि रुद्र के द्वारा अन्तरिक्ष से छोड़ा गया अशनिरूप वज्र पृथ्वी पर विद्यमान हम पर न गिरे।[८] नाभोनेदिष्ठ मानव ऋषि विश्वदेवों के स्तुति प्रसङ्ग में कहते हैं कि प्रजापति आदित्य अपनी दुहिता उषा को प्राप्त करता है, तब वह पृथ्वी के साथ सङ्गत होता हुआ स्वतेज को उसमें सिक्त करता है।[९] रेणु ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं कि मनुष्य को पृथिवी और द्युलोक से भिन्न, नवीन, एकरस, सबके समीप विद्यमान ब्रह्म की अर्चना करनी चाहिये।[१०] ऋज्राश्वादि ऋषि कहते हैं कि दानादिगुणयुक्त, जिसके बल का अन्त वायु आदि देव तथा मनुष्य नहीं प्राप्त कर सके, ऐसा इन्द्र का बल पृथिवी और द्युलोक से बढ़कर है, वह मरुतों के साथ हमारी रक्षा करे।[११]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में 'क्ष्मा' को ऐसी पृथ्वी के रूप में चित्रित किया गया है, जिसमें प्रजापति आदित्य का रेत सिञ्चित हो रहा है तथा जो वनस्पतियों को दृढ़ता से धारण करती है। इसके अतिरिक्त ऋषि ऐसी 'क्ष्मा' की कल्पना करता है, जिसमें इन्द्र के वज्र से विनाश न हो, परन्तु उदक की प्राप्ति अवश्य होती रहे। उक्त गुणों वाली पृथ्वी निवासयोग्य होने से 'क्ष्मा' कहलाने की अधिकारिणी है। इसलिये निवास और गति अर्थ वाली 'क्षि' धातु से 'क्ष्मा' को व्युत्पन्न करना समीचीन है, अतः, 'क्षि' धातु को 'क्ष्मा' का मूल माना जा सकता है।

---

१ वै०पद०को०, पृ० ११९८.
२ ऋ०वै०पद०, पृ० १८२.
३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३३३.
४ उणा०, ५.६५. "क्षमेरुपधालोपश्च"।
५ निघ० १.१.
६ ऋ० १.५५.६. "स हि श्रवस्युः सदनानि कृत्रिमा क्ष्मया वृधान ओजसा विनाशयन्।"
७ ऋ० ५.८४.३. "दृळ्हा चिद्या वनस्पतीन्क्ष्मया दर्धर्ष्योजसा।"
८ ऋ० ७.४६.३. "या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्ष्मया चरति सा वृणक्तु नः।"
९ ऋ० १०.६१.७. "पिता यस्त्वां दुहितरमधिष्कन्क्ष्मया रेतः सञ्जग्मानो नि षिञ्चत्।"
१० ऋ० १०.८९.३. "समानमस्मा अनयावृदर्च क्ष्मया दिवो असमं ब्रह्म नव्यम्।"
११ ऋ० १.१००.१५. "न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्चन शवसो अन्तमापुः। स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती।"

५. क्षा

निघण्टुकोष के पृथ्वी वाचक नामपदों में 'क्षा' पद समाम्नात है।[१] आचार्य यास्क 'क्षा' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**क्षा क्षियतेर्निवासकर्मण:, क्षियन्ति निवसन्त्यस्यां प्राणिन:**''[२] कि निवासार्थक 'क्षि' धातु से 'क्षा' पद निष्पन्न होता है। जिसमें प्राणी निवास करते हैं, वह पृथ्वी 'क्षा' कहलाती है। आचार्य सायण भी कुछ ऐसा ही निर्वचन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं:-''**क्षियन्ति निवसन्त्यस्यां प्राणिन इति क्षा भूमि:**''।[३]

आचार्य देवराजयज्वन् उक्त पद का निर्वचन 'क्ष्मा' की तरह करने का सङ्केत देते हैं।[४] तदनुसार क्षि क्षये, क्षि निवासगत्यो:, क्षि हिंसायाम्, क्षै क्षये एवं क्षमूष् सहने पाँच धातुओं से 'क्षा' को व्युत्पन्न किया जा सकता है। विस्तृत विवरण 'क्ष्मा' पद के विवेचन प्रसङ्ग में किया जा चुका है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष निघण्टुकोष के आधार पर 'क्षा' पद को पृथ्वी वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। पेटरसन प्रभृति विद्वान् उक्त पद का मूल 'क्षम्' धातु, सायण 'क्षि' निवासे' तथा 'क्षै' धातु को मानते हैं।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्त पद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स 'क्षमा' पद को 'क्षम्' धातुमूलक मानते हैं।[७]

वैदिक साहित्य में 'क्षा' का व्यापक प्रयोग हुआ है। पराशर ऋषि अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि यह अग्नि सूर्य के समान पृथ्वी और अन्तरिक्ष दोनों को धारण तथा सत्य मन्त्रों से द्युलोक को स्तम्भित करता है।[८] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि अन्तरिक्ष में स्थित उदकसङ्घात को यह अग्नि प्रवाहित तथा उससे पृथ्वी को व्याप्त करता है।[९] परुच्छेप ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि नीचे की ओर मुख किये हुए मेघ को विदीर्ण करो और हमारी प्रार्थना को सुनो। द्युलोक के समान यह पृथ्वीलोक वृष्टि के अभाव से शोचनीय न हो जाये।[१०] दीर्घतमस् ऋषि अश्विनीदेवों से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि यह दस गुना सञ्चित ईंधन मुझे न जलाये। तुम दोनों का आश्रित यह जन चलने में असमर्थ होने के कारण पृथ्वी पर शयन करता है।[११] अगस्त्य ऋषि अग्नि की स्तुति करते हुए कहते हैं कि यह यष्टव्य अग्नि हमारे लिये ऐश्वर्य प्रदान करे तथा समस्त अमरणधर्मा देवों के साथ इस स्थान पर आये।[१२] इन्द्र की महिमा का वर्णन करते हुए विश्वामित्र

---

१ निघ० १.१.५.
२ निरु० २.६.
३ सायणभाष्य,ऋ० ३.३२.११.
४ निघ०वृ०, १.१.५.
५ वै०पद०को०, पृ० ११८९.
६ ऋ०वै०पद०, पृ० १८०.
७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३२६.
८ ऋ० १.६७.३. ''अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभि: सत्यै:।''
९ ऋ० १.९५.१०. ''धन्वन्त्स्रोत: कृणुते गातुमूर्मिं शुक्रैरूर्मिभिरभि नक्षति क्षाम्।''
१० ऋ० १.१३३.६. ''अवर्मह इन्द्र दादृहि श्रुधी न: शुशोच हि द्यौ: क्षा न भीषाँ।''
११ ऋ० १.१५८.४. ''मा मेधो दशतयश्चितो धाक् प्र यद्वां बद्धस्त्मनि खादति क्षाम्।'
१२ ऋ० १.१८९.३. ''पुनरस्मभ्यं सुविताय देव क्षां विश्वेभिरमृतेभिर्यजत्र।''

ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम्हारी महिमा को द्युलोक नहीं जानता, क्योंकि तुम पृथ्वी को आच्छादित करके स्थित रहते हो।[१] वामदेव ऋषि इन्द्र के विषय में कहते हैं कि वह महान् है, क्योंकि उसके महत्त्व को पृथ्वी और द्युलोक दोनों स्वीकार करते हैं।[२] भरद्वाज ऋषि अग्नि के भयङ्कर रूप का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि दीप्तिमान् अग्नि की शुभ्र दीप्तियाँ पृथ्वी का मुण्डन कर देती हैं अर्थात् वनस्पतिरहित बना देती हैं।[३] एक अन्य स्थान पर भरद्वाज ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि ब्रह्म से द्वेष करने वालों को भस्म करने के लिए पृथ्वी और जल को सन्तप्त करो।[४] त्रित ऋषि अग्नि स्तवन प्रकरण में कहते हैं कि यह अग्नि यज्ञ द्वारा समस्त पृथिवीवासियों को अन्न आदि प्रदान करता है।[५] वासुक्र ऋषि इन्द्र की महिमा का गुणगान करते हुए कहते हैं कि विना हाथ-पैर की यह पृथ्वी सूर्यादि देवों की गतिविधियों से वृद्धि को प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि आप समस्त प्राणियों के कल्याण के लिये इसे चारों ओर से व्याप्त करके मेघ को ताडित कर वर्षा करते हो।[६] क्रवष ऐलूष ऋषि कहते हैं कि उस परमेश्वर की व्यवस्था में रश्मियों का समूह आदित्य पृथ्वी को अतिक्रान्त नहीं करता है और न भूमि पर मर्यादा का अतिक्रमण करके वायु प्रवाहित होता है।[७] गौरवीति ऋषि कहते हैं कि इन याज्ञिकों का प्रेरक आह्वान, द्युलोक को व्याप्त करता है तथा अन्नरूप हवि को चाहते हुए देव मन से पृथ्वी को प्राप्त होते हैं।[८]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद की दृष्टि में 'क्षा' वह पृथ्वी है, जिस पर इन्द्र की कृपा से उदकसङ्घात व्याप्त है, जहाँ कभी वृष्टि का अभाव नहीं होता। जिस पर समस्त ऐश्वर्य विद्यमान है तथा जो कभी भी अग्नि के कोप से वनस्पतिरहित नहीं होती। यहाँ देवकृपा से सूर्य और वायु अपनी सीमा का अतिक्रमण नहीं करते। इस कारण इस पृथ्वी पर धन-धान्य भरा-पूरा रहता है और यह इसीलिए 'क्षा' नाम से अभिहित होती है। इसको ध्यान में रखते हुए 'क्षा' को निवासार्थक 'क्षि' धातु से व्युंत्पन्न करना युक्तिसङ्गत है। उक्त निर्वचन ध्वनिरूप और अर्थ की दृष्टि से स्वीकार करने के योग्य है। एक मन्त्र स्पष्टरूप से कहता है कि यह पृथिवी जात और जायमान प्राणियों का निवासस्थान है।[९] इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि वह पृथ्वी 'क्षा' है, जो निवासयोग्य हो, जिसमें किसी प्रकार का अभाव न हो।

६. क्षमा

निघण्टुकोष के पृथ्वी वाचक नामपदों में 'क्षमा' पद परिगणित है।[१०] आचार्य देवराजयज्वन् के

---

१ ऋ० ३.३२.११. "न ते महित्वमनु भूदध द्यौर्यदन्यया स्फिग्या३ क्षामवस्थाः।"

२ ऋ० ४.१७.१. "त्वं महाँ इन्द्र तुभ्यं ह क्षा अनुक्षत्रं मंहना मन्यत द्यौः।"

३ ऋ० ६.६.४. "ये ते शुक्रासः शुचयः शुचिष्म क्षां वपन्ति विषितासो अश्वाः।"

४ ऋ० ६.२२.८. "तपा वृषन्विश्वतः शोचिषा तान्ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपश्च।"

५ ऋ० १०.२.६. "स आ यजस्व नृवतीरनु क्षाः स्पार्हा इषः क्षुमतीर्विश्वजन्याः।"

६ ऋ० १०.२२.१४. "अहस्ता यदपदी वर्धत क्षाः शचीभिर्वेद्यानाम्। शुष्णं परि प्रदक्षिणिद्विश्वायवे नि शिश्नथः।"

७ ऋ० १०.३१.९. "स्तेगो न क्षामत्येति पृथ्वीं मिहं न वातो वि ह वाति भूम।"

८ ऋ० १०.७४.२. "हव एषामसुरो नक्षत्र द्यां श्रवस्यता मनसा निंसत क्षाम्।"

९ ऋ० १.९६.७. "जातस्य जायमानस्य च क्षाम्।"

१० निघ० १.१.६.

अनुसार 'क्ष्मा' पद के निर्वचन 'क्ष्मा' की तरह पूर्वोक्त सब धातुओं से होते हैं।[१] इसका विस्तृत विवेचन 'क्ष्मा' प्रकरण में किया जा चुका है। 'क्ष्मा' शब्द को देवराजयज्वन् ने निम्न पाँच प्रकार से व्युत्पन्न किया है:- क्षि क्षये, क्षि निवासगत्योः, क्षि हिंसायाम्, क्षै क्षये, क्षमूष् सहने, क्ष्मायी विधूनने।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'क्षमा' पद का मूल 'क्षम्' धातु को मानता है। उसके अनुसार अथर्ववेद में यह भूमि के विशेषण के रूप में तथा खिल सूक्त में नामपद के रूप में प्रयुक्त है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्त पद को 'क्षम्' धातुमूलक मानती है।[३] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार अथर्ववेद में यह पद रोगी सम्भवतः, पृथ्वीस्थ रोगी के लिये आया है।[४]

वैदिक साहित्य में 'क्षमा' का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। आङ्गिरस कुत्स ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं कि इन्द्र का अग्नि नामक ज्योतिरूप पृथ्वी तथा सूर्य नामक द्युलोक में विद्यमान है। जिस प्रकार युद्ध में ध्वजाएँ होती हैं, उसी प्रकार ये अग्नि और सूर्य इन्द्र की ध्वजायें हैं।[५] शुनःशेप ऋषि कहता है कि सबके द्वारा देखने योग्य वरुण का रथ मैंने पृथ्वी पर देख लिया है।[६] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि जो अविद्या से पृथक् हुए सदा सत्य ज्ञान रखने वाले हैं और जो यज्ञ साधन करते हुए पृथ्वी पर वर्तमान हैं, वे क्षेत्र साधने वाले हमारे स्वीकार करने योग्य ज्ञान को प्राप्त हों।[७] वामदेव ऋषि इन्द्र की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह माया (बुद्धि) के द्वारा पृथ्वी पर विशेष रूप से नदी और सिन्धु के चारों ओर स्थित होता है।[८] इन्द्र के विषय में वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि इन्द्र केवल इस जगत् का राजा नहीं है, अपितु मनुष्यों एवं पृथ्वी पर स्थित सम्पूर्ण धन का राजा भी वही है।[९] विरूप आङ्गिरस अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि जब यह पृथ्वी पर फैलता है, तब इसके प्रसरण से नीचे की ओर धूलियाँ काली हो जाती हैं।[१०] भर्ग प्रागाथ अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार पृथ्वी पर वृद्ध शरीर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार वह अग्नि दुर्जनों को भस्म कर दे।[११] यमी वैवस्वती ऋषि कहती हैं कि मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए अपने पिता के नाती को, पृथ्वी के समान, स्त्री में स्थापित करे।[१२] वासुक्र ऋषि कहते हैं कि देवगण द्युलोक में सूर्य को स्थापित तथा पृथ्वी पर निरन्तर श्रेष्ठ कर्मों को करते हैं।[१३]

---

१ निघ०वृ०, १.१.६.

२ वै०पद०को०, पृ० ११८८.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० १८०.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३२६.

५ ऋ० १.१०३.१. ''क्षमेदमन्यद्दिव्य१न्यदस्य समी पृच्यते समनेव केतुः।''

६ ऋ० १.२५.१८. ''दर्शं नु विश्व दर्शतं दर्शं रथमधि क्षमि। एता जुषत मे गिरः।''

७ ऋ० ३.८.७. ''ये वृक्णासो अधि क्षमि नि मितासो यतस्रुचः। ते नो व्यन्तु वार्य्यन्देवत्रा क्षेत्रसाधसः।''

८ ऋ० ४.३०.१२. ''उत सिन्धुं विबाल्यं वितस्थानामधि क्षमि। परि ष्ठा इन्द्र मायया।''

९ ऋ० ७.२३.३. ''इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमि विषुरूपं यदस्ति''।

१० ऋ० ८.४३.६. ''कृष्णा रजांसि पत्सुतः प्रयाणे जातवेदसः। अग्निर्यद्रोधति क्षमि।''

११ ऋ० ८.६०७. ''यथा चिद्वृद्धमतसमग्ने सञ्जूर्वसि क्षमि। एवा दह मित्रमहः।''

१२ ऋ० १०.१०.१. ''पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः।''

१३ ऋ० १०.६५.११. ''सूर्यं दिवि रोहयन्तः सुदानव आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि।''

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद की दृष्टि में 'क्षमा' नामक पृथ्वी वह है, जिसमें सूर्य और चन्द्र केतु के समान प्रकाशित होते हैं। जहाँ इन्द्र प्रवाहित रखने के लिए नदी और सिन्धुओं के चारों ओर स्थित रहता है। इसके अतिरिक्त अग्नि के प्रभाव से न केवल नीचे की धूलि काली होती है, वरन् वह पृथ्वी पर स्थित दुर्जनों को भी भस्म करता है। इस पृथ्वी पर प्राणी वंश परम्परा का पालन करने के लिये स्त्री में वीर्य को स्थापित करता है। यहाँ देवगण भी निरन्तर श्रेष्ठ कर्म करते हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि मनुष्य के लिये आवश्यक सुख-सुविधाओं से सम्पन्न, सुरक्षित, वंश परम्परा के पालन के अनुकूल पृथिवी वेद की दृष्टि में 'क्षमा' है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि उक्त विशेषताओं से सम्पन्न पृथ्वी निवासयोग्य होने से 'क्षमा' नाम की अधिकारिणी है। इस तथ्य को ध्यान को रखते हुए कहा जा सकता है कि अर्थ की दृष्टि से 'क्षम्' धातु से 'क्षमा' पद को व्युत्पन्न करना समीचीन नहीं है, परन्तु रूप की दृष्टि से उक्त निर्वचन स्वीकार्य है।

७. क्षोणिः

निघण्टुकोष के पृथ्वीवाचक नामपदों में 'क्षोणिः' पद पठित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'क्षोणि' पद का निर्वचन देते हुए कहते हैं:-"**क्षूयते शब्द्यते स्तूयते स्तोतृभिः**"[२] कि स्तोताओं के द्वारा स्तुति किये जाने के कारण पृथ्वी को 'क्षोणिः' कहा जाता है। इस पक्ष में शब्दार्थक 'क्षु' धातु से औणादिक 'नि' प्रत्यय होकर 'क्षोणि' शब्द सिद्ध होता है।

(ख)"**क्षवन्त्यस्यां भूतानीति वा**"[३] कि प्राणी इस पर स्थित होकर स्तुति करते हैं, अतः, पृथ्वी को 'क्षोणि' कहा जाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् 'क्षोणि' रूप सिद्ध होता है।(धातुपाठ में 'क्षु' अदादिगणीय है, उसका लट् लकार में प्रयोग 'क्षुवन्ति' बनता है)।

आचार्य यास्क 'क्षोण' का निर्वचन '**क्षयणस्य**' करते हैं।[४] यहाँ 'क्षयणस्य' 'क्षि' धातु का रूप है। तदनुसार 'क्षोणिः' का अर्थ होगा कि जो निवासयोग्य है, ऐसी पृथ्वी 'क्षोणि' है। मोनियर विलियम्स भी 'क्षोण' को 'क्षयण' के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची में उक्त पद अव्युत्पन्न रूप में प्रदर्शित है।[६] वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'क्षोणिः' पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध मानता है। उसके अनुसार सायण एवं पेटरसन प्रभृति विद्वानों के मत में उक्तपद शासकभिन्न सङ्घ के अर्थ में आया है, जबकि वेङ्कट उक्तपद को भूमि वाचक मानते हैं।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि उक्त यास्कीय निर्वचन शिथिल है और 'क्षयण' से 'क्षोण' व्युत्पन्न होने की सम्भावना क्षीण है। वे उक्त निर्वचन को अस्पष्टवर्ग में रखते हैं।[८]

---

१ निघ० १.१.७.
२ निघ०वृ०, १.१.७.
३ निघ०वृ०, १.१.७.
४ निरु० ६.६.
५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३३३.
६ ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची, पृ० १८२.
७ वै०पद०को०, पृ० ११९८.
८ दि एटीमोलीजीज ऑफ यास्क, पृ० १३१.

वैदिक साहित्य में 'क्षोणिः' का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। अगस्त्य ऋषि अश्विनीदेवों की स्तुति करते हुए कहते हैं कि इन दोनों देवों की महिमा से अन्तरिक्ष और पृथ्वी दोनों लोक सुसेवित हैं।[१] अगस्त्य ऋषि एक अन्य मन्त्र में इन्द्र का गुणगान करते हुए कहते हैं कि समानरूप से पृथ्वी का सेवन करने वाली प्रजा पराक्रमी इन्द्र की प्रशंसा करती है।[२] इन्द्र की ही स्तुति करते हुए आङ्गिरस सव्य ऋषि प्रार्थना करते हैं कि वह हमें नदियों के उदक के समान न क्रन्दन करने दे और न रुलाये। उसके भय से पृथ्वी सहित तीनों लोक सङ्गत नहीं हैं अर्थात् भयभीत हैं।[३] एक अन्य मन्त्र में आङ्गिरस ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार पृथ्वी वीरपुरुषों को प्राप्त होती है, उसी प्रकार स्तुतियाँ इन्द्र के अतिरिक्त अन्य किसी को प्राप्त नहीं होतीं।[४] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि वे रुद्रपुत्र मरुत् आरोचमान रूप वाली पृथिवियों से उदक के स्थानों पर वृद्धि को प्राप्त होते हैं।[५] एक अन्य मन्त्र में गृत्समद ऋषि कहते हैं कि इन्द्र का बल आकाश और पृथ्वी तथा समुद्र और पर्वतों से भी परिभूत नहीं होता है।[६] कहीं ऋषि कहता है कि वे मरुद्गण महान् जलधाराओं, पृथ्वी तथा सूर्य को सम्यग् धारण करते हैं।[७] आयु काण्व ऋषि के अनुसार इन्द्र पृथ्वी और सूर्य धन को सम्यक् प्रवर्तित करता है।[८] नृमेध ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार अपने दोष कम करने में लगे हुए बालक के अनुकूल माता-पिता चलते हैं, उसी प्रकार सभी पृथ्वीवासी इन्द्र के अनुकूल चलते हैं।[९]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद की दृष्टि में वह पृथ्वी 'क्षोणि' है, जिसमें वृद्धावस्था पर्यन्त प्राणी दीर्घजीवी रह सकता है, जहाँ सभी लोग समान रूप से इसका उपभोग करते हैं, जहाँ न क्रन्दन है और न रुदन, इस पृथ्वी पर वीरपुरुष शासन करते हैं, इस पर निवास करने वाले मरुद्गण (मनुष्य) उदक के स्थानों पर वृद्धि को प्राप्त होते हैं। बुद्धिमान् मरुद्गण जलधाराओं, पृथ्वी और सूर्य की शक्ति को सम्यक् धारण (उपयोग) करते हैं। इसके अतिरिक्त इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्य के प्रति अनुकूलता 'क्षोणि' की अपनी व्यक्तिगत विशेषता है। इसी कारण यह पृथिवी क्षयण (निवास) योग्य हो पाती है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'क्षोणि' को निवासार्थक 'क्षि' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है।

८. क्षितिः

निघण्टुकोष के पृथिवीवाचक नामपदों में 'क्षिति' पद परिगणित है।[१०] आचार्य देवराजयज्वन् 'क्षिति'

---

१ ऋ० १.१८०.५. ''अपः क्षोणी सचते माहिना वां जूर्णो वामुक्षुरंहसो यजत्रा।''
२ ऋ० १.१७३.७. ''सजोषस इन्द्रं मदे क्षोणीः सूरिं चिद्ये अनुमदन्ति वाजैः।''
३ ऋ० १.५४.१. ''अक्रन्दयो नद्यो१ रोरुवद्वना कथा न क्षोणीर्भयसा समारत।''
४ ऋ० १.५७.४. ''नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सधत्क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः।''
५ ऋ० २.३४.१३. ''ते क्षोणीभिररुणेभिर्नाञ्जिभी रुद्रा ऋतस्य सदने वावृधुः।''
६ ऋ० २.१६.३. ''न क्षोणीभ्यां परिभ्वे त इन्द्रियं न समुद्रैः पर्वतैरिन्द्र न ते रथः।''
७ ऋ० ८.७.२२. ''समु त्ये महतीरपः सं क्षोणी समु सूर्यम्।''
८ ऋ० ८.५२.१०. ''समिन्द्रो रायो बृहतीरधूनुत सं क्षोणी सं सूर्यम्।''
९ ऋ० ८.९९.६. ''अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा।''
१० निघ० १.१.८.

पद का निर्वचन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं:-"**क्षियन्ति निवसन्त्यस्यां प्राणिन:**"[१] कि प्राणी इस पर निवास करते हैं, अत:, पृथ्वी 'क्षिति' कहलाती है। इस पक्ष में 'क्षि' निवासगत्यो:' धातु से 'क्षिति:' रूप सिद्ध होता है। निघण्टुकार ने गतिकर्मा क्रियापदों में 'क्षियति' पद का समाम्नान किया है।[२] तदनुसार 'क्षिति' शब्द को व्युत्पन्न किया जा सकता है, लेकिन उस समय 'गति' को निवासमूलक मानना होगा। निवास भी गति है, क्योंकि उसमें विकास की सम्भावनायें निहित हैं।

(ख)"**(क्षीयन्ते) हिंस्यन्तेऽस्यां पापकृत इति वा**"[३] कि पाप करने वाले इस पर मारे जाते हैं, अत:, पृथ्वी को 'क्षिति' कहा जाता है। इस पक्ष में 'क्षि' हिंसायाम्' धातु से 'क्षिति' पद व्युत्पन्न होता है। आचार्य सायण भी हिंसार्थक स्वादिगणीय 'क्षिणु' धातु से 'क्षिति:' पद व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[४]

(ग)"**यद्वा, 'क्षि' क्षये'। क्षायन्ति अवयवं गच्छन्त्यस्यां पदार्था इति वा**"[५] कि पदार्थ इस पर टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, इसलिये पृथ्वी को 'क्षिति' कहा जाता है। इस पक्ष में क्षयार्थक 'क्षि' धातु से 'क्षिति' पद निष्पन्न होता है।

शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार 'क्षिति:' पद निवासार्थक 'क्षि' धातु से व्युत्पन्न होता है:-"**अयं वै लोक: सुक्षिति:, अस्मिन्हि लोके सर्वाणि भूतानि क्षियन्ति**"[६] कि यह लोक सुक्षिति है, क्योंकि इस लोक में समस्त प्राणी निवास करते हैं।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'क्षिति' पद को 'क्षि' धातुमूलक नामपद मानता है। उसके अनुसार वेद में यह पद भूमि और प्रजा का वाचक है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्त मत का समर्थन करती है।[८] मोनियर विलियम्स भी पृथिवीवाचक 'क्षिति' पद को निवासार्थक 'क्षि' धातु से व्युत्पन्न के पक्ष में हैं।[९]

वैदिक साहित्य में 'क्षिति' पद का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। जहाँ यह बहुवचनान्त पठित है, वहाँ यह प्राय: मनुष्यवाचक अर्थ में है। पराशर ऋषि अग्नि के प्रकरण में कहते हैं कि अभिमत फल देने वाले के समान अग्नि रमणीय है, विस्तृत भूमि के समान समस्त प्राणियों में यह जाठराग्नि के रूप में विद्यमान है।[१०] दीर्घतमा ऋषि मित्रावरुणदेवों का आह्वान करते हुए कहते हैं कि अत्यन्त प्रिय क्षिति को ये अपने घोष से

---

१ निघ०वृ०, १.१.८.

२ निघ० २.१४.४९.

३ निघ०वृ०, १.१.८.

४ माध०धातु०, ८.४. पृ० ३५६.

५ निघ० २.१४.

६ शत०ब्रा०, १४.१.२.२४.

७ वै०पद०को०, पृ० ११९१.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० १८०.

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३२७-२८.

१० ऋ० १.६५.३. "पुष्टिर्न रण्वा क्षितिर्न पृथ्वी गिरिर्न भुज्म क्षोदो न शंभु।"

गुञ्जायमान करें।[१] अत्रि ऋषि कहते हैं कि पुष्टि को प्राप्त करती हुई प्रजा इस पर निवास करती है।[२] यहाँ ऋषि का मन्तव्य यह प्रतीत होता है कि पृथिवी भी 'क्षिति' है और उस पर निवास करने वाली प्रजा भी 'क्षिति' है। वसिष्ठ ऋषि का कथन है कि अपने बल से विजय प्राप्त करने वाले ही उत्तम पृथ्वी पर निवास करते हैं।[३] एक अन्य मन्त्र में वसिष्ठ कहते हैं कि इन ध्रुव पृथिवियों पर निवास करते हुए हमें वरुण पाप के बन्धन से मुक्त करे।[४] यहाँ ऋषि 'क्षिति' के साथ 'क्षियन्तः' का पाठ करता है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'क्षयण' (आवास) धर्म से युक्त स्थान 'क्षिति' है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'क्षिति' वह पृथ्वी है, जो अग्नि के समान विस्तृत है, जहाँ मित्रावरुण (सूर्य और वायु) अपने आने की मानो घोषणा करते हों, जिस पर प्रजा पुष्टि को प्राप्त करती है और जहाँ वीरों की विजय दुन्दुभि बजती है। इसके अतिरिक्त इसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि इस पर पापी पाप से मुक्त हो जाते हैं। निर्वचन की दृष्टि से निवासार्थक 'क्षि' धातु से 'क्षिति' को व्युत्पन्न करना समीचीन है, क्योंकि इसका समर्थन ब्राह्मण तथा वेद दोनों से हो जाता है। वेद ने उक्त मन्त्रों में अनेकशः 'क्षेति', 'क्षियन्ति' और कहीं 'क्षियन्तः' के द्वारा 'क्षिति' के निर्वचन का सङ्केत दिया है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि जो निवासयोग्य है, वह पृथिवी 'क्षिति' है।

९. अवनिः

निघण्टुकोष के पृथ्वीवाचक नामपदों में 'अवनिः' पद परिगणित है।[५] आचार्य देवराजयज्वन् 'अवनि' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**अवति प्रजा, अव्यन्ते वा भूपैः**"[६] कि यह प्रजा की रक्षा करती है अथवा राजाओं द्वारा इसकी रक्षा की जाती है, अतः, पृथ्वी को 'अवनिः' कहा जाता है। इस पक्ष में रक्षणादि अर्थों वाली 'अव्' धातु से औणादिक 'नि' प्रत्यय होकर 'अवनिः' रूप सिद्ध होता है।

शतपथ-ब्राह्मण 'अवि' या 'अवनि' को 'अव्' धातु से व्युत्पन्न मानते हुए निर्वचन करता हुआ कहता है कि यह पृथ्वी सम्पूर्ण प्राणियों की रक्षा करती है, अतः, यह 'अविः' कहलाती है।[७] निघण्टु में 'अवति' क्रियापद पठित है, तदनुसार भी 'अवनि' को निष्पन्न किया जा सकता है।[८] उणादिकोष तथा

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अवनिः' पद को 'अव्' धातुमूलक नदीवाचक नामपद मानता है। वाटरबुश 'वन्' उन्दने' धातु से 'अवनिः' पद को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[९] ऋग्वेद-वैयाकरण पदसूची के अनुसार

---

१ ऋ० १.१५१.४. "प्र सा क्षितिरसुर या महि प्रिय ऋतावानावृतमा घोषथो बृहत्।"

२ ऋ० ५.३७.४. "क्षेति क्षितीः सुभगो नाम पुष्यन्।"

३ ऋ० ७२४.६. "उत स्वेन शवसा शुशुवुर्नर उत क्षियन्ति सुक्षितिम्।"

४ ऋ० ७.८८.७. "ध्रुवासु त्वासु क्षितिषु क्षियन्तो व्य१ स्मत्पाशं वरुणो मुमोचत्।"

५ निघ० १.१.९.

६ निघ०वृ०, १.१.९.

७ शत०ब्रा०, ६.१.२.३३. "इयं वाऽ अविरियᳫं हीमाः सर्वाः प्रजा अवति।"

८ निघ० २.१४.११.

९ वै०पद०को०, पृ० ५२५.

भी 'अवनि' पद का मूल 'अव्' धातु है।[१] मोनियर विलियम्स सम्भवत:, 'अवनि:' पद को अव्युत्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद नदी, नदी की धारा के अर्थ में आया है।[२]

वैदिक साहित्य में 'अवनि' का प्रयोग बहुत अधिक नहीं हुआ है। ऋषि गौतम नोधा कहते हैं कि जिस प्रकार गायें पालन करने वाले को दूध देती हैं, उसी प्रकार पृथ्वी बीजादि दान करने वाले ज्ञानवान् व्यक्ति को अन्न देती है।[३] एक अन्य सूक्त में वे पुन: कहते हैं कि चिरकाल से निवासस्थान बनी हुई हिंसारहित यह पृथ्वी अमृत के साथ व्रतों की रक्षा करती है।[४] ऋषि के कथन का आशय यह है कि पृथ्वी नीड के समान सम्पूर्ण प्रजा का पालन करती है। अगस्त्य ऋषि अश्विनीदेवों के रथ को अवनि के समान विस्तृत बतलाते हैं।[५] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि पुष्पवती और फलवती पृथ्वी को उदक का दान देकर इन्द्र धारण करता है।[६] वामदेव ऋषि कहते हैं कि विश्व का पालन करने वाली महनीय अवनि को इन्द्र अन्नादि से समृद्ध एवं रमणीय बनाता है।[७]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'अवनि' वह पृथ्वी है, जिस पर अन्नादि के प्रचुर मात्रा में होने से प्राणी का जीवन सुरक्षित है, जो नीड के समान सब प्रकार की सुरक्षा प्रदान करती है एवं फूल और फल देकर विश्व का पालन तथा सबकी अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति करती है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए रक्षणार्थक 'अव्' धातु को 'अवनि:' पद का मूल माना जा सकता है। इस प्रकार सब प्रकार से पालनपोषण करने वाली पृथ्वी 'अवनि:' है।

१०. उर्वी

निघण्टुकोष के पृथ्वीवाचक नामपदों में 'उर्वी' पद समाम्नात है।[८] शतपथ-ब्राह्मण 'उर्वी' का वर्णन करता हुआ कहता है:-''**यथेयं पृथिव्युर्वी एवमुरुर्भूयासम्**''[९] कि जिस प्रकार यह पृथिवी 'उरु' है, उसी प्रकार मैं 'उरु' हो जाऊँ। इस पक्ष में 'उरु' से 'उर्वी' रूप को सिद्ध किया गया है।

आचार्य यास्क 'उर्वी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-'**उर्व्य: ऊर्णोते:**''[१०] कि अच्छादित करने के कारण पृथ्वी को 'उर्वी' कहा जाता है। इस पक्ष में आच्छादनार्थक 'ऊर्णुञ्' धातु से 'उर्वी' रूप सिद्ध होता है।

---

१ उणा०, २.१०४; ऋ०वै०पद०, पृ० ५९.

२ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १००.

३ ऋ० १.६१.१०. ''गा न व्राणा अवनीरमुञ्चदभि श्रवो दावने सचेता:।''

४ ऋ० १.६२.१०. ''सनात्सनीळा अवनीरवाता व्रता रक्षन्ते अमृता सहोभि:।''

५ ऋ० १.१८१.३. ''आ वां रथोऽवनिर्न प्रवत्वान्।''

६ ऋ० २.१३.७. ''या पुष्पिणीश्च प्रस्वश्च धर्मणाधि दाने व्य१वनीरधारय:।''

७ ऋ० ४.१९.६. ''त्वं महीमवनिः विश्वधेनां तुर्वीतये वय्याय क्षरन्तीम्।''

८ निघ० १.१.१०.

९ शत०ब्रा०, २.१.४.२८.

१० निरु० २.२६.

(ख)'वृणोतेरित्यौर्णवाभः''[१] कि वरण किये जाने के कारण पृथ्वी को 'उर्वी' कहा जाता है, ऐसा आचार्य औंर्णवाभ का मत है। इस पक्ष में 'वृ' धातु से 'उर्वी' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् भी यास्क का अनुसरण करते हुए 'उर्वी' का निर्वचन निम्न प्रकार करते हैं:- ''ऊर्णोति आच्छादयति उर्वी। महत्त्वादाच्छादयित्री भूमिः स्वस्मिन् हितानां वा पदार्थानाम्''[२] कि आच्छादन करने के कारण पृथिवी को 'उर्वी' कहते हैं। महत् परिमाण के कारण पृथिवी अपने अन्दर स्थित पदार्थों का आच्छादन करती है अर्थात् खनिज सम्पदा अपने अन्दर छिपाये रखने के कारण इसको 'उर्वी' कहा जाता है। इस पक्ष में आच्छादनार्थक 'ऊर्णुञ्' धातु से 'उ' तथा स्त्रीलिङ्ग 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'उर्वी' रूप सिद्ध होता है।

(ख)''वृणोतेर्वा''[३] कि वरणीय होने के कारण पृथ्वी को 'उर्वी' कहा जाता है। इस पक्ष में 'वृञ्' वरणे' धातु से पृषोदरादि नियम से 'उर्वी' रूप सिद्ध होता है। ऐसा ही निर्वचन आचार्य देवराजयज्वन् भी करते हैं।[४]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष आदित्य, मरुत्, पितृ प्रभृति के विशेषण 'उरु' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'उर्वी' पद व्युत्पन्न मानता है। उसके अनुसार 'उरु' पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। पेटरसन और ग्रासमैन 'वृ' आच्छादने' धातु से 'उरु' को निष्पन्न मानते हैं।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी 'उरु' से 'उर्वी' पद को उपपन्न मानती है।[६] उपर्युक्त 'वृ' धातु मूलक निर्वचन के सम्बन्ध में डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय तथा अवेस्ता में 'उरु' का अर्थ विस्तृत है, जबकि 'वृ' धातु का अर्थ आच्छादन है। अतः, 'उर्वी' का निर्वचन ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से सङ्गत है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से अस्वीकार्य है।[७]

मोनियर विलियम्स 'उरु' पद का मूल 'वृ' या 'ऊर्णुञ्' धातु को मानते हैं और 'उर्वी' को 'उरु' के वर्ग में रखते हैं।[८] शतपथ-ब्राह्मण भी कहता है कि जैसे यह पृथिवी 'उरु' है, वैसे मैं भी 'उरु' हो जाऊँ।[९] इससे भी 'उर्वी' उरुमूलक है, यह प्रमाणित होता है। आचार्य सायण 'उरु' पद का मूल 'ऊर्णुञ्' धातु को मानते हैं।[१०] ''ऊर्णोत्याच्छादयत्यल्पानिति उरु' महत्''[११] कि अल्पों को आच्छादित करने के कारण महत् को 'उरु' कहते हैं। स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय कर देने मात्र से 'उरु' से 'उर्वी' बन जाता है। इस प्रकार सिद्ध कर लेने पर

---

१ निरु० २.२६.

२ निघ०वृ०, १.१.१०.

३ निरु० २.२६.

४ निघ०वृ०, १.१.१०.

५ वै०पद०को०, पृ० ९६७.-६८.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० १४७.

७ दि एटामोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १२; ५५.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २१७-१८.

९ शत०ब्रा०, २.१.४.२८. ''यथेयं पृथिव्युर्वेवमुरुर्भूयासम्।''

१० माध०धातु०, २.२८; पृ० २४३.

११ अष्टा०, ४.१.४४.

डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा की आपत्ति का भी निराकरण हो जाता है तथा ध्वनिरूप की सङ्गति भी बैठ जाती है। अत:, उपर्युक्त निर्वचन को निर्णयात्मक रूप से स्वीकार किया जा सकता है। निघण्टु में 'उर्वी' पद पृथिवी, द्यावापृथिवी तथा नदीवाचक के रूप में परिगणित है।[१] पृथिवी एवं द्यावापृथिवी की महत्ता को ध्यान में रखते हुए 'ऊर्णुञ्' आच्छादने' धातु से निर्वचन करना समीचीन माना जा सकता है।

वैदिक साहित्य में 'उर्वी' का पर्याप्त प्रयोग देखने को मिलता है। दीर्घतमस् ऋषि अग्नि के विषय में कहते हैं कि यह सूर्यरूप अग्नि पृथिवी के उच्च प्रदेशों में अपने अंश को स्थापित करता है और इसकी आरोचमान रश्मियाँ उदक स्थानों का अवलेहन करती हैं।[२] अगस्त्य ऋषि 'उर्वी' के विषय में कहते हैं कि यह सबका बृहत् निवासस्थान है तथा यह ऋत (उदक) से देवों की रक्षा करने वाली एवं उनकी जनित्री है।[३] इसी सूक्त के अग्रिम मन्त्र में ऋषि पुन: कहते हैं कि विस्तृत पृथ्वी से कुछ पदार्थ (सूर्यादि नक्षत्र) दूर हैं तथा कुछ (चन्द्रमादि ग्रह) समीप हैं। ऐसे द्यावापृथिवी अपराधों से हमारी रक्षा करें।[४] एकद्यूनौंधस ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हम कहीं से भी निन्दा को प्राप्त न करें। उर्वी के नीचे धन स्थित है, जो रत्न नहीं हैं, वे हमसे पृथक् हो जायें।[५] हविर्धान आङ्गि ऋषि कहते हैं कि अग्निदेव का स्वभूत जल जब उत्पन्न होता है तो उस उदक से उत्पन्न शक्ति और वनस्पतियाँ पृथिवी को धारण करती हैं।[६]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'उर्वी' वह पृथ्वी है, जिसके उच्च प्रदेशों में सूर्य अपने अंश को स्थापित करता है तथा जो इतनी विशाल है कि उसका हृदय सबका निवासस्थान है। वह केवल देवों की रक्षा नहीं करती अपितु उनकी जनित्री भी है। इसके अतिरिक्त उसके अन्तस् में धन छिपा हुआ है, जो रत्नादि के रूप हमें प्राप्त होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में विस्तृत रूप में पायी जाने वाली पृथ्वी 'उर्वी' है, इसका समर्थन ब्राह्मण तथा भाषिक आधार पर हो जाता है।

११. पृथ्वी

निघण्टुकोष में भूमि वाचक पदों के अतिरिक्त अन्तरिक्ष वाचक, मध्यस्थानी एवं द्युस्थानी पदों में भी पृथ्वी का परिगणन हुआ है।[७] तैत्तिरीय-संहिता का ऋषि कहता है:''**अप्रथत पृथिवी**''[८] कि फैली हुई है, इसलिए यह पृथिवी है। शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-''**तामप्रथयत् सा पृथिव्यभवत्**''[९] कि उसको फैलाया गया या वह फैलायी हुई है, इसलिए वह 'पृथिवी' है। एक अन्य स्थान पर तैत्तिरीय-संहिता का ऋषि कहता है कि

---

१ निघ० १.१.१०; १३.२४; ३.३०.१९.

२ ऋ० १.१४६.२. ''उर्व्या: पदो नि दधाति सानौ रिहन्त्यूधो अरुषासो अस्य।''

३ ऋ० १.१८५.६. ''उर्वी सद्मनी बृहती ऋतेन देवानामवसा जनित्री।''

४ ऋ० १.१८५.७. ''उर्वी पृथ्वी बहुले दूरेअन्ते ....द्यावा रक्षत पृथिवी नो अभ्वात्।''

५ ऋ० ८.८०.८. ''मा सीमवद्य आ भागुर्वी काष्ठा हितं धनम्। अपावृक्ता अरत्नय:।''

६ ऋ० १०.१२.३. ''स्वावृग्देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी।''

७ निघ० १.१.११, ३.९, ५.५.२६, ६.६.१९.

८ तै०सं० २.१.२.३.

९ शत०ब्रा०, ६.१.१.१५; ३.७.

उस प्रजापति ने वराह रूप होकर जल में डुबकी लगायी, वह पृथिवी को नीचे से ऊपर लेकर आया, उसने पुष्कर पर्ण पर उसको फैलाया, जो फैलाया यह 'पृथिवी' का पृथिवीत्व अर्थात् पृथिवी नामकरण का आधार है।[१] उपर्युक्त सभी निर्वचनों में 'प्रथ्' धातु से 'पृथिवी' को व्युत्पन्न माना गया है।

आचार्य यास्क 'पृथिवी' नामपद का निर्वचन देते हुए कहते हैं:-''**प्रथनात् पृथिवीत्याहुः**''[२] कि फैली हुई होने के कारण इसको 'पृथिवी' कहते हैं। ऐसा ही कथन वे एक अन्य स्थान पर करते हैं:-''**पृथिव्याः प्रथनकर्मणाम्**''।[३] आचार्य देवराजयज्वन् भी उक्त परम्परा का अनुसरण करते हुए कहते हैं:-''**प्रथतेऽसाविति पृथुः। पृथ्वी विस्तीर्णेत्यर्थः**''[४] कि जो फैलता है, वह 'पृथु' है। विस्तृत होने से यह पृथ्वी कहलाती है। इस पक्ष में 'प्रथ' प्रख्याने' धातु से 'कु' प्रत्यय होकर 'पृथ्वी' रूप सिद्ध होता है। ऐसा ही निर्वचन देवराजयज्वन् अन्तरिक्ष प्रकरण में भी करते हैं''''**प्रथते पृथिवी**''[५] कि फैलती है, इसलिए यह पृथिवी है। उक्त सभी निर्वचनों में 'प्रथ्' धातु से 'पृथिवी' पद व्युत्पन्न हुआ है। उणादिकोष से भी इस व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है।[६]

(ख)''**यद्वा, अन्तर्भावितण्यर्थात्। ब्रह्मणा पूर्वमेव विस्तारितेत्यर्थः**''[७] कि ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि में इसको फैलाया, अतः, भूमि 'पृथ्वी' कहलाती है। ब्राह्मणग्रन्थ से भी इस कथन की पुष्टि हो जाती है:-''कि कमलपत्र पर फैलाया, यही पृथिवी का पृथिवीत्व है।[८] इस पक्ष में अन्तर्भावित णिजन्त 'प्रथ' प्रख्याने' धातु से 'पृथ्वी' पद निष्पन्न होता है। शतपथ-ब्राह्मण भी ण्यन्त 'प्रथ' धातु से 'पृथ्वी' पद को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[९] जबकि तैत्तिरीय-संहिता ण्यन्त और अण्यन्त दोनों प्रकार की 'प्रथ्' धातु से 'पृथ्वी' पद को निष्पन्न करने के पक्ष में है।[१०]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'पृथिवी' पद को अथर्ववेद में विशाल वाचक भूमि का विशेषण तथा नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[११] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का 'पृथ्वी' पद के निर्वचन के विषय में अभिमत है कि भाषा-विज्ञान के अविकसित तथा वैदिक साहित्य की अपर्याप्त गवेषणा के

---

१ तै०सं०१.१.३.६-७.''स (प्रजापतिः) वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत्। स पृथिवीमध आर्च्छत् तस्य उपहत्योदमज्जत्, तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत् यदप्रथयत् तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वम्।''

२ निरु० १.१२; १३.

३ निरु० १४.१२.

४ निघ०वृ०, १.१.११.

५ निघ०वृ०, १.१.११.

६ उणा०, १.२८.

७ निघ०वृ०, १.१.११.

८ निघ०वृ०, १.१.११.

९ शत०ब्रा०, ६.१.१.१५; ३.७.

१० तै०सं० २.१.२.३; १.१.३.६, ७.

११ वै०पद०को०, पृ० २०९६.

कारण अभी इसके विषय में कुछ भी कहा नहीं जा सकता।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार भी 'पृथिवी' पद अव्युत्पन्न है।[२]

मोनियर विलियम्स 'पृथिवी' पद का मूल 'प्रथ' धातु को मानते प्रतीत होते हैं। वे कहते हैं कि वेदों के अनुसार तीन पृथिवियाँ हैं। एक जिस पर हम लोग रहते हैं, दूसरी इसके नीचे समुद्र को घेरे हुए और तीसरी तीनों लोकों में फैली हुई है।[३] निघण्टु के अनुसार भी पृथ्वी इहलोक, अन्तरिक्ष तथा द्यावापृथिवी का वाचक है।[४] (परन्तु भूमिवाचक पदों में निघण्टुकार ने 'पृथ्वी' तथा शेष दो स्थानों पर 'पृथिवी' वर्तनि का प्रयोग किया है। लेकिन अर्थ की दृष्टि से वेद ने इन दोनों में किसी प्रकार का भेद किया है, का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है।) इसके अतिरिक्त भी निघण्टु में 'पृथिवी' पद का परिगणन तीन बार और हुआ है।[५] यास्क के अनुसार यह 'पृथिवी' पद तीनों लोकों के अर्थ को द्योतित करता है।[६]

वैदिक साहित्य में 'पृथिवी' पद का उल्लेख पर्याप्त हुआ है, लेकिन 'पृथ्वी' पद का भूमि अर्थ में प्रयोग बहुत अधिक नहीं हुआ। अरिष्टनेमि ऋषि कहते हैं कि द्यावापृथिवी उर्वी के समान बहुत गहरी हैं, ये और अधिक हमारे आने-जाने के कार्यों में विघ्न न डालें।[७] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि विस्तृत पृथ्वी से कुछ पदार्थ (सूर्यादि नक्षत्र) दूर हैं तथा कुछ (चन्द्रमादि ग्रह) समीप हैं। ऐसे द्यावापृथिवी अपराधों से हमारी रक्षा करें।[८] एक अन्य सूक्त में अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि इस पृथ्वी पर बहुत सारे पुर हों तथा ये हमारी सन्तानों के लिये कल्याणकारी हों।[९] वामदेव ऋषि कहते हैं कि उदक की कामना से यह पृथ्वी गहरी है तथा जल के लिये इन्द्र परम धेनु को दुहते हैं।[१०] भरद्वाज ऋषि द्यावापृथिवी को उदकवती एवं भूतों का आश्रयस्थान बताते हैं तथा कहते हैं कि ये उदक का दोहन और सुन्दर स्वर्णादि को धारण करने वाले हैं।[११] क्रवष ऐलूष ऋषि कहते हैं कि रश्मियों का समूह पृथ्वी को आवश्यकता से अधिक नहीं तपाता है।[१२] तान्व पार्थ्य ऋषि का कथन है कि अत्यन्त विस्तीर्ण ये द्यावापृथिवी स्त्री के समान हमारी रक्षा करते हैं।[१३]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'पृथ्वी' की प्रथम विशेषता उसका

---

१ दि एटिमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ८०.
२ ऋ०वै०पद०, पृ० ३३४.
३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ६४६.
४ निघ० १.१.११; ३.९; ३.३०.२०.
५ निघ० ५.३.२६; ५.२६; ६.१९.
६ निरु० ९.३१; ११.३६; १२.३०.
७ ऋ० १०.१७८.२. "उर्वी न पृथ्वी बहुले गभीरे मा वामेतौ मा परेतौ रिषाम।"
८ ऋ० १.१८५.७. "उर्वी पृथ्वी बहुले दूरेअन्ते।"
९ ऋ० १.१८९.२. "पूश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी भवा तोकाय तनयाय शंयोः।"
१० ऋ० ४.२३.१०. "ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते।"
११ ऋ० ६.७०.१. "घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा।"
१२ ऋ० १०.३१.९. "स्तेगो न क्षामत्येति पृथ्वीम्।"
१३ ऋ० १०.९३.१. "महि द्यावापृथिवी । भूतमुर्वी नारी यह्वी न रोदसी सदं नः।"

विस्तृत होना है। इसका विस्तार इतना हो, जिसमें अनेक पुरों का समावेश हो सके। वेद अनेकशः कहता है कि उसने पृथ्वी को धारण किया तथा फैलाया,[१] कहीं यह कहा है कि द्युलोक के छोर से पृथ्वी का विस्तार किया[२] कहीं माता बताते हुए पृथ्वी के फैलाये जाने का उल्लेख है।[३] इसके अतिरिक्त इसकी एक अन्य विशेषता इसका गहरा होना है। इसी कारण यह अपने अन्दर रत्नादि वसुओं तथा उदक को धारण कर पाती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पृथ्वी के विषय में वेद और निर्वचन के मूल में निहित दृष्टि समान है। यहाँ यह तथ्य भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि जिस भूमि पर हम रहते हैं, वही केवल पृथ्वी नहीं है। निघण्टु अन्तरिक्ष और द्युलोक को भी 'पृथ्वी' नाम से अभिहित करता है। वेद से भी इस मत की पुष्टि हो जाती है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'प्रथ्' धातु को 'पृथ्वी' पद का मूल माना जा सकता है।

१२. मही

निघण्टुकोष के 'पृथ्वी' वाचक नामपदों में 'मही' पद परिगणित है।[४] आचार्य यास्क 'मही' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**मही महती**''[५] कि पूजनीय होने से पृथ्वी 'मही' कहलाती है। इस पक्ष में पूजार्थक 'मह' धातु से 'मही' पद व्युत्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'मही' पद का निर्वचन निम्नप्रकार करते हैं:-''**मह्यते प्रजाभिः, महति वा देवताः स्वभारावतरणाय**''[६] कि प्रजाओं के द्वारा इसकी पूजा करने अथवा अपने भार को कम करने के लिये यहाँ देवताओं की पूजा होती है, अतः, पृथ्वी को 'मही' कहा जाता है। इस पक्ष में 'मह' पूजायाम्' धातु से 'इन्' प्रत्यय करने से 'मही' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''**मानेन स्वगुणेन परिमाणेन स्वस्मादूनं परिमाणं पातालं जहाति अतिक्रामति**''[७] कि अपने से न्यून आकार वाले पाताल का अतिक्रमण करने के कारण यह पृथ्वी 'मही' कहलाती है। इस पक्ष में 'मान' शब्द से 'म' तथा त्यागार्थक 'हा' धातु से पृषोदरादि नियम का आश्रय लेकर 'मही' पद व्युत्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् का प्रथम निर्वचन निःसन्दिग्ध रूप से उचित है, परन्तु द्वितीय निर्वचन स्वीकार करने के योग्य प्रतीत नहीं होता है। इसका कारण यह है कि अन्य ग्रहों की तुलना में बड़ी है, सिद्ध करने के लिये देवराजयज्वन् 'महत्' का आश्रय लेकर 'मही' को व्युत्पन्न करना चाहते हैं, जबकि यह कार्य 'महि' वृद्धौ' धातु से विना किसी विसङ्गति का आश्रय लिये निष्पन्न किया जा सकता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'मही' पद को उषस्, धिषणा, द्यावापृथिवी प्रभृति का विशेषण, द्यावापृथिवी, पृथिवी, अप्, गो प्रभृति का वाचक नामपद तथा देवी की व्यक्तिपरकसंज्ञा पद है। उसके अनुसार उक्त पद की

---

१ ऋ० २.१५.२. ''स धारयत्पृथिवीं पप्रथच्च।''

२ ऋ० ३.६१.४. ''अन्ताद्दिवः पप्रथ आ पृथिव्याः।''

३ ऋ० १०.६२.३. ''अप्रथयन्पृथिवीं मातरं वि।'' (तुल०, ऋ० ५.५८.७; ६.७२.२.)

४ निघ० १.१.१२.

५ निरु० ४.२१.

६ निघ०वृ०, १.१.१२.

७ निघ०वृ०, १.१.१२.

व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[१] लेकिन ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची में उक्त पद अव्युत्पन्न रूप में प्रदर्शित किया गया है।[२] मोनियर विलियम्स के अनुसार 'मही' का मूल 'मह्' धातु है। उनके अनुसार ऋग्वेद में उक्तपद विशाल संसार, पृथिवी अर्थ में आया है।[३]

वैदिक साहित्य में 'मही' का व्यापक प्रयोग हुआ है, परन्तु अधिकांश स्थलों पर इसका विशेषण के रूप में उल्लेख हुआ है। मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि इळा, सरस्वती और मही ये तीन सुख देने और शोषण न करने वाली देवियाँ हैं। ये मेरे हृदय रूपी आसन पर विराजमान हों।[४] दीर्घतमस् ऋषि भी कुछ इस प्रकार का वक्तव्य देते हुए कहते हैं कि ये तीनों यज्ञिय देवियाँ आसन पर विराजमान हों।[५] राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि इन्द्र के क्रोध के भय से यह मही काँपती है।[६] परुच्छेप ऋषि का मन्तव्य है कि इन्द्र द्यावापृथिवी को ऋत से पवित्र करता है तथा उससे द्रोह करने वालों को भस्म कर देता है।[७] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि यह मही ऋत से वृद्धि को प्राप्त होती है एवं इसका उपयोग देवकार्य के लिये करना चाहिये।[८] एक अन्य सूक्त में दीर्घतमस् कहते हैं कि महत्त्व के कारण मही वरणीय है।[९] नाभाक ऋषि का कथन है कि सम्पर्ण जगत्, द्युलोक, पृथिवी और मही इन सबको मित्रावरुण अपने उपस्थ में धारण करते हैं।[१०] यजुर्वेद कहता है कि जो यह पृथिवियों के जल का निमित्त है, वह वर्चस् को देने वाला है।[११]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में 'मही' को देवी के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। इसकी गणना अनेकशः इळा और सरस्वती के साथ हुई है। मातृभाषा, मातृसंस्कृति और मातृभूमि ये तीनों ही मातृत्व के कारण महनीय हैं। इसी कारण वेद पृथिवी को 'मही' नाम से अभिहित करता है। ऋग्वेद में अनेकशः 'मही' शब्द 'महत्' के अर्थ में आया है, कहीं यह पृथिवी की महत्ता का प्रतिपादन करता है तो कहीं यह वाक् की।[१२] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में 'मही' के साथ भी 'महः' का प्रयोग हुआ है।[१३] इससे यह प्रमाणित होता है कि महत् आकार के कारण पृथ्वी 'मही' अभिधान से अभिहित हुई है। उपर्युक्त तथ्यों के

---

१ वै०पदं०को०, पृ० २४७०.
२ ऋ०वै०पद०, ३९४.
३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८०३.
४ ऋ० ११३.९. "इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः।"
५ ऋ० १.१४२.९. "इळा सरस्वती मही बर्हिः सीदन्तु यज्ञियाः।"
६ ऋ० १.८०.११. "इमे चित्तव मन्यवे वेपते भियसा मही।"
७ ऋ० १.१३३.१. "उभे पुनामि रोदसी ऋतेन द्रुहो दहामि सं महीरनिन्द्रः।"
८ ऋ० १.१४२.६. "वि श्रयन्तामृतावृधः प्रयै देवेभ्यो महीः।"
९ ऋ० १.१५१.५. "मही अत्र महिना वारमृण्वथोऽरेणवस्तुज आ सद्मन्धेनवः।"
१० ऋ० ८.४०.४. "ययोर्विश्वमिदं जगदियं द्यौः पृथिवी मह्युपस्थे बिभृतः।"
११ यजु०, ४.३. "महीनां पयोऽसि वर्चोदाऽ असि वर्चो मे देहि।"
१२ ऋ० १.३१.१. "मही पृथिवो वरीमभिः।" ऋ० १.१६४.३. "बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।"
१३ ऋ० १.१०२.१; १५१.५.

आधार पर 'मह' वृद्धौ' धातु से 'मही' को व्युत्पन्न करना मौलिक अर्थ तथा वैदिक ऋषि की धारणा के अनुकूल प्रतीत होता है।

१३. रिपः

निघण्टुकोष के पृथ्वीवाचक नामपदों में 'रिपः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'रिपः' का निर्वचन 'रेपृ' गतौ' धातु से करते हुए कहते हैं कि 'रिपः' का अर्थ 'गौ' के समान है अर्थात् गतिशील रहने के कारण पृथ्वी 'रिपः' कहलाती है।[२] तदनुसार निर्वचन होगा:-''**यद्दूरं रेप्ता भवति, यद्वास्यां प्राणिनः रेपन्ते।**''

(ख)''**यद्वा, 'रिफ' कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु'। कत्थनयुद्धादीनस्यां कुर्वन्ति तत्कारिणः**''[३] कि अपशब्दों का प्रयोग, युद्ध, निन्दा, हिंसा और दान इस पृथ्वी पर किये जाते हैं तथा इन कर्मों के करने वाले दोनों 'रिपः' कहलाते हैं। इस पक्ष में 'रिफ' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'रिपः' पद निष्पन्न होता है।

(ग)''**यद्वा, 'लिप' उपदेहे। गोमयादिना आलिप्यते इति लिप्**''[४] कि गोमयादि से लीपी जाने के कारण यह पृथ्वी 'लिप्' है और रेफ तथा लकार में अभेद होने के कारण यह 'रिप्' कहलाती है। इस पक्ष में 'लिप' उपदेहे' धातु से 'रिपः' पद व्युत्पन्न होता है। देवराजयज्वन् कहते हैं कि माधवीया निर्वचन अनुक्रमणी में लेपन और रेपन दोनों प्रकार से 'रिपः' को व्युत्पन्न किया है।[५]

(घ)''**आलपन्त्यस्यां प्राणिनः इति रिप्**''[६] कि प्राणी इस पर वार्तालाप करते हैं, अतः, पृथ्वी 'रिप्' कहलाती है। इस पक्ष में 'रप' व्यक्तायां वाचि' धातु से 'रिप्' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'रिपः' पद को शत्रुवाचक भावपद एवं नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद 'रिप्' धातुमूलक है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्त मत का समर्थन करती है।[८] मोनियर विलियम्स 'रिपः' पद का मूल 'रिप्' धातु को मानते हैं तथा अर्थ और रूप की दृष्टि से 'लिप्' के साथ तुलना करते हैं।[९] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में एक स्थान पर 'रिरिपुः' लिट् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन की क्रिया देखने को मिलती है।[१०] इस आधार पर 'रिप्' धातु के अस्तित्व एवं उसे 'रिपः' पद का मूल माना जा सकता है।

---

१ निघ० १.१.१३.

२ निघ०वृ०, १.१.१३.

३ निघ०वृ०, १.१.१३.

४ निघ०वृ०, १.१.१३.

५ निघ०वृ०, १.१.१३.

६ निघ०वृ०, १.१.१३.

७ वै०पद०को०, पृ० २६६५.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० ४४७.

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८८०.

१० ऋ० ५.८५.८.

वैदिक साहित्य में 'रिप:' का बहुत अल्प प्रयोग देखने को मिलता है। विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि अग्नि गमनशील पृथ्वी के प्रिय अग्रभाग तथा सूर्य के चरणरूप अन्तरिक्ष की रक्षा करता है।[१] गृत्समद ऋषि द्यावापृथिवी से प्रार्थना करते हैं कि ये दिन-रात कभी भी मनुष्य के गुप्त कार्यों को नष्ट न करें।[२] वैश्वानर ऋषि अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि वह अग्नि पके हुए अन्न के समान मूल से पृथ्वी के रस को पीते हुए दीप्यमान नीरस वृक्ष को पृथ्वी के गोद में पाता है।[३]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'रिप:' वह पृथ्वी है, जो गतिशील रहती है। ऋषि इसकी गतिशीलता का प्रतिपादन करने के लिये 'रिप:' के साथ 'वे:' पद का प्रयोग करता है। देवराजयज्वन् के प्रथम निर्वचन से इसकी पुष्टि हो जाती है, परन्तु वेद में 'रिरिपु:' 'रिप्तम्' आदि क्रियापद लीपने के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। इस आधार पर लीपी जाने के कारण पृथ्वी का नामकरण 'रिप:' हुआ है, यह सम्भावना स्वीकार की जा सकती है।

१४. अदिति:

निघण्टुकोष के पृथ्वीवाचक नामपदों में 'अदिति' का परिगणन हुआ है।[४] शतपथ-ब्राह्मण 'अदिति' का निर्वचन करता हुआ कहता है:-"**इयं (पृथिवी) वा अदिति:। इयꣳ हीदं सर्वं ददते**"[५] कि पृथिवी 'अदिति' नाम से अभिहित होती है, क्योंकि यह सब कुछ देती है। इस पक्ष में दानार्थक 'दा' धातु से 'अदिति' पद व्युत्पन्न होता है। शतपथ-ब्राह्मण एक और निर्वचन करता हुआ कहता है:-"**सर्वं वाऽ अत्तीति तददितेरदितित्वम्**"[६] कि यह सब कुछ निगल जाती है, अर्थात् जो कुछ जगत् में दृश्यमान है, उसका समाहार अन्त में पृथ्वी में होता है, अत:, इसे 'अदिति' कहा जाता है। इस पक्ष में भक्षणार्थक 'अद्' धातु से 'अदिति' रूप निष्पन्न होता है।

काठकसंहिता एक तीसरा निर्वचन प्रस्तुत करती है:-"**यत्तदादत्त तददितिरिति**"[७] कि जो यह ग्रहण करती है अर्थात् तत् पदवाच्य को अपने भीतर समाहित कर लेती है, इसलिये इसका नाम 'अदिति' है। इस पक्ष में 'आ+'दा' से 'अदिति' पद व्युत्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'अदिति' का निम्न निर्वचन देते हैं:-"**अदितिरदीना देवमाता**"[८] कि अदीना देवमाता अदिति नाम से अभिहित होती हैं। आचार्य दुर्ग 'अदीना' पद का आशय 'क्षय रहितत्व' लेते हैं अर्थात् उनके

---

१ ऋ० ३.५.५. "पाति प्रियं रिपो अग्रं पदं वे: पाति यह्वश्चरणं सूर्यस्य।"

२ ऋ० २.३२.२. "मा नो गुह्या रिप आयोरहन्दभन्मा न आभ्यो रीरधो दुच्छुनाभ्य:।"

३ ऋ० १०.७९.३. "ससं न पक्वमविदच्छुचन्तं रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्त:।"

४ निघ० १.१.१४.

५ शत०ब्रा०, ७.४.२.७.

६ शत०ब्रा०, १०.६.५.५.

७ काठ०सं० ८.२.

८ निरु० ४.२२.

अनुसार 'नञ्' उपसर्गपूर्वक 'दीङ्' क्षये' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'अदीन' पद निष्पन्न होता है।[१] पाणिनीय व्याकरण से उक्त मत की पुष्टि होती है। माधवीया धातुवृत्ति में सायण इसी प्रकार 'अदीन' पद को व्युत्पन्न करते हैं।[२] एक अन्य स्थल पर आचार्य यास्क 'अदिति' का ऐसा ही निर्वचन और देते हैं:-''**अदीनानीति वा**''।[३]

आचार्य देवराजयज्वन् 'अदिति' पद का निर्वचन निम्न प्रस्तुत करते हैं:-''**अदितिः (पृथ्वी) 'दीङ्' क्षये'। अदितिः सकलप्रपञ्चधारणेष्वदीना न खिद्यते इत्यर्थः**''[४] कि सम्पूर्ण जगत् प्रपञ्च धारण करने पर भी यह खिन्न नहीं होती, इसलिये पृथ्वी को 'अदिति' कहते हैं। इस पक्ष में 'दीङ्' क्षये' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय, छान्दस ह्रस्व तथा 'नञ्' समास होकर 'अदिति' पद निष्पन्न होता है। आचार्य स्कन्दस्वामी 'दो' अवखण्डने' धातु से 'अदिति' पद को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं, लेकिन स्कन्दमत को उद्धृत करते हुए देवराजयज्वन् ने उससे अपनी असहमति प्रदर्शित की है।[५]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अदिति' को नामपद एवं व्यक्तिपरक संज्ञा मानता है। उसके अनुसार उक्तपद अव्युत्पन्न है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्त मत का समर्थन करती है।[७] मोनियर विलियम्स 'अदिति' पद का मूल 'दा' या 'दो' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद एवं वाजसनेयि-संहिता में उक्त पद बन्धनरहित, मुक्त अर्थ में है। इसके अतिरिक्त यह स्वतन्त्रता, सुरक्षा, असीमित, अनन्तता, असमाप्य, प्रचुर तथा एक अतिप्राचीन देवी के लिये प्रयुक्त हुआ है।[८] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा यास्कमत में 'अदीना' निर्वचन के आधार पर 'अदिति' पद का मूल 'दो' अवखण्डने' धातु मानने के पक्ष में हैं। उनकी दृष्टि में उपर्युक्त निर्वचन का आधार अस्पष्ट है।[९] व्याकरण के अनुसार भी 'दो' धातु के ओकार के स्थान पर 'ईकार' आदेश होकर 'अदिति' रूप सिद्ध हो जाता है।[१०] इस प्रकार हम व्युत्पत्ति के आधार पर कह सकते हैं कि कुछ आचार्य 'दीङ्' क्षये' को और कुछ 'दो' अवखण्डने' को 'अदिति' पद का मूल मानने के पक्ष में हैं।

अदिति को आदित्यों की माता माना जाता है। वेद और ब्राह्मणग्रन्थ एकमत से इसकी पुष्टि करते हैं। वैदिक साहित्य में 'अदिति' का अनेक रूपों में उल्लेख देखने को मिलता है। कहीं यह ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर समाहित किये हुए ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करती है।[११] कहीं वह दुःख, पाप आदि से त्राण दिलाने वाले के रूप

---

१ दुर्ग, निरु० वृ०, ४.२३.

२ माध०धातु०, ४.२६. पृ० २८६.

३ निरु० ४.२३.

४ निघ०वृ०, १.१.१४.

५ निघ०वृ०, १.१.१४.

६ वै०पद०को०, पृ० १३४.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० १८.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १८.

९ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १२३.

१० पाणिनि,अष्टा०, ७.४.४०.

११ ऋ० १.८९.१०.

में चित्रित हुई है।[१] परन्तु मुख्य रूप से यह मातृत्व का प्रतिनिधित्व करती है।[२] यजुर्वेद में वामदेव ऋषि कहते हैं कि वह अदिति मही सुन्दर अन्नादि की माता है, ऋत की पत्नी है तथा हिंसारहित, विस्तृत, जरामुक्त, उत्तम सुख देने वाली एवं अच्छे प्रकार से बनायी गयी है।[३] यजुर्वेद में गयस्फान तथा ऋग्वेद में गयप्लात ऋषि अदिति का स्तवन करते हुए कहते हैं कि यह अच्छे प्रकार रक्षा करने वाली, विस्तृत, प्रकाशयुक्त, दोषरहित, सुख देने वाली, सुन्दर साधनों से सम्पन्न, पापरहित, न रिसने वाली, स्वयं निरन्तर गमनशील रहने वाली है।[४] एक अन्य ऋषि अदिति के विषय में कहते हैं कि बल को देने वाली महनीय माता अदिति का हम नाम से आह्वान करते हैं। जिस अदिति में सारा विश्व समाया हुआ है, उसमें सवितादेव धर्म को उत्पन्न करें।[५] अत्रि ऋषि का कथन है कि अदिति मेरे स्तोत्र को स्वीकार करे, ठीक उसी प्रकार जैसे माता अपने प्रिय और सुख देने वाले पुत्र का निवेदन स्वीकार करती हैं।[६] गृत्समद ऋषि देवी अदिति से रक्षा की प्रार्थना करते हैं।[७] एक अन्य ऋषि कहते हैं कि अन्नादि उत्पन्न करने वाली यह अदिति हमें सुख एवं शान्ति प्रदान करे।[८] इन स्थलों पर सर्वत्र अदिति का माता के रूप में उल्लेख हुआ है। ब्राह्मणग्रन्थ भी अदिति का वर्णन माता के रूप में करते हैं। तैत्तिरीय-संहिता एवं गोपथब्राह्मण अदिति का आदित्यों की माता के रूप में उल्लेख करते हैं,[९] वेद में भी इस प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है।[१०]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि वेदों एवं अन्य वैदिक साहित्य में 'अदिति' का अनेक रूपों में उल्लेख हुआ है। (सम्भवतः, इसलिये निघण्टु में 'अदिति' का ६ बार परिगणन हुआ है।[११]) लेकिन पृथ्वी अर्थ में जहाँ इसका स्मरण किया गया है, वहाँ इसका प्रायः विशेष रूप से माता के रूप में चित्रण हुआ है।[१२] इस प्रकार माता के रूप में समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली पृथ्वी 'अदिति' है। वस्तुतः, अदिति के मातृत्व की सफलता पृथ्वी के सन्दर्भ में मुख्य रूप से अभिव्यक्त हुई है।

---

१ ऋ० १.९४.१६; ९५.११; १०६.१, ७.

२ ऋ० १.४३.२.

३ यजु०, २१.५. ''महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हुवेम। तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीꣳ सुशर्माणमदितिꣳ सुप्रणीतिम्।''

४ ऋ०१०.६३.१०; यजु० २१.६. ''सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसꣳ सुशर्माणमदितिꣳ सुप्रणीतिम्। दैवीं नावं स्वरित्रामनागसामस्रवन्तीमारुहेम स्वस्तये।''

५ यजु०, १८.३०. ''वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे। यस्यामिदं विश्वं भुवनामाविवेश तस्यां नो देवः धर्म्म साविषत्।''

६ ऋ० ५.४२.२. ''प्रति मे स्तोममदितिर्जगृभ्यात्सूनुं न माता हृद्यं सुशेवम्।''

७ ऋ० २.४०.६. ''अवतु देव्यदितिरनर्वा।''

८ ऋ० ७.३५.९. ''शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः।''

९ गो०ब्रा०, १.२.१५. ''अदितिर्वै प्रजाकाममौदनमपचत्तत उच्छिष्टमाश्नात् सा गर्भमधत्त तत आदित्या अजायन्त।'' तै०सं० १.१.९.१-३.

१० ऋ० १०.१८५.१-३.

११ निघ० १.१.१४.; ११.४८; २.११.६; ३.३०.२१; ४.१.४९; ५.५.१६.

१२ ऋ० १.४३.२; ७२.९.

जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि नाम की दृष्टि से अदिति और आदित्य में पर्याप्त समानता है। ब्राह्मणग्रन्थ लगभग एकमत से आदित्य को 'आ+'दा' से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[१] अदिति और आदित्यों में समानता का कारण स्पष्ट करता हुआ शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि इस अदिति ने ऊर्ध्व दिशा में आदित्यों को उत्पन्न किया, इसलिये इससे उत्पन्न होने वाली वनस्पतियाँ और ओषधियाँ ऊपर की ओर जाती हैं अर्थात् वे ऊपर की ओर वृद्धि करती हैं।[२] इस प्रकार ब्राह्माणग्रन्थों की दृष्टि में 'अदिति' का सर्वाधिक स्वीकार्य निर्वचन 'आ+'दा' है। अदिति के पृथ्वी अर्थ को ध्यान में रखते हुए इससे अच्छा और कोई निर्वचन प्रतीत नहीं होता है। उपर्युक्त ब्राह्मणग्रन्थ के तृतीय निर्वचन से इसकी पुष्टि हो जाती है।

१५. इला, इळा

निघण्टुकोष के पृथ्वीवाचक नामपदों में 'इळा' पद समाम्नात है, पाठभेद से कहीं 'इला' और कहीं 'इळा' पद पठित है।[३] मैत्रायणीसंहिता 'इडा' पद का निर्वचन करती हुई कहती है:-''**यद्वै तदात्मानमैट्ट सेडाभवत् तदिडाया इडात्वम्**''[४] कि उसने आत्मा की स्तुति, इसलिये वह 'इडा' हुई। यही 'इडा' का इडात्व है। इस निर्वचन के अनुसार 'ईड्' धातु से 'इडा' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क पृथिवीस्थानी देवतापदों में 'इळः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**इळः ईट्टेः स्तुतिकर्मणः**''[५] कि स्तुत्य होने अथवा इस पर स्तुति किये जाने से पृथ्वीस्थानी देवता 'इळः' कहलाता है। इस पक्ष में स्तुत्यर्थक 'ईड्' धातु से 'इळः' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''इन्धतेर्वा''[६] कि यह दीप्त होने के कारण 'इळः' कहलाता है। इस पक्ष में 'इन्ध्' धातु से 'इडा' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् पृथ्वीवाचक 'इडा' पद का निर्वचन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं:-''**ईड्यते स्तूयते वास्यां यजमानो देवान्**''[७] कि इस पर यजमान स्तुति करता है, इसलिये पृथ्वी 'इला' कहलाती है। इस पक्ष में 'ईड' स्तुतौ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर 'इडा' रूप निष्पन्न होता है।

(ख)''इन्धे दीप्यतेऽस्यां श्रीभिः''[८] कि श्री (कान्ति) के साथ अग्नि इस पर प्रज्वलित होती है, अतः, पृथ्वी को 'इला' कहते हैं। इस पक्ष में दीप्त्यर्थक 'इन्ध्' धातु से 'इला' पद सिद्ध होता है।

---

१ शत०ब्रा०, ११.६.३.८. ''ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति। तस्माद् आदित्या इति।'' जै०ब्रा०, २.२६. ''तद्यतेषां भूतानामादत्त, तदादित्यस्यादित्यत्वम्।''तै०सं० ३.९.२१.२. ''यदसुराणां लोकानामादत्त। तस्मादादित्यो नाम।''

२ शत०ब्रा०, ३.२.३.१९. ''ऊर्ध्वामेव दिशं प्राजानन्नियं (पृथिवी) वाऽअदितिस्तस्मादस्यामूर्ध्वा ओषधयो जायन्तऽऊर्ध्वा वनस्पतयः''।''

३ निघ० १.१.१५.

४ मै०सं० ४.२.३.

५ निरु० ८.७. (निघण्टु ५.२.५. के विभिन्न संस्करणों में 'इळः' या 'इलः' पाठ भेद देखने को मिलता है।)

६ निरु० ८.७.

७ निघ०वृ०, १.१.१५.

८ निघ०वृ०, १.१.१५.

(ग)''यद्वा, 'इण्' गतौ'। गवा समानार्थः''[१] कि यह गतिशील रहती है, अतः, यह 'इला' कही जाती है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'इण्' से औणादिक 'ड' प्रत्यय होकर 'इडा' और उससे 'इला' रूप सिद्ध होता है।

(घ)''यद्वा, 'इल' स्वप्नक्षेपणयोः'। क्षिप्यन्तेऽस्यां भावः, स्वपन्तेऽस्यामिति''[२] कि इस पर भाव (पदार्थ) फेंके जाते हैं अथवा प्राणी इस पर सोते हैं, इसलिये पृथ्वी 'इला' नाम से अभिहित होती है। इस पक्ष में 'इल' स्वप्नक्षेपणयोः' धातु से 'क' प्रत्यय होकर 'इला' रूप व्युत्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'इड्' धातुमूलक 'इडा' पद को अन्न, वाग्देवी, अघ्न्या, हवि प्रभृति का वाचक नामपद मानता है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार पद 'इला' न होकर 'इळा' है। इस 'इळा' पद का मूल 'इळ्' धातु है।[४] परन्तु जैमिनीय-ब्राह्मण स्पष्टरूप से कहता है कि यह पृथ्वी ही 'इला' है।[५] मोनियर विलियम्स का मत है कि 'इष्' धातु से विकसित 'इड्' धातु इडा या इला पद का मूल है।[६] लेकिन पाणिनीय धातुपाठ तथा निघण्टु में उक्त धातु के दर्शन नहीं होते हैं। सायण स्वयं पृथ्वीवाचक 'इला' पद को 'इल' स्वप्नक्षेपणयोः' धातु से व्युत्पन्न करते हैं।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा यास्क के निर्वचनों को भाषा-विज्ञान के अविकसित तथा अपर्याप्त वैदिक साहित्य की गवेषणा के कारण सन्दिग्ध वर्ग में रखते हैं।[८]

वैदिक साहित्य में 'इडा' पद का बहुत और अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है। परुच्छेप ऋषि अग्नि प्रकरण में कहते हैं कि वह मनुष्यों की यज्ञवेदि के उद्देश्य से बनायी गयी हवियों को प्राप्त करता है।[९] यहाँ 'इळा' का प्रयोग 'वेदि' (यज्ञभूमि) के अर्थ में हुआ है। कण्व ऋषि बृहस्पति का स्तवन करते हुए कहते हैं कि जो इळा विद्वान् के लिये उत्तम मनुष्य बनाने वाला धन, कभी न क्षय होने वाले अन्न भण्डार, वीरपुत्र एवं शीघ्र सुख प्रदान करती है तथा जो हिंसा के अयोग्य है, ऐसी 'इळा' का हम यजन करते हैं।[१०] यहाँ माता के समान जीवन के लिये समस्त साधन उपलब्ध कराने के कारण 'इळा' स्तुतियोग्य है। विश्वामित्र ऋषि इळा के ऊपर तथा अन्तरिक्ष के मध्य में जातवेद अग्नि को स्थित बतलाते हैं।[११] एक अन्य मन्त्र में विश्वामित्र कहते हैं कि 'इळा' सदा से विद्यमान, अनेक कर्मों को करने तथा वाणी प्रदान करने वाली है, ऐसी 'इळा' को हम

---

१ निघ०वृ०, १.१.१५.

२ निघ०वृ०, १.१.१५.

३ वै०पद०को०, पृ० ७५६.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ११०.

५ जै०ब्रा०, १.३०७. ''अयं वै (पृथिवी) लोक इला।''

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १६४.

७ सायण, माधवीया धातु०, ६.७६. पृ० ३३३.

८ दि एटामोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ७४.

९ ऋ० १.१२८.७. ''स हव्या मानुषाणामिळा कृतानि पत्यते।''

१० ऋ० १.४०.१. ''यो वाघते ददाति सूनरं वसु स धने अक्षिति श्रवः।''

११ ऋ० ३.२९.४. ''इळायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्या अधि।''

आनन्द की प्राप्ति के लिये उपयोगी बनाते हैं।[१] एक अन्य स्थान पर विश्वामित्र कहते हैं कि यह 'इळा' और अग्निदेवों और मनुष्यों द्वारा समानरूप से सेवन की जाती है।[२] यजुर्वेद में श्रुतबन्धु ऋषि अग्नि से प्रार्थना करते हैं कि मुझे इडा की प्राप्ति हो, मुझे अदिति (अखण्ड पृथ्वी) की प्राप्ति हो। इस प्रकार की पृथ्वी मेरी अभीष्ट कामनाओं को पूर्ण करे।[३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'इळा' वह पृथ्वी है, जो मनुष्य को जीवन के लिये सभी आवश्यक उपकरण उपलब्ध कराती है, इसलिये वह स्तुतियोग्य है। इसके अतिरिक्त इसका सेवन समानरूप देवता भी से करते हैं। इस प्रकार यज्ञभूमि को वेद 'इडा' नाम से अभिहित करता है, अतः, पूजनीय होने से यज्ञभूमि 'इडा' है। निर्वचन से भी इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है।

१६. निर्ऋतिः

निघण्टुकोष के पृथ्वीवाचक नामपदों में 'निर्ऋति' पद पठित है।[४] निर्ऋति का निर्वचन करता हुआ शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-''**इयं (पृथिवी) वै निर्ऋतिरियं वै तं निरर्पयति यो निर्ऋच्छति**''[५] कि यह पृथिवी निर्ऋति है, यह उसको सब कुछ समर्पित कर देती है, जो इसकी सेवा करता है। निघण्टु में 'ऋच्छति' क्रियापद गति तथा परिचरणार्थक है।[६] इस पक्ष में 'निर्+'ऋच्छ्' धातु से 'निर्ऋतिः' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'निर्ऋति' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-''**निर्ऋतिर्निरमणात्**''[७] आचार्य यास्क के उक्त कथन को स्पष्ट करते हुए दुर्ग कहते हैं:-''**निविष्टानि रमन्तेऽस्यां भूतानीति निर्ऋतिः पृथिवी**''[८] कि निवास करते हुए प्राणी इस पर रमण करते हैं, इसलिये पृथ्वी को 'निर्ऋति' कहा जाता है। इस पक्ष में 'नि' उपसर्गपूर्वक 'रम्' धातु से 'निर्ऋति' पद सिद्ध होता है।

(ख)''**ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा**''[९] कि निर्ऋति का अर्थ 'कष्ट प्राप्ति' होता है। इस पक्ष में 'नि+ऋच्छ्' धातु से 'निर्ऋति' पद व्युत्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'निर्ऋति' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**निर्ऋतिर्निरमणात् (निरु०,२.७.) अस्य स्कन्दस्वामी-'निरमणात्', निश्चलत्वेनावस्थानात्-इत्यर्थः**''[१०] कि आचार्य स्कन्दस्वामी 'निरमणात्' का अर्थ 'निश्चल रूप से स्थित करते हैं अर्थात् निश्चलरूप से स्थित होने के कारण यह पृथिवी

---

१ ऋ० ३.१.२३. ''इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानस्य साध।''

२ ऋ० ३.४.८. ''सजोषा इळा देवैर्मनुष्येभिरग्निः।''

३ यजु०, ३.२७. ''इडऽ एह्यदित ऽ एहि काम्या ऽ एत। मयि वः कामधरणं भूयात्।''

४ निघ० १.१.१६.

५ शत०ब्रा०, ७.२.१.११.

६ निरु, २.७.

७ निरु, २.७.

८ दुर्ग, निरु० वृ०, २.७.

९ निरु, २.७.

१० निघ०वृ०, १.१.१५.

'निर्ऋति' कहलाती है। इस पक्ष में 'नि+'रम्' धातु से 'निर्ऋति' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''रमन्ते वास्यां भूतानि-इति''[१] इस पर प्राणी रमण करते हैं, इसलिये यह पृथिवी 'निर्ऋति' कहलाती है। इस पक्ष में 'नि+'रम्' धातु से 'निर्ऋति' पद सिद्ध होता है।

(ग)''वैयाकरणपक्षे तु निरुपसृष्टादर्तेः क्तिनि निर्ऋतिः निःक्रान्ताकृतेर्गमनात् निश्चलवदवतिष्ठते इत्यर्थः''[२] कि वैयाकरणपक्ष के अनुसार 'निर्' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'ऋ' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय होकर 'निर्ऋति' पद व्युत्पन्न होता है। निश्चल के समान स्थित होने से पृथिवी 'निर्ऋति' कहलाती है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'निर्ऋति' पद को कृच्छ्रापत्ति वाचक भावपद तथा पृथिवीवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद का मूल 'निर्+'ऋ' या 'ऋच्छ्' धातु है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि यास्ककृत निर्वचन में 'रम्' धातु के रेफ का परिवर्तन 'ऋ' में होता है, जो कि प्राचीन भारोपीय भाषा के ध्वनिपरिवर्तन नियम के विरुद्ध है।[४] लेकिन उपर्युक्त ध्वनिपरिवर्तन पाणिनीय व्याकरण सम्मत अवश्य है।[५] मोनियर विलियम्स तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार 'निर्+'ऋ' धातु से 'निर्ऋति' पद व्युत्पन्न होता है।[६]

वैदिक साहित्य में 'निर्ऋति' पद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है और जितना जो कुछ वर्णन हुआ है, वह सब मात्र पृथ्वी अर्थ में नहीं हुआ है। यह पद वेद में अनेकशः 'निर्ऋति' के एक अन्य अभिधेय 'दुःख' में भी प्रयुक्त हुआ है।[७] देवराति ऋषि वरुण का स्तवन करते हुए कहते हैं कि आप निर्ऋति (पृथ्वी) को धर्म से पराङ्मुख लोगों से दूर से बचाइये।[८] दीर्घतमस् ऋषि इन्द्र का स्तुति करते हुए कहते हैं कि जो मेघजल वृष्टि करता है, वह वृष्टि के तत्त्व को नहीं जानता और जो इन्द्र अन्तर्हित होकर इसको देखता है, वह वृष्टि तत्त्व को जानता है। अन्तरिक्षलोक के उदकाशय स्थान पर सूर्य की रश्मिसमूह तथा वायु से परिवेष्टित यह उदक वर्षा के समय बहुत अधिक मात्रा में पृथिवी में प्रवेश कर जाता है।[९] अत्रि ऋषि कहते हैं कि इस पर निवास करते हुए शरीर सुन्दर अन्न को खाए तथा वृद्धावस्था से पूर्व मेरा शरीर निर्ऋति में न मिले अर्थात् पार्थिव शरीर समय से पूर्व पञ्चतत्त्व में विलीन न हो जाये।[१०] वसिष्ठ ऋषि का कथन है कि निर्ऋति देवी

---

१ निघ०वृ०, १.१.१५.

२ निघ०वृ०, १.१.१५.

३ वै०पद०को०, पृ० १८१८.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ११०.

५ पाणिनि, अष्टा०, १.१.४५. ''इग्यणः सम्प्रसारणम्।''

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५५४; ऋ०वै०पद०, पृ० २९१.

७ ऋ० १०.३६.४; ५९.१-४.

८ ऋ० १.२४.९. ''बाधस्व दूरे निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेन प्र मुमुग्ध्यस्मत्।''

९ ऋ० १.१६४.३२. ''य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्। स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश।''

१० ऋ० ५.४१.१७. ''अत्रा शिवां तन्वो धासिमस्या जरां चिन्मे निर्ऋतिर्जग्रसीत।''

जिसकी अपनी हो जाती है, वह ऐश्वर्यशाली शरद् ऋतुओं में सुन्दर अन्न से युक्त होता है और तीन बन्धन वाले वृद्धत्व को प्राप्त करता है।[१] तापस ऋषि निर्ऋति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि तीन निर्ऋतियाँ भोग और अपवर्ग के लिये प्राप्त की जाती हैं, इस तथ्य को दीर्घश्रुत वह्नि जानते हैं।[२] शतपथ-ब्राह्मण जहाँ निर्ऋति को घोर और पाप्मा बतलाता है,[३] वहाँ तैत्तिरीय, काठक और कपिष्ठल संहितायें 'निर्ऋति' का अर्थ 'भूमि' करती हैं।[४]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'निर्ऋति' वह पृथ्वी है, जिसमें वृद्धावस्था से पूर्व शरीर का विसर्जन नहीं होता, जहाँ सुन्दर, स्वादिष्ठ भोजन भोग के लिये प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त इस पर धर्म पराङ्मुख लोगों के लिये कोई स्थान नहीं होता तथा भोग और अपवर्ग इसकी अपनी विशेषतायें हैं। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि जिस पर प्राणी रमण करते हैं, वह पृथ्वी 'निर्ऋति' है। इस प्रकार 'निर्+'रम्' धातु से 'निर्ऋतिः' पद को व्युत्पन्न किया जा सकता है। अतः, यास्क निर्वचन के माध्यम से जिस अर्थ को ग्रहण कर रहे हैं, उसकी पुष्टि हो जाती है। परन्तु स्कन्दस्वामी द्वारा गृहीत निर्ऋति का आशय स्वीकार योग्य प्रतीत नहीं होता है।

१७. भूः

निघण्टुकोष के पृथिवीवाचक नामपदों में 'भूः' पद परिगणित है।[५] काठकसंहिता 'भू' पद का निर्वचन करती हुई कहती है:-''**भूरिति व्याहरेद् भूतो वै प्रजापतिर्भूतिमेवोपैति**''[६] कि 'भू' इस उच्चारण से उत्पन्न प्रजापति भूति (ऐश्वर्य) को प्राप्त करता है। इस पक्ष में 'भूति' से 'भू' पद निष्पन्न होता है।

'भू' का वर्णन करता हुआ ब्राह्मण कहता है:-''**स हैष भूरेव नाम यज्ञक्रतुः, एतेन ह वै यज्ञेनेष्ट्वा प्रजापतिरभवत्। यदभवत्तस्माद् भूः**''[७] कि वह 'भू' नाम का यज्ञक्रतु (यज्ञकर्म) था, इस से यजन करने पर प्रजापति हुआ। जो यह हुआ, इसलिये यह 'भू' कहलाता है। इस पक्ष में 'भू' धातु से 'भूः' पद निष्पन्न होता है।

एक अन्य स्थान पर जैमिनीय-ब्राह्मण का ऋषि कहता है:-''**प्रजापतिर्यदग्रे व्याहरत् स भूरित्येव व्याहरत्। स इमाम् (पृथिवीम्) असृजत**''[८] कि प्रजापति ने पहले कहा वह 'भू' ही कहा। अन्यत्र ब्राह्मण यह भी कहता है:-''**भूरिति व्याहृतिः। तदयं (पृथिवी) लोकोऽग्निर्देवता गायत्री छन्दस्त्रिवृत् स्तोमो रथन्तरं साम**

---

१ ऋ० ७.३७.७. ''अभि यं देवी निर्ऋतिश्चिदीशे नक्षन्त इन्द्रं शरदः सुपृक्षः। त्रिबन्धुजरदष्टिमेति।''

२ ऋ० १०.११४.२. ''तिस्रो देष्ट्राय निर्ऋतिरुपासते दीर्घश्रुतो वि हि जानन्ति वह्नयः।''

३ शत०ब्रा०, ७.२.१.१०; ११. ''घोरा वै निर्ऋतिः।'' शत०ब्रा०, ७.२.१.१. ''पाप्मा वै निर्ऋतिः।''

४ तै०सं०, ४.२.५.३-४. ''भूमिरिति त्वा जना विदुर्निर्ऋतिरिति त्वाऽहं परि वेद विश्वतः।'' काठ०सं० १६.१२; कपि०कठ०सं० २५.३. ''यां त्वा जनो भूमिरिति प्रमन्दते, निर्ऋतिरिति त्वाहं परिवेद विश्वतः।''

५ निघ० १.१.१७.

६ काठ०सं० ३५.१७.

७ जै०ब्रा०, २.१४७.

८ जै०ब्रा०, १.१०१.

वसवो देवता वनस्पतयश्चौषधयश्च''[१] कि 'भू' यह व्याहृति है। इसमें पृथिवी लोक, अग्निदेवता, गायत्री छन्द, त्रिवृत् स्तोम, रथन्तर साम, वसु देवता, वनस्पतियाँ और औषधियाँ आती हैं। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थ 'भू' को अग्नि, पृथिवी, प्रजापति, प्राण, ब्रह्मन्, भूमि आदि अर्थों में और प्रयोग करता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष भूधातुमूलक 'भू' पद को भूमि, लोक प्रभृति का वाचक स्त्रीलिङ्ग नामपद मानता है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् 'भू' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**भवन्त्यस्यां सर्वमिति भूः**''[३] कि इस पर सब कुछ होता है, अतः, पृथ्वी को 'भू' कहते हैं। मोनियर विलियम्स तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार भी 'भू' पद का मूल 'भू' धातु है।[४]

वैदिक साहित्य में 'भूः' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। आङ्गिरस सव्य ऋषि इन्द्र का स्तवन करते हुए कहते हैं कि वह विस्तृत भूमि का प्रतिमान है।[५] वामदेव ऋषि के अनुसार सत्ययोनि इन्द्र इस पृथ्वी का सम्राट् है।[६] सुतम्भर आत्रेय ऋषि अग्नि से प्रार्थना करते हैं कि किस प्रकार हम ऋत से ऋत का आचरण करते हुए उचित, अप्राप्त और नवीन भूमि को प्राप्त करें।[७] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि पृथ्वी से अग्नि को सत्कारपूर्वक बहुत निमन्त्रण आते हैं।[८] प्रगाथ ऋषि के अनुसार भू सम्पूर्ण इन्द्रियों की स्वामी है।[९] अदिति दाक्षायणी कहती हैं कि भू से उत्तानपद (सूर्य) उत्पन्न होता है और उसीसे दिशायें जन्म लेती हैं।[१०] वामदेव ऋषि वैश्वानर अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि यह रात्रि में पृथिवीस्थ प्राणियों का मूर्धा होता है तथा प्रातःकाल में उदित होता हुआ यह सूर्यरूप में प्रकट होता है।[११] यजुर्वेद के एक मन्त्र में भूः, भुवः, स्वः यह पाठ देखने को मिलता है, यहाँ ये क्रमशः पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के अभिधान हैं।[१२] इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में भूः, भुवः, स्वः- इनको द्युलोक के समान महत्त्वशाली बतलाते हुए उन्हें पृथिवी के समान वरणीय प्रतिपादित किया है।[१३]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'भू' नामक पृथ्वी वह है, जिससे सूर्य और आशायें उत्पन्न होती हैं, अग्नि जिसकी मूर्धा है और जो इन्द्र के समान व्यापक है। इसके अतिरिक्त 'भू' से अग्नि को निमन्त्रण प्राप्त होते हैं तथा इन्द्र इसका सम्राट् है। ब्राह्मणग्रन्थ के अनुसार 'भू' का विकास 'भूति' के

---

१ जै०ब्रा०, ३.८७.
२ वै०पद०को०, पृ० २३६०.
३ निघ०वृ०, १.१.१७.
४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७६०; ऋ०वै०पद०, पृ० ३७२.
५ ऋ० १.५२.१३. ''त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्या ऋष्ववीरस्य बृहतः पतिभूः।''
६ ऋ० ४.१९.२. ''भुवः सम्राळिन्द्र सत्ययोनिः।''
७ ऋ० ५.१२.३. ''कया नो अग्न ऋतयन्नृतेन भुवो नवेदा उचथस्य नव्यः।''
८ ऋ० ७.८.५. ''असन्नित्त्वे आहवनानि भूरि भुवः।''
९ ऋ० ८.६२.७. ''भुवो विश्वस्य गोपतिः।''
१० ऋ० १०.७२.४. ''भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा व्यजायन्त।''
११ ऋ० १०.८८.६. ''मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।''
१२ यजु०, ३६.३. ''भूर्भुवःस्वः।''
१३ यजु०, ३.५. ''भूर्भुवःस्वः द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।''

रूप में होता है और यह 'भूति' ही प्रजापति है। इस प्रकार प्रजापति तथा 'भू' एक तत्त्व के दो नाम हैं, क्योंकि विना 'भू' के प्रजापति प्रजा के पति नहीं हो सकते, प्रजा का अस्तित्व 'भू' पर निर्भर है। भूतिरूप प्रजापति के प्रजनन कार्य सम्पन्न करने के कारण पृथ्वी को 'भू' धातुमूलक 'भू' धातु से व्युत्पन्न किया गया है।

१८. भूमि:

निघण्टुकोष के पृथ्वीवाचक नामपदों में 'भूमि:' पद का समाम्नान किया गया है।[१] 'भूमि' पद का निर्वचन करता हुआ जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है:-''**अभूद्वाऽ इदमिति। तद्भूमेर्भूमित्वम्**''[२] कि यह अस्तित्व में आयी, यही 'भूमि' का भूमित्व है। इसी प्रकार का चिन्तन काठकसंहिता में भी देखने को मिलता है:- ''**यदभवत्तद्भूमि:**''।[३] एक अन्य स्थान पर जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है:-''**भूमिर्भूत्वा (प्रजापति:) भूतं भव्यमभवत्**''[४] कि प्रजापति भूमि होकर भूत और भव्य हो गया।

इस विषय में शतपथ-ब्राह्मण का कथन है:-''**अभूद्वा ऽ इयं प्रतिष्ठेति। तद्भूमिरभवत्**''[५] कि इसकी प्रतिष्ठा हुई, अत:, वही भूमि हो गयी। इस प्रकार उपर्युक्त ब्राह्मणग्रन्थ के उद्धरणों से 'भूतकालिक 'भू' धातु से 'भूमि' पद निष्पन्न होता है। एक अन्य स्थल पर शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-''**इयं वै भूमिरस्यां वै स भवति यो भवति**''[६] कि यह भूमि है, इसमें वह होता है, जो होता है। ऋषि के कथन का आशय यह प्रतीत होता है कि 'भूमि' पर ही अन्यों का अस्तित्व निर्भर है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'भूमि' पद का निर्वचन निम्न देते हैं:-''**भवते: मि प्रत्यय:। अभूत भूमिस्तथा अभूद्वा इदमिति तद्भूम्यै भूमित्वम् -इति श्रुति:**''[७] कि 'भू' धातु से 'मि' प्रत्यय होकर 'भूमि' पद निष्पन्न होता है। (यह व्युत्पत्ति उणादिकोष पर आधारित है।)[८] भूमि अस्तित्व में आयी और उससे उसमें यह सब कुछ अस्तित्व में आया, यही भूमि का भूमित्व है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'भूमि' पद को भूधातुमूलक पृथिवी, लोक का वाचक नामपद मानता है।[९] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्त मत का समर्थन करती है।[१०]

वैदिक साहित्य में 'भूमि' का व्यापक प्रयोग देखने को मिलता है। गोतम नोधा ऋषि मरुत् कर्म का

---

१ निघ० १.१.१८.

२ जै०ब्रा०, २.२४४.

३ काठ०सं० ८:२.

४ जै०ब्रा०, १.३१४.

५ शत०ब्रा०, ६.१.१.१५; ३.७.

६ शत०ब्रा०, ७.२.१.११.

७ निघ०वृ०, १.१.१८.

८ उणा०, ४.४६. ''भुव: कित्।''

९ वै०पद०को०, पृ० २३६५.

१० ऋ०वै०पद०, पृ० ३७२.

वर्णन करते हुए कहते हैं कि ये सर्वत्र भ्रमण एवं कँपाने वाले मरुत् अन्तरिक्षस्थानी मेघों को दुहते हैं तथा भूमि को जल से सींचते हैं।[१] राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि मरुद्गणों के युद्ध करते समय भूमि पतिवियुक्ता या शीतज्वरपीडिता की तरह काँपती है।[२] वामदेव ऋषि कहते हैं कि इन्द्र की कान्ति उत्पन्न होने पर द्युलोक और पृथ्वीलोक भय से काँपते हैं।[३] दीर्घतमस् ऋषि का कहना है कि पर्जन्य भूमि को तृप्त करते हैं तथा अग्नियाँ अन्तरिक्षलोक को शुद्ध करती हैं।[४] आङ्गिरस कुत्स एवं गृत्समद ऋषि तीन भूमियों और तीन प्रकाश के केन्द्रों का उल्लेख करते हैं।[५] विश्वामित्र ऋषि ऐसी भूमि का वर्णन करते हैं, जो समतल, नाना प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति कराने एवं महत् परिमाण वाली तथा अपारा हो।[६] एक स्थान पर इन्द्र की ओर से घोषणा करते हुए वामदेव ऋषि कहते हैं कि मैंने ही आर्यों के लिये भूमि प्रदान की है तथा मैं ही देने वाले मनुष्यों के लिये वृष्टि करता हूँ।[७] एक अन्य स्थल पर वामदेव ऋषि भूमि को हल की फाल से जोता जाने वाला बतलाते हैं।[८] कहीं ऋषि कहता है कि सत्य से पृथिवी पर्वतों को धारण करती है। नीचे स्थान वाली वह पृथ्वी उदक के विशाल भण्डारों से प्राणियों की तृप्त करती है।[९] शंयु बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि एक बार ही द्युलोक उत्पन्न होता है और एक बार ही भूमि उत्पन्न होती है।[१०] ऋषि के कथन का आशय यह है कि पुनः उस जैसी पृथ्वी का निर्माण सम्भव नहीं है। वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि सम्पूर्ण को धारण करने वाली यह भूमि ओषधियों और वृक्षों को अपने गर्भ में धारण करती है।[११] सङ्कु वामायन ऋषि भूमि के विषय में कहते हैं कि यह विस्तीर्ण, बहुत प्रस्तार वाली भूमिमाता युवति स्त्री के समान जीव की रक्षा करती है और उसे दुःखों से बचाती है।[१२] सूर्या सावित्री ऋषिका का कहना है कि सत्य नियम से भूमि और उसीसे द्युलोक स्थित है।[१३] पुरुषसूक्त के अनुसार विराट् से अभिव्यक्ति लेने वाले पुरुष से भूमि उत्पन्न होती है। इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में भूमि को पुरुष के पैर से उत्पन्न होने वाला भी बताया गया है।[१४] तैत्तिरीय संहिता कहती है कि उसने 'भू' कहा और

---

१ ऋ० १.६४.५. ''दुहन्त्यूधर्दिव्यानि धूतयो भूमिं पिन्वन्ति पयसा परिज्रयः।''
२ ऋ० १.८७.३. ''प्रैषामज्मेषु विथुरेव रेजते भूमिः।''
३ ऋ० ४.१७.२. ''तव त्विषो जनिमन् रेजत द्यौ रेजद्भूमिर्भयसा स्वस्य मन्योः।''
४ ऋ० १.१६४.५१.''भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः।''
५ ऋ० १.१०२.८. ''तिस्रो भूमीर्नृपते त्रीणि रोचना।''
ऋ० १.२७.८. ''तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीँरुत द्यून्।''
६ ऋ० ३.३०.९. ''नि सामनामिषिरामिन्द्र भूमिं महीमपारां सदने ससाथ।''
७ ऋ० ४.२६.२. ''अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।''
८ ऋ० ४.५७.८. ''शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिम्।''
९ ऋ० ५.८४.१. ''बळित्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथिवी। प्र या भूमिं प्रवत्वति मह्ना जिनोषि महिनि।''
१० ऋ० ६.४८.२२. ''सकृद्ध द्यौरजायत सकृद्भूमिरजायत।''
११ ऋ० ७.४.५. ''तमोषधीश्च वनिनश्च गर्भं भूमिश्च विश्वधायसं बिभर्ति।''
१२ ऋ० १०.१८.१०. ''उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम्।''
१३ ऋ० १०.८५.१. ''सत्यनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।''
१४ ऋ० १०.९०.५. ''तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः। स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥ ऋ० १०.९०.१४.

उससे भूमि उत्पन्न हो गयी।[१]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'भूमि' वह पृथ्वी है, जो समतल, विस्तृत, अपारा और जिससे नाना प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति होती हो। जिसमें हल चलता हो, जिसके निम्न स्थान जल भण्डारों से भरे रहते हों। इसके अतिरिक्त जिसके गर्भ में ओषधियाँ और वनस्पतियाँ पलती हों और जिसमें सम्पूर्ण विश्व को धारण करने की क्षमता हो। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि जो माता की तरह रक्षा करती है, जिसके होने से चर-अचर जगत् का अस्तित्व सम्भव है, वह पृथ्वी वेद में 'भूमि' नाम से अभिहित है। इस प्रकार सत्तार्थक 'भू' धातु को 'भूमि' पद का मूल माना जा सकता है, निर्वचन से भी इसकी पुष्टि हो जाती है।

१९. पूषा

निघण्टुकोष के पृथ्वीवाचक नामपदों में 'पूषा' पद समाम्नात है।[२] शतपथ-ब्राह्मण 'पूषा' का निर्वचन करता हुआ कहता है:-''**अयं वै पूषा योऽयं पवते। एष हीदु सर्वं पुष्यति**''[३] कि यह वायु पूषा है, क्योंकि यह सबको पुष्ट करता है। एक अन्य स्थल पर 'पूषा' नामकरण का कारण देते हुए शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-''**इयं (पृथिवी) वै पूषेयः हीदु सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च**''[४] कि यह पृथिवी पूषा है, क्योंकि यह सबका पालन करती है। इन दोनों स्थानों पर ब्राह्मण अण्यन्त 'पुष्' धातु से 'पूषा' पद व्युत्पन्न करने के पक्ष में है।

तैत्तिरीय-संहिता 'पूषा' के स्वरूप को स्पष्ट करती हुई कहती है:-''**पूषाऽपोषयत्**''[५] कि पूषा पुष्टि प्रदान कराता है। यहाँ ण्यन्त 'पुष्' धातु से 'पूषा' शब्द निष्पन्न हो रहा है।

आचार्य यास्क द्युस्थानी 'पूषा' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**यद्रश्मिपोषं पुष्यति तत्पूषा भवति**''[६] कि पूर्ण तेज से युक्त सूर्यरश्मियों को धारण करने पर 'पूषा' कहलाता है। इस पक्ष में अण्यन्त 'पुष्' धातु से 'पूषा' पद उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् पृथ्वीवाचक 'पूषा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**पुष्यति धान्यादिभिः समृद्धा भवति। पोषयति वान्नैः प्रजाः**''[७] कि यह पृथ्वी धान्यादि से समृद्ध अर्थात् पुष्ट होती है अथवा यह प्रजा को अन्नों से पुष्ट करती है, अतः, पृथ्वी 'पूषा' कहलाती है। इस पक्ष में 'पुष' पुष्टौ' धातु से औणादिक 'कनिन्' प्रत्यय होकर 'पूषा' पद निष्पन्न होता है।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्।।''

१ तै०सं०२.२.४.२. ''स भूरिति व्याहरत्। स भूमिमसृजत्।''

२ निघ० १.१.१९.

३ शत०ब्रा०, १४.२.१.९; २.३२.

४ शत०ब्रा०, १४.४.२.२५.

५ तै०सं० १.६.२.२.

६ निरु० १२.१६.

७ निघ०वृ०, १.१.१९.

(ख) ''यद्वा, 'पुष' धारणे'। धारयति सर्वाणि भूतानि पोषयत्याभरणानीति''[१] कि सम्पूर्ण प्राणियों का भरण-पोषण करके धारण करती है, अत:, पृथ्वी को 'पूषा' कहते हैं। देवराजयज्वन् के अनुसार इस आशय की पुष्टि मन्त्र से भी हो जाती है।[२]

(ग) उपर्युक्त निर्वचन के सन्दर्भ में भट्टभास्कर मिश्र के मत को उद्धृत करते हुए देवराजयज्वन् कहते हैं कि सम्पूर्ण अर्थों का पोषण करने के कारण पृथ्वी 'पूषा' नाम से अभिहित होती है।[३]

(घ) आचार्य माधव का अभिमत है कि पूषा (पृथिवी) पोषण करती है, यह उसका प्रत्यक्ष रूप है।[४] कहने का आशय यह प्रतीत होता है कि पृथ्वी का पोषणकर्म सबको दिखायी पड़ता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'पूषा' पद को 'पूष्' धातुमूलक नामपद मानता है। उसके अनुसार जब यह आदित्य की संज्ञा होती है, तब 'पूष्' दीप्तौ' धातु से तथा पृथिवी वाचक होने पर 'पूष्' निवासे' से व्युत्पन्न होता है।[५] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि उपर्युक्त यास्ककृत निर्वचन तुलनात्मक भाषा-विज्ञान द्वारा पूर्ण रूप से स्वीकार करने के योग्य है। इसका कारण यह है कि 'पूषन्' भारोपीय भाषा में 'पूस्' फूलने के अर्थ में, वल्गेरियन में 'Puchati to puff' है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स ने 'पूषन्' का मूल 'पुष्' और 'पूष्' दोनों धातुओं की सम्भावना मानी है।[७] लेकिन आचार्य सायण वृद्ध्यर्थक' 'पूष्' धातु से 'पूषन्' को व्युत्पन्न मानते हैं।[८]

वैदिक साहित्य में 'पूषन्' का व्यापक वर्णन देखने को मिलता है। इसका उल्लेख पृथ्वी अर्थ के अतिरिक्त वायु, सूर्य, अग्नि आदि अर्थों में भी हुआ है। गृत्समद ऋषि 'पूषा' के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि पूषा पुरों का धारण करने वाला एवं अश्विनीदेव इसका पालन करने वाले हैं।[९] कहीं ऋषि कहता है कि पूषा (पृथिवी) कर्म को तृप्त करे अर्थात् उसे फलवान् बनाये और विश्व को धारण करने वाले धन को रयिपति सोम धारण करें।[१०] विश्वामित्र ऋषि का कथन है कि ऐश्वर्यशाली पूषा (पृथ्वी) कामनाओं की वर्षा करने वाली है, ज्ञान के प्रकाश से प्रसन्न सुहस्त पुरुषों के लिये गर्भ में सोये हुए ऐश्वर्य को दुहती है।[११] वामदेव ऋषि पूषा से सेवन करने योग्य धन प्रदान करने की प्रार्थना करते हैं।[१२] क्षेत्रपति देवता की स्तुति करते हुए

---

१ निघ०वृ०, १.१.१९.

२ निघ०वृ०, १.१.१९.

३ निघ०वृ०, १.१.१९.

४ निघ०वृ०, १.१.१९.

५ वै०पद०को०, पृ० २०८०.

६ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ४८.

७ ऋ०वै० पद०, पृ० ३३१. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ६४५.

८ माधवीया, धातुवृत्ति, १.६३४. पृ० १२१.

९ ऋ० २.३१.४. ''पूषा पुरन्धिरश्विनावधा पती।''

१० ऋ० २.४०.६. ''धियं पूषा जिन्वतु विश्वमिन्वो रयिं सोमो रयिपतिर्दधातु।''

११ ऋ० ३.५७.८. ''इन्द्रः सु पूषा वृषणा सुहस्ता दिवो न प्रीता शशयं दुदुह्रे।''

१२ ऋ० ४.३०.२४. ''वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूळती।''

वामदेव ऋषि कहते हैं कि भूमि विदारण करने वाला कृषक (इन्द्र). पूषा से अनुमति प्राप्त करके हल की फाल को ग्रहण करे और वह उदकवती पृथ्वी बार-बार प्रतिवर्ष सस्यादि सम्पत्ति को दुहती रहे।[१] एक अन्य मन्त्र में आत्रेय ऋषि कहते हैं कि भग, अदिति और पूषा अदनीय और स्वीकार्य अन्नादि को प्रदान करते हैं तथा सूर्य उसे अपनी किरणों से आच्छादित करता है।[२] वैवस्वत मनु सब प्रकार के पदार्थों को धारण करने वाली पूषा से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि वह सेवन-योग्य धन हमको प्रदान करके हमारा कल्याण करे।[३] अत्रि ऋषि कहते हैं कि अजा, अश्वादि धन वालाा पूषा सदा सर्वत्र हमारी रक्षा करे।[४] देवश्रवा यामायन ऋषि पूषा से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि पशु आदि धन को नष्ट होने से बचाने वाला समस्त संसार का पालक, विद्वान् पूषा हमें उत्तम मार्ग की प्राप्ति कराये।[५] मैत्रायणी-संहिता पूषा को प्रजनयिता बतलाती है।[६] शतपथ-ब्राह्मण पूषा को देवों के भाग का दोहन करने वाला मानता है और उसे भगपति बतलाता है।[७]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में 'पूषा' वह पृथ्वी है, जो नगरों को धारण एवं उनका पालन, मनुष्य के कर्म को सफल, अपने गर्भ में स्थित सम्पदा को दोहन तथा सेवन-योग्य धन प्रदान करती है, वर्षानुवर्ष सस्यादि सम्पत्ति प्राणियों के लिये दुहती है। इसके अतिरिक्त पशु धन का पालन करने वाली और उसको नष्ट होने से बचाने वाली भी यही है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पूषा वह पृथ्वी है, जो सब प्रकार से प्राणियों की पुष्टि प्रदान करती है। निर्वचन से भी यही दिशा इङ्गित होती है। ध्वनिरूप को ध्यान में रखते हुए 'पूषन्' को 'पूष्' धातु से व्युत्पन्न मानना चाहिये, परन्तु 'पूषन्' की चरित्रगत विशेषताओं का प्रकटीकरण 'पुष' पुष्टौ' धातु से अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह होता है। सम्भवतः, इसी कारण ब्राह्मणग्रन्थ और उनका अनुसरण करते हुए आचार्य यास्क एवं देवराजयज्वन् ने 'पूषा' पद का मूल 'पुष' पुष्टौ' धातु को माना है।

२०. गातुः

निघण्टुकोष के पृथिवीवाचक नामपदों में 'गातु' पद पठित है।[८] आचार्य यास्क 'गातु' पद का निर्वचन 'गमनम्' करते हैं।[९] आचार्य देवराजयज्वन् पृथ्वीवाचक 'गातु' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:- "**गीयते स्तूयतेऽसौ, स्तुवन्ति वास्यां स्थिता इन्द्रादीन्**"[१०] कि इस पृथ्वी की अथवा इस पर स्थित होकर इन्द्र आदि देवों की स्तुति की जाती है, अतः, पृथिवी को 'गातु' कहते हैं। इस पक्ष में 'गाङ्' स्तुतौ' धातु से

---

१ ऋ० ४.५७.७. "इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाऽनु यच्छति। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्।"

२ ऋ० ५.४९.३. "अदत्रया दयते वार्य्याणि पूषा भगो अदितिर्वस्त उस्रः।"

३ ऋ० ८.३१.११. "ऐतु पूषा रयिर्भगः स्वस्ति सर्वधातमः।"

४ ऋ० ९.६७.१०. "अविता नो अजाश्वः पूषा यामनि यामनि।"

५ ऋ० १०.१७.३. "पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।"

६ मै०सं० ३.६.९. "पूषा प्रजनयिता।"

७ शत०ब्रा०, ५.३.१.९. "पूषा वै देवानां भागदुघः।" शत०ब्रा०, ११.४.३.१५. "पूषा भगं भगपतिः।"

८ निघ० १.१.२०.

९ निरु० ४.२१.

१० निघ०वृ०, १.१.२०.

औणादिक 'तु' प्रत्यय होकर 'गातु' रूप सिद्ध होता है।

(ख)"**गच्छन्त्यस्यां भूतानीति वा**"[१] कि इस पर प्राणी गमन करते हैं, अतः, पृथ्वी को 'गातु' कहते हैं। इस पक्ष में 'गाङ्' गतौ' धातु से 'गातु' रूप सिद्ध होता है।

(ग)"**गायन्ति वास्यां स्थिता गायना इति**"[२] कि इस पर स्थित होकर गायन कर्म किया जाता है, अतः, पृथिवी 'गातु' कहलाती है। इस पक्ष में 'गै' शब्दे' धातु से 'गातु' पद निष्पन्न होता है।

(घ)"**गम्यतेऽनेनेति गातुर्मार्गः, गातुर्मार्गवती हि भूमिः**"[३] कि जिससे जाते हैं, वह मार्ग 'गातु' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'गम्' धातु से 'गातु' रूप व्युत्पन्न होता है।

आचार्य सायण 'गातु' का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**गच्छन्त्यनेनेति गातुर्मार्गः**"[४] कि इस पर जाते हैं, अतः, मार्ग को 'गातु' कहा जाता है। सायण की दृष्टि में मार्गवती भूमि 'गातु' है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गातुः' पद को अभ्युदय वाचक भावपद तथा मार्ग एवं गृहपति वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[५] मोनियर विलियम्स 'गातु' पद का मूल जुहोत्यादिगण की गत्यर्थक 'गा' धातु को मानते हैं।[६] लेकिन ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची में 'गातु' को अव्युत्पन्न रूप में प्रदर्शित किया गया है।[७] निघण्टु में 'गाति' और 'जिगाति' गतिकर्मा पदों में पठित हैं।[८] पाणिनीय धातुपाठ के अनुसार 'गाति' क्रियापद निष्पन्न नहीं होता है। सम्भवतः, निघण्टु में उपर्युक्त धातुद्वय का परिगणन 'गातु' की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है।

वैदिक साहित्य में 'गातु' पद का विभिन्न अर्थों में प्रयोग देखने को मिलता है। कहीं यह पृथ्वी के अर्थ में आया है, तो कहीं यह उपाय और मार्ग के अर्थ में। परुच्छेप ऋषि वरीयसी गातु (पृथ्वी) को सूर्य की रश्मियों से विस्तृत रूप में दिखायी देने वाली बतलाते हैं।[९] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि पहले मनुष्य ने शयन, अत्रि (शरीर, वाणी और मन के दोषों को दूर करने के लिये) तथा मनन करने के लिये पृथ्वी (गातु) को प्राप्त करने की इच्छा की।[१०] विश्वामित्र ऋषि का कथन है कि जो मेधावियों से ज्ञान प्राप्त करके दूसरे बुद्धिमान् लोगों को ज्ञान की प्राप्ति कराता है, ऐसे व्यक्ति को पृथ्वी (गातु) की इच्छा करनी चाहिये।[११] एक अन्य मन्त्र में विश्वामित्र ऋषि विश्वदेवों की स्तुति करते हुए कहते हैं कि सन्तानरहित को देवगण अपत्यवान्

---

१ निघ०वृ०, १.१.२०.

२ निघ०वृ०, १.१.२०.

३ निघ०वृ०, १.१.२०.

४ सायण, ऋ० ३.३१.९.

५ वै०पद०को०, पृ० १२२१.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३५२.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० १८५.

८ निघ० २.१४.३९; ११३.

९ ऋ० १.१३६.२. "अदर्शि गातुरुरवे वरीयसी पन्था ऋतस्य समयंस्त रश्मिभिश्चक्षुर्भगस्य रश्मिभिः।"

१० ऋ० १.११२.१६. "याभिर्नरा शयवे याभिरत्रये याभिः पुरा मनवे गातुमीषथुः।"

११ ऋ० ३.१.२. "दिवः शशासुर्विदथा कवीनां गृत्साय चित्तवसे गातुमीषुः।"

बनायें, जिससे यह पृथ्वी (गातु) प्रजावान् और पशुमान् हो सके।[१] गातुरात्रेय ऋषि कहते हैं कि कामना करने वाली युवती के समान, स्वयं अपने को धारण करने में सक्षम द्यु नामक देवी तथा पृथ्वी (गातु) ये दोनों अपने को इन्द्र की इच्छा के अनुरूप प्रस्तुत करती हैं।[२] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं कि बहुतों को ग्रहण एवं नानाविध कर्मों को सम्पन्न करने वाली, बल प्रदात्री, पदार्थों को क्षय अवस्था में पहुँचाने वाली पृथ्वी (गातु) को आप व्याप्त करते हैं।[३]

उक्त सभी स्थानों पर वेद ने 'गातु' का पृथिवी अर्थ में प्रयोग किया है। लेकिन वेद में 'गातु' पद का मार्ग अर्थ में भी बहुत प्रयोग हुआ है। अगस्त्य ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि प्रशंसित अश्व वाले आप इस मार्ग से हमारे पास पहुँचें।[४] गृत्समद ऋषि यज्ञ के द्वारा इन्द्र से मार्ग जानने का रहस्य उद्घाटित करते हैं।[५] विश्वामित्र ऋषि आप्रिय देवों के विषय में कहते हैं कि इनके लिये नष्ट न होने वाला ऊपर जाने का मार्ग बनाया है।[६] एक अन्य मन्त्र में विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि मन को प्रिय लगने वाले स्तोत्रों से अमृतत्व का उपायभूत मार्ग बनाते हुए स्थित हों।[७] वसिष्ठ ऋषि का कथन है कि पवित्र करने वाले आप हमारे बन्धनों को खोलें, सरल मार्ग (गातु) दिखायें एवं शान्ति का बल प्रदान करें।[८] यम ऋषि कहते हैं कि यम सबसे पुराने मार्ग को जानता है।[९] इन्द्र वैकुण्ठ ऋषि का कहना है कि इन्द्र मनुष्य के लिये जाने के मार्ग का ज्ञान कराता है।[१०]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में 'गातु' पद का पृथ्वी और मार्ग दोनों अर्थों में प्रयोग हुआ है तथा ये दोनों पृथ्वी के प्रकार हैं। जहाँ तक पृथ्वी अर्थ का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि वह पृथ्वी 'गातु' है, जो विद्वानों के उपयोग में लायी जाती है, प्रकाशयुक्त है, जहाँ अमृतत्व के उपायभूत स्तोत्र गाये जाते हैं और जो इन्द्र के लिये या जिसके लिये इन्द्र अनुकूल होकर प्रस्तुत है। इसके अतिरिक्त जो प्रजावान् और पशुमान् भी है। द्वितीय अर्थ की दृष्टि से 'गातु' वह मार्ग है, जो इन्द्र के द्वारा बताया गया है, जिस पर चलकर प्राणी ऊपर जा सकता है, यह ऐसा सरल मार्ग है, जो बन्धनों को खोलता है एवं शान्ति तथा बल प्रदान करता है। इस मार्ग को जानने वालों में प्राचीनतम देव यम हैं। इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि 'गातु' विद्वानों के उपयोग में लायी जाने वाली भूमि या मार्ग है। इस दृष्टि से यास्क का 'गमनम्' तथा देवराजयज्वन् का 'गम्' धातु से किया जाने वाला निर्वचन अधिक उपयुक्त प्रतीत नहीं होते हैं। इस तथ्य को तथ्य में रखते हुए स्तुत्यर्थक 'गा' धातु को उक्तपद का मूल मानना वैदिक भावना के अधिक

---

१ ऋ० ३.५४.१८. ''युयोत नो अनपत्यानि गन्तोः प्रजावान्न पशुमाँ अस्तु गातुः।''

२ ऋ० ५.३२.१०. ''न्यस्मै देवी स्वधितिर्जिहीत इन्द्राय गातुरुशतीव येमे।''

३ ऋ० ६.२२.५. ''तुविग्राभं तुविकूर्मिं रभोदां गातुमिषे नक्षते तुम्रमच्छ।''

४ ऋ० १.१७३.१०. ''एतेन गातुं हरिवो विदो नः।''

५ ऋ० २.२१.५. ''यज्ञेन गातुमप्तुरो विविद्रिरे।''

६ ऋ० ३.४.४. ''ऊर्द्ध्वो वां गातुरध्वरे अकारि।''

७ ऋ० ३.३१.९. ''नि गव्यता मनसा सेदुरर्कैः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्।''

८ ऋ० ९.९७.१८. ''ग्रन्थिं न विष्य ग्रथितं पुनान ऋजुं च गातुं वृजिनं च सोम।''

९ ऋ० १०.१४.२. ''यमो न गातुं प्रथमो विवेद।''

१० ऋ० १०.४९.९. ''विदं मनवे गातुमिष्टये।''

निकट है। इस प्रकार वह भूमि 'गातु' है, जिसमें स्तुति अर्थात् ज्ञान की साधना की जाती है। यह स्तुतिमार्ग शान्ति की ओर ले जाता है और समस्त बन्धनों से मुक्ति देता है।

२१. गोत्रा

निघण्टुकोष के पृथ्वीवाचक नामपदों में 'गोत्रा' पद पठित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् पृथ्वीवाचक 'गोत्रा' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**मृगपक्ष्यादयोऽव्यक्तशब्दं कुर्वन्तीति गोत्रा**''[२] कि मृग, पक्षी आदि इस पर अव्यक्त शब्द करते हैं, अतः पृथिवी को 'गोत्रा' कहा जाता है। इस पक्ष में 'गुङ् अव्यक्ते शब्दे' धातु से औणादिक 'त्र' प्रत्यय होकर 'गोत्रा' रूप निष्पन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, गोत्राः शैलाः सन्त्यस्याम्**''[३] कि शैलवान् होने के कारण पृथ्वी को 'गोत्रा' कहा जाता है। इस पक्ष में 'गोत्र' शब्द से मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय होकर 'गोत्रा' पद निष्पन्न होता है।

(ग)''**गास्त्रायते रक्षति यवसोदकवत्तया**''[४] कि घास और जल से यह पृथ्वी गोधन की रक्षा करती है, अतः, इसे 'गोत्रा' कहा जाता है। इस पक्ष में 'गो' शब्दपूर्वक 'त्रैङ् पालने' धातु से 'गोत्रा' पद सिद्ध होता है।

(घ)''**यद्वा, गोभिरादित्यकिरणैर्वृष्टिप्रदानेन त्रायते रक्षते इति**''[५] कि सूर्य किरणों के द्वारा वृष्टि से इसकी रक्षा होती है, अतः, पृथ्वी 'गोत्रा' नाम से अभिहित होती है। इसकी व्युत्पत्ति पूर्ववत् है।

(ङ)''**गवां समूहो गोत्रा, गोसमूहोऽस्यामस्तीति गोत्रा**''[६] कि गायों का समूह गोत्र कहा जाता है, गोसमूह वाली होने से यह पृथ्वी 'गोत्रा' नाम से अभिहित होती है। इस निर्वचन का पूर्वभाग पाणिनीय व्याकरण सम्मत है।[७] परन्तु पाणिनीय व्याकरण निश्चित रूप से 'गोत्र' पृथ्वी अर्थ में निष्पन्न नहीं करता है। वह केवल '**गवां समूहो गोत्रा**' मात्र इतना ही कहता है।

आचार्य सायण 'गोत्र' का निर्वचन निम्न देते हैं:-''**गामुदकं रश्मिभिराहतं वर्षास्वृतिषु त्रायन्ते पालयन्तीति गोत्रा मेघाः**''[८] कि 'गोत्र' पद में 'गो' का आशय 'उदक' है। वर्षा ऋतु में सूर्यरश्मियों द्वारा आहृत उदक का पालन करने के कारण मेघ 'गोत्र' कहलाते हैं। इस पक्ष में 'गो' पूर्वपद में रखकर 'त्रै' धातु से 'गोत्र' पद उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गोत्र' पद को गोष्ठ, गोसमूह प्रभृति का वाचक नामपद मानता है। उसके

---

१ निघ० १.१.२१.
२ निघ०वृ०, १.१.२१.
३ निघ०वृ०, १.१.२१.
४ निघ०वृ०, १.१.२१.
५ निघ०वृ०, १.१.२१.
६ निघ०वृ०, १.१.२१.
७ पाणिनि, अष्टा०, ४.२.५१.
८ सायण, ऋ० ३.४३.७.

अनुसार उक्त पद का मूल 'गो' है।[१] मोनियर विलियम्स 'गो+'त्रै' धातु से 'गोत्र' पद को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'गोत्र' शब्द गायों के निवास या आश्रय स्थान के लिये प्रयुक्त हुआ है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची ने भी 'गो' को 'गोत्र' का मूल माना है, लेकिन यहाँ 'त्र' धातु का भाग न होकर प्रत्यय है।[३]

वैदिक साहित्य में 'गोत्र' पद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। गृत्समद ऋषि कहते हैं कि जब मेघों ने वर्षा की, तब अङ्गिरस् ने गायों के गोत्र (गौशाला) को ऊपर बनाया।[४] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि गोपति (इन्द्र) गायाों के गोत्र (गायों के ठहरने या चरने का स्थान) को बढ़ाओ।[५] एक अन्य मन्त्र में विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि इन्द्र कृष्टी (कृषक) की प्रसन्नता के लिये वृष्टि करते हैं और उसीके लिये पशुओं के चरागाह को खोलते हैं।[६] वामदेव ऋषि का कथन है कि अङ्गिरसों (पवनों) से स्तुत इन्द्र भूमि को छिन्न-भिन्न करता हुआ अपने बल का आदर कराता है।[७] भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि जब पर्वत के शिखर पर उषा विराजमान होती है, तब अङ्गिरस् (पवन) पशुओं की भूमि की स्तुति करते हैं।[८] अजा पृश्नि ऋषि का कथन है कि पवमान सोम नृचक्ष और विचक्षण है, उसने अङ्गिरसों के लिये गोत्र के द्वार उद्घाटित किये।[९] बृहद्दिव आथर्वण ऋषि कहते हैं कि अपना राजा इन्द्र महान् गोत्र का स्वामी है तथा वह समृद्धि के सम्पूर्ण द्वारों को खोलता है।[१०] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि गातुवित् (भूगर्भवित्) ने तीनों प्रकार के दुःखों का नाश करने के लिये गोत्र को अङ्गिरसों (पवनों) के लिये खोला।[११]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'गोत्र' पद जिन मन्त्रों में आया है, वहाँ 'गो' और 'अङ्गिरस्' इन दो पदों का प्रायः प्रयोग हुआ है। इससे यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि 'गोत्र' के साथ इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ब्राह्मणग्रन्थ 'अङ्गिरस्' को वायु अर्थ का अभिधायक मानते हैं। सम्भवतः, यहाँ यह 'गोत्र' के साथ 'वायु' अर्थ का वाचक है। इस प्रकार वह पृथ्वी 'गोत्र' है, जहाँ उन्मुक्त वातावरण में गो समुदाय रहता है, एक प्रकार से बन्धनमुक्त गायों के चरने व ठहरने का स्थान गोत्र है। यह ऐसी भूमि है, जहाँ पशुओं के चरने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इस प्रकार यह स्वीकार किया जा सकता है कि 'गोत्र' वह भूमि' है, जो गायों के लिये संरक्षित की जाती थी। 'गोत्र' पद के उक्त अर्थ को दृष्टि में रखते

---

१ वै०पद०को०, पृ० १२५६.

२ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३६४. ऋ० ८.५०.१०.

३ ऋ०वै०पदसूची, पृ० १९२.

४ ऋ० २.२३.१८. ''तव श्रिये व्यजिहीत पर्वतो गवां गोत्रमुदसृजो यदगिरः।''

५ ऋ० ३.३०.२१. ''आ नो गोत्रा दर्दृहि गोपतेः गाः समस्मभ्यं सनयो यन्तु वाजाः।''

६ ऋ० ३.४३.७. ''यस्य मदे च्यावयसि प्र कृष्टीर्यस्य मदे अप गोत्रा ववर्थ।''

७ ऋ० ४.१६.८. ''स नो नेता वाजमादर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः।''

८ ऋ० ६.६५.५. ''इदा हि त उषो अद्रिसानो गोत्रा गवामङ्गिरसो गृणन्ति।''

९ ऋ० ९.८६.२३. ''त्वं नृचक्षा अभवो विचक्षण सोमं गोत्रमङ्गिरोभ्योऽवृणोरप।''

१० ऋ० १०.१२०.८. ''महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजो दुरश्च विश्वा अवृणोदप स्वाः।''

११ ऋ० १.५१.३. ''त्वङ्गोत्रमङ्गिरोभ्योऽवृणोदपोतात्रये शतदुरेषु गातुवित्।''

हुए देवराजयज्वन् के तृतीय और पञ्चम निर्वचन को वेद में प्रतिपादित 'गोत्र' अर्थ के अनुकूल माना जा सकता है।

वैदिक साहित्य में गो वाचक नामपदों में अर्थभिन्नता

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के प्रथम गण में निघण्टुकार ने इक्कीस पृथिवीवाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	गो पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१.	वेद अनेकशः पृथिवी को 'भूर्णिः' नाम से अभिहित करता है, इससे पृथिवी के गतिशील होने की पुष्टि होती है। इस प्रकार वेद में गतिशील होने के कारण पृथिवी को 'गौ' नाम से अभिहित किया गया है।	गतिशील होने के कारण पृथिवी को 'गम्' या 'गा' धातु से व्युत्पन्न मानाा जा सकता है।
२.	ग्मा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.२.	वेद सर्वत्र द्यावापृथिवी के युग्म के समान 'ग्मः' और 'दिवः' के युग्म का प्रयोग करता है। इस प्रकार देवता के आलोक से आलोकित पृथ्वी वेद में 'ग्मा' नाम से अभिहित हुई है।	'ग्मा' पद 'गम्' धातु से व्युत्पन्न प्रतीत होता है।
३.	ज्मा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.३.	जिसमें प्राणी नानाविध कर्म में संलग्न रहते हैं, ऐसी पृथिवी वेद की दृष्टि में 'ज्मा' है। इसके अतिरिक्त ऋषि इसे सीमित मानता है।	गत्यर्थक 'जम्' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना है।
४.	क्ष्मा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.४.	वेद में 'क्ष्मा' ऐसी पृथिवी के रूप में चित्रित है, जो प्रजापति आदित्य रेत अथवा इन्द्र के उदक से सिञ्चित है तथा जो वनस्पतियों को दृढ़ता से धारण करती है।	उक्त गुणों वाली पृथिवी निवासयोग्य है, अतः, निवासार्थक 'क्षि' धातु से व्युत्पन्न करना उचित है।
५.	क्षा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.५.	'क्षा' वह पृथ्वी है, जिस पर उदक सङ्घात व्याप्त है, जहाँ पर कभी वृष्टि का अभाव नहीं होता और जो कभी भी अग्नि के कोप से वनस्पतिरहित नहीं होती। इस प्रकार अभावरहित होने से निवासयोग्य पृथ्वी 'क्षा' है।	निवासयोग्य होने योग्य होने के कारण 'क्षा' को 'क्षि' निवासे धातु से व्युत्पन्न किया जाना उचित है।
६.	क्षमा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.६.	मनुष्य के लिये आवश्यक सुखसुविधाओं से सम्पन्न, सुरिक्षत एवं वंशपरम्परा के पालन के अनुकूल पृथिवी वेद की दृष्टि में 'क्षमा' है।	रूप की दृष्टि से 'क्षम्' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से यह व्युत्पत्ति अस्वीकार्य है।
७.	क्षोणिः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.७.	वेद की दृष्टि में वह पृथिवी 'क्षोणिः' है, जिसमें वृद्धावस्था तक रहकर प्राणी उपभोग करते हैं, इस पर न क्रन्दन है और न रुदन। इस पर मरुत् (मनुष्य) जलधाराओं और सूर्य की शक्ति को सम्यक् धारण करते हैं।	क्षयण योग्य होने से यह पृथिवी 'क्षोणि' है। अतः, यह पद 'क्षि' धातुमूलक प्रतीत होता है।

८.	क्षिति: पृथिवीवाचक निघ०,१.१.८.	वेद में वह पृथिवी क्षिति है, जिस पर मित्रावरुण (सूर्य और वायु) विजय दुन्दुभि बजाते हुए आते हैं। यहाँ प्रजा पुष्टि को तथा पापी पाप से मुक्त हो जाते हैं।	निवासयोग्य होने से पृथ्वी 'क्षिति', कहलाती है। अत:, निवासार्थक 'क्षि' धातु 'क्षिति:' पद का मूल है।
९.	अवनि: पृथिवीवाचक निघ०,१.१.९.	अन्नादि की प्रचुरमात्रा होने से प्राणी का जीवन इस पर सुरक्षित है, यह नीड के समान समस्त प्राणियों की रक्षा करती है।	रक्षणार्थक 'अव्' धातु से 'अवनि:' रूप उपपन्न होता है।
१०.	उर्वी पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१०.	वेद में वह पृथ्वी 'उर्वी' है, जिसके उच्च प्रदेशों में सूर्य अपने अंश को स्थापित करता है और यह विशालता से सबको अपने अन्दर धारण करती है। इसके अन्तस् में रत्नादि निहित रहते हैं।	विशालता के कारण पृथ्वी को 'उर्वी' कहा जाता है। अत:, 'ऊर्ण्' से 'उरु' और उससे 'उर्वी' रूप सिद्ध होता है।
११.	पृथिवी पृथिवीवाचक निघ०,१.१.११.	वेद पृथ्वी की प्रथम विशेषता विस्तृत होना मानता है। जिसमें अनेक पुर समाहित हो सकें, वह पृथ्वी है। इसके अतिरिक्त वेद पृथ्वी की एक विशेषता उसका गहरी होना मानता है। इसी कारण पृथ्वी रत्नादि तथा अन्य सम्पदा को धारण कर पाती है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'पृथ्वी' पद का मूल 'प्रथ्' धातु को माना जा सकता है।
१२.	मही पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१२.	वेद में इळा और सरस्वती के साथ 'मही' का प्राय: उल्लेख हुआ है। मातृभाषा, मातृसंस्कृति और मातृभूमि- इस प्रकार ये तीन देवियाँ हैं। वेद मातृभूमि को 'मही' नाम से अभिहित करता है।	महनीय होने के कारण मातृभूमि को 'मही' कहा जाता है। अत:, 'मह्' धातु को 'मही' पद का मूल माना जा सकता है।
१३.	रिप: पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१३.	वेद गतिशील पृथ्वी को 'रिप:' नाम से अभिहित करता है। ऋषि इसकी गतिशीलता का प्रतिपादन करने के लिये इसके साथ 'वे:' का प्रयोग करता है। पर वेद में 'रिप्' धातु लीपने अर्थ में प्रयुक्त है।	लीपने अर्थ वाली 'रिप्' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना है। लीपी जाने के कारण पृथ्वी को सम्भवत: 'रिप:' कहा गया है।
१४.	अदिति: पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१४.	वेद में अदिति का अनेक रूपों में उल्लेख हुआ है, पर पृथ्वी के सन्दर्भ में इसका प्राय: माता के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार माता के समान समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली पृथ्वी 'अदिति' है।	अपने में सब कुछ समाहृत कर लेने के कारण पृथ्वी को 'अदिति' कहा जाता है। अत:, 'आ+'दा' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है।
१५.	इला, इळा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१५.	वेद में जो मनुष्य को सभी आवश्यक उपकरण उपलब्ध कराती है, वह पृथ्वी 'इला' है। इसके अतिरिक्त इसका उपयोग देवता भी करते हैं। इस प्रकार यज्ञभूमि को वेद 'इडा' या 'इला' नाम से सम्बोधित करता है।	स्तुति किये जाने से यज्ञवेदि को 'इला' या 'इडा' कहा जाता है। अत:, स्तुत्यर्थक 'इड्' धातु से व्युत्पन्न है।
१६.	निर्ऋति: पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१६.	जिसमें वृद्धावस्था पूर्व शरीर का विसर्जन नहीं होता तथा सुन्दर स्वादिष्ठ भोजन भोग के लिये प्राप्त होते हैं, वह पृथिवी वेद में 'निर्ऋति:' है। भोग और अपवर्ग इसकी अपनी विशेषतायें हैं।	प्राणियों के लिये रमणीय स्थान होने से यह पृथिवी निर्ऋति:' है। अत:, 'निर्+'रम्' को 'निर्ऋति:' का मूल मान सकते हैं।

१७.	भूः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१७.	वेद में 'भू' वह पृथ्वी है, जिससे भू से अग्नि को निमन्त्रण प्राप्त होते रहते हैं एवं इन्द्र इसका सम्राट् है। भू का विकास भूति के रूप में होता है और भूति ही प्रजापति है। भूतिरूप प्रजापति के प्रजनन कार्य को सम्पन्न करने के कारण पृथ्वी को भूः' कहा गया है।	व्यक्त अस्तित्व का आधार होने से यह 'भू' है, अतः, निर्विवादरूप से यह पद 'भू' धातुमूलक है।
१८.	भूमिः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१८.	जो समतल, विस्तृत, अपारा और जिससे नाना प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति होती है तथा जिसमें हल चलता हो। इस प्रकार माता के समान जिस पर चर-अचर का अस्तित्व निर्भर हो, वेद की दृष्टि में वह 'भूमि' है।	सम्पूर्ण प्राणी जगत् के अस्तित्व का आधार होने से पृथ्वी 'भूमिः' है। अतः, 'भू' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन प्रतीत होता है।
१९.	पूषा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१९.	वेद में पूषा वह पृथिवी है, जो नगरों को धारण एवं पोषण करती है, यह सेवन करने योग्य धन प्रदान करती है। अतः, प्राणियों को शारीरिक और आर्थिक पुष्टि प्रदान करने के कारण इसे पूषा नाम से अभिहित किया गया है।	पोषक होने से पृथ्वी को 'पूषा' कहा जाता है। अतः, 'पुष्' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है।
२०.	गातुः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.२०.	वेद में 'गातु' पद का मार्ग और पृथिवी दोनों अर्थों में उपयोग हुआ है। वह पृथिवी 'गातु' है, जो विद्वानों के उपयोग में लायी जाती है तथा अमृतत्व के उपायभूत स्तोत्र गाये जाते हैं। वह मार्ग 'गातु' है, जिसपर चलकर प्राणी ऊपर जाता है तथा जो बन्धन को खोलता एवं शान्ति प्रदान करता है।	स्तुति अर्थात् ज्ञान के मार्ग की ओर ले जाने वाला स्थान या मार्ग वेद की दृष्टि में गातु है। अतः, 'गा' स्तुतौ' धातु को उक्तपद को व्युत्पन्न करना उचित है।
२१.	गोत्रा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.२१.	वेद में वह पृथ्वी 'गोत्र' है, जहाँ उन्मुक्त वातावरण में गो समुदाय रहता है, एक प्रकार से बन्धनमुक्त गायों के चरने व ठहरने का स्थान गोत्र है। इस प्रकार यह स्वीकार किया जा सकता है कि 'गोत्र' वह भूमि' है, जो गायों के लिये संरक्षित की जाती थी।	घास और जल से रक्षा करने के कारण पृथ्वी को 'गोत्रा' कहा गया है। इसलिये 'गो+'त्रै' धातु 'गोत्रा पद का मूल प्रतीत होती है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि पृथ्वीवाचक गण में कुछ पद पृथ्वी की चरित्रगत विशेषता का प्रतिपादन करते हैं और कुछ केवल सीमित सन्दर्भ में प्रयुक्त हुए हैं। लेकिन निघण्टुकार ने उक्त गण में आदर्श शैली का निर्वाह किया है। यह गण अन्य गणों की अपेक्षा निर्दुष्ट एवं अन्य प्रकार के वर्ग-मिश्रण से रहित है।

हिरण्यवाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के द्वितीय गण में निघण्टुकार ने १५ हिरण्यवाचक नामपदों का परिगणन किया है।

१. हेम

निघण्टुकोष के हिरण्यवाचक नामपदों में सर्वप्रथम 'हेम' पद परिगणित है। निघण्टुकोष में हिरण्य के अतिरिक्त उक्तपद का उदक अर्थ में और परिगणन हुआ है।[१] 'हेम' पद का निर्वचन करते हुए आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं:-''**हिनोति गच्छति सुखं पुरुष:**''[२] कि इससे मनुष्य सुख पाता है, अत:, हिरण्य को 'हेम' कहा जाता है।

(ख)''**गम्यते वा तदर्थिभि:**''[३] कि इच्छुक लोगों के हाथों में चलता रहता है अर्थात् वस्तु प्राप्त करने के लिये अभिलाषी जन इसको बाजार में चलाते हैं, इसलिये हिरण्य को 'हेम' कहते हैं।

(ग)''**गच्छति वा कटकादिरूपां विकृतिम्**''[४] कि यह कटक, कुण्डल आदि रूपों में परिवर्तित होता रहता है, अत: हिरण्य को 'हेम' कहते हैं।

(घ)''**हिनोति वाणिज्यादिना प्रतिदिनं वर्द्धते**''[५] कि यह वाणिज्य आदि कर्मों से वृद्धि को प्राप्त होता है, इसलिये हिरण्य को 'हेम' कहते हैं।

(ङ)''**ताम्राद्युपरिलेपनाद्वर्द्धते-इति सुबोधिनीकार:**''[६] कि ताम्र आदि के ऊपर लेपन करने से यह बढ़ता है, अत:, हिरण्य को 'हेम' कहते हैं। उपर्युक्त सभी पक्षों में 'हि' गतौ वृद्धौ च' धातु से औणादिक 'मनिन्' प्रत्यय होकर निपातन नियम से 'हेम' रूप सिद्ध होता है।

(च)''**यद्वा, दधाते:। हितमापदि निहितं वा भूम्यादौ**''[७] कि यह आपत्काल में हितकारी होता है अर्थात् यह एक ऐसी सम्पत्ति है, इसका मूल्य, चाहे जहाँ, प्राप्त किया जा सकता है, अथवा यह भूमि आदि के अन्दर छिपाकर रखा जाता है, अत:, हिरण्य को 'हेम' कहते हैं। इस पक्ष में धारण-पोषण अर्थ वाली 'धा' धातु के स्थान पर निपातन से 'हि' आदेश होकर 'हेम' पद व्युत्पन्न होता है।

आचार्य दुर्ग एवं स्कन्दस्वामी 'हेम' पद का निम्न निर्वचन देते हैं:-''**हितं ममेदमिति सर्वं**

---

१ निघ०१.२.१.

२ निघ०वृ०, १.२.१.

३ निघ०वृ०, १.२.१.

४ निघ०वृ०, १.२.१.

५ निघ०वृ०, १.२.१.

६ निघ०वृ०, १.२.१.

७ निघ०वृ०, १.२.१.

एवैतन्मन्यते तस्माद्धेम''[१] कि सभी यह मानते हैं कि मेरा इसमें हित है, इसलिये हिरण्य 'हेम' कहलाता है। इस पक्ष में 'हित+मम' से 'हेम' रूप निष्पन्न होता है। यह निर्वचन नितान्त काल्पनिक है, सम्भवतः, इस कारण देवराजयज्वन् ने इसे प्रस्तुत नहीं किया है, परन्तु लोकसत्य इससे उद्घाटित हो रहा है, अतः, यह स्वीकार किया जा सकता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष तीन प्रकार के 'हेमन्' पदों का उल्लेख करता है। प्रथम प्रकार का 'हेमन्' पद प्रवाहवाचक भावपद, द्वितीय प्रकार का 'हेमन्' पद ऋतुविशेष का वाचक तथा तृतीय प्रकार का 'हेमन्' पद सुवर्ण वाचक है। तृतीय प्रकार के 'हेमन्' पद का मूल 'हि' गतौ' धातु है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची में 'हेम' को अव्युत्पन्न रूप में प्रदर्शित किया गया है।[३] इसी प्रकार मोनियर विलियम्स भी इसकी व्युत्पत्ति सन्दिग्ध मानते हैं। उनके अनुसार महाभारत और मनुस्मृति में यह पद सुवर्ण, कुवलयानन्द में सुवर्णनिर्मित आभूषण तथा कथासरित्सागर में सुवर्ण खण्ड के अर्थ में आया है।[४]

वैदिक साहित्य में 'हेम' का प्रयोग बहुत अल्प हुआ है। ऋग्वेद में मात्र इसका दो बार उल्लेख प्राप्त होता है। एक मन्त्र में वामदेव ऋषि अग्निदेव से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार अपने घर का अश्व नदी आदि से पार ले जाता है, उसी प्रकार हेम सदृश अग्नि को धारण एवं उसमें हवि का दान देने वाले यजमान को अग्निदेव दरिद्रता आदि पाप से पार ले जायें।[५] यहाँ पर भी स्पष्टरूप से 'हेम' प्रज्वलित अग्नि के वर्ण वाला प्रतीत होता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि हेम शब्द उदक का वाचक नहीं है। वसिष्ठ ऋषि पवमानदेवता के प्रकरण में कहते हैं कि सुवर्ण आदि आभूषणों से पवित्र होता हुआ, प्रिय स्तुतियों से दिव्यभाव वाला देवताओं के सम्पर्क से रस को प्राप्त करता है।[६] यहाँ स्पष्टरूप से हेम पद सुवर्ण का वाचक है।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक ऋषि स्पष्टरूप से हिरण्य के रूप को अग्नि के समान उज्ज्वल तथा दूसरे स्थान पर हेम (हिरण्य) को पवित्र करने वाला बतला रहा है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में वह हिरण्य 'हेम' है, जिसके सम्पर्क में प्राणी पवित्र हो जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर 'हि' धातु को अर्थ और रूप की दृष्टि से 'हेम' शब्द का मूल माना जा सकता है। उणादिकोष में 'हेमन्' शब्द को निपातन से सिद्ध किया गया है, लेकिन धातु को स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया गया है।[७] इससे यह ज्ञात होता है कि उणादिकोषकार के मत में 'हेमन्' शब्द का मूल अस्पष्ट और सन्दिग्ध है।

---

१ दुर्गवृत्ति,निरु० २.१०. पृ० १६०. स्कन्दस्वामी, भा०, २, पृ० ६९.

२ वै०पद०को०, पृ० ३६०२.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ६१४.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १३०४.

५ ऋ० ४.२.८. ''अश्वो न स्वे दमे आ हेम्यावन्तमंहसः पीपरो दाश्वांसम्।''

६ ऋ० ९.९७.१. ''अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो देवो देवेभिः समपृक्त रसम्।''

७ उणा०, ४.१५२.

२. चन्द्रम्

निघण्टुकोष के हिरण्यवाचक नामपदों में 'चन्द्रम्' पद पठित है।[१] आचार्य यास्क 'चन्द्र' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः**''[२] कि 'चन्द्र' कान्ति अर्थवाली 'चन्द्' धातु से निष्पन्न होता है। नित्य प्रिय लगने के कारण यह 'चन्द्र' कहलाता है।

(ख)''**चारु द्रमति**''[३] कि यह शोभा पूर्वक चलता है, अतः, यह चन्द्र कहलाता है। इस पक्ष में 'चारु' पूर्वक 'द्रम्' धातु से 'चन्द्र' शब्द निष्पन्न होता है।

(ग)''**चिरं द्रमति**''[४] कि यह शुक्लपक्ष में देर तक उदित रहता है, इसलिये यह 'चन्द्र' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'चिर+'द्रम्' धातु से 'चिरन्द्र' और उससे 'चन्द्र' पद व्युत्पन्न होता है।

(घ)''**चमेर्वा पूर्वम्**''[५] कि कृष्णपक्ष में सूर्य द्वारा निरन्तर इसकी कान्ति पी जाती है, अतः, यह 'चन्द्र' कहा जाता है। इस पक्ष में 'चम्' और 'द्रम्' इन दोनों धातुओं के संयोग से 'चन्द्र' रूप निष्पन्न होता है। एक अन्य स्थान पर यास्क 'चन्द्र' का निर्वचन '**चायनीयम्**' करते हैं[६] अर्थात् पूजनीय होने के कारण यह 'चन्द्र' कहा जाता है। यहाँ यास्क 'चाय्' धातु से 'चन्द्र' पद को निष्पन्न कर रहे हैं।

आचार्य देवराजयज्वन् 'चन्द्र' का निम्न निर्वचन प्रस्तुत करते हैं:-''**चन्दयति आह्लादयति तद्वत् दीप्यते वा स्वयं तैजसत्वात्**''[७] कि यह प्रसन्न कर देता है अथवा यह स्वतेज से प्रकाशित होता है, अतः, हिरण्य को 'चन्द्र' कहते हैं। इस पक्ष में 'चदि' आह्लादने दीप्तौ च'' धातु से औणादिक 'रक्' प्रत्यय होकर 'चन्द्र' रूप सिद्ध होता है।

(ख)''**दीपयति धारयतृन्, दीप्यतेऽनेन धारयितेति वा**''[८] कि यह धारण करने वाले को अपनी आभा से दीप्त कर देता है या धारयिता से इससे दीप्त हो जाता है। अतः, हिरण्य को 'चन्द्र' कहते हैं। इस पक्ष में णिजन्त 'चन्द' धातु से 'चन्द्र' रूप उपपन्न होता है।

(ग)''**काम्यते सर्वैः-इति चन्द्रम्**''[९] कि सब लोग इसे चाहते हैं, इसलिये हिरण्य को 'चन्द्र' कहा जाता है। इस पक्ष में कान्तिकर्मा 'चन्द्' धातु से 'चन्द्र' पद सिद्ध होता है। आचार्य दुर्ग ने भी कुछ इसी प्रकार का निर्वचन प्रस्तुत किया है:-''**चन्द्रं चन्दतेः कान्तिकर्मणः। सर्वं ह्येतत्कामयते**''[१०] कि 'चन्द्र' पद कान्तिकर्मा

---

१ निघ० १.२.२.
२ निरु० ११.५.
३ निरु० ११.५.
४ निरु० ११.५.
५ निरु० ११.५.
६ निरु० १२.१८.
७ निघ०वृ०, १.२.२.
८ निघ०वृ०, १.१.२.
९ निघ०वृ०, १.१.२.
१० दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, २.१०. पृ० १६०.

'चन्द्' धातु से व्युत्पन्न होता है। क्योंकि सब लोग इसे चाहते हैं, अतः, हिरण्य 'चन्द्र' नाम से अभिहित होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'चन्द् कान्तौ' धातुमूलक 'चन्द्र' पद को भानु, उषस्, अप् प्रभृति का वाचक विशेषण तथा नामपद मानता है।[१] मोनियर विलियम्स, ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा सायण के अनुसार 'चन्द्र' का मूल 'चन्द्' धातु है।[२] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में 'quand' चमकने अर्थ में तथा लैटिन में 'candeo' चमकने अर्थ में है। अतः, वे यास्क के प्रथम निर्वचन को तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने योग्य मानते हैं, जबकि शेष दो निर्वचनों को वे सङ्कुनित वर्ग में रखते हैं।[३]

वैदिक साहित्य में 'चन्द्र' पद का बहुत प्रयोग हुआ है। वेद का ऋषि 'चन्द्र' को 'सुरुच' (बहुत अच्छा लगने वाला) बताता है।[४] कहीं 'चन्द्र' को चित्र-चित्र (विचित्र) कहा गया है।[५] कहीं 'चन्द्र' का 'चरथ' अर्थात् व्यवहार चलाने वाले के रूप में उल्लेख किया गया है।[६] कहीं मनुष्य के मन में बसने वाले इस 'चन्द्र' को दुःख दूर करने वाला माना गया है।[७] कहीं शरीर को अलङ्कृत करने वाले के रूप में इसका वर्णन हुआ है।[८]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिरण्य के 'चन्द्र' नामकरण के मूल में सम्भवतः, यह कारण है कि वह कान्तिमय होने से 'चर्षणिप्राः' है अर्थात् मनुष्यों के तन-मन में बसने वाला तथा उसका रूप आह्लादक है। अतः, 'चन्द्र' के उपर्युक्त सभी निर्वचन समीचीन माने जा सकते हैं। एक मन्त्र में ऋषि दक्षिणा में अश्व, गौ, चन्द्र, और हिरण्य देने का निर्देश देता है।[९] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हिरण्य और चन्द्र पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं। सम्भवतः, वर्तमान में रजत के लिये प्रयुक्त होने वाला 'चाँदी' शब्द इसी 'चन्द्र' से विकसित हुआ है। इसके अतिरिक्त चन्द्र, चन्द्रमस्, चाँदी और चाँदनी में ध्वनिरूप साम्य भी है। चन्द्र की कौमुदी से साम्य रखे जाने के कारण रजत का नाम 'चन्द्र' हुआ है। चाँदी का चन्द्र के साथ न केवल ध्वनिसाम्य है, अपितु रजत धातु के साथ उसका रूपसाम्य भी है। इस आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि 'चन्द्र' वस्तुतः, हिरण्य न होकर रजत है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए आह्लाद अर्थवाली 'चदि' धातु को 'चन्द्र' पद का मूल मान सकते हैं।

---

१ वै०पद०को०, पृ० १३०८.

२ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३८६. ऋ०वै०पद०, पृ० १९९. माध० धातु०, १.६८. पृ० ५४.

३ दि एटीमोलीजीज ऑफ यास्क, पृ० ४४, ९६.

४ ऋ० २.२.४. "तमुक्षमाणं रजसि स्व आ दमे चन्द्रमिव सुरुचं ह्वार आ दधुः।"

५ ऋ० ६.६.७. "स चित्रचित्रं चितयन्तम्............चन्द्रं रयिं पुरुवीरं बृहन्तं चन्द......।"

६ ऋ० ३.३१.५. "महि क्षेत्रं पुरुश्चन्द्रं विविद्वानादित्सखिभ्यश्चरथं समैरत्।"

७ ऋ० ४.२.१३. "रत्नं भर शशमानाय घृष्वे पृथुश्चन्द्रमसे चर्षणिप्राः।"

८ ऋ० ४.२३.९. "सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।"

९ ऋ० १०.१०७.७. "दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम्।"

३. रुक्मम्

निघण्टुकोष के हिरण्यवाचक नामपदों में 'रुक्मम्' पद पठित है।[१] आचार्य यास्क 'रुक्म' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सुरुक्मे सुरोचने**"[२] सुरुक्म का तात्पर्य है कि सुन्दर चमकने वाले। इस पक्ष में 'सु+'रुच्' धातु से 'सुरुक्म' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् के अनुसार 'रुक्म' का निर्वचन निम्न है:-"**रोचते तदतिशयेन दीप्यते तेन तदिति च रुक्मम्**"[३] कि वह अतिशय अच्छा लगता है और उससे वह (धारणकर्ता) दीप्त हो जाता है। अतः, हिरण्य को 'रुक्म' कहते हैं। इस पक्ष में 'रुच' दीप्तावभिप्रीतौ च" धातु से 'मक्' प्रत्यय होकर 'रुक्म' रूप सिद्ध होता है।[४] आचार्य दुर्ग भी कुछ इसी प्रकार का निर्वचन देते हैं:-"**रुक्मं रोचतेर्ज्वलत्यर्थस्य। तद्धि रोचिष्णुर्भवति**"[५] आचार्य स्कन्दस्वामी का भी यही मत है।[६]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'रुक्म' पद का मूल 'रुच्' धातु को मानता है। उसके अनुसार यह पद दीप्यमान अर्थ का विशेषण तथा स्वर्णप्रभृति वाचक नामपद है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची से उक्त निर्वचन की पुष्टि हो जाती है।[८] आचार्य सायण भी इसी मत को मानने वाले हैं।[९] मोनियर विलियम्स उपर्युक्त निर्वचन का समर्थन करते हुए 'रुक्म' का अर्थ ऋग्वेद तथा अवेस्ता में सुवर्ण और सुवर्ण हार मानते हैं।[१०]

वैदिक साहित्य में 'रुक्म' पद का पर्याप्त उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में कक्षीवान् ऋषि अश्विनीदेवताओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि शोभा के लिये धारण किये जाने वाले रुक्म के समान अश्विनीदेवों ने निखात को देखा और वन्दन करने के लिये उसको उससे बाहर निकाल लिया।[११] उक्त मन्त्र में 'रुक्म' को शोभा के लिये धारणीय बतलाया है। गोतम नोधा ऋषि मरुद्गणों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि रूप की शोभा के लिये मरुद्गण नानाप्रकार के रूप को प्रकट करने में समर्थ आभरणों से अपने शरीरों को अलङ्कृत करते हैं। वे वक्षःस्थल पर रुक्म अर्थात् सुशोभित होने वाले हारों को धारण करते हैं।[१२] उक्त मन्त्र के व्याख्यान में 'रुक्म'

---

१ निघ० १.२.३.
२ निरु० ८.११.
३ निघ०वृ०, १.२.३.
४ धातु०, १.७३२. उणा०, १.४६. निघ०वृ०, १.२.३.
५ दुर्ग, निरु० वृ०, २.१०.
६ स्कन्द०,भा०, २. निरु० २.१०. पृ० ६९.
७ वै०पद०को०, पृ० २६७१.
८ ऋ०वै०पद०, पृ० ४४७.
९ माध०धातु०, १.७३२. पृ० १३०.
१० संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८८२.
११ ऋ० १.११७.५. "शुभे रुक्मं न दर्शतं निखातमुदूपथुरश्विना वन्दनाय।"
१२ ऋ० १.६४.४; "चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे व्यञ्जते वक्षःसु रुक्माँ अधि येतिरे शुभे।"

का अर्थ सायण वक्षःस्थल पर धारण करने वाले हार लेते हैं।[१] इस प्रकार यह 'रुक्म' विशेष रूप से वक्षःस्थल पर धारण किया जाने वाला आभूषण प्रतीत होता है। अगस्त्य ऋषि मित्रावरुणदेवों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ये मरुत् अर्थात् मनुष्य भुजाओं और वक्षःस्थल पर कल्याणकर, चमकने वाले रुक्मों को और कन्धों पर श्वेत वर्ण की माला धारण करते हैं। इस प्रकार मरुत् श्री को विविध प्रकार से धारण करते हैं।[२] श्यावाश्व ऋषि मरुतों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मरुतों के कन्धों पर ऋष्टि, पादों में खादि (कटक), वक्षःस्थल पर रुक्म (हार) इस प्रकार के मरुत् शुभ रथ पर विराजमान हैं।[३] सोभरि ऋषि कहते हैं कि इन मरुतों का रूप अभिव्यक्त करने वाला आभूषण रुक्म (हार) है।[४] क्वचित् 'रुक्म' को बाहु और वक्षःस्थल पर धारण करने वाला माना है। एक स्थान पर तो स्पष्टरूप से (रुक्म) सुवर्ण की माला का उल्लेख प्राप्त होता है।[५]

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि निःसन्दिग्ध रूप से 'रुक्म' का मूल 'रुच्' धातु है तथा यह 'रुक्म' विशेष रूप से वक्षःस्थल पर धारण किया जाने वाले आभूषण है और इसका गौण प्रयोग भुजा में धारण किये जाने वाले आभूषण के लिये भी होता रहा है। ये आभूषण सुवर्ण के होते थे, यह 'रुक्म' की रोचनशीलता से स्पष्ट है। इस प्रकार हम सङ्क्षेप में कह सकते हैं कि यह एक वक्षःस्थल की शोभा बढ़ाने वाला आभूषण है। निघण्टुकोष में 'रोचते' क्रियापद 'ज्वलतिकर्मा क्रियापदों में पठित है।[६] इस धातु से व्युत्पन्न करना अधिक युक्तिसङ्गत है, इसका कारण यह है कि हिरण्य का रूप जलती हुई अग्नि के समान होता है। सम्भवतः, इसी उद्देश्य से निघण्टु में इसका परिगणन किया गया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद का ऋषि भी 'रुक्म' का निर्वचन 'रोचतें' क्रिया से करने का सङ्केत देता प्रतीत होता है।[७]

४. अयः

निघण्टुकोष के हिरण्यवाचक नामपदों में 'अयः' पद समाम्नात है।[८] शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार 'अयस्' का निर्वचन निम्न है:-"**अश्मनोऽयः (प्रजापतिरसृजत) तस्मादश्मनोऽयो धमन्ति। अयसो हिरण्यं तस्मादयो बहुध्मातः हिरण्यसङ्काशमिवैव भवति**"[९] कि अश्मन् से प्रजापति ने अयस् का निर्माण किया, इसकारण अग्निसंयोग द्वारा अश्मन् से अयस् को निकालते हैं और इस अयस् से हिरण्य का निर्माण होता है। यह अयस् बहुत देर तक अग्नि में रहने पर हिरण्य जैसा हो जाता है। ब्राह्मणग्रन्थ के कथन का आशय यह है

---

१ सायणभाष्य, ऋ० १.६४.४.

२ ऋ० १.१६६.१०. "भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु वक्षःसु रुक्मा रभसासो अञ्जयः। अंसेष्वेताः पविषु क्षुरा अधि वयो न पक्षान्व्यनु श्रियो धिरे।"

३ ऋ० ५.५४.११. "अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथे शुभः।"

४ ऋ० ८.२०.११. "समानमञ्ज्येषां वि भ्राजन्ते रुक्मासो अधि बाहुषु। दविद्युतत्यृष्टयः।"

५ ऋ० ५.५३.४.

६ निघ० १.१६.८.

७ ऋ० ४.१०.५, ६; ७.३.६.

८ निघ० १.२.४.

९ शत०ब्रा०, ६.१.३.५.

कि अश्मन् से अयस् और उससे हिरण्य का जन्म होता है। इस पक्ष में 'अश्मन्' से 'अयस्' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'अयस्' का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**एति गच्छति अङ्गुलीय- कादिरूपेण शरीरम्**''[१] कि यह अंगूठी आदि के रूप में शरीर को प्राप्त होता है, अतः, हिरण्य को 'अयः' कहते हैं।

(ख)''**ऋक्थक्रयसंविभादिना वा**''[२] कि क्रय-विक्रय में आता-जाता है, अतः, यह 'अयस्' कहलाता है।

(ग)''**पुरुषात्पुरुषान्तरं गच्छत्यनेन धर्मदानादिनेति वा**''[३] कि दानादि के कारण यह एक से दूसरे के पास जाता रहता है, इसलिये यह 'अयस्' कहा जाता है। उपर्युक्त पक्षों में 'इण्' गतौ' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'अयस्' रूप निष्पन्न होता है।[४] यह उणादिकोष सम्मत विधि है।[५]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अयः' पद को लोहधातु और उसके विकार का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[६] मोनियर विलियम्स 'अयस्' का मूल 'अय्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद लौह तथा लौह-आयुध के अर्थ में प्रयुक्त है।[७] आचार्य सायण भी 'अयः' पद को 'अय्' धातु से व्युत्पन्न मानते हैं।[८] परन्तु ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची में यह पद अव्युत्पन्न रूप में प्रदर्शित किया गया है।[९] आचार्य यास्क 'अयासः' पद का निर्वचन 'अयनाः' से करते हैं।[१०] यहाँ यह 'अयन' पद 'इण्' और 'अय्' दोनों से व्युत्पन्न हो सकता है, लेकिन डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा इसे 'इण्' धातुमूलक मानते हैं। उनकी दृष्टि में यह निर्वचन तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार किये जाने योग्य है।[११]

वैदिक साहित्य में 'अयस्' का व्यापक प्रयोग हुआ है, परन्तु हिरण्य के अर्थ में इसका प्रयोग विरल है। ऋग्वेद में दीर्घतमस् ऋषि इन्द्र को हिरण्य के शृङ्ग तथा अयस् के पैर वाला बतलाते हैं।[१२] यहाँ स्पष्टरूप से वैदिक ऋषि की दृष्टि में हिरण्य और अयस् भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। जैसाकि पूर्वोक्त शतपथ-ब्राह्मण का मत है, उसी प्रकार ऋग्वेद का ऋषि भी कहता है कि धमन क्रिया से सुकर्मा देवगण अयस् को सुरुच रूप में प्रकट

---

१ निघ०वृ०, १.२.४.

२ निघ०वृ०, १.२.४.

३ निघ०वृ०, १.२.४.

४ धातु०, २.३४. उणा०, ४.१९०. निघ०वृ०, १.२.४.

५ उणा०, ४.१९०.

६ वै०पद०को०, पृ० ४७१.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८५.

८ माध०धातु०, १.४७०. पृ० ९७.

९ ऋ०वै०पद०, पृ० ५२.

१० निरु० २.७.

११ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ६७.

१२ ऋ० १.१६३.९. ''हिरण्यशृङ्गोऽयो अस्य पादा मनोजवा अवर इन्द्र आसीत्।''

कर देते हैं।[१] इसीको और स्पष्ट करते हुए आत्रेय ऋषि कहते हैं कि हिरण्य से धुला हुआ अयस् है।[२] एक स्थान पर अयस् को घर्म से तप्त होकर बहने वाला बताया गया है।[३] एक अन्य स्थान पर मित्रावरुण को भी 'अय:शीर्ष' बताया गया है।[४] मित्र का वर्ण श्वेत है, जबकि वरुण का कृष्ण है।[५] अयस् अपने मूलरूप में वरुण है, क्योंकि उसने अपने रूप को आवृत कर रक्खा है।[६] और श्वेत (सुवर्ण) रूप में वह मित्र है, क्योंकि वह दु:खों से रक्षा करता है।[७] शतपथ-ब्राह्मण का स्पष्ट अभिमत है कि बहुध्मात होने पर अयस् सुवर्ण जैसा बन जाता है।[८] जबकि तैत्तिरीय-संहिता हिरण्य और अयस् को यज्ञ से कल्पित करने को कहती है।[९]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस हिरण्य का नाम 'अयस्' है, जो लोह से सुवर्ण बनता है। इस दृष्टि से 'अयते' और 'एति' इनमें से चाहे जिससे व्युत्पन्न किया जाये, ध्वनिरूप तथा अर्थ प्रभावित नहीं होता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'अयस्' की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है, परन्तु वह निश्चित रूप से 'अय्' अथवा 'इण्' धातु से विकसित हुआ है।

५. हिरण्यम्

निघण्टुकोष के हिरण्यवाचक गण में 'हिरण्य' पद पठित है।[१०] शतपथ-ब्राह्मण 'हि' पूर्ववाली 'रम्' धातु से 'हिरण्य' का निर्वचन करता हुआ कहता है:-''**तद्यदस्य (प्रजापतेः) एतस्याः रम्यायां तन्वां देवा अरमन्त तस्माद्धि रम्यः हि रम्यः ह वै तद्धिरण्यमित्याचक्षते परोऽक्षम्**''[११] कि प्रजापति के रमणीय शरीर में देवताओं ने रमण किया, इसलिये 'हि+रम्यम्' से परोक्ष में 'हिरण्य' शब्द बनता है।

जैमिनीय-ब्राह्मण का अभिमत है:-''**तद् (आप:) धिरण्यमाण्डं समैषत्, तस्य हरितमधरं कपालमासीद् रजतमुत्तरम्, तच्छतं देवसंवत्सराञ्छयित्वा निर्भिद्यमानमभवत् सहस्रं वा**''[१२] कि 'आप:' नामक प्रजापति ने हिरण्य आण्ड की इच्छा की। उसका नीचे का कपाल हरित (स्वर्णिम) था और उत्तर का कपाल रजत। वह सैकड़ों या सहस्रों संवत्सर शयन करने के पश्चात् निर्भिन्न हुआ। इस पक्ष में 'हरित+रजत' से 'हरिर' और उससे 'हिरण्य' रूप निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'हिरण्य' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**हिरण्यं कस्मात्? ह्रियत**

---

१ ऋ० ४.२.१७. ''सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तोऽयो न देवा जनिमा धमन्तः।''

२ ऋ० ५.६२.७. ''हिरण्यनिर्णिगयो अस्य स्थूणा वि भ्राजते दिव्य१श्वानीव।''

३ ऋ० ५.३०.१५. ''घर्मश्चित्तप्तः प्रवृजे य आसीदयस्मयस्तम्वादाम विप्राः।''

४ ऋ० ८.१०१.३. ''प्र यो वां मित्रावरुणाजिरो दूतो अद्रवत्। अयःशीर्षा मदेरघुः।''

५ तै०सं० २.१.९.२. ''मैत्रं श्वेतमालभेत वारुणं कृष्णम्।'' तु०,ऋ० ३.५९.६. ''द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम्।''

६ निरु० १०.३. ''वृणोतीति सतः।''

७ निरु० १०.२१. ''प्रमीतेस्त्रायते।''

८ शत०ब्रा०, ६.१.३.५.

९ तै०सं० ४.७.५.१. ''हिरण्यं च मेऽयश्च मे (यज्ञेन कल्पताम्)।''

१० निघ० १.२.५.

११ शत०ब्रा०, ७.४.१.१६.

१२ जै०ब्रा०, ३.३६०, ६१.

आयम्यमानमिति वा''[१] कि सुवर्ण शिल्पियों के द्वारा कटकादि के रूप में विस्तृत किया जाता है, अतः, यह 'हिरण्य' कहलाता है। इस पक्ष में 'हृ'+'यम्' धातुओं से 'हिरम्य' और उससे 'हिरण्य' रूप सिद्ध होता है।

(ख)''ह्रियते जनाञ्जनमिति वा''[२] कि यह एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास (सम्भवतः, सिक्के के रूप में) जाता है, अतः, यह 'हिरण्य' कहा जाता है। इस पक्ष में 'हृ'+जन' से 'हिरञ्ज' और उससे 'हिरण्य' रूप निष्पन्न होता है।

(ग)''हितरमणं भवतीति वा''[३] कि लोगों की विपत्ति या रोग में यह हितकारी होता है, अतः, यह 'हिरण्य' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'हित+रमणीय' से 'हिरम्य' और उससे 'हिरण्य' पद सिद्ध होता है।

(घ)''हृदयरमणं भवतीति वा''[४] कि सबका मन इसमें रमता है, इसलिये यह 'हिरण्य' कहा जाता है। इस पक्ष में 'हृदय+रमण' से 'हृरम्य' और उससे 'हिरण्य' शब्द निष्पन्न होता है।

आचाार्य देवराजयज्वन् 'हिरण्य' के निम्न निर्वचन प्रस्तुत करते हैं:-''ह्रियते जनाञ्जनमिति वा संव्यवहारार्थम्, द्रव्यस्वभावत्वात्, नैकत्रावस्थायित्वं तस्य''[५] कि द्रव्यस्वभाव होने के कारण हिरण्य एक स्थान पर नहीं रह सकता, अतः, वह व्यवहार के लिये एक से दूसरे के पास ले जाया जाता है, इसलिये सुवर्ण को हिरण्य कहते हैं। इस पक्ष में 'हृञ्' हरणे' धातु से बाहुलकाद् 'हृ' के स्थान पर 'हिर्' आदेश तथा 'कन्यन्' प्रत्यय होकर 'हिरण्य' शब्द सिद्ध होता है।[६]

(ख)''यद्वा, द्विधातुजं रूपम्- हिनोतेः रमतेश्च। हितञ्च तदापदि दुर्भिक्षादौ, रमयति च सर्वदा सर्वमिति''[७] क्योंकि हिरण्य दुर्भिक्षादि के समय हितकारी तथा सबको सर्वदा अच्छा लगता है। इसलिये इसे 'हिरण्य' कहते हैं। इस पक्ष में 'हि' तथा 'रम्' इन दो धातुओं से बाहुलकाद् 'कन्यन्' प्रत्यय होकर 'हिरण्य' पद निष्पन्न होता है।[८]

(ग)''हर्यते प्रेप्साकर्मणः (निरु०,२.१०) सर्वैर्हि तत् सर्वथा प्राप्तुमिष्यते''[९] क्योंकि सब लोग इसे सब प्रकार से प्राप्त करना चाहते हैं, अतः, यह 'हिरण्य' कहलाता है। इस पक्ष में देवराजयज्वन् यास्कमत का अनुसरण करते हैं और 'हर्य' गतिकान्तयोः' धातु से 'कन्यन्' प्रत्यय तथा धातु के स्थान पर 'हिर्' आदेश

---

१ निरु० २.१०.
२ निरु० २.१०.
३ निरु० २.१०.
४ निरु० २.१०.
५ निघ०वृ०, १.२.५.
६ धातु०१.८८३. उणा०, ५.४४. निघ०वृ०, १.२.५.
७ निघ०वृ०, १.२.५.
८ धातु०, १.८३८, ५.११. उणा०, ५.४४. निघ०वृ०, १.२.५.
९ निघ०वृ०, १.२.५.

होकर 'हिरण्य' रूप निष्पन्न होता है।[१]

(घ)''हर्यति स्वप्रभया दीप्यते-इति सुबोधिनीकार:''[२] सुबोधिनीकार के अनुसार अपनी चमक से चमकने के कारण सुवर्ण को 'हिरण्य' कहते हैं। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप निष्पन्न होता है।

डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का प्रथम तथा तृतीय निर्वचन के सम्बन्ध में अभिमत है कि सभी भारोपीय भाषाओं में यह शब्द रंग का वाचक है।[३] परन्तु डॉ. वर्मा का मत बहुत तर्कसङ्गत नहीं है। जर्मन और लैटिन में यह पीले रंग का वाचक है तो प्राच्य बल्गेरियन में यह हरे रंग का। इसके अतिरिक्त भी इनमें परस्पर तथा हिरण्य के सन्दर्भ में ध्वनिरूप की दृष्टि से वर्णमात्र का भी साम्य नहीं है। डॉ. वर्मा द्वितीय निर्वचन को ऐसे वर्ग में रखते हैं, जिसमें एक वर्ण सम्पूर्ण शब्द का प्रतिनिधित्व करता है।[४] ऐसे निर्वचन भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से स्वीकार करने के योग्य नहीं माने जाते, परन्तु प्रचलित अर्थ की प्रतीति अवश्य कराते हैं। एक सामान्य वक्ता के लिये प्रचलित अर्थ अधिक महत्त्वपूर्ण है। मोनियर विलियम्स कहते हैं कि 'हिरण्य' का सम्भवत:, हरि, हरित और हरि से सम्बन्ध है, जो सुवर्ण, मूलत:, मुद्रा भिन्न सुवर्ण अथवा अन्य किसी बहुमूल्य धातु के अर्थ में प्रयुक्त है। डॉ. वर्मा भी 'हिरण्य' का सम्बन्ध 'हरि' से मानते हैं।[५] वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'हिरण्य' पद को सुवर्ण, हेमन् वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद के 'हृ' या 'हर्य्' से व्युत्पन्न होने की सम्भावना है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची में 'हिरण्य' का सम्बन्ध 'हिरण' से माना है।[७] यह व्युत्पत्ति शतपथ-ब्राह्मण के निर्वचन के बहुत अनुरूप है।[८] लेकिन निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि सुवर्ण के 'हिरण्य' नामकरण में उसकी रमणीयता ('हृ'+'रम्') का विशेष योगदान है। लेकिन वेद से प्राप्त होने वाले सङ्केत 'हिरण्य' को 'भृ' धातुमूलक सिद्ध करते हैं।[९]

वैदिक साहित्य में 'हिरण्य' का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में घोरपुत्र कण्व ऋषि रुद्र देवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि रुद्रदेव दीप्तिमान् सूर्य और हिरण्य के समान आकर्षक हैं।[१०] ऋषि के कथन का मन्तव्य यह है कि जिस प्रकार प्राणियों को सुवर्ण रुचिकर है, उसी प्रकार रुद्र भी। उशिजपुत्र कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि अश्विन् देवों ने निखात में छिपाये हुए हिरण्य के कलश के समान उसको कूप से बाहर निकाला।[११] वामदेव ऋषि कहते हैं कि हम इन्द्र द्वारा प्रदत्त दश हिरण्य के कलशों को धारण करते हैं।[१] इससे

---

१ धातु०, १.५०९. उणा०, ५.४४. निघ०वृ०, १.२.५.

२ निघ०वृ०, १.२.५.

३ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ९४.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १००.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२९९.

६ वै०पद०को०, पृ० ३५८१.

७ ऋ०वै० पद०, पृ० ६११.

८ शत०ब्रा०, ७.४.१.१६.

९ अथर्व०, १.३५.२. ''यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यम्। अथर्व०, १.३५.३. ''तद्दक्षमाणो बिभरद्धिरण्यम्।''

१० ऋ० १.४३.५. ''य: शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते।''

११ ऋ० १.११७.१२, ''हिरण्यस्येव कलशं निखातमुदूपथुर्दशमे अश्विनाहन्।''

इससे यह विदित होता है कि कलश हिरण्यमय होते थे। उक्त वक्तव्य के दो आशय ग्रहण किये जा सकते हैं प्रथम-कि कलश हिरण्य से निर्मित होते थे, द्वितीय-वे हिरण्य भरकर रखने के काम आते थे। गृत्समद ऋषि अपांनपात् देव को हिरण्यरूप, हिरण्यसंदृग् और हिरण्यवर्ण बतलाते हैं।[२] एक अन्य मन्त्र में गृत्समद ऋषि अपांनपात् के घृत को हिरण्यवर्ण कहते हैं।[३] एक स्थान पर हिरण्य को सोम से उत्पन्न होने वाला बताया है।[४] वसिष्ठ ऋषि गौ, अश्व, वसु और हिरण्य देने वाले की विजय की कामना करते हैं।[५]

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद में वह धातु 'हिरण्य' नाम से अभिहित हुई है जो प्राणियों को रुचिकर लगती है। वेद में अनेकशः हिरण्य के साथ 'कलश' शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है, इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि हिरण्य कलश निर्माण में प्रयुक्त होने वाली एक धातुविशेष है। उक्तधातु की एक विशेषता उसका रुचिकर होना है, इससे यह सूचित होता है कि प्राणियों को आकर्षित करने के कारण उक्त धातु को 'हिरण्य' नाम से अभिहित किया गया है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'हृ' या हर्य्' धातु को 'हिरण्य' पद का मूल माने जाने की सम्भावना है।

६. पेशः

निघण्टुकोष के हिरण्यवाचक नामपदों में 'पेशः' पद समाम्नात है।[६] आचार्य यास्क रूप वाचक 'पेशः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**पेश इति रूपनाम। पिंशतेर्विपिशितं भवति**''[७] कि 'पेशस्' यह रूपवाचक नामपद है। यह सज्जित अथवा सौन्दर्य से युक्त होता है, अतः, रूप को 'पेशस्' कहा जाता है।

आचार्य देवराजयज्वन् हिरण्यवाचक 'पेशस्' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**पिश' गतौ'। अय इति समानार्थः**''[८] कि गत्यर्थक 'पिश्' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'पेशस्' शब्द निष्पन्न होता है।[९] यह अंगूठी आदि के रूप में शरीर को प्राप्त होता है अथवा सम्पत्ति के क्रय-विक्रय में या धार्मिक कार्यों में दानादि के रूप में एक से दूसरे के पास आता-जाता रहता है, अतः, हिरण्य को 'पेशस्' कहते हैं।

आचार्य सायण 'पेशी' शब्द को 'पिश' अवयवे' धातु से व्युत्पन्न करते हैं। उनके अनुसार यह दीप्तिकर्मा और गतिकर्मा भी है।[१०] वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'पेशस्' शब्द को 'पिश्' धातु से व्युत्पन्न मानता है।

---

१ ऋ० ४.३२.१९. ''दश ते कलशानां हिरण्यानामधीमहि। भूरिदा असि वृत्रहन्।''

२ ऋ० २.३५.१०. ''हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः।''

३ ऋ० २.३५.११. ''यमिन्धते युवतयः समित्था हिरण्यवर्णं घृतमन्नमस्य।''

४ ऋ० २.१५.९. तै०सं० १.४.७.४, ५. ''सोमस्य वा अभिषूयमाणस्य प्रिया तनूरुदक्रामत, तत्सुवर्णो हिरण्यमभवत्।''

५ ऋ० ७.९०.६. ''ईशानासो ये दधते स्वर्णो गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्हिरण्यैः।''

६ निघ० १.२.६.

७ निरु० ८.११.

८ निघ०वृ०, १.२.६.

९ निघ०वृ०, १.२.६.

१० माध०धातु०, ६.१५३. पृ० ३४७.

उसके अनुसार यह पद रूप, सौन्दर्य वाचक भावपद है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स के अनुसार 'पेशः' पद 'पिश' अवयवे' धातु से व्युत्पन्न होता है।[२] मोनियर विलियम्स के मत में ऋग्वेद में यह पद वास्तुकार, काष्ठकार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[३] निघण्टु में 'पेशः' पद हिरण्य तथा रूप वाचक गण में परिगणित है।[४] इन दोनों में परस्पर साम्य है। सुरूपता के कारण हिरण्य तथा सुवर्ण के कारण रूप को 'पेशः' कहा जाता है।

ऋग्वेद में 'पेशस्' को कुरूपता अथवा निर्धनता दूर करने वाला[५], श्रेष्ठ तथा दर्शनीय माना है।[६] एक स्थान पर '**यज्ञस्य पेशः**' और दूसरे स्थान पर '**अध्वरस्य पेशः**' कहा है।[७] सम्भवतः, यज्ञ में काम आने वाले सुवर्ण का अभिधान होने से उसका उक्तप्रकार से उल्लेख हुआ है। है। एक स्थान पर अश्विन् देवताओं को सुन्दर पेशस् रथ से आने का आह्वान किया गया है।[८]

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद में निर्धनता को दूर करने एवं यज्ञ के काम आने वाला सुवर्ण 'पेशः' है। उक्तपद का मूल 'पिश्' धातु है, पर इस धातु के अवयव, दीप्ति या गति अर्थ में से कौन-सा मूल अर्थ है, निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पद मूलतः सुरूपवाचक है। प्राचीनकाल से ही रूप की अभिवृद्धि का माध्यम सुवर्ण रहा है, सम्भवतः, इसकारण हिरण्य को 'पेशस्' कहा गया है। ऋग्वेद के अध्ययन से भी यह तथ्य पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं हो पाता है कि हिरण्य के किस रूप, उपयोग अथवा गुण के कारण इस अभिधान का विकास हुआ है। सम्भवतः, यज्ञीय हिरण्य 'पेशः' नाम से अभिहित हुआ है।

७. कृशनम्

निघण्टुकोष के हिरण्यवाचक नामपदों में 'कृशनम्' पद समाम्नात है।[९] आचार्य देवराजयज्वन् उक्त पद का निर्वचन निम्न प्रकार करते हैं:-''**कृश्यति तनूकरोति यम्**''[१०] कि निर्माण करते समय तनूकरण (छीलन) में जाने वाला हिरण्य को 'कृशन' कहते हैं। इस पक्ष में 'कृश' तनूकरणे' धातु से बाहुलकाद् 'क्यु' प्रत्यय होकर 'कृशन' पद निष्पन्न होता है।[११]

---

१ वै०पद०को०, पृ० २०१७.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ३२१. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ६४८.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ६४८.

४ निघ० १.२.६; ३.७.११.

५ ऋ० १.६.३.

६ ऋ० ४.३६.७.

७ ऋ० २.३.६; ७.४२.१.

८ ऋ० १.४७.२.

९ निघ० १.२.७.

१० निघ०वृ०, १.२.७.

११ धातु०, ४.११९. उणा०, २.८२. निघ०वृ०, १.२.७.

(ख)''कृश्यति स्वप्रभया दीप्यते, अपि वा कर्शयति संसृष्टम्, कृशमेव वा भवति संस्थानतो रजतात्''[१] कि जो अपनी प्रभा से दीप्त होता है अथवा संयोजित को दीप्त करता है या उज्वल को ऊपर रख देने पर यह दीप्त हो जाता है, अतः, हिरण्य को 'कृशन' कहा जाता है। आचार्य माधव 'कृश' धातु को दीप्त्यर्थक मानते हैं।[२]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'कृशन' पद को शङ्ख अर्थ का विशेषण तथा सुवर्ण, मुक्ता का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। लेकिन 'कृश' दीप्तौ' से व्युत्पन्न किये जाने की सम्भावना है।[३] मोनियर विलियम्स 'कृशनम्' पद का मूल 'कृश' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद एवं अवेस्ता में यह मोतियों अथवा मोतियों की माला है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची से भी उपर्युक्त व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है।[५]

वैदिक साहित्य में 'कृशन' पद बहुत विरल है। ऋग्वेद में 'कृशन' को विश्वरूप तथा हिरण्य की कान्ति शान्त करने वाला बताया गया है।[६] दूसरे स्थान पर उसे 'कृशन' नक्षत्रों से द्युलोक को दीप्त करने वाला माना है।[७] इन दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'कृशन' सुवर्ण वाचक नहीं है। 'कृशन' का वर्ण नक्षत्र जैसा है तथा वह अपनी कान्ति से हिरण्य की कान्ति को शान्त करने वाला है। ऐसी स्थिति में मोनियर विलियम्स का निष्कर्ष कि 'कृशन' मुक्ता वाचक है, युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है।[८] इसके अतिरिक्त 'कृश' धातु का अर्थ 'तनूकरण' अर्थात् छीलना है। आकर से से प्राप्त मुक्ता को बहुत छीलना पड़ता है। इस दृष्टि से तनूकरण अर्थ की सङ्गति हिरण्य की अपेक्षा मुक्ता के साथ अधिक मेल खाती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वेद में 'कृशन' शब्द मुक्ता अर्थ में प्रयुक्त है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'कृश्' धातु को 'कृशन' पद का मूल माना जा सकता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि निघण्टु में परिगणित सभी हिरण्य वाचक नामपद, वस्तुतः, सुवर्ण वाचक नहीं हैं। वे मात्र मानव को प्रिय बहुमूल्य धातुओं के अभिधायक हैं।

८. लोहम्

निघण्टुकोष के हिरण्यवाचक नामपदों में 'लोह' पद परिगणित है।[९] आचार्य देवराजयज्वन् 'लोह'

---

१ निघ०वृ०, १.२.७.

२ निघ०वृ०, १.२.७.

३ वै०पद०को०, पृ० ११६४.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३०५.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० १७६.

६ ऋ० १.३५.४. ''अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यम्।''

७ ऋ० १०.६८.११. ''अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्।''

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३०५.

९ निघ० १.२.८.

पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**लोहम् (हिरण्यम्) 'लुह' कत्थनदौ'। कत्थते श्लाघतेऽनेनात्मा, त्रिवर्गसाधनत्वात् पुरुषैः सम्प्रार्थ्यते वा**"[१] कि इससे धारण करने वाले को गर्व का अनुभव होता है अथवा धर्म, अर्थ और काम का साधन होने से लोग इसे बहुत चाहते हैं, अतः, हिरण्य को 'लोह' कहते हैं। इस पक्ष में 'लुह' कत्थनादौ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर 'लोह' शब्द निष्पन्न होता है।[२]

(ख)"लुनाति छिनत्ति पापसम्बन्धं पात्रे दीयमानम्"[३] कि सुपात्र को दिए जाने पर पाप के बन्धनों को काटता है, अतः, हिरण्य को 'लोह' कहते हैं। इस पक्ष में आचार्य भोजदेव के अनुसार 'लूञ्' धातु के 'ञ्' को 'ह' होकर 'लोह' पद व्युत्पन्न होता है।[४]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'लोह' पद को ताम्र का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद अव्युत्पन्न है। कुछ विद्वान् 'रुध्' रक्तवर्णे' तथा कुछ 'लू' छेदने' धातु (जिसको 'लु'(रु)ह्') से 'लोह' को व्युत्पन्न मानते हैं।[५] संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ के अनुसार 'लू' धातु से 'ह' प्रत्यय होकर 'लोह' पद व्युत्पन्न होता है।[६] मोनियर विलियम्स 'रुह्' या 'रुध्' धातु को 'लोह' पद का मूल मानते हैं।[७] उनके अनुसार रक्तवर्ण 'लोह' की व्युत्पत्ति 'रुध्' धातु से होती है। उणादिकोष के अनुसार भी 'रुह्' धातु से 'लोह' पद निष्पन्न होता है।[८] इस आधार पर यह माना जा सकता है कि व्याकरण की दृष्टि में 'लोह' का मूल 'रुह्' धातु है। अन्य सभी धातुओं की अपेक्षा 'लोहा' सबसे अधिक पाया जाता है। अतः, वृद्धि अर्थ वाली 'रुह्' धातु से व्युत्पन्न मानना समीचीन प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त अयस् के साथ लोह का वर्णसाम्य भी है।

वैदिक साहित्य में 'लोह' पद का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। चारों वेदों में केवल एक बार यजुर्वेद में उक्त पद का प्रयोग हुआ है। यजुर्वेद में अश्मा ऋषि कहते हैं कि हिरण्य, अयस्, श्याम (नील) मणि, लोह, सीसा और त्रपु- ये सब मेरे यज्ञ (रसायन विज्ञान) से सिद्ध हों।[९] उक्त मन्त्र में हिरण्य, अयस् और लोह का प्रयोग किया है, इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि ये सभी पृथक् धातु या उसकी कोटि के अभिधान हैं। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद में एक स्थान पर 'लोहित' शब्द का भी उल्लेख प्राप्त होता है। अन्त्येष्टि में प्रकरण में 'रुधिर' को सम्भवतः, लोहित नाम से अभिहित किया गया है।[१०]

श्रौतसूत्र और महाभारत में 'लोह' शब्द ताँबे की निर्मित वस्तु तथा शतपथ-ब्राह्मण में लोहे की वस्तु

---

१ निघ०वृ०, १.२.८.

२ अष्टा०, ३.३.२१. निघ०वृ०, १.२.८.

३ निघ०वृ०, १.२.८.

४ धातु०, ९.११. निघ०वृ०, १.२.८.

५ वै०पद०को०, पृ० २७०६.

६ संस्कृत-शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० १००५.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९०८.

८ उणा०, ३.९४.

९ यजु०, १८.१३. "हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।"

१० यजु०, ३९.१०. "लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा।"

के लिये प्रयुक्त हुआ है।[१] एक अन्य स्थल पर गोपथ-ब्राह्मण कहता है कि रजत के साथ लोह वर्ण के त्रपु का मेल कराये।[२] गोपथ-ब्राह्मण में लोह से सीस धातु के निर्माण का उल्लेख मिलता है।[३] तैत्तिरीय-संहिता में श्याम और लोह को यज्ञ से सिद्ध करने का वर्णन प्राप्त होता है।[४] यहाँ सम्भवतः, श्याम शब्द 'लोह' के रूप को बता रहा है। यह गुण किसी अन्य धातु की अपेक्षा 'लोह' में अधिक पाया जाता है।

'रुध्' धातु से 'लोह' पद को व्युत्पन्न करने में एक आपत्ति यह है कि 'ह्' को ढ्, घ्, ध्, तथा 'थ्' तो होता है, परन्तु 'ध्' को 'ह्' वर्ण परिवर्तन नहीं होता है।[५]

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोहित वर्ण को 'रुधिर' के समान माना जाता है, अतः, निश्चितरूप से यह कहा जा सकता है कि 'लोह' पद हिरण्यवाचक नहीं है। यजुर्वेद से यह भी स्पष्ट होता है कि 'अयस्' और 'लोह' एक ही धातु की भिन्न स्थिति का अभिधान कर रहे हैं। जिससे सुवर्ण बन सकता है, वह उन्नत लोह सम्भवतः, 'अयस्' है और जो जंग लग जाने से रुधिर के समान दिखलायी पड़ता है, वह सम्भवतः, हीन कोटि का लोह 'लोह' है। प्रथम लोह परिष्कृत है, जबकि द्वितीय लोह अपरिष्कृत है। ब्राह्मणग्रन्थों के उद्धरण एवं कोशों से उक्त तथ्य की पुष्टि हो जाती है। सर्वत्र 'लोह' को ताम्रवर्ण का बताया गया है। इस प्रकार हम यह निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि रुधिर वर्ण की धातु वेद और अन्य वैदिक साहित्य में 'लोह' नाम से अभिहित हुई है।

इसके अतिरिक्त यह निष्कर्ष भी ग्रहण किया जा सकता है कि निघण्टुकार ने हिरण्य वाचक नामपदों में मात्र सुवर्णवाचक पदों का समाम्नान नहीं किया है। इनमें विभिन्न धातुवाचक पद विद्यमान हैं, जो मनुष्य के लिये उपयोगी होने के कारण हिरण्य अर्थात रमणीय अर्थात् हृदय आह्लादक हैं।

९. कनकम्

निघण्टुकोष के हिरण्यवाचक नामपदों में 'कनकम्' पद समाम्नात है।[६] आचार्य देवराजयज्वन् 'कनक' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**कनकम् (हिरण्यम्)। 'कनी' दीप्तिकान्तिगतिषु'। रुक्मादिवदर्थः**"[७] कि 'कनक' पद 'कन्' धातु से औणादिक 'वुन्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। देवराजयज्वन् के अनुसार 'कनक' वह है, जो अतिशय अच्छा लगता है और जिसके धारण करने से पहिनने वाला दीप्त हो जाता है।[८]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में 'कनक' शब्द का

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९०८.

२ गो०ब्रा०, १.१.१४. "रजतेन त्रपु (लोहम्) संदध्यात्।"

३ गो०ब्रा०, १.१.१४. "लोहेन सीसम् (संदध्यात्)।"

४ तै०सं० ४.७.५.१. "श्यामं च मे लोहं च मे (यज्ञेन कल्पन्ताम्)।"

५ अष्टा०, ८.२.३१-३५.

६ निघ० १.२.९.

७ निघ०वृ०, १.२.९.

८ उणा०, २.३३. माध०धातु०, १.४५६.

सर्वथा प्रयोग नहीं हुआ है। मोनियर विलियम्स उणादीय व्युत्पत्ति का समर्थन करते हुए महाभारत, सुश्रुत आदि के अनुसार 'कनक' का अर्थ सुवर्ण मानते हैं।[१] निघण्टु में 'कनति' का कान्तिकर्मा पदों में परिगणन किया गया है।[२] इस आधार पर निघण्टुकार की दृष्टि में 'कनक' ऐसी धातु का अभिधान है, जिसमें कान्ति अर्थात् कमनीयता हो, ऐसी धातु सुवर्ण से भिन्न नहीं हो सकती। मन्त्र का उदाहरण न मिलने के कारण वैदिक काल में 'कनक' का वस्तुतः, सुवर्ण के किस रूप के लिये प्रयोग होता था, कुछ कहा नहीं जा सकता।

१०. काञ्चनम्

निघण्टुकोष के हिरण्यवाचक नामपदों में 'काञ्चनम्' पद पठित है।[३] आचार्य देवराजयज्वन् 'काञ्चनम्' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**कञ्चते वर्णेन दीप्यते बध्यते कुण्डलादिरूपेणेति**''[४] कि यह अपने वर्ण से चमकता है और कुण्डलादि आभूषण के रूपों में बाँधा जाता है, अतः, हिरण्य को 'काञ्चन' कहते हैं। इस पक्ष में 'कचि' दीप्तिबन्धनयोः' धातु से 'युच्' प्रत्यय तथा बाहुलकाद् दीर्घ होकर 'काञ्चन' पद सिद्ध होता है।[५]

आचार्य सायण उपर्युक्त अर्थ वाली 'काञ्च्' धातु से 'युच्' प्रत्यय करके 'काञ्चनम्' पद को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[६] वैदिक-पदानुक्रम-कोष के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में कनक के समान 'काञ्चन' पद भी सर्वथा अप्रयुक्त है। मोनियर विलियम्स निघण्टु, मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति के आधार पर 'काञ्चनम्' पद का अर्थ सुवर्ण मानते हैं तथा 'काञ्च्' धातु को 'काञ्चनम्' का मूल स्वीकार करते हैं।[७]

वैदिक साहित्य में अप्रयुक्त होने के कारण 'काञ्चनम्' के विशिष्टि स्वरूप के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः, यह पद सुवर्ण के किस विशेष रूप के लिये प्रयुक्त होता था, मन्त्र व ब्राह्मण के प्रमाण के अभाव में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है, परन्तु धातु के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जिसमें चमक है तथा जो आभूषण के काम में आता है, सुवर्ण का वह रूप 'काञ्चन' है। इसके अतिरिक्त शब्द का ध्वनिरूप यह सङ्केत देता है कि वर्तमान में 'काच' या 'काँच' के रूप में प्रसिद्ध धातु प्राचीनकाल की 'काञ्चन' हो।

११. भर्म

निघण्टुकोष के हिरण्यवाचक नामपदों में 'भर्म' पद समाम्नात है।[८] आचार्य यास्क 'भर्मण' पद का

---

१ संस्कृत-इंग्लिशकोष, पृ० २४८.

२ निघ० २.६.१७.

३ निघ० १.२.१०.

४ निघ०वृ०, १.२.१०.

५ धातु०, १.१६७. अष्टा०, ३.३.१३०. निघ०वृ०, १.२.१०.

६ माध०धातु०, १.१६८.

७ संस्कृत-इंग्लिशकोष, पृ० २६८.

८ निघ० १.२.११.

निर्वचन निम्न करते हैं:-''**भर्मणे भरणाय**''[१] कि जो भरण-पोषण के लिये है, वह 'भर्मण' है। इस पक्ष में भरणार्थक 'भृ' धातु से 'भर्म' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'भर्म' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**भ्रियते धार्य्यते, अङ्गुल्यादिभिर्धार्य्यते आपदर्थमिति वा पोषयत्यनेन कुटुम्बमिति वा**''[२] कि अङ्गुलि आदि में आभूषण के रूप में धारण किया जाता है अथवा यह आपत्काल के लिये या इससे परिवार का पालन-पोषण होता है। अतः, हिरण्य को 'भर्म' कहते हैं। इस पक्ष में 'डुभृञ्' धारणपोषणयोः' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय करके 'भर्म' पद निष्पन्न होता है।[३]

(ख)''**हरतेर्वा**''[४] कि इसका हरण होता है, अतः, सुवर्ण को 'भर्म' कहते हैं। इस पक्ष में 'हृ' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय तथा छान्दस विधि से 'ह' के स्थान पर 'भ' होकर 'भर्म' रूप सिद्ध होता है।[५]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'भृ' धातुमूलक 'भर्म' पद को भाववाचक नामपद मानता है।[६] मोनियर विलियम्स 'भर्म' का मूल 'भृ' धातु को मानते हैं तथा 'भर्म' का अर्थ उनकी दृष्टि में 'भृति' है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची से भी उपर्युक्त व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है।[८]

आचार्य देवराजयज्वन् उपर्युक्त पद के उदाहरण में दो ऋचाओं को प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि आचार्य माधव के अनुसार 'भर्म' का अर्थ 'भर्तव्यः' है। अतः, हिरण्य अर्थ बोधक ऋचा का अन्वेषण करना चाहिये। इसके अतिरिक्त एक अन्य मन्त्र में 'भर्म' का प्रयोग देखने को मिलता है, वहाँ भी 'भर्म' का अर्थ 'भरण-पोषण है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में 'भर्मन्' का सुवर्ण के अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद में 'भर्म' भरण-पोषण अर्थ में आया है। अतः, उसका निर्वचन भी भरण अर्थ वाली 'भृ' धातु से करना समीचीन है। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि 'भर्म' वह सुवर्ण हो, जो 'भृति' के रूप में सेवकों को दिया जाता हो।

१२. अमृतम्

निघण्टुकोष के हिरण्यवाचक नामपदों में 'अमृत' पद पठित है।[९] आचार्य यास्क 'अमृत' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अमरणधर्माणौ**''[१०] कि जो मरण धर्म से रहित है, वह 'अमृत' है। इस पक्ष में 'न+'मृ' से 'अमृत' पद निष्पन्न होता है।

---

१ निरु० ७.२५.

२ निघ०वृ०, १.२.११.

३ धातु०, ३.५. अष्टा०, ३.२.७५. निघ०वृ०, १.२.११.

४ निघ०वृ०, १.२.११.

५ धातु०, १.८८३.अष्टा०वा०, ८.२.३५. 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्येति वक्तव्यम्।''

६ वै०पद०को०, पृ० २३७७.

७ संस्कृत-इंग्लिशकोष, पृ० ७४८.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० ३७४.

९ निघ० १.२.१२.

१० निरु० २.२०.

आचार्य देवराजयज्वन् 'अमृत' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**न म्रियन्तेऽनेन दुर्भिक्षादौ**''[१] कि इसके कारण लोग दुर्भिक्षादि विपत्तियों से मरते नहीं हैं, अतः, हिरण्य को 'अमृत' कहते हैं।

(ख)''**नास्ति मृतं मरणमस्येति वा, न हि हिरण्यस्य यस्यां कस्याञ्चिदवस्थायामात्मनाशो विद्यते**''[२] कि इसका कभी मरण नहीं होता अर्थात् हिरण्य का किसी भी अवस्था में नाश नहीं होता है। मन्त्र कहता है कि अग्नि से उत्पन्न होने वाला हिरण्य अमृत है।

(ग)''**न म्रियते पात्रे प्रतिपादितेन ध्रियमाणेन वा आयुष्करत्वात्**''[३] कि हिरण्य सुपात्र को दिए जाने पर वह मरता नहीं है, क्योंकि यह आयु को देने वाला है। श्रुति भी हिरण्य को आयु मानती है।[४] जो दाक्षायण हिरण्य को धारण करता है वह देवताओं और मनुष्यों को दीर्घायु करता है।[५] उपर्युक्त पक्षों के अनुसार 'अमृत' पद 'नञ्' पूर्व वाली 'मृ' धातु से औणादिक 'तन्' प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है।[६]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अमृत' पद को देवगण प्रभृति का वाचक विशेषण, नामपद तथा अमरत्व का वाचक भावपद मानता है। उसके अनुसार 'न+मृत' से 'अमृत' पद निष्पन्न होता है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची से भी उक्त मत का समर्थन हो जाता है।[८] मोनियर विलियम्स 'न+'मृ' धातु से 'अमृत' पद को निष्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार 'अमृत' पद ऋग्वेद में अविनाशी तथा सुवर्ण अर्थ में भी आया है।[९] आचार्य पाणिनि 'नञ्' पूर्वक 'मृत' शब्द से 'अमृत' पद निष्पन्न करने के पक्ष में हैं।[१०] आचार्य सायण वर्तमानकालिक 'क्त' प्रत्यय करके 'न+'मृ' धातु से 'अमृत' पद को व्युत्पन्न मानते हैं।[११]

ब्राह्मणग्रन्थों में अनेकशः 'अमृत' पद का प्रयोग हिरण्य अर्थ में हुआ है। तैत्तिरीय-संहिता, शतपथ-ब्राह्मण, काठक-संहिता, मैत्रायणी-संहिता एवं तैत्तिरीयारण्यक 'अमृत' का आशय 'हिरण्य' बतलाते हैं।[१२] गोपथ-ब्राह्मण भेषज को अमृत तथा अमृत को ब्रह्म में रूप में प्रतिपादित करता है।[१३]

---

१ निघ०वृ०, १.२.१२.

२ निघ०वृ०, १.२.१२.

३ निघ०वृ०, १.२.१२.

४ निघ०वृ०, १.२.१२.

५ य०वा०सं० ३४.५१. निघ०वृ०, १.२.१२.

६ धातु०, ६.११९. उणा०, ३.८८. निघ०वृ०, १.२.१२.

७ वै०पद०को०, पृ० ४६०.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० ५१.

९ संस्कृत-इंग्लिशकोष, पृ० ८२.

१० पाणिनि, अष्टा०, ६.२.११६. ''नञो जरमरमित्रमृताः।''

११ माध०धातु०, ६.११९. अष्टा०, ३.२.१८८.

१२ तै०सं० ५.२.७.२. मै०सं० २.२.२, ३, ५. काठ०सं० ११.४. शत०ब्रा०, ९.४.४.५. तै०आ०, ५.९.५.''अमृतं वै हिरण्यम्।''

१३ गो०ब्रा०, १.३,४. ''यद्भेषजं तदमृतं यदमृतं तद्ब्रह्म।''

ऋग्वेद में अमृत को मर्त का भोजन,[१] रक्षा करने वाला तथा प्रिय,[२] जल आदि से शुद्ध होने वाला[३] और पशु आदि के समान रक्षणीय बताया है।[४] एक अन्य स्थान पर ऋग्वेद कहता है कि अग्नि वस्तुतः, सम्पूर्ण अमृतों अर्थात् हिरण्यों का निर्माण करता है।[५] अथर्वेद हिरण्य के विषय में विस्तार से उल्लेख करता है। उसके अनुसार यह हिरण्य तीन प्रकार से उत्पन्न होता है, प्रथम-अग्नि से द्वितीय-सोम से तथा तृतीय-जल से। यह हिरण्य त्रिवृत् आयुष् के लिये है अर्थात् इसका सेवन करने से प्राणी की आयु तीन गुनी हो जाती है।[६] इसके विषय में वर्णन करता हुआ ऋषि पुनः इसी सूक्त में आगे कहता है कि प्रथम देव ने सृष्टि के आदि में आगे चलने वाले वाले अमृतरूप हिरण्य को बाँधा था अर्थात् निर्माण किया था, उस देव को मैं दसों दिशाओं में प्रणाम करता हूँ, वह देव मेरी आयु को तीन गुना करे।[७] अथर्ववेद के १९वें काण्ड के २६वें सूक्त का देवता हिरण्य है। इस सूक्त में ऋषि कहता है कि अग्नि से हिरण्य उत्पन्न हुआ है। यह मृत्यु से बचाने वाला है, जो पुरुष इस तथ्य को जानता है, वही इन पदार्थों का भोग करने के योग्य है तथा जो सुवर्ण को धारण करता है, वह जरा और मृत्यु के समान महाबलशाली होता है।[८] आगे ऋषि कहता है कि सूर्य द्वारा सुन्दर रूप वाले जिस हिरण्य को बुद्धिमान् मनुष्यों ने पाया था, वह आह्लाद देने वाला हिरण्य वर्चस् के साथ संयोग करता है तथा इसको धारण करने वाला मनुष्य आयुष्मान् होता है।[९]

ऋग्वेद में 'अमृत' पद का बहुत प्रयोग हुआ है, परन्तु वह प्रायः सर्वत्र 'अमृत' पद के अविनाशी अर्थ में हुआ है। उपर्युक्त विश्लेषण में 'अमृत' पद हिरण्य धातु का वाचक है, निःसन्दिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता है। जहाँ अथर्ववेद तथा ब्राह्मण 'अमृत' को निश्चित रूप से हिरण्यवाचक मानते हैं, वहाँ ऋग्वेद के आधार पर इस मत को पुष्ट करना कुछ कठिन प्रतीत होता है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऋग्वेद में स्पष्टरूप से 'अमृत' पद धातुवाचक नहीं है, परन्तु अथर्ववेद में यह निःसन्दिग्ध रूप से हिरण्य अर्थ का अभिधायक है तथा उस समय तक हिरण्य की 'अमृत' अर्थात् मृत्यु से रक्षा करने वाले के रूप में

---

१ ऋ० १.४४.५. ''स्तविष्यामि त्वामहं विश्वस्यामृत भोजन।'' ऋ० ११४.६. ''रास्वा च नो अमृत मर्तभोजनं त्मने तोकाय तनयाय मृळ।''

२ ऋ० १.७१.९. ''राजाना मित्रावरुणा सुपाणी गोषु प्रियममृतं रक्षमाणा।''

३ ऋ० ९.११.२. ''प्र यो नृभिरमृतो मर्त्येभिर्मर्मृजानोऽविभिर्गोभिरद्भिः।''

४ ऋ० १.७२.६. ''तेभी रक्षन्ते अमृतं सजोषाः पशूञ्च स्थातृञ्चरथं च पाहि।''

५ ऋ० १.७२.१. ''सत्रा चक्राण अमृतानि विश्वा।''

६ अथर्व०, ५.२८.६. ''त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत्। अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत् ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे।''

७ अथर्व०, ५.२८.११. ''पुरं देवानामृतं हिरण्यं य आबधे प्रथमो देवो अग्रे। तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यतां त्रिवृदाबधे मे।''

८ अथर्व०, १९.२६.१. ''अग्नेः प्रजातं परि यद्धिरण्यममृतं दध्रे अधि मर्त्येषु। य एनद् वेद स इदेनमर्हति जरामृत्युर्भवति यो बिभर्ति।''

९ अथर्व०, १९.२६.१. ''यद्धिरण्यं सूर्येण सुवर्णं प्रजावन्तो मनवः पूर्व ईषिरे। तत्त्वा चन्द्रं वर्चसा सं सृजत्यायुष्मान् भवति यो बिभर्ति।''

प्रतिष्ठा हो चुकी थी एवं उसके औषधीय गुणों की पहिचान कर ली गयी थी, कहा जा सकता है।

१३. मरुत्

निघण्टुकोष के हिरण्यवाचक नामपदों में 'मरुत्' पद का परिगणन किया गया है।[१] आचार्य यास्क मध्यस्थानी देवता प्रकरण में 'मरुत्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**मरुतो मितराविणो वा**''[२] कि ये कम अथवा इच्छा के अनुसार शब्द करते हैं, इसलिये 'मरुत्' कहलाते हैं। इस पक्ष में 'मा+'रु' शब्दे' धातु से 'मरुत्' पद व्युत्पन्न होता है।

(ख)''मितरोचिनो वा''[३] कि अच्छे प्रकार दीप्त होने के कारण ये 'मरुत्' कहलाते हैं। इस पक्ष में 'मा+'रुच्' धातु से 'मरुत्' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(ग)''महद्द्रवन्तीति वा''[४] कि जो अन्तरिक्ष में बहुत दौड़ते हैं, वे 'मरुत्' हैं। इस पक्ष में 'महत्' उपपद में होने पर 'द्रु' गतौ' धातु से 'मरुत्' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् हिरण्यवाचक 'मरुत्' पद का निर्वचन निम्न प्रकार करते हैं:-''**मितममितं वा रोचते, मितममितं वा रोचयति**''[५] कि हिरण्य सीमित या असीमित चमकता है, अतः, इसे 'मरुत्' कहते हैं। अपने आशय को और अधिक स्पष्ट करते हुए देवराजयज्वन् कहते हैं कि हिरण्य अग्नि आदि तेजस्वी पदार्थों की तुलना में कम और भोगादि में अधिक चमकता है तथा याचकों को दान रूप में दिए जाने पर उभयलोक में यश फैलाता है, अतः, यह 'मरुत्' कहलाता है। इस पक्ष में पृषोदरादि विधि से 'माङ्' धातु से 'मरुत्' का 'म' तथा 'रु' शब्दे' धातु से 'रुत्' अंश निष्पन्न होता है। देवराजयज्वन् उपर्युक्त निर्वचन 'मित+'रुच्' से करते हैं, पर व्युत्पन्न 'रु' धातु से कर रहे हैं, यह चिन्त्य है। सम्भवतः, देवराजयज्वन् ने 'रुच्' तथा 'रु' धातुमूलक भिन्न-भिन्न निर्वचन किये हैं। इस सम्भावना की पुष्टि हो जाती है।[६] तदनुसार उक्त निर्वचन का स्वरूप निम्न होना चाहिए:-''**मितममितं वा रोचते, मितममितं वा रावयति**''।

(ख)''म्रियन्तेऽनेन पुरुषा इति मरुत्, एतदर्थं हि चौरादिभिः पुरुषाः हन्यन्ते''[७] कि इसके कारण पुरुष मारे जाते हैं, अतः, हिरण्य को 'मरुत्' कहते हैं। इस पक्ष में 'मृङ्' प्राणत्यागे' धातु से 'रुति' प्रत्यय करके 'मरुत्' पद निष्पन्न होता है। उपर्युक्त व्युत्पत्ति का समर्थन उणादिकोष से भी हो जाता है।[८]

आचार्य यास्क ने 'मरुत्' पद के तीन उपर्युक्त निर्वचन प्रस्तुत किये हैं। इन निर्वचनों के विषय में डॉ.

---

१ निघ० १.२.१३.

२ निरु० ११.१३.

३ निरु० ११.१३.

४ निरु० ११.१३.

५ निघ०वृ०, १.२.१३.

६ निघ०वृ०, १.२.१३.

७ निघ०वृ०, १.२.१३.

८ उणा०, १.१९५. ''मृग्रोरुतिः।''

वर्मा का अभिमत है कि ये तीनों निर्वचन मात्र वर्णसाम्य के आधार पर व्युत्पन्न किये हैं और तीसरे निर्वचन में असम्बद्ध ध्वनिपरिवर्तन का आश्रय लिया गया है।[१] पदपाठकार की दृष्टि से भी सभी निर्वचन असङ्गत सिद्ध होते हैं। पदपाठकार की यह प्रवृत्ति है कि वे विग्रह करते समय पद के साथ संयुक्त उपसर्ग, अव्यय आदि का पृथक् निर्देश करते हैं, जबकि वे एक पद मानकर 'मरुत्' का विग्रह करते हैं,[२] परन्तु यास्क दो पद मानकर व्युत्पन्न कर रहे हैं। इसलिये यह माना जा सकता है कि 'मरुत्' के निर्वचन वैदिक धारणा के अनुरूप होते हुए भी मूल स्वरूप का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

ए०ए० मैक्डॉनल तथा अन्य अनेक कोशकार इस बात से सहमत हैं कि 'मृ' धातु से 'मरुत्' शब्द व्युत्पन्न होता है।[३] यह सम्भावना सत्य प्रतीत होती है। इसकी तुलना 'मरीचि' शब्द से की जा सकती है। प्राणत्यागार्थक 'मृ' धातु से निष्पन्न 'मरीचि' शब्द का अर्थ है-'प्रकाश'। इस आधार के मूल में सम्भवतः, यह कारण हो सकता है कि प्रकाश अन्धकार का वध करता है। इसी प्रकार मध्यस्थानी 'मरुत्' अपने विद्युत् रूप के द्वारा तमस् का नाश तथा मेघ का वध करता है और हिरण्यवाचक 'मरुत्' रोग एवं दरिद्रता का नाश करता है। इसके अतिरिक्त मध्यस्थानी तथा हिरण्यवाचक 'मरुत्' पदों में समानता है। इन दोनों (विद्युत् और सुवर्ण) में रूपसाम्य भी है।

निघण्टुकोष में 'मरुत्' पद हिरण्य, रूप, ऋत्विज् तथा अन्तरिक्षस्थानी देवता के वर्ग में परिगणित है।[४] इन चार अर्थों में परिगणित 'मरुत्' सम्भवतः, एक मूल के नहीं हैं। वैदिक ऋषि की दृष्टि में इसके एक से अधिक मूल प्रतीत होते हैं। जिनकी पुष्टि निम्न वैदिक निर्वचनों से हो जाती है:-

(क)''**मरुतः मृळयन्तु**''[५] कि सुख (वर्षा, हिरण्य, रूपादि से) प्रदान करने के कारण इसे 'मरुत्' कहा जाता है। इस पक्ष में सुखार्थक 'मृळ्' धातु से 'मरुत्' पद व्युत्पन्न होता है।

(ख)''**मरुतो अमदन्**''[६] कि प्रसन्नता देने के कारण ये 'मरुत्' कहलाते हैं। इस पक्ष के समर्थन में पर्याप्त प्रमाण मिल जाते हैं।[७] यहाँ हर्ष अर्थ वाली 'मद्' या 'मन्द्' धातु से 'मरुत्' पद निष्पन्न होता है।

(ग)''**मरुतः मिमक्षुः**''[८] कि सिञ्चन कर्म करने के कारण ये 'मरुत्' हैं। इस पक्ष में सिञ्चन अर्थवाली 'मिह्' धातु से 'मरुत्' पद उपपन्न होता है।

(घ)''**मरुतो मामहे**''[९] कि महनीय होने के कारण ये 'मरुत्' कहलाते हैं। इस पक्ष में पूजार्थक 'मह्'

---

१ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ९७.

२ सायणभाष्य, ऋ०भा०, १, पृ० १७६.

३ वैदिक माइथौलोजी, पृ० १५४. उणा०, १.९४. हलायुधकोष, पृ० ५१८. शब्दकल्पदुम, भा०३, पृ० ६३९.

४ निघ० १.२.१२; ३.७.१२; १८.६; ५.५.८.

५ ऋ० १.२३.१२; १७१.३.

६ ऋ० १.५२.९, १५.

७ ऋ० ८५.१.६, १०; १६५.११; २.३४.५; ३.५२.९.

८ ऋ० १.१६५.१; १६७.२.

९ ऋ० १.१६५.१३.

धातु से 'मरुत्' पद निष्पन्न होता है।

उपर्युक्त विवेचन से वैदिक ऋषि की दृष्टि में 'मरुत्' पद उक्त पाँच धातुओं से व्युत्पन्न होता है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से इनमें से सर्वाधिक उपयुक्त निर्वचन 'मृळ्' धातु वाला प्रतीत होता है, परन्तु वैदिक ऋषि की प्रवृत्ति 'मरुत्' को 'मद्' या 'मन्द्' धातु से व्युत्पन्न करने के प्रति अधिक प्रतीत होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'मरुत्' पद को वायुवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स 'मरुत्' पद को अव्युत्पन्न मानते हैं।[२] मोनियर विलियम्स की दृष्टि में यह हिरण्यवाचक नहीं है। उनके अनुसार 'मरुत्' के अस्त्र-शस्त्र और वाहन सुवर्ण के हैं।[३] ब्राह्मणग्रन्थों से भी 'मरुत्' के हिरण्यवाचक होने की पुष्टि नहीं होती है।[४] आचार्य देवराजयज्वन् हिरण्यार्थक 'मरुत्' का उदाहरण प्रस्तुत करने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं।[५]

ऋग्वेद में अनेकशः 'मरुत्' को देदीप्यमान दृष्टि वाला[६] तथा उसका रूप विद्युत् के समान निर्मल माना है।[७] एक स्थान पर 'मरुत्' को वक्षणा नदी से उत्पन्न होने वाला भी बताया है।[८] उपर्युक्त स्थलों पर 'मरुत्' का अर्थ हिरण्य भी माना जा सकता है और इस आधार पर नदी से उत्पन्न होने वाला हिरण्य 'मरुत्' कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि यद्यपि वेद में 'मरुत्' शब्द का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है, लेकिन उसका हिरण्य के अर्थ में प्रयोग लगभग दुर्लभ है। वेद से प्राप्त होने वाले यत्किञ्चित् सङ्केतों के आधार पर कहा जा सकता है कि सम्भवतः, नदी से प्राप्त होने वाले सुवर्ण को वेद में 'मरुत्' नाम से अभिहित किया गया है, परन्तु यह निष्कर्ष अभी कल्पना अधिक है। वेद मरुतों को आभूषण धारण करने वाले के रूप में चित्रित करता है, इस तथ्य का विवेचन हम 'रुक्म' प्रकरण में कर आये हैं। इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि सुवर्णप्रिय होने के कारण मरुतों (मनुष्यों) को सुवर्ण का वाचक मान लिया गया है।

१४. दत्रम्

निघण्टुकोष के हिरण्यवाचक नामपदों में 'दत्रम्' पद पठित है।[९] आचार्य देवराजयज्वन् 'दत्र' पद का

---

१ वै०पद०को०, पृ० २४५६.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ३९१. संस्कृत-इंग्लिशकोष, पृ० ७९०

३ संस्कृत-इंग्लिशकोष, पृ० ७९०.

४ ब्राह्मणोद्धारकोष, पृ० ६२९.-३१.

५ निघ०वृ०, १.२.१३.

६ ऋ० १.३१.१. ६४.११.

७ ऋ० १.६४.९.

८ ऋ० १.१३४.४.

९ निघ० १.२.१४.

निर्वचन देते हुए कहते हैं:-''दीयते पात्रे दत्रम्''[१] कि सुपात्र को दिए जाने के कारण हिरण्य को 'दत्र' कहते हैं। इस पक्ष में 'डुदाञ्' दाने' धातु से बाहुलकाद् 'क्त्र' प्रत्यय होकर 'दत्र' रूप उपपन्न होता है।[२]

उपर्युक्त 'दा' धातु से निर्वचन की अपेक्षा 'दद' दाने' धातु से व्युत्पन्न करना अधिक समीचीन है,[३] क्योंकि 'दा' धातु से व्युत्पन्न करने में 'दा' धातु के स्थान पर 'दद्' आदेश करने की आवश्यकता बनी रहती है। निघण्टुकार ने 'दाति' क्रियापद को दानार्थक माना है।[४] पाणिनीय धातुपाठ के अनुसार 'दाति' पद 'दाप्' लवने' धातु से निष्पन्न होता है।[५] इससे यह प्रतीत होता है कि 'दाप्' धातु उभयार्थक है। निघण्टुकार के मत में 'दा' धातु से (दान और लवन अर्थ में) 'दत्र' को निष्पन्न माना जा सकता है। दातव्य धन के मूल में जहाँ दान की भावना होती है, वहाँ पूर्व स्वामित्व की भावना का विच्छेद भी होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'दत्र' पद को 'दा' धातुमूलक हिरण्यवाचक नामपद मानता है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची से उपर्युक्त व्युत्पत्ति का समर्थन होता है।[७] मोनियर विलियम्स उपर्युक्त मत को स्वीकार करते हुए 'दत्र' का अर्थ 'इन्द्र का दान' मानते हैं।[८]

'दत्र' का प्रयोग ऋग्वेद में केवल चार बार हुआ है।[९] इनमें से तीन स्थानों पर आचार्य सायण 'दत्र' का अर्थ 'धन' मानते हैं,[१०] मात्र एक स्थान पर 'दत्राणि हिरण्यादीनि धनानि' करते हैं।[११] इस स्थान पर भी धन अर्थ विवक्षित प्रतीत होता है। एक मन्त्र में उषस् को 'हिरण्यपाणि दत्रवान्' कहा है।[१२] परन्तु दिया जाने वाला धन हिरण्य है, यह नहीं कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में 'दत्र' पद हिरण्यवाचक नहीं है। वह सामान्य रूप से 'दातव्य धन' के अर्थ में आया है, परन्तु यह सम्भव है कि वैदिक काल में सुवर्ण धन का पर्याय रहा हो। इस विषय में यह सम्भावना भी व्यक्त की जा सकती है कि वह हिरण्य 'दत्र' था, जो मात्र दान देने के लिये होता था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि निघण्टुकार ने इस वर्ग में मात्र सुवर्णवाचक पदों का परिगणन नहीं किया है। इस गण में परिगणित पद अनेक धातुओं के वाचक तथा उनमें से कुछ सामान्य 'धन' के अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं।

---

१ निघ०वृ०, १.२.१४.

२ धातु०, ३.९. उणा०, ४.१६५. अष्टा०, ७.४.४६. निघ०वृ०, १.२.१४.

३ धातु०, १.१७.

४ निघ०३.२०.१.

५ माध०धातु०, २.४९. पृ० २५७.

६ वै०पद०को०, पृ० १५५९.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० २४४.

८ संस्कृत-इंग्लिशकोष, पृ० ४६७.

९ ऋ० ३.३६.९; ४.१७.६; ६.५०.८; ८.४९.२.

१० ऋ० ३.३६.९; ४.१७.६; ६.५०.८.

११ ऋ० ८.४९.२.

१२ ऋ० ६.५०.८.

१५. जातरूपम्

निघण्टुकोष के हिरण्यवाचक नामपदों में 'जातरूप' पद का परिगणन हुआ है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'जातरूप' का निर्वचन निम्न प्रकार करते हैं:-''**रोचते रूपम्। अनाहार्यतया जातं रूपमस्य जातरूपम्। जातं रूपं सौन्दर्यमनेन धारयितॄणामिति वा जातरूपम्**''[२] कि प्रीतिकर होने के कारण रूप को 'रूप' कहते हैं। अधिकतम उपयुक्त होने के कारण 'प्रादुर्भूत' रूप जातरूप कहलाता है। धारण करने वाले के रूप अर्थात् सौन्दर्य को उत्पन्न करने के कारण हिरण्य को 'जातरूप' कहते हैं। रामायण के कथन को उद्धृत करते हुए आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं कि ''पर्वत से सम्बद्ध सम्पूर्ण धन सुवर्ण का हो गया, इसलिये पुरुषव्याघ्र राघव! अग्नि के समान कान्ति वाला सुवर्ण 'जातरूप' नाम से प्रसिद्ध हुआ।''[३] इस पक्ष में 'जात' ('जन्+क्त') तथा 'रूप' ('रुच्'+प') शब्द के संयोग से 'जातरूप' शब्द निष्पन्न होता है।[४] उपर्युक्त पद के उदाहरण में देवराजयज्वन् निम्न ब्राह्मण-वचन उद्धृत करते हैं:-''**जातरूपमयेन च पवित्रेणान्तर्धायाभिषिञ्चिति**''।[५]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में 'जातरूप' पद का प्रयोग नहीं हुआ है। मोनियर विलियम्स शतपथ-ब्राह्मण तथा निघण्टु के आधार पर 'जातरूप' का अर्थ सुवर्ण मानते हैं। 'जात' शब्द को 'जन्' धातु से तथा 'रूप' शब्द को 'रूप' धातु से व्युत्पन्न मानते हुए वे 'रूप' को 'वर्प, वर्पस् से सम्बद्ध होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं।[६] उणादिकोष के अनुसार 'रूप' पद निपातन से सिद्ध होता है। यहाँ 'रु' धातु से 'प' प्रत्यय करके 'रूप' को व्युत्पन्न किया गया है।[७] इसका निर्वचन निम्न है:-''**रौति शब्दयतीति 'रूपम्' आकृतिः स्वभावः, सौन्दर्यम्।**''[८] आचार्य यास्क 'रूप' का निर्वचन '**रोचते**' से करते हैं।[९] डॉ. वर्मा का इस विषय में अभिमत है कि भारोपीय भाषा में 'प्' और 'च्' का परिवर्तन स्वीकार्य नहीं है।[१०]

वैदिक साहित्य में 'जातरूप' पद का प्रयोग देखने को नहीं मिलता, अतः, प्रमाण के अभाव में 'जातरूप' पद के विशिष्ट स्वरूप का प्रतिपादन करना सम्भव नहीं है और न इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है कि उक्तपद वस्तुतः, हिरण्य का वाचक है। ऐसी स्थिति में मात्र इतना कहा जा सकता है कि जिस विशाल वैदिक वाङ्मय में ये सब नामपद प्रयुक्त थे, आज वह अनुपलब्ध है। जब तक वह साहित्य उपलब्ध नहीं

---

१ निघ० १.२.१५.
२ निघ०वृ०, १.२.१५.
३ निघ०वृ०, १.२.१५.
४ निघ०वृ०, १.२.१५.
५ निघ०वृ०, १.२.१५.
६ संस्कृत-इंग्लिशकोष, पृ० ४१७.
७ धातु०, ४.४१. अष्टा०, ६.४.४२. धातु०, १.७३२. उणा०, ३.२८. निघ०वृ०, १.२.१५.
८ उणा०, ३.२८.
९ निरु० २.३.
१० दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १११.

होता, तब तक कुछ भी कहना मात्र कल्पना है।

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के द्वितीय गण में निघण्टुकार ने १५ हिरण्य-वाचक नामपदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	हेमन् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.१.	वेद हिरण्य के रूप को अग्नि के समान उज्ज्वल तथा पवित्र करने वाला बतलाता है। इस प्रकार जिसके सम्पर्क में आने से प्राणी पवित्र अर्थात् रोगमुक्त हो जाता है, वह 'हेम' है।	ध्वनिरूप की दृष्टि से 'हि' धातु को 'हेमन्' पद का मूल माना जा सकता है।
२.	चन्द्रम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.२.	वेद में चन्द्र को 'चर्षणिप्राः' अर्थात् तन-मन में बसने वाला कहा गया है। ऋषि एक मन्त्र में अश्व, गौ, चन्द्र और हिरण्य देने को कहता है। इससे यह सूचित होता है कि चन्द्र हिरण्य से पृथक् धातु है। सम्भवतः, चन्द्र के समान वर्ण वाली रजत धातु को वेद 'चन्द्र' नाम से अभिहित करता है।	रजत धातु कान्तिमय तथा आह्लादक होने से 'चद्' धातु से 'चन्द्र' पद को व्युत्पन्न करना समीचीन है।
३.	रुक्मम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.३.	वेद में 'रुक्म' विशेषरूप से वक्षःस्थल पर और गौणरूप से भुजा में धारण किये जाने वाले सुवर्ण आभूषण के लिये प्रयुक्त हुआ है।	प्रज्वलित अग्नि सुवर्ण की आभा के समान होती है, अतः निघण्टु की ज्वलत्यर्थक 'रुच्' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है।
४.	अयः हिरण्यवाचक निघ०,१.२.४.	वेद में अयस् (लोह) से निर्मित होने वाले हिरण्य को 'अयस्' नाम से अभिहित किया गया है।	'अय्' अथवा 'इण्' धातु से विकसित होने की सम्भावना है।
५.	हिरण्यम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.५.	वेद में रुचिकर लगने के कारण धातुविशेष को 'हिरण्य' नाम से कहा गया है। इस धातु का कलश के साथ विशेष सम्बन्ध है।	आकर्षक होने के कारण 'हिरण्य' पद के 'हृ' या 'हर्य्' धातु से व्युत्पन्न होने की संभावना है।
६.	पेशः हिरण्यवाचक निघ०,१.२.६.	निर्धनता को दूर करने और यज्ञ में काम आने वाला सुवर्ण का अभिधान 'पेशस्' है। सम्भवतः, रूप की अभिवृद्धि का माध्यम होने से हिरण्य को 'पेशस्' कहा गया होगा।	'पिश्' धातु।
७.	कृशनम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.७.	वेद में 'कृशन' को नक्षत्र के समान कान्ति तथा हिरण्य की कान्ति को शान्त करने वाला माना गया है। इस आधार पर यह प्रतीत होता है कि वेद में 'कृशन' पद मुक्ता अर्थ का वाचक है।	'कृश्' दीप्तौ धातु।

८.	लोहम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.८.	लोहित वर्ण के आधार पर यह माना जा सकता है कि वेद में लोह हिरण्यवाचक नहीं है। सम्भवतः, 'लोह' पद अपरिष्कृत या हीनकोटि के लोह के लिये प्रयुक्त है।	'लुह्' (रुह्) धातु। अन्य धातुओं की अपेक्षा अधिक वृद्धिशील होने के कारण उक्त व्युत्पत्ति समीचीन है।
९.	कनकम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.९.	वेद में 'कनक' पद अप्रयुक्त है। अतः, उसके विशिष्ट स्वरूप का निर्धारण करना सम्भव नहीं है।	कान्तिवाचक 'कन्' धातु।
१०.	काञ्चनम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.१०.	वेद में अप्रयुक्त रहने के कारण 'काञ्चन' के विशिष्ट स्वरूप का निर्धारण करना सम्भव नहीं है, परन्तु धातु के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि आभूषण के काम आने वाला सुवर्ण काञ्चन है, लेकिन शब्द का ध्वनिरूप वर्तमान में प्रचलित 'काँच' का सङ्केत देता है।	दीप्ति और बन्धन अर्थ वाली 'कञ्च्' धातु।
११.	भर्म हिरण्यवाचक निघ०,१.२.११.	वेद में 'भर्म' पद भरण-पोषण अर्थ में आया है। उक्तपद सुवर्ण या किसी अन्य धातु के अर्थ में प्रयोग होता दिखायी नहीं देता है। एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि भृति में दिया जाने वाला सुवर्ण 'भर्म' हो, परन्तु यह अभी कल्पना मात्र है।	'भृ' धारणपोषणयोः' धातु।
१२.	अमृतम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.१२.	ऋग्वेद में 'अमृत' पद हिरण्यवाचक नहीं है, लेकिन अथर्ववेद एवं ब्राह्मण में यह निश्चितरूप से हिरण्यवाचक है। यहाँ हिरण्य की 'अमृत' के रूप में प्रतिष्ठा हो गयी थी और उसके औषधीय गुणों का पहिचान लिया गया था।	'न+'मृ' धातु से।
१३.	मरुत् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.१३.	सम्भवतः, वेद में नदी से प्राप्त होने वाले सुवर्ण को 'मरुत्' नाम से अभिहित किया गया है। एक सम्भावना यह भी है कि अपने को सुवर्ण से मण्डित करने की अभिलाषा रखने करने के कारण मनुष्य 'मरुत्' नाम से अभिहित हुआ हो।	वेद से प्राप्त सङ्केतों के आधार पर सुखवाचक 'मृळ्' या हर्षार्थक 'मद्' धातु से व्युत्पन्न होने की अधिक सम्भावना है।
१४.	दत्रम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.१४.	सामान्य रूप से यह पद वेद में सुवर्ण का वाचक नहीं है। वेद दातव्य धन को 'दत्र' नाम से कहता है, परन्तु यह सम्भव है कि वैदिक काल में सुवर्ण धन का पर्याय रहा हो।	दानार्थक 'दा' धातु।
१५.	जातरूपम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.१५.	वैदिक साहित्य में 'जातरूप' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। अतः, प्रमाण के अभाव में इस विषय में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है।	'जात+रूप'।

हिरण्यवाचक गण

निघण्टुकार ने हिरण्यवाचक गण में १५ पद परिगणित किये हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हिरण्यवाचक वर्ग में परिगणित शब्दों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है:-१. सुवर्ण, २. रजत, ३. लोह, ४. मुक्ता, ५. आभूषण, ६. काँच, ७. अस्पष्ट शब्द। प्रथम सुवर्णवाचक वर्ग में निम्नपद हैं:-१. हेमन्, २. हिरण्य, ३. पेशस्, ४. भर्म, ५. अमृत, ६. मरुत्। द्वितीय रजत वाचक पद केवल 'चन्द्र' है। लोह धातुवाचक दो शब्द हैं:-१. लोह, २. अयस्। प्रथम पद अपरिष्कृत लोह का वाचक है, जबकि द्वितीय परिष्कृत लोह का। हिरण्यवाचक गण में मात्र 'कृशन' पद मुक्ता का वाचक है। उक्त गण में आभूषण के वाचक शब्द के रूप में 'रुक्म' का परिगणन निघण्टुकार ने किया है। प्राचीनकाल में सुवर्ण के आभूषणों के साथ काँच का भी प्रयोग होता था, सम्भवतः, इस कारण निघण्टुकार ने 'काञ्चन' शब्द का प्रयोग किया है। यह तथ्य उक्तपद की धातु से भी पुष्ट हो जाता है।

इसके अतिरिक्त हिरण्यवाचक गण में कुछ ऐसे शब्द परिगणित हो गये हैं, जिनके वैदिक साहित्य में उद्धरण प्राप्त नहीं होते हैं, जैसे-१. कनक, २. जातरूप। उक्तपदों के वैदिक साहित्य में उपलब्ध न होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि जिस साहित्य में उक्तपदों का प्रयोग था, वह आज अनुपलब्ध है। प्रमाण के अभाव में उक्तपदों का स्वरूप-निर्धारण सम्भव नहीं है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि निघण्टुकार ने हिरण्यवाचक गण में केवल सुवर्णवाचक पदों का परिगणन नहीं किया है, अपितु उन्होंने उसमें अन्य धातुवाचक पदों का भी यथावसर समावेश किया है। यह सही है कि उक्त गण में प्रमुखता सुवर्ण वाचक पदों की है। लेकिन अन्य प्रकार के पद भी उसमें समाहित हैं, यह तथ्य अध्ययन के आधार पर स्वीकार किया जा सकता है।

द्वितीय अध्याय

अन्तरिक्षवाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के तृतीयगण अन्तरिक्षवाचक नामपदों में निघण्टुकार ने षोडश पदों का समाम्नान किया है।

१. अम्बरम्

निघण्टु के अन्तरिक्ष वाचक नामपदों में 'अम्बरम्' पद का परिगणन हुआ है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'अम्बरम्' पद का निर्वचन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं:-''**अम्बन्ते शब्दायन्तेऽस्मिन् मेघाः, अम्बते शब्दायते वा स्वयं वायुः मेघादिसंसर्गात्- आकाशगुणो हि शब्दः**''[२] कि इस अन्तरिक्ष में मेघ शब्द करते हैं अथवा मेघादि के संसर्ग से स्वयं वायु शब्द गुण वाले आकाश में शब्द करता है। अतः, अन्तरिक्ष को 'अम्बर' कहते हैं। इस पक्ष में 'अबिङ्' शब्दे' धातु से औणादिक 'अरच्' प्रत्यय होकर 'अम्बर' शब्द सिद्ध होता है।

(ख)''**उभयत्रापि गच्छति देशाद्देशान्तरं गम्यते वा प्राणिभिरित्यम्बु जलम्। तद्राति ददातीत्यम्बरो मेघः**''[३] कि दोनों स्थानों पर जाता है अथवा प्राणी देश देशान्तर में जल को ले जाते हैं। अतः, जल को 'अम्बु' कहते हैं। इस जल को प्रदान करने वाला मेघ 'अम्बर' कहलाता है। इस पक्ष में 'ऋ' धातु से 'उ' प्रत्यय तथा 'बुग्' का आगम होकर 'अम्बु' शब्द सिद्ध होता है। 'अम्बु' उपपदपूर्वक 'रा' दाने' धातु से 'क' प्रत्यय होकर 'अम्बरम्' पद निष्पन्न होता है।[४]

(ग)''**अम्बुवद्राजते स्वस्थस्तिमितसाराम्बुवदवभासते**''[५] कि स्वच्छ, निश्चल जल के समान सुशोभित होता है, अतः अन्तरिक्ष को 'अम्बर' कहते हैं। यहाँ 'अम्बु' अन्तरिक्ष का उपमान है। इस पक्ष में 'अम्बु+'राज्' धातु से 'ड' प्रत्यय होकर 'अम्बुरम्' और उससे 'अम्बरम्' पद व्युत्पन्न होता है।[६]

(घ)''**अम्बुमद्भवति, अन्तरिक्षं हि वर्षोदकेन तद्वत्**''[७] कि वर्षा के जल से अन्तरिक्ष जल वाला हो जाता है, अतः, इसे 'अम्बर' कहते हैं। इस पक्ष में 'अम्बु' शब्द से मत्वर्थीय 'र' प्रत्यय होकर 'अम्बर' पद निष्पन्न होता है।[८]

---

१ निघ०वृ०, १.३.१.

२ धातु०, १.३७५; उणा०, ५.४१; निघ०वृ०, १.३.१.

३ निघ०वृ०, १.३.१.

४ धातु०, २.४७; अष्टा०, ३.२.५; ६.३.१०९; निघ०वृ०, १.३.१.

५ निघ०वृ०, १.३.१.

६ धातु०, १.८०७; अष्टा०, ३.२.१०१; ६.४.१४३; निघ० वृ०, १.३.१.

७ निघ०वृ०, १.३.१.

८ निघ०वृ०, १.३.१.९.

आचार्य दुर्ग 'अम्बरम्' का निर्वचन ''**अम्बरमम्बुमद्भवति**'' करते हैं।[१] आचार्य यास्क ने 'अम्बुद' के निर्वचन के प्रसङ्ग में 'अम्बु' का निर्वचन 'अरणम्' किया है अर्थात् वे 'ऋ' धातु से 'अम्बु' को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[२] इस प्रकार देवराजयज्वन् का द्वितीय निर्वचन यास्क से प्रभावित है तथा चतुर्थ आचार्य दुर्ग से। वैदिक-पदानुक्रम-कोष निघण्टु के आधार पर 'अम्बर' पद को अन्तरिक्षवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची में 'अम्बरम्' पद अव्युत्पन्न रूप में प्रदर्शित किया गया है।[४] मोनियर विलियम्स ने भी 'अम्बरम्' पद की व्युत्पत्ति नहीं दी है तथा उनके अनुसार 'अम्बर' का अर्थ 'परिधि' है।[५] ऋग्वेद में यह पद मात्र एक बार आया है। आचार्य सायण तथा मोनियर विलियम्स इसे यहाँ 'अन्तिक' अर्थ का वाचक मानते हैं।[६] निघण्टुकोष में यह पद अन्तिकवाची नामपदों में पठित है।[७] अतः, उक्त अर्थ ग्रहण करना भी वैदिक परम्परा के सर्वथा अनुकूल है।

लेकिन ऋग्वेद के उक्त स्थल पर 'अम्बर' का अर्थ 'अन्तरिक्ष' मानकर भी अर्थसङ्गति लगायी जा सकती है।[८] ब्राह्मण साहित्य भी इस विषय में मौन है। अतः, पर्याप्त प्रमाण के अभाव में 'अम्बर' पद के विशिष्ट स्वरूप का निर्धारण सम्भव नहीं है।

आचार्य देवराजयज्वन् के उपर्युक्त चार निर्वचनों में से प्रथम निर्वचन सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि 'अबि' धातु से 'अम्बर' को व्युत्पन्न करने में वर्ण परिवर्तन के नियमों का उल्लङ्घन नहीं करना पड़ता तथा शब्द के गुणात्मक होने के कारण अन्तरिक्ष अर्थ के साथ सङ्गति भी हो जाती है।

इसके अतिरिक्त उणादिकोष 'अम्बरीश' पद को उक्त 'अबि' धातु से व्युत्पन्न मानता है[९] तथा आचार्य सायण भी 'अम्बरीश, त्र्यम्बः, अम्बा' आदि पद इसीसे व्युत्पन्न मानते हैं।[१०]

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि निघण्टु के अनुसार 'अम्बर' पद अन्तरिक्ष अर्थ का वाचक है तथा निर्वचनों के आधार पर उक्त अर्थ की प्रतीति हो जाती है, परन्तु उद्धरणों के अभाव में स्वरूप निर्धारण कर पाना सम्भव नहीं है।

२. वियत्

निघण्टु पदकोष के अन्तरिक्ष वाचक नामपदों में 'वियत्' पद पठित है।[११] आचार्य देवराजयज्वन्

---

१ दुर्ग,निरु० २.१०. पृ० १६०.

२ निरु० ३.१०.

३ वै०पद०को०, पृ० ४६६.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ५२.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८३.

६ सायण भा०,ऋ० ८.८.१४; संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८३.

७ निघ० २.१६.३.

८ ऋ० ८.८.१४; ऋग्वेद भाष्य, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधिसभा, १९७६.

९ उणा०, ४.३०.

१० माधवीया धातु०, १.३७५; पृ० ८.

११ निघ० १.३.२.

उक्तपद के निम्न तीन निर्वचन प्रस्तुत करते हैं:-"**विगतं यमनमुपरमणमस्मादिति वियत्- अन्तरिक्षं हि सर्वत्र व्याप्तत्वात् न कुत्रचित् उपरतम्**"[१] कि यमन अर्थात् उपरमण (प्रतिबन्ध) से रहित होने के कारण अन्तरिक्ष को 'वियत्' कहते हैं। यह सर्वत्र व्याप्त होने के कारण प्रतिबन्ध अर्थात् सीमा से रहित है। आचार्य क्षीरस्वामी 'वियच्छति' का अर्थ 'न विरमति' करते हैं। इस पक्ष में 'वि+'यमु' उपरमे' धातु से औणादिक 'क्विप्' प्रत्यय, अनुनासिक लोप तथा 'तुक्' का आगम होकर 'वियत्' पद व्युत्पन्न होता है।[२]

(ख)"**विविधं यतन्तेऽस्मिन् प्राणिनः आकाशे हि सर्वे व्याप्रियन्ते**"[३] कि आकाश के सर्वत्र व्याप्त होने के कारण इसमें प्राणी विविध प्रकार से यत्न करते हैं। इसलिए अन्तरिक्ष को 'वियत्' कहते हैं। इस पक्ष में 'वि'+'यती' प्रयत्ने' धातु से औणादिक 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'वियत्' पद निष्पन्न होता है।[४]

आचार्य दुर्ग 'वियत्' का निर्वचन निम्न प्रकार करते हैं:-"**नानाभावेन सर्वतो वियातमिति वियत्**"[५] कि नाना रूपों में यह सर्वत्र व्याप्त है, अतः, अन्तरिक्ष को 'वियत्' कहते हैं। आचार्य दुर्ग 'वि+'या' धातु से 'वियत्' व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वि+'इ' धातु से 'वि॒यत्' पद को उपपन्न मानती है, लेकिन यहाँ यह नामपद न होकर शतृप्रत्ययान्त क्रियारूप है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची से भी उक्त मत का समर्थन हो जाता है।[७] उक्त स्थिति के आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि वेद में 'वियत्' पद नाम रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है। शतपथ-ब्राह्मण में 'अहन्' को 'वियत्' का छन्द बताया है।[८] यहाँ यह 'अन्तरिक्ष' अर्थ को प्रकट कर रहा है। मोनियर विलियम्स भी 'वियत्' की उक्त व्युत्पत्ति से सहमत हैं। उनके अनुसार भागवत पुराण में 'वियत्' पद अन्तरिक्ष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[९]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'वियत्' पद के नामरूप का प्रयोग नहीं हुआ है, लेकिन अन्य ब्राह्मण एवं पौराणिक साहित्य में 'वियत्' का अन्तरिक्ष अर्थ में प्रयोग अवश्य हुआ है, पर जिस मात्रा में प्रयोग हुआ है, उसके आधार पर 'वियत्' के विशिष्ट स्वरूप का निर्धारण कर पाना सम्भव नहीं है। तथापि निर्वचनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'वियत्' वह अन्तरिक्ष है, जिसमें जड-चेतन जगत् अवकाश के कारण गतिशील रहता है।

---

१ निघ०वृ०, १.३.२.

२ निघ०वृ०, १.३.२.

३ निघ०वृ०, १.३.२.

४ निघ०वृ०, १.३.२.

५ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, २.१०; पृ० १६०.

६ वै०पद०को०, पृ० २९६७.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० ५००.

८ शत०ब्रा०, ८.५.२.५. "अहर्वै वियच्छन्दः।"

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९८१.

३. व्योम

निघण्टुकोष के अन्तरिक्षवाचक नामपदों में 'व्योमन्' पद परिगणित है। आचार्य यास्क व्योमन् का निर्वचन '**व्यवने**' से करते हैं।[१] उनके अनुसार 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'अव्' धातु से 'व्यवन' और 'व्यवन' से 'व्योमन्' शब्द निष्पन्न होता है। विशेष रूप से रक्षा करने के कारण अन्तरिक्ष को 'व्योम' कहा जाता है।[२] आचार्य दुर्ग कहते हैं:-''**विविधमस्मिन् शब्दजातमोतमिति व्योम**''[३] कि विविध शब्द समूह इसमें व्याप्त हैं, अतः, अन्तरिक्ष को 'व्योम' कहते हैं।

आचार्य देवराजयज्वन् भी दुर्ग के उक्त निर्वचन का समर्थन करते हुए कहते हैं:-''**व्यवति व्याप्नोति सर्वं जगत्**''[४] कि सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करने के कारण अन्तरिक्ष 'व्योम' कहा जाता है। इनके अनुसार 'वि' उपसर्ग पूर्वक व्याप्ति अर्थ वाली 'अव्' धातु से मनिन् प्रत्यय होकर 'व्योमन्' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(ख) आचार्य देवराजयज्वन् ने 'वि+'अव्' धातु से अर्थभिन्नता के आधार पर दो निर्वचन प्रस्तुत किए हैं:-''**अवनं गमनं विविधमस्मिन् विद्यते**''[५] कि इस अन्तरिक्ष में विविध प्रकार से गमन होता है, अतः, इसे 'व्योम' कहते हैं। इसका दूसरा निर्वचन यह है:-''**विशेषेणावति प्राणिनोऽवकाशप्रदानेन**''[६] कि अवकाश देकर प्राणियों की यह विशेष रूप से रक्षा करता है, अतः, अन्तरिक्ष को 'व्योम' कहते हैं।

(ग) एक अन्य निर्वचन प्रस्तुत करते हुए आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं:-''**संव्रियते तद्वायुना व्योम**''[७] कि वायु से संवृत अर्थात् आच्छादित होने के कारण अन्तरिक्ष 'व्योम' कहलाता है। इस पक्ष में संवरण अर्थ वाली 'व्येञ्' धातु से 'मनिन् 'प्रत्यय होकर 'व्येमन्' और उससे 'व्योमन्' पद निष्पन्न होता है। उक्त निर्वचन उणादिकोष सम्मत है।[८]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष के अनुसार यह आकाश वाचक नामपद है। कोषकार उक्तपद का विग्रह 'वि+ओमन्' करते हुए 'ओमन्' का मूल 'अव' रक्षणे=निवासे' धातु को मानता है। ग्रासमैन 'व्ये' संवरणे' धातु से 'व्योमन्' पद को निष्पन्न करने के पक्ष में हैं।[९] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची में व्योमन् का विग्रह 'वि+ओमन्' किया है तथा 'ओमन्' का मूल 'अव्' धातु को माना है।[१०] मोनियर विलियम्स 'व्योमन्' पद की निम्न तीन व्युत्पत्तियाँ प्रदर्शित करते हैं:-'व्ये' या 'वि+'अव्' या 'वे'। उनके अनुसार ऋग्वेद में व्योमन् पद

---

१ निरु० ११.४०, १३.१०.

२ निरु० ११.४०

३ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, १३.१०. पृ० १०००.

४ निघ० १.३.३.

५ निघ० १.३.३.

६ निघ० १.३.३.

७ निघ० १.३.३.

८ उणा०, १.५२.

९ वै०पद०को०, पृ० ३०४६.

१० ऋ०वै०पद०, पृ० ५१२, १६२.

स्वर्ग, आकाश, अन्तरिक्ष और वायु अर्थ में आया है।[१] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा व्योमन् पद के विषय में कहते हैं कि आचार्य दुर्ग ने 'व्यवन' को अविगृहीत पद माना है। उक्त 'व्यवन' को विगृहीत माना या अविगृहीत, दोनों ही स्थितियों में उक्त निर्वचन अस्पष्ट है। सम्भवतः, यास्क का आशय यह है कि 'व्योमन्' वह है जो सर्वत्र व्याप्त हो।[२] इस प्रकार डॉ. वर्मा उक्त यास्कीय निर्वचन को अस्पष्ट मानते हैं।

ऋग्वेद में 'व्योमन्' का प्रयोग प्रायः 'परम' के साथ हुआ है। इन्द्र के स्वरूप का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है कि वह इन्द्र इस लोक और व्योम के पार है[३] अर्थात् कुछ ऐसा भी है, जहाँ व्योम नहीं है अथवा वह लोक और व्योम से भी सूक्ष्म है। ऋग्वेद के कतिपय स्थलों पर व्योम को वाक् का परम व्योम बताया गया है।[४] कहीं ऋषि ऋक् के अक्षर को परम व्योम में स्थित बतलाता है[५] और कहीं सहस्राक्षर परम व्योम में स्थित है, का उल्लेख मिलता है।[६] उस परम व्योम में ही रोदसी (द्यावापृथिवी) स्थित है[७] उसीमें ज्योतिरूप में उत्पन्न होने वाले बृहस्पति है,[८] यह व्रतों की रक्षा करने वाला अग्नि उत्पन्न होता हुआ उसी परम व्योम में विराजमान हैं,[९] इन्द्र भी उसी परम व्योम में सोम का पान करता है,[१०] यह विद्युत् रूप अप्सरा भी अपने जार का आलिङ्गन इसी में करती है,[११] जितने भी सृष्टि नियामक ऋत आदि हैं, उनका भी आधार परम व्योम है,[१२] नासदीय सूक्त का ऋषि तो यहाँ तक कहता है कि जो इस संसार का अध्यक्ष है ,वह भी परम व्योम में स्थित है,[१३] त्रित ऋषि का अभिमत है कि असत् और सत् का आश्रय स्थान भी यही परम व्योम है।[१४] ऐतरेय-ब्राह्मण सूर्य को 'व्योमसद्' नाम से पुकारता है, क्योंकि व्योम में स्थित होकर यह प्रकाशित होता है।[१५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि व्योम अन्तरिक्ष का वह स्वरूप है, जो सबमें स्थित है या जिसमें सब स्थित हैं। इसलिए आचार्य यास्क, दुर्ग एवं देवराजयज्वन् प्रभृति आचार्यों का व्यापन

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १०४१.
२ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १४५.
३ ऋ० १.५२.१२. "त्वमस्य पारे रजसो व्योमन्।"
४ ऋ० १.१६४.३४, ३५. "अयं वाचः परमं व्योम।"
५ ऋ० १.१६४.३९. "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्।"
६ ऋ० १.१६४४१. "सहस्राक्षरा परमे व्योमन्।"
७ ऋ० १.६२.७. "परमे व्योमन्नधारयद्रोदसी।"
८ ऋ० ४.५०४. "बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषं परमे व्योमन्।"
९ ऋ० ६.८.२. "स जायमानः परमे व्योमनि व्रतान्यग्निर्व्रतपा अरक्षत।"
१० ऋ० ३.३२.१०. "मदाय सोमं परमे व्योमन्।"
११ ऋ० १०.१२३.५. "अप्सरा जारमुपसिष्मियाणा योषा बिभर्ति परमे व्योमन्।"
१२ ऋ०.५.१२.५. "ऋतेन ऋतं धरुणं धारयन्त यज्ञस्य शाके परमे व्योमन्।"
१३ ऋ० १०.१२९.७. "यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्।"
१४ ऋ० १०.५.७. "असच्च सच्च परमे व्योमन्।"
१५ ऐ०ब्रा०, ४.२०. "एष (सूर्यः) वै व्योमसद् व्योम वा एतत् सद्मनां यस्मिन्नेष आसन्नस्तपति।"

अर्थ वाली 'वि+'अव्' धातु से व्योमन् को व्युत्पन्न करना सर्वथा समीचीन है। वैदिक उद्धरण उक्त निर्वचन की ध्वनिमत से पुष्टि करते हैं।

४. बर्हिः

आचार्य यास्क ''बर्हिस्'' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**बर्हिः परिबर्हणात्**'' कि जो चारों ओर से बढ़ती है, ऐसी घास का नाम 'बर्हिस्' है।[१] उक्त निर्वचन के सम्बन्ध में आचार्य दुर्ग कहते हैं कि यह प्रसिद्ध कुशनिर्मित यज्ञाङ्ग है। यास्ककृत निर्वचन की व्याख्या वे '**परिच्छेदनात्**' से करते हैं, क्योंकि वह घास लून कर्म में कुशल होती है अथवा वह बढ़ने के स्वभाव वाली होती है।[२] इस प्रकार आचार्य यास्क और दुर्ग की दृष्टि में 'बर्हिस्' एक घास विशेष है, जिससे यज्ञ में काम आने वाला आसन निर्मित होता है।

आचाार्य देवराजयज्वन् अन्तरिक्ष अर्थ में 'बर्हिस्' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**बृंहते वर्द्धतेऽनेन प्राणिजातम्, सर्वे हि प्राणिनः आकाशे वर्द्धन्ते**''[३] कि इससे प्राणी समूह बढ़ता है अर्थात् सब प्राणी आकाश में वृद्धि को प्राप्त करते हैं, इसलिए अन्तरिक्ष को 'बर्हिस्' कहते हैं।

'बर्हिस्' के एक और निर्वचन को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं:-''**परिवृद्धं वा स्वयं विभुत्वात्**''[४] कि वह अपने विभुत्व से बढ़ा हुआ होता है। उपर्युक्त दोनों पक्षों में वृद्धि अर्थ वाली 'बृंह्' धातु से बर्हिस् शब्द व्युत्पन्न होता है।[५] उणादिकोष से भी उक्त मत की पुष्टि होती है।[६]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'बृह्' धातु से व्युत्पन्न 'बर्हिस्' पद को आसन, दर्भ, यज्ञ वाचक नामपद मानता है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार भी 'बर्हिस्' का मूल 'बृह्' धातु है।[८] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद यज्ञवेदी की घास, कुशासन, (सामान्यरूप से यह घास यज्ञवेदी पर बिछाई जाती है, जिस पर यजमान और देवता आसीन होते हैं,) के अर्थ में है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में 'बर्हिस्' का देवता के रूप में मूर्तीकरण हुआ है और इसकी गणना प्रयाज और अनुयाज नामक देवताओं में होती है।[९] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि यास्क ने 'बर्हिस्' का निर्वचन '**परिबर्हणात्**' किया है। सैन्ट पीटर्सबर्ग के अनुसार 'परिबर्हण' का अर्थ विस्तार, वृद्धि है, लेकिन आचार्य दुर्ग '**परिबर्हणात्**' की व्याख्या '**परिच्छेनात्**' करते हैं और दुर्ग 'परिच्छेदन' का अर्थ करते हैं:-'**लूनं हि तद्भवति परिवृद्धं वा**' जो

---

१ यास्क, निरु० ८.८.

२ दुर्ग,निरुक्तवृत्ति,, ८.८.

३ निघ०वृ०, १.३.४.

४ निघ०वृ०, १.३.४.

५ निघ०वृ०, १.३.४.

६ उणा०, २.१११. ''बृंहेर्नलोपश्च।''

७ वै०पद०को०, पृ० २२८२.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० ३६०.

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ७२२.

काटने पर बढ़ती है, वह 'बर्हिस्' है।[१] इस प्रकार डॉ. वर्मा के मत में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के द्वारा उक्त निर्वचन के स्वीकार किये जाने की पूर्ण सम्भावना है।

ऋग्वेद में 'बर्हिस्' का मुख्य रूप से कुशासन के अर्थ में प्रयोग हुआ है।[२] लेकिन अन्तरिक्ष के अर्थ में भी इसका पर्याप्त प्रयोग देखने को मिलता है। कहीं इसको 'त्रिषधस्थ' कहा है[३] अर्थात् भूमि, पवन जल को धारण करने वाला बताया है। कहीं इसको ऐसे स्थान के रूप में चित्रित किया है, जहाँ आदित्यगण विराजमान रहते हैं[४] कहीं यह ऐसे छिद्र रहित स्थान के रूप में चित्रित हुआ है, जहाँ तीनों देवियाँ अपनी स्वधा से इसका पालन करती हैं।[५] कहीं यह वह स्थान है, जहाँ द्युलोक के नर, भरत के पुत्र पवित्र सोम का पान करते हैं।[६] आचार्य देवराजयज्वन् अन्तरिक्ष अर्थ के वाचक 'बर्हिः' पद के उदाहरण में जिस मन्त्र को प्रस्तुत करते हैं, उसके अनुसार जो त्रिधातु से आच्छादित और कहीं से बँधा हुआ नहीं है तथा जिसमें जल स्थित रहते हैं, वह 'बर्हिस्' है।[७]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आचार्य यास्क ने अन्तरिक्ष अर्थ के वाचक 'बर्हिः' पद का निर्वचन प्रस्तुत नहीं किया है। ब्राह्मणग्रन्थों से भी उक्त अर्थ की पुष्टि नहीं हो पाती, वहाँ भी वह प्रमुख रूप से कुश वनस्पति के रूप में प्रयुक्त हुआ है। लेकिन उक्त ऋग्वैदिक उद्धरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि वैदिक काल में 'बर्हिस्' अन्तरिक्ष अर्थ का भी वाचक था। मन्त्रों में आये त्रिषधस्थ, त्रिधात्ववृतम्, आदित्या विराजथ, इदमच्छिद्रम् आदि पद 'बर्हिस्' को ऐसा अन्तरिक्ष बतलाते हैं, जिसमें तीनों लोक, तीनों धातुएँ और आदित्य विराजमान हैं। यह एक ऐसा अन्तरिक्ष है, जिसमें निरन्तर अणु का आकार बढ़ता रहता है। सम्भवतः, इसलिए बृंहण अर्थ वाली 'बृंह्' धातु से 'बर्हिस्' को निष्पन्न किया है।

५. धन्व

निघण्टुकोष के अन्तरिक्षवाचक गण में 'धन्वन्' पद परिगणित है।[८] आचार्य यास्क अन्तरिक्ष वाचक पदों में परिगणित 'धन्वन्' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''धन्वाऽन्तरिक्षं धन्वन्त्यस्मादापः''**[९] कि धन्वन् का अर्थ अन्तरिक्ष है, क्योंकि इसमें से वर्षा जल पृथिवी पर गिरते हैं। यहाँ गमन अर्थ वाली 'धन्व्' धातु से धन्वन् शब्द निष्पन्न होता है।

---

१ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ६०.

२ ऋ० १.१३.९. ''बर्हिःसीदन्त्वस्रिधः।'' ऋ० १.२६.४, ४५.९.

३ ऋ० १.४७.४. ''त्रिषधस्थे बर्हिषि विश्ववेदसा मध्वं यज्ञं मिमिक्षतम्।''

४ ऋ० १.१८८.४. ''यत्रादित्या विराजथ।''

५ ऋ० २.३.८. ''तिस्रो देवीः स्वधया बर्हिरेदमच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य।''

६ ऋ० २.३६.२. ''आसद्या बर्हिर्भरतस्य सूनवः पोत्रादा सोमं पिबत दिवो नरः।''

७ ऋ० ८.१०२.१४. ''यस्य त्रिधात्ववृतं बर्हिस्तथावसन्दिनम्। आपश्चिन्नि दधा पदम्।''

८ निघ० १.३.५.

९ निरु० ५.५.

आचार्य देवराजयज्वन् धन्वन् का निर्वचन निम्न प्रकार करते हैं:-"**धन्वन्ति गच्छन्ति अस्मादाप:**"[१] कि इस अन्तरिक्ष से जल नीचे की ओर जाते हैं, इसलिए वह धन्वन् कहलाता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'धन्व्' धातु से 'कनिन्' प्रत्यय होकर उक्त शब्द व्युत्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'धन्वन्' का एक और निर्वचन प्रस्तुत करते हैं:-"**धन्यते अर्थ्यते ऽवकाशप्रदानाय देवतात्वात् स्वं स्वमभीष्टं वा**"[२] कि देवता होने के कारण उसकी अवकाश प्रदान करने के लिए आवश्यकता होती है अथवा अपने-अपने अभीष्ट की इससे प्रार्थना की जाती है, अत: यह 'धन्वन्' कहलाता है। इस पक्ष में धान्य अर्थ वाली 'धन्' से 'क्वनिप्' प्रत्यय होकर उक्तपद व्युत्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'धन्व्' धातु से व्युत्पन्न 'धन्वन्' शब्द को धनुस्, मरु, शून्यदेश (अन्तरिक्ष) वाचक नामपद मानता है।[३] उणादिकोष तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार 'धन्व्' धातु से 'धन्वन्' पद निष्पन्न होता है।[४]

ऋग्वेद में 'धन्वन्' का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है, कहीं यह जल रहित प्रदेश का वाचक है, तो कहीं धनुष् का और कहीं अन्तरिक्ष का। ऋषि इसका वर्णन ऐसे प्रदेश के रूप में करता है, जहाँ से मरुद्गण निर्वात वृष्टि करते हैं।[५] एक अन्य स्थान पर ऋषि इसका चित्रण करता हुआ कहता है कि इसमें अग्नि प्राप्त होने योग्य जल की तरङ्ग को प्रकट करता है।[६] कहीं इसको समुद्र के 'धन्वन्' के रूप में चित्रित किया है।[७] निघण्टु में 'समुद्र' और 'धन्वन्' दोनों अन्तरिक्ष वाचक पदों में परिगणित हैं।[८] मन्त्र में ऋषि '**समुद्रस्य धन्वन्**' का पाठ कर रहा है, इससे यह ध्वनित होता है कि समुद्र का एक क्षेत्र विशेष धन्वन् है।[९] एक अन्य मन्त्र में 'धन्वन्' को प्रपा के समान बताया है[१०] इससे यह ज्ञात होता है कि ऋषि जलमय प्रदेश को 'धन्वन्' मान रहा है। एक अन्य स्थान पर कहा है कि यह ऐसा स्थान है कि जहाँ 'धन्वन्' की ओषधियों के जल का स्तर निम्न होता है।[११] कहीं 'धन्वन्' को अक्षित (क्षय न होने वाला) बताया है।[१२] एक मन्त्र में तो 'धन्वन्' और 'अन्तरिक्ष' को अलग-अलग बताया है।[१३]

---

१ निघ०वृ०, १.३.५.
२ निघ०वृ०, १.३.५.
३ वै०पद०को०, पृ० १६९९.
४ उणा०, १.१५६. ऋ०वै०पद०, पृ० २६८.
५ ऋ० १.३८.७.
६ ऋ० १.९५.१०. "धन्वन्स्रोत: कृणुते गातमूर्मिम्।"
७ ऋ० १.११६.४. "समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे।"
८ निघ० १.३.
९ ऋ० १.११६.४. "समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथै: शतपद्भि: षळश्वै:।"
१० ऋ० १०.४.१. "धन्वन्निव प्रपा असि।"
११ ऋ० ४.३३.७. "धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापा:।"
१२ ऋ० ५.७.७. "स हि ष्मा धन्वाक्षितम्।"
१३ ऋ० १०.८९.६. "न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षम्।"

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि निघण्टु में अन्तरिक्ष अर्थ में परिगणित 'धन्वन्' शब्द का वैदिक साहित्य में प्रचुर प्रयोग हुआ है। यहाँ यह सम्पूर्ण अन्तरिक्ष प्रदेश का वाचक प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह ऐसे अन्तरिक्ष क्षेत्र को बतलाता है, जिसमें जल के कण विद्यमान हैं। उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि रूप की दृष्टि से 'धन्व्' धातु 'धन्वन्' पद का मूल प्रतीत होती है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से उपर्युक्त निर्वचन बहुत समीचीन नहीं है।

६. अन्तरिक्षम्

निघण्टुकोष के अन्तरिक्ष वाचक नामपदों में 'अन्तरिक्ष' अन्तरिक्ष पद परिगणित है।[१] अन्तरिक्ष शब्द का वैदिक साहित्य में विपुल प्रयोग हुआ है। जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है:-''**अथ यद् (आण्डस्य) अन्तरासीत्, तदिदमन्तरिक्षम्**''[२] कि जो ब्रह्माण्ड के अन्दर स्थित था, वह 'अन्तरिक्ष' है। इस पक्ष में 'अन्तर्' से 'अन्तरिक्ष' पद उपपन्न होता है।

ताण्ड्य-महाब्राह्मण भी इस कथन का समर्थन करता हुआ कहता है:-''**अन्तरेव वा इदमिति तदन्तरिक्षस्यान्तरिक्षत्वम्**''[३] कि यह भीतर ही बसा हुआ है, अतः 'अन्तर्' के कारण यह अन्तरिक्ष कहलाता है। जैमिनीय-ब्राह्मण में इसी प्रकार का एक और निर्वचन प्राप्त होता है:-''**अन्तरेव वा इदमुभयम् (द्यावापृथिवी) अभूदिति। तदन्तरिक्षस्यान्तरिक्षत्वम्।**''[४] कि द्युलोक और पृथिवीलोक इसके अन्दर स्थित हैं, यह अन्तरिक्ष का अन्तरिक्षत्व है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'अन्तरिक्ष' पद सिद्ध होता है।

जैमिनीयोपनिषद् अन्तरिक्ष के निर्वचन को और अधिक स्पष्ट करती हुई कहती है:-''**तद्यस्मिन्निदं सर्वमन्तस्तस्मादन्तर्यक्षम्। अन्तर्यक्षं ह वै नामैतत्। तदन्तरिक्षमिति परोक्षमाचक्षते।**''[५] कि इसमें सब कुछ अन्दर है, इसलिए यह 'अन्तर्यक्ष' है। परोक्षवृत्ति में यह 'अन्तर्यक्ष' अन्तरिक्ष कहा जाता है। सम्भवतः, इस पक्ष में ब्राह्मण 'अन्तर्+'क्षि' धातु से 'अन्तरिक्ष' पद निष्पन्न करने का सङ्केत देता है।

जैमिनीय-ब्राह्मण अन्तरिक्ष के एक अन्य निर्वचन को प्रस्तुत करता हुआ कहता है:-''**यदस्मिन् सर्वस्मिन् अन्तरीक्षते, तस्मादन्तरिक्षम्।**''[६] कि इसमें सब कुछ अन्दर दिखायी देता है, इसलिए 'अन्तर्+'ईक्ष्' धातु से 'अन्तरिक्ष' पद व्युत्पन्न हुआ है।

शतपथ-ब्राह्मण से भी उक्त निर्वचन की पुष्टि हो जाती है:-''स हैवेमावग्रे लोकावासतुस्तयोर्वियतोर्योऽन्तरेणाकाश आसीत्तदन्तरिक्षमभवदीक्षं हैतन्नाम ततः पुरान्तरा वाऽइदमीक्षमभूदिति तस्मादन्तरिक्षम्''[७] कि पूर्व में इसी प्रकार दोनों लोक विद्यमान थे, उनके बीच में जो आकाश था, वही

---

१ निघ० १.३.६.

२ जै०ब्रा०, ३.३६१.

३ ता०,ब्रा०, २०.१४.२.

४ जै०ब्रा०, २०२४४.

५ जै०उप०, १.६.१.४.

६ जै०ब्रा०, २.५६.

७ शत०ब्रा०, ७.१.२.२३.

अन्तरिक्ष हुआ। पहले यह देखा गया, इसलिए यह 'अन्तर्+'ईक्ष' से 'अन्तरिक्ष' कहा जाता है। यहाँ ब्राह्मण का ऋषि 'अन्तर्' पूर्वक 'ईक्ष्' धातु को 'अन्तरिक्ष' का मूल मान रहा है।

आचार्य यास्क अन्तरिक्ष का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अन्तरा क्षान्तं भवति**''[१] कि द्यावापृथिवी के मध्य स्थित होने से यह 'अन्तरिक्ष' कहलाता है। यहाँ निर्वचन में आये 'क्षान्तम्' की व्याख्या में मतभेद है। आचार्य दुर्ग उक्तपद का अर्थ 'पृथिवी का अन्त' करते हैं, तदनुसार व्याख्या होगी:-''कि अन्तरिक्ष द्यावापृथिवी में स्थित है और पृथिवी के अन्त तक है''।[२] यहाँ दुर्ग क्षान्त के 'क्ष' का अर्थ पृथिवी मानते हैं। आचार्य स्कन्दस्वामी 'क्षम्'+क्त' से 'क्षान्त' को व्युत्पन्न मानते हुए अर्थ करते हैं:-जो द्यावापृथिवी के मध्य शान्त अर्थात् निश्चल भाव से स्थित है, वह अन्तरिक्ष है।[३]

(ख)''**अन्तरेमे इति वा**''[४] कि द्यावापृथिवी इसके मध्य स्थित हैं, अतः यह अन्तरिक्ष नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'अन्तरा+'क्षि' निवासगत्योः' धातु से 'अन्तरिक्ष' पद व्युत्पन्न होता है।

(ग)''**शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा**''[५] कि सभी शरीरों में यह विना क्षय हुए विद्यमान रहता है, अतः अविनाशी होने के कारण यह 'अन्तरिक्ष' कहलाता है। इस पक्ष में 'अन्तर्+न+'क्षि' क्षये' धातु से यह पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् अन्तरिक्ष के निम्न निर्वचन प्रस्तुत करते हैं:-''अन्तरिक्षं कस्मात्? अन्तरा मध्ये सर्वभूतानां क्षान्तं शान्तं निःक्रियं वा शान्तमव्यूहं विष्कम्भस्थानत्मकत्वात्''[६] कि अन्तरिक्ष के अन्तरिक्ष नामकरण का कारण यह है कि यह सब भूतों में निश्चल और शान्त रूप से विद्यमान रहता है। यहाँ यह 'अन्तरा+'क्षम्' धातु से 'अन्तरिक्ष' पद उपपन्न होता है।

(ख)''**अन्तरा इमे रोदस्यौ क्षियतीति वा**''[७] कि ये द्यावापृथिवी इसके मध्य रहते हैं, अतः यह अन्तरिक्ष कहलाता है। इस पक्ष में 'अन्तरा+'क्षि' निवासगत्योः' धातु से अन्तरिक्ष पद व्युत्पन्न होता है।

(ग)''**अन्तरेमे क्षोण्याविति वा**''[८] कि इसके मध्य दोनों क्षोणी विद्यमान हैं, अतः यह अन्तरिक्ष कहलाता है। इस पक्ष में 'अन्तरा+क्षोणी' से (पृषोदरादित्वात्) अन्तरिक्ष पद व्युत्पन्न होता है।

(घ)''**पूर्वशरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा**''[९] कि पूर्वशरीरों के विद्यमान न रहने पर भी यह अक्षय रूप में बना रहता है, अतः यह अन्तरिक्ष नाम से अभिहित होता है। 'अन्तर्+न+'क्षि' क्षये' धातु से (पृषोदरादि नियम से) यह पद निष्पन्न होता है।

---

१ निरु० २.१०.

२ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, २.१०.

३ स्कन्द, निरुक्तवृत्ति, २.१०.

४ निरु० २.१०.

५ निरु० २.१०.

६ निघ०वृ०, १.३.६.

७ निघ०वृ०, १.३.६.

८ निघ०वृ०, १.३.६.

९ निघ०वृ०, १.३.६.

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अन्तरिक्ष' पद को द्यावापृथिवी के अन्तरालवर्तिप्रदेश का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[२]

ऋग्वेद का ऋषि अन्तरिक्ष के वैशिष्ट्य का वर्णन करता हुआ कहता है कि यह 'उरु' अर्थात् विस्तृत स्वरूप वाला है।[३] कहीं इस विशेषता का प्रतिपादन 'वरीयः' के द्वारा किया गया है।[४] कहीं ऋषि इसे 'अतूर्त' (असीम) विशेषण से सम्बोधित करता है।[५] एक स्थान पर अन्तरिक्ष को 'अवंश' अर्थात् जिसका वंश न हो विशेषण से अभिहित किया है।[६] कहीं ऋषि इसको ऐसे स्थान के रूप में चित्रित करता है, जहाँ इन्द्र से प्रेरित जल आकर ठहरते हैं।[७] इसके अतिरिक्त ऋषि अन्तरिक्ष को मृत्यु के पश्चात् पुनः प्राण देने वाले के रूप में भी उल्लेख करता है।[८] पुरुष सूक्त का ऋषि अन्तरिक्ष को पुरुष की नाभि से उत्पन्न होने वाला बतलाता है।[९] इसका यह आशय ग्रहण किया जा सकता है कि जिस प्रकार नाभि जीवन का केन्द्र है या जिस प्रकार इससे जीवन बँधा हुआ है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष भी इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अस्तित्व का आधार है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मणग्रन्थों एवं निरुक्त आदि के निर्वचनों में 'अन्तर्' या 'अन्तरा' अन्तरिक्ष पद का मूल है। इसके अतिरिक्त उक्तपद में निवासार्थक 'क्षि' धातु का योग और प्रतीत होता है। वैदिक उद्धरणों में आए उरु, वरीयः, अतूर्त आदि पद उक्त निर्वचन की पुष्टि कर रहे हैं।[१०] इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अन्तरिक्ष ब्रह्माण्ड का वह तत्त्व है, जो सब में है और जिसमें सम्पूर्ण निहित है तथा जो जीवन और जगत् का आधार है। अन्तरिक्ष में आये 'अन्तर्' पद से यह व्यञ्जित होता है कि अन्तरिक्ष चर-अचर जगत् का अन्तस् अर्थात् मूल है, सब इसी एक तत्त्व से प्रकट हुआ है। व्यक्त और अव्यक्त रूप में जगत् इसीमें निवास करता है। सम्भवतः, इस आशय का प्रतिपादन करने के लिये ब्राह्मण साहित्य 'अन्तर्+'क्षि' से उक्तपद को व्युत्पन्न करता है।

७. आकाशम्

निघण्टु में अन्तरिक्ष वाचक पदों में आकाश का परिगणन हुआ है।[११] ऐतरेय आरण्यक आकाश पद

---

१ वै०पद०को०, पृ० २८२.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ३२.

३ ऋ० ३.२२.२; ५.१.१११; ६.४७.४; ७.९८.३.

४ ऋ० २.१२.२; ६.६९.५.

५ ऋ० १०.१४९.१. "अन्तरिक्षमतूर्ते।"

६ ऋ० २.१५.२. "अवंशे द्यामस्तभायद् बृहन्तमा रोदसी अपृणदन्तरिक्षम्।"

७ ऋ० ३.३०.९. "अन्तरिक्षमर्षन्त्वापस्त्वयेह प्रसूताः।"

८ ऋ० १०.५९.७. "पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।"

९ ऋ० १०.९०.१४. "नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।"

१० ऋ० २.१२.२; ६.६९.५; ३.२२.२; ५.१.१११;

११ ऐ०आ०, २.३.१.

के निर्वचन को प्रस्तुत करता हुआ कहता है:-''**आवपनमाकाश आकाशे हीदं सर्वं समोप्यते**''[१] कि 'आकाश' का अर्थ 'आवपन' है, क्योंकि आकाश में ही सब कुछ बोया जाता है। यहाँ ब्राह्मणग्रन्थ का ऋषि 'आ+'वप्' धातु से आकाश को व्युत्पन्न करने के पक्ष में है।

इस विषय में जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण के ऋषि का अभिमत है:-''**स यस्स आकाश आदित्य एव स:। एतस्मिन् ह्युदिते सर्वमिदमाकाशते**''[२] कि वह जो आकाश है वही आदित्य है, इसके उदित होने पर यह सब कुछ प्रकाशित होता है। इस पक्ष में 'आ+'काश्' धातु से 'आकाश' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'आकाश' के निम्न दो निर्वचन प्रस्तुत करते हैं:-''**आ समन्तात् काशन्ते दीप्यन्ते सूर्यादयोऽत्र**''[३] कि यहाँ चारों ओर सूर्य आदि प्रकाशित होते हैं, अत: अन्तरिक्ष को आकाश कहते हैं। यहाँ ''आ+'काश्'+घ' से 'आकाश' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा नञ्पूर्वात् काशे:। न काशते पृथिव्यादिवत् अप्रत्यक्षत्वात्''[४] कि यह पृथिव्यादि के समान इसका प्रत्यक्ष नहीं होता है, अत:, 'अकाश' को आकाश कहते हैं। इस पक्ष में 'न+काश्'+अच्' से 'अकाश=आकाश पद उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'आकाश' पद को नामपद मानता है। उसके अनुसार वैदिक साहित्य में केवल दो बार उक्तपद का प्रयोग हुआ है। एक बार ऋग्वेदीय खिलसूक्त सङ्ग्रह में तथा एक बार पैप्पलाद संहिता में हुआ है।[५]

आकाश के स्वरूप को स्पष्ट करता हुआ जैमिनीय-ब्राह्मण का ऋषि कहता है कि जो अन्तरिक्ष आकाश है, वही पुरुष है।[६] तैत्तिरीयारण्यक और तैत्तिरीय उपनिषद् का मत है कि पृथिवी और द्युलोक के बीच का सन्धि स्थान आकाश है।[७] एक अन्य स्थान पर ब्राह्मण कहता है कि जो कुछ भी है, वह सब कुछ आकाश में प्रतिष्ठित है।[८] ये ब्राह्मण यह भी कहते हैं कि उस और इस आत्मा से उत्पन्न होने वाला तत्त्व आकाश है।[९]

वैदिक साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद में 'आकाश' पद का प्रयोग सर्वथा नहीं हुआ है, इसलिए वैदिक ऋचाओं के आधार पर आकाश के स्वरूप को स्पष्ट करना सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस ब्रह्माण्ड में 'आकाश' वह तत्त्व है, जिसमें सूर्य आदि ग्रह प्रकाशित होते हैं। इन सबका प्रकाशन स्थान होने के कारण यह 'आकाश' कहलाता है।

---

१ जै०उप०, १.८.१.२.

२ जै०उप०, १.८.१.२.

३ निघ० १.३.७.

४ निघ० १.३.७.

५ वै०पद०को०, पृ० ६१४. खि०सा, ३३.११. पै०सं० ३.२८.५.

६ जै०ब्रा०, २.५६. ''य एवायमन्तरिक्ष आकाश एष एव स पुरुष:।''

७ तै०आ०, ८.१.१. तै०उप०, १.३.१-२. ''पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाश: सन्धि:।''

८ तै०आ०, ९.१०.३. तै०उप०, ३.१०.३. ''सर्वमित्याकाशे (प्रतिष्ठितम्)।''

९ तै०आ०, ८.१.१. तै०उप०, २.१.१. ''तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: सम्भूत:।''

८. आप:

निघण्टुकोष में 'आप:' पद अन्तरिक्ष वाचक नामपदों के साथ-साथ उदकवाची पदों में भी परिगणित है।[१] 'आप:' पद के विषय में शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-"**अद्भिर्वाऽ इदं सर्वमाप्तम्**"[२] कि आप: के द्वारा यह सब व्याप्त है। जैमिनीय-ब्राह्मण भी कुछ इसी प्रकार का वक्तव्य देता है।[३] काठक-सङ्कलन में कहा गया है:-"**आपो वा इदं सर्वमाप्नुवंस्तदेनमाह सर्वमाप्नुहीति**"[४] कि 'आप:' ने यह सब कुछ व्याप्त किया, इसलिए उसको कहा सबको व्याप्त करो।

इस विषय को कुछ और स्पष्ट करता हुआ गोपथ-ब्राह्मण कहता है:-"**तद्यदब्रवीद्(ब्रह्म) आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किंचेति, तस्मादापोऽभवंस्तदपामप्त्वमाप्नोति वै स सर्वान् कामान् यान् कामयते**"[५] कि उस (ब्रह्म) ने कहा कि जो कुछ भी है, उस सबको मैं इनसे व्याप्त करूँगा, इसलिए जिस-जिसको चाहता है, उन सबको वह 'आप:' होता हुआ 'आप:' के अप्त्व (व्यापकत्व) से व्याप्त करता है। उपर्युक्त सभी निर्वचनों में ब्राह्मणग्रन्थ व्याप्ति अर्थ वाली 'आप्' धातु से 'आप:' पद व्युत्पन्न करने के पक्ष में है।

आचार्य यास्क 'आप:' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**आप: आप्नोते:**"[६] कि व्यापनशील होने के कारण 'आप:' को 'आप:' कहा जाता है। ऐसा ही निर्वचन वे अन्यत्र भी करते हैं।[७] आचार्य यास्क भी ब्राह्मणग्रन्थों की तरह 'आप:' को व्याप्ति अर्थ वाली 'आप्' धातु से निष्पन्न करने के पक्ष में हैं।

आचार्य देवराजयज्वन् अन्तरिक्ष वाचक 'आप:' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**व्याप्नोति ह्यन्तरिक्षं सर्वं जगत्। आप्यते वा प्राणिभि:**"[८] कि यह सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर लेता है अथवा यह प्राणियों से व्याप्त है, इसलिए अन्तरिक्ष को 'आप:' कहा जाता है। इस पक्ष में व्याप्ति अर्थ वाली 'आप्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'आप:' पद व्युत्पन्न होता है।

वैदिक साहित्य और ब्राह्मण साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि 'आप:' का 'उदक' अर्थ में बहुलता से प्रयोग हुआ है, जबकि 'अन्तरिक्ष' में प्रयोग विरल हुआ है। तैत्तिरीयारण्यक और तैत्तिरीय उपनिषद् 'आप:' के विषय में कहते हैं:-"**अग्नि: पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आप: सन्धि:। वैद्युत: (अग्नि:) सन्धानम्**"[९] कि अग्नि पूर्वरूप है और आदित्य उत्तररूप तथा 'आप:' इन दोनों का सन्धि स्थल है। ऐसे

---

१ निघ० १.३.८; १२.५३.

२ शत०ब्रा०, १.१.१.१४; २.१.१.४; ४.५.७.७.

३ जै०ब्रा०, १.३१४. "आपो भूत्वा सर्वमाप्नोत्।"

४ काठ०संक०, ४९:६-७.

५ गो०ब्रा०, १.१.२.

६ निरु० ९.२६; १४.३५.

७ निरु० १२.३७.

८ निघ०वृ०, १.३.८.

९ तै०आ०, ७.३.२. तै०उप०, १.३.२.

स्थलों पर अवश्य कुछ प्रतीत होता है कि 'आप:' अन्तरिक्ष वाचक पद है, परन्तु यहाँ पर भी 'आप:' के उदक वाचक अर्थ की सङ्गति लगायी जा सकती है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'आप:' पद को 'आप्' ('अप्') धातुमूलक पद मानता है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्त कथन का समर्थन करती है।[२] मोनियर विलियम्स 'आप:' की व्युत्पत्ति के विषय में मौन हैं। उनके अनुसार अन्य भाषाओं में 'आप:' का समकक्ष शब्द निम्न है:- लैटिन में 'aqu' नदी अर्थ में, गौथिक में 'ahva' नदी अर्थ में, प्राचीन जर्मन में 'aha' 'affa' परिसर भूमि के अर्थ में, लिथुआनियन में 'uppi' नदी अर्थ में है। सम्भवत:, लैटिन में 'आपनी' शब्द की समता 'amnis' नदी अर्थ से है।[३] इस प्रकार आप: के समकक्ष माने जाने वाले सभी शब्द नदी अर्थ के वाचक हैं। डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा 'आप:' पद की प्राचीन भाषाओं से तुलना करते हुए कहते हैं कि भारोपीय भाषा में 'p' उदक और नदी अर्थ में, प्राचीन प्रुशियन में 'ape' नदी अर्थ में तथा लिथुआनियन में 'upe' उदक अर्थ में है। वे उक्त यास्कीय निर्वचन को **'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि'** सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं। उनकी दृष्टि में उक्त निर्वचन पूर्णतया अस्पष्ट तथा उसमें जीवन्तता का अभाव है।[४]

वैदिक साहित्य में 'आप:' पद का प्रचुर प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में 'आप:' के स्वरूप का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है कि इन्द्र ऐसा है कि जिसके अन्तिम छोर को 'आप:' अर्थात् अन्तरिक्ष भी नहीं प्राप्त कर सकता।[५] एक अन्य ऋषि कहता है कि द्रविण को धारण करने वाले अग्नि को आप:, मित्र और धिषणा आदि देव सिद्ध करते हैं।[६] एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि उसके लिए 'आप:' (अन्तरिक्ष) तेज की वर्षा करते हैं तथा नदियाँ उदारता से बहती हैं।[७]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में 'आप:' का प्रयोग अन्तरिक्ष अर्थ में भी हुआ है। लेकिन उससे 'आप:' का वह अन्तरिक्ष परक अर्थ, जो उसे अन्तरिक्ष से अलग करता है, स्पष्ट नहीं होता। उक्त सभी निर्वचनों में 'आप:' के एक ही अर्थ का प्रतिपादन किया है कि जो व्याप्त करता है, वह 'आप:' है। यह 'आप:' की चरित्रगत विशेषता जितनी अच्छी तरह अन्तरिक्ष पर चरितार्थ होती है, उतनी उदक पर नहीं। इसका कारण यह है कि व्याप्त करना या होना अन्तरिक्ष का स्वभाव है।

इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मूलत: अन्तरिक्ष का नामकरण 'आप:' रहा होगा, कालान्तर में व्यापनशीलता को ध्यान में रखते हुए उदक को भी 'आप:' नाम से अभिहित किया जाने लगा होगा।

---

१ वै०पद०को०, पृ० ३०८.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ३५.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ४७.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० २२, ८५.

५ ऋ० १.१००.१५. ''न यस्य देवा न देवता न मर्त्ता आपश्चन शवसो अन्तमापु:।''

६ ऋ० १.९६.१. ''आपश्च मित्रं धिषणा च साधन्देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्।''

७ ऋ० १.१२५.५. ''तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा।''

९. पृथिवी

निघण्टु के भूमि वाचक पदों के अतिरिक्त अन्तरिक्ष वाचक पदों में भी 'पृथिवी' पद का परिगणन हुआ है। तैत्तिरीय-संहिता का ऋषि कहता है:-"**अप्रथत पृथिवी**"[१] कि फैली हुई है, इसलिए यह पृथिवी है। शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-"**तामप्रथयत् सा पृथिव्यभवत्**"[२] कि उसको फैलाया गया या वह फैलायी हुई है, इसलिए वह 'पृथिवी' है। एक अन्य स्थान पर तैत्तिरीय-संहिता का ऋषि कहता है कि उस प्रजापति ने वराह रूप होकर जल में डुबकी लगायी, वह पृथिवी को नीचे से ऊपर लेकर आया, उसने पुष्कर पर्ण पर उसको फैलाया, जो फैलाया यह 'पृथिवी' का पृथिवीत्व अर्थात् पृथिवी नामकरण का आधार है।[३] उपर्युक्त सभी निर्वचनों में 'प्रथ्' धातु से 'पृथिवी' को व्युत्पन्न माना गया है।

आचार्य यास्क 'पृथिवी' नामपद का निर्वचन देते हुए कहते हैं:-"**प्रथनात् पृथिवीत्याहुः**"[४] कि फैली हुई होने के कारण इसको 'पृथिवी' कहते हैं।

आचार्य देवराजयज्वन् भी उक्त परम्परा का अनुसरण करते हुए कहते हैं:-"**प्रथते पृथिवी**"[५] कि फैलती है, इसलिए यह पृथिवी है। उक्त सभी निर्वचनों में 'प्रथ्' धातु से 'पृथिवी' पद व्युत्पन्न हुआ है। उणादिकोष से भी इस व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है।[६]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'पृथिवी' पद को अथर्ववेद में विशाल वाचक भूमि का विशेषण तथा नामपद भी मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का 'पृथ्वी' पद के मूल के विषय में अभिमत है कि भाषा-विज्ञान के अविकसित तथा वैदिक साहित्य की अपर्याप्त गवेषणा के कारण अभी इसके विषय में कुछ भी कहा नहीं जा सकता।[८] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार भी 'पृथिवी' पद का मूल अज्ञात है।[९] मोनियर विलियम्स 'पृथिवी' पद का मूल 'प्रथ' धातु को मानते प्रतीत होते हैं। वे कहते हैं कि वेदों के अनुसार तीन पृथिवियाँ हैं। एक जिस पर हम लोग रहते हैं, दूसरी इसके नीचे समुद्र को घेरे हुए और तीसरी तीनों लोकों में फैली हुई है।[१०]

उपर्युक्त सभी निर्वचनों और वक्तव्यों का आधार वैदिक ऋचाओं में स्पष्ट देखा जा सकता है। ऋग्वेद

---

१ तै०सं० २.१.२.३.

२ शत०ब्रा०, ६.१.१.१५; ३.७.

३ तै०सं० १.१.३.६-७. "स (प्रजापतिः) वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत्। स पृथिवीमध आर्च्छत् तस्य उपहत्योदमज्जत्, तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत् यदप्रथयत् तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वम्।"

४ निरु० १.१२.

५ निघ०वृ०, १.३.९.

६ उणा०, १.१५०.

७ वै०पद०को०, पृ० २०९६.

८ दि एटिमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ८०.

९ ऋ०वै०पद०, पृ० ३३४.

१० संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ६४६.

कहता है कि उसने पृथिवी को धारण किया और फैलाया।[१] एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि द्युलोक के अन्त तक पृथिवी को फैलाया।[२] यहाँ सम्भवत: 'पृथिवी' का आशय अन्तरिक्ष से है। एक अन्य मन्त्र कहता है कि द्युलोक, पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष (पृथिवी) लोक दर्शनीय वपु को धारण करते हैं।[३] यहाँ ऋषि 'पृथिवी' से 'अन्तरिक्ष' का अभिधान कर रहा है। एक दूसरे स्थान पर कहा गया है कि उसने भूमि और पृथिवी (अन्तरिक्ष) को धारण किया तथा द्युलोक को प्रतिष्ठित किया।[४] जैमिनीयोपनिषद् का मत है कि सम्पूर्ण लोक इस पृथिवी में प्रतिष्ठित हैं।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भूमि अर्थ में 'पृथिवी' पद का प्रयोग बहुत हुआ है, लेकिन कुछ स्थलों पर नि:सन्दिग्ध रूप से यह 'अन्तरिक्ष' अर्थ को भी ध्वनित करता है। जैसाकि मन्त्रों और निर्वचनों में स्पष्टरूप से कहा गया है कि प्रथित होने के कारण यह पृथिवी कहलाती है, यह चरित्रगत विशेषता भूमि के समान अन्तरिक्ष में भी पायी जाती है। हम यह भी कह सकते हैं कि यह वैशिष्ट्य भूमि की अपेक्षा अन्तरिक्ष पर अधिक अच्छी तरह चरितार्थ होता है। यह 'पृथिवी' नामक अन्तरिक्ष द्युलाक के अन्त तक विस्तृत बताया गया है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रथित विशेषता के कारण अन्तरिक्ष 'पृथिवी' नाम से अभिहित हुआ है।

१०. भू:

निघण्टु पदकोष में 'भू:' यह नामपद पृथिवी वाचक नामपदों के साथ-साथ अन्तरिक्ष वाचक नामपदों में भी पठित है।[६] काठकसंहिता 'भू' पद का निर्वचन करती हुई कहती है:-"**भूरिति व्याहरेद् भूतो वै प्रजापतिर्भूतिमेवोपैति**"[७] कि 'भू' इस उच्चारण से उत्पन्न प्रजापति भूति (ऐश्वर्य) को प्राप्त करता है। इस पक्ष में 'भूति' से 'भू' पद निष्पन्न होता है।

'भू' का वर्णन करता हुआ ब्राह्मण कहता है:-"**स हैष भूरेव नाम यज्ञक्रतु:, एतेन ह वै यज्ञेनेष्ट्वा प्रजापतिरभवत्। यदभवत्तस्माद् भू:**"[८] कि वह 'भू' नाम का यज्ञक्रतु (यज्ञकर्म) था, इस से यजन करने पर प्रजापति हुआ। जो यह हुआ, इसलिये यह 'भू' कहलाता है। इस पक्ष में 'भू' धातु से 'भू:' पद निष्पन्न होता है।

एक अन्य स्थान पर जैमिनीय-ब्राह्मण का ऋषि कहता है:-"**प्रजापतिर्यदग्रे व्याहरत् स भूरित्येव व्याहरत्। स इमाम् (पृथिवीम्) असृजत**"[९] कि प्रजापति ने पहले कहा वह 'भू' ही कहा। अन्यत्र ब्राह्मण यह

---

१ ऋ० २.१५.२. "स धारयत्पृथिवीं पप्रथच्च।"

२ ऋ० ३.६१.४. "अन्तादिव: पप्रथ आ पृथिव्या:।"

३ ऋ० १.१०२.२. "बिभ्रति द्यावाक्षामा पृथिवी दर्शतं वपु:।"

४ ऋ० १.६७.३. "क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्याम्।"

५ जै०उप०, १.२.३.२. "पृथिव्यामिमे लोका: प्रतिष्ठिता:।"

६ निघ० १.३.१०.

७ काठ०सं० ३५.१७.

८ जै०ब्रा०, २.१४७.

९ जै०ब्रा०, १.१०१.

भी कहता है:-''**भूरिति व्याहृति:। तदयं (पृथिवी) लोकोऽग्निर्देवता गायत्री छन्दस्त्रिवृत् स्तोमो रथन्तरं साम वसवो देवता वनस्पतयश्चौषधयश्च**''[१] कि 'भू' यह व्याहृति है। इसमें पृथिवी लोक, अग्निदेवता, गायत्री छन्द, त्रिवृत् स्तोम, रथन्तर साम, वसु देवता, वनस्पतियाँ और औषधियाँ आती हैं। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थ 'भू' को अग्नि, पृथिवी, प्रजापति, प्राण, ब्रह्मन्, भूमि आदि अर्थों में और प्रयोग करता है।

आचार्य देवराजयज्वन् अन्तरिक्ष वाचक 'भू' नामपद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**भवत्यस्माद् वृष्ट्यादि:**''[२] कि इससे वृष्टि आदि होती हैं, इसलिए अन्तरिक्ष को 'भू' कहते हैं। इस पक्ष में 'भू'+क्विप्' से उक्तपद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष भूधातुमूलक 'भू' पद को भूमि, लोक प्रभृति का वाचक स्त्रीलिङ्ग नामपद मानते हैं।[३] मोनियर विलियम्स तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार भी 'भू' पद का मूल 'भू' धातु है।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निघण्टु में 'भू' का परिगणन अन्तरिक्ष वाचक पदों में हुआ है, लेकिन इस अर्थ में 'भू' का प्रयोग सर्वथा नहीं हुआ है। वैदिक साहित्य और ब्राह्मणग्रन्थों से इस अर्थ की पुष्टि नहीं हो पाती। आचार्य देवराजयज्वन् भी उक्त अर्थ के समर्थन में प्रमाण प्रस्तुत कर पाने में असमर्थता व्यक्त करते हैं। जहाँ तक व्युत्पत्ति का प्रश्न है, निर्विवादरूप से 'भू' धातु को उक्तपद का मूल माना जा सकता है।

११. स्वयम्भू:

निघण्टु के अन्तरिक्ष वाचक पदों में 'स्वयम्भू' पद का परिगणन हुआ है। आचार्य देवराजयज्वन् उक्तपद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**स्वयं भवति न केनचित् सृज्यते, केषाञ्चिद्वादिनां पक्षे नित्यं ह्याकाशम्**''[५] कि यह स्वयं होता है, किसी के द्वारा इसका निर्माण नहीं किया जाता है। कुछ लोगों के मत में आकाश नित्य तत्त्व है। इस पक्ष में 'स्वयम्+'भू'+कु' से 'स्वयम्भू' पद निष्पन्न होता है। मैत्रायणी-संहिता 'स्वयम्भू' का अर्थ आदित्य मानती है।[६] जबकि तैत्तिरीय-संहिता इसका अर्थ अग्नि मानने के पक्ष में है।[७]

वैदिक साहित्य में 'स्वयम्भू' पद का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में उक्तपद का मात्र एक बार उल्लेख प्राप्त होता है, यहाँ 'मन्यु' को 'स्वयम्भू' (स्वयं उत्पन्न होने वाला) बताया गया है।[८] यजुर्वेद में उक्तपद

---

१ जै०ब्रा०, ३.८७.

२ निघ०वृ०, १.३.१०.

३ वै०पद०को०, पृ० २३६०.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७६०; ऋ०वै०पद०, पृ० ३७२.

५ निघ०वृ०, १.३.११.

६ मै०सं०४.६.६. ''असौ वा आदित्य: स्वयंभू: श्रेष्ठो रश्मि:।''

७ तै०सं० ५.१.९.४. ''यो भूतिकाम: स्याद् य (अग्नि:) उखायै संभवेत्स एव तस्य स्याद्। अतो ह्येष संभवति, एष वै स्वयभूर्नाम (अग्नि:) भवत्येव।

८ ऋ० १०.८३.४. ''त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजा: स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाह:।'' तुल०,अथर्व०, ४.३२.४.

का उल्लेख तीन बार प्राप्त होता है। एक स्थान पर स्वयम्भू ऋषि परमेश्वर को 'स्वयम्भू' बतलाते हुए उसे श्रेष्ठ और वर्चस् आदि का प्रदाता प्रतिपादित करते हैं।[१] द्वितीय स्थान पर ईश्वर को महान् अर्णव (सृष्टि) में सर्वप्रथम सुसत्तात्मक और स्वयं पर आधारित अस्तित्व वाला बतलाया है।[२] तृतीय स्थान पर दीर्घतमा ऋषि आत्मा को 'स्वयम्भू' रूप में चित्रण करते हैं।[३] अथर्ववेद में भी परमात्मा को अकाम, धीर अमृत बतलाते हुए उसे 'स्वयंभू' कहा है।[४] कालदेवता का वर्णन करता हुआ अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि वह 'स्वयम्भू' और कश्यप (द्रष्टा) परमात्मा काल और तप से उत्पन्न हुआ।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में प्राय: सर्वत्र परमेश्वर को 'स्वयम्भू' नाम से अभिहित किया गया है। केवल एक स्थान पर 'मन्यु' को भी 'स्वयम्भू' बतलाया गया है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि वेद में 'भू' के समान 'स्वयम्भू' पद के भी अन्तरिक्ष अर्थ के वाचक उदाहरण प्राप्त नहीं होते हैं। ब्राह्मण साहित्य से भी उक्त अर्थ की पुष्टि नहीं हो पाती है। अत:, प्रमाण के अभाव में इसके स्वरूप का निर्धारण सम्भव नहीं है।

१२. अध्वा

निघण्टुकोष के अन्तरिक्ष वाचक पदों में 'अध्वा' पद पठित है।[६] उक्तपद का निर्वचन करते हुए आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं:-''**अदनं स्वस्तिगच्छतां पक्ष्यादीनां विषमस्थानाभावात्**''[७] कि कुशलता पूर्वक गमन करने वाले पक्षी आदियों के लिए अन्तरिक्ष में बैठने का उपयुक्त स्थान न होने से यह अन्तरिक्ष मृत्यु का कारण बनता है, अत: अन्तरिक्ष को 'अध्वा' कहते हैं। इस पक्ष में 'अद्'+वनिप्' से 'अध्+वन्' और उससे 'अध्वन्' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, अधिर्गत्यर्थ: कश्चिद् धातु:। गच्छन्त्यस्मिन् देवादय: इत्यध्वा**''[८] कि धातुपाठ में अपरिगणित गति अर्थ वाली 'अध्' धातु से 'अध्वा' पद व्युत्पन्न होता है। इसमें देवता आदि गमन करते हैं, इसलिए अन्तरिक्ष को 'अध्वा' कहते हैं।

(ग)''**यद्वा, अध्वा मार्गोऽस्मिन् विद्यते, सन्ति ह्याकाशे मेघपथादय:। सततं गच्छन्त्यत्र सूर्यादय इत्यध्वा**''[९] कि जिसमें मार्ग विद्यमान है, वह अध्वा है, क्योंकि आकाश में मेघ आदि के पथ विद्यमान हैं। इस अन्तरिक्ष के पथ पर निरन्तर सूर्य आदि ग्रह गमन करते हैं, अत: अन्तरिक्ष को 'अध्वा' कहते हैं। यहाँ 'अध्वन्' शब्द से मत्वर्थीय प्रत्यय और उसका लुक् करके उक्त शब्द निष्पन्न होता है।

---

१ यजु०, २.२६. ''स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वचोदाऽअसि वर्चो मे देहि। सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते।''

२ यजु०, २३.६३. ''सुभू: स्वयम्भू: प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे।''

३ यजु०, ४०.८. ''कविर्मनीषी परिभू: स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽअर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्य: समाभ्य:।''

४ अथर्व०, १०.४.४४. ''अकामो धीरो अमृत: स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोन:।''

५ अथर्व०, १९.५३.१०. ''स्वयंभू: कश्यप: कालात् तप: कालादजायत।''

६ निघ०वृ०, १.३.१२.

७ निघ०वृ०, १.३.१२.

८ निघ०वृ०, १.३.१२.

९ निघ०वृ०, १.३.१२.

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अध्वन्' पद को मार्गवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार 'अध्'+वनिप्' से 'अध्वन्' उपपद होता है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[२]

वैदिक और लौकिक साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि 'अध्वन्' शब्द का प्रयोग 'मार्ग' अर्थ में हुआ है। यह मार्ग पृथिवी का भी हो सकता है और अन्तरिक्ष का भी। ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि मरुद्गण साथ मिलकर 'अध्वन्' पर जाते हैं।[३] एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि सूर्य मन की गति से अन्तरिक्ष पथ पर गमन करता है।[४] एक अन्य मन्त्र कहता है कि यह अग्निदेवताओं के जाने के मार्ग को जानता है।[५] कहीं पर सूर्य को अध्वन् को व्याप्त करने वाला बताया गया है।[६]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'अध्वन्' शब्द मार्गवाची अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। निघण्टुकोष में अन्तरिक्ष वाचक पदों में परिगणित उक्तपद अन्तरिक्ष के मार्ग को प्रतिपादित करता प्रतीत होता है। सम्भवतः, यह ग्रहों और नक्षत्रों के परिक्रमापथ के लिए प्रयुक्त होता रहा है। यही कारण है कि इसको 'अद्' धातु से निघण्टुवृत्तिकार तथा अन्य कोशकार व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं, क्योंकि इस पथ पर भटकने वाले को यह पथ खा जाता है। इस प्रकार हम यह मान सकते हैं कि 'अध्वन्' वह अन्तरिक्ष का भाग है, जिस पर ग्रह और नक्षत्र परिक्रमा करते हैं।

१३. पुष्करम्

निघण्टुकोष के अन्तरिक्षवाची नामपदों में 'पुष्कर' पद परिगणित है।[७] पुष्कर के निर्वचन परक अर्थ को स्पष्ट करता हुआ शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-"**इन्द्रो वृत्रꣳ हत्वा नास्तृषीीति मन्यमानोऽपः प्राविशत्ता अब्रवीद् बिभेमि वै पुरं मे कुरुतेति स योऽपाꣳरस आसीत् तमूर्ध्वꣳ समुदौहंस्तामस्मै पुरमकुर्वंस्तद्यदस्मै पुरमकुर्वंतद्यदस्मै तस्मात् पुष्करं पुष्करꣳ ह वै तत्पुष्करमित्याचक्षते परोक्षम्**"[८] कि इन्द्र वृत्र का वध करके तृप्त नहीं हुआ, ऐसा मानता हुआ वह जलों में प्रवेश कर गया, वह बोला कि मैं डरता हूँ, इसलिए जलों के रस को मेरे सामने करो। ऊपर से दुहते हुए इस जल को इन्द्र के समक्ष प्रस्तुत किया गया, क्योंकि इसके लिए जलों का रस प्रस्तुत किया गया, इस कारण 'पुरस्+कुरुत' से परोक्ष में 'पुष्कर' यह कहा जाता है। इस पक्ष में 'पुरस्+'कृ' धातु से 'पुष्कर' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क पुष्कर का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**पुष्करमन्तरिक्षं पोषति भूतानि, उदकं पुष्करं पूजाकरं पूजयितव्यं वा**"[९] कि 'पुष्कर' का अर्थ अन्तरिक्ष है, क्योंकि अवकाश का दान देकर यह भूतों का

---

१ वै०पद०को०, पृ० १५१.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० २४.

३ ऋ० १.३७.१३. "यद्ध यान्ति मरुत: सं ह ब्रुवतेऽध्वन्ना। शृणोति कश्चिदेषाम्।"

४ ऋ० १.७१.९. "मनो योऽध्वन: सद्य एत्येक: सत्रा सूरो वस्व ईशे।"

५ ऋ० १.७२.७. "अन्तर्विद्वाँ अध्वनो देवयानान्।"

६ ऋ० ३.३०.१२. "सं यदानळध्वन:।"

७ निघ० १.३.१३.

८ शत०ब्रा०, ७.४.१.१३.

९ निरु० ५.१४.

पोषण करता है। उदक को भी पुष्कर कहते हैं, क्योंकि इसके द्वारा देवताओं की पूजा की जाती है। अथवा यह उदक ही पूजनीय होता है। अन्तरिक्ष अर्थ के पक्ष में 'पुष्' धातु से 'पुष्कर' शब्द निष्पन्न होता है।

'पुष्कर' शब्द का एक अन्य निर्वचन प्रस्तुत करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं:-"**इदमपीतरत् पुष्करमेतस्मादेव पुष्करं वपुष्करं वा**"[१] कि यह पुष्कर (पद्म) भी पूजा का साधन तथा आदरणीय होने से पुष्कर कहलाता है। अथवा इससे शरीर की शोभा होती है, इसलिए यह 'पुष्कर' कहलाता है। इस पक्ष में 'वपुस्+'कृ+अच्' से 'वपुष्कर' और उससे 'पुष्कर' शब्द व्युत्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'पुष्कर' शब्द के निम्न निर्वचन प्रस्तुत करते हैं:-"**पोषयति भूतानि अवकाशप्रदानेन उदकदानाद्युपकारेण च**"[२] कि यह अन्तरिक्ष अवकाश प्रदान तथा उदकदानादि के द्वारा लोकों का पोषण करता है, इसलिए वह 'पुष्कर' कहलाता है। इस पक्ष में 'पुष्' धातु से 'पुष्कर' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)"**पुष्कं वारि राति पुष्करम्- इति क्षीरस्वामी**"[३] कि 'पुष्क' का अर्थ 'उदक' है और जो उस उदक को देता है, वह 'पुष्कर' है। इस पक्ष में 'पुष्क+'रा' दाने धातु से 'पुष्कर' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(ग)"**यद्वा, वपुरित्युदकनाम। तत्कर्तुं शीलमस्य। वपुष्करं सद्वकारलोपेन पुष्करम्**"[४] कि 'वपुस्' यह 'उदक' का नाम है और उस उदक की वर्षा करने के स्वभाव वाला अन्तरिक्ष 'पुष्कर' कहलाता है। इस पक्ष में 'वपुस्+'कृ'+ट' से 'वपुष्कर' और उससे 'पुष्कर' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'पुष्कर' शब्द को कमल और जल का वाचक नामपद मानता है। ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'पुष्कर' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[६] उणादिकोष 'पुष्' धातु से 'पुष्कर' शब्द को व्युत्पन्न करता है।[७] इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि निर्वचनों का बहुमत 'पुष्कर' शब्द को 'पुष्' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में है।

ऋग्वेद में 'पुष्कर' शब्द का उल्लेख चार बार आया है। ऋषि कहता है कि 'अद्रि' (मेघों) ने 'मधु' (उदक) को 'पुष्कर' में स्थापित किया।[८] यहाँ ऋषि 'पुष्कर' शब्द से 'अन्तरिक्ष' का आशय ग्रहण कर रहा है। एक अन्य ऋषि कहता है कि अथर्वा ने 'पुष्कर' के ऊपर अग्नि का मन्थन किया। 'पुष्कर' के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करता हुआ आगे ऋषि कहता है कि यह 'पुष्कर' मूर्धा के समान विश्व का वाहक है।[९]

---

१ निरु० ५.१४.

२ निघ०वृ०, १.३.१३.

३ निघ०वृ०, १.३.१३.

४ निघ०वृ०, १.३.१३.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ३२७.

६ वै०पद०को०, पृ० २०६१.

७ उणा०, ४.४. "पुषः कित्।"

८ ऋ० ८.७२.११. "अध्यारमिदद्रयो निषिक्तं पुष्करे मधु। अवतस्य विसर्जने।"

९ ऋ० ७.१६.१३. "त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः।"

इसका आशय यह है कि विश्व को वहन करने की सामर्थ्य वाला अन्तरिक्ष 'पुष्कर' है। एक अन्य मन्त्र कहता है कि मित्रावरुण और उर्वशी से उत्पन्न होने वाले वसिष्ठ का जन्म स्थान 'पुष्कर' है।[१] एक अन्य मन्त्र में अश्विनीदेवों को **'पुष्करस्रजा'** अर्थात् पुष्कर स्रक् से उत्पन्न होने वाला बताया गया है।[२] यहाँ, सम्भवतः, पुष्कर का तात्पर्य 'पद्म' से है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह अन्तरिक्ष 'पुष्कर' है कि जिसमें मधु स्थापित किया जाता है, इसीमें अग्नि का मन्थन करके उसे सूर्य रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, इसलिये यह अन्तरिक्ष मूर्धा के समान विश्व का वाहक है, यही मित्रावरुण (सूर्य, वायु) और उर्वशी (विद्युत्) के संयोग से उत्पन्न होने वाले वसिष्ठ (उदक) की जन्मभूमि है और अश्विनीदेवों (अर्धरात्रि के समय प्रकाश और अन्धकार) का जन्म भी इसमें होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'पुष्कर' का मुख्य अर्थ 'अन्तरिक्ष' है। तैत्तिरीय-संहिता के अनुसार 'पुष्करपर्ण' पर पृथिवी को प्रथित किया गया।[३] शतपथ-ब्राह्मण, काठक-संहिता तथा कपिष्ठलकठ-संहिता 'पृथिवी' को 'पुष्करपर्ण' बतलाती हैं।[४] इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थ द्युलोक, वाक्, योनि, अग्नि, अप् आदि का 'पुष्करपर्ण' के रूप में उल्लेख करते हैं।[५] उक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि पुष्करपर्ण के रूप में उल्लिखित पदार्थ अन्तरिक्ष में ही समाहित हो सकते हैं। अतः, निःसन्दिग्ध रूप से यह कहा जा सकता है कि पुष्कर अन्तरिक्ष वाचक पद है। अन्तरिक्ष का वह रूप जिसमें पोषण अर्थात् धारण करने की सामर्थ्य है, वैदिक साहित्य में 'पुष्कर' नाम से अभिहित है।

१४. सगर:

निघण्टुकोष के अन्तरिक्ष वाचक पदों में 'सगर' पद परिगणित है।[६] आचार्य देवराजयज्वन् 'सगर' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते है:-**"सह गिरन्त्यस्मिन् स्थिता आदित्यरश्मयो भौमरसमिति सगर:"**[७] कि अन्तरिक्ष में स्थित होकर आदित्य रश्मियाँ भूमि के रस का निगरण करती हैं, इसलिए अन्तरिक्ष 'सगर' कहलाता है।

(ख)"सह उद्गिरन्त्यस्मिन् स्थिता मेघा वर्षोदकमिति वा"[८] कि यहाँ स्थित होकर मेघ वर्षा के जल का उद्गिरण करते हैं, इसलिए अन्तरिक्ष 'सगर' कहलाता है।

---

१ ऋ० ७.३३.११. "उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः। द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाऽददन्त।"

२ ऋ० १०.१८४.२. "गर्भं ते अश्विनौ देवावधत्तां पुष्करस्रजम्।"

३ तै०सं० १.१.३.६. "तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत्।"

४ शत०ब्रा०, ७.४.१.१२. "इयं वै पुष्करपर्णम् (पृथिवी)।" काठ०, १९.४. कपि०क०सं० ३०.२.

५ शत०ब्रा०, ६.४.१.९. "द्यौः पुष्करपर्णम्।" शत०ब्रा०, ६.४.१.७. "वाक् पुष्करपर्णम्।"
तै०सं० ५.१.४.२. "योनिर्वा अग्नेः पुष्करपर्णम्।" शत०ब्रा०, ६.४.१.७. "योनिर्वै पुष्करपर्णम्।"
तै०सं० ५.१.४.२. "अपां वा एतत्पृष्ठं यत्पुष्करपर्णम्।"

६ निघ० १.३.१४.

७ निघ०वृ०, १.३.१४.

८ निघ०वृ०, १.३.१४.

(ग) यद्वा, गीर्य्यते अभ्यवह्रियते विद्यते इति गरः उदकम्, तेन सह वर्तते इति सगरः''१ कि निगीरण किए जाने के कारण उदक 'गर' है और उसके साथ रहने वाला यह अन्तरिक्ष 'सगर' कहलाता है। उपर्युक्त तीनों निर्वचनों में 'सह+'गॄ'+अप्' से 'सगर' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(घ)''यद्वा, 'गॄ' शब्दे'। गीर्य्यते इति गरः शब्दः, गरेण शब्देन सह वर्तते इति सगरः, आकाशो हि स्वगुणेन शब्देन सहैव सर्वदा वर्तते''२ कि निगरण के कारण शब्द 'गर' कहलाता है, गर अर्थात् शब्द के साथ रहने से अन्तरिक्ष 'सगर' कहलाता है, क्योंकि आकाश का गुण 'शब्द' मर्वदा उसके साथ रहता है। इस पक्ष में भी पूर्व की भाँति 'सगर' शब्द व्युत्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सगर' पद को अग्नि, वायु, समुद्र प्रभृति का वाचक नामपद तथा आदित्य व्यक्तिपरक संज्ञा मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।३ ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।४

ऋग्वेद में 'सगर' शब्द का मात्र एक बार प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि जिस प्रकार अन्तरिक्ष प्रदेश से जल की धाराएँ निरन्तर गिरती हैं, ठीक उसी प्रकार इन्द्र के लिए स्तुतियाँ प्रेरित होती हैं।५ यजुर्वेद के मात्र एक मन्त्र में 'सगर' शब्द पठित है और यहाँ उसका तीन बार उल्लेख हुआ है। यजुर्वेद का ऋषि कहता है कि अग्नियाँ मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, अग्नियाँ निगीरण की सामर्थ्य वाले (सगर) अन्तरिक्ष (सगर) की सगर (निगल लेने वाली) नाम वाली भयङ्कर सेना से मेरी रक्षा करें।६ काठक-संहिता का मत है कि प्रजाओं से वह 'सगर' कहलाता है।७ शतपथ-ब्राह्मण 'सगर' का अर्थ 'रात्रि' बतलाता है।८ मैत्रायणी-संहिता 'सगर' को 'विश्ववेदस्' के रूप में स्थापित करती है।९

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निःसन्दिग्ध रूप से 'सगर' का अर्थ 'अन्तरिक्ष' है। यजुर्वेद से 'सगर' का अपना विशिष्ट अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। वह 'सगर' उसे मानता है, जिसमें निगीरण की सामर्थ्य हो। कहने का आशय यह है कि अन्तरिक्ष की वह शक्ति 'सगर' है, जिसमें समस्त ब्रह्माण्ड लय हो जाता है। जहाँ मूर्त जगत् अमूर्त होकर विश्राम करता है, ऐसा अन्तरिक्ष 'सगर' है। शतपथ-ब्राह्मण के 'सगर' का अर्थ 'रात्रि' कहने के मूल में भी सम्भवतः यही कारण प्रतीत होता है। दर्शन में रात्रि या ब्राह्म रात्रि ऐसी (प्रलयकालीन) स्थिति का नाम है। इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि निगीरण

---

१ निघ०वृ०, १.३.१४.

२ निघ०वृ०, १.३.१४.

३ वै०पद०को०, पृ० ३२०७.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ५४१.

५ ऋ० १०.८९.४. ''इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अपः प्रेरयं सगरस्य बुध्नात्।''

६ यजु०, ५.३४. ''मित्रस्य मा चक्षुषेक्षध्वमग्नयः सगराः सगरा स्थ सगरेण नाम्ना रौद्रेणानीकेन पात माग्नयः।''

७ काठ०सं० ३५.१५. ''प्रजाभिस्सगरः।''

८ शत०ब्रा०, १.७.२.२६. ''सगरा रात्रिः।''

९ मै०सं० १.२.१२. ''सगरोऽसि विश्ववेदाः।''

की सामर्थ्य से सम्पन्न अन्तरिक्ष का नाम 'सगर' है। जिसे आज का विज्ञान black whole के नाम से पुकारता है, सम्भवतः वही वेद की भाषा में सगर है।

१५. समुद्रः

निघण्टुकोष के अन्तरिक्षवाची पदों में 'समुद्र' शब्द का परिगणन हुआ है।[१] गोपथब्राह्मण उदक वाचक समुद्र का निर्वचन करता हुआ कहता है:-"**तद्यत् (आपः) समद्रवन्त तस्मात्समुद्र उच्यते**"[२] कि सम्यक् प्रकार से उदकों के दौड़ने के स्थान का नाम 'समुद्र' है। इस पक्ष में 'सम्+'द्रु' से समुद्र शब्द निष्पन्न होता है। जैमिनीयोपनिषद् समुद्र का 'वायु' परक निर्वचन करती हुई कहती है:-"**य एवायं (वायुः) पवत एष एव स समुद्रः। एतं हि संद्रवन्त सर्वाणि भूतान्यनुसंद्रवन्ति**"[३] कि यह जो वायु पवित्र करता हुआ बहता है, यही 'समुद्र' है, क्योंकि इसके सम्यक् चलने से इसके पीछे सब प्राणी चलते हैं अर्थात् वायु के प्रवाहित होने से सब जीवित रहते हैं। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'समुद्र' शब्द निष्पन्न होता है। इसी प्रकार का निर्वचन शतपथ-ब्राह्मण में भी देखने को मिलता है।[४]

आचार्य यास्क 'समुद्र' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**समुद्रः कस्मात्? समुद्रवन्त्यस्मादापः**"[५] कि इस अन्तरिक्ष से जल सम्यक् रीति से नीचे अथवा पृथिवीस्थ समुद्र से जल भाप बनकर ऊपर की ओर जाते हैं, अतः, यह 'समुद्र' कहलाता है। इस पक्ष में 'सम्+उत्+'द्रु' से समुद्र शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)"**समभिद्रवन्त्येनमापः**"[६] कि अन्तरिक्ष की ओर चारों तरफ से जल दौड़ते हुए जाते हैं अथवा पृथिवीस्थ समुद्र की ओर सब ओर उदक भागते हुए चले आते हैं, अतः, इन्हें 'समुद्र' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सम्+अभि+'द्रु' से समुद्र शब्द निष्पन्न होता है।

(ग)"**संमोदन्तेऽस्मिन् भूतानि**"[७] कि अन्तरिक्ष में पक्षी आदि तथ समुद्र में जलचर प्राणी प्रसन्न रहते हैं, अतः, इन दोनों को 'समुद्र' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सम् +उत्+'मुद्' से 'समुद्र' शब्द निष्पन्न होता है।

(घ)"**समुदको भवति**"[८] कि अन्तरिक्ष और पृथिवीस्थ समुद्र में उदक संहत अर्थात् एकत्रित होते हैं, अतः, यह 'समुद्र' कहलाता है। इस पक्ष में 'सम्+उदक' से 'समुदक' और उससे 'समुद्र' शब्द व्युत्पन्न होता है।

---

१ निघ०वृ०, १.३.१५.

२ गो०ब्रा०, १.१.७.

३ जै०उप०, १.८.१.४.

४ शत०ब्रा०, १४.२.२.२. "अयं वै समुद्रः योऽयं (वायुः) पवतऽएतस्माद् वै समुद्रात् सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि समुद्द्रवन्ति।"

५ निरु० २.१०.

६ निरु० २.१०.

७ निरु० २.१०.

८ निरु० २.१०.

(ङ)''समुनत्तीति वा''[१] कि अन्तरिक्षस्थ और पृथिवीस्थ दोनों समुद्र अच्छी प्रकार भिगोते हैं। अतः, इनको 'समुद्र' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सम्+'उन्द्' से 'समुद्र' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(च)''समुदितारम्''[२] कि यह ऊपर गया हुआ होता है, इसलिए इसे 'समुद्र' कहते हैं। इस पक्ष में 'सम्+उद्+'इ' से 'समुद्र' शब्द व्युत्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् यास्क का अनुसरण करते हुए 'समुद्र' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:- ''समुद्द्रवन्ति सङ्गत्ता ऊर्ध्वं द्रवन्ति गच्छन्त्यस्मादापो रश्मिभिराकृष्यमाणा आदित्यमण्डलम्''[३] कि सूर्यरश्मियाँ से खींचे जाने पर जल सङ्गत होकर ऊपर जाते हैं, अतः, अन्तरिक्ष को 'समुद्र' कहते हैं। इस पक्ष में 'सम्+उत्+'द्रु'+ड' से 'समुद्र' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा, संहता अभिद्रवन्त्येनमापो भौमरसलक्षणा वायुना प्रेर्य्यमाणाः आदित्यमण्डलाद्वा वर्षाकाले रश्मिभिः प्रवर्त्तमानाः''[४] कि भूमि स्थित वायु के द्वारा प्रेरित किए जाने पर उदक संहत होकर इस अन्तरिक्ष की ओर दौड़ते हैं, अतः, अन्तरिक्ष को 'समुद्र' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सम्+अभि+'द्रु'+ड' से उक्तपद व्युत्पन्न होता है।

(ग)''सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि अन्तरिक्षचारीणीति वा''[५] कि इस अन्तरिक्ष में सब प्राणी अथवा अन्तरिक्षचारी जीव मुदित होकर रहते हैं, अतः, इसे 'समुद्र' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सम्+'मुद्'+रक्' से उक्तपद निष्पन्न होता है।

(घ)''यद्वा, समित्येकीभावे, उदकात् उच्छब्दः रो मत्वर्थीयः। एकीभूतमुदकमस्मिन् विद्यते वर्षास्विति वा''[६] कि 'समुद्र' पद में पठित 'सम्' का अर्थ 'एकीभाव' है, 'उत्' का अर्थ 'उदक' है तथा 'र' मत्वर्थीय है। इस प्रकार निष्पन्न 'समुद्र' का अर्थ होता है:-''कि वर्षाकाल में एकीभूत होकर उदक इसमें विद्यमान रहता है, अतः, अन्तरिक्ष का नाम 'समुद्र' है।''

(ङ)''यद्वा, सम्पूर्वात् 'उन्दी' क्लेदने'। समुनत्ति वर्षेण भुवनं समुद्रः''[७] कि यह अन्तरिक्ष वर्षा द्वारा भुवन को आर्द्र करता है, इसलिए इसे 'समुद्र' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सम्+'उन्द्'+रक्' (उणा०,२.१३.) से 'समुद्र' पद व्युत्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'समुद्र' पद को अव्युत्पन्न नामपद मानता है।[८] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची

---

१ निरु० २.१०.

२ निरु० १०.३२.

३ निघ०वृ०, १.३.१५.

४ निघ०वृ०, १.३.१५.

५ निघ०वृ०, १.३.१५.

६ निघ०वृ०, १.३.१५.

७ निघ०वृ०, १.३.१५.

८ वै०पद०को०, पृ० ३२९८.

भी उक्त मत का समर्थन करती है।[१]

वैदिक साहित्य में 'समुद्र' पद का अन्तरिक्षस्थ और पृथिवीस्थ दोनों अर्थों में विपुल प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि ये मरुद्गण मेघों को जलयुक्त समुद्र के क्षेत्र में जाने के लिए प्रेरित करते हैं।[२] और ये मरुद्गण रश्मियों के माध्यम से समुद्र को फैलाते हैं।[३] कहीं ऋभु कहते हैं कि मेरे द्वारा फैलाया गया उदक पुनः फैलाया जाता है और यह समुद्र विश्वदेव्य अर्थात् इसमें सब समाहित है।[४] कहीं समुद्र के धन्वन् (शुष्क) और आर्द्र दो भागों का उल्लेख करते हुए तीसरे भाग की ओर इङ्गित किया गया है।[५] यजुर्वेद कहता है कि विश्व की मूर्धा के ऊपर स्थित समुद्र में उदक विद्यमान है।[६] एक अन्य मन्त्र समुद्र के स्वरूप का वर्णन करता हुआ कहता है कि यह समुद्र सेचक, प्रकाशमान, सुपतनशील और सृष्टि से पूर्व विद्यमान शून्य आकाश में प्रविष्ट है। इस समुद्र में स्थित द्युलोक के मध्य में सूर्य विराजमान है और सर्वत्र व्याप्त होकर लोकों का पालन करता है।[७] एक अन्य मन्त्र में इसे सबके मध्य में स्थित बताया है।[८] सृष्टि-उत्पत्ति-प्रक्रिया का वर्णन करता हुआ अघमर्षण सूक्त कहता है कि ऋत और सत्य के पश्चात् अभिव्यक्त होने वाला तीसरा तत्त्व समुद्र है और समुद्र से ही संवत्सर की उत्पत्ति होती है।[९] एक अन्य मन्त्र में सविता का एक ऐसे देव के रूप में उल्लेख किया गया है कि जो निरन्तर विस्तृत अन्तरिक्ष में वायु पाश से बँधे हुए समुद्र को दुहता है।[१०] एक अन्य स्थल पर समुद्र, सिन्धु, रजस्, अन्तरिक्ष, एकपात् स्तनयित्नु और अर्णव का भिन्न तत्त्व के रूप में चित्रण किया गया है।[११] इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ऋषि की दृष्टि में समुद्र, अन्तरिक्ष और अर्णव एक तत्त्व नहीं है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर निःसन्दिग्ध रूप से यह कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में 'समुद्र' पद पृथिवीस्थ और अन्तरिक्षस्थ दोनों अर्थों में बहुलता से प्रयोग हुआ है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि वेद में समुद्र पद अन्तरिक्ष का वाचक न होकर उसके एक विशेष भाग का अभिधान अधिक

---

१ ऋ०वै०पद०, पृ० ५५६.

२ ऋ० १.१९.७. "य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम्।"

३ ऋ० १.१९.८. "आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा।"

४ ऋ० १.११०.१. "ततं मे अपस्तदु तायते पुनः स्वादिष्ठा धीतिरुचथाय शस्यते। अयं समुद्र इह विश्वदेव्यः।"

५ ऋ० १.११६.४. "समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे।"

६ यजु०, १८.५५. "विश्वस्य मूर्द्धन्नधि तिष्ठसि श्रितः समुद्रे ते हृदयमप्स्वायुः।"

७ ऋ० ५.४७.३. "उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिः पितुराविवेश। मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजस्पात्यन्तौ।"

८ ऋ० ८.४१.८. "समुद्रो अपीच्यः।"

९ ऋ० १०.१९०.१. "ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः।" ऋ० १०.१९०.२. "समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।"

१० ऋ० १०.१४९.१. "अन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम्।"
ऋ० १०.१९०.२. "समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।"

११ ऋ० १०.६६.११. "समुद्रः सिन्धू रजो अन्तरिक्षमज एकपात्स्तनयित्नुरर्णवः।"

प्रतीत होता है। समुद्र के साथ प्रायः प्रयुक्त होने वाला 'अर्णव' पद उसके उदकयुक्त होने का सङ्केत करता है।[१] इसके अतिरिक्त 'समुद्र' के शाब्दिक विग्रह में 'सम्+उत्+'द्रु' ये तीन वर्ण समुदाय दिखलायी पड़ते हैं। इस प्रकार समुद्र वह है, जिसमें उदक अच्छी रीति से ऊपर जाते हैं, इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूलतः 'समुद्र' शब्द अन्तरिक्ष के उदक प्रदेश का वाचक रहा होगा। इस निष्कर्ष के समर्थन में यह प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है कि ब्राह्मणग्रन्थों में यह पद 'आपः' और वह भी पृथिवी पर स्थित समुद्र अर्थ में बहुलता से हुआ है।[२] इसका अन्तरिक्ष अर्थ में भी प्रयोग हुआ है, लेकिन बहुत विरल।[३] परन्तु परवर्ती लौकिक संस्कृत साहित्य में 'समुद्र' का अन्तरिक्ष परक अर्थ सर्वथा लुप्त दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मूलतः 'समुद्र' पद अन्तरिक्ष के समुद्र का वाचक रहा है और समानता के आधार पर वह पृथिवीस्थ समुद्र के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक अन्तरिक्ष-विज्ञान के लुप्त होने के पश्चात् संस्कृत साहित्य में यह पृथिवीस्थ समुद्र अर्थ में व्यवहृत होने लगा होगा।

सङ्क्षेप में हम कह सकते हैं कि अन्तरिक्ष वह है, जो सबके अन्तर में रहता है, जबकि 'समुद्र' अन्तरिक्ष का वह प्रदेश है, जिसमें उदक भरा रहता है अथवा जिसमें जल धाराएँ दौड़ती रहती हैं।

१६. अध्वरम्

'अध्वर' यह पद निघण्टुकोष के अन्तरिक्षवाची पदों में पठित है।[४] ब्राह्मणग्रन्थ इसका निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**अध्वर्तव्या वा इमे देवा अभूवन्निति तदध्वरस्याध्वरत्वम्**"[५] कि ये देव अध्वरणीय (अहिंसनीय) हुए, यही अध्वर का अध्वरत्व है। इस पक्ष में 'न+'ध्वृ' से 'अध्वर' पद व्युत्पन्न होता है।

मैत्रायणीसंहिता के अनुसार 'अध्वर' का निर्वचन निम्न है:-"**ते (असुराः)ऽध्वृतोऽयमभूदित्य-पक्रामंस्तदध्वरस्याध्वरत्वम्**"[६]कि यह अहिंसनीय होगया है, इसलिए वे भागे। यही अध्वर का अध्वरत्व है।

'अध्वर' के विषय में शतपथ-ब्राह्मण का अभिमत है:-"**देवान्ह वै यज्ञेन यजमानान्त्सपत्ना असुरा दुधूर्षाञ्चक्रुः, त दुधूर्षन्तः एव न शेकुर्धूर्वितं ते पुरा बभूवुस्तस्माद्यज्ञोऽध्वरो नाम**"[७] कि असुरों ने यज्ञ के द्वारा देवों और सपत्नीक यजमानों को मारना चाहा, लेकिन वे ऐसा न कर सके, इसलिए यज्ञ को 'अध्वर' कहते हैं। इस पक्ष में 'न+'धूर्व्' धातु से 'अध्वर' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'अध्वर' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**अध्वर इति यज्ञनाम।**

---

१ ऋ० १.९७.७; १०.१९०.१, २.

२ शत०ब्रा०, ३.८.४.११; "आपो वै समुद्रः।" शत०ब्रा०, ७.१.१.१३. "तस्मादिमं लोकं (पृथिवी) दक्षिणावृत, सर्वतः समुद्रः पर्येति।"

३ जै०ब्रा०, १.१६५. "अयं वाव समुद्रोऽनारम्भणो यदिदमन्तरिक्षम्।"

४ निघ०वृ०, १.३.१६.

५ तै०सं० ३.२.३.२.

६ मै०सं० ३.६.१०.

७ शत०ब्रा०, १.४.१.४०.

ध्वरतिर्हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेध:''[१] कि 'अध्वर' यह यज्ञ का नाम है। 'ध्वृ' हिंसार्थक है, उसका प्रतिषेध 'अध्वर' है। यज्ञ में हिंसा नहीं होती, इसलिए इसे 'अध्वर' कहते हैं।

आचार्य देवराजयज्वन् अन्तरिक्ष वाचक 'अध्वर' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''अध्वानं मार्गं राति ददाति स्वस्मिन् गच्छतां पक्ष्यादीनाम्''**[२] कि पक्षी आदि प्राणियों को मार्ग देने के कारण अन्तरिक्ष को 'अध्वर' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अध्व+'रा' दाने धातु से 'अध्वर' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा, मार्गो विद्यतेऽस्मिन् मेघादीनाम्''[३] कि इस अन्तरिक्ष में मेघ आदि के लिए स्थान होता है, अत:, अन्तरिक्ष को 'अध्वर' कहते हैं। इस पक्ष में 'अध्व+र' (मत्वर्थीय:) से 'अध्वर' पद व्युत्पन्न होता है।

(ग)''यद्वा, ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेध:। अध्वर्तव्यं न हिंस्यमित्यर्थ:''[४] कि 'ध्वृ' हिंसार्थक है, उसका यहाँ प्रतिषेध है। इसका आशय यह है कि अन्तरिक्ष अहिंसनीय है। इस पक्ष में 'न+'ध्वृ'+घ' से 'अध्वर' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अध्वर' पद को याग का विशेषण एवं नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[६]

वैदिक साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि 'अध्वर' पद वेद में मुख्य रूप से यज्ञ के अर्थ में प्रयक्त हुआ है।[७] ब्राह्मणग्रन्थ भी **'अध्वरो वै यज्ञ:'** का उद्घोष करते हैं।[८] अन्तरिक्ष वाचक 'अध्वर' का वर्णन करता हुआ ऋग्वेद कहता है कि जो उदक सूर्य के समीप या सूर्य के साथ स्थित होते हैं, वे 'अध्वर' (अन्तरिक्ष) को तृप्त करें।[९] एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि प्रात: उपस्थित होने वाले अग्नि, मित्र और अर्यमा- ये देव बर्हिस् (अन्तरिक्ष) में स्थित 'अध्वर' में विराजमान हों।[१०] एक अन्य मन्त्र की व्याख्या करते हुए आचार्य सायण कहते हैं कि वृष्ट्युदक के आवरण को दूर करने वाली सूर्य किरणें अध्वर (अन्तरिक्ष) में मेघमाला को वर्षा करने के लिए प्रेरित करती हैं।[११] एक दूसरा मन्त्र कहता है कि तुम दोनों ने अध्वर में ऊर्ध्व मार्ग का आश्रय लिया।[१२] एक अन्य मन्त्र प्रतिपादित करता है कि गतिशील सूर्य किरणों की ओर जाने वाले

---

१ निरु० १.८.

२ निघ०वृ०, १.३.१६.

३ निघ०वृ०, १.३.१६.

४ निघ०वृ०, १.३.१६.

५ वै०पद०को०, पृ० १५२.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० २४.

७ ऋ० १.१.४; १४; २६.१; ५.२६.३; १०.३०.८.

८ शत०ब्रा०, १.२.४.५; ४.१.३८; ३९; ५.३.

९ ऋ० १.४४.१३. ''आसीदन्तु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावाणो अध्वरम्।''

१० ऋ० १.१२१.७. ''स्विध्मा यद्वनधितिरपस्यात्सूरो अध्वरे परि रोधना गो:।''

११ ऋ० ३.४.४. ''ऊर्ध्वो वां गातुरध्वरे अकारि।''

१२ ऋ० १०.८.३. ''आग्मन्नाप उशती बर्हिरेदं न्यध्वरे असदन् देवयन्ती:।''

उदक बर्हिस् (अन्तरिक्ष) में आते हैं और अध्वर में रहते हैं।[१]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि अन्तरिक्ष का एक प्रदेश विशेष 'बर्हिस्' है और उसका एक भाग 'अध्वर' है। इस प्रकार अन्तरिक्ष के एक विशेष भाग का नाम 'अध्वर' है। ब्राह्मणग्रन्थ और आचार्य यास्क 'अध्वर' का निर्वचन 'यज्ञ' अर्थ में करते हैं, लेकिन आचार्य देवराजयज्वन् निघण्टुकोष के आधार पर 'अध्वर' का अन्तरिक्ष और यज्ञ इन दोनों अर्थों में निर्वचन करते हैं। परन्तु प्रायः सभी निर्वचनों में 'अध्वर' का मूल अर्थ 'हिंसा रहित' किया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि चाहे वह यज्ञ हो या फिर अन्तरिक्ष का एक विशेष प्रदेश, इन दोनों में हिंसा न होने की समानता है। कहने का आशय यह है कि यह ऐसा भाग है, जो हिंसा रहित है या जिसमें विध्वंसात्मक गतिविधियाँ ब्रह्माण्ड के अस्तित्व की दृष्टि से वर्जित हैं, वेद की दृष्टि में 'अध्वर' है।

वैदिक साहित्य में अन्तरिक्षवाचक नामपदों में अर्थभिन्नता

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के तृतीय गण में अन्तरिक्ष वाचक नामपदों में निघण्टुकार ने षोडश पदों का समाम्नान किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	अम्बरम् अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१.	निघण्टु के अनुसार 'अम्बर' पद अन्तरिक्षवाचक है और निर्वचन के आधार पर उक्त अर्थ की प्रतीति हो जाती है, परन्तु वैदिक उद्धरणों से उक्त वक्तव्य पुष्ट नहीं हो पाती है।	'अबिङ्' शब्दे' धातु।
२.	वियत् अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.२.	वेद में 'वियत्' पद के नामरूप का प्रयोग नहीं हुआ है। ब्राह्मण एवं अन्य लौकिक साहित्य में यह पद अन्तरिक्ष अर्थ में अवश्य आया है। निर्वचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिसमें जड़-चेतन जगत् अवकाश के कारण गतिशील रहता है, वह 'वियत्' है।	'वि' उपसर्गपूर्व वाली 'इ' धातु से। पदार्थों के गतिशील रहने के कारण अन्तरिक्ष 'वियत्' है।
३.	व्योम अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.३.	वेद में अन्तरिक्ष का वह स्वरूप 'व्योमन्' है, जिसमें सब स्थित हैं और जो सब में स्थित है।	व्यापन अर्थ वाली 'वि+'अव्' धातु से 'व्योमन्' पद उपपन्न करना समीचीन है।
४.	बर्हिः अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.४.	वेद में 'बर्हिस्' ऐसा अन्तरिक्ष है, जिसमें तीनों लोक, तीनों धातुएँ और आदित्य विराजमान हैं। यह एक ऐसा अन्तरिक्ष जिसमें वस्तुओं का आकार बढ़ता रहता है।	बृंहण अर्थ वाली 'बृंह्' धातु।
५.	धन्वः अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.५.	वेद में 'धन्वन्' शब्द अन्तरिक्ष के प्रदेश विशेष का वाचक प्रतीत होता है। जिसमें जलकण विद्यमान रहते हैं, वह प्रदेश 'धन्वन्' है।	'धन्व्' धातु।

१ निरु० ७.५.

६.	अन्तरिक्षम् अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.६.	वेद में 'अन्तरिक्ष' वह तत्त्व है, जो सबमें है और जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड स्थित है। 'अन्तर्' पद से यह प्रकट होता है कि वह सबका अन्तस् अर्थात् मूल है। यह एक तत्त्व जीवन और जगत् का आधार है।	'अन्तर्+'क्षि' निवासगत्योः' धातु।
७.	आकाशम् अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.७.	वेद में 'आकाश' पद का सर्वथा उल्लेख नहीं हुआ है। इतर वैदिक साहित्य में 'आकाश' वह तत्त्व है, जिसमे सूर्य आदि ग्रह प्रकाशित होते हैं। इन सबका प्रकाशित होने का स्थान होने से यह 'आकाश' कहलाता है।	'आ+'काश्' धातु।
८.	आपः अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.८.	वेद में 'आपः' का अन्तरिक्ष अर्थ में प्रयोग विरल हुआ है। 'आपः' की चरित्रगत विशेषता 'व्याप्त करना' उदक की अपेक्षा अन्तरिक्ष पर कहीं अधिक अच्छी प्रकार चरितार्थ होती है। सम्भवतः, मूलतः, यह अन्तरिक्ष वाचक नाम था, कालान्तर में समान विशेषता के कारण उदक को भी आपः' नाम से अभिहित किया गया होगा।	व्यापनशीलता के कारण 'आप्लृ' व्याप्तौ' धातु।
९.	पृथिवी अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.९.	वेद में अन्तरिक्ष अर्थ में 'पृथिवी' का विरल प्रयोग हुआ है। वेद प्रथित होने के कारण अन्तरिक्ष को 'पृथिवी' नाम से अभिहित करता है और उसको द्युलोक के अन्त तक विस्तृत बतलाता है।	विस्तृत अर्थ वाली 'प्रथ्' धातु से।
१०.	भूः अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१०.	वेद में अन्तरिक्ष अर्थ में 'भूः' पद का प्रयोग नहीं हुआ है। ब्राह्मणग्रन्थ से भी इसका समर्थन नहीं हो पाता है।	'भू' धातु।
११.	स्वयम्भूः अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.११.	वेद में 'स्वयम्भूः' पद का प्रायः परमात्मा के सन्दर्भ में उल्लेख हुआ है। केवल एक स्थान पर यह 'मन्यु' के लिये आया है। अन्तरिक्ष अर्थ में उक्तपद का सर्वथा प्रयोग नहीं हुआ है।	'स्वयम्+'भू'।
१२.	अध्वा अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१२.	वेद में 'अध्वा' पद अन्तरिक्ष के मार्ग को प्रतिपादित करता प्रतीत होता है। सम्भवतः, यह ग्रह, नक्षत्रों के परिक्रमा पथ के लिये प्रयुक्त होता रहा है। यह पथ पर भटकने वाला को खा जाता है।	भक्षण अर्थ वाली 'अद्' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है।
१३.	पुष्करम् अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१३.	जिस अन्तरिक्ष में सूर्य, वायु और उदक विद्यमान हैं, वह वेद की भाषा में सबका पोषण तथा धारण करने की सामर्थ्य वाला होने से 'पुष्कर' है।	'पुष्' पुष्टौ' धातु।
१४.	सगरः अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१४.	वेद में वह अन्तरिक्ष 'सगर' है, जिसमें समस्त मूर्त और अमूर्त जगत् लय हो जाता है। इस प्रकार निगीरण की सामर्थ्य से युक्त अन्तरिक्ष सगर है। विज्ञान की भाषा में सम्भवतः इसीको black whole कहा गया है।	'गॄ' निगरणे' धातु।
१५.	समुद्रः अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१५.	वेद में 'समुद्र' पद पृथिवी और अन्तरिक्ष दोनों स्थानों के जलभण्डारों के लिये हुआ प्रतीत होता है। समुद्र में स्थित 'उत्' से यह सूचित होता है कि मूलतः, यह पद	'सम+उत्+'द्रु'–। जिस उच्च स्थान पर भाप बनकर उदक दौड़ते हैं,

		अन्तरिक्षवाचक रहा होगा। क्योंकि पृथिवीस्थ समुद्र की तुलना में अन्तरिक्ष उच्च है।	वह अन्तरिक्ष 'समुद्र' है।
१६.	अध्वरम् अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१६.	अन्तरिक्ष का एक विशेष भाग 'बर्हिस्' है और उसका भी एक विशेषभाग वेद की दृष्टि में 'अध्वर' है। अन्तरिक्ष जिस प्रदेश विशेष में हिंसा वर्जित है, वह प्रदेश विशेष 'अध्वर' है।	'न+'ध्वृ' धातु। यज्ञ और अन्तरिक्ष दोनों 'अध्वर' हैं। दोनों में हिंसावर्जित होने की समानता है।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम अन्तरिक्षवाचक गण के नामपदों को निम्नप्रकार वर्गीकृत कर सकते हैं:-१. अन्तरिक्षवाचक, २. अन्तरिक्षस्थ प्रदेशविशेष के वाचक, ३. अन्तरिक्षीय मार्गवाचक, ४. वैदिक साहित्य में अप्रयुक्त। इसमें से प्रथम वर्ग में निम्न नामपद आते हैं:-**१. व्योम, २. बर्हिः, ३. अन्तरिक्षम्, ४. आपः, ५. पृथिवी, ६. पुष्करम्, ७. सगरः, ८. समुद्रः।** उक्त सभी पद निःसन्दिग्ध रूप से अन्तरिक्ष के विशेष वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करने के कारण अन्तरिक्षवाचक हैं। द्वितीय वर्ग में अन्तरिक्ष के प्रदेश विशेष की विशेषताओं का प्रतिपादन करने वाले शब्द परिगणित किये गये हैं, इस प्रकार के शब्द निम्न हैं:-**१. धन्वः, २. अध्वरम्।** इसके अतिरिक्त उक्त गण में पठित **'अध्वा'** पद अन्तरिक्ष के मार्ग का वाचक है। अन्य गणों के समान इस गण में निम्नशब्द ऐसे हैं, जिनके विषय में वैदिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं:-**१. अम्बरम्, २. वियत्, ३. आकाशम्, ४. भूः, ५. स्वयम्भूः।** अन्तरिक्षवाचक गण में १६ पद परिगणित हैं, उसमें से उक्त ५ पदों के विषय में प्रमाण के अभाव में अभी कुछ कहना सम्भव नहीं है।

निघण्टुकार ने जिस समय निघण्टु का परिगणन किया होगा, उस समय ये सभी शब्द वैदिक साहित्य, विशेष रूप से, वेदों में प्रयुक्त होते रहे होंगे। इससे यह सूचित होता है कि निघण्टुकार के काल में उपलब्ध साहित्य का लगभग २५ या ३० प्रतिशत भाग किसी न किसी कारण से लुप्त होगया है।

निघण्टु पदकोष की परिगणन शैली के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसका मुख्य उद्देश्य पर्यायवाची पदों का परिगणन करना नहीं है। उसमें ऐसे पदों का परिगणन किया गया है, जिनमें समानार्थकता केवल सीमित सन्दर्भ में ही ग्रहण की गयी है। उदाहरण के रूप में हिरण्य वर्ग में पठित पदों को लिया जा सकता है। इस वर्ग में परिगणित सभी शब्द हिरण्य वाचक न होकर धातुवाचक हैं, यही उनकी समानता का आधार है। यहाँ हिरण्य भी धातु है और चन्द्र तथा लौह भी धातुएँ हैं। इसी प्रकार की विशेषता के दर्शन अन्तरिक्ष वाचक पदों में भी होते हैं। यहाँ भी सभी शब्द अन्तरिक्षवाचक न होकर अन्तरिक्ष से सम्बन्धित विशिष्ट विशेषताओं का प्रतिपादन करने वाले हैं।

साधारण नामपद

निघण्टुकोष के साधारण नामपद वाचक पदों में षट् पदों का समाहार किया गया है। इस गण में पठित पदों को 'साधारण' नामकरण दिए जाने का कारण यह है कि ये पद द्युलोक और आदित्य दोनों के लिये समान रूप से प्रयुक्त होते हैं अर्थात् ये दोनों के समान नाम हैं।

१. स्वः

निघण्टुकोष के साधारण अन्तरिक्ष वाचक पदों में 'स्वः' का परिगणन हुआ है।[१] आचार्य यास्क 'स्वः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-'''**सु अरणः**''[२] कि यह 'स्वः' (आदित्य) अन्धकार को दूर भगाने तथा द्युलोक अच्छी प्रकार गति देने वाला होता है, इसलिए ये 'स्वः' कहलाते हैं। इस पक्ष में 'सु+'ऋ' से 'स्वर्' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(ख)''**स्वरादित्यो भवति। सु ईरणः**''[३] कि यह 'स्वः' (आदित्य) अन्धकार को दूर भगाने तथा द्युलोक अच्छी प्रकार गति करने वाला होता है, इसलिए ये 'स्वः' कहलाते हैं। इस पक्ष में 'सु+'ईर्' से 'स्वर्' शब्द निष्पन्न होता है।

(ग)''**स्वृतो रसान्**''[४] कि यह भूमि और अन्तरिक्ष के रसों के ग्रहण करने के लिए अच्छी प्रकार से गया हुआ है और द्युलोक अच्छी प्रकार रसों को प्राप्त किये होता है, इसलिए ये 'स्वर्' कहलाते हैं। इस पक्ष में 'सु+'ऋ' से 'स्वर्' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(घ)''**स्वृतो भासं ज्योतिषाम्**''[५] कि यह चन्द्रमा पृथिवी आदि ग्रहों को प्रकाशित करने के लिए गया हुआ होता है तथा द्युलोक दीप्ति से परिपूर्ण है, अतः,यह 'स्वर्' कहलाता है। यहाँ पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

(ङ)''**स्वृतो भासेति वा**''[६] कि प्रकाश से सर्वतः परिगत होने के कारण आदित्य और द्युलोक 'स्वर्' कहे जाते हैं। इस पक्ष में भी पूर्व के समान 'स्वर्' शब्द सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् यास्क का अनुसरण करते हुए 'स्वः' के निम्न निर्वचन प्रस्तुत करते हैं:- ''**शोभनमरणं गमनं सुखाय हिताय वा यस्य**''[७] कि जिसका शोभन गमन सुख या हित के लिए है, वह द्युलोक और आदित्य 'स्वः' कहलाते हैं।

(ख)''**सुष्ठु कृतो वा रश्मिभिः रसानादातुम्**''[८] कि रश्मियाँ के रस ग्रहण करने के लिए इस स्थान

---

१ निघ० १.४.१.

२ निरु० २.१४.

३ निरु० २.१४.

४ निरु० २.१४.

५ निरु० २.१४.

६ निरु० २.१४.

७ निघ०वृ०, १.४.१.

८ निघ०वृ०, १.४.१.

का निर्माण हुआ हैं, अतः, आदित्य और द्युलोक 'स्वः' कहलाते हैं।

(ग)''भासं वा ज्योतिषां नक्षत्रादीनां सुष्ठु कृतः प्राप्त इति वा स्वरादित्यश्च द्यौः''[१] कि प्रकाशमान नक्षत्र आदि के लिये इसका निर्माण हुआ है या यह उन्हें सरलता से प्राप्त है, इसलिए आदित्य और द्युलोक 'स्वः' कहलाते हैं। उपर्युक्त पक्षों में 'सु+'ऋ'+विच्' से 'स्वर्' शब्द निष्पन्न होता है।

(घ)''यद्वा, सुपूर्वादीरयतेः। शोभनं वा प्रेरणं तमसां यस्य''[२] कि यह अन्धकार को दूर भगाने वाला होने के कारण 'स्वर्' कहलाता है।

(ङ)''सुष्ठु वा पुण्यकृत ईरयति स्वृतो रसैः''[३] कि ये अपने रस से पुण्यवानों को अच्छी प्रकार प्रेरित करते हैं, अतः, ये 'स्वर्' कहलाते हैं।

(च)''स्वृतो भाभिर्ज्योतिषा स्वयमेव वा दीप्तम्''[४] कि जो नक्षत्रों के प्रकाश से प्रकाशमान हैं अथवा जो स्वयं के प्रकाश से प्रकाशित हैं, ऐसे द्यु और आदित्य लोक 'स्वः' कहलाते हैं। उपर्युक्त पक्षों में 'सु+'ईर्'+विच्' से 'स्वः' पद व्युत्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'स्वः' पद दिव्, आदित्य, दीप्ति अर्थ का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद अव्युत्पन्न है। लेकिन सम्भावित विकास प्रक्रिया निम्न प्रकार हैः-''भृष् उच्छ्रायदीप्त्यादिषु' धातु से भाव में 'भृषुर=सुर+भृत्=सुरभृत्=सूभृत्=सु-अर=स्वर्'।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'स्वः' शब्द को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स 'सुर' या 'स्वृ' धातु को 'स्वर्' का मूल मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद और वाजसनेयि-संहिता में यह पद सूर्य, सूर्य की ज्योति, प्रकाश, कान्ति अर्थ में आया है। ऋग्वेद में क्वचित् यह प्रकाशमान अन्तरिक्ष और स्वर्ग अर्थ में है। महाभारत तथा मनुस्मृति में यह पद सूर्य से ऊपर तथा सूर्य और ध्रुवतारा के मध्य का भाग, ग्रह तथा तारा गणों का क्षेत्र 'स्वर्' है।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का मत है कि भारोपीय भाषा में यह पद 'suel' सूर्य अर्थ में अवेस्ता में 'hvare' सूर्य अर्थ में है। उनके अनुसार उक्त यास्कीय निर्वचन 'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि' नियम से प्रभावित है।[८]

वैदिक साहित्य में 'स्वर्' का प्रयोग बहुलता से हुआ है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि सूर्यदेव सम्पूर्ण 'स्वर्' का दर्शन करने के लिए उदित होते हैं।[९] कहीं यह कहा गया है कि किरणें 'स्वर्' का दर्शन करने के लिए अग्नि के साथ जाती हैं।[१०] कहीं ऋषि यह कहता है कि द्युलोक से ऊपर 'स्वर्' लोक हमसे

---

१ निघ०वृ०, १.४.१.

२ निघ०वृ०, १.४.१.

३ निघ०वृ०, १.४.१.

४ निघ०वृ०, १.४.१.

५ वै०पद०को०, पृ० ३५२६.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ५९७.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२८१.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ०

९ ऋ० १.५०.५. ''प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे''।

१० ऋ० १.६६.५. ''नवन्त गावः स्व१र्दृशीके''।

कभी न छूटे।[१] उक्त मन्त्र में द्युलोक से ऊपर का स्थान स्वर्लोक का बताया गया है। कहीं अग्नि को स्वर्लोक के समान अद्भुत और प्रकाशमान बताया है।[२] कहीं इसके विषय में यह कहा गया है कि यह 'स्वः' द्यावापृथिवी को अपने प्रकाश से भर देता है।[३] कहीं ऋषि यह कहता है कि जब यह 'स्वर्' किरणों से दर्शनीय होता है, तब इसमें देवता रहते हैं।[४] अघमर्षण सूक्त कहता है कि सृष्ट्युत्पत्ति प्रक्रिया के अन्तिम चरण में द्यु, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्लोक उत्पन्न होते हैं।[५] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्यु, पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्लोक का अस्तित्व पृथक्-पृथक् है। जिस प्रकार द्यावापृथिवी भिन्न-भिन्न स्थान पर स्थित हैं, ठीक उसी प्रकार द्युलोक और स्वर्लोक का स्थान भी भिन्न है। इसके अतिरिक्त कहीं ऋषि ने इसे ज्योति से चमकने वाला बताया है।[६] निगीर्ण भुवन अन्धकार से आच्छादित था और अग्नि के प्रकट होने पर वह 'स्वः' हो गया।[७] इससे यह विदित होता है कि जो लोक अन्धकार से रहित है, वह 'स्वः' है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य यास्क के मत में स्पष्टरूप से 'स्वर्' का तात्पर्य आदित्य और द्युलोक है।[८] आचार्य देवराजयज्वन् भी ऐसा ही मानते हैं।[९] वैदिक साहित्य में 'स्वः' का अर्थ द्युलोक भी माना गया है तथा साथ में द्यु से भिन्न और उससे ऊपर का लोक भी अभिधेय रहा है। लेकिन एक बात निःसन्दिग्ध रूप से कही जा सकती है कि 'स्वः' प्रकाश का लोक है। तैत्तिरीय-संहिता का अभिमत है कि द्युलोक के नाक के पृष्ठ भाग में 'स्वः' लोक की ज्योति के दर्शन होते हैं।[१०] तैत्तिरीयारण्यक तथा तैत्तिरीयोपनिषद् का मत है कि 'स्वः' का आशय द्युलोक है।[११] जैमिनीय-ब्राह्मण भी उक्त मत का समर्थन करता हुआ कहता है कि 'स्वः' यह एक व्याहृति है। यह एक लोक है, इसका देवता आदित्य है।[१२]

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि समस्त वैदिक साहित्य में 'स्वः' का स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर मात्र इतना कहा जा सकता है कि यह प्रकाश का लोक है तथा द्युलोक और उससे ऊपर के भाग के लिए इस 'स्वः' का प्रयोग होता रहा है। सम्भवतः, इसलिए इन पदों को निघण्टु कोष के साधारण वर्ग में रक्खा गया है, क्योंकि आदित्य और द्युलोक दोनों के ये साधारण

---

१ ऋ० १.१०५.३. ''मो षु देवा अदः स्व१रवपादि दिवस्परि''।

२ ऋ० १.१४८.१. ''स्व१र्ण चित्रं वपुषे विभावम्''।

३ ऋ० ३.२.७. ''आ रोदसी अपृणदा स्वर्महज्ञातं यदेनमपसो अधारयन्''।

४ ऋ० ४.१६.४. ''स्व१र्यद्वेदि सुदृशीकमर्कैर्महि ज्योती रुरुचुर्यद्ध वस्तोः''।

५ ऋ० १०.१९०.३. ''दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः''।

६ ऋ० १०.१७.४. ''विभ्राज्ज्योतिषा स्व१रगच्छो रोचनं दिवः''।

७ ऋ० १०.८८.२. ''गीर्णं भुवनं तमसापगूळहमाविः स्वरभवज्ञाते अग्नौ''।

८ निरु० २.१४. ''स्वरादित्यो भवति।''

९ निघ०वृ०, १.४.१.

१० तै०सं० ४.६.५.१-२. ''दिवो नाकस्य पृष्ठात् सुवर्ज्योतिरगामहम्''।

११ तै०आ०, ७.५.१;तै०उप०, १.५.१. ''सुवरित्यसौ (द्यु) लोकः''।

१२ जै०ब्रा०, ३.८७. ''स्वरिति व्याहृतिः। तदसौ लोकः, आदित्यो देवता।''

अभिधान हैं।

२. पृश्निः

निघण्टुकोष के साधारण गण में 'पृश्निः' पद का परिगणन हुआ है।[१] आचार्य यास्क 'पृश्निः' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**पृश्निरादित्यो भवति। प्राश्नुत एनं वर्णा इति नैरुक्ताः**''[२] कि इस आदित्य को उज्वल या शुभ्र वर्ण प्राप्त होते हैं, अतः यह 'पृश्नि' कहलाता है। इस पक्ष में 'प्र+'अश्' से 'पृश्नि' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''**संस्प्रष्टा रसान्। संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषाम्। संस्पृष्टो भासेति वा**''[३] कि रसों का ग्रहण करने वाला अथवा ग्रह, नक्षत्र, चन्द्रमा आदि के प्रकाश का हरण कर्ता होने से यह 'पृश्नि' है या यह सर्वतः प्रकाश से संयुक्त है, इसलिए यह 'पृश्नि' कहलाता है। इस पक्ष में 'स्पृश्' धातु से 'पृश्नि' पद सिद्ध होता है।

निघण्टुवृत्ति में आचार्य स्कन्दस्वामी के अनुसार देवराजयज्वन् ने निम्न निर्वचन प्रस्तुत किए हैं:- ''**प्रपूर्वादश्नोतेः। प्राश्नुत एनं शुक्लो वर्णः**''[४] कि इसको शुक्ल वर्ण व्याप्त करता है, अतः, आदित्य को 'पृश्नि' कहते हैं। यहाँ शुक्ल वर्ण की व्याप्ति 'पृश्नि' नामकरण का आधार है। इस पक्ष में 'प्र' पूर्वक 'अश्' से 'पृश्नि' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''**स्पृशतेर्वा। संस्पृष्टा रसान्। संस्पृष्टा भासं ज्योतिषामस्पृष्टो भासेति वा पृश्निरादित्यः**''[५] कि यह रसों का शोषण एवं नक्षत्रों की ज्योति का स्पर्श करने वाला है तथा किसी अन्य के प्रकाश से अस्पृश्य है, अतः, यह आदित्य 'पृश्निः' कहलाता है। इस पक्ष में 'स्पृश्' धातु से 'पृश्नि' रूप सिद्ध होता है। उणादिकोष भी 'स्पृश्' धातु से 'पृश्नि' रूप सिद्ध करने के पक्ष में है।[६]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'पृश्नि' पद को उक्षन्, ओषधि, धेनु का वर्णवाचक विशेषण तथा गो, ग्रहविशेष का नामपद तथा इन्द्र की कामदुघा धेनु और मरुतों की माता की यह व्यक्तिपरक संज्ञा है। उसके अनुसार उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[८]

वैदिक साहित्य में 'पृश्नि' पद का अनेकशः उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि उस पृश्नि देवी ने मेघों पर विजय प्राप्त करने के लिए मरुतों की सेना को उत्पन्न किया।[९] तैत्तिरीय-संहिता का अभिमत है कि पृश्नि वह है, जिससे मरुत् उत्पन्न हुए।[१०] ऐसा ही कथन ऋग्वेद में देखने को मिलता है।[१]

---

१ निघ० १.४.२.

२ निरु० २.१४.

३ निरु० २.१४.

४ निघ०वृ०, १.४.२.

५ निघ०वृ०, १.४.२.

६ उणा०, ४.५३. ''घृणिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णयः''।

७ वै०पद०को०, पृ० २१०५-२१०६.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० ३३६.

९ ऋ० १.१६८.९. ''असूत पृश्निर्महते रणाय त्वेषमयासां मरुतामनीकम्''।

१० तै०सं० २.२.११.४. ''पृश्नियै वै मरुतो जाताः''।

कहीं इस पृश्नि को सोम का पाक करने वाला बताया है।[२] कहीं पृश्नि का अर्थ 'सूर्य' मानते हुए कहा है कि वर्षा कराने वाला सूर्य अन्तरिक्ष से पयस् (उदक) को दुहता है।[३] कहीं इस पृश्नि (सूर्य) को द्युलोक के मध्य में स्थित बताते हुए कहा है कि यह अन्तरिक्ष के पूर्व और अपर भाग को लाँघ जाता है।[४] कहीं रुद्र का मरुतों के युवा पिता तथा पृश्नि का उनकी सुदुघा माता के रूप में उल्लेख हुआ है।[५] यह पृथिवी (गौः) उदक को आगे किए हुए अन्तरिक्ष (पृश्नि) में भ्रमण तथा पितृभूत (पितर) सूर्य की परिक्रमा करती है।[६] मैत्रायणी-संहिता 'पृश्नि' का वर्णन करती हुई कहती है कि पृश्नि के चार स्तन थे, उनमें से देवताओं ने तीन को दुहा। एक स्तन कुशी (हल की फाल) के पीछे बँधा हुआ था। उसको इन्द्र ने ही देखा और इसलिए वह इन्द्र के लिए ही दुहा गया, यही उस इन्द्र का कौशिकत्व है।[७] उक्त वर्णन से यह प्रतीत होता है कि यहाँ पृश्नि (अन्तरिक्ष) के चार भागों का ब्राह्मणग्रन्थ का ऋषि उल्लेख कर रहा है। इनमें से इन्द्र ने या इन्द्र के लिए मेघ रूप स्तन को दुहा गया और सम्भवतः, यह स्तन कुशी (हल की फाल) के पीछे इसलिए छिपा हुआ ऋषि बता रहा है, क्योंकि इन्द्र द्वारा की जाने वाली वृष्टि कृषि के लिए है।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में 'पृश्नि' का सूर्य, अन्तरिक्ष और मरुतों की माता के रूप में उल्लेख हुआ है। आचार्य यास्क ने 'पृश्नि' के दो निर्वचन प्रस्तुत किए हैं, उनमें से प्रथम में 'प्र+'अश्' से तथा द्वितीय में 'स्पृश्' धातु से 'पृश्नि' पद सिद्ध होता है।[८] प्रथम निर्वचन सम्भवतः, 'पृश्नि' के सूर्य और अन्तरिक्ष अर्थ को द्योतित करने के लिए और द्वितीय निर्वचन मरुतों की माता अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए है। वर्णव्याप्ति की सूर्य के सन्दर्भ में तथा अस्तित्व व्याप्ति की अन्तरिक्ष के परिप्रेक्ष्य में सङ्गति है। इसी प्रकार स्पार्शन क्षमता का सम्बन्ध मरुन्माता के साथ अधिक उचित प्रतीत होता है, लेकिन आचार्य यास्क के कथन से इसकी पुष्टि नहीं हो पाती। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'पृश्नि' एक साधारण पदनाम है। इसका अन्तरिक्ष और द्युलोक के लिए समान प्रयोग हुआ और समानरूप से यह मेघ और प्रकाश को प्राप्त करता है।

३. नाकः

निघण्टुकोष के साधारण नामपदों में 'नाक' का परिगणन हुआ है।[९] ताण्ड्य-महाब्राह्मण 'नाक' का

---

१ ऋ० ५.५८.५. ''पृश्नेः पुत्रा उपमासः'।

२ ऋ० १.८४.११. ''ता अस्य पृशनायुवः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः''।

३ ऋ० ४.३.१०. ''वृषा शुक्रं दुदुहे पृश्निरूधः''।

४ ऋ० ५.४७.३. ''मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तौ।''

५ ऋ० ५.६०.५. ''युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः।''

६ ऋ० १०.१८९.१. ''आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः।''

७ मै०सं० ४.५.७. ''चत्वारो वै पृश्नेः स्तना आसंस्ततस्त्रिभिर्देवेभ्योऽदुहत्, कुशीभिरेकोऽनुनद्ध आसीत्, त वा इन्द्र एवापश्यत्, तेनेन्द्रायैवादुहत्, तद्वा अस्य (इन्द्रस्य) कौशिकत्वम्।''

८ निरु० २.१४.

९ निघ०वृ०, १.४.३.

वर्णन करता हुआ कहता है:-"**तम् (त्रयस्त्रिंशत् स्तोमम्) उ नाक इत्याहुर्न हि प्रजापतिः कस्मै चनाकम्**"[१] कि उस त्रयस्त्रिंशत् स्तोम को 'नाक' कहते हैं। क्योंकि प्रजापति को कोई दुःख नहीं है। यहाँ ब्राह्मण 'न+अक' से 'नाक' पद को व्युत्पन्न कर रहा है।

'नाक' के मूल में निहित अर्थ को स्पष्ट करते हुए शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-"संवत्सरो वाव नाकः षट्त्रिंशस्तस्य चतुर्विंशरर्धमासा द्वादश मासास्तद्यत्तमाह नाक इति न हि तत्र गताय कस्मै चनाकं भवति"[२] कि संवत्सर ही 'षट्त्रिंशत् नाक' है, इसके चतुर्विंशत् अर्धमास तथा द्वादश मास हैं। जो इसे 'नाक' कहा गया है, इसका कारण यह है कि वहाँ गए हुए किसी को दुःख नहीं होता। यहाँ पर भी पूर्व की भाँति 'न+अक' से 'नाक' पद व्युत्पन्न होता है।

तैत्तिरीय-संहिता में 'नाक' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है:-"**स्वर्गो वै लोको नाकः, यस्यैता (नाकसद इष्टकाः) उपधीयन्ते, नास्मा अकं भवति**"[३] कि स्वर्गलोक ही नाक है, जिसकी ये नाकसद इष्टकायें स्थापित की जाती हैं, इस स्वर्गलोक में कष्ट नहीं होता। इस पक्ष में भी 'न+अक' से 'नाक' पद सिद्ध होता है।

जैमिनीय-ब्राह्मण का अभिमत है:-"**सो (प्रजापतिः)ऽब्रवीन्न दै म इदमकमभूदिति तन्नाकस्य नाकत्वम्**"[४] कि उस प्रजापति ने कहा कि मुझे यह दुःख न हो, वही इस नाक का नाकत्व है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'नाक' पद सिद्ध होता है।

आचार्य यास्क 'नाक' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"नाक आदित्यो भवति। नेता रसानाम्, नेता भासाम्, ज्योतिषां प्रणयः, कमिति सुखनाम, तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत"[५] कि नाक का अर्थ 'आदित्य' है, क्योंकि यह रसों का अपहर्ता, प्रकाश को सब दिशाओं में ले जाने वाला और चन्द्रादि लोकों की गति का नियामक है। 'क' का अर्थ 'सुख' तथा 'अक' का अर्थ 'दुःख' है और जहाँ इस दुःख का अत्यन्त निषेध होता है, वह स्थान 'नाक' है। इसकी पुष्टि में यास्क ब्राह्मण का प्रमाण देते हुए कहते हैं कि इस लोक में प्राप्त हुए व्यक्ति को कुछ भी दुःख नहीं होता, क्योंकि यहाँ पुण्यवान् लोग ही आते हैं।[६] यहाँ 'नी'+'अक' से आचार्य यास्क 'नाक' पद को व्युत्पन्न कर रहे हैं।

आचार्य देवराजयज्वन् उणादिकोष के आधार पर कहते हैं:-"**नयतेः 'पिनाकादयश्च'(उणा०,४.१५.) इत्याकप्रत्ययष्टिलोपश्च निपात्यते**"[७] कि 'नी' धातु से 'आक' प्रत्यय तथा निपातन से टिलोप होकर 'नाक' पद सिद्ध होता है।

---

१ ता०ब्रा०, १०.१.१८.

२ शत०ब्रा०, ८.४.१.२४.

३ तै०सं० ५.३.७.१.

४ जै०ब्रा०, ३.३४५.

५ निरु० २.१४.

६ निरु० २.१४. काठ०सं० २१.२. "न वा अमुं लोकं जग्मुषे किंचनाकम्। पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति।"

७ निघ०वृ०, १.४.३.

(ख)"नेता रसानाम्, नेता भासामात्मीयानाम्, ज्योतिषां प्रणायकश्चादित्यः। द्यौस्तु, कमिति सुखनाम, न कम् अकम् असुखम्, अकं यत्र स नाकः"[१] कि यह रसतत्त्व का हरण करने वाला, सौर परिवार में आने वाले ग्रहों का प्रकाशक तथा नक्षत्र आदि की गतियों का नियामक है, अतः, आदित्य 'नाक' कहलाता है। जहाँ तक द्युलोक को 'नाक' कहने का प्रश्न है, इसका कारण यह है कि 'कम्' यह सुख वाचक नाम है, 'अकम्' का अर्थ दुःख है, जहाँ यह दुःख नहीं है, ऐसा सुख का स्थान द्युलोक 'नाक' कहा जाता है। इस प्रकार आचार्य देवराजयज्वन् के मत में आदित्य अर्थ के पक्ष में 'नी' धातु से तथा द्युलोक अभिधेय पक्ष में 'न+अक' से 'नाक' पद व्युत्पन्न होता प्रतीत होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'नाकः' पद को दिव् का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[२] ऋग्वेद वैयाकरण पदसूची उक्त पद को अव्युत्पन्न मानती है।[३]

वैदिक साहित्य में 'नाक' पद का पर्याप्त उल्लेख देखने को मिलता है। हिरण्यगर्भ सूक्त कहता है कि उसने द्युलोक, पृथिवी, स्व तथा नाक को स्तम्भित किया।[४] इससे यह प्रमाणित होता है कि द्यु, स्व और नाक में स्थान व स्वरूप का भेद है। एक स्थान पर कहा गया है कि गन्धर्व नाक के ऊर्ध्व भाग में स्थित है।[५] एक अन्य मन्त्र कहता है कि परम पुरुष इस संसार को नाक (अन्तरिक्ष) में फैलाता है और वहीं इसे समेटता भी है।[६] नाक का उल्लेख करता हुआ एक दूसरा मन्त्र कहता है कि द्युलोक के नाक प्रदेश में अत्यन्त आह्लाद जनक अनन्त ज्योतियाँ हैं।[७] पुरुष सूक्त कहता है कि यज्ञ की सामर्थ्य से कर्मशील जन नाक को प्राप्त होते हैं।[८] एक दूसरा मन्त्र कहता है कि स्वाश्रित बल से बढ़कर मरुतों ने विस्तृत नाक लोक को अपना निवास स्थान बनाया।[९] एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि वैश्वानर द्युलोक के उपरिभाग में स्थित नाक प्रदेश में आरूढ होता है।[१०] कहीं नाक (आदित्य) को ऐसा तेजस्वी बताया है, जिसके तेज का असुरों ने कभी अपहरण नहीं किया।[११] कहीं सवितादेव से प्रार्थना की गयी है कि वे जिस प्रकार द्विपाद और चतुष्पाद प्राणियों के लिए रूपों को प्रकट करते हैं, उसी प्रकार वे नाक लोक का मार्ग भी दिखलायें।[१२] कहीं इस नाक लोक को नक्षत्रों से

---

१ निघ०वृ०, १.४.३.

२ वै०पद०को०, पृ० १७८५.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० २८५.

४ ऋ० १०.१२१.५. "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढहा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।"

५ ऋ० १०.१२३.७. "ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थात्।"

६ ऋ० १०.१३०.२. "पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान्वि तत्ने अधि नाके अस्मिन्।"

७ ऋ० ९.७३.४. "दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चितः।"

८ ऋ० १.१६४.५०; १०.९०.१६. "ते ह नाकं महिमानं सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।"

९ ऋ० १.८५.७. "तेऽवर्धन्त स्वतवासो महित्वना नाकं तस्थुरुरु चक्रिरे सदः।"

१० ऋ० ३.२.१२. "वैश्वानरः प्रत्नथा नाकमारुहद्दिवस्पृष्ठं भन्दमानः सुमन्मभिः।"

११ ऋ० ५.५४.१२. "तं नाकमर्यो अगृभीतशोचिषं रुशत् पिप्पलं वि धूनुथ।"

१२ ऋ० ५.८१.२. "विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे। वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति।"

आच्छादित बताया गया है।[१] कहीं इसे विष्णु के द्वारा ऊपर द्युलोक में स्तम्भित किये जाने का उल्लेख मिलता है।[२] यजुर्वेद कहता है और हम इन्द्र के नाक लोक को प्राप्त करें।[३] कहीं नाक को सुकृत लोक बताते हुए उसे प्रकाशमान द्युलोक के तृतीय पृष्ठ पर स्थित बताया है।[४] ब्राह्मणग्रन्थ नाक को स्वर्गलोक के रूप में निरूपित करते हैं, वे स्पष्टरूप से कहते हैं कि नाक वह है, जहाँ कोई दुःख नहीं है।[५] इसके अतिरिक्त वे नाक को आदित्य के रूप में चित्रित करते हैं। उनके अनुसार जो यज्ञायज्ञीय है, वह 'नाक' नामक स्तोम है और यह 'नाक' आदित्य है, क्योंकि इसमें नाममात्र को भी दुःख नहीं होता।[६] इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थ स्वर्ग और नाक को एक मानकर चित्रित करते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि 'नाक' वेद में मुख्य रूप से द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त ऐसा भी प्रतीत होता है कि यह सम्पूर्ण द्युलोक का अभिधान न होकर उसके एक विशिष्ट सर्वोच्च भाग के लिए प्रयुक्त होता रहा है। यहाँ सम्भवतः, सर्वोच्चता स्थानगत न होकर सुख या दुःख के अभाव की दृष्टि से है। यह एक ऐसे विशिष्ट स्थान के रूप में चित्रित हुआ है, जहाँ दुःख का लेश भी नहीं है। यही वस्तुतः, नाक का नाकत्व है।

४. गौः

निघण्टुकोष के साधारण नामपदों में 'गौः' पद समाम्नात है।[७] इसके अतिरिक्त उक्तपद का पृथिवी, रश्मि, वाक्, आदिष्टोपयोजन तथा स्तोतृ अर्थ में भी परिगणन हुआ है।[८] शतपथ-ब्राह्मण 'गौ' के स्वरूप का प्रतिपादन करता हुआ कहता है:-"**इमे वै लोका गौर्यद्धि किंच गच्छतीमांस्तल्लोकान् गच्छति**"[९] कि ये सभी लोक गतिशील होने के कारण 'गौ' हैं, क्योंकि इनमें जो कुछ भी वह सब गतिशील है। इस पक्ष में 'गम्' धातु से 'गौ' पद सिद्ध होता है।

आचार्य यास्क आदित्य वाचक 'गौ' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**गौः आदित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे**"[१०] कि 'गौ' का अभिधेय 'आदित्य' है, क्योंकि यह रसों का आहरण करता है। इसके अतिरिक्त यह अन्तरिक्ष में गमन करता है, इसलिए यह 'गौ' कहलाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'गौ' पद व्युत्पन्न होता है।

---

१ ऋ० ६.४९.१२. "स्तृभिर्न नाकं वचनस्य विपः।"

२ ऋ० ७.९९.२. "उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तम्।"

३ यजु०, ९.१०. "बृहस्पतेरुत्तमं नाकं रुहेयम्।"

४ यजु०, १५.५०. "नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठेऽ अधि रोचने दिवः।"

५ ता०ब्रा०, १८.७.१०. "नाकं रोहति स्वर्गमेव तल्लोकं रोहति ।" तै०सं० ५.३.३.५. "सुवर्गो वै लोको नाकः।" मै०सं० ३.३.१. "नाकम्........न वै तत्र किञ्चन जग्मुषे कम्।"

६ जै०ब्रा०, १.३१३. "अथ यज्ञायज्ञीयम्। स ह स नाक एव स्तोमः। आदित्य एव सः। एष हि न कस्मै चनाकमुदयति।"

७ निघ० १.४.४.

८ निघ० १.१.१; ५.३; ११.४; १५.७; ३.१६.७; ४.१.५४.

९ शत०ब्रा०, ६.१.२.३४.

१० निरु० २.१४.

(ख)''**अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधिदूरं गता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति**''[१] कि 'द्यौ' को 'गौ' इसलिए कहते हैं कि यह पृथिवी से बहुत दूर उच्च स्थान पर रहते हुए गतिशील रहती है। इसके अतिरिक्त इसे 'गौ' इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमें नक्षत्र आदि गमन करते हैं।

आचार्य यास्क के निर्वचनों का अनुसरण करते हुए आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं:-''**गमयति रसान् मण्डलं प्रति रश्मिभिः गच्छति वान्तरिक्षे इति गौरादित्यः**''[२] कि यह आदित्य रश्मियों के माध्यम से रसों को अपने मण्डल ले जाता है, अथवा यह अन्तरिक्ष में गमन करता है, इसलिए यह 'गौ' कहलाता है।

(ख)''**यत् पृथिव्या उपरि दूरं गता, यद्वास्यां गच्छन्तीति गौः द्यौः**''[३] कि यह पृथिवी के ऊपर बहुत दूर रहकर गतिशील रहती है अथवा इसमें तारागण आदि गमन करते हैं, अतः, यह द्यौ 'गौ' नाम से अभिहित होती है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गो' पद को धेनु, पृथिवी, वाक्, ग्रावा प्रभृति अर्थों का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। परन्तु यास्क एवं उणादिकोषकार उक्तपद को 'गम्' गतौ' या 'गा' गतौ' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'गो' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'गो' पद को 'गम्' धातुमूलक मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद गाय, पशु, पशुओं के समूह अर्थ में आया है। ऋग्वेद में यह पद गाय या वृषभ से उत्पन्न होने वाले या उससे सम्बन्धित द्रव्य जैसे-दुग्ध, मांस, चर्म के लिये व्यवहृत हुआ है।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में 'guou' पशु अर्थ में, ग्रीक में 'bous' लैटिन में 'guovs' गाय अर्थ में है। अतः, वे उक्त यास्कीय निर्वचन को '**सर्वाणि नामान्याख्यातजानि**' सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं।[७] वेद से प्राप्त अनेक सङ्केत 'गो' को 'गम्' धातु से व्युत्पन्न मानते प्रतीत होते हैं।[८]

वैदिक साहित्य में 'गौ' का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। विशेष रूप से 'गो' शब्द का पशु और भूमि अर्थ में उल्लेख कुछ अधिक हुआ है, जबकि आदित्य, द्युलोक आदि अर्थों में इसका प्रयोग विरल हुआ है, ऐसा हम कह सकते हैं। ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि जहाँ सुन्दर सूर्य है, उसे 'गौ' (द्युलोक) जानो।[९] एक अन्य स्थान पर मन्त्र कहता है कि अन्न आदि को जीतने की इच्छा से मैं द्युलोक में स्थित तेरे उत्तम रूप को देखता हूँ।[१०] कहीं यह कहा गया है कि मैं ऋत से नियत अन्तरिक्ष के उदक की अग्नि से याचना करता हूँ।[१]

---

१ निरु० २.१४.

२ निघ०वृ०, १.४.४.

३ निघ०वृ०, १.४.४.

४ वै०पद०को० पृ० १२४९.

५ ऋ०वै०पद० पृ० १९०.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३६३.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ८७.

८ ऋ० १.८३.१, ८६.३, ११२.१८, ३.५६.२, ६.२८.१, ८.२०.१९, ४५.१०, ५१.५, ७१.५.

९ ऋ० १.८४.१५. ''अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।''

१० ऋ० १.१६३.७. ''अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिष आ पदे गोः।''

कहीं ऋषि यह कहता है कि उत्कृष्ट स्थान (परमे पदे) में उदक निर्मात्री गौ (सूर्य) समीप में विद्यमान है।[२] कहीं मन्त्र यह कहता है कि इन्द्र बलशाली गौ (सूर्य) के मातृपितृभूत द्यावापृथिवी को धारण करता है।[३] एक स्थान पर यह कहा गया है कि सूर्य का स्वर्ण के समान दर्शनीय वपु है।[४] एक दूसरे स्थान पर ऋषि कहता है कि हे अश्विनीदेवो! आज हम आपके उस रथ का आह्वान करते हैं, जो सूर्य से मेल कराने वाला है।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में वह द्युलोक 'गौ' नाम से अभिहित हुआ है, जहाँ सुन्दर सूर्य विद्यमान है, अन्न की इच्छा से द्युलोक में स्थित सूर्य की देखने की इच्छा होती है, ऋत से नियत उदक यहीं पर निवास करता है, इसी द्युलोक में उदक निर्मात्री गौ (सूर्य) रहती है, इन्द्र इस गौ (सूर्य) के मातृपितृभूत द्यावापृथिवी को धारण करता है, यह गौ (सूर्य) स्वर्ण के समान रूप वाली है, अश्विनीदेवों का रथ इस गौ (सूर्य) से मेल कराने वाला है। इस प्रकार निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि वेद में 'गौ' का सूर्य, द्युलोक और अन्तरिक्ष अर्थ में प्रयोग हुआ है, लेकिन यह स्पष्ट नहीं है कि वह द्युलोक के किस विशिष्ट चरित्र का बोध करा रहा है। तैत्तिरीय, काठक-संहिता एवं जैमिनीय-ब्राह्मण एकमत से कहते हैं कि 'गौ' का अर्थ अन्तरिक्ष है।[६] एक अन्य स्थान पर ब्राह्मण कहता है कि यह लोक आयु और यह द्यौ 'गौ' है।[७] इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वेद में 'गौ' का व्यापक प्रयोग हुआ है। यहाँ पृथिवी से लेकर द्युलोक तक लोक और अन्य पदार्थ 'गौ' नाम से अभिहित हुए हैं। उक्त नामकरण के मूल में जो कारण ब्राह्मणग्रन्थों और आचार्य यास्क ने दिये हैं कि ये गतिशील होने के कारण 'गौ' कहलाते हैं, सर्वथा समीचीन प्रतीत होते हैं।

५. विष्टप्

निघण्टुकोष के साधारण नामपदों में 'विष्टप्' पद का परिगणन हुआ है।[८] आचार्य यास्क 'विष्टप्' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**विष्टबादित्यो भवति। आविष्टो रसान्, आविष्टो भासं ज्योतिषाम्, आविष्टो भासेति वा**''[९] कि यह रश्मियों के माध्यम से भूमि और अन्तरिक्ष के रसों में शोषण करने के लिए प्रविष्ट, प्रकाशमान तारागणों के प्रकाश से आविष्ट और सब ओर से दीप्ति से दीप्तिमान् है, अतः, आदित्य को 'विष्टप्' कहते हैं। इस पक्ष में आचार्य यास्क 'विश्' धातु से 'विष्टप्' पद को निष्पन्न कर रहे हैं।

---

१ ऋ० ४.३.९. ''ऋतेन ऋतं नियतमीळ आ गोः।''
२ ऋ० ४.५.१०. ''मातुष्पदे परमे अन्ति षद्गोः।''
३ ऋ० ४.२२.४. ''आ मातरा भरति शुष्म्या गोः।''
४ ऋ० ४.२३.६. ''स्व१र्ण चित्रितमिष आ गोः।''
५ ऋ० ४.४४.१. ''तं वा रथं वयमद्या हुवेम पृथुज्रयामश्विना संगतिं गोः।''
६ तै०सं० ७.२.४.२; काठ०, ३३.३; ऐ०ब्रा०, ४.१५. ''अन्तरिक्षं गौः।'' जै०ब्रा०, २.३१७. ''अयं (अन्तरिक्षलोकः) गौः।''
७ जै०ब्रा०, २.४३९. ''अयं वै लोक आयुः। असौ (द्यौः) गौः।''
८ निघ० १.४.५.
९ निरु० २.१४.

(ख)"**अथ द्यौराविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च**"[१] कि यह ग्रह, नक्षत्र आदियों से व्याप्त तथा पुण्यवान् जनों से युक्त है, अतः, द्युलोक को 'विष्टप्' कहा जाता है। इस पक्ष में आचार्य यास्क व्याप्त्यर्थक 'विष्' से 'विष्टप्' पद को निष्पन्न कर रहे हैं।

आचार्य देवराजयज्वन् 'विष्टप्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'ष्टपि' प्रतिबन्धे' से 'विष्टप्' पद व्युत्पन्न होता है। उनके अनुसार यहाँ 'ष्टभ्' धातु 'आ+'विश्' के अर्थ में है।[२]

(ख)"**यद्वा, विशेरेव बाहुलकादद्रूपसिद्धिः। पृथिवीतो रसानादातुमाविष्टोऽभिनिविष्ट इत्यर्थः। एवमेव भासं ज्योतिषां भासा वाविष्टो व्याप्तः आदित्यः। द्यौराविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च**"[३] कि बाहुलक नियम से 'विश्' धातु से 'विष्टप्' पद निष्पन्न होता है। इसका अभिप्राय यह है कि यह आदित्य पृथिवी से रसों का आहरण करने के लिए उसमें प्रविष्ट है। इसी प्रकार यह नक्षत्रों के प्रकाश से या नक्षत्र इसके प्रकाश से व्याप्त हैं। द्युलोक भी ज्योतिष्मान् तारागणों एवं पुण्यवानों से व्याप्त है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'विष्टप्' शब्द को स्वर्गवाचक स्त्रीलिङ्ग नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। पदपाठकार उक्त पद को अनवगृहीत रूप से पाठ करते हैं। कोशकार के मत में उक्त पद की विकास प्रक्रिया निम्न है:-'विश्'(वृष्) उच्चभावप्रकाशयोः'=विष्ट+'वृ' निवासे'=वाराविष्ट=विष्टप्'।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्त पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि यास्क 'विश्' धातु से 'विष्टप्' पद को व्युत्पन्न मानते हैं, परन्तु यह निर्वचन 'विष्टप्' के 'प्' व्यञ्जन को स्पष्ट नहीं करता। यह अभी आगे शोध की अपेक्षा रखता है कि क्या यह प्राचीन आर्यभारतीय भाषा की 'स्तप्' धातु है, जो सम्भवतः, 'स्तभ्' धातु से सम्बन्धित है। भारोपीय भाषा में 'steb, stebh' सहारा देने अर्थ में तथा इंग्लिश में 'staff' यष्टि अर्थ में है। उनके अनुसार उक्त निर्वचन शिथिल है।[६]

ऋग्वेद में 'विष्टप्' का उल्लेख विरल हुआ है। ऋषि कहता है कि जब अश्विनीदेवों का रथ द्युलोक ('विष्टप्') में चलता है, तब स्तुतियाँ की जाती हैं।[७] कहीं इन्द्र से प्रार्थना की गयी कि वह बृहत् मेघ के वर्षा कर सकने वाले व्याप्ति स्थान अन्तरिक्ष (विष्टप्) पर पूर्ण अधिकार स्थापित करे।[८] कहीं यह कहा गया है कि इन्द्र मेघों से परे समुद्र (अन्तरिक्ष) के ऊपर स्थित विष्टप् (द्युलोक) से हमारे आह्वान को सुनकर आए।[९] कहीं

---

१ निरु० २.१४.

२ निघ०वृ०, १.४.५.

३ निघ०वृ०, १.४.५.

४ वै०पद०को०, पृ० २९५०.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ४९८.

६ दि एटीमोलीजीज ऑफ यास्क, पृ० ११२.

७ ऋ० १.४६.३. "वच्यन्ते वां ककुहासो जूर्णायामधि विष्टपि। यद्वां रथो विभिष्पतात्।"

८ ऋ० ८.३२.३. "न्युर्बुदस्य विष्टपं वर्ष्माणं बृहतस्तिर। कृषे तदिन्द्र पौंस्यम्।"

९ ऋ० ८.३४.१३. "आ याहि पर्वतेभ्यः समुद्रस्याधि विष्टपः।"

ऋषि सूर्य के घर को विष्टप् (द्युलोक) बतलाता है।[१] कहीं इन्द्र से प्रार्थना करता हुआ ऋषि कहता है कि द्युलोक के किसी ज्योतिष्मान् लोक या समुद्र (अन्तरिक्ष) के ऊपर स्थित विष्टप् या भूलोक के किसी स्थान या फिर अन्तरिक्ष, जहाँ भी वह हो आने की कृपा करे।[२] एक स्थान पर ऋषि कहता है कि वह परमात्मा जिस प्रकार विष्टप् (द्युलोक) में रसरूप में व्याप्त है, उसी प्रकार वह मेरे हृदय में व्याप्त हो।[३] एक अन्य स्थान पर मन्त्र कहता है कि जल के शिखरभूत द्युलोक (द्युलोक) में समान योनि होकर आदित्य रहता है।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि 'विष्टप्' आदित्य और द्युलोक का एक साधारण नामपद है। उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्तरिक्ष अर्थ में भी इसका पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तरिक्ष में स्थित समुद्र से ऊपर द्युलोक का एक स्थान विशेष 'विष्टप्' है, इसे सूर्य के घर के नाम से अभिहित किया गया है। ऋषि '**समुद्रस्याधि विष्टपि**' वाक्य का प्रयोग इसके लिए बार-बार करता है।[५]

आचार्य यास्क 'विष्टप्' का निर्वचन 'विश् धातु से करने के पक्ष में हैं। लेकिन 'विष्णु' के समान इसका निर्वचन व्याप्त्यर्थक 'विष्' धातु से करना भी समीचीन प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि सूर्य के रूप में वह रश्मियों के माध्यम से सर्वत्र व्याप्त होता है। इस प्रकार 'विष्टप्' के चरित्र की दो विशेषताएँ हैं। प्रथम प्रवेश करना और द्वितीय व्याप्त करना। ये दोनों विशेषतायें सूर्य और अन्तरिक्ष रूप 'विष्टप्' में पायी जाती हैं। इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि 'विष्टप्' आदित्य भी है और आदित्य लोक भी, यह जल के शिखर से ऊपर आदित्य की समान योनि है।[६]

६. नभ:

निघण्टुकोष के साधारण नामपदों में 'नभ:' पद का परिगणित है।[७] जैमिनीय-ब्राह्मण 'नभ:' का निर्वचन करता हुआ कहता है:-''**तद्यद्वै तन्नभो नामाभीर्वै सा। न हि तत्प्राप्य कस्माचन बिभेति। तस्मात्तन्नभ:**''[८] कि जो भय से रहित है, वह 'नभ' है। उसको प्राप्त करके कोई भयभीत नहीं होता है, अत:, वह 'नभ' कहलाता है।

आचार्य यास्क 'नभ:' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**नभ आदित्यो भवति। नेता रसानाम्। नेता भासाम्। ज्योतिषां प्रणय:**''[९] कि 'नभस्' का अर्थ 'आदित्य' है, इसका कारण यह है कि यह भूमि और अन्तरिक्ष के रसों का ग्राहक, सभी दिशाओं में प्रकाश का नायक तथा ज्योतिचक्र का निर्वाहक है। इस पक्ष में

---

१ ऋ० ८.६९.७. ''उद्यत् ब्रध्नस्य विष्टपं गृहमिन्द्रश्च गन्वहि।''

२ ऋ० ८.९७.५. ''यद्वासि रोचने दिव: समुद्रस्याधि विष्टपि।''

३ ऋ० ९.४१.६. ''सरा रसेव विष्टपम्''।

४ ऋ० १०.१२३.२. ''ऋतस्य सानावधि विष्टपि भ्राट् समानं योनिमभ्यनूषत व्रा:''।

५ ऋ० ८.३४.१३; ९७.५.

६ ऋ० १०.१२३.२.

७ निघ०१.४.६.

८ जै०ब्रा०, १.३०.

९ निरु० २.१४.

प्रापणार्थक 'नी' धातु से 'नभस्' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(ख)''अपि वा भन वा स्याद्विपरीत:''[१] कि भासमान होने के कारण आदित्य को 'नभ:' कहते हैं। इस पक्ष में 'भासन' से 'भन' और उससे विपर्यय होकर 'नभ:' पद निष्पन्न होता है।

(ग)''न न भातीति वा''[२] कि सूर्य अत्यन्त प्रकाशमान होने से 'नभस्' कहलाता है। इस पक्ष में 'न+न+'भा' स्थिति में एक 'नञ्' का लोप होकर 'नभस्' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'नभस्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''नयतेरसुनि गुणे 'नय:' इति स्थिते बाहुलकात् यकारस्य भकार:। नाकशब्देन समानोऽर्थ:''**[३] कि 'नी' धातु से 'असुन्' प्रत्यय गुण होकर तथा यकार के स्थान में भकार होकर 'नभस्' शब्द व्युत्पन्न होता है। नभ का अर्थ भी नाक के समान है, जो रस आदि का हरण करने वाला है, वह 'नभ' है।

(ख)''अथवा भासनशब्दस्य ह्रस्वत्वं, सकारलोप:, नकारभकारयोश्च स्थानविपर्य्यय: सान्तत्वञ्च''[४] कि भासन शब्द को ह्रस्व, सकार लोप, नकार और भकार का स्थान परिवर्तन सकारान्त बनाकर 'नभस्' शब्द निष्पन्न होता है। भासन अर्थात् प्रकाशन कर्म में निरत रहने के कारण आदित्य को 'नभस्' कहते हैं।

(ग)''न भाति नभ:''[५] कि स्वयं प्रकाशित न होने से आकाश को 'नभ' कहते हैं। यहाँ 'न+'भा' से नभस्' शब्द निष्पन्न होता है। जबकि आचार्य यास्क 'न+न+'भा' से इसे व्युत्पन्न मान रहे हैं।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'नभ:' पद को दिव् वाचक नामपद मानता है। उसके अनसुार उक्त पद का मूल 'नभ्' धातु है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्त मत का समर्थन करती है।[७] उणादिकोष तथा अन्य कोष 'नभस्' का मूल बन्धनार्थक 'नह्' धातु को मानते हैं।[८] देवराजयज्वन् भी उदक में 'नभ' का निर्वचन 'नह्' धातु से करते हैं।[९] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि यास्क ने नभस् के सामान्य अर्थ 'आकाश' के साथ-साथ 'सूर्य' अर्थ की प्रतीति कराने के लिये अपनी कल्पनाशक्ति का प्रयोग नहीं किया है, जो सरलता से किया जा सकता है, अत:, वे उक्त निर्वचन को सन्दूषित वर्ग में रखते हैं।[१०]

वैदिक साहित्य में 'नभस्' का प्रयोग बहुत तो नहीं हुआ, फिर भी पर्याप्त हुआ है। ऋग्वेद का ऋषि 'नभस्' का वर्णन करता हुआ कहता है कि जिस प्रकार अन्तरिक्ष को सूर्य की किरणें आच्छादित कर लेती हैं,

---

१ निरु० २.१४.

२ निरु० २.१४.

३ निघ०वृ०, १.४.६.

४ निघ०वृ०, १.४.६.

५ निघ०वृ०, १.४.६.

६ वै०पद०को०, पृ० १७६८.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० २८२.

८ उणा०, ४.२१२. ''नहेर्दिवि भश्च।''

९ निघ०वृ०, १०१२.४.

१० दि एटीमोलीजीज ऑफ यास्क, पृ० ३८.

उसी प्रकार मुझे वृद्धावस्था आक्रान्त किये हुए है।[१] एक अन्य ऋषि इन्द्र का आह्वान करता हुआ कहता है कि वरणीय सोम का पान करने के लिए नभ से आओ।[२] एक दूसरे मन्त्र में नभ के स्वरूप का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है कि वह नभ, जो तैरने योग्य, सहज प्राप्त, सर्वत्र व्यापक और बलों का स्वामी है, हमारी वाणियों को सुने।[३] कहीं इसके विषय में यह कहा गया है कि जब पर्जन्य देव नभ को वर्षा से युक्त करते हैं, तब इसमें सिंह के समान गर्जना होती है।[४] कहीं बृहस्पति को नभ के समान प्रकाशमान रूप धारण करने वाला बताया है।[५] कहीं नभ को अवकाश देने वाला बताया गया है।[६] एक अन्य स्थान पर ऋषि कहता है कि नभ से सारभूत उदक दुहे जाते हैं, वह जल की नाभि है और उससे जीवन रूप अमृत उत्पन्न होता है।[७] एक दूसरे मन्त्र में नभ का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि नभ हवि है, हविष्मान् है, दिव्य नभ उस का घर है तथा अहिंसा रूपी यज्ञ को वह प्राप्त होता है।[८] तैत्तिरीय-संहिता 'नभ' का अर्थ अन्तरिक्ष मानती है और उसका अधिपति रुद्र को बतलाती है।[९] मैत्रायणी-संहिता कहती है कि देव, पितर, मनुष्य और असुर ये चार नभ हैं।[१०]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर 'नभ' के विषय में यह कहा जा सकता है कि यह आदित्य, अन्तरिक्ष और द्युलोक का एक समान नाम है। वेद का ऋषि इसे जल की नाभि, जीवन रूपी अमृत को देने वाला, तैरने योग्य, अवकाश स्वरूप तथा प्रकाशमान के रूप में इसका चित्रण करता है। निर्वचन की दृष्टि से 'नह्' धातु से किया जाने वाला निर्वचन अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि 'नभ' जीवनरूपी शरीर का केन्द्रबिन्दु है। इसके अतिरिक्त 'नह्' धातु से 'नभ' का आकृतिगत साम्य भी है।

वैदिक साहित्य में साधारण नामपदों में अर्थभिन्नता

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के चतुर्थ गण में निघण्टुकार ने साधारण वाचक षट् नामपदों का समाम्नान किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	स्व: साधारणवाचक	वेद में 'स्व:' पद का स्वरूप बहुत स्पष्ट नहीं है। यह प्रकाश का लोक है और द्युलोक के ऊपर के भाग के	सम्भवत:, 'सु+'ऋ' धातु।

१ ऋ० १.७१.१०. ''नभो न रूपं जरिमा मिनाति।''

२ ऋ० ३.१२.१. ''इन्द्राग्नी आ गतं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम्।''

३ ऋ० ५.४१.१२. ''शृणोतु न ऊर्जां पतिर्गिरः स नभस्तरीयाँ इषिरः परिज्मा।''

४ ऋ० ५.८३.३. ''दूरात् सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत्पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं१ नभः।''

५ ऋ० ७.९७.६. ''नभो न रूपमरुषं वसानः।''

६ ऋ० ९.७१.१२. ''हरिरोपशं कृणुते नभः।''

७ ऋ० ९.७४.४. ''आत्मन्वन्नभो दुह्यते घृतं पय ऋतस्य नाभिरमृतं वि जायते।''

८ ऋ० ९.८३.५. ''हविर्हविष्मो महि सा दैव्यं नभो वसानः परि यास्यध्वरम्।''

९ तै०सं० ३.८.१८.१. ''अन्तरिक्षं वै नभांऽसि। तस्य रुद्रा अधिपतयः।''

१० मै०सं० ४.२.१. ''चत्वारि वै नभांऽसि देवाः पितरो मनुष्या असुराः।''

	निघ०,१.४.१.	लिये इसका व्यवहार हुआ है। इसमें प्रकाश की ज्योति के दर्शन होते हैं।	
२.	पृश्नि: साधारणवाचक निघ०,१.४.२.	वेद में 'पृश्नि' का सूर्य, अन्तरिक्ष और सूर्यों की माता के रूप में उल्लेख हुआ है। इसका द्युलोक और अन्तरिक्ष के लिये समानरूप से प्रयोग हुआ है, और यह समानरूप से मेघ और प्रकाश को प्राप्त करता है। लेकिन यह अन्तरिक्ष के लिये अधिक व्यवहृत हुआ है।	प्र+'अश्' सूर्य और अन्तरिक्ष की दृष्टि से तथा 'स्पर्श्' व्युत्पत्ति मरुतों की माता की दृष्टि से उचित प्रतीत होती है। सम्भवत: ये दो भिन्न नामपद हैं।
३.	नाक: साधारणवाचक निघ०,१.४.३.	वेद में नाक मुख्यरूप से द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक के लिये प्रयुक्त हुआ है। द्युलोक के सन्दर्भ में यह उस लोक के सर्वोच्च भाग का अभिधान प्रतीत होता है। यह एक ऐसा स्थान है, जिसमें दु:ख का लेश भी नहीं है।	'न+अक'। दु:खरहित स्थान।
४.	गौ: साधारणवाचक निघं०,१.४.४.	वेद से किसी विशिष्ट चरित्र की प्रतीति नहीं हो पाती है। ब्राह्मणग्रन्थों तथा निरुक्त के आधार पर गतिशीलता को 'गौ' नामक द्युलोक की विशेषता स्वीकार किया जा सकता है।	'गम्' धातु।
५.	विष्टप् साधारणवाचक निघ०,१.४.५.	वेद में अन्तरिक्ष में स्थित समुद्र से ऊपर द्युलोक का एक स्थान 'विष्टप्' है, जिसे सूर्य के गृह के नाम से अभिहित किया गया है। यह आदित्य भी है और आदित्य लोक भी तथा यह जल के ऊपर विद्यमान समान योनि है।	व्याप्त्यर्थक 'विष्' धातु।
६.	नभ: साधारणवाचक निघ०,१.४.६.	वेद में आदित्य, द्युलोक और अन्तरिक्ष का यह एक समान नाम है। यह जल की नाभि, जीवन रूपी अमृत को देने वाला, तैरने योग्य, अवकाश स्वरूप तथा प्रकाशमान है।	यह जीवनरूपी नाभि का केन्द्रबिन्दु होने से 'नह्' धातु से निर्वचन उचित है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि उक्त गण में परिगणित नाम समानरूप से आदित्य, द्युलोक और अन्तरिक्ष के लिये व्यवहृत होते हैं। इस दृष्टि से उक्तपदों का 'साधारण' नामकरण उचित माना जा सकता है। निरुक्तकार तथा उसके वृत्तिकार 'साधारण' का आशय आदित्य और द्युलोक ग्रहण करते हैं, परन्तु उक्तपदों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये पद अन्तरिक्ष के लिये भी प्रयुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त आदित्य और द्युलोक एकस्थानवाचक हैं अत:, साधारण नामपद कहना तभी सार्थक है, जब उक्तपदों को अन्तरिक्षवाचक भी माना जाये।

उक्त गण के परिगणन में, उस शिथिलता के दर्शन नही होते, जो निघण्टुकार की शैली की सामान्य विशेषता है। इस गण के सभी शब्द रूप आदि की दृष्टि से समीचीन प्रतीत होते हैं।

रश्मिवाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के पञ्चम गण में निघण्टुकार ने पञ्चदश रश्मिवाचक नामपदों का परिगणन किया है।

१. खेदयः

निघण्टुकोष के रश्मिवाचक नामपदों में सर्वप्रथम 'खेदि' नामपद का परिगणन हुआ है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उक्त पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**खिद्यते खित्ते वाऽनया लोको घर्मकाले, अश्वो बन्धनकाले**"[२] कि रश्मियों के द्वारा लोक आतप के समय खिन्न होता है और अश्व रस्सी से बाँधे जाने पर कष्ट का अनुभव करता है। अतः, रश्मि को 'खेदि' कहते हैं। इस पक्ष में दैन्य अर्थ वाली 'खिद्' धातु से 'खेदि' शब्द सिद्ध होता है।

(ख)"**यद्वा, परिहन्यते सर्वतो हिंस्यते अनया लोक आदित्येन, अश्वो बन्धनकाले**"[३] कि आदित्य की रश्मियों से सब ओर से लोक दुःखी होता है और अश्व बन्धनकाल में पीडा का अनुभव करता है। इसलिए रश्मि 'खेदि' कहलाती हैं।

(ग)"**यद्वा, खिदिः खेदने वर्त्तते। तथा च खेदनं छेदनम्-इति माधवः। खेदति छिनत्ति नाशयति तमः**"[४] कि खेदन का अर्थ छेदन है। जो अन्धकार का छेदन करती हैं, ऐसी सूर्य किरणें 'खिदि' कहलाती हैं।

(घ)"**यद्वा, छिद्यतेऽश्वोऽनयेति खेदा अश्वरश्मिः**"[५] कि जिससे अश्व (नासिका) का छेदन होता है, ऐसी अश्वरश्मि 'खेद' कहलाती हैं।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'खिद्' धातुमूलक 'खेदि' पद को खेदनोपकरण का वाचक नामपद मानता है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्त मत का समर्थन करती है।[७]

वैदिक साहित्य में 'खेदि' का प्रयोग बहुत विरल हुआ है। एक स्थान पर ऋषि कहता है कि यजमान के द्वारा दसों अङ्गुलियों को फैलाकर याचना किये जाने पर त्रिवृत (तिहरे) रश्मिजाल से विवस्वान् इन्द्र (सूर्य) ने कोश (मेघ) को द्युलोक से पृथिवी पर स्यन्दित कर दिया।[८] एक दूसरे स्थान पर ऋषि कहता है कि जिस प्रकार आकाश में रश्मियाँ रथचक्र के अरों के समान मिलकर अन्धकार का नाश करती हैं, उसी प्रकार

---

१ निघ० १.५.१.

२ निघ०वृ०, १.५.१.

३ निघ०वृ०, १.५.१.

४ निघ०वृ०, १.५.१.

५ निघ०वृ०, १.५.१.

६ वै०पद०को०, पृ० १२०३.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० १८२.

८ ऋ० ८.७२.८. "आदशभिर्विवस्वत इन्द्रः कोशमचुच्यवीत्। खेदया त्रिवृता दिवः।"

वृत्रहन्ता इन्द्र शत्रुओं का निर्मूल नाश करे।[१]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में 'खेदयः' वे रश्मियाँ है, जिनसे इन्द्र मेघ को पृथिवी पर क्षरित करता है, ये रश्मियाँ अन्धकार का नाश करने वाली हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अन्धकार विनाशक तथा वर्षक रश्मियों को वेद 'खेदि' नाम से अभिहित करता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कष्ट पहुँचाने या अन्धकार का विनाश करने वाली 'खिद्' धातु को 'खेदि' पद का मूल माना जा सकता है। वेद का ऋषि भी इसको उक्त धातु से निष्पन्न करने का सङ्केत देता है।[२]

२. किरणाः

निघण्टुकोष के रश्मिवाचक नामपदों में 'किरण' पद पठित है।[३] उक्त पद का निर्वचन करते हुए आचार्य आचार्य देवरायजयज्वन् कहते हैं:-**''किरन्ति तापमेकत्रौष्ण्येन, इतरत्र बन्धनेन''**[४] कि रश्मियाँ एक स्थान पर उष्णता के द्वारा ताप को बिखेरती हैं या अश्व पक्ष में रश्मि (रस्सी) बन्धन के कारण ऊष्मा को बिखेरती है, अतः, इन्हें 'किरण' कहा जाता है। इस पक्ष में 'कॄ' विक्षेपे' धातु से 'क्यु' प्रत्यय होकर 'किरण' शब्द व्युत्पन्न होता है।[५] यह व्युत्पत्ति उणादिकोष सम्मत है।[६]

(ख)**''कीर्य्यन्ते वा दिङ्मुखेषु, अश्वबालेनाश्वग्रीवादिषु''**[७] ये सूर्यरश्मियाँ दिशाओं में आकर गिरती हैं अथवा रश्मि (रस्सी) केशों से अश्व की ग्रीवा पर आ जाती है, अतः, ये 'किरण' कहलाती हैं।

(ग)**''यद्वा, कृण्वन्ति हिंसन्ति तमः, हिंस्यन्त एभिरश्वकिरणाः''**[८] कि ये सूर्यरश्मियाँ अन्धकार का नाश करती हैं या इनसे अश्वकिरणों का नाश होता है, अतः, इन्हें 'किरण' कहा जाता है। इस पक्ष में हिंसार्थक 'कृ' धातु से 'क्यु' प्रत्यय होकर 'किरण' शब्द सिद्ध होता है।[९]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'किरण' पद को नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[१०] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्त पद को अव्युत्पन्न मानती है।[११] मोनियर विलियम्स के अनुसार उक्तपद का मूल 'कॄ' धातु है। उसके अनुसार ऋग्वेद में यह पद धूलकण, सूक्ष्म धूलकण, अश्वरश्मि के अर्थ में आया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद एवं महाभारत में यह पद सूर्यरश्मि तथा चन्द्ररश्मि के लिये

---

१ ऋ० ८.७७.३. ''समित्तान्वृत्रहाखिदत्खे अराँ इव खेदया।''
२ ऋ० ८.७७.३. ''समित्तान्वृत्रहाखिदत्खे अराँ इव खेदया।''
३ निघ० १.५.२.
४ निघ०वृ०, १.५.२.
५ निघ०वृ०, १.५.२.
६ उणा०, २.८२. ''कॄपॄवृजिमन्दिनिधाञः क्युः।''
७ निघ०वृ०, १.५.२.
८ निघ०वृ०, १.५.२.
९ निघ०वृ०, १.५.२.
१० वै०पद०को०, पृ० ११२०.
११ ऋ०वै०पद०, पृ० १७०.

व्यवहृत हुआ है।[१]

वैदिक साहित्य में 'किरण' का प्रयोग बहुत अधिक नहीं हुआ है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि इन्द्र के भय से सम्पूर्ण पर्वत और दूसरे महान् तथा दृढ़ पदार्थ उसी प्रकार काँपते हैं, जिस प्रकार सूर्य की किरणें नभ में इधर-उधर काँपती हैं।[२] एक दूसरे स्थान पर ऋषि कहता है कि हे मरुतो! तुम सब भूमि को उसी प्रकार कँपाओ, जिस प्रकार किरणें काँपती हैं।[३] कहीं इन्द्र यह कहता है कि जो मैं करने का निश्चय कर लेता हूँ ,उससे मुझे न युद्ध रोक सकता है और न पर्वत। मेरी गम्भीर गर्जना को सुनकर बधिर भी भयभीत हो जाता है और इसी प्रकार द्युलोक से आने वाली किरणें भी काँप जाती हैं।[४]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक ऋषि की दृष्टि में किरण वे सूर्यरश्मियाँ हैं, जो काँपने के स्वभाव वाली हैं। निर्वचन में विक्षेपित होना 'किरण' का स्वभाव माना गया है। सम्भवतः, यह विक्षेप कँपनरूप होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'कॄ' धातु को 'किरण' पद का मूल माना जा सकता है।

३. गावः

निघण्टुकोष के रश्मिवाचक नामपदों में 'गावः' पद परिगणित है।[५] आचार्य यास्क 'गो' पद के प्रकरण में कहते हैं:-''**सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते**''[६] कि गतिशील होने के कारण सभी रश्मियाँ 'गौ' कही जाती हैं। इस पक्ष में 'गम्' या 'गा' धातु से 'गो' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् रश्मिवाचक 'गो' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**गच्छन्ति सर्वतस्तमो विहन्तुं भौमं रसं वा हर्तुम्**''[७] कि सूर्यरश्मियाँ अन्धकार का विनाश या भूमि के रस का आहरण करने के लिए जाती हैं, इसलिए ये 'गो' नाम से अभिहित होती हैं। इस पक्ष में 'गम्' धातु से 'गो' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, गीयन्ते स्तूयन्ते स्वाभिमतसाधनाद् यजमानैरश्वपालैश्च**''[८] कि स्व अभीष्ट का साधन होने से यजमान और अश्वपालों के द्वारा स्तुति किये जाने के कारण रश्मियों को 'गो' कहा जाता है। इस पक्ष में स्तुत्यर्थक 'गा' धातु से औणादिक 'डो' प्रत्यय होकर 'गो' पद सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गो' पद को धेनु, पृथिवी, वाक्, ग्रावा प्रभृति अर्थों का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। परन्तु यास्क एवं उणादिकोषकार 'गम्' गतौ'

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २८२.

२ ऋ० १.६३.१. ''यद्ध ते विश्वा गिरयश्चिदभ्वा भिया दृळहासः किरणा नैजन्।''

३ ऋ० ५.५९.४. ''यूयं ह भूमिं किरणं न रेजथ प्र यद्भरध्वे सुविताय दावने।''

४ ऋ० १०.२७.५. ''न वा उ मां वृजने वारयन्ते न पर्वतासो यदहं मनस्ये। मम स्वनात् कृधुकर्णो भयात एवेदनु द्यून् किरणः समेजात्।''

५ निघ० १.५.३.

६ निरु० २.५.

७ निघ०वृ०, १.५.३.

८ निघ०वृ०, १.५.३.

और 'गा' गतौ' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'गो' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स 'गो' पद को 'गम्' धातुमूलक मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद गाय, पशु, पशुओं के समूह अर्थ में आया है। ऋग्वेद में यह पद गाय या वृषभ से उत्पन्न होने वाले या उससे सम्बन्धित द्रव्य जैसे-दुग्ध, मांस, चर्म के लिये व्यवहृत हुआ है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में 'guou' पशु अर्थ में, ग्रीक में 'bous' लैटिन में 'guovs' गाय अर्थ में है। अतः, वे उक्त यास्कीय निर्वचन को '**सर्वाणि नामान्याख्यातजानि**' सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं।[४] वेद से प्राप्त अनेक सङ्केत 'गो' को 'गम्' धातु से व्युत्पन्न मानते प्रतीत होते हैं।[५]

वैदिक साहित्य में 'गो' पद का व्यापक रूप से और अनेक अर्थों में प्रचुर प्रयोग हुआ है। इसका पृथिवी, वाक् आदि अर्थों में उल्लेख हुआ है, परन्तु इसका रश्मि अर्थ में भी कम प्रयोग नहीं हुआ है। ऋषि कहता है कि जहाँ सिन्धु के जलों को सूर्य की किरणें पीती हैं, उनका मैं हवि के लिए आह्वान करता हूँ।[६] एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि जिस प्रकार स्यन्दनशील जल नीचे की ओर बहता है या जिस प्रकार सूर्य की किरणें नभ में दर्शनीय सूर्य (अग्नि) को प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार दग्धव्य वस्तुयें अग्नि को।[७] कहीं ऋषि ने रश्मियों को उषस् देवी की सेवा करने वाले के रूप में चित्रित किया है।[८] कहीं ऋषि वनस्पति और सूर्य के साथ रश्मियों को मधुर गुण वाली होने के लिए प्रार्थना करता है।[९] कहीं पर इनका गमनस्वभाव वाली, सूर्य प्रकाश की निर्मात्री या जगत् जननी के रूप में उल्लेख हुआ है।[१०] कहीं ऋषि 'गो' नाम वाली रश्मियों के निवास स्थान का वर्णन करता हुआ कहता है कि जहाँ गमनशील, बहुत सींगों वाली सूर्य की किरणें रहती हैं, वहाँ तुम दोनों जाना चाहते हो। यह वह स्थान है, जहाँ से बहु प्रशंसित, सुख की वर्षा करने वाले विष्णु का परमपद बहुत स्पष्टरूप से स्फुरित होता है।[११] कहीं ऋषि यह कहता है कि आदित्य के शीर्ष से ये गायें (किरणें) दुग्ध (उदक) का दोहन करती हैं।[१२] कहीं ऋषि अघा (माघ) मास में गायों (किरणों) के मरने (मन्द होने) का उल्लेख करता है।[१३]

---

१ वै०पद०को० पृ० १२४९.

२ ऋ०वै०पद० पृ० १९०.

३ संस्कृत-इंग्लिशकोश, पृ० ३६३.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ८७.

५ ऋ० १.८३.१, ८६.३, ११२.१८, ३.५६.२, ६.२८.१, ८.२०.१९, ४५.१०, ५१.५, ७१.५.

६ ऋ० १.२३.१८. ''अपो देवीरुपह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः। सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः।''

७ ऋ० १.६६.५. ''सिन्धुर्न क्षोदः प्र नीचीरैनोन्नवन्त गावः स्व१र्दृशीके।''

८ ऋ० १.७१.१. ''स्वसारः श्यावीमरुषीमजुष्रञ्चित्रमुच्छतमुषसं न गावः।''

९ ऋ० १.९०.८. ''माध्वीर्गावो भवन्तु नः।''

१० ऋ० १.९२.१. ''प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः।''

११ ऋ० १.१५४.६. ''ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि।''

१२ ऋ० १.१६४.७. ''शीर्ष्णः क्षीरः दुह्रते गावो अस्य।''

१३ ऋ० १०.८५.१३. ''अघासु हन्यते गावोऽर्जुन्यो पर्युह्यते।''

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक ऋषि की दृष्टि में जो भूमि के जलों का पान करने के लिए जाती हैं, वे किरणें 'गावः' नाम से अभिहित हुई हैं। इसके अतिरिक्त ऋषि ने इनके रहने का स्थान विष्णुलोक बताया है। इस प्रकार निर्वचनकर्ताओं ने जो 'गो' का मूल 'गम्' धातु को माना है, वह सर्वथा समीचीन है।

४. रश्मयः

निघण्टुकोष के किरण वाचक नामपदों में 'रश्मि' पद पठित है।[१] आचार्य यास्क रश्मि का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**रश्मिर्यमनात्**''[२] कि उदक या अश्व पर नियन्त्रण करने के कारण किरण और रस्सी को 'रश्मि' कहा जाता है। यहाँ यास्क यह भी कहते हैं कि रश्मि गण में पठित प्रारम्भ के पाँच नाम सूर्य किरण और अश्व ग्रीवा रज्जु के समान अभिधान हैं।[३] इस पक्ष में नियन्त्रण अर्थ वाली 'यम्' धातु से 'रश्मि' पद सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् रश्मि पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**रशिर्यमनार्थः। बध्नन्त्युदकमथवा बध्यन्ते तैरुदकमश्वो वा**''[४] कि ये उदक को बाँधती हैं अथवा इनसे उदक या अश्व को बाँधा जाता है, इसलिए सूर्यकिरण और अश्वरश्मि को 'रश्मि' कहा जाता है। इस पक्ष में नियमन अर्थ वाली 'रश्' धातु से 'मि' प्रत्यय होकर 'रश्मि' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''**अश्नुवते सर्वं जगत् अश्वग्रीवादि वा रश्मयः**''[५] कि ये सम्पूर्ण जगत् या अश्वग्रीवा को व्याप्त करती हैं, इसलिए ये 'रश्मि' कहलाती हैं। इस पक्ष में 'अश्' धातु से 'मि' प्रत्यय तथा रशादेश होकर 'रश्मि' पद व्युत्पन्न होता है। उणादिकोष से भी उक्त मत की पुष्टि होती है।[६]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'रश्मि' पद को 'रश्' धातुमूलक नामपद मानता है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्त मत का समर्थन करती है।[८] मोनियर विलियम्स 'रश्मि' पद की तुलना 'रशना' से करते हैं अर्थात् उनके मत में ये दोनों शब्द समान मूल के हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'रश्मि' पद रज्जु, चाबुक, कशा, मापक रज्जु तथा किरण अर्थ में आया है।[९] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का कथन है कि 'रश्मि' का सम्बन्ध बन्धन अर्थ वाली 'रश्' धातु से है। भारोपीय भाषा में 'rel, reg' बाँधना अर्थ में, ऐंग्लो सैक्सन में 'rakka' 'strap to hold fast the yard of sails' अर्थ में है। राजवाडे का अभिमत है कि 'रश्मि' का मूलतः, सम्बन्ध

---

१ निघ० १.५.४.

२ निरु० २.१५.

३ निरु० २.१५.

४ निघ०वृ०, १.५.४.

५ निघ०वृ०, १.५.४.

६ उणा०, ४.४७.

७ वै०पद०को०, पृ० २६४६.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० ४४२.

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८६९.

'रज्जु' से है। प्रथम उक्तपद का अर्थ अश्व के सन्दर्भ में परिवर्तित हुआ, उसके पश्चात् सूर्यरश्मियों के लिये। डॉ. वर्मा उक्त यास्कीय निर्वचन को असङ्गत मानते हैं।[१]

वैदिक साहित्य में 'रश्मि' शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि सूर्य की प्रज्ञापक रश्मियाँ प्रजाओं को देखती हैं।[२] यहाँ रश्मियों को सूर्य की केतु बताया गया है। एक स्थान पर ऋषि कहता है कि जिस प्रकार निश्चल रश्मियाँ सूर्य में स्थित हैं, उसी प्रकार वैश्वानर अग्नि में वसु स्थित हैं।[३] कहीं सूर्य की सात रश्मियों से ऋषि अपनी नाभि सम्बद्ध बतलाता है।[४] कहीं यह कहा गया है कि सूर्य की रश्मियाँ दिवस को प्रकट करती हैं तथा विद्युत् की धाराओं के समान साथ-साथ रहती हैं।[५] कहीं इन रश्मियों को दैव्य व्रतों की रक्षा करने वाला बताया गया है।[६] कहीं यह कहा गया है कि रश्मियाँ अन्धकार को दूर करती हुई, विश्व को प्रकाशित करती हैं।[७] कहीं अग्नि को रश्मि से फैलने वाला बताया गया है।[८] कहीं ऋषि अग्नि को यज्ञ-निर्वाहक प्रतिपादित करता हुआ कहता है कि यह सात रश्मियों वाला है।[९] कहीं ऋषि रश्मियों को 'सुयामाः' कहता है अर्थात् ये सुनियन्त्रक हैं।[१०] कहीं इन रश्मियों को ऋषि कँपाने वाले के रूप में चित्रित करते हैं।[११] कहीं इनको ऋग्वेद विशुद्ध बतलाता है।[१२]

शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि ये सूर्य की रश्मियाँ 'पवितारः' अर्थात् पवित्र करने वाली हैं।[१३] जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है कि एकविंश विषु वाले सूर्य की दिवस को विकीर्ण करने वाली रश्मियाँ ही साम हैं।[१४] तैत्तिरीयारण्यक का अभिमत है कि यह आदित्य प्रवर्ग्य (यज्ञ की प्रारम्भिक विधि) और मरुत् उसकी रश्मियाँ हैं।[१५] जैमिनीयोपनिषद् कहती है कि इस आदित्य की सहस्रों रश्मियाँ हैं और ये इसके साथ युक्त होकर इस सबका हरण करती हैं, इसलिए इनको 'हरि' भी कहा जाता है।[१६]

---

१ दि एटीमोलीजीज ऑफ यास्क, पृ० १२१.

२ ऋ० १.५०.३. ''अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु।''

३ ऋ० १.५९.३. ''आ सूर्ये न रश्मयो ध्रुवासो वैश्वानरे दधिरेऽग्ना वसूनि।''

४ ऋ० १.१०५.९. ''अमी ये सप्त रश्मयस्तत्रा मे नाभिरातता।''

५ ऋ० १.१२४.८. ''व्युच्छन्ती रश्मिभिः सूर्य्यस्याञ्ज्यङ्क्ते समनगाइव व्राः।''

६ ऋ० १.९२.१२. ''अमिनती दैव्यानि व्रतानि सूर्यस्य चेति रश्मिभिर्दृशाना।''

७ ऋ० १.४९.१. ''व्युच्छन्ती हि रश्मिभिर्विश्वमाभासि रोचनम्।''

८ ऋ० १.१९.८. ''आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा।''

९ ऋ० २.५.२. ''आ यस्मिन् सप्त रश्मयस्तता यज्ञस्य नेतरि।''

१० ऋ० ३.७.९. ''वृषायन्ते महे अत्याय पूर्वीर्वृष्णे चित्राय रश्मयः सुयामाः।''

११ ऋ० ४.१३.४. ''दविध्वतो रश्मयः सूर्य्यस्य चर्मेवावधुस्तमो अप्स्वन्तः।''

१२ ऋ० १०.९१.४. ''अरेपसः सूर्यस्येव रश्मयः।''

१३ शत०ब्रा०, ३.१.३.२२. ''एते वै पवितारो यत्सूर्यस्य रश्मयः।''

१४ जै०ब्रा०, २.३९०. ''असावादित्यो एकविंशो विषुवान्, तस्य दिवाकीर्त्यानि (सामानि) एव रश्मयः।''

१५ तै०आ०, ५.४.८. ''असौ खलु वा आदित्यः प्रवर्ग्यः, तस्य मरुतो रश्मयः।''

१६ जै०उप०, १.१४.३.५. ''सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मयः। तेऽस्य युक्तास्तैरिदं सर्वं हरति तस्माद्धरयः (रश्मयः)।''

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में 'रश्मि' को सूर्य की केतु, अन्धकार विनाशक, कँपाने वाली और पवित्र आदि गुणों से सम्पन्न बताया है। इसके अतिरिक्त रश्मि की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता को वेद रेखाङ्कित करता हुआ उसे **'सप्त रश्मयः'** कहकर पुकारता है। आचार्य यास्क 'रश्मि' का निर्वचन **'रश्मिर्यमनात्'** से करते हैं।[१] लेकिन 'यम्' धातु का अर्थ रश्मि के सन्दर्भ में वेद के प्रमाण से पुष्ट होता दिखायी नहीं देता। आचार्य देवराजयज्वन् 'रश्मि' का निर्वचन 'अश्' धातु से भी करते हैं, यह निर्वचन अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि उक्त धातु के साथ रश्मि का न केवल आकृतिगत साम्य है, अपितु अर्थगत साम्य भी है। यास्क के सन्दर्भ में यदि यम्' धातु का अर्थ 'बाँधना' या 'एक साथ रहना' माना जाये, तब सङ्गति लगायी जा सकती है। इसका कारण यह है कि वेद प्रायः इन्हें **'सप्त रश्मयः'** कहता है। कहने का आशय यह है कि साथ रहने के कारण ये किरणें 'रश्मयः' कहलाती हैं। लोकभाषा में प्रयुक्त होने वाला 'रास' शब्द प्राचीन काल का 'रश्मि' शब्द है। यह शब्द लोक भाषा में 'घोड़े की रज्जु' अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार 'रश्मि' शब्द मूलतः, अश्व से सम्बन्धित रज्जु के अर्थ प्रयुक्त हुआ होगा, कहा जा सकता है।

५. अभीशवः

निघण्टुकोष के रश्मिवाचक नामपदों में 'अभीशु' नाम पठित है।[२] आचार्य यास्क अङ्गुलि वाचक 'अभीशु' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''अभीशवोऽभ्यश्नुवते कर्माणि''**[३] कि अङ्गुलियाँ कर्मों में व्याप्त रहती हैं, इसलिए इनको 'अभीशु' कहा जाता है। यहाँ यास्क 'अभि+'अश्' से 'अभीशु' पद को सिद्ध करते हैं।

यास्क का अनुसरण करते हुए आचार्य देवराजयज्वन् 'रश्मि' वाचक 'अभीशु' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-**''अभिव्याप्नुवन्ति जगदश्वग्रीवां वा''**[४] कि सूर्यरश्मियाँ जगत् तथा अश्वरश्मि अश्व-ग्रीवा को व्याप्त करती है अतः, रश्मियों को 'अभीशवः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अभि+'अश्'+उ' से 'अभीशु' पद निष्पन्न होता है।

(ख)**''ईष्टे सूर्य्यस्तमोऽपहन्तुमेभिः, अश्वपालोऽश्वं बद्धुम्''**[५] कि ये सूर्यरश्मियाँ अन्धकार को दूर करने तथा रश्मि (रस्सी) अश्व को बाँधने में समर्थ हैं, अतः, इनको 'अभीशु' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अभि+ईश्'+उ' से 'अभीशु' पद सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अभीशु' पद को अश्व एवं रश्मिवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार 'अभि+'ईश्' से 'अभीशु' पद उपपन्न होता है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्त मत का समर्थन करती

---

१ निरु० २.१५.

२ निघ०१.५.५.

३ निरु० ३.९.

४ निघ०वृ०, १.५.५.

५ निघ०वृ०, १.५.५.

६ वै०पद०को०, पृ० ४४२.

है।[१] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा 'अभि+'अश्'=अभीशु' में 'अश्' धातु के 'अ' परिवर्तन पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं। उनके अनुसार वी०वी०पी० की ('अभि+'ईश्') व्युत्पत्ति अधिक युक्तिसङ्गत है।[२] मोनियर विलियम्स यास्क की व्युत्पत्ति का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद रास, लगाम के अर्थ में आया है। निघण्टु के अनुसार वे उक्तपद का अर्थ रश्मि और अङ्गुलि अर्थ भी स्वीकार करते हैं।[३]

वैदिक साहित्य में 'अभीशु' का सूर्यरश्मि तथा अश्वरश्मि के अर्थ में प्रयोग देखने को मिलता है। ऋषि कहता है कि मरुतों के रथचक्रवलय तथा अश्व स्थिर हों एवं सुसंस्कृत अश्वरश्मि से युक्त हों।[४] एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि मरुतो! कहाँ हैं तुम्हारे अश्व? और कहाँ है उनकी अश्वरश्मि?[५] एक दूसरे स्थान पर ऋषि कहता है कि जिस प्रकार सारथि लगाम को खींचता है, उसी प्रकार पोषक देव इन्द्र तुम दोनों को अपने रथ में खींचते हैं।[६] कहीं ऋषि कहता है कि जिस प्रकार मन की इच्छा के अनुसार अश्वरश्मियाँ चलती हैं, उसी प्रकार (अभीशु) अश्वरश्मि के सङ्केत के अनुसार अश्व चलते हैं।[७] एक स्थान पर कहा गया है कि इन्द्र के अश्वों की अभीशु (लगाम) और कशा सुख की वर्षा करने वाली हैं।[८]

आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं कि 'अभीशु' पद के अश्वरश्मि अर्थ के उदाहरण प्राप्त होते हैं, लेकिन सूर्यरश्मि अर्थ से सम्बन्धित निगम प्राप्य नहीं है।[९] अन्वेषण करने पर निम्न ऋचा अवश्य प्राप्त होती है, जिसमें ऋषि कहता है कि अच्छे प्रकार नियन्त्रण एवं सम्पूर्ण जगत् पर शासन करने वाली रश्मियों से यह आदित्य नीचे प्रदेशों से जल को अत्यन्त चुराता है।[१०] शतपथ-ब्राह्मण से भी 'अभीशु' के 'सूर्यरश्मि' अर्थ की पुष्टि होती है।[११]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'अभीशु' उक्त दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वेद में जगत् पर शासन करने वाली रश्मियों को 'अभीशवः' नाम से कहा गया है। 'अभीशु' का अर्थ चाहे अश्वरश्मि मानें या फिर सूर्यरश्मि, दोनों ही दृष्टियों से देवराजयज्वन् का द्वितीय निर्वचन ('अभि+'ईश्') अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि अश्वरश्मि अश्वों के सञ्चालन तथा सूर्यरश्मि अन्धकार का पलायन कराने में समर्थ है। यह सामर्थ्य का भाव 'अभि+'ईश्' में निहित है, पर वह 'अभि+'अश्' से व्युत्पन्न करने में नहीं है। इस आशय की पुष्टि मन्त्रों से भी हो जाती है।

---

१ ऋ०वै०पद०, पृ० ४८.

२ दि एटीमोलीजीज ऑफ यास्क, पृ० १०५.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७४.

४ ऋ० १.३८.१२. "स्थिरा वः सन्तु नेमयो रथा अश्वास एषाम्। सुसंस्कृता अभीशवः।"

५ ऋ० ५.६१.२. "क्व वोऽश्वाः क्वा३भीशवः।"

६ ऋ० ६.५७.६. "उत्पूषणं युवामहेऽभीशूँरिव सारथिः। मह्या इन्द्रं स्वस्तये।"

७ ऋ० ६.७५.६. "अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः।"

८ ऋ० ८.३३.११. "वृषणस्ते अभीशवो वृषा कशा हिरण्ययी।"

९ निघ०वृ०, १.५.५.

१० ऋ० ५.४४.४. "सुयन्तुभिः सर्वशासैरभीशुभिः क्रिविर्नामानि प्रवणे मुषायति।"

११ शत०ब्रा०, ५.४.३.१४. "अभीशवो वै रश्मयः।"

६. दीधितयः

निघण्टुकोष के रश्मिवाचक नामपदों में 'दीधितयः' पद पठित है।[१] आचार्य यास्क ने उक्त अर्थ के वाचक 'दीधिति' पद का निर्वचन नहीं दिया है, लेकिन अङ्गुलि अर्थ के वाचक 'दीधिति' पद का निर्वचन देते हुए वे कहते हैं:-"**दीधितयोऽङ्गुलयो भवन्ति, धीयन्ते कर्मसु**"[२] कि 'दीधिति' का अर्थ अङ्गुलि होता है, क्योंकि ये कर्म में लगायी जाती हैं। इस पक्ष में 'धि' धारणे' अथवा 'डुधाञ्' धारणपोषणयोः' धातु से 'दीधिति' पद सिद्ध होता है। लेकिन यास्क के उक्त निर्वचन में 'धीयन्ते' क्रिया के आधार पर 'दीधिति' का मूल 'धीङ्' आदाने' धातु को माना जा सकता है, जो कि रश्मि के आदानरूप कर्म को ध्यान में रखते हुए उचित प्रतीत होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् रश्मि अर्थ वाले 'दीधिति' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**धीयन्ते विधीयन्ते प्रेष्यन्ते रसहरणादिकर्मस्वादित्येन, धार्य्यते वा वर्षार्थमेभिरुदकमादित्येन**"[३] कि रसहरण आदि कर्मों में रश्मियाँ आदित्य के द्वारा भेजी जाती हैं, अथवा वर्षा की दृष्टि से आदित्य से प्रेषित रश्मियाँ उदक को धारण करती हैं, इसलिए रश्मि को 'दीधिति' कहा जाता है। इस पक्ष में 'दीधीङ्' दीप्तिदेवनयोः' धातु से 'क्तिच्' प्रत्यय होकर 'दीधिति' पद निष्पन्न होता है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि देवराजयज्वन् निर्वचन में 'दीधीङ्' धातु के अर्थ के साथ सङ्गति नहीं लगा रहे हैं, वे यहाँ यास्क द्वारा प्रस्तुत आशय की पुष्टि करते प्रतीत होते हैं। इस प्रकार हम यह मान सकते हैं कि यास्क द्वारा प्रस्तुत निर्वचन देवराजयज्वन् को स्वीकार्य है। मोनियर विलियम्स दीप्ति अर्थ वाली 'दी' धातु से 'दीधिति' पद को व्युत्पन्न मानते हैं।[४]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'दीधिति' पद को दीप्तिवाचक भावपद तथा निघण्टु के मत में 'अङ्गुलि' वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार 'धी' धातु से 'दीधिति' पद उपपन्न होता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्त कथन का समर्थन करती है।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का कथन है कि उक्तपद की व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।[७]

वैदिक साहित्य में 'दीधिति' शब्द का प्रयोग अधिक नहीं हुआ है। जितना जो कुछ हुआ है, उसमें भी सूर्यरश्मि अर्थ की गवेषणा करना एक दुरूह कार्य है। ऋषि कहता है कि जो हमारे लिए यह पूजनीय दीधिति है, वह प्राणबल को देने वाली तथा दुःखों का नाश करने वाली हो।[८] एक अन्य स्थान पर ऋषि कहता है कि विश्व द्वारा वरणीय 'दीधिति' स्तुति योग्य है।[९] एक दूसरे स्थान पर ऋषि दीधिति' को चित्रा (पूजनीय)

---

१ निघ० १.५.६.

२ निरु० ५.१०.

३ निघ०वृ०, १.५.६.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ४८१.

५ वै०पद०को०, पृ० १७२२.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० २७२.

७ दि एटीमोलीजीज ऑफ यास्क, पृ० १३५.

८ ऋ० १.१८६.११. "इयं सा वो अस्मे दीधितिर्यजत्रा अपिप्राणी च सदनी च भूयाः।"

९ ऋ० ३४.३. "प्र दीधितिर्विश्ववारा जिगाति।"

बतलाता है।[१] इसके अतिरिक्त एक स्थान पर 'दीधिति' का अर्थ धारण कर्ता भी किया गया है।[२] कहीं इसका अग्नि और कहीं वरुण या इन्द्र की कान्ति के अर्थ में प्रयोग हुआ है।[३] लेकिन ऋग्वेद में एक भी स्थान पर सूर्यरश्मि के लिए 'दीधिति' का उल्लेख देखने को नहीं मिलता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में 'दीधिति' का प्रयोग हुआ है, परन्तु आदित्यरश्मि के लिए निगम अन्वेषणीय है। उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर 'दीधिति' के विशिष्ट स्वरूप को निश्चित कर पाना सम्भव नहीं है। रश्मि अर्थ के सन्दर्भ में 'धीङ्' आदाने' धातु से निर्वचन करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

७. गभस्तयः

निघण्टुकोष के रश्मिवाचक नामपदों के अतिरिक्त यह 'गभस्ति' पद अङ्गुलि और बाहुवाचक पदों में भी परिगणित है।[४] आचार्य देवराजयज्वन् रश्मिवाचक 'गभस्ति' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**गां भूमिञ्च भासयन्ति दीपयन्ति**''[५] कि ये अन्तरिक्ष और पृथिवीलोक को प्रकाशित करती हैं, इसलिए रश्मियों को 'गभस्ति' कहा जाता है। इस पक्ष में 'गो+'भस्'+क्तिन्' से 'गभस्ति' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा, गवि संसर्गे दीप्यते''[६] कि ये गौ (द्यु, अन्तरिक्ष या भूमि) के सम्पर्क में प्रकाशित होती हैं, अतः, इनको 'गभस्ति' कहा जाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'गभस्ति' रूप सिद्ध होता है।

(ग)''यद्वा, बभस्तिरत्तिकर्मा (निघ०,२.८.३.)। गामुदकं भौमरसलक्षणं बभसति अदन्ति''[७] कि नैघण्टुक भक्षण अर्थ वाली 'भस्' धातु से 'गभस्ति' पद निष्पन्न होता है। ये रश्मियाँ भूमि के उदक का भक्षण करती हैं, इसलिए इन्हें 'गभस्ति' कहा जाता है। यहाँ भी पूर्ववत् 'गभस्ति' पद सिद्ध होता है।

(घ)''यद्वा, बभसति दीप्यन्ते इति गभस्तयः''[८] कि ये स्वयं प्रकाशमान हैं, अतः, इनको 'गभस्ति' कहते हैं। यहाँ भी पूर्ववत् 'गभस्ति' पद सिद्ध होता है।

(ङ)''यद्वा, ग्रहेर्गभस्तिः- इति माधवः। गृह्णन्ति भौमं रसम्''[९] आचार्य माधव 'ग्रह्' धातु से 'गभस्ति' पद को व्युत्पन्न मानते हैं। ये भौम रस को ग्रहण करती हैं, इस लिए इनको 'गभस्ति' कहा जाता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गभस्ति' को अशनि का विशेषण तथा हस्त, रश्मि प्रभृति का वाचक

---

१ ऋ० ५.१८.४. ''चित्रा वा येषु दीधितिरासन्नुक्था पान्ति ये।''

२ ऋ० ३.३१.१.

३ ऋ० ४.२.१६; ५.४२.१.

४ निघ० १.५.७; २.४.६; ५.२२.

५ निघ०वृ०, १.५.७.

६ निघ०वृ०, १.५.७.

७ निघ०वृ०, १.५.७.

८ निघ०वृ०, १.५.७.

९ निघ०वृ०, १.५.७.

नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद अव्युत्पन्न है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] उणादिकोष में 'गभ+'अस्' धातु से 'गभस्ति' पद को व्युत्पन्न किया है।[३] उसके अनुसार निर्वचन निम्न होगा:-''**गभमन्धकारमस्यतीति गभस्तिः**'' कि अन्धकार को दूर फैंकने के कारण रश्मियों को 'गभस्ति' कहा जाता है। मोनियर विलियम्स 'गभ्' या 'गम्भ्' धातु से 'गभस्ति' को निष्पन्न मानते हैं।[४]

वैदिक साहित्य में 'गभस्ति' का पर्याप्त प्रयोग देखने को मिलता है। 'गभस्ति' के स्वरूप को स्पष्ट करता हुआ ऋषि कहता है कि सूर्य के समान पवमानदेव विचित्र, रक्षा करने वाले तथा रश्मियों से पवित्र हैं।[५] एक अन्य स्थान पर ऋषि कहता है कि इस हरि का वज्र हरण करने वाला, गतिशील, कमनीय और गभस्ति नाम की दो किरणों से युक्त है। इनमें से एक उदक का आदान करती है और दूसरी प्रदान कर्म को सम्पन्न करती है।[६] कहीं यह कहा गया है कि इन्द्र का रथ सुदृढ़, सुनियन्त्रित एवं हरण करने वाली गभस्ति से युक्त है।[७] कहीं गभस्ति को इन्द्र से सम्बद्ध बताते हुए कहा है कि सनातन काल से ही इन्द्र का किरणरूपी धन न क्षीण होता है और न नष्ट होता है।[८] एक स्थान पर यह कहा गया है कि इन्द्र मायावियों के समूहों पर विजय पाने के लिये गभस्ति रूप अशनि को सेना के रूप में चाहता है।[९] एक दूसरे स्थान पर यह कहा गया है कि गभस्ति से पवित्र किये हुए को धारण करो।[१०] यजुर्वेद स्पष्टरूप से कहता है कि सुख की वर्षा करने वाले वाचस्पति देव सूर्य की किरणों से पवित्र हमको पवित्र करें।[११] कहीं ऋषि यह कहता है कि इस सब में व्याप्त इन्द्र रश्मियों में उदक (नाम) को धारण करता है।[१२] शतपथ-ब्राह्मण पाणि को 'गभस्ति' मानता है।[१३] काठक-संहिता उस इन्द्र के हाथों को गभस्ती' कहता है।[१४]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में 'गभस्ति' का प्रयोग रश्मि अर्थ में हुआ है। ऋग्वेद स्पष्टरूप से रश्मि नामकरण का आधार बतलाता हुआ कहता है कि गभस्ति नाम की दो

---

१ वै०पद०को०, पृ० १२१४.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० १८४.

३ उणा०, ४.१८१.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३४६.

५ ऋ० ९.८६'३४. ''पवमान मह्यर्णो वि धावसि सूरो न चित्रो अव्ययानि पव्यया। गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिः सुतो महे वाजाय धन्वसि।''

६ ऋ० १०.९६.३. ''सो अस्य वज्रो हरितो य आयसो हरिर्निकामो हरिरागभस्त्योः।''

७ ऋ० १०४४.२. ''सुष्ठामा रथः सुयमा हरी ते मिम्यक्ष वज्रो नृपते गभस्तौ।''

८ ऋ० १.६२.१२. ''सनादेव तव रायो गभस्तौ न क्षीयन्ते नोप दस्यन्ति दस्म।''

९ ऋ० १.५४.५. ''यन्मायिनो व्रन्दिनो मन्दिना धृषच्छितां गभस्तिमशनिं पृतन्यति।''

१० ऋ० २.१४.८. ''गभस्तिपूतं भरत।''

११ यजु०, ७.१. ''वाचस्पतये पवस्व वृष्णो अꣳशुभ्यां गभस्तिपूतः।''

१२ ऋ० १०.७३.८. ''त्वमेतानि पप्रिषे वि नामेशान इन्द्र दधिषे गभस्तौ।''

१३ शत०ब्रा०, ४.१.१.९. ''पाणी वै गभस्ती।''

१४ काठ०, २७.१. ''तस्य (इन्द्रस्य) हस्तौ गभस्ती।''

रश्मियाँ हैं, इनमें से एक जल आहरण और दूसरी जल प्रदान करती है।[१] इस दृष्टि से आचार्य माधव द्वारा 'ग्रह्' धातु से 'गभस्ति' को व्युत्पन्न करना अधिक समीचीन माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि रसादान और रस-प्रदान रश्मियों का कार्य है। इसके अतिरिक्त 'ग्रह्' धातु से 'गभस्ति' का आकृतिगत साम्य भी है तथा हकार के स्थान पर भकार वर्ण परिवर्तन व्याकरण के द्वारा अनुमोदित है।

८. वनम्

निघण्टुकोष के रश्मि एवं उदक वाचक नामपदों में 'वन' शब्द पठित है।[२] आचार्य यास्क 'वन' का निर्वचन देते हुए कहते हैं:-"**वनं वनोते:**"[३] कि सेवनीय होने के कारण इसे 'वन' कहते हैं। आदित्य रश्मियों के सन्दर्भ में 'वन' पद की व्याख्या करते हुए यास्क कहते हैं:-"**वनानां वननकर्मणामादित्यरश्मीनाम्**"[४] कि 'वन' का तात्पर्य है कि वननकर्म अर्थात् सेवनीय आदित्य रश्मियाँ हैं। इस पक्ष में 'वन्' धातु से 'वन' शब्द निष्पन्न होता है। एक अन्य स्थान पर 'वन' का निर्वचन करते हुए यास्क कहते हैं:-"**वधेनेति वा**"[५] कि वन शब्द 'वध' धातु से निष्पन्न होता है। इस पक्ष में यास्क 'वध्' धातु से 'वन' शब्द को निष्पन्न करते प्रतीत होते हैं।

आचार्य देवराजयज्वन् रश्मिवाची 'वन' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**वन्यते सेव्यते शीतादिनिवारणाय**"[६] कि शीतादिनिवारणार्थ सेवन किये जाने के कारण सूर्यरश्मियों को 'वन' कहा जाता है। इस पक्ष में संभजनार्थक 'वन्' धातु से यह पद उपपन्न होता है।

(ख)"**अथवा वनतिर्हिंसार्थ:। वन्यते हिंस्यतेऽनेन तम:**"[७] कि इससे तमस् की हिंसा होती है, अत:, रश्मियों को 'वन' कहा जाता है। इस पक्ष में हिंसार्थक 'वन्' धातु से यह पद सिद्ध होता है।

(ग)"**यद्वा, 'वनु' याचने'। वन्यते याच्यते वृष्टिप्रदानाय**"[८] कि वर्षा के लिये इसकी याचना की जाती है, इसलिए रश्मि 'वन' कहलाती हैं। इस पक्ष में याचनार्थक 'वन्' धातु से यह पद निष्पन्न होता है।

(घ)"**यद्वा, 'वन' शब्दे'। वन्यते शब्द्यते स्तूयते स्तोतृभि:**"[९] कि स्तोताओं के द्वारा स्तुति किये जाने के कारण रश्मि 'वन' कहलाती है। इस पक्ष में शब्दार्थक 'वन्' धातु से 'वन' शब्द सिद्ध होता है। मोनियर विलियम्स 'वन्' धातु से 'वन' शब्द को निष्पन्न मानते हैं।[१०]

---

१ ऋ० १०.९६.३. "सो अस्य वज्रो हरितो य आयसो हरिर्निकामो हरिरागभस्त्यो:।"

२ निघ० १.५.८; १२.९.

३ निरु० ५.१६.

४ निरु० १४.१३.

५ निरु० ५.१६.

६ निघ० १.५.८.

७ निघ० १.५.८.

८ निघ०वृ०, १.५.८.

९ निघ०वृ०, १.५.८.

१० संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९१७.

वैदिक-पदानुक्रम-कोष तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'वन' शब्द को 'वन्' धातुमूलक मानती है।[१] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि भारोपीय भाषा में 'uen' इच्छा करना या जीतना अर्थ में, प्राचीन उच्च जर्मन में 'wunna' गोचरभूमि के अर्थ में तथा लैटिन में 'venus' प्रेम अर्थ में है। वे उक्त निर्वचन को तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने योग्य मानते हैं।[२]

वैदिक साहित्य में 'वन' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि भरण-पोषण करने वाली आदित्यलोक की गमनशील किरणों में बल स्थित है।[३] एक अन्य स्थान पर ऋषि सम्पूर्ण किरणों की अभिलाषा करता है।[४] कहीं ऋषि कहता है कि सूर्य अन्तरिक्ष को अत्यधिक तपाकर अन्न या जल की वृद्धि करने वाली किरणों को बढ़ाता है तथा किरणरूपी जिह्वा से पत्थर की भाँति कठोर मेघों को छिन्न-भिन्न कर देता है।[५] कहीं ऋषि कहता है कि हे सुख वर्षक देव! आप का बल, रश्मियाँ तथा आनन्द सुख देने वाले हैं।[६] कहीं ऋषि उपमा का आश्रय लेकर कहता है कि जिस प्रकार हेमन्त का तुषार पत्तों को झाड़ देता है, उसी प्रकार मेघ किरणों को चुरा लेता है। बाद में बृहस्पति के आगमन से मेघ इन किरणों को प्रत्यावर्तित करता है।[७] एक स्थान पर ऋषि कहता है कि मेघ से उदक क्षरित होते हैं, किरणें मुक्त होकर गतिशील होती हैं तथा सुख की वर्षा करने वाला द्यौ गर्जना करता है।[८] एक अन्य स्थान पर 'वन' नामक किरणों के स्वरूप को बतलाता हुआ ऋषि कहता है कि शुद्ध बल वाला राजा वरुण मूलरहित अन्तरिक्ष में रहता हुआ किरणों के समूह को ऊर्ध्व देश में धारण करता है एवं ऊर्ध्व देश में वर्तमान वरुण की रश्मियाँ नीचे की ओर गिरती हैं और इन रश्मियों का मूल उपरि प्रदेश में रहता है। ऐसी ये रश्मियाँ हमारे अन्दर स्थित हैं।[९]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'वन' वे रश्मियाँ हैं, जो प्राणिजगत् के लिए वरणीय हैं। वरणीय या सेवनीय होने के कारण इन रश्मियों का नामकरण 'वन' है। यास्क और देवराजयज्वन् के निर्वचनों से भी उक्त तथ्य की पुष्टि हो जाती है। सम्भवतः, अन्न और उदक की वृद्धि का कारण होने से इनका नाम 'वन' पड़ा है।

---

१ वै०पद०को०, पृ० २७४०. ऋ०वै०पद०, पृ० ४५८.

२ दि एटीमोलीजीज ऑफ यास्क, पृ० २३३.

३ ऋ० १.७०.५. ''गोषु प्रशस्तिं वनेषु धिषे भरन्त विश्वे बलिं स्वर्णः।''

४ ऋ० ७.७.२. ''विश्वमुशधग्वनानि।''

५ ऋ० ८.७२.४. ''जाम्यतीतपे धनुर्वयोधाः अरुहद्वनम्। दृषदं जिह्वयावधीत्।''

६ ऋ० ९.६४.२. ''वृष्णस्ते वृष्ण्यं शवो वृषा वनं वृषा मदः।''

७ ऋ० १०.६८.१०. ''हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलो गाः।''

८ ऋ० ५.५८.६. ''क्षोदन्त आपो रिणते वनान्युस्त्रिया वृषभः क्रन्दतु द्यौः।''

९ ऋ० १.२४.९. ''अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः। नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषामस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः।''

९. उस्रा:

निघण्टुकोष में रश्मि एवं गो वाचक नामपदों में 'उस्रा:' पद पठित है।[१] आचार्य यास्क 'उस्रा:' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**उस्रियेति गोनाम, उत्स्राविणोऽस्यां भोगा:, उस्रेति च**"[२] कि 'उस्रिया' और 'उस्रा' ये दोनों 'गो' नाम हैं। क्योंकि गाय में अनेक भोग उत्पन्न होते हैं, अत:, इन्हें 'उस्रिया' और 'उस्रा' कहा जाता है। इस पक्ष में 'उत्+'स्रु' से 'उस्रा' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'उस्रा:' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**वसत्येषु परतेज:, वसन्त्येषु रसा इति वा**"[३] कि इनमें किसी अन्य का तेज रहता है या इनमें रस रहते हैं, अत:, रश्मियों को 'उस्रा:' कहा जाता है। इस पक्ष में 'वस्' धातु से 'उस्र' शब्द सिद्ध होता है।

(ख)"यद्वा, उत्पूर्वात् 'स्रु' गतौ'। उत्स्रवन्ति एभ्यो रसा:"[४] कि 'उत्' पूर्वक 'स्रु' गतौ' धातु से 'उस्र' शब्द निष्पन्न होता है। इनसे रस बहते हैं, इसलिए रश्मियों को 'उस्र' कहा जाता है। उणादिकोष के अनुसार 'वस्'+रक्' से 'उस्र' शब्द सिद्ध होता है।[५] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं।[६]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'उस्र' पद को अग्नि, अश्विन्, अर्वन् प्रभृति का विशेषण तथा उषस्, धेनु, सूर्य वृषन् प्रभृति का वाचक नामपद मानता है। कोशकार उक्त पद को 'वस्' (उस्) दीप्तौ' धातु से व्युत्पन्न किये जाने की सम्भावना व्यक्त करते हैं।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्त पद को अव्युत्पन्न मानती है।[८] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भाषिक दृष्टि से वृषभ वाचक 'उस्र' पद का स्त्रीलिङ्ग 'उस्रा' है, जो भारोपीय भाषा में 'us' आर्द्र करने के अर्थ में है, जो उसके वीर्य की ओर सङ्केत करता है। वैदिक साहित्य के अपेक्षित शोध के अभाव में डॉ. वर्मा उक्त निर्वचन विषय में कुछ कहना अभी उचित नहीं मानते हैं।[९]

वैदिक साहित्य में 'उस्रा' पद का प्रयोग अनेक अर्थों में देखने को मिलता है। ऋषि कहता है कि जिस प्रकार सूर्यरश्मि दिवस के लिए आती हैं, उसी प्रकार तत्काल वृष्टि प्रदान करने वाले देवसुत सोम का पान करने के लिए शीघ्र आयें।[१०] एक स्थान पर ऋषि कहता है कि दिवस की प्रज्ञापक, स्वर्लोक को जानने वाली सूर्यरश्मियों ने हमारे लिये बृहत् द्युलोक में मार्ग बनाया।[११] एक दूसरे स्थान पर ऋषि कहता है कि अनन्त उषाओं के होने पर भी इन्द्र के बल से अनुगृहीत रश्मियाँ प्राणियों को अपने-अपने कार्य के लिये प्रेरित

---

१ निघ० १.५.९.

२ निरु० ४.१९.

३ निघ०वृ०, १.५.९.

४ निघ०वृ०, १.५.९.

५ उणा०, २.१३.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २२०.

७ वै०पद०को०, पृ० ९८१.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० १५०.

९ दि एटीमोलीजीज ऑफ यास्क, पृ० ७५.

१० ऋ० १.३.८. "विश्वे देवासो अप्तुर: सुतमा गन्त तूर्णय:। उस्रा इव स्वसराणि।"

११ ऋ० १.७१.२. "चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अह: स्वर्विविदु: केतुमुस्रा:।"

करती हैं।[१] कही ऋषि कहता है कि जिस प्रकार उषा का जार (आदित्य) प्रकाशक है, उसी प्रकार रश्मियाँ इस सूर्य के लिय रूप को प्रकट करती हैं।[२] किसी अन्य स्थान पर ऋषि कहता है कि इन्द्र (सूर्य) अश्वों पर आरूढ़ होकर गमन करता है तथा त्रिसप्तसप्ततिः (एकनवतिः) रश्मियों से लोक को आच्छादित करता है।[३] कहीं ऋषि प्रार्थना करता हुआ कहता है कि जिस प्रकार प्रकाश से स्नान कराने वाली रश्मियाँ हमारा परित्याग नहीं करती हैं, उसी प्रकार देवगण हमारा परित्याग न करें।[४] कहीं ऋषि सूर्य को समस्त किरणों का स्पर्श करके उदित होने वाला बतलाता है।[५] एक स्थान पर ऋषि कहता है कि सूर्य अन्धकार में ज्योति को चाहता हुआ प्रकाश की किरणों को प्रकट करता हुआ तीनों लोकों को अभिव्यक्ति देता है।[६] कहीं ऋषि 'उस्र' नामक किरण को रोग काटने वाला बतलाता है।[७] एक अन्य स्थान पर ऋषि कहता है कि इन्द्र उदकों को उत्पन्न, मेघों को विदीर्ण तथा किरणों को बाहर निकालता है एवं प्रिय मधु (उदक) का पान करता है।[८]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'उस्रा' वे रश्मियाँ हैं, जो द्युलोक का मार्ग प्रशस्त करती हैं, रोग को दूर भगाती हैं तथा जिनके आने से तीनों लोक प्रकट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त मन्त्र इनकी सङ्ख्या को भी निश्चित मानता है, उसके अनुसार इनकी सङ्ख्या इक्यानवे है। ये इनके द्वारा लोक को आच्छादित करती हैं या लोक में निवास करती हैं। सम्भवतः, इसी कारण यास्क प्रभृति विद्वान् इसका निर्वचन 'वस्' धातु से करने के पक्ष में हैं।

१०. वसवः

निघण्टुकोष में रश्मि एवं धन वाचक नामपदों में 'वसवः' पद पठित है।[९] शतपथ-ब्राह्मण 'वसु' के स्वरूप को स्पष्ट करता हुआ कहता है:-"**कतमे वसव इति। अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्याश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एते हीद सर्वं वासयन्ते ते यदिद सर्वं वासयन्ते तस्माद् वसव इति**"[१०] कि कितने वसु हैं? अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ये आठ वसु हैं। क्योंकि ये सबको बसाते हैं, इसलिए इनको 'वसु' कहा जाता है। इस पक्ष में 'वस्' धातु से 'वसु' से शब्द सिद्ध होता है।

काठक-संहिता में 'वसु' का निर्वचन कुछ भिन्न दृष्टि से करते हुए कहा गया है:-"**यद्वै किञ्च विन्दते**

---

१ ऋ० १.१७१.५. "येन मानासश्चितयन्त उस्रा व्युष्टिषु शवसा शश्वतीनाम्।"

२ ऋ० १.६९.५. "उषो न जारो विभावोस्रः संज्ञातरूपश्चिकेतदस्मै।"

३ ऋ० ८.४६.२६. "यो अश्वेभिर्वहते वस्त उस्रास्त्रि सप्त सप्ततीनाम्।"

४ ऋ० ८.७५.८. "मा नो देवानां विशः प्रस्नातीरिवोस्राः।"

५ ऋ० १०.३५.८. "विश्वा इदुस्राः स्पळुदेति सूर्यः।"

६ ऋ० १०.६७.४. "बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः।"

७ ऋ० १०.१७५.२. "उस्राः कर्तन भेषजम्।"

८ ऋ० १०.१३८.२. "अवासृजः प्रस्वः श्वञ्चयो गिरीनुदाज उस्रा अपिबो मधु प्रियम्।"

९ निघ० १.५.१०.

१० शत०ब्रा०, ११.६.३.६.१२५.

तद्वसु''[१] कि जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह 'वसु' है। यहाँ लाभार्थक 'विद्' धातु से 'वसु' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'वसु' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**वसवो यद्विवसते सर्वम्**''[२] कि जो सम्पूर्ण अन्धकार को विवासित अर्थात् निर्वासित करती हैं, ऐसी रश्मियाँ 'वसु' हैं। आचार्य दुर्ग एवं अन्य वृत्तिकार 'वस्' धातु का अर्थ 'आच्छादन' लेते हैं। तदनुसार यास्क के कथन का आशय यह है कि ये तीनों स्थानों में विभक्त सम्पूर्ण जगत् का आच्छादन करते हैं, अतः, इनको 'वसु' कहा जाता है।[३] वस्तुतः, अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र इन आठ वसुओं ने सम्पूर्ण जगत् आच्छादित कर रक्खा है, अतः, उक्त आधार पर इनका 'वसु' नामकरण सर्वथा उचित है। लेकिन रश्मि अर्थ वाले 'वसु' का निर्वचन 'वस' निवासे' धातु से करना अधिक समीचीन है, क्योंकि ये तमस् को निर्वासित करती हैं। धातु से पूर्व 'वि' उपसर्ग 'निर्वासित' अर्थ की पुष्टि करता प्रतीत होता है। आचार्य यास्क अपने कथन को स्पष्ट करने के लिये पुनः कहते हैं:-''**वसव आदित्यरश्मयो विवासनात्**''[४] सूर्यरश्मियों के वसु अभिधान का कारण यह है कि ये तमस् को निर्वासित करती हैं।

आचार्य देवराजयज्वन् रश्मिवाचक 'वसु' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**वसन्ति लोकेषु, वसन्त्यत्र रसाः, वसत्यत्र तेजः**''[५] ये रश्मियाँ लोक में रहती हैं, इनमें रस रहता है, इसमें तेज रहता है, अतः, रश्मियों को 'वसु' कहा जाता है। इस पक्ष में निवासार्थक 'वस्' धातु से 'वसु' शब्द सिद्ध होता है।

(ख)''यद्वा, 'वस' आच्छादने'। आच्छादयति वा लोकान् वृष्ट्या''[६] अथवा 'वस' आच्छादने' धातु से 'वसु' शब्द सिद्ध होता है। लोकों को वृष्टि से आच्छादित करती हैं, इसलिए रश्मियों को 'वसु' कहते हैं।

(ग)''विवासयति वा तमः''[७] कि अन्धकार को निर्वासित करने के कारण रश्मि को 'वसु' कहा जाता है। इस पक्ष में निवासार्थक 'वस्' धातु से 'वसु' शब्द निष्पन्न होता है।

(घ)''वासयितारो वा लोकानां वृष्ट्यादिप्रदानेन''[८] कि वृष्ट्यादि प्रदान के द्वारा लोकों के वासक होने से इन्हें 'वसु' कहा जाता है। इस पक्ष में ण्यन्त 'वस्' से 'वसु' पद व्युत्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वस्' धातु से व्युत्पन्न 'वसवः' पद को देव पद का दीप्तिमान् वाचक विशेषण तथा धन, रश्मि प्रभृति का वाचक नामपद मानता है।[९] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्त मत का

---

१ काठ०, १०.६.
२ निरु० १२.४१.
३ निरु० १२.४१.
४ दुर्ग,निरु०वृ०, १२.४१.
५ निघ०वृ०, १.५.१०.
६ निघ०वृ०, १.५.१०.
७ निघ०वृ०, १.५.१०.
८ निघ०वृ०, १.५.१०.
९ वै०पद०को०, पृ० २७८१.

समर्थन करती है।[१] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि यास्क यह कल्पना करने में असमर्थ रहे हैं कि वसु (जो भाषिक दृष्टि से सम्पत्ति या वस्तु के लिये प्रयुक्त होता है, भारोपीय भाषा में 'u e s u' सम्पत्ति अर्थ में है।) अवेस्ता में 'vanhus' भी उक्त अर्थ का वाचक है, लाक्षणिक दृष्टि से इसमें सूर्यरश्मियाँ सम्मिलित हैं।[२]

वैदिक साहित्य में 'वसु' का प्रयोग बहुत हुआ है। ऋषि कहता है कि जिस प्रकार रथ दुर्गम पथ से रक्षा करता है, उसी प्रकार सुन्दर दान देने वाली रश्मियाँ हमारी पाप से रक्षा करें।[३] एक दूसरे स्थान पर ऋषि कहता है कि सूर्यरश्मियों से शीघ्र गमन करने वाले अग्नि को ग्रहण करके सम्यक् धारण करो।[४] कहीं ऋषि कहता है कि उदक से युक्त वसु (रश्मियाँ), आदित्य एवं सम्पूर्ण देव यहाँ आयें।[५] गृत्समद ऋषि का कथन है कि हे आदित्य देव! न दक्षिण दिशा ज्ञात हो रही है न सव्य, न पूर्व, और न पश्चिम। अपरिपक्व प्रज्ञा एवं कातर हम लोग तुम्हारे द्वारा लायी गयी अभयज्योति को प्राप्त करें।[६] वामदेव ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार वसुगण (रश्मियाँ) प्राप्त करने योग्य वाणी को मुख से छोड़ते हैं, उतनी सरलता से पाप हम से दूर हों।[७] विश्वामित्र ऋषि का कथन है कि सम्पूर्ण देव इसमें रमण करते हैं, ऐसे वसु (रश्मियाँ) हमें सुख प्रदान करें।[८] वामदेव ऋषि वसुओं को रक्षा करने वाले के रूप में चित्रित करते हैं।[९] वसिष्ठ ऋषि का कथन है कि आदित्य के समान हम अखण्ड हों, देवताओं में वसुगण मर्त्यलोक की रक्षा करने वाले हैं।[१०] कहीं ऋषि कहता है कि गुहा में प्रकट हुए प्रकाश में न हम पाप करें और न देवद्रोह।[११] एक स्थान पर ऋषि कहता है कि वसुओं का ग्रहण करने वाले विश्वदेव ऊर्ध्व में हैं।[१२] तैत्तिरीय-संहिता का अभिमत है कि आदित्य वसुओं से उत्पन्न होते हैं।[१३] एक अन्य स्थान पर यह संहिता कहती है कि वसु ही रुद्र नामक आदित्य हैं।[१४] यजुर्वेद संहिता का मत है कि जो इस सवन का सेवन करने के लिये आये हुए देवता हैं, उन्होंने रश्मियों के लिये सुन्दर सुपथ बनाया है। रोगादि के कीटाणुओं को खाते पीते हुए ये हमारे लिये समस्त वसुओं (धनों) को प्रदान करें।[१५] ऋग्वेद

---

१ ऋ०वै०पद०, पृ० ४६५.

२ दि एटीमोलीजीज ऑफ यास्क, पृ० ३८.

३ ऋ० १.१०६.१. "रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्त्तन।"

४ ऋ० १.१६३.२. "अगृभ्णात्सूरादश्वं वसवो निरतष्ट।"

५ ऋ० २.३.४. "घृतेनाक्तं वसवः सीदतेदं विश्वे देवा आदित्या यथयासः।"

६ ऋ० २.२७.११. "न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा।"

७ ऋ० ३.५७.२. "विश्वे यदस्यां रणयन्त देवाः प्र वोऽत्र वसवः सुम्नमश्याम्।"

८ ऋ० ४.१२.६. "यथा ह त्यद्वसवो गौर्यं चित्पदि षितामसुञ्चता यजत्राः।"

९ ऋ० ४.५५.१. "का वस्त्राता वसवः को वरूता द्यावाभूमी अदिते त्रासीथां नः।"

१० ऋ० ७.५२.१. "आदित्यासो अदितयः स्याम पूर्देवत्रा वसवो मर्त्यत्रा।"

११ ऋ० १०.१००.७. " न वो गुहा चकृम भूरि दुष्कृतं नाविष्ट्यं वसवो देवहेळनम्।"

१२ ऋ० १०.१००.९. "ऊर्ध्वो ग्रावा वसवोऽस्तु।"

१३ तै०सं० २.१.११.३. "यथादित्या वसुभिः सम्बभूवुः।"

१४ तै०सं० ३.३.९.७. "वसवो वै रुद्रा आदित्या सःस्रावभागाः।"

१५ यजु०, ८.१८; १९. "सुगा वो देवाः सुपथा अकर्म य आजग्मुः सवनमिदं जुषाणाः। जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि।"

का कथन है कि वसु नामक देव इस पृथिवी पर रमण करते और सुशोभित होते हुए अन्तरिक्ष में गमन करें। तीव्रगति से गमन करने वाले वसु अपने पथ को नीचे की (हमारी) ओर बनायें तथा दूत बनकर आये इस अग्नि के वचनों को सुनें।[१]

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में 'वसु' का व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है। 'वसवः' नामक देवगण भूलोक से द्युलोक तक रहने वाल देव हैं। इनको किसी स्थान विशष की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। ये देव रश्मिरूप में सुदानव, पाप से मुक्ति देना, रोगापनयन, उदकधारण, अभयज्योति तथा धनप्रदान करना आदि इनकी प्रमुख विशेषता हैं। ये रश्मिरूप में उक्त अनेक प्रकार के कार्य सम्पन्न करते हैं। ये वसुगण पृथिवी पर रमण, अन्तरिक्ष में गमन द्युलोक में वास करते हैं। निर्वचनकारों की दृष्टि में 'वस्' धातु 'वसु' का मूल है, यह निर्वचन 'वसु' के चरित्र पर पूर्ण चरितार्थ होता है। ये वासक अर्थात् बसाने वाले होने के कारण 'वसु' कहलाते हैं।

११. मरीचिपाः

निघण्टुकोष के रश्मिवाचक नामपदों में 'मरीचिपाः' पद पठित है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् उक्त पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**म्रियते तमोऽस्मिन्निति मरीचिः रश्मिः (अत्र मरीचिशब्देन मरीचिमान् सूर्य उच्यते)। मरीचिमत्सूर्यमण्डलं पान्ति मरीचिपाः**"[३] कि इस रश्मि में अन्धकार मरता है, इसलिये रश्मि को 'मरीचि' कहते हैं। यहाँ 'मरीचि' का अर्थ 'मरीचिमान् सूर्य' है। मरीचिमान् सूर्यमण्डल का पालन करने के कारण रश्मियों को 'मरीचिपाः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'मृ'+ईचि+'पा'+क' से 'मरीचिपा' पद सिद्ध होता है। उणादिकोष 'मरीचि' पद को 'मृ'+ईचि' से निष्पन्न करता है।[४]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'मरीचि' शब्द को गतिमान् दीप्ति वाली किरण का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। कोशकार 'मृ'+'चर्' इन दो धातुओं के संयोग से उक्तपद के व्युत्पन्न होने की सम्भावना व्यक्त करता है। 'मरीचि' शब्द से 'पा' पाने' धातु के संयोग से 'मरीचिप' शब्द को व्युत्पन्न मानते हैं। यह शब्द वेद में देवता का विशेषण है।[५] मोनियर विलियम्स 'मरीचि' का सम्बन्ध 'मरुत्' से होने की सम्भावना मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद और अथर्ववेद में यह शब्द प्रकाश के कण, चमकने वाले कण, वायु में चित्तीदार कण के अर्थ में आया है। ऋग्वेद में यह पद प्रकाशरश्मि के लिये भी व्यवहृत हुआ है। जहाँ तक 'मरीचिपा' शब्द का सम्बन्ध है, वे कहते हैं कि यह पद वाजसनेयि- संहिता में प्रकाश के कणों के अवशोषण के अर्थ में आया है।[६]

---

१ ऋ० ७.३९.३. "ज्मया अत्र वसवो रन्त देवा उरावन्तरिक्षे मर्जयन्त शुभ्राः। अर्वाक्पथ उरुज्रयः कृणुध्वं श्रोता दूतस्य जग्मुषो न अस्य।"

२ निघ० १.५.११.

३ निघ०वृ०, १.५.११.

४ उणा०, ४.७१. "मृकणिभ्यामीचिः।"

५ ऋ०वै०पद०, पृ० २४५५.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७९०.

वैदिक साहित्य में 'मरीचिपा' का प्रयोग बहुत विरल हुआ है। ऋग्वेद में इसका उल्लेख एक बार भी नहीं हुआ है, जबकि यजुर्वेद में मात्र दो बार इसका प्रयोग देखने को मिलता है। यजुर्वेद का ऋषि कहता है कि हे सुभव! मैं सूर्य की रश्मियों से तुम्हारी स्तुति करता हूँ।[१] एक अन्य स्थान पर ऋषि कहता है कि हे सुभव! तुम स्वयं सिद्ध हो, समस्त रश्मि देवों से मैं तुम्हें प्राप्त करता हूँ।[२] तैत्तिरीय एवं मैत्रायणी-संहिताओं के अनुसार सूर्य गन्धर्व है और मरीचियाँ आयु नाम की अप्सरायें हैं।[३] तैत्तिरीयारण्यक मरीचि को सूर्यपत्नी बतलाता है।[४] शतपथ-ब्राह्मण मरीचियों को स्वराज नाम के 'आपः' के रूप में चित्रित करता है।[५] एक अन्य स्थान पर ऐतरेय आरण्यक तथा ऐतरेयोपनिषद् अन्तरिक्ष को मरीचि के रूप में प्रतिपादित करती हैं।[६]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में 'मरीचिपा' नामक रश्मियों से 'सुभव' के प्राप्त होने का उल्लेख है। 'मरीचि' का सम्बन्ध सूर्य से है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार अदिति के पुत्रों में से अष्टम पुत्र मार्तण्ड का सम्बन्ध नाम के आधार पर मर्त्यलोक से दिखायी देता है, उसी प्रकार मरीचि का सम्बन्ध भी है। ये इस प्रकार की रश्मियाँ हैं, जिनका इस लोक से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मरीचि का 'मृ' धातु से निर्वचन भी इसी तथ्य की पुष्टि करता प्रतीत होता है। सम्भवतः, इसी प्रकार का एक अन्य शब्द 'मरुत्' भी है।

१२. मयूखाः

निघण्टुकोष के रश्मिवाचक नामपदों में 'मयूख' पद पठित है।[७] आचार्य देवराजयज्वन् मयूख' शब्द का निर्वचन करते हुये कहते हैं:-''**मिन्वन्ति तमः मयूखाः**''[८] कि अन्धकार को दूर प्रक्षेपित करने के कारण किरणों को 'मयूख' कहा जाता है। इस पक्ष में प्रक्षेपण अर्थ वाली 'मि' धातु से 'ख' प्रत्यय तथा 'ड्यूड्' का आगम होकर 'मयूख' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''**मयतिर्गत्यर्थः। गच्छन्ति सर्वलोकेषु मयूखाः**''[९] कि ये रश्मियाँ समस्त लोकों में जाती हैं, अतः, इन्हें 'मयूख' कहा जाता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'मय' धातु से 'ख' प्रत्यय तथा 'ऊड्' आगम होकर 'मयूख' शब्द सिद्ध होता है। उणादिकोष 'मा' धातु से 'ऊख' प्रत्यय और धातु के स्थान पर 'मय' आदेश

---

१ यजु०, ७.३. ''त्वा सुभव सूर्य्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यो देवाṃशो यस्मै त्वेडे।''

२ यजु०, ७.६. ''स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्यऽ इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्य्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यऽ उदानाय त्वा।''

३ तै०सं० ३.४.७.१. ''सहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवः।'' मै०सं० २.१२.२. ''सहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम।''

४ तै०आ०, ३.९.२. ''सूर्यस्य मरीचिः (पत्नी)।''

५ शत०ब्रा०, ५.३.४.२१. ''एता वाऽआपः स्वराजो यन्मरीचयः।''

६ शत०ब्रा०, १०.१.२.२; ऐ०आ०, २.४.१; ऐ०उप०, १.१.२. ''अन्तरिक्षं मरीचयः।''

७ निघ० १.५.१२.

८ निघ०वृ०, १.५.१२.

९ निघ०वृ०, १.५.१२.

करके 'मयूख' पद निष्पन्न करने के पक्ष में है।[१] मोनियर विलियम्स 'मि' धातु से 'मयूख' के व्युत्पन्न होने की सम्भावना स्वीकार करते है। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मणग्रन्थ और श्रौतसूत्रों में यह पद बुने हुए वस्त्र या चर्म को लटकाने वाली खूँटी के लिये आया है। उपनिषद्, काव्य और वराहमिहिर के शास्त्र में यह शब्द प्रकाश की किरण तथा ज्वाला के लिये व्यवहृत हुआ है।[२]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'मयूख' को कीलक, रश्मि, पर्वत वाचक नामपद मानता है। कोशकार के मत में उक्त पद अव्युत्पन्न है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्त मत का समर्थन करती है।[४]

वैदिक साहित्य में 'मयूख' का प्रयोग बहुत अल्प हुआ है। ऋषि मयूख का वर्णन करता हुआ कहता है कि ये रश्मिभूत विश्वसृज देव इस सर्ग के निर्माणरूप यज्ञ में देवयजन स्थान को प्राप्त करते हैं तथा इस यज्ञ पट को बुनने के लिये रथन्तर आदि सामों का ताना बुनते हैं।[५] एक अन्य स्थान पर ऋषि कहता है कि किरणों के द्वारा चारों ओर से घेरकर विष्णु ने पृथिवी को धारण तथा द्यावापृथिवी को स्थिर किया।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में वे रश्मियाँ 'मयूख' नाम से अभिहित हुई हैं, जिनकी सृष्टिनिर्माण में भूमिका है, और जो पृथिवी को धारण तथा द्यावापृथिवी को स्थिर करती हैं। इस अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सृष्टि सृजनरूप कर्म को करने वाली रश्मियों को वेद 'मयूख' नाम से कहता है, लेकिन 'मयूख' शब्द से उक्त अर्थ की प्रतीति होती दिखायी नहीं देती है। रूप की दृष्टि से प्रक्षेपण अर्थ वाली 'मि' धातु से 'मयूख' को व्युत्पन्न करना उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि प्रक्षेपित होना इन रश्मियों का स्वभाव है।

१३. सप्तऋषयः

निघण्टुकोष के रश्मिवाचक नामपदों में 'सप्तऋषयः' पद परिगणित है।[७] आचार्य देवराजयज्वन् 'सप्तऋषयः' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सप्त सृप्ता सङ्ख्या (निरु०,४.२६)। षड्भ्यः सकाशात् सृप्ता सङ्ख्या सप्त। 'ऋष' गतौ' अनेकार्थत्वाद्धातूनां दर्शनार्थः। ऋषयो द्रष्टारः। सप्तसङ्ख्यकाश्च ते ऋषयो द्रष्टारश्च त्रैलोक्यस्येति सप्तऋषयः**"[८] कि 'सप्त' सरकने वाली सङ्ख्या है, क्योंकि यह षट् के पास से सरकती है, अतः, यह 'सप्त' कहलाती है। धातुओं के अनेकार्थक होने से 'ऋषि' पद में 'ऋष' गतौ' धातु दर्शनार्थक है। तत्त्व का साक्षात् दर्शन करने वाले ऋषि हैं। त्रैलोक्य के सप्त द्रष्टा 'सप्तऋषयः' नाम से अभिहित होते हैं।

उपर्युक्त 'सप्तऋषयः' का विवेचन देवराजयज्वन् यास्क के अनुसार कर रहे हैं। यास्क मत में जिस

---

१ उणा०, ५.२५. "माङ् ऊखो मय च।"

२ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७८९.

३ वै०पद०को०, पृ० २४५४.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ३९१.

५ ऋ० १०.१३०.२. "इमे मयूखा उप सेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे।"

६ ऋ० ७.९९.३. "व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः।"

७ निघ० १.५.१३.

८ निघ०वृ०, १.५.१३.

प्रकार सरण करने के कारण आदित्य सूर्य कहलाता है,[१] उसी प्रकार सरकने के कारण रश्मि 'सप्त' नाम से अभिहित हुई प्रतीत होती है। यहाँ सम्भवतः, 'सप्त' सङ्ख्या का वाचक न होकर 'किरण' का अभिधायक है। रश्मि की प्रमुख विशेषता दर्शनशक्ति प्रदान करना या गति है। इस आशय की प्रतीति 'ऋषि' शब्द से हो रही है। इस प्रकार सरण एवं दर्शनशक्ति प्रदान करने के कारण रश्मियाँ 'सप्तऋषयः' कही जाती हैं।

वैदिक साहित्य में 'सप्तऋषयः' का प्रयोग बहुत विरल हुआ है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि देवता इसके विषय में यह कहते हैं कि पूर्वकाल में जिन सप्त ऋषियों ने तपस्या की और उसके फलस्वरूप बृहस्पति के लिये उपनीत भीमा जाया को परम व्योम में बहुत कष्ट के साथ धारण किया।[२] एक अन्य स्थान पर ऋषि कहता है कि विश्वकर्मा सर्वत्र अप्रतिहत प्रज्ञान वाला, सर्वव्यापक, सर्वभूतों को उत्पन्न करने वाला एवं उनके जीवन का विधाता, विना किसी व्यवधान के सर्वद्रष्टा है। जहाँ सप्तऋषि (रसों को आकर्षण करने या देखने वाली रश्मियाँ) सूर्यमण्डल में स्थित अधिष्ठाता (विश्वकर्मा) में एक (अविभाग को प्राप्त) हो जाते हैं।[३] यजुर्वेद में विश्वदेवों की स्तुति करते हुए कहा गया है कि जब सप्त से स्तुति की तब 'सप्तऋषि' उत्पन्न हुए और उनका धाता अधिपति हुआ।[४] यजुर्वेद के अन्य मन्त्र में कहा गया है कि सप्तविध किरणें आदित्य (शरीर) में निहित हैं और ये प्रमाद रहित होकर संवत्सर की रक्षा करती हैं। व्यापनशील ये किरणें आदित्य के अस्त होने पर अपने लोक (मण्डल) में चली जाती हैं और उस समय कभी भी अस्त न होने वाले वायु तथा आदित्य ये दो देव संवत्सर की रक्षा में तत्पर रहते हैं।[५]

शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार पहले सप्तर्षियों को 'ऋक्ष' कहा जाता था।[६] काण्वीय शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि पहले ऋक्षों (सप्तर्षियों) की कृत्तिका नाम की पत्नियाँ थीं, ये पूर्व से उदित होती थीं तथा सप्तर्षि उत्तर से उदित होते थे।[७] शतपथ-ब्राह्मण भी कहता है कि सप्तर्षि उत्तर से उदित होते थे।[८] मैत्रायणी एवं काठक-संहिताओं में कहा गया है कि ये सप्तर्षि अपने अधिष्ठाता में एकत्व को प्राप्त होते हैं।[९]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'सप्तऋषयः' का स्पष्ट सम्बन्ध आदित्य

---

१ निरु० १२.१४.

२ ऋ० १०.१०९.४. ''देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः। भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्।''

३ ऋ० १०.८२.२. ''विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्। तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन्पर एकमाहुः।''

४ यजु०, १४.२८. ''सप्तभिरस्तुवत सप्तऋषयोऽसृज्यन्त धाताधिपतिरासीत्।''

५ यजु०, ३४.५५. ''सप्त ऋषयः प्रतिहिता शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ।''

६ शत०ब्रा०, २.१.२.४. ''सप्तर्षीनु ह स्म वै पुरऽर्क्षा इत्याचक्षते।''

७ का०शत०ब्रा०, १.१.२.२. ''ऋक्षाणां (सप्तर्षीणाम्) ह वा एता (कृत्तिका) अग्रे पत्न्य आसुः .... यर्ह्येता अग्रेणोद्यन्तीहोत्तरेण सप्तर्षयः।''

८ शत०ब्रा०, २१.२.४. ''अमी ह्युत्तराहि सप्तर्षय उद्यन्ति।''

९ मै०सं० २.१०.३;काठ०, १८.१. ''यत्र सप्तर्षीन् पर एकमाहुः।''

से है। आचार्य यास्क ने द्युस्थानी देवताओं में उक्त पद का विवेचन किया है।[१] वेद का ऋषि 'सप्तऋषयः' को बृहस्पति की भीमा जाया को कष्ट धारण करने वाले के रूप में चित्रित करता है, क्योंकि ये परम व्योम में कठिनाई से धारण करने योग्य हैं। इसके अतिरिक्त इनकी दूसरी विशेषता यह है कि ये आदित्यमण्डल में जाकर एक हो जाती हैं। ऋषि इनके अधिपति के रूप में कहीं विश्वकर्मा का उल्लेख करता है और कहीं धाता एवं विधाता का। ब्राह्मणग्रन्थ सप्तर्षियों को उत्तर से उदित होने वाला बतलाते हैं, जबकि इनकी कृत्तिका नाम की पत्नियों को पूर्व से उदित होने वाला। लेकिन उपर्युक्त सभी विशेषतायें 'सप्तऋषयः' की शब्द आकृति से स्पष्ट नहीं होतीं। 'सप्तऋषयः' का शाब्दिक अर्थ है कि सर्पण करने या सप्त सङ्ख्या वाली रश्मियाँ।

१४. साध्याः

निघण्टुकोष के रश्मिवाचक नामपदों में 'साध्याः' पद पठित है।[२] साध्य देवों का विवेचन करता हुआ ब्राह्मण कहता है:-''**यो वै देवान् साध्यान् वेद, सिध्यति ह वा अस्मै, यत्र कामयेत, इह मे सिध्येदितीमे वै लोका देवाः साध्याः**''[३] कि जो साध्य देवों को जानता है, वे उसके लिए सिद्ध हो जाते हैं। यहाँ मेरा यह कार्य सिद्ध हो जाये, इस प्रकार के देव साध्य कहलाते हैं।

शतपथ-ब्राह्मण निर्वचनपूर्वक 'साध्य' का स्वरूप स्पष्ट करता हुआ कहता है:-''**प्राणा वै साध्या देवाः। त एतम् (प्रजापतिम्) अग्र ऽ एवमसाधयन्**''[४] कि प्राण ही साध्य देव हैं, क्योंकि इन्होंने ही आराधना करके पहले प्रजापति को प्रसन्न किया। उपर्युक्त दोनों ही उद्धरणों में संराधन अर्थ वाली 'सिध्' धातु से 'साध्याः' पद सिद्ध होता है।

आचार्य यास्क 'साध्य' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**साध्याः देवाः साधनात्**''[५] कि साधनीय होने से ये देव साध्य देव कहलाते हैं। जो किसी अन्य से सिद्ध नहीं होता, उसको ये सम्पन्न कर देते हैं, अतः वे साध्य देव कहलाते हैं। और वे पुनः प्राण हैं, ये ही विश्वसृज ऋषि हैं, जिन्होंने सहस्र संवत्सर सत्र में इस विश्व का सृजन किया। ये अधिदैवत पक्ष में रश्मियाँ हैं। ब्राह्मण कहता भी है:-''**प्राणा वै सप्त ऋषयः साध्या विश्वसृजः**''[६] कि प्राण ही विश्व का सृजन करने वाले सप्त ऋषि साध्य देव हैं। अग्रिम खण्ड में वे पुनः कहते हैं:-''**साध्याः, साधनाः**''[७] कि ये उपासना आदि साधनों से प्राप्य होने के कारण साध्य कहे जाते हैं।

आचार्य देवराजयज्वन् 'साध्याः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**रसहरणादिकं स्वव्यापारं साध्नुवन्ति संसिद्धं कुर्वन्ति- इति स्कन्दस्वामी**''[८] कि रसहरण आदि अपने व्यापार को सिद्ध करने के कारण

---

१ निरु० १२.३६.
२ निघ० १.५.१४.
३ मै०सं० ३.७.१०.
४ शत०ब्रा०, १०.२.२.३.
५ निरु० १२.४०.
६ दुर्ग,निरु०वृ०, १२.४०.
७ निरु० १२.४०.
८ निघ०वृ०, १.५.१४.

रश्मियाँ 'साध्य' कही जाती हैं। इस विषय में क्षीरस्वामी का मत है:-''**साध्यन्ते आराध्यन्ते साध्याः**''[१] कि उपासना आदि उपायों से साधनीय होने कारण ये 'साध्य' कहलाते हैं। उपर्युक्त दोनों पक्षों में 'सिध्' धातु से 'साध्य' शब्द सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'साध्' धातु से व्युत्पन्न 'साध्याः' पद को देवविशेषवाचक नामपद मानता है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्त पद को 'साध्' धातु से व्युत्पन्न मानती है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में 'saidh' 'उद्देश्य के प्रति अग्रसर होना' अर्थ में है। वे मानते हैं कि उक्त यास्कीय निर्वचन तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने योग्य है।[४]

वैदिक साहित्य में 'साध्याः' पद देवरूप में प्रतिष्ठित है। आचार्य यास्क ने निरुक्त में इनका द्युस्थानी देवताओं में परिगणन किया है।[५] अन्य रश्मिवाचक पदों की तरह यह मात्र किरण का वाचक नहीं है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में दीर्घतमस् तथा पुरुष सूक्त में नारायण ऋषि साध्य देवों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि देवताओं ने यज्ञ के द्वारा यज्ञ का यजन किया (यास्क इसका यह आशय लेते हैं कि अग्नि के द्वारा अग्नि का यजन किया),[६] वे सबसे मुख्य धर्म (कर्म) थे। उक्त धर्म का आचरण करने वाले जन उस नाक (एकान्तसुख या सूर्यलोक) को प्राप्त करते हैं, जिस में पूर्व में उत्पन्न साध्य देव रहते हैं।[७] आचार्य सायण के अनुसार यहाँ आदित्य और अङ्गिरस् साध्य देव हैं।[८] पुरुष सूक्त का एक अन्य मन्त्र कहता है कि सृष्टि के आदि में उत्पन्न उस यज्ञ पुरुष से अन्तरिक्ष सिञ्चित हुआ, तब साध्य और ऋषियों ने उससे देवों का यजन किया।[९] यहाँ 'साध्य' का तात्पर्य सृष्टि के साधनभूत या साधनसम्पन्न देव प्रतीत होता है। यजुर्वेद में बृहदुक्थ वामदेव्य अग्नि का स्तवन करते हुये कहते हैं कि प्रजापति की तपस्या से बढ़ता हुआ अग्नि सद्यो जात यज्ञ को धारण करता है तथा स्वाहा के साथ अग्नि द्वारा आगे प्रस्तुत की गयी हवि को साध्य देव भक्षण करते हैं।[१०] एक अन्य यजुर्वेद का मन्त्र कहता है कि वसुओं से ऋश्य, रुद्रों से रुरू, आदित्यों से न्यङ्कु, विश्व देवों से पृषत तथा साध्यदेवों से कुलुङ्ग की प्राप्ति होती है।[११] यज्ञ में बलि को मान्यता देने वाले पक्ष के अनुसार उक्त मन्त्र

---

१ निघ०वृ०, १.५.१४.

२ वै०पद०को०, पृ० ३३६७.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ५६६.

४ दि एटीमोलीजीज ऑफ यास्क, पृ० ५३.

५ निरु० १२.४०-४१.

६ निरु० १२.४१.

७ ऋ० १.१६४.५; १०.९०.१६. ''यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।''

८ सायणभाष्य, ऋ० १.१६४.५०.

९ ऋ० १०.९०.७. ''तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।''

१० यजु०, २९.११. ''प्रजापतेस्तपसा वावृधानः सद्यो जातो दधिषे यज्ञमग्ने। स्वाहाकृतेन हविषा पुरोगा याहि साध्या हविरदन्तु देवाः।''

११ यजु०, २४.२७. ''वसुभ्य ऽ ऋश्यानालभते रुद्रेभ्य रुरूनादित्येभ्यो न्यङ्कून् विश्वेभ्यो देवेभ्यः पृषतान्त्साध्येभ्यः कुलुङ्गान्।''

का आशय यह लिया जा सकता है कि मन्त्र में परिगणित पशुओं की बलि तत्तत् देवों के लिये की जाती है। यजुर्वेद के मत का समर्थन मैत्रायणी-संहिता से भी हो जाता है।[१] साध्य के स्वरूप का प्रतिपादन करती हुई काठक-संहिता कहती है कि ये ही साध्यदेव लोक हैं, जिनके लिए पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक सिद्ध हैं।[२] ताण्ड्य-महाब्राह्मण कहता है कि साध्य नाम के वे देव थे, जिन्होंने तृतीय सवन को अवच्छिन्न करके माध्यन्दिन सवन से स्वर्गलोक प्राप्त किया।[३] कपिष्ठल-कठसंहिता का मत है कि साध्य नाम के वे देव हैं कि जो पूर्व देवों से भी पूर्व के हैं, उनका अपना कुछ भी नहीं था। वे अग्नि को मथकर अग्नि में होम करते थे। उस अग्नि से पशु बन्धु उत्पन्न हुए, इसलिये सभी पशु आग्नेय कहे जाते हैं।[४] काठकसङ्कलन कहता है कि साध्य भद्र, व्यापक और सूर (सूर्य) चक्षु हैं।[५] कपिष्ठलकठ-संहिता के अनुसार जो यज्ञ से अतिरिक्त है, वह साध्य देवों से भी अतिरिक्त है।[६] जैमिनीय-ब्राह्मण इन साध्य देवों की सङ्ख्या षट्त्रिंशत् बतलाता है।[७] तैत्तिरीय और काठक-संहितायें साध्यों की तिथि पञ्चमी मानते हैं।[८]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साध्य देवों का सम्बन्ध द्युलोक से है। ऋग्वेद स्पष्टरूप से इन्हें सृष्टि उत्पत्तिकालीन देवों के रूप में प्रतिपादित करता है। सम्भवतः, इसलिये पुरुषसूक्त में इनको यज्ञ पुरुष से उत्पन्न होने वाला बताया गया है। यजुर्वेद साध्य देवों को अग्नि द्वारा प्रस्तुत हवि का भक्षण करने वाले के रूप में प्रस्तुत करता है। ब्राह्मणग्रन्थ इनको माध्यन्दिन सवन या अग्नि को मथकर स्वर्ग प्राप्त करने वाले देवों के रूप में चित्रित करता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण इनका सम्बन्ध सूर्य से भी स्थापित करते हैं। आचार्य यास्क इन देवगणों को द्युस्थानी प्रतिपादित करते हैं। निर्वचन की दृष्टि से कार्य को सिद्ध करने के कारण इनका नाम करण 'साध्याः' हुआ है, यह तथ्य वेद और ब्राह्मण से पुष्ट हो जाता है। इस प्रकार 'साध्य' वे देव हैं, जो सृष्टि के निर्माण में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। परन्तु उक्त देवों को रश्मिवाचक मानना सन्दिग्ध प्रतीत होता है।

१५. सुपर्णाः

निघण्टुकोष के रश्मिवाचक नामपदों में 'सुपर्णाः' पद परिगणित है।[९] जैमिनीय-ब्राह्मण 'सुपर्ण' का व्याख्यान करता हुआ कहता है:-"**सोमं वै राजानं सुपर्ण आजहार, तस्य यत् पर्णमपतत् स एव**

---

१ मै०सं० ३.१४.९. "साध्येभ्यः कुलुङ्गान् (आलभते)।"

२ काठ०, २४.१०; कपि०क०सं० ३८.३. "इमे वाव लोकाः साध्याः, सिद्धं ह्यस्यै (पृथिव्यै), सिद्धमस्मै (अन्तरिक्षाय), सिद्धममुष्मै (दिवे)।"

३ तां०ब्रा०, ८.३.५; ४.९. "साध्या वै देवा आसं स्ते ऽवच्छिद्य तृतीयसवनं माध्यन्दिनेन सवनेन सह स्वर्गं लोकमायन्।"

४ कपि०क०सं० ४१.५. "साध्या वै नाम देवा आसन् पूर्वे देवेभ्यः। तेषां न किञ्चन स्वमासीत् ते ऽग्निं मथित्वाग्नौ जुह्वत आसत। तस्माद् बन्धोः पशवोऽजायन्त। तस्मादाग्नेयाः सर्वे पशव उच्यन्ते।"

५ काठ०संक०, ६२:५. "भद्राः साध्या अभिभवः सूरचक्षसः।"

६ कपि०क०सं० ४१.२. "यद्वै यज्ञस्यातिरिच्यते साध्यास्तद् देवानामभ्यतिरिच्यते।"

७ जै०ब्रा०, १.३३. "षट्त्रिंशत् साध्या देवाः।"

८ तै०सं० ५.७.१७.१. "साध्यानां पञ्चमी।"

९ निघ० १.५.१५.

पर्णोऽभवत्''[१] कि सोम राजा के लिये सुपर्ण का आहरण किया गया, उसका जो पर्ण गिरा, वह पर्ण कहलाया। इस पक्ष में 'पत्' धातु से पर्ण शब्द व्युत्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'सुपर्ण' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''सुपर्णाः सुपतनाः''**[२] कि सुपतनशील होने से ये रश्मियाँ 'सुपर्ण' कहलाती हैं। यास्क भी ब्राह्मण की तरह 'सु+'पत्' से सुपर्ण को निष्पन्न मान रहे हैं।

आचार्य देवराजयज्वन् 'सुपर्ण' का निर्वचन करते हुये कहते हैं:-**''शोभनं पृणन्ति पालयन्ति जगत् शीतादिनिवारणात् पूरयन्ति वा वृष्ट्या''**[३] कि शीतादिनिवारण करके ये जगत् का अच्छे प्रकार पालन करती हैं, अतः, रश्मियों को 'सुपर्ण' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सु+'पृ'+न' से 'सुपर्ण' शब्द सिद्ध होता है।

(ख)**''पर्ण पततेः। शोभनं पतनं गमनमेषामिति वा''**[४] कि शोभन गमन करने से ये रश्मियाँ 'सुपर्ण' कहलाती हैं। इस पक्ष में 'सु+'पत्' से 'सुपर्ण' पद व्युत्पन्न होता है।

(ग)**''प्रीणातेर्वा। सुष्ठु प्रीणन्ति तर्पयन्ति जगत् वर्षप्रदानेनेति वा सुपर्णाः''**[५] कि वर्षा प्रदान करके जगत् को अच्छी प्रकार तृप्त करती हैं, इसलिये ये 'सुपर्ण' नाम से अभिहित होती हैं। इस पक्ष में 'सु+'प्री'+न' से 'सुपर्ण' शब्द निष्पन्न होता है।

(घ)**''यद्वा, सुर्मत्वर्थः। पतनादिमन्तः सुपर्णाः''**[६] कि यहाँ 'सु' मत्वर्थक है। पतनादिमान् होने से ये रश्मियाँ 'सुपर्ण' कही जाती हैं। यहाँ भी 'सु+'पत्' से 'सुपर्ण' शब्द सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सुपर्णाः' पद को आदित्य, रश्मि, अग्नि प्रभृति का विशेषण एवं नामपद मानता है। उसके अनुसार 'सु+पर्ण' से 'सुपर्ण' पद व्युत्पन्न होता है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी 'सुपर्णाः' पद को उक्त प्रकार से व्युत्पन्न मानती है।[८] मोनियर विलियम्स भी 'सु+पर्ण' से 'सुपर्ण' को निष्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार राजवाडे 'सुपर्णः' पद को सुन्दर पत्ता, कोशकार 'सुन्दर पत्तियाँ' वाला तथा ऋग्वेद में 'सुन्दर पङ्खों वाला' माना गया है। ऋग्वेद, तैत्तिरीय-संहिता, काठक-संहिता और महाभारत में यह विशाल आकार के हिंसक पक्षी (गृध्र, गरुड, सुन्दर रश्मियों वाला होने से सूर्य या चन्द्रमा, सोम और मेघ पर भी पर चरितार्थ होता है), एक अतिप्राकृतिक पौराणिक पक्षी (प्रायः यह गरुड से अभिन्न माना गया है और कभी-कभी ऋषि, देव, गन्धर्व और असुर के रूप में भी इसका मूर्तीकरण हुआ है।) के अर्थ में आया है।[९] डॉ.

---

१ जै०ब्रा०, १.३५५.

२ निरु० ३.१२; ४.३.

३ निघ०वृ०, १.५.१५.

४ निघ०वृ०, १.५.१५.

५ निघ०वृ०, १.५.१५.

६ निघ०वृ०, १.५.१५.

७ वै०पद०को० पृ० ३४०७.

८ ऋ०वै०पद० पृ० ५७५.

९ संस्कृत-इंग्लिशकोश, पृ० १२२७.

सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि 'पत्' का 'पर्ण' के रूप में परिवर्तन असम्भव है। अत:, वे उक्त निर्वचन को असङ्गत मानते हैं।[१]

वैदिक साहित्य में 'सुपर्ण' का व्यापक प्रयोग हुआ है। दीर्घतमस् ऋषि 'सुपर्ण' के स्वरूप का वर्णन करता हुआ कहता है कि जिस पृथिवी मण्डल पर सुपर्ण नामक (नीचे की ओर आने वाली) आदित्य रश्मियाँ उदक के अमरणधर्मी अंश को निरन्तर तपाती तथा उसे लेकर वापिस सूर्यलोक चली जाती हैं। ऐसा ऐश्वर्य प्रदाता समस्त भुवनों का रक्षक आदित्य मेधाशक्ति बढ़ाने वाला है।[२] इसी सूक्त के अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि उदकहरण करने वाली सुपर्ण नामक रश्मियाँ उदक से मेघों को आच्छादित करती हुई, द्युलोक की ओर ऊपर जाती हैं। वे पुन: उदक के स्थान आदित्यमण्डल से नीचे की ओर आती हैं, तब पृथिवी जल से भीग जाती है।[३] हिरण्यस्तूप ऋषि सवितादेव का स्तवन करते हुए कहते हैं कि सुपर्ण नामक रश्मि लोकों को प्रकाशित करने वाली, गम्भीर कम्पन (उसकी सूक्ष्म गति को देख पाना कठिन है), सबके लिए प्राणप्रद, अच्छी प्रकार से मार्ग आलोकित करने वाली है।[४] एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि उदकमय अन्तरिक्ष के मध्य सुपर्ण नामक रश्मि से युक्त चन्द्रमा द्युलोक में गमन करता है, लेकिन सुवर्ण जैसी रश्मियाँ चन्द्रमा से प्राप्त नहीं होती हैं।[५] एक दूसरे मन्त्र में ऋषि कहता है कि सुपर्ण नामक रश्मि दिव्य, गमनशील, बृहत्, उदकों को गर्भ के समान उत्पन्न करने वाली तथा भविष्य के गर्भ में निहित ओषधियों का दर्शन कराने वाली है।[६] कहीं ऋषि कहता है कि यह सूर्यरश्मि मन के समान वेगवान्, आगे बढ़ने वाली, आयस (अन्धकार) से निर्मित नगर को पार कर जाती है और वहाँ जाकर इन्द्र के लिये सोम (उदक) को लाती है।[७] कहीं ऋषि इसको पृथिवी को देखने वाली के रूप में प्रतिपादित करता है।[८] कहीं यह सोम को देखने वाले के रूप में चित्रित की गयी है।[९] किसी मन्त्र में ऋषि कहता है कि प्रकाशमान सूर्यरश्मियों ने जल को आकाश में धारण किया है।[१०] कहीं ऋषि ने सुपर्ण को एक बताते हुए कहा है कि वह अन्तरिक्ष (समुद्र) में व्याप्त होती है और इस समस्त भुवन को देखती है। परिपक्व बुद्धि वाले लोग उसे विज्ञान से देखते हैं। वह माता को चाटती है और माता उसे चाटती है।[११] शाक्त्य ऋषि का अभिमत है कि यज्ञ जिनको प्रिय है, ऐसी गमनशील आदित्य

---

१ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १२२.

२ ऋ० १.१६४.२१. ''यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति। इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपा: स मा धीर: पाकमत्राविवेश।''

३ ऋ० १.१६४.४७. ''कृष्णं नियानं हरय: सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति। त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते।''

४ ऋ० १.३५.७. ''वि सुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यद्गभीरवेपा असुर: सुनीथ:।''

५ ऋ० १.१०५.१. ''चन्द्रमा अप्स्वऽन्तरा सुपर्णो धावते दिवि। न वो हिरण्यनेमय: पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी।''

६ ऋ० १.१६४.५२. ''दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तमपां गर्भं दर्शतमोषधीनाम्।''

७ ऋ० ८.१००.८. ''मनोजवा अयमान आयसीमतरत्पुरम्। दिव्यं सुपर्णो गत्वाय सोमं वज्रिण आभरत्।''

८ ऋ० ९.७१.९. ''दिव्य: सुपर्णोऽव चक्षत क्षाम्।''

९ ऋ० ९.९७.३३. ''दिव्य: सुपर्णोऽव चक्षि सोम।''

१० ऋ० १०.३०.२. ''अव याश्चष्टे अरुण: सुपर्णस्तमास्यध्वमूर्मिमधा सुहस्ता:।''

११ ऋ० १०.११४.४. ''एक: सुपर्ण: स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे। तं पाकेन मनसापश्यमन्तिमस्तं माता

रश्मियाँ याचना करती हुयीं इन्द्र (आदित्य) के पास पहुँचीं और कहने लगीं कि तमस् को दूर करो, लोगों की आँखों को प्रकाश से भर दो तथा पाश में बँधे हुये पक्षी के समान हमें इस सूर्यमण्डल से अन्धकार को नाश करने के लिये मुक्त कर दो।[१] ऋग्वेद का एक अन्य ऋषि कहता है कि सवितादेव सुपर्ण से युक्त एवं महापिण्ड हैं, ये सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए और संसार के कार्यकलाप को धारण करने में समर्थ हैं।[२] ऐतरेय आरण्यक के अनुसार सुपर्ण के एकविंशति पत्र होते हैं। इनमें से प्रथम पत्र की अपेक्षा उत्तरपक्ष ज्यायान् है।[३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में सुपर्ण का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है। रश्मि के अतिरिक्त इसका सोमपत्र, प्राण आदि अर्थों में भी उल्लेख देखा जाता है। लेकिन इसका मुख्य प्रयोग आदित्यरश्मि के लिए हुआ है, यह कहा जा सकता है। इस रश्मि की मुख्य विशेषता है कि यह प्राणप्रद, ऊपर से नीचे की ओर आने तथा चन्द्रमा के भीतर दौड़ने वाली है। ऋषि स्पष्टरूप से कहता है कि **''सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति''**[४] कि ये सुपर्ण आपः को आच्छादित करती हैं तथा द्युलोक में ऊपर जाती हैं। उत्पतन और अधःपतन इसकी मुख्य विशेषता है। आचार्य यास्क सम्भवतः, इसलिये इसका मूल 'पत्' धातु को बतलाते हैं। प्राणप्रद होने से इसको 'पॄ' धातु से भी व्युत्पन्न करना वेद की दृष्टि से समीचीन प्रतीत होता है।

वैदिक रश्मिवाचक नामपदों में अर्थभिन्नता

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के पञ्चम गण में निघण्टुकार ने रश्मिवाचक षोडश नामपदों का समाम्नान किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	खेदयः रश्मिवाचक निघ०,१.५.१.	अन्धकार विनाशक और वर्षक रश्मियाँ वेद में 'खेदयः' नाम से अभिहित हुई हैं।	कष्ट पहुँचाने वाली 'खिद्' धातु।
२.	किरणाः रश्मिवाचक निघ०,१.५.२.	वेद में काँपने के स्वभाव वाली किरणों को 'किरण' कहा गया है। सम्भवतः, विक्षेप कम्पन रूप होता है।	विक्षेप अर्थ वाली 'कॄ' धातु।
३.	गौः	वेद में भूमिस्थ जलों का पान करने के लिये जाने वाली	गत्यर्थक 'गम्' धातु।

रेळिह स उ रेळिह मातरम्।''

१ ऋ० १०.७३.११. ''वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः। अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्य१स्मान्निधयेव बद्धान्।''

२ ऋ० १०.१४९.३. ''सुपर्णो अङ्ग सवितुर्गरुत्मान्पूर्वो जातः स उ अस्यानु धर्म।''

३ ऐ०आ०, १.४.२. ''एकविंशतिर्हीमानि प्रत्यञ्चि सुपर्णस्य पत्त्राणि भवन्ति। ..... एकेन ह वै पत्रेण सुपर्णस्योत्तरः पक्षो ज्यायान्।''

४. ऋ० १.१६४.४७.

	रश्मिवाचक निघ०,१.५.३.	रश्मियाँ 'गौः' नाम से अभिहित हुई हैं। इसके अतिरिक्त इनके रहने का स्थान विष्णुलोक बताया गया है।	
४.	रश्मयः रश्मिवाचक निघ०,१.५.४.	वेद रश्मि को सूर्य की केतु, अन्धकार विनाशक, कँपाने वाली और पवित्र मानता है। इसके अतिरिक्त वेद 'सप्त रश्मयः' का प्रयोग भी करता है। प्रकाश रूप में प्राप्त होने वाली रश्मियाँ सात हैं।	व्याप्ति अर्थ वाली 'अश्' या फिर बन्धनार्थक 'रश्' धातु।
५.	अभीशवः रश्मिवाचक निघ०,१.५.५.	वेद में 'अभीशु' पद अश्वरश्मि तथा सूर्यरश्मि दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जगत् पर शासन करने वाली रश्मियों को वेद 'अभीशु' नाम से कहता है।	'अभि+'ईश्'। अन्धकार का अपहरण करने में समर्थ।
६.	दीधितयः रश्मिवाचक निघ०,१.५.६.	वेद में सूर्यरश्मि अर्थ में यह अप्रयुक्त है। वेद इसे प्राण और बल की दात्री तथा दुःखों का नाश करने वाली के रूप में चित्रित करता है। इसको ऋषि विश्व द्वारा वरणीय भी बतलाता है।	रश्मि के सन्दर्भ में 'धीङ् आदाने' धातु उचित प्रतीत होती है।
७.	गभस्तयः रश्मिवाचक निघ०,१.५.७.	वेद 'गभस्ति' नाम की दो रश्मियाँ मानता है। उनमें से एक रस का आहरण करती है और दूसरी जल प्रदान करती है।	आहरण कर्म करने के कारण 'ग्रह्' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है।
८.	वनम् रश्मिवाचक निघ०,१.५.८.	वेद में 'वन' वे रश्मियाँ हैं, जो वरणीय अर्थात् सेवनीय हैं। सम्भवतः, उदक और अन्न की वृद्धि का कारण होने से ये 'वन' नाम से अभिहित हुई हैं।	'वन्' धातु।
९.	उस्राः रश्मिवाचक निघ०,१.५.९.	वेद में 'उस्राः' वे रश्मियाँ हैं, जो द्युलोक का मार्ग प्रशस्त करती हैं, रोग को दूर भगाती हैं तथा इनके आने से तीनों लोक प्रकट हो जाते हैं। इनकी सङ्ख्या ९१ है, इनसे ये लोक को आच्छादित करती हैं।	'वस्' धातु। लोक को आच्छादित या उसमें निवास करने के कारण उक्त धातु से निर्वचन समीचीन प्रतीत होता है।
१०.	वसवः रश्मिवाचक निघ०,१.५.१०.	भूलोक से देवलोक तक रहने वाले देव वेद में 'वसवः' हैं। ये रश्मिरूप में सुदानव, रोगापहारक, उदक धारण करने वाले एवं अभयज्योति प्रदान करने वाले हैं।	निवासार्थक 'वस्' धातु। ये वासक होने से 'वसु' कहलाते हैं।
११.	मरीचिपाः रश्मिवाचक निघ०,१.५.११.	वेद के अनुसार सुभव की प्राप्ति 'मरीचिपा' से होती है। सम्भवतः, अदिति के अष्टम पुत्र मार्तण्ड से सम्बन्धों के कारण रश्मियों को 'मरीचि' कहा गया है और सम्भवतः, इसी कारण से मरुत् का उक्त नाम प्रसिद्ध हुआ है।	'मृ'+'पा' इन दो धातुओं के संयोग से।
१२.	मयूखाः रश्मिवाचक निघ०,१.५.१२.	सृष्टिसृजनरूप कर्म करने वाली रश्मियों को वेद 'मयूख' नाम से अभिहित करता है।	प्रक्षिपित होने के स्वभाव को देखते हुए प्रक्षेपण अर्थ वाली 'मि' धातु से व्युत्पन्न करना उचित है।
१३.	सप्तऋषयः रश्मिवाचक	वेद के अनुसार 'सप्तऋषयः' बृहस्पति की भीमा जाया को परम व्योम में कठिनाई से धारण करते हैं। ये रश्मियाँ	शब्द का अर्थ है:-सर्पण करने वाली रश्मियाँ।

	निघ०,१.५.१३.	आदित्यमण्डल में जाकर एक हो जाती हैं और ऋषि इनके अधिपति के रूप में विश्वकर्मा का उल्लेख करता है। लेकिन वेद प्रतिपादित अर्थ की प्रतीति शब्द से नहीं होती है।	इसके अनुसार 'सप्तन्+'ऋष्' गतौ' धातु।
१४.	साध्या: रश्मिवाचक निघ०,१.५.१४.	साध्यों को वेद सृष्टि उत्पत्तिकालीन देवों के रूप में चित्रित करता है। ये साध्यदेव यज्ञपुरुष से उत्पन्न होते हैं और यज्ञीय हवि का भक्षण करते हैं। ब्राह्मण इसका सम्बन्ध सूर्य से मानते हैं। यास्क ने इन्हें द्युस्थानी माना है, पर रश्मिवाचक मानना सन्दिग्ध प्रतीत होता है।	कार्य को सिद्ध करने के कारण ये 'साध्य' कहलाते हैं। अत:, 'साध्' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है।
१५.	सुपर्णा: रश्मिवाचक निघ०,१.५.१५.	वेद में 'सुपर्ण' नामक आदित्यरश्मि प्राणप्रद, ऊपर से नीचे की ओर जाने वाली तथा चन्द्रमा के भीतर दौड़ने वाली है। उत्पतन अध:पतन इनकी प्रमुख विशेषता है	पालन करने के स्वभाव वाली होने से इनको 'पृ' पालनपूरणयो:' से धातु व्युत्पन्न करना समीचीन है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि उक्त रश्मिवाचक गण में निघण्टुकार ने १५ पदों का परिगणन किया है। इनको हम अध्ययन की दृष्टि से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं:-१. रश्मिवाचक नामपद, २. अन्यवाचक नामपद। वैदिक साहित्य के अध्ययन के आधार पर निम्न पदों को रश्मिवाचक माना जा सकता है:-**१. खेदय:, २. किरणा:, ३. गौ:, ४. रश्मय:, ५. अभीशव:, ६. गभस्तय:, ७. वनम्, ८. उस्रा:, ९. मरीचिपा:, १०. मयूखा:, ११. सप्तऋषय:, १२. सुपर्णा:।** शेष तीन अन्यवाचक नामपदों में **'दीधिति'** पद वेद में प्राण एवं बल की दात्री के रूप में चित्रित हुआ है। **'वसव:'** भूलोक और देवलोक के देव माने गये हैं, उनमें 'सूर्यरश्मि' को भी सम्मिलित किया जा सकता है। **'साध्या:'** वेद में सृष्ट्युत्पत्तिकालीन एवं द्युस्थानी देवों के रूप में चित्रित हुआ है।

इसके अतिरिक्त गठन सम्बन्धी विशेषताओं के ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि उक्तगण का गठन सामान्यरूप से मर्यादित है, रश्मिवाचक गण के सभी पद बहुवचनान्त पठित हैं, लेकिन 'वनम्' पद एकवचनान्त पठित है। केवल इस एक स्थान पर कुछ शिथिलता के दर्शन होते हैं। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि रश्मिवाचक नामपदों में कुछ पद ऐसे हैं, जो देवता वाचक हैं तथा शेष सामान्य पद हैं। कुछ को देवता मानना और शेष को न मानने का कारण अस्पष्ट है। सम्भवत:, कुछ पद अन्य पदों की अपेक्षा ऋषि की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण हैं।

तृतीय अध्याय

दिशावाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के षष्ठ गण में निघण्टुकार ने दिशावाचक आठ नामपदों का समाम्नान किया है।

१. आता:

निघण्टुकोष के दिशावाचक नामपदों में 'आता:' पद सर्वप्रथम समाम्नात है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'आता:' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**आङ्पूर्वादततेर्गतिकर्मण:। आभिमुख्येन गम्यन्ते प्राणिभिस्तं तं कार्य्यं प्रति**"[२] कि 'आङ्' पूर्वक 'अत्' धातु से 'आता:' पद निष्पन्न होता है। प्राणियों के तत्तत् कार्य के लिये ये आमने—सामने होकर जाती हैं, अत: इनको 'आता:' कहा जाता है।

(ख)"यद्वा, आङ्पूर्वात् तनोते:। आ तता:=आता:"[३] कि 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक 'तन्' धातु से 'आता:' पद सिद्ध होता है। चारों ओर विस्तृत दिशायें 'आता:' कहलाती हैं।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'आता:' पद को 'मुहाठ' नाम से ख्यात द्वार के प्रतिष्ठात्मक काष्ठ का वाचक स्त्रीलिङ्ग नामपद मानता है। कोशकार उक्त पद को अव्युत्पन्न मानते हैं।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[५]

वैदिक साहित्य में 'आता:' का प्रयोग बहुत अल्प हुआ है। ऋग्वेद में मात्र इसका तीन बार उल्लेख आया है। ऋषि कहता है कि वृत्र से तिरोहित, सम्पूर्ण प्राणिसमूह को धारण करने वाला, विनाशरहित उदक, द्युलोक से विस्तृत दिशाओं में इन्द्र द्वारा स्थापित किया जाता है।[६] एक अन्य मन्त्र कहता है कि द्युलोक की विस्तृत दिशाओं में प्रकाशक तेज के साथ उषा प्रकाशित होती है और कृष्णवर्णा रात्रि को दूर भगा देती है।[७] एक दूसरे स्थान पर ऋषि कहता है कि कामनाओं का पूर्तिकर्ता, इन्द्र के हाथों से पीठ पर स्पर्श किए जाने पर द्युलोक से आने तथा शत्रुओं का विनाश करने वाले अश्व सभी दिशाओं में कार्यों को सिद्ध करते हैं।[८]

---

१ निघ० १.६.१.

२ निघ०वृ०, १.६.१.

३ निघ०वृ०, १.६.१.

४ वै०पद०को०, पृ० ६३७.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ९०.

६ ऋ० १.५६.५. "वि यत्तिरो धरुणमच्युतं रजोऽतिष्ठिपो दिव आतासु बर्हणा।"

७ ऋ० १.११३.१४. "व्य१ञ्जिभिर्दिव आतास्वद्यौदप कृष्णां निर्णिजं देव्याव:।"

८ ऋ० ३.४३.६. "प्र ये द्विता दिव ऋञ्जन्त्याता: सुसंमृष्टासो वृषभस्य मूरा:।"

उपर्युक्त विश्लेषण यह सिद्ध हो जाता है कि 'आताः' एक दिशावाचक नामपद है। यह सम्भवतः, द्युलोक की दिशाओं के लिये प्रयुक्त होता है, इस तथ्य की पुष्टि उपर्युक्त तीनों मन्त्रों में आये 'दिवः' पद से हो जाती है। पृथिवी की अपेक्षा द्युलोक के विस्तृत होने से उक्तपद को विस्तार अर्थ वाली 'तन्' धातु से निष्पन्न करना समीचीन प्रतीत होता है। सायण ने भी 'आतासु' का अर्थ 'आततासु विस्तृतासु' किया है।[१] एक स्थान पर वे 'अत' सातत्यगमने' धातु से भी व्युत्पन्न करते हुये निम्न निर्वचन प्रस्तुत करते हैं:-''**आभिमुख्येन गम्यन्ते प्राणिभिस्तत्तत्कार्यं प्रति इत्याताः**''।[२] इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि 'आताः' विस्तृत दिशावाचक नामपद है।

२. आशाः

निघण्टुकोष के दिशावाचक नामपदों में 'आशाः' पद समाम्नात है।[३] आचार्य यास्क 'आशा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**आशा दिशो भवन्ति। आसदनात्**''[४] आशा शब्द दिशावाचक है। इसका कारण यह है कि कोई पदार्थ इनसे दूर नहीं है अर्थात् सब कुछ इनके समीप है या दुर्ग के अनुसार ये एक दूसरे के आमने सामने स्थित हैं,[५] अतः, ये 'आशा' नाम से अभिहित होती हैं। इस पक्ष में 'आ+'सद्' से 'आशा' पद सिद्ध होता है।

(ख)''**आशा उपदिशो भवन्ति। अभ्यशनात्**''[६] कि आशा का अर्थ उपदिशायें भी होता है। इसका कारण यह है कि ये परस्पर व्याप्त रहती हैं। इस पक्ष में 'अभि+'अश्' धातु से 'आशा' पद व्युत्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'आशा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**आङ्पूर्वात् 'शद्लृ' शातने' इत्ययमत्र गत्यर्थः, अनेकार्थत्वाद्धातूनाम्। तं तमर्थं प्रत्यागमनात्**''[७] कि 'आङ् पूर्वक 'शद्' (गत्यर्थक) धातु से 'ड' प्रत्यय होकर 'आशा' पद निष्पन्न होता है। ये दिशायें तत्तत् अर्थ के प्रति आती हैं, अतः, इनको 'आशा' कहा जाता है। सामान्य रूप से व्यवहार होता है कि यह दिशा कहाँ जाती है? उत्तरयिता पूर्वादि दिशाओं का नाम लेता है। सम्भवतः, देवराजयज्वन् भी इसी अर्थ में दिशाओं के जाने की बात कह रहे हैं।

(ग)''यद्वा, आ इत्येषोऽभीत्यस्यार्थे वर्त्तते। 'अशू' व्याप्तौ'। आशा उपदिशो भवन्त्यभ्यशनात्, परस्परादिभिः संव्याप्तेः''[८] कि ये परस्पर समान रूप से व्याप्त रहती हैं, अतः, उपदिशायें आशा कहलाती हैं। यहाँ 'आङ्' उपसर्ग 'अभि' उपसर्ग के अर्थ में वर्तमान है। इस पक्ष में 'आ+'अश्'+घञ्' से 'आशा' शब्द सिद्ध होता है। आचार्य क्षीरस्वामी भी इसी प्रकार का निर्वचन करते हैं:-''आ अश्नुवते आशाः।''[९] अथर्ववेद

---

१ ऋ०सायण भा०, १.५६.५; ११३.१४.

२ ऋ०सायण भा०, ३.४३.६.

३ निघ० १.६.२.

४ निरु० ६.१.

५ दुर्ग,निरु० ६.१.

६ निरु० ६.१.

७ निघ०वृ०, १.६.२.

८ निघ०वृ०, १.६.२.

९ निघ०वृ०, १.६.२.

से भी इस मत की पुष्टि हो जाती है।[१]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'आशा' पद को दिशावाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्त पद को अव्युत्पन्न मानती है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा 'आ+'अश्' धातु वाले निर्वचन को तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा स्वीकार किये जाने की सम्भावना व्यक्त करते हैं। उनके अनुसार भारोपीय भाषा में 'enek' पहुँचने अर्थ में तथा ग्रीक में 'enenkein' ले जाने अर्थ में है। जबकि 'आ+'सद्' धातु वाले निर्वचन को वे असङ्गत मानते हैं।[४]

वैदिक साहित्य में 'आशा' का अनेकशः का प्रयोग हुआ है। ऋषि कहता है कि जब मरुत् स्थिर वस्तु को भग्न करते हैं और गुरु वस्तु को अपने स्थान से हटा देते हैं, तब वन वाली पृथिवी के पर्वतों की दिशायें बँट जाती हैं।[५] एक अन्य ऋषि कहता है कि इन्द्र सभी दिशाओं से अभय प्रदान करे।[६] कहीं ऋषि कहता है कि हमारे द्वारा स्तुत ऋभुगण समस्त दिशाओं में पार करने की सामर्थ्य प्रदान करें।[७] ऐसा ही भाव एक अन्य ऋषि व्यक्त करता हुआ कहता है कि पूषा देव सभी दिशाओं को जानते हैं, अतः, वे हमें भयरहित मार्ग से ले जायें।[८] अथर्ववेद का ऋषि प्रार्थना करता हुआ कहता है कि हमें मित्र और शत्रु, ज्ञात और अज्ञात, दिवस और रात्रि- सभी से अभय बनाओ। यहाँ तक कि सम्पूर्ण दिशायें मेरी मित्र बन जायें।[९] ऋग्वेद में सृष्टि-उत्पत्ति-प्रक्रिया का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है कि देवों के प्रथम युग में पहले असत् से सत् और उसके पश्चात् उससे आशा तथा उसीसे सूर्य उत्पन्न होता है।[१०] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि सूर्य से भू उत्पन्न होती है और उस भू से आशा का जन्म होता है।[११] विधृति ऋषि अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि यह समस्त दिशाओं को आलोकित करता हुआ प्रकाशित हो।[१२] तैत्तिरीय-संहिता विष्णु को आशाओं का पति बतलाती है।[१३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक ऋषि की दृष्टि में 'आशा' वह है

---

१ अथर्व०, ५.७.९. ''विश्वा आशा व्यानशे।''

२ वै०पद०को०, पृ० ७१८.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० १०४.

४ दि एटीमोलीजीज ऑफ यास्क, पृ० ६२, ११९.

५ ऋ० १.३९.३. ''परा ह यत्स्थिरं हथ नरो वर्तयथा गुरु। वि याथन वनिनः पृथिव्या व्याशाः पर्वतानाम्।''

६ ऋ० २.४१.१२. ''इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्।''

७ ऋ० ४.३७.७. ''अस्मभ्यं सूरयः स्तुता विश्वा आशास्तरीषणि।''

८ ऋ० १०.१७.५. ''पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।''

९ अथर्व०, १९.१५.६. ''अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।''

१० ऋ० १०.७२.३. ''देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत। तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि।''

११ ऋ० १०.७२.४. ''भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।''

१२ यजु०, १७.६६. ''विश्वा आशा दीद्यानो विभाह्यूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे।''

१३ तै०सं० ३.११.४.१. ''विष्णवाशानां पते।''

जिससे भय की प्राप्ति होती है, सम्भवतः, इसलिये ऋषि बार—बार आशाओं से अभय की प्रार्थना करता है। इसका कारण यह है कि ऋषि को शून्य दिशायें भयप्रद दिखायी देती हैं। इस दृष्टि से 'अश्' व्याप्तौ' धातु की अपेक्षा 'अश्' भोजने' धातु से 'आशा' शब्द को व्युत्पन्न करना समीचीन प्रतीत होता है।

३. उपराः

निघण्टुकोष के दिशावाचक नामपदों में 'उपराः' पद पठित है।[१] निघण्टुकोष में 'उपर' शब्द दिग्वाचक के अतिरिक्त मेघवाचक नामपदों में भी परिगणित है।[२] लेकिन आचार्य यास्क मेघ और पर्वत इन दोनों अर्थों का वाचक नामपद मानकर 'उपर' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**उपर उपलो मेघो भवति, उपरमन्तेऽस्मिन् अभ्राणि**''[३] कि 'उपल' और 'उपर' का अर्थ मेघ होता है, क्योंकि इसमें मेघ रमण करते हैं, इसलिये पर्वत को 'उपर' कहते हैं। इस पक्ष में 'उप+'रम्' से 'उपर' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''उपरता आप इति वा''[४] कि इसमें उदक रमण करते हैं, अतः, मेघ को 'उपर' कहते हैं। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'उपर' पद सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् दिग्वाचक 'उपर' का निर्वचन करते हुये कहते हैं:-''**उपरमन्ते आस्वभ्राणि प्राणिनो वा स्वस्वव्यापारेभ्यः**''[५] कि अपने—अपने व्यापारों के द्वारा इन दिशाओं में मेघ अथवा प्राणी रमण करते हैं, इसलिये दिक् को 'उपर' कहते हैं। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'उपर' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'उपराः' पद को इन्दु, रजस्, रथ, भूमि प्रभृति का विशेषण तथा नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। यास्क 'उप+'रम्' धातु से व्युत्पन्न मानते हैं, तो पेटरसन 'उप' से तथा स्कन्द एवं सायण 'उपरि' से व्युत्पन्न करने के पक्ष में है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्त पद को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स 'उपर' को 'उप' के अर्थ में मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह शब्द नीचे स्थित, नीचे, परवर्ती, अधिक, सदृश, अनुरूप, सन्निकट अर्थ में आया है।[८] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि उक्त शब्द की व्युत्पत्ति बहुत कम अस्पष्ट है, परन्तु 'उपर' शब्द 'उपरि' के अर्थ का वाचक था, जो लाक्षणिकरूप से मेघ के लिये परिवर्तित हो गया है।[९]

वैदिक साहित्य में दिग्वाचक 'उपर' का प्रयोग अल्प हुआ है। ऋषि कहता है कि कुटिलतायुक्त स्थानों में मधुरजल वाली नदियाँ चारों दिशाओं को सींचती हैं।[१०] एक अन्य ऋषि कहता है कि उस अग्नि के

---

१ निघ० १.६.३.

२ निघ० १.१०.१८.

३ निरु० २.२१.

४ निरु० २.२१.

५ निघ०वृ०, १.६.३.

६ वै०पद०को०, पृ० ९३७.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० १४३.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २०४.

९ दि एटीमोलीजीज ऑफ यास्क, पृ० १२८.

१० ऋ० १.६२.६. ''उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन्मध्वर्णसो नद्य१श्चतस्रः।''

लिये अन्न दिशाओं में रखते हैं।[१] एक दूसरे स्थान पर ऋषि कहता है कि गमनशील तीन लोक दिशाओं में और दो लोक गुहा में निहित हैं तथा इन सबका एक ही आधार है।[२] कुछ ऐसा ही वक्तव्य एक अन्य ऋषि देता हुआ कहता है कि इसके अन्दर तीन द्युलोक, तीन भूमियाँ स्थित हैं तथा षट् ऋतुएँ दिशाओं में विद्यमान हैं।[३] कहीं यह कहा गया है कि मनुष्य के समान दिशाओं में स्थित प्रजाओं में सोम को देता हूँ।[४] एक स्थान पर ऋषि दिशा के स्वरूप को स्पष्ट करता हुआ कहता है कि दिव्य पदार्थों के निर्माण काल में मुख्यरूप से कारण पदार्थ रहते हैं। उनके छेदन-भेदन से दिशायें प्रकट होती हैं।[५]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह दिशा 'उपर' है, जिसमें द्युलोक, पृथिवी आदि समस्त लोक रहते हैं। इस प्रकार वेद में 'उपर' पद 'निकटता' या 'उच्चस्थिति' का बोध करा रहा प्रतीत होता है। उक्त प्रमाणों से 'उपर' का विशेष स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। निर्वचन को दृष्टि में रखते हुये यह अवश्य कहा जा सकता है कि जिसमें प्राणी रमण करते हैं, वह 'उपर' है। उपर शब्द की व्युत्पत्ति अस्पष्ट है, सम्भावना यह है कि उक्तपद का 'उप' या 'उपरि' के साथ सम्बन्ध है।

४. आष्ठाः

निघण्टुकोष के दिग्वाचक नामपदों में 'आष्ठाः' पद पठित है।[६] आचार्य देवराजयज्वन् 'आष्ठाः' का निर्वचन करते हुये कहते हैं:-"**आङ् तिष्ठतेः। आ समन्ताद् स्थीयते आभिः**"[७] कि ये दिशायें चारों ओर स्थित होती हैं, अतः, इन्हें 'आष्ठाः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'आ+'स्था'+क' से 'आष्ठा' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक साहित्य में 'आष्ठाः' पद का उल्लेख सर्वथा नहीं हुआ है,[८] वैदिक-पदानुक्रम-कोष के आधार पर यह कहा जा सकता है। आचार्य देवराजयज्वन् भी उक्त पद के विषय में '**निगमोऽन्वेषणीयः**' कहते हैं।[९] अतः, इसे दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि देवराजयज्वन् के काल में भी ऐसा वैदिक साहित्य उपलब्ध नहीं था, जिसमें उक्तपद का प्रयोग हुआ हो। इसलिये देवराजयज्वन् से पूर्व इस प्रकार का साहित्य लुप्त हो चुका था, स्वीकार किया जा सकता है।

५. काष्ठाः

निघण्टुकोष के दिग्वाचक नामपदों में 'काष्ठाः' पद समाम्नात है।[१०] आचार्य यास्क 'काष्ठा' का

---

१ ऋ० १.१२७.५. "तमस्य पृक्षमुपरासु धीमहि।"

२ ऋ० ३.५६.२. "तिस्रो महीरुपरास्तस्थुरत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्येका।"

३ ऋ० ७.८७.५. "तिस्रो द्यावा निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमिरुपराः षड्विधानाः।"

४ ऋ० ४.३७.३. "जुह्वे मनुष्यवदुपरासु विक्षु युष्मे सचा बृहद्दिवेषु सोमम्।"

५ ऋ० १०.२७.२३. "देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन् कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्।"

६ निघ० १.६.४.

७ निघ०वृ०, १.६.४.

८ वै०पद०को०, पृ० ७३५.

९ निघ०वृ०, १.६.४.

१० निघ० १.६.५.

निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**काष्ठा दिशो भवन्ति, क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। काष्ठा उपदिशो भवन्ति, इतरेतरं क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति**''[१] कि काष्ठा दिशा को कहते हैं, क्योंकि ये तत्तत् पदार्थ के प्रति पहुँचकर स्थित होती हैं, ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ ये नहीं होती हैं। उपदिशा भी काष्ठा कहलाती हैं, इसका कारण यह है कि ये एक-दूसरे को लाँघकर दिशाओं के साथ स्थित होती हैं। इसी प्रकार यास्क ने आप:, और आदित्य को भी काष्ठा के साथ सम्बद्ध किया है। इस पक्ष में 'क्रम्'+'स्था' इन दो धातुओं के संयोग से 'काष्ठा' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'काष्ठा' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**काष्ठा दिशो भवन्ति (निरु०,२.१५.) इत्यत्र स्कन्दस्वामी-क्रान्त्वा सर्वमतीत्य स्थिताः आकाशवद् व्यतिरेकपक्षे। अव्यतिरेकपक्षे त एव शब्दादयः सर्वत्र सन्ति**''[२] कि काष्ठा दिशा होती है। व्यतिरेकपक्ष में यह आकाश के समान सबको लाँघकर स्थित होती है, जबकि अव्यतिरेकपक्ष में वे ही शब्दादि सर्वत्र हैं और समान रूप से स्थित हैं। इस पक्ष में 'क्रम्'+'स्था' से 'काष्ठा' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''वैय्याकरणपक्षे तु 'काशृ' दीप्तौ'। काशन्ते दीप्यन्ते काष्ठाः''[३] वैयाकरण पक्ष के अनुसार 'काष्ठा' शब्द 'काशृ' दीप्तौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। प्रकाशित होने से दिशायें 'काष्ठा' कहलाती हैं। उणादिकोष इसी प्रकार के काष्ठा पद व्युत्पन्न करने के पक्ष में है।[४]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'काष्ठा' पद को दिशा और अप् प्रभृति का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स कहते हैं कि ऋग्वेद में 'काष्ठा' शब्द दौड़ने और घुड़दौड़ के स्थान के लिये आया है, साथ में वायु और मेघपथ के लिये भी व्यवहृत हुआ है। वाजसनेयि-संहिता, तैत्तिरीय-संहिता एवं शतपथ-ब्राह्मण में यह शब्द लक्ष्य और सीमा अर्थ में है।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का कहते हैं कि राजवाड़े के अनुसार मूलतः, 'काष्ठा' का अर्थ 'चारों ओर से घिरा हुआ क्षेत्र' के अर्थ में है। लेकिन ऋग्वेद में यह घुड़दौड़ का मैदान' हो सकता है, इस शब्द के सदृश अनेक शब्द भारोपीय भाषाओं में प्राप्त होते हैं, उदा०, लैटिन में 'curro' भागनेके अर्थ में है, इसलिये भारोपीय भाषा में 'krsa' है।[८]

वैदिक साहित्य में 'काष्ठा' पद का पर्याप्त प्रयोग देखने को मिलता है। ऋषि कहता है कि वैश्वानर

---

१ निरु० २.१५.

२ निघ०वृ०, १.६.५.

३ निघ०वृ०, १.६.५.

४ उणा०, २.२. ''हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्।''

५ वै०पद०को०, पृ० ११०८.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० १६७.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २८१.

८ दि एटीमोलीजीज ऑफ यास्क, पृ० ९६.

अग्नि ने रसों के उपक्षयिता शम्बर (मेघ) को मार डाला और दिशाओं को कँपा दिया।[१] एक अन्य ऋषि इन्द्र की स्तुति करता हुआ कहता है कि हमारे अश्वों को जाने के लिये दिशाओं को विवृत कर दो और अपने कठोर वज्र से शत्रुओं का संहार कर डालो।[२] कहीं ऋषि कहता है कि यह अग्नि सभी दिशाओं को देखने की इच्छा वाला है।[३] एक दूसरा ऋषि कहता है कि उदक की धारा अपनी तरङ्गों से दिशाओं को सींचती हुई भेदती है।[४] एक अन्य मन्त्र में प्रार्थना करते हुये कहा गया है कि किसी प्रकार की निन्दा प्राप्त न हो, सभी दिशायें विस्तृत हों तथा धन हितकारी हो।[५] एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि बलशाली लोग दिशाओं को वश में कर लेते हैं।[६]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'काष्ठा' वह दिशा है, जिसमें दिशाओं के अन्तिम छोर को प्रतिबिम्बित किया जाता है। कहने का आशय यह है कि पराकाष्ठा के अर्थ में वेद में 'काष्ठा' का प्रयोग हुआ है। निर्वचन से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।

६. व्योम

निघण्टुकोष के दिग्वाचक नामपदों में 'व्योमन्' पद पठित है।[७] आचार्य यास्क अन्तरिक्ष वाचक 'व्योमन्' का निर्वचन '**व्यवने**' से करते हैं।[८] उनके अनुसार 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'अव्' धातु से 'व्यवन' और 'व्यवन' से 'व्योमन्' शब्द निष्पन्न होता है। विशेष रूप से रक्षा करने के कारण अन्तरिक्ष को 'व्योम' कहा जाता है।[९]

आचार्य दुर्ग कहते हैं:-"**विविधमस्मिन् शब्दजातमोतमिति व्योम**"[१०] कि विविध शब्द समूह इसमें व्याप्त हैं, अत:, अन्तरिक्ष को 'व्योम' कहते हैं। आचार्य देवराजयज्वन् भी दुर्ग के उक्त निर्वचन का समर्थन करते हुए कहते हैं:-"**संव्रियते तद्वायुना व्योम**"[११] कि वायु से संवृत होने के कारण दिशा 'व्योम' कहलाती है। इस पक्ष में संवरण अर्थ वाली 'व्येञ्' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय होकर 'व्येमन्' और उससे 'व्योमन्' निष्पन्न होता है। उक्त निर्वचन उणादिकोष पर आधारित है।[१२]

(ख) दिग्वाची 'व्योमन्' का आचार्य माधव के अनुसार निर्वचन प्रस्तुत करते हुए देवराजयज्वन्

---

१ ऋ० १.५९.६. "वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत् काष्ठा अव शम्बरं भेत्।"

२ ऋ० १.६३.५. "व्य१स्मदा काष्ठा अर्वते वर्धनेन वज्रिञ्छ्नथिह्यमित्रान्।"

३ ऋ० १.१४६.५. "दिदृक्षेण्य: परि काष्ठासु जेन्य ईळेन्यो महो अर्भाय जीवसे।"

४ ऋ० ४.५८.७. "घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमाना।"

५ ऋ० ८.८०.८. "मा सीमवद्य आ भागुर्वी काष्ठा हितं धनम्।"

६ ऋ० ९.२१.७. "एत उ त्ये अवीवशन् काष्ठां वाजिनो अक्रत।"

७ निघ० १.६.६.

८ निरु० ११.४०; १३.१०.

९ निरु० ११.४०.

१० दुर्गवृ०,निरु० ११.४०.

११ निघ०वृ०, १.६.६.

१२ उणा०, ४.१५२.

कहते हैं:-''अञ्जेर्वा मनिन्। विविधं ओममन्नमस्मिन् विद्यते''[१] कि इसमें विविध प्रकार का अन्न विद्यमान है, अतः, दिशा को 'व्योम' कहते हैं। इस पक्ष में 'अञ्ज्' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय होकर 'व्योमन्' शब्द सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष के अनुसार यह आकाश वाचक नामपद है। कोषकार उक्तपद का विग्रह 'वि+ओमन्' करते हुए 'ओमन्' का मूल 'अव' रक्षणे=निवासे' धातु को मानता है। ग्रासमैन 'व्ये' संवरणे' धातु से 'व्योमन्' पद को निष्पन्न करने के पक्ष में हैं।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'वि+ओमन्' से 'व्योमन्' को उपपन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स 'व्योमन्' पद की निम्न तीन व्युत्पत्तियाँ प्रदर्शित करते हैं:-'व्ये' या 'वि+'अव्' या 'वे'। उनके अनुसार ऋग्वेद में व्योमन् पद स्वर्ग, आकाश, अन्तरिक्ष और वायु अर्थ में आया है।[४] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा व्योमन् पद के विषय में कहते हैं कि आचार्य दुर्ग ने 'व्यवन' को अविगृहीत पद माना है। उक्त 'व्यवन' को विगृहीत माना या अविगृहीत, दोनों ही स्थितियों में उक्त निर्वचन अस्पष्ट है। सम्भवतः, यास्क का आशय यह है कि 'व्योमन्' वह है जो सर्वत्र व्याप्त हो।[५] इस प्रकार डॉ. वर्मा उक्त यास्कीय निर्वचन को अस्पष्ट मानते हैं।

वैदिक साहित्य में 'व्योमन्' का पर्याप्त प्रयोग हुआ है, लेकिन दिशावाची 'व्योमन्' का वर्णन वेद में नहीं हुआ है। आचार्य देवराजयज्वन् भी इसी मत के समर्थक हैं।[६] जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है कि जो देव प्रजापति से अर्वाक् हैं, वे ही व्योम हैं।[७] ब्राह्मण के कथन का आशय यह प्रतीत होता है कि सूर्य से नीचे रहने वाली दिशायें व्योम हैं। निघण्टुकोष में यह पद दिग्वाचक के अतिरिक्त अन्तरिक्ष और उदक के अर्थ में भी परिगणित हुआ है।[८] निर्वचन की दृष्टि से यास्ककृत 'वि+'अव्' से दिग्वाचक व्योमन् को निष्पन्न करना समीचीन नहीं है, क्योंकि यास्कगृहीत 'अव्' धातु का अर्थ दिशा से मेल नहीं खाता है। देवराजयज्वन् का प्रथम निर्वचन रूप की दृष्टि से और द्वितीय निर्वचन अभिधेय की दृष्टि से सङ्गत है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि निघण्टुकोष के परिगणन के समय जिस वैदिक साहित्य में यह पद प्रयुक्त रहा होगा, वह आज उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार यह निष्कर्ष रूप में यह कहा जासकता है कि निघण्टुकारकालीन वैदिक साहित्य आज पूर्णरूप से उपलब्ध नहीं है।

७. ककुभः

निघण्टुकोष के दिग्वाचक नामपदों में 'ककुभः' पद पठित है।[९] दैवत-ब्राह्मण के अनुसार 'ककुप्'

---

१ निघ०वृ०, १.६.६.

२ वै०पद०को०, पृ० ३०४६.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ५१५.

४ संस्कृत-इंग्लिशकोष, पृ०, १०४१.

५ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १४५.

६ निघ०वृ०, १.६.६.

७ जै०ब्रा०, २.८८. ''एष उ ह वै व्योमा येऽर्वाञ्चः प्रजापतेर्देवाः।''

८ निघ० १.३.३; १२.५४.

९ निघ०वृ०, १.६.७.

का निर्वचन निम्न है:-''**ककुप् च कुब्जश्च कुजतेर्वा**''[१] ककुप् और कुब्ज कुटिलता अर्थ वाली 'कुज्' से निष्पन्न होते हैं। ककुद् के शिखर की तरह ऊँचा होने के कारण ककुप् कहा जाता है। इस पक्ष में 'कुज्' +'कुज्' से 'ककुज्' और उससे 'ककुभ्' पद सिद्ध होता है।

(ख)''**उब्जतेर्वा**''[२] कि 'ककुप्' शब्द न्यग्भाव वाली 'उब्ज्' धातु से व्युत्पन्न होता है। ककुद् के समान पार्श्वप्रदेश के निम्न होने से इसे ककुप् कहा जाता है। इस पक्ष में 'उब्ज्'=उब्ज= 'ज्उब्'='जुब्'='कुभ'='ककुभ' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'ककुप्' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**ककुभ ककुभिनी भवति**''[३] कि ककुभ् छन्द के पादों में मध्यवर्ती पाद अधिक अक्षरों वाला होने से ककुद् (शिखर) की तरह उठा हुआ होता है, अत:, उसे 'ककुभ्' कहा जाता है। शेष दो निर्वचन यास्क ने दैवत-ब्राह्मण के समान दिये हैं।[४]

आचार्य देवराजयज्वन् दिग्वाचक 'ककुभ्' का निर्वचन करते हुए हैं:-''**ककुभ्नाति विस्तारयतीति ककुप्- इति क्षीरस्वामी**''[५] कि विस्तृत होने के कारण दिशा को 'ककुभ्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'कुभ' विस्तारे' धातु से 'ककुभ्' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''**ककुप् कुभेरुच्छ्रयार्थात् उच्छ्रिता इव हि दिशो वृक्षाग्रेषूपलभ्यमाना:- इति माधव:**''[६] कि उच्छ्रय अर्थवाली 'कुभ्' धातु से 'ककुभ्' शब्द सिद्ध होता है। वृक्षाग्र से जानी जाती हुई दिशायें उच्छ्रित जैसी होती हैं। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

(ग)''**केन प्रजापतिना विस्तारिता इति वा**''[७] कि 'क' नामक प्रजापति के द्वारा विस्तारित की गयीं, अत:, दिशायें 'ककुभ्' कहलाती हैं। इस पक्ष में 'क+'कुभ्' से 'ककुभ्' शब्द निष्पन्न होता है। मोनियर विलियम्स 'ककुप्' की 'ककुद्' से तुलना करते हैं, उनकी दृष्टि में 'ककुद्' से 'ककुप्' निष्पन्न हुआ है।[८] इन दोनों शब्दों में पर्याप्त अर्थ साम्य है तथा आचार्य यास्क भी 'ककुप्' को 'ककुभिनी' बताकर ऐसा ही सङ्केत देते हैं।[९]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'ककुभ्' शब्द को छन्दस् प्रभृति का वाचक नामपद मानता है। पदपाठकार उक्तपद को अनवगृहीत रूप में उद्धृत करता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[१०] ऋग्वेद-

---

१ दै०ब्रा०, ३.६.
२ दै०ब्रा०, ३.६.
३ निरु० ७.१२.
४ निरु० ७.१२.
५ निघ०वृ०, १.६.७.
६ निघ०वृ०, १.६.७.
७ निघ०वृ०, १.६.७.
८ संस्कृत-इंग्लिशकोष, पृ० २४१.
९ निरु० ७.१२.
१० वै०पद०को०, पृ० १०८१.

वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[१]

वैदिक साहित्य में 'ककुभः' का प्रयोग बहुत अधिक नहीं हुआ है। ऋषि कहता है कि सवितादेव पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाली आठ दिशायें, तीन अन्तरिक्ष और सप्त सिन्धुओं को प्रकाशित करता है।[२] एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि बल की कामना करता हुआ इन्द्र स्थिर मेघों को भग्न कर देता है और मेघों की दिशाओं को भेद डालता है।[३] कहीं ऋषि कहता है कि एक ही मातृभूमि के, एक जैसे तेजवाले मरुद्गण, समान जाति वाले बन्धुओं से मिलकर परस्पर प्रेम करते हैं।[४] एक स्थान पर ऋषि कहता है कि दर्शनीय वरुणदेव ने पृथिवी पर दिशाओं का धारण या निर्धारण किया है, वही वरुण सबका निर्माता है।[५] एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि विष्णुदेव दर्शनीय और महान् नाक लोक को ऊपर स्थापित तथा पृथिवी की पूर्वदिशा को धारण किये हुये हैं।[६] कहीं ऋषि इन्द्र का स्तवन करता हुआ कहता है कि इन्द्र प्रकाशमान सूर्य द्वारा वर्षार्थ अप्रवृत्त मेघों को सभी दिशाओं में प्राणियों को जीवन देने के लिये प्रेरित करता है।[७] यजुर्वेद का ऋषि कहता है कि प्रजापति का ककुभ वाला रूप अच्छा लगता है।[८] एक अन्य स्थान पर यजुर्वेद का ऋषि कहता है कि सिञ्चन करने वाली अवस्था ककुप् नाम का छन्द है।[९] मैत्रायणी-संहिता कहती है कि ऋषभ ककुभ में प्राप्त होते हैं।[१०]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद 'ककुभ' की सङ्ख्या आठ मानता है। इसके अतिरिक्त 'ककुभ' का सम्बन्ध सूर्य (वरुण, विष्णु) से है, सम्भवतः, इसलिये ऋषि इसका सम्बन्ध प्राची दिशा से मानता है। यजुर्वेद ककुभ का आशय वर्षा और विस्तार से जोड़ता है। निर्वचन की दृष्टि से ककुभ और ककुद् समान मूल के प्रतीत होते हैं। ककुद् (शिखर) का अर्थ ककुभ में भी दृष्टिगत होता है। वेद में भी यह पद पर्वत, नाक, मरुत् आदि से सम्बद्ध दिखायी देता है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि ककुभ वह दिशा है, जिसमें उच्चस्थ पदार्थों के आधार पर दिशा निर्धारित की जाती है।

८. हरितः

निघण्टुकोष के दिग्वाचक नामपदों में 'हरितः' पद समाम्नात है।[११] आचार्य यास्क 'हरितः' का

---

१ ऋ०वै०पद०, पृ० १६३.

२ ऋ० १.३५.८. "अष्टौ व्यख्यत्ककुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून्।"

३ ऋ० ४.१९.४. "दृळहान्यौभ्नादुशमान ओजोऽवाभिनत्ककुभः पर्वतानाम्।"

४ ऋ० ८.२०.२१. "गावश्चिद्धा समन्यवः सजात्येन मरुतः सबन्धवः। रिहते ककुभः मिथः।"

५ ऋ० ८.४१.४. "यः ककुभो निधारयः पृथिव्यामधि दर्शतः।"

६ ऋ० ७.९९.२. "उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभः पृथिव्याः।"

७ ऋ० ५.४४.२. "श्रिये सुदृशीरुपरस्य याः स्वर्विरोचमानः ककुभामचोदते।"

८ यजु०, ८.४९. "ककुभः रूपं वृषभस्य रोचते।"

९ यजु०, १४.९. "उक्षा वयः ककुप् छन्दः।"

१० मै०सं० ३.१३.१८. "ऋषभा ककुभे (आलभ्यन्ते)।"

११ निघ०१.६.८.

निर्वचन करते हुये कहते हैं:-''**हरितः, हरणानादित्यरश्मीन्**''[१] कि रस आदि का हरण करने से आदित्य रश्मियाँ 'हरित्' कहलाती हैं।

(ख)''**हरितोऽश्वानिति वा**''[२] कि आरोही का हरण करने के कारण अश्व 'हरित्' कहलाते हैं। उपर्युक्त दोनों पक्षों में 'हृञ्' हरणे' धातु से 'हरित्' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् दिग्वाची 'हरितः' का निर्वचन करते हुये कहते हैं:-''**हरन्ति आसु स्थिताश्चौरादयो धनादिकम्**''[३] कि इनमें स्थित होकर चौरादि धनादि सम्पत्ति का हरण करते हैं, अतः, दिशा का नाम 'हरित्' है। इस पक्ष में 'हृ'+इतन्' से 'हरित्' शब्द सिद्ध होता है।

(ख)''**जह्रति वा आसु स्थिताश्चौरादयो धनादिकम्**''[४] कि इनमें स्थित होकर चौरादि बलात् सम्पत्ति का हरण करते हैं, अतः, दिशा को 'हरित्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'हृ' प्रसह्यकरणे' धातु से 'इतन्' प्रत्यय करके 'हरित्' पद व्युत्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'हरितः' पद को हरिद्वर्ण वाचक अश्व का विशेषण तथा अश्व=रश्मि वाचक नामपद मानता है। यास्क प्रभृति विद्वानों के मत में 'हरितः' पद का मूल 'हृञ्' हरणे' धातु है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'हरितः' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स 'हृ' धातु को 'हरितः' पद का मूल मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद मृगशावक के वर्ण, रक्ताभ, बभ्रु, पिङ्गल, पाण्डु, पीत, हलका भूरा या हलका लाल, हरित और हरिताभ अर्थ में है।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि यास्क के निर्वचन में रश्मि के वर्ण का उल्लेख है, जो प्रायः पीत अथवा स्वर्णिम बतायी गयी है। भारोपीय भाषा में 'gher' पीत वर्ण तथा लैटिन में 'helvus' पीत अर्थ में है। उनके अनुसार उक्त निर्वचन में यास्क की अनुर्वर कल्पना परिलक्षित होती है।[८] वेद से प्राप्त सङ्केत 'हरितः' पद को 'भृ' या 'हर्य्' धातु से व्युत्पन्न मानते प्रतीत होते हैं।[९]

वैदिक साहित्य में 'हरितः' पद का बहुत प्रयोग हुआ है। ऋषि कहता है कि जिस प्रकार दिशायें मार्ग दिखाने के लिये होती हैं, उसी प्रकार सबको धारण करने वाला इन्द्र का नाम एवं उसकी ज्योति अन्नादि के लिये तथा संसार से पार पहुँचाने के लिये होती है।[१०] एक अन्य ऋषि कहता है कि कल्याण करने वाली,

---

१ निरु० ४.११.

२ निरु० ४.११.

३ निघ०वृ०, १.६.८.

४ निघ०वृ०, १.६.८.

५ वै०पद०को०, पृ० ३५५९.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ६०६.

७ संस्कृत-इंग्लिश कोश, पृ० १२९१.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ३९.

९ ऋ० १.१२१.१३, १०.९६.४. यजु०, ३३.३८.

१० ऋ० १.५७.३. ''यस्य धाम श्रवसे नामेन्द्रियं ज्योतिरकारि हरितो नायसे।''

विचित्र एवं शीघ्र व्याप्त करने वाली रश्मियाँ दिशाओं को गमनशील आनन्ददायक बनाती हैं।[१] इसी सूक्त के अग्रिम मन्त्र में ऋषि कहता है कि जब सूर्य दिशा के समान स्थान से जुड़ता है, तब रात्रि सम्पूर्ण लोक के लिये वस्त्र फैला देती है।[२] आगे ऋषि कहता है कि प्रकाशित करने वाला सूर्य का बल अन्य है और दिशाओं को रात्रि से भरने वाला अन्य है।[३] कहीं ऋषि सूर्य के समान इन्द्र से दिशाओं में रमण करने की प्रार्थना करता है।[४] परुच्छेप ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सूर्य दिशाओं को या सम्पूर्ण दिवस सूर्य को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार ये आपको प्राप्त हों।[५] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि सुख की वर्षा करने वाला इन्द्र दिशाओं को जानते हुये अपने प्रकाश से विश्व को प्रकाशित करता है।[६] वसिष्ठ ऋषि वैश्वानर अग्नि की स्तुति करते हुये कहते हैं कि कामना करती हुई दिशायें तुम्हारा सेवन करती हैं।[७] जमदग्नि भार्गव ऋषि पवमान की स्तुति करते हुए कहते हैं कि लोकों में वह पवमान स्थित है और उसीसे दिशायें व्याप्त हैं।[८] निधुवि काश्यप ऋषि का मत है कि गमन करने के लिये सूर्य दिशाओं को जोड़ता है।[९] त्रय ऋषि कहते हैं कि आनन्दस्वरूप पवमान सुपतनशील दिशाओं को जोड़ता हुआ अपनी सामर्थ्य से इन लोकों को चलाता है।[१०] शार्यात मानव ऋषि विश्वदेवों की स्तुति करते हुये कहते हैं कि इसकी आज्ञा से सूर्य भी दिशाओं में रमण करता है।[११] ब्राह्मणग्रन्थ कहते हैं कि दिशायें हरित् कहलाती हैं।[१२]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद हरित् (दिशा) को आनन्द देने वाली और रमणीय के रूप में चित्रित करता है। सामान्य रूप से हरित् हरण अर्थ वाली 'हृ' धातु से निष्पन्न होता है। जहाँ स्वर्णिम आभा वाली सूर्यरश्मियाँ रसहरण कर्म करने के कारण हरित् कहलाती हैं, वहाँ दिशायें तथा हरिद्वर्ण मन को हरने के कारण 'हरित्' हैं। यह हरिद्वर्ण साहित्य में श्याम वर्ण के रूप में विकसित हुआ है, इसलिये सम्भवतः, धन धान्य से परिपूर्ण पृथिवी को शस्य श्यामला कहा जाता है। वृक्षादि वनस्पतियों से रहित पृथिवी की तुलना में, हरे परिधान से मण्डित अवनि दृष्टि को आकर्षित करती है। दृष्टि को अपनी ओर आकर्षित करना ही हरण करना है। यह कार्य शस्य श्यामला सम्पन्न दिशा भी करती है और शस्य का श्यामलत्व वर्ण भी। आचार्य देवराजयज्वन् का यह कथन कि इसमें चौरादि सम्पत्ति का हरण कर लेते हैं,

---

१ ऋ० १.११५.३. ''भद्रा अश्वा हरितः सूर्य्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः। नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः।''

२ ऋ० १.११५.४. ''यदेदयुक्त हरितः सधस्थाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै।''

३ ऋ० १.११५.५. ''अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः संभरन्ति।''

४ ऋ० १.१२१.१३. ''त्वं सूरो हरितो रामयः।''

५ ऋ० १.१३०.२. ''आ त्वा यच्छन्तु हरितो न सूर्यमहा विश्वेव सूर्यम्।''

६ ऋ० ३.४४.४. ''जज्ञानो हरितो वृषा विश्वमाभाति रोचनम्।''

७ ऋ० ७.५.५. ''त्वामग्ने हरितो वावशाना गिरः सचन्ते धुनयो घृताचीः।''

८ ऋ० ८.१०१.१४. ''बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आ विवेश।''

९ ऋ० ९.६३.९. ''उत त्या हरितो दश सूरो अयुक्त यातवे।''

१० ऋ० ९.८६.३७. ''ईशान इमा भुवनानि वीयसे युजान इन्दो हरितः सुपर्ण्यः।''

११ ऋ० १०.९२.८. ''सूरश्चिदा हरितो अस्य रीरमत्।''

१२ शत०ब्रा०, २.५.१.५. ''दिशो वै हरितः।'' (तु०, जै०ब्रा०, २.२२९; ऐ०आ०, २.१.१.)

इसलिये दिशा 'हरित्' कहलाती है, असङ्गत एवं अप्रामाणिक है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जिसमें मन रम जाता है, वह दिशा और वह वर्ण 'हरित्' नाम से वैदिक साहित्य में अभिहित हुआ है।

वैदिक साहित्य में दिशावाचक नामपदों में अर्थभिन्नता

निघण्टुकोष के षष्ठगण दिशावाचक नामपदों में निघण्टुकार ने आठ पदों का समाम्नान किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	आताः दिशावाचक निघ०,१.६.१.	वेद में 'आताः' पद द्युलोक की दिशाओं के लिये प्रयुक्त होता है। द्युलोक की दिशायें पृथिवीलोक की अपेक्षा विस्तृत होती हैं।	पृथिवी लोक की अपेक्षा द्युलोक के विस्तृत होने से विस्तारार्थक 'तन्' धातु।
२.	आशाः दिशावाचक निघ०,१.६.२.	वेद के ऋषि की दृष्टि में 'आशा' वे दिशायें हैं, जिनसे भय की प्राप्ति होती है, इसलिये वह बार-बार आशाओं से अभय की प्रार्थना करता है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि ऋषि को शून्य दिशायें भयप्रद दिखायी देती हैं।	'अश्' 'व्याप्तौ या 'अश्' भोजने' धातु।
३.	उपराः दिशावाचक निघ०,१.६.३.	वेद में वे दिशायें 'उपर' हैं, जिनमें द्युलोक आदि समस्त लोक निवास करते हैं। इस प्रकार वेद में 'उपर' शब्द निकटता या दिशाओं की 'उच्च स्थिति' का बोध करा रहा है।	'उपर' शब्द की व्युत्पत्ति अस्पष्ट है। फिर भी सम्भावना यह है कि उक्तपद का 'उप' या 'उपरि' से सम्बन्ध है।
४.	आष्ठाः दिशावाचक निघ०,१.६.४.	'आष्ठाः' पद वेद और वैदिक साहित्य में अप्रयुक्त है।	'आ+'स्था'+क' से व्युत्पन्न किया जा सकता है।
५.	काष्ठाः दिशावाचक निघ०,१.६.५.	वेद में काष्ठा' वे दिशायें हैं, जिनमें दिशाओं के अन्तिम छोर को प्रतिबिम्बित किया जाता है।	'क्रम्'+'स्था' से व्युत्पन्न होने की सम्भावना क्षीण है।
६.	व्योम दिशावाचक निघ०,१.६.६.	वैदिक साहित्य में 'व्योम' पद का दिशा अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। लेकिन ब्राह्मण के एक उद्धरण से यह आभास मिलता है कि नीचे दिशायें 'व्योम' हैं।	'व्येञ्' संवरणे' धातु।
७.	ककुभः दिशावाचक निघ०,१.६.७.	ऋग्वेद 'ककुभ' की सङ्ख्या आठ मानता है। इसके अतिरिक्त 'ककुभ' का सम्बन्ध सूर्य (वरुण, विष्णु) से है, सम्भवतः, इसलिये ऋषि इसका सम्बन्ध प्राची दिशा से मानता है। 'ककुभ' वे दिशायें हैं, जिनमें उच्चस्थ पदार्थों के आधार पर दिशा निर्धारित की जाती है।	'ककुभ' का सम्बन्ध 'ककुद' से प्रतीत होता है। ये दोनों समान मूल के प्रतीत होते हैं।
८.	हरितः दिशावाचक निघ०,१.६.८.	वेद आनन्द देने और रमणीय लगने वाली दिशाओं को 'हरितः' नाम से सम्बोधित करता है। इस प्रकार जिसमें मन रम जाता है, वे दिशायें 'हरितः' हैं।	रसहरण कर्म करने के कारण सूर्यरश्मियों को 'हरितः' कहा जाता है। अतः, 'हृ' धातु से व्युत्पन्न करना उचित है।

उपर्युक्त दिशावाचक गण में निघण्टुकार ने आठ पदों का परिगणन किया है। वैदिक साहित्य में उक्त गण के निम्नपद दिशावाचक अर्थ में प्रयुक्त हैं-१. आताः, २. आशाः, ३. उपराः, ४. काष्ठाः, ५. ककुभः, ६. हरितः। लेकिन उक्त गण के दो शब्दों में से 'आष्ठाः' पद का वैदिक साहित्य में सर्वथा उल्लेख नहीं मिलता है, जबकि 'व्योम' का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है, परन्तु दिशावाचक अर्थ का उदाहरण प्राप्य नहीं है। उक्तपदद्वय के परिगणन का आधार अस्पष्ट है। इस प्रकार निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि निघण्टुकार ने उक्तगण के परिगणन में विशेष शिथिलता का प्रदर्शन नहीं किया है।

रात्रिवाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के सप्तम गण में निघण्टुकार ने रात्रिवाचक २३ नामपद परिगणित किये हैं।[१]

१. श्यावी

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में सर्वप्रथम 'श्यावी' पद पठित है।[२] इस पद का निर्वचन करते हुए आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं:-''**श्यायते गच्छति स्वाश्रयमिति। श्यावो धूसरो वर्णः, तमः सन्ध्यादिबन्धात् श्याववर्णा रात्रिः श्यावी**''[३] कि जो अपने आश्रय को जाता है, वह 'श्याव' है। धूसर (भूरा) लाल वर्ण, अन्धकार के सन्धि बन्धन से बँधी हुई श्याव (धूम्र) वर्ण की रात्रि श्यावी कहलाती है। इस पक्ष में 'श्यैङ् गतौ' धातु से 'वन्' प्रत्यय और उससे स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'श्यावी' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'श्याव' पद को विशेषण, नामपद और व्यक्तिपरक संज्ञापद मानता है। उसके अनुसार यह पद 'श्यै' धातुमूलक है, परन्तु अर्थ सन्दिग्ध है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'श्याव' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'श्याव' का सम्बन्ध 'श्याम' शब्द से मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा ब्राह्मणग्रन्थों में यह शब्द गहरा भूरा, बभ्रु, गहरा रंग, गहरे अर्थ में आया है।[६]

वैदिक साहित्य में 'श्यावी' का प्रयोग अल्प हुआ है। ऋषि प्रजापति विश्वदेवों की स्तुति करते हुये कहते हैं कि दिवस और रात्रि रूप मिथुन बहिनें नाना प्रकार के रूपों को धारण करती हैं। इनमें से एक प्रकाश के सम्पर्क से चमकती है और दूसरी तमस् के प्रभाव से कृष्णवर्ण की दिखायी देती है।[७] पराशर ऋषि अग्नि के वर्णन के प्रसङ्ग में 'श्यावी' का चित्रण करते हुये कहते हैं कि तमस् दूर करने वाली पूजनीय उषा रश्मियों से कृष्णवर्ण की रात्रि को चमकने वाली बना देती है।[८] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि अग्नि का स्तवन करते हुये कहते हैं कि कर्म करने वाले वैज्ञानिक लोग दृश्यमान और अदृश्यमान अग्नि को अथर्व द्वारा बताये गये के अनुसार मन्थन करते हैं। इस प्रकार उस अमूढ प्रसिद्ध लक्षण वाली अग्नि को श्यावी से अच्छी प्रकार प्राप्त करते हैं।[९] शंयु बार्हस्पत्य भी अग्नि की स्तुति करते हुये कहते हैं कि यह अग्नि प्रकाश से द्यावापृथिवी तथा

---

१ निघ० १.७.१.

२ निघ० १.७.१.

३ निघ०वृ०, १.७.१.

४ वै०पद०को०, पृ० ३१५३.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ५३३.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी पृ० १०९५.

७ ऋ० ३.५५.११. ''नाना चक्राते यम्या३ वपूँषि तयोरन्यद्रोचते कृष्णमन्यत्। श्यावी च यदरुषी च स्वसारौ महद्देवानामसुरत्वमेकम्।''

८ ऋ० १.७१.१. ''स्वसारः श्यावीमरुषीमजुषूञ्चित्रमुच्छन्तीमुषसं न गावः।''

९ ऋ० ६.१५.१७. ''इममु त्यमथर्ववदग्निं मन्थन्ति वेधसा यमङ्कूयन्तमानयन्नमूरं श्यावाभ्यः।''

धूम से अन्तरिक्ष को व्याप्त करता है और यही वर्षा का निमित्त अग्नि कृष्ण रात्रियों में चमकता हुआ दृष्टिगोचर होता है।[१] एक अन्य स्थान पर ऋषि कहता है कि अन्धकारपूर्ण रात्रि में प्रकाश के अभाव में आँख भी काम नहीं करती है।[२]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में 'श्यावी' पद को 'अरुषी' के विलोम के रूप में प्रयोग किया गया है। एक स्थान पर वेद में 'ऊर्मी' नामक रात्रि के विशेषण के रूप में भी 'श्यावी' का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त 'श्याव' और 'श्याम' ये दोनों शब्द समान मूल के हैं और अर्थ भी दोनों का लगभग समान है, अतः, 'श्यावी' का अर्थ 'कृष्णवर्ण की रात्रि' स्वीकार किया जा सकता है।

२. क्षप, क्षपा

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'क्षपा' पद परिगणित है।[३] आचार्य दुर्ग 'क्षपा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**स्वैः स्वैः कर्मभिरहनि क्षीणान्प्राणिन इयं स्वापेन पातीति क्षपाः। अस्यां हि सुप्ता पुनर्नवा इव प्राणिनः प्रातरुदतिष्ठन्ति**''[४] कि दिन भर अपने-अपने कार्यों को करने से क्षीणशक्ति प्राणियों को सुलाकर उनकी रक्षा करती है, इसलिये रात्रि को 'क्षपा' कहा जाता है। इस पक्ष में दुर्ग के अनुसार 'क्षि' क्षये'+'पा' रक्षणे' धातु से 'क्षपा' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् रात्रिवाचक 'क्षपा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**क्षप्यते सूर्य्यचारेण क्षपा- इति क्षीरस्वामी**''[५] कि सूर्य की गति से प्रेरित होती है, अतः, रात्रि को 'क्षपा' कहते हैं। इस पक्ष में प्रेरणार्थक 'क्षप्' धातु से 'क्षपा' रूप निष्पन्न होता है।

(ख)''क्षपः क्षपयतेर्निशा- इति च माधवः''[६] आचार्य माधव के अनुसार निर्वासित अथवा अवसानोन्मुख होने के कारण रात्रि 'क्षपा' कहलाती है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'क्षपा' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'क्षप्' धातु से व्युत्पन्न 'क्षपः' पद को रात्रिवाचक नामपद मानता है।[७] मोनियर विलियम्स तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार भी 'क्षपा' पद का मूल 'क्षप्' धातु है।[८] कोशकार प्रायः उक्त प्रकार से 'क्षपा' शब्द निर्वचन करने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार 'क्षपा' शब्द का निर्वचन निम्न है:-''**क्षपयति दूरयति चेष्टामिन्द्रियाणाम्**''[९] कि जो इन्द्रियों की चेष्टा को शान्त कर देती है, उस

---

१ ऋ० ६.४८.६. ''आ यः पप्रौ भानुना रोदसी उभे धूमेन धावते दिवि। तिरस्तमो ददृश ऊर्म्यास्वा श्यावास्वरुषो वृषा श्यावा वृषा।''

२ ऋ० ८.५५.५. ''श्यावीरतिध्वसन्पथश्चक्षुषा चन सन्नशे।''

३ निघ० १.७.२.

४ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ० १८१.

५ निघ०वृ०, १.७.

६ निघ०वृ०, १.७.२.

७ वै०पद०को०, पृ० ११८७.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३२६. ऋ०वै०पद०, पृ० १८०.

९ हलायुधकोश, पृ० २५६. शब्दकल्पदुम, भा०२. पृ० २२८. वाचस्पत्यम्, भा०३. पृ० २३६२.

रात्रि का नाम 'क्षपा' है।

वैदिक साहित्य में 'क्षपा' का पर्याप्त प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में पराशर ऋषि अग्नि को क्षपावान् बतलाते हैं।[१] इसी सूक्त मे वे आगे कहते हैं कि 'क्षप' नामक रात्रि पूर्व दिशा से उदित होने वाली उषाओं से विरूप अर्थात् शुक्ल, कृष्ण वर्ण की हो जाती है।[२] सुदीति पुरु ऋषि का कथन है कि जन्म से प्रिय लगने वाल अग्नि क्षपावान् है अर्थात् वह रात्रियों का स्वामी है।[३] राहूगण गौतम ऋषि अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि वह अग्नि राजा उष:कालीन रात्रियों तथा दिन में राक्षसों को भस्म करता है।[४] प्रस्कण्व ऋषि उष:कालीन क्षपा में अग्नि के साथ सविता, उषस्, अश्विनी आदि देवों का आह्वान करते हैं।[५] गौतम नोधा ऋषि क्षपा के साथ 'पृषती' का प्रयोग करते हैं। नैरुक्तपक्ष के अनुसार 'पृषती' का अर्थ 'नाना वर्ण वाली मेघमालायें' हैं। ऐतिहासिक पक्ष के अनुसार 'पृषती' का अर्थ 'श्वेत बिन्दु से अङ्कित मृगियाँ' है। तदनुसार 'क्षपा' वह रात्रि है, जिसमें शबलता विद्यमान है अर्थात् जो प्रभात की प्रभा और रात्रि के अन्धकार से युक्त है।[६] काश्यप ऋषि परिष्कृत क्षपा को बलों का प्रदान करने वाला बतलाते हैं।[७] विश्वामित्र ऋषि इन्द्र को क्षपा को आच्छादित करने वाला मानते हैं।[८] नाभाक कण्व ऋषि वरुणदेव को रात्रि का आलिङ्गन करने वाला तथा रश्मिरूप माया के द्वारा सम्पूर्ण संसार को देखने वाले के रूप में स्वीकार करते हैं।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिसमें अन्धकार और प्रकाश का मिश्रण रहता है, ऐसी उष:कालीन रात्रि वेद में 'क्षपा' नाम से अभिहित हुई है। अनेक स्थलों पर 'क्षपा' के साथ उषस् और अग्नि का समाहार देखने को मिलता है, इसके अतिरिक्त प्रात:कालीन इस रात्रि को वेद परिष्कृत और बल को देने वाली बतलाता है। यहाँ सम्भवत:, ऋषि का अभिप्राय ब्राह्म मुहुर्त की रात्रि से है, क्योंकि वह सभी प्रकार के वरदानों को देने वाली मानी जाती है। इस प्रकार निर्वचन तथा वेद में प्रतिपादित 'क्षपा' के स्वरूप में पर्याप्त समानता दृष्टिगत होती है।

३. शर्वरी

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'शर्वरी' पद पठित है।[१०] आचार्य दुर्ग 'शर्वरी' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**शरणमस्यां स्वापार्थं व्रियत इति शर्वरी**"[११] कि सोने के लिये लोग इसकी

---

१ ऋ० १.७०.३. "स हि क्षपावाँ अग्नी रयीणाम्।"

२ ऋ० १.७०.४. "वर्धान्यं पूर्वीः क्षपो विरूपो स्थातुश्च रथमृतप्रवीतम्।"

३ ऋ० ८.७१.२. "नहि मन्युः पौरुषेय ईशे हि वः प्रियजात।"

४ ऋ० १.७९.६. "क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषस:।"

५ ऋ० १.४४.८. "सवितारमुषसमश्विना भगमग्निं व्युष्टिषु क्षप:।"

६ ऋ० १.६४.८. "क्षपो जिन्वतः पृषतीभिर्ऋष्टिभि:।"

७ ऋ० ९.९९.२. "अध क्षपा परिष्कृतो वाजाँ अभि प्र गाहते।"

८ ऋ० ३.४९.४. "क्षपां वस्ता जनिता सूर्यस्य।"

९ ऋ० ८.४१.३. "स क्षपः परि षस्वजे न्यु१स्रो मायया दधे सं विश्वं परि दर्शत:।"

१० निघ० १.७.३.

११ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ० १८१.

शरण में जाते हैं, अतः, रात्रि को 'शर्वरी' कहा जाता है। इस पक्ष में 'शॄ' हिंसायाम्' तथा 'वृ' वरणे' इन दोनों धातुओं के संयोग से 'शर्वरी' शब्द व्युत्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'शर्वरी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**शृणाति चेष्टाम्, रात्रौ हि स्वस्वव्यापारेभ्य: उपरमन्ते प्राणिन:**"[१] कि यह चेष्टा का हनन करती है अर्थात् रात्रि के समय सभी अपने-अपने कार्यों से विरत हो जाते हैं, अतः, रात्रि को 'शर्वरी' कहते हैं। इस पक्ष में हिंसार्थक 'शॄ' धातु से 'ष्वरच्' प्रत्यय होकर 'शर्वरी' पद निष्पन्न होता है।

(ख)"**शीर्य्यन्ते वास्यां प्राणिनो नक्तञ्चरै:**"[२] कि रात्रि में विचरण करने वाले जीवों के द्वारा प्राणियों की हिंसा इसमें होती है, अतः, रात्रि को 'शर्वरी' कहा जाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् 'शर्वरी' पद व्युत्पन्न होता है। उपर्युक्त व्युत्पत्ति उणादिकोष सम्मत है।[३]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष वैङ्कट एवं सायण के मत में 'शर्वरी' पद को रात्रिवाचक नामपद तथा ग्रासमैन और पेटरसन के मत में 'मरुद्वाहन' वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद अव्युत्पन्न है।[४] मोनियर विलियम्स के अनुसार 'शर्वरी' पद 'शर्व्' धातु से निष्पन्न होता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची में 'शर्वरी' पद अव्युत्पन्नरूप में प्रदर्शित किया गया है।[६]

वैदिक साहित्य में 'शर्वरी' पद का मात्र एक बार प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में श्यावास्य आत्रेय ऋषि कहते हैं कि स्पन्दनशील और सिञ्चन में समर्थ मरुद्गण को लाँघकर शर्वरी चली जाती है।[७] 'शर्वरी' के विषय में मोनियर विलियम्स का अभिमत है कि ऋग्वेद और परवर्ती साहित्य में तारागण से युक्त रात्रि शर्वरी मानी गयी है।[८]

उक्त एकमात्र उद्धरण से यह निष्कर्ष लिया जा सकता है कि मरुद्गण जिस समय आकाश में छाये हुए होते हैं, उस समय शर्वरी कब आयी और चली गयी, इसका भान नहीं होता है। कहने का आशय यह है कि 'शर्वरी' वह रात्रि है, जिसमें आकाश मेघों से आच्छादित होता है। इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरण से मोनियर विलियम्स के कथन की पुष्टि नहीं हो पाती है। मोनियर विलियम्स तथा अन्य कोशकारों के मत में 'शर्वरी' का अर्थ 'सायम्' या 'सन्धिकालीन रात्रि' है, परन्तु उनके अनुसार इस अर्थ की पुष्टि के प्रमाण का अभाव है।[९] लेकिन 'शर्वरी' का यह अर्थ उचित प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि उपर्युक्त मन्त्र में 'शर्वरी' को शीघ्र व्यतीत होने वाली बताया गया है। इसके अतिरिक्त निर्वचन में 'शर्वरी' का मूल हिंसार्थक 'शॄ' धातु को माना

---

१ निघ०वृ०, १.७.३.

२ निघ०वृ०, १.७.३.

३ उणा०, २.१२३. "कॄगॄशॄवृञ्चतिभ्य: ष्वरच्"

४ वै०पद०को०, पृ० ३०८९.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १०५८.

६ ऋ०वै०पद०, ५२१.

७ ऋ० ५.५२.३. "ते स्पन्द्रासो नोक्षणोऽति ष्कन्दति शर्वरी:।"

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १०५८.

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १०५८.

गया है। उसके अनुसार भी 'शर्वरी' काल का वह भाग है, जिसकी हिंसा हो जाती है अर्थात् जो शीघ्र व्यतीत हो जाता है। इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि 'शर्वरी' सम्भवतः, मेघों से आच्छादित सन्धिकालीन रात्रि का अभिधान है।

४. अक्तुः

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'अक्तु' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् रात्रिवाचक 'अक्तु' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अज्यते सिच्यतेऽस्यामवकाशप्रदानेन जगत्, गच्छति वा प्रतिदिनम्**''[२] कि इस रात्रि में अवश्याय से जगत् भीग जाता है, अथवा प्रतिदिन रात्रि की शरण में जाता है, अतः, रात्रि को 'अक्तु' कहते हैं। इस पक्ष में 'व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगति' अर्थ वाली 'अञ्ज्' धातु से 'तु' प्रत्यय होकर 'अक्तु' पद निष्पन्न होता है। उक्त निर्वचन की पुष्टि वेद से भी हो जाती है।[३]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अञ्ज्' धातु से व्युत्पन्न 'अक्तु' पद को तेजस्, तमस्, रश्मि, रात्रि प्रभृति का वाचक नामपद मानता है।[४] मोनियर विलियम्स 'अक्तु' पद का मूल 'अञ्ज्' धातु को मानते हैं।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'भी अक्ता' पद का मूल 'अञ्ज्' को मानती है।[६]

ऋग्वेद में 'अक्तु' पद का प्रयोग पर्याप्त हुआ है। यहाँ यह रात्रि अर्थ के अतिरिक्त 'व्यञ्जक' अर्थ में भी देखने को मिलता है। आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं कि अश्विनीदेव दिवस और रात्रियों से स्थापित नाकलोक की रक्षा करते हैं।[७] प्रस्कण्व ऋषि कहते हैं कि 'अक्तु' नामक रात्रियों के माध्यम से ऋत का सेवन होता है।[८] एक अन्य सूक्त में प्रस्कण्व ऋषि 'अक्तु' का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार नक्षत्र रात्रि के साथ चलते हैं, उसी प्रकार चोर भी।[९] ऋषि के कथन का मन्तव्य यह प्रतीत होता है कि चौरकर्म रात्रि (अक्तु) में ही होता है। इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि सूर्य को रात्रियों के साथ दिवस को उत्पन्न करने वाला बतलाता है।[१०] पराशर ऋषि रात्रि को जड-जङ्गम जगत् को आच्छादित करने वाले के रूप में चित्रित करते हैं।[११] गृत्समद ऋषि अग्नि को रात्रि के गहन अन्धकार से अपरीवृत अर्थात् अस्पृष्ट बतलाते हैं।[१२] उत्कील कात्य ऋषि 'अञ्ज्' धातु से 'अक्तु' के व्युत्पन्न होने का सङ्केत देते हुए कहते हैं कि प्रज्वलित होता

---

१ निघ० १.७.४.
२ निघ०वृ०, १.७.४.
३ ऋ० ३.१७.१; ६.६९.३; ७.७९.२; सा०उत०, १२०९.
४ वै०पद०को०, पृ० ८१.
५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ०२.
६ ऋ०वै०पद०, पृ० ०४.
७ ऋ० १.३४.८. ''नाकं रक्षेथे द्युभिरक्तुभिर्हितम्।''
८ ऋ० १.४६.१४. ''ऋता वनथो अक्तुभिः।''
९ ऋ० १.५०.२. ''अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः।''
१० ऋ० १.५०.७. ''वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः।''
११ ऋ० १.६८.१. ''स्थातुश्चरथमक्तून् व्यूर्णोत्।''
१२ ऋ० २.१०.३. ''शिरिणायां चिदक्तुना महोभिरपरीवृतो वसति प्रचेताः।''

हुआ अग्नि रात्रियों में विशेष रूप से प्रकाशित होता है।[१] वामदेव ऋषि सवितादेव से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि वह महान् देव रात्रियों के द्वारा हमें तेज प्रदान करे।[२] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि वह सवितादेव रात्रियों के माध्यम से जगत् को स्थापित और उत्पन्न करता है।[३] ऋषि के कथन का आशय यह प्रतीत होता है कि रात्रि के जिस भाग में मनुष्य सन्तानकर्म के लिये प्रेरित होता है, वह भाग 'अक्तु' है। मोनियर विलियम्स ऋग्वेद के आधार पर गहन अन्धकारपूर्ण रात्रि को 'अक्तु' मानते हैं।[४]

उपर्युक्त विवेचन को दृष्टिगत रखते हुए कहा जा सकता है कि वह रात्रि 'अक्तु' है, जिसमें नक्षत्र चोर की तरह विचरण करते हैं, जहाँ रात्रि की गहन कालिमा से अग्नि का प्रकाश अधिक द्योतित होता है, जहाँ रात्रि के अन्धकार से आच्छादित होने पर जड-जङ्गम जगत् का भेद तिरोहित हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह वह समय है, जब सवितादेव तेज प्रदान करते हैं तथा जिसमें जीवों के लिये शरीर निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। निर्वचन में 'अक्तु' को 'व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगति' अर्थ वाली 'अञ्ज्' धातु से व्युत्पन्न किया गया है। इनमें से लगभग सभी अर्थ 'अक्तु' के सन्दर्भ में वेद में देखे जा सकते हैं। इसमें जीव शरीर के माध्यम से अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं, रात्रि के समय अग्नि की कान्ति चारों ओर विकीर्ण होती है तथा इसमें प्राणी निद्रा में जाते हैं, अतः, रात्रि को 'अक्तु' कहा जाना सोद्देश्य है।

५. ऊर्म्या

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'ऊर्म्या' पद पठित है।[५] आचार्य यास्क 'ऊर्मि' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**ऊर्मिरूर्णातेः**''[६] कि तट और उदक के मध्य विद्यमान अन्य को यह आच्छादित कर लेती हैं, अतः, लहर को 'ऊर्मि' कहते हैं। इस पक्ष में 'ऊर्ण्' धातु से 'ऊर्मि' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् रात्रिवाचक 'ऊर्म्या' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**ऊर्मिः तमः सङ्घातः, आच्छादकस्य लोकस्य**''[७] कि लोक को आच्छादित करने के कारण तमस् के सङ्घात रात्रि को 'ऊर्मि' कहते हैं। इस पक्ष में देवराजयज्वन् यास्क के समान 'ऊर्मि' पद निष्पन्न मानते हैं।

आचार्य सायण रात्रिवाचक 'ऊर्मि' पद का निर्वचन गत्यर्थक 'ऋ' धातु से करते हुए कहते हैं:-''**सर्वैरभिगन्तव्या। रात्रौ हि सर्वे स्वनिवासं गच्छन्ति। स्वनिलयप्राप्तिहेतुभूतरात्रयः**''[८] कि रात्रि में सभी अपने आवास को प्राप्त करते हैं और ये रात्रियाँ स्व आवास की प्राप्ति का हेतु होने से 'ऊर्मि' कहलाती हैं।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'ऊर्मि' शब्द को जल तरङ्ग का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार

---

१ ऋ० ३.१७.१. ''समिध्यमानः प्रथमानु धर्मा समक्तुभिरज्यते विश्ववारः।''

२ ऋ० ४.५३.१. ''छर्दिर्येन दाशुषे यच्छति त्मना तन्नो महाँ उदयान्देवो अक्तुभिः।''

३ ऋ० ४.५३.३. ''प्र बाहू अस्राक्सविता सवीमनि निवेशयन्प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत्।''

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ०२.

५ निघ० १.७.५.

६ निरु० ५.२३.

७ निघ०वृ०, १.७.५.

८ सायणभाष्य, ऋ० ८.९६.१.

उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची से भी इस मत की पुष्टि हो जाती है।[२] मोनियर विलियम्स भी 'ऋ' धातु से 'ऊर्मि' पद को निष्पन्न करने के पक्ष में हैं।[३] इस विषय में डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि उक्त निर्वचन आदिम तथा दोषपूर्ण है।[४] उणादिकोष के अनुसार 'ऋ' धातु से 'मि' प्रत्यय होकर 'ऊर्मि' पद निष्पन्न होता है।[५]

वैदिक साहित्य में 'ऊर्म्या' पद का मात्र आठ बार प्रयोग हुआ है। अगस्त्य ऋषि अश्विनीदेवों की स्तुति करते हुए कहते हैं कि कामनाओं की वर्षा करने वाले ये देव रात्रि से आनन्द को प्राप्त करते हुए प्रशंसित व्यवहार करने का वालों का उद्धार करें।[६] सोमाहुति भार्गव ऋषि कहते हैं कि दान देने वाले यजमान के घर में स्थापित दाक्षाय्य अग्नि मनोहर रात्रियों में प्रकाशित होता है।[७] श्यावाश्व आत्रेय ऋषि कहते हैं कि हे रात्रि देवि! मेरे इस स्तोत्र को दार्भ्य (लगे हुए घाव) के लिये ठीक उसी प्रकार ले जाओ, जिस प्रकार रथ धनों को अभिमत देश में पहुँचाता है।[८] बार्हस्पत्य भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि रात्रि के गहन अन्धकार को भी पावक अग्नि अपनी दीप्ति से दूर करता हुआ दिखायी देता है।[९] शंयु बार्हस्पत्य ऋषि का मत है कि अग्नि कृष्णवर्ण की रात्रियों में अन्धकार का तिरस्कार करके चारों ओर प्रकाशित होता है।[१०] भरद्वाज बार्हस्पत्य का कथन है कि उषा प्रातःकाल के साथ यज्ञ के अग्र भाग को सम्पन्न करती हुई रात्रि के अन्धकार को नष्ट करती है।[११] मारुत ऋषि कहते हैं कि ऐश्वर्य की प्राप्ति कराने के लिये उषा अपने विचरण के समय को बढ़ा देती है। नक्त अर्थात् अपरभाग में रात्रियाँ उत्तम वाणियों से युक्त होती हैं।[१२] कुशिक सौमर रात्रि देवता की स्तुति करते हुए कहते हैं कि यह हमें वृक, वृकी और चोर से दूर रक्खे तथा हमारे लिये यह सुखपूर्वक बीतने वाली हो।[१३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह रात्रि 'ऊर्मि' है, जिसमें अश्विनीदेव आनन्द को प्राप्त करते हैं, जिसकी लोग कामना करते हैं, जो लगे हुए घावों को ठीक कर देता है और जिसकी समाप्ति उषस् के प्रकट होने के साथ होती है। यह वही समय है, जिस ब्राह्ममुहुर्त में ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है और उत्तम वाणियों कानों को सुनायी पड़ती हैं। 'ऊर्मि' का प्रसिद्ध अर्थ 'तरङ्ग' माना जाता है, जिस प्रकार

---

१ वै०पद०को०, पृ० ९९१.
२ ऋ०वै०पद०, पृ० १५२.
३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २२२.
४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ११६.
५ उणा०, ४.४५. "अर्तेरुच्च।"
६ ऋ० १.१८४.२. "ऊ षु वृषणा मादयेथामुत्पणींर्हतमूर्म्या मदन्ता।"
७ ऋ० २.४.३. "स दीदयदुशतीरूर्म्या आ दक्षाय्यो यो दास्वते दम आ।"
८ ऋ० ५.६१.१७. "एतं मे स्तोममूर्म्ये दार्भ्याय परा वह। गिरो देवि रथीरिव।"
९ ऋ० ६.१०.४. "अध ब्रहु चित्तम ऊर्म्यायास्तिरः शोचिषा ददृशे पावकः।"
१० ऋ० ६.४८.६. "तिरस्तमो ददृशे ऊर्म्याया श्यावास्वरुषो वृषा श्यावा अरुषो वृषा।"
११ ऋ० ६.६५.२. "अग्रं यज्ञस्य बृहतो नयन्तीर्वि ता बाधन्ते तमः ऊर्म्यायाः।"
१२ ऋ० ८.९६.१. "अस्मा उषास आतिरन्त यामिन्द्राय नक्तमूर्म्याः सुवाचः।"
१३ ऋ० १०.१२७.६. "यावया वृक्यं१ वृकं यवय स्तेनमूर्म्ये। अथा न सुतरा भव।"

तरङ्ग उठती हैं, उसी प्रकार इस रात्रिकाल में सुख और ऐश्वर्य की तरङ्ग उठती रहती हैं। इस दृष्टि से गत्यर्थक 'ऋ' धातु से व्युत्पन्न करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

६. राम्या

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'राम्या' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क 'रामा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**रामा रमणायोपेयते न धर्माय**''[२] कि रामा (स्त्री) रमण अर्थात् विषयोपभोग के लिये होती है, धर्माचरण के लिये नहीं। इसलिये यह कृष्णा भी कही जाती है। इस पक्ष में 'रम्' धातु से 'रामा' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् रात्रिवाचक 'रामा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**प्ररमयति भूतानि नक्तञ्चराणि, उपरमयति दिवाचराणि स्वव्यापारेभ्यः**''[३] कि रात्रि में विचरण करने वाले प्राणियों को उनके अपने कार्य में नियोजित तथा दिन में विचरण करने वाले प्राणियों को कार्य से उपरत करती है, अतः, रात्रि को 'राम्या' कहा जाता है।

(ख)''**स्वाश्रये रमते रामः, तदर्हति राम्या**''[४] कि जो अपने आश्रय में रमण करता है, वह 'राम' है और जो उसके योग्य है, वह 'राम्या' है। इस पक्ष में 'रम्' धातु से 'राम' पद तथा उससे तद्धित प्रत्यय होकर 'राम्या' पद व्युत्पन्न होता है।

(ग)''**यद्वा, रमणं रामः। स्त्रीभिः सह क्रीडा रामः, तत्र साधुः राम्या**''[५] कि रमण करना 'राम' है। स्त्रियों के साथ क्रीडा करना राम है, इस कार्य के लिये जो सबसे उपयुक्त समय है, वह 'राम्या' है। इस पक्ष में 'रम्' धातु से 'राम' पद तथा उससे 'यत्' प्रत्यय होकर 'राम्या' पद उपपन्न होता है। आचार्य सायण भी कुछ ऐसा ही कहते हैं:-''**रमणं स्त्रीभिः सह क्रीडा रामः। तमर्हन्तीति राम्याः रात्रयः**''[६] कि स्त्रियों के साथ कामक्रीडा करना राम है और जो इस कार्य के लिये उपयुक्त रात्रियाँ हैं, वे 'राम्या' कहलाती हैं।

इस विषय में तैत्तिरीय का कथन है कि दिन देवताओं के लिये तथा रात्रि असुरों के लिये है। देवताओं के वेद्य वित्त को लेकर असुर रात्रि में प्रवेश कर गये और दिवस में स्तुति करने वालों की वाक्रूपा धेनु ही 'राम्या' है।[७] ब्राह्मणग्रन्थ के कथन का यह आशय प्रतीत होता है कि रात्रि में स्तुति करने वाले साधक असुरों के द्वारा चुरायी गयी देवताओं की सम्पत्ति को प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं। यह वह समय है, जिसमें समस्त दैवी सम्पदा जागरण करने वाले साधक को अनायस प्राप्त होती है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'रम्' धातु से व्युत्पन्न 'राम्या' पद को 'रमणीया उषस्' का वाचक नामपद

---

१ निघ० १.७.६.

२ निरु० १२.१३.

३ निघ०वृ०, १.७.६.

४ निघ०वृ०, १.७.६.

५ निघ०वृ०, १.७.६.

६ सायण, ऋग्वेदभाष्य, ३.३४.३.

७ सायण, ऋग्वेदभाष्य, ३.३४.३.

मानता है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स के अनुसार 'राम्या' पद का मूल 'रम्' धातु है।[२]

वैदिक साहित्य में 'राम्या' का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। गृत्समद ऋषि कहते हैं कि वह प्रकाशमान अग्नि प्रभात के समय अरुष वर्ण की किरणों से सूर्य के समान रात्रि में प्रकाशित होता है।[३] एक अन्य स्थल पर गृत्समद ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार कृष्णवर्ण की रात्रि में उषा आरोचमान स्वतेज से अन्धकार को दूर भगाती है, उसी प्रकार मरुद्गण महद्देदीप्यमान, जलरहित सूर्य से तमस् को दूर भगाते हैं।[४] विश्वामित्र ऋषि का कथन है कि शत्रुवध की कामना करते हुए इन्द्र ने छिपकर विचरण करने वाले असुर की अंस से दोनों भुजायें काट डालीं और उस गो अपहर्ता के निहत होने पर रात्रियों में स्थित गायों को प्रकट कर दिया।[५] भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि दीप्यमान प्रकाश से युक्त उषा नक्षत्रादि तेजों के प्रकाश को तिरस्कृत करके रात्रियों में प्रकाशित होती हैं।[६] वसिष्ठ ऋषि के मत में देवों का आह्वाता अग्नि स्तुत्य है, दान देने के मन वाला है, वह रात्रियों अथवा रमण करने वाली प्रजाओं के अन्धकार को दूर करता हुआ दिखायी देता है।[७]

उपर्युक्त विवेचन में लगभग सभी मन्त्रों में उषस् के साथ 'राम्या' का उल्लेख हुआ है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रभातकालीन रात्रि का नाम 'राम्या' है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थ की दृष्टि में शब्द के आधार पर 'राम्या' ऐसी रात्रि मानी जा सकती है, जिसमें साधक प्रभु के साथ एकाकार होता है, जबकि निर्वचनकारों की दृष्टि में जिसमें स्त्री के साथ रमण किया जाता है, ऐसी रात्रि 'राम्या' है।

७. यम्या

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'यम्या' पद पठित है।[८] 'यम' का निर्वचन करता हुआ शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-**''एष वै यमो य एष (सूर्यः) तपत्येष हीदꣳ सर्वं यमयत्येतेनेदꣳ सर्वं यतम्''**[९] कि यह सूर्य यम है, क्योंकि यह तप्त होता हुआ सबका नियन्त्रण करता है और इसीसे सब नियन्त्रित है। एक अन्य स्थान पर शतपथ तथा जैमिनीय-ब्राह्मण इसी प्रकार का वक्तव्य देते हैं। इस प्रकार उक्त ब्राह्मण 'यम' के यमत्व का आधार नियन्त्रण को मानता है।[१०]

---

१ वै०पद०को०, पृ० २६४२.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ४४५. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८७८.

३ ऋ० २.२.८. ''स इधान उषसो राम्या अनु स्व१र्ण दीदेदरुषेण भानुना।''

४ ऋ० २.३४.१२. ''उषा न रामीररुणैरपोर्णुते महो ज्योतिषा शुचता गो अर्णसा।''

५ ऋ० ३.३४.३. ''अहन्व्यंसमुशधग्वनेष्वाविर्धेना अकृणोद्राम्याणाम्।''

६ ऋ० ६.६५.१. ''या भानुना रुशता राम्यास्वज्ञायि तिरस्तमसश्चिदक्तून्।''

७ ऋ० ७.९.२. ''होता मन्द्रो विशां दमूनास्तिरस्तमो ददृशे राम्याणाम्।''

८ निघ० १.७.७.

९ शत०ब्रा०, १४.१.३.४.

१० शत०ब्रा०, ७.२.१.१०. ''अग्निर्वै यम इयं (पृथिवी) यम्याभ्याꣳ हीदꣳ सर्वं यतम्।'' जै०ब्रा०, १.२८. ''एष वै यमो य एषोऽन्तश्चन्द्रमसि। एष हीदं सर्वं यमिति।''

तैत्तिरीय-संहिता का मत कुछ इससे भिन्न है, वह कहता है:-''**स यमो देवानामिन्द्रियं वीर्यमयुवत तद्यमस्य यमत्वम्**''[१] कि उस यम ने देवों की इन्द्रिय से वीर्य का मेल कराया, यही यम का यमत्व है। यहाँ ब्राह्मण 'यम' का आधार इन्द्रिय के साथ वीर्य के संयोजन को मान रहा है।

आचार्य यास्क 'यम' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**यमो यच्छतीति सत:**''[२] कि यह सभी प्राणियों को जीवन से उपरत करता है, अत:, यह 'यम' कहलाता है। यास्क तथा अधिकांश ब्राह्मणग्रन्थ 'यम' का निर्वचन उपरम अर्थवाली 'यम्' धातु से करने के पक्ष में हैं।

आचार्य देवराजयज्वन् रात्रिवाचक 'यम्या' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**उपरमयति प्राणिनां चेष्टा:**''[३] कि यह प्राणियों की चेष्टाओं अर्थात् गतिविधियों पर विराम लगा देती है, अत:, रात्रि को 'यम्या' कहा जाता है। इस पक्ष में 'यम्' धातु से 'यक्' अथवा 'यत्' प्रत्यय होकर 'यम्या' रूप सिद्ध होता है।[४]

(ख)''अथवा यमनीया उपरमयितव्या आदित्यचारेणेति''[५] कि यह यमनीय अर्थात् आदित्य की गति से उपरत होती है, अत:, रात्रि 'यम्या' कहलाती है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'यम्' धातुमूलक 'यम्या' पद को 'यमी' का विभक्त्यन्तरूप मानता है। तदनुसार यह एक व्यक्तिपरक संज्ञापद है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार 'यम्या' का मूल 'यम' है।[७] मोनियर विलियम्स 'यम्या' का अर्थ मिथुन या मिथुन से सम्बन्धित मानते हैं तथा इसका मूल 'यम्' धातु को स्वीकार करते हैं।[८]

ऋग्वेद में 'यम्या' पद का प्रयोग बहुत अधिक नहीं हुआ है। प्रजापति ऋषि अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि अन्धकाररूप रात्रि तथा प्रकाशरूप प्रात:काल भगिनी के समान हैं। ये अनेक प्रकार के रूपों को प्रकट करते हैं। इनमें प्रात:काल अन्य प्रकार से अच्छा लगता है तथा रात्रि अन्य प्रकार से।[९] वामदेव ऋषि कहते हैं कि हमको प्राप्त होने वाली प्रदीप्त, बलवान् और गमनशील सूर्य की रश्मियाँ रात्रि को प्राप्त होकर नष्ट हो जाती हैं।[१०] प्रतिरथ आत्रेय ऋषि का कहना है कि रात्रि और दिन ये दोनों बन्धु हैं तथा ये संसार का भरण-पोषण करते हैं।[११] एक अन्य मन्त्र कहता है कि रात्रि से नियन्त्रित मद के साथ बढ़ने और कभी न क्षय

---

१ तै०सं० २.१.४.३-४.

२ निरु० १०.१९.

३ निघ०वृ०, १.७.७.

४ निघ०वृ०, १.७.७.

५ निघ०वृ०, १.७.७.

६ वै०पद०को०, पृ० २५७६-७७.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० ४१८.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८४७.

९ ऋ० ३.५५.११. ''नाना चक्राते यम्या३ वपूँषि तयोरन्यद्रोचते कृष्णमन्यत्। श्यावी च यदरुषी च स्वसारौ महद्देवानामसुरत्वमेकम्।''

१० ऋ० ४.२२.८. ''अस्मद्र्यक् शुशुचानस्य यम्या आशुर्न रश्मिं तुव्योजसं गो:।''

११ ऋ० ५.४७.५. ''द्वे यदीं बिभृतो मातुरन्ये इहेह जाते यम्या३ सबन्धू।''

होने वाले रात्रि के पयस् (अवश्याय) से यह सिक्त होता है।[१]

उपर्युक्त मन्त्रों का भाष्य करते समय प्रायः सभी स्थलों पर आचार्य सायण ने 'यम्या' का अर्थ 'युग्मभूत' किया है।[२] मोनियर विलियम्स भी ऋग्वेद में 'यम्या' का अर्थ यही मानते हैं।[३] लेकिन 'यम्या' का रात्रि अर्थ मानकर मन्त्रार्थ करने में किसी प्रकार की विसङ्गति की प्रतीति नहीं होती है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थ बहुमत से 'यम' का मूल उपरम अर्थ वाली 'यम्' धातु को स्वीकार करते हैं। तदनुसार रात्रि इसलिये 'यम्या' कहलाती है, क्योंकि यह प्राणियों को चेष्टा से विरत कर देती है अथवा यह सूर्य की गति से उपरत होती है।

लेकिन वेद के उपर्युक्त उद्धरणों में 'यम्या' का अर्थ युगल, युग्म या मिथुन लेना अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि उक्त चार में से दो मन्त्रों में ऋषि ऐसे सङ्केत देता है कि जिससे यह सिद्ध होता है कि वह युग्मभूत पदार्थों का विवेचन कर रहा है। एक मन्त्र में वह कहता है कि यह 'यम्या' नाना प्रकार के शरीरों को धारण करती है, इनमें से एक प्रकाशमान और दूसरा कृष्ण है।[४] दूसरे मन्त्र में ऋषि **'सबन्धू'** पद का प्रयोग करता है,[५] जिसका आशय है कि इसका दिवस से समान सम्बन्ध है। यम-यमी सूक्त में यम-यमी (दिवस तथा रात्रि) को 'वैवस्वत' बताया गया है।[६] 'विवस्वान्' पद का आशय **'विवासयत्यसौ'** है। दिवस रात्रि को निर्वासित करता है तथा रात्रि दिवस को। इसलिये विवासित करने और विवस्वान् के अपत्य होने से ये दोनों वैवस्वत हैं तथा इसी कारण 'सबन्धु' भी हैं। इस प्रकार की वेद की दृष्टि में 'यम्या' ऐसी रात्रि होने का सङ्केत देती है, जो दिवस की भगिनी है।

८. नम्या

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'नम्या' पद पठित है।[७] आचार्य यास्क तथा देवराजयज्वन् ने उक्तपद का निर्वचन प्रस्तुत नहीं किया है। तैत्तिरीयारण्यक एवं तैत्तिरीयोपनिषद् में 'नमस्' का निर्वचन करते हुए कहा गया है:-''**तन्नम इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः**''[८] कि उसकी नम से उपासना करनी चाहिये, क्योंकि इसके लिये कामनायें विनम्र होती हैं। यहाँ प्रह्वत्व एवं शब्द अर्थ वाली 'नम्' धातु से 'नमस्' को व्युत्पन्न किया गया है।

आचार्य देवराजयज्वन् अन्न वाचक 'नमस्' का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि यह सभी प्राणियों को उपनत होता है। इसके अतिरिक्त देवता होने से यह नमनीय है और जिनके पास यह अन्न होता है, वह भी अन्न

---

१ ऋ० ९.६८.३. ''वि यो ममे यम्या संयती मद साकंवृधा पयसा पिन्वदक्षिता।''

२ ऋ० ३.५५.११; ४.२२.८; ५.४७.५; ९.६८.३.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८४७.

४ ऋ० ३.५५.११. ''नाना चक्राते यम्या३ वपूँषि तयोरन्यद्रोचते कृष्णमन्यत्।''

५ ऋ० ५.४७.५. ''द्वे यदीं बिभृतो मातुरन्ये इहेह जाते यम्या३ सबन्धू।''

६ ऋ० १०.१०.

७ निघ० १.७.८

८ तै०आ०, ९.१०.४; तै०उप०, ३.१०.४.

के कारण नमनीय हो जाता है।[१]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'नमी' पद को ऋषि विशेष वाचक व्यक्तिपरक संज्ञापद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स 'नम्या' का मूल 'नम्' धातु को मानते हैं।[३] इस प्रकार 'नमस्' या 'नम्या' आदि पदों का मूल 'नम्' धातु है।

वैदिक साहित्य में 'नम्या' का प्रयोग विरल हुआ है। ऋग्वेद में 'नम्या' का एक बार तथा 'नमी' पद का मात्र दो बार उल्लेख देखने को मिलता है। आङ्गिरस सव्य ऋषि इन्द्र का स्तवन करते हुए कहते हैं कि वह रात्रि के सहायभूत नमुचि (न मुञ्चतीति=जो दुष्कर्म नहीं छोड़ता है) नाम के मायावी (छल-कपटयुक्त कर्म करने वाले) को दूर करता है।[४] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि इन्द्रस्तुति प्रकरण में कहते हैं कि इन्द्र नमुचि (कर्म न करने वाले) दास के शिर को मथता है तथा कार्य को पूर्ण करके शयन करने वाले की रक्षा करता है।[५] इन्द्र वैकुण्ठ ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि रात्रि आने पर भोग के लिये अन्न की प्राप्ति हो।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उक्त 'नम्या' से सम्बन्धित तीन उद्धरणों में से दो में 'नम्या' के साथ 'नमुचि' का उल्लेख देखने को मिलता है। 'नमुचि' पद का अर्थ है:-'न मुञ्चतीति'[७] कि जो दुष्कर्म का परित्याग नहीं करता है, वह मायावी (छली और कपटी) वेद की भाषा में 'नमुचि' कहा गया है। सम्भवतः, वेद 'नम्या' और 'नमुचि' में सम्बन्ध मान रहा है। वह रात्रि 'नम्या' है, जो 'नमुचि' के समान हमें शय्या का परित्याग नहीं करने देती है या वह शरद् कालीन रात्रि 'नम्या' है, जिसका अन्त समीप दिखायी न देता हो। इस दृष्टि से 'नम्या' का निर्वचन 'न+'मुञ्च्' से करना उपयुक्त प्रतीत होता है।

आचार्य सायण तथा कोषकार सामान्यतया 'नम्' धातु से 'नम्या' को व्युत्पन्न मानते हैं। इसलिये 'नम्या' पद का अर्थ 'नमनीय या नम्र' आदि करते हैं। मोनियर विलियम्स 'नम्या' का अर्थ 'विनम्र' तथा एक पौराणिक मनुष्य का नाम 'नमी' बतलाते हैं।[८] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'नम्या' को 'नम्' धातु से व्युत्पन्न करना असमीचीन नहीं है, परन्तु वेद की भाषा के सङ्केत के आधार पर 'नम्या' को 'न+'मुञ्च्' से उपपन्न करना युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है।

९. दोषा

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'दोषा' पद परिगणित है।[९] आचार्य यास्क तथा निघण्टु के

---

१ निघ०वृ०, २.७.२२. ''उपनतं जातमात्रेभ्यो भूतेभ्यः पूर्वजन्मकृतकर्मवशात्, नम्यते देवतात्वात्, नम्यन्त्यनेन हेतुना तद्वन्तः प्रयोजनस्य च हेतुत्वेन विवक्षा।''

२ वै०पद०को०, पृ० १७७४.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० २८४; संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५२८.

४ ऋ० १.५३.७. ''नम्या यदिन्द्र सख्या परावति निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम्।''

५ ऋ० ६.२०.६. ''शिरो दासस्य नमुचेर्मथायन्। प्रावन्नमीं साप्यं ससन्तम्।''

६ ऋ० १०.४८.९. ''प्र मे नमी साप्य इषे भुजे भूद्।''

७ सायण, ऋ० १.५३.७.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५२८.

९ निघ० १.७.९.

भाष्यकार आचार्य देवराजयज्वन् ने 'दोषा' पद का निर्वचन प्रस्तुत नहीं किया है। वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'दोषा' पद को रात्रि, तमस् प्रभृति का वाचक नामपद मानता है। उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची ने 'दोषा' पद को अव्युत्पन्न प्रदर्शित किया है।[२] मोनियर विलियम्स ने रात्रिवाचक 'दोषा' पद को अव्युत्पन्न माना है, जबकि दोष अर्थ वाले 'दोषा' पद को 'दुष्' धातु से निष्पन्न दिखाया है।[३]

वैदिक साहित्य में 'दोषा' पद का बहुत प्रयोग हुआ है। मधुच्छन्दा ऋषि अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि रात-दिन बुद्धि और कर्मों से उपासना करते हुए हम आपको नमस्कार करते हैं।[४] आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि अश्विन् देवों से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि रात्रि और उषःकाल में हमें अन्न प्रदान करो।[५] आङ्गिरस कुत्स ऋषि इन्द्र से निवेदन करते हैं कि अश्व आदि पशुओं की रक्षा के लिये, पक्षी के समान उड़ने वाले, अवसर आने पर रात-दिन परिवहन में समर्थ वाहन हमें प्राप्त हों।[६] लोपामुद्रा ऋषिका अगस्त्य से कहती हैं कि मैं वर्षों रात्रि और दिवसों को जीर्ण करती हुई, उषःकाल में श्रम करती रही हूँ।[७] गृत्समद ऋषि अग्नि के विषय में कहते हैं कि यह रात्रि और उषःकाल में गृहों में शोभा के साथ प्रशंसा को पाता है।[८] वामदेव ऋषि भी अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि यह रात्रि और उषःकाल में सबसे प्रशंसा को प्राप्त करता है।[९] वामदेव ऋषि एक अन्य स्थल पर कहते हैं कि यह बलवान् की सन्तान अग्नि रात्रि को मङ्गलकारी बनाता है तथा सुख का सम्बन्ध हमसे स्थापित करता है।[१०] एक अन्य स्थान पर वामदेव ऋषि कहते हैं कि प्रकाशित होता हुआ यह अग्नि रात-दिन पुष्टि को प्राप्त करता है, धन से प्रजाओं को संयुक्त करता है तथा शत्रुओं का विनाश करने वाला है।[११] वसुश्रुत आत्रेय ऋषि प्रार्थना करते हैं कि उत्तम विश्वास करने, सुन्दर जीवन को बढ़ाने और सत्य का आदर देने वाले रात्रि और दिन हमें प्राप्त हों।[१२] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि अग्नि की स्तुति करते हुए कहते हैं कि यज्ञ करने वाली प्रजा अनेक सेनाओं वाले अग्नि में आहुति देती हुई, रात-दिन अग्नि से प्राप्त होने वाले वसुओं को प्रेरित करती है।[१३] घोषा काक्षीवती ऋषिका कहती हैं कि आखेट करने वाले लोग जिस प्रकार मृग आदि भक्ष्य जीवों के माध्यम से सिंह आदि को बुलाते हैं, उसी प्रकार हम रात-दिन हवि के

---

१ वै०पद०को०, पृ० १६७०.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० २६४.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५९८.

४ ऋ० १.१.७. "उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि।"

५ ऋ० १.३४.३. "दोषा अस्मभ्यमुषसश्च पिन्वतम्।"

६ ऋ० १.१०४.१. "विमुच्या वयोऽवसायानश्वान्दोषा वस्तोर्वहीयसः प्रपित्वे।"

७ ऋ० १.१७९.१. "पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तोरुषसो जरयन्तीः।"

८ ऋ० २.८.३. "य उ श्रिया दमेष्वा दोषोषसि प्रशस्यते।"

९ ऋ० ४.२.८. "यस्त्वा दोषा य उषसि प्रशंसात्।"

१० ऋ० ४.११.६. "दोषा शिवः सहसः सूनो अग्ने यं देव आ चित्सचसे स्वस्ति।"

११ ऋ० ४.१२.२. "स इधानः प्रति दोषामुषासं पुष्यन् रयिं सचते घ्नन्नमित्रान्।"

१२ ऋ० ५.५.६. "सुप्रतीको वयोवृधा यह्वी ऋतस्य मातरा। दोषामुषासमीमहे।"

१३ ऋ० ६.५.२. "त्वे वसूनि पुर्वणीक होतर्दोषा वस्तोरेरिरे यज्ञियासः।"

माध्यम से आप अश्विनीदेवों का आह्वान करते हैं।[१]

उपर्युक्त विश्लेषण में प्रायः सभी मन्त्रों में 'दोषा' और 'वस्तः' या 'दोषा' और उषस्' का प्रयोग हुआ है। वेद में दिवस के विलोम के रूप में प्रयुक्त होने वाली रात्रि 'दोषा' है। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वह रात्रि 'दोषा' है, जिसमें मनुष्य उन्नति के सोपान चढ़ता है। वेद में उल्लिखित रात्रिवाचक 'दोषा' का 'दुष' वैकृत्ये' धातु से निष्पन्न होने वाले 'दोष' शब्द से सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है। इस प्रकार हम यह मान सकते हैं कि यह 'दोषा' पद एक ऐसी धातु से व्युत्पन्न हुआ है, जो निश्चित रूप से विकृति से भिन्न अर्थ वाली रही है।

१०. नक्ता

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'नक्ता' पद समाम्नात है।[२] आचार्य यास्क रात्रिवाचक 'नक्ता' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**नक्तेति रात्रिनाम। अनक्ति भूतान्यवश्यायेन**''[३] कि 'नक्ता' यह रात्रिवाचक नामपद है। यह पदार्थों को अवश्याय से संयुक्त करती है, अतः, रात्रि को 'नक्त' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अञ्ज्' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'नक्ता' रूप सिद्ध होता है।

(ख)''**अपि वाऽनक्ताऽव्यक्तवर्णा**''[४] अथवा यह अव्यक्त वर्णा है, रात्रि के समय पदार्थों के रूप अभिव्यक्त नहीं होते, अतः, रात्रि को 'नक्ता' कहते हैं। इस पक्ष में 'न+अक्त' से 'नक्ता' पद सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'नक्त' पद को रात्रि वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स 'नक्त' पद को अव्युत्पन्न मानते हैं।[६] संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभ में 'नक्त' को लज्जार्थक 'नज्' धातु से व्युत्पन्न माना है।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा यास्क के उक्त निर्वचन को असङ्गत मानते हैं।[८]

वैदिक साहित्य में 'नक्त' पद का व्यापक प्रयोग देखने को मिलता है। शुनःशेप ऋषि कहते हैं कि ये ऊपर स्थित नक्षत्र रात्रि में दिखायी पड़ते हैं, लेकिन दिन के समय पता नहीं कहाँ चले जाते हैं।[९] हिरण्यस्तूप आङ्गिरस ऋषि अश्विन् देवों के प्रकरण में कहते हैं कि अश्विन् देवों के रथ में तीन स्तम्भ स्थित हैं, वह रथ रात्रि और दिन में तीन-तीन बार यात्रा कर सकता है।[१०] पराशर ऋषि का कहना है कि यज्ञार्ह देवों ने रात्रि

---

१ ऋ० १०.४०.४. ''युवां मृगेव वारणा मृगण्यवो वस्तोर्हविषा नि ह्वयामहे।''

२ निघ० १.७.१०.

३ निरु० ८.१०.

४ निरु० ८.१०.

५ वै०पद०को०, पृ० १७६०.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० २८१; संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५२४.

७ संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभ, पृ० ५७८.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १२०.

९ ऋ० १.२४.१०. ''अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुह चिद्दिवेयुः।''

१० ऋ० १.३४.२. ''त्रयः स्कम्भासः स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा।''

और दिवस को विविधरूप वाला बनाया है। रात्रि को कृष्ण तथा दिवस को अरुणवर्ण में स्थापित किया है।[१] रहूगणपुत्र गोतम रात्रि, दिवस, पृथिवी और द्युलोक को मधुर देखने की प्रार्थना करते हैं।[२] आङ्गिरस कुत्स ऋषि अग्नि से निवेदन करते हैं कि वह मारने वाले से हमारी रात-दिन रक्षा करे।[३] परुच्छेप ऋषि अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि वह अग्नि रात-दिन सुदर्शनीय है।[४] ऋषि के कथन का मन्तव्य यह है कि रात्रि में सभी पदार्थ अन्धकार से आवृत होने से अदृश्य हैं, लेकिन अग्नि उस समय भी सुदृश्य है। दीर्घतमस् ऋषि का कथन है कि जिस प्रकार दिवस श्वेत केशों सदृश प्रकाश से युवा होता है, उसी प्रकार रात्रि में अग्नि उज्वल प्रकाश से युवा दिखायी देता है।[५] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार रंभाती हुई गायें बछड़ों को प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार परिश्रमी लोग कार्य का समय मानकर रात्रि में कर्म करते हैं।[६] आत्रेय ऋषि अग्नि को रात्रि में दूर से प्रकाश करने के वाले के रूप में चित्रित करते हैं।[७] वसिष्ठ ऋषि अग्नि की स्तुति करते हैं कि वह रात-दिन पाप में लिप्त व्यक्ति से हमें बचाता है तथा दिन-रात हमारी रक्षा करता है।[८] एक अन्य स्थल पर वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि अश्वों और गायों के धन वाला यह अग्नि हमारी हिंसा से रक्षा करे।[९] एक अन्य स्थान पर वसिष्ठ ऋषि अपने वास्तविक रूप को छिपाकर निशाचर जीवों के समान रात्रि में घूमने वाली स्त्री के नाश की प्रार्थना करते हैं।[१०] भर्ग प्रागाथ ऋषि इन्द्र से निवेदन करते हैं कि वह दिन-रात सभी स्तुति करने वालों की राक्षसों से रक्षा करे।[११] कवष ऐलूष ऋषि कितव की दुर्दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह ऋण से ग्रस्त होकर धन की इच्छा से, डरता हुआ रात्रि में दूसरों के घर चोरी करने जाता है।[१२] मूर्धन्वान् आङ्गिरस ऋषि कहते हैं कि रात्रि में अग्नि मूर्धास्थानीय होता है तथा प्रातः उदित होता हुआ यह सूर्य हो जाता है।[१३] मैत्रायणी-संहिता कहती है कि अग्नि और सूर्य ये दोनों चक्षु प्रदान करने वाले हैं। रात्रि में मनुष्य अग्नि के माध्यम से देखते हैं और सूर्य से दिवस में।[१४] एक अन्य स्थान पर मैत्रायणी-संहिता कहती है कि रात्रि में ही राक्षस सक्रिय होते हैं।[१५]

---

१ ऋ० १.७३.७. "नक्ता च चक्रुरुषसा विरूपे कृष्णं च वर्णमरुणं च सं धुः।"

२ ऋ० १.९०.७. "मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता।"

३ ऋ० १.९८.२. "स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम्।"

४ ऋ० १.१२७.५. "तमस्य पृक्षमुपरासु धीमहि नक्तं यः सुदर्शतरो दिवातरादप्रायुषे दिवातरात्।"

५ ऋ० १.१४४.४. "दिवा न नक्तं पलितो युवाजनि।"

६ ऋ० २.२.२. "अभि त्वा नक्तीरुषसो ववाशिरेऽग्ने वत्सं स्वसरेषु धेनवः।"

७ ऋ० ५.७.४. "स स्मा कृणोति केतुमा नक्तं चिद्दूर आ सते।"

८ ऋ० ७.१५.१५. "त्वं न पाह्यंहसो दोषावस्तरघायतः। दिवा नक्तमदाभ्यः।"

९ ऋ० ७.७१.१. "अश्वामघा गोमघा वां हुवेम नक्तं शरुमस्मद्युयोतम्।"

१० ऋ० ७.१०४.१७. "प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप द्रुहा तन्वं१ गूहमाना।"

११ ऋ० ८.६१.१७. "विश्वा च नो जरितृन्त्सत्पते अहा दिवा नक्तं च रक्षिषः।"

१२ ऋ० १०.३४.१०. "ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमु नक्तमेति।"

१३ ऋ० १०.८८.६. "मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।"

१४ मै०सं० २.३.६. "अग्नेर्वै मनुष्या नक्तं चक्षुषा पश्यन्ति, दिवैतौ वै चक्षुषः प्रदातारौ।"

१५ मै०सं० २.१.११. "नक्तꣳ वै रक्षाꣳसि प्रेरते।"

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'नक्ता' वह रात्रि है, जिसमें नक्षत्र चमकते हैं, परिश्रमी जन कर्म में रत रहते हैं, सङ्कटग्रस्त व्यक्ति चोरी करने के लिये उद्यत होता है, राक्षसों का भय बना रहता है और जिसमें अग्नि मूर्धास्थानीय है तथा जो कृष्णवर्ण की है एवं जिसमें अग्नि प्रकाशमान होने से सुदर्शतर है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार '**दोषावस्त:**' का साथ-साथ प्रयोग होता है, उसी प्रकार '**नक्तं दिवा**' या '**दिवा नक्तम्**' का। यास्क के द्वितीय निर्वचन की वेद के साथ सङ्गति प्रतीत होती है। यास्क ने उस रात्रि को 'नक्त' बतलाया है, जिसमें पदार्थों का रूप अनभिव्यक्त रहता है। वेद ने भी उस रात्रि को 'नक्त' नाम से अभिहित किया है, जो कृष्णवर्ण की है तथा जिसमें अग्नि का प्रकाश द्र से दिखायी पड़ता है। संस्कृत शब्दार्थकौस्तुभ ने कहा है कि वह समय जब सन्ध्या होने में केवल एक क्षण की देर हो, 'नक्त' माना है।[१] पर इस मत की पुष्टि वेद से होती प्रतीत नहीं होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'नक्त' वह रात्रि है, जो कृष्णवर्णा है, जिसमें अग्नि मूर्धास्थानीय है तथा जिसमें नाना प्रकार के उत्पातों का भय बना रहता है।

११. तम:

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'तमस्' पद परिगणित है।[२] आचार्य यास्क 'तमस्' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**तमस्तनोते:**"[३] कि यह अन्धकार सर्वत्र व्याप्त होने के कारण 'तमस्' कहलाता है। इस पक्ष में 'तमस्' पद विस्तार अर्थ वाली 'तन्' धातु से व्युत्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष के अनुसार 'तम:' नामपद है तथा उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची से भी उक्त मत पुष्ट हो जाती है।[५] मोनियर विलियम्स 'तमस्' का अर्थ ऐसा गहन अन्धकार ""नते हैं, जिसमें चक्षु की दर्शनशक्ति काम नहीं करती है। उनके अनुसार भी 'तन्' धातु से 'तमस्' पद उपपन्न होता है।[६]

वैदिक साहित्य में 'तमस्' का बहुत प्रयोग हुआ है। आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि इन्द्र का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वृष्टिकर्ता इन्द्र प्रहार करने योग्य वज्र के प्रकाश से अन्धकार को दूर तथा पृथिवी को जल से परिपूर्ण कर देता है।[७] प्रस्कण्व ऋषि सूर्य की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हम रात्रि के ऊपर वर्तमान अर्थात् पाप से रहित उत्कृष्टतर ज्योति को देखें।[८] रहूगणपुत्र गोतम ऋषि उषाकालीन स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हम तमस् के पार पहुँचें, वहाँ अन्धकार को दूर भगाती हुई उषा सब प्राणियों को प्रकाश देती है।[९]

---

१ संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभ, पृ० ५७८.

२ निघ० १.७.११.

३ निरु० २.१६.

४ वै०पद०को०, पृ० १४६८.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० २२८.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ४३८.

७ ऋ० १.३३.१०. "युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत्।"

८ ऋ० १.५०.१०. "उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।"

९ ऋ० १.९२.६. "अतारिष्म तमसस्पारमस्योषा उच्छन्ती वयुना कृणोति।"

ऋज्रादि ऋषियों का कथन है कि वह इन्द्र दृष्टि प्रतिबन्धक अन्धकार में भी प्रकाश का लाभ देता है।[१] औशिज कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि जब सूर्य तमोरूप शुष्ण नामक असुर के सङ्ग्राम से मुक्त होता है, तब वह उस असुर के हनन के साधन मेघरूप आयुध को नष्ट करता है।[२] अगस्त्य ऋषि अश्विन् देवों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि समुद्र के जल में निमग्न नौकाएँ, ऐसे अन्धकार में डूबी हुई हैं, जिसका आरम्भ अथवा आलम्बन दिखायी नहीं देता है।[३] गृत्समद ऋषि इन्द्र के प्रकरण में कहते हैं कि वह इन्द्र अपने तेज से द्यावापृथिवी को व्याप्त तथा तमस् रूप राक्षसों को फैलाता हुआ सम्पूर्ण जगत् को आच्छादित करता है।[४] विश्वामित्र ऋषि इन्द्र के विषय में कहते हैं कि वह दस प्रकार से चलने वाले दस पवनों से तमस् में निवास करते हुए सूर्य को जानता है।[५] इसी सूक्त में पुनः विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि दुरित से समीप हों या दूर हम तमस् को जानते हुए ज्योति का वरण करें।[६] वामदेव ऋषि कहते हैं कि यह इन्द्र की सामर्थ्य है कि वह अन्धे कर देने वाले अन्धकार को भी प्रकाशित कर देता है।[७] वामदेव ऋषि बृहस्पति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सात मुखों तथा सात रश्मियों वाला बृहस्पति शब्द करता हुआ तमस् को दूर भगा देता है।[८] सत्यश्रवा आत्रेय ऋषि उषा का चित्रण करते हुए कहते हैं कि द्युलोक की पुत्री उषा द्वेषों तथा तमस् को बाधित करती हुई, ज्योति के साथ उदित होती है।[९] त्रित ऋषि कहते हैं कि विचित्र शिशु अग्नि रात्रियों में अन्धकार को दूर करता है।[१०] रेणु ऋषिका कहती है कि इन्द्र कृष्ण अन्धकार को अपनी कान्ति से मार-देता है।[११] मूर्धन्वान् आङ्गिरस ऋषि सृष्टि-उत्पत्ति-प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहते हैं कि अपने कारण में लीन जगत् तमस् से आच्छादित था।[१२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में रात्रि का अभिधान 'तमस्' नहीं है। यह पद मुख्यरूप से वेद में 'गहन अन्धकार' के अर्थ में आया है। ब्राह्मण स्पष्टरूप से कहता है कि **''कृष्णं वै तमः''**[१३] कि तम कृष्णवर्ण होता है। यह गहन 'तमस्' कहीं मेघ के आच्छन्न होने और कहीं रात्रि द्वारा जगत् के आच्छादित करने से है। इसलिये ऋषि इस अन्धकार को 'अन्धतमस्' और 'कृष्णतमस्' कहकर पुकारता है। इस अन्धकार की एक विशेषता ऋषि यह मानता है कि यह 'तमस्' अनारम्भण है अर्थात् आरम्भ या आलम्बनरहित है। इसी तमस् में रहने वाले सूर्य को इन्द्र जानता है तथा जगत् के अपने कारण में लीन होने

---

१ ऋ० १.१००.८. ''सो अन्धे चित्तमसि ज्योतिर्विदन्।''
२ ऋ० १.१२१.१०. ''पुरा यत्सूरस्तमसो अपीतेरस्तमद्रिवः फलिगः हेतिमस्य।''
३ ऋ० १.१८२.६. ''अवविद्धं तौग्र्यमप्स्व१न्तरनारम्भणे तमसि प्रविद्धम्।''
४ ऋ० २.१७.४. ''आद्रोदसी ज्योतिषा वह्निरातनोत्सीव्यन्तमांसि दुधिता समव्ययत्।''
५ ऋ० ३.३९.५. ''सत्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम्।''
६ ऋ० ३.३९.७. ''ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्नारे स्याम दुरितादभीके।''
७ ऋ० ४.१६.४. ''अन्धा तमांसि दुधिता विचक्षे।''
८ ऋ० ४.५०.४. ''सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि।
९ ऋ० ५.८०.५. ''अप द्वेषो बाधमानः तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्।''
१० ऋ० १०.१.२. ''चित्रः शिशुः परि तमांस्यक्तून्।''
११ ऋ० १०.८९.२. ''कृष्णा तमांसि त्विष्या जघान।''
१२ ऋ० १०.८८.२. ''गीर्णं भुवनं तमसापगूळ्हम्।''
१३ शत०ब्रा०, ५,३.२.२.

पर यह 'तमस्' ही शेष रहता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में 'तमस्' मात्र 'गहन अन्धकार' अर्थ में प्रयुक्त होता हुआ दिखायी देता है।

१२. रजः

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'रजस्' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क 'रजः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**रजो रजतेः। ज्योती रज उच्यते। उदकं रज उच्यते। लोका रजांस्युच्यन्ते। असृगहनी रजसी उच्येते**"[२] कि प्राणियों के रञ्जक अथवा गतिशील होने के कारण ज्योति, उदक, लोक तथा अहोरात्र 'रजः' नाम से अभिहित होते हैं। इस पक्ष में रागार्थक 'रञ्ज्' या निघण्टु की गत्यर्थक 'रज्' धातु से 'रजस्' पद निष्पन्न होता है।

द्यावापृथिवी' वाचक 'रजस्' पद का निर्वचन करते हुए आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं: "**रजके स्वगुणे भूतानाम्**"[३] कि अपने गुणों से भूतों को रञ्जित करते हैं, अतः, ये 'रजस्' कहलाते हैं। इस पक्ष में 'रञ्ज्' धातु से 'असुन्' प्रत्यय होकर 'रजस्' पद व्युत्पन्न होता है।

(ख)"**रजो रजतेर्गतिकर्मणः- इति माधवः। गम्यते हि पुण्यवद्भिः**"[४] कि आचार्य माधव का अभिमत है कि गत्यर्थक 'रज्' धातु से 'रजस्' पद निष्पन्न होता है। ये द्यावापृथिवी पुण्यवानों को प्राप्त होते हैं, अतः, ये 'रजस्' कहे जाते हैं।

आचार्य सायण 'रजस्' पद का निर्वचन निम्न प्रकार करते हैं:-"**रजन्त्यस्मिन्निति गन्धर्वादय इति रजः अन्तरिक्षम्**"[५] कि इस अन्तरिक्ष में गन्धर्वादि मनोरञ्जन करते हैं, अतः, यह 'रजस्' कहलाता है। एक अन्य स्थान पर लोकवाचक 'रजस्' का निर्वचन वे निम्नप्रकार करते हैं:-"**रजन्त्यस्मिन्निति रजो लोकः**"[६] इसमें जगत् विभिन्न रंगों में रंग जाता है, अतः, लोक 'रजस्' कहलाता है। उपर्युक्त पक्षों में 'रञ्ज' रागे' धातु से 'असुन्' प्रत्यय तथा 'न' का लोप होकर 'रजस्' पद निष्पन्न होता है।[७] उणादिकोष से भी उपर्युक्त निर्वचन का समर्थन हो जाता है।[८]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'रञ्ज्' धातु से निष्पन्न 'रजस्' पद को अन्तरिक्ष, लोक, धूलि प्रभृति का वाचक नामपद मानता है।[९] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स से उक्त मत की पुष्टि हो जाती है।[१०] परन्तु मोनियर विलियम्स 'रजस्' का अर्थ रात्रि न मानकर अन्धकार मानते हैं।[११] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा

---

१ निघ० १.७.१२.
२ निरु० ४.१९.
३ निघ० ३.३०.८.
४ निघ० ३.३०.८.
५ सायणभाष्य, ऋ० १.८१.५.
६ सायणभाष्य, ऋ० १.११०.६.
७ अष्टा०,काशिका, ६.४.२४.
८ उणा०, ४.२१८.
९ वै०पद०को०, पृ० २६२५.
१० ऋ०वै०पद०, पृ० ४३७.
११ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८६३.

कहते हैं कि निरुक्त के व्याख्याकार आचार्य दुर्ग 'रज्' धातु का अर्थ 'प्रसन्न करना' मानते हैं, लेकिन यास्क को 'रज्' धातु का क्या अर्थ अभीष्ट है, स्पष्ट नहीं है। वे कहते हैं कि भारोपीय भाषा में यह 'रेग' तथा लैटिन भाषा में 'रेगो' 'निर्देशित करने' के अर्थ में है। ये यास्क के उक्त निर्वचन को अस्पष्ट व्युत्पत्ति वाले वर्ग में रखते हैं।[१]

वैदिक साहित्य में 'रजः' पद का प्रयोग विविध अर्थों में और बहुत हुआ है। लेकिन रात्रि अर्थ में इसका प्रयोग विरल हुआ है या कह सकते हैं कि इस अर्थ में 'रजः' का प्रयोग सन्दिग्ध है। आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं कि विविध रश्मियों से युक्त सवितादेव रथ पर आरूढ हुए कृष्ण वर्ण की रात्रियों के बल को अपने अन्दर समाहित करते हुए प्रकाशित होते हैं।[२] दीर्घतमस् ऋषि अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि यह द्विजन्मा अग्नि अन्तरिक्ष, पृथिवी, गार्हपत्य आदि तीनों स्थानों के सम्पूर्ण अन्धकार को दूर करते हुए प्रकाशित होता है।[३] गृत्समद ऋषि विश्वदेवों का स्तवन करते हुए कहते हैं कि जब व्यापनशील किरणें पृथिवी के अन्धकार को पार करती हैं, तब वे सर्वप्रथम पृथिवी के पर्वतों पर अपने किरणरूपी पाणि से प्रहार करती हैं।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में 'रजस्' सामान्यतया रात्रि अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। वेद में 'रजांसि' जहाँ साधारण रूप से 'लोक' का अभिधान माना गया है, वहाँ 'रजः' या 'रजसः' का प्रयोग 'उदक' और 'अन्तरिक्ष' के लिये प्रायः हुआ है। जो कुछ भी उद्धरण 'रजस्' के रात्रि अभिधेय के प्राप्त हुए हैं, उनके आधार पर 'रजस्' का रात्रिपरक स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि वेद में यह पद 'अन्धकार' अर्थ का वाचक है। निर्वचन की दृष्टि से माना जा सकता है कि 'तमस्' सबको अपने रंग में रंग लेता है, इसलिये वह 'रजस्' नामकरण का अधिकारी है।

१३. असिक्नी

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'असिक्नी' पद परिगणित है।[५] आचार्य यास्क नदी प्रकरण में 'असिक्नी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**असिक्न्यशुक्ला, असिता**''[६] कि 'असिक्नी' का अर्थ 'अशुक्ला' अर्थात् जो सित (श्वेत) नहीं है, ऐसी नदी 'असिक्नी' (कृष्णा) कही जाती है।

संस्कृत शब्दार्थकौस्तुभ में 'असिक्नी' पद का निम्न निर्वचन प्राप्त होता है:-''**सिता केशादौ शुभ्रा जरती तद्भिन्ना अबद्धा**''[७] कि जिसके केश श्वेत हो गए हैं, उससे भिन्न काले केशों वाली, बन्धन रहित युवती या रात्रि 'असिक्नी' है। यहाँ 'सित' पद के विलोम 'असित' का स्त्रीलिङ्ग रूप 'असिक्नी' है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'असिक्नी' पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध मानता है। उसके अनुसार कुछ

---

१ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १४२.

२ ऋ० १.३५.४. ''आस्थाद्रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः।''

३ ऋ० १.४९.४. ''अभि द्विजन्मा त्री रोचनानि विश्वा रजांसि शुशुचानो अस्थात्।''

४ ऋ० २.३१.२. ''यदाशवः पद्याभिस्तित्रतो रजः पृथिव्या सानौ जङ्घनन्त पाणिभिः।''

५ निघ० १.७.१३.

६ निरु० ९.२६.

७ संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ, पृ० १६५.

'अ+सिक्नी' से तथा कुछ 'असि+क्नी' से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'असिक्नी' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स का मत है कि यह पद सम्भवतः, 'सित' से निष्पन्न हुआ है, परन्तु यह 'अ+सित' से व्युत्पन्न नहीं है। वे इसकी तुलना 'असुर' और 'सुर' से करते हैं। जिस प्रकार 'असुर' सुर का विलोम नहीं है, उसी प्रकार 'असित' सित का सम्बन्ध है।[३] इस प्रकार मोनियर विलियम्स की दृष्टि में 'असित' और 'असिक्नी' का 'सित' से स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ है।

डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का मत है कि 'असिक्नी' पद 'असित' पद का स्त्रीलिङ्ग रूप है। यद्यपि सैन्ट पीटर्सबर्ग और वाल्दे कोष सुनिश्चित नहीं हैं, फिर भी ये सुझाव देते हैं कि भारोपीय भाषा में यह 'णसी' 'काले रंग की मृत्तिका' तथा ग्रीक में यह 'असिस' 'नदी मृत्तिका के' अर्थ में है। इसलिये वे सम्भावना प्रकट करते हैं कि 'असिक्नी' पद का यास्कीय निर्वचन तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा स्वीकार करने योग्य है।[४]

वेद में 'असिक्नी' पद का बहुत कम प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में मात्र यह पद छः बार आया है, उसमें से दो बार यह 'नदी' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[५] आचार्य यास्क ने भी इस पद का विवेचन 'नदी' के सन्दर्भ में किया है। वसिष्ठ ऋषि वैश्वानर की स्तुति करते हुए कहते हैं कि इसके भय से एकान्त में वर्तमान प्रजा रात्रि में भोगयोग्य पदार्थों का त्याग करके मर्यादा को धारण करती है।[६] ऋषि के कथन का मन्तव्य यह प्रतीत होता है कि रात्रि के समय निद्रा में समस्त प्रजा पृथक्-पृथक् हो जाती है और यह वह समय जब लोग गृहस्थादि भोग्य पदार्थों या धर्मों का एकान्त में सेवन करते हैं। वामदेव ऋषि इन्द्र का स्तवन करते हुए कहते हैं कि रात्रि में जिस प्रकार यजमान होता (आह्वाता) सोम से अग्नि को सींचता है, उसी प्रकार इन्द्र मेघ से पृथिवी को।[७] त्रित ऋषि अग्निदेव का माहात्म्य प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि यह अग्नि (सूर्य) प्रातःकाल के समय कृष्णवर्णा रात्रि को हटाता हुआ उषा को प्राप्त होता है।[८] पवित्र ऋषि पवमानदेव का स्तवन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार रात्रिरूप त्वचा भू और द्युलोक को व्याप्त कर लेती हैं, उसी प्रकार आच्छादित करने तथा ईश्वर की आज्ञा को भङ्ग करने वाले राक्षसों का वह अपनी मायावी शक्ति से नाश करता है।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'असिक्नी' वह रात्रि है, जिसमें प्रजा भोग्य पदार्थों या धर्मों का एकान्त में भोग करती है। इसके अतिरिक्त मेघ से आच्छादित रात्रि को भी वेद 'असिक्नी' मानता है, क्योंकि इसमें रात्रि का स्वरूप गहन होने के कारण अधिक अन्धकारमय हो जाता है।

---

१ वै०पद०को०, पृ० ६१८.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ७४.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२०.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ६७.

५ ऋ० ८.२०.२५; १०७५.५.

६ ऋ० ७.५.३. ''त्वद्भिया विश आयन्नसिक्नीरसमना जहतीर्भोजनानि।''

७ ऋ० ४.१७.१५. ''असिक्न्यां यजमानो न होता।''

८ ऋ० १०.३.१. ''चिकिद्वि भाति भासा बृहतासिक्नीमेति रुशतीमपाजन्।''

९ ऋ० ९.७३.५. ''इन्द्रद्विष्टामप धमन्ति मायया त्वचमसिक्नीं भूमनो दिवस्परि।''

इसकी गहनता को स्पष्ट करता हुआ वेद कहता है कि जैसे त्वचा चारों से व्याप्त कर लेती है, उसी प्रकार यह 'असिक्नी' नामक रात्रि चारों ओर से घेर लेती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह रात्रि 'असिक्नी' है, जिसमें अन्धकार की गहनता अधिक होती है।

१४. पयस्वती

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'पयस्वती' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'पयस्वती' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**पयोऽस्या अस्तीति**''[२] कि यह पयस् वाली होती है, अतः, रात्रि को 'पयस्वती' कहा जाता है।

आचार्य यास्क 'पयस्' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**पयः पिबतेर्वा**''[३] कि 'पयस्' पद पानार्थक 'पा' धातु से व्युत्पन्न होता है। पेय होने के कारण उदक को 'पयस्' कहा जाता है।

(ख)''**प्यायतेर्वा**''[४] कि इसके पान करने से प्राणी बढ़ जाते हैं, अतः, उदक को 'पयस्' कहा जाता है। तैत्तिरीय-संहिता कहती है कि पयस् से गर्भ वृद्धि को प्राप्त होते हैं।[५] इस पक्ष में वृद्ध्यर्थक 'प्या' धातु से 'पयस्' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'पयस्वत्यः' पद को उदक, क्षीर प्रभृति अर्थो का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। कुछ आचार्य 'पय्' उन्दने' तथा ग्रासमैन प्रभृति विद्वान् 'पा' पाने' या 'प्याय्' वृद्धौ' धातु से 'पयस्' शब्द को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची अव्युत्पन्न 'पयस्' शब्द से 'पयस्वत्यः' पद को सिद्ध मानती है।[७] मोनियर विलियम्स उक्तपद का मूल 'पी' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में यह पद उदक या दुग्ध या वीर्य या रस, रसयुक्त, शक्तिशाली अर्थ में आया है। कोषकारों के मत में 'पयस्वती' पद रात्रि अर्थ का वाचक अवश्य है, परन्तु रात्रि अर्थ के प्रयोग का उदाहरण प्राप्त नहीं होता है।[८] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि 'पयस्' का आदिप्ररूप भारोपीय भाषा में 'poi, poia' शब्द 'स्थूल' अर्थ में तथा अवेस्ता में 'paeman' शब्द 'माता के दुग्ध' अर्थ में है। डॉ. वर्मा उक्त यास्कीय निर्वचन को तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के द्वारा आंशिक रूप से स्वीकरणीय मानते हैं।[९] वेद से प्राप्त सङ्केत 'पयस्' शब्द को 'पय्' या 'प्या' धातुमूलक होने का समर्थन करते हैं।[१०]

वैदिक साहित्य में 'पयस्वती' का विरल प्रयोग हुआ है, परन्तु सर्वत्र 'पयस्वती' का अर्थ 'उदकवती'

---

१ निघ० १.७.१४.

२ निघ०वृ०, १.७.१४.

३ निरु० .२.५.

४ निरु० .२.५.

५ तै०सं० ६.२.५.३. ''पयसा वै गर्भा वर्धन्ते।''

६ वै०पद०कोष, पृ० १९०६-१९०९.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० ३०६.

८ संस्कृत-इंग्लिशकोष, पृ०, ५८६.

९ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ११, १८, ६०.

१० ऋ० १.७९.३, १५३.४, १६४.२८, २.१३.१, ४.३.९, ७.३६.६, ९.६.७, १०.६४.१२, १३३.७.

किया गया है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं कि रात्रिवाचक 'पयस्वती' पद के निगम का अन्वेषण करना चाहिये।[२] कहने का आशय यह है कि देवराजयज्वन् को भी उक्तपद का प्रयोग कहीं देखने को नहीं मिला है। 'पयस्वती' पद के अर्थ को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि वह रात्रि 'पयस्वती' है, जिसमें अवश्याय का पतन या जो वर्षा से सिक्त होती है या जिसमें चन्द्रमा के कारण शीतलता की वृद्धि होती है। अतः, अर्थ को ध्यान में रखते हुए 'प्या' धातु को 'पयस्' शब्द का मूल मान सकते हैं।

१५. तमस्वती

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'तमस्वती' पद परिगणित है।[३] आचार्य देवराजयज्वन् रात्रिवाचक 'तमस्वती' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**ताम्यन्त्यनेनेति तमोऽन्धकारं तेन तद्वती**"[४] कि इससे सुख की आशा करते हैं, अतः, अन्धकार को 'तमस्' कहा जाता है, और उस अन्धकार से युक्त रात्रि 'तमस्वती' कही जाती है। इस पक्ष में काङ्क्षा अर्थ वाली 'तम्' धातु से 'असुन्' और उससे 'मतुप्' प्रत्यय होकर 'तमस्वती' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'तमस्' का निर्वचन निम्न देते हैं:-"**तमस्तनोतेः**"[५] कि तमस् विस्तार अर्थ वाली 'तन्' धातु से उपपन्न होता है। क्योंकि यह सर्वत्र फैल जाता है, अतः, अन्धकार को 'तमस्' कहते हैं। वैदिक ऋषि भी 'तमस्' को 'तन्' धातु से व्युत्पन्न होने का सङ्केत देता है।[६]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष सन्दिग्ध व्युत्पत्ति वाले 'तमस्' शब्द से 'तमस्वती' पद को उपपन्न मानता है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची से भी उक्त कथन का समर्थन होता है।[८] मोनियर विलियम्स कहते हैं कि अवेस्ता में 'तमस्वती' पद का अभिधेय धुँधला, उदास या निराशाजनक है तथा निघण्टुकोष में यह रात्रिवाचक है, पर इसका उदाहरण नहीं मिलता है।[९] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का मत है कि भारोपीय भाषा में यह 'तेमोस' 'अन्धकार' तथा लिथुआनियन में 'तमस' 'अन्धकार' अर्थ में है। वे यास्क के इस निर्वचन को असङ्गत मानते हैं।[१०] सम्भवतः, असङ्गत मानने का कारण यह है कि उनकी दृष्टि में विस्तारार्थक 'तन्' धातु का अन्धकार के साथ मेल नहीं है। लेकिन यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि पाणिनि व्याकरण की एक भी धातु ऐसी नहीं है, जो अन्धकार अर्थ की प्रतीति कराती हो। अन्धकार शब्द का 'अन्ध' भाग भी 'न+'ध्यै' या फिर 'अद्' धातु से निष्पन्न होता है। इन दोनों धातुओं का अर्थ अन्धत्व की प्रतीति नहीं कराता है। अन्धत्व अर्थ की प्रतीति भाषा

---

१ ऋ० ४.५७.७; ६.७०.२; १०.१७.१४.

२ निघ०वृ०, १.७.१४.

३ निघ० १७.१५.

४ निघ०वृ०, १७.१५.

५ निरु० २.१६.

६ ऋ० २.१७.४. "आतनोत् सीव्यन्तमांसि।" ऋ० ६.२१.३. "स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत्।"

७ वै०पद०को०, पृ० १४६९.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० २२८.

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ४३८.

१० दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १२०.

में लाक्षणिक आधार पर होती है। संस्कृत भाषा का एक शब्द भी ऐसा नहीं है, जो अभिधा के आधार पर अभावात्मक भाव की प्रतीति कराता हो, जैसे-नष्ट, समाप्त, तमस्, अन्धकार आदि। भारतीय दर्शन और भारतीय भाषा में असत् (अभाव और निराशा) के लिये कोई स्थान नहीं है। इसका कारण यह है कि आत्मा सत्तात्मक और प्रकाशस्वरूप है, अतः, सत्ता और प्रकाश का अभाव काल्पनिक तो हो सकता है, परन्तु वास्तविक नहीं। इसलिये संस्कृत भाषा में अस्तित्वहीनता तथा अन्धकार अर्थ की प्रतीति कराने वाले पदों का अभाव पाया जाता है। इस प्रकार हम यह निष्कर्ष ग्रहण कर सकते हैं कि भारतीय दर्शन ही केवल अस्तित्व को नित्य या सत्य नहीं मानता, अपितु भाषा से भी इसकी पुष्टि हो जाती है।

चारों वेदों में से केवल अथर्ववेद में एक स्थान पर 'तमस्वती' पद का प्रयोग हुआ है। रात्रि देवता का वर्णन करता हुआ अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि न तो रात्रि का अन्तिम छोर और न प्रकाश से अलग होने वाला स्थान दिखलायी पड़ता है। जो कुछ भी चेष्टा की जाती है, वह सब रात्रि में उपरत हो जाती है। हे विस्तृत अन्धकारमयी रात्रि! विना कष्ट पाये हम तेरे पार को प्राप्त करें, हे भद्रे! हम तेरे पार को प्राप्त करें।[१] इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में उक्तपद का दो स्थानों पर और प्रयोग हुआ है।[२] लेकिन उक्तपद से सम्बन्धित निगम को आचार्य देवराजयज्वन् अन्वेषणीय बतलाते हैं।[३]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि जिसका ओर-छोर दिखायी नहीं पड़ता, वेद में वह रात्रि 'तमस्वती' है। इसके अतिरिक्त 'तमस्' और 'तमस्वती' इन दोनों पदों के रात्रिवाचक नामपदों में परिगणन को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि ये दोनों पद समानार्थक नहीं है। प्रथम जहाँ अन्धकार का बोध कराता है, वहाँ दूसरा पद 'अन्धकार युक्त रात्रि' की प्रतीति कराता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि निघण्टुकार ने पर्यायवाची पदों का परिगणन करते समय गणों में मात्र पर्यायवाची पदों का समावेश नहीं किया है। वे ऐसे पदों का भी समाम्नान करते हैं, जो तत्सदृश अर्थ की प्रतीति कराता हो। जैसे-हिरण्यवाचक पदों में अन्य धातुवाचक पदों का, रात्रिवाचक पदों में रात्रि के साथ-साथ अन्धकार वाचक पदों का भी। यह निघण्टुकार की अपनी विशिष्ट शैली है। इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि विस्तार के कारण जिसका ओर-छोर दिखायी नहीं पड़ता और जो अपने अन्धकार से सबको आवृत कर लेती है, वेद में वह रात्रि 'तमस्वती' है,

१६. घृताची

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'घृताची' पद का समाम्नान हुआ है।[४] आचार्य देवराजयज्वन् रात्रिवाचक 'घृताची' पद का निर्वचन निम्न देते हैं:-"**सेचयन्त्यनेन भूमिं पर्जन्यः, क्षरति मेघात् दीप्तं वा स्वेन तेजसा देवतात्वादिति घृतमत्रावश्यायलक्षणं जलम्, तदञ्चति**"[५] इससे पर्जन्य भूमि को सींचता है अथवा यह

---

१ अथर्व०, १९.४७.२. "न यस्याः पारं ददृशे न योयुवद् विश्वमस्यां नि विशते यदेजति। अरिष्टासत उर्वि तमस्वति रात्रि पारमशीमहि भद्रे पारमशीमहि।"

२ पै०सं० ६.२०.२. काठ०सं० ११.९.

३ निघ०वृ०, १७.१५.

४ निघ० १.७.१६.

५ निघ०वृ०, १.७.१६.

मेघ से बरसता है या यह देवता होने के कारण अपने तेज से दीप्त होता है, अतः, जल को 'घृत' कहा जाता है। ऐसे घृत (उदक) से युक्त रात्रि 'घृताची' कही जाती है। इस पक्ष में क्षरण और दीप्ति अर्थ वाली 'घृ' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'घृत' शब्द निष्पन्न होता है। 'अञ्च्' धातु से 'क्विन्' और उससे 'ङीप्' प्रत्यय होकर 'अची' रूप उपपन्न होता है। इस प्रकार 'घृत+अची' से 'घृताची' पद व्युत्पन्न होता है।

आचार्य सायण ने भी कुछ इसी प्रकार का निर्वचन प्रस्तुत किया है:-"**घृतमुदकं अञ्चति भूमिं प्रापयति या धीर्वर्षणकर्म तां घृताचीम्**"।[१] महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी 'घृताची' का निर्वचन निम्न प्रकार दिया है:-"**या घृतमुदकमञ्चति सा घृताची**"।[२]

मैत्रायणी-संहिता क्षरणार्थक 'घृ' धातु से 'घृत' पद का निर्वचन करती हुई कहती है कि जो (तप्त होकर) क्षरित होता है, वह 'घृत' है।[३] तैत्तिरीय-संहिता का मत है कि धारण किये जाने का कारण यह 'घृत' कहलाता है। इस पक्ष में धारणार्थक 'धृ' धातु से 'घृत' शब्द व्युत्पन्न होता है।[४]

आचार्य यास्क 'घृत' के विषय में कहते हैं:-"**घृतमित्युदकनाम, जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः**"[५] कि 'घृत' यह उदकवाची नामपद है। यह सिञ्चन अर्थ वाली 'घृ' धातु से निष्पन्न होता है। यास्क यहाँ 'घृत' पद को सिञ्चन अर्थ वाली धातु से उपपन्न कर रहे हैं, जबकि पाणिनीय धातुपाठ के अनुसार यह धातु क्षरण और दीप्ति अर्थ वाली है।[६] वेद भी 'घृत' पद को 'घृ' धातु से निष्पन्न होने का सङ्केत देता है।[७]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'घृत+'अञ्च्' से निष्पन्न 'घृताची' पद को धी, जुहू का विशेषण तथा सरस्वती, रात्रि, हरित्, सिलाची प्रभृति का वाचक नामपद मानते हैं।[८] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार 'घृ' धातु से 'घृत' पद, 'घृत+अच्' से 'घृताच्' और उससे 'घृताची' निष्पन्न होता है।[९] मोनियर विलियम्स कहते हैं कि 'घृत' पद अवेस्ता तथा निघण्टु में रात्रि अर्थ का वाचक है। उनकी दृष्टि में ऋग्वेद में यह पद 'घृतयुक्त' या 'घी का छिड़काव' अर्थ में प्रयुक्त है।[१०] आचार्य सायण ने भी लगभग यही अर्थ ग्रहण किया है, वे प्रायः 'घृताची' का अर्थ 'क्षरणशील उदक को अञ्चित करती हुई' करते हैं।[११]

डॉ. वर्मा का यास्कीय निर्वचन के सम्बन्ध में अभिमत है कि ऋग्वेद में 'घृ' धातु 'छिड़कना' अर्थ में प्रायः आयी है, लेकिन 'घृत' नामपद का प्रत्यक्ष अर्थ 'घी' है, न कि उदक। घृत पद का उक्त अभिधेय

---

१ सायण, ऋग्वेदभाष्य, १.२.७.

२ दया०, ऋग्वेदभाष्य, ५.४३.११.

३ मै०सं० २.३.४. "यदध्रियत तद् घृतम्।"

४ तै०सं०२.३.१०.१. "यद् ध्रियते तद् घृतमभवत्।"

५ निरु० ७.२४.

६ पाणिनि०, धातु०, ३.१४.

७ ऋ० २.१०.४. "जिघर्म्यग्निं हविषा घृतेन।" यजु०, ११.२३. "आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन।"

८ वै०पद०को०, पृ० १२८०.

९ ऋ०वै०पद०, पृ० १९५.

१० संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३७९.

११ सायणभाष्य,ऋ० १.१६७.३.

लाक्षणिक रूप से 'वर्षा के जल में' परिवर्तित हो गया है।[१]

वैदिक साहित्य में 'घृत' पद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। कुशिकपुत्र गाथी अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि हे अग्ने! तुम्हारे लिये सुन्दर प्रकाश से युक्त, हवि प्रदान करने वाली रात्रि को यह हवि प्राप्त होता है।[२] विश्वामित्र ऋषि ऋतु का वर्णन करते हुए कहते हैं कि अन्न, प्रकाश और हवि से युक्त सुख की कामना करने वाला रात्रियों में देवताओं को प्राप्त होता है।[३] एक अन्य प्रकरण में इन्द्र की स्तुति करते हुए विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि जल से युक्त रात्रि के समान इन्द्र की कल्याणकारिणी सुमति अपरिमित धनदान की शक्ति को धारण किए हुए है।[४] उपर्युक्त सभी मन्त्रों का भाष्य करते हुए आचार्य सायण ने 'घृताची' पद का अर्थ 'क्षरणशील उदक को अञ्चित करती हुई' किया है।[५] आचार्य देवराजयज्वन् भी '**निगमोऽन्वेषणीयः**' कहते हैं।[६] इस प्रकार हम यह मान सकते हैं कि वेद में 'घृताची' पद का 'रात्रि' अर्थ सन्दिग्ध है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह रात्रि 'घृताची' है, जिस रात्रि में 'घृत (हवि) अग्नि में अर्पित' किया जाता है और जिसके परिणामस्वरूप देवता से अपरिमत धन दान के रूप में प्राप्त होता है। शब्द की संरचना से भी इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। 'घृताची' शब्द 'घृत+'अञ्च्' धातु से निष्पन्न होता है। पाणिनीय धातुपाठ के अनुसार 'अञ्च्' धातु का अभिधेय गति और पूजा माना जाता है। तदनुसार 'घृताची' का अर्थ है:-''जिसमें घृत से पूजन किया जाता है।'' इस प्रकार ऐसी रात्रि 'घृताची' है, जिसमें उक्त कर्म सम्पन्न होता है।

१७. शिरिणा

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'शिरिणा' पद पठित है।[७] आचार्य देवराजयज्वन् रात्रिवाचक 'शिरिणा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**शाययन्ति प्राणिनः शिरिणा**''[८] कि इसमें प्राणी सुलाये जाते हैं, अतः रात्रि को 'शिरिणा' कहा जाता है। इस पक्ष में शयनार्थक 'शीङ्' धातु से 'रुट्' आगम तथा 'इनच्' प्रत्यय होकर 'शिरिणा' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य सायण उक्तपद का निर्वचन कुछ भिन्न प्रकार से करते हुए कहते हैं:-''**शीर्यन्तेऽस्यां भूतानीति शिरिणा रात्रिः**''[९] कि इसमें भूतों की हिंसा होती है, अतः, रात्रि को 'शिरिणा' कहते हैं। इस पक्ष में

---

१ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ५५.

२ ऋ० ३.१९.२. ''प्र ते अग्ने हविष्मतीमिर्यम्यच्छा सुद्युम्नां रातिनीं घृताचीम्।''

३ ऋ० ३.२७.१. ''प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या। देवाञ्जिगाति सुम्नयुः।''

४ ऋ० ३.३०.७. ''भद्रा त इन्द्र सुमतिर्घृताची सहस्रदाना पुरुहूत रातिः।''

५ ऋ० ३.१९.२; २७.१; ३०.७.

६ निघ०वृ०, १.७.१६.

७ निघ० १.७.१७.

८ निघ०वृ०, १.७.१७.

९ सायणभाष्य,ऋ० २.१०.३.

हिंसार्थक 'शृ' धातु से 'शिरिणा' पद व्युत्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'शिरिणा' पद को शर्वरी वाचक नामपद मानता है और उक्तपद को 'शृ शरणे=आवरणे' से निष्पन्न होने की सम्भावना व्यक्त करता है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'शिरिणा' को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स भी 'शिरिणा' पद को अव्युत्पन्न मानते हैं। उनका मत है कि ऋग्वेद में सम्भवतः, यह 'रात्रि' अर्थ में है, निघण्टु भी ऐसा ही मानता है। लेकिन दूसरे कोषकार इसका अर्थ 'कक्ष' (a cell) लेते हैं।[३]

वैदिक साहित्य में इस पद का प्रयोग सर्वथा विरल हुआ है। ऋग्वेद में मात्र एक बार इसका उल्लेख देखने को मिलता है। गृत्समद ऋषि अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि रात्रि में अपरिमित अन्धकार से असंस्पृष्ट रहता हुआ प्रचेता अग्नि दीप्त होता है।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मात्र एक उद्धरण के आधार पर 'शिरिणा' के विशिष्ट स्वरूप को स्पष्ट करना सम्भव नहीं है। आचार्य देवराजयज्वन् जहाँ 'शिरिणा' को शयनार्थक 'शी' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में है, वहाँ सायण हिंसार्थक 'शृ' धातु से निष्पन्न मानते हैं। इन दोनों में किसका पक्ष अधिक युक्तिसङ्गत है, प्रमाण के अभाव में कह पाना सम्भव नहीं है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि सायण का पक्ष अधिक युक्तिसङ्गत है, इसका कारण यह है कि 'शिरिणा' में रेफ विद्यमान है, जो 'शृ' धातु से ही सम्भव है।

१८. मोकी

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'मोकी' पद परिगणित है।[५] आचार्य देवराजयज्वन् 'मोकी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**मुञ्चत्यस्यामवश्यायं मध्यमः। तदस्यामस्तीति**"[६] कि मध्यस्थानी देवता अवश्याय का परित्याग करता है और उससे से युक्त रात्रि 'मोकी' कहलाती है।

(ख) मुञ्चन्ति प्राणिनः स्वस्वव्यापारात् मोक्। तदस्यामस्तीति"[७] कि प्राणियों का अपने-अपने कार्य को छोड़ देना 'मोक्' है। ऐसा कार्य रात्रि में होता है, अतः, रात्रि 'मोकी' कहलाती है। उपर्युक्त दोनों पक्षों के अनुसार 'मुच्' धातु से औणादिक 'इन्' प्रत्यय और उससे 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'मोकी' रूप सिद्ध होता है।[८]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'मोकी' पद को रात्रिवाचक नामपद तथा उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध मानता है, परन्तु कुछ विद्वान् 'मृष्' धातु से तथा कुछ 'मुच्' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[९] ऋग्वेद-

---

१ वै०पद०को०, पृ० ३१०३.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ५२४.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १०७३.

४ ऋ० २.१०.३. "शिरिणायां चिदक्तुना महोभिरपरीवृतो वसति प्रचेताः।"

५ निघ० १.७.१८.

६ निघ०वृ०, १.७.१८.

७ निघ० १.७.१८.

८ उणा०, ४.११४. अष्टा० वा०, ४.१.४५. "कृदिकारादक्तिनः।" निघ० १.७.१८.

९ वै०पद०को०, पृ० २५२६.

वैयाकरण-पदसूची ने 'मोकी' पद को अव्युत्पन्न माना है।[१] मोनियर विलियम्स 'मुच्' धातु से 'मोकी' पद को निष्पन्न मानते हैं, परन्तु 'मोकी' पद का अभिधेय 'रात्रि' नहीं स्वीकार करते हैं।[२]

वैदिक साहित्य में 'मोकी' पद का बहुत अल्प प्रयोग हुआ है, ऋग्वेद में मात्र एक बार 'मोकी' पद आया है। गृत्समद ऋषि सवितादेव की स्तुति करते हुए कहते हैं कि जिन स्थानों को शीघ्रगामी रश्मियों से मुक्त, निरन्तर गतिशील रहता हुआ भी सवितादेव अपने गमन से लोगों को कर्म से विरत तथा मेघ को प्राप्त होने वाले पदार्थों की रक्षा करता है। इन सवितादेव के कर्म के पश्चात् रात्रि आती है।[३]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मात्र एक उद्धरण के आधार पर 'मोकी' के विशिष्ट स्वरूप को निश्चित कर पाना सम्भव नहीं है। मन्त्र से जो सङ्केत प्राप्त होता है, उसके आधार पर इतना कहा जा सकता है कि जब सवितादेव (सूर्य) संसार को रश्मियों से मुक्त करते हैं, वह स्थिति वेद में 'मोकी' नाम से अभिहित हुई है। कहने का आशय यह है कि जब सूर्य अस्त हो जाता है, वह अन्धकारपूर्ण स्थिति वैदिक साहित्य में 'मोकी' है।

१९. शोकी

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'शोकी' पद समाम्नात है।[४] आचार्य देवराजयज्वन् रात्रिवाचक 'शोकी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**शोचन्त्यस्यां विरहिण:**''[५] कि विरही जन इसमें शोक करते हैं, अत:, रात्रि को 'शोकी' कहते हैं। इस पक्ष में 'शुच्' शोके' या ज्वलतिकर्मा 'शुच्' धातु से औणादिक 'इन्' प्रत्यय और उससे 'ङीष्' होकर 'शोकी' रूप सिद्ध होता है।[६]

(ख)''शोकस्तेजोऽस्या अस्तीति''[७] कि शोक अर्थात् तेज से युक्त होने से रात्रि 'शोकी' कहलाती है। ब्राह्मण भी कहता है:-''**अग्निना वै तेजसा रात्रिस्तेजस्वती**''[८] कि अग्नि के तेज से रात्रि तेजस्वती होती है। इस पक्ष में मत्वर्थीय प्रत्यय होकर 'शोकी' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'शोक' शब्द को 'शुच्' दीप्तौ' धातु से व्युत्पन्न मानते हैं।[९] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची में 'शोक' पद को 'शुच्' सन्तापे' या 'शुच' दीप्तौ' धातु से व्युत्पन्न माना है।[१०] मोनियर विलियम्स ने 'शोकी' पद का मूल 'शुच्' धातु को माना है, लेकिन 'शोकी' पद का अर्थ रात्रि स्वीकार नहीं

---

१ ऋ०वै०पद०, पृ० ४०४.

२ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८३४.

३ ऋ०.२.३८.३. ''आशुभिश्चिद्यान्वि मुचाति नूनमरीरमदतमानं चिदेतोः। अह्यर्षूणां चिन्न्ययाँ अविष्यामनु व्रतं सवितुर्मोक्यागात्।''

४ निघ० १.७.१९.

५ निघ०वृ०, १.७.१९.

६ निघ०वृ०, १.७.१९.

७ उणा०, ४.११४. अष्टा०, ४.१.४५. निघ०वृ०, १.७.१९.

८ निघ०वृ०, १.७.१९.

९ वै०पदं०को०, पृ० ३१२१.

१० ऋ०वै०पद०, पृ० ५३२.

किया है।[१]

वैदिक साहित्य में 'शोकी' पद का प्रयोग सर्वथा उपलब्ध नहीं होता है। यह माना जा सकता है कि जिस वैदिक साहित्य में यह प्रयुक्त था, वह आज अनुपलब्ध है। इस कारण आचार्य देवराजयज्वन् भी 'निगमोऽन्वेषणीयः' कहने के लिये बाध्य हैं।[२] प्रमाणों के अभाव यह निश्चित कर पाना सम्भव नहीं है कि रात्रि की दृष्टि से शोकी' का क्या विशिष्ट अर्थ है। इसलिये हम यह नहीं कह सकते कि 'शोकी' पद सन्तापार्थक और दीप्त्यर्थक 'शुच्' धातु में से किससे निष्पन्न हुआ है।

२०. ऊधः

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'ऊधः' पद पठित है।[३] आचार्य यास्क 'ऊधस्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**ऊध उद्धततरं भवति**''[४] कि गाय का ऊध उद्धततर अर्थात् समीपवर्ती स्थान की अपेक्षा अधिक उद्गत (उठा हुआ) होता है, इसलिये यह 'ऊधस्' कहलाता है। इस पक्ष में 'उद्' उपसर्गपूर्वक 'हन्' धातु से 'उद्धत' और उससे 'ऊधस्' शब्द निष्पन्न होता है।.

(ख)''**उपोनद्धमिति वा। स्नेहानुप्रदानसामान्याद्रात्रिरप्यूध उच्यते**''[५] कि यह उदर के समीप बँधा हुआ होता है, अतः, यह 'ऊधस्' कहलाता है। आचार्य दुर्ग स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वह 'ऊधस्' ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ने गो उदर के साथ मिलाकर बाँध दिया हआ हो।[६] इस पक्ष में 'उप+'नह्' से 'ऊधस्' शब्द निष्पन्न होता है। आचार्य यास्क 'गो ऊधस्' और 'रात्रि' के मध्य समानता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यह 'ऊधस्' दुग्धरूप स्नेह को देता है और रात्रि अवश्यायरूप रस को प्रदान करती है। अतः, स्नेहानुप्रदान कर्म की समानता से रात्रि को भी 'ऊधस्' कहा जाता है।

रात्रिवाचक 'ऊधस्' शब्द का निर्वचन करते हुए आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं:-''**गोरूध उद्धततरं भवति, प्रसवकाले अङ्गान्तरेभ्य उच्छ्रिततरं भवति**''[७] कि गाय का ऊधस् अधिक उद्धृत अर्थात् उभरा हुआ होता है, प्रसवकाल में यह अन्य अङ्गों की अपेक्षा अधिक उठा हुआ होता है। इस पक्ष में 'उद्+'धृ' धातु से 'ऊधस्' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(ख)''**उपोनद्धमुपरिसृष्टमूर्ध्वमिव केनचित्। तत् स्नेहं रसानुप्रदानसामान्याद् रात्रिरप्यूध उच्यते**''[८] कि ऊपर उदर के समीप बँधा हुआ जैसा होता है, अतः, यह 'ऊधस्' कहा जाता है। जिस प्रकार 'ऊधस्' में स्नेह और रस दोनों होते हैं, उसी प्रकार रात्रि में भी ओषधियों और वनस्पतियों का स्नेह तथा अवश्याय का रस

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १०९१.
२ निघ०वृ०, १.७.१९.
३ निघ० १.७.२०.
४ निरु० ६.१९.
५ निरु० ६.१९.
६ निघ०वृ०, १.७.२०.
७ निघ०वृ०, १.७.२०.
८ निघ०वृ०, १.७.२०.

होता है। इस पक्ष में 'उप+'नह्' से 'ऊधस्' शब्द निष्पन्न होता है।

(ग)''**यद्वा, 'उन्दी' क्लेदने'। उनत्त्यवश्यायेन भूतानि**''[१] कि 'क्लेदन' अर्थ वाली 'उन्द्' धातु से 'ऊधस्' शब्द उपपन्न होता है। यह अवश्याय से भूतों को क्लिन्न करती है, अतः, रात्रि को 'ऊधस्' कहा जाता है। आचार्य क्षीरस्वामी का भी ऐसा ही मत है:-''**उनत्त्यूधः।**''[२]

आचार्य सायण 'ऊधस्' का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**उत् ऊर्ध्वं ध्रियतेऽस्मिन् जलमिति ऊधः**''[३] कि इसमें ऊपर जल धारण किया जाता है, अतः, अन्तरिक्ष को 'ऊधस्' कहते हैं। एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं:-''**उद्धततरं भवत्युनद्धमिति वोधो रात्रिः। स्नेहप्रदानरसाभ्यामूधसि रात्रौ च समत्वाद्रात्रिरप्यूध उच्यते**''[४] कि 'ऊधस्' उद्धततर अर्थात् अधिक उठा हुआ होता है। जिस प्रकार 'ऊधस्' में स्नेह और रस दोनों होते हैं, उसी प्रकार रात्रि में भी ये दोनों पाये जाते हैं, इसलिये रात्रि को 'ऊधस्' कहा जाता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'ऊधस्' शब्द को नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी 'ऊधन्' शब्द को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स 'वह्' या 'उद्' धातु को 'ऊधन्' पद का मूल मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अवेस्ता, शतपथ-ब्राह्मण एवं महाभारत में यह पद 'स्त्री के स्तन' के अर्थ में आया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में यह लाक्षणिक सन्दर्भ में मेघ के लिये प्रयुक्त हुआ है।[७] यास्क के प्रथम निर्वचन के सम्बन्ध में डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का मत है कि 'ऊधस्' शब्द भारोपीय भाषा में 'ऊध्' 'थन' के अर्थ में तथा एंग्लो सैक्सन में 'ऊदर' 'थन' के अर्थ में देखने को मिलता है, जबकि यास्क 'ऊधस्' का अर्थ 'जो ऊपर उठा हुआ है' ग्रहण करते हैं और द्वितीय निर्वचन में वे 'ऊधस्' का अभिधेय 'जो ऊपर बँधा हुआ है, मानते हैं। प्रथम निर्वचन को डॉ. वर्मा स्वर और व्यञ्जन की दृष्टि से शिथिल तथा द्वितीय निर्वचन को असङ्गत बतलाते हैं।[८] डॉ. वर्मा का कथन पूर्णरूप से सत्य प्रतीत नहीं होता है। इसका कारण यह है कि रूप और अभिधेय की दृष्टि से संस्कृत, भारोपीय एवं एंग्लो सैक्सन भाषाओं में पूर्ण समानता दृष्टिगोचर होती है, सभी एकमत से 'ऊधस्' का अर्थ 'थन' ग्रहण करते हैं। आचार्य यास्क तो मात्र उस अभिधेय को ग्रहण करने के मूल में निहित कारण को स्पष्ट कर रहे हैं, वह थन 'ऊधस्' इसलिये कहलाता है, क्योंकि वह या तो 'ऊपर उठा हुआ है' अथवा 'ऊपर की ओर बँधा हुआ है'।

वैदिक साहित्य में 'ऊधस्' का प्रयोग बहुत हुआ है, पर अधिकांश स्थलों पर यह 'गो ऊध' और 'अन्तरिक्ष' अर्थ में हुआ है। गृत्समद ऋषि मरुद्गणों का स्तवन करते हुए कहते हैं कि वक्षस्थलों पर रोचमान

---

१ निघ०वृ०, १.७.२०.

२ निघ०वृ०, १.७.२०.

३ सायणभाष्य, ऋ० १.५२.३.

४ सायणभाष्य,ऋ० ५.३४.३.

५ वै०पद०को०, पृ० ९८३.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० १५०.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २२१.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ११४, ११९.

आभरण वाले मरुद्गणों को सेचन में समर्थ रुद्र रात्रि में पृश्नि से उत्पन्न करता है।[१] गाथिन विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि जैसे अन्धकार में स्थित वस्तु दिखायी नहीं देती है, उसी प्रकार पिता के शरीर में स्थित जीव होता हुआ भी प्रतीत नहीं होता है।[२] संवरण प्रजापति इन्द्र के माहात्म्य का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि जो इन्द्र के लिये दिन और रात्रि में सोम को अभिषुत करता है, वह दीप्तिमान् होता है।[३] त्रित ऋषि कहते हैं कि वह अग्नि पृथिवी और द्युलोक के मध्य रात्रि को बिन्दुओं से सिक्त करता है।[४] वसुक्र ऐन्द्र ऋषि का कथन है कि सुखस्वरूपा रात्रिरूप धेनु के द्वारा वह इन्द्र जगत् को धारण करता है।[५] नाभोनेदिष्ठ मानव ऋषि विश्वदेवों की स्तुति करते हुए कहते हैं कि प्राणियों को जलाने वाला अग्नि नग्न हाथों से न दिन में और न रात्रि में नियन्त्रण में आता है।[६]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'ऊधस्' वह रात्रि है, जिनमें रुद्र पृश्नि से मरुद्गणों को उत्पन्न करता है, इन्द्र के लिये सोम का अभिषवण होता है, जो ओस के बिन्दुओं से सिक्त होती है एवं धेनु के समान सुख प्रदान करने वाली है। यास्क एवं अन्य निर्वचनकारों ने 'गो ऊधस्' के समान 'रात्रि' को स्नेह और रसप्रदान करने वाला माना है, पर वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह तथ्य बहुत पुष्ट नहीं होता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से आचार्य देवराजयज्वन् का 'उन्दी' क्लेदने' धातु से 'ऊधस्' को निष्पन्न मानना युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि उक्त धातु का जहाँ रूप की दृष्टि से 'ऊधस्' शब्द के साथ समन्वय है, वहाँ अर्थ की दृष्टि से भी सङ्गति दिखायी देती है। इसके अतिरिक्त धात्वर्थ (क्लेदन) का वेद और तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के द्वारा भी समर्थन हो जाता है।

२१. पयः

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'पयः' पद पठित है।[७] आचार्य यास्क 'पयस्' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**पयः पिबतेर्वा**''[८] कि 'पयस्' शब्द पानार्थक 'पा' धातु से निष्पन्न होता है। क्योंकि इसका पान किया जाता है, अतः, इसे 'पयस्' कहते हैं। श्रुति से भी इस निर्वचन का समर्थन हो जाता है।[९]

(ख)''**प्यायतेर्वा**''[१०] कि इसके पान करने से प्राणी पुष्ट होते हैं, अतः, उदक को 'पयस्' कहते हैं। इस पक्ष में वृद्धि अर्थ वाली 'प्याय्' धातु से 'पयस्' रूप उपपन्न होता है। वेद के अनेक मन्त्रों में इस निर्वचन की पुष्टि के सङ्केत प्राप्त होते हैं।[११]

---

१ ऋ० २.३४.२. ''रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि।''
२ ऋ० ३.१.९. ''पितुश्चिदूधर्जनुषा विवेद।''
३ ऋ० ५.३४.३. ''यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह।''
४ ऋ० १०.५.१. ''सिषक्त्यूधर्निण्योरुपस्थे।''
५ ऋ० १०.२७.१४. ''कया भुवा नि दधे धेनुरूधः।''
६ ऋ० १०.६०.९. ''मक्षु न वह्निः प्रजाया उपब्दिरग्निं न नग्न उप सीददूधः।''
७ निघ० १.७.२१.
८ निरु० २.५.
९ ऋ० १.१५३.४.
१० निरु० २.५.
११ ऋ० १.७९.३; २.१३.१; ४.३.९; ७.३६.६; ९.६.७; १०.६४.१२; १०.१३३.७.

आचार्य देवराजयज्वन् अन्नवाचक 'पयस्' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**पयोऽस्या अस्तीति**''[१] कि रात्रि पयस् वाली होती है, अत:, इसे 'पय:' कहा जाता है। इस पक्ष में मत्वर्थीय प्रत्यय और उसका लोप होकर 'पयस्' रूप निष्पन्न होता है।

वेद में उक्त दो धातुओं के अतिरिक्त गत्यर्थक 'पय्' धातु से भी 'पयस्' के व्युत्पन्न होने के सङ्केत देखने को मिलते हैं।[२] पर बहुमत वृद्ध्यर्थक 'प्याय्' धातु के पक्ष में है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'पयस्' शब्द को उदक, क्षीर प्रभृति अर्थ का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची अव्युत्पन्न 'पयस्' शब्द से 'पयस्वती' को व्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स 'पयस्' से को 'पी' धातु से व्युत्पन्न मानने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार कोषकारों के मत में 'पयस्' पद रात्रि अर्थ का वाचक अवश्य है, परन्तु रात्रि अर्थ के प्रयोग का उदाहरण प्राप्त नहीं होता है।[५] यास्कीय निर्वचनों के विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए डॉ. वर्मा कहते हैं कि यास्क का द्वितीय निर्वचन स्वीकार करने के योग्य है, क्योंकि भारोपीय भाषा में 'पोइ' 'मुटापे के साथ फूलना' तथा अवेस्ता में 'पमन' 'माँ के दूध' के अर्थ में देखने को मिलता है।[६]

वैदिक साहित्य में 'पयस्' का व्यापक प्रयोग हुआ है, परन्तु सर्वत्र 'पयस्' का उदक, वर्षा, शक्ति आदि अर्थों में उल्लेख हुआ है। एक भी स्थान पर इसका रात्रि अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। इसी कारण आचार्य देवराजयज्वन् भी इसके विषय में '**निगमोऽन्वेषणीय:**' कहते हैं। जिनके विषय में यह कहा जाता है कि '**बहुभक्तिवादिनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति,**' वे ब्राह्मणग्रन्थ भी 'पयस्' और 'पयस्वती' के उक्त रात्रिपरक अर्थ का समर्थन नहीं करते हैं, जबकि निघण्टुकोष स्पष्टरूप से पयस् से सम्बन्धित दो शब्दों का रात्रिवाचक गण में समाम्नान कर रहा है। ऐसी विषमस्थिति में हम यह कहकर भी लेखनी को विराम नहीं दे सकते कि जिस वैदिक साहित्य में पयस् और पयस्वती विद्यमान थे, वह आज अनुपलब्ध है। हमारे पास आज जो कुछ साहित्य विद्यमान है, वह इतना अल्प भी नहीं माना जा सकता, जिसके आधार पर 'पयस्' सदृश प्रसिद्ध शब्द के अर्थ का निर्णय न किया जा सके। इस प्रकार आज हम उपलब्ध साहित्य को दृष्टिगत रखते हुए यह कह सकते हैं कि 'पयस्' और 'पयस्वती' शब्द वेद के आधार पर रात्रिवाचक नहीं माने जा सकते।

२२. हिमा

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'हिमा' पद पठित है।[७] आचार्य यास्क 'हिम' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**हिमं पुनर्हन्तेर्वा**''[८] कि यह हिम शब्द हिंसार्थक 'हन्' धातु से व्युत्पन्न होता है।

---

१ निघ० १.७.२१.

२ ऋ० १.१६४.२८; अथर्व०, ९.१.८; ९.१०.६. ''मिमाति मायुं पयते पयोभि:।''

३ वै०पद०को०, पृ० १९०६.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ३०५.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५८५.

६ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ११; १८; ६०.

७ निघ० १.७.२२.

८ निरु० ४.२७.

यह (कुहरा) वनस्पतियों एवं ओषधियों की हिंसा या क्षति करता है, अतः, इसे 'हिम' कहते हैं। आचार्य दुर्ग 'हन्' धातु के 'गति' अर्थ के आधार पर उक्त निर्वचन की सङ्गति लगाते हुए कहते हैं कि यह भूतों को क्षीण करता है, अतः, यह 'हिम' कहा जाता है।[१] उणादिकोष इसी प्रकार 'हिम' शब्द को व्युत्पन्न करने के पक्ष में है।[२]

(ख)**''हिनोतेर्वा''**[३] कि हिम से यवादि पुष्ट होते हैं, अतः, यह कुहरा 'हिम' कहलाता है। इस पक्ष में वृद्ध्यर्थक 'हि' धातु से 'मक्' प्रत्यय होकर 'हिम' रूप निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् रात्रिवाचक 'हिमा' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''हन्ति पद्मानीति हिमम्''**[४] कि यह रात्रि कमलों को मारती है, अतः, यह 'हिमा' कहलाती है। इस पक्ष में 'हन्' धातु से 'मक्' प्रत्यय होकर 'हिमा' शब्द उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष एवं ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'हिमा' शब्द को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स भी अव्युत्पन्न मानते हुए ऋग्वेद के आधार पर 'हिमा' पद का अर्थ 'शीतल' तथा 'संवत्सर' स्वीकार करते हैं।[६] कहने का आशय यह है कि उनकी दृष्टि में भी उक्तपद का अर्थ ऋग्वेद में 'रात्रि' नहीं है। डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में यह 'घिमो' 'शीतलता' तथा ग्रीक में 'दुसचिमोस' 'शीत' अर्थ में आता है। वे यास्क के उक्त निर्वचन को ऐसे वर्ग में रखते हैं, जिसमें धातुज मानकर नामपदों का निर्वचन किया गया है।[७] डॉ. वर्मा का कथन कुछ भ्रान्तिपूर्ण है, इसका कारण यह है कि यास्क भी 'हिम' का अभिधेय 'शीतलता' मान रहे हैं, वे निर्वचन करके यह प्रदर्शित करना चाहते हैं कि अमुक शब्द इस विशिष्ट कारण से तत्तत् अर्थ का अभिधायक है। भारोपीय भाषा का 'घिमो' मात्र शीतलता का अभिधान कर रहा है, जबकि यास्क 'हिम' का अर्थ बतलाते हुए कहते हैं कि वह शीतलता, जिसमें वनस्पतियाँ ग्लान (मुरझाने) होने लगती हैं, 'हिम' कहे जाने की अधिकारी है। इस प्रकार यास्क एक कदम आगे बढ़कर शब्द के मूल में निहित कारण को स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं।

वैदिक साहित्य में 'हिमा' पद का बहुत विरल प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मात्र ५ बार इसका उल्लेख आया है। एक स्थान को छोड़कर सर्वत्र **'शतं हिमाः'** का प्रयोग देखने को मिलता है।[८] जहाँ **'शतं हिमाः'** एक साथ आया है, वहाँ 'हिमा' का अर्थ 'संवत्सर' भाष्यकारों ने स्वीकार किया है, जो अनुचित नहीं माना जा सकता है। जिस एक स्थान पर यह नहीं आया है, वहाँ अभितपा सौर्य ऋषि सूर्य देव की स्तुति करते हुए

---

१ दुर्गवृत्ति, निरु० ४.२७.

२ उणा०, १.१४७. ''हन्तेर्हि च।''

३ निरु० ४.२७.

४ निघ०वृ०, १.७.२२.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ६११.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२९८.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ९४.

८ ऋ० १.६४.१४; २३३.२; ५.५४.१५; ६.४८.८.

कहते हैं कि सूर्य हमें तेज, दिवस, प्रकाश, रात्रि और उष्णता से कल्याणकारी हों।[१] प्रस्तुत मन्त्र में 'हिमा' पद का अर्थ 'रात्रि' के स्थान पर 'ऋतु' भी ग्रहण किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एकमात्र उद्धरण से 'हिमा' पद का विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है। शतपथ-ब्राह्मण 'हिमा' का उल्लेख करता हुआ कहता है:-''**शतथ्ठं हिमा इति शतं वर्षाणि जीव्यासमित्येवैतदाह**''[२] कि '**शतं हिमाः**' का आशय है कि मैं शत वर्ष तक जीवित रहूँ, ऐसा उसने कहा। यह प्रमाण भी 'हिम' के संवत्सर वाचक होने की पुष्टि करता है। शब्द के रूप तथा निर्वचन के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शीत ऋतु और विशेष रूप से हेमन्त ऋतु की रात्रियाँ 'हिमा' कहलाती हैं, इनका शैत्य हनन का कार्य करता है, अतः, 'हिमा' का मूल 'हन्' धातु प्रतीत होती है।

२३. वस्वी

निघण्टुकोष के रात्रिवाचक नामपदों में 'वस्वी' पद परिगणित है।[३] आचार्य देवराजयज्वन् रात्रिवाचक 'वस्वी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**वस्ते आच्छादयति तमो लोकमिति अवश्यायस्तमो वा, तद्वती वसुः**''[४] कि रात्रि तमस् या अवश्याय से लोक को आच्छादित करती है, अतः, तमस् या अवश्याय वाली रात्रि 'वस्वी' कहलाती है। इस पक्ष में आच्छादनार्थक 'वस्' धातु से 'वस्वी' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा, प्रशस्यवचनाद् वसुशब्दात् ङीष्, सर्वभूतरमणत्वाद् रात्र्याः प्राशस्त्यम्''[५] कि सम्पूर्ण प्राणियों के लिये रमणीय होने से रात्रि 'वस्वी' कहलाती है। प्रशस्यार्थक 'वसु' शब्द से स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय होकर 'वस्वी' रूप उपपन्न होता है।

'वस्वी' पद के मूल में निश्चित रूप से 'वसु' पद है। शतपथ-ब्राह्मण 'वसु' का निर्वचन करता हुआ कहता है:-''**एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ते ते यदिदꣳ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति**''[६] कि ये सबको बसाते हैं, इस कारण से ये 'वसु' कहलाते हैं। यहाँ ब्राह्मण निवासार्थक 'वस्' धातु से 'वसु' को निष्पन्न मान रहा है।

आचार्य यास्क द्युस्थानी देवता के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए 'वसु' का निम्न निर्वचन प्रस्तुत करते हैं:-''**वसवो यद्विवसते सर्वम्**''[७] कि सम्पूर्ण तमस् को निर्वासित करने के कारण ये 'वसु' कहलाते हैं।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वस्' धातुमूलक 'वस्वी' पद को उषस्, पत्नी, धी प्रभृति का विशेषण तथा गो का वाचक नामपद मानता है।[८] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'वसु' पद का मूल 'वस्' धातु को मानती है।[९] मोनियर विलियम्स भी इसी मत समर्थक हैं, पर वे कहते हैं कि वैदिक धातु 'उष्' के साथ उक्त 'वस्' धातु

---

१ ऋ० १०.३७.१०. ''शं नो भव चक्षसा शं नो अह्ना शं भानुना शं हिमा शं घृणेन।''

२ शत०ब्रा०, १.९.३.१९.

३ निघ० १.७.२३.

४ निघ०वृ०, १.७.२३.

५ निघ०वृ०, १.७.२३.

६ शत०ब्रा०, ११.६.३.६.

७ निरु० १२.४१.

८ वै०पद०को०, पृ० २७८६.

९ ऋ०वै०पद०, पृ० ४६८

का सम्बन्ध है, परन्तु पाणिनि ने इस 'उष्' धातु का परिगणन नहीं किया है। उनकी दृष्टि में ऋग्वेद में 'वसु' शब्द 'धनसम्पत्ति' अर्थ का वाचक है, लेकिन वे निघण्टु के आधार पर 'वसु' का 'रात्रि' अभिधेय भी स्वीकार करते हैं।[१]

डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा यास्कीय निर्वचन की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यास्क ईश्वर के नाम 'वसु' को रक्षा करने वाली 'वस्' धातु से व्युत्पन्न करते हैं, जबकि सूर्यरश्मि को तमस् निर्वासित करने वाली 'विवासय्' धातु से निष्पन्न करते हैं। आगे वे कहते हैं कि यास्क यह कल्पना करने में असफल रहे कि भाषाशास्त्र के अनुसार मूलतः इसका आशय 'good' है, भारोपीय भाषा में 'uesu' 'good' अर्थ में है, अवेस्ता में 'vanhus' 'good' अर्थ में है, इसमें 'सूर्यरश्मि' अभिधेय को भी सम्मिलित किया जा सकता है, जो रूपकीय दृष्टि से अन्य वसुओं के समान है।[२] डॉ. वर्मा का कथन युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है।

वैदिक साहित्य में 'वस्वी' पद का प्रयोग बहुत अधिक नहीं हुआ है। वेद में प्रमुख रूप से 'प्राशस्त्य' और 'धनसम्पत्ति से युक्त' अर्थ में इसका उल्लेख हुआ है। ऋषभ ऋषि अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि तेजस्वी होने के कारण दीप्यमान, अभिनव प्रतीत होने वाला अग्नि इस संसार में रात्रि में किये गये कर्मों से स्तुत होता हुआ प्रकाशित होता है।[३] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि मनुष्य रात्रि के समय अग्नि के प्रकाश की कामना करते हैं।[४] एक अन्य स्थल पर भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि पुनः अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि जिस काल में यह रात्रि परमधनयुक्त दक्षिणा के समान होती है, उस वेला में उषा सम्पूर्ण पथों को सुगम्य बनाती है।[५] वसिष्ठ ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं कि रात्रियों में इन्द्र के स्तोता के लिये शक्ति अथवा स्तुतिकर्ता को रात्रि में इन्द्र का प्रशस्त दान प्राप्त हो।[६] विमद ऐन्द्र ऋषि इन्द्र के पराक्रम और दानकर्म का वर्णन करते हुए प्रार्थना करते हैं कि हे शक्तिशालिन् इन्द्र! रात्रि हमारे लिये अभीष्ट प्रदान करने वाली हो।[७]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह रात्रि 'वस्वी' है, जिसमें 'वसु' प्राप्ति के लिये कर्म किये जाते हैं, यह वह उषा वेला है, जिसमें रात्रि परमधनयुक्त दक्षिणा के समान होती है, यही वह समय है, जिसमें इन्द्र का प्रशस्त दान एवं अन्य अभीष्ट कामनायें पूर्ण होती हैं। उपर्युक्त सभी स्थलों पर सायण एवं अन्य भाष्यकारों ने 'वस्वी' का अर्थ प्राशस्त्य तथा धनसम्पदा ग्रहण किया है, परन्तु उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'वस्वी' का 'रात्रि' अभिधेय मानकर भी मन्त्रार्थ किया जा सकता है। वेद के उपर्युक्त अवलोकन के आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि जिस रात्रि में प्रचुर सम्पदा प्राप्त होती है, वह रात्रि सम्भवतः, वैदिक ऋषि की दृष्टि में 'वस्वी' है। इसका सम्बन्ध 'वसु' के समान निवासार्थक 'वस्' धातु से है, न कि आच्छादनार्थक 'वस्' धातु से है, जैसा आचार्य देवराजयज्वन् ने स्वीकार किया है।

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९३१.

२ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ३८.

३ ऋ० ३.३.५. "दीदिवांसमपूर्व्यं वस्वीभिरस्य धीतिभिः।"

४ ऋ० ६.१६.२५. "वस्वी ते अग्ने सन्दृष्टिरिषयते मर्त्याय।"

५ ऋ० ६.६४.१. "कृणोति विश्वा सुपथा सुगान्यभूदु वस्वी दक्षिणा मघोनी।"

६ ऋ० ७.२०.१०. "वस्वी षु ते जरित्रे अस्तु शक्तिः।"

७ ऋ० १०.२२.१२. "माकुध्र्यगिन्द्र शूर वस्वीरस्मे भूवन्नभिष्टयः।"

वैदिक साहित्य में रात्रिवाचक नामपदों में अर्थभिन्नता

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के सप्तम गण में निघण्टुकार ने २३ रात्रिवाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	श्यावी रात्रिवाचक निघ०,१.७.१.	वेद में 'श्यावी' रात्रि के विलोम के रूप में 'अरुषी' पद का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त 'श्याव' और 'श्याम' ये दोनों शब्द समान मूल के हैं। अतः, 'श्यावी' पद कृष्णवर्ण की रात्रि का वाचक है।	'श्यै' धातु।
२.	क्षप, क्षपा रात्रिवाचक निघ०,१.७.२.	जिसमें अन्धकार और प्रकाश का मिश्रण है, ऐसी प्रभातकालीन रात्रि वेद में 'क्षपा' नाम से अभिहित हुई है। इसके अतिरिक्त इस रात्रि को वेद परिष्कृत और बल को देने वाली बतलाता है।	'क्षप्' धातु। अवसानोन्मुख रात्रि, जिसने अपने को समेटने का कार्य प्रारम्भ कर दिया है।
३.	शर्वरी रात्रिवाचक निघ०,१.७.३.	जिस समय आकाश में मेघ छाये होते हैं, उस समय की रात्रि वेद में 'शर्वरी' नाम से अभिहित होती हुई दिखायी देती है।	'शॄ' हिंसायाम्' धातु।
४.	अक्तुः रात्रिवाचक निघ०,१.७.४.	जिसमें नक्षत्र चोर की तरह विचरण करते हैं, रात्रि की गहन कालिमा के कारण अग्नि का प्रकाश अधिक द्योतित होता है और जड-जङ्गम का भेद तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार की रात्रि 'अक्तुः' है।	कान्त्यर्थक 'अञ्ज्' धातु।। रात्रि के समय अग्नि की कान्ति चारों ओर विकीर्ण होती है।
५.	ऊर्म्या रात्रिवाचक निघ०,१.७.५.	इस 'ऊर्म्या' नामक रात्रि की कामना लोग करते हैं, यह लगे हुए घावों को ठीक करती है और इसकी समाप्ति उपस् प्रकट होने के साथ होती है। इस रात्रिकाल में सुख और ऐश्वर्य की तरंग उठती रहती है।	गत्यर्थक 'ऋ' धातु।
६.	राम्या रात्रिवाचक निघ०,१.७.६.	वैदिक साहित्य के आधार पर प्रभातकालीन रात्रि का नाम 'राम्या' है। यह वह रात्रि है, जिसमें साधक प्रभु से एकाकार होता है। निर्वचननकारों के मत में जिसमें स्त्री के साथ रमण किया जाता है, वह रात्रि 'राम्या' है।	'रम्' धातु।
७.	यम्या रात्रिवाचक निघ०,१.७.७.	वेद में दिवस की भगिनी रूपा रात्रि को 'यम्या' नाम से अभिहित किया गया है।	'यम्' धातु। यह प्राणियों को चेष्टा से उपरत कर देती है।
८.	नम्या रात्रिवाचक निघ०,१.७.८.	जो नमुचि (दुष्कर्म का परित्याग न करने वाले) के समान शय्या का परित्याग नहीं करने देती, वह रात्रि सम्भवतः, वेद में 'नम्या' है।	'न+'मुञ्च्' धातु।
९.	दोषा रात्रिवाचक निघ०,१.७.९.	दिवस के विलोम के रूप में प्रयुक्त होने वाली रात्रि वेद में 'दोषा' है। इसमें मनुष्य उन्नति के सोपान चढ़ता है।	'दुष' वैकृत्ये' धातु से सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। अभी अव्युत्पन्न मानना उचित है।

१०.	नक्ता रात्रिवाचक निघ०,१.७.१०.	कृष्णवर्ण की रात्रि, जिसमें अग्नि का प्रकाश दूर से दिखायी पड़ता है, वेद में 'नक्ता' मानी गयी है। इसमें नाना प्रकार के उत्पातों का भय बना रहता हे। दोषा के समान इसका प्रयोग भी 'दिवा' के साथ होता है।	'न+अक्त ('अञ्ज्' धातु)'।
११.	तमः रात्रिवाचक निघ०,१.७.११.	वेद में 'तमः' पद रात्रि का वाचक न होकर अन्धकार का वाचक है। यह अन्धकार कहीं रात्रि से तो कहीं मेघ के आच्छादित होने से है। वेद इस 'तमस्' को 'कृष्णतमस्' और 'अन्धतमस्' के नाम से अभिहित करता है।	विस्तार अर्थ वाली 'तन्' धातु।
१२.	रजः रात्रिवाचक निघ०,१.७.१२.	वेद में 'रजः' का रात्रि अर्थ सन्दिग्ध है। लेकिन यह अन्धकार का वाचक अवश्य है। निर्वचन की दृष्टि से कहा जा सकता है कि सबको अपने रंग में रंग लेने के कारण अन्धकार 'रजः' है।	'रञ्ज्' धातु।
१३.	असिक्नी रात्रिवाचक निघ०,१.७.१३.	'असिक्नी' वह रात्रि है, जिसमे प्रजा एकान्त में भोग्य पदार्थों का भोग करती है। यह रात्रि से मेघ से आच्छादित होने से अधिक अन्धकारमयी है। यह त्वचा के समान चारों ओर से व्याप्त कर लेती है।	यह पद 'सित' शब्द से विकसित हुआ प्रतीत होता है। 'न+सित'।
१४.	पयस्वती रात्रिवाचक निघ०,१.७.१४.	वेद में रात्रि या अन्धकार अर्थ में अप्रयुक्त है। सर्वत्र 'उदकवती' अर्थ प्राप्त होता है।	'प्या' धातु।
१५.	तमस्वती रात्रिवाचक निघ०,१.७.१५.	विस्तार के कारण जिसका ओर-छोर दिखायी नहीं पड़ता और जो अपने अन्धकार से सबको आवृत कर लेती है, वेद में वह रात्रि 'तमस्वती' है।	'तमस्+मतुप्'।
१६.	घृताची रात्रिवाचक निघ०,१.७.१६.	जिस रात्रि में घृत अग्नि में अर्पित किया जाता है और जिसके परिणामस्वरूप अपरिमित धन दान के रूप में प्राप्त होता है, वह रात्रि 'घृताची' है।	'घृत+'अञ्च्'।
१७.	शिरिणा रात्रिवाचक निघ०,१.७.१७.	वेद में 'शिरिणा' पद अन्धकार अर्थ का वाचक प्रतीत होता है, परन्तु विशिष्ट स्वरूप अभी अस्पष्ट है।	सम्भवतः, 'शॄ' हिंसायाम्' धातु।
१८.	मोकी रात्रिवाचक निघ०,१.७.१८.	जब सवितादेव (सूर्य) संसार को रश्मियों से मुक्त करते हैं, वह स्थिति वेद में 'मोकी' नाम से अभिहित हुई है। कहने का आशय यह है कि जब सूर्य अस्त हो जाता है, वह अन्धकारपूर्ण स्थिति वैदिक साहित्य में 'मोकी' है।	'मुच्' धातु।
१९.	शोकी रात्रिवाचक निघ०,१.७.१९.	वेद में उक्तपद अप्रयुक्त है।	'शुच्' शोके या 'शुच्' सन्तापे धातु अस्पष्ट।
२०.	ऊधः रात्रिवाचक	वेद में 'ऊधस्' वह रात्रि है, जिनमें रुद्र पृश्नि से मरुद्गणों को उत्पन्न करता है, इन्द्र के लिये सोम का अभिषवण	क्लेदनार्थक 'उन्द्' धातु।

	निघ०,१.७.२०.	होता है, जो ओस के बिन्दुओं से सिक्त होती है एवं धेनु के समान सुख प्रदान करने वाली है।	
२१.	पय: रात्रिवाचक निघ०,१.७.२१.	वेद के आधार पर 'पय:' को रात्रिवाचक नहीं माना जा सकता।	'प्या' धातु।
२२.	हिमा रात्रिवाचक निघ०,१.७.२२.	वेद में 'हिमा' का अर्थ रात्रि सन्दिग्ध है।	सम्भवत:, 'हन्' धातु।
२३.	वस्वी रात्रिवाचक निघ०,१.७.२३.	वेद में वह रात्रि 'वस्वी' है, जिसमें 'वसु' प्राप्ति के लिये कर्म किये जाते हैं, यह वह उषा वेला है, जिसमें रात्रि परमधनयुक्त दक्षिणा के समान होती है, यही वह समय है, जिसमें इन्द्र का प्रशस्त दान एवं अन्य अभीष्ट कामनायें पूर्ण होती हैं।	'वस्' धातु।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर रात्रिवाचक नामपदों को निम्नप्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है:- १. रात्रिवाचक, २. उषाकालीन रात्रिवाचक, ३. मेघाच्छादित रात्रिवाचक, ४. अन्धकारवाचक, ५. सन्दिग्ध, ६ अप्रयुक्त। प्रथम रात्रिवाचक वर्ग में निम्न १२ पद आते हैं:-**१. श्यावी, २. अक्तु:, ३. ऊर्म्या, ४. यम्या, ५. नम्या, ६. दोषा, ७. नक्ता, ८. असिक्नी, ९. तमस्वती, १०. घृताची, ११. मोकी, १२. ऊध:।** उषाकालीन या प्रभातकालीन रात्रि के वाचक निम्न ३ पद हैं:-**१. क्षपा, २. राम्या, ३. वस्वी।** मेघाच्छादित रात्रि का अभिधान करने वाला एकमात्र पद **'शर्वरी'** है। अन्धकार वाचक निम्न दो पद हैं:-**१. तम:, २.शिरिणा।** रात्रिवाचक गण में परिगणित निम्न ३ तीन पद ऐसे हैं, जिनका रात्रिवाचक अर्थ सन्दिग्ध है:-**१. रज:, २. पय:, ३. हिमा।** इसके अतिरिक्त दो शब्द ऐसे हैं, जिनका वेद में प्रयोग नहीं हुआ है।

चतुर्थ अध्याय

उषावाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के अष्टम गण में षोडश उषावाचक नामपद परिगणित हैं।[१] इनका प्रस्तुत प्रकरण में क्रमशः व्याख्यान किया जा रहा है।

१. विभावरी

निघण्टुकोष के उषावााचक नामपद में सर्वप्रथम 'विभावरी' पद पठित है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् 'विभावरी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**विशेषेण भाति दीप्यते आदित्यकिरणसम्बन्धात्**''[३] कि सूर्य किरणों के सम्बन्ध से यह विशेष रूप से प्रकाशित होती है, अतः, उषा को 'विभावरी' कहते हैं। इस पक्ष में 'वि' उपसर्ग पूर्ववाली 'भा' दीप्तौ' धातु से 'विभावरी' पद निष्पन्न होता है। पाणिनीय व्याकरण में इसी प्रकार 'विभावरी' को व्युत्पन्न करता है।[४]

आचार्य सायण 'विभावरी' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**विशिष्टा भा यस्याः सा विभावरी**''[५] कि विशेष आभा से युक्त उषा 'विभावरी' कहलाती है। इस पक्ष में 'वि' उपसर्ग पूर्ववाली 'भा' धातु से मत्वर्थीय 'वनिप्' एवं उससे स्त्रीलिङ्ग 'ङीप्' प्रत्यय तथा नकार को रेफ होकर 'विभावरी' पद निष्पन्न होता है।[६]

आचार्य दुर्ग 'विभावरी' पद का निर्वचन निम्न देते हैं:-''**विविधामियं भासं वृणोतीति विभावरी**''[७] कि चन्द्रमा, नक्षत्र आदि के विविध प्रकार के प्रकाश को वरण करती है, अतः, उषा को 'विभावरी' कहा जाता है। इस पक्ष में 'वि' पूर्व वाली 'भासृ' दीप्तौ' तथा 'वृञ्' वरणे' धातुओं के योग से 'विभावरी' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'विभावरी' पद को रात्रि का विशेषण तथा उषस् का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार 'विभावन्' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'विभावरी' पद उपपन्न होता है।[८] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'वि+'भा' से 'विभावरी' को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[९] मोनियर विलियम्स ऋग्वेद में 'विभावरी'

---

१ निघ० १.८.

२ निघ० १.८.१.

३ निघ०वृ०, १.८.१.

४ अष्टा०, ४.१.७. ''वनो र च।''

५ ऋ० १.४८.१०.

६ अष्टा०, ५.२.१०९; ४.१.७.

७ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ० १८१.

८ वै०पद०को०, पृ० २८८३.

९ ऋ०वै०पद०, पृ० ४८५.

का अर्थ द्युतिमान् या देदीप्यमान मानते हुए 'वि+'भा' से 'विभावरी' पद को निष्पन्न मानते हैं।[१] जबकि आचार्य सायण 'विभा' शब्द से या 'भा' धातु से 'वनिप्' प्रत्यय करके से 'विभावरी' पद को उपपन्न करते हैं।[२]

विभावरी पद का वैदिक साहित्य में अल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में इसका मात्र ८ बार उल्लेख हुआ है। आजीगर्ति शुनःशेप ऋषि कहते हैं कि स्तुतिप्रिया, मरणधर्मरहिता, विशेषप्रभायुक्ता उषा सुखभोग के लिये किस मरणधर्मा को प्राप्त होती है।[३] प्रस्कण्व ऋषि उषा देवता का स्तवन करते हुए कहते हैं कि विशेषप्रभायुक्ता उषा अन्न के साथ प्रकाशित हो, यह उषा देवी दान देती हुई दान देने वाले धन के साथ प्रकाशित हो।[४] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में प्रस्कण्व ऋषि उषा देवी को 'विभावरी' और 'चित्रामघा' विशेषणों से सम्बोधित करते हुए उससे आह्वान सुनने की प्रार्थना करते हैं।[५] उषा देवता के माहात्म्य का वर्णन करते हुए गोतम ऋषि कहते हैं कि प्रदान करने के निमित्त गो और अश्वों को धारण करने वाली विभावरी उषा हमें धनवान् बनाये।[६] वामदेव ऋषि कहते हैं कि अपने तेज से जगत् को भर देने वाली उषा अन्धकार को दूर भगाती है तथा उसके पश्चात् अनुकूल अन्नादि की रक्षा करती है।[७] सत्यश्रवा आत्रेय ऋषि कहते हैं कि विभावरी उषा स्तोत्रों से स्तुति करने वाले ऋत्विजों को श्री से युक्त करती है।[८] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि विभावरी उषा को सुजाता और शीघ्र व्याप्त होने वाली सूनृता वाणी से युक्त बतलाता हुआ कहता है कि वह स्तुति करने वालों की हिंसा नहीं करती है।[९] त्रित आप्त्य ऋषि द्युलोक की दुहिता विभावरी उषा से इन्द्रियों में होने वाले अनिष्ट सूचक स्वप्न को दूर करने की प्रार्थना करते हैं।[१०]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद की दृष्टि में 'विभावरी' उषा देवता का नाम और विशेषण है। 'विभावरी' पद का सामान्य अर्थ व्याख्याकारों ने 'प्रभा से युक्त' लिया है। उषा देवता की 'विभा' मरणधर्मरहिता, चित्रामघा तथा अन्धकार को दूर करने वाली है। यह स्तुति करने वालों के स्वधा की रक्षा एवं उन्हें श्री से युक्त करती है। इसके अतिरिक्त यह अनिष्ट स्वप्नों का नाश करने वाली भी है। निर्वचनकारों एवं वैयाकरणों ने 'विभावरी' का व्युत्पत्ति 'वि+'भा'+वनिप्' की है, परन्तु शब्द के स्वरूप और आकृति को ध्यान में रखते हुए निम्न निर्वचन भी किया जा सकता है:-''**विभां वृणोतीति विभावरी**'' कि जो विभा का वरण करती है, वह 'विभावरी' है। प्रातःकाल के समय सूर्य एक विशेष प्रकार की प्रभा से

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९७७.

२ ऋ० ५.७९.४.

३ ऋ० १.३०.२०. ''कस्त उषः कधप्रिये भुजो मर्तो अमर्त्ये। कं नक्षसे विभावरि।''

४ ऋ० १.४८.१. ''सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती।''

५ ऋ० १.४८.१०. ''सा नो रथेन बृहता विभावरि श्रुधि चित्रामघे हवम्।''

६ ऋ० १.९२.१४. ११५ ''उषो अद्येह गोमत्यश्वावति विभावरि।''

७ ऋ० ४.५२.६. ''आपप्रुषी विभावरि व्यावर्ज्योतिषा तमः। उषो अनु स्वधामव।''

८ ऋ० ५.७९.४. ''अभि ये त्वा विभावरि स्तोमैर्गृणन्ति वह्नयः।''

९ ऋ० ५.७९.१०. ''या स्तोतृभ्यो विभावर्युच्छन्ती न प्रमीयसे सुजाते अश्वसूनृते।''

१० ऋ० ८.४७.१४. ''यच्च गोषु दुः ष्वप्न्यं यच्चास्मे दुहितर्दिवः। त्रिताय तद्विभावर्याप्त्याय परा वहानेहसः।''

आलोकित होता है, उसका यह आलोक पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न के भागों की आभा से भिन्न होता है। उषःकाल में सूर्य एक विशेष आभा से युक्त होता है। वैदिक ऋषि भी सम्भवतः, इसी ओर इङ्गित कर रहे हैं, अतः, विभावरी' की व्युत्पत्ति 'विभा+'वृ' से करना समीचीन प्रतीत होता है।

२. सूनरी

निघण्टुकोष के उषावाचक नामपदों में 'सूनरी' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उषावाचक 'सूनरी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**शोभना नरा अस्यां सन्ति। नराणां प्रसन्नचित्तत्वेन धर्मादिविशिष्टस्य तदानीं शोभनत्वम्**''[२] कि इस वेला में मनुष्य का चित्त प्रसन्न, धर्मादिविशिष्ट एवं शुभ अवधारणा वाला होता है, अतः, इस समय की सूर्य की अवस्था को 'सूनरी' कहा जााता है। इस पक्ष में 'सु+नर+ई' (मत्वर्थीय) से 'सूनरी' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, सुपूर्वात् 'नृ' नये'। सूनरी शोभनं नयति कालम्**''[३] कि जो समय को अच्छे प्रकार व्यतीत करती है, वह 'सूनरी' कहलाती है। इस पक्ष में 'सु' पूर्वक 'नृ' धातु से 'इ' प्रत्यय और उससे स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'सूनरी' पद निष्पन्न होता है।

(ग)''**यद्वा, नृभिर्देवैः समन्विता- इति माधवः**''[४] आचार्य माधव कहते हैं कि यह वेला नर अर्थात् देवों से समन्वित है, इसलिये यह 'सूनरी' कहलाती है। इस पक्ष में 'सु' पूर्व वाले 'नृ' शब्द से 'सूनरी' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य सायण 'सूनरी' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**सुष्ठु नयतीति सूनरी**''[५] कि यह अच्छे प्रकार पथ प्रदर्शन करती है, अतः, उषा को 'सूनरी' कहते हैं। इस पक्ष में 'सु' पूर्वक 'नृ' नये' धातु से औणादिक 'इ' प्रत्यय होकर 'सूनरी' पद उपपन्न होता है।

आचार्य दुर्ग 'सूनरी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**शोभनं नराणामस्यामुत्थापनं भवतीति सूनरी**''[६] कि साधु अर्थात् सज्जन उषाकाल में उठते हैं, इसलिये उषा का नाम 'सूनरी' है। इस पक्ष में 'सु' उपपद में रखकर 'नृ' नये' धातु से 'सूनरी' शब्द उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सूनरी' पद को मनोहरा और सुखदा वाचक विशेषणपद मानता है। उसके अनुसार 'सूनर' पद अव्युत्पन्न है तथा पदपाठकार अनवगृहीत रूप में उक्तपद का पाठ करते हैं।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'सूनर' से 'सूनरी' पद निष्पन्न करने के पक्ष में है, लेकिन यह 'सूनर' पद को अव्युत्पन्न

---

१ निघ० १.८.२.

२ निघ०वृ०, १.८.२.

३ निघ०वृ०, १.८.२.

४ निघ०वृ०, १.८.२.

५ ऋ० १.४८.१०.

६ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ० १८१.

७ वै०पद०को०, पृ० ३४४२.

मानती है।[१] मोनियर विलियम्स भी 'सूनर' पद को अव्युत्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार 'सूनरी' पद ऋग्वेद में प्रसन्न रमणीय, आनन्दमय अर्थ में आया है।[२]

वैदिक साहित्य में 'सूनरी' पद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में मात्र ५ बार उक्त पद का उल्लेख देखने को मिलता है। प्रस्कण्व ऋषि उषा देवता का स्तवन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सूनरी योषा गृहकार्य का सम्यक् सम्पादन करती है, उसी प्रकार सबका सम्यक् पालन करती हुई उषा देवी प्रतिदिन आती है।[३] यहाँ वेद का ऋषि योषा के समान उषा को 'सूनरी' बतला रहा है। इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि सुष्ठु नेतृत्व वाली उषा जगत् को प्रकाशित करती है, इसलिये सम्पूर्ण जगत् इस उषा को नमन करता है।[४] अग्रिम मन्त्र में पुनः ऋषि कहता है कि अच्छे प्रकार नेतृत्व एवं अन्धकार को दूर करने वाली उषा पर ही सम्पूर्ण प्राणियों की चेष्टा और जीवन निर्भर है।[५] वामदेव ऋषि कहते हैं कि वह स्तूयमान उषा स्वसा (रात्रि=स्वयं पलायन करने वाली) को अपसारित करती हुई प्राणियों का सम्यक् नेतृत्व करती है।[६] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि यह उषा व्यापनशील महान् अन्धकार का नाश करती है तथा प्रकाश के लिये सुन्दर नेतृत्व करने वाली ज्योति को प्रकट करती है।[७]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद की दृष्टि में 'सूनरी' उषा देवता का विशेषण है। उषा को वेद का ऋषि 'सूनरी' योषा के समान बतलाता है। जिस प्रकार 'सूनरी' योषा गृहकार्य का सम्यक् सम्पादन एवं व्यवस्थापन करती है, उसी प्रकार उषा भी इस जगत्रूप गृह का सम्यक् व्यवस्थापन और नियमन करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि योषा और उषा पद समान मूल के हैं, इसलिये ये दोनों वेद की दृष्टि में 'सूनरी' हैं। इन दोनों के सक्रिय होने से गृह और संसार में जीवन के सङ्केत दृष्टिगोचर होते हैं। 'सूनरी' उषा की एक प्रमुख विशेषता का प्रतिपादन करता हुआ ऋषि कहता है कि यह अपनी स्वसा (रात्रि) को दूर भगा देती है तथा ज्योति को प्रकट करती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में 'सूनरी' वह है, जो सुन्दर प्रकार से नेतृत्व करती है। आचार्य देवराजयज्वन् के किसी भी निर्वचन से उक्त आशय की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती है।

३. भास्वती

निघण्टुकोष के उषावाचक नामपदों में 'भास्वती' पद परिगणित है।[८] आचार्य देवराजयज्वन् 'भास्वती' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**भासत इति भासः प्रकाशः। भासा तद्वती भास्वती**"[९] कि

---

१ ऋ०वै०पद०, पृ० ५८३.

२ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२४२.

३ ऋ० १.४८.५. "आ घा योषेव सूनर्युषा याति प्रभुञ्जती।"

४ ऋ० १.४८.८. "विश्वमस्या नानाम चक्षसे जगज्ज्योतिष्कृणोति सूनरी।"

५ ऋ० १.४८.१०. "विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे वियदुच्छसि सूनरि।"

६ ऋ० ४.५२.१. "प्रति ष्या सूनरी जनी व्युच्छन्ती परि स्वसुः। दिवो अदर्शि दुहिता।"

७ ऋ० ७.८१.१. "अपो महि व्ययति चक्षसे तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी।"

८ निघ० १.८.३.

९ निघ०वृ०, १.८.३.

जो भासित होता है, वह 'भास' अर्थात् प्रकाश है। उस प्रकाश से युक्त उषा 'भास्वती' कहलाती है। इस पक्ष में 'भास्' धातु से 'क्विप्' और उससे 'मतुप्' और 'डीष्' प्रत्यय होकर 'भास्वती' रूप उपपन्न होता है। जबकि आचार्य सायण 'भा' धातु से 'असुन्' उससे 'मतुप्' और 'डीप्' प्रत्यय करके 'भास्वती' पद निष्पन्न करने के पक्ष में हैं।[१]

ताण्ड्यब्राह्मण 'भास' का स्वरूप प्रतिपादित करता हुआ कहता है:-"**स्वर्भानुर्वा आसुर आदित्यं तमसाविध्यत् स न व्यरोचत तस्यात्रिर्भासेन तमोऽपहन् स व्यरोचत यद्वै तद्भा अभवत्तद्भासस्य भासत्वम्**"[२] कि स्व अथवा भानु ने आसुर आदित्य को तमस् से विद्ध कर दिया है, इससे वह आदित्य प्रकाशित नहीं हुआ, अत्रि नामक प्रकाश से तमस् को दूर करता हुआ वह प्रकाशमान हुआ, यह जो प्रकाशित हुआ, यही उस आदित्य का भासत्व है। यहाँ ब्राह्मण का ऋषि तमस् के अनन्तर प्रकाशित होते हुए सूर्य की आभा को 'भास' बतला रहा है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष एवं ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'भास्वती' पद का मूल 'भास्' धातु को स्वीकार करती हैं।[३] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'भास्वती' पद प्रकाशमान, वैभवपूर्ण अर्थ में प्रयुक्त है।[४]

वैदिक साहित्य में 'भास्वती' पद का बहुत अल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मात्र दो बार इसका उल्लेख आया है। गोतम ऋषि उषा देवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि तेजस्विनी उषा प्रिय और सत्य वाणी के व्यवहारों की प्रणेत्री है। इस प्रकार के चरित्र वाली द्युलोक की दुहिता उषा की गोतम (ज्ञान विज्ञान में निपुण) ऋषियों के द्वारा स्तुति की जाती है।[५] आङ्गिरस कुत्स ऋषि उषा की स्तुति करते हुए कहते हैं कि विशिष्ट प्रकाश से युक्त तथा सूनृता वाक् को उत्पन्न करने वाली (उषा के प्रादुर्भाव के पश्चात् पक्षियों का कलरव और मनुष्यों की वाणी एवं व्यवहार की प्रतीति होती है। ऐसी) उषा हमारे लिये उन्नति के द्वारों को उद्घाटित करती है, वह अवश्य जानने योग्य है।[६]

उपर्युक्त विश्लेषण को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि उक्त दोनों मन्त्रों में 'भास्वती, नेत्री, सूनृतानाम्, दिवः दुहिता'- इतने पद समान रूप से उद्धृत हैं। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि उषा देवता का वह रूप 'भास्वती' है, जिसमें 'नेत्री' अर्थात् नेत्रों को पथ दिखाने की क्षमता हो। कहने का आशय यह है कि प्रकाश की इतनी मात्रा जिसमें सुगमता से मार्ग दिखायी दे जाये- 'भास्वती' है। दूसरी विशेषता 'भास्वती' की वेद यह मानता है कि वह 'सूनृता' अर्थात् जिसमें प्रिय और सत्य व्यवहार हो। प्रातःकाल के समय पक्षियों का कलरव कर्णप्रिय तथा इस काल में मनुष्य सत्य और धार्मिक व्यवहार के लिये सहज रूप से प्रेरित होता है, अतः, जिस समय धार्मिक कृत्य का आयोजन होता है, 'भास्वती' है।

---

१ ऋ० १.९२.७.

२ ता०ब्रा०, १४.११.१४.

३ वै०पद०कोष, पृ० २३२९. ऋ०वै०पद०, पृ० ३६७.

४ संस्कृत-इंग्लिशकोष, पृ०, ७५६.

५ ऋ० १.९२.७. "भास्वती नेत्री सूनृतानां दिवः स्तवे दुहिता गोतमेभिः।"

६ ऋ० १.११३.४. "भास्वती नेत्री सूनृतानामचेति चित्रा वि दुरो न आवः।"

तीसरी विशेषता 'भास्वती' की वेद के शब्दों में उसका 'दिवः दुहिता' होना है, भास्वती उषा प्रकाश की दुहिता है, यह द्युलोक से प्रकाश का दोहन करती है, अतः, जिस काल में दोहन कर्म सम्पन्न होता है, वह काल 'भास्वती' का है। जैमिनीय-ब्राह्मण तथा जैमिनीयोपनिषद् आदित्य को 'भा' कहती हैं।[१] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'भास्वती' का मूल 'भा' धातु है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त ताण्ड्य- ब्राह्मण के वचन से भी इस कथन का समर्थन हो जाता है।[२]

४. ओदती

निघण्टुकोष के उषावाचक नामपदों में 'ओदती' पद पठित है।[३] 'ओदती' पद का निर्वचन करता हुआ ऐतरेय आरण्यक कहता है:-"**आपो वा ओदत्यो या दिव्यास्ता हीदं सर्वमुन्दन्त्यापो वा ओदत्यो या मुख्यास्ता हीदं सर्वमन्नाद्यमुन्दन्ति**"[४] कि 'ओदती' का आशय 'उदक' है, दिव्य उदक सब कुछ आर्द्र कर देते हैं और मुख्य उदक सम्पूर्ण अन्नाद्य को क्लिन्न करते हैं। यहाँ ब्राह्मण 'ओदती' का मूल 'उन्दी' क्लेदने' धातु मान रहा है।

आचार्य देवराजयज्वन् उषावाचक 'ओदती' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**उनत्त्यावश्येन ओदती**"[५] कि यह अवश्याय से आर्द्र कर देती है, अतः, उषा को 'ओदती' कहते हैं। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'ओदती' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य सायण 'ओदती' का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**उनत्ति सर्वं नीहारेण इति ओदती उषाः**"[६] कि सबको नीहार (कुहरा) से आच्छादित कर लेती है, अतः, उषा को 'ओदती' कहते हैं। इस पक्ष में 'उन्द्' धातु से 'शप्' और 'शतृ' प्रत्यय तथा उससे 'ङीप्' प्रत्यय होकर 'ओदती' रूप निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'ओदती' पद को उषस्, धेनु, उन्दती का विशेषणपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'ओदती' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[८] मोनियर विलियम्स 'ओदती' का मूल 'उद्' धातु को मानते हैं, उनके अनुसार ऋग्वेद में 'ओदती' का प्रयोग 'मन्दवृष्टि' या 'नवीन शक्ति का सञ्चार करने' के अर्थ में हुआ है।[९]

वैदिक साहित्य में 'ओदती' पद का अत्यन्त अल्प प्रयोग देखने को मिलता है। प्रस्कण्व ऋषि उषा देवता के माहात्म्य का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि उषा समीचीन चेष्टा तथा अर्थ की कामना करने वाले

---

१ जै०ब्रा०, १.३३०; जै०उप०, १.१.४.१.

२ ता०ब्रा०, १४.११.१४.

३ निघ० १.८.४.

४ ऐ०आ०, १.३.५.

५ निघ०वृ०, १.८.४.

६ सायणभाष्य, ऋ० १.४८.६.

७ वै०पद०को०, पृ० १०७३.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० १६२.

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २३५.

पुरुष को स्वकर्म करने के लिये प्रेरित करती है तथा स्थान की इच्छा नहीं करती है अर्थात् उषःकाल शीघ्र व्यतीत हो जाता है।[१]

उपर्युक्त विश्लेषण को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि इस एकमात्र उषादेवताक मन्त्र के आधार पर 'ओदती' के उक्त क्लेदनमूलक निर्वचनों की पुष्टि नहीं होती है। ऋग्वेद में इस पद का मात्र दो बार उल्लेख आया है, एक स्थान पर इसका देवता उषा और दूसरे स्थान पर इन्द्र है। उषादेवताक मन्त्र में 'ओदती' का अर्थ 'उदित होती हुई उषा' प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त उषा का आर्द्रता के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध परिलक्षित नहीं होता है। उक्त आरण्यक का ऋषि स्पष्टरूप से 'ओदती' का आशय 'उदक' ग्रहण करता है।[२] इन्द्रदेवताक मन्त्र में ओदतीनाम्' के साथ ऋषि 'नदम्' का प्रयोग करता है,[३] जिसका उदक के साथ स्पष्ट सम्बन्ध है। ऐसे स्थलों पर 'ओदती' का आशय 'आर्द्रता' ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मन्त्र के आधार पर उषावाचक 'ओदती' का अर्थ 'उदित होती हुई उषा' है तथा उषा के साथ उदक का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'ओदती' को 'उद्+'इ' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन प्रतीत होता है।

५. चित्रामघा

निघण्टुकोष के उषावाचक नामपदों में 'चित्रामघा' पद परिगणित है।[४] आचार्य देवराजयज्वन् उषावाचक 'चित्रामघा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**महते दीयतेऽर्थिभ्यः इति मघं धनम्, चित्रमाश्चर्यभूतं धनं यस्या इति चित्रामघा**''[५] कि जो धन याचकों को दिया जाता है, वह 'मघ' है, आश्चर्यचकित करने वाला धन जिसके पास है, ऐसी उषा 'चित्रामघा' नाम से अभिहित होती है। इस पक्ष में 'चित्' चयने' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'चित्र' तथा दानार्थक 'मंह्' धातु से 'क' प्रत्यय होकर 'मघ' शब्द और इन दोनों के संयोग से 'चित्रामघा' रूप सिद्ध होता है। आचार्य सायण भी कुछ इसी प्रकार का 'चित्रामघा' पद का निर्वचन करते हैं:-''**चित्रं मघं यस्याः सा चित्रामघा**''।[६] एक अन्य स्थान पर वे पुनः कहते हैं:-''**चित्रं चायनीयं मघं गवाश्वादिलक्षणं धनं यस्याः सा**''[७] यहाँ चित्र पद को 'चाय्' धातु से सायण व्युत्पन्न मान रहे हैं।

आचार्य यास्क 'चित्र' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**चित्रं चायनीयम्**''[८] कि जो दर्शनीय या पूजनीय है, वह 'चित्र' है। यहाँ यास्क 'चित्र' शब्द को 'चाय्' धातु से निष्पन्न कर रहे हैं।

---

१ ऋ० १.४८.६.
२ ऐ०आ०, १.३.५.
३ ऋ० ८.६९.२.
४ निघ० १.८.५.
५ निघ०वृ०, १.८.५.
६ ऋ० १.४८.१०.
७ ऋ० ८.५८.३.
८ निरु० ४.४; १२.६; १६.

डॉ. वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में यह 'squit' 'देदीप्यमान' अर्थ में है तथा अवेस्ता में यह 'ciora' 'आँखों से टकराना' अर्थ में है। उनकी दृष्टि में उक्त यास्कीय निर्वचन पुरातन है, भाषाविज्ञान के अविकसित तथा वैदिक साहित्य के पर्याप्त अध्ययन के अभाव में इसके विषय में निर्णयात्मक रूप से अभी कुछ नहीं कहा जा सकता है।[१]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष के अनुसार 'चित्रामघा पद 'उषस्' का विशेषणपद है। कोशकार के मत में अव्युत्पन्न 'चित्र' तथा 'मंह्' धातुमूलक 'मघा' के संयोग से उक्त पद निष्पन्न होता है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'चित्र' पद को अव्युत्पन्न तथा 'मंह्' धातु से 'मघ' को व्युत्पन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स के अनुसार 'चित्र' शब्द 'चित्' धातु से निष्पन्न है तथा 'चित्रामघा' का अर्थ 'आश्चर्यजनक उपहार देना' है।[४]

वैदिक साहित्य में 'चित्रामघा' का उल्लेख बहुत अधिक नहीं प्राप्त होता है। ऋग्वेद में मात्र चार बार यह पद देखने को मिलता है। प्रस्कण्व ऋषि उषा देवता का आह्वान करते हुए कहते हैं कि हे विभावरि! उषा तुम विशाल रथ पर बैठकर यहाँ आओ, हे चित्र-विचित्र धन से युक्त उषा देवते! हमारे आह्वान को सुनो।[५] वसिष्ठ ऋषि उषा देवता के माहात्म्य का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि यह उषा देवी अन्न और बल को देने वाली, नाना प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न, सूर्य की योषा और वसुओं के धन की स्वामिनी है। ऋषियों से स्तुत, जरा अवस्था को प्राप्त कराती एवं वह्नि के माध्यम से स्तुति को ग्रहण करती हुई धनवती उषा अन्धकार को दूर करती है।[६] एक अन्य मन्त्र में उषा के स्वरूप का प्रतिपादन करता हुआ ऋषि कहता है कि नाना प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न उषा सम्पूर्ण विश्व को लक्ष्य बनाकर अपने आकार को बढ़ाती है।[७] मेधातिथि काण्व ऋषि विश्वदेवों का आह्वान करते हुए कहते हैं कि जिन विश्वदेवों के साथ योग हो जाने पर विचित्र धन उत्पन्न होता है, ऐसे देवों का मैं आह्वान करता हूँ।[८]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उषा का वह रूप 'चित्रामघा' है, जिस काल में वह चित्र-विचित्र रश्मियों से समन्वित होकर पृथिवी का स्पर्श करती है। यह 'चित्रामघा' उषा सूर्य की योषा, वसुओं की स्वामिनी एवं ऋषियों से वह्नि के माध्यम से स्तुति प्राप्त करती है तथा विश्व के लिये अनुकूल एवं प्रभूत है। इसके अतिरिक्त वेद विश्वदेवों के साथ एकाकार होने पर चित्रामघा (विचित्र धन) की प्राप्ति का भी उल्लेख करता है। इस दृष्टि से 'चित्रामघा' के उपर्युक्त सभी निर्वचन युक्तिसङ्गत हैं। लेकिन रूप और अर्थ को ध्यान में रखते हुए 'चित्र' पद को 'चिञ्' चयने' और 'चाय्' धातुओं की अपेक्षा 'चिती' संज्ञाने' धातु से व्युत्पन्न करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

---

१ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ७७.

२ वै०पद०को०, पृ० १३२६.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० २०२.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३८१.

५ ऋ० १.४८.१०. "सा नो रथेन बृहता विभावरि श्रुधि चित्रामघे हवम्।"

६ ऋ० ७.७५.५. "वाजिनीवती सूर्यस्य योषा चित्रामघा राय ईशे वसूनाम्। ऋषिष्टुता जरयन्ती मघोन्युषा उच्छति वह्निभिर्गृणाना।"

७ ऋ० ७.७७.३. "उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता चित्रामघा विश्वमनु प्रभूता।"

८ ऋ० ८.५८.३. "चित्रामघा यस्य योगेऽधिजज्ञे तं वां हुवे अति रिक्तं पिबध्यै।"

६. अर्जुनी

निघण्टुकोष के उषावाचक नामपदों में 'अर्जुनी' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उषावाचक 'अर्जुनी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**अर्जुनी (उषस्) 'अर्ज' अर्जने'। अर्जति**"[२] यह उषा देवता प्रात:कालीन प्रकाश को उपार्जित करती है, अत:, यह 'अर्जुनी' कहलाती है। इस पक्ष में 'अर्ज्' धातु से औणादिक 'उनन्' प्रत्यय और उससे स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय होकर 'अर्जुनी' पद निष्पन्न होता है।

(ख)"**यद्वा, 'अर्ज' गतिस्थानार्जनेषु'। गम्यते तदर्थिभि: तिष्ठति स्वाश्रये**"[३] कि यह उषा सम्पत्ति के इच्छुक लोगों के द्वारा प्राप्त की जाती है या यह अपने आश्रय में स्थित रहती है, अत:, इसे 'अर्जुनी' कहते हैं। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

(ग)"**यद्वा, अर्जुनमिति रूपनाम (निघ०,३.७.१३.), तच्चात्रादित्यरश्मिसम्बन्धात् श्वेतम्**"[४] कि 'अर्जुन' यह रूपवाचक नामपद है। और वह रूप आदित्य की रश्मियों के सम्बन्ध से श्वेत है।

(घ)"**यद्वा, अर्जुन्यो गाव: ता अस्या: सन्ति वाहनत्वेन**"[५] कि 'अर्जुनी' पद का अर्थ 'गो' है और ये गायें उषा देवता की वाहन हैं। इस प्रकार 'अर्जुनी' पद का अर्थ है:-"गायें हैं वाहन जिसकी ऐसी या गोरूप वाहन वाली उषा"। इस पक्ष में 'अर्जुन' शब्द से मत्वर्थीय 'ई' प्रत्यय होकर 'अर्जुनी' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अर्ज्' धातु से निष्पन्न 'अर्जुनी' पद को 'शुभ्रवर्णा उषस्' का विशेषण तथा राक्षसीविशेष का वाचक नामपद मानता है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अर्जुन' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स 'अर्जुन' पद का मूल 'रज्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार 'अर्जुन' पद का अर्थ श्वेत है। ऋग्वेद में यह दिवस के रंग के अर्थ में आया है।[८]

वैदिक साहित्य में 'अर्जुनी' पद का प्रयोग अत्यल्प हुआ है। ऋग्वेद में मात्र तीन बार इसका उल्लेख देखने को मिलता है। प्रस्कण्व ऋषि उषा देवता का गुणगान करते हुए कहते हैं कि शुभ्रवर्णा उषा के आगमन को देखकर द्विपाद मनुष्यादि तथा चतुष्पाद गवादि एवं उड़ने वाले पक्षी आकाश में इधर-उधर जाना प्रारम्भ कर देते हैं।[९] ऋषि के कथन का मन्तव्य यह है कि रात्रि के अन्धकार के विलीन होने पर सभी प्राणी चेष्टावान् हो जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर उषा वाचक 'अर्जुनी' पद के विशिष्ट स्वरूप का निर्धारण कर पाना

---

१ निघ० १.८.६.

२ निघ०वृ०, १.८.६.

३ निघ०वृ०, १.८.६.

४ निघ०वृ०, १.८.६.

५ निघ०वृ०, १.८.६.

६ वै०पद०को०, पृ० ५०२.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० ५६.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९०.

९ ऋ० १.४९.३. "वयश्चित्ते पतत्रिणो द्विपच्चतुष्पदर्जुनि। उष: प्रातरन्नृतूँरनु दिवो अन्तेभ्यस्परि।"

सम्भव नहीं है। ऋग्वेद में मात्र उक्त पद का तीन बार प्रयोग हुआ है, उसमें से उषा, पृथिवी और सूर्या के साथ विवाह के सन्दर्भ में एक-एक बार प्रयोग हुआ है।[१] लेकिन फिर भी वेद में 'अर्जुन' पद श्वेत के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, के समर्थन में प्रमाण प्राप्त हो जाते हैं[२] तथा इस आधार पर कहा जा सकता है कि 'उषा' का शुभ्ररूप वेद में सम्भवतः, 'अर्जुनी' नाम से अभिहित हुआ है।

७. वाजिनी

निघण्टुकोष के उषावाचक नामपदों में 'वाजिनी' पद समाहित है।[३] आचार्य देवराजयज्वन् 'वाजिनी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**वाजो हविर्लक्षणमन्नाद्यस्या अस्तीति**"[४] कि वाज (हवि लक्षण वाले अन्न) से युक्त उषा 'वाजिनी' नाम से अभिहित होती है। इस पक्ष में 'वाज' शब्द से मत्वर्थीय प्रत्यय होकर 'वाजिन्' और उससे स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय होकर 'वाजिनी' रूप निष्पन्न होता है।

तैत्तिरीय-संहिता 'वाजी' का स्वरूप स्पष्ट करती हुई कहती है:-"**यत्सद्यो वाजान्त्समजयत्। तस्माद् वाजी नाम**"[५] कि यह शीघ्र ही वेग में जीत गया, इसलिये यह 'वाजी' नाम से अभिहित होता है। यहाँ ब्राह्मण का ऋषि 'वाजी' पद को 'जि' धातु से निष्पन्न मान रहा है।

आचार्य यास्क 'वाजी' का निर्वचन निम्न देते हैं:-"**वाजी वेजनवान्**"[६] कि वेगवान् होने से यह 'वाजी' कहलाता है। इस पक्ष में 'विज्' धातु से 'वाजी' पद उपपन्न होता है। लेकिन वेद 'वाज' और 'वाजिन्' का 'वज्' धातु से सम्बन्ध मानता प्रतीत होता है।[७] परन्तु वैदिक-पदानुक्रम-कोष एवं ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची में 'वाज' शब्द को अव्युत्पन्न दिखाया गया है, जबकि मोनियर विलियम्स 'वज्' धातु से उक्त पद को व्युत्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद विशेष रूप से सिन्धु और सरस्वती के साथ अधिक प्रयुक्त हुआ है।[८]

वैदिक साहित्य में 'वाजिनी' पद का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मात्र चार बार इसका उल्लेख देखने को मिलता है। विश्वामित्र ऋषि अग्नि की स्तुति करते हुए कहते हैं कि दक्षिण दिशा को प्राप्त होती हुई वाजिनी नाम्नी उषा प्राची दिशा में आती है और अग्नि के लिये घृतयुक्त हवि को धारण करती है।[९] एक अन्य स्थान पर उषा देवता से प्रार्थना करते हुए विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि अन्न से बलवती उषा प्रकृष्ट ज्ञान वाली

---

१ ऋ० १.४९.३; ५.८४.२; १०.८५.१३.

२ ऋ० ६.९.१. "अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः।"

३ निघ० १.८.७.

४ निघ०वृ०, १.८.७.

५ तै०सं० ३.९.२१.२.

६ निरु० २.२८; ३.३.

७ ऋ० १.४.९. "तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः।"
ऋ० ३.६०.७. "इन्द्र ऋभुभिर्वाजिभिर्वाजयन्निह।"

८ वै०पद०को०, पृ० २८०८. ऋ०वै०पद०, पृ० ४७३. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९३८.

९ ऋ० ३.६.१. "दक्षिणावाड् वाजिनी प्राच्येति हविर्भरन्त्यग्नये घृताची।"

है, वह मघोनी उषा स्तोता के स्तोत्र को स्वीकार करे।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निघण्टु में 'वाज' शब्द 'अन्न' और 'बल' के अर्थ में आया है।[२] 'वाज' के उक्त दोनों अर्थों के साथ उषा देवता का स्पष्ट सम्बन्ध नहीं है और न मन्त्र से ही किसी ऐसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध की पुष्टि होती दिखायी देती है। अतः, निष्कर्ष रूप में यह स्वीकार किया जा सकता है कि उषःकाल में जागरण एवं अन्य उत्थान का कार्य करने वाले के बल एवं बुद्धि की वृद्धि होती है तथा वह स्वस्थ रहता है। सम्भवतः, इस कारण उषा को वेद 'वाजिनी' नाम से सम्बोधन करता है। इसके अतिरिक्त एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि 'वाज' शब्द गत्यर्थक 'वज्' धातु से उपपन्न हुआ हो, तदनुसार वेगवती होने के कारण वेद में उषा को 'वाजिनी' नाम से अभिहित किया गया हो, क्योंकि उषःकाल बहुत शीघ्रता से व्यतीत हो जाता है।

८. वाजिनीवती

निघण्टुकोष के उषावाचक नामपदों 'वाजिनीवती' नामपद परिगणित है।[३] आचार्य देवराजयज्वन् उषावाचक 'वाजिनीवती' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**वाजो बलं वेगो वा तेन तद्वती वाजिनी। कासौ उषसः स्वभूता तेन तद्वती वाजिनीवती**''[४] कि वाज का अर्थ बल या वेग है, उस (बल या वेग) से युक्त 'वाजिनी' है। ऐसी उषास्वरूपा वाजिनी ही 'वाजिनीवती' कहलाती है। इस पक्ष में 'वाज' शब्द से मत्वर्थ में 'इनि' प्रत्यय और उससे 'मतुप्' तथा स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय होकर 'वाजिनीवती' रूप सिद्ध होता है।

(ख)''**यद्वा, वाजो हविर्लक्षणमन्नाद्यस्या अस्तीति वाजिनी यागसन्ततिः, तद्वती वाजिनीवती**''[५] कि वाज अर्थात् हवि लक्षण वाले अन्नदि पदार्थ से युक्त याग का विस्तार 'वाजिनी' है, उस यज्ञ से युक्त उषा 'वाजिनीवती' कहलाती है।

(ग)''**यद्वा, वाजमन्नं तद्वती वा वाजिनी, कासौ अवयवभूतेनान्नेन तद्वती अत्र संहविः, तया अन्नसंहत्या तद्वती वाजिनीवती**''[६] कि 'वाज' पद का आशय 'अन्न' है, उस अन्न से युक्त 'वाजिनी' है। उस अन्नसंहति वाली उषा 'वाजिनीवती' कहलाती है।

(घ)''**यद्वा, द्वावेतौ मत्वर्थीयौ, तयोरेकार्थेनातितरो मत्वर्थीयः, अतिशयेनान्नवतीत्यर्थः। वाजिनीवती त्विषा हि सर्वेऽन्नं लभन्ते- इति माधवः**''[७] कि आचार्य माधव के अनुसार 'वाजिनीवती' पद में दो मत्वर्थीय प्रत्यय हैं, उनमें से एक प्रत्यय अतितर अर्थ में है, इस प्रकार 'वाजिनीवती' पद का आशय है कि जो अतिशय अन्न से युक्त है।

---

१ ऋ० ३.६१.१. ''उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि।''

२ निघ० २.७.२; ९.२.

३ निघ० १.८.८.

४ निघ०वृ०, १.८.८.

५ निघ०वृ०, १.८.८.

६ निघ०वृ०, १.८.८.

७ निघ०वृ०, १.८.८.

आचार्य सायण 'वाजिनीवती' पद का निर्वचन निम्नप्रकार करते हैं:-''**वाजोऽन्नमस्या अस्तीति वाजिनी क्रिया तादृशी क्रिया यस्याः सा**''[१] कि वाजयुक्त क्रिया 'वाजिनी' कहलाती है, ऐसी क्रिया है जिसकी वह उषा 'वाजिनीवती' है। अपने आशय को और अधिक स्पष्ट करते हुए एक अन्य स्थान पर सायण कहते हैं:-''**वाजो हविर्लक्षणमन्नम्। तया क्रियया युक्ता उषादेवि**''।[२]

वैदिक साहित्य में 'वाजिनीवती' पद का पर्याप्त प्रयोग देखने को मिलता है। प्रस्कण्व ऋषि उषा देवता का स्तवन करते हुए कहते हैं कि उषादेवी द्वारा प्रभात करने पर आकाश में उड़ने वाले पक्षी अपने कुलायों में नहीं ठहरते हैं, अर्थात् नीड से निकलकर वे अपने आजीविका पथ पर निकल पड़ते हैं।[३] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि उषा को अन्न साधन की क्रिया से युक्त करने वाला बतलाता हुआ उससे अन्न से संयुक्त करने की प्रार्थना करता है।[४] गोतम ऋषि उषा की स्तुति करते हुए कहते हैं कि यह वाजिनीवति अर्थात् वाजिनी (अन्न और बल की प्राप्ति हेतुभूता) क्रिया से संयुक्त उषा हमारे लिये चायनीय धन प्रदान करे, जिससे हम अपने पुत्र और पौत्रों का पालन-पोषण कर सकें।[५] इसी सूक्त के अन्य मन्त्र में गोतम ऋषि कहते हैं कि वह वाजिनीवति उषा आज अरुणवर्ण के अश्वों से हमारे यहाँ आये और हमको सम्पूर्ण सौभाग्यों को प्रदान करे।[६] वामदेव ऋषि कहते हैं कि मघोनी, प्रिय तथा सत्य-व्यवहार करने वाली वाजिनीवती उषा हमारे लिये विपुल वरणीय धनों को लेकर आये।[७]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद की दृष्टि में वह उषा 'वाजिनीवती' है, जिसमें सामर्थ्य और प्रेरणा को पाकर पक्षी अपने नीड का परित्याग कर देते हैं, जो हमें अन्न से संयुक्त एवं पुत्रादि का पालन करने के लिये चित्र-विचित्र धन प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त वाजिनीवती उषा के अश्व अरुणवर्ण के हैं और वह उन पर हमारे लिये वरणीय विपुल धन लेकर आती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वाज का आशय अन्न और बल है तथा उससे युक्त क्रिया 'वाजिनी' है, जिस काल में यह (अन्न और बल की प्राप्ति के लिये) क्रिया प्रारम्भ होती है, वेद की दृष्टि में वह 'वाजिनीवती' उषा का स्वरूप है। सायण आदि भाष्यकारों ने 'वाजिनीवती' का आशय मात्र हवि के सन्दर्भ में ग्रहण किया है, सम्भवतः, यह वैदिक ऋषियों का मन्तव्य नहीं है। अन्न और बल की दात्री होने से उषा वेद में 'वाजिनीवती' नाम से अभिहित हुई है, ऐसा माना जा सकता है।

९. सुम्नावरी

निघण्टुकोष के उषावाचक नामपदों में 'सुम्नावरी' पद पठित है।[८] आचार्य देवराजयज्वन् 'सुम्नावरी'

---

१ ऋ० १.४८.६.

२ ऋ० १.९२.१३.

३ ऋ० १.४८.६. ''वयो नकिष्टे पप्तिवांस आसते व्युष्टौ वाजिनीवति।''

४ ऋ० १.४८.१६. ''सं द्युम्नेन विश्वतुरोषो महि सं वाजैर्वाजिनीवति।''

५ ऋ० १.९२.१३. ''उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति। येन तोकं तनयं च धामहे।''

६ ऋ० १.९२.१५. ''युक्ष्वा हि वाजिनीवत्यश्वाँ अधारुणो उषः। अथा नो विश्वा सौभगान्या वह।''

७ ऋ० ४.५५.९. ''उषा मघोन्या वह सूनृते वार्या पुरु। अस्मभ्यं वाजिनीवति।''

८ निघ० १.८.९.

पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सुष्ठु आम्नायते अभ्यस्यते इति सुम्नं सुखम्, तद्धि सर्वैः सर्वदा ममेदं भूयादित्यभ्यासेन प्रार्थ्यते**"[१] कि अनुकूल रूप से अभ्यस्त होने के कारण सुख को 'सुम्न' कहते हैं, क्योंकि सभी सर्वदा यह प्रार्थना करते हैं कि यह सुख यह मेरा हो जाये, और उस सुख से युक्त उषा 'सुम्नावरी' कहलाती है।

आचार्य सायण 'सुम्नावरी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सुम्नमिति सुखनाम तद्वती**"[२] कि 'सुम्न' यह सुखवाचक नामपद है, और उस सुख से युक्त उषा 'सुम्नावरी' है। इस पक्ष में 'सुम्न' शब्द से 'वनिप्' प्रत्यय, स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' तथा नकार के स्थान में रेफ एवं दीर्घ होकर 'सुम्नावरी' पद व्युत्पन्न होता है।[३]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष अव्युत्पन्न 'सुम्ना' शब्द से व्युत्पन्न 'सुम्नावरी' पद को सुखप्रदा उषस् का विशेषण मानता है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'सुम्नाय' धातु से 'सुम्नावरी' पद को निष्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स का अभिमत है कि 'सु+'म्ना' धातु से 'सुम्नावरी' पद उपपन्न होता है। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद उषा देवता से अनुग्रह या आनन्द की प्राप्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है।[६]

वैदिक साहित्य में 'सुम्नावरी' पद का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मात्र एक बार उक्त पद का उल्लेख देखने को मिलता है। आङ्गिरस कुत्स ऋषि उषा देवता का स्तवन करते हुए कहते हैं कि यह उषा राक्षसादि दुष्टों को पृथक् करने वाली है अर्थात् इसके उदित होने पर निशाचर पलायन कर जाते हैं। यह उषा सत्य का पालन करने वाली एवं यज्ञादि सत्य कर्मों की रक्षा की लिये प्रादुर्भूत हुई है। यह सुख से युक्त है तथा प्रभात काल में यह सत्यादि वेदशास्त्रों अथवा पशुपक्षी आदि की वाणियों को प्रेरित करने वाली है।[७] ब्राह्मणग्रन्थ यज्ञ को 'सुम्न' बतलाता है।[८] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि सुम्न में स्थित मुझे भी सुम्न में स्थित करो।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद की दृष्टि में उषा का वह रूप 'सुम्नावरी' है, जिसमें सूनृता वाणी प्रकट होती है। निर्वचन को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि 'सुम्न' वह सुख है, जो अभ्यास से आता है। सामान्यतया सुख का सम्बन्ध अभ्यास से न होकर प्रवृत्ति से है, लेकिन ब्रह्म का आनन्द साधक को निरन्तर अभ्यास और वैराग्य से प्राप्त होता है। इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप

---

१ निघ०वृ०, १.८.९.

२ ऋ० १.११३.१२.

३ अष्टा०वा०, ५.२.१०९. "छन्दसीवनिपौ च"। अष्टा०, ४.१.७. "वनो र च।"
अष्टा०, ६.३.१३७. "अन्येषामपि दृश्यते।"

४ वै०पद०को०, पृ० ३४२२.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ५७८.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२३१.

७ ऋ० १.११३.१२.

८ काठ०सं० २१.८; कौ०ब्रा०, २.४८२; जै०ब्रा०, १.९३, ९४; शत०ब्रा०, ७.२.२.४; ३.१.३४. "यज्ञो वै सुम्नम्।"

९ शत०ब्रा०, १.८.३.२७. "सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तमिति।"

में कह सकते हैं कि प्रभात:कालीन वेला 'सुम्नावरी' है, जिसमें साधक को ध्यान की स्थिति में सूनृता वाणी का साक्षात्कार होता है।

१०. अहना

निघण्टुकोष के उषावाचक नामपदों में 'अहना' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उषावाचक 'अहना' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अहन्ते गच्छन्त्याकाशे प्रतिदिनं क्षयं गच्छतीति वा**''[२] कि इसके आगमन पर पक्षी आदि प्रतिदिन आकाश में जाते हैं अथवा प्राणी प्रतिदिन क्षयत्व को प्राप्त होते हैं, अत:, उषा को 'अहना' कहते हैं। इस पक्ष में 'अह' गतौ' धातु से 'युच्' प्रत्यय से 'अहना' रूप सिद्ध होता है। **(ख)''यद्वा, 'अह' व्याप्तौ'। व्याप्नोति स्वभासा लोकं व्याप्यते वादित्यरश्मिभि:**''[३] कि यह अपने प्रकाश अथवा सूर्य की रश्मियों से लोक को व्याप्त कर लेती है, अत:, उषा को 'अहना' कहते हैं। इस पक्ष में 'अह' व्याप्तौ' धातु से पूर्ववत् 'युच्' प्रत्यय होकर 'अहना' पद निष्पन्न होता है।

जैमिनीय-ब्राह्मण 'अहन्' शब्द का निर्वचन करता हुआ कहता है:-''**ते देवा अब्रुवन् न हार्षीद् वा अयमिति। तदहरभवत्**''[४] कि देवता कहने लगे कि इसका हरण न हो, वही 'अहर्' हो गया। यहाँ ब्राह्मण 'हृ' धातु से 'अहर्' शब्द को व्युत्पन्न मानता है। एक अन्य स्थान पर जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है:-''**यदहमिति तान्यहान्यभवन्**''[५] कि जो 'अहम्' है, वही 'अहन्' हो गये।

आचार्य यास्क 'अहन्' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अह: कस्माद्? उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि**''[६] कि इस काल में लोग कर्म करते हैं, अत:, यह 'अहन्' कहलाता है। इस पक्ष में 'उप+आ+'हृ' से 'अहन्' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अहन्' शब्द की व्युत्पति सन्दिग्ध मानता है। कोशकार 'अह् सम्पीडनहननयो:' से व्युत्पन्न होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची में 'अहना' को काल्पनिक वर्ग में सम्मिलित किया गया है।[८] मोनियर विलियम्स 'अहन्' से सम्बन्ध मानते हुए 'अहना' पद का मूल 'अह' व्याप्तौ' धातु को मानते हैं।[९] यास्क के उक्त निर्वचन के विषय में डॉ. वर्मा का अभिमत है कि यह निर्वचन अस्पष्ट है। उनके अनुसार भारोपीय भाषा में यह शब्द 'जो इस संसार में प्रकाश क्षिप्त नहीं कर सकता' अर्थ में पाया जाता है।[१०]

---

१ निघ० १.८.१०.
२ निघ०वृ०, १.८.१०.
३ निघ०वृ०, १.८.१०.
४ जै०ब्रा०, ३.३५७.
५ जै०ब्रा०, ३.३८०.
६ निरु० २.२०.
७ वै०पद०को०, पृ० ६५२.
८ ऋ०वै०पद०, पृ० ८४.
९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२४.
१० दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १२६.

वैदिक साहित्य में 'अहना' पद का अत्यन्त अल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मात्र एक बार इस पद का उल्लेख देखने को मिलता है। दीर्घतमस् पुत्र कक्षीवान् ऋषि उषा का स्तवन करते हुए कहते हैं कि उषा प्रत्येक घर में उत्तम प्रकार से गमन और प्रत्येक दिन का नाम (सोमादि) धारण करती है।[१]

उपर्युक्त विश्लेषण में उद्धृत एकमात्र मन्त्र के आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि वह उषा 'अहना' है, जो प्रतिदिन प्रत्येक गृह में जाती है। इस प्रकार वेद की दृष्टि में 'अहना' पद का मूल गत्यर्थक 'अह' धातु है।

११. द्योतना

निघण्टुकोष के उषावाचक नामपदों में 'द्योतना' पद परिगणित है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् उषावाचक 'द्योतना' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''द्योतयति सर्वान् पदार्थान् प्रकाशकत्वम्''**[३] कि प्रकाशक होने के कारण सम्पूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करती है, अतः, उषा को 'द्योतना' कहते हैं। इस पक्ष में ण्यन्त 'द्युत' दीप्तौ' धातु से 'युच्' प्रत्यय होकर 'द्योतना' रूप सिद्ध होता है।

(ख)''यद्वा, द्योतते स्वयं द्योतना''[४] कि यह स्वयं प्रकाशित होती है, अतः, उषा 'द्योतना' कहलाती है। इस पक्ष में 'द्युत' दीप्तौ' धातु से 'युच्' प्रत्यय होकर 'द्योतना' शब्द उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष निघण्टु के मत में 'द्योतना' को उषस् वाचक नामपद तथा सायण, वेङ्कट, ग्रासमैन प्रभृति के मत में विशेषणपद मानता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची ने 'द्योतना' पद का मूल 'द्युत' दीप्तौ' धातु को माना है।[६] मोनियर विलियम्स भी 'द्योतना' पद को 'द्युत' धातु से व्युत्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'द्योतना' पद चमकने या जगमगाने अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[७]

वैदिक साहित्य में 'द्योतना' पद का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मात्र इसका एक बार प्रयोग हुआ है। दीर्घतमस् पुत्र कक्षीवान् ऋषि उषा का स्तवन करते हुए कहते हैं कि उत्तम पदार्थों का सेवन कराना चाहती हुई यह द्योतनशीला उषा प्रतिदिन आती है और वसु अर्थात् पृथिवी आदि लोकों के प्रथम स्थान को प्राप्त करती है।[८]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में उत्तम पदार्थों का सेवन कराने वाली उषा 'द्योतना' है। लेकिन निर्वचन के आधार पर दीप्तिरूप होने के कारण उषा 'द्योतना' कहलाती है। यह तथ्य मन्त्र से पुष्ट नहीं होता, परन्तु उक्त पद के विद्यमानक्रिय होने एवं निर्वचन से अर्थ स्पष्ट है।

---

१ ऋ० १.१२३.४. ''गृहं गृहमहना यात्यच्छा दिवेदिवे अधि नामा दधाना।''

२ निघ० १.८.११.

३ निघ०वृ०, १.८.११.

४ निघ०वृ०, १.८.११.

५ वै०पद०को०, पृ० १६७२.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० २६५.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५००.

८ ऋ० १.१२३.४. ''सिषासन्ती द्योतना शश्वदागादग्रमग्रमिद्भजते वसूनाम्।''

१२. श्वेत्या

निघण्टुकोष के उषावाचक नामपदों में 'श्वेत्या' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क 'श्वेत्या' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**श्वेत्या श्वेततेः**"[२] कि देदीप्यमान अर्थ वाली 'श्वित्' धातु से 'श्वेत्या' शब्द निष्पन्न होता है। श्वेतवर्णा होने से उषा 'श्वेत्या' कहलाती है। आचार्य देवराजयज्वन् भी यास्क का अनुसरण करते हुए 'श्वेत्या' का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**श्वेतते श्वेत्या**"[३]। डॉ. वर्मा के अनुसार यह शब्द भारोपीय भाषा में 'kueit' 'चमकने' अर्थ में तथा इंग्लिश में 'White' है। उनके मत में उक्त निर्वचन तुलनात्मक भाषाशास्त्रीय दृष्टि से पूर्ण रूप से स्वीकार करने के योग्य है।[४] परन्तु डॉ. वर्मा का कथन तर्कसङ्गत प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि भारोपीय के 'kueit' तथा इंग्लिश के 'White' शब्द से 'श्वित्' धातु का रूपगत साम्य नहीं है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'श्वित्' धातु से व्युत्पन्न 'श्वेत्या' पद को उषस् का वाचक नामपद तथा दीप्ति, किरण का वाचक भावपद तथा नामपद मानता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी 'श्वेत्या' पद को 'श्वित्' धातु से व्युत्पन्न स्वीकार करती है।[६] लेकिन मोनियर विलियम्स 'शु' से सम्बन्धित 'श्वि' धातु को 'श्वेत्या' का मूल मानते हैं, उनके अनुसार ऋग्वेद में 'श्वेत्या' पद उषा के समान श्वेत या देदीप्यमान एवं नदी के नाम के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[७]

वैदिक साहित्य में 'श्वेत्या' का अत्यन्त अल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में उक्त पद का मात्र दो बार उल्लेख देखने को मिलता है। आङ्गिरस कुत्स ऋषि उषा देवता का स्तवन करते हुए कहते हैं कि द्युतिमान् श्वेतवर्ण की उषा रोचिष्णु वत्स (सूर्य) के साथ आ पहुँची है। इस उषा के आने से कृष्णवर्णा रात्रि अपने स्थान को रिक्त कर देती है। ये दोनों सूर्य की समानबन्धु अर्थात् ये सूर्य से समानरूप से सम्बद्ध हैं, इसमें से एक सूर्य के अस्त होने पर आती है तथा दूसरी उदित होने पर। ये दोनों मरणधर्म से रहित हैं और एक-दूसरे के पश्चात् आती-जाती रहती हैं तथा ये सभी को जरा अवस्था में पहुँचाती हुयीं (उषा प्रकाश से एवं रात्रि तमस् से) द्योतमान होती हैं अथवा अन्तरिक्ष मार्ग से आती हैं।[८] उक्त मन्त्र का व्याख्यान करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं कि मन्त्र में श्वेत्या (उषा) को 'रुशद्वसा' कहा गया है। सूर्य उषारूपा माता के साथ रहता है तथा वह उसके अवश्यायरूप रस का हरण करता है, इसलिये वह उषा का वत्स है।[९]

---

१ निघ० १.८.१२.

२ निरु० २.२०.

३ निघ०वृ०, १.८.१२.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० २३३.

५ वै०पद०को०, पृ० ३१७५.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ५३६.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ११०७.

८ ऋ० १.११३.२. "रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः। समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने।।"

९ निरु० २.२०.

'श्वेत्या' का उल्लेख केवल दो मन्त्रों में प्राप्त होता है, उनमें से उक्त मन्त्र के उषादेवताक होने से 'श्वेत्या' का अर्थ उषा ग्रहण किया जा सकता है, जबकि द्वितीय मन्त्र नदीदेवताक है, अतः, 'श्वेत्या' पद का आशय उषा लेना सम्भव नहीं है।[१] उपर्युक्त एकमात्र मन्त्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि द्युतिमान् उषा 'श्वेत्या' है। निर्वचन को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि श्वेत होने के कारण उषा का नामकरण 'श्वेत्या' हुआ है, उषा के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए यह अर्थ सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

१३. अरुषी

निघण्टुकोष के उषावाचक नामपदों में 'अरुषी' पद परिगणित है।[२] आचार्य यास्क 'अरुषी' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अरुषीरारोचनात्**''[३] कि प्रकाशमान होने के कारण उषा 'अरुषी' कहलाती है। इस पक्ष में 'आङ्' पूर्व वाली 'रुच्' धातु से 'अरुषी' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'अरुषी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**इयर्ति गच्छति वादित्योदयेनान्तं प्रतिदिनं प्रापयति वा स्तोतॄन् ऐश्वर्यादि**''[४] कि यह प्रतिदिन आदित्य के उदय से अन्त तक स्तोताओं को ऐश्वर्यादि की प्राप्ति कराती है, अतः, उषा को 'अरुषी' कहते हैं। इस पक्ष में गत्यर्थक 'ऋ' धातु से 'उषन्' प्रत्यय तथा पिप्पल्यादि नियम से ईकार होकर 'अरुषी' रूप सिद्ध होता है। उक्त व्युत्पत्ति उणादिकोष सम्मत है।[५]

(ख)''**यद्वा, आङ्पूर्वाद् 'रुच' दीप्तौ'। आरोचते अरुषी**''[६] कि प्रकाशमान होने से उषा 'अरुषी' कहलाती है। इस पक्ष में 'आ+'रुच्' धातु से 'डुषच्' प्रत्यय, टिलोप तथा 'आङ्' को ह्रस्व होकर 'अरुषी' पद निष्पन्न होता है।

(ग)''**यद्वा, अरुषमिति रूपनाम (निघ०,३.७.१५.), सामार्थ्यादत्र शुक्लविषयम्, शुक्लवर्णा अरुषी**''[७] कि 'अरुष' यह रूपवाचक नामपद है। सामर्थ्यवश यहाँ यह शुक्लवाचक है। इस प्रकार शुक्लवर्णा उषा 'अरुषी' कहलाती है। इस पक्ष में 'अरुष' शब्द से स्त्रीलिङ्ग 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'अरुषी' पद उपपन्न होता है।

आचार्य सायण 'अरुषी' का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**ऋच्छन्ति गच्छन्तीत्यरुष्यो वडवाः**''[८] कि दौड़ने के कारण वडवा 'अरुषी' कहलाती हैं। इस पक्ष में गत्यर्थक 'ऋ' धातु से औणादिक 'उषन्' और मत्वर्थीय 'ई' प्रत्यय होकर 'अरुषी' पद व्युत्पन्न होता है।

---

१ ऋ० १०.७५.६. ''रसया श्वेत्या त्या।''

२ निघ० १.८.१३.

३ निरु० १२.७.

४ निघ०वृ०, १.८.१३.

५ उणा०, ४.७४. ''ऋहनिभ्यामूषन्।''

६ निघ०वृ०, १.८.१३.

७ निघ०वृ०, १.८.१३.

८ ऋ० १.१४.१२; ७१.१. उणा०, ४.५१३. अष्टा०, ५.२.१०९. ''छन्दसीवनिपौ च।''

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अरुषी' पद को अग्नि ज्वाला, उषस्, वडवा पद का विशेषण एवं नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची अव्युत्पन्न 'अरुष' पद से 'अरुषी' को व्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स 'अरुष' और 'अरुषी' का अर्थ 'रक्त' और 'रक्तिम' स्वीकारते हुए 'अ+'रुष' से 'अरुषी' को निष्पन्न मानते हैं। उनकी दृष्टि में यह पद ऋग्वेद में अग्नि और उसके अश्व, गौ, उषा तथा अश्विन् देवों के वर्ण के अर्थ में प्रयुक्त है।[३] ऋग्वेद का एक मन्त्र 'अरुषी' पद को 'रुश' दीप्तौ' धातु से व्युत्पन्न होने का सङ्केत देता है। मन्त्र में 'भानु' को 'रुशत्' अर्थात् रक्तिम देदीप्यमान बतलाया गया है, जबकि उषा शुभ्रवर्णा है, इस प्रकार वेद के मत में 'अरुषी' का मूल 'न+'रुश्' प्रतीत होता है।[४] डॉ. वर्मा यास्कीय निर्वचन के सम्बन्ध में अपना मत अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि भारतीय आर्य भाषाओं का रेफ मूलतः भारोपीय भाषा में 'ल्' है। इस तथ्य को न समझ पाने के कारण अनेक असङ्गत निर्वचन किये गये हैं। जैस-अरुण, अरुषी आदि, इनका निर्वचन 'आ+'रुच्' से चमकने अर्थ में किया गया है। वस्तुतः, यह भारोपीय भाषा में यह 'elu' पीत अर्थ में तथा प्राचीन जर्मन भाषा में भी 'elu' पीत अर्थ में है। उनके अनुसार उक्त यास्कीय व्युत्पत्ति पुरातन एवं भाषा-विज्ञान के अविकसित तथा वैदिक साहित्य के पर्याप्त अन्वेषण के अभाव में इस विषय में अभी कुछ कहना सम्भव नहीं है।[५]

वैदिक साहित्य में 'अरुषी' पद का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। कण्व मेधातिथि ऋषि विश्वदेवों का देवों स्तवन करते हुए कहते हैं कि हरण करने वाले रोहित देव अरुषी के रथ में बैठकर तथा उससे देवों को लेकर यहाँ आयें।[६] पराशर ऋषि अग्नि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार रश्मियाँ श्यामवर्णा, आरोचमाना, चायनीय, अन्धकार दूर करने वाली उषा का सेवन करती हैं, उसी प्रकार अङ्गुलियाँ अग्नि की सेवा करती हैं।[७] एक अन्य स्थान पर पुनः अग्नि के प्रकरण में पराशर ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार नदियाँ नीचे की ओर बहती हैं, उसी प्रकार उत्पन्न अग्नि की ज्वालायें सब दिशाओं में जाती हैं।[८] गोतम ऋषि उषा देवता के माहात्म्य का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि ये और वे उषा की रश्मियाँ सब पदार्थों का ज्ञान कराती हैं और लोकों के पूर्व दिशा के आधे भाग को प्रकाशित करती हैं। जिस प्रकार आयुध धृष्टता (प्रगल्भ सामर्थ्य) प्रदान करते हैं, उसी प्रकार ये रश्मियाँ भी सहनशीलता बढ़ाती हैं। माता के समान आरोचमान एवं गमन स्वभाव वाली ये रश्मियाँ प्रतिदिन आती हैं अथवा प्रतिक्षण वृद्धि को प्राप्त होती हैं।[९] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में

---

१ वै०पद०को०, पृ० ४९३.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ५५.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८८.

४ ऋ० १.९२.२. ''रुशन्तं भानुमरुषीरशिश्रयुः।''

५ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० २०; ७३.

६ ऋ० १.१४.१२. ''युक्ष्वा ह्यरुषी रथे हरितो देव रोहितः। ताभिर्देवाँ इहा वह।''

७ ऋ० १.७१.१. ''स्वसारः श्यावीमरुषीमजुष्रञ्चित्रमुच्छन्तीमुषसं न गावः।''

८ ऋ० १.७२.१०. ''अध क्षरन्ति सिन्धवो न सृष्टाः प्र नीचीरग्ने अरुषीरजानन्।''

९ ऋ० १.९२.१. ''एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते। निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः।''

गोतम ऋषि कहते हैं कि केवल अपने तक सीमित अरुषी (शुभ्रवर्णा) के साथ संयुक्त आरोचमान उषा की रश्मियाँ ताप की न्यूनता से वृथा जैसी अनुभव होती हैं। पूर्वकाल के समान ये प्राणियों को ज्ञान देती हैं। इसके पश्चात् आरोचमान उषायें रक्तवर्ण के सूर्य का आश्रय लेती हैं अर्थात् उसके साथ एकाकार हो जाती हैं।[१] त्रित ऋषि अग्नि के प्रकरण में अरुषी को सप्तस्वसा बतलाते हुए कहते हैं कि वह कमनीय उषा दर्शनशक्ति प्रदान करने वाली है।[२] त्रिशिरा त्वाष्ट्र ऋषि भी अग्नि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इस अरुषी (प्रकाशमान) अग्नि की रश्मियों के पतन के समय शीघ्रबोध होता है तथा पदार्थ ऋत की योनि का सेवन करते हैं।[३] तैत्तिरीय-संहिता के अनुसार अग्नि का वर्ण अरुष है।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में अरुषी का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है। कहीं यह वडवा के वर्ण को बता रहा है,[५] तो कहीं यह उषा, अश्विनी, अग्नि और गो के वर्ण का बोध करा रहा है। जहाँ तक उषावाचक 'अरुषी' के स्वरूप-निर्धारण का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि उषा का चमकना या द्युतिमत्ता या उसके शुभ्रवर्ण का प्रत्यायन 'अरुषी' शब्द से होता है। गोतम ऋषि स्पष्टरूप से भानु को 'रुशन्तम्' कहते हैं,[६] जबकि 'अरुषी' में 'न+'रुष्' का बोध हो रहा है, इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि ऋषि भानु की लालिमा को 'रुशन्तम्' से कहता है और जबकि उससे भिन्न शुभ्रवर्ण युक्त लालिमा को वह 'अरुषी' से कह रहा है। इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रातः और मध्याह्नकालीन सूर्य की लालिमा में भेद को रूपायित करता हुआ ऋषि प्रथम को (अरुषी) क्रोधरहित अर्थात् तापरहित तथा द्वितीय को क्रोधसहित (सन्तप्त अवस्था को) प्रतिपादित कर रहा है। सम्भवतः, इसीकारण वह अरुण रश्मियों को वृथा अर्थात् तापरहित कहता है। निर्वचन की दृष्टि से वैदिक निर्वचन, जिसका समर्थन मोनियर विलियम्स ने भी किया है, सर्वाधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। इस निर्वचन से वेद में प्रतिपादित 'अरुषी' के द्युतिमान् या शुभ्रवर्ण अर्थ की प्रतीति भी हो जाती है। इसके अतिरिक्त वेद 'अरुषी' को 'सप्तस्वसा' बतलाता है। इसके मूल में कारण यह है कि वेद में अनेकशः सूर्य को 'सप्तरश्मि' कहा गया है तथा आधुनिक विज्ञान सप्तरश्मियों के सम्मिलन को प्रकाश मानता है और प्रायः सर्वत्र वेद में 'अरुषी' का प्रयोग प्रकाशमान के अर्थ में हुआ है। इस प्रकार सप्तरश्मियों के सम्मिश्रण जन्य प्रकाश 'अरुषी' है।

१४. सूनृता

निघण्टुकोष के उषावाचक नामपदों में 'सूनृता' पद परिगणित है।[७] आचार्य देवराजयज्वन् 'सूनृता' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सुष्ठु ऊन्यते अप्रियैरिति सून्। ऋतमिति सत्यनाम (निरु०,४.१९)।**

---

१ ऋ० १.९२.२. "उदपप्तन्नरुणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुषीर्गा अयुक्षत। अक्रन्नुषासो वयुनानि पूर्वथा रुशन्तं भानुमरुषीरशिश्रयुः।"

२ ऋ० १०.५.५. "सप्त स्वसॄररुषीर्वावशानो विद्वान् मध्व उज्जभारा दृशे कम्।"

३ ऋ० १०.८.३. "अस्य पत्मन्नरुषीरश्वबुध्ना ऋतस्य योनौ तन्वो जुषन्त।"

४ तै०सं० ३.९.४.१. "अग्निर्वा अरुषः।" तै०सं० १.३.६.४. "अग्निर्वा अरुषः अर्वा।"

५ ऋ० १.१४.१२; ५.५६.६.

६ ऋ० १.९२.२. "रुशन्तं भानुमरुषीरशिश्रयुः।"

७ निघ० १.८.१४.

सूंश्च तदृतञ्च सूनृतम्। प्रियञ्च सत्यञ्च''[१] कि जो अप्रिय से रहित है, वह 'सून्' कहलाता है। 'ऋत' यह सत्यवाचक नाम है। जो अप्रिय से रहित तथा सत्य से युक्त हो, वह 'सूनृत' है। इस प्रकार प्रिय और सत्य 'सूनृत' कहलाता है। इस पक्ष में 'सु' पूर्ववाली परिहाणार्थक 'ऊन' धातु से 'सून्' शब्द निष्पन्न होता है। 'सून्' तथा 'ऋत' शब्दों के संयोग से 'सूनृत' पद उपपन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, प्रियसत्यरूपा वाचः सूनृता उच्यन्ते**''[२] अथवा प्रिय और सत्य वाणी 'सूनृता' कही जाती है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

(ग)''**यद्वा, सूनृतेत्यन्ननामसु (निघ०,२.७.२४द्ध पाठादन्नम्। सूनृता धननाम माधवपक्षे अन्नवत्यो धनवत्यो वा सूनृतादयः**''[३] कि निघण्टु में 'सूनृता' यह अन्न और धनवाचक नामपद है। इस प्रकार अन्न या धन से युक्त उषा 'सूनृता' है।

आचार्य सायण 'सूनृता' का निर्वचन निम्न प्रस्तुत करते हैं:-''**सुतराम् ऊनयति अप्रियमिति सून्। सा चासौ ऋता सत्या चेति सूनृता वाक्**''[४] कि जो अच्छी प्रकार अप्रिय का परित्याग करती है, वह वाणी 'सून्' है और जब वह ऋत अर्थात् सत्य से युक्त हो जाती है, तब वह वाक् 'सूनृता' कहलाती है। इस प्रकार प्रिय और सत्य वाक् 'सूनृता' है। इस पक्ष में 'सु' पूर्वक 'ऊन' परिहाणे' धातु से 'सून्' शब्द निष्पन्न होता है। 'सून्+ऋत' से 'सूनृता' पद उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सूनृता' पद को सौहित्य, तृप्ति प्रभृति का वाचक भावपद, बलवान् इन्द्र का विशेषण तथा स्तोत्र प्रभृति का वाचक नामपद मानता है। कोशकार उक्त पद को 'सून+भृत' से व्युत्पन्न होने की सम्भावना व्यक्त करता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची में 'सूनृत' शब्द को अव्युत्पन्न प्रदर्शित किया गया है।[६] मोनियर विलियम्स 'सु+ऋत' से 'सूनृत' को व्युत्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, तैत्तिरीय-संहिता तथा पारस्कर गृह्यसूत्र में यह प्रसन्नता, उल्लास, आनन्द और आह्लाद के गीत के अर्थ में आया है।[७] परन्तु 'सूनृत' के मुख्य आशय को ग्रहण करना सम्भवतः, मोनियर विलियम्स भूल गये हैं।

वैदिक साहित्य में 'सूनृता' पद का मुख्यरूप से वाक् तथा उषा के सम्बन्ध से व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में वामदेव ऋषि उषा का स्तवन करते हुए कहते हैं कि यह हमारे प्रति सूनृत वाणी बोले तथा धनिकों के धन को हमारे लिये प्रेरित करे।[८] गोतम ऋषि उषा देवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि तेजस्विनी उषा प्रिय और सत्य वाणी के व्यवहारों की प्रणेत्री है। ऐसी द्युलोक-दुहिता उषा की गोतम (ज्ञान विज्ञान में

---

१ निघ०वृ०, १.८.१४.

२ निघ०वृ०, १.८.१४.

३ निघ०वृ०, १.८.१४.

४ सायणभाष्य, ऋ० १.८.८.

५ वै०पद०को०, पृ० ३४४३.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ५८३.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२४२.

८ ऋ० १.४८.२. ''उदीरय प्रति मा सूनता उषश्चोद राधो मघोनाम्।''.

निपुण) ऋषि स्तुति करते हैं।[१] आङ्गिरस कुत्स ऋषि उषा की स्तुति करते हुए कहते हैं कि विशिष्ट प्रकाश से युक्त उषा सूनृता वाक् को उत्पन्न करने वाली है (ऋषि के कहने का आशय यह है कि उषा के प्रकट होने के पश्चात् पक्षियों का कलरव और मनुष्यों की वाणी एवं व्यवहार की प्रतीति होती है।) तथा यह हमारे लिये अन्धकार को दूर करती हुई उन्नति के द्वारों को उद्घाटित करती है, वह अवश्य जानने योग्य है।[२] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में आङ्गिरस कुत्स ऋषि उषा के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह वायु के समान शीघ्र (सूनृत) स्तुतिरूप वाणी की समाप्ति पर अश्वादि का दान देने वाली उषा को यजमान सोम के सवन से व्याप्त करे।[३] दीर्घतमस् पुत्र कक्षीवान् ऋषि उषा देवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि शरीर के आश्रित क्रिया को धारण तथा पवित्र करने वाली अग्नियाँ सूनृता वाणी को प्रेरित करती हुई स्थित हों।[४] विश्वामित्र ऋषि उषा को अमरणधर्मा, चन्द्ररथ पर बैठने तथा सूनृत वाणी को प्रेरित करने वाली बतलाते हुए उससे प्रकाशित होने की प्रार्थना करते हैं।[५] वसिष्ठ ऋषि उषा को आराधना करने वालों की वाणी को प्रेरित करने या दिशा देने वाला मानते हुए उससे तमस् को दूर करने का निवेदन करते हैं।[६] एक अन्य मन्त्र में वसिष्ठ ऋषि उषा को सभी स्तोताओं के लिये धनप्राप्ति तथा सूनृत वाणी से अन्धकार को दूर भगाने वाले के रूप में चित्रित करते हैं।[७]

वैदिक साहित्य में 'सूनृता' का उल्लेख उषा के अतिरिक्त इन्द्र, ब्रह्मणस्पति और सरस्वती के साथ भी हुआ है,[८] लेकिन सर्वत्र इसका प्रिय और सत्य वाणी के अर्थ में प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त यहाँ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि 'सूनृता' पद उषा अर्थ का वाचक नहीं है। इस प्रकार हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि इस गण में पठित सभी पद उषावाचक नहीं हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में उषा से 'सूनृत' वाणी बोलने की प्रार्थना की गयी है, कहीं इसको प्रिय और सत्य वाणी की प्रणेत्री बताया गया है, कहीं उषा की स्तुतिरूप में प्रयुक्त वाणी को सूनृता कहा गया है, किसी मन्त्र में शरीर को धारण एवं पवित्र करने वाली अग्नि को सूनृता वाणी की प्रेरणादात्री के रूप में प्रस्तुत किया गया है, कहीं यह साधकों की वाणी को प्रेरित या दिशा देने वाले के रूप में चित्रित की गई है और कहीं इसका अपनी सूनृत वाणी से अन्धकार को दूर भगाने वाले के रूप में उल्लेख हुआ है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि उषा के आगमन के साथ यह सम्पूर्ण जगत् जाग जाता है और उसके जागृत होने से उन्नति के पथ उद्घाटित होते हैं, ये उन्नति के स्वर ही वेद में सम्भवतः, 'सूनृता' नाम से अभिहित हुए हैं। इसके अतिरिक्त वेद में इन्द्र के साथ 'सूनृता' का अधिक उल्लेख हुआ है, इसका यह कारण प्रतीत होता है कि इन्द्र बल और ऐश्वर्य का दाता है और स्तोता प्रायः इन्हीं की अधिक

---

१ ऋ० १.९२.७. ''भास्वती नेत्री सूनृतानां दिवः स्तवे दुहिता गोतमेभिः।''

२ ऋ० १.११३.४. ''भास्वती नेत्री सूनृतानामचेति चित्रा वि दुरो न आवः।''

३ ऋ० १.११३.१८. ''वायोरिव सूनृतानामुदर्के ता अश्वदा अश्नवत्सोमसुत्वा।''

४ ऋ० १.१२३.६. ''उदीरतां सूनृता उत्पुरंधीरुदग्नयः शुशुचानासो अस्थुः।''

५ ऋ० ३.६१.२. ''उषो देव्यमर्त्या वि भाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।''

६ ऋ० ७.७६.७. ''एषा नेत्री राधसः सूनृतानामुषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः।''

७ ऋ० ७.७९.५. ''देवंदेवं राधसे चोदयन्त्यस्मद्र्यक्सूनृता ईरयन्ती।''

८ ऋ० १.३.११; ८.८; ३०.५; ४०३;

कामना करता है तथा उन्नति प्रायः बल और ऐश्वर्यमूलक होती है। यहाँ तथ्य भी स्मरण रखने योग्य है कि 'सूनृता' पद उषा अर्थ का वाचक नहीं है।

१५. सूनृतावती

निघण्टुकोष के उषावाचक नामपदों में 'सूनृतावती' पद का परिगणन हुआ है।[१] उक्त पद में प्रयुक्त 'सूनृता' का निर्वचन पूर्ववत् है, 'तद्वती' अर्थात् सूनृत वाणी से युक्त उषा' सूनृतावती' है।[२] यहाँ 'सूनृता' शब्द से मत्वर्थीय 'मतुप्' प्रत्यय होकर 'सूनृतावती' पद निष्पन्न होता है। मोनियर विलियम्स कहते हैं कि ऋग्वेद में 'सूनृतावति' का देवता के रूप में मूर्तीकरण हो गया है।[३] जबकि यह सत्य है कि 'सूनृता' पद वेद में देवता रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सका है।

वैदिक साहित्य में 'सूनृतावती' पद का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। काण्व मेधातिथि ऋषि अश्विन् देवों को प्रिय, सत्य एवं मधुर वाणी वाला बतलाते हैं।[४] वसिष्ठ ऋषि अश्विन् देवों को सूनृतावति सम्बोधन से पुकारते हुए उनसे चित्र-विचित्र धनादि देने का निवेदन करते हैं।[५] राहूगण पुत्र गोतम ऋषि उषा को गोमति, अश्वावति एवं विभावरि विशेषणों से अभिहित करते हुए, सूनृतावति सम्बोधन से उसका आह्वान करते हैं और उससे धनवान् बनाने की प्रार्थना करते हैं।[६] वसिष्ठ ऋषि सूनृतावति उषा का धनों की प्रेरिका के रूप में उल्लेख करते हुए उससे शोषक शत्रुओं को दूर भगाने का निवेदन करते हैं।[७]

उपर्युक्त विवेचन के आधर पर यह कहा जा सकता है कि 'सूनृतावति' सम्बोधन वेद में उषा के साथ-साथ अश्विनीदेवों के लिये भी प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार जहाँ यह उषा का नाम है, वहाँ यह अश्विनीदेवों का सम्बोधन भी है। 'सूनृता' पद का अर्थ है:-'प्रिय और सत्य वाणी'। जो देवता इस विशेषता से मण्डित है, वह वेद की दृष्टि में 'सूनृतावति' अभिधान से अभिहित हो सकता है, लेकिन निघण्टुकार केवल उषा के लिये उक्त नामपद को सुरक्षित रखना चाहते हैं, जो तर्कसङ्गत नहीं माना जा सकता।

१६. सूनृतावरी

निघण्टुकोष के उषावाचक नामपदों में 'सूनृतावरी' नामपद समाम्नात है।[८] आचार्य देवराजयज्वन् के अनुसार उक्त पद में प्रयुक्त 'सूनृता' का निर्वचन पूर्ववत् है, 'तद्वती' अर्थात् सूनृत वाणी से युक्त उषा 'सूनृतावरी' है। इस पक्ष में 'सूनृता' शब्द से 'वनिप्' प्रत्यय, स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' तथा नकार के स्थान में रेफ

---

१ निघ० १.८.१५.

२ निघ०वृ०, १.८.१५.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२४२.

४ ऋ० १.२२.३. "या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती। तया यज्ञं मिमिक्षतम्।"

५ ऋ० ७.७४.२. "युवं चित्रं ददथुर्भोजनं नरा चोदेथां सूनृतावते।"

६ ऋ० १.९२.१४. "उषो अद्येह गोमत्यश्वावति विभावरि। रेवदस्मे व्युच्छ सूनृतावति।"

७ ऋ० ७.८१.६. "चोदयित्री मघोनः सूनृतावत्युषा उच्छदप स्रिधः।"

८ निघ० १.८.१६.

एवं दीर्घ होकर 'सूनृतावरी' पद व्युत्पन्न होता है।[१]

ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची अव्युत्पन्न 'सूनृत' शब्द से 'सूनृतावरि' पद को निष्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स 'सु+ऋत' से 'सूनृत' को व्युत्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'सूनृतावरि' पद सूक्ति या पूर्व शब्द को अर्थ को व्यक्त करता है तथा यह उषा के लिये आया है।[३]

वैदिक साहित्य में 'सूनृतावरि' का अत्यन्त अल्प प्रयोग हुआ है। वामदेव ऋषि उषा देवता का स्तवन करते हुए कहते हैं कि द्वेष करने वालों को पृथक् कराने वाली, ज्ञान प्रदात्री सूनृता वाणी से युक्त उषा का स्तोमों से हम प्रतिबोधन करते हैं।[४]

उपर्युक्त विवेचन में मात्र एक मन्त्र के आधार पर 'सूनृतावरि' के स्वरूप का स्पष्ट निर्धारण करना सम्भव नहीं है, पुनश्च यह कहा जा सकता है कि सूनृत (प्रिय और सत्य) वाणी से युक्त होने के कारण वेद में उषा देवता 'सूनृतावरि' नाम से अभिहित हुआ है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि 'सूनृतावरी' पद का गठन 'सूनृत+'वृ' धातु से हुआ प्रतीत होता है।

वैदिक साहित्य में उषावाचक नामपदों में अर्थभिन्नता

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के अष्टम गण में निघण्टुकार ने १६ उषावाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	विभावरी उषावाचक निघ०,१.८.१.	वेद में उषा विभा से युक्त, मरणधर्मरहिता, चित्रामघा तथा अन्धकार को दूर करने वाली है। यह स्तुति करने वालों के स्वधा की रक्षा एवं उन्हें श्री से युक्त करती है। इसके अतिरिक्त यह अनिष्ट स्वप्नों का नाश करने वाली भी है।	'वि+'भा'+'वृ' धातु।
२.	सूनरी उषावाचक निघ०,१.८.२.	वेद में 'सूनरी' उषा को योषा के समान जगत् का सम्यक् सम्पादन और व्यवस्थापन करने वाला बताया गया है।	सु+'नृ' नये' धातु। सुन्दर प्रकार से नेतृत्व करने के कारण वह 'सूनरी' है।
३.	भास्वती उषावाचक निघ०,१.८.३.	वेद में उषा देवता का वह रूप 'भास्वती' है, जिसमें 'नेत्री' अर्थात् नेत्रों को पथ दिखाने की क्षमता हो। कहने का आशय यह है कि प्रकाश की इतनी मात्रा जिसमें सुगमता से मार्ग दिखायी दे जाये, 'भास्वती' है।	'भा' धातु।
४.	ओदती	मन्त्र के आधार पर उषावाचक 'ओदती' का अर्थ 'उदित	इस तथ्य को ध्यान में रखते

---

१ निघ०वृ०, १.८.१६.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ५८३.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२४२.

४ ऋ० ४.५२.४. ''यावयद् द्वेषसं त्वा चिकित्वत्सूनृतावरि। प्रति स्तोमैरभुत्स्महि।''

	उषावाचक निघ०,१.८.४.	होती हुई उषा' है तथा उषा के साथ उदक का कोई सम्बन्ध नहीं है।	हुए 'ओदती' को 'उद्+'इ' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन प्रतीत होता है।
५.	चित्रामघा उषावाचक निघ०,१.८.५.	उषा का वह रूप 'चित्रामघा' है, जिस काल में वह चित्र-विचित्र रश्मियों से समन्वित होकर पृथिवी का स्पर्श और स्तोताओं को धन प्रदान करती है।	'चित्र ('चिती संज्ञाने')+'मंह्' धातु।
६.	अर्जुनी उषावाचक निघ०,१.८.६.	'उषा' का शुभ्ररूप वेद में सम्भवतः, 'अर्जुनी' नाम से अभिहित हुआ है।	'अर्ज्' धातु।
७.	वाजिनी उषावाचक निघ०,१.८.७.	वेद से 'वाजिनी' का विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। 'वाज' का अर्थ 'अन्न' और 'बल' होता है, मन्त्र से उक्त अर्थ की प्रतीति होती दिखायी नहीं देती है। सम्भवतः, उषाकाल बल और बुद्धि को देने वाला है, इसलिये उषा को 'वाजिनी' कहा गया है, मात्र यह सम्भावना है।	'वज्' गतौ'=वाज, 'वाज+इनि'=वाजिनी'।
८.	वाजिनीवती उषावाचक निघ०,१.८.८.	वेद की दृष्टि में वह उषा 'वाजिनीवती' है, जिसमें सामर्थ्य और प्रेरणा को पाकर पक्षी अपने नीड का परित्याग कर देते हैं, जो हमें अन्न से संयुक्त एवं पुत्रादि का पालन करने के लिये चित्र-विचित्र धन प्रदान करती है।	'वाज+इनि=वाजिनी+ मतुप्=वाजिनीवती।
९.	सुम्नावरी उषावाचक निघ०,१.८.९.	वेद में वह प्रभातकालीन वेला 'सुम्नावरी' है, जिसमें साधक को ध्यान की स्थिति में सूनृता वाणी का साक्षात्कार होता है।	'सुम्न+'वृ' धातु।
१०.	अहना उषावाचक निघ०,१.८.१०.	वेद के अनुसार वह उषा 'अहना' है, जो प्रतिदिन प्रत्येक गृह में जाती है।	इस प्रकार वेद की दृष्टि में 'अहना' पद का मूल गत्यर्थक 'अह' धातु है।
११.	द्योतना उषावाचक निघ०,१.८.११.	वेद में उत्तम पदार्थों का सेवन कराने वाली उषा 'द्योतना' है, लेकिन निर्वचन के आधार पर दीप्तिरूप होने के कारण उषा 'द्योतना' कहलाती है।	'द्युत्' दीप्तौ' धातु।
१२.	श्वेत्या उषावाचक निघ०,१.८.१२.	एकमात्र मन्त्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि द्युतिमान् उषा 'श्वेत्या' है। निर्वचन को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि श्वेत होने के कारण उषा का नामकरण 'श्वेत्या' हुआ है।	'श्वित्' धातु।
१३.	अरुषी उषावाचक निघ०,१.८.१३.	वेद में शुभ्रवर्ण की लालिमा से युक्त उषा 'अरुषी' कहलाती है। इसके अतिरिक्त 'अरुषी' को ऋषि 'सप्तस्वसा' कहता है। इस प्रकार सप्तरश्मियों से जन्य प्रकाश भी 'अरुषी' है।	'न+'रुष्'।
१४.	सूनृता उषावाचक निघ०,१.८.१४.	वेद में 'सूनृता' पद का प्रयोग उषा के साथ अवश्य हुआ है, पर वह उषावाचक नहीं है। उषा के आगमन के साथ यह सम्पूर्ण जगत् जाग जाता है और उसके जागृत होने से	'सु+ऋत'।

		उन्नति के पथ उद्घाटित होते हैं, ये उन्नति के स्वर ही वेद में सम्भवतः, 'सूनृता' नाम से अभिहित हुए हैं।	
१५.	सूनृतावती उषावाचक निघ०,१.८.१५.	'सूनृतावती' पद का अर्थ है:-'प्रिय और सत्य वाणी'। यह पद उषा के अतिरिक्त अश्विनीदेवों के लिये भी प्रयुक्त है।	'सूनृत+मतुप्'।
१६.	सूनृतावरी उषावाचक निघ०,१.८.१६.	सूनृत (प्रिय और सत्यद्ध वाणी से युक्त होने के कारण वेद में उषा देवता 'सूनृतावरि' नाम से अभिहित हुई है।	'सूनृत+'वृ' धातु।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम उषावाचक गण में पठित शब्दों को निम्न दो वर्गों में वर्गीकृत कर सकते हैं:-प्रकाश से सम्बन्धित उषावाचक पद तथा अन्य सम्बन्ध से उषा के लिये प्रयुक्त शब्द। प्रथम वर्ग में निम्नपदों को रख सकते हैं:-**१. विभावरी, २. सूनरी, ३. भास्वती, ४. ओदती, ५. चित्रामघा, ६. अर्जुनी, ७. अहना, ८. द्योतना- ९. श्वेत्या, १०. अरुषी।** कुछ पद उषा के लिये प्रयुक्त हैं, पर उनका सम्बन्ध प्रकाश से न होकर उषा की कुछ अन्य विशेषताओं से है:-**१. वाजिनी, २. वाजिनीवती, ३. सुम्नावरी, ४. सूनृता, ५. सूनृतावती, ६. सूनृतावरी।** इस प्रकार हम निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि इससे पूर्व के सभी गणों की तुलना में यह अधिक निर्दोष है।

दिवसवाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के नवमगण में निघण्टुकार ने 'अहर्वाचक' द्वादश नामपदों का परिगणन किया है।

१. वस्तोः

निघण्टुकोष के दिवसवाचक नामपदों में सर्वप्रथम 'वस्तोः' पद समाम्नात है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् दिवसवाचक 'वस्तोः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**वस्ते ज्योतिरिति वस्तोः। वस्ते आच्छादयति ज्योतिः**"[२] कि प्रकाश से आच्छादित होने के कारण दिवस को 'वस्तोः' कहते हैं। इस पक्ष में आच्छादनार्थक 'वस्' धातु से 'तोसुन्' प्रत्यय होकर 'वस्तोः' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वस्' धातुमूलक 'वस्तोः' पद को दिवसवाचक नामपद मानता है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार भी 'वस्तोः' पद का मूल 'वस' आच्छादने' धातु है।[४]

वैदिक साहित्य में 'वस्तोः' पद का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में राहूगण गोतम ऋषि दिन-रात तथा उषःकालीन रात्रियों में अग्नि से दुष्टों का विनाश करने की प्रार्थना करते हैं।[५] आङ्गिरस कुत्स ऋषि इन्द्र से ऐसे वाहन के लिये निवेदन करते हैं जो रात-दिन चलने में समर्थ हो तथा जिससे पक्षी तथा वाहनों की रक्षा हो सके।[६] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि इन्द्र की स्तुति करते हुए तथा उससे रक्षित एवं उसकी कृपा से हमें दिवसों में अन्नादिक भोग्य पदार्थों की प्राप्ति होती रहे।[७] लोपामुद्रा रति देवता का आह्वान करती हुई कहती हैं कि मैं पूर्व वर्षों में रात-दिन तथा उषःकाल में श्रम करती रही हूँ।[८] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार चक्रवाक और चक्रवाकी दिवस के प्रति अनुकूल रहते हैं, उसी प्रकार अश्विन् देव हमारे प्रति अनुकूल बने रहें।[९] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि अग्निदेव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सूर्य दिवस को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार दीप्यमान अग्नि सबके द्वारा ज्ञेय तथा वन्दनीय है।[१०] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि अग्नि को अनेक ज्वालाओं वाला तथा देवों का आह्वाता चित्रित करते हुए उसे यज्ञार्ह यजमान को वसुओं की प्राप्ति कराने

---

१ निघ० १.९.१.

२ निघ०वृ०, १.९.१.

३ वै०पद०को०, पृ० २७८९.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ४६७.

५ ऋ० १.७९.६. "क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः। स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति।"

६ ऋ० १.१०४.१. "विमुच्या वयोऽवसायाश्वान्दोषा वस्तोर्वहीयसः प्रपित्वे।"

७ ऋ० १.१७७.५. "विद्याम वस्तोरवसा गृणन्तो विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्।"

८ ऋ० १.१७९.१. "पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तोरुषसो जरयन्ती।"

९ ऋ० २.३९.३. "चक्रवाकेव प्रति वस्तोरुस्रार्वाञ्चा यातं रथ्येव शक्रा।"

१० ऋ० ६.४.२. "स नो विभावा चक्षणिर्न वस्तोरग्निर्वन्दारु वेद्यश्चनो धात्।"

का निवेदन करते हैं।[१] भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि इन्द्र के द्वारा नियम्यमान यह इन्दु रात, दिन और संवत्सरों को प्रकाशित करता है।[२] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि यह अग्नि आदित्य के समान प्रभातवेलाओं में प्रकाशित होता है और कामना करते हुए के समान ऋत्विज इसका मननीय स्तोत्रों से स्तवन करते हैं।[३] घोषा काक्षीवती ऋषिका अश्विन् के विषय में कहती हैं कि ये देव रात-दिन कहाँ रहते हैं और कहाँ से आगमन करते हैं तथा कहाँ वास करते हैं?[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम 'वस्तोः' के विषय में कह सकते हैं कि 'वस्तोः' वह दिवस है, जिसमें अग्नि दुष्टों का विनाश करता है तथा इसी काल में यजमान यज्ञीय अग्नि से वसुओं की प्राप्ति करते हैं, इन्द्र अन्नादि भोग्य पदार्थों को उपलब्ध कराता है एवं इस इन्द्र से नियन्त्रित इन्दु इसे प्रकाशित करता है, लोपामुद्रा जैसी ब्रह्मचारिणियाँ श्रम करती हैं, अश्विनीदेव चक्रवाक के समान अनुकूल बने रहते हैं। कहने का आशय यह है कि जो दिवस वासयोग्य बन जाये और जिसमें सुख पूर्वक स्थित हुआ जा सके, वह वेद की दृष्टि में 'वस्तोः' है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'वस्तोः' पद का मूल निवासार्थक 'वस्' धातु प्रतीत होती है। वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह तथ्य भी ज्ञात होता है कि 'दोषा' तथ 'वस्तोः' का प्रयोग प्रायः साथ-साथ हुआ है। उसमें भी मन्त्रद्रष्टा ऋषि दोषा का प्रयोग पूर्व में तथा 'वस्तोः' का तदनन्तर करता है। इसका कारण यह है कि ऋषि की दृष्टि में दिन की अपेक्षा रात्रि अधिक महत्त्वपूर्ण है।

२. द्यौः

निघण्टुकोष के दिवसवाचक नामपदों में 'द्यौः' या 'द्युः' पद परिगणित है।[५] आचार्य यास्क 'द्यु' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**द्युरित्यह्नो नामधेयम्, द्योतत इति सतः**"[६] कि यह 'द्यु' शब्द दिवसवाचक है, कि यह प्रकाश से दीप्त होता है, अतः, दिवस को 'द्यु' कहते हैं। इस पक्ष में 'द्युत' दीप्तौ' धातु से 'द्यौः' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् दिवसवाचक 'द्यौः' पद का निम्न निर्वचन देते हैं:-"**द्योतते किरणसम्बन्धात्**"[७] कि यह किरण के सम्बन्ध से प्रकाशित होता है, अतः, दिवस को 'द्यौः' कहते हैं। इस पक्ष में 'द्युत' दीप्तौ' धातु से औणादिक 'डो' प्रत्यय होकर 'द्यौः' पद निष्पन्न होता है।

(ख)"यद्वा, 'द्यु' अभिगमने'। 'द्युगमिभ्यां डोः' इति श्रीभोजदेवः। अभिगच्छन्त्यस्मिन् स्वं स्वमभिमतप्रदेशं प्राणिनः"[८] कि श्री भोजदेव के अनुसार अभिगमन अर्थवाली 'द्यु' धातु से 'डो' प्रत्यय होकर

---

१ ऋ० ६.५.२. "त्वे वसूनि पुर्वणीक होतर्दोषा वस्तोरेरिरे यज्ञियासः।"

२ ऋ० ६.३९.३. "अयं द्योतयदद्युतो न्य१क्तून्दोषा वस्तोः शरद इन्दुरिन्द्र।"

३ ऋ० ७.१०.२. "स्व१र्ण वस्तोरुषसामरोचि यज्ञं तन्वाना उशिजो न मन्म।"

४ ऋ० १०.४०.२. "कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करत कुहोषतुः।"

५ निघ० १.९.२.

६ निरु० १.६.

७ निघ०वृ०, १.९.२.

८ निघ०वृ०, १.९.२.

'द्यौः' पद निष्पन्न होता है। इस काल में प्राणी अपने-अपने अभिमत प्रदेश को जाते हैं, अतः, दिवस को 'द्यौः' कहते हैं।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'दिव्' धातुमूलक 'द्यु' पद को द्यु, अन्तरिक्ष, आयुध प्रभृति का वाचक नामपद मानता है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्त मत का समर्थन करती है।[२] डॉ वर्मा का अभिमत है कि यास्क 'द्यु' को दीप्ति अर्थ वाली 'द्युत्' धातु से व्युत्पन्न करते हैं, जबकि वास्तव में यह धातु 'द्युत्' न होकर 'द्यु' है। भारोपीय भाषा में 'diu-' 'dei' दीप्ति अर्थ में तथा ग्रीक में 'deelos' दृश्य अर्थ में है। डॉ. वर्मा उक्त निर्वचन को भाषा-विज्ञान के द्वारा आंशिक रूप से स्वीकार करने के योग्य मानते हैं।[३]

वैदिक साहित्य में 'द्यौ' का व्यापक प्रयोग हुआ है। आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं कि दिन में उदय तथा रात्रि में अस्त करते हुए अश्विनीदेव सूर्य को व्यवस्थित करते हैं। इस प्रकार ये दिवस और रात्रि के माध्यम से द्युलोक सम्बन्धी आदित्य की रक्षा करते हैं।[४] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि अश्विनीदेव हिंसा न करते हुए दिवस तथा रात्रियों और सौभाग्य प्राप्त कराने वाले धन से हमारी रक्षा करें।[५] गृत्समद ऋषि अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि यह अग्नि दिवस से उत्पन्न होते ही चारों ओर दीप्यमान हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह जल और पाषाण से भी प्रकट होता है।[६] कुशिक विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि इन्द्र कवियों (वायु, सूर्य,अग्नि) से मधु को पवित्र करता हुआ दिन-रात सम्पूर्ण जगत् को कार्यशील रखता है।[७] त्रित ऋषि अग्नि से प्रार्थना करते हैं कि प्रकाशमय दिवसों के साथ श्रेष्ठ धन प्राप्त होता हो।[८] गौपायन ऋषि निर्ऋति देवता की स्तुति करते हुए कहते हैं कि दिनोंदिन हमारी जरा अवस्था सुखावह हो तथा दुःख दूर रहे।[९] सार्परात्री सूर्य का स्तवन करती हुई कहती हैं कि दिन और रात्रि के अवयवभूत तीस मुहुर्त सूर्य की दीप्ति से प्रकाशमान होते हैं।[१०]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद की दृष्टि में 'द्यौ' या 'द्यु' वह है, जिसमें अश्विनीदेवों की कृपा से दिवस तथा सूर्य की रक्षा एवं सौभाग्य प्राप्त कराने वाले धन की प्राप्ति होती है, दिवस के समय इन्द्र मधु को पवित्र करता हुआ सम्पूर्ण जगत् को कार्यशील रखता है, इसी काल में श्रेष्ठ धन प्राप्त होता है तथा जरा अवस्था में भी इन्हीं दिवसों के सुखावह होने की प्रार्थना लोग करते हैं। इसके अतिरिक्त ऋषि अग्नि को दिवस से उत्पन्न होने वाला मानता है तथा यह दिवस तीस मुहुर्तों में रात्रि के साथ विभाजित

---

१ वै०पद०को०, पृ० १५६९.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० २४९.

३ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १८, ५९.

४ ऋ० १.३४.८. ''तिस्रः पृथिवीरुपरि प्रवा दिवो नाकं रक्षेथे द्युभिरक्तिभिर्हितम्।''

५ ऋ० १.११२.२५. ''द्युभिरक्तुभिः परि पातमस्मानरिष्टेभिरश्विना सौभगेभिः।''

६ ऋ० २.१.१. ''त्वमग्ने द्युभिरक्तुभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमश्मनस्परि।''

७ ऋ० ३.३१.१६. ''मध्वः पुनाना कविभिः पवित्रैर्द्युभिर्हिन्वन्त्यक्तुभिर्धनुत्रीः।''

८ ऋ० १०.७.४. ''द्युभिरस्मा अहभिर्वाममस्तु।''

९ ऋ० १०.५९.४०. ''द्युभिर्हितो जरिमा सू नो अस्तु परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम्।''

१० ऋ० १०.१८९.३. ''त्रिंशद्धाम वि राजति वाक्पतङ्गाय धीयते। प्रति वस्तोरह द्युभिः।''

होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जिसमें सौभाग्य की वर्षा होती है, वह 'द्यु' है। इस दृष्टि से 'द्यौ' पद 'द्यु' या 'द्युत्' धातु की अपेक्षा 'दिव्' धातु से व्युत्पन्न करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

३. भानु:

निघण्टुकोष के दिवसवाचक नामपदों में 'भानु' पद समाम्नात है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् अहर्वाचक 'भानु' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**भात्यादित्याधिकरणसम्बन्धादेव**''[२] कि आदित्य अधिकरण के सम्बन्ध से दिवस प्रकाशित होता है, अतः, वह 'भानु' वह कहलाता है। इस पक्ष में 'भा' धातु से औणादिक 'नु' प्रत्यय होकर 'भानु' रूप सिद्ध होता है। आचार्य देवराजयज्वन् माधव के मत को उद्धृत करते हुए कहते हैं:-''**रश्मिभिर्भानुरिति माधवोक्तमहर्भवितुमर्हति**''[३] कि रश्मियों से भानु (दिवस) होता है, इस प्रकार माधव के अनुसार यह दिवस हो सकता है। उणादिकोष के अनुसार भी 'भा' धातु से 'नु' प्रत्यय होकर 'भानु' शब्द निष्पन्न होता है।[४]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'भा' धातुमूलक 'भानु' पद को 'आदित्य, प्रभा, रश्मि प्रभृति का वाचक नामपद मानता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'भानु' का मूल 'भा' धातु को मानती है।[६] मोनियर विलियम्स भी 'भानु' पद को 'भा' धातुमूलक मानते हुए ऋग्वेद में भानु का अर्थ दर्शन, दीप्ति, प्रकाश या प्रकाश की किरण, आभा आदि मानते हैं।[७] वेद का ऋषि अनेक मन्त्रों में 'भा' धातु से 'भानु' शब्द के व्युत्पन्न होने का सङ्केत देता है।[८]

वैदिक साहित्य में 'भानु' का विपुल प्रयोग हुआ है। प्रस्कण्व ऋषि द्युलोक की दुहिता उषा से चन्द्र सदृश प्रकाश (भानु) के साथ प्रकाशित होने की प्रार्थना करते हैं।[९] इसी सूक्त के अग्रिम मन्त्र में वे उषा को अपने प्रकाश (भानु) से द्युलोक के द्वारों को उद्घाटित करने वाला बतलाते हैं।[१०] गोतम ऋषि उषा देवता के माहात्म्य का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि ये और वे उषा की रश्मियाँ सब पदार्थों का ज्ञान कराती हैं और लोकों के पूर्व दिशा के आधे भाग को अपने प्रकाश (भानु) से प्रकाशित करती हैं।[११] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में गोतम ऋषि कहते हैं कि केवल अपने तक सीमित अरुषी (शुभ्रवर्णा) के साथ संयुक्त आरोचमान उषा

---

१ निघ० १.९.३.

२ निघ०वृ०, १.९.३.

३ निघ०वृ०; १.९.३.

४ उणा०, ३.३२. ''दाभाभ्यां नु।''

५ वै०पद०को०, पृ० २३२७.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ३६६.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७५१.

८ ऋ० १.४८.९; २.८.४; ७.९.३; ७७.५; १०.६.२; ४५.४; यजु०, १२.३२.

९ ऋ० १.४८.९. ''उष आ भाहि भानुना चन्द्रेण दुहितर्दिवः।''

१० ऋ० १.४८.१५. ''उषो यदद्य भानुना वि द्वारावृणवो दिवः।''

११ ऋ० १.९२.१. ''एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते। निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः।''

की रश्मियाँ (भानवः) ताप की न्यूनता से वृथा जैसी अनुभव होती हैं। पूर्वकाल के समान ये प्राणियों को ज्ञान देती हैं। इसके पश्चात् आरोचमान उषायें रक्तवर्ण के सूर्य (भानुम्) का आश्रय लेती हैं अर्थात् उसके साथ एकाकार हो जाती हैं।[१] एक अन्य स्थान पर ऋषि अग्नि के विषय में कहता है कि यह अग्नि स्व के समान विचित्र प्रकाश (भानुना) की ज्वालाओं से प्रकाशित होता है।[२] विश्वामित्र ऋषि मित्र और वरुण को महती प्रभा वाला बतलाते हुए उषा को चन्द्रमा के समान अपने प्रकाश को बहुत स्थानों पर विकीर्ण करने वाला प्रतिपादित करते हैं।[३] आङ्गिरस वीतहव्य भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि यह पवित्र करने वाली एवं प्रज्ञापक अग्नि दीप्ति से भूमि को उसी प्रकार प्रकाशित करती है, जिस प्रकार उषा प्रकाश से भासित होती है।[४] भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि नक्षत्रादि के तेज एवं अन्धकार को दूर करने वाली उषा रात्रियों में दीप्यमान प्रकाश से पहिचानी जाती है।[५] वामदेव ऋषि कहते हैं कि उषा की प्रेरणा से रात्रि के अन्धकार को अग्नि नष्ट करता है, तदनन्तर अन्तरिक्षलोक प्रकाशित होता है और उसके पश्चात् देवी उषा की प्रभा प्रकट होती है।[६] शतपथ ब्राह्मण कहता है कि अजस्र भानु से प्रकाशित होने का तात्पर्य अजस्र अर्चिस् से दीप्यमान होना है।[७]

वेद एवं वैदिक साहित्य में 'भानु' का अनेक अर्थों में प्रयोग देखने को मिलता है। कहीं यह रश्मि के अर्थ में आया है[८] तो कहीं सूर्य के अर्थ में।[९] उपर्युक्त विवेचन में प्रायः इसका प्रकाश अथवा रश्मि के अर्थ में उल्लेख देखने को मिलता है। उषा के साथ जहाँ इसका प्रयोग हुआ है, वहाँ यह 'भानु' पद प्रायः प्रातःकालीन दिवस के रूप में है, यह माना जा सकता है। लेकिन वेद में स्पष्टरूप से यह दिवसवाचक के रूप में प्रयुक्त हुआ है, का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए उक्तपद का दिवसवाचक गण में परिगणित करने का औचित्य सन्दिग्ध तथा अस्पष्ट है।

४. वासरम्

निघण्टुकोष के दिवसवाचक नामपदों में 'वासरम्' पद परिगणित है।[१०] आचार्य यास्क 'वासर' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:–"**वासराणि वेसराणि**"[११] कि ये शीत और उष्ण इन दोनों से गमन करते हैं,[१२] अथवा बड़ा दिन देर तक प्राप्त रहता है, अतः, दिवस को 'वासर' कहते हैं। इसके अतिरिक्त निघण्टु में

---

१ ऋ० १.९२.१. "निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः।"ऋ० १.९२.२. "उदपप्तन्नरुणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुषीर्गा अयुक्षत। अक्रन्नुषासो वयुनानि पूर्वथा रुशन्तं भानुमरुषीरशिश्रयुः।"

२ ऋ० २.८.४. "आ यः स्व१र्ण भानुना चित्रो विभात्यर्चिषा।"

३ ऋ० ३.६१.७. "मही मित्रस्य वरुणस्य माया चन्द्रेव भानुं वि दधे पुरुत्रा।"

४ ऋ० ६.१५.५. "पावकया यश्चितयन्त्या कृपा क्षामन्रुरुच उषसो न भानुना।"

५ ऋ० ६.६५'.१. "या भानुना रुशता राम्यास्वज्ञायि तिरस्तमसश्चिदक्तून्।"

६ ऋ० ४.१.१७. "नेशत्तमो दुधितं रोचते द्यौरुद्देव्या उषसो भानुरर्त।"

७ शत०ब्रा०, ६.४.१.२. "अजस्रेण भानुना दीद्यतमित्यजस्रेणार्चिषा दीप्यमानमित्येतत्।"

८ ऋ० १.३६.३.

९ ऋ० १.९२.५; ४.४५.१.

१० निघ० १.९.४.

११ निरु० ४.७.

१२ दुर्ग, निरु० ४.७.

'वेसति' क्रियापद कान्तिकर्मा पदों में पठित है।[१] इसको ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि जो प्रकाश से दीप्यमान होता है, वह दिवस 'वासर' है। आचार्य दुर्ग के अनुसार 'द्वित्सृ' से 'द्वेसर' तथा उससे 'वेसर' और 'वेसर' से 'वासर' रूप निष्पन्न होता है।[२] जबकि निघण्टु के क्रियापदों को ध्यान रखते हुए 'वेस्' धातु से 'वेसर' और उससे 'वासर' पद निष्पन्न किया जा सकता है।

(ख)''**विवासनानि**''[३] कि ये दिवस शीत या तमस् को विवासित करते हैं, अतः, ये 'वासर' कहलाते हैं। इस पक्ष में 'वि+वासय्' धातु से 'वासर' रूप उपपन्न होता है।

(ग)''**गमनानीति वा**''[४] कि बड़े दिन विस्ततृ होते हैं, अतः, ये 'वासर' कहलाते हैं। इस पक्ष में 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'सृ' धातु से 'अप्' प्रत्यय होकर 'वासर' शब्द व्युत्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् अहः वाचक 'वासर' शब्द का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**विवासयति अपनयति शीतादिकम्**''[५] कि शीतादिक को दूर करने के कारण दिवस को 'वासर' कहते हैं। इस पक्ष में 'ण्यन्त 'वस्' धातु से 'अरच्' प्रत्यय होकर 'वासर' शब्द निष्पन्न होता है। उक्त व्युत्पत्ति का समर्थन उणादिकोष से भी हो जाता है।[६]

(ख)''**यद्वा, वसेः स्वार्थे णिच्। वसत्यस्मिन् सुखेनेति वासरम्**''[७] कि इसमें सुख से रहते हैं, अतः, दिवस को 'वासर' कहते हैं। इस पक्ष में 'वस्' धातु से स्वार्थ में 'णिच्' प्रत्यय होकर 'वासर' शब्द उपपन्न होता है।

(ग)''**यद्वा, 'वासृ' दीप्तौ'। दीप्यते वासरम्**''[८] कि प्रकाशित होने से दिवस वासर कहलाता है। इस पक्ष में दीप्त्यर्थक 'वास्' धातु से 'अरच्' प्रत्यय होकर 'वासर' रूप निष्पन्न होता है।

(घ)''**विपूर्वात् सर्तेर्गत्यर्थात्। विविधं सराणि सृतानि विस्तीर्णानीत्यर्थः**''[९] कि विस्तृत होने से दिवस 'वासर' कहलाता है। इस पक्ष में 'वि' पूर्वक 'सृ' धातु से 'वासर' शब्द निष्पन्न होता है।

(ङ)''**वासराणि वेसराणि (निरु०,७.४.) इति भाष्ये स्कन्दस्वामी- वेसरशब्दस्यायमेकारस्याकारः**''[१०] कि निरुक्त का भाष्य करते हुए आचार्य स्कन्दस्वामी कहते हैं कि 'वेसर' शब्द के एकार के स्थान में अकार होकर 'वासर' शब्द निष्पन्न होता है।

---

१ निघ० २.६.५.

२ दुर्ग, निरु० ४.७.

३ निरु० ४.७..

४ निरु० ४.७.

५ निघ०वृ०, १.९.४.

६ उणा०, ४.१३२. ''अर्तिकमिभ्रमिचमिदेविवासिभ्यश्चित्।''

७ निघ०वृ०, १.९.४.

८ निघ०वृ०, १.९.४.

९ निघ०वृ०, १.९.४.

१० निघ०वृ०, १.९.४.

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वासर' पद को ज्योतिस्, अहन् का विशेषण मानता है। कोशकार के मत में 'भास्' दीप्तौ' से 'भास्वर' और उससे 'वासर' निष्पन्न होता है। यास्क 'वि+'सृ'=विसर=वेसर' तथा वेङ्कट एवं सायण 'वस्' निवासे' से 'वासर' रूप निष्पन्न करने के पक्ष में हैं।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार 'वासर' शब्द अव्युत्पन्न है।[२] मोनियर विलियम्स ऋग्वेद में 'वासर' पद प्रातःकालीन या प्रातःकाल से सम्बन्धित अर्थ में आया मानते हुए 'वस्' धातु से 'वासर' शब्द को व्युत्पन्न करते हैं।[३] डॉ. वर्मा यास्क के प्रथम निर्वचन को पूर्णरूप से असङ्गत मानते हैं, जबकि द्वितीय निर्वचन को ध्वनि की दृष्टि से स्वीकार्य और अर्थ की दृष्टि से अस्वीकार्य मानते हुए कहते हैं कि भारोपीय भाषा में यह शब्द 'ले' दीप्ति अर्थ में तथा आइरिश में 'ग्री' सूर्यप्रभा अर्थ में है।[४]

वैदिक साहित्य में 'वासर' पद का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मात्र दो बार उक्तपद का उल्लेख देखने को मिलता है। वत्स काण्व ऋषि इन्द्र का स्तवन करते हुए कहते हैं कि द्युलोक से भी परे जब यह इन्द्र (सूर्य) दीप्त होता है, तब इस चिरन्तन गमनशील सूर्य का वासर अर्थात् निवास का हेतुभूत द्योतमान तेज सभी देखते हैं।[५] एक अन्य स्थान पर प्रगाथ काण्व ऋषि सोम का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सूर्य वासक दिनों को बढ़ाता है, उसी प्रकार वह हमारी आयु को बढ़ाये।[६]

उपर्युक्त ऋग्वेद के दो मन्त्रों में से एक में 'वासर' का अर्थ 'निवास' है, जबकि द्वितीय मन्त्र में 'वासर' का अर्थ 'दिवस' है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'वासर' का मूल अर्थ 'बसाने वाला' है। यह आवास भी हो सकता है और दिवस भी। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए ण्यन्त 'वस्' धातु से 'वासर' को व्युत्पन्न करना समीचीन प्रतीत होता है। अतः, उपर्युक्त में से कोई भी निर्वचन वेद की मूल भावना के अनुकूल नहीं है, यह माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त मोनियर विलियम्स ने ऋग्वेद के आधार पर 'वासर' पद का अर्थ 'प्रातःकालीन दिवस' माना है, जिसकी पुष्टि मन्त्रों से होती दिखायी नहीं देती है।

५. स्वसराणि

निघण्टुकोष के दिवसवाचक नामपदों में 'स्वसराणि' पद समाम्नात है।[७] आचार्य यास्क 'स्वसर' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**स्वसराण्यहानि भवन्ति, स्वयं सारीण्यपि वा**''[८] कि 'स्वसराणि' पद का अर्थ 'दिवस' होता है। क्योंकि वह स्वयं गमन (सरकता) करता है। इस पक्ष में 'स्वयम्+'सृ' से

---

१ वै०पद०को०, पृ० २८२८.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ४७५.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९४८.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ५८, १२१.

५ ऋ० ८.६.३०. ''आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवा।''

६ ऋ० ८.४८.७. ''सोम राजन्प्र ण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि।''

७ निघ० १.९.५.

८ निरु० ५.४.

'स्वयंसर' और उससे 'स्वसर' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''**अपि वा स्वरादित्यो भवति, स एनानि सारयति**''[१] कि 'स्वः' यह आदित्य का नाम है। आदित्य से प्रेरित या सञ्चालित होने के कारण दिवस को 'स्वसर' कहते हैं। इस पक्ष में 'स्वर्+सारय्' से 'स्वर्‌सार' उससे 'स्वसार' तथा उस 'स्वसार' से 'स्वसर' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'स्वसर' शब्द का निर्वचन निम्न देते हैं:-''**स्वशब्दे उपपदे सर्तेर्गत्यर्थात्। स्वेन आत्मनैव गच्छन्ति**''[२] कि दिवस अपने आप आगे सरकते रहते हैं, अतः, इन्हें 'स्वसर' कहा जाता है। इस पक्ष में 'स्व+सृ' से 'अच्' प्रत्यय होकर 'स्वसर' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(ख)''**अपि वा स्वरादित्यनाम। आदित्येन सार्य्यते। स हि स्वोदयास्तमयाभ्यां तानि गमयति**''[३] कि 'स्वः' यह आदित्यवाचक नाम है। ये दिवस आदित्य के द्वारा प्रेरित या सञ्चालित होते हैं, अतः, दिवस को 'स्वसर' कहते हैं। इस पक्ष में 'स्वर्+'सारय्'+अच्' से 'स्वसर' पद उपपन्न होता है।

(ग)''**यद्वा, सुपूर्वात् 'असु' क्षेपणे'। सुष्ठु अस्यन्ते क्षिप्यन्ते सूर्य्येण स्वोदयास्तमयाभ्याम्**''[४] कि उदय और अस्त वाले दिवस सूर्य के द्वारा क्षिप्त होते हैं, अतः, दिवस को 'स्वसर' कहते हैं। इस पक्ष में 'सु' पूर्व वाली 'अस्' धातु से 'अरच्' प्रत्यय होकर 'स्वसर' शब्द व्युत्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'स्वसर' पद को नामपद मानता है, लेकिन उक्तपद का अर्थ सन्दिग्ध है। सायण तथा वेङ्कट 'स्वसर' शब्द को स्वाश्रय (गृह, गोष्ठ) वाचक मानते हैं। जबकि पेटरसन प्रभृति एवं सिद्धेश्वर वर्मा (भोजनार्थ) प्रातर्गमन, प्रातरशन, प्रातः सवन अर्थ का वाचक मानते हैं।[५] 'स्वर्' या स्व+सृ' से उक्तपद निष्पन्न होता है। ऋग्वेद-वैयाकरणपद-सूची 'स्वसर' शब्द को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स 'स्व+सर' से 'स्वसर' शब्द के व्युत्पन्न होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद निवासस्थान, पण्यशाला, गोष्ठ आदि अर्थों में प्रयुक्त है।[७] डॉ. वर्मा कहते हैं कि इस पद का वास्तविक अर्थ सैन्ट पीटर्सबर्ग के अनुसार आवास या पण्यशाला है। वे कहते हैं कि 'स्वसर' का आशय 'दिवस' लाक्षणिक अथवा अन्य किसी कारण से है, यह निश्चित कर पाना कठिन है। एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं कि सम्भवतः, 'स्वसर' का अर्थ 'गृह' लेना अधिक समीचीन है, क्योंकि 'गृह' सरलता से विभिन्न सन्दर्भों में किसी भी अर्थ में रूपान्तरित किया जा सकता है और जो 'स्व+सर' का निर्वचन सैन्ट पीटर्सबर्ग ने दिया है, वह एक सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है।[८]

---

१ निरु० ५.४.

२ निघ०वृ०, १.९.५.

३ निघ०वृ०, १.९.५.

४ निघ०वृ०, १.९.५.

५ वै०पद०को०, पृ० ३५३३.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ६०१.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२८२.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १४९, १७६, १७९.

वैदिक साहित्य में 'स्वसराणि' का प्रयोग अधिक नहीं हुआ है। ऋग्वेद में इसका मात्र ५ बार उल्लेख आया है। मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि तत्काल वृष्टि प्रदान करने वाले सभी देव सोम का पान करने के लिये उसी प्रकार आयें, जिस प्रकार सूर्यरश्मियाँ दिवस के प्रति आलस्यरहित होकर आती हैं।[१] हिरण्यस्तूप आङ्गिरस ऋषि कहते हैं कि असत्य व्यवहार न करने वाले अश्विनीदेव तीनों स्थानों पर चल सकने वाले रथ से ठीक उसी प्रकार दूर तक यात्रा करते हैं, जैसे आत्मा के प्राण कर्म में प्रवृत्त होने वाले दिनों को प्राप्त होते हैं।[२] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि इन्द्र अहि (मेघ) को उसी प्रकार प्राप्त होता है, जैसे पक्षी दिवसों तथा नदियाँ तृप्ति देने वाले जलों को प्राप्त होती हैं।[३] एक अन्य स्थान पर गृत्समद ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार हंस दिवसों को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार मन्युयुक्त मरुद्गण आनन्द देने वाले दिनों को प्राप्त करते हैं।[४] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि ये दिन ऋभुओं, देवताओं एवं मनुष्यों के लिये धर्म तथा कर्म के लिये नियत हैं।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वे दिवस 'स्वसर' कहलाते हैं, जिनमें सूर्यरश्मियाँ आलस्यरहित होकर आती हैं, ऋभुगण, देवता और मनुष्य धर्म तथा कर्म में प्रवृत्त होते हैं। पक्षी भोजन-पथ पर निकलने वाले एवं मरुद्गण (मनुष्य) आनन्द देने वाले दिवसों की प्राप्ति करते हैं। उक्त विश्लेषण को ध्यान में रखकर 'स्व+'सृ' से 'स्वसर' का निर्वचन किया जा सकता है। तदनुसार वेद की दृष्टि में वे दिवस 'स्वसर' हैं, जो प्रवृत्त होते हुए प्राणियों को स्वयं कर्म में नियोजित करते हैं। कहने का आशय यह है कि जिनके आने मात्र से प्राणी अपने आप कर्म में संलग्न हो जाता है, वे दिवस वेद में 'स्वसर' नाम से अभिहित हुए हैं।

६. घ्रंसः

निघण्टुकोष के दिवसवाचक नामपदों में 'घ्रंसः' पद परिगणित है।[६] आचार्य यास्क 'घ्रंसः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**घ्रंस इत्यहर्नाम, ग्रस्यन्तेऽस्मिन् रसाः**''[७] कि 'घ्रंस' यह दिवसवाचक नामपद है। इस काल में सूर्य द्वारा रस ग्रसित किये जाते हैं, अतः, दिवस को 'घ्रंसः' कहते हैं। इस पक्ष में 'ग्रस' अदने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर 'घ्रंस' शब्द सिद्ध होता है।

आचार्य सायण 'घ्रंस' शब्द को कुछ भिन्न प्रकार से व्युत्पन्न करते हुए निम्न निर्वचन देते हैं:- ''**गृह्यन्तेऽस्मिन् रसा इति घ्रंसः**''[८] कि इस समय सूर्य के द्वारा रसों का शोषण होता है, अतः, दिवस को 'घ्रंस' कहते हैं। इस पक्ष में 'ग्रह' उपादाने' धातु से 'घ्रंस' शब्द निष्पन्न होता है।

---

१ ऋ० १.३.८. ''विश्वे देवासो अप्तुरः सुतमा गन्त तूर्णयः। उस्रा इव स्वसराणि।''

२ ऋ० १.३४.७. ''त्रिर्नो अश्विना यजता दिवेदिवे परि त्रि धातु पृथिवीमशायतम्।''

३ ऋ० २.१९.२. ''प्र यद्वयो न स्वसराण्यच्छा प्रयांसि च नदीनां चक्रमन्त।''

४ ऋ० २.३४.५. ''आ हंसासो न स्वसराणि गन्तन मधोर्मदाय मरुतः समन्यवः।''

५ ऋ० ३.६०.६. ''इमानि तुभ्यं स्वसराणि येमिरे व्रता देवानां मनुषश्च धर्मभिः।''

६ निघ० १.९.६.

७. निरु० ६.१९.

८ ऋ०सायणभाष्य,ऋ० ५.३४.३.

आचार्य देवराजयज्वन् सायण का अनुसरण करते हुए 'घ्रंस' का निम्न निर्वचन करते हैं:- ''गृह्यन्तेऽस्मिन् रसा अवश्याया आदित्येन''[१] कि इस काल में आदित्य के द्वारा रसों का ग्रहण अर्थात् शोषण होता है। अत:, दिवस को 'घ्रंस' कहते हैं। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'घ्रंस:' पद को सूर्यवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। कोशकार 'घृ' दीप्तौ' से व्युत्पन्न होने की सम्भावना स्वीकार करते हैं।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'घ्रंस' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स भी उक्तपद को अव्युपन्न मानने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार उक्त 'घ्रंस' पद ऋग्वेद में सूर्य आभा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[४]

डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का मत है कि भारोपीय भाषा में यह 'gh^erm' उष्ण अर्थ में तथा लैटिन में 'formus' भट्टी अर्थ में है। लेकिन डॉ. वर्मा 'घ्रंस' पद के यास्कीय निर्वचन को पुरातन मानते हैं तथा उनका मत है कि भाषा-विज्ञान के अविकसित होने के कारण उक्त शब्द के विषय में अभी कुछ भी निर्णायक रूप से कह पाना सम्भव नहीं है।[५] वैदिक साहित्य में 'घ्रंस' शब्द का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मात्र चार बार उक्तपद का उल्लेख देखने को मिलता है। कक्षीवान् ऋषि अश्विनीदेवों का स्तवन करते हुए कहते हैं कि आप दोनों ने निदाघकाल के अन्त में शीतल जल से दाहक उष्णता का शमन किया।[६] संवरण प्राजापत्य ऋषि इन्द्र का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो दिन अथवा प्रभातकालीन रात्रि में सोम (जल) का पान करता है, वह विशेष दीप्तिमान् होता है।[७] अवत्सार काश्यप ऋषि विश्वदेवों से दिवस एवं अपनों में बसने या अपने को बसाने वाले धन की रक्षा करने की प्रार्थना करते हैं।[८] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि अश्विनीदेव देवता के कामना वाले दिवस की शुभ कर्मों के द्वारा रक्षा करते हैं तथा रक्षा के निमित्त अन्न को प्राप्त करते हैं।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि 'घ्रंस' वह दिवस है, जिसमें अश्विनीदेव हिम सदृश जल से दाहकता का निवारण करते हैं। ये सम्भवत:, निदाघ ऋतु के अवसान के समय आसन्न वर्षाकालीन निर्वात (उमस) युक्त दिवसों का नामकरण प्रतीत होता है। इस अर्थ को ध्यान में रखते हुए यास्क का 'ग्रस्' धातुमूलक तथा सायण तथा देवराजयज्वन् का 'ग्रह्' धातु मूलक निर्वचन युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है।

---

१ निघ०वृ०, १.९.६.

२ वै०पद०को०, पृ० १२८२.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० १९६.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३७९.

५ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ७७.

६ ऋ० १.११६.८. ''हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्।''

७ ऋ० ५.३४.३. ''यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह।''

८ ऋ० ५.४४.७. ''घ्रंस रक्षन्तं परि विश्वतो गयमस्माकं शर्म वनवत्स्वावसु:।''

९ ऋ० ७.६९.४. ''यद्देवयन्तमवथ: शचीभि: परि घ्रंसमोमना वां वयो गात्।''

७. घर्म:

निघण्टुकोष के दिवसवाचक नामपदों में 'घर्म:' पद परिगणित है।[१] शतपथ-ब्राह्मण 'घर्म' शब्द का निर्वचन करता हुआ कहता है:-''**तद्यद् (छिन्नं विष्णोश्शिर:) घृड्ङित्यपतत् तस्माद्घर्म:**''[२] कि छिन्न होकर विष्णु का शिर 'घृङ्' करके गिरा, इसकारण यह 'घर्म' कहलाता है। तैत्तिरीयारण्यक इस कथन का समर्थन करता हुआ कहता है:-''यद् घ्राः३ इत्यपतत्। तद् घर्मस्य घर्मत्वम्''[३] कि जो 'घ्राम्' करके गिरा, यही 'घर्म' का घर्मत्व है। इस पक्ष में 'घृङ्' से रूपान्तरित होकर 'घर्म' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'घर्म' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''घर्मं हरणम्''[४] कि रस हरण करने के स्वभाव वाला होने से दिवस को 'घर्म' कहते हैं। इस पक्ष में हरणार्थक 'हृ' धातु से 'घर्म' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् दिवसवाचक 'घर्म' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**जिघर्ति दीप्यते रश्मिसम्बन्धात्**''[५] कि यह रश्मियों के सम्बन्ध से दीप्त होता है। अत:, दिवस को 'घर्म' कहते हैं। इस पक्ष में 'घृ' क्षरणदीप्त्यो:' धातु से 'मक्' प्रत्यय होकर 'घर्म' रूप निष्पन्न होता है। उणादिकोष से उपर्युक्त व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है।[६]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'घृ' धातुमूलक 'घर्म' पद-को सूर्य या अग्नि, आतप, अहन्, पात्रविशेष, सन्तप्तगर्त, उष्णघृत प्रभृति का वाचक नामपद मानता है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'घर्म' का मूल 'घृ' धातु को मानती है।[८] मोनियर विलियम्स भी इसी मत का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार लैटिन में 'formas' जैंद में 'grema' गोथिक में 'varmya' जर्मन में 'warm' है।[९] डॉ. वर्मा यास्कीय निर्वचन के विषय में कहते हैं कि 'घर्म' शब्द भारोपीय भाषा में ''gu^{a}herm'' उष्ण अर्थ में तथा पुरातन जर्मन भाषा एवं इंग्लिश में 'warm' उष्ण अर्थ में है। डॉ. वर्मा यास्कीय निर्वचन को पुरातन मानते हैं और तथा उनका मत है कि भाषाविज्ञान के अविकसित होने के कारण उक्त शब्द के विषय में अभी कुछ भी निर्णायक रूप से कह पाना सम्भव नहीं है।[१०]

वैदिक साहित्य में 'घर्म' शब्द का पर्याप्त प्रयोग हुआ है, परन्तु वहाँ सर्वत्र 'घर्म' शब्द दिवस वाचक अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। दीर्घतमस् कक्षीवान् ऋषि अश्विनीदेवों का वर्णन करते हुए कहते हैं

---

१ निघ० १.९.७.

२ शत०ब्रा०, १४.१.१.१०.

३ तै०आ०, ५.१.५.

४ निरु० ११.४२.

५ निघ०वृ०, १.९.७.

६ उणा०, १.१४९. ''घर्मग्रीष्मौ।''

७ वै०पद०को०, पृ० १२७२.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० १९४.

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३७६.

१० दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ७७.

कि अश्विनीदेव विद्या और जन्म से प्रसिद्ध विद्वान् (रेभ) की रक्षा करने वाले हैं तथा हिम के समान शीतल उदक से सन्तप्त दिवस की दुःख से रक्षा करते हैं।[१] दीर्घतमस् ऋषि विश्वदेवों की स्तुति करते हुए प्रार्थना करते हैं कि ग्रीष्मकाल बहुत सन्तप्त है, अतः, उत्तम ऐश्वर्य को देने वाला सविता (सर्वप्रेरक परमात्मा) श्रेष्ठ जल को हमारे लिये उत्पन्न करता है,[२] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि मेघरूपा गौ आतप (घर्म) से सन्तप्त भूलोक रूपी वत्स से स्नेह करती हुई गर्जना करती है तथा उसे जल से आप्यायित करती है।[३] अगस्त्य ऋषि अश्विनीदेवों से आतप युक्त दिवस को उदक की शीतलता से शमन करने की प्रार्थना करते हैं।[४] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि अनार्य देश में निवास करने वाले लोग गायों का उचित उपयोग नहीं करते हैं। वे सोम में मिश्रण करने योग्य दुग्ध को नहीं दुहते हैं और न ही दिवस को तपाते हैं अर्थात् सौर ऊर्जा का सम्यक् दोहन नहीं करते हैं।[५] शशकर्ण काण्व ऋषि दिवस को अश्विनीदेवों के स्तोत्रों से सिक्त होने वाला मानते हैं।[६] गोपवन आत्रेय अश्विनीदेवों से दिवस की उष्णता का शमन तथा रक्षा करने के निमित्त समीप रहने की प्रार्थना करते हैं।[७] कृष्णद्युम्नीक ऋषि भी नेतृत्व करने वाले अश्विनीदेवों से अन्तरिक्ष में स्थित होकर आनन्द युक्त दिवस का पान करने का निवेदन करते हैं।[८] प्रथ वासिष्ठ ऋषि कहते हैं कि विश्वदेवों (धाता, द्योतमान सविता तथा विष्णु- इन तीनों आदित्यों और सूर्य) से घर्म को धारण करते हैं।[९] काठक-संहिता तथा शतपथ-ब्राह्मण आदित्य को घर्म बतलाते हैं।[१०] एक अन्य स्थान पर शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि सूर्य का तपना ही घर्म है[११] तथा वह 'घर्म' तप्ततेज के समान है।[१२] तैत्तिरीयारण्यक दिवस को 'घर्म' तथा 'नक्त' को सम्राट् नाम से अभिहित करता है।[१३] एक अन्य स्थान पर तैत्तिरीयारण्यक 'घर्म' को महावीर नाम से सम्बोधित करता है।[१४] मैत्रायणी-संहिता अग्नि को घर्म के शिर के रूप में प्रतिपादित करती है।[१५]

मोनियर विलियम्स के अनुसार ऋग्वेद और अथर्ववेद में 'घर्म' का अर्थ 'ऊष्मा, ताप, या सूर्य आभा' है। वे कहते हैं कि ऋग्वेद, अथर्ववेद, वाजसनेयि-संहिता एवं शतपथ-ब्राह्मण में यह अश्विनीदेवों के

---

१ ऋ० १.११९.६. "युवं रेभं परिषूतेरुरुष्यथो हिमेन घर्मं परितप्तमत्रये।"
२ ऋ० १.१६४.२६. "श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचम्।"
३ ऋ० १.१६४.२८. "सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः।"
४ ऋ० १.१८०.४. "युवं ह घर्मं मधुमन्तमत्रयेऽपो न क्षोदोऽवृणीतमेषे।"
५ ऋ० ३.५३.१४. "किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।"
६ ऋ० ८.९.४. "अयं वां घर्मो अश्विना स्तोमेन परि षिच्यते।"
७ ऋ० ८.७३.३. "उप स्तृणीतमत्रये हिमेन घर्ममश्विना। अन्ति षद्भूतु वामवः।"
८ ऋ० ८.८७.२. "पिबतं घर्मं मधुमन्तमश्विना बर्हिः सीदतं नरा।"
९ ऋ० १०१८१.३. "धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोरा सूर्यादभरन्घर्ममेते।"
१० काठ०, ३१.६. शत०ब्रा०, ९.४.२.१९. "असौ वा आदित्यो घर्मः।"
११ शत०ब्रा०, १४.१.३.१७. "एष वै घर्मो य एष (सूर्यः) तपति।"
१२ शत०ब्रा०, १४.३.१.३३. "तेजो तप्त इव वै घर्मः।"
१३ तै०आ०, ५.११.२. "घर्म इति दिवाऽऽचक्षीत। सम्राडिति नक्तम्।"
१४ तै०आ०, ५.११.१. "घर्मः प्रवृक्तो महावीर उद्वासितः।"
१५ मै०सं० १.६.१; २. "घर्मः शिरस्तदयमग्निः।"

लिये होमार्थ दुग्ध को उबालने के पात्र के लिये प्रयुक्त होता है।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह दिवस 'घर्म' है, जिसकी उष्णता को अश्विनीदेव हिम के समान शीतल उदक से हरण करते हैं, जिस दिवस में मेघरूपा गौ आतप के ताप का शमन एवं लोक को जल से आप्यायित करती है तथा अनार्यदेश के निवासी इसी घर्मयुक्त दिवस के ताप के उपयोग से अनभिज्ञ हैं। इसके अतिरिक्त धाता, सविता, विष्णु तथा सूर्य इन चारों से घर्म की उत्पत्ति होती है। ब्राह्मणग्रन्थ स्पष्टरूप से 'घर्म' को महावीर तथा तप्ततेज वाला बतलाते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह दिवस 'घर्म' है, जिसकी उष्णता से घृत का विलयन होने लगता है और जो मनुष्य के शरीर में से स्वेद प्रवाहित कर देता है। सङ्क्षेप में कह सकते हैं कि निदाघकालीन मध्याह्न का समय 'घर्म' है। आज भी ग्रीष्मकाल की प्रचण्ड मध्याह्न की वेला को लोकभाषा में 'घाम' नाम से अभिहित करते हैं। निःसन्दिग्धरूप से यह 'घाम' शब्द वेद के 'घर्म' का अपभ्रष्ट रूप है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'घृ' क्षरणदीप्त्योः' धातु से 'घर्म' पद को व्युत्पन्न करना समीचीन प्रतीत होता है।

८. घृणः

निघण्टुकोष के दिवसवाचक नामपदों में 'घृणः' पद समाम्नात है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् दिवसवाचक 'घृण' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**जिघर्ति दीप्यते रश्मिसम्बन्धात्**''[३] कि रश्मियों के सम्बन्ध से यह दिवस प्रकाशित होता है, अतः, दिवस को 'घृण' कहते हैं। इस पक्ष में 'घृ' क्षरणदीप्त्योः' धातु से 'नक्' प्रत्यय होकर 'घृण' पद निष्पन्न होता है। वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'घृ' धातुमूलक 'घृण' पद को दीप्ति, आततोत्ताप का वाचक भावपद मानता है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स भी 'घृण' पद का मूल 'घृ' धातु को मानते हैं।[५] लेकिन मोनियर विलियम्स के अनुसार ऋग्वेद में 'घृण' पद उष्णता, उत्ताप और सूर्य आभा अर्थ में प्रयुक्त है।[६]

वैदिक साहित्य में 'घृण' पद का अधिक उल्लेख नहीं हुआ है। ऋग्वेद में पुरुमीळ और अजमीळ दोनों ऋषि अश्विनीदेवों के प्रसङ्ग में कहते हैं कि समुद्र जल से सींचता है तथा आरोचमान दिवस पक्षियों के समान व्यतीत हो जाते हैं।[७] आत्रेय ऋषि भी अश्विनी देवों का स्तवन करते हुए कहते हैं कि जब अश्विनीदेवों के शीघ्रगामी रथ पर सूर्या आरुढ़ होती है, तब गतिशील आतप प्रकाशमान दिवस को व्याप्त कर लेती है।[८] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि अग्नि को दिवस के समान गतिशील और पतनस्वभाव वाला अर्थात् शीघ्र व्यतीत होने

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३७६.

२ निघ० १.९.८.

३ निघ०वृ०, १.९.८.

४ वै०पद०को०, पृ० १२७३.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० १९५. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३७९.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३७९.

७ ऋ० ४.४३.६. ''सिन्धुर्ह वां रसया सिञ्चदश्वान्घृणा वयोऽरुषासः परि ग्मन्।''

८ ऋ० ५.७३.५. ''आ यद्वां सूर्या रथं तिष्ठद्रघुष्यदं सदा। परि वामरुषसा वयो घृणा वरन्त आतपः।''

वाला मानते हैं।[१] सप्तर्षि पवमान सोम देवता का स्तवन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार पक्षी आते हैं, उसी प्रकार सूर्य के अधिक सन्तप्त होने पर दिवस आता है।[२] अभितपा सौर्य ऋषि सूर्य की स्तुति करते हुए तेज, अहन्, भानु, शीतलता तथा दिवस का प्रकाश इन सबके कल्याणकारक होने की प्रार्थना करते हैं।[३] एक अन्य स्थान पर भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि हिरण्यसदृश अग्नि से हम छाया के समान सुखकर दिवस को प्राप्त करें।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वे दिवस 'घृण' हैं, जो आरोचमान होने के साथ-साथ पक्षियों की तरह व्यतीत (उड़) हो जाते हैं। ऋषि के कहने का आशय यह है कि सुखकर दिवस मानो पंख लगाकर उड़ जाते हैं, अतः, वेद की दृष्टि में ये दिवस 'घृण' कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त 'घृण' नामक दिवस को आतप व्याप्त कर लेती है एवं सूर्य के अधिक सन्तप्त होने पर इस दिवस की प्राप्ति होती है, परन्तु फिर भी यह दिवस छाया के समान सुखकर होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मध्याह्नकालीन सुखकर दिवस 'घृण' हैं। सम्भवतः, यह शरद्कालीन दिवस का नाम है, क्योंकि इस ऋतु में आतप सुखकर लगता है। उक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'घृ' क्षरणदीप्त्योः' धातु से 'घृण' पद का निर्वचन करना समीचीन प्रतीत होता है। 'घर्म' और घृण' इन दोनों पदों का मूल 'घृ' क्षरणदीप्त्योः' धातु है और दोनों ही पद मध्याह्नकालीन दिवस के अभिधान हैं, परन्तु इनमें से प्रथम निदाघकालीन दिवस का नाम है, जबकि दूसरा शरत्कालीन दिवस का नाम प्रतीत होता है।

९. दिनम्

निघण्टुकोष दिवसवाचक नामपदों में 'दिन' पद पठित है।[५] आचार्य देवराजयज्वन् 'दिन' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**द्यतितमः दिनम्**''[६] कि जो भागों में विभक्त होता है, वह दिवस 'दिन' कहलाता है। इस पक्ष में 'दो' अवखण्डने' धातु से औणादिक 'नक्' प्रत्यय होकर 'दिन' शब्द सिद्ध होता है।[७] जबकि उणादिकोष में 'दो' अवखण्डने' धातु से 'इनच्' प्रत्यय करके 'दिन' पद को उपपन्न किया गया है।[८] वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'दिन' पद की व्युत्पत्ति और अर्थ दोनों को सन्दिग्ध मानता है, लेकिन फिर भी दो' अवखण्डने' धातु के प्रकरण में उक्तपद को उद्धृत करता है।[९] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स से भी उक्त व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है।[१०]

---

१ ऋ० ६.३.७. ''घृणा न यो ध्रजसा पत्मना।''

२ ऋ० ९.१०७.२०. ''घृणा तपन्तमति सूर्यं परः शकुना इव पप्तिम।''

३ ऋ० १०.३७.१०. ''शं नो भव चक्षसा शं नो अह्ना शं भानुना शं हिमा शं घृणेन।''

४ ऋ० ६.१६.३८. ''उप च्छायामिव घृणेरगन्म शर्म्म ते वयम्। अग्ने हिरण्यसंदृशः।''

५ निघ० १.९.९.

६ निघ०वृ०, १.९.९.

७ उणा०, ३.२.

८ उणा०, २.५०. ''बहुलमन्यत्रापि।'' ''अन्धकारं द्यत्यवखण्डयतीति दिनम् दिवसं वा।''

९ वै०पद०को०, पृ० १५६२.

१० ऋ०वै०पद०, पृ० २४७. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ४७८.

वैदिक साहित्य में 'दिन' शब्द का पर्याप्त उल्लेख देखने को मिलता है। ऋग्वेद में कक्षीवान् ऋषि उषा का स्तवन करते हुए कहते हैं कि नवीन उषायें अर्थात् प्रभातकालीन वेलायें पुरातन सुन्दर दिवसों के समान धनवान् बनाती हुई आयें और अन्धकार को दूर करें।[१] अगस्त्य ऋषि विश्वदेवों के प्रकरण में कहते हैं कि जिस प्रकार सुन्दर दिवस होने पर प्रकाश अन्धकार का विनाश करता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण संसार को कँपाने वाली सेना शत्रु का विनाश करती है।[२] गृत्समद ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि इन्द्र हमें श्रेष्ठ धन, कार्य करने की कुशलता, सौभाग्य की प्राप्ति, धनों का पोषण, शरीर की नीरोगता, वाणी की मधुरता प्रदान करे, जिससे दिवस सुदिन बन सकें।[३] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि उन्हीं का दिन सुदिन होता है, जो सङ्ग्राम के समान विज्ञान में विकास करते हुए प्रसिद्ध होते हैं।[४] देवश्रवा ऋषि कहते हैं कि दिवसों को सुदिन बनाने वाले पूजनीय पृथ्वी के उत्तम स्थान पर अग्नि की स्थापना करते हैं।[५] वामदेव ऋषि कहते हैं कि सम्पूर्ण आयु यज्ञ करने का सङ्कल्प लेता है, उसके सभी दिन सुदिन हों तथा उसका यज्ञ सुख देने वाला हो।[६] श्यावाश्व आत्रेय ऋषि का मानना है कि जो समाज ज्येष्ठ और कनिष्ठ की भावना से ऊपर उठकर भ्राताओं के समान सौभाग्य पथ पर बढ़ते हैं, उनको कर्मशील युवा पिता रुद्र तथा सरलता से दुहने योग्य माता पृश्नि (पृथ्वी) सुदिन प्रदान करें।[७] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि वरुणदेव उत्तम गुण वाले प्राणी को कर्मों के आधार पर स्थिर करते हैं। किसी को ऋषि, किसी को सुन्दर कर्म करने वाला तथा किसी अन्य को विप्र बनाते हैं और इनके दिनों को सुदिन में परिणत करते हैं और ये वरुणदेव प्रातःकाल और दिन के प्रकाश का विस्तार करते हैं।[८] सुमित्र ऋषि कहते हैं कि यह अग्नि उत्तम दिन लाने के लिये देवयज्ञ द्वारा यज्ञशालाओं में उन्नत होता है।[९] कुरुसुति काण्व ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि प्रतिदिन एकत्रित खाद्य पदार्थों से हमारी मुष्टि भरी रहे।[१०]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में वे दिवस 'दिन' कहलाने के अधिकारी हैं, जिनमें उषा धनवान् बनाती हुई तमस् को दूर करती है, शत्रु के समान प्रकाश अन्धकार का नाश करता है, जिन दिवसों में इन्द्र की कृपा से धन, बल, सौभाग्य, समृद्धि, नीरोगता, मधुर वाणी की प्राप्ति होती है, जिनमें मनुष्य विज्ञान के पथ पर अपने पग आगे बढ़ाता है तथा भेदभाव का परित्याग करके, सम्पत्ति में सबका

---

१ ऋ० १.१२४.९. "ताः प्रत्नवन्नव्यसीर्नूनमस्मे रेवदुच्छन्तु सुदिना उषासः।"

२ ऋ० १.१८६.९. "अध यदेषां सुदिने न शरुर्विश्वमेरिणं प्रुषायन्त सेनाः।"

३ ऋ० २.२१.६. "इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे। पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्।"

४ ऋ० ३.८.५. "जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमानः।"

५ ऋ० ३.२३.४. "नि त्वा दधे वर आ पृथिव्या इळायास्पदे सुदिनत्वमह्नाम्।"

६ ऋ० ४.४.७. "पिप्रीषति स्व आयुषि दुरोणे विश्वेदस्मै सुदिना सासदिष्टिः।"

७ ऋ० ५.६०.५. "अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः।"

८ ऋ० ७.८८.४. "वसिष्ठं ह वरुणो नाव्याधादृषिं चकार स्वपा महोभिः। स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्नां यान्नु द्यावस्ततनन्यादुषासः।"

९ ऋ० १०.७०.१. "वर्ष्मन्पृथिव्याः सुदिनत्वे अह्नामूर्ध्वो भव सुक्रतो देवयज्या।"

१० ऋ० ८.७८.१०. "दिनस्य वा मघवन्त्सम्भृतस्य वा पूर्धि यवस्य काशिना।"

भागधेय स्वीकार करते हुए कर्मशील होता है, कर्म करता हुआ उत्तमगुण सम्पन्न मानव ऋषि, विप्रादि पदवी को प्राप्त करता है और इस प्रकार जीवन में प्रकाश का विस्तार करता हुआ अपने दिनों को सुदिनों में परिणत करता है। इसके अतिरिक्त नित्ययज्ञ कर्म करने वाले का दिन भी सुदिन होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह दिन सुदिन है, जिसमें मनुष्य उन्नति के पथ पर आगे बढ़ता हुआ समृद्धि तथा सुख को प्राप्त करता है, जिस प्रकार दिवस में प्रकाश की मात्रा की अधिकता होती है, उसी प्रकार जिसके जीवन में प्रकाश अधिक होता है, उस व्यक्ति का दिन सुदिन होता है। ऋग्वेद में मात्र एक स्थान पर 'दिन' शब्द का प्रयोग हुआ है,[१] शेष सर्वत्र 'सुदिन' शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वेद को दिन को सुदिन के रूप में देखना अभिप्रेत है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'दिन' शब्द को 'दो' अवखण्डने' धातु की अपेक्षा 'दिव्' धातु से निष्पन्न करना अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है।

१०. दिवा

निघण्टुकोष के दिवसवाचक नामपदों में 'दिवा' पद समाम्नात है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् 'दिवा' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**द्योतनात्**"[३] कि द्योतित होने के कारण दिवस को 'दिवा' कहते हैं। इस पक्ष में 'द्युत' दीप्तौ' धातु से 'दिवा' पद निष्पन्न होता है। ताण्ड्य-महाब्राह्मण 'दिवा' का निर्वचन निम्न करता है:-"अद्युतदिव वाा अद इति तद्दिवो दिवत्वम्"[४] कि यह प्रकाशित होता है, यही दिव का दिवत्व है। जैमिनीय-ब्राह्मण से भी उक्त निर्वचन की पुष्टि हो जाती है।[५] आचार्य यास्क उक्त परम्परा का अनुसरण करते हुए कहते हैं:-"द्यावौ द्योतनात्"[६]।

लेकिन वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'दिव्' धातु से 'दिवा' पद को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं। कोशकार उक्तपद को द्यु, अन्तरिक्ष, आयुध प्रभृति का वाचक नामपद मानता है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स भी 'दिव्' धातु से 'दिवा' पद निष्पन्न करने के पक्ष में हैं।[८]

वैदिक साहित्य में 'दिवा' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में शुनःशेप ऋषि कहते हैं कि ये ऊपर द्युलोक में स्थापित नक्षत्र रात्रि में दिखायी पड़ते हैं, लेकिन दिन में पता नहीं कहाँ चले जाते हैं?[९] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में शुनःशेप ऋषि कहते हैं कि विद्वान् रात-दिन जिस विद्यारूपी धन को कहते हैं, वह मेरे हृदय में प्रकाशित हो।[१०] आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि अश्विन् देवों के रथ को तीन स्तम्भों और रात तथा

---

१ ऋ० ८.७८.१०. "दिनस्य वा मघवन्त्सम्भृतस्य वा पूर्धि यवस्य काशिना।"

२ निघ० १.९.११.

३ निघ०वृ०, १.९.११.

४ ता०ब्रा०, २०.१४.२.

५ जै०ब्रा०, २.२४४. "हो इति तृतीयमूर्ध्वमुदस्यत्। तत् अदोऽभवत्। अद्युतदिव वा अद इति। तद्दिवो दिवत्वम्।"

६ निरु० २.२०; १४.१२.

७ वै०पद०को०, पृ० १५६९.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० २५७. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ४७८.

९ ऋ० १.२४.१०. "अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुह चिद्दिवेयुः।"

१० ऋ० १.२४.१२. "तदिन्नक्तं तद्दिवा मह्यमाहुस्तदयं केतो हृद आ वि चष्टे।"

दिन में तीन बार गमन कर सकने वाला बतलाते हैं।[१] घौर काण्व ऋषि कहते हैं कि उदक धारण करने वाले मरुद्गण पर्जन्य से सूर्य को आच्छादित करके दिन में अन्धकार कर देते हैं।[२] आङ्गिरस कुत्स ऋषि बलयुक्त वैश्वानर अग्नि को दिन-रात हिंसक शत्रुओं से रक्षा करने वाला बतलाते हैं।[३] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार दिन रात्रि को पलित (श्वेत) बनाकर युवारूप में प्रकट करता है और अनेक मानुष युगों तक चलता हुआ भी वृद्ध नहीं होता है, इसी प्रकार जिसकी अच्छी सेवा हुई है, ऐसा बालक वृद्ध न होता हुआ अनेक मानुष युगों तक भोगों को भोगता है तथा श्वेत केश वाला होने पर भी युवा दिखायी पड़ता है।[४] अत्रि ऋषि अश्विनीदेवों का आह्वान करते हुए कहते हैं कि दिन-रात अत्यन्त सुख के निमित्त हम आपका आह्वान करते हैं तथा यह पीति मात्र आपके लिये प्रस्तुत है।[५] भरद्वाज ऋषि अग्नि के विषय में कहते हैं कि यह रात्रि में प्रकाशित होता हुआ दिन के समान मनुष्यों को अपने-अपने कार्य में नियोजित करता है।[६]

उपुर्यक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'दिवा' वह दिवस है, जिसमें नक्षत्र दिखलायी नहीं पड़ते हैं, विद्यारूपी धन की प्राप्ति होती है, अश्विनीदेव इसी काल खण्ड में तीन बार गमन करते हैं, मरुद्गण पर्जन्य से इसी दिन को अन्धकारमय कर देते हैं तथा इसी समय रक्षा के निमित्त अश्विनीदेवों को आह्वान किया जाता है। इसके अतिरिक्त 'दिवा' और 'नक्त' एक-दूसरे के विलोम के रूप में प्रयुक्त होते हैं। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उक्त अध्ययन से 'दिवा' का कोई विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। लेकिन फिर भी यह कहा जा सकता है कि जिसमें प्रकाश की मात्रा अधिक है, वह 'दिवा' है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'दिव्' धातु को 'दिवा' पदा का मूल माना जा सकता है।

११. दिवेदिवे

निघण्टुकोष के अहर्वाचक नामपदों में 'दिवेदिवे' यह पद समाम्नात है।[७] आचार्य देवराजयज्वन् 'दिवेदिवे' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**दिवु' क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्न-कान्तिगतिषु'। दिव्यन्तेऽस्मिन्निति द्यौ:**"[८] कि जिसमें क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, मोद, मद आदि कार्य सम्पन्न होते हैं, वह दिवस 'दिवेदिवे' कहलाता है। इस पक्ष में 'दिव्' धातु से 'डिवि' प्रत्यय होकर 'दिवेदिवे' रूप सम्पन्न होता है। वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'दिवेदिवे' पद को 'दिव्' धातु से व्युत्पन्न 'दिवस' वाचक नामपद मानता है।[९] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची से भी उक्त मत का समर्थन हो जाता है।[१०]

---

१ ऋ० १.३४.२. "त्रय: स्कम्भास: स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथत्रिर्वश्विना दिवा।"

२ ऋ० १.३८.९. "दिवा चित्तम: कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन।"

३ ऋ० १.९८.२. "वैश्वानर: सहसा पृष्टो अग्नि: स नो दिवा स रिष: पातु नक्तम्।"

४ ऋ० १.१४४.४. "दिवा न नक्तं पलितो युवाजनि पुरू चरन्नजरो मानुषा युगा।"

५ ऋ० ५.७६.३. "दिवा नक्तमवसा शंतमेन नेदानीं पीतिरश्विना ततान।"

६ ऋ० ६.३.६. "नक्तं य ईमरुषो यो दिवा नृनमर्त्यो अरुषो यो दिवा नृन्।"

७ निघ० १.९.११.

८ निघ०वृ०, १.९.११.

९ वै०पद०को०, पृ० १५८६.

१० ऋ०वै०पद०, पृ० २५०.

वैदिक साहित्य में 'दिवेदिवे' का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि अग्नि से प्रतिदिन पुष्ट होने वाला अर्थात् कभी भी क्षीण न होने वाला धन प्राप्त होता है।[१] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि प्रतिदिन और प्रतिक्षण हम लोग अपने कर्मों एवं बुद्धि से उपासना करते हुए अग्नि के समीप पहुँचें।[२] आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं कि प्रतिदिन नाम श्रवण करने वाले को अग्नि (ईश्वर) उत्तम लोक प्रदान करता है।[३] एक अन्य स्थल पर आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं कि पूजनीय अश्विनीदेव प्रतिदिन तीन कक्षायें वाले अन्तरिक्ष में तीन संस्तरों से पृथिवी को व्याप्त करके स्थित होते हैं।[४] गौतम ऋषि कभी वृद्ध न होने वाले विश्वदेवों से प्रतिदिन रक्षा की प्रार्थना करते हैं।[५] दीर्घतमस् पुत्र कक्षीवान् ऋषि उषा के विषय में कहते हैं कि वह प्रभात होने पर प्रत्येक घर जाती है तथा सोम, मङ्गल आदि दिवस के नामों को धारण करती है।[६] परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि मित्रावरुण बहुत सुख देने वाली पृथ्वी का सेवन करते हैं तथा प्रतिदिन प्राणियों को जगाते हैं।[७] गृत्समद ऋषि अग्नि का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि प्रतिदिन उत्पन्न होने वाले एवं दर्शनीय अग्नि के दिव्य और भौतिक वसु नष्ट नहीं होते हैं।[८]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह दिवस 'दिवेदिवे' है, जिसमें अग्नि से कभी न क्षीण न होने वाला धन प्राप्त होता है, बुद्धि और कर्मों से उपासना करते हुए मनुष्य अग्नि के समीप पहुँचते हैं और अमृतत्व को प्राप्त करते हैं, अश्विनीदेव इसी काल खण्ड में अन्तरिक्ष में स्थित होकर पृथिवी को व्याप्त करते हैं, उषा प्रभात होने पर सोम, मङ्गल आदि दिवसों के नामों को धारण करती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में 'दिवेदिवे' प्रतिदिन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और प्रतिदिन सम्पन्न होने वाले लोक कल्याण के कार्य वेद में 'दिवेदिवे' के माध्यम से अभिव्यक्त हुए हैं।

१२. द्यविद्यवि

निघण्टुकोष के अहर्वाचक नामपदों में 'द्यविद्यवि' पद परिगणित है।[९] आचार्य देवराजयज्वन् 'द्यविद्यवि' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**दिवु' क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमद-स्वप्नकान्तिगतिषु'। दिव्यन्तेऽस्मिन्निति द्यौः**:''[१०] कि जिसमें क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, मोद, मद आदि कार्य सम्पन्न होते हैं, वह दिवस 'द्यविद्यवि' कहलाता है। इस पक्ष में 'दिव्' धातु से 'डिवि' प्रत्यय होकर 'द्यविद्यवि' रूप सम्पन्न होता है। ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'दिव्' धातु से 'द्यविद्यवि' रूप निष्पन्न करने के

---

१ ऋ० १.१.३. ''अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम्।''

२ ऋ० १.१.७. ''उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि।''

३ ऋ० १.३१.७. ''त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्त दधासि श्रवसे दिवेदिवे।''

४ ऋ० १.३४.७. ''त्रिर्नो अश्विना यजता दिवेदिवे परि त्रिधातु पृथिवीमशायतम्।''

५ ऋ० १.८९.१. ''देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे।''

६ ऋ० १.१२३.४. ''गृहं गृहमहना यात्यच्छा दिवेदिवे अधि नामा दधाना।''

७ ऋ० १.१३६.३. ''स्वर्वतीमा सचेते दिवेदिवे जागृवांसा दिवेदिवे।''

८ ऋ० २.९.५. ''उभयं न क्षीयते वसव्यं दिवेदिवे जायमानस्य दस्म।''

९ निघ० १.९.१२.

१० निघ०वृ०, १.९.१२.

पक्ष में है। वैदिक-पदानुक्रम-कोष तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी 'दिव्' धातु से उक्तपद को व्युत्पन्न करने के पक्ष में है।[१]

वैदिक साहित्य में 'द्यविद्यवि' का विरल प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मात्र उक्तपद का दो बार उल्लेख देखने को मिलता है। मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार दोग्धा दुग्ध देने वाली गौ को दुहने के लिये बुलाता है, उसी प्रकार हम प्रतिदिन अपने प्रकाश से रूपयुक्त बनाने वाले इन्द्र का आह्वान करते हैं।[२] आजीगर्ति शनु:शेप ऋषि वरुण से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार लोक में प्रजा से प्रमादवश अपराध हो जाता है, उसी प्रकार हमसे प्रतिदिन भूल या प्रमादवश छूट जाने वाले कर्तव्यकर्म को आप पूर्ण करने की कृपा करें।[३] उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के मात्र उक्त दो उद्धरणों से 'द्यविद्यवि' का विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। उक्त अध्ययन के आधार पर केवल इतना कहा जा सकता है कि वेद में 'द्यविद्यवि' पद 'प्रतिदिन' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

वैदिक साहित्य में अहर्वाचक नामपदों में अर्थभिन्नता

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के नवम गण में निघण्टुकार ने १२ दिवसवाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	वस्तो: दिवसवाचक निघ०,१.९.१.	जो दिवस वासयोग्य बन जाये और जिसमें सुख पूर्वक स्थित हुआ जा सके, वह वेद की दृष्टि में 'वस्तो:' है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'वस्तो:' पद का मूल निवासार्थक 'वस्' धातु प्रतीत होती है।
२.	द्यौ: दिवसवाचक निघ०,१.९.२.	जिसमें अश्विनीदेवों की कृपा से दिवस तथा सूर्य की रक्षा एवं सौभाग्य प्राप्त कराने वाले धन की प्राप्ति होती है। इस काल में श्रेष्ठ धन प्राप्त होता है तथा जरावस्था में इन्हींके सुखावह होने की कामना की जाती है।	'दिव्' धातु।
३.	भानु: दिवसवाचक निघ०,१.९.३.	वेद में प्राय: इसका प्रकाश अथवा रश्मि के अर्थ में उल्लेख देखने को मिलता है। उषा के साथ जहाँ इसका प्रयोग हुआ है, वहाँ यह पद प्राय: प्रात:कालीन दिवस के रूप में है।	'भा' दीप्तौ' धातु।
४.	वासरम् दिवसवाचक निघ०,१.९.४.	ऋग्वेद के दो मन्त्रों में 'वासर' पद आया है। एक स्थान पर 'वासर' का अथ 'निवास' तथा द्वितीय स्थान पर 'दिवस' है। पर उक्तपद का मूल अर्थ 'बसाने वाला' है।	'ण्यन्त 'वस्' धातु।

१ ऋ०वै०पद०, पृ० २५०. वै०पद०को०, पृ० १५८१.

२ ऋ० १.४.१. ''सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि।''

३ ऋ० १.२५.१. ''यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम्।''

५.	स्वसराणि दिवसवाचक निघ०,१.९.५.	वेद की दृष्टि में वे दिवस 'स्वसर' हैं, जिनके आने मात्र से प्राणी अपने आप कर्म में संलग्न हो जाता है।	'स्व+'सृ' धातु।
६.	घ्रंसः दिवसवाचक निघ०,१.९.६.	वेद में 'घ्रंस' वह दिवस है, जिसमें अश्विनीदेव हिम सदृश जल से दाहकता का निवारण करते हैं। ये सम्भवतः, निदाघ ऋतु के अवसान के समय आसन्न वर्षाकालीन निर्वात (उमस) युक्त दिवसों का नामकरण प्रतीत होता है।	'ग्रस्' या 'ग्रह्' धातु।
७.	घर्मः दिवसवाचक निघ०,१.९.७.	वह दिवस 'घर्म' है, जिसकी उष्णता से घृत का विलयन होने लगता है और जो मनुष्य के शरीर में से स्वेद प्रवाहित कर देता है। सङ्क्षेप में कह सकते हैं कि निदाघकालीन मध्याह्न का समय 'घर्म' है।	'घृ' क्षरणदीप्त्योः' धातु।
८.	घृणः दिवसवाचक निघ०,१.९.८.	वेद में मध्याह्नकालीन सुखकर दिवस 'घृण' माना गया हैं। सम्भवतः, यह शरद्कालीन दिवस का नाम है, क्योंकि इस ऋतु में आतप सुखकर लगता है।	'घृ' क्षरणदीप्त्योः' धातु से 'घृण' पद का निर्वचन करना समीचीन प्रतीत होता है।
९.	दिनम् दिवसवाचक निघ०,१.९.९.	वह दिन सुदिन है, जिसमें मनुष्य उन्नति के पथ पर आगे बढ़ता हुआ समृद्धि तथा सुख को प्राप्त करता है, जिस प्रकार दिवस में प्रकाश की मात्रा की अधिकता होती है, उसी प्रकार जिसके जीवन में प्रकाश अधिक होता है, उस व्यक्ति का दिन सुदिन होता है।	'दो' अवखण्डने' धातु की अपेक्षा 'दिव्' धातु से व्युत्पन्न करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।
१०.	दिवा दिवसवाचक निघ०,१.९.१०.	वेद में इसका कोई स्पष्ट स्वरूप उभरकर नहीं आ पाया है। जिसमें प्रकाश की मात्रा अधिक है, वह दिन 'दिवा' है।	'दिव्' धातु।
११.	दिवेदिवे दिवसवाचक निघ०,१.९.११.	वेद में 'दिवेदिवे' प्रतिदिन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और प्रतिदिन सम्पन्न होने वाले लोक कल्याण के कार्य वेद में 'दिवेदिवे' के माध्यम से अभिव्यक्त हुए हैं।	'दिव्' धातु।
१२.	द्यविद्यवि दिवसवाचक निघ०,१.९.१२.	वेद में 'द्यविद्यवि' का विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया है। सम्भवत, यह भी दिवेदिवे' के समान प्रतिदिन का वाचक है।	'दिव्' धातु।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर दिवसवाचक पदों को निम्न रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है:- १. प्रकाश के अभिधायक होने से दिवसवाचक पदः-(क) **द्यौः**, (ख) **दिनम्**, (ग) **दिवा**। २. प्रातःकालीन वाचक पदः-(क) **भानुः**। ३. मध्याह्नकालीन दिवसवाचक पदः-(क) **घृणः**। ४. ग्रीष्म वाचकपदः- (क) **घ्रंसः**। ५. वास योग्य होने से दिवसवाचक पदः-(क) **वस्तोः**, (ख) **वासरम्**। ६. प्रतिदिन के वाचक पदः- (क) **दिवेदिवे**, (ख) **द्यविद्यवि**। ७. कार्य में संलग्न करने के कारण दिवस वाचक पदः-(क) **स्वसराणि**। इस प्रकार निघण्टुकार ने दिवसवाचक पदों के परिगणन में अनेक प्रकार के शब्दों का सफलता पूर्वक समाम्नान किया है।

पञ्चम अध्याय

मेघवाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के दशमगण में निघण्टुकार ने 'मेघवाचक' त्रिंशत् नामपदों का परिगणन किया है।

१. अद्रिः

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में सर्वप्रथम 'अद्रिः' पद पठित है।[१] आचार्य यास्क 'अद्रिः' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**अद्रिरादृणात्येनेन**"[२] कि विदारित करने के कारण वज्र को 'अद्रि' कहते हैं। आचार्य दुर्ग उक्त निर्वचन की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह आयुध अद्रिसारमय होता है, इसलिये वज्र को 'अद्रि' कहते हैं अथवा सोमाभिषव के पाषाण वाला होने से वज्र 'अद्रि' है, इसके अतिरिक्त इन पाषाणों से भी सोम का पेषण (आदीरण) होता है। इस पक्ष में 'दृ' विदारणे' धातु से 'अद्रि' पद निष्पन्न होता है।

(ख)"अपि वा अत्तेः स्यात्"[३] अथवा यह 'अद्रि' पद 'अद्' धातु से व्युत्पन्न होता है। प्रहरित व्यक्ति को यह वज्र भक्षण कर लेता है, अतः वज्र को 'अद्रि' कहते हैं। इस पक्ष में 'अद्' धातु से 'अद्रिः' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् मेघवाचक 'अद्रि' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**अत्ति हि मेघो वर्षार्थमादित्यरश्मिभिराहतान् भौमरसान्, अत्ति मेघैरभिवृष्टं जलम्, अद्यते वा प्राणिभिस्तत्प्रभवपदार्थभक्षणं तत्रोपचर्य्यते अदन्त्यस्मिन् पदार्थान् मनुष्या इति वा**"[४] कि यह मेघ वर्षा के उद्देश्य से आदित्य रश्मियों के द्वारा लाये गये भौम रसों का भक्षण कर लेता है, या मेघ से अभिवृष्ट जलों का यह पर्वत भक्षण कर लेता है, अथवा उस मेघजल से उत्पन्न वनस्पति आदि पदार्थों का भक्षण किया जाता है, अथवा इस पर्वत में मनुष्य पदार्थों को भक्षण करते हैं, अतः, मेघ और पर्वत को 'अद्रि' कहते हैं। इस पक्ष में 'अद' भक्षणे' धातु से औणादिक 'क्रिन्' प्रत्यय होकर 'अद्रि' पद निष्पन्न होता है। आचार्य सायण भी कुछ इसी प्रकार का निर्वचन करते हैं:- "अदन्ति पशवस्तृणादिकमत्र इति अद्रिः"[५] कि पशु आदि इस पर तृणादिक खाते हैं, अतः, पर्वत को 'अद्रि' कहते हैं।

---

१ निघ० १.१०.१.
२ निरु० ४.४.
३ निरु० ४.४.
४ निघ०वृ०, १.१०.१.
५ सायणभाष्य,ऋ० १.७.३.

(ख)''यद्वा, नञ् पूर्वात् 'दृ' विदारणे'। अदरणीय इत्यद्रिः पर्वतः''[१] कि विदारण योग्य न होने से पर्वत 'अद्रि' कहलाता है। इस पक्ष में नञ् पूर्व वाली 'दृ' विदारणे' धातु से 'अद्रि' रूप उपपन्न होता है।

आचार्य दुर्ग 'अद्रि' पद का निर्वचन निम्न देते हैं:-''आदरयितव्यो ह्यसौ भवत्युदकार्थमित्यद्रिः''[२] कि उदक प्राप्त कराने की दृष्टि से मेघ आदरयोग्य होता है, इसलिये वह 'अद्रि' कहा जाता है। इस पक्ष में 'आ+'दृ' धातु से 'अद्रि' रूप निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अद्रिः' पद को अश्मन्, अभिषवग्रावन्, पर्वत, वज्र, मेघ प्रभृति का वाचक नामपद मानता है। कोशकार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध मानते हुए विभिन्न आचार्यों के मत में अद्' या 'अ+'दृ' विदारणे या 'अत्+'दृंह्' वृद्धौ' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना प्रकट करते हैं।[३] मोनियर विलियम्स 'अद्रि' का मूल 'अद्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार पर्वत सदृश आकार वाला मेघ 'अद्रि' है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अद्रि' को अव्युत्पन्न मानती है।[५] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि यास्क सोम का भक्षण और अपने वज्र से पर्वतों के पक्ष काटने वाले आख्यान के आधार पर 'आ+'दृ' से 'अद्रि' को निष्पन्न करने के पक्ष में हैं। वे कहते हैं कि परवर्तीकाल में यह शब्द लाक्षणिक आधार पर मेघवाचक अर्थ में परिवर्तित हो गया। उक्त अर्थ के साथ सङ्घनित हो जाने से इसके साथ गर्जना तथा करका वृष्टि अर्थ भी संयुक्त हो गये। उनके अनुसार भारोपीय भाषा में यह शब्द 'ond' पाषाण तथा आइरिश में 'ond' पाषाण अर्थ में है।[६]

वैदिक साहित्य में 'अद्रि' का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि इन्द्र का स्तवन करते हुए कहते हैं कि इन्द्र ने निरन्तर देखने के लिये सूर्य को लोकों को बीच स्थापित किया है। वह अपनी किरणों से मेघ को वर्षा के लिये प्रेरित करता है।[७] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि सर्वत्र व्यापक इन्द्र ने परिपक्व धन का अपरहण करते हुए पहले वराह (मेघ) को विद्ध किया और उसके पश्चात् अद्रि को नीचे क्षेपित कर दिया।[८] एक अन्य स्थान पर गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि बृहस्पति (सूर्य) ने मेघ को विदीर्ण करके सूर्य किरणों को प्राप्त किया और उसे पाकर मनुष्य प्रसन्न हुए।[९] पराशर ऋषि अग्नि के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हमारे पितर उक्थों के माध्यम से अग्नि की स्तुति करके बलवान् हुए और उस स्तुति के रवमात्र से मेघ को विदीर्ण कर दिया।[१०] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में पराशर ऋषि अद्रि (मेघ या

---

१ निघ०वृ०, १.१०.१.

२ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ० १८६.

३ वै०पद०को०, पृ० १४८.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १९.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० २०.

६ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० २७, ८५, १००.

७ ऋ० १.७.३. ''इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि। वि गोभिरद्रिमैरयत्।''

८ ऋ० १.६१.७. ''मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता।''

९ ऋ० १.६२.३. ''बृहस्पतिभिर्नदद्रिं विदद्गाः समुस्रियाभिर्वावशन्त नरः।''

१० ऋ० १.७१.२. ''वीळु चिद् दृळहा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण।''

पर्वत) से नदियों को प्रवाहित होने वाला बतला रहे हैं।[१] राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि पृषद्वर्ण के मरुद्गण जब रथ में नियोजित किये जाते हैं, तब वे अन्न के निमित्तभूत मेघ को वर्षकर्म के लिये प्रेरित करते हैं।[२] परुच्छेप ऋषि वायुदेवता के प्रसङ्ग में मेघों से पवित्र एवं धारण किये जाते हुये स्पृहणीय सोम के वायु को प्राप्त होने का उल्लेख करते हैं।[३] एक अन्य सूक्त में परुच्छेप ऋषि किरणों से परिपुष्ट अवस्था को प्राप्त तथा मेघों से अभिषुत (अभिवृष्ट) आनन्ददायक सोम का पान करने के निमित्त मित्रावरुण का आह्वान करते हैं।[४] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहते हैं कि निवास करने वाली धेनु के समान अद्रि (मेघ) से अंशु (जीवन के लिये कल्याणकारी उदक)[५] को दुहते हैं, सोम (जल) को दुहते हैं।[६] अगस्त्य ऋषि उदक से परिपूर्ण मेघ को बुद्धि को कर्म में नियोजित एवं कल्याण और बल का सवन करने वाला बतलाते हैं।[७]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि 'अद्रि' वह मेघ है, जो किरणों के द्वारा वर्षकर्म के लिये प्रेरित किया जाता है, जिसको इन्द्र नीचे क्षेपित करता है, जिसे बृहस्पति विदीर्ण करके सूर्य किरणों को प्रकट करता है, यह अग्नि की स्तुति किये जाने पर उसके रवमात्र से विदीर्ण हो जाता है, यही नदियों को प्रवाहित करने वाला है, इसी मेघ से अभिषुत उदक का पान करने के लिये मित्र (सूर्य) तथा वरुण (मध्यस्थानीय देवता) का आह्वान किया जाता है और इस अद्रि से मित्रावरुण अंशु और सोम को दुहते हैं। इसके अतिरिक्त यह जल से भरा हुआ अद्रि मनुष्यों को कल्याणकारी कर्म में नियोज़ित करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'अद्रि' वह मेघ है, जिससे वर्षकर्म सम्पन्न होने वाला होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'अद्रि' का मूल 'दृ' विदारणे' धातु प्रतीत होती है। सार रूप में कहा जा सकता है कि विदीर्ण होने की अवस्था को प्राप्त मेघ वेद की दृष्टि में 'अद्रि' है।

२. ग्रावा

निघण्टुकोष के मेघवाचक गण में 'ग्रावा' पद परिगणित है।[८] 'ग्रावा' पद का निर्वचन करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं:-''**ग्रावाणो हन्तेर्वा**''[९] कि हिंसा कर्म में प्रयुक्त किये जाते हैं या जिनकी हिंसा होती है, वे 'ग्रावा' कहलाते हैं। इस पक्ष में 'हन्' धातु से 'ग्रावा' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''गृणातेर्वा''[१०] कि स्तुति किये जाने के कारण या इनसे पीसने पर शब्द निकलता है, अतः, ये 'ग्रावा' कहे जाते हैं। इस पक्ष में स्तुति अर्थ वाली 'गृ' धातु से 'ग्रावा' रूप उपपन्न होता है।

---

१ ऋ० १.७३.६. ''परावतः सुमतिं भिक्षमाणा वि सिन्धवः समया सस्रुरद्रिम्।''

२ ऋ० १.८५.५. ''वि यद्रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं वाजे अद्रिं मरुतो रंहयन्तः।''

३ ऋ० १.१३५.२. ''तुभ्यायं सोमः परिपूतो अद्रिभिः स्पार्हा वसानः।''

४ ऋ० १.१३७.१. ''सुषुमा यातमद्रिभिर्गोश्रीता मत्सरा इमे सोमासो मत्सरा इमे।''

५ निरु० २.५. ''अननाय शं भवतीति वा।''

६ ऋ० १.१३७.३. ''तां वां धेनुं न वासरीमंशुं दुहन्त्यद्रिभिः सोमं दुहन्त्यद्रिभिः।''

७ ऋ० १.१६५.४. ''ब्रह्माणि मे मतयः शं सुतासः शुष्म इयर्ति प्रभृतो मे अद्रिः।''

८ निघ० १.१०.२.

९ निरु० ९.८.

१० निरु० ९.८.

(ग)''गृह्णातेर्वा''[१] कि ये ग्रहण किये जाते हैं, अतः, ये 'ग्रावा' कहलाते हैं। इस पक्ष में 'ग्रह उपादने' धातु से 'ग्रावा' पद व्युत्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् मेघवाचक 'ग्रावा' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**हन्यते हि मेघ इन्द्रेण 'अहन्नहिम्' इति श्रूयते। हन्यतेऽनेन सोमः**''[२] कि इन्द्र के द्वारा मेघ का वध किया जाता है, वेद से भी इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। इसके अतिरिक्त इसके द्वारा सोम का हनन होता है, अतः, मेघ (और सम्भवतः पाषाण) को 'ग्रावा' कहते हैं। इस पक्ष में 'हन्' धातु से 'क्वनिप्' प्रत्यय होकर 'ग्रावन्' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, 'गॄ' निगरणे'। गिरत्युदकं वर्षितुम्**''[३] कि वर्षा के लिये उदक का निगरण करता है, अतः, मेघ को 'ग्रावन्' कहते हैं। इस पक्ष में निगरणार्थक 'गॄ' धातु से 'क्वनिप्' प्रत्यय होकर 'ग्रावन्' रूप उपपन्न होता है।

(ग)''**यद्वा, 'गॄ' शब्दे'। गृणाति स्तुतिकर्मा (निरु०,३.५.)। गृणाति गर्जितशब्दलक्षणं शब्दं करोति। स्तूयते वा वर्षार्थिभिरिति ग्रावा मेघः**''[४] कि गर्जनायुक्त शब्द करता है अथवा वर्षा की कामना करने वालों से स्तुत होता है, अतः, मेघ को 'ग्रावा' कहते हैं। इस पक्ष में स्तुत्यर्थक 'गॄ' धातु से पूर्ववत् 'क्वनिप्' प्रत्यय होकर 'ग्रावा' पद उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'ग्रावन्' को पाषाणवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'ग्रावा' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स 'ग्रावा' पद का मूल 'ग्रह्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार सोमरस निकालने के लिये काम आने वाले पाषाण 'ग्रावा' हैं।[७] डॉ. वर्मा यास्क के 'ग्रह्' धातु वाले निर्वचन को शिथिल तथा स्वरदोष से युक्त एवं 'हन्' धातु वाले निर्वचन को असङ्गत मानते हैं। उनके अनुसार भारोपीय भाषा में यह शब्द 'guṛa' भारी अर्थ में तथा वेल्स में 'beruan' मील का पत्थर अर्थ में है।[८] लेकिन डॉ. वर्मा का उपर्युक्त विवेचन बहुत तर्कसङ्गत प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि उपर्युक्त भाषाओं के साथ 'ग्रावन्' का न रूपसाम्य है और न अर्थसाम्य है। इसके अतिरिक्त वेद का ऋषि अनेकशः उक्त पद को 'ग्रह्' धातु से व्युत्पन्न होने का सङ्केत देता है।[९]

वैदिक साहित्य में 'ग्रावन्' का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में राहूगण गोतम ऋषि इन्द्र का स्तवन करते हुए कहते हैं कि जब स्तोम के समान मेघ अभिमत वचनों को बोलता है, तब प्राप्ति की सम्भावना से

---

१ निरु० ९.८.

२ निघ०वृ०, १.१०.२.

३ निघ०वृ०, १.१०.२.

४ निघ०वृ०, १.१०.२.

५ वै०पद०को०, पृ० १२६७.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० १९४.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३७४.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० २४., १०९.१२०.

९ यजु०, १.१५. ''देववीतये त्वा गृह्णामि बृहद् ग्रावासि।'' अथर्व०, १०.९.२. ''एषा त्वा रशनाग्रभीद् ग्रावा त्वैषोधि नृत्यतु।'' अथर्व०, ११.१.१०. ''गृहाण ग्रावाणौ सुकृतौ वीर हस्त।''

इन्द्र आनन्दित होता है।[१] एक अन्य स्थान पर राहूगण गोतम ऋषि निवेदन करते हुए कहते हैं कि मेघ वचनीय शब्द से इन्द्र के मन को हमारी ओर अभिमुख करे।[२] परुच्छेप ऋषि वायु देव से विना आलस्य किये निरन्तर गमन करते हुए वहाँ जाने का निवेदन करते हैं, जहाँ मेघ गर्जना करते हैं।[३] विश्वामित्र ऋषि इन्द्रस्तुति प्रकरण में प्रदीप्त अग्नि में स्थिर वर्षा करने वाले मेघों से युक्त इन्द्र के लिये सवन किये जाने का उल्लेख करते हैं।[४] आत्रेय ऋषि वर्षा करने में समर्थ तथा कामनाओं की पूर्ति करने वाले इन्द्र की स्तोत्रों से स्तुति करते हुए कहते हैं कि उसके मेघ पृथ्वी का सेवन करने वाले हों।[५] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में आत्रेय ऋषि कहते हैं कि जिस मेघ का क्षेपण अध्वर्यु करते हैं, वह गर्जना करता हुआ भूमि को उदक से परिपूर्ण करने वाला हो।[६] अत्रि ऋषि इन्द्र को वर्षण स्वभाव वाला बतलाते हुए मेघ (ग्रावा), मद और सुतसोम को भी बरसने वाले के रूप में चित्रित करते हैं।[७] एक अन्य स्थान पर अत्रि ऋषि कहते हैं कि अन्तरिक्ष को आच्छादित किये हुए, मेघों से युक्त, अभिषुत सोम के साथ स्तुति किया जाता हुआ प्रदीप्त अग्नि प्रतिष्ठित होता है। हवि (उदक) को नीचे समुद्र की ओर ले जाने वाले अहिंसक मेघ इसी अग्नि के गमन को सूचित करते हैं।[८]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह मेघ 'ग्रावन्' है, जो स्तोता के समान अभिमत वचनों को बोलता है अर्थात् जिस प्रकार स्तोता के वचन प्रिय होते हैं, उसी प्रकार यह कामनापूर्ति करने वाले वचनों को गर्जना के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, मेघ के ये वचनीय शब्द हमारे मन को अपनी ओर अभिमुख करते हैं, जहाँ ये ग्रावा (मेघ) गर्जना करते हैं, वहाँ ये वायु देव पहुँचते हैं, इन्द्र की स्तुति भी मेघों के उद्देश्य से की जाती है, जिससे भूमि उदक से परिपूर्ण हो सके। जिस प्रकार इन्द्र वृषा है, उसी प्रकार उसके मेघ भी वर्षण स्वभाव वाले हैं। इसके अतिरिक्त मेघों की गर्जना अग्नि (विद्युत्) के गमन को सूचित करती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में 'ग्रावा' के साथ ऋषि ने प्रायः 'वदति' क्रिया का प्रयोग किया है, इससे यह सिद्ध होता है कि वह मेघ 'ग्रावा' है, जो गर्जना करता हुआ वर्षणकर्म सम्पन्न करता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि वेद की दृष्टि में 'ग्रावा' पद का मूल शब्दार्थक 'गॄ' धातु है। शेष सभी निर्वचन काल्पनिक अथवा परवर्ती प्रतीत होते हैं।

३. गोत्र:

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'गोत्र' पद पठित है।[९] आचार्य देवराजयज्वन् मेघवाचक 'गोत्र'

---

१ ऋ० १.८३.६. ''ग्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्य१स्तस्येदिन्द्रो अभिपित्वेषु रण्यति।''

२ ऋ० १.८४.३. ''अर्वाचीनं सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना।''

३ ऋ० १.१३५.७. ''अति वायो ससतो याहि शश्वतो यत्र ग्रावा वदति तत्र गच्छतं गृहमिन्द्रश्चगच्छतम्।''

४ ऋ० ३.३०.२. ''स्थिराय वृष्णे सवना कृतेमा युक्ता ग्रावाणः समिधाने अग्नौ।''

५ ऋ० ५.३१.५. ''वृष्णे यत्ते वृषणो अर्कमर्चानिन्द्र ग्रावाणः अदितिः सजोषाः।''

६ ऋ० ५.३१.१२. ''वदन्ग्रावाव वेदिं भ्रियाते यस्य जीरमध्वर्यवश्चरन्ति।''

७ ऋ० ५.४०.२. ''वृषा ग्रावा वृषा मदो वृषा सोमो अयं सुतः। वृषन्निन्द्र वृषभिर्वृत्रहन्तम।''

८ ऋ० ५.३७.२. ''समिद्धाग्निर्वनवत्स्तीर्णबर्हिर्युक्तग्रावा सुतसोमो जराते। ग्रावाणो यस्येषिरं वदन्त्ययदध्वर्युर्हविषाव सिन्धुम्।''

९ निघ० १.१०.३.

पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**गुङ्' अव्यक्ते शब्दे'। मेघो गर्जितलक्षणमव्यक्ताक्षरं शब्दं करोति, गूयते शब्द्यते वा**''[१] कि मेघ गर्जना लक्षण वाले अव्यक्त शब्द को करता है, इसलिये वह 'गोत्र' कहलाता है। इस पक्ष में अव्यक्तशब्दार्थक 'गुङ्' धातु से औणादिक 'त्र' प्रत्यय होकर 'गोत्र' पद निष्पन्न होता है। इस व्युत्पत्ति का समर्थन उणादिकोष से भी हो जाता है।[२] आचार्य सायण भी इसी प्रकार 'गोत्र' शब्द को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[३]

(ख)''यद्वा, गामुदकं रश्मिभिराहृतं वर्षाव्यतिरिक्तेषु त्रायते पालयति''[४] कि यह रश्मियों से आहृत उदक (गो) की वर्षा से भिन्न समय में रक्षा करता है, अत:, मेघ को 'गोत्र' कहते हैं। इस पक्ष में 'गो' पूर्वक 'त्रा' धातु से 'क' प्रत्यय होकर 'गोत्र' शब्द व्युत्पन्न होता है। इसी प्रकार का निर्वचन आचार्य सायण करते हैं:-''**गा उदकानि त्रायन्ते रक्षन्तीति गोत्रा मेघा:**''[५] कि गो अर्थात् उदक की रक्षा करते हैं, अत:, मेघ 'गोत्र' कहलाते हैं।

(ग)''गां पशुजातिं त्रायते वा वृष्ट्याप्रदानात्''[६] कि यह मेघ वर्षा के द्वारा गो अर्थात् पशुजाति की रक्षा करता है, अत:, यह 'गोत्र' कहलाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गोत्रा' पद को गोष्ठ, गोसमूह का वाचक नामपद तथा गोमूलक मानता है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'गो' से 'गोत्र' शब्द को व्युत्पन्न करने के पक्ष में है।[८] मोनियर विलियम्स 'गो' पूर्ववाली 'त्रै' धातु से 'गोत्र' शब्दा निष्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में उक्त पद गायों की सुरक्षा अथवा आश्रय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[९]

वैदिक साहित्य में 'गोत्र' बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस सव्य ऋषि इन्द्र का स्तवन करते हुए कहते हैं कि इन्द्र ने आङ्गिरस ऋषियों एवं असङ्ख्य अवयवों से आच्छादित, भूवेत्ता अत्रि के लिये गोत्र (मेघ) को उद्घाटित किया।[१०] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि वृत्र के बल से आक्रान्त सम्पूर्ण मेघों को इन्द्र ने सोम के मद में वर्षा के लिये प्रेरित किया।[११] एक अन्य स्थान पर गृत्समद ऋषि कहते हैं कि पर्वत (मेघ) ने अङ्गिरस बृहस्पति के लिये गायों (किरणों) को मुक्त तथा मेघ (गोत्र) को निर्गलित कर दिया।[१२]

---

१ निघ०वृ०, १.१०.३.

२ उणा०, ४.१६८. ''गुधृवीपचिवचियमिसदिक्षदिभ्यस्त्र:।''

३ ऋ० १.५१.३.

४ निघ०वृ०, १.१०.३.

५ ऋ० २.१७.१.

६ निघ०वृ०, १.१०.३.

७ वै०पद०को०, पृ० १२५६.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० १९२.

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३६४.

१० ऋ० १.५१.३. ''त्वं गोत्रमङ्गिरोभ्योऽवृणोरपोतत्रये शतदुरेषु गातुवित्।''

११ ऋ० २.१७.१. ''विश्वा यद्गोत्रा सहसा परीवृता मदे सोमस्य दृंहितान्यैरयत्।''

१२ ऋ० २.२३.१८. ''तव श्रिये व्यजिहीत पर्वतो गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिर:।''

विश्वामित्र ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हे गोपते (किरणों के स्वामी) इन्द्र! हमारे लिये मेघों को विदीर्ण करके किरणों को प्राप्त कराइये, जिससे हमें सम्भजनीय अन्न और बल प्राप्त हो।[१] एक अन्य प्रकरण में विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि इन्द्र कर्षण करने वाले मनुष्यों पर वर्षा रूपी मद की वृष्टि तथा इसी मद में गोत्रों (मेघों) को प्रस्यन्दित करते हैं।[२] वामदेव ऋषि कहते हैं कि अङ्गिरस ऋषियों से स्तूयमान इन्द्र, मेघों को पीडित करता हुआ हमारे लिये प्रभूत अन्न पहुँचाने वाला हो।[३] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि मेघों को पर्वत के शिखर पर विराजमान उषा की किरणों का उत्सर्जन करने वाला बतलाते हैं।[४] पृश्नि ऋषि सर्वद्रष्टा पवमान सोम को मनुष्यों का चक्षु तथा अङ्गिरस् ऋषियों के लिये मेघ को उद्घाटित करने वाला मानते हैं।[५] अप्रतिरथ ऐन्द्र ऋषि इन्द्र के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह मेघों में बल से प्रविष्ट कर जाने वाला, दयारहित, पराक्रमी और शतमन्यु है।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि वह मेघ 'गोत्र' है, जो अङ्गिरस् और अत्रि ऋषियों के लिये इन्द्र के द्वारा विदीर्ण किया जाता है, इन्द्र इसी गोत्र को सोम के मद में नीचे पृथ्वी की ओर निर्गलित, अङ्गिरस् के लिये किरणों को मुक्त तथा इन्हीं ऋषियों से स्तूयमान इन्द्र मेघों को पीडित करता हुआ प्रभूत अन्न प्रदान करता है। उपर्युक्त विश्लेषण में 'गोत्र' के साथ प्रायः 'अङ्गिरस्' शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है। गोपथ-ब्राह्मण अङ्गिरस् को 'अङ्ग+रस' से व्युत्पन्न मानता है।[७] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब शरीर के अङ्गों से रस प्रवाहित होना प्रारम्भ होता है, उस निर्वातकाल में वर्षा करने वाले मेघ सम्भवतः वेद की दृष्टि में 'गोत्र' हैं। उक्त अर्थ की प्रतीति किसी भी निर्वचन से होती दिखायी नहीं देती, अतः, वेदार्थ की दृष्टि से कोई भी निर्वचन सङ्गत नहीं है, फिर भी 'गो+'त्रा' वाली व्युत्पत्ति समीचीन प्रतीत होती है।

४. वलः

निघण्टुकोष के मेघवाचक गण में 'वलः' पद समाम्नात है।[८] आचार्य यास्क 'वल' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**वलो वृणोतेः**''[९] कि उदक को आच्छादित कर लेने के कारण मेघ को 'वल' कहते हैं। इस पक्ष में आच्छादनार्थक 'वृ' धातु से 'वल' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् मेघवाचक 'वल' शब्द का निर्वचन निम्नप्रकार करते हैं:-''**व्रियतेऽनेन दिश**

---

१ ऋ० ३.३०.२१. ''आ नो गोत्रा दर्दृहि गोपते गाः समस्मभ्यं सनयो यन्तु वाजाः।''

२ ऋ० ३.४३.७. ''यस्य मदे च्यावयसि प्र कृष्टीर्यस्य मदे अप गोत्रा ववर्थ।''

३ ऋ० ४.१६.८. ''स नो नेता वाजमा दर्षि भूरि गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः।''

४ ऋ० ६.६५.५. ''इदा हि त उषो अद्रिसानो गोत्रा गवामङ्गिरसो गृणन्ति।''

५ ऋ० ९.८६.२३. ''त्वं नृचक्षा अभवो विचक्षण सोमं गोत्रमङ्गिरोभ्योऽवृणोरप।''

६ ऋ० १०.१०३.७. ''अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः।''

७ गो०ब्रा०, १.१.७. ''तं वरुणं मृत्युमभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्यसर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत्, सोऽङ्गरसोऽभवत्तं वा एतमङ्गरस सन्तमङ्गिरा इत्याचक्षते।''

८ निघ० १.१०.४.

९ निरु० ६.२.

आकाशश्च मेघः पर्वतेनापि स्वशरीरेण भूमिराकाशश्च संव्रियते''[१] यह मेघ दिशा और आकाश को आवृत कर लेता है, इसलिये इसे 'वल' कहा जाता है। इसी प्रकार पर्वत भी अपने आकार से भूमि और आकाश को संवृत कर लेता है, अतः, वह भी 'वल' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'वृ' धातु से 'अप्' प्रत्यय होकर 'वलः' रूप निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा, 'वल' संवरणे''[२] कि संवरण अर्थ वाली 'वल' धातु से 'घ' प्रत्यय होकर 'वल' शब्द निष्पन्न होता है। इस पक्ष में 'वल' धातु से 'वल' रूप निष्पन्न होता है।

आचार्य सायण 'वल' का निर्वचन निम्न देते हैं:-**''वृणोत्याकाशमिति वलो मेघः''**[३] कि आकाश को आच्छादित करने के कारण मेघ को 'वल' कहते हैं। इस पक्ष में आवरणार्थक 'वृ' धातु से 'वल' रूप उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष अव्युत्पन्न 'वल' या 'बल' को मेघवाचक नामपद तथा वृत्रासुर की व्यक्तिपरक संज्ञा मानता है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'वल' को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'वल्' अथवा 'बल' धातु से 'वल' शब्द को निष्पन्न करने के पक्ष में है। उनके अनुसार यह शब्द ऋग्वेद में प्राकार, प्राचीर, कन्दरा या गोष्ठ अर्थ में प्रयुक्त है।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि यदि प्रारम्भ में 'ब' न होकर 'व' रहा हो, तो यह निर्वचन सम्भव है। वे उक्त निर्वचन को तुलनात्मक भाषा-विज्ञान द्वारा स्वीकार्य मानते हैं। उनके अनुसार भारोपीय भाषा में 'ṷer' बन्द करने के अर्थ में तथा ऐंग्लो सैक्सन में 'wer' सुरक्षा, सावधानी अर्थ में पाया जाता है।[७]

वैदिक साहित्य में 'वल' का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में मधुछान्दस जेतृ ऋषि इन्द्रस्तुति प्रकरण में कहते हैं कि इन्द्र ने गोमान् (किरणयुक्त) वल (मेघ) को अपावृत कर दिया। तब वल से भयभीत देव निर्भय होकर इन्द्र को प्राप्त कर सके।[८] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि सोम (उदक) रूपी अन्न को पीकर प्रगल्भ इन्द्र ने तीन परिधियों से घिरे हुए के समान वल (मेघ) को विदीर्ण कर दिया।[९] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि शक्तिमान् इन्द्र ने जिसमें व्रीह्यादिक विद्यमान हैं, ऐसे जल वाले वल (मेघ) को गर्जना से विदीर्ण कर दिया।[१०] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि अङ्गिरस्वान् इन्द्र ने सूर्य के समान चक्र को घुमाया और

---

१ निघ०वृ०, १.१०.४.

२ निघ०वृ०, १.१०.४.

३ ऋ० ३.३०.१०.

४ वै०पद०को०, पृ० २७६७.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ४६३.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९२७.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ७१.

८ ऋ० १.११.५. ''त्वं वलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम्। त्वां देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः।''

९ ऋ० १.५२.५. ''इन्द्रो यद्वज्री धृषमाणो अन्धसा भिनद्वलस्य परिधींरिव त्रितः।''

१० ऋ० १.६२.४. ''सरण्युभिः फलिगमिन्द्र शक्र वलं रवेण दरयो दशग्वैः।''

वल को छिन्न-भिन्न कर दिया।[१] एक अन्य स्थान पर गृत्समद ऋषि कहते हैं कि अध्वर्यु वाले इन्द्र ने विदीर्ण और भयभीत करने वाले मेघ को मारा तथा वल (मेघ) से निरुद्ध गायों (किरणों) को प्रकाशित होने के लिये जाने दिया।[२] गृत्समद ऋषि पुन: कहते हैं कि अङ्गार सदृश किरणों से स्तुति किये जाते इन्द्र ने वल को छिन्न-भिन्न कर दिया तथा मेघ के शिला के समान दृढ़ द्वारों को उद्घाटित किया।[३] ब्रह्मणस्पति की स्तुति करते हुए गृत्समद ऋषि कहते हैं कि ब्रह्मणस्पति ने अपने बल से किरणों को प्रक्षेपित, वल (मेघ) को विदीर्ण, तमस् को अदृश्य एवं आदित्य को प्रकट कर दिया।[४] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि अत्यधिक वृष्टि से प्रलय लाने में समर्थ गतिशील मेघ माध्यमिका वाणी को सुनकर मारे जाने से पहले शिथिल हो गया और उसने गायों के निकल जाने दिया।[५] वामदेव ऋषि कहते हैं कि उस बृहस्पति ने विशीर्ण स्वभाव वाले वल को सुस्तुत एवं अर्चनीय किरणसमूह के शब्द से भग्न कर दिया।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'वल' है, जो गोमान् है, इस 'वल' को इन्द्र सोमपान कर लेने के बाद विदीर्ण कर पाता है, इसी वल में व्रीह्यादि फल विद्यमान रहते हैं और अपने रव से सूर्य के चक्र के समान घुमाकर इन्द्र इस वल का वध करता है, अध्वर्यु ऋत्विजों की प्रार्थना पर भयभीत तथा विदीर्ण करने वाले वल का वध करके इन्द्र गायों (किरणों) को प्रकाशित होने के लिये मुक्त कर देता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मणस्पति (सूर्य) अपने तेज से किरणों को प्रक्षेपित, वलनामक मेघ को अपने रव से छिन्न-भिन्न तथा तमस् को अदृश्य करता है।

उपर्युक्त विश्लेषण में वल के साथ गो का सम्बन्ध प्रमुखता से प्रतिपादित हुआ है। इस आधार पर कह सकते हैं कि 'वल' वह मेघ है, जो गायों (सूर्यरश्मियों) को आच्छादित कर लेता है। इसके अतिरिक्त इसमें व्रीह्यादि फल भी अपिहित रहते हैं। उक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए संवरण अर्थ वाली 'वृ' अथवा 'वल' धातु को 'वल:' पद का मूल माना जा सकता है।

५. अश्न:

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'अश्न:' पद समाम्नात है।[७] आचार्य यास्क 'अश्न:' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अश्ना अशनवता**''[८] कि व्याप्त होने के स्वभाव वाला होने के कारण मेघ 'अश्न' नाम से अभिहित होते हैं।

आचार्य देवराजयज्वन् 'अश्न' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-''अशू' व्याप्तौ'। 'अश' भोजने'।

---

१ ऋ० २.११.२०. ''अवर्तयत्सूर्यो न चक्रं भिनद्वलमिन्द्रो अङ्गिरस्वान्।''

२ ऋ० २.१४.३. ''अध्वर्यवो यो दृभीकं जघान यो गा उदाजदप हि वलं व:।''

३ ऋ० २.१५.१८. ''भिनद्वलमङ्गिरोभिर्गृणानो वि पर्वतस्य दृंहितान्यैरयत्।''

४ ऋ० २.२४.३. ''उद्गा आजदभिनद् ब्रह्मणा वलमगूहत्तमो व्यचक्षयत्स्व:।''

५ ऋ० ३.३०.१०. ''अलातृणो वल इन्द्र व्रजो गो: पुरा हन्तोर्भयमान व्यार।''

६ ऋ० ४.५०.५. ''स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण।''

७ निघ० १.१०.५.

८ निरु० १०.१२.

उभावपि व्याप्नुत आकाशमश्नीतश्चोदकम्, एको वर्षितव्यमपरो वृष्टम्''[१] कि पर्वत और मेघ दोनों ही आकाश को व्याप्त और उदक का भोग करते हैं। इनमें से एक वर्षणीय है और एक वृष्ट है। इस पक्ष में व्याप्ति या भोजन अर्थ वाली 'अश्' धातु से औणादिक 'नक्' प्रत्यय होकर 'अश्नः' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य सायण 'अश्नः' का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**अश्नाति भक्षयति प्राणिजातमिति। यद्वा, अश्नुते स्वतेजसा सर्वं व्याप्नोतीत्यश्नः कश्चिदसुरः**''[२] कि यह सम्पूर्ण प्राणियों का भक्षण अथवा यह कोई असुर अपने तेज से सबको व्याप्त कर लेता है, अतः, इसे 'अश्नः' कहते हैं। इस पक्ष देवराजयज्वन् के समान रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अश्नः' पद का मूल 'अश' व्याप्तौ' धातु को मानते हैं।[३] मोनियर विलियम्स 'अश्न' एक असुर का नाम मानते हैं। उनके अनुसार 'अश' भोजने' धातु से 'अश्नः' पद व्युत्पन्न होता है।[४]

वैदिक साहित्य में 'अश्नः' पद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में दीर्घतमस् ऋषि विश्वदेवों की स्तुति करते हुए कहते हैं कि इस सेवनीय, पालन करने वाले, आह्वनीय आदित्य का मध्यमस्थानी भ्राता (रस का हरण करने वाला) और अश्न (आकाश को व्याप्त करने के स्वभाव वाला होने से मेघ 'अश्न') है।[५] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि वर्षा करने वाला यह इन्द्र स्वयं प्राप्त हव्य से अपनी अर्चना करता है और जिस प्रकार पिपासायुक्त तीव्रगामी मृग पानी की ओर दौड़ता है, उसी प्रकार यह इन्द्र हवि की ओर भागा हुआ आता है।[६] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि स्तूयमान इन्द्र सूर्य के द्वारा उषा का अपहरण करता हुआ अश्न (मेघों) के पूर्व बलों को शिथिल कर देता है।[७] वामदेव ऋषि इन्द्र और सोम देवों से प्रार्थना करते हैं कि वे अपिहित मेघों को चारों ओर व्याप्त करते हुए पृथिवियों पर वर्षा कर उनके दुःख का विनाश करें।[८] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि जरा रहित, पावक अग्नि को अपने प्रकाश से सबको व्याप्त करने और अश्न (मेघ) के पूर्व बलों को नष्ट करने वाला मानते हैं।[९] एक अन्य स्थान पर गृत्समद ऋषि अश्न को बृहस्पति के तप से विद्ध होने वाला बतलाते हैं।[१०] आङ्गिरस ऋषि कहते हैं कि अशनवान् मेघ के द्वारा अपिहित मधु (उदक) को बृहस्पति ने ठीक उसी प्रकार देख लिया, जिस प्रकार क्षीणप्राय उदक में जिघृक्षु मत्स्य को देख लेता है। जिस प्रकार कुशल शिल्पी काटकर वृक्ष में से यज्ञपात्र निकाल लेता है, उसी प्रकार बृहस्पति ने भीषण गर्जना करने

---

१ निघ०वृ०, १.१०.५.

२ सायणभाष्य, ऋ० २.१४.५.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ६६, ६७. वै०पद०को०, पृ० ५७१.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ११४.

५ ऋ० १.१६४.१. ''अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।''

६ ऋ० १.१७३.२. ''अर्चद्वृषा वृषभिः स्वेदुर्हव्यैर्मृगो नाश्नो अति यज्जुगुर्यात्।''

७ ऋ० २.२०.५. ''मुष्णन्नुषसः सूर्येण स्तवानश्नस्य चिच्छिश्नथत्पूर्व्याणि।''

८ ऋ० ४.२८.५. ''आदर्दृतमपिहितान्यश्ना रिरिचथुः क्षश्चित्ततृदाना।''

९ ऋ० ६.४.३. ''वि य इनोत्यजरः पावकोऽश्नस्य चिच्छिश्नथत्पूर्व्याणि।''

१० ऋ० २.३०.४. ''बृहस्पते तपुषाश्नेव विध्य।''

से विक्लव और विशलीकृत मेघ में से सम्पूर्ण मधु को हर लिया।[१] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि अध्वर्यु वाले इन्द्र ने जिसका किसी अन्य के द्वारा शोषण सम्भव नहीं है, ऐसे अश्न (मेघ) का अंस से रहित करके अच्छी प्रकार वध किया।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'अश्न' है, जो मध्यमस्थानी, आदित्य का भ्राता (रस का हरण करने वाला) और अश्न (आकाश को व्याप्त करने का स्वभाव वाला) है, यह पिपासाकुल मृग के समान स्वयं व्याप्त हो जाता है, इसीके पूर्व बलों को इन्द्र और अग्नि शिथिल करते हैं। इसके अतिरिक्त वेद 'अश्न' नामक मेघों को अपिहित स्वभाव वाला बतलाता है और बृहस्पति इस अपिहित स्वभाव वाले अश्न के मधु को क्षीण जल में मत्स्य के समान देखकर इसके उदक का हरण कर लेता है। उक्त विश्लेषण को ध्यान में रखते हुए 'अश्न' नामक मेघों की दो विशेषतायें परिलक्षित होती हैं, प्रथम-व्यापनशीलता तथा द्वितीय-अपिहित स्वभाव वाला होना। प्रथम विशेषता के आधार पर 'अश' व्याप्तौ' धातु को 'अश्नः' पद का मूल माना जा सकता है, जबकि द्वितीय विशेषता को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि एक सीमा तक व्याप्ति अर्थ वाली 'अश' धातु से उक्त अर्थ भी प्रतिबिम्बित हो जाता है, क्योंकि व्यापनशीलता प्रायः अदृश्यपरक होती है।

६. पुरुभोजाः

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'पुरुभोजः' पद समाम्नात है।[३] आचार्य देवराजयज्वन् 'पुरुभोज' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**पुरु बहु प्राणिजातं भुनक्ति पालयति वृष्टिप्रदानेन मेघः**"[४] कि यह मेघ वृष्टि के द्वारा बहुत प्राणियों का पालन-पोषण करता है, अतः, इसे 'पुरुभोजः' कहते हैं। इस पक्ष में 'पुरु' पूर्ववाली 'भुज्' धातु से 'असुन्' प्रत्यय होकर 'पुरुभोजस्' रूप निष्पन्न होता है।

(ख)"**पुरु अभ्यवहरति, बहुभिर्भुज्यते पाल्यते अभ्यवह्रियते वा**"[५] कि यह बहुत अधिक भक्षण करता है, अतः, मेघ को 'पुरुभोजः' कहते हैं, अथवा इसका बहुतों के द्वारा पालन होता है, अतः, पर्वत को 'पुरुभोज' कहते हैं। इस पक्ष में रूपसिद्धि पूर्ववत् होती है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'पुरुभोजस्' पद को अश्विन्, इन्द्र प्रभृति का विशेषणपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद में स्थित 'पुरु' शब्द की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'पुरुभोजस्' में से 'पुरु' को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स 'पुरु' का मूल 'पृ' धातु को स्वीकार करते हुए ऋग्वेद के

---

१ ऋ० १०.६८.८. "अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्। निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य।"

२ ऋ० २.१४.५. "अध्वर्यवो यः स्वश्नं जघान यः शुष्णमशुषं यो व्यंसम्।"

३ निघ० १.१०.६.

४ निघ०वृ०, १.१०.६.

५ निघ०वृ०, १.१०.६.

६ वै०पद०को०, पृ० २०४६.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० ३२५.

आधार पर 'पुरुभोजः' का अर्थ आनन्द के अनेक साधनों से युक्त या बहुत अधिक पुष्टिप्रदाता मानते हैं। उनके अनुसार निघण्टुकोषकार के मत में उक्त पद का अर्थ मेघ है।[१]

वैदिक साहित्य में 'पुरुभोज' का प्रयोग विरल हुआ है। ऋग्वेद में मात्र ६ बार उक्त पद का उल्लेख देखने को मिलता है। विश्वामित्र ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं कि इन्द्र ने अश्व, सूर्य, गमनशील पुरुभोजस् (सबको पूर्ण भोजन देने वाला) को प्रदान किया।[२] वसिष्ठ ऋषि अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि वह सुकर्मा अग्नि प्रशस्त व्यवहार वालों के द्वारों को पवित्र करता हुआ, हमें अर्चनीय पुरुभोजस् (मेघ) प्रदान करता है।[३] एक अन्य स्थान पर वसिष्ठ ऋषि उषा के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह हमारे लिये गायें, वीरपुत्र, रत्न एवं पुरुभोजस् (मेघ) देती है।[४] प्रस्कण्व ऋषि कहते हैं कि इस पुरुभोजस् के दिये गये दान जगत् को ऐसे तृप्त करते हैं, जैसे मेघ से प्राप्त जल।[५] नोधा ऋषि इन्द्र से दीप्तियों के निवासस्थान, उत्तम बल के प्रदाता, पर्वत के समान अनेकों को भोजन देने वाले वाज को देने की प्रार्थना करते हैं।[६] उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह मेघ 'पुरुभोजस्' है, जो सबको पुष्टि प्रदान करने वाला है, जिस प्रकार इन्द्र के ऐश्वर्यदान को पाकर प्राणी की अन्तरात्मा तृप्ति का अनुभव करती है, उसी प्रकार 'पुरुभोजस् (मेघ) के उदक को पाकर प्राणी तृप्त हो जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उक्त पद का जो निर्वचन आचार्य देवराजयज्वन् ने दिया है, वह वेदार्थ को ध्यान में रखते हुए युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। इस आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि जो पूर्ण भोजन प्रदान करता है या सबको भोजन प्राप्त कराता है, वह मेघ 'पुरुभोजः' है।

७. वलिशानः

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'वलिशानः' पद पठित है।[७] आचार्य देवराजयज्वन् 'वलिशानः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**संवृण्वन्नाकाशमीष्टे वर्षितुम्, पर्वतोऽपि स्वभोगेन भूमिमाकाशं संवृण्वन्नीष्टे दुर्भिक्षादेर्मनुष्यादीन् रक्षितुं वलीशान इति**"[८] कि यह मेघ आकाश को आच्छादित करके वर्षा करने में समर्थ होता है, अतः, मेघ को 'वलिशानः' कहते हैं। इसी प्रकार पर्वत भी अपने आकार से भूमि और आकाश को व्याप्त करके दुर्भिक्ष आदि से मनुष्यादि की रक्षा करने में समर्थ होता है, अतः, वह भी 'वलिशानः' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'वल' संवरणे' तथा 'ईश' ऐश्वर्ये' इन दोनों धातुओं से

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ६३६.

२ ऋ० ३.३४.९. "ससानात्याँ उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम्।"

३ ऋ० ७.९.२. "स सुक्रतुर्यो वि दुरः पणीनां पुनानो अर्कं पुरुभोजसं नः।"

४ ऋ० ७.७५.८. "नू नो गोमद्वीरवद्धेहि रत्नमुषो अश्वावत्पुरुभोजसो अस्मे।"

५ ऋ० ८.४९.२. "गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः।"

६ ऋ० ८.८८.२. "द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम्।"

७ निघ० १.१०.७.

८ निघ०वृ०, १.१०.७.

'शानच्' प्रत्यय होकर 'वलिशानः' पद व्युत्पन्न होता है। मोनियर विलियम्स 'वलिशानः' पद का मूल 'वल' धातु को मानते हैं।[१]

वैदिक साहित्य में 'वलिशानः' पद का प्रयोग सर्वथा उपलब्ध नहीं होता है।[२] इस कारण उक्त पद के स्वरूप का निर्धारण कर पाना सम्भव नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि निघण्टुकार के काल में उक्त पद का वैदिक साहित्य में अवश्य उल्लेख प्राप्त होता था, भले ही उसके अभाव का चाहे जो कारण रहा हो, लेकिन हम कह सकते हैं कि उस साहित्य का आज अभाव है।

८. अश्मा

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'अश्मा' पद समाम्नात है।[३] शतपथ-ब्राह्मण 'अश्मन्' का निर्वचन करता हुआ कहता है:-''**अथ यदश्रु सङ्क्षरितमासीत्सोऽश्मा पृश्निरभवदश्रुर्हवै तमश्मा इत्याचक्षते परोऽक्षम्**''[४] कि अश्रु सङ्क्षरित होने से वह अश्मा पृश्नि कहलाता है। अश्रु को ही परोक्ष में 'अश्मा' नाम से अभिहित करते हैं। सामान्यतया लोक और वेद में वाष्पीकृत वारि अश्रु कहलाता है। ब्राह्मण के कथन का यह अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि पृश्नि (आदित्य) द्वारा उदक को वाष्पीकृत रूप में परिणत कर देने पर निर्मित होने वाले मेघ अश्मा हैं, क्योंकि वे अश्रु के समान प्रवाहित होते हैं।

आचार्य यास्क 'अश्म' का निम्न निर्वचन निम्न देते हैं:-''**अश्म, अशनवन्तमास्यन्दनवन्तम्**''[५] कि व्यापनशील एवं प्रक्षरण स्वभाव वाला होने से मेघ को 'अश्म' कहते हैं। इस पक्ष में व्याप्ति अर्थ वाली 'अश्' धातु से 'अश्म' शब्द उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् मेघवाचक 'अश्मन्' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**उभावपि व्याप्नुत आकाशमश्नीतश्चोदकम्, एको वर्षितव्यमपरो वृष्टम्**''[६] कि मेघ और पर्वत दोनों ही आकाश को व्याप्त और उदक का भक्षण करते हैं, इनमें से एक वर्षणीय है और दूसरा वृष्ट है। इस पक्ष में आचार्य देवराजयज्वन् 'अश' व्याप्तौ' तथा 'अश' भोजने' दोनों धातुओं से 'अश्मन्' शब्द को निष्पन्न करने के पक्ष में हैं।

आचार्य सायण 'अश्मन्' का निम्न निर्वचन करते हैं:-''**अश्नोति व्याप्नोत्यन्तरिक्षमित्यश्मा मेघः**''[७] कि अन्तरिक्ष को व्याप्त करने के कारण मेघ को 'अश्मा' कहते हैं। इस पक्ष में व्याप्ति अर्थ वाली 'अश्' धातु से 'अश्मा' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अश्मन्' पद को प्रस्तर, वज्र, आकाश, प्रभृति अर्थ का वाचक नामपद मानता है। कोशकार के मत में उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है, लेकिन उणादिकोष 'अश्'+मनिन्' से व्युत्पन्न

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९२८.

२ वैदिक-पदानुक्रम-कोष.

३ निघ० १.१०.८.

४ शत०ब्रा०, ६.१.२.३.

५ निरु० १०.१३.

६ निघ०वृ०, १.१०.८.

७ ऋ० २.१२.३.

करता है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अश्मन्' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स 'अश्मा' पद का मूल 'अश' भोजने' धातु को मानने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद पाषाण, शिला, बहुमूल्य रत्न, पाषाण निर्मित यन्त्र अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि भारोपीय भाषा में 'ak' तीक्ष्ण अर्थ में तथा ग्रीक में 'akmon' यह लोहे के खण्ड अर्थ में है। वे उक्त निर्वचन को पुरातन, भ्रान्तिपूर्ण तथा भाषा-विज्ञान के अविकसित एवं वैदिक साहित्य के पर्याप्त शोध के अभाव में अभी अनिर्णीत मानते हैं।[४]

वैदिक साहित्य में अश्मन्' शब्द का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में अगस्त्य ऋषि प्रशंसित दान करने वाले मरुद्गण की हिंसा करने वाली ऋष्टि से दूर रहने तथा प्रक्षेपित किये जाने वाले अश्मा (मेघ) के समीप रहने की प्रार्थना करते हैं।[५] गृत्समद ऋषि स्तूयमान इन्द्र से ऊपर अन्तरिक्ष में स्थित मेघ (अश्मा) को नीचे प्रक्षेपित करने का निवेदन करते हैं।[६] एक अन्य स्थान पर गृत्समद ऋषि उद्भासक अग्नि को प्रकाशमान दिवस, उदक और अश्मन् (मेघ) से उत्पन्न होने वाला बतलाते हैं।[७] वामदेव ऋषि कहते हैं कि इन पवनों ने अपने वचनों (वातगति शब्दों) से मेघों को छिन्न-भिन्न कर दिया और कामना करते हुए इन्होंने गो (किरण) से युक्त व्रज को पा लिया।[८] बभ्रु ऋषि कहते हैं कि इन्द्र ने अपने बल से अश्मा को खण्डित कर गतिशील किरणों के समूह को प्राप्त कर लिया।[९] आत्रेय ऋषि द्युलोक के मध्य में स्थित पृश्नि (आदित्य) को लोक का पालन करने के लिये मेघ को आक्रान्त करने वाला मानते हैं।[१०] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि अश्मा (मेघ) के अन्तस् में अपिहित किरणों को आनन्द के लिये मुक्त करने की इन्द्र से प्रार्थना करते हैं।[११] परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि इन्द्र ने द्युलोक के गोपनीय स्थान (गुहा) में स्थापित निधि को अनन्त अश्मन् (मेघ) के अन्तस् में पा लिया, जिस प्रकार पक्षी अपने शिशु को प्राप्त कर लेता है।[१२] कक्षीवान् ऋषि इन्द्र से ऋभु द्वारा आनीत लोहसदृश मेघ को गतिशील अन्तरिक्षलोक से वर्षा करने के लिये प्रेरित करने की प्रार्थना करते हैं।[१३] वसिष्ठ

---

१ वै०पद०को०, पृ० ५७७.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ६७.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ११४.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ७४, ११५.

५ ऋ० १.१७२.२. "आरे सा वः सुदानवो मरुत ऋञ्जती शरुः। आरे अश्मा यमस्यथ।"

६ ऋ० २.३०.५. "अव क्षिप दिवो अश्मानमुच्चा येन शत्रुं मन्दसानो निजूर्वाः।"

७ ऋ० २.१.१. "त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।"

८ ऋ० ४.१६.६. "अश्मानं चिद्ये बिभिदुर्वचोभिर्व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः।"

९ ऋ० ५.३०.४. "अश्मानं चिच्छवसा दिद्युतो वि विदो गवामूर्वमुस्रियाणाम्।"

१० ऋ० ५.४७.३. "मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तौ।"

११ ऋ० ६.४३.३. "यस्य गा अन्तरश्मनो मदे दृळ्हा अवासृजः। अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिब।"

१२ ऋ० १.१३०.३ "अविन्दद्दिवो निहितं गुहां निधिं वेर्न गर्भं परिवीतमश्मन्यनन्ते अन्तरश्मनि।"

१३ ऋ० १.१२१.९. "त्वमायसं प्रति वर्त्तयो गोर्दिवो अश्मानमुपनीतमृभ्वा।"

ऋषि इन्द्र से अन्तरिक्ष में स्थित मेघ को प्रेरित करने के लिये कहते हैं।[१] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि जो मेघों के मध्य वैद्युत अग्नि और सङ्ग्रामों में शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करता है, वह इन्द्र है।[२] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि वृत्र का शरीर ही गिरि और अश्मा है।[३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'अश्मा' है, जिसे इन्द्र या मरुद्गण अन्तरिक्ष से नीचे पृथ्वी पर प्रक्षेपित करते हैं, इसी अश्मा से अग्नि का जन्म होता है, यही मेघ वायुदेव की गति से होने वाली ध्वनि से छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, कभी लोक का पालन करने के लिये पृश्नि (आदित्य) इनको आक्रान्त करती है, कभी इन्द्र इसी अश्मा से वैद्युत अग्नि को प्रकट करता है। इसके अतिरिक्त अश्मा के अन्तस् में किरणें दृढ़रूप से अपिहित रहती हैं और इसीके अन्तस् से इन्द्र इन्हें प्राप्त भी कर लेता है।

उक्त विश्लेषण के आधार पर वे मेघ अश्मा हैं, जिनसे अग्नि या विद्युत् का जन्म होता है और जिनके अन्तस् में स्थित किरणों को इन्द्र प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त ये मेघ बहुत ऊपर स्थित होने वाले मेघ हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि वेद की दृष्टि से कोई भी निर्वचन बहुत समीचीन नहीं है। फिर भी 'अश' व्याप्तौ' धातु वाला निर्वचन किसी सीमा तक स्वीकार्य हो सकता है।

९. पर्वतः

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'पर्वत' नामपद परिगणित है।[४] आचार्य यास्क 'पर्वत' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**पर्ववान् पर्वतः**"[५] कि शिलासन्धि से युक्त होने के कारण गिरि को 'पर्वत' कहते हैं। आगे पर्वत के 'पर्व' को भाग को स्पष्ट करते हुए यास्क कहते हैं-"**पर्व पुनः पृणातेः, अर्धमासपर्व देवान् अस्मिन् प्रीणयन्ति**"[६] कि शिलाशिखर सन्धियाँ इसको पूर्ण करती हैं, अथवा पाक्षिक पर्वों पर देवताओं को प्रसन्न किया जाता है, अतः, गिरिखण्ड को 'पर्व' कहा जाता है। इस पक्ष में पूरणार्थक 'पॄ' अथवा तृप्त्यर्थक 'प्री' धातु से 'पर्व' शब्द और उससे मत्वर्थीय 'तप्' प्रत्यय होकर 'पर्वत' शब्द उपपन्न होता है। आचार्य देवराजयज्वन् मेघवाचक 'पर्वत' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**पृणन्ति पालयन्ति अवयविनं पूर्य्यन्ते वा तेन इति पर्वाणि। यद्वा, प्रीणयन्ति स्वाश्रयमिति। पर्वाण्यवयवाः सन्त्यस्य इति**"[७] कि अवयवी का पालन या पूर्ण अथवा स्वाश्रय को तृप्त करने के कारण अवयव को 'पर्व' कहते हैं। इन पर्वों से युक्त होने के कारण यह 'पर्वत' कहलाता है। इस पक्ष में 'पॄ' धातु से 'वनिप्' प्रत्यय होकर 'पर्व' और उससे मत्वर्थीय 'तप्' प्रत्यय होने से 'पर्वत' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(ख)"यद्वा, पर्व पूरणे'। पर्वति पूरयति वर्षेण भूमिं स्वशरीरेणाकाशं वा पर्वतोऽपि

---

१ ऋ० ७.१०४.१९. "प्र वर्तय दिवो अश्मानमिन्द्र।"

२ ऋ० २.१२.३. "यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः।"

३ शत०ब्रा०, ३.४.३.१३; ९.४.२; ४.२.५.१५. "तस्य (वृत्रस्य) एतच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानः।"

४ निघ० १.१०.९.

५ निरु० १.२०.

६ निघ०वृ०, १.१०.९.

७ निघ०वृ०, १.१०.९.

निर्झरनदीप्रवाहादिना भूमिं स्वोन्नत्याकाशञ्च पूरयति''[१] कि मेघ वर्षा से भूमि तथा अपने शरीर से आकाश को पूरित कर देता है, इसी प्रकार पर्वत भी निर्झर, नदी आदि के प्रवाह से भूमि तथा अपनी ऊँचाई से आकाश को भर देता है, अतः, इन्हें 'पर्वत' कहा जाता है। इस पक्ष में 'पर्व' धातु से 'अतच्' प्रत्यय करने से 'पर्वत' शब्द निष्पन्न होता है।

(ग)''यद्वा, प्रीणयन्ति स्वाश्रयमिति''[२] कि अपने आश्रय को तृप्त करते हैं, अतः, गिरि और मेघ को 'पर्वत' कहा जाता है। इस पक्ष में 'प्री' धातु से 'वनिप्' प्रत्यय करने से 'पर्व' तथा उससे मत्वर्थीय 'तप्' प्रत्यय होकर 'पर्वत' पद उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'पर्वत' पद को मेघ, शिखरिन् का वाचक नामपद मानता है। कोशकार के मत में 'वृष् (उच्छ्रायोन्दनयोः)=वर्ष्मन् (शिखर, जल)=पर्वन्=पर्वत' इस प्रकार उक्तपद व्युत्पन्न होता है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'पर्वत' शब्द को अव्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स के अनुसार ऋग्वेद में 'पर्वत' शब्द कहीं ग्रन्थिल, नतोन्नत पर्वत प्रदेश के अर्थ में और कहीं पर्वत माला, शैल, या उपगिरि अर्थ में आया है। उनके अनुसार उक्त पद का मूल 'पर्व' धातु है।[५] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा यास्कीय निर्वचन के सम्बन्ध में कहते हैं कि भारोपीय भाषा में 'per' ग्रन्थि अर्थ में तथा ग्रीक भाषा में 'peirenante' ग्रन्थि बन्धन अर्थ में पाया जाता है। उनके अनुसार उक्त निर्वचन भाषा-विज्ञान के द्वारा पूर्ण रूप से स्वीकार करने के योग्य है।[६] वैदिक साहित्य में 'पर्वत' शब्द का विपुल प्रयोग पाया जाता है। ऋग्वेद में हिरण्यस्तूप ऋषि इन्द्र का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह अहि (मेघ) को मारकर नीचे गिराता है और नदियों को प्रवाहित करने के लिये मेघों (पर्वतों) का भेदन करता है।[७] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में हिरण्यस्तूप ऋषि इन्द्र को मेघमण्डल (पर्वत) में आश्रय लेने वाले अहि (मेघ) का हन्ता तथा त्वष्टा (सूर्य) को इन्द्र के लिये गर्जना करने वाले वज्र का निर्माण करने वाला बतलाते हैं।[८] उक्त मन्त्र में पर्वत और अहि का भेद करते हुए बताया गया है कि मेघमण्डल पर्वत है, जबकि मेघ अहि है। काण्व मेधातिथि ऋषि मरुद्गणों को मेघों (पर्वत) को छिन्न-भिन्न और उदकयुक्त समुद्र में संक्षोभ (तिरस्कार) उत्पन्न करने वाले के रूप में चित्रित करते हैं।[९] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि उदकों को धारण करने वाले कुटिल अन्धकाररूप वृत्र के उदर प्रदेश में मेघ (पर्ववाला)

---

१ निघ०वृ०, १.१०.९.

२ निघ०वृ०, १.१०.९.

३ वै०पद०को०, पृ० १९६२.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ३१४.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ६०९.

६ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ४७.

७ ऋ० १.३२.१. ''अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम्।''

८ ऋ० १.३२.२. ''अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।''

९ ऋ० १.१९.७. ''य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम्। मरुद्भिरग्न आ गहि।''

स्थित हैं।[१] प्रस्तुत मन्त्र की व्याख्या करते हुए सायण कहते हैं कि तमोरूप वृत्र के द्वारा मेघ को आवृत कर लेने से वृष्ट्युदक भी आवृत कहा जाता है। इस प्रकार मन्त्र में वृत्र और पर्वत में भेद प्रतिपादित कर दिया है, जो अन्धकार से आवृत करता है, वह 'वृत्र' है तथा जो अनेक मेघों से पर्व वाला हो गया है, वह 'पर्वत' है। इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में आङ्गिरस सव्य ऋषि इन्द्र को उदकों के आच्छादक मेघों को दूर करने वाला तथा मेघ में दान देने योग्य वसु (जल) को धारण करने वाला बतलाते हैं।[२] राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि मरुद्गण ने अपने बल से उस मेघ को ऊपर ले जाकर छिन्न-भिन्न कर दिया।[३] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि इन्द्र उदक को बढ़ाने वाले सुवर्णमय रथ के चक्रों से पर्वतों (मेघों) को अपने स्थान से नीचे गिराते हैं, जैसे मार्ग में चलने वाला पथिक तृणवृक्षादिक को चूर्णीकृत करके नीचे गिरा देता है।[४] अगस्त्य ऋषि पालन करने वाली ओषधि के विषय में कहते हैं कि उसका यह रूप विवासनात्मक पर्वतों (मेघों) से प्राप्त होता है।[५] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि वर्षा में सावधान मेघ आकाश में स्थित हैं। माध्यमिका वाक् से गर्जना करने पर वह इधर-उधर सञ्चार करता है।[६] ब्राह्मणग्रन्थ पर्वत के विषय में अभिमत प्रकट करता हुआ कहता है कि प्रजापति के ज्येष्ठ पुत्र पर्वत पक्षीरूप थे, वे जहाँ चाहते थे, वहाँ परापतित हो जाते थे, उस समय यह पृथ्वी शिथिल थी, इन्द्र ने पर्वतों के पक्षों का छेदन कर दिया और उससे इसको स्थिर किया।[७] उक्त उद्धरण में पर्वतों को पक्षी तथा इन्द्र को उनके पक्षों के छेत्ता कहने का कारण यह है कि वेद में मेघमण्डल को पर्वत नाम से अभिहित किया गया है तथा इन्द्र उनके हन्ता के रूप में चित्रित हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'पर्वत' है, जिसका वध करके इन्द्र उदक को नीचे गिराता है, नदियों को प्रवाहित करता है, मरुद्गण इन्हीं पर्वतों को ऊपर ले जाकर छिन्न-भिन्न करते हैं, इन्द्र इसी पर्वत (मेघमण्डल) पर स्थित अहि का वध करता है, तमोरूप वृत्र के उदर प्रदेश में निवास करने वाला यही पर्वत (मेघों का समूह) है, समय आने पर इन आच्छादक पर्वतों को इन्द्र दूर करता है एवं कभी सुवर्णमय रथ के चक्रों से इन्हें नीचे गिराता है।

उक्त विश्लेषणात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि वेद में मेघों का समूह पर्वत नाम से अभिहित हुआ है। वेद ने प्रसङ्गवश वृत्र, पर्वत और अहि के स्वरूप को भी प्रस्तुत विवेचन में स्पष्ट कर दिया है। जो अन्धकार से आवृत करता है, वह 'वृत्र' है तथा जो अनेक मेघों से पर्व वाला हो गया है, वह 'पर्वत' है। इसी प्रकार मन्त्र में पर्वत और अहि के भेद स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि मेघमण्डल पर्वत है, जबकि मेघ अहि

---

१ ऋ० १.५४.१०. ''अपामतिष्ठद्धरुणह्वरं तमोऽन्तर्वृत्रस्य जठरेषु पर्वतः।''

२ ऋ० १.५१.४. ''त्वमपामपिधानावृणोरपाधारयः पर्वते दानुमद्वसु।''

३ ऋ० १.८५.१०. ''ऊर्ध्वं नुनुद्रेऽवतं त ओजसा दादृहाणं चिद्बिभिदुर्वि पर्वतः।''

४ ऋ० १.६४.११. ''हिरण्ययेभिः पविभिः पयोवृध उज्जिघ्नन्त आपथ्यो३ न पर्वतान्।''

५ ऋ० १.१८७.७. ''यददो पितो अजगन्विवस्व पर्वतानाम्।''

६ ऋ० २.११.८. ''नि पर्वतः साधप्रयुच्छन्त्सं मातृभिर्वावशानो अक्रान्।''

७ काठ०सं० ३६.७. (तु०,मै०सं० १.१०.१३.) ''प्रजापतेर्वा एतज्ज्येष्ठं तोकं यत्पर्वतास्ते पक्षिण आसꣳस्ते यत्र यत्राकामयन्त तत् परापातमासताथ वा इयं (पृथिवी) तर्हि शिथिलासीत्, तेषामिन्द्रः पक्षानच्छिनत् तैरिमामदृꣳहत्।''

है। उक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि जो निर्वचन निर्वचनकारों ने किये हैं, वे सर्वथा उचित प्रतीत होते हैं।

१०. गिरि:

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'गिरि' पद समाम्नात है।[१] आचार्य यास्क 'गिरि' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**गिरि: पर्वत: समुद्गीर्णो भवति**''[२] कि यह पर्वतभूमि से बाहर निकला हुआ होता है, अत:, इसे 'गिरि' कहते हैं। इस पक्ष में 'सम्+उद्+'गॄ' से गिरि शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् मेघवाचक 'गिरि' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**गिरत्युदकं वर्षितुम्**''[३] कि यह वर्षा करने के लिये उदक का निगरण करता है, अत:, मेघ को गिरि कहते हैं। इस पक्ष में 'गॄ' निगरणे' धातु से 'गिरि' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''**समुद्गिरति जलं वृष्टिसमये। समुद्गीर्ण इति वा अन्तरिक्षेण**''[४] कि यह वृष्टि के समय उदक को निर्गलित करता है अथवा यह अन्तरिक्ष से उद्गीर्ण (बाहर निकला हुआ) होता है, अत:, मेघ को गिरि कहते हैं। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

(ग)''**यद्वा, 'गॄ' शब्दे'। 'गृणाति' स्तुतिकर्मा'**(निरु०,३.५.)। **गृणाति गर्जितलक्षणं शब्दं करोति स्तूयते वा वर्षार्थिभिरिति गिरि: मेघ:**''[५] कि यह गर्जना लक्षण वाले शब्द को करता है अथवा वर्षा की कामना करने वाले इसकी स्तुति करते हैं, अत:, मेघ को 'गिरि' कहते हैं। इस पक्ष में स्तुत्यर्थक 'गॄ' या 'गॄ' धातु से 'गिरि' शब्द उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गिरि' पद की अर्थ और व्युत्पत्ति दोनों को सन्दिग्ध मानता है। लेकिन '**गॄ शब्दे वाऽदने वा**' धातु से उक्तपद के व्युत्पन्न होने का सम्भावना प्रकट करता है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'गिरि' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स 'गिरि' पद का मूल 'गॄ' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद पर्वत, शिला आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वे कहते हैं कि यह शब्द स्लेवानिक भाषा में 'gora' तथा अफगानी में 'घुर' है।[८] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि 'गिरि' शब्द भारोपीय भाषा में 'geuri' पर्वत अर्थ में तथा अवेस्ता में 'gauri' पर्वत अर्थ में है। वे इस निर्वचन को यास्क के '**सर्वाणि नामान्याख्यातजानि**' सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं।[९] उणादिकोष के अनुसार 'गॄ' धातु से 'गिरि' शब्द व्युत्पन्न

---

१ निघ० १.१.१०.
२ निरु० १.२०.
३ निघ०वृ०, १.१.१०.
४ निघ०वृ०, १.१.१०.
५ निघ०वृ०, १.१.१०.
६ वै०पद०को०, पृ० १२२३.
७ ऋ०वै०पद०, पृ० १८५.
८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३५५.
९ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ८७.

होता है।[१]

वैदिक साहित्य में 'गिरि' शब्द का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में घौर काण्व ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार मरुत् से पर्ववान् और निगीर्ण स्वभाव वाला मेघ भाग जाता है, उसी प्रकार नियमन के लिये राज्य दण्ड को धारण करने वाले मनुष्य के भय से दुष्ट मनुष्य भाग जाते हैं।[२] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार मरुत् अपने बल से मेघों को इधर-उधर जाने के लिये प्रेरित करते हैं, उसी प्रकार राजदण्ड धारण करने वाले से प्रेरित होकर लोग विभिन्न कार्यों में संलग्न होते हैं।[३] पराशर ऋषि कहते हैं कि यह अग्नि अभिमत फल देने वाले के समान रमणीय, क्षिति के समान विस्तीर्ण, मेघ के समाान भोजयिता और जल के समान सुखकर है।[४] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार विद्युत् अपने तेज से मेघ को प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार दक्ष, ज्ञानवान् एवं बलवान् मनुष्य को कन्या प्राप्त करती है।[५] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार मेघों के शिखर विद्युत् शक्ति के बल से देदीप्यमान होते हैं, उसी प्रकार शीघ्र सुख देने वाली, पुरुषार्थ कर्म करने के कारण अनिन्द्य कन्या अपने दुःखनाशक बल से दीप्त होती है।[६] परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि जिसके आने का समय निश्चित नहीं है, ऐसे निगरण करने वाले शम्बर (मेघ) को इन्द्र नीचे की ओर मुख करके उँडेल देता है।[७] दीर्घतमस् ऋषि विष्णु के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सिंह के समान भयङ्कर, सर्वत्र व्याप्त एवं मेघों में विद्यमान रहने वाला यह विष्णु पराक्रम से स्तुत किया जाता है।[८] वामदेव ऋषि कहते हैं कि ओज को प्रकट करता हुआ इन्द्र अपने वज्र से गिरि का भेदन करता है।[९] एक अन्य सूक्त में वामदेव ऋषि कहते हैं कि मेघ के समान स्वयं प्रवृद्ध इन्द्र महान्, उग्र और शत्रु के अभिभव के लिये उत्पन्न हुआ है।[१०] आत्रेय ऋषि कहते हैं कि अश्वों के समान गमन के समय अगृहीततेजस्क मरुत् शीघ्र उदक दान न करने वाले मेघ को प्राप्त कर लेते हैं।[११] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि गिरि और अश्मा उस वृत्र के शरीर हैं।[१२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे मेघ 'गिरि' हैं, जो मरुत् (वायु) से भागते एवं प्रेरणा प्राप्त करते हैं, सभी प्राणियों को भोग उपलब्ध कराते हैं। इसके अतिरिक्त इस मेघ का वरण

---

१ उणा०, ४.१४४. ''कृगृशृपृकुटिभिदिछिदिभ्यश्च।''

२ ऋ० १.३७.७. ''नि वो यामाय मानुषो दध्र उग्राय मन्यवे। जिहीत पर्वतो गिरिः।''

३ ऋ० १.३७.१२. ''मरुतो यद्ध वो बलं जनाँ अचुच्यवीतन। गिरीँरचुच्यवीतन।''

४ ऋ० १.६५.३. ''पुष्टिर्न रण्वा क्षितिर्न पृथ्वी गिरिर्न भुज्म क्षोदो न शंभु।''

५ ऋ० १.५६.२. ''पतिं दक्षस्य विदथस्य नू सहो गिरिं न वेना अधि रोह तेजसा।''

६ ऋ० १.५६.३. ''स तुर्वणिर्महाँ अरेणु पौंस्ये गिरेर्भृष्टिर्न भ्राजते तुजा शवः।''

७ ऋ० १.१३०.७. ''अतिथिग्वाय शम्बरं गिरेरुग्रो अवाभरत्।''

८ ऋ० १.१५४.२. ''प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।''

९ ऋ० ४.१७.३. ''भिनद्गिरिं शवसा वज्रमिष्णन्नाविष्कृण्वानः सहसान ओजः।''

१० ऋ० ४.२०.६. ''गिरिर्न यः स्वतवाँ ऋष्व इन्द्रः सनादेव सहसे जात उग्रः।''

११ ऋ० ५.५४.५. ''एता न यामे अगृभीतशोचिषोऽनश्वदां यन्नयातना गिरिम्।''

१२ शत०ब्रा०, ३.४.३.१३; ९.४.२; ४.२.५.१५. ''तस्य (वृत्रस्य) एतच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानः।''

विद्युत् अपने तेज से करती है और इसके शिखर विद्युत् से देदीप्यमान होते हैं, शम्बर नामक मेघ इस गिरि (मेघ) का एक भाग है, ये मेघ स्वयं प्रवृद्ध होते हैं और इनका भेदन इन्द्र करता है। इनकी एक मुख्य विशेषता यह है कि ये शीघ्र उदक का दान नहीं करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वे मेघ गिरि हैं, जो उदक का दान नहीं करते हैं अथवा जो दान करने के स्थान पर उदक का शोषण कर लेते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए निगरणार्थक 'गॄ' धातु 'गिरि' पद का मूल प्रतीत होती है। अतः, निर्वचनकारों के निर्वचन समीचीन माने जा सकते हैं। यहाँ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि यह निगीर्ण स्वभाव मेघ में पाया जाता है, परन्तु भूमिस्थ 'गिरि' में यह सर्वथा नहीं पाया जाता है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि मूलतः 'गिरि' पद मेघवाचक रहा होगा।

११. व्रजः

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'व्रजः' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क 'व्रज' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**व्रजो व्रजत्यन्तरिक्षे**"[२] कि मेघ अन्तरिक्ष में गमन करता है, अतः, वह 'व्रज' कहलाता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'व्रज्' धातु से 'व्रजः' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् मेघवाचक 'व्रज' शब्द का निम्नप्रकार निर्वचन करते हैं:-"**व्रजत्यन्तरिक्षे व्रजत्यनेनेन्द्र इति वा व्रजो मेघः। मेघवाहनो हीन्द्रः पर्वतोऽपि पक्षच्छेदात् पूर्वमन्तरिक्षे व्रजति। अथवा स्वशरीरेण भूमिमन्तरिक्षं च व्रजति। व्रजन्ति तत्र प्राणिन इति वा**"[३] कि यह अन्तरिक्ष में गमन करता है अथवा इससे इन्द्र (मेघवाहन वाला इन्द्र पर्वतों के पक्षच्छेदन से पूर्व) अन्तरिक्ष में गमन करता है। अथवा यह अपने शरीर से भूमि और अन्तरिक्ष में गमन करता है, इसलिये यह मेघ 'व्रज' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'व्रज्' धातु से 'व्रजः' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'व्रज' शब्द को गोष्ठ, गोचर, समूह प्रभृति का वाचक नामपद मानता है तथा '**व्रज् बन्धनसङ्घातभोजनादिषु**' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना स्वीकार करता है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'व्रज' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'व्रजः' पद का मूल गत्यर्थक 'व्रज्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद गोष्ठ, पशुओं का स्थान, पशुपालकों के निवासस्थान आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि यह शब्द, जिसका शब्दानुवाद 'गोशाला' या 'गोष्ठ' है, मूलतः यह वह स्थान है, जहाँ से इन्द्र ने आख्यानों में वर्णित निगृहीत गायों को मुक्त कराया था। उनके अनुसार यह शब्द भारोपीय भाषा में 'ṷreg' बन्द करने अर्थ में तथा प्राचीन ग्रीक भाषा में 'eirgo' निरोध अर्थ में पाया जाता है। वे उक्त निर्वचन को पुरातन, भाषा-विज्ञान के अविकसित तथा वैदिक साहित्य के

---

१ निघ० १.१०.११.
२ निरु० ६.२.
३ निघ०वृ०, १.१०.११.
४ वै०पद०को०, पृ० ३०४७.
५ ऋ०वै०पद०, पृ० ५१५.
६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १०४२.

पर्याप्त शोध के अभाव में इस विषय में कुछ भी निश्चितरूप से कह पाने में अपने को असमर्थ पाते हैं।[१]

वैदिक साहित्य में 'व्रजः' पद का पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि इन्द्र का कर्म जिस प्रकार पहले स्तुत्य था, आज भी उतना ही स्तुत्य है। इस इन्द्र ने अङ्गिराओं के लिये जाते हुए मेघ को विदारित करते हुए वृष्टि की। इसके अतिरिक्त शिक्षा देते हुए इन्द्र ने व्रज (मेघ) को अपावृत द्वार वाला कर दिया।[२] एक अन्य स्थान पर परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि श्रेष्ठतम वज्रवान् इन्द्र ने जिस प्रकार मेघ को उद्घाटित करके किरणों को मुक्त किया, उसी प्रकार इन्द्र ने अन्नादि की इच्छा से मेघ के द्वारों को अपावृत कर दिया।[३] राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि उषा सम्पूर्ण भुवन के लिये ज्योति को प्रकट करती हुई तमस् को उसी प्रकार दूर भगाती है, जिस प्रकार किरणें मेघ को दूर करती हैं।[४] मधुच्छन्दा ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि उसके द्वारा दिया गया उदक सर्वत्र प्रसृत हो गया है और अब वह सरलता से उपलब्ध है। अतः, किरणों को निरोध करने वाले मेघ को दूर करके धन की प्राप्ति कराओ।[५] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि पवनरूप मित्रों वाला वह विष्णु उत्तम अहर्वेत्ता, बल को धारण तथा मेघ को आवरण से रहित करने वाला है।[६] वामदेव ऋषि कहते हैं कि कामना करते हुए नर अपनी दिव्य वाणी से किरणों वाले दृढ़ मेघ को उद्घाटित कर देते हैं।[७] एक अन्य मन्त्र में वामदेव ऋषि कहते हैं कि मरुतों ने अपने वचनों से मेघ (अश्मा) को विदीर्ण कर दिया और कामना करते हुए इन्होंने गोमान् व्रज (मेघ) का वरण कर लिया।[८] एक और स्थान पर वामदेव ऋषि कहते हैं कि इन्द्र प्रजाओं के धन और निवास को देखने वाला तथा किरणों के अपवारक मेघ को निरसित करने वाला है।[९] उषा देवता के प्रकरण में वामदेव ऋषि कहते हैं कि उषा की शोधक और पावक रश्मियाँ व्रज (मेघ) के तमस् युक्त द्वार (आवरण) को दूर करती हैं।[१०] विमद ऐन्द्र ऋषि कहते हैं कि समस्त रूपों का धारण करने वाला पूषा मेघ के समान सुख की वर्षा करता है।[११] एक मन्त्र में ऋषि इन्द्र का वर्णन करता हुआ कहता है कि यह पूर्णरूप से उदक से भरा हुआ, गतिशील मेघ माध्यमिका वाणी (गो) के गर्जन को सुनकर वध होने के भय से पहले ही शिथिल पड़ जाता है और उन उदकों (गो) के निकल जाने का मार्ग सुगम बना देता है।[१२]

---

१ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ८३.

२ ऋ० १.३२.४. "नू इत्था ते पूर्वथा च प्रवाच्यं यदङ्गिरोभ्योऽवृणोरप व्रजमिन्द्र शिक्षन्नप व्रजम्।"

३ ऋ० १.१३०.३. "व्रजं वज्री गवामिव सिषासन्नङ्गिरस्तमः। अपावृणोदिष इन्द्रः।"

४ ऋ० १.९२.४. "ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्यु१षा आवर्तमः।"

५ ऋ० १.१०.७. "सुविवृतं सुनिरजमिन्द्र त्वादातमिद्यशः। गवामप व्रजं वृधि कृणुष्व राधो अद्रिवः।"

६ ऋ० १.१५६.४. "दाधार दक्षमुत्तममहर्विदं व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते।"

७ ऋ० ४.१.१५. "दृळ्हं नरो वचसा दैव्येन व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः।"

८ ऋ० ४.१६.६. "अश्मानं चिद्ये बिभिदुर्वचोभिर्व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः।"

९ ऋ० ४.२०.८. "ईक्षे रायः क्षयस्य चर्षणीनामुत व्रजमपवर्तासि गोनाम्।"

१० ऋ० ४.५१.२. "व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीरवव्रञ्छुचयः पावकाः।"

११ ऋ० १०.२६.३. "अभि प्सुरः प्रुषायति व्रजं न आ प्रुषायति।"

१२ ऋ० ३.३०.१०. "अलातृणो बल इन्द्र व्रजो गोः पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार। सुगान्पथो अकृणोन्निरजे गाः प्रावन्वाणीः

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वे मेघ 'व्रज' हैं, जिनको इन्द्र दण्ड देकर शिक्षित करता है, इनमें स्थित गायों (किरणों) को मुक्ति देता है, कभी इन्द्र और कभी विष्णु किरणों के आवरक मेघ को दूर करते हैं, नर अपनी स्तुतिरूपा वाणी से भी दृढ़ मेघ को उद्घाटित कर देते हैं। इसके अतिरिक्त अश्मा और व्रज दोनों मेघवाचक शब्दों का प्रयोग करता हुआ ऋषि इन्द्र से अश्मा का भेदन तथा व्रज का वरण करने का निवेदन करता है। उक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि वेद का ऋषि 'व्रज' के साथ 'गो' का प्राय: प्रयोग करता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'व्रज' है, जो गायों के गमन को निरुद्ध करता है। अत:, निर्वचनकारों ने अन्तरिक्ष में गमन के आधार पर मेघ का नामकरण 'व्रज' माना है, परन्तु वह वेद की दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता है। लेकिन किरणों की गति को निरुद्ध करने के कारण गत्यर्थक 'व्रज्' धातु को 'व्रज:' पद का मूल माना जा सकता है।

१२. चरु:

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'चरु:' पद समाम्नात है।[१] आचार्य यास्क 'चरु:' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**चरुर्मृच्चयो भवति**''[२] कि चरु एक मिट्टी का पात्र होता है। इस पक्ष में 'चिञ् चयने' धातु से 'चयु' और उससे 'चरु' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''**चरतेर्वा। समुच्चरन्त्यस्मादाप:**''[३] कि यह एक ऐसा मिट्टी का पात्र होता है कि जिसमें से उदक जल (कर वाष्प बन) जाता है, अत:, इस पात्र विशेष को 'चरु' कहते हैं। इस पक्ष में 'चर्' धातु से 'चरु' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् मेघवाचक 'चरु' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**चरन्ति गच्छन्त्यस्मादापो मेघाद् वर्षाकाले, पर्वतानां निर्झरलक्षणा: चरयन्ति जलं वर्षितव्यमिति चरुर्मेघ:। चरन्ति तत्र प्राणिन:, चर्य्यते भक्ष्यते स्वप्रभवपदार्थरूपेणेति चरु: पर्वत:**''[४] कि वर्षाकाल में इस मेघ में से उदक नीचे जाते हैं, पर्वतों के निर्झर आदि वर्षितव्य उदक को अपने में समाहित कर लेते हैं, अत:, मेघ को 'चरु' कहते हैं। इसके अतिरिक्त पर्वत पर प्राणी भोजन प्राप्त करते हैं या अपने से उत्पन्न होने वाले पदार्थ का यह भक्षण कर लेता है, अत:, पर्वत को 'चरु' कहते हैं। इस पक्ष में 'चर्' धातु से 'उ' प्रत्यय होकर 'चरु' शब्द निष्पन्न होता है। उणादिकोष से भी इस व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'चरु' शब्द को चरु, भाण्ड, हविस् का वाचक नामपद मानता है। कोशकार के मत में उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'चरु' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[६]

पुरुहूतं धमन्ती:।''

१ निघ० १.१०.१२.

२ निरु० ६.११.

३ निरु० ६.११.

४ निघ०वृ०, १.१०.१२. उणा०, १.७.

५ वै०पद०को०, पृ० १३१५.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० २०१.

मोनियर विलियम्स 'चरु' पद का मूल 'चर्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा शतपथ-ब्राह्मण में यह पद एक प्रकार के पात्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसमें विशेष प्रकार की बलि तैयार की जाती थी, परन्तु ऋग्वेद में एक स्थान पर यह मेघ के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।[१] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार भारोपीय भाषा में यह शब्द 'quer' 'स्थाली' या 'पात्र' अर्थ में तथा ऐंग्लो सैक्सन में 'hwer' 'केतली' अर्थ में पाया जाता है। वे उक्त निर्वचन को सभी नाम आख्यातज हैं, इस सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं।[२]

वैदिक साहित्य में 'चरु' का अत्यन्त अल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मात्र चार बार उक्त पद का उल्लेख देखने को मिलता है। मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि उदक की वर्षा करने वाला इन्द्र हमें समस्त फलों को देने वाला है। इसलिये वे व्रीह्यादि की निष्पत्ति हेतु उससे चरु (मेघ) को उद्घाटित करने की प्रार्थना करते हैं।[३] वृषाकपि ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण संसार से श्रेष्ठ इन्द्र उत्पन्न हुए प्राणियों के लिये पूर्णरूप से भरे हुए नवीन चरु (मेघ) को क्षिप्त करता है।[४] शेष दो स्थानों में से एक स्थान पर 'चरु' का प्रयोग पात्र तथा दूसरे स्थान पर सामग्री के अर्थ में हुआ है।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में मेघ अर्थ में 'चरु' का प्रयोग हुआ है, परन्तु उसका विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया है। फिर भी इतना स्वीकार किया जा सकता है कि 'चरु' पद का मूल 'चर्' धातु है।

१३. वराहः

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'वराह' पद परिगणित है।[६] मैत्रायणी-संहिता 'वराह' पद का निर्वचन कहती है:-''**तेऽब्रुवन् (देवपाणयो नामासुराः) यद्वा आसां (देवगवीनाम्) वरम् (पयः) अभूत्तदहा स्तेति, तद् वराहो भूत्वासुरेभ्योऽधि देवानगच्छत्**''[७] कि वे देवपाणि नामक असुर कहने लगे कि इन देवगवियों का वरणीय पयस् है, जो सर्वत्र व्याप्त है, वह वराह होकर असुरों से देवताओं को प्राप्त होगया। इस पक्ष में 'वर+अह' से 'वराह' पद निष्पन्न होता है।

'वराह' का वर्णन करती हुई तैत्तिरीय-संहिता कहती है:-''**स (इन्द्रः) तं (वराहं वाममोषं सप्तानां गिरीणां परस्तादसुराणां वित्तं वेद्यं बिभ्रतम्) अहन्। (इन्द्रो विष्णुमब्रवीत्) एतम् (हतम्) आहरतेति। तमेभ्यो (देवेभ्यः) यज्ञ एव (विष्णुरूपः) यज्ञं (वराहाख्यम्) आहर**''[८] कि इन्द्र ने सात पर्वतों के पीछे असुरों के वित्त

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३९०.

२ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ८८.

३ ऋ० १.७.६. ''स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि। अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः।''

४ ऋ० १०.८६.१८. ''असिं सूनां नवं चरुमादेधस्यान आचितं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।''

५ ऋ० १.१६२.१३; ७.१०४.२.

६ निघ० १:१०.१३.

७ मै०सं० १.६.३.

८ तै०सं० ६.२.४.२-३.

को धारण करने वाले उस वराह का वध किया। तब इन्द्र ने विष्णु से कहा है कि इस मरे हुए को लाओ। उस यज्ञ को देवताओं के लिये यज्ञरूप विष्णु लेकर आये। एक अन्य स्थान पर तैत्तिरीय-संहिता कहती है:-''**तां (पृथिवीं प्रजापति:) वराहो भूत्वाऽहरत्**''[१] कि उस पृथिवी को प्रजापति ने वराह होकर आहरण किया है। इस पक्ष में 'वर+आ+'हृ' से 'वराह' शब्द व्युत्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'वराह' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**वराहो मेघो भवति। वराहार:। वराहारमहार्षी:। इति च ब्राह्मणम्**''[२] कि वराह का अर्थ मेघ होता है, क्योंकि इससे उत्तम आहार प्राप्त होता है। ब्राह्मण भी कहता है कि यह श्रेष्ठ आहार का आहरण करता है, इसलिये मेघ का नाम वराह है। इस पक्ष में 'वर+आ+'हृ' से 'वराह' शब्द व्युत्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् परम्परा का अनुसरण करते हुए 'वराह' का निम्न निर्वचन करते हैं:-''**वृणोतेः वर:, वरशब्दे कर्मण्युपपदे आङ्पूर्वाद्धरतेः। वरमुदकमाहरतीति वराह:। 'यद्वा, वर उदकलक्षण: आहारोऽस्येति वा वराह:। वरमाहारमाहार्षी:- इति च ब्राह्मणम्**''[३] कि यह वर अर्थात् श्रेष्ठ उदक का आहरण करता है, या यह उदकरूपी आहार वाला है, इसलिये मेघ को 'वराह' कहते हैं। ब्राह्मण भी कहता है कि यह श्रेष्ठ आहार का आहरण करता है, इस पक्ष में 'वर+आ+'हृ' से 'वराह' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(ख)''**वरशब्दे उपपदे हरतेराङ्पूर्वात्। वराहाकारो वा कृष्णो मेघो वराहसादृश्येन वर्तते**''[४] कि वराह जैसे आकार वाले कृष्णमेघ को वराह कहा जाता है। इस पक्ष में 'वर+आ+'हृ' से 'वराह' शब्द निष्पन्न होता है।

(ग)''**यद्वा, 'वृहू उद्यमने'। वरमुत्कृष्टमुदकं वृहति उद्यच्छति वर्षितुम्**''[५] कि यह वर अर्थात् उत्कृष्ट उदक को ऊपर उठता है, अत:, मेघ को वराह कहते हैं। इस पक्ष में 'वृह्' धातु से 'वराह' रूप उपपन्न होता है।

(घ)''**यद्वा, वरशब्दे उपपदे जुहोतेर्दानार्थात्। वरमुदकं ददाति आदत्ते वा वर्षितुमिति वराहो मेघ:**''[६] कि वर अर्थात् उदक को देता है या वर्षा के लिये ग्रहण करता है, अत:, मेघ को वराह कहते हैं। इस पक्ष में 'वर+'हु' से 'वराह' शब्द निष्पन्न होता है।

(ङ)''**यद्वा, वरं मूलं वृहत्युद्यच्छत्यस्मादिति वा। वरं वरमित्यत्रैकस्य वरशब्दस्य निवृत्ति:। वराहशब्दाद् वृहेश्च वराह इत्यर्थ:**''[७] कि वर अर्थात् मूल इससे ऊपर उठता है, अत:, मेघ को 'वराह' कहते हैं। इस पक्ष में 'वर+'वृह्' से 'वराह' शब्द व्युत्पन्न होता है।

---

१ तै०सं० ७.१.५.१.
२ निरु० ५.४.
३ निघ०वृ०, १.१०.१३.
४ निघ०वृ०, १.१०.१३.
५ निघ०वृ०, १.१०.१३.
६ निघ०वृ०, १.१०.१३.
७ निघ०वृ०, १.१०.१३.

आचार्य सायण यास्क का अनुसरण करते हुए वराह का निर्वचन निम्नप्रकार करते हैं:- **''वरमुदकमाहारो यस्य। यद्वा, वरमाहरतीति वराहारः सन् पृषोदरादित्वाद् वराहः''**[१] कि जिसका वर अर्थात् उदक आहार है अथवा जो उत्कृष्ट का आहरण करता है, अतः, मेघ को 'वराह' कहते हैं। इस पक्ष में 'वर+आ+'हृ' से 'वराह' शब्द व्युत्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वराह' पद को जलभृत् वाचक अद्रि, रुद्र, सोम का विशेषण तथा मेघ, शूकर वाचक नामपद मानता है। जलभृत् अर्थ में निम्नप्रकार व्युत्पन्न करना उचित है:-'वृष्ट=वर+'वह्' (धारणवर्षणयोः) वर+वाह=वराह'। शूकर अर्थ में 'वर (महत्)+आस्=वरास्=वराह' रूप निष्पन्न करना समीचीन है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'वराह' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स 'वराह' पद का निर्वचन सन्दिग्ध मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद शूकर अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[४] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा यास्कीय निर्वचन (वर+आ+'हृ') को यान्त्रिक मानते हैं।[५]

वैदिक साहित्य में 'वराह' शब्द का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि शत्रुओं को पराजित करने वाला, वज्रक्षेप्ता, सर्वव्यापक इन्द्र परिपक्व (पूर्ण) उदक वाले वराह को प्राप्त करके ताडित करता है।[६] राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि मरुद्गणों ने स्वर्णमय चक्रयुक्त एवं अयोमय ऋष्टि वाले इधर-उधर दौड़ते हुए वराहों (मेघों) को देखा।[७] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि हम अन्तरिक्ष के ऐसे वराह का आह्वान करते हैं, जो आरोचमान, जटाओं को धारण किये हुए के समान एवं तेज़ से दीप्यमान है।[८] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि इन्द्र ने सर्वत्र शयन करने एवं श्रेष्ठ उदक वाले वृत्र को सरणशील उदकों में बहुत बड़े वज्र से मारकर चिर निद्रा में लीन कर दिया।[९] कुरुसुति काण्व ऋषि कहते हैं कि इन्द्र की कृपा से अपरिमित पशु, दुग्ध, घृतादि से समृद्ध भोजन एवं जलप्रद मेघ प्राप्त होता है।[१०] वृषगण वासिष्ठ ऋषि कहते हैं कि महान् व्रत को धारण करने वाला, पवित्रता का बन्धु, पावक वराह गर्जना करता हुआ आता है।[११] अयास्य ऋषि कहते हैं कि वह बृहस्पति (सूर्य) वर्षा और बूँदों को क्षरण करने वाले मेघों के द्वारा धन की प्राप्ति कराता है।[१२] वम्र वैखानस ऋषि कहते हैं कि वायु के वेग से बढ़ता हुआ इन्द्र चुम्बकमयी शक्ति के प्रवाह से वराह

---

१ ऋ० १.६१.७.
२ वै०पद०को०, पृ० २७५४.
३ ऋ०वै०पद०, पृ० ४६१.
४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९२३.
५ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ३६.
६ ऋ० १.६१.७. ''मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता।''
७ ऋ० १.८८.५. ''पश्यन्हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान्विधावतो वराहून्।''
८ ऋ० १.११४.५. ''दिवो वराहमरुषं कपर्दिनं त्वेषं रूपं नमसा नि ह्वयामहे।''
९ ऋ० १.१२१.११. ''त्वं वृत्रमाशयानं सिरासु महो वज्रेण सिष्वपो वराहुम्।''
१० ऋ० ८.७७.१०. ''शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम्।''
११ ऋ० ९.९७.७. ''महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन्।''
१२ ऋ० १०.६७.७. ''ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट्।''

को मारता है।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'वराह' है, जिस परिपूर्ण उदक वाले मेघ (वराह) का भेदन इन्द्र करता है, ये वराह (मेघ) स्वर्णमयचक्र एवं अयोमय ऋष्टि से युक्त हैं, इस वराह का स्वरूप आरोचमान, जटाओं से युक्त एवं तेज से दीप्यमान है, इन्द्र सरणशील उदकों में वज्र से इसी का वध करता है, इस वराह (मेघ) की प्राप्ति इन्द्र की कृपा से होती है। इसके अतिरिक्त इसको वेद महिव्रत, पवित्रता का बन्धु, पावक और गर्जना करने वाला बतलाता है। सम्भवतः, वेद में इसे शुचिबन्धुः और पावक आदि विशेषणों से अभिहित किया गया है और यह उदक का आहरण भी करता है, अतः, निर्वचनकारों के द्वारा 'वर+आहार' से निर्वचन करना वेद की दृष्टि से समीचीन माना जा सकता है। मेघ का उदक वाष्पीकृत होने से न केवल पवित्र है, वरन् पवित्रयिता भी है। इस आधार पर भी मेघ वर अर्थात् श्रेष्ठ या उत्कृष्ट आहार का आहरण करने से 'वराह' नाम पाने का अधिकारी है।

१४. शम्बरः

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'शम्बर' पद पठित है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् 'शम्बर' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**शमयति नाशयति असुरानिति शम्बो वज्रः। शम्बोऽस्य प्रहर्त्तृत्वेनास्ति**''[३] कि असुरों का शमन अर्थात् नाश करने से वज्र 'शम्ब' कहलाता है। जिस पर प्रहार करने के लिये यह शम्ब अस्त्र है, वह 'शम्बर' है। इस पक्ष में 'शम्' धातु से 'बन्' प्रत्यय होकर 'शम्ब' और उससे मत्वर्थीय 'र' प्रत्यय होने से 'शम्बर' रूप निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा, शातयतेः। प्रहरति हि वज्रः इन्द्रप्रेरितो मेघात् पर्वतानाञ्च पक्षच्छेदसमये। शम्बोऽस्य प्रहर्त्तृत्वेनास्ति''[४] कि पर्वतों के पक्षच्छेद के समय इन्द्र से प्रेरित वज्र मेघ से प्रहार करता है, पर्वतों पर प्रहार करने वाला होने से यह 'शम्बर' कहलाता है। इस पक्ष में 'शातय्' धातु से 'बन्' प्रत्यय होकर 'शम्ब' और उससे मत्वर्थीय 'र' प्रत्यय होने से 'शम्बर' रूप निष्पन्न होता है।

(ग)''यद्वा, सम्पूर्वात् वृणोतेः, सम्बरः सन् वर्णव्यत्ययेन शम्बरः। संव्रियते मेघेनाकाशम्, भूमिः पर्वतेन''[५] कि मेघ से आकाश संवृत होता है और पर्वत से भूमि संवृत होती है, अतः, मेघ और भूमिस्थ पर्वत को 'शम्बर' कहते हैं। इस पक्ष में 'सम्+'वृ'+अप्' से 'संवर' और उससे वर्णव्यत्यय होकर 'शम्बर' रूप सिद्ध होता है।

(घ)''यद्वा, शम्बरमित्युदकनाम (निघ०,१.१२.८८.)। उदकमस्यास्तीति वा''[६] कि शम्बर यह उदक वाचक नामपद है। उदक वाला होने से मेघ 'शम्बर' कहलााता है। इस पक्ष में 'शम्बर' शब्द से

---

१ ऋ० १०९९.६. ''अस्य त्रितो न्वोजसा वृधानो विपा वराहमयोऽग्रया हन्।''

२ निघ० १.१०.१४.

३ निघ०वृ०, १.१०.१४.

४ निघ०वृ०, १.१०.१४.

५ निघ०वृ०, १.१०.१४.

६ निघ०वृ०, १.१०.१४.

मत्वर्थीय प्रत्यय का लुक् होने से 'शम्बर' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'शम्ब' का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**शम्ब इति वज्रनाम। शमयतेर्वा। शातयतेर्वा**"[१] कि शत्रुओं का शमन अथवा अपसारित करने के कारण वज्र 'शम्ब' कहलाता है। इस पक्ष में 'शम्' या 'शातय्' धातु से 'बन्' प्रत्यय होकर 'शम्ब' शब्द निष्पन्न होता है। उणादिकोष से भी उक्त व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है।[२]

आचार्य सायण 'शम्बर' शब्द का निर्वचन निम्न प्रकार करते हैं:-"**शमयतीति शम्ब आयुधम्, तद्वान् मत्वर्थीयो रप्रत्ययः**"[३] कि शत्रुओं का शमन करने से आयुध 'शम्ब' कहलाता है और जिसके पास यह आयुध है, वह 'शम्बर' है। इस पक्ष में 'शम्ब' शब्द से मत्वर्थीय 'र' प्रत्यय होकर 'शम्बर' शब्द निष्पन्न होता है।

ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'शम्बर' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[४] वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'शम्बर' पद को जल एवं मेघ वाचक नामपद तथा वृत्र वाचक व्यक्तिपरक संज्ञा मानता है। कोशकार के अनुसार यह दो प्रकार से व्युत्पन्न मानता है। मेघ या उदक अर्थ में 'शृ' क्षरणे' तथा वृत्र अर्थ में 'शृ' संवरणे' धातु से भाव अर्थ में 'शर्म' शब्द निष्पन्न होता है। 'शर्म+भर' के संयोग से 'शम्बर' पद निष्पन्न होता है।[५] मोनियर विलियम्स 'शम्बर' का मूल गत्यर्थक 'शम्ब्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार शम्बर एक असुर है, जिसका शुष्ण, अर्बुद, पिप्रु के साथ प्रायः उल्लेख आया है।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा यास्क के दोनों निर्वचनों को शिथिल मानते हैं। वे 'शम्बर' में स्थित 'ब' को प्रत्यय मानने को तैयार नहीं हैं और न उनको इसके स्थान पर कोई दूसरा विकल्प दिखायी देता है, अतः, वे उक्त निर्वचनों को अस्पष्ट श्रेणी में रखते हैं।[७]

वैदिक साहित्य में 'शम्बर' पद का पर्याप्त उल्लेख देखने को मिलता है। ऋग्वेद में आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि इन्द्र सङ्ग्रामों में शोषक शत्रुओं से प्रजा (कुत्स) की रक्षा और अनिश्चित तिथि वाले शम्बर (मेघ) का वध करता है।[८] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि इन्द्र अन्तरिक्ष के समुच्छ्रित प्रदेश को कम्पित तथा स्वयं शम्बर का वध करता है।[९] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि यह मध्यस्थानी वैश्वानर अग्नि दस्यु (रसों का शोषक) का वध करता है और उदकों को ऊपर से नीचे गिरा देता है एवं शम्बर का भेदन करता है।[१०] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि इन्द्र सज्जनों को प्रसन्न कर देने वाले क्रोध से विगतभुज वृत्र का वध

---

१ निरु० ५.२४.

२ उणा०, ४.९५. "शमेर्बन्।"

३ सायणभाष्य, ऋ० १.१०३.८.

४ ऋ० वै०पद०, पृ० ५२०.

५ वै० पद० कोष, पृ० ३०८८.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १०५५.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १४५.

८ ऋ० १.५१.६. "त्वं कुत्सं शुष्णहत्येष्वाविथारन्धयोऽतिथिग्वाय शम्बरम्।"

९ ऋ० १.५४.४. "त्वं दिवो बृहतः सानु कोपयोऽव त्मना धृषता शम्बरं भिनत्।"

१० ऋ० १.५९.६. "वैश्वानरो दस्युमग्निजघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत्।"

करता है एवं नियम पालन न करने वाले एवं उदक से परिपूर्ण शम्बर का हनन करता है।[१] एक अन्य मन्त्र में आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि इन्द्र शोषक (शुष्ण), उदक से परिपूर्ण (पिप्रु), पृथ्वी से यवादि उत्पन्न करने में समर्थ (कुयव), तमस् से आवृत (वृत्र) शम्बर के समूह (पुर) का वध करता है।[२] परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि जिसके आने का समय निश्चित नहीं है, ऐसे निगरण करने वाले शम्बर (मेघ) को इन्द्र नीचे की ओर मुख करके उँडेल देता है।[३] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि भय से पर्वतों में छिपे हुए शम्बर को इन्द्र चालीसवीं शरद् ऋतु में प्राप्त करता है।[४] एक अन्य मन्त्र में गृत्समद ऋषि कहते हैं कि अध्वर्यु वाला इन्द्र शम्बर के सौ पुरातन नगरों का भेदन उसी प्रकार करता है, जैसे कोई पत्थर से घट को विस्फोटित करता है।[५] एक अन्य स्थान पर गृत्समद ऋषि कहते हैं कि सारथि बनानी वाली (कुत्स) प्रजा के शोषक (शुष्ण) को दीप्तियुक्त इन्द्र अशोषक बना देता है तथा कुयव (पृथ्वी से यवादि उत्पन्न करने के लिये उदक) को अपने में वश में कर लेता है। इसके अतिरिक्त उसने दिवोदास (प्रकाश देने वाले) के लिये शम्बर के नवनवति पुरों को विदीर्ण कर दिया है।[६] वामदेव ऋषि कहते हैं कि आनन्दस्वरूप इन्द्र नवनवति पुरों को एक साथ ध्वंस कर देता है।[७]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'शम्बर' है, जिसकी आने की तिथि निश्चित नहीं है, इन्द्र और वैश्वानर अग्नि जिसका भेदन करते हैं, नियम का पालन न करने एवं उदक से परिपूर्ण होने के कारण इन्द्र इसका वध करता है, इसके शुष्ण, पिप्रु, कुयव, वृत्र ये चार असुर साथी वेद में परिगणित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त पर्वतों में छिपे हुए इस शम्बर को इन्द्र चत्वारिंशद् शरद् ऋतु में प्राप्त करता है, शम्बर के कहीं सौ और कहीं नवनवति पुर माने गये हैं, जिनका इन्द्र भेदन करता है। उक्त अध्ययन को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि इन्द्र द्वारा शम्बर के पुरों को विदारित करना शम्बर की महत्त्वपूर्ण विशेषता है, अतः, 'शम्' धातुमूलक निर्वचन वेदार्थ की भावना के अनुकूल प्रतीत होते हैं। इस दृष्टि से देवराजयज्वन् का प्रथम निर्वचन युक्तिसङ्गत माना जा सकता है।

१५. रौहिणः

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'रौहिण' पद समाहित है।[८] आचार्य देवराजयज्वन् 'रौहिण' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**रोहः आरोहणम्, आदित्यपक्ष्यादीनामस्मिन्नस्तीति रोहि अन्तरिक्षम्। तत्र**

---

१ ऋ० १.१०१.२. "यो व्यंसं जाहृषाणेन मन्युना यः शम्बरं यो अहन्पिप्रुमव्रतम्।"

२ ऋ० १.१०३.८. "शुष्णं पिप्रुं कुयवं वृत्रमिन्द्र यदावधीर्वि पुरः शम्बरस्य।"

३ ऋ० १.१३०.७. "अतिथिग्वाय शम्बरं गिरेरुग्रो अवाभरत्।"

४ ऋ० २.१२.११. "यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।"

५ ऋ० २.१४.६. "अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मेनेव पूर्वीः।"

६ ऋ० २.१९.६. "स रन्धयत्सदिवः सारथये शुष्णमशुषं कुयवं कुत्साय। दिवोदासाय नवतिं च नवेन्द्रः पुरो व्यैरच्छम्बरस्य।"

७ ऋ० ४.२६.३. "अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य।"

८ निघ० १.१०.१५.

भवः रौहिणः। अन्तरिक्षेण हि गच्छति मेघः, पक्षच्छेदात् पूर्वं पर्वतश्चेति तत्र भव इति वक्तुं शक्यते''[१] कि 'रोह' का अर्थ 'आरोहण' है, आदित्य, पक्षी आदि अन्तरिक्ष में आरोहण करते हैं, अतः, अन्तरिक्ष को 'रोहि' कहते हैं और उसमें होने वाला मेघ 'रोहिण' कहलाता है। मेघ अन्तरिक्ष से होकर जाता है तथा पर्वत भी पक्षच्छेदन से पूर्व अन्तरिक्ष में गमन किया करते थे, इसलिये अन्तरिक्ष में होने के कारण मेघ और पर्वत 'रौहिण' नाम से अभिहित होते हैं। इस पक्ष में 'रुह्' धातु से 'इनि' प्रत्यय होकर 'रोहि' और उससे 'अण्' प्रत्यय होने से 'रौहिण' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा, 'रुह' इनच्'=रोहिण इन्द्रः, तस्येदम्=रौहिणः। आरोहति मेघमिन्द्रः स्ववाहनत्वात्''[२] कि स्ववाहन होने से इन्द्र मेघ पर आरूढ होता है, अतः, मेघ को 'रौहिण' कहते हैं। इस पक्ष में 'रुह्' धातु से 'इनच्' प्रत्यय होने से 'रोहिण' और उससे 'तस्येदम्' अर्थ में 'अण्' होकर 'रौहिण' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'रौहिण' पद को असुर की व्यक्तिपरक संज्ञा तथा निघण्टु के मत में मेघवाचक नाम मानता है। कोशकार के मत में उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची रौहिण पद को अव्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स 'रौहिण' को 'रोहिणी' नक्षत्र से सम्बन्धित मानते हैं, उक्त नक्षत्रकाल में उत्पन्न पदार्थ 'रौहिण' कहलाता है। वे कहते हैं कि ऋग्वेद और अथर्ववेद में यह इन्द्र द्वारा मारे गये असुर का नाम है।[५] पाणिनि व्याकरण के अनुसार 'रोहिणी' नामक नक्षत्र से 'रौहिण' पद व्युत्पन्न होता है।[६] ऋग्वेद से प्राप्त सङ्केत के आधार पर 'रौहिण' पद का मूल 'रुह्' धातु प्रतीत होती है।[७]

वैदिक साहित्य में 'रौहिण' पद का प्रयोग अत्यल्प हुआ है। ऋग्वेद में इसका केवल दो बार उल्लेख हुआ है। आङ्गिरस कुत्स ऋषि इन्द्र का स्तवन करते हुए कहते हैं कि वह इन्द्र पृथ्वी को धारण एवं विस्तीर्ण करता है। इसके अतिरिक्त वज्र के प्रहार से वह उदक को बाहर निकालता है। वह अहि का वध करता है तथा रोहिणी नक्षत्र में होने वाले मेघ का वध करता है और वह मघवा अपने कर्मों से उसको धड़ से अलग करता है अर्थात् उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों का छेदन करता है।[८] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि वह वज्रबाहु इन्द्र द्युलोक पर आरोहण करने वाले रोहिणी नक्षत्र में उत्पन्न मेघ को सञ्चालित करता है।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'रौहिण' है, जो रोहिणी नक्षत्र में

---

१ निघ०वृ०, १.१०.१५.

२ निघ०वृ०, १.१०.१५.

३ वै०पद०को०, पृ० २६९६.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ४५३.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८९१.

६ पाणिनि, अष्टा०, ४.३.३७. ''नक्षत्रेभ्यो बहुलम्।''

७ ऋ० २.१२.१२. ''यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः।''

८ ऋ० १.१०३.२. ''स धारयत्पृथिवीं पप्रथच्च वज्रेण हत्वा निरपः ससर्ज। अहन्नहिमभिनद्रौहिणं व्यहन्व्यंसं मघवा शचीभिः।''

९ ऋ० २.१२.१२. ''यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः।''

उत्पन्न हुआ है। ऋग्वेद से प्राप्त सङ्केत तथा निर्वचन को ध्यान में रखकर कह सकते हैं कि जो आकाश में ऊपर उठने वाला मेघ है, वह 'रौहिण' है। उपर्युक्त मतों में से कौन-सा मत समीचीन है, के विषय में पर्याप्त प्रमाणों के अभावों में निस्सन्दिग्ध रूप से किसी एक का पक्ष लेना सम्भव नहीं है।

१६. रैवतः

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'रैवत' नामपद परिगणित है।[१] 'रैवत' पद का निर्वचन करते हुए आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं:-"**रेवत्यो गावः 'पशवो वै रेवतीः' इति श्रुतेः। तस्येदमित्यण्। मेघो हि सर्वत्र वर्षति यवसं पानीयं च जनयित्वा तदीयो भवति, पर्वतस्तद्वत्तया**"[२] कि श्रुति के अनुसार रेवती का अर्थ 'गो' है। सर्वत्र वर्षा के माध्यम से यवस और पानी उपलब्ध कराकर मेघ उन गायों का हो जाता है, अतः, मेघ को 'रैवत' कहते हैं। इसी प्रकार पर्वत भी पशुओं को भोजन और पानी उपलब्ध कराने से 'रैवत' कहा जाता है। इस पक्ष में 'रेवती' शब्द से 'तस्येदम्' इस अर्थ में 'अण्' प्रत्यय करने से 'रैवत' शब्द सिद्ध होता है।

(ख)"**यद्वा, रयिरस्तीति मतुपि। सर्वस्य धनस्येशितृत्वात् रेवान् इन्द्रः, मघवेति हि तस्य नाम तदीयो रैवतः**"[३] कि सम्पूर्ण रयि का स्वामी होने से इन्द्र 'रेवान्' कहलाता है, इसी कारण वह मघवा कहा जाता है। सम्पूर्ण धन उसी का होने से वह 'रैवत' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'रयि' शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय होकर 'रेवत्' और उससे 'अण्' प्रत्यय होने से 'रैवत' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'रे' शब्द से 'रैवत' का सम्बन्ध मानती है।[४] मोनियर विलियम्स भी 'रैवत' पद का 'रै' से सम्बन्ध मानते हैं। उनके अनुसार 'रैवत' का अर्थ समृद्ध परिवार में उत्पन्न या समृद्ध है।[५]

वैदिक साहित्य में उक्त पद का अत्यन्त अल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मात्र इसका एक बार उल्लेख हुआ है। श्यावाश्व आत्रेय ऋषि कहते हैं कि विवाहयोग्य धनवान् युवा पुरुष के समान मरुद्गण सुवर्णमय आभूषणों और उदकों से अपने शरीरों को अलङ्कृत करते हैं।[६]

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राप्त एकमात्र उद्धरण के आधार पर 'रैवत' का विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। लेकिन फिर भी यह कहा जा सकता है कि 'रैवत' का मूल 'रै' शब्द है और यह पद दानार्थक 'रा' धातु से व्युत्पन्न होता है, अतः, जो मेघ दान देने वाले धन से युक्त है, सम्भवतः, वह वेद की दृष्टि में 'रैवत' है।

---

१ निघ० १.१०.१६.

२ निघ०वृ०, १.१०.१६.

३ निघ०वृ०, १.१०.१६.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ४५०. वै०पद०को०, पृ० २६८५.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८८८.

६ ऋ० ५.६०.४. "वरा इवद्रैवतासो हिरण्यैरभि स्वधाभिस्तन्वः पिपिश्रे।"

१७. फलिग:

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'फलिग' पद समाम्नात है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'फलिग' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**प्रतिफलति तत् फलम्। तदस्मिन्नस्तीति फलि स्वच्छमुदकं तद्गच्छन्त्याधारत्वेन मेघो वर्षिष्यमाणं पर्वतो हि वृष्टमिति विशेष:**"[२] कि जो प्रतिफलित होता है, वह 'फल' है। वह जिसमें है, ऐसा स्वच्छ उदक 'फलि' कहलाता है। उस स्वच्छ उदक को लेकर जाने वाला मेघ 'फलिग' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'फल्' धातु से 'इन्' तथा 'गम्' धातु से 'ड' प्रत्यय होकर से 'फलिग' रूप सिद्ध होता है।

(ख)"यद्वा, फलवत्=स्नानपानादिप्रयोजनवत् उदकं फलि, तद्गच्छतीति पूर्ववत्"[३] कि स्नान, पान आदि के प्रयोजन वाला उदक 'फलि' है, उस उदक को लेकर जो मेघ जाता है, वह मेघ 'फलिग' कहलाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

(ग)"माधवस्तु-फलिर्भेदनकर्मापि भिन्दन् गच्छति फलसंयुक्तो गच्छतीति वा"[४] आचार्य माधव के अनुसार भेदन अर्थ वाली 'फल्' धातु से 'फलि' शब्द निष्पन्न होता है। जो भेदन करता हुआ अथवा फल से संयुक्त होता हुआ जाता है, वह मेघ 'फलिग' है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

आचार्य सायण ने ऋग्वेद भाष्य में 'फलिग' के निम्न निर्वचन प्रस्तुत किये हैं:-"**प्रतिफलं प्रतिबिम्बम्। तदस्मिन्नस्तीति फलि स्वच्छमुदकम्। तद्गच्छति आधारत्वेन फलिग:**"[५] कि प्रतिफल का तात्पर्य प्रतिबिम्ब है। वह प्रतिबिम्ब जिसमें है, वह स्वच्छ उदक 'फलि' है और जो उस स्वच्छ उदक को आधाररूप में धारण करता है, वह मेघ 'फलिग' कहलाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप निष्पन्न होता है।

(ख)"यद्वा, व्रीह्यादि फलम्, तदस्मिन् सति भवतीति फलि वृष्टिजलम्, तद्गच्छतीति फलिग:"[६] कि व्रीह्यादि सस्य फल कहलाता है और यह वृष्टि के जल से उत्पन्न होता है, अत:, उस उदक को धारण करके ले जाने वाला मेघ 'फलिग' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप निष्पन्न होता है।

(ग)"ञिफला' विशरणे। फलिर्भेद:। तेन गच्छतीति फलिगम्"[७] कि फल शब्द विशरण अर्थ वाली 'फल्' धातु से निष्पन्न होता है। इस प्रकार 'फलि' का अर्थ है, जो भिन्न होने या विशरण के स्वभाव वाला है। उस बिखरने वाले उदक के साथ जाने से मेघ 'फलिग' कहलाता है।

ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'फलिग' शब्द को अव्युत्पन्न मानती है।[८] मोनियर विलियम्स भी

---

१ निघ० १.१०.१७.
२ निघ०वृ०, १.१०.१७.
३ निघ०वृ०, १.१०.१७.
४ निघ०वृ०, १.१०.१७.
५ सायणभाष्य, ऋ० १.६२.४.
६ सायणभाष्य, ऋ० १.६२.४.
७ सायणभाष्य, ऋ० १.६२.४.
८ ऋ०वै०पद०, पृ० ३५८.

'फलिग' को अव्युत्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार तरल पदार्थ धारण करने वाला पात्र या चर्मपात्र 'फलिग' है। ऋग्वेद में यह मेघ या उदक धारण करने वाले पर्वत के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[१]

वैदिक साहित्य में 'फलिग' शब्द का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि शक्तिमान् इन्द्र ने जिसमें व्रीह्यादिक फल विद्यमान हैं, ऐसे उदक वाले मेघ (वल) को गर्जना से विदीर्ण कर दिया।[२] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि पहले जब सूर्य ने तमस् का विनाश कर दिया, तब वज्र वाले इन्द्र ने इस असुर के अस्त्र फलिग (मेघ) को निरसित कर दिया।[३] वामदेव ऋषि कहते हैं कि उस बृहस्पति ने शोभनस्तुति एवं दीप्तियुक्त गण की गर्जना से फलिग अर्थात् विशरण स्वभाव वाले मेघ (वल) को ताडित किया।[४] मेधातिथि काण्व ऋषि कहते हैं कि जिसने ऊपर जाने वाले मेघ को विदीर्ण किया, जलों को नीचे की ओर प्रवाहित किया तथा जो भूमियों में उदक को धारण करता है, वह इन्द्र है।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'फलिग' है, जिसकी वर्षा से सस्यादि सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। कहने का आशय यह है कि जिससे फल की प्राप्ति होती है, वह मेघ वेद में 'फलिग' नाम से अभिहित हुआ है। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए उपर्युक्त निर्वचन युक्तिसङ्गत माने जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त चार में से दो मन्त्रों में 'वल' और 'फलिग' का साथ-साथ प्रयोग देखने को मिलता है। इससे यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि 'फलिग' वल (मेघ) का विशेषण है।

१८.१९. उपर, उपल

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'उपर' और 'उपल' ये दो पद समाम्नात हैं। वस्तुतः, यह एक पद है, इनमें केवल रेफ और लकार का भेद है।[६] आचार्य यास्क 'उपर' और 'उपल' पदों का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**उपलो मेघो भवन्ति, उपरमन्तेऽस्मिन् अभ्राणि, उपरता आप इति वा**"[७] कि अभ्र स्थित होने के कारण 'पर्वत' तथा उदक स्थित होने के कारण 'मेघ' को 'उपर' या 'उपल' कहते हैं। इस पक्ष में 'उप+'रम्' से 'उपर' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'उपर' तथा 'उपल' का निर्वचन निम्नप्रकार करते हैं:-"**यदा पर्वतस्तदा उपेत्य रमन्ते ह्यस्मिन् अभ्राणीति, मेघपक्षे आप इति वा**"[८] कि जिस पर अभ्र रमण करते हैं, वह पर्वत 'उपर' नाम से अभिहित होता है। मेघपक्ष में जिसमें उदक रमण करते हैं, वह मेघ 'उपर' कहलाता है। इस पक्ष में 'उप+'रम्' से 'उपर' शब्द निष्पन्न होता है।

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७१८.

२ ऋ० १.६२.४. "सरण्युभिः फलिगमिन्द्र शक्र वलं रवेण दरयो दशग्वैः।"

३ ऋ० १.१२१.१०. "पुरा यत्सूरस्तमसो अपीतेस्तमद्रिवः फलिगं हेतिमस्य।"

४ ऋ० ४.५०.५. "स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण।"

५ ऋ० ८.३२.२५. "य उद्नः फलिगं भिनन्न्य१क्सिन्धूँरवासृजत्। यो गोषु पक्वं धारयत्।"

६ निघ० १.१०.१८-१९.

७ निरु० २.२१.

८ निघ०वृ०, १.१०.१८-१९.

(ख)''**उपरो जलवापनात्- इति माधवः**''[१] कि भूमि में उदक का वपन करने के कारण मेघ 'उपर' कहलाता है। इस पक्ष में 'वप्' धातु से 'अरन्' प्रत्यय होकर 'उपर' शब्द सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'उपर' शब्द को इन्दु, रजस्, रथ, भूमि प्रभृति का विशेषण तथा नामपद मानता है। जबकि 'उपल' पद को पाषाण वाचक नामपद मानता है तथा पदपाठकार उक्तपद का अनवगृहीत रूप में पाठ करते हैं। कोशकार के अनुसार उक्तपदद्वय की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स 'उपर' पद को अव्युत्पन्न मानते हैं और मोनियर विलियम्स 'उपर' का अर्थ 'नीचे स्थित' मानते हैं।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा यास्कीय निर्वचन को अस्पष्ट मानते हैं। वे सम्भावना व्यक्त करते हैं कि इसका शाब्दिक अर्थ 'ऊपर' है, जो लाक्षणिक रूप से 'मेघ' अर्थ में परिवर्तित हो गया है।[४]

वैदिक साहित्य में 'उपर' का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि अभिमत फल देने वाला इन्द्र अन्नादि हवि से स्तुति करने वाले के लिये द्युलोक से मेघों का दोहन करता है।[५] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि इन्द्र की प्रेरणा से पृथ्वी पर मेघों ने मधुर उदक वाली चार नदियों को उदक से भर दिया।[६] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि अच्छे प्रकार स्थापित अवश्याय की वर्षा करने वाली रात्रि के समान मेघमालायें विद्युत् के सम्मिलन से सुवर्णरूपमय हो जाती हैं।[७] भार्गव ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार अग्नि से रक्षित एवं स्तुति करते हुए गृत्समद आदि ऋषिगण मेघों को अपने अधीन कर लेते हैं, उसी प्रकार उनको सुन्दर वीरपुत्रादि भी प्राप्त हों।[८] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि इस वरुण में तीन द्युलोक और मेघों एवं षड् ऋतुओं से युक्त तीन पृथिवियाँ स्थित हैं।[९] वामदेव ऋषि ऋभुओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ऋभुओं को दिशाओं में दीप्यमान मेघों से सोम की प्राप्ति होती है।[१०] वसुक्र ऐन्द्र ऋषि कहते हैं कि देवताओं के निर्माण में जो प्रथम स्थान पर स्थित हैं, ऐसे अन्तरिक्ष (यास्क के अनुसार यह मेघों का विकर्तन स्थान है, यहाँ मेघों का छेदन-भेदन किया जाता है) से मेघ उत्पन्न होते हैं।[११]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'उपर' है, जो मधुर नदियों को प्रवाहित करता है, विद्युत् के सम्मिलन से सुवर्णमय होकर स्तुति करने वाले ऋषियों के अधीन हो जाता है,

---

१ निघ०वृ०, १.१०.१८-१९.

२ वै०पद०को०, पृ० ९३७, ९३९.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० १४३. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २०४.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १२८.

५ ऋ० १.५४.७. ''उक्था वो यो अभिगृणाति राधसा दानुरस्मा उपरा पिन्वते दिवः।''

६ ऋ० १.६२.६. ''उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन्मध्वर्णसो नद्य१श्चतस्रः।''

७ ऋ० १.१६७.३. ''मिम्यक्ष येषु सुधिता घृताची हिरण्यनिर्णिगुपरा न ऋष्टिः।''

८ ऋ० २.४.९. ''त्वया यथा गृत्समदासो अग्ने गुहा वन्वन्त उपराँ अभि ष्युः।''

९ ऋ० ७.८७.५. ''तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन्तिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः।''

१० ऋ० ४.३७.३. ''जुह्वे मनुष्यवदुपरासु विक्षु युष्मे सचा बृहद्दिवेषु सोमम्।''

११ ऋ० १०.२७.२३. ''देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्।''

इसका स्थान वरुणलोक है, सृष्टि निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करने वाले अन्तरिक्ष में इन्हीं मेघों का छेदन-भेदन होता है। उक्त अध्ययन से 'उपर' का कोई विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है, यह मेघ का एक सामान्य वर्णन है। 'उपर' शब्द के विषय में एक सम्भावना दिखायी देती है कि मेघ के लिये प्रयुक्त 'उपर' पद रूप और अर्थ की दृष्टि से हिन्दी भाषा में 'ऊपर' रूप में विद्यमान है। इसके मूल में सम्भवतः, कारण यह है कि मेघ मनुष्य की दृष्टि की अपेक्षा ऊँचाई पर स्थित होते हैं। इसलिये कालान्तर में 'उपर' का मेघ अर्थ उक्त पद से वियुक्त हो गया और उसके साथ लाक्षणिक अर्थ 'ऊपर' जुड़ गया।

२०. चमसः

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'चमस' पद पठित है।[१] आचार्य यास्क 'चमस' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**चमसः कस्मात्, चमन्त्यस्मिन्निति वा**"[२] कि पात्र को इसलिये 'चमस' कहते हैं, क्योंकि इसमें खाया जाता है। इस पक्ष में 'चम्' धातु से 'चमस' रूप निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'चमस' का निर्वचन निम्नप्रकार करते हैं:-"**चमसः मेघः। 'चमु' अदने**"[३] कि 'चमस' शब्द अदनार्थक 'चम्' धातु से निष्पन्न होता है। इसमें स्थित उदक का सब भक्षण करते हैं, अतः, मेघ को 'चमस' कहते हैं।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'चमस' पद को पात्रवाचक मानता है। उक्तकोष तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'चमस' का मूल 'चम्' धातु को मानते हैं।[४] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं वाजसनेयि-संहिता में 'चमस' शब्द धार्मिक उत्सवों के समय सोमपान करने के पात्र या चौकोर आकार वाली काष्ठ की स्थाली के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[५] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि यह 'चम्' धातु भारोपीय भाषा में 'qu̥em' शनैः शनैः पान और निगरण करने के अर्थ में तथा आधुनिक आईसेलेण्डिश भाषा में 'hvoma' निगरण करने के अर्थ में पायी जाती है। वे उक्त निर्वचन को तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के द्वारा स्वीकार्य मानने की सम्भावना व्यक्त करते हैं।[६]

वैदिक साहित्य में 'चमस' का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस कुत्स ऋषि ऋभुओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि प्राणों को भोजन देने वाले चमस (जिससे उत्पन्न हुए अन्न को सब खाते हैं, ऐसे मेघ) को एक होते हुए हम ऋभुओं ने चार बना दिया।[७] काण्व मेधातिथि ऋषि ऋभुओं का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि त्वष्टा देव के द्वारा बनाये गये उस नवीन चमस को ऋभुओं ने चार भागों में विभक्त कर दिया।[८]

---

१ निघ० १.१०.२०.

२ निरु० १०.१२.

३ निघ०वृ०, १.१०.२०.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० २००. वै०पद०को०, पृ० १३१०.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३८८.

६ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ६३.

७ ऋ० १.११०.३. "त्यं चिच्चमसमसुरस्य भक्षणमेकं सन्तमकृणुता चतुर्वयम्।"

८ ऋ० १.२०.६. "उत त्यं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्। अकर्त चतुरः पुनः।"

दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि हे शीघ्रगामी भ्राता अग्ने! जो महाकुल वाले चमस को प्राप्त होता है, उसकी हम (ऋभु) निन्दा नहीं करते तथा उसके ऐश्वर्य को बतलाते हैं।[१] इसी प्रकरण में वे आगे कहते हैं कि एक चमस को चार बनाओ, ऐसा देवताओं ने कहा है और उसीके लिये हम (ऋभु) आये हैं।[२] वे पुनः कहते हैं कि छिन्न-भिन्न करने वाला सूर्य किरणों से पीने योग्य चमस को बतलाता है और जो इस इस विद्या को स्वीकार नहीं करता है, उसको हम (ऋभु) मारें।[३] दीर्घतमा ऋषि ऋभुओं का वर्णन करते हुए आगे कहते हैं कि छिन्न-भिन्न करने वाला त्वष्टा (सूर्य) जब इन चार चमसों को बनाकर विख्यात करता है, तब वह भूमियों पर यानों को चलाता है।[४] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहते हैं कि किसी ने उदक और किसी ने अग्नि को श्रेष्ठ माना है और कोई बढ़ती हुई भूमि को उत्कृष्ट बतलाता है। इस प्रकार सत्य बातों को कहते हुए चमसों को खण्ड-खण्ड कर दिया।[५] विश्वामित्र ऋषि ऋभुओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ऋभुगण जिन कर्मों से चमसों (मेघों) को खण्ड-खण्ड और जिस बुद्धि से चर्म के द्वारा गो (गर्जना) को प्राप्त करते हैं, उससे वे देवत्व को प्राप्त हुए।[६] वामदेव ऋषि कहते हैं कि ज्येष्ठ ऋभु ने कहा कि एक को दो, कनीय ने कहा कि तीन और कनिष्ठ ने कहा कि चार करो। इस प्रकार त्वष्टा (सूर्य) ने इनके वचनों की प्रशंसा की।[७] दमन यामानयन ऋषि अग्नि का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे अग्ने! चमस को नष्ट मत करो, यह देवताओं और प्राणों का प्रिय है। पान करने वाले इस चमस में अमृत को पाकर देवता आनन्दित होते हैं।[८] मैत्रायणी-संहिता कहती है कि ऋषियों ने चमस से छन्दों (मन्त्रों) और पशुओं को दुहा।[९]

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'चमस' के साथ निम्न तत्त्व घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं:- १. ऋभुगण। २. चमस का चतुरत्व। ३. त्वष्टा। ४. देवपान। जिनमें 'चमस' का उल्लेख पाया जाता है, ऋग्वेद के उन सभी मन्त्रों के देवता ऋभुगण हैं। निरुक्त में ऋभुगण मध्यस्थानी देवताओं में परिगणित हैं।[१०] इसी प्रकार त्वष्टा का सम्बन्ध भी मध्यस्थानी देवों के साथ है। निघण्टु के मेघवाचक नामपदों में 'चमस' पद समाम्नात है। इस प्रकार 'चमस' वे मेघ हैं, जिनको ऋभुगण त्वष्टा देव की सहायता से खण्डित करते हैं। सम्भवतः, इसलिये ऋषि बार-बार इनके चतुर्धा विभक्त होने अर्थात् अन्तरिक्ष, वायु, अग्नि और भूमि में बँट

---

१ ऋ० १.१६१.१. "न निन्दिम चमसं यो महाकुलोऽग्ने भ्रातर्द्रुण इद्भूतिमूदिम।"

२ ऋ० १.१६१.२. "एकं चमसं चतुरः कृणोतन तद्वो देवा अब्रुवन् तद्व आगमम्।"

३ ऋ० १.१६१.५. "हनामैनाँ इति त्वष्टा यदब्रवीच्चमसं ये देवपानमनिन्दिषुः।"

४ ऋ० १.१६१.४. "यदावाख्यच्चमसाञ्चतुरः कृतानादित्त्वष्टा ग्नास्वन्तर्न्यानजे।"

५ ऋ० १.१६१.९. "आपो भूयिष्ठ इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत्। वर्धयन्तीं बहुभ्यः प्रैको अब्रवीदृता वदन्तश्चमसाँ अपिंशत।"

६ ऋ० ३.६०.२. "याभिः शचीभिश्चमसाँ अपिंशत यया धिया गामरिणीत चर्मणा।"

७ ऋ० ४.३३.५. "ज्येष्ठ आह चमसा द्वा करोति कनीयान्त्री कृणवामेत्याह। कनिष्ठ आह चतुरस्करेति त्वष्टा ऋभवस्तत्पनीयद्वचो वः।"

८ ऋ० १०.१६.८. "इममग्ने चमसं मा जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम्। एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन्देवा अमृता मादयन्ते।"

९ मै०सं० ४.२.१३. "ऋषयोऽदुह (गाम्) चमसेन छन्दांसि च पशूंश्च।"

१० निरु० ११.१५.

जाने का उल्लेख करता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'चमस' का 'चम्' धातुमूलक निर्वचन युक्तिसङ्गत माना जा सकता है, क्योंकि मन्त्र 'चमस' को महाकुल वाला बतलाता है।[१] मैत्रायणी-संहिता भी चमस को छन्द और पशुओं का दोहन करने वाला कहती है[२] और यह तभी सम्भव है, जब मेघ से भोजन देने वाला उदक प्राप्त हो। इसलिये 'चमस' का अर्थ है, जिससे या जिसमें उत्पन्न हुए अन्न को सब प्राणी खाते हैं।

२१. अहि:

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'अहि' पद समाहित है।[३] शतपथ-ब्राह्मण 'अहि' का निर्वचन करता हुआ कहता है:-"**अथ (वृत्र:) यदपात्समभवत् तस्मादहि:**"[४] कि इसके अनन्तर जो उदक का पान करने से उत्पन्न हुआ, इसलिये उसे 'अहि' कहते हैं। इस पक्ष में 'अपात्' से 'अहि' शब्द निष्पन्न होता है।

जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है:-"**अथ यद् (श्वित्र आङ्गिरस: स्वर्गाल्लोकात्) अहीयत तदहीनामहित्वम्**"[५] कि श्वित्र आङ्गिरस स्वर्गलोक से अलग हुए या उससे ऊपर उठ गये, यह अहि का अहित्व है। इस पक्ष में त्यागार्थक 'हा' अथवा गति और वृद्धि अर्थ वाली 'हि' धातु से 'अहि' रूप निष्पन्न होता है। ऐतरेय-ब्राह्मण कहता है:-"**अहीनानि वा एतान्यहानि न ह्येषु किञ्चन हीयते**"[६] कि ये दिवस अहीन हैं, क्योंकि इनमें कुछ भी न्यून नहीं होता है। इस पक्षमें 'न+'हा' त्यागे' धातु से 'अहि' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य यास्क 'अहि' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**अहिरयनात्। एत्यन्तरिक्षे**"[७] कि मेघ अन्तरिक्ष में गमन करता है, अत:, उसे 'अहि' कहते हैं। इस पक्ष में गत्यर्थक 'इण्' धातु से 'इन्' प्रत्यय होकर 'अयि' और उससे 'अहि' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'अहि' शब्द का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**अहि: (मेघ:)। 'इण्' गतौ यद्वा, अहि' गतौ'। एत्यन्तरिक्षे**"[८] कि मेघ अन्तरिक्ष में गमन करता है, अत:, उसे 'अहि' कहते हैं। इस पक्ष में गत्यर्थक 'इण्' या 'अह्' धातु से 'इन्' प्रत्यय होकर 'अहि' रूप सिद्ध होता है।

(ख)"**यद्वा, 'अह' व्याप्तौ'। अह्नोति व्याप्नोति आकाशं दिगन्तराणि वा**"[९] कि आकाश अथवा दिशाओं को व्याप्त करता है, अत:, मेघ को 'अहि' कहते हैं। इस पक्ष में व्याप्ति अर्थ वाली 'अह्' धातु से 'इन्' प्रत्यय होकर 'अहि' शब्द निष्पन्न होता है।

(ग)"**यद्वा, आङ्पूर्वाद्धन्ते: हिंसार्थत्वाद् गत्यर्थाद्वा। आ समन्तात् हन्ति भिनत्ति उष्णमाभिमुख्येन, हन्ति**

---

१ ऋ० १.१६१.१. "न निन्दिम चमसं यो महाकुलोऽग्ने भ्रातर्दुण इद्भूतिमूदिम।"

२ मै०सं० ४.२.१३. "ऋषयोऽदुह्र (गाम्) चमसेन छन्दांःसि च पशूःश्च।"

३ निघ० १.१०.२१.

४ शत०ब्रा०, १.६.३.९.

५ जै०ब्रा०, ३.७७.

६ ऐ०ब्रा०, ६.१८.

७ निरु० २.१७.

८ निघ०वृ०, १.१०.२१.

९ निघ०वृ०, १.१०.२१.२८५.निघ०वृ०, १.१०.२१.

गच्छत्यन्तरिक्षम्''[१] कि यह उष्णता को सामने से मारता है अथवा यह अन्तरिक्ष में गमन करता है, अत:, मेघ को 'अहि' कहते हैं। इस पक्ष में 'आ+'हन्'+इण्+डित्' से 'अहि' शब्द उपपन्न होता है।

(घ)''**यद्वा, केवलादेव हन्तेः। हि हन्ता, न हन्ता अहन्ता, अहिः अहिंसक इत्यर्थः, सर्वदा लोकस्य वर्षप्रदत्वात्**''[२] कि यह 'अहि' शब्द 'नञ् उपसर्ग पूर्ववाली 'हन्' धातु से निष्पन्न होता है। 'हि' का अर्थ है 'हन्ता'। जो हन्ता नहीं है, वह 'अहि' अर्थात् अहिंसक है। लोक को सर्वदा वर्षा का उपहार देने के कारण मेघ 'अहि' नाम से अभिहित होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अहि' पद को सर्प, वृत्र, मेघ वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[३] वेद में अनेकशः 'हन्' धातु से 'अहि' के व्युत्पन्न होने के सङ्केत प्राप्त होते हैं।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अहि' को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'अह्' धातु को 'अहि' शब्द का मूल स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'अहि' का अर्थ सर्प, आकाश का सर्प, वृत्रासुर है।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि भारोपीय भाषा में 'anguฺ(h)i' सर्प अर्थ में तथा लिथुआनियन में 'angis' सर्प अर्थ में है। वे यास्क के उक्त निर्वचन को असङ्गत मानते हैं।[७] लेकिन डॉ. वर्मा यास्क के निर्वचन को समझने में असफल रहे हैं। इसका कारण यह है कि यास्क के मत में 'अहि' का मूल 'इण्' धातु है, जबकि डॉ. वर्मा 'इ'+आ+'हन्' मान रहे हैं। इसलिये निर्वचन के सम्बन्ध में निकाला गया उनका निष्कर्ष भ्रामक है। वैदिक साहित्य में 'अहि' का बहुत प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं कि इन्द्र ने अहि (मेघ) को मारकर उदक को निकल जाने दिया और पर्वतों (मेघों) की नदियों का भेदन किया।[८] आगे वे कहते हैं कि इन्द्र ने अहि का वध करने के पश्चात् असुरों की माया को नष्ट किया।[९] एक अन्य मन्त्र में वे कहते हैं कि पर्वत पर आश्रय लेने वाले अहि का इन्द्र ने वध किया और त्वष्टा (सूर्य) ने इसके लिये गर्जना करने वाले वज्र का निर्माण किया।[१०] अहि को मारने की प्रक्रिया को बतलाते हुए ऋषि आगे कहते हैं कि जिस प्रकार कोई कुलिश (कुल्हाड़ी) से शाखाओं को काटकर वृक्ष को धराशायी कर देता है, उसी प्रकार इन्द्र ने अहि के खण्ड-खण्ड कर दिये और अब वह पृथ्वी पर पड़ा हुआ है।[११] इसी क्रम में वे आगे कहते हैं कि

---

१ निघ०वृ०, १.१०.२१.

२ निघ०वृ०, १.१०.२१.

३ वै०पद०को०, पृ० ६५८.

४ ऋ० १.३२.१, ४, ८०.१३, १०३.२, २.११.५, १२.३, ११, १५.१, १९.१, २८.१, ५.२९.३, ८, ३१.४, ६.७२.३.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ८५.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२५.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ११८.

८ ऋ० १.३२.१. ''अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम्।''

९ ऋ० १.३२.४. ''यदिन्द्राहन्प्रथमजामहीनामान्मायिनामामिनाः प्रोत माया।''

१० ऋ० १.३२.२. ''अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।''

११ ऋ० १.३२.५. ''स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक्पृथिव्याः।''

जिन उदकों में वृत्र अपनी महिमा से प्रतिष्ठित था, उन्हीं उदकों के चरणों में अब वह अहि (मेघ) सोया हुआ है।[१] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि इन्द्र ने जब बल से आवृत करने वाले (वृत्र) एवं आहन्ता (अहि) मेघ का वध किया, तब सूर्य द्युलोक में दिखायी दिया।[२] रहूगणपुत्र गोतम ऋषि कहते हैं कि सुवर्ण सदृश केशों वाला एवं शीघ्रगामी अग्नि (विद्युत्) उदक के निरसन काल में वायु के समान अहि को कम्पित कर देता है। ऋषि कहता है कि इस विज्ञान को उषा नहीं जानती है, इसको जानने वाला केवल अग्नि है।[३] एक अन्य मन्त्र में रहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि स्वराज्य की स्थापना करता हुआ बलवान् एवं वज्रवाला इन्द्र अपने ओज से पृथिवी के अहि (मेघ) को पूरी तरह से दूर कर देता है।[४] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि जब वृत्र ने अशनि तथा इन्द्र ने वज्र से युद्ध किया, उस समय अहि को मारने की इच्छा वाले इन्द्र का बल द्युलोक में व्याप्त था।[५] आङ्गिरस कुत्स ऋषि इन्द्र का स्तवन करते हुए कहते हैं कि वह इन्द्र पृथ्वी को धारण एवं विस्तीर्ण करता है। इसके अतिरिक्त वज्र के प्रहार से वह उदक को बाहर निकालता है। वह अहि का वध करता है तथा रोहिणी नक्षत्र में होने वाले मेघ का भेदन करता है और वह मघवा अपने कर्मों से उसको धड़ से अलग करता है अर्थात् उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों का छेदन करता है।[६] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि हमारे लिये अन्तरिक्षस्थ मेघ सुख देने वाला हो और हमको रस से तृप्त करती हुई नदी उसी प्रकार हमारी ओर आये, जिस प्रकार दुग्धपान कराने के लिये गौ वत्स के पास आती है।[७] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि जब वृत्र ने उदक को पी लिया, इसलिये उसे 'अहि' कहते हैं, उस (अहि) को दनु और दनायु ने माता-पिता के समान ग्रहण कर लिया, इस कारण मेघ को 'दानव' कहा जाता है।[८] इस प्रकार ब्राह्मण के कथन का अभिप्राय यह है कि अवस्था के भेद से एक मेघ अनेक नाम वाला हो जाता है; आवृत कर देने से वह 'वृत्र', उदक का पान करने से वह 'अहि' एवं दनु तथा दनायु के सम्बन्ध से वह 'दानव' नाम से अभिहित होता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'अहि' है, जो सर्वप्रथम (सृष्ट्युत्पत्ति के समय) उत्पन्न होता है, इस मेघ के वध से माया का नाश और उदक प्रवाहित होता है, इस अहि का नाश करने के लिये त्वष्टा स्वयं वज्र का निर्माण करके इन्द्र को देता है, वध के उपरान्त यह अहि

---

१ ऋ० १.३२.८. "याश्चिद्वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत्तासामहिः पत्सुतःशीर्बभूव।"

२ ऋ० १.५१.४. "वृत्रं यदिन्द्र शवसावधीरहिमादित्सूर्यं दिव्यारोहयो दृशे।"

३ ऋ० १.७९.१. "हिरण्यकेशो रजसो विसारेऽहिर्धुनिर्वात इव ध्रजीमान्।"

४ ऋ० १.८०.१. "शविष्ठ वज्रमोजसा पृथिव्या निः शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम्।"

५ ऋ० १.८०.१३. "यद्वृत्रं तव चाशनिं वज्रेण समयोधयः। अहिमिन्द्र जिघांसतो दिवि ते बद्बधे शवोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्।"

६ ऋ० १.१०३.२. "स धारयत्पृथिवीं पप्रथच्च वज्रेण हत्वा निरपः ससर्ज। अहन्नहिमभिनद्रौहिणं व्यहन्व्यंसं मघवा शचीभिः।"

७ ऋ० १.१८६.५. "उत नोऽहिर्बुध्न्यो३ मयस्कः शिशुं न पिप्युषी वेति सिन्धुः।"

८ शत०ब्रा०, १.६.३.९ "अथ (वृत्रः) यदपात्समभवत्तस्मादहिस्तं दनुश्च दनायुश्च मातेव च पितेव च परिजगृहतुस्तस्माद्दानव इत्याहुः।"

निगृहीत उदकों के चरणों में पड़ा सोया रहता है, वृत्र और अहि के वध के पश्चात् सूर्य द्युलोक में दिखायी देता है, अहि नामक मेघ से उदक निरसित करने की कला केवल अग्नि (विद्युत्) को ज्ञात है, उषा इस रहस्य से अनभिज्ञ है, इन्द्र अपनी शक्ति से अहि को खण्ड-खण्ड करके, उसे पृथ्वी से दूर भगा देता है।

उक्त अध्ययन में यह तथ्य विशेष रूप से उभरकर सामने आया है कि ऋषि वृत्र और अहि का एक साथ उल्लेख प्रायः करता है। सम्भवतः, इसका कारण यह है कि ऋषि वृत्र और अहि को एक मानकर वर्णन करता है और दूसरा कारण यह प्रतीत होता है कि मेघ की वृत्र और अहि नाम की अवस्थाओं में अधिक भेद नहीं है। यह कथन उपर्युक्त विवेचन में उद्धृत शतपथ-ब्राह्मण के उद्धरण से भी पुष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त विवेचन में मेघ की अहि अवस्था से मुक्त होने का गम्भीर प्रयास होता दिखायी देता है। इसका कारण यह है कि यह मेघ सम्भवतः, आहन्ता स्वभाव वाला है, तभी इन्द्र इसको खण्ड-खण्ड करता है। अतः, उक्त विशेषता को ध्यान में रखते हुए 'अहि' का निर्वचन 'आ+'हन्' धातु से युक्तिसङ्गत माना जा सकता है। वेद से भी इस निर्वचन का व्यापक समर्थन हो जाता है।

२२. अभ्रः

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'अभ्र' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'अभ्र' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अभ्रत्यन्तरिक्षे**''[२] यह अन्तरिक्ष में गमन करता है, अतः, मेघ को 'अभ्र' कहते हैं। इस पक्ष में गत्यर्थक 'अभ्र्' धातु से 'अभ्र' शब्द सिद्ध होता है।

(ख)''**अप्शब्दे कर्मण्युपपदे रातेर्दानार्थात् आपो रातीति वा**''[३] कि उदक का दान करने के कारण मेघ को 'अभ्र' कहते हैं। इस पक्ष में 'अप्' शब्द उपपद होने पर 'रा' धातु से 'क' प्रत्यय होकर 'अभ्र' रूप निष्पन्न होता है।

(ग)''**नञ्पूर्वात् भ्रंसतेः। न भ्रंस्यन्त्यस्मादापो वर्षासमयादन्यत्रेति वा**''[४] कि वर्षा के अतिरिक्त अन्य समय इससे उदक नहीं गिरता है, अतः, मेघ को 'अभ्र' कहते हैं। इस पक्ष में 'न+भ्रंस्' धातु से 'अभ्र' शब्द निष्पन्न होता है।

(घ)''**यद्वा, भ्राजतेः। न भ्राजते वर्षासु मलिनवर्णत्वात्**''[५] कि यह वर्षा ऋतु में दीप्तिमान् होता है, अतः, मेघ को 'अभ्र' कहते हैं। इस पक्ष में 'न+'भ्राज्' धातु से 'ड' प्रत्यय होकर 'अभ्र' शब्द सिद्ध होता है।

आचार्य शङ्कर छान्दोग्योपनिषद् का भाष्य करते हुए 'अभ्र' का निम्न निर्वचन प्रस्तुत करते हैं:- ''**अभ्राण्यब्भरणाद्**''[६] कि उदक को धारण करने के कारण मेघ को 'अभ्र' कहते हैं। इस पक्ष में 'अप्+'भृ'

---

१ निघ० १.१०.२२.

२ निघ०वृ०, १.१०.२२.

३ निघ०वृ०, १.१०.२२.

४ निघ०वृ०, १.१०.२२.

५ निघ०वृ०, १.१०.२२.

६ शाङ्करभाष्य, छान्दो०, २.१५.१.

से 'अभ्र' शब्द उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अभ्र' को नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद 'अप्' धातु से व्युत्पन्न होता है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अप्' धातु से 'अभ्र' पद को व्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स गत्यर्थक 'अभ्र्' धातु को 'अभ्र' शब्द का मूल मानने के पक्ष में हैं। वे छान्दोग्योपनिषद् के आधार पर 'अभ्र' पद का अर्थ 'उदक धारण करने वाला बतलाते हैं, लेकिन ऋग्वेद में उनके अनुसार यह मेघ, विद्युत् युक्त मेघ, वर्षा ऋतु अर्थ में है। अन्य भाषाओं से तुलना करते हुए कहते हैं कि ग्रीक में यह 'oubpos' तथा लैटिन में यह 'imber' है।[३]

वैदिक साहित्य में 'अभ्र' शब्द का पर्याप्त उल्लेख देखने को मिलता है। ऋग्वेद में रहूगणपुत्र गोतम ऋषि कहते हैं कि जब कल्याणकारिणी और प्रसन्नवदना कान्ता के समान विद्युत् आती है, उस समय अभ्र गर्जना करते हैं और उनसे उदक निरसित होता है।[४] वामदेव ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं कि वायु के समान वह इन्द्र बार-बार गर्जना करने वाले मेघों से इस जगत् के बल को प्रेरित करता है।[५] आत्रेय ऋषि कहते हैं कि मित्रावरुण (सूर्य और वायु) पूजनीय मेघों के समीप स्थित होते हैं और असुर (उदक निरसन करने वाले पर्जन्य) की माया (सामर्थ्य) से गर्जना करते हुए द्युलोक से वृष्टि करते हैं।[६] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि मरुद्गण अपने सामर्थ्य या प्रज्ञा से मेघों को आच्छादित करते हैं और मित्रावरुण के साथ मिलकर अविघातिनी वृष्टि को बरसाते हैं।[७] अत्रि ऋषि अभ्र की विद्युत् को द्युलोक से उदकसङ्घात की वृष्टि करने वाले बतलाते हैं।[८] अयास्य ऋषि कहते हैं कि वह बृहस्पति मेघ से किरणों को उसी प्रकार फैला देता है, जिस प्रकार वायु मेघ को।[९] सिन्धुक्षित् ऋषि कहते हैं कि जब यह वेगवाली नदी वृषभ की तरह शब्द करती हुई बहती है, उस समय मेघगर्जना के समान शब्द होता है।[१०] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि अग्नि से धूम, उससे अभ्र और अभ्र से वृष्टि होती है।[११]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'अभ्र' है, जो कल्याणकारिणी एवं प्रसन्नवदना कान्ता के समान विद्युत् के साथ गर्जना करता हुआ आता है, यह जगत् के बल को प्रेरित करने वाला है एवं मित्रावरुण के समीप स्थित है और इसके माध्यम से द्युलोक स्वयं बरसता है। इसके अतिरिक्त

---

१ वै०पद०को०, पृ० ३१९.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ३६.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७९.

४ ऋ० १.७९.२. ''शिवाभिर्न स्मयमानाभिरागात्पतन्ति मिहः स्तनयन्त्यभ्रा।''

५ ऋ० ४.१७.१२. ''यो अस्य शुष्मं मुहुकैरियर्ति वातो न जूतः स्तनयद्भिरभ्रैः।''

६ ऋ० ५.६३.३. ''चित्रेभिरभ्रैरुप तिष्ठथो रवं द्यां वर्षयथो असुरस्य मायया।''

७ ऋ० ५.६३.६. ''अभ्रा वसत मरुतः सु मायया द्यां वर्षयतमरुणामरेपसम्।''

८ ऋ० ५.८४.३. ''यत्ते अभ्रस्य विद्युतो दिवो वर्षन्ति वृष्टयः।''

९ ऋ० १०.६८.५. ''बृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः।''

१० ऋ० १०.७५.३. ''अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत्।''

११ शत०ब्रा०, ५.३.५.१७.

इस अभ्र से होने वाली वृष्टि अविघातिनी मानी जाती है, क्योंकि वह कल्याणकारिणी होती है। उक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि जिस प्रकार ऋषि 'अहि' और 'वृत्र' का प्रायः सर्वत्र वध होते हुए दिखलाता है, वहाँ इसके विपरीत वह 'अभ्र' का स्वागत करता हुआ दिखायी दे रहा है। अहि का वध करने के लिये वज्र लिये हुए इन्द्र हमेशा तत्पर दिखायी देते हैं, उस प्रकार वे 'अभ्र' का हनन करने के लिये उद्यत दिखायी नहीं देते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'अप्+'भृ' निर्वचन सर्वाधिक सङ्गत निर्वचन प्रतीत होता है।

२३. वलाहक, बलाहक

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'वलाहक' पद पठित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'वलाहक' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**वलाकाभिर्हीयते गम्यते इति वलाहकः**''[२] कि बकपङ्क्तियों के द्वारा यह ले जाया जाता है, अतः, मेघ को 'बलाहक' कहते हैं। इस पक्ष में 'बलाका+'हा' से 'बलाहक' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''**वारिवाहको वा**''[३] कि उदक का वहन करने के कारण मेघ को 'बलाहक' कहा जाता है। इस पक्ष में 'वारि+वाहक' से 'वारिवाहक' और उससे वर्णव्यत्यय करके 'बलाहक' रूप निष्पन्न होता है।

(ग)''**वराहशब्दाद्वा**''[४] कि वराह शब्द से 'बलाहक' शब्द निष्पन्न होता है। देवराज कहते हैं कि असाधरण अर्थप्रदर्शन के लिये कुछ भेद के साथ 'वराह' का पुनः पाठ किया गया है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'बलाहक' पद को हानिकारक अर्थ में राक्षस का विशेषण मानता है। कोशकार के मत में उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[५] संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ में 'बल+आ+'हा'+क्वुन्' से 'बलाहक' शब्द को व्युत्पन्न माना है।[६] मोनियर विलियम्स 'बलाहक' शब्द को अव्युत्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार प्रलय के समय उपस्थित होने वाले सात मेघों में से एक मेघ 'बलाहक' है, परन्तु कोश के अतिरिक्त इस विषय में अन्य कोई प्रमाण नहीं मिलता है।[७]

वैदिक साहित्य में मात्र पैप्पलाद-संहिता में उक्त पद का एक बार प्रयोग हुआ है,[८] अतः, प्रमाण के अभाव में उक्तपद का स्वरूप निर्धारण कर पाना सम्भव नहीं है। आचार्य देवराजयज्वन् उक्त पद के विषय में '**निगमोऽन्वेषणीयः**' कहकर अपनी लेखनी को विराम देते हैं।[९]

---

१ निघ० १.१०.२३.

२ निघ०वृ०, १.१०.२३.

३ निघ०वृ०, १.१०.२३.

४ निघ०वृ०, १.१०.२३.

५ वै०पद०को०, पृ० २२६७.

६ संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ, पृ० ८२३.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७२३.

८ पै०सं० ६.१४.२. वै०पद०को०, पृ० २२६७.

९ निघ०वृ०, १.१०.२३.

२४. मेघ:

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'मेघ' पद समाम्नात है।[१] आचार्य यास्क 'मेघ' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**मेघः कस्मात्, मेहतीति सतः**''[२] कि यह सिञ्चन करता है, अतः, इसे मेघ कहते हैं। इस पक्ष में सिञ्चन अर्थ वाली 'मिह्' धातु से 'मेघ' शब्द उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'मेघ' का निम्न निर्वचन करते हैं:-''**मेहति सिञ्चति वर्षणं भूमिं मेघः**''[३] कि यह वर्षा से भूमि को सींचता है, अतः, इसे 'मेघ' कहते हैं। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

आचार्य शङ्कर 'मेघ' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**मेघ उदकसेक्तृत्वात्**''[४] कि उदक का सिञ्चन करने के कारण मेघ को 'मेघ' कहते हैं। इस पक्ष में सिञ्चन अर्थ वाली 'मिह्' धातु से 'मेघ' रूप निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची मेघ का मूल 'मिघ्' ('मिह्') को मानते हैं।[५] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के समर्थक हैं।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि भारोपीय भाषा में यह शब्द 'meigh' चमकना, अन्धकार और मेघ अर्थ में है तथा आर्मेनियन भाषा में 'meg' कुहरा अर्थ में है। वे राजवाडे के मत को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि यास्क का मेघ का निर्वचन यह सङ्केत देता है कि 'मेहन' का अर्थ 'सिञ्चन करना' है। वे कहते हैं कि यह अर्थ केवल धातुपाठ में पाया जाता है, राजवाडे ने ऐसा कोई प्रमाण नहीं दिया है, जिससे यह सिद्ध हो सके कि उक्त अर्थ वैदिक साहित्य और वैदिक पूर्व साहित्य में पाया जाता है। लेकिन सैन्टपीटर्सबर्ग ने वैदिक और पूर्व वैदिक साहित्य के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, जिससे यह पुष्ट होता है कि उक्त धातु का अर्थ 'मूत्र करना' है। यह अर्थ अनेक भारोपीय भाषाओं से प्रमाणित होता है, जैसे- अवेस्ता में 'maezaiti' मूत्र करना तथा लैटिन में 'mingere' मूत्र करना। डॉ. वर्मा का मत है कि 'मूत्र करने' अर्थ से 'सिञ्चन' अर्थ में परिवर्तन सम्भवतः, लाक्षणिक है।[७]

वैदिक साहित्य में 'मेघ' शब्द का अत्यल्प उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में मात्र एक-एक बार उक्त पद का प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार पृथिवी के सेचन में समर्थ मेघ अभीष्ट को देता हुआ तृप्ति प्रदान करता है, उसी प्रकार अश्विनीदेव हमारी कामनाओं को पूर्ण करें।[८] यजुर्वेद में प्रजापति ऋषि वातादि देवों को वर्णन करते हुए कहते हैं कि वात, धूम, अभ्र, मेघ,

---

१ निघ० १.१०.२४.

२ निरु० २.२१.

३ निघ०वृ०, १.१०.२४.

४ शाङ्करभाष्य, छान्दो०, २.१५.१.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ३९८. वै०पद०को०, पृ० २४८९.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८३१.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ८१-८२.

८ ऋ० १.१८१.८. ''वृषा वां मेघो वृषणा पीपाय गोर्न सेके मनुषो दशस्यन्।''

विद्युत् के चमकने एवं गर्जना करने तथा वर्षा के लिये सुन्दर यज्ञक्रिया हो।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'मेघ' कहलाता है, जिसके बरसने से अभीष्ट की पूर्ति होती है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए मेघ का ऊपर प्रस्तुत किया गया निर्वचन समीचीन माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में 'मिह' शब्द उदक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[२] सम्भवतः, यह 'मिह' कुछ रूप परिवर्तन के साथ मेघरूप में परिवर्तित हो गया है।

२५. दृतिः

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'दृति' पद समाम्नात है।[३] आचार्य देवराजयज्वन् 'दृति' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**दीर्य्यते इन्द्रेण**''[४] कि इन्द्र के द्वारा विदारित किये जाने के कारण मेघ 'दृति' कहलाता है। इस पक्ष में विदारण अर्थ वाली 'दृ' धातु से 'ति' प्रत्यय होकर 'दृति' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'दृति' पद को त्वच्, तन्मयभाजन वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'दृति' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स 'दृति' पद का मूल 'दृ' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह चर्म त्वचा, उदक या तरल पदार्थ रखने के लिये चर्मनिर्मितपात्र (मेघ) और धौङ्कनी का जोड़ा अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[७]

वैदिक साहित्य में 'दृति' का प्रयोग बहुत अधिक नहीं हुआ है। ऋग्वेद में वामदेव ऋषि कहते हैं कि इस सूर्य में परस्पर संयुक्त वायु, उदक एवं विद्युत् मिथुनरूप में प्रकाशित होते हैं। इसका मधुरगुण से युक्त चतुर्थ तत्त्व मेघ अन्तरिक्ष में ऊपर विराजमान रहता है।[८] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहते हैं कि अश्विनीदेव आकाशमार्ग को तृप्त करते हैं एवं मधुरता से युक्त मेघ को धारण करते हैं।[९] अत्रि ऋषि पर्जन्य देव का आह्वान करते हुए कहते हैं कि वह भूमि की ओर उन्मुख होकर गर्जनायुक्त शब्द और ओषधियों में उदकरूप गर्भ को स्थापित करे तथा इस उद्देश्य से उदक वाले रथ पर आरूढ़ होकर चारों ओर गमन करे। बँधे हुए मेघ के मुख को नीचे की ओर खोलो, जिससे निम्नोनत प्रदेश सम हो जायें।[१०] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि शुष्क दृति (चर्मपात्र या मेघ) के समान दिव्य उदक शुष्क तडाग में शयन करने वाले मण्डूक को प्राप्त

---

१ यजु०, २२.२६. ''वाताय स्वाहा धूमाय स्वाहाभ्राय स्वाहा मेघाय स्वाहा विद्योतमानाय स्वाहा।''

२ ऋ० १.७९.२. ''शिवाभिर्न स्मयमानाभिरागात्पतन्ति मिहः स्तनयन्त्यभ्रा।''

३ निघ० १.१०.२५.

४ निघ०वृ०, १.१०.२५.

५ वै०पद०को०, पृ० १६६४.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० २६३.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ४९१.

८ ऋ० ४.४५.१. ''पृक्षासो अस्मिन्मिथुना अधि त्रयो दृतिस्तुरीयो मधुनो वि रप्शते।''

९ ऋ० ४.४५.३. ''आ वर्तनिं मधुना जिन्वथस्पथो दृतिं वहेथे मधुमन्तमश्विना।''

१० ऋ० ५.८३.७. ''अभि क्रन्द स्तनय गर्भमा धा उदन्वता परि दीया रथेन। दृतिं सु कर्ष विषितं न्यञ्चं समा भवन्तूद्वतो निपादाः।''

होते हैं।[1] ब्रह्मातिथि काण्व ऋषि कहते हैं कि यह मधुर उदक का पात्र मेघ रथ से देखने योग्य स्थान पर स्थापित है, इसका अश्विनीदेव पान करें।[2]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'दृति' है, जो अन्तरिक्ष के मध्य मधुरगुणयुक्त है, इसको पर्जन्य देव ऐसे उद्घाटित करते हैं, जैसे कोई चर्मनिर्मित उदक छिड़कने के पात्र को उद्घाटित करता है। इस दृतिनामक मेघ की मुख्य विशेषता उसकी मधुरता है, जिसको देखते हुए उपर्युक्त निर्वचन सङ्गत प्रतीत नहीं होता है। लेकिन चर्मपात्र के समान अपावृत होने की विशेषता को ध्यान में रखते हुए 'दृ' धातुमूलक निर्वचन समीचीन माना जा सकता है।

२६. ओदनः

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'ओदन' पद समाम्नात है।[3] जैमिनीय-ब्राह्मण 'ओदन' का निर्वचन करता हुआ कहता है:-''**ताभ्यो(प्रजाभ्यः)ऽवर्षत्। तत ओदनोऽजायत। तमशित्वोदानान् स उदनोऽभवत्। तदुदनस्योदनत्वम्। उदनो ह वै नामैष तमोदन इति परोक्षमाचक्षते**''[4] कि वह प्रजा के लिये बरसा, उससे ओदन उत्पन्न हुए, उन ओदनों को खाकर वह उदन हुआ। यह उदन का उदनत्व है। उदन ही परोक्ष में ओदन कहा जाता है। इस पक्ष में 'उन्द्' धातु से 'उदन' और उससे 'ओदन' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'ओदन' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**ओदमुदकदानं मेघम्**''[5] कि उदक का दान करने वाला मेघ 'ओदन' कहा जाता है। इस पक्ष में 'उदक' पूर्व वाली 'दा' धातु से 'ओदन' शब्द उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् मेघवाचक 'ओदन' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**ओदनः (मेघः)। 'उदक+'दा'। ओदनः उदकदातेत्यर्थः**''[6] कि उदक का दान करने से मेघ 'ओदन' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'उदक' पूर्व वाली 'दा' धातु से 'ओदन' शब्द उपपन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, 'उन्दी' क्लेदने'। उनत्ति वनभूमिम् ओदनः**''[7] कि वनभूमि को आर्द्र करता है, अतः, मेघ को 'ओदन' कहते हैं। इस पक्ष में 'उन्द्' धातु से 'ओदन' शब्द निष्पन्न होता है। उक्त निर्वचन उणादिकोष सम्मत है।[8]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'ओदन' पद को नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति

---

१ ऋ० ७.१०३.२. ''दिव्या आपो अभि यदेनमायन्दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्।''

२ ऋ० ८.५.१९. ''यो ह वां मधुनो दृतिराहितो रथचर्षणे। ततः पिबतमश्विना।''

३ निघ० १.१०.२६.

४ जै०ब्रा०, ३.३४६.

५ निरु० ६.३४.

६ निघ०वृ०, १.१०.२६.

७ निघ०वृ०, १.१०.२६.

८ उणा०, २.७७. ''उन्देर्नलोपश्च।''

सन्दिग्ध है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'ओदन' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स 'ओदन' का मूल 'उन्द्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में यह पद उबले हुए या दुग्ध के साथ पकाये गये तण्डुल के अर्थ में प्रयुक्त है।[३] डॉ. वर्मा यास्कीय निर्वचन के सम्बन्ध में कहते हैं कि उसमें 'दा' धातु अतिरिक्त है। वे यास्कीय निर्वचन को तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा आंशिक रूप से स्वीकार करने योग्य मानते हैं। उनके अनुसार भारोपीय भाषा में यह शब्द 'aued' आर्द्र अर्थ में तथा अवेस्ता में 'aoda' स्रोत अर्थ में है।[४]

वैदिक साहित्य में, विशेषरूप से ऋग्वेद में, उक्त पद का मात्र तीन बार उल्लेख आया है। प्रियमेध ऋषि कहते हैं कि अत्यन्त कमनीय इन्द्र माध्यमिका वाणी से परिपक्व अर्थात् उदकदान करने में समर्थ मेघ का भेदन करता है।[५] कुरुसुति काण्व ऋषि कहते हैं कि इन्द्र अनेक मेघों के मध्य उदकदान करने में समर्थ मेघ को कर्ण पर्यन्त बाण खींचकर विद्ध करता है और उसके उपरान्त उसको धारण (विदारित) करता है।[६] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहते हैं कि इन्द्र निर्मित उदकों को इन्द्र की प्रेरणा से तीव्रगति वाला विष्णु (आदित्य) धारण करता है। असङ्ख्य पशुओं, दुग्ध में पकाये गये ओदन तथा उदक का मोषण करने वाले मेघ (वराह) को भी वही देता है।[७] इस मन्त्र में स्पष्टरूप से ऋषि ओदन पद का मेघ अर्थ में प्रयोग नहीं कर रहा है। वह यहाँ मेघ के लिये 'वराह' पद का प्रयोग करता है और उसे उदक का मोषण करने वाले के रूप में चित्रित करता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि दो में से तीन मन्त्रों में ऋषि ने ओदन के साथ 'पक्व' शब्द का प्रयोग किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह मेघ 'ओदन' है, जो परिपक्व अर्थात् उदकदान करने में समर्थ है। इस विशेषता को दृष्टि में रखकर कहा जा सकता है कि ओदन' का 'उन्द्' धातुमूलक निर्वचन सर्वथा समीचीन है। भात अर्थ में प्रयुक्त 'ओदन' शब्द परिपक्वता के साथ तण्डुल में व्याप्त उदक की प्रतीति भी कराता है। इसी प्रकार जो उदकदान की सामर्थ्य के कारण परिपक्व है, वह मेघ वेद की दृष्टि में 'ओदन' है।

२७. वृषन्धिः

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'वृषन्धि' पद पठित है।[८] आचार्य देवराजयज्वन् 'वृषन्धि' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"वृषन्धिः (मेघः)। 'वृषु' सेचने' इत्यनेन वृषा। शत्रुजयादिसाधनत्वात्

---

१ वै०पद०को०, पृ० १०७३.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० १६२.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २३५.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ५९.

५ ऋ० ८.६९.१४. "भिनत्कनीन ओदनं पच्यमानं परो गिरा।"

६ ऋ० ८.७७.६. "निराविध्यद्गिरिभ्य आ धारयत्पक्वमोदनम्। इन्द्रो बुन्दं स्वाततम्।"

७ ऋ० ८.७७.१०. "विश्वेत्ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्त्वेषितः। शतं महिषान्क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम्।"

८ निघ० १.१०.२७.

कामानां वर्षिता यज्ञः, सन्निधीयतेऽस्मिन्निन्द्रेण प्रहारकाले''[१] कि शत्रुजयादि के साधनों से सम्पन्न होने के कारण यज्ञ कामनाओं की वर्षा करने वाला है, प्रहारकाल में इन्द्र के द्वारा इसमें उदक धारण किया जाता है, अतः, मेघ 'वृषन्धि' कहलाता है। इस पक्ष में सेचनार्थक 'वृष्' धातु से 'कनिन्' प्रत्यय होकर 'वृषन्' तथा 'धा' धातु से 'कि' प्रत्यय होकर 'धि' और 'वृषन्+धि' के संयोग से 'वृषन्धि' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वृष्' धातुमूलक 'वृषन्धि' पद को पेटरसन प्रभृति के मत में वज्र वाचक नामपद है, जबकि वेङ्कट तथा सायण के मत में यह मेघ वाचक नाम और विशेषणपद है। पदपाठकार उक्तपद को अनवगृहीत रूप में उद्धृत करता है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स 'वृषन्धि' पद का मूल 'वृष्' धातु को मानते हैं।[३] मोनियर विलियम्स कहते हैं कि ऋग्वेद में यह सम्भवतः, विद्युत् अर्थ में प्रयुक्त है।[४]

वैदिक साहित्य में उक्त पद का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मात्र इस पद का एक बार उल्लेख देखने को मिलता है। वामदेव ऋषि कहते हैं कि कामनाओं की वर्षा करने वाला, नेतृतम, कर्मशील इन्द्र चारों ओर आश्रय लिये हुए मेघ पर दोनों हाथों से उग्र वज्र का क्षेपण करता है।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि मात्र एक उद्धरण के आधार पर 'वृषन्धि' पद के विशिष्ट स्वरूप का निर्धारण कर पाना सम्भव नहीं है। जहाँ तक निर्वचन का सम्बन्ध है, उसे स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है। इसका कारण यह है कि यह स्पष्टरूप से प्रत्यक्षक्रिय शब्द है।

२८. वृत्रः

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'वृत्र' पद परिगणित है।[६] तैत्तिरीय-संहिता 'वृत्र' पद का निर्वचन करती हुई कहती है:-''**यदिमाँल्लोकानवृणोत् तद्वृत्रस्य वृत्रत्वम्**''[७] कि लोकों को आवृत करने के कारण यह वृत्र कहलाता है। इस पक्ष में 'वृ' धातु से 'वृत्र' पद निष्पन्न होता है।

एक अन्य स्थान पर तैत्तिरीय-संहिता कहती है:-''**स इषुमात्रमिषुमात्रं विष्वङ्ङ्वर्धत, स इमाँल्लोकानवृणोद् यदिमाँल्लोकानवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्**''[८] कि इषुमात्र कर करके वह चारों ओर व्याप्त हो गया, उसने इन लोकों को आवृत कर लिया, जो उसने इन लोकों को आवृत कर लिया, यही वृत्र का वृत्रत्व है। इस पक्ष में 'वृध्' या 'वृ' धातु से 'वृत्र' शब्द निष्पन्न होता है।

शतपथ-ब्राह्मण 'वृत्र' का स्वरूप स्पष्ट करता हुआ कहता है:-''**वृत्रो ह वाऽइदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये।**

---

१ निघ०वृ०, १.१०.२७.

२ वै०पद०को०, पृ० ३०१४.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ५११.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १०१२.

५ ऋ० ४.२२.२. ''वृषा वृषन्धिं चतुरश्रिमस्यन्नुग्रो बाहुभ्यां नृतमः शचीवान्।''

६ निघ०१.१०.२८.

७ तै०सं० २.५.२.१.

८ तै०सं० २.४.१२.२.

यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद्वृत्रो नाम''[१] कि वृत्र इस सब को घेरकर शयन करता है। इसीके मध्य द्यावापृथिवी और जो कुछ है, वह वर्तमान है, इसलिये इसका नाम वृत्र है। इस पक्ष में 'वृ' धातु से 'वृत्र' पद निष्पन्न होता है।

एक अन्य स्थान पर शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-''**स यद् वर्तमानः समभवत्। तस्माद् वृत्रः**''[२] कि वह जो वर्तमान होते हुए हुआ, इस कारण वह 'वृत्र' कहलाता है। इस पक्ष में 'वृतु' वर्तने' धातु से 'वृत्र' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क ब्राह्मण परम्परा का अनुसरण करते हुए कहते हैं:-''**वृत्रो वृणोतेर्वा**''[३] कि आवृत कर लेने के कारण इसे वृत्र कहते हैं। इस पक्ष में आवरण अर्थ वाली 'वृ' धातु से 'वृत्र' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''**वर्ततेर्वा**''[४] कि '**त्वष्टेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व**' इस मन्त्र से आलभ्यमान सोम असुररूप होकर वर्तमान रहा अथवा इन्द्र के द्वारा वृत्र नामक असुर के वध किये जाने पर उदक वृष्टिरूप में प्रवर्तित हुआ अथवा वर्षा ऋतु में यह वर्तमान रहता है, अतः, मेघ को 'वृत्र' कहते हैं। इस पक्ष में 'वृतु' वर्तने' धातु से 'वृत्र' शब्द उपपन्न होता है।

(ग)''**वर्धतेर्वा**''[५] कि यह मेघ अपने आकार को फैला लेता है, अतः, इसे 'वृत्र' कहते हैं। इस पक्ष में 'वृध्' धातु से 'वृत्र' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'वृत्र' का निर्वचन निम्नप्रकार करते हैं:-''**वृणोतेराच्छादनार्थात्। आच्छादयति ह्यसौ कृत्स्नं नभः**''[६] कि यह मेघ सम्पूर्ण नभ को आच्छादित कर लेता है, अतः, मेघ को 'वृत्र' कहते हैं। इस पक्ष में आवरण अर्थ वाली 'वृ' धातु से 'वृत्र' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''**वर्त्ततेर्वा गतिकर्मणः। गच्छत्यसौ कृत्स्नं नभः**''[७] कि यह सम्पूर्ण आकाश में गमन करता है, अतः, मेघ को 'वृत्र' कहते हैं। इस पक्ष में 'वृतु' वर्तने' धातु से 'रक्' प्रत्यय होकर 'वृत्र' शब्द उपपन्न होता है। उक्त व्युत्पत्ति उणादिकोष सम्मत है।[८]

(ग)''**वर्द्धतेर्वा वृद्ध्यर्थात्। वर्द्धते हि वर्षासु मेघः**''[९] कि यह मेघ वर्षा ऋतु में वृद्धि को प्राप्त करता है, अतः, मेघ को 'वृत्र' कहते हैं। इस पक्ष में 'वृध्' धातु से 'वृत्र' शब्द निष्पन्न होता है।

वेद से प्राप्त सङ्केत के आधार पर कह सकते हैं कि 'वृ' और 'व्रश्च्' और धातुओं से 'वृत्र' शब्द

---

१ शत०ब्रा०, १.१.३.४.
२ शत०ब्रा०, १.३.६.९.
३ निरु० २.१७.
४ निरु० २.१७.
५ निरु० २.१७.
६ निघ०वृ०, १.१०.२८.
७ निघ०वृ०, १.१०.२८.
८ उणा०, २.१३.
९ निघ०वृ०, १.१०.२८.

निष्पन्न होता है।[१] वृ, वृध् तथा वृत् धातुओं से वृत्र को उपपन्न करना अन्य आचार्यों को भी मान्य है, परन्तु वेद छेदनार्थक 'व्रश्च्' धातु से भी 'वृत्र' पद के व्युत्पन्न होने का सङ्केत देता है। सम्भवतः, इसका कारण यह है कि वेद में वृत्र ऐसे मेघ के अर्थ में परिगृहीत है, जिसका इन्द्र या किसी अन्य देव के द्वारा वध होना निश्चित है। इस वध की अर्थ की प्रतीति उपर्युक्त निर्वचन में परिगणित धातुओं में से केवल 'व्रश्च्' से सम्भव है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वृत्र' पद को भावपद, नामपद तथा व्यक्तिपरकसंज्ञा पद मानता है। कोशकार शत्रु अर्थ में 'वृत्' हिंसायाम्' धातु से तथा मेघ अर्थ में क्षरण या द्रवण अर्थ वाली 'वृत्' धातु से व्युत्पन्न करते हैं।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'वृत्र' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स 'वृत्र' पद का मूल आवरण अर्थ वाली 'वृ' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद एवं तैत्तिरीय-संहिता में यह 'वृत्र' पद आवरक, निवेशक, निरोधक और शत्रु अर्थ में आया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में इसका एक ऐसे असुर के रूप में मूर्तीकरण हुआ है, जो काल्पनिकरूप से छिन्न-भिन्न करके धराशायी कर दिया गया है। यह अमाङ्गलिक, अन्धकार और अकाल का राक्षस है।[४] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि यास्कीय निर्वचन एक ऐसा उदाहरण है, जिसमें अनेक धातुओं का सम्मिश्रण है। वे कहते हैं कि वृत्र का उद्भव ऐसे होम से होता है, जो आहवनीय अग्नि में परिणत हो जाता है।[५]

वैदिक साहित्य में अनेकशः 'वृत्र' का प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में मेधातिथि काण्व ऋषि कहते हैं कि शोभनदानयुक्त मरुद्गण बलवान् एवं योग्य इन्द्र के साथ मिलकर वृत्र का नाश करें। कटुवचन बोलने वाला वृत्र हमारे प्रति दुष्टता न कर सके।[६] आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं कि अतिशय आवरक अन्धकाररूप अथवा आवरण से सभी शत्रुओं को जीत लेने वाले वृत्र को इन्द्र ने वज्र के प्रहार से छिन्नबाहु करके मारा। अहि को मारने की प्रक्रिया को बतलाते हुए ऋषि आगे कहते हैं कि जिस प्रकार कोई कुलिश (कुल्हाड़ी) से शाखाओं को काटकर वृक्ष को धराशायी कर देता है, उसी प्रकार इन्द्र ने अहि के अङ्गों को छिन्न-भिन्न करके धराशायी बना दिया।[७] आगे आङ्गिरस ऋषि कहते हैं कि पाद और हस्तरहित वृत्र ने इन्द्र से युद्ध की इच्छा की। इन्द्र ने इसके सबसे ऊँचे स्थान पर वज्र का प्रहार किया। जिस प्रकार कोई नष्टवीर्य पुरुष, किसी वीर्यसिञ्चन में समर्थ पुरुष से प्रतिद्वन्द्विता करना चाहे, तो वह चाहकर भी वैसा नहीं कर सकता। इसी

---

१ ऋ० १.३२.११. ''वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार।'' ऋ० २.१४.२. ''अपो वव्रिवांसं वृत्रं जघान।'' ऋ० १.६१.१०. ''वि व्रश्चद्वज्रेण वृत्रमिन्द्र।'' ऋ० १०.११३.६. ''वृत्रं यदुग्रो व्यवृश्चद्।'' द्रष्ट०,ऋ० ३.३४.३; यजु०, ३३.२६; अथर्व०, २०.११.३. ऋ० ३.३६.८; ४.१६.७; अथर्व०, २०.७७.७.

२ वै०पद०को०, पृ० २९९३.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ५०५.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १००७.

५ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ३५.

६ ऋ० १.२३.९. ''हत वृत्रं सुदानव इन्द्रेण सहसा युजा। मा नो दुःशंस ईशत।''

७ ऋ० १.३२.५. ''अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन। स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक्पृथिव्याः।''

प्रकार वृत्र ने इन्द्र से प्रतिद्वन्द्विता की इच्छा से युद्ध किया, पर वह इधर-उधर भूमि पर बिखरा हुआ पड़ा है।[१] इसी क्रम में वे आगे कहते हैं कि जिन उदकों में वृत्र अपनी महिमा से प्रतिष्ठित था, उन्हीं उदकों के चरणों में अब वह अहि (मेघ) सोया हुआ है।[२] आगे ऋषि कहते हैं कि पुत्र की दुर्दशा के कारण वृत्रमाता निकृष्ट अवस्था को प्राप्त हुई और इन्द्र ने इस माता के पुत्र पर वज्र का प्रहार किया। उस समय ऊपर अन्तरिक्षरूपा माता थी और नीचे मेघरूपी पुत्र था। जिस प्रकार धेनु अपने वत्स के साथ शयन करती है, उसी प्रकार वृत्रमाता वृत्र के साथ शयन कर रही थी।[३] इसी क्रम में आगे ऋषि कहते हैं कि विश्व का शोषण करने वाला वृत्र है, पति जिनका ऐसे उदक अहि (मेघ) से रक्षित थे अर्थात् निरुद्ध थे, ठीक उसी प्रकार जैसे गोपाल गायों को अनुकूल स्थान पर रोकता है। इन्द्र ने वृत्र का वध करके उनके प्रवाहित होने के मार्ग को अपावृत कर दिया।[४] घोरपुत्र कण्व ऋषि कहते हैं कि अग्नि की सहायता से वध करते हुए वृत्र को पार कर लिया, उसके पश्चात् द्यावापृथिवी एवं अन्तरिक्ष को निवास के लिये विस्तृत किया।[५] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि इन्द्र ने जब बल से आवृत करने वाले (वृत्र) एवं आहन्ता (अहि) मेघ का वध किया, तब सूर्य द्युलोक में दिखायी दिया।[६] एक अन्य स्थान पर आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि सोम आदि अन्न से प्रसन्न होते हुए इन्द्र ने नदी को आवृत करने वाले वृत्र को मारा।[७] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि इस इन्द्र के बल से सूखते हुए वृत्र को इन्द्र ने वज्र से काट दिया।[८] काठक-संहिता कहती है कि इन्द्र ने वृत्र का वध किया, उसका जहाँ-जहाँ व्यृद्ध था, वहाँ से धूम उठा, यह व्यृद्ध से उत्पन्न होता है।[९] शतपथ-ब्राह्मण सोम को वृत्र कहता है।[१०] एक अन्य स्थान पर शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि यह वृत्र पान करने से उत्पन्न हुआ है, अतः, यह अहि कहा जाता है।[११] जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है कि वृत्र को मारने की इच्छा से इन्द्र ने मरुतों से कहा कि वध करने वाले परशु को हाथ में लिये हुए मेरे चारों ओर क्रीडा करो, उसने निर्भय होकर पापी वृत्र को मारा।[१२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ वृत्र है, जो कटुवचन बोलने एवं

---

१ ऋ० १.३२.७. ''अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमस्य वज्रमधि सानौ जघान।''

२ ऋ० १.३२.८. ''याश्चिद्वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत्तासामहिः पत्सुतःशीर्बभूव।''

३ ऋ० १.३२.९. ''नीचावया अभवद्वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार। उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद्दानुः शये सहवत्सा न धेनुः।''

४ ऋ० १.३२.११. ''दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः। बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार।''

५ ऋ० १.३६.८. ''घ्नन्तो वृत्रमतरन् रोदसी अप उरु क्षयाय चक्रिरे।''

६ ऋ० १.५१.४. ''वृत्रं यदिन्द्र शवसावधीरहिमादित्सूर्यं दिव्यारोहयो दृशे।''

७ ऋ० १.५२.२. ''इन्द्रो यद्वृत्रमवधीन्नदीवृतमुब्जन्नर्णांसि जर्हृषाणो अन्धसा।''

८ ऋ० १.६१.१०. ''अस्यदेव शवसा शुषन्तं विवृश्चद्वज्रेण वृत्रमिन्द्रः।''

९ काठ०सं० २६.८. ''इन्द्रो वै यद्वृत्रमहस्तस्य यत्र यत्र व्यृद्धमासीत्ततो धूम उदायत, व्यृद्धाद्वा एष जातः।''

१० शत०ब्रा०, ३.४.३.१३; ९.४.२; ४.२.५.१५. ''वृत्रो वै सोम आसीत्।''

११ शत०ब्रा०, १.६.३.९. ''अथ (वृत्रः) यदपात्समभवत्तस्तस्मादहिः।''

१२ जै०ब्रा०, २.२३२. ''अथो हेन्द्रो वृत्रं हनिष्यन् मरुत उवाच। परशुवधहस्ता मामभितः परिक्रीडत स वीतभीर्वृत्रं पाप्मानं हनानीति।''

दुष्टता का आचरण करने वाला है, यह वृत्र वृत्रतर (अपने अन्धकाररूप) आवरण से लोकों को आच्छादित करने वाला है, इसको ऋषि हस्तपादरहित 'वध्रि' (शक्तिहीन) के रूप में चित्रित करता है तथा इन्द्र इसके सर्वोच्च शिखर पर प्रहार करता है, यह वृत्र अपनी महिमा से उदकों में प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है, लेकिन समय आने पर यह अहि होकर उनके पैरों में सोया पड़ा रहता है, इसकी विपन्न अवस्था से दुःखी माता (अन्तरिक्ष) रक्षा के लिये ऊपर रहती है और पुत्र वृत्र नीचे रहता है, लेकिन फिर भी इन्द्र उसका वध करने में सफल हो जाता है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में इसका 'दासपत्नी' अर्थात् उदकों के शोषण करने वाले पति के रूप में उल्लेख हुआ है। इसकी प्रमुख विशेषता उदकों निरुद्ध करना है एवं इसके वध से द्यावापृथिवी तथा अन्तरिक्ष निवास के लिये विस्तृत हो जाते हैं।

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'वृत्र' के चरित्र की प्रमुख विशेषता उसका वृत्रतर (आवरकतर) होना है, यह कार्य वह कभी अन्धकाररूप होकर और कभी उदकों को निरुद्ध करके सम्पन्न करता है। इस विशेषता को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि आवरण अर्थ वाली 'वृ' धातु 'वृत्र' का मूल मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त वृत्र के चरित्र की द्वितीय विशेषता प्रमुखरूप से इन्द्र या कभी अन्य मरुदादि देवताओं के द्वारा उसका वध करना है। इसको दृष्टि में रखते हुए 'व्रश्च्' धातु को भी व्युत्पत्ति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

२९. असुरः

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'असुर' पद समाम्नात है।[१] मैत्रायणी-संहिता 'असुर' का प्रतिपादन करती हुई कहती है:-"**तस्य (प्रजापतेः) वा असुरेवाजीवत्, तेनासुरानसृजत, तदसुराणामसुरत्वम्**"[२] कि उस प्रजापति के असु (प्राण) जीवित थे, उससे उसने असुरों का सृजन किया, यही असुरों का असुरत्व है। इस पक्ष में 'असु' शब्द से 'असुर' शब्द व्युत्पन्न होता है।

षड्विंश ब्राह्मण कहता है:-"**यद्दिवा देवानसृजत तद्देवानां देवत्वं यदसूर्य्यं तदसुराणामसुरत्वम्**"[३] कि प्रजापति ने दिव से देवताओं को उत्पन्न किया, यही देवताओं का देवत्व है तथा असुर्य्य से असुरों को उत्पन्न किया, यही असुरों का असुरत्व है। इस पक्ष में असुर्य्य शब्द से 'असुर' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'असुर' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**असुरा असुरताः स्थानेषु**"[४] कि जो स्थानों पर सुष्ठु प्रकार से रत नहीं हैं अर्थात् जो आराम से रहने वाले नहीं हैं, वे 'असुर' हैं। इस पक्ष में 'न+सु+'रम्' से 'असुर' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(ख)"अस्ताः स्थानेभ्य इति वा"[५] कि जो स्थान से क्षिप्त अर्थात् जो उत्तम स्थान से पृथक् कर दिये गये हैं, वे 'असुर' कहे जाते हैं। इस पक्ष में क्षेपणार्थक 'अस्' धातु से 'उरन्' प्रत्यय होकर 'असुर' पद

---

१ निघ० १.१०.२९.

२ मै०सं० ४.२.१.

३ ष०ब्रा०, ४.१.

४ निरु० ३.८.

५ निरु० ३.८.

निष्पन्न होता है।

(ग)''**अपि वासुरिति प्राणनाम। अस्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः**''[१] कि 'असु' यह प्राणवाचक नामपद है, क्योंकि ये प्राण शरीर में क्षिप्त होते हैं। उन प्राणों से जो युक्त होता है, वह 'असुर' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'असु' शब्द से मत्वर्थीय 'र' प्रत्यय होकर 'असुर' पद निष्पन्न होता है।

(घ)''**सोर्देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वम्, असोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वम्**''[२] कि 'सु' यह प्रशस्तवाचक है। प्रजापति ने अपने प्रशस्त प्रदेश (सुष्ठु भाव) से सुरों को उत्पन्न किया, यह सुरों का सुरत्व है तथा असु अर्थात् अप्रशस्त प्रदेश से असुरों को उत्पन्न किया, यह असुरों का असुरत्व है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'असुर' पद के निम्न निर्वचन प्रस्तुत करते हैं:-''**अस्यति क्षिपति भूमौ जलम्, अस्यते क्षिप्यते स्थाने इन्द्रेण वर्षार्थम्**''[३] कि यह मेघ भूमि पर उदक का क्षेपण करता है, अथवा यह इन्द्र के द्वारा वर्षा के लिये क्षिप्त किया जाता है, अतः, मेघ को 'असुर' कहते हैं। इस पक्ष में क्षेपणार्थक 'अस्' धातु से 'उरन्' प्रत्यय होकर 'असुर' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, अस्ति तिष्ठति असुः। शरीरे वसतीत्यसुः प्राणः। ''प्राणा वा आप'' 'पानीयं प्राणिनां प्राणाः' इत्यादिदर्शनादसुशब्देनात्र जलमुच्यते, तद्राति**''[४] कि जो अस्तित्व रूप में विद्यमान रहता है, वह 'असु' है। शरीर में वास करने के कारण 'असु' प्राण हैं। प्राण ही उदक हैं, कहा भी है कि पानी प्राणियों का प्राण है, इत्यादि दर्शन से 'असु' शब्द यहाँ जलवाचक है। उस जल को देने वाला मेघ 'असुर' कहलाता है। इस पक्ष में 'वसु+'रा' दाने' से 'वसुर' और उससे वर्णव्यत्यय होकर 'असुर' शब्द निष्पन्न होता है।

(ग)''**यद्वा, 'अस' गतिदीप्त्यादानेषु'। असति गच्छत्यन्तरिक्षे, दीप्यते स्वयम्, आदत्ते वा जलं वर्षितुम्**''[५] कि यह मेघ अन्तरिक्ष में गमन करता है या स्वयं दीप्त होता है या वर्षा के लिये जल स्वयं ग्रहण करता है, अतः, मेघ को 'असुर' कहते हैं। इस पक्ष में 'अस' गतिदीप्त्यादानेषु' धातु से औणादिक 'उरन् प्रत्यय होकर 'असुर' शब्द निष्पन्न होता है।

(घ)''**यद्वा, सुर' ऐश्वर्ये। सुरतीति सुर ईश्वरः, स्वतन्त्र इत्यर्थः। असुरः=अनीश्वरः, इन्द्रादिपरतन्त्र इत्यर्थः**''[६] कि ऐश्वर्य वाला होने से ईश्वर 'सुर' अर्थात् स्वतन्त्र है। असुर अर्थात् जो ईश्वर नहीं है, वह इन्द्रादि के अधीन होने से परतन्त्र मेघ 'असुर' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'न+'सुर' ऐश्वर्ये' धातु से 'असुर' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य सायण 'असुर' का निम्न निर्वचन करते हैं:-''**असुः प्राणो बलं वा तद्वान् रो मत्वर्थीयः**''[७]

---

१ निरु० ३.८.

२ निरु० ३.८.

३ निघ०वृ०, १.१०.२९.

४ निघ०वृ०, १.१०.२९.

५ निघ०वृ०, १.१०.२९.

६ निघ०वृ०, १.१०.२९.

७ सायणभाष्य, ऋ० १.५४.३.

कि 'असु' का अर्थ प्राण या बल हैं और जो प्राण या बल से युक्त है, वह 'असुर' कहलाता है। इस पक्ष में 'असु' शब्द से मत्वर्थीय 'र' प्रत्यय होकर 'असुर' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''**असवः प्राणाः तेन च आपो लक्ष्यन्ते तान् राति ददातीति असुरः। असुमुदकं ददातीत्यसुरो मेघः**''[१] कि जो 'असु' अर्थात् प्राणों या जो 'असु' अर्थात् उदक को देता है, वह मेघ 'असुर' है। इस पक्ष में 'असु+'रा' दाने' से 'असुर' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'असुर' पद को प्राणवान् और बलवान् वाचक हव का विशेषण तथा देव (अग्नि, इन्द्र, वरुण प्रभृति), अदेव (राक्षस, दैत्य) का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'असुर' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स 'असुर' पद का मूल 'अस्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद और अथर्ववेद में इस पद का आध्यात्मिक, अभौतिक, दैवी शक्ति के रूप में उल्लेख है, कहीं इसका उल्लेख अच्छी आत्मा के रूप में और कहीं दुष्ट आत्माओं के प्रमुख के रूप में पाया जाता है।[४] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा 'असुर' पद के यास्कीय निर्वचन के सम्बन्ध में कहते हैं कि यह यास्क के प्रसिद्ध निर्वचनों का एक बहुत जटिल उदाहरण है। यद्यपि यास्क ने उक्त पद का वास्तविक निर्वचन भी प्रस्तुत किया है:-''**असुरिति प्राणनाम, तेन तद्वन्तः।**'' लेकिन यास्क इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं कि शब्द का अर्थ कभी-कभी विकृत हो जाता है। वे कहते हैं कि एन० डब्ल्यू० इसकी व्याख्या एक शक्तिशाली राजा के रूप में करता है और उक्त पद का सम्बन्ध अवेस्ता के 'अहु' (राजा) से बतलाता है। जबकि डब्ल्यू०डब्ल्यू० इसका मूल भारोपीय भाषा में 'ans' से मानते हैं, लेकिन वे उक्त निर्वचन के सम्बन्ध में स्वयं सन्देह व्यक्त करते हैं।[५]

वैदिक साहित्य में 'असुर' शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि हरण करने वाले वायु और रश्मिरूप अश्वों की सहायता से बहुत यश या जलरूप अन्न वाला, रमणीय गतियुक्त मेघ वृद्धि को प्राप्त करता हुआ कामनाओं की वर्षा करता है।[६] ऋग्वेद में आङ्गिरस कुत्स ऋषि ऋभुओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि प्राणों में रमने वाले (असुर) और जिससे उत्पन्न हुए अन्न को सब खाते हैं, ऐसे मेघ को एक होते हुए हम ऋभुओं ने चार बना दिया।[७] एक स्थान पर ऋषि कहता है कि कक्षीवान् ने मेघ (असुर) के समान दुग्ध देने वाली सौ गायों को दान में दिया, जिससे उसका अमर यश द्युलोक में फैल गया।[८] परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि द्युलोक, असुर (मेघ) और श्रेष्ठ धनों को धारण करने वाली

---

१ सायणभाष्य, ऋ० १.५४.३; २.२७.४.

२ वै०पद०को०, पृ० ६२१.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ७५.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२१.

५ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० २७, १२६.

६ ऋ० १.५४.३. ''बृहच्छ्रवा असुरो बर्हणा कृतः पुरो हरिभ्यां वृषभो रथो हि षः।''

७ ऋ० १.११०.३. ''त्यं चिच्चमसमसुरस्य भक्षणमेकं सन्तमकृणुता चतुर्वयम्।''

८ ऋ० १.१२६.२. ''शतं कक्षीवाँ असुरस्य गोनां दिवि श्रवोऽजरमा ततान।''

महनीय पृथिवी ये सब इन्द्र के समक्ष नत हैं।[१] गृत्समद ऋषि आदित्य देवों के प्रकरण में कहते हैं कि दीर्घकर्म या बुद्धियुक्त, सत्यवान्, दूसरों को देने योग्य धनों की वृद्धि करने वाला आदित्य मेघस्थ उदक की रक्षा करता हुआ हमारे अधीन हो।[२] एक अन्य स्थान पर गृत्समद ऋषि कहते हैं कि हे बृहस्पते (इन्द्र)! दीप्त अशनि के समान अपने वज्र से संवृत द्वार वाले असुरों (मेघों) को ताडित करो।[३] प्रजापति ऋषि कहते हैं कि समस्त रूपों को धारण एवं कामनाओं की वर्षा करने वाला इन्द्र मेघ (असुर) के जलों का अधिष्ठाता है।[४] अत्रि ऋषि विश्वदेवों का आह्वान करते हुए कहते हैं कि वृष्टि की कारणरूप पाँच प्रकार की वायु तथा सुख देने वाला एवं अहिंसक मेघ ये हमारे आह्वान को सुनें।[५] आत्रेय ऋषि कहते हैं कि मित्रावरुण (सूर्य और वायु) पूजनीय मेघों के समीप स्थित होते हैं और असुर (उदक निरसन करने वाले पर्जन्य) की माया (सामर्थ्य) से गर्जना करते हुए द्युलोक से वृष्टि करते हैं।[६] आत्रेय अर्चनाना ऋषि कहते हैं कि विद्वान् मित्रावरुण धर्म से सत्ययज्ञादि कर्मों की और माया (प्रज्ञा या सामार्थ्य) से मेघ की रक्षा करते हैं।[७] शार्यात मानव ऋषि कहते हैं कि मेघ के आवासभूत, अन्तरिक्षलोक के गतिशील तत्त्व रुद्रपुत्र मरुत् अपने कार्य में लगे रहते हैं।[८] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि असुरों के लिये प्रजापति ने दो वस्तुयें प्रदान कीं, एक तमस् दूसरी माया।[९] इसी सत्य को पुष्ट करती हुई मैत्रायणी-संहिता कहती है कि प्रजापति ने दिव से देवताओं को तथा नक्त से असुरों को उत्पन्न किया, अतः, देवता शुक्ल और असुर कृष्ण हो गये, देवता सत्य और असुर अनृतरूप रह गये।[१०] ब्राह्मण के उक्त उद्धरणों से यह आशय ग्रहण किया जा सकता है कि सम्भवतः, वेद में मेघवर्ण के आधार पर असुरों का वर्ण शुक्लभिन्न कृष्ण मान लिया गया है।

ऋग्वेद में 'असुर' शब्द कहीं इन्द्र, कहीं मित्रावरुण, कहीं केवल वरुण और कहीं अग्नि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। लेकिन मेघ सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'असुर' है, जो बहुत बृहत् यश वाला एवं वायु और रश्मियों से वृद्धि को प्राप्त करता है, वह ऐसा मेघ है, जिसका उपभोग उससे प्राप्त होने वाले अन्न के माध्यम से सब करते हैं और ऋभुगण इसी मेघ को चार भागों में विभक्त अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिये उपयोगी बना देते हैं। इसकी समता ऋषि दूध देने वाली गायों से करता है, ये मेघ इन्द्र के लिये नम्र होते हैं और वही इनका अधिष्ठाता भी है, आदित्य देव मेघस्थ उदक की रक्षा करते हैं, यह मेघ अहिंसक और सुख देने वाला है। इसके अतिरिक्त वेद असुर की माया का

---

१ ऋ० १.१३१.१. "इन्द्राय हि द्यौरसुरो अनम्नतेन्द्राय मही पृथिवी वरीमभिर्द्युम्नसाता वरीमभिः।"

२ ऋ० २.२७.४. "दीर्घधियो रक्षमाणा असुर्यमृतावानश्चयमाना ऋणानि।"

३ ऋ० २.३०.४. "बृहस्पते तपुषाश्नेव विध्य वृकद्वरसो असुरस्य वीरान्।"

४ ऋ० ३.३८.४. "महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामा विश्वारूपो अमृतानि तस्थौ।"

५ ऋ० ५.४२.१. "पृषद्योनिः पञ्चहोता शृणोत्वतूर्तपन्था असुरो मयोभूः।"

६ ऋ० ५.६३.३. "चित्रेभिरभ्रैरुप तिष्ठथो रवं द्यां वर्षयथो असुरस्य मायया।"

७ ऋ० ५.६३.७. "धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया।"

८ ऋ० १०.९२.६. "क्राणा रुद्रा मरुतो विश्वकृष्टयो दिवः श्येनासो असुरस्य नीळयः।"

९ शत०ब्रा०, २.४.२.५. "तेभ्यः (असुरेभ्यः प्रजापतिः) तमश्च मायां च प्रददौ।"

१० मै०सं० १.९.३. "दिवा देवानसृजत (प्रजापतिः) नक्तमसुरांस्ते देवाः शुक्ला अभवन्, कृष्णा असुराः.......ते देवाः सत्यमभवन्ननृतमसुराः।"

उल्लेख करता है और मित्रावरुण इसी असुर की माया से व्रत की रक्षा करने में समर्थ होते हैं तथा ब्राह्मण इसका वर्ण कृष्ण बतलाते हैं।

उक्त अध्ययन के आधार पर हम कह सकते हैं कि वह मेघ असुर है, जो अहिंसक रीति से उदक का दान करता है। इस अर्थ को दृष्टि में रखते हुए प्राणार्थक 'असु' शब्द से 'असुर' व्युत्पन्न हुआ है, कहा जा सकता है। इस प्रकार 'असु' क्षेपणे' धातु 'असुर' पद का मूल स्वीकार की जा सकती है।

३०. कोशः

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'कोश' पद समाम्नात है।[१] आचार्य 'कोश' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**कोशः कुष्णातेः। विकुषितो भवति। अयमपीतरो कोश एतस्मादेव**''[२] कि चर्ममय पात्र द्वारा कूप में से पानी बार-बार बाहर निकाला जाता है, अतः, यह 'कोश' कहलाता है। इसी प्रकार यह धन वाचक 'कोश' शब्द भी 'कोश' है, क्योंकि इसकी सञ्चित मुद्राओं में से धन बार-बार बाहर निकाला जाता है, अतः, कोशागार को 'कोश' कहा जाता है।

आचार्य देवराजयज्वन् मेघवाचक 'कोश' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**कोशः क्रोशतेः शब्दकर्मणः। मेघो हि गर्जितलक्षणं शब्दं करोति**''[३] कि मेघ गर्जना लक्षण वाले शब्द को करता है, अतः, मेघ को 'कोश' कहते हैं। इस पक्ष में शब्दकर्मा 'क्रुश्' धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर 'क्रोश' और रेफ का लोप होने से 'कोश' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(ख)''**कुष्यतेर्वा वृद्ध्यर्थात्। इषुमात्रमवर्द्धतेत्युक्तम्**''[४] कि यह मेघ वृद्धि को प्राप्त होता है, अतः, मेघ को 'कोश' कहा जाता है। कहा भी गया है कि यह इषुमात्र बढ़ता है। इस पक्ष में वृद्ध्यर्थक 'कुप्' धातु से 'कोश' शब्द उपपन्न होता है।

(ग)''**क्रोशतिश्छादनार्थ इति माधवः। पूर्ववदाच्छादयत्यसौ कृत्स्नं नभः जलस्य कोशस्थानीयत्वात् कोश इत्यन्ये**''[५] आचार्य माधव के अनुसार यह पूर्व की भाँति सम्पूर्ण नभ को आच्छादित कर लेता है, इसलिये यह 'कोश' कहा जाता है। परन्तु कुछ आचार्य मानते हैं कि यह जल का कोश होने से 'कोश' है। इस पक्ष में आच्छादन अर्थ वाली 'क्रुश्' धातु से 'कोश' शब्द निष्पन्न होता है।

(घ)''**यद्वा, 'कु' शब्दे'-इति श्रीभोजदेवः। कौति गर्जितशब्दं करोतीति कोशः**''[६] कि श्रीभोजदेव का मत है कि गर्जना लक्षण वाले शब्द को करता है, अतः, मेघ को 'कोश' कहा जाता है। इस पक्ष में 'कु' शब्दे' धातु से 'कोश' शब्द उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'कोश' पद को कोष, मेघ वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद

---

१ निघ० १.१०.३०.

२ निरु० ५.२६.

३ निघ०वृ०, १.१०.३०.

४ निघ०वृ०, १.१०.३०.

५ निघ०वृ०, १.१०.३०.

६ निघ०वृ०, १.१०.३०.

की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'कोश' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स का मत है कि यह पद 'कुश्' या 'कुष्' धातु से निष्पन्न होता है। उनके अनुसार तरल पदार्थ धारण करने वाला पात्र या चर्मपात्र 'कोश' है और लाक्षणिकरूप से यह मेघ के लिये प्रयुक्त हुआ है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि बालटी अर्थ वाला 'कोश' शब्द कुरेदना या खुजलाना अर्थ वाली 'कुष्' धातु से निष्पन्न होता है, क्योंकि इसमें उत्खनन या तक्षण के द्वारा मध्य में शून्य (पोला) उत्पन्न किया जाता है। लेकिन भारोपीय भाषा में 'squek' आच्छादन तथा लिथुआनियन में 'kiause' कपाल अर्थ में है। वे उक्त निर्वचन को पुरातन, भ्रान्तिपूर्ण तथा भाषा-विज्ञान के अविकसित एवं वैदिक साहित्य के पर्याप्त शोध के अभाव में अनिर्णीत मानते हैं।[४]

वैदिक साहित्य में 'कोश' पद का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि शोभन दान करने वाले अश्विनीदेवों ने व्यवहार में कुशल एवं विस्तृत यश या अन्न वाले उशिक् (मेधावी) पुत्र हेतु माधर्युयुक्त मेघ को क्षरित किया।[५] परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि मेघों से पवित्र किया गया सोम (उदक) स्पृहणीय और निर्मल तेजों को धारण करता हुआ वायु को प्राप्त होता है।[६] राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि मेघ वायु के रथों पर आसक्त होकर उदक की वृष्टि करते हैं, इसलिये वे मरुतों से मधुसदृश स्वच्छ उदक वाली वृष्टि के माध्यम से सिञ्चित होने की प्रार्थना करते हैं।[७] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि फल की वर्षा करने वाले इन्द्र का मधुरगुणयुक्त मेघ प्राप्त होता है।[८] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि इस इन्द्र का सुन्दर कलश उदक से परिपूर्ण है, जिस प्रकार कोई एक पूर्ण घट से रिक्त घट में उदक उँड़ेलता है, उसी प्रकार इन्द्र पूर्ण कलश में से कोश (मेघ) को भरते हैं।[९] श्यावाश्व ऋषि कहते हैं कि शोभनदान करने वाले मरुद्गण देने वाले के लिये मेघ को बरसाते हैं।[१०] एक अन्य स्थान पर श्यावाश्व ऋषि कहते हैं कि ऋषि से स्तुत किये जाते मरुद्गण उस दिव्य मेघ के उदक की वर्षा करते हैं।[११] अत्रि भौम ऋषि पर्जन्य देव का आह्वान करते हुए कहते हैं कि ऊपर प्राप्त इस महान् कोश से नीचे निरन्तर सींचो, जिससे नदियाँ बन्धन तोड़कर बहें।[१२]

---

१ वै०पद०को०, पृ० ११७४.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० १७८.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३१४.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ७६.

५ ऋ० १.११२.११. ''याभिः सुदानू औशिजाय वणिजे दीर्घश्रवसे मधु कोशो अक्षरत्।''

६ ऋ० १.३५.२. ''तुभ्यायं सोमः परिपूतो अद्रिभिः स्पार्हा वसानः परि कोशमर्षति शुक्रा वसानो अर्षति।''

७ ऋ० १.८८.२. ''श्चोतन्ति कोशा उप वो रथेष्वा घृतमुक्षता मधुवर्णमर्चते।''

८ ऋ० २.१६.५. ''वृष्णः कोशः पवते मध्व ऊर्मिर्वृषभान्नाय वृषभाय पातवे।''

९ ऋ० ३.३२.१५. ''आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै।''

१० ऋ० ५.५३.६. ''आ यं नरः सुदानवो ददाशुषे दिवः कोशमचुच्यवुः।''

११ ऋ० ५.५९.८. ''आचुच्यवुर्दिवं कोशमेत ऋषे रुद्राय मरुतो गृणानाः।''

१२ ऋ० ५.८३.८. ''महान्तं कोशमुदचा नि षिञ्च स्यन्दन्तां कुल्या विषिताः पुरस्तात्।''

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'कोश' है, जो माधुर्ययुक्त और जिससे मधुसदृश स्वच्छ वृष्टि होती है, इनमें स्थित तेजयुक्त उदक पवित्र और निर्मल होता है, एक घट से रिक्त घट में उँड़लने की तरह इस मेघ से उदक प्राप्त होता है, पर्जन्य देव इस महान् कोश से निरन्तर नीचे की ओर सींचते हैं। उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि ऋषि 'कोश' नामक मेघ को माधुर्यगुणयुक्त एवं कोशगार स्वरूप बतलाता है। कहीं ऋषि इस विशेषता को मधुकोश कहकर स्पष्ट करता है और कहीं मधुवर्ण कहकर प्रतिपादित करता है। इस प्रकार ऋषि कोश का सम्बन्ध मधु के साथ रेखाङ्कित करता है। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए उपर्युक्त सभी निर्वचन सङ्गत नहीं माने जा सकते। लेकिन 'कोश' के निधान या कोशागार स्वरूप को ध्यान में रखते हुए 'कुष्' धातु को 'कोश' का मूल स्वीकार किया जा सकता है।

वैदिक साहित्य में मेघवाचक नामपदों में अर्थभिन्नता

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के दशम गण में निघण्टुकार ने त्रिंशत् मेघवाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	अद्रि: मेघवाचक निघ०,१.१०.१.	वेद में वह मेघ 'अद्रि' है, जिससे वर्षकर्म सम्पन्न होने वाला होता है। सार रूप में कहा जा सकता है कि विदीर्ण होने की अवस्था को प्राप्त मेघ वेद की दृष्टि में 'अद्रि' है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'अद्रि' का मूल 'दृ' विदारणे' धातु प्रतीत होती है।
२.	ग्रावा मेघवाचक निघ०,१.१०.२.	वेद में वह मेघ 'ग्रावा' है, जो गर्जना करता हुआ वर्षणकर्म सम्पन्न करता है।	वेद की दृष्टि में 'ग्रावा' पद का मूल शब्दार्थक 'गॄ' धातु है।
३.	गोत्र: मेघवाचक निघ०,१.१०.३.	जब शरीर के अङ्गों से रस प्रवाहित होना प्रारम्भ होता है, उस निर्वातकाल में वर्षा करने वाले मेघ सम्भवत: वेद की दृष्टि में 'गोत्र' हैं।	उक्त अर्थ की प्रतीति किसी भी निर्वचन से होती दिखायी नहीं देती, फिर भी 'गो+'त्रा' वाली व्युत्पत्ति समीचीन प्रतीत होती है।
४.	वल: मेघवाचक निघ०,१.१०.४.	'वल' वह मेघ है, जो गायों (सूर्यरश्मियों) को आच्छादित कर लेता है। इसके अतिरिक्त इसमें व्रीह्यादि फल भी अपिहित रहते हैं।	उक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए संवरण अर्थ वाली 'वृ' अथवा 'वल' धातु।
५.	अश्न: मेघवाचक निघ०,१.१०.५.	वेद में वह मेघ 'अश्न:' है, जो मध्यमस्थानी आदित्य का भ्राता तथा आकाश को व्याप्त करने वाला है। इसके अतिरिक्त वह अपिहित स्वभाव वाला है।	'अश' व्याप्तौ' धातु।
६.	पुरुभोजा:	जो पूर्ण या सब को भोजन प्रदान करने वाला है,	'पुरु+'भुज्' धातु।

	मेघवाचक निघ०,१.१०.६.	वह मेघ वेद में 'पुरुभोजः' है।	
७.	वलिशानः मेघवाचक निघ०,१.१०.७.	वैदिक साहित्य में अनुपलब्ध है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
८.	अश्मा मेघवाचक निघ०,१.१०.८.	वेद में वे मेघ अश्मा हैं, जिनसे अग्नि या विद्युत् का जन्म होता है और जिनके अन्तस् में स्थित किरणों को इन्द्र प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त ये बहुत उच्चस्थान पर स्थित होने वाले मेघ हैं।	कोई भी निर्वचन बहुत समीचीन नहीं है। फिर भी 'अश' व्याप्तौ' धातु वाला निर्वचन किसी सीमा तक स्वीकार्य हो सकता है।
९.	पर्वतः मेघवाचक निघ०,१.१०.९.	वेद में मेघों का समूह पर्वत नाम से अभिहित हुआ है।	'पृ'=पर्व=पर्वत'।
१०.	गिरिः मेघवाचक निघ०,१.१०.१०.	वेद में वे मेघ गिरि हैं, जो उदक का दान नहीं करते हैं अथवा जो दान करने के स्थान पर उदक का शोषण कर लेते हैं।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए निगरणार्थक 'गृ' धातु।
११.	व्रजः मेघवाचक निघ०,१.१०.११.	वेद का ऋषि 'व्रज' के साथ 'गो' का प्रायः प्रयोग करता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'व्रज' है, जो गायों के गमन को निरुद्ध करता है।	गत्यर्थक 'व्रज्' धातु।
१२.	चरुः मेघवाचक निघ०,१.१०.१२.	वेद में मेघ अर्थ में 'चरु' का प्रयोग हुआ है, पर विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया है।	'चर्' धातु।
१३.	वराहः मेघवाचक निघ०,१.१०.१३.	वह मेघ 'वराह' है, जिस परिपूर्ण उदक वाले मेघ (वराह) का इन्द्र भेदन करता है, ये वराह (मेघ) स्वर्णमयचक्र एवं अयोमय ऋष्टि से युक्त हैं, इन्द्र सरणशील उदकों में वज्र से इसी का वध करता है, इसकी प्राप्ति इन्द्र की कृपा से होती है।	'वर+आ+'ह'।
१४.	शम्बरः मेघवाचक निघ०,१.१०.१४.	वेद इन्द्र द्वारा शम्बर के पुरों को विदारित किया जाना शम्बर की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता मानता है।	'शम्' धातु।
१५.	रौहिणः मेघवाचक निघ०,१.१०.१५.	वह मेघ 'रौहिण' है, जो रोहिणी नक्षत्र में उत्पन्न हुआ है। ऋग्वेद से प्राप्त सङ्केत तथा निर्वचन को ध्यान में रखकर कह सकते हैं कि जो आकाश में ऊपर उठने वाला मेघ है, वह 'रौहिण' है।	'रुह्' धातु।
१६.	रैवतः मेघवाचक निघ०,१.१०.१६.	वेद से स्वरूप स्पष्ट नहीं है। लेकिन फिर भी यह कहा जा सकता है। जो मेघ दान देने वाले धन से युक्त है, सम्भवतः, वह वेद की दृष्टि में 'रैवत' है।	'रा' दाने'=रै=रैवतः।

१७.	फलिग: मेघवाचक निघ०,१.१०.१७.	वह मेघ 'फलिग' है, जिसकी वर्षा से सस्यादि सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। कहने का आशय यह है कि जिससे फल की प्राप्ति होती है, वह मेघ वेद में 'फलिग' नाम से अभिहित हुआ है।	'फल्'+गम्' इन दोनों धातुओं के संयोग से।
१८.	उपर:, उपल: मेघवाचक निघ०,१.१०.१८.१९.	वेद के अध्ययन से 'उपर' का कोई विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। सम्भवत:, यह लोक भाषा में प्रयुक्त होने वाला 'ऊपर' शब्द है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
१९.	चमस: मेघवाचक निघ०,१.१०.२०.	'चमस' वे मेघ हैं, जिनको ऋभुगण त्वष्टा देव की सहायता से खण्डित करते हैं। सम्भवत:, इसलिये ऋषि बार-बार इनके चतुर्धा विभक्त होने अर्थात् अन्तरिक्ष, वायु, अग्नि और भूमि में बँट जाने का उल्लेख करता है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'चमस' का 'चम्' धातुमूलक निर्वचन युक्तिसङ्गत माना जा सकता है।
२०.	अहि: मेघवाचक निघ०,१.१०.२१.	वह मेघ 'अहि' है, जो सर्वप्रथम (सृष्ट्युत्पत्ति के समय) उत्पन्न होता है, इस मेघ के वध से माया का नाश और उदक प्रवाहित होता है, इसका नाश करने के लिये त्वष्टा स्वयं वज्र का निर्माण करके इन्द्र को देता है।	उक्त विशेषता को ध्यान में रखते हुए 'अहि' का निर्वचन 'आ+'हन्' धातु से युक्तिसङ्गत माना जा सकता है। वेद से भी इस निर्वचन का समर्थन हो जाता है।
२१.	अभ्र: मेघवाचक निघ०,१.१०.२२.	जिस प्रकार ऋषि 'अहि' और 'वृत्र' का प्राय: सर्वत्र वध होते हुए दिखलाता है, वहाँ इसके विपरीत वह 'अभ्र' का स्वागत करता हुआ दिखायी देता है। स्वागतयोग्य मेघ 'अभ्र' है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'अप्+'भृ' निर्वचन सर्वाधिक सङ्गत निर्वचन प्रतीत होता है।
२२.	वलाहक:, बलाहक: मेघवाचक निघ०,१.१०.२३.	वेद में प्रमाण उपलब्ध न होने से उक्तपद के विषय में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट।
२३.	मेघ: मेघवाचक्क निघ०,१.१०.२४.	वह मेघ 'मेघ' कहलाता है, जिसके बरसने से अभीष्ट की पूर्ति होती है।	'मिह्' धातु।
२४.	दृति: मेघवाचक निघ०,१.१०.२५.	वह मेघ 'दृति' है, जो अन्तरिक्ष के मध्य मधुरगुणयुक्त है, इसको पर्जन्य देव ऐसे उद्घाटित करते हैं, जैसे कोई चर्मनिर्मित उदक छिड़कने के पात्र को उद्घाटित करता है।	'दृ' विदारणे' धातु।
२५.	ओदन: मेघवाचक निघ०,१.१०.२६.	जो उदकदान की सामर्थ्य के कारण परिपक्व है, वह मेघ वेद की दृष्टि में 'ओदन' है।	'उन्द्' धातु।
२६.	वृषन्धि: मेघवाचक निघ०,१.१०.२७.	वेद में इसका स्वरूप स्पष्ट नहीं है।	'वृषन्+'धा'।

२७.	वृत्रः मेघवाचक निघ०,१.१०.२८.	'वृत्र' के चरित्र की प्रमुख विशेषता उसका वृत्रतर (आवरकतर) होना है, यह कार्य वह कभी अन्धकाररूप होकर और कभी उदकों को निरुद्ध करके सम्पन्न करता है।	इस विशेषता को ध्यान में रखते हुए आवरण अर्थ वाली 'वृ' धातु 'वृत्र' का मूल मानी जा सकती है।
२८.	असुरः मेघवाचक निघ०,१.१०.२९.	वेद में वह मेघ असुर है, जो अहिंसक रीति से उदक का दान करता है, जो बृहत् यश वाला एवं वायु और रश्मियों से वृद्धि को प्राप्त करता है, वह ऐसा मेघ है, जिसका उपभोग उससे प्राप्त होने वाले अन्न के माध्यम से सब करते हैं।	इस अर्थ को दृष्टि में रखते हुए प्राणार्थक 'असु' शब्द से 'असुर' व्युत्पन्न हुआ है, कहा जा सकता है। इस प्रकार 'असु क्षेपणे' धातु 'असुर' पद का मूल है।
२९.	कोशः मेघवाचक निघ०,१.१०.३०.	ऋषि 'कोश' नामक मेघ को माधुर्यगुणयुक्त एवं कोशगार स्वरूप बतलाता है। कहीं ऋषि इस विशेषता को मधुकोश कहकर स्पष्ट करता है और कहीं मधुवर्ण कहकर प्रतिपादित करता है। इस प्रकार ऋषि कोश का सम्बन्ध मधु के साथ रेखाङ्कित करता है।	'कोश' के निधान या कोशागार स्वरूप को ध्यान में रखते हुए 'कुष्' धातु को 'कोश' का मूल स्वीकार किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि मेघवाचक गण में परिगणित ३० नामपदों में से निम्न ५ पदों के विषय में स्पष्टरूप से कह पाना सम्भव नहीं हो पाया है:- **१. चरुः, २. रैवतः, ३. उपरः, ४. उपलः, ५. ओदनः।** इसके अतिरिक्त **'वलिशानः'** तथा **'बलाहकः'** इन दो पदों का उल्लेख वेदों में नहीं हुआ है, अतः, इनका स्वरूप भी स्पष्ट करना सम्भव नहीं हो सका है।

उपर्युक्त मेघवाचक गण में कहीं मेघ मनोहारी प्राणदाता और सुख सौभाग्य देने वाले के रूप में चित्रित हुआ है और तो कहीं आहन्ता स्वभाव के कारण प्राणहर्ता के रूप में वर्णन देखने को मिलता है। उक्त गण में परिगणित सभी पद मेघ का किसी न किसी रूप में उल्लेख करते हैं, जबकि अब तक इससे पूर्व के गणों में उक्त विशेषता के दर्शन नहीं होते थे।

षष्ठ अध्याय

वाग्वाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के एकादश गण में निघण्टुकार ने 'वाग्वाचक' सप्त पञ्चाशत् नामपदों का परिगणन किया है।

१. श्लोक:

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'श्लोक:' पद परिगणित है।[१] आचार्य 'श्लोक' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**श्लोक: शृणोते:**''[२] कि श्रवणीय होने के कारण यह वाक् 'श्लोक' नाम से अभिहित होती है। इस पक्ष में 'श्रु' श्रवणे' धातु से 'कन्' प्रत्यय होकर 'श्लोक' पद उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'श्लोक' पद का निर्वचन निम्न प्रकार करते हैं:-''**श्रूयते इति श्लोक:**''[३] कि श्रवणीय होने से यह वाणी 'श्लोक' कहलाती है। इस पक्ष में 'श्रु' श्रवणे' धातु से 'कन्' प्रत्यय होकर 'श्लोक' पद उपपन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, 'श्लोक' सङ्घाते'। श्लोक्यते पद्यते रूपेण संहन्यते कविभि: श्लोक:**''[४] कि कवियों के द्वारा श्लोक रूप में सङ्घनित किया जाता है, अत:, वाक् को 'श्लोक' कहते हैं। इस पक्ष में 'श्लोक' सङ्घाते' धातु से 'घ' प्रत्यय होकर 'श्लोक' रूप निष्पन्न होता है।

आचार्य सायण 'श्लोक' पद का निर्वचन निम्न प्रकार करते हैं:-''**श्लोक्यते शस्यतेऽनेनेति श्लोक: शस्त्रम्**''[५] कि जिसके द्वारा कहा जाता है, वह शस्त्र 'श्लोक' है। इस पक्ष में 'श्लोक' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर 'श्लोक' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'श्लोक' पद को स्तुति, स्तोत्र, घोष वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार 'श्र(श्रेयस्)+'वच्' वचने'=श्रवाक=श्रोक=श्लोक' उक्तप्रकार से निष्पन्न होने की सम्भावना है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'श्लोक' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स 'श्लोक' पद का मूल 'श्रु' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद रथचक्र के घोष या पाषाण से पेषण के समय निकलने वाली ध्वनि के लिये प्रयुक्त हुआ है।[८] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि भारोपीय भाषा में यह पद

---

१ निघ० १.११.१.

२ निरु० ९.९.

३ निघ०वृ०, १.११.१.

४ निघ०वृ०, १.११.१.

५ सायणभाष्य, ऋ० ३.५३.१०.

६ वै०पद०को०, पृ० ३१६९.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० ५३६.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ११०४.

'klu ' 'सुनने' के अर्थ में तथा अवेस्ता में ' surunaoiti ' 'वह सुनता है' अर्थ में है। डॉ. वर्मा मानते हैं कि उक्त निर्वचन तुलनात्मक भाषाविज्ञान द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने योग्य है।[१]

वैदिक साहित्य में 'श्लोक' पद का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद में घौर कण्व ऋषि कहते हैं कि हे मरुतो! अपने मुख से श्लोक (वेदवाणीरूप स्तोत्र) का निर्माण करो और पर्जन्य (मेघ) के समान उसका विस्तार और कहने योग्य गायत्र का गान करो।[२] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार इन्द्र सुतसोम की कामना से द्युलोक में पहुँच जाता है, उसी प्रकार निर्बाध श्लोक द्युलोक में पहुँचता है।[३] राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि जब इन्द्र अन्तरिक्ष का परित्याग करता है, तब उसका स्तुतिरूप घोष द्युलोक में सुनायी देता है।[४] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि दर्शनीय अश्विनीदेव द्रुतगामी, साधनसम्पन्न रथ पर आरूढ़ होकर इस हमारी स्तुति को सुनें।[५] अगस्त्य ऋषि बृहस्पति से प्रार्थना करते हैं कि समर्पणपूर्वक की गयी मन्त्ररूपा स्तुति तथा उद्यम को उसी प्रकार स्वीकार करो, जिस प्रकार सवितादेव अपनी रश्मिरूपी भुजाओं के द्वारा लोक को स्वीकार करते हैं।[६] इसी सूक्त के अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि इस बृहस्पति की स्तुति द्युलोक और पृथिवी पर उसी प्रकार व्याप्त होती है, जिस प्रकार आदित्य द्युलोक और पृथिवी को व्याप्त कर लेता है।[७] विश्वामित्र ऋषि इन्द्र और पर्वत से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि अभिषुत सोम वाले यज्ञ में स्तुतियों से आनन्द प्राप्त करते हुए, मेघों से हंसों के समान गर्जना कराओ।[८] एक अन्य मन्त्र में विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे सवितादेव! आप देवों में स्तुति को प्राप्त करो और हमारे लिये सर्वविध सुख की प्राप्ति कराओ।[९] जरत्कर्ण ऋषि ग्रावा देवताओं से निवेदन करते हैं कि हमारे लिये सब प्रकार पुत्र, वीरादि से युक्त धन की प्राप्ति कराओ और देवों के प्रिय श्लोक का सम्पादन करो।[१०] अर्बुद काद्रवेय सर्प ऋषि ग्रावा देवताओं से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि आप आदरणीय, पर्वतों के समान शान्ति से युक्त परमैश्वर्यवान् इन्द्र के लिये घोषयुक्त श्लोक को सम्पादित करते हो।[११] यहाँ ऋषि पाषाण से होने वाली ध्वनि को श्लोक नाम से अभिहित कर रहा है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'श्लोक' है, जो मुख से मेघ की गर्जना के समान प्रकट होती है, यह श्लोकरूपा वाक् निर्बाध द्युलोक तक पहुँचने वाली होती है, यह वह इन्द्र का स्तुतिरूप घोष है, जो द्युलोक में सुनायी पड़ता है, यह इतना प्रभावशाली है कि अश्विनीदेव अपने रथ से

---

१ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ६६.

२ ऋ० १.३८.१४. ''मिमीहि श्लोकमास्ये पर्जन्य इव ततनः। गाय गायत्रमुक्थ्यम्।''

३ ऋ० १.५१.१२. ''इन्द्र यथा सुतसोमेषु चाकनोऽनर्वाणं श्लोकमा रोहसे दिवि।''

४ ऋ० १.८३.६. ''बर्हिर्वा यत्स्वपत्याय वृज्यतेऽर्को वा श्लोकमाघोषते दिवि।''

५ ऋ० १.११८.३. ''प्रवद्यमाना सुवृता रथेन दस्राविमं श्रुणुतं श्लोकमद्रेः।''

६ ऋ० १.१९०.३. ''उपस्तुतिं नमस उद्यतिं च श्लोकं यंसत्सवितेव प्र बाहू।''

७ ऋ० १.१९०.४. ''अस्य श्लोको दिवीयते पृथिव्यामत्यो न यंसद्यक्षभृद्विचेताः।''

८ ऋ० ३.५३.१०. ''हंसाइव कृणुथ श्लोकमद्रिभिर्मदन्तो गीर्भिरध्वरे सुते सचा।''

९ ऋ० ३.५४.११. ''देवेषु च सवितः श्लोकमश्रेरादस्मभ्यमा सुव सर्वतातिम्।''

१० ऋ० १०.७४.४. ''आ नो रयिं सर्ववीरं सुनोतन देवाव्यं भरत श्लोकमद्रयः।''

११ ऋ० १०.९४.१. ''यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः।''

इसका श्रवण करते हैं, नम्रतापूर्वक स्तुति को बृहस्पति, सवितादेव के समान स्वीकार करते हैं, इसका भौतिक स्वरूप हंस की ध्वनि के समान है, यह श्लोक देवताओं से सर्वविध सुख की प्राप्ति कराने वाला है। इसके अतिरिक्त ग्रावा से श्लोक के सम्पादन का उल्लेख वेद करता है।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर 'श्लोक' धातु को 'श्लोक' पद का मूल माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि ऋषि ने अनेकशः इसके सम्पादन करने का उल्लेख किया है और यह सम्पादन सङ्घातरूप होता है। इसके अतिरिक्त ऋषि ने 'श्लोकरूपा वाणी का स्वरूप घोषात्मक बताया है, अतः, यह वह वाक् का स्वरूप श्रवणीय प्रतीत होता है। इस दृष्टि से 'श्रु' श्रवणे' धातु को भी 'श्लोक' पद का मूल माना जा सकता है।

२. धारा

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'धारा' पद समाम्नात है।[१] गोपथ-ब्राह्मण 'धारा' का वर्णन करता हुआ कहता है:-''**तद्यदब्रवीत् (ब्रह्म) आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्चेति तस्माद्धारा अभवंस्तद्धाराणां धारात्वं यद्यासु ध्रियते**''[२] कि जो कुछ भी है, उस सम्पूर्ण को मैं इनसे धारण कर लूँगा। इसमें धारण किया जाता है, इस गुण के कारण वह धारा कहलायी, यह धारा का धारात्व है। इस पक्ष में ब्राह्मण का ऋषि धारणार्थक 'धृ' धातु से 'धारा' पद को व्युत्पन्न मान रहा है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'धारा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**धारा (वाक्)। 'धृञ्' धारणे'। लोकस्य धारयित्री वर्षप्रदानेन स्वाभिधेयस्य वा**''[३] कि यह वर्षा या स्वाभिधेय के द्वारा लोक को धारण करती है, अतः, वाक् को 'धारा' कहते हैं। इस पक्ष में 'धृ'+णिच्+अच्' से 'धारा' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य दुर्ग 'धारा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**ध्रियते तं तमर्थमवधारयितुमिति धाराः**''[४] कि जो अर्थ को धारण करने में सक्षम है, उस वाणी का नाम धारा है। दुर्ग की दृष्टि में सार्थक वाणी ही धारा है। इस पक्ष में 'धृङ्' अवस्थाने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करके 'धारा' पद उपपन्न होता है।

आचार्य दयानन्द सरस्वती 'धारा' का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**धरति सकला विद्या यया सा वाक् तया**''[५] कि जो सकल विद्या को धारण करती है, वह वाक् 'धारा' है। वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'धारा' पद को सन्ततप्रवाह वाचक भावपद एवं नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है, लेकिन पेटरसन प्रभृति 'धाव्' गतौ' धातु से व्युत्पन्न करते हैं।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची विद्यमानक्रिय 'धारा' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स ने 'धारा' पद का मूल 'धृ' धातु को माना है। उनके अनुसार

---

१ निघ० १.११.२.

२ गो०ब्रा०, १.१.२.

३ निघ०वृ०, १.११.२.

४ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ० १८९.

५ स्वामी दयानन्द सरस्वती, यजुर्वेदभाष्य, १२.४१.

६ वै०पद०को०, पृ० १७१८.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० २७२.

ऋग्वेद में यह पद जलप्रवाह अर्थ में प्रयुक्त है।[१]

वैदिक साहित्य में 'धारा' पद का प्रयोग व्यापक रूप से पाया जाता है। लेकिन यह प्रायः उदक की धारा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋषि ने अनेकशः उक्त पद के साथ 'क्षर्' धातु, क्वचित् 'श्चोतन्ति' और क्वचित् 'व्युन्दन्ति' आदि क्रियाओं का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त ऋषि बहुधा 'घृतस्य धारा' वाक्यांश का उल्लेख करता है। इस आधार पर निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि वेद में यह 'उदकधारा' के अर्थ में आया है, परन्तु कुछ स्थल ऐसे हैं, जहाँ इसका 'उदकधारा' के साथ-साथ वाक् वाचक तात्पर्यार्थ भी ग्रहण किया जा सकता है।

ऋग्वेद में शाक्त्य पराशर ऋषि अग्निदेवता के प्रकरण में कहते हैं कि जो बुद्धिरूप गुहा में स्थित अग्नि को जानता है, वही सत्य विद्यारूप वाणी को प्राप्त करता है।[२] विश्वामित्र ऋषि विश्वदेवों से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हे अग्ने! जो आपकी स्वार्थ से सम्बन्ध न रखने वाली (असश्चन्ती), अद्भुत, मेधावी, विश्व का कल्याण चाहने वाली (विश्वजन्या), धारणीय बुद्धि है, वह हमें प्राप्त हो।[३] गर्ग ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे इन्द्र! मुझे सुखी बनाओ, मेरे दीर्घ जीवन को चाहो और अयस (हिरण्य) के समान बुद्धि और वाणी को प्रदान करो।[४] गाथिन विश्वामित्र ऋषि अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि जहाँ काव्य करने में समर्थ जन काव्य के साथ बढ़ता है, वहाँ मधुर जल की धारा बहती है।[५] वत्सप्री ऋषि अग्नि के प्रकरण में कहते हैं कि हे अग्ने! सब पदार्थों के भोगने के साधन धन के साथ विद्यमान रहो और उत्तम वाणी से हमें सिञ्चित करो।[६] हिरण्यगर्भ ऋषि कहते हैं कि मैंने भोगने योग्य अन्न, पराक्रम एवं महान् सत्य से मिलाने वाली वाणी को प्राप्त किया है।[७]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'धारा' कहलाती है, जो अद्भुत, परहित में निरत रहने वाली, विश्व का कल्याण करने में समर्थ तथा अमृत की धारा को प्राप्त कराती है। इसके अतिरिक्त यह वाक् सुवर्ण के समान प्रकाश से ओतप्रोत है और महान् अमृतरूप सत्य से मिलाने का साधन है। उक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि 'धृ' धातु धारा पद का मूल है। उपर्युक्त गोपथ-ब्राह्मण के वचन से भी इस सत्य की पुष्टि हो जाती है। इस प्रकार सत्य विद्या को धारण करने वाली वाणी वेद के मत में 'धारा' है।

३. इला (इळा)

निघण्टुकोष के वाक् वाचक नामपदों में 'इला' पद समाम्नात है, पाठभेद से कहीं 'इला' और कहीं

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५१५.

२ ऋ० १.६७.४. ''य ईं चिकेत गुहा भवन्तमा यः ससाद धारामृतस्य।''

३ ऋ० ३.५७.६. ''या ते अग्ने पर्वतस्येव धारासश्चन्ती पीपयद्देव चित्र।''

४ ऋ० ६.४७.१०. ''इन्द्र मृळ मह्यं जीवातुमिच्छ चोदय धियमयसो न धाराम्।............रास्व सुमतिं विश्वजन्याम्।''

५ ऋ० ३.१ ८. ''श्चोतन्ति धारा मधुनो घृतस्य वृषा यत्र वावृधे काव्येन।''

६ यजु०, १२.४१. ''सह रय्या निवर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि।''

७ यजु०, १२.१०५. ''इषमूर्जमहमितऽ आदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम्।''

'इळा' पद पठित है।[१] मैत्रायणी-संहिता 'इडा' पद का निर्वचन करती हुई कहती है:-"**यद्वै तदात्मानमैट्ट सेडाभवत् तदिडाया इडात्वम्**"[२] कि उसने आत्मा की स्तुति की, इसलिये वह 'इडा' हुई। यही 'इडा' का इडात्व है। इस पक्ष में 'ईड्' धातु से 'इडा' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क पृथिवीस्थानी देवतापदों में 'इळः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**इळः (ईळः) इट्टेः स्तुतिकर्मणः**"[३] कि स्तुत्य होने से यह पृथिवीस्थानी देवता 'इळा' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में स्तुत्यर्थक 'ईड्' धातु से 'इळः' पद निष्पन्न होता है।

(ख) एक अन्य निर्वचन प्रस्तुत करते हुए यास्क कहते हैं:-"**इन्धतेर्वा**"[४] कि यह दीप्त होने के कारण 'इळः' कहलाता है। इस पक्ष में 'इन्ध्' धातु से 'इडा' पद उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'इला' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**इला (वाक्)। 'इल' क्षेपणे'। क्षिप्यते प्रेर्य्यते उच्चारणकाले प्राणेन इला**"[५] कि उच्चारण काल में प्राण वायु से प्रेरित की जाती है। इस पक्ष में 'इल' क्षेपणे' धातु से 'इला' पद निष्पन्न होता है।

(ख)"**यद्वा, 'ईड' स्तुतौ'। ईडति स्तूयतेऽनया देवता, ईड्यते वा या स्वयं देवतात्वात्**"[६] कि इस वाक् से देवता की स्तुति की जाती है या यह स्वयं देवतारूप में स्तुत होता है, अतः, वाक् को 'इडा' होता है। इस पक्ष में 'ईड्' धातु से 'इडा' पद उपपन्न होता है।

(ग)"**यद्वा, 'ञिइन्धी' दीप्तौ'। दीपयति प्रयोक्तारम्, दीप्यते वा स्वेन तेजसा**"[७] कि यह प्रयोग करने वाले को दीप्त कर देती है या यह अपने तेज से दीप्त होती है, अतः, वाक् को 'इडा' कहते हैं। इस पक्ष में 'इन्ध्' धातु से 'इला' रूप निष्पन्न होता है।

आचार्य दुर्ग 'इला' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**तं तमर्थं प्रतीयमीट्टे गच्छतीति इला**"[८] कि किसी निश्चित उद्देश्य से प्रयुक्त की जाने वाली वाणी 'इला' कहलाती है। इस पक्ष में 'ईड' स्तुतौ' धातु से 'इला' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'इला' को 'इडा' से विकसित मानता है। यह 'इड्' या 'इळ्' धातुमूलक पद अन्न, वाग्देवीविशेष, अघ्न्या, हविस् प्रभृति का वाचक नामपद है।[९] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार 'इला' न होकर 'इळा' पद है। इसका मूल 'इळ' धातु है।[१०] मोनियर विलियम्स का मत है कि इस पद का

---

१ निघ० १.११.३.

२ मै०सं० ४.२:३.

३ निरु० ८.७.

४ निरु० ८.७.

५ निघ०वृ०, १.११.३.

६ निघ०वृ०, १.११.३.

७ निघ०वृ०, १.११.३.

८ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ० १८९.

९ वै०पद०को०, पृ० ७५६.

१० ऋ०वै०पद०, पृ० ११०.

इडा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह 'इला' पद प्रवाह, वाणी और पृथिवी अर्थ में आया है।[१] आचार्य सायण 'इला' पद को 'इल' स्वप्नक्षेपणयोः' धातु से व्युत्पन्न मानते हैं।[२] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा उक्त यास्कीय निर्वचनों को भाषा-विज्ञान के अविकसित तथा अपर्याप्त वैदिक साहित्य की गवेषणा के कारण सन्दिग्ध वर्ग में रखते हैं।[३] लेकिन वेद से प्राप्त सङ्केत के आधार पर निःसन्दिग्ध रूप से 'इडा' पद का मूल 'ईड्' धातु प्रतीत होती है।[४]

वैदिक साहित्य में 'इला' पद का प्रयोग सर्वथा नहीं हुआ है। आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'इला' पद के उदाहरण में 'इळा' वाले मन्त्र को प्रस्तुत करते हैं।[५] यजुर्वेद में वामदेव ऋषि कहते हैं कि पूजनीय सरस्वती, भारती और मही इन तीन देवियों के समान तीन औषधियों और तीन धातुयें कर्म से प्राप्त होती हैं।[६] आत्रेय ऋषि कहते हैं कि अश्विनीदेवों के साथ इडा, सरस्वती आदि तीन देवियाँ हैं।[७] विदर्भि ऋषि कहते हैं कि अश्विनीदेवों के साथ सरस्वती, भारती और इडा ये तीन देवियाँ तीन प्रकार से स्थित हैं। ये तीव्रता से प्रवाहित होकर आनन्ददायक ऐश्वर्य को उत्पन्न करती हैं।[८] आत्रेय ऋषि कहते हैं कि इडा, सरस्वती और भारती-ये तीन मरणधर्मा मनुष्य को उसी प्रकार धारण करती हैं, जैसे दुग्ध पान कराने वाली धेनु प्राप्तव्य को धारण करती है।[९] अश्विनी ऋषि कहते हैं कि ये तीन देवियाँ अपने पति इन्द्र (ऐश्वर्य) की वृद्धि करती हैं। भारती प्रकाश, सरस्वती यज्ञ और वसुमती इडा गृहों को धारण करती है। ये वसु को धारण और सेवन करने वालों को प्राप्त होती हैं।[१०] जमदग्नि ऋषि वाक् देवता की स्तुति करते हुए कहते हैं कि मनुष्य के समान बोध कराती हुई भारती, इडा, सरस्वती-ये तीनों यज्ञ में शीघ्र आयें। ये तीनों देवियाँ वृद्धि को प्राप्त होती हुई, सुन्दर कर्मों से सुख को प्रदान करें।[११] अगस्त्य ऋषि सवितादेव से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण मनुष्यों का नेतृत्व करने वाला सवितादेव हमें प्रशंसित जानने योग्य व्यवहारों को इडा के माध्यम से प्राप्त कराये।[१२] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! अनेक कर्मों को सिद्ध करने वाले वाणी (गो) के उस अनादि और

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १६४.

२ सायण, माध० धातु०, ६.७६. पृ० ३३३.

३ दि एटामोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ७४.

४ यजु०, २१.१४; २८.३; २६.

५ ऋ० ५.४१.१९ "अभि न इळा यूथस्य माता।"

६ यजु०, २८.८. "होता यक्षत्तिस्रो देवीर्न भेषजं त्रयस्त्रिधातवोऽपस इडा सरस्वती भारती महीः।"

७ यजु०, २१.५४. "देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीरश्विनेडा सरस्वती।"

८ यजु०, २०.६३. "तिस्रस्त्रेधा सरस्वत्यश्विना भारतीडा। तीव्रं परिस्रुता सोममिन्द्राय सुषुवुर्मदम्।"

९ यजु०, २१.१९. "तिस्रऽइडा सरस्वती भारती मरुतो विशः। विराट् छन्दऽइहेन्द्रियं धेनुर्गौर्न वयो दधुः।"

१० यजु०, २८.१८. "देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीः पतिमिन्द्रमवर्धयन्। अस्पृक्षद्भारती दिवꣳ रुद्रैर्यज्ञꣳ सरस्वतीडा वसुमती गृहान्वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज।"

११ यजु०, २९.३३. "आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्यवदिह चेतयन्ती। तिस्रो देवीर्बर्हिरेदꣳ स्योनꣳ सरस्वती स्वपसः सदन्तु।"

१२ यजु०, ३३.३४. "आ नऽइडाभिर्विदथे सुशस्ति विश्वानरः सविता देव ऽ एतु।"

अनन्त विभाग इडा को ग्रहण करने एवं दान के लिये सिद्ध करो।[१] अथर्वा ऋषि इडा, अदिति और सरस्वती इन तीनों देवियों का आह्वान करते हुए कहते हैं कि वह अमुक-अमुक को प्राप्त हो।[२] अत्रि ऋषि कहते हैं कि यह इळा यूथों (मरुद्गणों) की माता है।[३] शतपथ-ब्राह्मण 'गौ' के रूप में प्रतिपादित करता हुआ इळा को यूथों (मरुद्गणों) की माता बतलाता है।[४] यहाँ सम्भवतः, 'गौ' का अर्थ 'वाक्' है। एक अन्य स्थान पर शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि मनु ने इसको पूर्व में उत्पन्न किया, इस कारण इडा को मानवी कहा जाता है।[५] आगे ब्राह्मण कहता है कि घृतपद पर स्थापित किये जाने के कारण इडा 'घृतपदी' कही जाती है।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'इडा' या 'इला' है, जो कर्म से प्राप्त होती है, इसका उल्लेख प्रायः सरस्वती, भारती और कभी-कभी मही के साथ हुआ है, यह सरस्वती और भारती के समान अश्विनीदेव के साथ तीन प्रकार से स्थित है, प्रपात की तरह ऐश्वर्य को उत्पन्न करती है तथा मनुष्य को धारण करने वाली है, इन तीनों देवियों के पति के रूप में वेद इन्द्र का उल्लेख करता है, इनमें से वसुमती इडा गृहों को धारण करती है, ये तीनों देवियाँ मनुष्य के समान बोध कराने वाली हैं और सुन्दर कर्मों से वृद्धि को प्राप्त करती हैं। इसके अतिरिक्त यह इडा गो का वह विभाग है, जो शश्वत्तम का आह्वान करता है।

उक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि यज्ञकर्म या आध्यात्मिक साधना में प्रयोग की जाने वाली वाणी को वेद 'इडा' नाम से अभिहित करता प्रतीत होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए स्तुत्यर्थक 'ईड्' धातु को 'इडा' (इला) पद का मूल माना जा सकता है। आचार्य यास्क ने आप्रिय (यज्ञकर्म में प्रयुक्त होने वाले) देवताओं में 'इडा' का चतुर्थ स्थान पर परिगणन किया है।[७] इससे यह सिद्ध होता है कि देवता को प्रिय होने से यज्ञकर्म या कर्मकाण्ड में प्रयुक्त होने वाली वाक् 'इडा' है।

४. गौः

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'गो' पद समाम्नात है।[८] आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'गो' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**गच्छन्ति यज्ञेष्वाहूता**"[९] कि यज्ञ में आहूत होने पर जाती है, अतः, वाक् को 'गो' कहते हैं। इस पक्ष में 'गम्' धातु से 'गो' पद उपपन्न होता है।

---

१ यजु०, १२.५१. "इडामग्ने पुरुदꣳसꣳ सनिं गोः शश्वत्तमꣳ हवमानाय साध।"

२ यजु०, ३८.२. "इड ऽ एह्यदित एहि सरस्वत्येहि। असाववेह्यसावेह्यसावेहि।"

३ ऋ० ५.४१.१९ "अभि न इळा यूथस्य माता।"

४ शत०ब्रा०, २.३.४.३४; १४.२.१.७. "इडा हि गौः'। शत०ब्रा०, १.८.१.२४. "या वा सा (इडा) ऽऽसीद्गौर्वै साऽऽसीत्।"

५ शत०ब्रा०, १.८.१.२६. "मनुर्ह्येतामग्रेऽजनयत तस्मादाह मानवी (इडा) इति।"

६ शत०ब्रा०, १.८.१.२६. "यदेवास्यै (इडायै) घृतं पदे समतिष्ठत तस्मादाह घृतपदी (इडा) इति।"

७ निरु० ८.७.

८ निघ० १.११.४.

९ निघ०वृ०, १.११.४.

(ख)"गीयते स्तूयते वा"[१] कि इसके द्वारा गान या स्तुति की जाती है, अतः, वाक् को 'गो' कहा जाता है। इस पक्ष में 'गै' या 'गा' धातु से 'गो' रूप निष्पन्न होता है।

वेद से प्राप्त सङ्केत के आधार पर भी 'गो' पद का मूल 'गम्' और 'गै' धातु हैं, लेकिन वेद का बहुमत 'गम्' से व्युत्पन्न होने का निर्देश देता प्रतीत होता है।[२]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गो' पद को धेनु, पृथिवी, वाक्, ग्रावा प्रभृति अर्थों का नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है, परन्तु यास्क एवं उणादिकोषकार 'गम्' गतौ' और 'गा' गतौ' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'गो' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स 'गो' पद का मूल 'गम्', 'गै' या 'गा' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार 'गो' पद का अर्थ गाय और उससे प्राप्त होने वाले पदार्थ हैं। उन्होंने निघण्टु के आधार पर 'गो' का अर्थ 'वाक्' माना है। लैटिन में यह पद 'bos', प्राचीन जर्मन में 'chuo', आधुनिक जर्मन में 'kuh' 'gau' इंग्लिश में 'cow', लेटिश में 'gohw, तथा गोथिक में 'gaw' में है।[५] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का मत है कि भारोपीय भाषा में यह शब्द 'gụou' पशु अर्थ में, ग्रीक में 'bous' गो अर्थ में, लैटिन में 'guovs' गौ अर्थ में पाया जाता है। उनके अनुसार 'गम्' धातुमूलक 'गो' पद का यास्कीय निर्वचन '**सर्वाणि नामान्याख्यातजानि**' सिद्धान्त से प्रभावित है।[६]

वैदिक साहित्य में 'गो' शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि प्रजारूपी वत्स को चाहती हुई माध्यमिका वाक् गर्जना करती है और माता के समान मूर्द्धा को चाटती हुई हिङ्कार करती है।[७] अग्रिम मन्त्र में पुनः ऋषि कहते हैं कि यह माध्यमिका वाक् पृथिवी को व्याप्त करके झङ्कार करती है और फिर मेघ पर स्थित होकर यह गर्जना करती है।[८] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि हे मघवन्! आप ईश्वर हैं, हमें विभिन्न प्रकार की गायों की प्राप्ति कराओ, जिससे हम सुखपूर्वक आनन्द को प्राप्त करें।[९] प्रजापति ऋषि कहते हैं कि सूर्य के समान स्वप्रकाश स्वरूप ब्रह्म है। समुद्र के समान सरोवर अन्तरिक्ष है। इन्द्र पृथिवी के लिये वर्षा करने वाला है और शब्दब्रह्म को सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है।[१०] प्रस्तुत मन्त्र में ऋषि ने वाक् को अपरिमित माना है। इसी भाव को ऋषि अन्यत्र व्यक्त करता हुआ कहता है कि यह वाक् परम व्योम

---

१ निघ०वृ०, १.११.४.

२ ऋ० १.८३.१; .८६.३; ११२.८; ३.५६.२; ८.२०.१९; १०.६७.३.

३ वै०पद०को० पृ० १२४९.

४ ऋ०वै०पद० पृ० १९०.

५ संस्कृत-इंग्लिशकोष, पृ० ३६९.

६ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ८७.

७ ऋ० १.१६४.२८. "गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्द्धानं हिङ्कृणोन्मातवा उ।"

८ ऋ० १.१६४.२९. "अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधिश्रिता।"

९ ऋ० १.१२१.१५. "आ नो भज मघवन्गोष्वर्यो मंहिष्ठास्ते सधमादः स्याम।"

१० यजु०, २३.४८. "ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमः सरः। इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते।"

है, परम ब्रह्म है।[१] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि यदि सूरी (विद्वान्) बुद्धि से लोगों को चाहें तो सम्पूर्ण गौ अनुकूल होकर सेवनीय हो जाती है।[२] वामदेव ऋषि वृषभरूप 'गो' का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उसके चार सींग, तीन पाद, दो सिर तथा सात हाथ हैं। यह तीन स्थानों से बँधा हुआ वृषभ बहुत ध्वनि करता है, ऐसा महान् देव मनुष्यों में स्थित है।[३] अग्रिम मन्त्र में ऋषि कहता है कि वाणी में रमण करने वाला ब्रह्मा चार शिखर वाली विद्या को सुनता है और उसको उसी रूप में सुनाता है।[४] पुनः ऋषि कहता है कि वाणी में पणियों (व्यवहार कुशल लोगों के) द्वारा तीन प्रकार से छिपाया गया घृत अर्थात् वाणी का सार है, उसको देवताओं ने प्राप्त किया।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'गौ' है, जो मेघ पर स्थित होकर माध्यमिका वाक् के रूप में गर्जना करती है, यह गौ अनेकविधा है, अतः, ऋषि इसके रूप तथा प्रकार अनन्त बतलाता है, विद्वान् के द्वारा सर्वजन हिताय किया जाने वाला प्रयोग इसका सर्वोत्तम उपयोग है, यह गौ चार सींग, तीन पैर, दो सिर तथा सात हाथ वाली है, अतः, ऋषि की दृष्टि में यह अन्य गायों से विलक्षण है। इसके अतिरिक्त इस गौ में रमण करने वाला विद्वान् ब्रह्मा (गौर) नाम से अभिहित होता है और पणियों के द्वारा व्यञ्जना रूप में गूढरूप से निगूहित उक्त गौ के घृत को देवता प्राप्त करते हैं, क्योंकि यही वाणी का सार है। उक्त अध्ययन के सन्दर्भ में 'गो' पद के निर्वचनों का मूल्याङ्कन करने पर कहा जा सकता है कि 'गम्' धातुमूलक निर्वचन सर्वथा समीचीन है। उक्त 'गो' रूपा वाक् वैखरी रूप होने से श्रोता और वक्ता के मध्य गमन करती है। ऋषि ने जिस वाक् देवता का चित्रण किया है, वह नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात स्वरूप वाला होने से व्यक्त ध्वनि का विषय है और इसी कारण वह गमन भी करती है, जबकि भावरूपा वाक् का उक्त वर्गीकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है।

५. गौरी

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'गौरी' पद पठित है।[६] आचार्य यास्क 'गौरी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**गौरी रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। अयमपीतरो गौरो वर्ण एतस्मादेव प्रशस्यो भवति**''[७] कि यह दीप्तिमती होने से यह 'गौरी' नाम से अभिहित होती है। गौरवर्ण भी इसी कारण 'गौर' कहा जाता है, क्योंकि यह अन्य वर्णों की अपेक्षा प्रशस्य (उज्वल) होता है। इस पक्ष में ज्वलत्यर्थक 'रुच्' धातु से 'रौचीझचौरीझगौरी' इस प्रकार यह पद उपपन्न होता है।

---

१ यजु०, २३.६२. ''ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम।''

२ ऋ० १.१७३.८. ''विश्वा ते अनु जोष्या भूद्गौः सूरींश्चिद्यदि धिषा त्वेषि जनान्।''

३ ऋ० ४.५८.३. ''चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश।''

४ ऋ० ४.५८.२. ''उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं चतुः शृङ्गेऽवमीद् गौर एतत्।''

५ ऋ० ४.५८.४. ''त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।''

६ निघ० १.११.५.

७ निरु० ११.३९.

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'गौरी' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-"**रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। स्वया दीप्त्या ज्वलति वाग्देवतात्वात्**"[१] कि वाग्देवता होने से यह अपनी दीप्ति से देदीप्यमान होता है, अतः, वाक् को 'गौरी' कहा जाता है। इस पक्ष में ज्वलत्यर्थक 'रुच्' धातु से 'रौची>चौरी>गौरी' इस प्रकार यह पद उपपन्न होता है।

(ख)"**यद्वा, 'गुरी' उद्यमने'। गुरते उद्यच्छति स्वमभिधेयम्, उद्यमनं चाथ प्रकाशनम्**"[२] कि यह अपने अभिधेय को प्रकाशित करता है, अतः, वाक् को 'गौरी' नाम से अभिहित करते हैं। इस पक्ष में 'गुर्' धातु से औणादिक 'रन्' प्रत्यय करके 'गौर' शब्द और उससे स्त्रीलिङ्ग 'ङीष्' प्रत्यय होने से 'गौरी' पद निष्पन्न होता है।

(ग)"**यद्वा, 'गुङ्' अव्यक्ते शब्दे'। गवते गर्जितलक्षणमव्यक्तशब्दं करोतीति गौरी**"[३] कि गर्जना करने के कारण यह वाक् 'गौरी' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'गु' धातु से औणादिक 'रन्' प्रत्यय करके 'गौर' शब्द और उससे स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय होने से 'गौरी' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गौर' पद को दीप्तवर्ण वाचक पयस् का विशेषण तथा मृगविशेष वाचक नामपद एवं उसकी व्युत्पत्ति सन्दिग्ध मानी है, लेकिन 'गौरी' पद का अर्थ और व्युत्पत्ति दोनों को सन्दिग्ध माना है। वेङ्कट एवं सायण उक्तपद का अर्थ माध्यमिका वाक् (गौरीमृगी) तथा पेटरसन, ग्रासमैन प्रभृति मृगीत्वच् मानते हैं।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची में अव्युत्पन्न 'गौर' शब्द से 'गौरी' शब्द को व्युत्पन्न माना गया है।[५] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के समर्थक हैं।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा 'गौरी' पद के यास्कीय निर्वचन को असङ्गत मानते हैं।[७]

वैदिक साहित्य में गौरी' पद का पर्याप्त प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि इस प्रकार व्यापक स्वादयुक्त, मधुरगुणवाली वाक् का सब पान करते हैं। यह वाक् इन्द्र के साथ गमन करती हुई कामनाओं की वर्षा करने से आनन्द देती है और स्वराज्य में वास करती हुई शोभा पाती है।[८] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि गौरी वाक् शब्दरूप होती हुई निर्मल वचनों को कहती है, कभी यह अव्याकृत होने से एकपदा, कभी सुब्तिङात्मक होने से द्विपदा, कभी नामोख्यातोपसर्गनिपातरूपा होने से चतुष्पदी, कभी आमन्त्रित, अव्ययादिरूपों से युक्त होने पर अष्टापदी और कभी नाभि आदि नव स्थानों से अभिव्यक्ति प्राप्त करने से नवपदा होती है। इस प्रकार यह उत्कृष्ट हृदयरूपी आकाश के मूलाधार में विभिन्न चिन्तन एवं ध्वनि

---

१ निघ०वृ०, १.११.५.

२ निघ०वृ०, १.११.५.

३ निघ०वृ०, १.११.५.

४ वै०पद०को०, पृ० १२६४.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० १९३.

६ संस्कृत-इंग्लिशकोष, पृ० ३७०.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १२०.

८ ऋ० १.८४.१०. "स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः। या इन्द्रेण समावरीर्वृष्णा मन्दन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम्।"

रूपों में व्याप्त रहती है।[१] वामदेव ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार पूजनीय वसुगण व्याकरण के नियमों में बँधी हुई वाणी को प्रकट करते हैं, उसी प्रकार हम विशिष्ट पाप को व्यक्त करके मुक्त हो जायें।[२] कृष्ण द्युम्नीक ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार मरु प्रदेश में मधुर उदक का पान प्राणी को प्रिय होता है, उसी प्रकार मधु को प्रसूत करने वाली वाक् विद्वानों को प्रिय होती है।[३] इसी सूक्त में आगे ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार मरुस्थल में ऐश्वर्ययुक्त प्रशंसनीय होता है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी प्रकाश की लोग स्तुति करते हैं।[४] देवल ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार तर नदी का आश्रय लेती हैं, उसी प्रकार आनन्द की वर्षा करने वाले सोम में गौरी वाक् अधिष्ठित है।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'गौरी' है, जो स्वादयुक्त एवं मधुरगुण वाली है, यह वाक् अव्याकृत और व्याकृत दोनों रूपों का प्रतिनिधित्व करती है, व्याकृतरूपा होने पर यह व्याकरण के नियमों में आबद्ध होती है। इस वाक् की एक प्रमुख विशेषता माधुर्य है, इस वैशिष्ट्य की ओर ध्यान आकर्षित करता हुआ ऋषि कहता है कि यह वाक् उतनी प्रिय होती है, जितना मरुस्थल में मधुर उदक प्रिय लगता है। इस वाक् का अधिष्ठान सोम माना जाता है।

उक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि निर्वचनकारों के द्वारा प्रस्तुत सभी निर्वचन वेद की भावना के अनुकूल नहीं हैं। उक्त विवेचन के आधार पर स्तुत्यर्थक या शब्दार्थक 'गृ' धातु को गौरी पद का मूल मानना उचित प्रतीत होता है।

६. गान्धर्वी

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'गान्धर्वी' पद समाम्नात है।[६] आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'गान्धर्वी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**गौर्यज्ञस्य धारयितेन्द्रः। तस्येदम्**"[७] कि गौ अर्थात् यज्ञ को धारण करने वाले इन्द्र की वाक् 'गान्धर्वी' है। इस पक्ष में 'गो' पूर्ववाली 'धृ' धातु से 'व' प्रत्यय होकर 'गोधर्व', उससे 'गन्धर्व' तथा उससे तद्धित एवं स्त्री प्रत्यय होने से 'गान्धर्वी' पद उपपन्न होता है।

(ख)"**भोजस्तु 'गन्धेरक् च'। गन्धयते अर्दयति हिनस्ति देवशत्रूनिति गन्धर्वः इन्द्रः, तस्येदम्-गान्धर्वी। ऐन्द्रीत्यर्थः**"[८] कि जो देवशत्रुओं का वध करता है, वह इन्द्र 'गन्धर्व' है, उसकी वाक् 'गान्धर्वी' कही जाती है। इस पक्ष में 'गन्ध्' धातु से 'व' प्रत्यय तथा 'अक्' का आगम, तद्धित एवं स्त्री प्रत्यय होकर

---

१ ऋ० १.१६४.४. "गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी। अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्।"

२ ऋ० ४.१२.६. "यथा ह त्यद्वसवो गौर्यं चित्पदि षिताममुञ्चत यजत्राः।"

३ ऋ० ८.८७.१. "मध्वः सुतस्य स दिवि प्रियो नरो पातं गौराविवेरिणे।"

४ ऋ० ८.८७.४. "ता वावृधाना उप सुष्टुतिं दिवो गन्तं गौराविवेरणम्।"

५ ऋ० ९.१२.३. "मदच्युत्क्षेति सादने सिन्धोरूर्मा विपश्चित्। सोमो गौरी अधि श्रितः।"

६ निघ० १.११.६.

७ निघ०वृ०, १.११.६.

८ निघ०वृ०, १.११.६.

'गान्धर्वी' रूप निष्पन्न होता है।

(ग) "**यद्वा, गन्धर्वा देवानां गायकाः, तेषामियम्। तथा चैतरेय ब्राह्मणे- 'सोमो वै राजो गन्धर्वेष्वासीत्'**"[१] कि गन्धर्व देवताओं के गायक हैं, उनकी वाक् 'गान्धर्वी' कहलाती है। ऐतरेय-ब्राह्मण कहता है कि गन्धर्वों में सोम नाम का राजा था। इस पक्ष में 'गन्धर्व' शब्द से तद्धित 'अण्' प्रत्यय होकर 'गान्धर्वी' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष ने 'गान्धर्वी' पद को ग्रासमैन प्रभृति की दृष्टि से पथ्या का विशेषण तथा वेङ्कट एवं सायण की दृष्टि से वाग्वाचक नामपद माना है। उसके अनुसार 'गन्धर्व' पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'गन्धर्व' से 'गान्धर्वी' पद को निष्पन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स ने भी उक्त व्युत्पत्ति का समर्थन किया है।[४]

वैदिक साहित्य में 'गान्धर्वी' पद का प्रयोग बहुत अल्प हुआ है। ऋग्वेद में सौचीक ऋषि कहते हैं कि अग्नि उदक के मार्ग में गान्धर्वी को प्राप्त करता है और अग्नि का मार्ग उदक में स्थित है।[५]

उपर्युक्त एकमात्र मन्त्र के विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'गान्धर्वी' है, जो उदक के मार्ग से होकर गमन करती है। इससे यह प्रतीत होता है कि मेघ की गर्जना को वेद 'गान्धर्वी' नाम से अभिहित करता है। ऐतरेय-ब्राह्मण कहता है कि प्रजापति ने गन्धर्वों को वाक् प्रदान की है और उसके विनिमय में सोम को प्राप्त किया।[६] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि उन गन्धर्वों ने आकर देवताओं से कहा कि सोम तुम्हारा और वाणी हमारी हो।[७] ऋषि के कथन से यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि गन्धर्वों का सोम और वाक् दोनों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। माध्यमिक देवता ने अपनी वाणी गन्धर्वों को प्रदान की और उसके विनिमय में गान्धर्वी (गन्धर्वों को वाणी) ने सोम (उदक) प्रदान किया। इस प्रकार वह वाक् 'गान्धर्वी' है, जो वर्षा ऋतु में गर्जना के माध्यम से उदक की प्राप्ति कराती है। इस दृष्टि से देखने पर देवराजयज्वन् का प्रथम निर्वचन समीचीन माना जा सकता है।

७. गभीरा

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'गभीरा' पद पठित है।[८] आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'गभीरा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**भीयन्ति रातीति भीराः। गवां गवां भीरा गभीरा गम्भीरा च।**

---

१ निघ०वृ०, १.११.६.

२ वै०पद०को०, पृ० १२१३.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० १८४.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३५३.

५ ऋ० १०.८०.६. "अग्निर्गान्धर्वीं पथ्यामृतस्याग्नेर्गव्यूतिर्घृत आ निषत्ताः।"

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३५३.

७ शत०ब्रा०, ३.२.४.४. "ते गन्धर्वा अन्वागत्य (देवान्) अब्रुवन् सोमो युष्माकं वागेवास्माकमिति।"

८ निघ० १.११.७.

स्तनयित्नुलक्षणा हि माध्यमिका वाक् श्रूयमाणैव सर्वप्राणिनां भियमादधाति''[१] कि गर्जना करने वाली माध्यमिका वाक् सुनने मात्र से सम्पूर्ण प्राणियों को भयभीत कर देती है, अतः, वह 'गभीरा' कहलाती है। इस पक्ष में 'गो' पूर्व वाली 'भी' और 'रा' धातुओं से 'गोभीर' उससे 'गभीरा' पद उपपन्न होता है।

(ख)''यद्वा, 'गम्लृ' गतौ'। गच्छति यज्ञे, अधिगम्यते वा ज्ञानार्थिभिः''[२] कि यह वाक् यज्ञ में प्रयुक्त होती है अथवा ज्ञानार्थियों के द्वारा जाना जाती है, अतः, वाक् को 'गभीरा' कहते हैं। इस पक्ष में 'गम्' धातु से 'ईरन्' प्रत्यय होकर 'गमीर' और उससे 'गभीर' पद निष्पन्न होता है।

(ग)''यद्वा, 'गाधृ' प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे च'। प्रतिष्ठिता स्वस्मिन् स्थाने, लिप्स्यन्ते वा प्राणिभिः, ग्रथिता वा गद्यपद्यादिरूपेण गभीरा''[३] कि यह अपने स्थान पर प्रतिष्ठित है या प्राणियों के द्वारा चाही जाती है अथवा गद्यपद्यादि के रूप में ग्रथित होती है, अतः, वाक् को 'गभीरा' कहते हैं। इस पक्ष में 'गाध्' धातु से 'ईरन्' प्रत्यय होकर 'गाधीर' और उससे 'गभीर' पद निष्पन्न होता है।

उणादिकोष के अनुसार 'गम्' धातु से 'ईरन्' प्रत्यय होकर 'गभीर' पद निष्पन्न होता है।[४] वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गभीरा' पद को अवत, सवन, सुमति प्रभृति का विशेषणपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। पेटरसन, ग्रासमैन प्रभृति गभ्' गहने'' धातु से व्युत्पन्न करते हैं।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'गभीर' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स 'गम्भीर' पद का मूल 'गभ्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद विशेष रूप से गम्भीर अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, लेकिन एक स्थान पर इसका अर्थ 'गम्भीर वाक्' अर्थ भी है।[७]

वैदिक साहित्य में 'गभीरा' पद का प्रयोग बहुत अधिक नहीं हुआ है। ऋग्वेद में आजीगर्ति शनुःशेप ऋषि कहते हैं कि असङ्ख्यों भिषक् वाले वरुण राजा की विस्तृत और गम्भीर सुमति हमें प्राप्त हो।[८] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि वृत्रहन्ता इन्द्र की गभीरा वाक् सवनों का प्रसूत और पवित्र करती है।[९] इरिम्बिष्ठ काण्व ऋषि कहते हैं कि जिसके पास न्यूनताओं से रहित, आनन्ददायक, विस्तृत एवं संसार सागर से पार ले जाने वाली वाक् है, वह पार हो जाता है।[१०] अत्रि ऋषि सम्राट् रूप, सर्वत्र श्रूयमाण वरुणदेव के लिये ब्रह्म को प्रिय लगने वाली वाक् से स्तुति करने का निर्देश देते हैं।[११]

---

१ निघ०वृ०, १.११.७.

२ निघ०वृ०, १.११.७.

३ निघ०वृ०, १.११.७.

४ उणा०, ४.३६. ''गभीरगम्भीरौ।''

५ वै०पद०को०, पृ० १२१४.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० १८४.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३४६.

८ ऋ० १.२९.९. ''शतं ते राजन् भिषजः सहस्रमुर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु।''

९ ऋ० ७.३२.६. ''यस्ते गभीरा सवनानि वृत्रहन्त्सुनोत्या धावति च।''

१० ऋ० ८.१६.४. ''यस्यामनूना गभीरा मदा उरवस्तरुत्राः।''

११ ऋ० ५.८५.१. ''प्र सम्राजे बृहदर्चा गभीरं ब्रह्म प्रियं वरुणाय श्रुताय।''

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में वह वाक् 'गभीरा' रूप में प्रतिपादित है, जो वरुणदेव की सुमतिरूप में प्रतिष्ठित है, यह वृत्रहन्ता इन्द्र के लिये सवनों को प्रसूत और पवित्र करती है, इसकी एक विशेषता यह है कि यह सभी प्रकार की न्यूनताओं से रहित, आनन्द देने एवं पार लगाने वाली है। इसके अतिरिक्त उक्त वाक् ब्रह्म को प्रिय है। उक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'गभीर' पद सामान्यतया गम्भीर, अगाध, गहन आदि अर्थ में प्रयुक्त है। लेकिन कुछ स्थलों पर यह वाक् के लिये भी प्रयुक्त हुआ माना जा सकता है, परन्तु इन स्थानों पर भी वाक् से भिन्न अर्थ (गहन) ग्रहण किया जा सकता है और आचार्य सायण ने ऐसा किया भी है। उक्त अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में देवराजयज्वन् कृत सभी निर्वचन असङ्गत प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनमें कल्पना का आवश्यकता से अधिक आश्रय लिया गया है। सम्भवतः, गहनार्थक 'गह्' धातु 'गभीर' पद का मूल है। उक्त धातु से व्युत्पन्न करने में जहाँ रूप की साम्यता है, वहाँ अर्थसाम्य भी विद्यमान है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में 'गभीर' पद प्रमुखरूप से 'गहन' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसमें भी इसकी भूमिका प्रायः विशेषण की रही है।

८. गम्भीरा

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'गम्भीरा' पद पठित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् ने 'गम्भीर' पद के निर्वचन 'गभीर' पद के समान प्रस्तुत किये हैं।[२] सम्भवतः, वे दोनों पदों को समान मूल का मानते हैं, जबकि दोनों पदों की धातु भिन्न प्रतीत होती है। वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गम्भीरा' पद को इन्द्र, उदधि, हेति प्रभृति का विशेषणपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'गम्भीर' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[४] उणादिकोष के अनुसार 'गम्' धातु से 'ईरन्' प्रत्यय होकर 'गभीर' पद निष्पन्न होता है।[५] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के समर्थक हैं।[६]

ऋग्वेद में 'गम्भीर' पद का प्रयोग व्यापक रूप से देखने को मिलता है, लेकिन 'वाक्' परक उदाहरणों का प्रायः अभाव है। अतः, आचार्य देवराजयज्वन् 'गम्भीरा' पद के उक्त अर्थ का उदाहरण अन्वेषणीय बतलाते हैं।[७] सामान्यतया वेद में 'गम्भीर' पद अगाध या गहन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। एक स्थान पर भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि वह इन्द्र महनीया गभीरा वाक् से शत्रुओं को पीडित करता है, कँपाता है और दुरितों को नष्ट करता है।[८]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि सम्भवतः, मेघगर्जना को ऋषि 'गम्भीरा' नाम

---

१ निघ० १.११.८.

२ निघ०वृ०, १.११.८.

३ वै०पद०को०, पृ० १२१५.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० १८४.

५ उणा०, ४.३६. ''गभीरगम्भीरौ।''

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३४६.

७ निघ०वृ०, १.११.८.

८ ऋ० ६.१८.१०. ''गम्भीरया ऋष्वया यो रुरोजाध्वानयद्दुरिता दम्भयच्च।''

से सम्बोधित करता है, परन्तु पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि वेद में उक्त पद गहन अर्थ में प्रयुक्त है और जहाँ वाक् का अर्थ ग्रहण किया जा रहा है, वहाँ भी वह गम्भीर अर्थ का बोध कराता प्रतीत होता है। निर्वचन को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि 'गम्' धातुमूलक व्युत्पत्ति को छोड़कर शेष सभी देवराजयज्वन् कृत निर्वचन बहुत समीचीन नहीं हैं। सम्भवतः, उक्त पद का मूल 'गम्' धातु है, इसका समर्थन उणादिकोष तथा मोनियर विलियम्स से भी हो जाता है।

९. मन्द्रा

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'मन्द्रा' पद पठित है।[१] आचार्य यास्क 'मन्द्रा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**मन्द्रा, मदना**''[२] कि हर्षकारिणी से होने वाक् 'मन्द्रा' कहलाती है। एक अन्य स्थान पर भी यास्क 'मन्द्र' का निर्वचन 'मन्दन' से करते हैं।[३] इस पक्ष में 'मद्' धातु से 'मन्द्रा' पद सिद्ध होता है। आचार्य यास्क 'मन्द्र' का निर्वचन '**मोदन**' से भी करते हैं।[४] इस पक्ष में 'मुद्' धातु से 'मन्द्र' शब्द सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'मन्द्रा' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**मन्द्रा (वाक्)। 'मदि' स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु'। गच्छति स्वाभिधेयं प्राप्नोति, अधिगम्यते वा तदर्थिभिः**''[५] कि अपने अभिधेय को प्राप्त कर लेती है अथवा इच्छुक के द्वारा प्राप्त कर ली जाती है, अतः, वाक् 'मन्द्रा' नाम से अभिहित होती है। इस पक्ष में 'मद्' धातु से 'मन्द्रा' पद निष्पन्न होती है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'मद्' धातुमूलक 'मन्द्रा' पद को अश्विन् का विशेषण मानता है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स के अनुसार 'मन्द्रा' पद का मूल 'मद्' धातु है।[७] मोनियर विलियम्स ऋग्वेद के अनुसार 'मन्द्रा' पद का अर्थ आनन्ददायक, स्वीकार्य, आकर्षक, प्रसन्नतापूर्वक बोलने वाली वाक् मानते हैं।[८] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा यास्क के प्रथम निर्वचन को भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार्य बतलाते हैं, जबकि द्वितीय निर्वचन को स्वर की दृष्टि से शिथिल मानते हैं।[९]

वैदिक साहित्य में 'मन्द्रा' पद का पर्याप्त प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में ऋजाश्व ऋषि मन्द्रा

---

१ निघ० १.११.९.

२ निरु० ११.२८, २९.

३ निरु० ६.२३.

४ निरु० ६.२३.

५ निघ०वृ०, १.११.९.

६ वै०पद०को०, पृ० २४१६.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० ३८४.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७८७.

९ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ५०,

को मनुष्यों के द्वारा जानने वाला बतलाते हैं।[१] राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि सत्यतर होता अग्नि आनन्द देने वाली जिह्वा से प्राप्त होता है।[२] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि मरणधर्मत्व से विरहित आनन्द देने वाली मनुष्य की वाणी को सुनो और ग्रहण करो।[३] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि मुख में स्थित आनन्द देने वाली सुन्दर जिह्वा से शब्द करने वाले मरुद्गण इन्द्र के साथ स्तुतिपूर्वक यहाँ आयें।[४] वसूयु ऋषि अग्नि से प्रार्थना करते हैं कि वह अपने प्रकाश और आह्लादकारिणी जिह्वा से देवताओं को यहाँ लेकर आये और उनका यजन करे।[५] भरद्वाज ऋषि मदकारिणी जिह्वा के द्वारा देवताओं को तृप्त करने के लिये अग्नि का आह्वान करते हैं।[६] वसिष्ठ ऋषि मुख में वास करने वाली मोदकारिणी जिह्वा के द्वारा अग्नि से धनवानों के धन को प्राप्त कराने का निवेदन करते हैं।[७] नृमेध ऋषि कहते हैं कि जब मोदयित्री राजनशीला वाक् अप्रज्ञात अर्थों को बतलाती है, तब चारों दिशायें ऊर्जा (पराक्रम) और विविध ज्ञानों को दुहती हैं और इस वाक् का अन्त कहीं दिखायी नहीं देता है।[८] अग्रिम मन्त्र में ऋषि कहते हैं कि देवता ज्ञान प्रदात्री वाणी को प्रकट करते हैं और उसको सभी प्राणी बोलते हैं। अत्र, पराक्रम आदि अभीष्ट फल प्रदान करती हुई वह हर्ष प्रदान करने वाली वाक् (धेनु) हमें प्राप्त हो।[९] बुध सौम्य ऋषि कहते हैं कि वाणी को प्रकट करो, बुद्धि और कर्मों का विस्तार करो तथा चप्पू से पार ले जाने वाली नौका बनाओ।[१०]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'मन्द्रा' है, जो ज्ञान-विज्ञान से युक्त होने के कारण सुख का हेतु होती है अतः, मनुष्यों के द्वारा जानी जाती है। यह वह वाक् है, जो न केवल श्रवणीय है, अपितु ग्रहणीय भी है। अग्नि की मधुर जिह्वा से प्रकट होने वाली वाक् को सुनकर देवता यज्ञ में आते, तृप्ति पाते और हमें धन की प्राप्ति कराते हैं। यह वाक् अप्रज्ञात अर्थों का प्रतिपादन करती है, इसीके प्रभाव से पराक्रम और विविध ज्ञानों की प्राप्ति होती है, यह वाक् अनन्तरूपा है, इसका उच्चारण सभी प्राणी करते हैं और यह सभी प्रकार के अभीष्ट को प्रदान करने वाली है।

उक्त अध्ययन को दृष्टि में रखते हुए 'मन्द्रा' का मूल 'मद्' धातु को माना जा सकता है। वेद ने कहीं मन्द्रा के साथ 'नहुष' का, कहीं 'मरुत्' और कहीं 'जिह्वा' का उल्लेख किया है। निघण्टु में 'नहुष' को

---

१ ऋ० १.१००.१६. ''वृषण्वन्तं बिभ्रती धूर्षु रथं मन्द्रा चिकेत नाहुषीषु विक्षु।''

२ ऋ० १.७६.५. ''एवा होतः सत्यतर त्वमद्याग्ने मन्द्रया जुह्वा यजस्व।''

३ ऋ० १.१२२.११. ''अध ग्मन्ता नहुषो हवं सूरेः श्रोता राजानो अमृतस्य मन्द्राः।''

४ ऋ० १.१६६.११. ''मन्द्राः सुजिह्वाः स्वरितार आसभिः संमिश्ला इन्द्रे मरुतः परिष्टुभः।''

५ ऋ० ५.२६.१. ''अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया। आ देवान् वक्षि यक्षि च।''

६ ऋ० ६.१६.२. ''स नो मन्द्राभिरध्वरे जिह्वाभिर्यजा महः। आ देवान् वक्षि यक्षि च।''

७ ऋ० ७.१६.९. ''स मन्द्रया च जिह्वया वह्निरासा विदुष्टरः। अग्ने रयिं मघवद्भ्यो न आ वह।''

८ ऋ० ८.१००.१०. ''यद्वाग्वदन्त्याविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा। चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम।''

९ ऋ० ८.१००.११. ''देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। सा नो मन्द्रेषमूर्जं दधाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु।''

१० ऋ० १०.१०१.२. ''मन्द्रा कृणुध्वं धिय आ तनुध्वं नावमरित्रपरणीं कृणुध्वम्।''

मनुष्यवाचक माना गया है[१] तथा 'मरुत्' शब्द भी मर्य की तरह मनुष्य का वाचक है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि उक्त वाक् का मुख्य सम्बन्ध मनुष्य से है। इसके अतिरिक्त 'मन्द्रा' पद जिह्वा की विशेषता का प्रतिपादन करता है, अतः, ऋषि मन्द्रा के साथ 'जिह्वा' का उल्लेख करता है। इस प्रकार वह वाक् 'मन्द्रा' है, जो मनुष्य जीवन में मधुरता का रस घोल देती है, जो श्रवणीय होने के साथ-साथ आचरणीय भी होती है।

१०. मन्द्राजनी

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'मन्द्राजनी' पद समाम्नात है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् 'मन्द्राजनी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**मन्द्रशब्दो व्याख्यातः। मन्द्रमजनं गमनं क्षेपणं प्रेरणमुच्चारणं वा यस्याः सा मन्द्राजनी**''[३] कि मधुर गमन, क्षेपण, प्रेरण या उच्चारण होने के कारण वह वाक् 'मन्द्राजनी' कहलाती है। इस पक्ष में 'मन्द्र+'अज्'+ल्युट्' से 'मन्द्राजनी' शब्द सिद्ध होता है। वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'मन्द्राजनी' पद को 'मद्' धातुमूलक मानता है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'मन्द्राजनी' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स उक्त पद का मूल 'मन्द्' धातु को मानते हैं। उनके अनसार ऋग्वेद में मधुर वाणी का उच्चारण 'मन्द्राजनी' है।[६]

वैदिक साहित्य में उक्त पद का प्रयोग अत्यल्प हुआ है। ऋग्वेद में उक्त पद का मात्र एक बार उल्लेख प्राप्त होता है। हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं कि अन्तःकरण में विद्यमान मन्द्राजनी वाक् मति से सम्पृक्त और मधु से सिक्त होकर प्रेरणा करती है।[७]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक भाषा में वह वाक् 'मन्द्राजनी' है, जो मति और मधु से सिक्त होती है। इस दृष्टि से 'मन्द्राजनी' का उक्त निर्वचन उपयुक्त माना जा सकता है।

११. वाशी

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'वाशी' पद परिगणित है।[८] जैमिनीय-ब्राह्मण 'वाश' का निर्वचन करता हुआ कहता है:-''**ते (देवाः) वाश इत्येव वशमसुराणामवृञ्जत। तदेव वाशस्य वाशत्वम्**''[९] कि देवताओं ने वाश से असुरों पर वश का परित्याग कर दिया। यही वाश का वाशत्व है। इस पक्ष में 'वश्' धातु से 'वाशी' पद निष्पन्न होता है।

---

१ निघ० २.३.९.

२ निघ० १.११.१०.

३ निघ०वृ०, १.११.१०.

४ वै०पद०को०, पृ० २४१७.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ३८४.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७८७.

७ ऋ० ९.६९.२. ''उपोमतिः पृच्यते सिच्यते मधु मन्द्राजनी चोदते अन्तरासनि।''

८ निघ० १.११.११.

९ जै०ब्रा०, ३.२२०.

आचार्य यास्क 'वाशी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**वाशीति वाङ्नाम। वाश्यत इति सत्या:**''[१] कि यह शब्द करती है, अत:, वाक् को 'वाशी' कहते हैं। इस पक्ष में शब्दार्थक 'वाश्' धातु से 'वाशी' पद निष्पन्न होता है। आचार्य देवराजयज्वन् यास्क का अनुसरण करते हुए 'वाशी' का निर्वचन निम्न देते हैं:-''**वाशीति (वाक्)। 'वाशृ' शब्दे'। कर्मणि कारके वा दृश्यते**''।[२]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वाशी' पद को छेदनी वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद के 'व्रश्च्' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'वाशी' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स 'वाशी' पद का मूल 'वाश्' धातु को मानते हैं, लेकिन उनके अनुसार अन्य आचार्य 'व्रश्च्' धातु से उक्त पद को व्युत्पन्न करते हैं। ऋग्वेद में उक्त पद तीक्ष्ण चाकू या कुठार, वसूला, छेनी आदि अर्थ में आया है। यह अग्नि या मरुतों का आयुध है।[५] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि भारोपीय भाषा में यह पद 'u̯ak, u̯ag' 'शब्द करने के' अर्थ में है तथा लैटिन में 'vagire' 'शब्द करने के' अर्थ में है। उनके अनुसार उक्त निर्वचन तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्ण रूप से स्वीकार करने के योग्य है।[६] उणादिकोष से भी उक्त व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है।[७]

वैदिक साहित्य में 'वाशी' पद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में घौर काण्व ऋषि कहते हैं कि ये मरुत् सिञ्चन करने वाली ऋष्टियों (विज्ञान के प्रकारों) से शब्द करते हुए अपने तेज के साथ उत्पन्न होते हैं।[८] रहूगणपुत्र गोतम ऋषि कहते हैं कि मरुतो! तुम्हारे शरीरों में ऊँचे वृक्षों के समान शोभा के लिये सुख प्राप्त करने वाली वाणी एवं मेधा को हम उत्पन्न करते हैं।[९] श्यावाश्व ऋषि कहते हैं कि मरुतों के रूपों, वाणियों, मालाओं, वक्ष:स्थल के आभूषणों और भक्षण प्रकारों को देखना और उनकी स्तुति करनी चाहिये। ऋषि के कथन का आशय यह है कि मरुतों की उक्त क्रिया का अनुकरण करना चाहिये।[१०] एक अन्य स्थान श्यावाश्व ऋषि कहते हैं कि मरुत् उत्तम वाणी से सम्पन्न, ज्ञानवान्, मनस्वी सुन्दर धनुष, बाण और तलवार वाले हैं।[११] एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहते हैं कि घृतादि द्रव्यों से तर्पित अग्नि शब्दकारिणी ज्वाला को ऊँचे-नीचे करता है, तब उसका सूर्य के समान रूप प्रकाशित होता है।[१२] राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि वे

---

१ निरु० ४.१६.
२ निघ०वृ०, १.११.११.
३ वै०पद०को०, पृ० २८२७.
४ ऋ०वै०पद०, पृ० ४७५.
५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९४७.
६ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ५१.
७ उणा०, ४.१२६.
८ ऋ० १.३७.२. ''ये पृषतीभिर्ऋष्टिभि: साकं वाशीभिरञ्जिभि:। अजायन्त स्वभानव:।''
९ ऋ० १.८८.३. ''श्रिये कं वो अधि तनूषु वाशीर्मेधा वना न कृणवन्त ऊर्ध्वा।''
१० ऋ० ५.५३.४. ''ये अञ्जिषु ये वाशीषु स्वभानव: स्रक्षु रुक्मेषु खादिषु।''
११ ऋ० ५.५७.२. ''वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिण: सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिण:।''
१२ ऋ० ८.१९.२३. ''यदी घृतेभिराहुतो वाशीमग्निर्भरत उद्याव च।''

मरुत् उत्तम वाणी, क्रियाशील आप्तकाम या तत्त्वदर्शी और भय से रहित हैं, वे मारुत अर्थात् मनुष्य के सर्वोत्तम तेज को प्राप्त करते हैं।[१] वासुक्र ऋषि कहते हैं कि वाणी से युक्त अग्नि के पास देवता आते हैं।[२] सौचीक ऋषि कहते हैं कि कवि (क्रान्तदर्शी) और सदाचारी वाणियों से अमृत का मार्ग बनाते हैं एवं उनको अपने ज्ञान को और अधिक तीक्ष्ण बनाना चाहिये।[३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'वाशी' है, जो मरुतों में विद्या के विविध रूपों में प्रकट होती है, जिससे मरुत् (मनुष्य) शोभा को प्राप्त करते हैं, यह मरुतों के आभूषणादि के समान अनुकरणीय है, ये मरुत् ज्ञानी और मनस्वी होने के साथ-साथ वाशी नामक वाणी को धारण करने वाले हैं। इसके अतिरिक्त अग्नि के समीप घृत से आहुति दिये जाने वाले मन्त्रों के शब्दों को वाशी नाम से पुकारते हैं और इसके माध्यम से कवि अमृत का मार्ग बनाते हैं। इस प्रकार हम सङ्क्षेप में कह सकते हैं कि वेद में वह वाक् वाशी है, जो मरुतों (मनुष्यों) की शोभा है, इसीसे ये ज्ञानी और मनस्वी हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त अग्नि के समीप उच्चरित होने वाली वाक् भी वेद की दृष्टि में 'वाशी' है। इसकी एक विशेषता इसका अमृत का मार्ग प्रशस्त करना बताया है। उक्त अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में शब्दार्थक 'वाश्' धातु को 'वाशी' पद का मूल माना जा सकता है।

१२. वाणी

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'वाणी' पद परिगणित है।[४] आचार्य यास्क वाणी का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**वाणी: आपो वा वहनात्**"[५] कि वहन करने के कारण उदक को वाणी नाम से अभिहित करते हैं। इस पक्ष में 'वह्' धातु से 'वाणी' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)"वाणी: वाचो वा वदनात्"[६] कि बोलने के कारण वाक् को वाणी कहा जाता है। इस पक्ष में 'वद्' धातु से 'वाणी' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'वाणी' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**वाण: (वाक्)। 'वणि' शब्दे**"[७] कि शब्द से युक्त होने के कारण वाक् को 'वाणी' कहते हैं। इस पक्ष में 'वण्' धातु से 'इञ्' प्रत्यय करके 'वाण:' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष के अनुसार अव्युत्पन्न 'वाण' शब्द से 'वाणी' पद निष्पन्न है। वह उक्तपद को वाक् एवं अप् वाचक नामपद मानता है।[८] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार अव्युत्पन्न वाण से

---

१ ऋ० १.८७.६. "ते वाशीमन्त इष्मिणो अभीरवो विद्रे प्रियस्य मारुतस्य धाम्न:।"

२ ऋ० १०.२०.६. "अग्निं देवा वाशीमन्तम्।"

३ ऋ० १०.५३.१०. "सतो नूनं कवय: सं शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ।"

४ निघ० १.११.१२.

५ निरु० ६.२.

६ निरु० ६.२.

७ निघ०वृ०, १.११.१२.

८ वै०पद०को०, पृ० २८१८.

'वाणी' पद निष्पन्न होता है।[१] मोनियर विलियम्स 'वण्' धातु को 'वाणी' का मूल मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह ध्वनि, शब्द, नाद, सङ्गीत अर्थ में प्रयुक्त है। व्याख्याकार इसे स्वरग्राम के सात छन्दों वाली के वाणी के रूप में चित्रित करते हैं।[२] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि 'वद्' धातु से निष्पन्न मानने में व्यञ्जन सम्बन्धी सङ्गति परिलक्षित नहीं होती है। भारोपीय भाषा में यह शब्द ' u̥el-no' मुड़ने अर्थ में तथा ग्रीक में 'elos' खूँटी अर्थ में पाया जाता है। वे यास्क के दोनों निर्वचनों को शिथिल एवं भ्रान्तिपूर्ण मानते हैं।[३]

वैदिक साहित्य में वाणी पद का प्रयोग पर्याप्त रूप से हुआ है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि गान करने वाले विचारशील विद्वान् मन्त्रों से महान् इन्द्र की स्तुति करते हैं।[४] राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि मरुतों की इष्ट सुख प्रदान करने वाली वाणी विद्वान् के समान स्तुति करती है।[५] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि अश्विनीदेव रथ को जोतते हैं और शोभा के लिये वाणी को नियम में रखते हैं।[६] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि गायत्री छन्द से ऋक् और ऋचाओं के समूह से साम, त्रिष्टुप् छन्द से यजुर्वेद और उससे दो और चार पाद वाले छन्द, नाशरहित छन्दों से अथर्ववेद इस प्रकार सात छन्दों से विश्वदेव वेदवाणी का निर्माण करते हैं।[७] गाथिन विश्वामित्र कहते हैं कि परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, कर्म, ज्ञान, उपासना- ये सात अथवा सात छन्दरूप सनातन युवतियाँ एक गर्भ को धारण करती हैं।[८] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि सूक्ष्म पृष्ठ को धारण करने एवं सर्वत्र निवास क़रने वाले दो निर्माणकारी तत्त्व (अग्नि और जल) सात द्वार वाली वाणियों में प्रविष्ट हैं।[९] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि यह गर्जना करती हुई विद्युत् जलों को निकलने अर्थात् बरसने के लिये सुगम मार्गों को बनाती तथा रक्षा करती है।[१०] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि सत्य से प्रकाशमान अबाधित क्रोध वाले राजा की वाणी शत्रुओं को पराजित करने के लिये इन्द्र को धारण करती है।[११] सुपर्ण ऋषि कहते हैं कि इन्द्रावरुण सूक्ष्म सत्य ज्ञान के लिये सात छन्दों वाली वाणी को मधुरता की ऊर्मि के समान दुहते हैं।[१२] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि तीनों सवन करने वाले, बलशाली, विद्या में गतिशील स्तोमों की वाणी को वश में कर लेते

---

१ ऋ०वै०पद०, पृ० ४७४.

२ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९३९.

३ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ११७, १२१.

४ ऋ० १.७.१. ''इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत।''

५ ऋ० १.८८.६. ''एषा स्या वो मरुतोऽनुभर्त्री प्रति ष्टोभति वाघतो न वाणी।''

६ ऋ० १.११९.५. ''युवोरश्विना वपुषे युवायुजं रथं वाणी येमतुरस्य शर्ध्यम्।''

७ ऋ० १.१६४.२४. ''गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्। वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः।''

८ ऋ० ३.१.६. ''सना अत्र युवतयः सयोनीरेकं गर्भं दधिरे सप्त वाणीः।''

९ ऋ० ३.७.१. ''प्र य आरुः शितिपृष्ठस्य धासेरा मातरा विविशुः सप्त वाणीः।''

१० ऋ० ३.३०.१०. ''सुगान्पथो अकृणोन्निरजे गाः प्रावन्वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः।''

११ ऋ० ७.३१.१२. ''इन्द्रं वाणीरनुत्तमन्युमेव सत्रा राजानं दधिरे सहध्यै।''

१२ ऋ० ८.५९.३. ''सत्यं तदिन्द्रावरुणश्च कृशस्य वां मध्व ऊर्मिं दुहते सप्त वाणीः।''

हैं।[१] वेन ऋषि कहते हैं कि ऋत के शिखर पर विचरण करने वाले अमृत की मधुर वाणी का आस्वाद लेते हैं।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वाक् वह 'वाणी' है, जो इन्द्र की स्तुति और सुख प्रदान करती है, शरीर की शोभा में वृद्धि करने वाली इस वाणी को अश्विनीदेव नियम में रखते हैं, यह सप्तछन्दरूपा वाक् है, जिसमें चारों वेद स्थित हैं, इस सात छन्दों वाली वाणी को ऋषि सनातन युवती के रूप में प्रतिपादित करता है, इसके सात द्वारों में सूक्ष्म पृष्ठ स्थित हैं, इससे सत्यज्ञान का दोहन किया जाता है, तीनों सवन एवं ऋत के शिखर पर विचरण करने वाला इस वाक् को वश में कर इसका आस्वाद लेने में समर्थ होता है। इसके अतिरिक्त वेद में यह विद्युत् गर्जना के रूप में प्रतिपादित हुई है।

उक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि 'वाणी' के साथ 'सप्त' का प्रायः प्रयोग हुआ है। सम्भवतः, यह सप्त सात छन्दों को सङ्केतित करता है। इस प्रकार वेद में प्रयुक्त वाक् वेद में 'वाणी' नाम से अभिहित हुई है। आज भी लोक में वेद सदृश धार्मिक वाणी को वेदवाणी या गुरुवाणी नाम से कहा जाता है। इस दृष्टि से देखने पर 'वाणी' के उपर्युक्त सभी निर्वचन असङ्गत प्रतीत होते हैं। सम्भवतः, 'वाणी' पद का मूल सम्भजनार्थक 'वन्' धातु है।

१३. वाणीची

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'वाणीची' नामपद पठित है।[३] आचार्य देवराजयज्वन् 'वाणीची' नामपद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**वाणीं स्तुतिरूपां वाचमञ्चतीति गच्छतीति**"[४] कि स्तुतिरूप वाणी को गतिशील रखने के कारण वाक् 'वाणीची' कही जाती है। इस पक्ष में 'वणि' शब्दे' धातु से 'इञ्' प्रत्यय होकर 'वाणी' तथा 'अञ्चु' धातु से 'क्विन्' और 'ङीप् प्रत्यय होकर 'अची'– इन दोनों पदों के मिलने से 'वाणीची' रूप निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वाण' शब्द से निष्पन्न 'वाणीची' पद को वाणी वाचक नामपद मानता है। पेटरसन, ग्रासमैन प्रभृति 'वाणी+'अच्' धातु से उक्त पद को व्युत्पन्न मानते हैं।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची अव्युत्पन्न वाण शब्द से 'वाणीची' पद को निष्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स 'वाणीची' पद का मूल 'वण्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह वाद्ययन्त्र अर्थ में प्रयुक्त है।[७]

वैदिक साहित्य में 'वाणीची' पद का प्रयोग अत्यल्प हुआ है। ऋग्वेद में अवस्यु आत्रेय ऋषि कहते

---

१ ऋ० ९.९०.२. "अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामाङ्गूषाणामवावशन्त वाणीः।"

२ ऋ० १०.१२३.३. "ऋतस्य सानावधि चक्रमाणा रिहन्ति मध्वो अमृतस्य वाणीः।"

३ निघ० १.११.१३.

४ निघ०वृ०, १.११.१३.

५ वै०पद०को०, पृ० २८१९.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ४७४.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९३९.

हैं कि वसुओं की वर्षा करने वाले अश्विनीदेव के रथ में वाणी स्थापित की गयी है।[१] ऋषि के कथन का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि नासिका रूप श्वास के रथ में वाणी स्थित होती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि मात्र उक्त एक उद्धरण के आधार पर 'वाणीची' का विशिष्ट स्वरूप निर्धारित कर पाना सम्भव नहीं है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि ने 'वाणीची' को अश्विनीदेवों के रथ में स्थित बताया है। अश्विनीदेवों की सङ्ख्या दो मानी जाती है। शरीर की दृष्टि से नासिका के छिद्र भी दो हैं। इस प्रकार नासिका के माध्यम से प्रकट होने वाला सङ्गीतमय स्वर सम्भवतः, वेद की दृष्टि में 'वाणीची' है।

१४. वाण:

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'वाण:' पद समाम्नात है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् 'वाण:' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''वण्यते शब्द्यते वाण:''**[३] कि शब्द रूप होने के कारण वाक् 'वाण' कहलाती है। इस पक्ष में 'वण्' धातु से 'वाण' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''वणनं शब्दनं वाण:। स्तुतिमती हि वाक्''[४] कि शब्द से संयुक्त होना वाण है। जो वाक् स्तुतिमती होती है, वह 'वाण' कही जाती है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वाण' शब्द को वाक्, स्तोत्र वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद का मूल 'वण्' शब्दे' धातु है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची वाण को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स 'वाण' पद का मूल 'वण्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद बाँसुरी या वीणा अर्थ में प्रयुक्त है।[७]

वैदिक साहित्य में 'वाण' पद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि सुन्दर दान करने वाले मरुद्गण शतसङ्ख्या वाली तन्त्री को बजाते हुए सोमपान के मद में रमणीय धन को स्तोताओं को प्रदान करते हैं।[८] वामदेव ऋषि कहते हैं कि विक्रेता अधिक मूल्य प्राप्त करने की इच्छा से न्यून मूल्य पर अपनी वस्तु नहीं बेचता है। इस प्रकार व्यवहार में वह दीन और दक्ष वाणी को दुहते हैं।[९] सोभरि काण्व ऋषि कहते हैं कि सुन्दर भरण-पोषण करने वाले मरुतों की हिरण्यमय रमणीय कोश में स्थित

---

१ ऋ० ५.७५.४. ''सुष्टुभो वां वृषण्वसू रथे वाणीच्याहिता।''

२ निघ० १.११.१४.

३ निघ०वृ०, १.११.१४.

४ निघ०वृ०, १.११.१४.

५ वै०पद०को०, पृ० २८१८.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ४७४.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९३९.

८ ऋ० १.८५.१०. ''धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवः मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे।''

९ ऋ० ४.२४.९. ''स भूयसा कनीयो नारिरेचीद्दीना दक्षा वि दुहन्ति प्र वाणम्।''

वाणी या वीणा से मधुर शब्द प्रकट होता है।[१] उचथ्य ऋषि पवमान सोम का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार समुद्र की तरङ्गों से अनवरत शब्द उठता रहता है, उसी प्रकार पवमान सोम की अनन्त शक्ति प्रेरित करती है और यह प्रेरणा पवित्र करने वाली है।[२] कवष ऐलूष ऋषि कहते हैं कि मननशील लोगों की माता अर्थात् निर्मात्री शक्ति ज्ञान से परिपूर्ण है और सात धातुओं से बने हुए शरीर वाला मनुष्य वाणी को अभिव्याप्त करता है।[३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि बह वाक् 'वाण' है, जो मरुतों के द्वारा धमन क्रिया से व्यक्त होती है, यह हिरण्यमय कोश में शब्द के माध्यम से प्रकट होती है, इस वाण से अभिव्यक्त होने वाली वाक् पवित्र करने के स्वभाव वाली है, इसका अभिभावक या अभिव्याप्त करने वाला मनुष्य सात धातुओं से बना हुआ है। एक स्थान पर ऋषि ने वाण को व्यवहार (लेन-देन) की भाषा शैली बताया है। इस प्रकार विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि प्रमुखरूप से वेद में धमन क्रिया के द्वारा बजाया जाने वाला वाद्ययन्त्र 'वाण' नाम से अभिहित हुआ है। उक्त अर्थ को दृष्टि में रखते हुए 'वाण' पद का उपर्युक्त निर्वचन किसी सीमा तक समीचीन माना जा सकता है, पर इसमें यह दोष भी है कि यह वाद्य के धमनार्थक अर्थ की प्रतीति कराने में सक्षम नहीं है।

१५. पविः

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'पवि' पद समाम्नात है।[४] आचार्य यास्क 'पवि' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**पविः शल्यो भवति, यद्विपुनाति कायम्**"[५] कि पवि शल्य का नाम है। काया को विदीर्ण करने के कारण यह पवि कहलाता है। इस पक्ष में 'पू' धातु से 'पवि' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'पवि' का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**पुनाति हि वाक् पूयते वा सङ्कीर्तनादिना। पूयतेऽनयेति वा शुद्धिकरणं हि वाक्**"[६] कि वाक् पवित्र करती है अथवा सङ्कीर्तनादि के द्वारा यह पवित्र होती है या इसके द्वारा पवित्र किया जाता है, अतः, वाक् को 'पवि' कहते हैं। इस पक्ष में 'पू' धातु से औणादिक 'इ' प्रत्यय होकर 'पवि' रूप निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'पवि' शब्द को रथनेमि, वज्र प्रभृति का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार पवि अव्युत्पन्न शब्द है।[८] मोनियर विलियम्स 'पवि' का मूल 'पू' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार यह ऋग्वेद में रथचक्र, विशेष रूप

---

१ ऋ० ८.२०.८. "गोभिर्वाणो अज्यते सोभरीणां रथे कोशे हिरण्यये।"

२ ऋ० ९.५०.१. "उत्ते शुष्मास ईरते सिन्धोरूर्मेरिव स्वनः। वाणस्य चोदया पविम्।"

३ ऋ० १०.३२.४. "माता यन्मन्तुर्यूथस्य पूर्व्याभि वाणस्य सप्तधातुरिज्जनः।"

४ निघ० १.११.१५.

५ निरु० १२.३०.

६ निघ०वृ०, १.११.१५.

७ वै०पद०को०, पृ० १९६७.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १०३.

से अश्विनी और मरुतों के रथचक्र के अर्थ मे प्रयुक्त है।[१] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा पवि का तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि लैटिन में यह पद 'pavire' प्रहार करना तथा लिथुआनियन में 'piauti' भेदन या छेदन अर्थ में है। वे कहते हैं कि यास्क 'पवि' का अर्थ 'पवित्र करना' मानते हैं। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि कुछ आयुधों की पवित्रता के विषय में लोग विश्वस्त थे।[२]

वैदिक साहित्य में पवि शब्द का बहुत अधिक प्रयोग नहीं प्राप्त होता है। ऋग्वेद में आत्रेय ऋषि मित्रावरुण की स्तुति करते हुए कहते हैं कि आप दोनों दिवस के मध्य में सम्पूर्ण वाणियों को तृप्त कीजिये, जिससे एकमात्र पवित्र व्यवहार वर्तमान रहे।[३] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि हितकारी या हिरण्यसदृश गर्जनाओं से वर्षा के उदक की वृद्धि करने वाले मरुद्गण मेघों को उसी प्रकार नष्ट करते हैं, जिस प्रकार मार्ग में चलने वाला रथ वृक्षादि का उन्मूलन करता है।[४] भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि पूषा देव का चक्र नष्ट नहीं होता, कोश क्षीण नहीं होता तथा उसकी वाणी कुण्ठित नहीं होती है।[५] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि घृत अर्थात् स्नेहयुक्त वाणी से सुशोभित होते हुए अश्विनीदेव इच्छाओं की पूर्ति करने वाले हैं, इससे राजा अन्नवान् या बलवान् होता है।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'पवि' है, जो पवित्र व्यवहार बनाये रखने में सहायक है, यह हितकारी वाक् वृष्टि जल की वृद्धि करने वाली है, यह कभी कुण्ठित नहीं होती और यह घृत अर्थात् स्नेह से युक्त होने से सर्वग्राह्य है। इस दृष्टि से पवनार्थक 'पू' धातु को 'पवि' का मूल स्वीकार किया जा सकता है। यह सम्भवतः, वह वाक् है, जो सभ्य समाज के व्यवहार का विषय बनती है।

१६. भारती

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'भारती' नामपद पठित है।[७] आचार्य यास्क 'भारती' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**भारती, भरत आदित्यस्तस्य भाः**"[८] कि भरत अर्थात् आदित्य की प्रभा 'भारती' कहलाती है। लेकिन प्रस्तुत स्थल की व्याख्या करते हुए आचार्य दुर्ग कहते हैं कि यह सूर्य की दुहिता है, क्योंकि यह ब्रह्माण्ड का पालन-पोषण करती है।[९] इस पक्ष में 'भरत' शब्द से 'भारती' पद निष्पन्न होता है।

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ६११.

२ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १०३.

३ ऋ० ५.६२.२. "विश्वाः पिन्वथ स्वसरस्य धेना अनु वामेकः पविरा ववर्त।"

४ ऋ० १.६४.११. "हिरण्ययेभिः पविभिः पयोवृध उज्जिघ्नन्त आपथ्यो३ न पर्वतान्।"

५ ऋ० ६.५४.३. "पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽव पद्यते। नो अस्य व्यथते पविः।"

६ ऋ० ७.६९.१. "घृतवर्तनिः पविभी रुचान इषां वोळहा नृपतिर्वाजिनीवान्।"

७ निघ० १.११.१६.

८ निरु० ८.१३.

९ दुर्गवृत्ति, निरु० ८.१३.

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'भारती' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**बिभर्ति जगद्वर्षप्रदानेन, स्वाभिधेयं वा ध्रियते प्राणिभि: व्यवहारसाधनत्वेन**"[१] कि यह वर्षा प्रदान करके जगत् की रक्षा करती है अथवा व्यवहार का साधन होने से प्राणियों के अभिधेय को धारण करती है, अत:, यह 'भारती' नाम से अभिहित होती है। इस पक्ष में 'भृ' धातु से औणादिक 'अतच्' प्रत्यय होकर 'भरत' और उससे स्वार्थ में 'अण्' तथा स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होकर 'भारती' रूप सिद्ध होता है।

(ख)"**अग्निर्भरत:, प्राणो भूत्वा हवींषि बिभर्ति' इति वाजसनेयकम्, तदीया भारती**"[२] कि अग्नि का नाम भरत है, वह प्राण होकर हवियों को धारण करता है, ऐसा वाजसनेयी आचार्यों का मत है, उनकी वाणी 'भारती' कहलाती है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

(ग)"**अथवा भरत: (निघ०,३.१८.१.) ऋत्विङ्नाम तदीया स्तुतिसाधनत्वात् भारती**"[३] कि भरत निघण्टु में ऋत्विक् नाम है, उनकी स्तुति का साधन होने से यह वाक् भारती कहलाती है। इस पक्ष में 'भरत' शब्द से '**तस्येदम्**' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होकर 'भारती' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'भारती' पद को व्यक्तिपरक संज्ञापद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'भारती' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'भरत' पद का मूल 'भृ' धातु को मानते हैं। वे कहते हैं कि ऋग्वेद में आप्री देवताओं, विशेषरूप से, इला और सरस्वती के साथ इसका उल्लेख देखने को मिलता है। निरुक्त के अनुसार यह आदित्यों की दुहिता है, जबकि कोशकारों के अनुसार 'भारती' भरत की स्त्री सन्तति है।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि यास्कीय व्युत्पत्ति तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने के योग्य है।[७]

वैदिक साहित्य में 'भारती' पद का पर्याप्त उल्लेख देखने को मिलता है। ऋग्वेद में मेधातिथि ऋषि सब पदार्थों को मिश्रित करने और उनमें मिश्रित होने वाले अग्नि से पृथिवी की रक्षा करने के लिये जिसमें प्राणों का होम किया जाता है, ऐसी भारती एवं वरणीय धिषणा नामक वाक् को प्राप्त कराने की प्रार्थना करते हैं।[८] दीर्घतमस् कहते हैं कि पवित्र एवं प्राणों के होम से प्रकट होने वाली भारती वाक् देवताओं और मरुतों (मनुष्यों) में समर्पित है।[९] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि अग्निदेव दान देने वाले का परिपालन और प्राणों का होम की जाने वाली भारती नामक वाणी से वृद्धि को प्राप्त होते हैं।[१०] एक अन्य मन्त्र में गृत्समद ऋषि कहते हैं

---

१ निघ०वृ०, १.११.१६.

२ निघ०वृ०, १.११.१६.

३ निघ०वृ०, १.११.१६.

४ वै०पद०को०, पृ० २३२८.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ३६७.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७५३.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ७०.

८ ऋ० १.२२.१०. "आ ग्ना अग्न इहावसे होत्रां यविष्ठ भारतीम्। वरूत्रीं धिषणां वह।"

९ ऋ० १.१४२.९. "शुचिर्देवेष्वर्पिता होत्रा मरुत्सु भारती।"

१० ऋ० २.१.११. "त्वमग्ने अदितिर्देव दाशुषे त्वं होत्रा भारती वर्द्धसे गिरा।"

कि बुद्धि और कर्म को सिद्ध करने वाली के समान सरस्वती तथा इळा और विषयों को शीघ्रता से व्याप्त करने वाली भारती- ये तीनों देवियाँ हमारा पालन करें।[१] विश्वामित्र ऋषि भारती को पालन करने वाली वाणी बतलाते हुए इळा, अग्नि, सरस्वती, मनुष्य तथा देवताओं के साथ आकर सङ्गत होने की प्रार्थना करते हैं।[२] एक अन्य प्रकरण में विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि जिसमें प्राणों का होम किया जाता है, ऐसी भारती वाक् दुःखादि से रक्षा करने वाली दक्षिणाओं से हमारा पालन करे।[३] असित काश्यप ऋषि कहते हैं कि भारती, सरस्वती और पूजनीया इळा- ये तीनों सुन्दर देवियाँ पवित्र करने वाले हमारे यज्ञ में आयें।[४] ब्रह्मजाया जुहू सरस्वती और मनुष्य के समान ज्ञान कराने वाली इळा के साथ भारती को शीघ्र यज्ञ में आने का आह्वान करती हैं।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'भारती' है, जिसमें प्राणों का होम किया जाता है, यह वाक् देवताओं और मरुतों (मनुष्यों) में समर्पित है, अग्नि इसी भारती नामक वाक् में वृद्धि को प्राप्त करता है, इस वाक् को ऋषि विश्वतूर्ति अर्थात् सभी विषयों को सम्पूर्णता और शीघ्रता से व्याप्त करने वाली के रूप में चित्रित करता है, कहीं अपने नाम के अनुरूप भरण करने वाली के रूप में मनुष्यों के साथ यह सङ्गत होती है, सम्भवतः, इसकारण वेद में यह वरूत्री अर्थात् वरणीया, सुपेशस अर्थात् सुन्दर और स्वपसः अर्थात् सुन्दर कर्मों को करने वाली बताया गया है। इस दृष्टि से देखने पर उपर्युक्त निर्वचन युक्तिसङ्गत प्रतीत होते हैं।

वेद 'भारती' के साथ 'होत्रा' का बार-बार उल्लेख करता है, सायण 'होत्रा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**हूयते तत्र प्राणः इति होत्रा वाक्**"।[६] वे अपने कथन के समर्थन में निम्न ब्राह्मण-वचन भी उद्धृत करते हैं:-"**वाचि हि प्राणं जुहुमः प्राणो वा वाचम्**"।[७] इस आधार पर निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि वह वाक् 'भारती' है, जिसमें प्राणों का होम किया जाता है। इस प्रकार यह वाक् वायु से जनित होने के कारण ध्वनिरूपा है और मनुष्य के व्यवहार का आधार है। इसलिये यह वरणीया और सुन्दर कर्मों को करने वाली बतायी गयी है।

१७. धमनिः

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'धमनि' पद पठित है।[८] आचार्य देवराजयज्वन् 'धमनि' का

---

१ ऋ० २.३.८. "सरस्वती साधयन्ती धियं न इळा देवी भारती विश्वतूर्तिः।"

२ ऋ० ३.४.८; ७.२.८. "आ भारती भारतीभिः सजोषा इळा देवैर्मनुष्येभिरग्निः। सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवी बर्हिरिदं सदन्तु।"

३ ऋ० ३.६२.३. "अस्मान्वरूत्रीः शरणैरवन्त्वस्मान् होत्रा भारती दक्षिणाभिः।"

४ ऋ० ९.५.८. "भारती पवमानस्य सरस्वतीळा मही। इमं नो यज्ञमागमन्तिस्रो देवीः सुपेशसः।"

५ ऋ० १०.११०.८. "आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती। तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु।"

६ सा०भा०, ऋ० ३.६२.३. "अस्मान्वरूत्रीः शरणैरवन्त्वस्मान् होत्रा भारती दक्षिणाभिः।"

७ सा०भा०, ऋ० ३.६२.३.

८ निघ० १.११.१७.

निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**गम्यते ज्ञायते अनया अर्थः, ज्ञायते वा विद्वद्भिः साध्वसाधुविभागेन**''[१] कि इससे अर्थ जाना जाता है या विद्वान् इससे उचित और अनुचित का भेद जानते हैं, अतः, वाक् को 'धमनि' कहते हैं। इस पक्ष में गत्यर्थक 'धम्' धातु से औणादिक 'अनि' प्रत्यय होकर 'धमनि' रूप सिद्ध होता है। उणादिकोष से उक्त व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है।[२]

(ख)''**यद्वा, 'धमति' इति वधकर्मस्वपि पठ्यते (निघ०,२.१९.३३) हन्यतेऽनया शापक्रोशादिरूपयेति तथा च 'वज्र एव वाक्' इति ब्राह्मणम् (ऐ०ब्रा०,२.३.३.)**''[३] कि शाप, आक्रोश आदि रूप के द्वारा इससे वध होता है, अतः, वाक् को 'धमनि' कहते हैं। इस पक्ष में वधार्थक 'धम्' धातु से 'धमनि' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'धम्' धातुमूलक 'धमनिः' पद को नाडी वाचक नामपद मानता है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'धमनि' पद का मूल 'धम्' धातु को मानती है।[५] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'धमनि' पद 'वायु भरने' के अर्थ में आया है। अथर्ववेद में यह मनुष्य के शरीर की नली के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[६]

वैदिक साहित्य में 'धमनि' पद का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में गृत्समद ऋषि कहते हैं कि उदक की वर्षा करने वाली शक्ति से शब्द करता हुआ सावधान मेघ अन्तरिक्ष में स्थित था। दूर अन्तरिक्ष में दैवी वाक् को बढ़ाता हुआ इन्द्र धमनि को विस्तारित करता है।[७] इस एक उद्धरण में भी 'धमनि' पद निःसन्दिग्ध रूप से 'वाक्' अर्थ का अभिधायक है, ऐसा कहना सम्भव नहीं है। यहाँ पर भी यह नाली अर्थ का अभिधान करता प्रतीत होता है।

उक्त विवेचन के आधार पर कह जा सकता है कि उक्त एकमात्र उद्धरण से 'धमनि' के विशिष्ट स्वरूप का निर्धारण करना सम्भव नहीं है। लेकिन वेद के ऋषि ने 'धमनि' पद के साथ 'पप्रथत्' क्रिया का प्रयोग किया है, इससे यह सूचित होता है कि धमनि वह है, जो फैलने के स्वभाव वाली है। कोशकार 'धमनि' का अर्थ नाली और ग्रीवा करते हैं।[८] इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि उच्चारणकाल में ग्रीवा और श्वासनलिका दोनों का विस्तार हो जाता है। जितनी अधिक वायु या तीव्र स्वर से उच्चारण किया जाता है, उतना ही इनका विस्तार होता है। इस प्रकार 'धमनि' वह है, जो वायु के प्रभाव से फैल जाती है और शब्द के उच्चारणकाल में यह होता है, अतः, यह शब्द की उत्पत्ति में सहायक होने से सम्भवतः, 'धमनि' को

---

१ निघ०वृ०, १.११.१७.

२ उणा०, २.१०४.

३ निघ०वृ०, १.११.१७.

४ वैं०पद०को०, पृ० १७०१.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० २६९.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५१०.

७ ऋ० २.११.८. ''नि पर्वतः साद्यप्रयुच्छन्त्सं मातृभिर्वावशानो अक्रान्। दूरे पारे वाणीं वर्धयन्त इन्द्रेषितां धमनिं पप्रथन्नि।''

८ तारणीश झा, संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ, पृ० ५६३.

वाग्वाचक माना गया है।

१८. नाली, नाळी

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'नाली' पद समाम्नात है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'नाली' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**गन्धनं हिंसात्मकं सूचनम्, सूचयति परमर्हाणि**''[२] कि हिंसा या योग्यतम की सूचना देने वाली वाक् 'नाली' कही जाती है। इस पक्ष में गन्धार्थक 'नल्' धातु से औणादिक 'इञ्' प्रत्यय होकर 'नाली' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'नाडी' या 'नाळी' पद को अव्युत्पन्न मानते हैं।[३] मोनियर विलियम्स 'नाड' शब्द से 'नाली' को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद वनस्पति के नलिकायुक्त वृन्त या अङ्ग के लिये प्रयुक्त हुआ है।[४]

वैदिक साहित्य में उक्त पद का अत्यन्त अल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मात्र एक स्थान पर उक्त पद का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, वहाँ भी यह 'नाळी' रूप में पठित है। ऋग्वेद में कुमार यामायन ऋषि यम देवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह यम का स्थान है, जहाँ रश्मियों का निर्माण होता है। यहाँ इसकी नाली ध्मात होती है और यह वाणियों से परिष्कृत है।[५]

उक्त मन्त्र में ऋषि ने 'नाली' के साथ 'धम्यते' क्रिया का प्रयोग किया है। धातुवृत्ति में 'ध्मा' धातु शब्द और अग्निसंयोग अर्थ में प्रयुक्त है।[६] सायण 'ध्मा' के अग्निसंयोग का अर्थ 'मुखवायु द्वारा अग्निसंयोग' करते हैं।[७] जबकि निघण्टु में वह गत्यर्थक धातुओं में परिगणित है।[८] इससे यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि मुख के अन्दर श्वासनलिका में शब्द और अग्नि दोनों का संयोग होता है। इसके अतिरिक्त कोशकार 'धमनि' शब्द का अर्थ नाडी और ग्रीवा करते हैं।[९]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह वाक् नाली है, जिसका श्वासनलिका में वायु के साथ संयोग होता है। इस दृष्टि से उपर्युक्त निर्वचन समीचीन प्रतीत नहीं होता है। सम्भवतः, 'नाली' पद का मूल 'नड् भ्रंशे' धातु है। नाडी अर्थात् वृन्त स्वतः नष्ट हो जाता है, अतः, वह नाडी कहा जाता है, परन्तु कतिपय वनस्पतियों के वृन्त मध्यगर्भयुक्त (पोले) होते हैं, सम्भवतः, इसलिये 'नाडी' पद नाली' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और इस (पोले होने की) समानता के कारण यह वेद में श्वासनलिका का अभिधान है और यह श्वासनलिका

---

१ निघ० १.११.१८.

२ निघ०वृ०, १.११.१८.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० २८६. वै०पद०को०, पृ० १७८६.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५३४.

५ ऋ० १०.१३५.७. ''इदं यमस्य सादनं देवमानं तदुच्यते। इयमस्य धम्यते नाली(नाळी)रयं गीर्भिः परिष्कृतः।''

६ सा०,माध०धातु०, १.९१०. ''ध्मा' शब्दाग्निसंयोगयोः'।

७ सा०,माध०धातु०, १.९१०. ''ध्मा' शब्दाग्निसंयोगयोः'।

८ निघ० २.१४.५०.

९ तारणीश झा, संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ, पृ०५६३.

शब्दयुक्त होने से वेद में वाग्वाचक नामपद के रूप में अभिहित हुई है, ऐसा माना जा सकता है।

१९. मेलिः

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'मेलिः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'मेलिः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सम्पृक्ता ह्यर्थेन वाक्। मेलिः स्यात् त्राणयोजनात्' इति माधवः**"[२] कि जो अर्थ से सम्पृक्त है, वह वाक् 'मेलिः' कहलाती है। इस विषय में आचार्य माधव का मत है कि त्राण का योजन करने से यह मेलिः कहलाती है। इस पक्ष में सम्पर्क अर्थ वाली 'मिल्' धातु से औणादिक 'इञ्' प्रत्यय होकर 'मेलिः' रूप सिद्ध होता है। आचार्य सायण भी इसी प्रकार निष्पन्न करने के पक्ष में हैं।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'मेडि' पद को दीप्ति, प्रभा वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की उत्पत्ति विकास प्रक्रिया निम्न है:-'मेज् (ष्='मच्) कल्कने(दाहे)=मेष्टि=मेडि'।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'मेळि' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स उक्त पद का मूल 'मेड्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद कड़कना, गर्जन या शब्द करना अर्थ में आया है।[५]

वैदिक साहित्य में उक्त पद का प्रयोग अत्यल्प हुआ है। ऋग्वेद में विश्वामित्र ऋषि उपाध्याय (शिक्षक) देवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि अपरिमित जलधाराओं से अविच्छिन्न प्रवाह वाले उत्स के समान जो शिक्षक अगाध ज्ञान सम्पन्न, मेधावी एवं शिष्यों को विद्यारूपी उपदेश से पालन करता है तथा वक्तव्यों में सङ्गति लगाने में समर्थ हैं, द्युलोक और पृथिवी लोक को ऐसे सत्यवक्ता उपाध्याय की अपेक्षित फल प्रदान करके पालन करना चाहिये।[६]

ऋग्वेद में उक्त के अतिरिक्त इस पद का एक बार उल्लेख और हुआ है और यहाँ यह 'वात' के साथ आया है, अतः, 'मेळि' पद का वाक् अर्थ ग्रहण करना सम्भव नहीं है। उपर्युक्त मन्त्र में निश्चितरूप से 'मेळि' पद वाक् अर्थ में आया है। यहाँ यह वाक् की समन्वय शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। जो वाक् अन्तर्विरोधों से ग्रस्त न हो अर्थात् जिसके द्वारा विरुद्ध प्रतीत होने वाले शास्त्रों में समन्वय स्थापित किया जा सकता है, विद्वान् की ऐसी वाणी या विद्वत्ता वेद की दृष्टि में 'मेळि' नाम से अभिहित हुई है। इस दृष्टि से देखने पर 'मेळि' पद का देवराजयज्वन् कृत निर्वचन युक्तिसङ्गत माना जा सकता है।

२०. मेना

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'मेना' पद परिगणित है।[७] आचार्य यास्क 'मेना' पद का

---

१ निघ० १.११.२०.

२ निघ०वृ०, १.११.२०.

३ वै०पद०को०, पृ० २५२२.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ४०३.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८३२.

६ ऋ० ३.२६.९. "शतधारमक्षीयमाणं विपश्चितं पितरं वक्त्वानाम्। मेळिं मदन्तं पित्रोरुपस्थे तं रोदसी पिपृतं सत्यवाचम्।"

७ निघ० १.११.१९.

निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**मेना मानयन्त्येना:**''[१] कि पुरुष इनको मान देते हैं या इनको मनाते हैं, अत:, स्त्रियाँ 'मेना' कहलाती हैं। इस पक्ष में णिजन्त 'मान' पूजायाम्' या 'मन' ज्ञाने' धातु से 'मेना' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'मेना' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**पूज्यतेऽनया गुर्वादिरुपदेशवाक्येन, पूज्या वा देवतात्वात्। मेनां गर्जितशब्दम्' इति माधव:** ''[२] कि इससे गुरु आदि की उपदेशरूप वाक्य के द्वारा पूजा की जाती है अथवा देवता होने से यह पूज्या है, अत:, वाक् को 'मेना' कहा जाता है। आचार्य माधव मेना का आशय 'गर्जनायुक्त शब्द' ग्रहण करते हैं। इस पक्ष में पूजार्थक 'मान' धातु से औणादिक 'इनच्' प्रत्यय होकर 'मेना' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य सायण स्त्री वाचक 'मेना' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**मन्यते गृहकृत्यं जानातीति मेना**''[३] कि गृहकार्य को जानती है, अत:, स्त्री को 'मेना' कहते हैं। इस पक्ष में 'मन' ज्ञाने' धातु से पचाद्यच् प्रत्यय करके 'मेना' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष के अनुसार 'मेना' पद की उत्पत्ति विकास प्रक्रिया निम्न है:-'भृष् (वृद्धौ=प्रजायाम्) भृष्+'मि' (माने)=मयन=भृष्मय=मेना'।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'मेना' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स भी उक्त पद की व्युत्पत्ति प्रदर्शित नहीं करते हैं। उनके अनुसार मेना या मेनका के पिता वृषणश्व का नाम 'मेना' है। ऋग्वेद के एक मन्त्र के आधार पर 'मेना' वृषणश्व की पुत्री है। ऋग्वेद के आधार पर वे स्त्री पशु का नाम 'मेना' मानते हैं। हरिवंश पुराण के अनुसार यह मेना हिमालय की पत्नी और पार्वती की माता हैं।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि यास्कीय निर्वचन शिथिल है। उनका कहना है कि 'मन्' धातु प्राचीन भारोपीय भाषा में उपलब्ध नहीं होती है। इसलिये उक्त शब्द का मूल अस्पष्ट है।[७]

वैदिक साहित्य में 'मेना' पद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं कि इन्द्र के सम्पूर्ण सवनों में कही जाने वाली एवं शीघ्र इच्छाओं की पूर्ति करने में समर्थ मेना सुन्दर कर्मों को सम्पन्न करती है।[८] कक्षीवान् ऋषि विश्वदेवों तथा इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं कि गो (पृथिवी) का निर्माता इन्द्र (सूर्य) अपने से उत्पन्न वरणीय एवं शीघ्र व्याप्त करने वाली मेना को

---

१ निरु० ३.२१.

२ निघ०वृ०, १.११.१९.

३ सायणभाष्य, ऋ० १.५१.१३.

४ वै०पद०को०, पृ० २५२५.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ४०४.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८३३.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ०१४२.

८ ऋ० १.५१.१३. ''अददा अर्भां महते वचस्यते कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते। मेनाभवो वृषणश्वस्य सुक्रतो विश्वेत्ता ते सवनेषु प्रवाच्या।''

देखता है।[१] उक्त मन्त्र का व्याख्यान करते हुए आचार्य सायण कहते हैं कि सम्भवतः, इन्द्र अश्वा में गो को उत्पन्न करता है।[२] अष्ट्रादंष्ट्र वैरूप ऋषि कहते हैं कि वह अच्युत इन्द्र मेना का निर्माण करता है और वही अदृश्य रूप से पृथिवी, द्युलोकादि सनातन पदार्थों का स्वामी है।[३] जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है कि वृषणश्व की पुत्री मेना ने मघवा (इन्द्र) के कुल में वास किया।[४] षड्विंश ब्राह्मण कहता है कि वृषणश्वमेन की मेनका नाम की दुहिता की इन्द्र ने कामना की।[५] ऋषि के कहने का मन्तव्य यह प्रतीत होता है कि मेना वृषणश्व की पुत्री तथा इन्द्र की प्रिय अप्सरा है।

आचार्य सायण ने भी ऋग्वेद के एक मन्त्र की व्याख्या करते हुए मेना के विषय में निम्न इतिवृत्त उद्धृत किया है। वे कहते हैं कि एक बार अङ्गराज अपनी पत्नियों के साथ गङ्गा नदी में विहार कर रहे थे, तभी अपनी पत्नी तथा पुत्रादि के द्वारा नदी में क्षिप्त दीर्घतमा ऋषि बहते हुए उस स्थान पर आ पहुँचे। उनको बाहर निकालकर तथा ऋषि को सर्वज्ञ मानते हुए राजा ने अपनी रानी से पुत्र उत्पन्न करने की प्रार्थना की। ऋषि ने प्रार्थना स्वीकार की, लेकिन राजमहिषी ने अपने स्थान पर अपनी दासी उशिक् को भेज दिया, वही ऋषि पत्नी हुई। उससे राजा का कक्षीवान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, उसने अनेक राजसूयादि यज्ञ किये। उन यज्ञों से प्रसन्न होकर इन्द्र ने उसे वृचया नाम की एक तरुणी प्रदान की। उससे मेना नामक कन्या उत्पन्न हुई, युवती होने पर उसकी इन्द्र ने कामना की।[६] इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि पुराणों में जिस मेनका नाम की अप्सरा का उल्लेख आता है, वह यही है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद का ऋषि मेना के सम्बन्ध में निम्न तथ्यों का विशेषरूप से उल्लेख करता है:- प्रथम यह कि वह वृषणश्व की पुत्री है तथा द्वितीय यह कि वह मघवा को प्रिय है। जहाँ तक वृषणश्व का सम्बन्ध है, मन्त्र के आधार पर कहा जा सकता है कि यह इन्द्र का विशेषण है, क्योंकि वह वर्षा के माध्यम से सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करता है, ऐसे इन्द्र के सवन में मेना का जन्म होता है। ऋषि इसे स्वजा अर्थात् इन्द्र से उत्पन्न होने के रूप में चित्रित करता है। यह मेना इच्छाओं की पूर्ति करने में समर्थ एवं सुन्दर कर्मों को सम्पन्न करने वाली है। एक स्थान पर ऋषि इसे 'अच्युत' से उत्पन्न होने वाली बतलाता है। यहाँ भी ऋषि का 'अच्युत' से तात्पर्य इन्द्र से है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में 'मेना' मध्यमस्थानी वाग्देवता है। इसका कारण यह है कि इसका जन्म इन्द्र से होता है तथा यही मघवा के कुल में रहती है तथा वृषणश्व (वर्षा करने वाले इन्द्र) की पुत्री भी यही है। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, 'मेना' पद के उक्त सभी निर्वचन अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं, क्योंकि उपर्युक्त स्वरूप के साथ 'मान' या 'मन'

---

१ ऋ० १.१२१.२. ''अनु स्वजां महिषश्चक्षत व्रां मेनामश्वस्य परि मातरं गोः।''

२ ऋ० १.१२१.२. ''अनु स्वजां महिषश्चक्षत व्रां मेनामश्वस्य परि मातरं गोः।''

३ ऋ० १०.१११.३. ''आन्मेनां कृण्वन्नच्युतो भुवद्गोः पतिर्दिवः सनजा अप्रतीतः।''

४ जै०ब्रा०, २.७९. ''वृषणश्वस्य ह मेना मघवा (इन्द्रः) कुल उवास।''

५ ष०ब्रा०, १.१.

६ सा०भा०, ऋ० १.५१.१३.

धातु का समन्वय होता दिखायी नहीं देता है।

२१. सूर्य्या

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'सूर्य्या' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क सूर्य्या पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सूर्या सूर्यस्य पत्नी**"[२] कि सूर्य की पत्नी सूर्या है। इस पक्ष में सूर्य शब्द से स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय होकर 'सूर्या' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'सूर्य्या' पद का निम्न निर्वचन प्रस्तुत करते हैं:-"**सर्तेर्गत्यर्थात्। सरति गच्छति स्तोतॄन् प्रति**"[३] कि जो वाक् स्तोताओं के प्रति जाती है अर्थात् स्तोताओं के द्वारा प्रयुक्त की जाती है, वह 'सूर्य्या' कहलाती है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'सृ' धातु से 'क्यप्' प्रत्यय होकर 'सूर्य्या' पद उपपन्न होता है।

(ख)"**सुवतेर्वा प्रेरणार्थात्। कर्णशुष्कलिं वा सुवति प्रेरयति चोदनरूपा पुरुषादीनिदं कुर्विति**"[४] कि यह श्रवेणिन्द्रिय के माध्यम से पुरुषों की बुद्धि को प्रेरित करती है, अतः, वाक् को 'सूर्य्या' कहा जाता है। इस पक्ष में प्रेरणार्थक 'सू' धातु से 'सूर्य्या' पद निष्पन्न होता है।

(ग)"**यद्वा, सुपूर्वादीरतेः। सुष्ठु ईर्य्यते उच्चार्यते इति सूर्य्या**"[५] कि यह अच्छी प्रकार उच्चारण की जाती है, अतः, यह 'सूर्य्या' कहलाती है। इस पक्ष में 'सु' पूर्वक 'ईर्' धातु से 'क्यप्' प्रत्यय होकर 'सूर्य्या' पद निष्पन्न होता है।

(घ)"**यद्वा, 'षु' प्रेरणे'। प्रेर्य्यते उच्चारणकाले प्राणेन सूरा, स्वार्थे यत् प्रत्ययः सूर्य्यः**"[६] कि उच्चारणकाल में प्राण के द्वारा प्रेरित किये जाने से वर्ण या ध्वनि 'सूर्य्य' नाम से अभिहित होते हैं। इस पक्ष में प्रेरणार्थक 'षु' धातु से औणादिक 'क्रन्' प्रत्यय होकर 'सूर' और उससे स्वार्थ में 'यत्' प्रत्यय होने से 'सूर्य्य' पद निष्पन्न होता है।

(ङ)"**यद्वा, सूरयो मेधाविनः तानर्हति सूर्य्या**"[७] कि सूरि मेधावी वाचक नामपद है और जो वाक् उनके योग्य है, वह 'सूर्य्या' कही जाती है। इस पक्ष में 'सूरि' शब्द से तद्धित 'यत्' प्रत्यय होकर 'सूर्य्या' पद निष्पन्न होता है।

(च)"**यद्वा, सूरिषु साधु सूर्य्या**"[८] कि जो वाक् विद्वानों में सम्मान प्राप्त करती है, वह 'सूर्य्या' कही जाती है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

---

१ निघ० १.११.२१.
२ निरु० १२.७.
३ निघ०वृ०, १.११.२१.
४ निघ०वृ०, १.११.२.
५ निघ०वृ०, १.११.२१.
६ निघ०वृं, १.११.२१.
७ निघ०वृ०, १.११.२१.
८ निघ०वृ०, १.११.२१.

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सूर्या' पद को सूर्यदुहितृप्रभृति अर्थ का वाचक नामपद मानता है। कोशकार उक्त पद को अव्युत्पन्न मानते हैं, लेकिन ग्रासमैन प्रभृति 'सूर्' (स्वृ दीप्तौ') तथा अन्य विद्वान् 'सू' प्रेरणे' या 'सु+ईर्' या 'सृ' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[१]

वैदिक साहित्य में 'सूर्या' पद का अनेकशः उल्लेख हुआ है, परन्तु 'सूर्य्या' पद का वाक् के अर्थ में उल्लेख सर्वथा नहीं हुआ है। सम्भवतः, इस आधार पर देवराजयज्वन् उक्त पद के उदाहरण अन्वेषणीय बतलाते हैं।[२] उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में 'सूर्य' या 'सूर्या' पद वाक् अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। अतः, उदाहरण के अभाव में इस विषय में विशेष कुछ कहना सम्भव नहीं हैं।

२२. सरस्वती

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'सरस्वती' पद परिगणित है।[३] आचार्य यास्क 'सरस्वती' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**सरस्वती। सर इत्युदकनाम। सर्तेस्तद्वती**''[४] कि सर यह उदक का नाम है और जो उस उदक से युक्त है, वह सरस्वती कहलाती है। इस पक्ष में 'सृ' धातु से 'सर' शब्द उपपन्न होता है और उससे मत्वर्थक 'मतुप्' होकर सरस्वती रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'सरस्वती' का निम्न निर्वचन करते हैं:-''**सरस्वती। सर्तेः गद्यपद्यादिरूपेण प्रसारणमस्यास्तीति**''[५] कि इसका गद्यपद्यादिरूप में प्रसार होता है, अतः, वाक् को सरस्वती कहते हैं। इस पक्ष में 'सृ' धातु से 'असुन्' प्रत्यय होकर 'सरस्' शब्द उपपन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, सर इत्युदकनाम। सर्तेस्तद्वती वृष्ट्याधिदेवतात्वादुकवती हि माध्यमिका वाक्। सैव चासीन्नदी सरस्वती**''[६] कि सर यह उदक वाचक नामपद है। उदक से युक्त होने के कारण यह सरस्वती है। वृष्टि की अधिदेवता होने से माध्यमिका वाक् उदकवती है, इस कारण वह सरस्वती कहलाती है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सरस्वती' को 'गो' शब्द का (दीप्तिमत्यर्थक) विशेषणपद तथा नदी, देवता अर्थ वाला नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। विद्वान् 'सृ'क्षरणे=द्रवीभावे' और 'स्वृ' शब्दे' से 'सरस्वती' पद को निष्पन्न करना समीचीन मानते हैं।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'सरस्वती' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[८] मोनियर विलियम्स का इस विषय में अभिमत है कि 'सृ=सरस्=सरस्वती' इस प्रकार 'सरस्वती' पद निष्पन्न होता है। उनके अनुसार सरस्वती एक नदी का नाम है। ऋग्वेद में यह देवी के रूप में प्रतिष्ठित है, जिसकी पहिचान विवादित है। अनेक विद्वान् इसे अवेस्ता में वर्णित

---

१ वै०पद०को०, पृ० ३४४७, ३४५२.

२ निघ०वृ०, १.११.२१.

३ निघ० १.११.२२.

४ निरु० ९.२६.

५ निघ०वृ०, १.११.२२.

६ निघ०वृ०, १.११.२२.

७ वै०पद०कोष, पृ० ३३१९.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० ५५९.

एवं अफगानिस्तान में स्थित हरक्वेती 'Harqaiti' नदी मानते हैं। लेकिन सामान्यरूप से इसका ऋग्वेद में आशय 'इन्दुस्' से है और यही केवल मध्यदेश की पवित्र नदी है। इस नदीरूपा देवता की सात बहिनें हैं और यह स्वयं सात स्तर या तल वाली है। इसे नदियों की माता कहा जाता है, यह नदियों की सर्वश्रेष्ठ माँ है और ऋषियों ने सर्वत्र इसका सम्बन्ध नदियों से माना है तथा आकाश से अवतरित होने के लिये इसका आह्वान किया है।[१] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि उदकवाचक 'सरस्' शब्द भारोपीय भाषा में 'ser' धारा अर्थ में तथा लैटिन में 'sirt' झुण्ड बनाकर अपना स्थान छोड़ना अर्थ में है। उनके अनुसार यह निर्वचन तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने के योग्य है।[२]

वैदिक साहित्य में सरस्वती पद का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि सरस्वती देवी अन्न और बल से बलवती है और यह पवित्र व्यवहारों का उपदेश करने या पवित्र मन्त्रों का उच्चारण करने वाली है। यही देवी धियावसु अर्थात् कर्म के माध्यम से वसु प्राप्त कराने वाली है और शिल्प (यज्ञ) विद्या का प्रकाश करती है।[३] ऐतरेय आरण्यक कहता है कि यह वाक् ही 'धियावसु' है, क्योंकि यह यज्ञ की कामना करती है।[४] इसी क्रम में आगे मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि यह प्रिय और सत्य व्यवहार की प्रेरणा करने वाली तथा सुमति को जागृत करती है। ऐसी सरस्वती यज्ञ को धारण करती है।[५] इस प्रकरण में आगे ऋषि कहता है कि सरस्वती समुद्र के समान अगाध तथा वह शुभकर्म और व्यवहारों का संज्ञान कराती है और सम्पूर्ण बुद्धियों का उद्घाटन करती है।[६] कण्व ऋषि अन्य दो देवियों के साथ सरस्वती का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इळा, सरस्वती और मही (भारती) ये तीन सुख देने वाली देवियाँ हिंसा रहित होकर मेरे पवित्र अन्तःकरण में विराजमान हों।[७] दीर्घतमस् ऋषि भी उक्त तीनों यज्ञिय देवियों से बर्हिस् (अन्तःकरण) पर आसीन होने की प्रार्थना करते हैं।[८] एक अन्य सूक्त में दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि सरस्वती के शरीर में जो शब्दरूपी स्तन शयन करता है, वह सुख देने वाला, समस्त वरणीय फलों का पोषक, रत्नों का धारयिता, वासक धनों को जानने वाला और सुन्दर दान देने वाला है, उसका सरस्वती हमें पान कराये।[९] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि भारती, इळा और सरस्वती– इन तीनों देवियों के समीप आकर मैं स्तुति करता हूँ। ये मुझे सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये प्रेरित करें।[१०] हैमवर्चि ऋषि कहते हैं कि अश्विन् वैद्यों के सहयोग से देवताओं ने यज्ञरूपी

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ११८२.

२ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ५३.

३ ऋ० १.३.१०. ''पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः।''

४ ऐ०आ०, १.१.४. ''यज्ञं वष्टु धियावसुरिति वाग्वै धियावसुः।''

५ ऋ० १.३.११. ''चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती।''

६ ऋ० १.३.१२. ''महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति।''

७ ऋ० १.१३.९. ''इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः।''

८ ऋ० १.१४२.९. ''इळा सरस्वती मही बर्हिः सीदन्तु यज्ञियाः।''

९ ऋ० १.१६४.४९. ''यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि। यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः।''

१० ऋ० १.१८८.८. ''भारतीळे सरस्वति या वः सर्वा उपब्रुवे। ता नश्चोदयत श्रिये।''

भेषज का विस्तार किया। सरस्वती की वाणी से भिषक् ने इन्द्र को बल प्रदान किया।[१] एक अन्य मन्त्र में गृत्समद ऋषि कहते हैं कि बुद्धि और कर्म को सिद्ध करने वाली सरस्वती, इळा देवी और विषयों को शीघ्रता से व्याप्त करने वाली भारती ये तीनों देवियाँ हमारा पालन करें।[२] विश्वामित्र ऋषि भारती को पालन करने वाली वाणी बतलाते हुए इळा, अग्नि, सरस्वती, मनुष्य तथा देवताओं के साथ आकर उसके सङ्गत होने की प्रार्थना करते हैं।[३] असित काश्यप ऋषि कहते हैं कि भारती, सरस्वती और पूजनीया इळा-ये तीनों सुन्दर देवियाँ पवित्र करने वाले हमारे यज्ञ में आयें।[४] ब्रह्मजाया जुहू सरस्वती और मनुष्य के समान ज्ञान कराने वाली इळा के साथ भारती को शीघ्र यज्ञ में आने का आह्वान करती हैं।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् सरस्वती है, जो अन्न और बल को देने के साथ पवित्र व्यवहारों का उपदेश एवं कर्म के माध्यम से वसु (लौकिक सम्पदा) प्राप्त कराती है, यह सूनृता वाणी की प्रेरयित्री और सुमति को जगाने वाली है, यह समुद्र के समान अगाध, शुभ कर्म एवं व्यवहारों का संज्ञान तथा सभी की बुद्धियों को प्रकाशित करती है, इळा और मही के साथ ऋषि इसे सुख देने वाली के रूप में चित्रित करता है। इसके अतिरिक्त ऋषि माता के रूप में सरस्वती का वर्णन करता हुआ इसके स्तन को सुखकारी, समस्त वरणीय अभिदानों को देने वाला, रत्नों का धारयिता, वासक धनों को जानने वाला और सुन्दर दान देने वाला बतलाता है, ऐसी सरस्वती से ऋषि स्तनपान कराने का निवेदन करता है। कहीं ऋषि इसे बुद्धि और कर्म को सिद्ध करने वाली के रूप में चित्रित करता है तो कहीं इसकी सरसता का प्रतिपादन करता है।

उक्त अध्ययन के आधार पर सरस्वती वाक् देवता का वह रूप है, जिससे कर्म, बुद्धि और पवित्रता का आधान मनुष्यों में होता है, यह मानव की सर्वविध उन्नति का पथ प्रशस्त करने वाली है। सरस्वती के नाम से जिस सरसता रूप अर्थ (काव्यात्मक पक्ष) की अभिव्यक्ति होती है, उसके दर्शन वेद में प्रमुखता से नहीं होते हैं। अतः, वर्तमान में विद्वानों और सामान्य जनता में मान्य सरस्वती के स्वरूप की पुष्टि वेद से प्रायः क्षीणरूप में हो पाती है। लेकिन उपरि वर्णित सभी निर्वचन इसी दिशा की ओर इङ्गित करते हैं, इसलिये उक्त सभी निर्वचन सन्दिग्ध प्रतीत होते हैं। यदि सरसता का मानक काव्य पक्ष न होकर, जीवन की भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति है, तब उक्त निर्वचन निर्विवाद रूप से स्वीकार्य हैं।

२३. निवित्

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'निवित्' पद परिगणित है।[६] कौषीतकि-ब्राह्मण निविद् का

---

१ यजु०, १९.१२. ''देवा यज्ञमतन्वत भेषजं भिषजाश्विना। वाचा सरस्वती भिषगिन्द्रायेन्द्रियाणि दधतः।''

२ ऋ० २.३.८. ''सरस्वती साधयन्ती धियं न इळा देवी भारती विश्वतूर्तिः।''

३ ऋ० ३.४.८; ७.२.८. ''आ भारती भारतीभिः सजोषा इळा देवैर्मनुष्येभिरग्निः। सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवी बर्हिरिदं सदन्तु।''

४ ऋ० ९.५.८. ''भारती पवमानस्य सरस्वतीळा मही। इमं नो यज्ञमा गमन् तिस्रो देवीः सुपेशसः।''

५ ऋ० १०.११०.८. ''आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती। तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु।''

६ निघ० १.११.२३.

विवेचन करता हुआ कहता है:-"**अथ वै निविदसावेव योऽसौ (सूर्यः) तपत्येष हीदं सर्वं निवेदयन्नेति**"[१] कि यह सूर्य ही निविद् है, क्योंकि यह सन्तप्त होने पर सबको निवेदित अर्थात् अपना आभास कराता हुआ आता है। इस पक्ष में 'नि+'विद्' धातु से 'निविद' रूप सिद्ध होता है।

ऐतरेय-ब्राह्मण 'निविद' का निर्वचन करता हुआ कहता है:-"**तं (यज्ञम्) वित्त्वा निविद्भिर्न्यवेदयन् यद्वित्त्वा निविद्भिर्न्यवेदयंस्तन्निविदां निवित्त्वम्**"[२] कि उस यज्ञ को जानकर निविद् से उसको बतलाया, जो जानकर प्रतिपादित किया, यही निविद् का निवित्त्व है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है। इस कथन का समर्थन तैत्तिरीय-संहिता तथा शतपथ-ब्राह्मण से भी हो जाता है।[३]

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'निविद्' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**नितरां वेदयति ज्ञापयति स्वमभिधेयम्**"[४] कि अपने अभिधेय को बतलाने के कारण यह वाक् 'निविद्' कहलाती है। इस पक्ष में 'नि+'विद्' (ज्ञाने')+णिच्+क्विप्' से 'निविद्' रूप सिद्ध होता है। उक्त निर्वचन का समर्थन वेद से भी हो जाता है।[५]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'निविद्' को वाक्, मन्त्रविशेष, न्यूङ्ख वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद का मूल 'नि'+'विद्' ज्ञाने' धातु है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची, मोनियर विलियम्स तथा अन्य विद्वान् उक्त निर्वचन का समर्थन करते हैं।[७] मोनियर विलियम्स के अनुसार ऋग्वेद में यह पद निर्देश और सूचना अर्थ में आया है। अथर्ववेद, वाजसनेयि-संहिता एवं शतपथ-ब्राह्मण में यह निपात वाक्य या सङ्क्षिप्त शब्दों में की जाने वाली पूजा पद्धति का नाम है या देवताओं के लिये किया जाने वाला यह सङ्क्षिप्त आह्वान है।[८]

वैदिक साहित्य में 'निविद्' का बहुत प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में अगस्त्य ऋषि इन्द्र से निवेदन करते हैं कि जिस प्रकार तृषार्त को उदक सुख देता है, उसी प्रकार पूर्व स्तोताओं के समान हमें अपने सुखस्वरूप की प्राप्ति कराओ तथा साथ ही इच्छा, बल और आत्मज्ञान की प्राप्ति कराने वाली (निविद्) नित्यविद्या को भी प्रदान करो।[९] गोतम ऋषि कहते हैं कि भजनीय भग, दिवस के अभिमानी देवता मित्र, अखण्डनीय अदिति, सम्पूर्ण जगत् का निर्माण करने में समर्थ दक्ष, शोषणरहित मरुद्गण, मन और देहादि के असुरों को जीतने वाले अर्यमा, पापियों को पाश से जकड़ने वाले वरुण, समस्त पदार्थों के साररूप सोम, रस

---

१ कौ०ब्रा०, १४.१.

२ ऐ०ब्रा०, ३.९.

३ तै०सं० २.२.८.५. शत०ब्रा०, ३.९.३.२८.

४ निघ०वृ०, १.११.२३.

५ ऋ० १.१७५.६. "तामनु त्वा निविदं जोहवीमि विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्।"

६ वै०पद०को०, पृ० १८२९.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० २९२.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५५९.

९ ऋ० १.१७५.६. "यथा पूर्वेभ्यो जरितृभ्य इन्द्र मयइवापो न तृष्यते बभूथ। तामनु त्वा निविदं जोहवीमि विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्।"

और ज्योति से व्याप्त मन वाले अश्विनीदेवों और सुन्दर धनों से युक्त सरस्वती इन समस्त देवों को हम पूर्वकालीन (नित्य) निविदा (वेदरूपा वाणी) से आह्वान करते हैं, ये हमें सुख प्रदान करें।[१] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि उस अग्नि ने प्राचीन नित्य विद्या वेदवाणी से काव्यत्व और उस सनातन कारण से समस्त मननशील लोगों की प्रजा को उत्पन्न किया।[२] गृत्समद ऋषि मित्रावरुणदेवों से आह्वान सुनने का निवेदन तथा नित्यविद्या द्वारा प्रतिपादित यज्ञतत्त्व को समझने के लिये कहते हैं।[३] वामदेव ऋषि प्रश्न प्रस्तुत करके समाधान करते हुए कहते हैं कि इस मेघगर्जना के विषय में प्राचीन नित्यविद्या क्या कथन करती है? उत्तर= मेघ में स्थित उदक शब्द करते हैं।[४] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि कुछ मेधावीजन वाणी को विशेषता से धारण करते हैं और कुछ मनन करते हुए नित्यविद्या को अभिव्यक्ति देते हैं।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् निविदा है, जो इच्छा, बल और आत्मज्ञान की प्राप्ति कराती है, इस निविदा (नित्य वेदविद्या) के माध्यम से ऋषि देवताओं का आह्वान करते हैं, इस निविदा (वेद) से काव्यत्व का जन्म होता है, ऋषि इस विद्या को समझने का निर्देश देता है, कुछ विद्वान् इसको धारण करते हैं और कुछ मनन। इसके अतिरिक्त ऋषि मेघ विषयक ज्ञान निविद (वेद) में स्थित बतलाता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि यह वाक् विज्ञानरूपा है और उसमें अन्तरिक्षविज्ञान जैसा उच्च विज्ञान निहित है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह वाक् 'निविद्' है, जिसमें आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ज्ञान निहित है। इस दृष्टि से विचार करने पर उक्त निर्वचन युक्तिसङ्गत प्रतीत होते है।

२४. स्वाहा

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'स्वाहा' पद पठित है।[६] काठक-संहिता तथा कपिष्ठलकठ-संहिता 'स्वाहा' पद का निर्वचन करती हुई कहती है:-"**तत् स्वाहेत्यजुहोत्------------स्वा ह्येनं वागैद्द**"[७] कि उसने स्वाहा शब्द से आहुति दी, इसलिये यह वाक् 'स्वाहा' नाम से अभिहित होती है। इस पक्ष में 'स्वा' शब्द से 'स्वाहा' पद निष्पन्न होता है।

इस विषय में शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-"**स प्रजापतिर्विदांचकार स्वो वै मा महिमाहेति स स्वाहेत्येवाजुहोत् तस्मादु स्वाहेत्येव हूयते**"[८] कि प्रजापति ने जाना कि यह मेरी अपनी महिमा का आख्यान है, तो उसने स्वाहा से आहुति प्रदान की, इसलिये स्वाहा से आहुति दी जाती है। इस पक्ष में 'स्व'+आह' से

---

१ ऋ० १.८९.३. "तान्पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम्। अर्यमणं वरुणं सोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्।"

२ ऋ० १.९६.२. "स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्।"

३ ऋ० २.३६.६. "जुषेथां यज्ञं बोधतं हवस्य मे सत्तो होता निविदः पूर्व्या अनु।"

४ ऋ० ४.१८.७. "किमु ष्विदस्मै निविदो भनन्तेन्द्रस्यावद्यं दिधिषन्त आपः।"

५ ऋ० ६.६७.१०. "वि यद्वाचं कीस्तासो भरन्ते शंसन्ति के चिन्निविदो मनानाः।"

६ निघ० १.११.२४.

७ काठ०, ६.१. कपि०, ३.१२.

८ शत०ब्रा०, २.२.४.६.

स्वाहा शब्द निष्पन्न होता है।

स्वाहा पद का विवेचन करता हुआ काण्वीय शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-''**स यत्स्वाहास्वाहेत्याह स्वीकुरुत एवैनमेतदात्मन्येवैनमेतत्कुरुत आत्मनि यज्ञं कृत्वा दीक्षा इति**''[१] कि जो उसने स्वाहा, स्वाहा कहकर (हव्य) स्वीकार किया, यह अपने में किया, अपने में यज्ञ करके दीक्षा ग्रहण की। इस पक्ष में 'स्व+'कृ'+आह' से 'स्वाहा' शब्द निष्पन्न होता प्रतीत होता हैं।

आचार्य यास्क 'स्वाहा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा**''[२] कि मन्त्र के द्वारा देवता से जो यह कहा कि यह तुम्हारे लिये है, यह वचन सुन्दर कहा। इस पक्ष में 'सु+आह' से 'स्वाहा' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''स्वा वागाहेति वा''[३] कि वक्ता अपनी हृदयस्थ वाणी से कहता है या उक्त निवेदन देवता की अपनी वाणी (वेद) में कहा गया, इसलिये यह वाक् 'स्वाहा' कही जाती है। इस पक्ष में 'स्वा+आह' से 'स्वाहा' शब्द उपपन्न होता है।

(ग)''स्वं प्राहेति वा''[४] कि वह महाभाग देवता मन्त्र के माध्यम से स्वयं को कहता है या जो अपनी वस्तु है, वक्ता केवल उसको अपना कहता है। इस पक्ष में 'स्वम्+आह' से 'स्वमाह' और उससे 'स्वाहा' शब्द निष्पन्न होता है।

(घ)''स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा''[५] कि अच्छे प्रकार गृहीत की गयी आहुतियों से यज्ञ करता है अर्थात् सामग्री को भली प्रकार स्वच्छ करके विधिपूर्वक यज्ञ करता है, अतः, ऐसे यज्ञ में प्रयुक्त वाक् 'स्वाहा' कही जाती है। इस पक्ष में 'सु+आ+'हु' से स्वाहा पद व्युत्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् भास्कर मिश्र को उद्धृत करते हुए कहते हैं:-''**अत्र भास्कर मिश्रः 'स्वयं सरस्वती आह ब्रूते'। स्वैव ते वागित्यब्रवीत्- इति च ब्राह्मणम्**''[६] कि स्वयं सरस्वती ने कहा, इसलिये यह वाक् 'स्वाहा' नाम से अभिहित होती है। इस कथन का समर्थन ब्राह्मण से भी हो जाता है। इस पक्ष में 'स्व+आह' से 'स्वाहा' शब्द उपपन्न होता है।

(ख)''अत्र क्षीरस्वामी- सुष्ठु आह्वयति स्वाहा''[७] कि यह वाक् अच्छी प्रकार देवताओं का आह्वान करती है, अतः, वाक् को 'स्वाहा' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सु+आ+'ह्वे' से 'स्वाह्वे' और उससे 'स्वाहा' पद सिद्ध होता है।

---

१ काण्व शत०ब्रा०, ४.१.३.१८.
२ निरु० ४.२०.
३ निरु० ४.२०.
४ निरु० ४.२०.
५ निरु० ४.२०.
६ निघ०वृ०, १.११.२४.
७ निघ०वृ०, १.११.२४.

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'स्वाहा' पद को बलिकृत्कर्म वाचक नामपद मानता है। पदपाठकार उक्तपद का अनवगृहीत रूप में पाठ करते हैं।[१] लेकिन अधिकांश निर्वचन 'स्वाहा' को विगृहीत करके किये गये हैं। ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'स्वाहा' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स का अभिमत है कि सम्भवत:, यह पद 'सु' पूर्व वाली 'अह' धातु से व्युत्पन्न हुआ है। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद आह्वान करने के अर्थ में आया है। ऋग्वेद में यह विशेष रूप से इन्द्र और अग्नि को दी जाने वाली आहुति है। इसका दक्ष की पुत्री और अग्नि की पत्नी के रूप में मूर्तीकरण हुआ है। इसके विषय में यह माना जाता है कि यह प्रज्वलित हवियों की अध्यक्षता करती है। इसका शरीर चार वेदों से बना हुआ बताया जाता है और उसके अङ्ग वेद के छ: अङ्ग माने जाते हैं। वह रुद्र की पत्नी का भी प्रतिनिधित्व करती है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का इस विषय में अभिमत है कि यास्क के निर्वचनों में से 'सु+आह' यह सर्वाधिक युक्तिसङ्गत निर्वचन प्रतीत होता है।[४]

वैदिक साहित्य में 'स्वाहा' पद का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में कण्व ऋषि स्वाहाकृति देवता का वर्णन करते हुए यज्ञकर्ता के घर में परमैश्वर्य की प्राप्ति (या परमेश्वर को तुष्ट) और देवता का आह्वान करने के लिये स्वाहा उच्चारण से युक्त यज्ञ करना आवश्यक समझते हैं।[५] दीर्घतमा ऋषि पूषा, मरुद्गण, सम्पूर्ण देव, वायु और गायत्ररूप वाले इन्द्र के लिये स्वाहा करने को कहते हैं।[६] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि इन्द्र सम्पूर्ण जगत् का ईश्वर और अन्य देवों से पूर्वभावी है। वह (इन्द्र) स्वाहा शब्द के साथ अग्नि में क्षिप्त तथा वषट् के द्वारा छोड़े गये सोम का होत्र से पान करे, (अत: स्वाहा शब्द का प्रयोग करना चाहिये)।[७] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि अदिति के पुत्र अन्तरिक्ष में विराजमान हैं और अमरण धर्मा देव स्वाहा शब्द से प्रसन्न हों।[८] एक अन्य स्थान पर विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार सेचक भरे हुए पात्र से रिक्त पात्र को भरता है, उसी प्रकार इन्द्र के लिये पूरी तरह से भरा हुआ घट प्रस्तुत है।[९] एक अन्य प्रकरण में ऋषि कहता है कि हे इन्द्र! हमसे या हमारे लिये छोड़ा गया, यह अन्न स्वाहा के साथ तुम्हें समर्पित है, इसका पान करो, तुम्हारी प्रसन्नता के लिये यह हम देते हैं।[१०] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि स्वाहा के साथ प्रस्तुत सोम का पान करके विघ्न विनाशक, बलिष्ठ तथा मरुतों से युक्त वह इन्द्र हमारी कामनायें पूर्ण करे।[११] आत्रेय ऋषि अग्नि, वरुण, मरुद्गण

---

१ वै०पद०को०, पृ० ३५३८.
२ ऋ०वै०पद०, पृ० ६०२.
३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२८४.
४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १०४.
५ ऋ० १.१३.१२. ''स्वाहा यज्ञं कृणोतनेन्द्राय यज्वनो गृहे। तत्र देवाँ उप ह्वये।''
६ ऋ० १.१४२.१२. ''पूषण्वते मरुत्वते विश्वदेवाय वायवे। स्वाहा गायत्रवेपसे हव्यमिन्द्राय कर्तन।''
७ ऋ० २.३६.१ ''पिबेन्द्र स्वाहा प्रहुतं वषट्कृतं होत्रादा सोमं प्रथमो य ईशिषे।''
८ ऋ० ३.४.११; ७.२.११. ''बर्हिर्न अस्तामदितिः सुपुत्राः स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्।''
९ ऋ० ३.३२.१५. ''आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै।''
१० ऋ० ३.३५.१. ''पिबस्यन्धो अभिसृष्टो अस्मे इन्द्र स्वाहा ररिमा ते मदाय।''
११ ऋ० ३.५०.१. ''इन्द्रः स्वाहा पिबतु यस्य सोम आगत्या तुम्रो वृषभो मरुत्वान्।''

तथा अन्य देवों के लिये हवि को स्वाहुत करने के लिये कहते हैं।[१] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! जिस प्रकार हम अन्न और घृत से हव्य देते हैं, उसी प्रकार आप भी हमें सुरक्षा प्रदान करें।[२] प्रगाथ ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! श्रेष्ठ यजन करने वाले ऋत्विक् स्वाहा का उच्चारण करें और तेरे प्रशंसनीय कर्म का गान करें।[३] त्रित ऋषि कहते हैं कि हम आहुतियों को स्वाहा के साथ प्रदान करें और इस प्रकार अग्निदेव का सत्कार करें।[४] यम ऋषि यम देवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिनको देवता या जो देवताओं को पुष्ट करते हैं। इनमें से कुछ स्वाहा के साथ और कुछ स्वधा के साथ प्रसन्न होते हैं।[५] सुमित्र ऋषि कहते हैं कि अमरणधर्मा सभी देव स्वाहा से प्रसन्न और यज्ञवेदी पर स्थित होते हैं।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'स्वाहा' है, जो परमैश्वर्य की प्राप्ति और देवता के आह्वान के लिये प्रयुक्त होती है, स्वाहा के साथ प्रस्तुत हवि का पान इन्द्र करता है, देवता स्वाहा से तृप्त होते हैं, ऋषि इन्द्र की प्रसन्नता के लिये पूर्ण कलश को प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त ऋषि स्पष्टरूप से कहता है कि स्वाहा के साथ समर्पित यह हवि हम देवता की प्रसन्नता के लिये समर्पित करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्वाहा वह वाक् है, जिससे देवता प्रसन्न होते हैं। इस दृष्टि से यास्क तथा अन्य आचार्यों के द्वारा किया गया 'सु+आह' निर्वचन सर्वाधिक सम्भव निर्वचन प्रतीत होता है।

२५. वग्नु:

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'वग्नु' पद पठित है।[७] आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'वग्नु' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**वग्नुः (वाक्)। 'वच' परिभाषणे'। वग्नुः वाचा समानोऽर्थः**"[८] कि परिभाषण करने के कारण वाक् को 'वग्नुः' कहते हैं। इस पक्ष में 'वच्' धातु से 'वग्नु' पद सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वच्' धातु से निष्पन्न 'वग्नु' पद को शब्दवाचक भावपद मानता है।[९] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'वग्नु' पद का मूल 'वच्' धातु को मानती है।[१०] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद क्रन्दन, आह्वान, गर्जना, विशेष रूप से यह पशुओं के शब्द के लिये प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त यह पासों से उत्पन्न होने वाली ध्वनि के लिये भी प्रयुक्त होता है।[११]

---

१ ऋ० ५.५.११. "स्वाहाग्नये वरुणाय स्वाहेन्द्राय मरुद्भ्यः। स्वाहा देवेभ्यो हविः।"

२ ऋ० ७.३.७. "यथा वः स्वाहाग्नये दाशेम परीळाभिर्घृतवद्भिश्च हव्यैः।"

३ ऋ० ८.६३.५. "आदू नु ते अनु क्रतुं स्वाहा वरस्य यज्यवः।"

४ ऋ० १०.२.२. "स्वाहा वयं कृणवामा हवींषि देवो देवान्यजत्वग्निरहन्।"

५ ऋ० १०.१४.३. "याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति।"

६ ऋ० १०.७०.११. "सीदन्तु बर्हिर्विश्व आ यजत्राः स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्।"

७ निघ० १.११.२५.

८ निघ०वृ०, १.११.२५.

९ वै०पद०को०, पृ० २७१९.

१० ऋ०वै०पद०, पृ० ४५३.

११ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९१२.

वैदिक साहित्य में 'वग्नु' का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि ग्रावा (मेघ, या पाषाण) वाक् (वग्नु) के माध्यम से इन्द्र का मन स्तोता की ओर अभिमुख होता है।[१] वसिष्ठ ऋषि मण्डूक देवता के प्रसङ्ग में कहते हैं कि वर्षाकाल में मण्डूकों का शब्द पर्जन्य के साथ उसी प्रकार सङ्गत होता है, जिस प्रकार वत्सवाली गायों का शब्द अपने वत्सों के साथ सङ्गत होता है।[२] देवल ऋषि पवमान सोम के माहात्म्य का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि आश्रय को अतिक्रान्त करने वाला पवमानदेव तीक्ष्ण और सूक्ष्म वाणी से स्तुत होता है। इस प्रकार की स्तुति (वग्नु) को देवता के साथ तादात्म्य का अनुभव करने वाला ही प्रकट कर सकता है।[३] बिन्दु ऋषि भी पवमानदेव की स्तुति करते हुए कहते हैं कि अभिषुत करने वालों के द्वारा शुद्ध तथा चन्द्रमा के समान प्रकाश और इन्द्रियों को प्रेरित करता हुआ वग्नु (स्तुति) को प्रकट करता है।[४] उपमन्यु वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि सङ्ग्राम में बोधन कराता हुआ पवमानदेव इस वाणी को प्राप्त करता है और उसका शब्द इन्द्र की गर्जना के समान सुना जाता है।[५] त्रित ऋषि अग्निदेव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि महान् देव की मित्र, कल्याण करने वाली, दीप्त होती हुई इस अग्नि की रश्मियाँ मन्त्र पाठ करने वालों को नहीं रोकती हैं।[६] कवष ऐलूष ऋषि कहते हैं कि जाया पति को उत्तम वाणी (वग्नु) से प्राप्त करती है और जाया के साथ आने वाली परिष्कृत सम्पत्ति सुखदायक होती है।[७]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'वग्नु' है, जो ग्रावा के माध्यम से इन्द्र के मन को हमारी ओर अभिमुख करती है, कहीं यह पर्जन्य के साथ सङ्गत होने वाला भेकरव है, कहीं यह पवमानदेवता की अनुभूति से ओतप्रोत साधक के मुख से प्रकट होने वाली शब्दरूपा स्तुति है, कहीं यह इन्द्र की गर्जना के समान गम्भीर शब्द है, कहीं ऋषि ने इस वाक् को मन्त्रपाठ बताया है। इसके अतिरिक्त यही वह वाणी है, जिसके कारण कोई जाया पति को प्राप्त करती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वर्षाकाल में पर्जन्य का शृङ्गार भेकरव है, साधक के मुख से अभिव्यक्ति होने वाली वाक् साधना का सार है, यज्ञ का हृदय मन्त्रपाठ है और जाया का सौन्दर्य उसकी अमृतमयी वाणी है।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर वेद के ऋषि की दृष्टि में वग्नु वह वाणी है, जो मधुरता को अपने में समाहित किये हुए है। इस दृष्टि से मूल में निहित अर्थ को पूर्णरूप से व्यक्त न कर पाने पर भी 'वग्नु' का उपर्युक्त निर्वचन समीचीन माना जा सकता है।

२६. उपब्दिः

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'उपब्दिः' पद समाम्नात है।[८] आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक

---

१ ऋ० १.८४.३. ''अर्वाचीनं सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना।''

२ ऋ० ७.१०३.२. ''गवामह न मायुर्वत्सनीनां मण्डूकानां वग्नुरत्रा समेति।''

३ ऋ० ९.१४.६. ''अति श्रिती तिरश्चता गव्या जिगात्यण्व्या। वग्नुमियर्ति यं विदे।''

४ ऋ० ९.३०.२. ''इन्दुर्हियानः सोतृभिर्मृज्यमानः कनिक्रदत्। इयर्ति वग्नुमिन्द्रियम्।''

५ ऋ० ९.९७.१३. ''इन्द्रस्येव वग्नुरा शृण्व आजौ प्रचेतयन्नर्षति वाचमेमाम्।''

६ ऋ० १०.३.४. ''अस्य यामासो बृहतो न वग्नूनिन्धाना अग्नेः सख्युः शिवस्य।''

७ ऋ० १०.३२.३. ''जाया पतिं वहति वग्नुना सुमत्पुंस इद्भद्रो वहतुः परिष्कृतः।''

८ निघ० १.११.२६.

'उपब्दि' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**उपपूर्वात् पदेर्गत्यर्थात्। उप समीपे भक्तानां गच्छति, उप आचार्य्यसमीपे गम्यत इति वा**''[१] कि यह भक्तों के अथवा आचार्य के समीप जाती है, अतः, वाक् को 'उपब्दि' कहते हैं। इस पक्ष में 'उप+'पद्' से 'उपब्दि' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, उपपूर्वाद् ददातेः। उपेत्य ददातीत्यभिलषितम्**''[२] कि समीप पहुँचकर अभिलषित वस्तु को प्रदान करती है, अतः, वाक् को 'उपब्दि' कहते हैं। इस पक्ष में 'उप+'दा' से 'उपब्दि' शब्द सिद्ध होता है।

(ग)''**यद्वा, उपपूर्वात् द्यतेः। खण्डयत्यज्ञानं तर्क्यादिसमये प्रतिवादिनां वा**''[३] कि तर्कादि के समय प्रतिवादियों के अज्ञान को खण्डित कर देती है, अतः, वाक् को 'उपब्दि' कहते हैं। इस पक्ष में 'उप+'दो' अवखण्डने' से 'उपब्दि' शब्द निष्पन्न होता है।

(घ)''**यद्वा, उपपूर्वाद् दयतेः। रक्षति भक्तानीति उपब्दिः वा**''[४] कि यह भक्तों की रक्षा करती है, अतः, यह वाक् 'उपब्दि' कहलाती है। इस पक्ष में 'उप+'दय्' से 'उपब्दि' शब्द सिद्ध होता है।

तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य के अनुसार उपब्दि का निर्वचन निम्न है:-''**सशब्दमुपब्दिमत्**''[५] कि शब्द सहित वाक् उपब्दि कहलाती है। इस पक्ष में 'उप+शब्द' से उपब्दि रूप निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'उपब्दि' पद को वाग्वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। सायण कहीं 'उप+'वद्' तथा कहीं 'उप+'पद्' और कहीं 'उप+'बद्' स्थैर्ये' धातु से व्युत्पन्न करते हैं।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'उपब्दि' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद कोलाहल, ध्वनि, कटुकर्कश परुषध्वनि, झणझणध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[८] आचार्य सायण कहते हैं कि 'उपब्दि' श्रवण योग्य शब्द की आख्या है।[९]

वैदिक साहित्य में 'उपब्दि' पद का अत्यन्त अल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में राहूगण गोतम ऋषि अग्नि के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि यह अग्नि शब्द करने एवं शीघ्रगामी रथ से पहुँचाने (दूत्य) के कर्म को करता है। उस समय कोई भी नहीं सुनता है अर्थात् यह शब्द के श्रवण से पूर्व गन्तव्य तक पहुँच जाता है। सम्भवतः, यह रथ अतिस्वन गति से चलता है।[१०] अगस्त्य ऋषि इन्द्र से निवेदन करते

---

१ निघ०वृ०; १.११.२६.
२ निघ०वृ०, १.११.२६.
३ निघ०वृ०, १.११.२६.
४ निघ०वृ०, १.११.२६.
५ तै०प्रा०, २३.९. सायण, ऋग्वेदभाष्य, १.७४.७.
६ वै०पद०को०, पृ० ९३४.
७ ऋ०वै०पद०, पृ० १४२.
८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २०३.
९ सायण, ऋग्वेदभाष्य, १.७४.७.
१० ऋ० १.७४.७. ''न योरुपब्दिरश्वः शृण्वे रथस्य कच्चन। यदग्ने यासि दूत्यम्।''

हुए कहते हैं कि मैं इन आये हुए भयानक मरुतों (पवनों) की ध्वनि को सुनता हूँ।[१] यहाँ सम्भवतः, ऋषि पवन से होने वाली ध्वनि को 'उपब्दि' नाम से अभिहित कर रहे हैं। वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि जो स्त्री रात्रि में अपने शरीर को अपगूहित करके और द्रोह से युक्त होकर उलूकी के समान विचरण करती है, वह अनन्त गर्तों में नीचे की ओर मुख किये हुए गिरे और शब्द करते हुए ग्रावा राक्षसों का वध करें।[२] उशना ऋषि पवमानदेव के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य युद्ध में विजयी होकर महान् शब्द करता हुआ जाता है, उसी प्रकार पवित्र करने वाला सोम तीव्र तरङ्गों को प्रवाहित करता है।[३] अर्बुद काद्रवेय सर्प ऋषि कहते हैं कि कर्म में निरत धीर पुरुष शब्दों के द्वारा पृथिवी को घोष से पूरित करते हुए अङ्गुलियों के सङ्केत से भावनाओं को व्यक्त करते हैं।[४] इसी सूक्त में आगे ऋषि कहते हैं कि वे आदरणीय विद्वान् सङ्कटों से मुक्ति के लिये प्रस्थान करते हुए शीघ्र रक्षा करने वाले के समान उपदेश करते हैं।[५] नाभानेदिष्ठ मानव ऋषि कहते हैं कि प्राणियों के लिये वाणी स्वरूप अग्नि वहन करने के स्वभाव वाला है, उसको सरलता से विना किसी के आच्छादन के रात्रि में भी ग्रहण नहीं किया जा सकता।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में वह वाक् 'उपब्दि' है, जो रथ या किसी तीव्र गति के वाहन से उत्पन्न होती है, कहीं यह पवन की तीव्रता से होने वाली ध्वनि के लिये प्रयुक्त हुआ है, कहीं यह ग्रावा की ध्वनि को उपब्दि कहा गया है, कहीं यह युद्ध के समान ध्वनि के लिये व्यवहृत हुआ है, कहीं यह धीर पुरुषों के पृथिवी को अपने घोष से पूरित करने के अर्थ में आया है। इसके अतिरिक्त एक स्थान पर ऋषि ने उपब्दि को प्रजा की वाणी भी बताया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उच्च, गम्भीर और कर्कश ध्वनि वेद में 'उपब्दि' नाम से अभिहित हुई है। इस दृष्टि से 'उप+'दो' अवखण्डने' को 'उपब्दि' का मूल माना जा सकता है। मधुरता को खण्डित कर देने के कारण यह वाक् 'उपब्दि' है।

२७. मायुः

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'मायु' पद समाम्नात है।[७] आचार्य यास्क 'मायु' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**मिमाति मायुं शब्दं करोति**"[८] कि माध्यमिका वाक् शब्द (गर्जना) करती है, अतः, वाक् को 'मायु' कहते हैं। अथवा यह मायु (आदित्य) के समान अपना निर्माण करती है। इस पक्ष में शब्दार्थक 'मा' धातु से 'मायु' शब्द सिद्ध होता है। वेद से उक्त निर्वचन की पुष्टि हो जाती है।[९]

---

१ ऋ० १.१६९.७. "प्रति घोराणामेतानामयासां मरुतां शृण्व आयतामुपब्दिः।"

२ ऋ० ७.१०४.१७. "प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप दुहा तन्वं गूहमाना। वव्राँ अनन्ताँ अव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः।"

३ ऋ० ९.८८.५. "जनो न युध्वा महत उपब्दिरियर्ति सोमः पवमान ऊर्मिम्।"

४ ऋ० १०.९४.४. "संरभ्या धीराः स्वसृभिरनर्तिषुराघोषयन्तः पृथिवीमुपब्दिभिः।"

५ ऋ० १०.९४.१३. "तदिद्वदन्त्यद्रयो विमोचने यामन्नञ्जस्पाइव घेदुपब्दिभिः।"

६ ऋ० १०.६१.९. "मक्षु न वह्निः प्रजाया उपब्दिरग्निं न नग्न उप सीददूधः।"

७ निघ० १.११.२७.

८ निरु० २.९.

९ ऋ० १.१६४.२८. "मिमाति मायुं पयते पयोभिः।" ऋ० १.१६४.२९. "मिमाति मायुं ध्वसनावधिश्रिता।"

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'मायु' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**क्षिप्यते प्रेर्य्यते उच्चार्यते इति मायु:, प्रक्षिपति वृष्ट्युदकं भूमाविति वा**''[१] कि वायु से क्षिप्त होकर उच्चरित होने के कारण वाक् को 'मायु' कहते हैं। इस पक्ष में प्रक्षेपणार्थक 'मि' धातु से औणादिक 'उण्' प्रत्यय होकर 'मायु' शब्द निष्पन्न होता है। इस निर्वचन का समर्थन उणादिकोष से भी हो जाता है।[२]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'मा' शब्दे' धातु को 'मायु' का मूल मानती है।[३] मोनियर विलियम्स 'मा' या 'मि' धातु से 'मायु' पद को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[४]

वैदिक साहित्य में उक्त पद का बहुत अल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि यह माध्यमिका वाक् प्रजारूपी वत्स को चाहती हुई गर्जना करती है और माता के समान मूर्द्धा का स्पर्श करती हुई हिङ्कार करती है तथा फल का निर्माण करने वाले घर्म (दीप्त पुत्र) को प्रमुख रूप से चाहती हुई, गर्जना के साथ उसे उदकों से आप्यायित करती है।[५] अग्रिम मन्त्र में पुन: ऋषि कहते हैं कि यह माध्यमिका वाक् पृथिवी को व्याप्त करके झङ्कार करती है और फिर मेघ पर स्थित होकर यह गर्जना करती है।[६] वसिष्ठ ऋषि मण्डूक देवता के प्रसङ्ग में कहते हैं कि वर्षाकाल में मण्डूकों का शब्द पर्जन्य के साथ उसी प्रकार सङ्गत होता है, जिस प्रकार वत्सवाली गायों का शब्द अपने वत्सों के साथ सङ्गत होता है। दिव्य जल जब इस मण्डूक को चारों ओर से शुष्क तडाग में व्याप्त करते हैं, तब यह पुन: पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाता है।[७] पुरूरवा ऐल ऋषि कहते हैं कि वीररहित वर्षकर्म में न विद्युत् प्रकाशित होती और न महान् अन्तरिक्ष में मेघगण गर्जना करते हैं।[८] उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाणी 'मायु' है, जो गर्जना के साथ उदकवृष्टि करती है, कहीं यह मेघ पर स्थित होकर गम्भीर नाद करती है, कहीं ऋषि वत्स की कामना करने वाली गाय के रेभण को 'मायु' नाम से अभिहित करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मुख्यत: वेद के ऋषि की दृष्टि में मेघ गर्जना 'मायु' नाम से कही गयी है। इस दृष्टि से देखने पर उपर्युक्त दोनों निर्वचन सङ्गत प्रतीत होते हैं, लेकिन इनमें भी प्रथम निर्वचन अधिक समीचीन है।

२८. काकुत्

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'काकुत्' पद पठित है।[९] आचार्य यास्क 'काकुद' का निर्वचन

---

१ निघ०वृ०, १.११.२७.

२ उणा०, १.१. ''कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्।''

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ३९७. वै०पद०को०, पृ० २४७४.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८११.

५ ऋ० १.१६४.२८. ''गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्द्धानं हिङ्ङ्कृणोन्मातवा उ। सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभि:।''

६ ऋ० १.१६४.२९. ''अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधिश्रिता।''

७ ऋ० ७.१०३.२. ''गवामह न मायुर्वत्सनीनां मण्डूकानां वग्नुरत्रा समेति। दिव्या आपो अभि यदेनमायन्दृतिं न.शुष्कं सरसी शयानम्।''

८ ऋ० १०.९५.३. ''अवीरे क्रतौ वि दविद्युतन्नोरा मायुं चितयन्त धुनय:।''

९ निघ० १.११.२८.

करते हुए कहते हैं:-"**काकुदं तालूच्यते, जिह्वा कोकुवा साऽस्मिन् धीयते**"[१] कि इस तालु में जिह्वा वर्णाभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त होती है, अतः, तालु को काकुद कहते हैं। इस पक्ष में 'कोकुवा+'धा' से 'काकुद' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)"**जिह्वा कोकुवा। कोकूयमाना वर्णान्नुदतीति वा**"[२] कि शब्दों का अनुकरण करने के कारण जिह्वा कोकुवा कहलाती है। इस प्रकार यह अनुकरण करती हुई तालु में वर्णों को प्रेरित करती है, अतः, यह 'काकुद' कहलाती है। इस पक्ष में 'कु' धातु से 'कोकुवा' और 'कोकुवा+'नुद्' से 'काकुद' शब्द उपपन्न होता है।

(ग)"**कोकूयतेर्वा**"[३] कि यह बार-बार वर्णोच्चारण करता है, अतः, यह तालु 'काकुद' कहलाता है। इस पक्ष में यङ्लुगन्त 'कु' धातु से 'द' प्रत्यय होकर 'काकुद' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'काकुत्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**कानं शब्दनं करोतीति काकुत्**"[४] कि यह शब्द को प्रकट करता है, अतः, वाक् को 'काकुत्' कहते हैं। इस पक्ष में शब्दार्थक 'कै' धातु से 'कु' प्रत्यय तथा तकार का आगम होकर 'काकुत्' रूप सिद्ध होता है।

(ख)"**ककते चञ्चला भवति, एकस्मिन्नर्थे न प्रतितिष्ठतीत्यर्थः। तथाहि शब्दा अनेकार्था बहवः, एकार्थाश्च काक्वादिनाभिधीयमाना अनेकार्था भवन्ति**"[५] कि जो चञ्चल अर्थात् किसी एक अर्थ में स्थित नहीं होती है, वह वाक् 'काकुत्' कहलाती है। कुछ शब्द अनेकार्थक और कुछ एकार्थक होते हैं, वे काकु आदि से अभिधीयमान होकर अनेकार्थक हो ज़ाते हैं। इस प्रकार काकु आदि के द्वारा अर्थाभिधान करने वाली वाक् 'काकुत्' है। इस पक्ष में लौल्यार्थक 'कक्' धातु से औणादिक 'उतिन्' प्रत्यय होकर 'काकुत्' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'काकुद्' पद के अर्थ और व्युत्पत्ति दोनों को सन्दिग्ध मानता है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'काकुत्' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद मुख विवर और तालु अर्थ में प्रयुक्त है। लैटिन में यह 'cacumen' कहा जाता है।[८] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा उक्त यास्कीय निर्वचन को आदिम, भाषाविज्ञान के अविकसित तथा वैदिक साहित्य के पर्याप्त अनुसन्धान के अभाव में अभी इस विषय में कुछ कहना सम्भव नहीं मानते हैं। इसके अतिरिक्त भारोपीय भाषा में यह शब्द 'ceu' to bend' अर्थ में पाया जाता है।[९]

---

१ निरु० ५.२६.

२ निरु० ५.२६.

३ निरु० ५.२६.

४ निघ०वृ०, १.११.२८.

५ निघ०वृ०, १.११.२८.

६ वै०पद०को०, पृ० ११०५.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० १६७.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २६७.

९ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ७५.

वैदिक साहित्य में 'काकुत्' प्रयोग अत्यल्प हुआ है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार जिह्वा का जलरूप रस बढ़ता है या पृथिवी पर आने वाला उदक शब्द करता है, उसी प्रकार इन्द्र (सूर्य) की सोम का अतिशय पान करने वाली कुक्षि (रसों का शोषण करने वाली) समुद्र के समान बढ़ती है।[१] भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि इन्द्र सत्यभाषणादि एवं उत्तम क्रिया से युक्त वरणीयतम वाणी से निरन्तर मधुरादि गुणों वाली ऊर्मि का पान करता है।[२] प्रियमेध ऋषि का कथन है कि वरुण सुदेव हैं, उनकी सात (सर्पणस्वभाव वाली) नदियाँ (२ आँख, २ कान, २ नाक और रसना ये सात) अपने निष्पादित ज्ञान को काकुद (शब्द या जिह्वा) के माध्यम से क्षरित करती हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे पर्वत शृङ्खला से जल स्यन्दित होता है।[३]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक ऋषि काकुत् के साथ समुद्रः, उर्वी, आपः, मध्व ऊर्मिम्, सिन्धु आदि पदों का प्रयोग विशेषरूप से करता है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि वह वाक् 'काकुत्' है, जिसमें समुद्र का जल, मधुरता की लहरें और नदियों का उदक प्रवाहित होता हो, सम्भवतः, इन विशेषणों के कारण तालु को 'काकुत्' कहा जाता है और जब ये विशेषतायें किसी भाषा में होती हैं, तब वह भाषा, साहित्य या वाणी काकुत्' नाम से अभिहित होती है। इस प्रकार जो सरस वाणी है, वह सम्भवतः, वैदिक ऋषि की दृष्टि में 'काकुत्' है। इस दृष्टि से आचार्य देवराजयज्वन् का द्वितीय निर्वचन समीचीन माना जा सकता है।

२९. जिह्वा

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'जिह्वा' पद परिगणित है।[४] आचार्य यास्क 'जिह्वा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**जिह्वा जोहुवा**''[५] कि इसके द्वारा प्राणी अपने में अन्न का होम करते हैं या यह रस का ग्रहण करती है अथवा इसके द्वारा आह्वान किया जाता है, अतः, यह जिह्वा कहलाती है। इस पक्ष में दान एवं आदान अर्थ वाली 'हु' धातु से 'यङ्' प्रत्यय होकर 'जोहुवा' और उससे 'जिह्वा' शब्द सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'जिह्वा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**लिह' आस्वादने'। लेढ्यास्वादयत्यनया ग्रन्थविषयावसारान्**''[६] कि यह ग्रन्थस्थ विषयों के सार का आस्वाद लेती है, अतः, यह 'जिह्वा' कहलाती है। इस पक्ष में आस्वादन अर्थ वाली 'लिह' धातु से औणादिक 'वन्' प्रत्यय होकर 'जिह्वा' शब्द सिद्ध होता है।

(ख)''यद्वा, आह्वयतेः। जोहुवति पुनः पुनराह्वयति शब्दं करोति रसान् वादत्ते''[७] कि यह पुनः पुनः

---

१ ऋ० १.८.७. ''यः कुक्षि सोमपातमः समुद्रइव पिन्वते। उर्वीरापो न काकुदः।''

२ ऋ० ६.४१.२. ''या ते काकुत्सुकृता या वरिष्ठा या शश्वत् पिबसि मध्व ऊर्मिम्।''

३ ऋ० ८.६९.१२. ''सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव।''

४ निघ० १.११.२९.

५ निरु० ५.२६.

६ निघ०वृ०, १.११.२९.

७ निघ०वृ०, १.११.२९.

आह्वान अथवा रसों को ग्रहण करती है, अतः, वाक् को 'जिह्वा' कहते हैं। इस पक्ष में 'ह्वे' धातु से 'यङ्' प्रत्यय होकर 'जोहुवा' और उससे 'जिह्वा' रूप सिद्ध होता है।

(ग)''**यद्वा, जुहोतेः। जुहोत्यन्नमात्मनि**''[१] कि इसके द्वारा प्राणी अपने में अन्न का होम करता है, अतः, यह 'जिह्वा' कहलाती है। इस पक्ष में 'हु' धातु से 'यङ्' प्रत्यय होकर 'जोहुवा' और उससे 'जिह्वा' रूप सिद्ध होता है।

उणादिकोष 'जिह्वा' शब्द को 'वन्' प्रत्ययान्त निपातन से सिद्ध करता है। लेकिन उणादि वृत्तिकार आचार्य दयानन्द सरस्वती 'जि' धातु से व्युत्पन्न मानते हुए 'जिह्वा' का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**जयति यया सा जिह्वा इन्द्रियं वा**''[२] कि जिससे जीतते हैं वह वाक् या इन्द्रिय जिह्वा है। आचार्य सायण भी उणादिकोष के आधार पर निपातन से सिद्ध मानते हुए 'जिह्वा' पद का मूल 'लिह्' धातु मानते हैं। उनके अनुसार 'जिह्वा' का निर्वचन निम्न है:-''**लिहन्त्याभी रसानिति**''[३] कि इससे रसों का आस्वाद लिया जाता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'जिह्वा' पद को शरीरावयव, अग्नि ज्वाला प्रभृति का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'जिह्वा' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स अव्युत्पन्न 'जिह्व' शब्द से 'जिह्वा' को व्युत्पन्न करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह जिह्वा या अग्नि की ज्वालारूप जिह्वा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि यास्क 'जिह्वा' का मूल 'ह्वे' धातु मानते हैं। लेकिन भारोपीय भाषा में यह शब्द 'dnghuȧ', प्राचीन लैटिन में 'dingua', तथा साहित्यिक लैटिन में 'linghua' तीनों स्थानों पर यह जिह्वा अर्थ में पाया जाता है।[७]

वैदिक साहित्य में 'जिह्वा' पद का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में गोतम ऋषि कहते हैं कि पुरातन पिता से उत्पन्न होने के कारण हम यह बतलाते हैं कि मरुद्गण रसयुक्त जिह्वा (वाणी) से सोम (मधुर) की स्तुति करते हैं।[८] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि आदित्यगण कविरूप अग्नि की मुख में स्थित वाणी से स्तुति करते हैं।[९] गाथी ऋषि का कथन है कि अग्नि के ज्ञान, गमन और प्राप्ति ये तीन वाजी हैं, नाम, जन्म और रूप ये तीन स्थान हैं और उसकी ऋत से उत्पन्न होने वाली तीन वाणियाँ हैं।[१०] विश्वामित्र ऋषि मधुर और सुन्दर मेधा सम्पन्न देवों में स्थित वाणी से अग्नि की रक्षा करने की प्रार्थना करते हैं।[११] वसूयु आदि ऋषियों का मत

---

१ निघ०वृ०, १.११.२९.

२ उणा०, १.१५४. ''शेवायह्वजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवाः।''

३ सायणभाष्य, ऋ० ३.२०.२.

४ वै०पद०को०, पृ० १३७४.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० २१३.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ४२२.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ७८.

८ ऋ० १.८७.५. ''पितुः प्रत्नस्य जन्मना वदामसि सोमस्य जिह्वा प्र जिगाति चक्षसा।''

९ ऋ० २.१.१३. ''त्वामग्न आदित्यास आस्यं १ त्वां जिह्वां शुचयश्चक्रिरे कवे।''

१० ऋ० ३.२०.२. ''अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था तिस्रस्ते जिह्वा ऋतजात पूर्वीः।''

११ ऋ० ३.५७.५. ''या ते जिह्वा मधुमती सुमेधा अग्ने देवेषूच्यत उरूची।''

है कि पूजनीय पावकदेव अग्नि देदीप्यमान और मधुर वाणी से सबको प्राप्त होते हैं।[१] आत्रेय ऋषि कहते हैं कि वरणीय विश्वदेव मधुर जिह्वा से चतुरङ्गिणी सेना वाले शत्रुओं को सिद्ध (वश में) कर लेते हैं।[२] भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि इन्द्राग्नी देवता प्राणियों के शिर को प्रेरणा करके जिह्वा से बार-बार उच्चारण करते हैं और त्रिंशत् पदों को अतिक्रान्त कर जाते हैं।[३] अभितपा सौर्य ऋषि वसुओं से वाणी या मन के द्वारा होनी वाली अवहेलना से बचाने की प्रार्थना करते हैं।[४] सौचीक ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार स्त्री गर्भ में वत्स को धारण करती है, उसी प्रकार श्रेष्ठ जन निर्दोष मन और जिह्वा से प्रिय वचनों को धारण करते हैं।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'जिह्वा' है, जो मधुरता से स्तुति करती है, इस अग्निरूप वाणी को आदित्यगण पवित्र करते हैं, यह तीन प्रकार की जिह्वा (वाणी) ऋत से उत्पन्न होती है, यह वाणी मधुमती, सुमेधा, महान् तथा व्यापक है, पावक अग्निदेव देदीप्यमान और मधुर वाणी से सबको प्राप्त होते हैं, इसी वाणी से देवता शत्रुओं को वश में करते हैं, इन्द्राग्नी देवता इस जिह्वा से प्राणियों के शिर को प्रेरणा देते हैं। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार स्त्री गर्भ को धारण करती है, उसी प्रकार श्रेष्ठ जन जिह्वा से प्रिय वचनों को धारण करते हैं।

इस प्रकार वह वाक् 'जिह्वा' है, जिसमें मधुरता और मेधा का सङ्गम है। इसको दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जो सरस वाणी है, वह वेद में 'जिह्वा' नाम से अभिहित हुयी है। सम्भवतः, इसके नामकरण के मूल में यह सरसता ही है। इस दृष्टि से 'लिह' या 'हु' धातु 'जिह्वा' पद का मूल प्रतीत होती हैं। इनमें से 'लिह' धातु के 'जिह्वा' पद का मूल होने की अधिक सम्भावना है। इसका कारण यह है कि जिह्वा का मुख्य कर्म 'आस्वाद लेना' है, जो उक्त धातु से स्पष्टरूप से व्यक्त हो रहा है।

३०. घोषः

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'घोष' पद पठित है।[६] आचार्य यास्क 'घोष' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**घोषो घुष्यतेः**"[७] कि जो घोषित किया जाता है, वह 'घोष' है। इस पक्ष में शब्दार्थक 'घुष्' धातु से 'घोष' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'घोष' शब्द का निर्वचन निम्न करते है:-"**घुष' शब्दार्थः'। घुष्यते शब्द्यते घोषः**"[८] कि जो स्वर सहित उच्चारण की जाती है, वह वाक् घोष है। इस पक्ष में शब्दार्थक 'घुष्' धातु

---

१ ऋ० ५.२.६. "अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया। आ देवान्वक्षि यक्षि च।"

२ ऋ० ५.४८.५. "स जिह्वया चतुरनीक ऋञ्जते चारु वसानो वरुणो यतन्नरिम्।"

३ ऋ० ६.५९.६. "हित्वी शिरो जिह्वया वावदच्चरत्त्रिंशत्पदा न्यक्रमीत्।"

४ ऋ० १०.३७.१२. "यद्वो देवाश्चकृम जिह्वया गुरु मनसो वा प्रयुती देव हेळनम्।"

५ ऋ० १०.५३.११. "गर्भे योषामदधुर्वत्समासन्यपीच्येन मनसोत जिह्वया।"

६ निघ० १.११.३०.

७ निरु० ९.९.

८ निघ०वृ०, १.११.३०.

से 'घञ्' प्रत्यय होकर 'घोष' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष, ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची एवं मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं।[१] लेकिन मोनियर विलियम्स के अनुसार ऋग्वेद और अथर्ववेद में यह पद अस्पष्ट या व्यवस्थाभङ्ग के समय का कोलाहल, जनसामान्य का क्रन्दन, विजयघोष, शोकयुक्त क्रन्दन, युद्ध के समय का महारव, पशुओं की चीत्कार आदि अर्थों में पाया जाता है।[२] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि उक्त शब्द भारोपीय भाषा में 'gheus' सुनने अर्थ में तथा अवेस्ता में 'gaos' सुनने अर्थ में पाया जाता है। उनके अनुसार यह निर्वचन तुलनात्मक भाषाविज्ञान द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने योग्य है।[३]

वैदिक साहित्य में 'घोष' शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि मरुद्गण प्रत्येक युग में अद्भुत, अविनाशी, नवीन काव्यरूप शब्द को धारण करते हैं और शत्रुओं के द्वारा दुःख से पार होने योग्य उस यश को वे हमें भी प्राप्त करायें।[४] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि जो ज्ञान परिपक्व बुद्धिमानों की वाणी में शोभा देता है और जिस वाणी से बोध प्राप्त होता है, उससे ऋषि अश्विनीदेवों का यजन करने का निर्देश देते हैं। विद्वान् की वाणी के समान वह वाक् हमारी अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति करे।[५] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि पूजनीयों में पूजनीय मातापिता से प्राणी प्रकृष्ट ज्ञान, बल और वाणी से अनुप्राणित होते हैं।[६] एक अन्य स्थान पर विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! मैं जिन नीच शत्रुओं की वाणी को सुनने अर्थात् मानने के लिये विवश हूँ, तपते हुए वज्र से उनका वध करो।[७] एक अन्य प्रकरण में विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि जिनका घोष (वाणी) पृथिवी और अन्तरिक्ष दोनों को तपाता है, पृथिवी पर उत्पन्न ऐसे वीरों को केवल महाबली धारण कर सकते हैं।[८] आत्रेय ऋषि कहते हैं कि सत्य का आचरण करने वाले जन जिस प्रसिद्ध वाणी का उच्चारण करते हैं, वे सम्यक् प्राप्त वाणी के बल से देदीप्यमान होते हैं।[९] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! शोक को दूर या निरोध करने वाली नाना प्रकार की विद्याओं में प्रवृत्त देवताओं से वाणी उत्पन्न होती है, ऐसी वाणी को मैं प्राप्त होता हूँ।[१०] कवष ऐलूष ऋषि कहते हैं कि समस्त देव मेरी रक्षा करें, जिस पर किसी का शासन नहीं है, ऐसा देव मुझे प्राप्त हो, ऐसा मेरा घोष है।[११] मन्युस्तापस ऋषि कहते हैं कि हम

---

१ ऋ०वै०पद०, पृ० १९६. वै०पद०को०, पृ० १२७१.

२ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३७८.

३ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ४४.

४ ऋ० १.१३९.८. ''यद्वश्चित्रं युगे युगे नव्यं घोषादमर्त्यम्। अस्मासु तन्मरुतो यच्च दुष्टरं दिधृता यच्च दुष्टरम्।''

५ ऋ० १.१२०.५. ''प्र या घोषे भृगवाणे न शोभे यया वाचा यजति पज्रियो वाम्। प्रैषयुर्न विद्वान्।''

६ ऋ० ३.७.६. ''उतो पितृभ्यां प्रविदानु घोषं महो महद्भ्यामनयन्त शूषम्।''

७ ऋ० ३.३०.१६. ''सं घोषः शृण्वेऽवमैरमित्रैर्जही न्येष्वशनिं तपिष्ठाम्।''

८ ऋ० ३.३१.१०. ''वि रोदसी अतपद्घोष एषां जाते निःष्ठामदधुर्गोषु वीरान्।''

९ ऋ० ५.५४.१२. ''समच्यन्त वृजनातित्विषन्त यत्स्वरन्ति घोषं विततमृतायतः।''

१० ऋ० ७.२३.२. ''अयामि घोष इन्द्र देवजामिरिरज्यन्त यच्छुरुधो विवाचि।''

११ ऋ० १०.३३.१. ''विश्वे देवासो अध मामरक्षन्दुःशासुरागादिति घोष आसीत्।''

अच्छिन्न दीप्ति वाले इस मन्यु की सहायता से विजय के लिये घोष करते हैं।[१] अप्रतिरथ ऐन्द्र ऋषि कहते हैं कि महामना, भुवनों को कँपाने एवं जीतने वाले देवों का विजयघोष सर्वत्र गूँजता है।[२] अनिल वातायन ऋषि वायुदेव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि देवों की आत्मा और लोकों को धारण करने वाला यह वायु अपनी इच्छा के अनुसार विचरण करता है। इसके घोष सुनायी पड़ते हैं, परन्तु रूप दृष्टिगोचर नहीं होता है।[३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'घोष' है, जो प्रत्येक युग में मरुतों (मनुष्यों) को काव्यरूप में प्राप्त होता है, इस काव्य का उच्चारण सत्य का आचरण करने वाले लोग करते हैं, यह वाक् शोकहर्त्री एवं देवताओं से उत्पन्न है, इस वाक् से (जिसके नियमन में सब हैं, पर जो किसी के नियन्त्रण में नहीं है) वह परमात्मा को प्राप्त होता है, यह वह महारव है, जो विजय के समय किया जाता है, विजय के समय गूँजने वाला शब्द घोष ही है, इसके अतिरिक्त यह पद वायु की चलने की ध्वनि को बताने के लिये भी प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वाणी का वह रूप 'घोष' है, जो महारव (उद्घोष) के रूप में सबके समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। कहने का आशय यह है कि प्रतिज्ञान के रूप में प्रकाशित की जाने वाली वाणी वेद में 'घोष' नाम से अभिहित हुयी है, यह प्रतिज्ञान काव्य के रूप में भी हो सकता है और परमात्मा के समक्ष आत्मनिवेदन के रूप में भी, परन्तु इसका स्वरूप उच्च ध्वनियुक्त होता है, जिससे वह सर्वश्राव्य हो सके। उपर्युक्त स्वरूप को ध्यान में रखते हुए निर्विवाद रूप से 'घुष्' धातु को 'घोष' पद का मूल माना जा सकता है।

३१. स्वर:

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'स्वर' पद समाम्नात है।[४] आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'स्वर' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**स्वर्य्यते शब्द्यतेऽनेन देवता, उपतप्यतेऽनया मर्मस्पृक् प्रयुक्तयेति वा**''[५] कि इसके माध्यम से देवता को कहा जाता है अथवा इसके प्रयोग करने से मर्म उपतप्त हो जाता है, अतः, वाक् को 'स्वर' कहते हैं। इस पक्ष में 'स्वृ' शब्दोपतापयोः' धातु से 'घ' प्रत्यय होकर 'स्वर' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा, स्वरतिरर्चतिकर्मा वा। स्वर्य्यते स्तूयते देवतात्वात्''[६] कि देवता होने से इसकी स्तुति की जाती है, अतः, वाक् स्वर कहलाता है। इस पक्ष में 'स्वृ' या 'स्वर्' धातु से पूर्ववत् 'घ' प्रत्यय होकर 'स्वर' शब्द व्युत्पन्न होता है।

---

१ ऋ० १०.८४.४. ''अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्महे।''

२ ऋ० १०.१०३.९. ''महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात्।''

३ ऋ० १०.१६८.४. ''आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः। घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम।''

४ निघ० १.११.३१.

५ निघ०वृ०, १.११.३१.

६ निघ०वृ०, १.११.३१.

(ग)''यद्वा, स्वरति देवतानिन्द्रादीन्''[१] कि इन्द्रादि देवताओं का कथन करती है, अतः, वाक् को 'स्वर' कहते हैं। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'स्वृ' धातुमूलक 'स्वर' पद को 'शब्द' वाचक नामपद मानता है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स दोनों उक्त व्युत्पत्ति से सहमत हैं।[३] मोनियर विलियम्स के अनुसार ऋग्वेद में यह शब्द ध्वनि अर्थ में प्रयुक्त है।[४]

वैदिक साहित्य में 'स्वर' शब्द का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि इन्द्र नवग्व और दशग्व प्रकार के मेधावी, सुख की इच्छा रखने वाले, सात अङ्गिरस ऋषियों के स्वर (उदात्तादि या मन्द्रमध्यमादि स्तोत्र) से अनेक प्रकार से स्तुतियोग्य है।[५] हर्यत प्रागाथ ऋषि कहते हैं कि ये स्वरयुक्त (कलकल ध्वनि वाली) नदी के तीर्थ पर सात ऋत्विज हविरूपा माता का दोहन करते हैं। इनमें से प्रतिप्रस्थाता, अध्वर्यु तथा शेष पाँच यज्ञ का सृजन करते हैं।[६] यजुर्वेद का ऋषि कहता है कि क्रतु, स्वर, श्लोक, श्रव, श्रुति, ज्योति और स्वः ये सब मेरे यज्ञ से सिद्ध हों।[७] यहाँ ऋषि ने श्लोक, श्रव और श्रुति सदृश शब्दों के साथ 'स्वर' पद परिगणित किया है, इससे यह सिद्ध होता है कि स्वर भी उक्त प्रकार की किसी साहित्यिक विधा का प्रतिनिधित्व करता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'स्वर' है, जो स्तुति या यज्ञ के रूप में देवता के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, यह एक प्रकार का साहित्य है। इस अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि उक्त 'स्वृ' धातुमूलक निर्वचन अर्थ की दृष्टि से बहुत सार्थक प्रतीत नहीं होता है। इसका कारण यह है कि इससे साहित्य बोध नहीं होता है।

३२. शब्दः

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'शब्द' पद समाम्नात है।[८] आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'शब्द' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**शपत्याक्रोशे शाशपित्यां दानौ। शपतेऽनेनेति शब्दः संस्कृता वाक्**''[९] कि क्रुद्ध होकर दानवों को शाप दिया जाता है, इसलिये यह वाक् 'शब्द' कहलाती है। इससे आक्रोश व्यक्त किया जाता है, अतः, संस्कृत वाक् 'शब्द' कही जाती है। इस पक्ष में आक्रोश अर्थ वाली 'शप्' धातु से 'शब्द' रूप सिद्ध होता है। उणादिकोष से उक्त व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है।[१०]

---

१ निघ०वृ०, १.११.३१.

२ वै०पद०को०, पृ० ३५४१.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ६००.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२८५.

५ ऋ० १.६२.४. ''स सुष्टुभा स स्तुभा सप्त विप्रैः स्वरेणाद्रिं स्वर्यो३ नवग्वैः।''

६ ऋ० ८.७२.७. ''दुहन्ति सप्तैकामुप द्वा पञ्च सृजतः। तीर्थे सिन्धोरधि स्वरे।''

७ यजु०, १८.१. ''क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च मे श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।''

८ निघ० १.११.३२.

९ निघ०वृ०, १.११.३२.

१० उणा०, ४.९८. ''शाशपिभ्यां ददनौ।''

(ख)**"यद्वा, शब्दनं शब्दः- इति क्षीरस्वामी। खेऽन्तरिक्षे शब्दं करोतीति वा"**[१] कि आह्वान करने के कारण यह वाक् 'शब्द' कहलाता है। अथवा आकाश में ध्वनि होती है, अतः, वाणी को 'शब्द' कहते हैं। इस पक्ष में 'शब्द्' धातु से 'शब्द' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष अव्युत्पन्न 'शब्द' पद को उच्चारण वाचक भावपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की सम्भावित विकास प्रक्रिया निम्न है:- 'वाश्' शब्दे=वाश+भृत=वाशभृत= शभृत=शब्द'।[२] वैदिक साहित्य में 'शब्द' पद का उल्लेख देखने को नहीं मिलता है। लेकिन ब्राह्मणग्रन्थ में इसके दर्शन अवश्य होते हैं। ब्राह्मण कहता है कि शब्द ही मृत्यु है।[३] इससे यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि ब्राह्मण काल में 'शब्द' पद शाप या आक्रोश अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था। आचार्य यास्क ने वेदों के प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन करते समय यद्यपि अभिशाप का उल्लेख किया है,[४] लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि वेद का प्रिय विषय शाप या अभिशाप नहीं है। सम्भवतः, इसका कारण यह है कि वेद सम्पर्ण जड-चेतन जगत् की कल्याण कामना में विश्वास रखते हैं और इस भावना के साथ शाप की सङ्गति होती दिखायी नहीं देती है। अतः, वाग्वाचक 'शब्द' पद का उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं हुआ है। जहाँ तक ध्वनि और आह्वान अर्थ वाली 'शब्द्' धातु का प्रश्न है, इस विषय में वस्तुतः स्थिति यह है कि पाणिनीय धातुपाठ में उक्त धातु का परिगणन नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में उक्त धातु के दर्शन नहीं होते हैं। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि वैदिक काल में उक्त धातु का अस्तित्व नहीं था। इस प्रकार हम यह मान सकते हैं 'शब्द' पद वैदिक साहित्य में प्रयुक्त नहीं हुआ है।

३३. स्वनः

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'स्वन' पद परिगणित है।[५] आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'स्वन' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**"स्वन्यत इति स्वनः"**[६] कि यह ध्वनित होता है, अतः, वाक् 'स्वन' कहलाती है। इस पक्ष में शब्दार्थक 'स्वन्' धातु से 'स्वन' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'स्वन्' धातुमूलक 'स्वन' पद को भावपद एवं नामपद मानता है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स दोनों उक्त व्युत्पत्ति से सहमत हैं।[८] मोनियर विलियम्स के अनुसार यह पद सामान्यरूप से ध्वनिवाचक है, लेकिन प्राचीन भाषा में यह प्रचण्ड झंझावात, विद्युत् गर्जना और जल

---

१ निघ०वृ०, १.११.३२.

२ वै०पद०को०, पृ० ३०७६.

३ जै०ब्रा०, २.३५०; शा०आ०, ६.२; कौ०उप०, ४.२. "शब्दे (संवत्सरो जै०ब्रा०)मृत्युः।"

४ निरु० ७.३. "अथापि शपथाभिशापौ।"

५ निघ० १.११.३३.

६ निघ०वृ०, १.११.३३.

७ वै०पद०को०, पृ० ३५२२.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० ५९९.

की कलकल ध्वनि के लिये प्रयुक्त होता था।[१]

वैदिक साहित्य में 'स्वन' शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में घोरपुत्र कण्व ऋषि कहते हैं कि पवनगति की ध्वनि के अनन्तर सम्पूर्ण पार्थिव पदार्थों में कम्पन होता है और मनुष्य भी कम्पित होते हैं।[२] दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि वातगतिशब्द, प्रबल सेना और दिव्य अशनि के समान अग्नि को निगृहीत नहीं किया जा सकता।[३] आङ्गिरस सव्य ऋषि का मत है कि इन्द्र के द्वारा की गयी मेघगर्जना से बलवान् द्युलोक भी भय से काँप जाता है।[४] आङ्गिरस कुत्स ऋषि का कथन है कि अग्नि के शब्द से पक्षी भयभीत हो जाते हैं और उसके प्रसन्न अर्थात् विकराल रूप धारण करने पर यवस भक्षण या उस अरण्य में विचरण करने वाले जीव अस्थिर हो जाते हैं।[५] श्यावाश्व ऋषि का कथन है कि पवनों के भयङ्कर शब्द करने पर महान् और वृद्ध पर्वत भयभीत हो जाता है तथा अन्तरिक्ष के उच्च प्रदेश काँप जाते हैं।[६] आत्रेय ऋषि कहते हैं कि पवन के वेगजनित शब्द अमरुत् को कम्पित करते हैं।[७] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि इन्द्र के वज्र के गिराये जाने से उत्पन्न भयङ्कर गर्जना से वह परम (श्रेष्ठ) मेघ विदीर्ण हो जाता है।[८] मेध्यातिथि ऋषि कहते हैं कि मैं बलवान् पवमानदेव की वर्षा के समान ध्वनि को सुनता हूँ।[९] वसुक्र ऐन्द्र ऋषि कहते हैं कि जो मैं करने निश्चय कर लेता हूँ, उसको करने से मुझे न तो युद्ध रोक सकते हैं और न पर्वत। मेरी गर्जना से कम सुनने वाला भी भयभीत हो जाता है तथा सूर्य भी मेरी अनुमति से चलता है।[१०] सिन्धुक्षित् प्रैयमेध ऋषि कहते हैं कि पृथिवी के ऊपर बहने वाली नदी का स्वर आकाश में पहुँचता है और सूर्य की किरणों के बल को पाकर इसका वेग और बढ़ जाता है।[११]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'स्वन' है, जो पवन की गति से उत्पन्न होती है, इस पवन-वेग-जनित ध्वनि को निगृहीत कर सकना सम्भव नहीं है, यह स्वन रूप इन्द्र की ध्वनि जब मेघ से प्रकट होती है, तब द्युलोक भी भय से काँप जाता है, परम (श्रेष्ठ) मेघ विदीर्ण हो जाता है, जब यह स्वन अग्नि से उत्पन्न होती है, तो पक्षी भयभीत एवं अरण्य के जीव विचलित हो जाते हैं, इस ध्वनि की प्रचण्डता इतनी अधिक होती है कि इसकी गर्जना से पर्वत भयभीत और अन्तरिक्ष काँप जाते हैं,

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२८०.

२ ऋ० १.३८.१०. ''अध स्वनान्मरुतां विश्वमा सद्म पार्थिवम्। अरेजन्त प्र मानुषाः।''

३ ऋ० १.१४३.५. ''न यो वराय मरुतामिव स्वनः सेनेव सृष्टा दिव्या यथाशनिः।''

४ ऋ० १.५२.१०. ''द्यौश्चिदस्यामवाँ अहेः स्वनादयोयवीद्भियसा वज्र इन्द्र ते।''

५ ऋ० १.९४.११. ''अध स्वनादुत बिभ्युः पतत्रिणो द्रप्सा यत्ते यवसादो व्यस्थिरन्।''

६ ऋ० ५.६०.३. ''पर्वतश्चिन्महि वृद्धो बिभाय दिवश्चित्सानु रेजत स्वने वः।''

७ ऋ० ५.८७.५. ''स्वनो न वोऽमवान् रेजयद्वृषा त्वेषो ययिस्तविष एवयामरुत्।''

८ ऋ० ६.२७.४. ''वज्रस्य यत्ते निहतस्य शुष्मात्स्वनाच्चिदिन्द्र परमो ददार।''

९ ऋ० ९.४१.३. ''शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः। चरन्ति विद्युतो दिवि।''

१० ऋ० १०.२७.५. ''न वा उ मां वृजने वारयन्ते न पर्वतासो यदहं मनस्ये। मम स्वनात्कृधुकर्णो भयात एवेदनु द्यून्किरणः समेजात्।''

११ ऋ० १०.७५.३. ''दिवि स्वनो यतते भूम्योपर्यनन्तं शुष्ममुदियर्ति भानुना।''

पवमानदेव की पदचाप, वृष्टि की रिमझिम का अनुकरण करती है, यह ध्वनि इतनी प्रचण्ड होती है कि बधिर भी इसको सुनकर भयभीत हो जाता है, नदी के प्रवाह की कलकल ध्वनि आकाश तक पहुँच जाती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तीव्र गर्जना या ध्वनि वेद की दृष्टि में 'स्वन' है। लेकिन उक्त अर्थ की प्रतीति 'स्वन्' धातु से नहीं हो पाती है।

३४. ऋक्

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'ऋक्' पद समाम्नात है।[१] जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है:-''**ऊर्घ वै नामैष। तमृगिति परोक्षमाचक्षते**''[२] कि यह ऊर्घ नाम है। उसको परोक्ष में ऋक् कहा जाता है। सम्भवतः, ऋषि का 'ऊर्घ' से आशय 'ऊर्ज' से प्रतीत होता है। जिसमें बल और प्राण है, वह 'ऋक्' है। इस पक्ष में 'ऊर्घ' शब्द से 'ऋक्' शब्द निष्पन्न होता है।

ऐतरेय आरण्यक का मत है:-''**एष (प्राणः) वा ऋगेष ह्येभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽर्चत**''[३] कि यह प्राण ही ऋक् है, क्योंकि इससे सब भूतों में अर्चना होती है। इस पक्ष में पूजार्थक 'अर्च्' धातु से ऋक्' शब्द व्युत्पन्न होता है।

जैमिनीयोपनिषद् ऋक् का निर्वचन निम्नप्रकार से करती है:-''**अथेमानि प्रजापतिर्ऋक्पदानि शरीराणि सञ्चित्याऽभ्यार्चत्। यदभ्यर्चत् ता एवर्चोऽभवन्**''[४] कि इन शरीररूप ऋक्पदों को सञ्चित करके प्रजापति की स्तुति हुई, इस कारण ये ऋक् कहलाती हैं। इस पक्ष में पूजार्थक 'अर्च्' धातु से ऋक्' शब्द व्युत्पन्न होता है।

आचार्य यास्क ऋक् का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**ऋचामर्चनी**''[५] कि जिससे अर्चना होती है, वह ऋक् है। इस पक्ष में पूर्ववत् 'ऋक्' रूप सिद्ध होता है।

(ख) एक अन्य स्थान पर पुनः ऋक् का निर्वचन करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं:-''**एषर्ग्भवति यदेनमर्चन्ति, प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि**''[६] कि यह ऋक् है, जिससे इसकी अर्चना करते हैं, यह अर्चनीय समस्त भूतों में व्याप्त है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'ऋक्' रूप सिद्ध होता है।

मन्त्र की प्रकारान्तर से व्याख्या करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं:-''**शरीरमत्र ऋगुच्यते यदेनेनार्चन्ति प्रत्यृचः सर्वाणीन्द्रियाणि**''[७] कि यहाँ मन्त्र में शरीर को ऋक् नाम से अभिहित किया गया है, क्योंकि इस शरीर से अर्चना की जाती है और इस ऋक् में समस्त इन्द्रियाँ व्याप्त हैं। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'ऋक्' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'ऋक्' पद का निर्वचन निम्नप्रकार करते हैं:-''**ऋच्यते**

---

१ निघ० १.११.३४.
२ जै०ब्रा०, १०३.३७९.
३ ऐ०आ०, २.२.२.
४ जै०उप०, १.४.१.६.
५ निरु० १.८.
६ निरु० १३.११.
७ निरु० १३.११.

स्तूयतेऽनया''[१] कि इससे स्तुति की जाती है, अतः, वाक् को 'ऋक्' कहते हैं। इस पक्ष में 'ऋच्' धातु से 'ऋक्' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा, स्तूयते स्वयं देवतात्वात्''[२] कि देवता होने से यह वाक् स्वयं अपने द्वारा स्तुत होती है, अतः, यह ऋक् कही जाती है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'ऋच्' धातु से व्युत्पन्न 'ऋच्' पद को नामपद मानता है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची ऋक् पद का मूल 'ऋच्' धातु को मानती है तथा मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं।[४] उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद स्तुति, विशेष रूप से ऐसे मन्त्रों को ऋक् कहा जाता है, जो देवता की स्तुति में उच्चरित किये जाते हैं।[५] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा उक्त यास्कीय निर्वचन को तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने योग्य मानते हैं।[६]

वैदिक साहित्य में 'ऋक्' शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में घोरपुत्र कण्व ऋषि कहते हैं कि रश्मियों से प्रदीप्त अग्नि को हम ऋचाओं से बढ़ाते हैं।[७] दीर्घतमस् ऋषि 'ऋक्' का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस ऋग्वेदादि से प्रतिपादित व्योम सदृश या रक्षा करने वाले परम (उत्कृष्ट) अक्षर (ब्रह्म) में समस्त सूर्यादि प्रकाशमान तारागण तथा पृथिव्यादि लोक स्थित हैं। जो उस परम अक्षर को नहीं जानता, वह ऋचा के शब्दसमूह को पढ़कर भी क्या करेगा? और जो उसको जानता है, वही उत्तम प्रकार से स्थित होता है।[८] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि मन्त्र और अन्तरिक्ष से उत्पन्न होने वाला अग्नि दिव्य है, ये दोनों प्रकार के देवताओं का आह्वाता, सर्वप्रथम पूज्य, विद्वत्तम एवं प्रकृष्ट वपु वाला है, इसकी मन्त्र से अविकल अर्चना होती है।[९] आत्रेय ऋषि कहते हैं कि दीप्तिमान् अग्नि में मन्त्र के साथ हवि दी जाती है।[१०] ऋचाओं के उद्भव को स्पष्ट करते हुए पुरुषसूक्त का ऋषि कहता है कि पुरुष से विराट् और उससे यज्ञ के क्रम में ऋचायें, साम, छन्द तथा यजु प्रकट हुए।[११] यहाँ ऋषि स्पष्टरूप से ऋक् से ऋग्वेद को ग्रहण करता प्रतीत होता है। इस आधार पर ऋग्वेद के मन्त्र ऋक् कहलाने के अधिकारी हैं। अरुण वैतहव्य ऋषि कहते हैं कि ये मति, वाणियाँ, ऋचायें

---

१ निघ०वृ०, १.११.३४.

२ निघ०वृ०, १.११.३४.

३ वै०पद०को०, पृ० १००३.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० १५५.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २२५.

६ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० २३४.

७ ऋ० १.३६.११. ''तस्य प्रेषो दीदियुस्तमिमा ऋचस्तमग्निं वर्धयामसि।''

८ ऋ० १.१६४.३९. ''ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।''

९ ऋ० २.३.७. ''दैव्या होतारा प्रथमा विदुष्टर ऋजु यक्षतः समृचा वपुष्टरा।''

१० ऋ० ५.६.९. ''आ ते अग्न ऋचा हविः शुक्रस्य शोचिषस्पते।''

११ ऋ० १०.९०.९. ''तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।''

और ये उत्तम स्तुतियुक्त वचन हमें सम्यक् प्रकार से प्राप्त हों।[१] कौत्स ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि हे इन्द्र! आप हमारे वर्जनीय कर्मों को क्षीण कर दो और हम ऋचा से ऋचारहित कर्मों को नष्ट करें।[२] कपोत नैर्ऋत ऋषि कहते हैं कि दूर देश में सन्देश लेकर भेजने योग्य कपोत को वाणी से शिक्षित और अन्न से तृप्त करो।[३] ऋत्विक् कर्मों का विनियोग मन्त्र के द्वारा स्पष्ट करते हुए ऋषि बृहस्पति कहते हैं कि इसमें से एक ऋत्विक् देवता आदि का चिन्तन करता हुआ ऋचा का पाठ करता है, एक अन्य शक्वरी ऋचाओं से सामगान करता है, दूसरा एक ब्रह्मा नाम का ऋत्विज् प्रायश्चित्तादि विज्ञान का निर्देश देता है तथा चतुर्थ ऋत्विज् यज्ञ के शेष सम्पूर्ण विधिविधान का पालन करता है।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'ऋक्' है, जो अग्नि को बढ़ाती है, इस ऋक् में परम देव का स्वरूप निहित है, जो उस परम ब्रह्म को नहीं जानता है, उसके लिये ऋचा शब्दसमूह से अधिक कुछ नहीं है, इस ऋक् के माध्यम से दिव्य अग्नियों की अविकल अर्चना होती है, ऋचाओं के माध्यम से देवताओं को आहुति दी जाती है, ये ऋचायें यज्ञपुरुष से प्रकट होती हैं, यहाँ ऋषि स्पष्टरूप से ऋग्वेद के मन्त्रों को 'ऋक्' नाम से अभिहित कर रहा है, ऋग्वेद का ऋषि मति, वाणी, ऋक् और उत्तम स्तुतियुक्त वचनों में भेद करता है, सम्भवतः, इसलिये वह इनका परिगणन पृथक्-पृथक् करता है। इसके अतिरिक्त ऋषि ऋचा के द्वारा अनृच कर्मों को नष्ट करने का आह्वान तथा ऋचा के साथ कपोत को सन्देश प्रेषित करने के लिये कहता है। इसके अतिरिक्त ऋचा से यज्ञकर्म पूर्ण किया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह वाक् 'ऋक्' है, जो अग्नि की वृद्धि अर्थात् यज्ञकर्म को सम्पन्न करती है तथा जिसमें परम ब्रह्म का ज्ञान निहित है। वेद सामान्यतया मन्त्र अर्थ में 'ऋक्' का पाठ करता है।

३५. होत्रा

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'होत्रा' पद परिगणित है।[५] आचार्य देवराजयज्वन् 'होत्रा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**हूयतेऽनया मन्त्ररूपया हविः। हूयतेऽस्यां प्राणः, हूयते वा प्राणः। तथा च-वाचि हि प्राणं जुहुमः प्राणे वा वाचम्**"[६] कि इस मन्त्ररूप वाक् के द्वारा हवि दी जाती है या इसमें प्राणों का होम किया जाता है, अतः, वाक् को 'होत्रा' कहते हैं। उपनिषद् कहती भी है कि वाक् में प्राणों का तथा प्राण में वाक् की हवि दी जाती है। इस पक्ष में 'हु' धातु से 'त्रन्' प्रत्यय होकर 'होत्रा' पद निष्पन्न होता है।

(ख)"यद्वा, होत्रेति यज्ञनाम' हूयतेऽस्मिन् हविरिति यज्ञश्च वागित्युच्यते तत्साध्यत्वात्। वाचं यच्छति वाग्वै यज्ञः'-इति ब्राह्मणम् (ऐ०ब्रा०,५.४.५.४.५.)"[७] कि होत्र यह यज्ञवाचक नाम है। इस यज्ञ में हवि

---

१ ऋ० ४०.९१.१२. "इमा अस्मै मतयो वाचो अस्मदाँ ऋचो गिरः सुष्टुतयः समग्मत।"

२ ऋ० १०.१०५.८. "अव नो वृजिना शिशीह्यृचा वनेमानृचः।"

३ ऋ० १०.१६५.५. "ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयध्वम्।"

४ ऋ० १०.७१.११. "ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो वदति शक्वरीषु।"

५ निघ० १.११.३५.

६ निघ०वृ०, १.११.३५.

७ निघ०वृ०, १.११.३५.

का होम किया जाता है, उस यज्ञ का साध्य होने से वाक् को 'होत्रा' कहते हैं। ब्राह्मण का कथन है कि वाग्दान करने के कारण वाक् ही यज्ञ है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

आचार्य सायण 'होत्रा' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**हूयतेऽस्यामिति होत्रा देवता**''[१] कि जिसमें हवि दी जाती है, वह होत्रा है। इस पक्ष में 'हु' धातु से 'त्रन्' प्रत्यय होकर 'होत्रा' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'होत्रा' पद को होतृकर्मन् तथा होतृवाचक नामपद मानता है। कोशकार के मत में उक्तपद 'हु' (ह्वे) शब्दे अथवा 'हु' दानादानयोः' धातु से व्युत्पन्न है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'होत्रा' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स 'होत्रा' पद दो मानते हैं, इनमें से प्रथम 'हु' धातुमूलक तथा द्वितीय 'ह्वे' धातुमूलक है। उनके अनुसार प्रथम 'होत्रा' का तात्पर्य पुरोहित का कार्य है, जबकि द्वितीय का आशय आह्वान है।[४]

वैदिक साहित्य में उक्त दोनों प्रकार के 'होत्रा' पद देखने को मिलते हैं। एक का सम्बन्ध होमसाधनों से है, जबकि द्वितीय स्पष्टरूप से वाग्वाचक है। प्रस्तुत प्रकरण में वाग्वाचक 'होत्रा' पद का अध्ययन किया जा रहा है। ऋग्वेद में मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि हमारी स्तुतिरूपा वाक् सन्तुष्ट करने के लिये देवों के समीप जाती है।[५] एक अन्य सूक्त में मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि हे युवतम अग्ने! इस पृथिवी पर रक्षा करने के लिये आह्वान करने वाली वरणीया भारती वाक् को लेकर आओ।[६] राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि हे यजनीय अग्ने! आप आह्वान एवं पवित्र करने वाली वाक् की कामना करते हो और प्रयत्नपूर्वक वसुओं को प्राप्त करने वाले के मार्ग को प्रशस्त करते हो।[७] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि हे अश्विनीदेवो! तुम्हें कौन-सी वाणी प्रसन्न करती है, कौन तुम्हारे गुणों को अच्छी प्रकार जानता है और तुम्हारे महत्त्व से अपरिचित किस प्रकार तुम्हारी सेवा कर सकता है?[८] परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! हम गुणों को ज्ञापित करते हुए होम की साधनभूत वाक् के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते हैं।[९] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि पवित्र एवं आह्वान करने वाली भारती वाणी देवताओं और मरुतों में समर्पित है।[१०] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! तुम देने के लिये अदिति, होत्रा, भारती और गी इन चारों प्रकार की वाणियों से अपने को बढ़ाते हो।[११] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे जातवेद अग्ने! जिस प्रकार आपने पृथिवीस्थित वाक् और जानते हुए अन्तरिक्षस्थविज्ञान की सङ्गति लगायी है,

---

१ ऋ० १.१८.८.
२ वै०पद०को०, पृ० ३६०६.
३ ऋ०वै०पद०, पृ० ६१५.
४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १३०६, १३०८.
५ ऋ० १.१८.८. ''होत्रा देवेषु गच्छति।''
६ ऋ० १.२२.१०. ''आ ग्ना अग्न इहावसे होत्रां यविष्ठ भारतीम्। वरूत्रीं धिषणां वह।''
७ ऋ० १.७६.४. ''वेषि होत्रमुत पोत्रं यजत्र बोधि प्रयन्तर्जनितर्वसूनाम्।''
८ ऋ० १.१२०.१. ''का राधद्धोत्राश्विना वां को वां जोष उभयोः। कथा विधात्यप्रचेताः।''
९ ऋ० १.१२९.७. ''वनेम तद्धोत्रया चितन्त्या वनेम रयिं रयिवः सुवीर्यं रण्वं सन्तं सुवीर्यम्।''
१० ऋ० १.१४२.९. ''शुचिर्देवेष्वर्पिता होत्रा मरुत्सु भारती।''
११ ऋ० २.१.११. ''त्वमग्ने अदितिर्देव दाशुषे त्वं होत्रा भारती वर्द्धसे गिरा।''

उसी प्रकार की हवि से देवों के साथ सङ्गति स्थापित करो।[१] अग्नि सौचीक ऋषि कहते हैं कि हम इस समय वाणी के उस मुख्य भाग का उच्चारण करते हैं, जिससे देवता असुरों को अभिभूत करते हैं। अग्निदेव कहते हैं कि ऊर्जाद और यज्ञ करने वाले पाँच वर्ण मेरी वाणी का सेवन करें।[२] अग्रिम मन्त्र में पुनः ऋषि कहते हैं कि पृथिवी पर उत्पन्न होने वाले यज्ञीय पञ्चजन मेरी (अग्निदेव की) वाणी का सेवन करें।[३] गयप्लात ऋषि कहते हैं कि सब पदार्थों के नामों और व्यवहारों को बताने वाली वाक् समस्त वरणीय पदार्थों को व्याप्त कर रही है, वह उत्तम रीति से ज्ञान देती है।[४] एक अन्य सूक्त में गयप्लात ऋषि कहते हैं कि समिद्ध अग्नि वाला (बुद्धिमान्) मनुष्य मन सहित सात होताओं (२ कर्ण, २ चक्षु, २ नासिका और एक मुख इन) के द्वारा जिनसे सर्वप्रथम लेने और देने योग्य व्यवहार रूप विद्या (वाणी) को सीखता है, वे आदित्य के समान प्रकाश देने वाले विद्वान् अभययुक्त सुख प्रदान करें।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'होत्रा' है, जो देवों को सन्तुष्ट करने के लिये उनके पास जाती है, उनका आह्वान करती है एवं पवित्र करने वाली है, इन्द्र के गुणों को जानने वाली यह होमसाधनभूता वाक् है, यह पृथिवी और अन्तरिक्ष के विज्ञान को धारण करती है। ऋषि ने अनेकशः इसका उल्लेख भारती के विशेषण के रूप में किया है, इसके उच्चारण से देवता असुरों को अभिभूत कर सकने में समर्थ होते हैं तथा यह समस्त प्रजाजनों के लिये सेवनीय है। इसके अतिरिक्त ऋषि ने इस 'होत्रा' को वाक् के समस्तरूपों को समाहित या प्रतिनिधित्व करने वाले के रूप में प्रतिपादित किया है। इस रूप में वह सब नामों और व्यवहारों में प्रयुक्त होती है और उत्तम रीति से ज्ञान देती है। इसकी शिक्षा सात होताओं (२ कर्ण, २ चक्षु, २ नासिका और एक मन) के माध्यम से प्राप्त होती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह वाक् का क्षेत्र 'होत्रा' है, जिसका प्रयोग व्यवहार में होता है। इसके साथ-साथ यह देवताओं के आह्वान और होम में भी प्रयुक्त होती है। इस दृष्टि से 'हु' और 'ह्वे' दोनों धातुयें 'होत्रा' पद का मूल प्रतीत होती हैं। सम्भवतः, ये एक न होकर, दो भिन्न पद हैं, प्रथम 'हु' और द्वितीय 'ह्वे' धातुमूलक। रूपसाम्य के कारण कालान्तर में दोनों एक मान लिये गये हैं। लेकिन वाङ् वाचक 'होत्रा' पद के 'हु' धातुमूलक होने की सम्भावना अधिक है। इसका कारण यह है कि यह वाक् व्यवहार और यज्ञमूलक अधिक है और व्यवहार और यज्ञ दान और आदानमूलक होते हैं।

३६. गीः

निघण्टुकोष के वाङ्वाचक नामपदों में 'गीः' पद समाम्नात है।[६] आचार्य यास्क 'गिर्' शब्द का

---

१ ऋ० ३.१७.२. "यथायजो होत्रमग्ने पृथिव्या यथा दिवो जातवेदश्चिकित्वान्।"

२ ऋ० १०.५३.४. "तदद्य वाचः प्रथमं मंसीय येनासुराँ अभि देवा असाम। ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम्।"

३ ऋ० १०.५३.५. "पञ्च जना मम होत्रं जुषन्तां गोजाता उत ये यज्ञियासः।"

४ ऋ० १०.६४.१५. "वि षा होत्रा विश्वमश्नोति वार्यं बृहस्पतिररमतिः पनीयसी।"

५ ऋ० १०.६३.७. "येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।"

६ निघ० १.११.३६.

निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**गिर: स्तुतय:। गिरो गृणाते:**''[१] कि 'गिर्' शब्द स्तुतिवाचक है। इससे स्तुति की जाती है, अत:, यह वाक् 'गिर्' कहलाती है। इस पक्ष में स्तुति अर्थ वाली 'गृ' धातु से 'गिर्' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(ख)''**गिरा गीत्या स्तुत्या**''[२] कि गेय स्तुतियाँ 'गिर्' नाम से अभिहित होती हैं। इस पक्ष में स्तुत्यर्थक 'गृ' धातु से 'गिर्' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'गिर्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**गृणातिरर्चतिकर्मा** (निघ०,३.१४.६)। **गृणात्यनया गी:**''[३] कि इससे स्तुति की जाती है, अत:, वाक् को 'गिर्' कहते हैं। वेद के अनेक उद्धरणों से उक्त निर्वचन की पुष्टि हो जाती है।[४]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गृ' या 'गॄ' शब्दे' धातु से निष्पन्न 'गिर्' शब्द को स्तोतृ, स्तुति, वाग्वाचक नामपद मानता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'गृ' या 'गॄ' धातु को 'गी' पद का मूल मानती है।[६] मोनियर विलियम्स 'गृ' धातु से उक्त पद को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद स्तुति और आह्वान अर्थ में प्रयुक्त होता है। वे ऋग्वेद के आधार पर मरुतों को 'स्तुति की सन्तान' बतलाते हैं।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा उक्त यास्कीय निर्वचन को तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा स्वीकार्य मानते हैं।[८]

वैदिक साहित्य में 'गी:' पद का व्यापक प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि असत्य का सेवन न करने वाले अश्विनीदेवों की वृद्धि को प्राप्त दानक्रिया, विविध विद्वानों में आश्रय प्राप्त करने वाली वाणी एवं अन्न हमें प्राप्त हो।[९] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि हे मरुतो! यह सोम आपके लिये है। विशेष स्तुति रचकर प्रसन्न होने वाले माननीय स्तोता की यह वाणी है, इसको सुनकर इच्छा के साथ यहाँ आओ।[१०] एक अन्य मन्त्र में अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि हवि से युक्त, सिञ्चन करने वाले महान् मरुतों (मनुष्यों) की वाणी स्तुति करती है।[११] पुन: अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि हे विधाता अश्विनीदेवो! आपके व्यवहार के लिये यह क्षरित होती हुई स्थविर अर्थात् नित्य वेदवाणी तीन प्रकार की रची गयी है।[१२] घोरपुत्र

---

१ निरु० १.१०.

२ निरु० ६.२४.

३ निघ०वृ०, १.११.३६.

४ ऋ० १९.९; ४.१०.४; ५.८.४; ६.१५.७; ६.३४.३; ६.४४.१३; ८.४६.३; ५४.१; ९३.१०; १०.९२.१४.

५ वै०पद०को०, पृ० १२३१.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० १८७.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३५५.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० २३१.

९ ऋ० १.११७.१. ''बर्हिष्मती रातिर्विश्रिता गीरिषा यातं नासत्योप वाजै:।''

१० ऋ० १.१६५.१५. ''एष व: स्तोमो मरुत इयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारो:।''

११ ऋ० १.१६५.१५. ''महश्चिदस्य मीळ्हुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गी:।''

१२ ऋ० १.१८७.७. ''असर्जि वां स्थविरा वेधसा गीर्बाळ्हे अश्विना त्रेधा क्षरन्ती।''

कण्व ऋषि कहते हैं कि वे वाणी से उत्पन्न होने वाले मरुत् मार्गों में जलों को फैला देते हैं।[१] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि अश्विनीदेवो! आपके दीप्यमान रूप को बतलाने वाली वाणी तीन वृद्धों वाले सदन में मनुष्यों को आप्यायित करती है।[२] वसिष्ठ ऋषि विष्णु का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उत्तम प्रकार से स्तुत हमारी वाणियाँ आपके यश को फैलायें तथा आप निरन्तर कल्याण की वर्षा करते रहें।[३] कण्वपुत्र नारद कहते हैं कि सदा वृद्धिशील इन्द्र के लिये हमारी वाणी बढ़े अर्थात् उसके परमयश की वृद्धि करने वाली हो।[४] त्रित ऋषि कहते हैं कि इन्द्र के समान दीप्तिमान् एवं सबमें वास करने वाले अग्नि को वेदमन्त्र और अन्नादि से तृप्त करो।[५] विवाह प्रकरण में कन्या का पिता समस्त धनों के स्वामी तथा सबको बसाने वाले सोम की विनम्र वाणी से स्तुति करता है।[६] शार्यात मानव ऋषि कहते हैं कि संसार में भय से रहित प्रजाओं में निवास करने वाले एवं स्वयं यशस्वी अग्नि की हम मन्त्रों से स्तुति करते हैं।[७] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि वाक् ही गिर् है।[८] यह गिर् ही विश अर्थात् प्रजायें हैं।[९] ऋषि के कहने का आशय यह प्रतीत होता है कि प्रजा की वाणियाँ ही गिर् हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'गिर्' है, जो विद्वानों में आश्रित है, यह एक ऐसी वाक् है, जिसे प्राप्त करके विशिष्ट स्तोता प्रसन्न होता है, इस वाक् का उपयोग उस समय होता है, जब इन्द्र वर्षा कर रहे होते हैं या फिर घृत से अग्नि को सिञ्चित किया जा रहा होता है, यह वाक् स्थविर (नित्य) और तीन प्रकार की है, इसका उपयोग वाणीपुत्र मरुत् करते हैं, विद्यावृद्ध विद्वानों वाले सदन में यह मनुष्यों को आप्यायित करती है, ये वाणियाँ विष्णु और इन्द्र के यश को प्रख्यापित करती हैं, इस वाक् के उच्चारण से अग्निदेव प्रसन्न होते हैं और यह सोम की स्तुति में प्रयुक्त की जाती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह वाक् 'गिर्' है, जो प्रमुखरूप से यज्ञ के अवसर पर प्रयुक्त की जाती है, इसका स्वरूप स्तुत्यात्मक, धीर और गम्भीर है। इस दृष्टि से देखने पर उक्त 'गिर्' शब्द के निर्वचन समीचीन प्रतीत होते हैं और हम स्तुत्यर्थक 'गृ' या 'गॄ' धातु को उक्त पद का मूल मान सकते हैं।

३७. गाथा

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'गाथा' नामपद परिगणित है।[१०] आचार्य देवराजयज्वन् 'गाथा'

---

१ ऋ० १.३७.१०. ''उदु त्ये सूनवो गिरः काष्ठा अज्मेष्वतत्नत। वाश्रा अभिज्ञु यातवे।''

२ ऋ० १.१८१.८. ''उत स्या वां रुशतो वप्ससो गीस्त्रिबर्हिषि सदसि पिन्वते नॄन्।''

३ ऋ० ७.१००.७. ''वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।''

४ ऋ० ८.१३.१८. ''तमिद्वर्धन्तु नो गिरः सदावृधम्।''

५ ऋ० १०.६.५. ''तमुस्रामिन्द्रं न रेजमानमग्निं गीर्भिर्नमोभिरा कृणुध्वम्।''

६ ऋ० १०.८५.२१. ''उदीर्ष्वातः पतिवती ह्येऽ३षा विश्वावसुं नमसा गीर्भिरीळे।''

७ ऋ० १०.९२.१४. ''विशामासामभयानामधिक्षितं गीर्भिरु स्वयशसं गृणीमसि।''

८ शत०ब्रा०, ७.२.२.५. ''वाग्वै गीः।''

९ शत०ब्रा०, ३.६.१.२४. ''विशो गिरः।''

१० निघ० १.११.३७.

पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"गायतीत्यसौ देवता:, गायन्ति तामिति वा गाथा"[१] कि इसको देवता गाते हैं अथवा उसको गाकर कहा जाता है, अत:, वाक् 'गाथा' कहलाती है। इस पक्ष में 'गै' शब्दे' धातु से 'थन्' प्रत्यय होकर 'गाथा' रूप सिद्ध होता है। उणादिकोष इसी प्रकार 'गाथा' शब्द को व्युत्पन्न करने के पक्ष में है।[२] वेद से उक्त निर्वचन का समर्थन हो जाता है।[३]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गै' धातु से निष्पन्न 'गाथा' पद को नामपद मानता है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार भी 'गाथा' का मूल 'गै' धातु है।[५] मोनियर विलियम्स भी उक्त निर्वचन से सहमत हैं। उनके अनुसार यह ऋग्वेद में गीत के अर्थ में आया है। यह ऐसा गीत है, जिसका सम्बन्ध वेद से नहीं है।[६]

वैदिक साहित्य में 'गाथा' पद का प्रयोग बहुत अधिक नहीं हुआ है। ऋग्वेद में अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि सत्कारयुक्त, आज्यादि हवि से सम्पन्न (या देने और ग्रहण करने योग्य विद्या से युक्त), अभिषुत सोम वाला यजमान मरुतों के लिये स्तोत्र का गान करता है।[७] मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि विविध विद्या उपार्जनशील मेधावीजन विद्या से प्राप्त आनन्द में गाते हुए इन्द्र के कृत्यों का वर्णन करते हैं।[८] सुदीति ऋषि सर्वव्यापक तेज वाले अग्नि की गाथा के माध्यम से स्तुति करने के लिये कहते हैं।[९] नृमेध ऋषि कहते हैं कि वाणी से युक्त, सुखप्रापक, इन्द्र (जीव) के वाहनभूत दो अश्व इस अमूल्य देह में सर्वप्रेरक इन्द्र की स्तुति या माहात्म्य के द्वारा संयुक्त हैं।[१०] असित काश्यप ऋषि कहते हैं कि विश्वम्भर, बलवान्, द्युलोक तक का स्पर्श कर सकने वाले, गतिशील सोम की गाकर अर्चना करो।[११] काश्यप ऋषि कहते हैं कि हम उस पवित्र करने वाले सोम की पुराणी (वेद) वाणी द्वारा स्तुति करते हैं।[१२] सूर्या सावित्री ऋषिका कहती हैं कि नववधू के वस्त्र कल्याणकारी हैं, क्योंकि वे गेय मन्त्रों से परिष्कृत हैं।[१३] मैत्रायणी-संहिता कहती है कि विवाह के समय गाथा गायी जाती है।[१४] तैत्तिरीय-संहिता में गाथा, नाराशंसी और रैभी का एक साथ उल्लेख हुआ है।[१५] इससे

---

१ निघ०वृ०, १.११.३७.
२ उणा०, २.४. "उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन्।"
३ ऋ० १.१६७.६; सा०पू०, ४.१०.१०; सा०उ०, १११३.
४ वै०पद०को०, पृ० १२४६.
५ ऋ०वै०पद०, पृ० १८५.
६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३५५.
७ ऋ० १.१६७.६. "अर्को यद्वो मरुतो हविष्मान्गायद्गाथं सुतसोमो दुवस्यन्।"
८ ऋ० ८.३२.१. "प्र कृतान्यृजीषिण: कण्वा इन्द्रस्य गाथया। मदे सोमस्य वोचत।"
९ ऋ० ८.७१.१४. "अग्निमीळिष्वावसे गाथाभि: शीरशोचिषम्।"
१० ऋ० ८.९८.९. "युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे। इन्द्रवाहा वचोयुजा।"
११ ऋ० ९.११.४. "बभ्रवे नु स्वतवसेऽरुणाय दिविस्पृशे। सोमाय गाथमर्चत।"
१२ ऋ० ९.९९.४. "तं गाथया पुराण्या पुनानमभ्यनूषत।"
१३ ऋ० १०.८५.६. "सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम्।"
१४ मै०सं० ३.७.३. "विवाहे गाथा गीयते।"
१५ तै०सं० ७.५.११.२. "गाथाभ्य: स्वाहा नाराशंसीभ्य: स्वाहा, रैभीभ्य: स्वाहा।"

यह सिद्ध होता है कि ये तीनों लगभग एक जैसी विधायें हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'गाथा' है, जो मरुतों (मनुष्यों) के द्वारा गायी जाती है, इसमें मेधावीजन इन्द्र के कृत्यों का वर्णन करते हैं, रक्षा के लिये इससे गाते हुए अग्नि की स्तुति एवं सोम की अर्चना की जाती है, पर ऋषि इस वाक् को पुराणी नाम से सम्बोधित करता है। सम्भवतः, गाथा में कही जाने वाली कथावस्तु और उसका शब्द विन्यास काल की दृष्टि से प्राचीन होता होगा, इसके गानमात्र से वातावरण और वस्तु पवित्र हो जाती हैं, इसलिये ब्राह्मण इसे विवाह के अवसर पर गाये जानी वाली बतलाता है। इसके अतिरिक्त ऋषि गाथा को शरीररूपी रथ को जोड़ने वाला भी बतलाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह वाक् 'गाथा' है, जो कथाप्रधान होने के साथ-साथ गाकर कही जाती है। गेयता को दृष्टि में रखते हुए वाणी की यह विधा 'गाथा' से नाम से अभिहित हुई है, यह स्वीकार किया जा सकता है। इस दृष्टि से उक्त निर्वचन पूर्णरूप से समीचीन माना जा सकता है।

३८. गणः

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'गण' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क 'गण' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**गणो गणनात्**"[२] कि गणनीय होने से यह 'गण' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'गण्' धातु से 'गण' शब्द उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् भी गणनार्थक 'गण्' धातु को 'गण' पद का मूल मानते हुए निम्न निर्वचन करते हैं:-"**गण्यते या गणः**"[३] कि गणनीय होने से वाक् 'गण' कही जाती है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गण' पद को समूह वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। प्रायः विद्वान् 'गण' सङ्ख्याने से व्युत्पन्न मानते हैं, लेकिन वाटरबुश 'गर्' सङ्घाते' से मानने के पक्ष में हैं।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं।[५] मोनियर विलियम्स के अनुसार यह पद ऋग्वेद में समूह, सैन्यदल, समुदाय, वर्ग, जनसाधरण, समर्थकों के समूह अर्थ में आया है।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि इसे भारोपीय भाषा के 'gern' एकत्र करना तथा ग्रीक 'agaeiro' के सङ्ग्रह करना अर्थ के साथ सम्बद्ध माना जा सकता है। उनके अनुसार उक्त निर्वचन के तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के द्वारा स्वीकार किये जाने की सम्भावना है।[७]

वैदिक साहित्य में 'गण' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। लेकिन जैसा 'गण' शब्द स्वयं समूह या

---

१ निघ० १.११.३८.

२ निरु० ६.३६.

३ निघ०वृ०, १.११.३८.

४ वै०पद०को०, पृ० १२११.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० १८४.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३४३.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ६९.

समुदाय अर्थ को अभिव्यक्त करता है, उसी अर्थ में इसका सर्वत्र ऋग्वेद में प्रयोग देखने को मिलता है।[१] ऋग्वेद अनेकशः 'गण' के साथ 'मारुत' का प्रयोग करता है।[२] ब्राह्मण कहता है कि मरुत् गणों के अधिपति हैं।[३] इससे यह सिद्ध होता है कि यह वाग्वाचक नहीं है। आचार्य देवराजयज्वन् भी '**निगमोऽन्वेषणीयः**' कहते हैं।[४] इस आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वेद में इस पद का वाक् के अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है।

३९. धेना

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'धेना' पद परिगणित है।[५] आचार्य यास्क 'धेना' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-''**धेना दधातेः**'[६] कि यह धारण करती है, अतः, यह धेना नाम से अभिहित होती है। आचार्य दुर्ग प्रस्तुत प्रकरण में 'धेना' पद का अर्थ 'दंष्ट्रा' और 'उपजिह्विका' मानते हैं।[७] लेकिन 'वाक्' अर्थ भी सङ्गत हो जाता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'धेना' पद का निर्वचन निम्नप्रकार से करते हैं:-''**धेना दधातेः। स्वमभिधेयं वर्षप्रदानेन लौकिकाय वा**''[८] कि अपने अभिधेय को वर्षा प्रदान करने अथवा लौकिक अर्थ को धारण करने से यह 'धेना' वाक् कहलाती है। इस पक्ष में 'धा' धातु से 'शानच्' प्रत्यय होकर 'धेना' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, 'धेट्' पाने'। धयन्ति तामिति धेना**''[९] कि यह उसका पान कराती है, अतः, यह वाक् 'धेना' नाम से अभिहित होती है। इस पक्ष में पानार्थक 'धे' धातु से औणादिक 'न' प्रत्यय होकर 'धेना' पद उपपन्न होता है। आचार्य सायण इसी प्रकार धेना' पद का निर्वचन करते हैं:-''**धयन्ति तामिति धेना वाक्**''।[१०] उणादिकोष के अनुसार भी 'धेना' पद का मूल पानार्थक 'धेट्' धातु है।[११]

(ग)''**यद्वा, आस्वादः। धीयते पीयते आस्वाद्यते वानेन, धयन्ति प्राणमिति वा धेना**''[१२] कि इसके द्वारा पान किया जाता है या यह वाक् प्राणों का पान करती है, अतः, यह धेना कहलाती है। इस पक्ष में भी

---

१ ऋ० १.६.८; १४.३; २३.७; ३८.१५.

२ ऋ० ५.५८.१; ६१.१३; ६.१६.२४; ८.९४.१२.

३ तै०सं० ३.४.५.१. ''मरुतो गणानामधिपतयः।''

४ निघ०वृ०, १.११.३८.

५ निघ० १.११.३९.

६ निरु० ६.१७.

७ निघ०वृ०, १.११.३९.

८ निघ०वृ०, १.११.३९.

९ निघ०वृ०, १.११.३९.

१० ऋ० ३.३४.३.

११ उणा०, ३.११. ''धेट इच्च।''

१२ निघ०वृ०, १.११.३९.

पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

(घ)''**यद्वा, 'धिवि' प्रीणनार्थः'। प्रीणयति हि वाक् सुष्ठु प्रयुक्ता**''[१] कि यह उत्तम प्रकार से प्रयुक्त होने पर तृप्त करती है, अतः, यह 'धेना' कही जाती है। इस पक्ष में 'धिन्व्' धातु से 'न' प्रत्यय होकर 'धेना' रूप सिद्ध होता है। इस निर्वचन का समर्थन आचार्य माधव भी करते हैं:-''**धेना वाक् प्रीणनाद्धि वा**''।[२]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'धेना' पद को स्त्रीलिङ्ग नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'धेना' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स 'धेना' पद को 'धे' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार कोशकारों के मत में उक्त पद समुद्र या नदी का वाचक है। ऋग्वेद में यह दुधारु गाय, गो दुग्ध से निर्मित पेय के अर्थ में आया है।[५]

वैदिक साहित्य में 'धेना' पद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि प्रत्येक का स्पर्श करने वाली वायु स्वरित होती हुई, देने के लिये सबके पास जाती है।[६] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि कामनाओं की वर्षा करने वाला इन्द्र आगे बढ़ने की इच्छा रखने वाले का मार्ग प्रशस्त करता है तथा कल्याण करने वाली वाणी को प्रेरित करता है।[७] दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि यह अग्नि का तेज बुद्धि को प्रेरित करता है, है, लोक कल्याणकारी कर्म को सिद्ध करता है तथा समान मार्ग का अवलम्बन करने वाली वाणियाँ सत्य व्यवहार तक ले जाती हैं।[८] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि जलप्रदेश वाले पिता अन्तरिक्ष को अग्नि जन्म से स्वयं जानता है। इसके अतिरिक्त यह अग्नि जलधारा का सृजन तथा माध्यमिका वाक् का विसर्जन करता है।[९] एक अन्य मन्त्र में विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि शत्रुवध की कामना वाले इन्द्र ने वनों में विगत अंस करके वृत्र का वध और उसके पश्चात् रमणीय रात्रियों में वाणियों को प्रकट किया।[१०] वामदेव ऋषि कहते हैं कि अन्तर्हदय और मन को पवित्र करती हुई वाणी नदी के समान प्रवाहित होती है।[११] आत्रेय ऋषि कहते हैं कि दिन के मध्य में मित्रावरुण सम्पूर्ण वाणियों को तृप्त करते हैं, इसी कारण पवित्र व्यवहार आचरण में आते हैं।[१२] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि रक्षा की कामना से उत्तम प्रकार से प्रारम्भ की गयी हवियुक्त स्तुति को इन्द्र

---

१ निघ०वृ०, १.११.३९.

२ निघ०वृ०, १.११.३९.

३ वै०पद०को०, पृ० १७४१.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० २७७.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५२०.

६ ऋ० १.२.३. ''वायो तव प्रपृञ्चती धेना जिगाति दाशुषे। उरूची सोमपीतये।''

७ ऋ० १.५५.४. ''वृषा छन्दुर्भवति हर्यतो वृषा क्षेमेण धेनां मघवा यदिन्वति।''

८ ऋ० १.१४१.१. ''यदीमुप ह्वरते साधते मतिर्ऋतस्य धेना अनयन्त सस्रुतः।''

९ ऋ० ३.१.९. ''पितुश्चिदूधर्जनुषा विवेद व्यस्य धारा असृजद्विधेनाः।''

१० ऋ० ३.३४.३. ''अहन्व्यंसमुशधग्वनेष्वाविर्धेना अकृणोद्राम्याणाम्।''

११ ऋ० ४.५८.६. ''सम्यक्स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।''

१२ ऋ० ५.६२.२. ''विश्वा पिन्वथः स्वसरस्य धेना अनु वामेकः पविरा ववर्त।''

और अग्नि में प्रेरित करो।[१] मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि अति दूरस्थ स्थितियों और सभी वर्णों को अतिक्रान्त करके स्तुति की कामना से इन्द्र पहुँच जाता है।[२] कृष्ण ऋषि कहते हैं कि कामनाओं की वर्षा करने वाला मघवा प्रत्येक प्राणी में विराजमान रहता है और उनकी स्तुति को देखता है।[३] अष्टक ऋषि कहते हैं कि कर्म से स्तुत होता हुआ इन्द्र समस्त वाणियों से प्रसन्न होता है।[४] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि प्रबल कर्म करने वाला इन्द्र बार-बार आह्वान किये जाने पर प्रशस्त वाणी से स्तुत होता है।[५] ब्राह्मण 'धेना' को बृहस्पति की पत्नी बतलाता है।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'धेना' है, जो वायु के साथ गमन करती है, यह वाक् कल्याण करने वाली है, अग्नि के तेज से प्रदीप्त बुद्धि लोकमङ्गल में संलग्न होती है, उस समय समान मार्ग का अवलम्बन करने वाली वाणियाँ सत्य व्यवहार को सिद्ध करती हैं, यह वर्षा के समय विद्युत् गर्जना के रूप में प्रकट होती है, अन्तर्हृदय और मन को पवित्र करने वाली यह नदी के समान प्रवाहित होती है, इसको पाकर या पान करके पवित्र व्यवहार आचरण में आता है, इसके द्वारा पुकारे जाने पर इन्द्र लम्बी दूरी को लाँघकर तत्काल उपस्थित हो जाता है, धेना से की गयी स्तुति को इन्द्र प्रत्येक प्राणी में विराजमान रहकर देखता है। इसके अतिरिक्त कर्म करने वाली वाणी से इन्द्र तृप्त होता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद में वह वाक् प्रमुख रूप से 'धेना' मानी गयी है जिसमें इन्द्र को आकर्षित करने की क्षमता है, इन्द्र के आगमन और इस वाणी के प्रभाव से हृदय और मन पवित्र हो जाता है। अतः, कल्याण का इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति इसका पान करना चाहता है। इस दृष्टि से पानार्थक 'धेट्' धातु 'धेना' पद का मूल प्रतीत होती है।

४०. ग्ना

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'ग्ना' पद समाम्नात है।[७] शतपथ-ब्राह्मण कहता है:- "**छन्दांसि वै ग्नाश्छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति**"[८] कि छन्द ग्ना कहलाते हैं, क्योंकि छन्दों से स्वर्गलोक प्राप्त होता है। इस पक्ष में 'गम्' धातु से 'ग्ना' रूप सिद्ध होता है।

---

१ ऋ० ७.९४.४. "इन्द्रे अग्ना नमो बृहत्सुवृक्तिमेरयामहे। धिया धेना अवस्यवः।"

२ ऋ० ८.३२.२२. "इहि तिस्रः परावतः इह पञ्च जनाँ अति। धेना इन्द्रावचाकशत्।"

३ ऋ० १०.४३.६. "विशंविशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद्वृषा।"

४ ऋ० १०.१०४.३. "इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः।"

५ ऋ० १०.१०४.१०. "वीरेण्यः क्रतुरिन्द्रः सुशस्तिरुतापि धेना पुरुहूतमीट्टे।"

६ मै०सं० १.९.२. काठ०सं० ९.१०. गो०ब्रा०, २.२.९. तै०आ०, ३.९.१. "धेना बृहस्पतेः (पत्नी गो०ब्रा०)।"

७ निघ० १.११.४०.

८ शत०ब्रा०, ६.५.४.७.

आचार्य यास्क 'ग्ना' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**ग्ना: गच्छन्त्येना:**''[१] कि मैथुन धर्म से पुरुषों के साथ सङ्गत होती हैं, अत:, स्त्रियाँ 'ग्ना' कहलाती हैं। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है। ऐसा ही निर्वचन वे एक स्थान पर और करते हैं:-''**ग्ना गमनात्**''।[२] आचार्य सायण भी इसी प्रकार का निर्वचन करते हैं:-''**गम्यन्त इति ग्ना:**''[३]

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'ग्ना' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**गम्'। गत्यर्था: बुद्ध्यर्था:। जानन्ति काममिति ग्ना:**''[४] कि 'गम्' धातु ज्ञानार्थक होती है। काम को जानने के कारण वाक् ग्ना कहलाती है। इस पक्ष में 'गम्' धातु से 'न' प्रत्यय होकर 'ग्ना' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा, गच्छति यज्ञेष्वभूत्। 'छन्दांसि वै ग्ना:' इति ब्राह्मणम्-इति माधव:। तस्मात् छन्दसां गायत्र्यादीनां वाग्रूपत्वात् ग्नाव्यपदेश:''[५] कि यह यज्ञ में जाती है अर्थात् इसका प्रयोग यज्ञ में होता है। ब्राह्मण कहता है कि छन्द (मन्त्र) ही ग्ना है। इस कारण गायत्री आदि मन्त्र वाग्रूप होने से 'ग्ना' नाम से व्यपदिष्ट होते हैं। इस पक्ष में 'गम्' धातु से 'न' प्रत्यय होकर 'ग्ना' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'ग्ना' पद को स्त्री तथा वेङ्कट प्रभृति देवपत्नी वाचक नामपद मानते हैं। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। पेटरसन, ग्रासमैन प्रभृति 'जन्' धातु से उक्तपद को व्युत्पन्न मानते हैं।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'ग्ना' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स 'ग्ना' पद का मूल 'जन्' धातु मानने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पत्नी, दिव्य स्त्री, एक प्रकार की देवी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[८]

वैदिक साहित्य में 'ग्ना' पद का पर्याप्त उल्लेख देखने को मिलता है। ऋग्वेद में गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि वृत्र का वध करने पर इस इन्द्र के लिये ही देवपत्नी (देवों को पालन करने वाली) ग्ना (वाणी) स्तोत्र को बुनती है।[९] दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि त्वष्टा देव ने भक्षणीय स्वादिष्ठ (सरस) वाणी को (नाम-आख्यात-उपसर्ग-निपात) चार भागों में विभक्त करके स्थापित किया है।[१०] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि अग्निदेव सेवा करने वाले के अज्ञान का नाश, उत्तम पराक्रम एवं मित्रों का सत्कार करने वाली वाणी देते हैं।[१]

---

१ निरु० ३.२१.
२ निरु० १०.४७.
३ ऋ० १.२२.१०.
४ निघ०वृ०, १.११.४०.
५ निघ०वृ०, १.११.४०.
६ वै०पद०को०, पृ० १२६४.
७ ऋ०वै०पद०, पृ० १९३.
८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३७०.
९ ऋ० १.६१.८. ''अस्मा इदु ग्नाश्चिद्देवपत्नीरिन्द्रायार्कमहिहत्य ऊवुः।''
१० ऋ० १.१६१.४. ''यदावख्यच्चमसाञ्चतुरः कृतानादित्त्वष्टा ग्नास्वन्तर्यानजे।''

हैं।[१] एक अन्य मन्त्र में गृत्समद ऋषि कहते हैं कि दानादि गुणों से युक्त, भूतजात के लिये सेवनीय त्वष्टा देव (अज्ञान विनाशक) वाणियों के साथ हमारे जीवन रूपी रथ को प्रेरित करते हैं।[२] वामदेव ऋषि कहते हैं कि गृहपति यजमान की अध्वर की अग्नि में ग्ना (वाणी) यजन करती है, उस समय ब्रह्मा केवल आसीन रहता है।[३] अत्रि ऋषि कहते हैं कि जिसे हमने नमन और हव्य प्रदान किया है, विषयों में रमण न करने वाली उस महनीया वाग्देवी को अग्नि हमें प्राप्त कराता है।[४] आत्रेय ऋषि कहते हैं कि प्रकाशमान इन्द्राणी, अग्नायी और अश्विनी ये तीनों देवियाँ देवपत्नी ग्ना (वाणी) को प्राप्त करती हैं।[५] ऋषि कहते हैं कि समस्तदेव एवं स्वयं उद्यमशील नर वाक् को प्राप्त होकर बढ़ते हैं।[६] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि वाणियों के साथ त्वष्टा देव दुःखों का शमन करें और हमारे आह्वान को सुनें।[७] वसुकर्ण ऋषि कहते हैं कि त्वष्टा देव वाणियों के साथ सौभाग्य को प्रदान करने के लिये प्रसन्न हों।[८] उर्वशी कहती हैं कि इस पुरूरवा के उत्पन्न होने पर वाणियाँ सङ्गत होती हैं और स्वयं गतिशील अन्तरिक्षस्थ जल बढ़ते हैं।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'ग्ना' है, जो इन्द्र के लिये स्तोत्ररूप पट को बुनती है, त्वष्टा देव इस वाक् को चार (नाम-आख्यात-उपसर्ग-निपात) भागों में विभक्त कर स्वादयोग्य बनाते हैं, इससे मित्रों का सत्कार होता है, त्वष्टा देव इसके माध्यम से अज्ञान का विनाश करते हैं, यह वाक् यज्ञ का यजन करती है, ऋषि इसे महनीया और विषयों में न रमण करने वाली बतलाता है, इन्द्राणी, अग्नायी और अश्विनी ये तीनों देवियाँ ग्ना नामक देवपत्नी से युक्त हैं अर्थात् ये तीनों सुशिक्षित हैं, इसको पाकर उद्यमशील मनुष्य वृद्धि को प्राप्त होता है, ग्ना नामक वाणी से आह्वान करने पर त्वष्टा देव दुःखों का शमन एवं सौभाग्य प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त पुरूरवा के उत्पन्न होते समय इसके सङ्गत होने से अन्तरिक्षस्थ जल बढ़ते हैं। उपर्युक्त अध्ययन से विदित होता है कि 'ग्ना' के साथ 'त्वष्टा' और 'देवपत्नी' शब्दों का उल्लेख अनकेशः हुआ है। वेद त्वष्टा को देवशिल्पी और सूर्य के रूप में चित्रित करता है। इन दोनों प्रकारों में त्वष्टा अन्धकार का विनाश और निर्माण करने वाली शक्ति का प्रतिनिधित्व करते दिखायी देते हैं। इस प्रकार वह वाक् 'ग्ना' है, जो अन्धकार का विनाश करते हुए जीवन निर्माण करती है। ग्ना को देवपत्नी कहे जाने का, सम्भवतः, कारण यह है कि यह दिव्य गुणों का पालन करती है। इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए 'गम्' धातु को 'ग्ना' पद का मूल माना जा सकता है।

---

१ ऋ० २.१.५. ''त्वमग्ने त्वष्टा विधते सुवीर्यं तव ग्नावो मित्रमहः सजात्यम्।''
२ ऋ० २.३१.४. ''उत स्य देवो भुवनस्य सक्षणिस्त्वष्टा ग्नाभिः सजोषा जूजुवद्रथम्।''
३ ऋ० ४.९.४. ''उत ग्ना अग्निरध्वर उतो गृहपतिर्दमे। उत ब्रह्मा नि षीदति।''
४ ऋ० ५.४३.६. ''आ नो महीमरमतिं सजोषा ग्नां देवीं नमसा रातहव्याम्।''
५ ऋ० ५.४६.८. ''उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नायश्विनी राट्।''
६ ऋ० ६.६८.४. ''ग्नाश्च यन्नरश्च वावृधन्त विश्वे देवासो नरां स्वगूर्ताः।''
७ ऋ० ७.३५.६. ''शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु।''
८ ऋ० १०.६६.३. ''त्वष्टा नो ग्नाभिः सुविताय जिन्वतु।''
९ ऋ० १०.९५.७. ''समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेमवर्धन्नद्यः१ स्वगूर्ताः।''

४१. विपा

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'विपा' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'विपा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**विपा (वाक्)। 'विप' प्रेरणे'। प्रेर्य्यते मनसा विपा**"[२] कि मन से प्रेरित की जाती है, इसलिये वाक् 'विपा' कहलाती है। इस पक्ष में प्रेरणार्थक 'विप्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'विपा' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'विप्' धातुमूलक 'विपा' पद को मेधावी, स्तुति, वाक् प्रभृति का वाचक नामपद मानता है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स उक्त व्युत्पत्ति के समर्थक हैं। उनके अनुसार यह पद कम्पन अर्थ वाली 'विप्' या 'वेप्' धातु से निष्पन्न होता है।[४]

वैदिक साहित्य में 'विपा' पद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि मेधावीजन महाबली वैश्वानर अग्नि के लिये धारण करने योग्य स्तोत्रों को कहते हैं।[५] वामदेव ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार वैश्य धन की रक्षा करता है, उसी प्रकार मेधावियों को नाशरहित होत्रा के वाक् की रक्षा करनी चाहिये।[६] आत्रेय ऋषि कहते हैं कि हे ऋत्विजो! मेधावी जिस वाणी में स्तुति करते हैं, उस वाणी से मित्र और वरुण की गाते हुए स्तुति करो।[७] शंयु बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि उस इन्द्र की रक्षायें बुद्धिमान् के समान हैं और उसीसे प्रकट होती हैं।[८] ऋजिष्वा ऋषि कहते हैं कि जैसे अन्तरिक्ष नक्षत्रों को अपने में समेटे हुए है, उसी प्रकार बुद्धिमान् के वचनों को हृदय में धारण करना चाहिये।[९] शुनःशेप ऋषि कहते हैं कि यह मेधावियों की वाणी के द्वारा वर्णन किया गया पवमानदेव उपासकों के हृदय में प्राप्त होता है।[१०] देवल ऋषि कहते हैं कि इस पवित्र सोम को धारण करने वाले मेधावीजनों की बुद्धि और वाणी व्यापक होती है।[११] जमदग्नि ऋषि कहते हैं कि दुःखों को हरण करने वाले पवमानदेव चैतन्य प्रदान करने वाली प्रज्ञान की धारा से पवित्र करते हैं।[१२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'विपा' पद का प्रयोग 'मेधावी' के अर्थ में हुआ है। यदि विपा पद वाग्वाचक माना जाये तो यह मेधावी की वाक् के अर्थ में वेद में प्रयुक्त हुआ

---

१ निघ० १.११.४१.

२ निघ०वृ०, १.११.४१.

३ वै०पद०को०, पृ० २८७३.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ४८३. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९७२.

५ ऋ० ३.३.१. "वैश्वानराय पृथुपाजसे विपो रत्ना विधन्त धरणेषु गातवे।"

६ ऋ० ४.४८.१. "विहि होत्रा अवीता विपो न रायो अर्यः।"

७ ऋ० ५.६८.१. "प्र वो मित्राय गायत वरुणाय विपा गिरा।"

८ ऋ० ६.४४.६. "विपो न यस्योतयो वि यद्रोहन्ति सक्षितः।"

९ ऋ० ६.४९.१२. "स पिस्पृशति तन्वि श्रुतस्य स्तृभिर्न नाकं वचनस्य विपः।"

१० ऋ० ९.३.२. "एष देवो विपा कृतोऽति ह्वरांसि धावति। पवमानो अदाभ्यः।"

११ ऋ० ९.२२.३. "एते पूता विपश्चितः सोमासो दध्याशिरः। विपा व्यानशुर्धियः।"

१२ ऋ० ९.६५.१२. "अयो चितो विपानया हरिः पवस्व धारया।"

है, माना जा सकता है। मेधावी की वाणी की प्रमुख विशेषता उसकी प्रेरक शक्ति होती है, इस दृष्टि से आचार्य देवराजयज्वन् कृत ('विप्' धातुमूलक) निर्वचन सर्वथा समीचीन माना जा सकता है।

४२. नग्ना

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'नग्ना' पद समाम्नात है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'नग्ना' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**न गच्छति पितृकुलात् बाल्यात् अनावरणापि न लज्जामिति वा। ग्नाशब्दः पूर्वमेव निरुक्तः, इह न पूर्वः**"[२] कि बाल्यकाल में पितृकुल से यह नहीं जाती है अथवा यह आवरणरहित होने पर भी लज्जित नहीं होती है, अतः, वाक् 'नग्ना' कहलाती है। इस पक्ष में 'गम्' धातु से 'ग्ना' और उससे 'न+ग्ना' से 'नग्ना' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'नग्ना' को विशेषणपद मानता है। पदपाठकार उक्तपद का अनवगृहीत रूप में पाठ करते हैं। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'नग्ना' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स लज्जार्थक 'नज्' धातु से 'नग्ना' पद को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार यह पद ऋग्वेद में निरवसन, अनावृत, निर्जन, नवीन, मरुभूमि के अर्थ में आया है। वे कहते हैं कि यह शब्द जेंदावस्ता में maghna, लिथुआनियन में nugas, स्लोवाक में naga, गोथिक में nagaths, ऐंग्लोसैक्सन में nacod, इंग्लिश में naked और जर्मन में nackt रूप में प्रयुक्त है।[५]

वैदिक साहित्य में 'नग्ना' पद का अत्यल्प प्रयोग देखने को मिलता है। मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार सुरापान करके मद्यप युद्ध करते हैं, उसी प्रकार ये सोमरस हृदयों में आह्लाद आदि उत्पन्न करते हैं। दुग्ध से परिपूर्ण स्तनमण्डल के समान स्तुति से परिपूर्ण वाणी से स्तोता इन्द्र की स्तुति करते हैं।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'नग्ना' है, जैसे बालक विना किसी औपचारिकता के माता-पिता के सामने अपने भाव व्यक्त व्यक्त कर देता है, उसी प्रकार जब व्यक्ति या साधक विना किसी सङ्कोच के शिशु के समान मनोगत भावों को व्यक्त करता है, उस समय की वाक् लज्जाशून्य होने से आवरण रहित प्रतीत होती है, सम्भवतः, उसी को वेद ने 'नग्ना' नाम से अभिहित किया है। इस दृष्टि से देखने पर आचार्य देवराजयज्वन् कृत उक्त निर्वचन युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है।

४३. कशा

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'कशा' पद पठित है।[७] आचार्य यास्क 'कशा' पद का निर्वचन

---

१ निघ० १.११.४२.

२ निघ०वृ०, १.११.४२.

३ वै०पद०को०, पृ० १७६३.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० २८१.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५२५.

६ ऋ० ८.२.१२. "हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्। ऊधर्न नग्ना जरन्ते।"

७ निघ० १.११.४३.

करते हुए कहते हैं:-"**कशा प्रकाशयति भयमश्वाय**"[१] कि अश्वताडनरज्जु अश्वों को भय दिखलाती है, अतः, यह 'कशा' कहलाती है। इस पक्ष में प्रकाशनार्थक 'काश्' धातु से 'कशा' पद निष्पन्न होता है।

(ख)"**कृष्यतेर्वाऽणूभावात्**"[२] कि यह बहुत सूक्ष्म होती है, अतः, प्रतोद 'कशा' नाम से अभिहित होती है। इस पक्ष में तनूकरण अर्थ वाली 'कृष्' धातु से 'कशा' पद निष्पन्न होता है।

(ग)"**वाक् पुनः प्रकाशयत्यर्थान्**"[३] कि यह वाक् अर्थों को प्रकाशित करने से 'कशा' कहलाती है। इस पक्ष में प्रकाशनार्थक 'काश्' धातु से 'कशा' पद व्युत्पन्न होता है।

(घ)"**खशया**"[४] कि यह शब्द (वाक्) आकाश में शयन करता हैं, इसलिये यह वाक् 'कशा' कहलाती है। इस पक्ष में 'ख+'शी' से 'खशया' और उससे 'कशा' रूप सिद्ध होता है।

(ङ)"**क्रोशतेर्वा**"[५] कि यह शब्द करती है, अतः, वाक् को 'कशा' कहते हैं। इस पक्ष में शब्दार्थक 'क्रुश्' धातु से 'कशा' शब्द निष्पन्न होती है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'कशा' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**कशा (वाक्)। 'काशृ' दीप्तौ'। प्रकाशयत्यर्थान्**"[६] कि अर्थों को प्रकाशित करने के कारण यह कशा कहलाती है। इस पक्ष में दीप्त्यर्थक 'काश्' धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर 'कशा' रूप सिद्ध होता है।

(ख)"**यद्वा, खेशया सती वर्णव्यत्ययादिना कशा, वाग्घिमुखात् काशते तत उपलब्धेः**"[७] कि आकाश में रहने वाला शब्द वाणी के माध्यम से प्रकाशित होता है, अतः, वाक् 'कशा' कहलाती है। इस पक्ष में 'खे+'शी'>'खशया'>'कशया'>'कशा' रूप सिद्ध होता है।

(ग)"**यद्वा, 'कश' शब्दे'। अत्र शब्दायते कशा**"[८] कि यह शब्दयुक्त होती है, अतः, यह 'कशा' कहलाती है। इस पक्ष में शब्दार्थक 'कश्' धातु से 'कशा' पद निष्पन्न होता है।

(घ)"**'कश' गतौ'। गच्छति गन्तव्यम्**"[९] कि यह गन्तव्य तक जाती है, अतः, यह 'कशा' कही जाती है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'कश्' धातु से 'कशा' रूप निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'कशा' पद को अजनी, प्रणोदनी वाचक नामपद मानता है। अश्वाजनी अर्थ

---

१ निरु० ९.१९.
२ निरु० ९.१९.
३ निरु० ९.१९.
४ निरु० ९.१९.
५ निरु० ९.१९.
६ निघ०वृ०, १.११.४३.
७ निघ०वृ०, १.११.४३.
८ निघ०वृ०, १.११.४३.
९ निघ०वृ०, १.११.४३.

में 'काश्' या 'कृष्' धातु तथा वाणी अर्थ में 'क्रुश्' या 'ख+'शी' धातु से व्युत्पन्न होता है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची एवं मोनियर विलियम्स 'कशा' पद का मूल 'कश्' धातु को मानते हैं।[२] मोनियर विलियम्स के अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद, शतपथ-ब्राह्मण तथा महाभारत में यह पद प्रतोद (वाहनताडनरज्जु) अर्थ में प्रयुक्त है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा काश्, कृष् और क्रश् धातुमूलक यास्कीय निर्वचनों को सन्दूषित मानते हैं, जबकि 'खशया' वाले निर्वचन को सङ्गनित वर्ग में रखते हैं।[४]

वैदिक साहित्य में 'कशा' पद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में मेधातिथि ऋषि अश्विनीदेवों को मधुमती और सत्ययुक्त वाणी से यज्ञ को सिञ्चन करने वाला मानते हैं।[५] दीर्घतमा ऋषि अश्विनीदेवों से मधुमती वाक् से सिञ्चित करने की प्रार्थना करते हैं।[६] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि अमर्त्य वाणी से प्रेरित, परस्पर संयुक्त मरुत् विना प्रयास के अन्तरिक्षलोक से नीचे आते हैं।[७] उपर्युक्त के अतिरिक्त 'कशा' पद ऋग्वेद में वाहनताडनरज्जु के अर्थ में अनेकशः प्रयुक्त हुआ है।[८]

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर पर कहा जा सकता है कि वेद में वह वाक् 'कशा' है, जो मधुमती और सूनृतावति है तथा जिसके प्रभाव से मरुत् अन्तरिक्षलोक से नीचे आ जाते हैं। इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए 'कशा' पद के उक्त सभी निर्वचन अपूर्ण प्रतीत होते हैं। इसका कारण यह है कि उनमें मधुरता और सूनृत अर्थ को व्यक्त करने की सामर्थ्य नहीं है। फिर भी प्रकाशनार्थक 'काश्' धातु सर्वाधिक सम्भव निर्वचन माना जा सकता है।

४४. धिषणा

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'धिषणा' पद पठित है।[९] आचार्य यास्क 'धिषणा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**धिषणा वाक्। धिषतेर्दधात्यर्थे**''[१०] कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य होने से यह वाणी के अर्थ को धारण करती है, अतः, वाक् 'धिषणा' कहलाती है। इस पक्ष में धारणार्थक 'धिष्' धातु से 'धिषणा' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''**धीसादिनीति वा**''[११] कि यह प्रज्ञा या कर्म में स्थित होती है, अतः, यह वाक् 'घिषणा'

---

१ वै०पद०को०, पृ० ११०३-४.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० १६७.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २६५.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ३३, ९६.

५ ऋ० १.२२.३. ''या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती। तया यज्ञं मिमिक्षतम्।''

६ ऋ० १.५७.४. ''आ न ऊर्जं वहतमश्विना युवं मधुमत्या न कशया मिमिक्षतम्।''

७ ऋ० १.१६८.४. ''अव स्वयुक्ता दिव आ वृथा ययुरमर्त्याः कशया चोदत त्मना।''

८ ऋ० १.३७.३; १६२.१७; ५.८३.३; ८.३३.११.

९ निघ० १.११.४४.

१० निरु० ८.३.

११ निरु० ८.३.

कहलाती है। इस पक्ष में 'धी' पूर्ववाली 'सद्' धातु से 'धिषणा' रूप सिद्ध होता है।

(ग)''**धीसानिनीति वा**''[१] कि यह प्रज्ञा या कर्म का सेवन करती है, अतः, यह वाक् 'धिषणा' नाम से अभिहित होती है। इस पक्ष में 'धी' पूर्ववाली 'सन्' धातु से 'धिषणा' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'धिषणा' पद का निर्वचन निम्नप्रकार करते हैं:-''धिषणा (वाक्)। 'धृञ्' धारणे'+'षणु' दाने'। धारयत्यर्थमिति धीः बुद्धिः। धारयति कर्त्तारं फलप्रदानेनेति धीः कर्मबुद्धि कर्म वा। सनोति सम्भजते इति धिषणा''[२] कि जो अर्थ या फलप्रदान के द्वारा कर्म (कर्मबुद्धि) को धारण करती है, वह वाक् 'धिषणा' कहलाती है। इस पक्ष में धारणार्थक 'धृ' और दानार्थक 'षण्' इन दोनों धातुओं के योग से 'धिषणा' रूप सिद्ध होता है।

(ख)''**यद्वा, 'ञिधृषा' प्रागल्भ्ये'। प्रगल्भा समर्था रक्षितुं जगद्वर्षप्रदानेनेत्यर्थः**''[३] कि यह वर्षा के द्वारा जगत् की रक्षा करने में समर्थ है, अतः, यह वाक् 'धिषणा' कहलाती है। इस पक्ष में 'धृष्' धातु से 'क्यु' प्रत्यय होकर 'धिषणा' रूप सिद्ध होता है। इस निर्वचन का समर्थन उणादिकोष से हो जाता है।[४]

(ग)''**यद्वा, 'धिषि' धारणे'। वाचि स्वाभिधेयं धारयति सम्बन्धस्य नित्यत्वात्**''[५] कि शब्दार्थ के नित्य होने के कारण वाणी में स्वाभिधेय को धारण करती है, अतः, यह वाक् 'धिषणा' कही जाती है। इस पक्ष में धारणार्थक 'धिष्' धातु से 'क्यु' प्रत्यय होकर 'धिषणा' पद उपपन्न होता है।

(घ)''**शब्दायते वा मेघे अधिश्रिता**''[६] कि यह मेघ पर स्थित होकर गर्जना करती है, अतः, माध्यमिका वाक् 'धिषणा' नाम से अभिहित होती है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'धिषणा' पद का अर्थ और व्युत्पत्ति दोनों सन्दिग्ध मानता है। वागर्थ में 'धिष्' या 'धी+'सद्' या 'धी+'सन्' धातु से तथा अन्य अर्थ में 'धृष्' धातु से 'धिषणा' पद व्युत्पन्न होता है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'धिषणा' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[८] मोनियर विलियम्स 'धिषणा' पद का मूल 'धिष्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार धिषणा पद का अर्थ सुबोध, बुद्धिमान् है।[९] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि भाषिक दृष्टि से इस शब्द का आशय ईश्वरभक्ति, समर्पण है और इसका सम्बन्ध भारोपीय भाषा 'dhes' में 'समर्पण सदृश धार्मिक भावना' के अर्थ में है। लैटिन में 'fānum' 'पवित्र स्थान' का वाचक है। वे 'धिष्' धातु वाले यास्कीय निर्वचन को ध्वनिरुप की दृष्टि से तर्कसङ्गत, परन्तु अर्थ की दृष्टि से स्वीकार्य

---

१ निरु० ८.३.

२ निघ०वृ०, १.११.४४.

३ निघ०वृ०, १.११.४४.

४ उणा०, २.८३. ''धृषेर्धिष च संज्ञायाम्।''

५ निघ०वृ०, १.११.४४.

६ निघ०वृ०, १.११.४४.

७ वै०पद०को०, पृ० १७२१.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० २७२.

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५१६.

नहीं मानते हैं।[१] वेद के अनुसार उक्त 'धिषणा' पद के 'धा' धातुमूलक होने के सङ्केत प्राप्त होते हैं।[२]

वैदिक साहित्य में 'धिषणा' पद का पर्याप्त उल्लेख देखने को मिलता है। ऋग्वेद में मेधातिथि ऋषि रक्षा की दृष्टि से अग्निदेव से ग्ना, होत्रा, भारती और वरणीया धिषणा को लेकर आने की प्रार्थना करते हैं।[३] यहाँ ऋषि ने वाग्वाचक देवियों में 'धिषणा' का परिगणन किया है तथा उसे उन सब में वरणीया बतलाया है। आङ्गिरस कुत्स ऋषि आपः और धिषणा को मित्र के रूप में सिद्ध करते हुए द्रविणोदा अग्नि को धारण करने का निर्देश देते हैं।[४] आङ्गिरस कुत्स ऋषि एक अन्य मन्त्र में ऐश्वर्य देने वाले इन्द्र की महनीय बुद्धि की प्रशंसा करते कहते हैं कि यह बुद्धि स्तोत्र, उत्सव, प्रसव, क्षमाशीलता में प्रकट होती है।[५] इस सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि इन्द्र की महनीया धिषणा अपरिमित गुणों को प्रकाशित करती है और उसके पश्चात् वह वृत्रों का वध करता है।[६] इन्द्राग्नी देवों का वर्णन करते हुए आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि शक्तिशाली जन इन्द्राग्नी (विद्युत् और अग्नि) से सुख को प्राप्त करते हैं और यह आदरयोग्य सुख धिषणा के उपस्थ में रहता है।[७] इसी सूक्त के अग्रिम मन्त्र में आङ्गिरस कुत्स ऋषि पुनः कहते हैं कि सोम की कामना करने वाली देवी धिषणा (बुद्धि या मन्त्ररूपा वाक्) आनन्द के लिये सोम (ऐश्वर्य) को अभिषुत करती है।[८] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि इन रोदसियों ने धन के लिये वायु को उत्पन्न किया, उस वायु को धिषणा देवी धारण करती है।[९] देवश्रवा यामायन ऋषि जल के रूप में सर्वत्र व्याप्त तथा धिषणा से प्रकट होने वाले सोमतत्त्व को मन से ग्रहण करने के लिये कहते हैं।[१०] लुशो धानाक ऋषि धन को उत्पन्न करने वाली बुद्धि की प्रशंसा करते हैं।[११] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि महनीय धिषणा अन्धकार का नाश और शीघ्र बढ़ने वाले द्यावापृथिवी को धारण करती है। इसमें अनवद्य, सत्य को धारण करने वाली, बलयुक्त एवं अनुकूलता से धारण की गयीं सम्पूर्ण वाणियाँ इन्द्र (ऐश्वर्य) के लिये हैं।[१२] मैत्रायणी-संहिता तथा शतपथ-ब्राह्मण देवी, विश्वदेवी के रूप में चित्रित करते हुए धिषणा को रक्षा करने वाली वाग्देवी बतलाते हैं।[१३] कुछ अन्य ब्राह्मण धिषणा को विद्या के रूप में

---

१ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ५७, ८९.

२ ऋ० ३.५६.६; ७.९०.३; यजु०, २७.२४.

३ ऋ० १.२२.१०. "आ ग्ना इहावसे होत्रां यविष्ठ भारतीम्। वरूत्रीं धिषणां वह।"

४ ऋ० १.९६.१. "आपश्च मित्रं धिषणा च साधन्देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्।"

५ ऋ० १.१०२.१. "इमां ते धियं प्र भरे महो महामस्य स्तोत्रे धिषणा यत्त आनजे।"

६ ऋ० १.१०२.७. "अमात्रं त्वा धिषणा तित्विषे मह्यधा वृत्राणि जिघ्नसे पुरन्दर।"

७ ऋ० १.१०९.३. "इन्द्राग्निभ्यां कं वृषणो मदन्ति ता ह्यद्री धिषणाया उपस्थे।"

८ ऋ० १.१०९.४. "युवाभ्यां देवी धिषणा मदायेन्द्राग्नी सोममुशती सुनोति।'

९ ऋ० ७.९०.३. "राये नु यं जज्ञतू रोदसीमे राये देवी धिषणा धाति देवम्।"

१० ऋ० १०.१७.१२. "यस्ते द्रप्सः स्कन्दति यस्ते अंशुर्बाहुच्युतो धिषणाया उपस्थात्।"

११ ऋ० १०.३५.७. "रायो जनित्रीं धिषणामुप ब्रुवे स्वस्त्य१ग्निं समिधानमीमहे।"

१२ ऋ० ३.३१.१३. "मही यदि धिषणा शिश्नथे धात्सद्योवृधं विभ्वं१ रोदस्योः। गिरो यस्मिन्ननवद्याः समीचीर्विश्वा इन्द्राय तविषीरनुत्ताः।"

१३ मै०सं० ३.१.८; ४.५.२. शत०ब्रा०, ६.५.४.५. "वाग्वै धिषणा देवी विश्वदेव्यवती।"

प्रतिपादित करते हैं।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'धिषणा' है, जो सभी वाग्रूपों में वरणीया है, यह वाक् द्रविणोदा (धन देने वाली) अग्नि को धारण करती है, यह सम्पूर्ण व्यवहारों जैसे स्तोत्र, उत्सव, प्रसव, क्षमाशीलता आदि में प्रयुक्त होती है, इसको ऋषि ने अनेकशः महनीया कहा है और इसके महत्त्व से प्रभावित होकर इन्द्र वृत्रों का वध करने के लिये उद्यत होता है, यह ऐश्वर्य रूपी सोम को अभिषुत करती है, इसके उपस्थ में इन्द्राग्नी (विद्युत् और अग्नि) से प्राप्त होने वाले सुख रहते हैं, धन के लिये उत्पन्न किये गये वायु देव को देवी धिषणा धनार्थ धारण करती है, इसके उपस्थ से सोमतत्त्व प्रकट होता है, इसकी प्रशंसा धन को उत्पन्न करने के कारण की जाती है। इसके अतिरिक्त यह महनीय धिषणा अज्ञान अन्धकार का नाश तथा द्यावापृथिवी को धारण करती है, अतः, यह अनवद्य, सत्य और बल को धारण करने वाली मानी गयी है और इसका चरम उद्देश्य ऐश्वर्य की प्राप्ति कराना है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि धिषणा की प्रमुख विशेषता धन की प्राप्ति एवं व्यावहारिक कुशलता प्रदान करना है। निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि वह वाक् 'धिषणा' है, जो अभ्युदय की प्राप्ति कराती है। इस दृष्टि से विज्ञानात्मक वाक् वेद की दृष्टि में 'धिषणा' सिद्ध होती है। इस आधार पर धारणार्थक 'धिष्' या 'धृष्' धातु को वेद की दृष्टि में 'धिषणा' पद का मूल माना जा सकता है।

४५. नौः

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'नौ' पद पठित है।[२] आचार्य यास्क 'नौ' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**नौः प्रणोत्तव्यो भवति**"[३] कि नौ प्रणोतव्य अर्थात् खेने के कारण नाव को नौ कहा जाता है। इस पक्ष में 'नुद्' धातु से 'नौ' पद निष्पन्न होता है।

(ख)"**नमतेर्वा**"[४] कि यह चलते समय इधर-उधर झुकती है, अतः, नाव को नौ कहते हैं। इस पक्ष में 'नम्' धातु से 'नौ' पद उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'नौ' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**नौः (वाक्)। 'नुद' प्रेरणे'। नुद्यते प्रेर्य्यते मूलाधारादिस्थानेभ्यः प्राणेन**"[५] कि मूलाधारादि स्थानों से प्राणवायु के द्वारा प्रेरित की जाती है, अतः, वाक् 'नौ' कहलाती है। इस पक्ष में 'नुद्' धातु से 'डौ' प्रत्यय होकर 'नौ' पद निष्पन्न होता है। उणादिकोष इसी प्रकार 'नौ' पद को व्युत्पन्न करने के पक्ष में है।[६]

---

१ तै०सं० ५.१.७.२. मै०सं० ४.२.१. काठ०सं० १९.७. "विद्या वै धिषणा।"

२ निघ० १.११.४५.

३ निरु० ९.२३.

४ निरु० ९.२३.

५ निघ०वृ०, १.११.४५.

६ उणा०, २.६५. "ग्लानुदिभ्यां डौः।"

(ख)''नमतेर्वा। नम्यते वा देवतात्वात्''[१] कि देवता होने के कारण यह वाक् नमन को प्राप्त करती है। अतः, यह 'नौ' नाम से अभिहित होती है। इस पक्ष में 'नम्' धातु से औणादिक 'डौ' प्रत्यय होकर 'नौ' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'नौ' पद को तरी, पोत वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'नौ' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स 'नौ' पद का मूल 'नु' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद नाव अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[४] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में 'nau' नाव अर्थ में, ग्रीक में 'neos' (=navós) एवं लैटिन में 'navis' में नाव अर्थ में है। उनके अनुसार उक्त यास्कीय निर्वचन **'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि'** सिद्धान्त से प्रभावित हैं।[५] ऋग्वेद से प्राप्त सङ्केत के आधार पर 'नौ' पद का मूल 'नी' या 'नू' धातु है।[६]

वैदिक साहित्य में 'नौ' पद का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। परन्तु सर्वत्र यह पद नाव अर्थ में आया है।[७] ऋषि कहीं नाव के साथ 'सिन्धु' पद का प्रयोग करता है[८] तो कहीं नाव को **'शतारित्राम्'** बतलाता है।[९] एक स्थान पर वह पहुँचे हुए पदार्थ के समान वाणी और नाव को चित्रित करता है,[१०] कहीं नाव को ऊर्मि से नष्ट होने वाला बतलाया गया है।[११] उक्त सभी सङ्केत यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि ऋग्वेद में 'नौ' पद वाक् अर्थ में उपलब्ध नहीं है। आचार्य देवराजयज्वन् 'नौ' पद के वाग्वाचक होने के समर्थन में ऐतरेय-ब्राह्मण के निम्नवचन को उद्धृत करते हैं कि हम पार लगाने वाली नाव पर आरूढ़ हों। यज्ञ, कृष्णाजिन और वाक् सुतरणीय (सुतर्मा) नाव हैं,[१२] लेकिन इसके अतिरिक्त अन्य कोई उद्धरण प्राप्त नहीं होता है।

उपर्युक्त विवेचन को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में वागर्थक नौ पद का विरल प्रयोग हुआ है, जिसके प्रमाण अन्य वैदिक साहित्य में रहे होंगे, परन्तु आज उस साहित्य के अभाव में इस विषय में अधिक कुछ कहना सम्भव नहीं है। फिर भी वेद में 'नौ' पद के साथ प्रयुक्त 'अनूषत' क्रिया के प्रयोग के आधार पर वाग्वाचक 'नौ' पद का मूल 'नू' धातु प्रतीत होती है।

---

१ निघ०वृ०, १.११.४५.

२ वै०पद०को०, पृ० १८६७.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ३००.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५७१.

५ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ८९.

६ ऋ० ५.४५.१०. ''उदना नावमनयन्त धीराः।'' ऋ० ९.४५.५. ''इन्दुं नावा अनूषत।''

७ ऋ० १.२५.७; ४६.७; ९७.७.

८ ऋ० १.९९.१. ''नावेव सिन्धुम्।''

९ ऋ० १.११६.५.

१० ऋ० २.४२.१. ''इयर्ति वाचमरितेव नावम्।''

११ ऋ० ८.७५.९. ''ऊर्मिर्न नावमवधीत्।''

१२ ऐ०ब्रा०, १.३.२. ''सुतर्माणमधिनावं रुहेमेति यज्ञो वै सुतर्मा नौः कृष्णाजिनं वै सुतर्मा नौर्वाग्वै सुतर्मा नौः।''

४६. अक्षरम्

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'अक्षरम्' पद समाम्नात है।[१] जैमिनीयोपनिषद् में 'अक्षर' पद का निर्वचन करते हुए कहा गया है:-''**कतमत्तदक्षरमिति। यत् क्षरन्नाक्षीयतेति। इन्द्र इति**''[२] कि जो क्षरित होते हुए नष्ट नहीं होता है, वह इन्द्र अक्षर है। इस पक्ष में 'क्षर्' या 'क्षि' धातु से 'अक्षर' शब्द निष्पन्न होता है। इस विषय में शतपथ-ब्राह्मण का अभिमत है:-''**तद्यदक्षरत्तस्मादक्षरम्**''[३] कि जो क्षरित हुआ, वह अक्षर है। इस पक्ष में 'क्षर्' धातु से 'अक्षर' शब्द निष्पन्न होता है। ऐसा ही कथन जैमिनीयोपनिषद् का है:-''**यदक्षरदेव तस्मादक्षरम्**''[४] कि जो समस्त रूपों में क्षरित हुआ, वह अक्षर है।

एक अन्य स्थान पर जैमिनीयोपनिषद् कहती है:-''**यद्वेवाक्षरं नाक्षीयत तस्मादक्षयम्। अक्षयं ह वै नामैतत्। तदक्षरमिति परोक्षमाचक्षते**''[५] कि वह कभी क्षीण नहीं होता, इसलिये वह अक्षय है और इस (अक्षय) से परोक्ष में 'अक्षर' पद निष्पन्न होता है। इस पक्ष में 'न+'क्षि' क्षये' धातु से 'अक्षय' पद उपपन्न होता है।

'अक्षर' का विवेचन करता हुआ ऐतरेय आरण्यक का ऋषि कहता है:-''**स (प्राणः) यदेभ्यः सर्वेभ्यो भूतेभ्यः क्षरति, न चैनमतिक्षरन्ति तस्मादक्षरम्**''[६] कि वह प्राण सभी भूतों से क्षरित होता है, परन्तु भूत इसे क्षरित नहीं करते, अतः, यह अक्षर कहलाता है। इस पक्ष में 'न+'क्षर्' धातु से 'अक्षर' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'अक्षर' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अक्षरं न क्षरति**''[७] कि जो कभी नष्ट नहीं होता है, वह अक्षर है। इस पक्ष में 'न+'क्षर्' से 'अक्षर' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''**न क्षीयते वा**''[८] कि जो कभी क्षीण नहीं होता है, वह 'अक्षर' है। इस पक्ष में 'न+'क्षि' क्षये' धातु से अक्षर पद उपपन्न होता है।

(ग)''**वाक्क्षयो भवति**''[९] कि नाद वर्ण लक्षण वाली वाक् का निवासस्थान है, अतः, 'वाक्+क्षय' से अक्षर पद उपपन्न होता है।[१०]

(घ)''**वाचोऽक्ष इति वा**''[११] कि रथ के अक्ष के समान अनुप्रविष्ट होकर यह व्यञ्जन को धारण करता

---

१ निघ० १.११.४६.

२ जै०उप०, १.१४.२.८.

३ शत०ब्रा०, ६.१.३.६.

४ जै०उप०, १.७.२.९.

५ जै०उप०, १.७.२.२.

६ ऐ०आ०, २.२.२.

७ निरु० १३.१२.

८ निरु० १३.१२.

९ निरु० १३.१२.

१० निरुक्त, दुर्गवृत्ति, १३.१२.

११ निरु० १३.१२.

है।[१] अतः, यह अक्षर कहलाता है। इस पक्ष में 'अक्ष' शब्द से 'अक्षर' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक अक्षर शब्द का निम्न निर्वचन प्रस्तुत करते हैं:-''**अक्षरम् (वाक्)। अश्नुते श्रोतुं स्वाभिधेयं व्याप्नोति वा**''[२] कि यह अक्षर श्रवणेन्द्रिय या अभिधेय को व्याप्त करता है, अतः, यह अक्षर कहलाता है। इस पक्ष में 'अश्' धातु से 'सरन्' प्रत्यय होकर 'अक्षर' पद उपपन्न होता है। उणादिकोष इसी प्रकार 'अक्षर' पद को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[३]

(ख)''**यद्वा नञ् पूर्वात् क्षरतेः। न क्षरति सर्वदा सर्वैः प्रयुज्यमानापि न क्षीयत इत्यर्थः। वाग्वै समुद्रो न वै वाक् क्षीयते (ऐ०ब्रा०,५.३.१.)**''[४] कि यह सर्वदा प्रयोग की जाने पर भी नष्ट नहीं होती है, अतः, वाक् 'अक्षर' कहलाता है। ब्राह्मण कहता है कि वाक् समुद्र है, यह प्रयोग किये जाने पर क्षीण नहीं होता है। इस पक्ष में 'न+'क्षर्'+अच्' से 'अक्षर' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अक्षर' पद को 'अक्ष्' व्याप्तौ' धातु से व्युत्पन्न मानता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स 'अक्षर' पद का मूल 'अक्ष' व्याप्तौ' धातु को मानते हैं।[६] मोनियर विलियम्स के अनुसार अक्षर पद का अर्थ अविनाशी, अपरिवर्तनीय है।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का मत है कि अक्षर अविनाशी है, यह दार्शनिक सङ्कल्पना जनसाधारण की समझ से परे है। अतः, वाणी का अक्ष (धुरा) अर्थात् मुख्य आधार होने से यह अक्षर कहलाता है, यह निर्वचन उचित है। वे उक्त निर्वचनों को सन्दूषित वर्ग में रखते हैं।[८] वेद से प्राप्त सङ्केत 'अक्षर' पद का मूल 'क्षर्' धातु को बतलाते हैं।[९]

वैदिक साहित्य में 'अक्षर' पद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में दीर्घतमस् ऋषि के मन्त्र का व्याख्यान करते हुए आचार्य सायण कहते हैं कि गायत्र छन्द मन्त्र को परिच्छिन्न करता है अर्थात् चार-चार मात्रायें बढ़ते जाने से अन्य छन्दों का निर्माण होता है। मन्त्र से साम, त्रिष्टुप् से सूक्त तथा द्विपाद और चतुष्पाद वाले मन्त्रों के सूक्तों से वाक् अर्थात् अनुवाक को मापता है। इस प्रकार अक्षर से सात प्रकार के छन्दों का निर्माण होता है।[१०] महर्षि दयानन्द सरस्वती उक्त मन्त्र का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि गायत्र से ऋक्, ऋचाओं के समूह से साम, त्रिष्टुप् से यजुर्वेद, यजुर्वेद से अथर्ववेद तथा दो और चार पाद वाले अक्षरों

---

१ निरुक्त, दुर्गवृत्ति, १३.१२.

२ निघ०वृ०, १.११.४६.

३ उणा०, ३.७०. 'अशेः सरन्।''

४ निघ०वृ०, १.११.४६.

५ वै०पद०को०, पृ० १४.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ०४.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ०३.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ३३.

९ ऋ० १.६४.४२; अथर्व०, १३.१.४२.

१० सा०भा०, ऋ० १.१६४.२४. ''गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्। वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः।''

से सात प्रकार के छन्दों का निर्माण होता है।[१] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि उस वाणी के शब्दरूपी अर्णव अक्षरों की वर्षा करते हैं, उससे चारों दिशायें एवं चारों उपदिशायें जीवित हैं और उससे नष्ट न होने वाला अक्षरमात्र बरसता है और समस्त विश्व उपजीविका प्राप्त करता है।[२] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि सहस्रों स्थानों पर रहने वाला अग्नि क्षयरहित स्तुति (अक्षर) से स्तुत होकर आता है।[३] एक अन्य स्थान पर वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि मेधावीजन धनलाभ के लिये अग्नि और असङ्ख्य विद्या वाली वाक् के पास जाते हैं।[४] वसिष्ठ ऋषि आगे कहते हैं कि प्राप्त होती हुयी अविनाशी वाणी हमें न छोड़े और हम देवों के सहयोग से योग्य धन को बढ़ायें।[५] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि वह स्त्री या वाक् सुन्दर पदों वाली वाणी को उत्तम प्रकार और सर्वप्रथम उच्चारण करती हुई श्रेष्ठ सिद्ध होती है।[६] विवस्वान् ऋषि पञ्चपदी और चतुष्पदी वाक् नियम से प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। वे ऋत की नाभि में स्थित इस वाणी को मापते हैं और अपने को उससे पवित्र करते हैं।[७] ऐतरेय आरण्यक का कथन है कि तीन सौ साठ अक्षर हैं, तीन सौ साठ ऊष्म हैं और तीन सौ साठ सन्धियाँ हैं। जिन अक्षरों को हम बोलते हैं, वे दिन हैं, जिन ऊष्मों को हम बोलते हैं, वे रात्रियाँ हैं और जिन सन्धियों को हम कहते हैं, वे अहोरात्र की सन्धियाँ हैं, यह अधिदैवत है।[८]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'अक्षर' है, जिससे सप्त छन्दों का निर्माण होता है, वाक्रूप समुद्र से अक्षरों की वर्षा होती है और उससे समस्त विश्व उपजीविका प्राप्त करता है, सहस्रों स्थानों पर रहने वाला अग्नि इस क्षयरहित अक्षर से स्तुत होकर आता है, धनलाभ के लिये इसी का सेवन मेधावीजन करते हैं, यह अविनाशी वाणी है, जिसके परित्याग की कल्पना भी नहीं की जा सकती है, इसके उच्चारण से नारी की श्रेष्ठता सिद्ध होती है, ऋत की नाभि में स्थित वाणी मापी अर्थात् बोली जाती है और उससे वक्ता पवित्र हो जाता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण अक्षरों की सङ्ख्या तीन सौ साठ बतलाता है। इस प्रकार वेद में वाक् की आधारभूता इकाई प्रमुखरूप से 'अक्षर' नाम से अभिहित होती हुई दिखायी देती है। इस दृष्टि से 'अक्षर' पद का मूल 'अक्ष' शब्द प्रतीत होता है। यह 'अक्ष' (धुरा) वाहन का आधार होने से 'न+'क्षि' क्षये' या 'न+'क्षर्' से व्युत्पन्न है।

---

१ ऋ० १.१६४.२४.

२ ऋ० १.१६४.४२. दया०,ऋ०भा० ''तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः। ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुपजीवति।''

३ ऋ० ७.१.१४. ''सहस्रपाथा अक्षरा समेति।''

४ ऋ० ७.१६.९. ''उप त्वा सातये नरो विप्रासो यन्ति धीतिभिः। उपाक्षरा सहस्रिणी।''

५ ऋ० ७.३६.७. ''मा नः परि ख्यदक्षरा चरन्त्यवीवृधन्युज्यं ते रयिं नः।''

६ ऋ० ३.३१.६. ''अग्रं नयत्सुपद्यक्षराणमच्छा रवं प्रथमा जानती गात्।''

७ ऋ० १०.१३.३. ''पञ्च पदानि रुपो अन्वारोहं चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन। अक्षरेण प्रति मिम एतामृतस्य नाभावधि सं पुनामि।''

८ ऐ०आ०, ३.२.२-४. ''त्रीणि षष्टिशतान्यक्षराणां त्रीणि षष्टिशतान्यूष्माणां त्रीणि षष्टिशतानि संधीनाम्। यान्यक्षरणाण्यवोचामाहानि तानि यानूष्मणोऽवोचाम रात्रयस्ता यान् संधीनवोचामाहोरात्राणां ते संधय इत्यधिदैवतम्।''

४७. मही

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'मही' पद समाम्नात है।[१] आचार्य यास्क 'मही' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**महीयम्, महतीयम्**''[२] कि महती होने से यह पृथिवी 'मही' कहलाती है। इस पक्ष में 'मह्' धातु से 'मही' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'मही' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**मही (वाक्)। 'मह' पूजायाम्'। मह्यते पूज्यतेऽनया देवता इति वा**''[३] कि इससे देवताओं की पूजा होती है, अतः, यह वाक् 'मही' नाम से अभिहित होती है। इस पक्ष में पूजार्थक 'मह्' धातु से औणादिक 'इन्' प्रत्यय होकर 'मही' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'मही' पद को उषस्, धिषणा, द्यावापृथिवी प्रभृति का विशेषण तथा पृथिवी, अप्, गो प्रभृति का वाचक नामपद तथा व्यक्तिपरकसंज्ञा पद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'मही' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'मही' पद का मूल 'मह्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में उक्त पद का वाग्वाचक इडा और सरस्वती के साथ उल्लेख हुआ है।[६]

वैदिक साहित्य में 'मही' पद का व्यापक और अनेक (पृथ्वी, विशेषण के रूप में, द्यावापृथिवी, वाक् आदि) अर्थों में प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार पक्व फलों से युक्त शाखा सुख देने वाली है, उसी प्रकार इस इन्द्र की प्रिय और सत्य, विविध विद्याओं एवं प्रकाश की किरणों से युक्त मही (वेदवाणी) है।[७] कण्व ऋषि कहते हैं कि मनुष्यों को इडा पठनपाठन की प्रेरणा देने वाली, सरस्वती उपदेशरूप ज्ञान प्रदान करने वाली तथा मही सब प्रकार से प्रशंसा करने योग्य है- ये तीनों सुख देने वाली तथा अविस्मरणीय हैं।[८] आङ्गिरस कुत्स ऋषि इन्द्र की महनीय बुद्धि की प्रशंसा करते कहते हैं कि यह बुद्धि स्तोत्र, उत्सव, प्रसव, क्षमाशीलता में प्रकट होती है।[९] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि इन्द्र की अपरिमित गुणों वाली धिषणा (वाक् चातुर्य) मही को प्रकाशित करती है और उसके पश्चात् वह वृत्रों का वध करता है।[१०] कक्षीवान् ऋषि मही नामक वाणी को सुख देने वाली बतलाते हैं और

---

१ निघ० १.११.४७.

२ निरु० ४.२१.

३ निघ०वृ०, १.११.४७.

४ वै०पद०को०, पृ० २४७०.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ३९४.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८०३.

७ ऋ० १.८.८. ''एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही। पक्वा शाखा न दाशुषे।''

८ ऋ० १.१३.९. ''इडा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः।'' द्र०, दया०, ऋ०भाष्य, १.१३.९.

९ ऋ० १.१०२.१. ''इमां ते धियं प्र भरे महो महीमस्य स्तोत्रे धिषणा यत्त आनजे।''

१० ऋ० १.१०२.७. ''अमात्रं त्वा धिषणा तित्विषे मह्यधा वृत्राणि जिघ्नसे पुरंदर।''

उनके अनुसार धिषणा नामक विद्या से अश्विनीदेव दुःख देने वाले अन्याय को दूर करते हैं।[१] दीर्घतमस् ऋषि पवित्र होत्रा तथा भारती वाणियों को देवों और मरुतों (मनुष्यों) में समर्पित मानते हैं। इसके अतिरिक्त यज्ञिय बतलाता हुआ ऋषि इडा सरस्वती और मही इन तीनों देवियों के हृदय रूपी आसन पर विराजमान रहने की कामना करता है।[२] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि देवों की प्रीति के लिये ऋत की वृद्धि करने वाली मही नामक वाणी का आश्रय लेने का निर्देश देता है।[३] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हरणशील अश्व वाले इन्द्र के योग्य कर्मों या यज्ञों से श्रेष्ठ वाणी उत्पन्न होती है।[४] गाथी ऋषि कहते हैं कि द्वेष एवं राग से रहित होकर यज्ञ, अन्न और मही का सेवन करना चाहिये।[५] विश्वामित्र ऋषि एक अन्य स्थान पर कहते हैं कि तीन मही ऊपर स्थित हैं, उसमें से दो गुहा में और एक प्रत्यक्षगोचर होती है।[६] यहाँ ऋषि सम्भवतः, वाक् के परा, पश्यन्ती आदि रूपों का वर्णन कर रहा है। प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाला रूप वैखरी प्रतीत होता है। शतपथ-ब्राह्मण का ऋषि गो समूह में से अन्यतम गौ (वाक्) को मही नाम से अभिहित करता है।[७]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'मही' है, जो प्रिय, सत्य एवं विविध विद्याओं से युक्त है, इडा, सरस्वती के साथ मही को ऋषि सुख प्रदान एवं हिंसा न करने वाली बतलाता है, इन्द्र की धिषणा को ऋषि मही को प्रकाशित करने वाला मानता है, यही मही सुख देने वाली है और यही इडा और सरस्वती के साथ हृदयरूपी आसन पर विराजमान रहती है। इसके अतिरिक्त ऋषि इसको ऋत की वृद्धि के लिये आवश्यक मानता है, यह वाक् श्रेष्ठ यज्ञों या वाणी से उत्पन्न होती है, इसका सेवन रागद्वेष से रहित होकर करना चाहिये। कहीं वाक् का प्रतिनिधि मानते हुए ऋषि ने मही को त्रिविध प्रतिपादित किया है, ब्राह्मण अन्यतम गौ को मही नाम से अभिहित करता है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि वह वाक् मही है, जिसका महत्त्व व्यवहार से लेकर कलाओं और विज्ञान तक व्याप्त है। इस दृष्टि से पूजार्थक 'मह्' धातु को 'मही' पद का मूल माना जा सकता है।

४८. अदितिः

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'अदितिः' पद पठित है।[८] शतपथ-ब्राह्मण पृथिवी वाचक 'अदिति' का निर्वचन करता हुआ कहता है:-"**इयं (पृथिवी) वा अदितिः। इयꣳ हीदं सर्वꣳ ददते**"[९] कि पृथिवी 'अदिति' नाम से अभिहित होती है, क्योंकि यह सब कुछ देती है। इस पक्ष में दानार्थक 'दा' धातु से

---

१ ऋ० १.११७.१९. "मही वामूतिमश्विना मयोभूरुत स्रामं धिष्ण्या सं रिणीथः।"

२ ऋ० १.१४२.९. "शुचिर्देवेष्वर्पिता होत्रा मरुत्सु भारती। इळा सरस्वती मही बर्हिः सीदन्तु यज्ञियाः।"

३ ऋ० १.१४२.६. "वि श्रयन्तामृतावृधः प्रयै देवेभ्यो मही।"

४ ऋ० ३.३१.३. "महान् गर्भो मह्या जातमेषां मही प्रवृद्धर्यश्वस्य यज्ञैः।"

५ ऋ० ३.२२.४. "जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवा इषो महीः।"

६ ऋ० ३.५६.२. "तिस्रो महीरुपरास्तस्थुरत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्येका।"

७ शत०ब्रा०, १.२.१.२२; ३.१.३.९. "मह्य इति ह वाऽ एतासामेकं नाम यद्गवाम्।"

८ निघ० १.१.४८.

९ शत०ब्रा०, ७.४.२.७.

'अदिति' पद व्युत्पन्न होता है।

शतपथ-ब्राह्मण एक और निर्वचन करता हुआ कहता है:-"**सर्वं वाऽ अत्तीति तददितेरदितित्वम्**"[१] कि यह सब कुछ निगल जाती है, अर्थात् जो कुछ जगत् में दृश्यमान है, उसका समाहार अन्त में पृथ्वी में होता है, अतः, इसे 'अदिति' कहा जाता है। इस पक्ष में भक्षणार्थक 'अद्' धातु से 'अदिति' रूप निष्पन्न होता है।

काठकसंहिता एक तीसरा निर्वचन प्रस्तुत करती है:-"**यत्तदादत्त तददितिरिति**"[२] कि जो यह ग्रहण करती है अर्थात् तत् पदवाच्य को अपने भीतर समाहित कर लेती है, इसलिये इसका नाम 'अदिति' है। इस पक्ष में 'आ+'दा' धातु से 'अदिति' पद व्युत्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'अदिति' का निम्न निर्वचन देते हैं:-"**अदितिरदीना देवमाता**"[३] कि अदीना देवमाता अदिति नाम से अभिहित होती हैं। आचार्य दुर्ग 'अदीना' पद का आशय 'क्षय रहितत्व' लेते हैं अर्थात् उनके अनुसार 'नञ्' उपसर्गपूर्वक 'दीङ्' क्षये' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'अदीन' पद निष्पन्न होता है।[४] पाणिनीय व्याकरण से उक्त मत की पुष्टि होती है। माधवीया धातुवृत्ति में सायण इसी प्रकार 'अदीन' पद को व्युत्पन्न करते हैं।[५] एक अन्य स्थल पर आचार्य यास्क 'अदिति' का ऐसा ही निर्वचन और देते हैं:-"**अदीनानीति वा**"।[६]

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'अदिति' पद का निर्वचन निम्न प्रस्तुत करते हैं:-"**अदितिः (वाक्)। 'दीङ्' क्षये'। अदीना सर्वदा सर्वैः प्रयुज्यमानापि न क्षीयत इत्यर्थः**"[७] कि यह सदा प्रयुक्त होने पर भी कभी क्षीण नहीं होती है, अतः, वाक् को 'अदिति' कहते हैं। इस पक्ष में 'दीङ्' क्षये' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय, छान्दस ह्रस्व तथा 'नञ्' समास होकर 'अदिति' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अदिति' को अव्युत्पन्न नाम तथा व्यक्तिपरक संज्ञा पद मानता है।[८] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अदिति' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[९] मोनियर विलियम्स 'अदिति' पद का मूल 'दा' या 'दो' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार इसका अर्थ स्वतन्त्र, सुरक्षा, असीमित, अपरिमित आदि है। यह एक प्राचीनतम भारतीय देवी है। ऋग्वेद में यह नित्य एवं अपरिमित विस्तार वाली देवी के रूप में चित्रित है।[१०]

---

१ शत०ब्रा०, १०.६.५.५.

२ काठ०सं० ८.२.

३ निरु० ४.२२.

४ दुर्ग, निरु० वृ०, ४.२३.

५ सा०माध०धातु०, ४.२६. पृ० २८६.

६ निरु० ४.२३.

७ निघ०वृ०, १.११.४८.

८ वै०पद०को०, पृ० १३४.

९ ऋ०वै०पद०, पृ० १८.

१० संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १८.

डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि यास्क ने प्रसिद्धिवश अथवा यह उनका स्वकृत निर्वचन हो, लेकिन उक्त निर्वचन का आधार अस्पष्ट है।[१] व्याकरण के अनुसार भी 'दो' धातु के ओकार के स्थान पर 'ईकार' आदेश होकर 'अदिति' रूप सिद्ध हो जाता है।[२] इस प्रकार हम व्युत्पत्ति के आधार पर कह सकते हैं कि कुछ आचार्य 'दीङ् क्षये' को और कुछ 'दो' अवखण्डने' को 'अदिति' पद का मूल मानने के पक्ष में हैं।

वैदिक साहित्य में अदिति पद का बहुत प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि उत्तम ज्ञानों का सेवन करते हुए विद्वान् को अविनाशी विद्या (अदिति) की रक्षा करनी चाहिये।[३] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि हे प्रकाशमान देव अग्ने! आप दानशील की अदिति (अखण्ड प्रकाश) के माध्यम से और स्वयं होत्रा तथा भारती नामक वाणियों से वृद्धि प्राप्त करते हैं।[४] एक अन्य मन्त्र में गृत्समद ऋषि आदित्य का वर्णन करते हुए अदिति, मित्र और वरुण से सुख की प्रार्थना, अपराध क्षमा करने का निवेदन, इन्द्र की निर्भय ज्योति की प्राप्ति तथा दीर्घरात्रियों के सुखपूर्वक व्यतीत होने की कामना करते हैं।[५] प्रजापति ऋषि अर्य्यमा, अदिति एवं अन्य यज्ञीय देवों से वरुण के हिंसाभिन्न कार्यों को प्राप्त कराने का निवेदन करते हैं।[६] वामदेव ऋषि देवों के साथ प्रकाशमान अदिति एवं अन्य रक्षा करने वाले देवों से रक्षा करने का निवेदन करते हैं।[७] ऋजिष्वा ऋषि सुख के लिये देदीप्यमान या देने वाली अदिति का स्तोत्रों से आह्वान करते हैं।[८] एक अन्य मन्त्र में ऋजिष्वा ऋषि सत्य की रक्षा करने वाले देवों की स्तुति करने के लिये कहते हैं।[९] एक अन्य मन्त्र में वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि देवी अदिति धन को प्रदान करे तथा वायु एवं भग जिस धन को हमारे लिये निश्चित करें, वह भी हमको प्राप्त हो।[१०] हविर्धान ऋषि कहते हैं कि अदिति हमें इष्ट कार्य के मध्य में नियुक्त करती है और हममें से ज्येष्ठ उसके विषय में विशेष ज्ञान देता है।[११] लुशो धानाक ऋषि कहता है कि धन देने वाले मित्र और वरुण की माता अपने प्रकाश से हमारी समस्त पापों से रक्षा करे।[१२] जमदग्नि ऋषि अदिति को रुद्रों की माता, वसुओं की दुहिता, आदित्यों की स्वसा एवं अमृत की नाभि के रूप में चित्रित करते हैं। कभी नष्ट न होने वाली वेदविद्या (अदिति) का ऋषि उपदेश करता है और इसके विलुप्त न होने देने के लिये वह लोगों का आह्वान

---

१ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १२३.

२ पाणिनि,अष्टा०, ७.४.४०.

३ ऋ० १.१५२.६. ''पित्वो भिक्षेत वयुनानि विद्वानासाविवासन्नदितिमुरुष्येत्।''

४ ऋ० २.१.११. ''त्वमग्ने अदितिर्देव दाशुषे त्वं होत्रा भारती वर्द्धसे गिरा।''

५ ऋ० २.२७.१४. ''अदिते मित्र वरुणोत मृळ यद्वो वयं चकृम कच्चिदागः। उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र मा नो दीर्घा अभि नशन्तमिस्राः।''

६ ऋ० ३.५४.१८. ''अर्य्यमा णो अदितिर्यज्ञियासोऽदब्धानि वरुणस्य व्रतानि।''

७ ऋ० ४.५५.७. ''देवैर्नो देव्यदितिर्नि पातु देवस्त्राता त्रायतामप्रयुच्छन्।''

८ ऋ० ६.५०.१. ''हुवे वो देवीमदितिं नमोभिर्मृळीकाय वरुणं मित्रमग्निम्।''

९ ऋ० ६.५१.३. ''स्तुष उ वो मह ऋतस्य गोपानदितिं मित्रं वरुणं सुजातान्।''

१० ऋ० ७.४०.२. ''दिदेष्टु देव्यदिती रेक्णो वायुश्च यन्नियुवैते भगश्च।''

११ ऋ० १०.११.२. ''इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि वोचति।''

१२ ऋ० १०.३६.३. ''विश्वस्मान्नो अदितिः पात्वंहसो माता मित्रस्य वरुणस्य रेवतः।''

करता है।[१] शतपथ-ब्राह्मण अदिति को वाग्वाचक मानता है।[२] तैत्तिरीय-संहिता अदिति को वाक् के रूप में चित्रित करती हुई उसे उभयशीर्ष्णी बतलाती है। उसके अनुसार इसके प्रायणीय और उदयनीय दो शिर हैं।[३] मैत्रायणी-संहिता से भी इस कथन की पुष्टि हो जाती है।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् अदिति है, जिस अविनाशी विद्या का सेवन विद्वान् करता है, यह वाक् दानशील मनुष्य को प्राप्त होती है, मित्र और वरुण के साथ मिलकर यह अदिति सुखप्रदान एवं अपराध को क्षमा करती है, अर्य्यमा एवं अन्य यज्ञीय देवों के साथ मिलकर यह अदिति वरुण के हिंसाभिन्न कर्मों को प्राप्त कराती है, यह वाग्रूपा अदिति हमारी रक्षा करती है, अतः, इसका स्तोत्रों से आह्वान किया जाता है, यह महान् सत्य की रक्षा, धन प्रदान करने वाली एवं हमें इष्टकार्य में नियुक्त करती है और विषय विशेषज्ञ इसका विशेष ज्ञान देता है, मित्र और वरुण की माता यह अदिति समस्त पापों से हमारी रक्षा करती है। इसके अतिरिक्त ऋषि इस अदिति को रुद्रों की माता, वसुओं की दुहिता (दोहन करने वाली), आदित्यों की स्वसा अर्थात् अज्ञान को उत्तम प्रकार से दूर फेंक देने वाली है और अन्त में यह अमृत (मोक्ष) की नाभि (केन्द्रबिन्दु) के रूप में चित्रित हुई है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह वाक् अदिति है, जो स्वयं अध्यात्मविद्या स्वरूप होने से अविनाशी है और अध्येता को भी अविनाशी स्वरूप उपलब्ध कराती है। इस दृष्टि से 'न' पूर्व वाली 'दीङ्' क्षये' धातु को 'अदिति' पद का मूल माना जा सकता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि पृथ्वी और वाग्वाचक अदिति दोनों का मूल सम्भवतः एक नहीं है।

४९. शची

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'शची' पद समाम्नात है।[५] आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'शची' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''शची (वाक्)। 'शच' गतौ'। शचते गच्छति यज्ञम्, शच्यते गम्यते ज्ञायतेऽनयाऽर्थः''**[६] कि यह यज्ञ के प्रति जाती है अथवा इसके द्वारा वेदार्थ जाना जाता है, अतः, वाक् को 'शची' कहते हैं। इस पक्ष में गत्यर्थक 'शच्' धातु से औणादिक 'इन्' प्रत्यय तथा स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'शची' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा, 'शच' व्यक्तायां वाचि'। शचते व्यक्तां वाचं करोतीति वा''[७] कि यह व्यक्त वाणी को करती है, अतः, यह वाक् 'शची' नाम से अभिहित होती है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

---

१ ऋ० ८.१०१.१५. ''माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः। प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट।''

२ शत०ब्रा०, ६.५.२.२०. ''वाग्वाऽअदितिः।''

३ तै०सं० ६.१.७.५. ''अदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी (वाक्) इत्याह, यदेवाऽऽदित्यः प्रायणीयो यज्ञानामादित्य उदयनीयस्तस्मादेवमाह।''

४ मै०सं० ३.७.५. ''यस्त्विदादित्यः प्रायणीय आदित्या उदयनीयस्तदस्या (अदित्याःङ्वाचः) उभयतः शीर्षत्वम्।''

५ निघ० १.११.४९.

६ निघ०वृ०, १.११.४९.

७ निघ०वृ०, १.११.४९.

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'शची' पद को बलवाचक भावपद, कर्म एवं प्रज्ञावाचक नामपद तथा इन्द्राणी की व्यक्तिपरक संज्ञा मानता है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'शची' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स शक्तिशाली होने अर्थ वाली 'शच्' धातु या बोलने अर्थ वाली 'शक्' धातु से 'शची' पद को व्युत्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार यह पद ऋग्वेद में यह दक्षता, कौशल आदि अर्थ में आया है।[३]

वैदिक साहित्य में 'शची' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि इन्द्र दीप्तिमान्, लोकरक्षणार्थ कर्म करने वाला एवं बुद्धिमान् है। वह (शचीवः) उत्तम बुद्धि वाला इन्द्र अपनी वाणियों से उपदेश करता है।[४] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि इन्द्र अपनी गर्जनाओं या कौशल से वृत्र का वध करता है।[५] एक अन्य स्थान पर आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि वज्र की भुजाओं वाला इन्द्र और अग्नि अपनी प्रज्ञा अर्थात् कौशल से हमारा भरण-पोषण, शिक्षा और रक्षा करें।[६] अश्विनीदेवों की स्तुति करते हुए आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि कामनाओं की वर्षा करने वाले ये देव बुद्धियों से पङ्गु, अन्धे और बधिर के समान पुरुष को विद्या के प्रकाश से देखने में समर्थ बनाते हैं।[७] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि अश्विनीदेवों ने वृद्ध होते हुए च्यवन ऋषि को अपनी विद्याओं से पुनः युवा बना दिया है।[८] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि अश्विनीदेवों ने पुरुमित्र की योषा को अपनी विद्या से पूर्ण युवावस्था वाला बना दिया।[९] परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि उत्तम बुद्धि का जिनमें वास है, ऐसे अश्विनीदेव अपनी विद्याओं से दिन-रात हमें हमारा अभिमत प्रदान करें।[१०] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि ऋभु अर्थात् बुद्धिमान् जिन विद्याओं से मेघों को अवयवीकृत करते हैं और जिस बुद्धि से गो (ऋत) को प्राप्त करते हैं, वह हमको भी प्राप्त हो।[११] पुरुमीढ और अजमीढ ऋषियों का कथन है कि दिव्य सुख से पतित न होने वाले अश्विनीदेव विद्याओं से लक्ष्मी का सेवन करते हैं, वह विद्या हमको भी प्राप्त हो।[१२] विश्वावसु ऋषि का मत है कि सवितादेव अपनी विद्याओं से समस्त रूपों को देखता है, वही धन का मूल है और वही वसुओं की प्राप्ति कराने वाला है।[१३]

---

१ वै०पद०को०, पृ० ३०६१.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ५१७.

३ संस्कृत-इंग्लिशकोश, पृ० १०४८.

४ ऋ० १.६२.१२. ''द्युमाँ असि क्रतुमाँ इन्द्र धीरः शिक्षा शचीवस्तव नः शचीभिः।''

५ ऋ० १.१०३.२. ''व्यहन्व्यंसं मघवा शचीभिः।''

६ ऋ० १.१०९.७. ''आ भरतं शिक्षतं वज्रबाहू अस्माँ इन्द्राग्नी अवतं शचीभिः।''

७ ऋ० १.११२.८. ''याभिः शचीभिर्वृषणा परावृजं प्रान्धं श्रोणं चक्षस एतवे कृथः।''

८ ऋ० १.११७.१३. ''युवं च्यवानमश्विना जरन्तं पुनर्युवानं चक्रथुः शचीभिः।''

९ ऋ० १.११७.२०. ''युवं शचीभिर्विमदाय जायां न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषाम्।''

१० ऋ० १.१३९.५. ''शचीभिर्नः शचीवसू दिवा नक्तं दशस्यतम्।''

११ ऋ० ३.६०.२. ''याभिः शचीभिर्चमसाँ अपिंशत यया धिया गामरिणीत चर्मणः।'

१२ ऋ० ४.४४.२. ''युवं श्रियमश्विना देवता तां दिवो नपाता वनथः शचीभिः।''

१३ ऋ० १०.१३९.३. ''रायो बुध्नः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाभि चष्टे शचीभिः।''

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'शची' है, जिसके द्वारा इन्द्र उपदेश तथा विगतभुज वृत्र का वध करता है, इस वाक् के प्रयोग से अश्विनीदेव पङ्गु, अन्धे और बधिर के समान पुरुष को विद्याप्राप्ति में समर्थ बनाता है, इसी विद्या से अश्विनीदेवों ने च्यवन को युवा तथा पुरुमित्र की योषा को पूर्ण युवावस्था सम्पन्न जाया (सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ) बनाया, इस विद्या के द्वारा दिव्य सुख में वास करने वाले अश्विनीदेव हमें इच्छित वर प्रदान करते हैं एवं लक्ष्मी का सेवन करते हैं, ऋभुगण (मेधावीजन) इस विद्या के प्रयोग से मेघों को अवयवीकृत करते हैं। इसके अतिरिक्त सवितादेव इस विद्या से समस्तरूपों का अवलोकन करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विशिष्ट कला कौशल सम्पन्न वाक् 'शची' है। इसकी सामर्थ्य से मण्डित देव और मनुष्य सम्पूर्ण बाधाओं को पार कर सकने में समर्थ होते हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इंजीनियरिंग और चिकित्सा विज्ञान का सम्मिलित रूप वेद में 'शची' नाम से अभिहित हुआ है। इस दृष्टि से आधिभौतिक बाधाओं को पार कर सकने की सामर्थ्य निहित होने के कारण 'शची' पद को 'शक्' धातुमूलक माना जा सकता है।

५०. वाक्

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'वाक्' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क वाक् पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**वाक् कस्माद्? वचे:**"[२] कि वाणी से कहे जाने के कारण यह वाक् कहलाती है। इस पक्ष में परिभाषण अर्थ वाली 'वच्' धातु से 'वाक्' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाक् पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**वाक् (वाक्)। उच्यते इति वाक् इन्द्रियम्, तत्कार्य्य: शब्दोऽप्युच्यते इति वाक्, उच्यतेऽनया अर्थ: इति वाक्, स्तनयित्नुलक्षणा माध्यमिकां साप्युच्यते इति वाक्, तदधिष्ठात्र्यपि देवता वागिष्यते**"[३] कि जिससे उच्चारण किया जाता है, वह इन्द्रिय 'वाक्' है, उस वाणी से अभिव्यक्त होने वाला शब्द भी 'वाक्' कहा जाता है। उक्त शब्दात्मक वाक् से अर्थ का कथन किया जाता है, अत:, अर्थ भी 'वाक्' है। इसके अतिरिक्त स्तनयित्नुलक्षणा माध्यमिका देवता की गर्जना तथा उसका अधिष्ठाता देवता भी वाक् नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'वच्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'वाक्' शब्द निष्पन्न होता है। उणादिकोष में इसी प्रकार 'वाक्' पद को व्युत्पन्न किया गया है।[४]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वच्' धातुमूलक 'वाक्' पद को सरस्वती, वागिन्द्रिय, स्तुति प्रभृति का वाचक नामपद मानता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं।[६] मोनियर विलियम्स के अनुसार यह ऋग्वेद में वाणी, स्वर, संलाप, ध्वनि, भाषा आदि अर्थों में पाया जाता है।[७]

---

१ निघ० १.११.५०.

२ निरु० २.२३.

३ निघ०वृ०, १.११.५०.

४ उणा०, २.५८. "क्विब्वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च।"

५ वै०पद०को०, पृ० २७२२.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ४५५.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९३६.

ऋग्वेद से प्राप्त सङ्केत भी वाक् पद का मूल 'वच्' धातु को मानते हैं।[१] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा यास्क के उक्त निर्वचन को तुलनात्मक भाषाविज्ञान द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने योग्य मानते हैं। उनके अनुसार यह शब्द भारोपीय भाषा में 'u̯eku̯' शब्द अर्थ में तथा लैटिन में 'voco' मैं बोलता हूँ' अर्थ में पाया जाता है।[२]

वैदिक साहित्य में वाक् पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में घोरपुत्र कण्व ऋषि कहते हैं कि देवता जानने योग्य, अहिंसनीय, कल्याणकारक मन्त्र का उपदेश करते हैं। उस मन्त्ररूपा वाक् को मनुष्य को जानना चाहिये और सभी लोग इस प्रशंसनीय वाक् से व्याप्त हैं।[३] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि हम महान् इन्द्र के लिये स्तुतियुक्त वाणी का निरन्तर प्रयोग करते हैं।[४] राहूगण गोतम ऋषि का कथन है कि अत्यन्त सुख की इच्छा करने वाले ऋषि तीक्ष्ण ज्वालाओं वाले अग्नि के लिये पवित्र वाणियों वाली स्तुतियों को धारण करते हैं।[५] एक अन्य सूक्त में राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि समस्त जीवों को निद्रा से जगाती हुई उषा, मन के अनुसार वाग्व्यापर करने वाले प्राणियों की वाणी को प्राप्त होती है।[६] आङ्गिरस कुत्स ऋषि अश्विनीदेवों से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि ये देव हमारी वाणी को कर्म से संयुक्त करें। कामनाओं की वर्षा एवं दुःखों का विनाश करने वाले ये देव हमारी बुद्धियों को वेदज्ञान के लिये समर्थ बनायें।[७] परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि अनवद्य और हम पर अनुग्रह करने के लिये तत्पर रहने वाला इन्द्र हमारी हवि को उसी प्रकार स्वीकार करे, जिस प्रकार वह मेधावियों की स्तुति को स्वीकार करता है।[८] दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि मैं अग्नि के लिये अतिशय शक्तिशाली एवं नूतन मति तथा कर्म वाली वाक् को कहता हूँ।[९] एक अन्य सूक्त में दीर्घतमस् ऋषि वाक् का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो सबके द्वारा सेवन न की गयी हो, लेकिन जिसको सब लोग प्राप्त होते हैं, उस वाणी को विचारपूर्वक गुप्त रखने वाला दूरस्थ प्रकाशमान द्युलोक को प्राप्त होता है अर्थात् फिर वह कभी दुःख को प्राप्त नहीं करता है।[१०] इसी सूक्त में वे आगे प्रश्न पूर्वक कहते हैं कि वर्षक और व्यापनशील आदित्य तथा सम्पूर्ण वाग्जात को धारण करने वाले आकाश का रेतस् के समान कारण क्या है?[११] इन प्रश्नों का उत्तर देता हुआ ऋषि कहता है कि इस वर्षक आदित्य का जनक रसात्मक सोम तथा वाक् के कारणभूत आकाश का मूल कारण ब्रह्म अर्थात् प्रजापति है।[१२] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि

---

१ ऋ०.७८.५; ६.३१.१.

२ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ५१.

३ ऋ० १.४०.६. ''तमिद्वोचेमा विदथेषु शम्भुवं मन्त्रं देवा अनेहसम्। इमां च वाचं प्रति हर्यथा नरो विश्वेद्वामा वो अश्नवत्।''

४ ऋ० १.५३.१. ''न्यू३ षु वाचं प्र महे भरामहे गिर इन्द्राय सदने विवस्वतः।''

५ ऋ० १.७९.१०. ''प्र पूतास्तिग्मशोचिषे वाचो गोतमाग्नये। भरस्व सुम्नयुर्गिरः।''

६ ऋ० १.९२.९. ''विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचमविदन्मनायोः।''

७ ऋ० १.११२.२४. ''अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे कृतं नो दस्रा वृषणा मनीषाम्।''

८ ऋ० १.१२९.१. ''सास्माकमनवद्य तूतुजान वेधसामिमां वाचं न वेधसाम्।''

९ ऋ० १.१४३.१. ''प्र तव्यसीं नव्यसीं धीतिमग्नये वाचो मतिं सहसः सूनवे भरे।''

१० ऋ० १.१६४.१०. ''मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्यं पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्।''

११ ऋ० १.१६४.३४. ''पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम।''

१२ ऋ० १.१६४.३६. ''अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम।''

कहता है कि जो मनीषी और ब्राह्मण हैं, वे वाणी के नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात रूप पदों अथवा परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरीरूप को जानते हैं। इनमें से तीन गुहा में स्थित हैं, साधारण मनुष्य वाणी के चतुर्थ निपात या वैखरी रूप का व्यवहार करते हैं।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह 'वाक्' वाणी है, जो मन्त्ररूपा है तथा मनुष्यों के द्वारा जानने योग्य है, जिसका प्रयोग इन्द्र की स्तुति के लिये होता है और जो पवित्र है, मन के अनुसार व्यवहार करने वाले मनुष्यों के द्वारा इसका उपयोग किया जाता है, इस वाणी को कर्म से संयुक्त होने वाला बताया गया है, यह मेधावियों की वाणी कही जाती है, इसको ऋषि तव्यसी (शक्तिशाली) और नव्यसी (नूतन) के साथ-साथ मति एवं कर्म वाली बतलाता है, इस वाक् का गुप्तरूप में उपयोग करने वाला मेधावी दुःखरहित द्युलोक के परभाग में विराजमान होता है, इस वाक् का कारण ऋषि के अनुसार परम व्योम है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद की दृष्टि में ब्राह्मण और मनीषी वाक् के परिमित चार रूपों से परिचित होते हैं, इनमें से तीन (नाम, आख्यात, उपसर्ग या परा, पश्यन्ती, मध्यमा) रूप गुहा में स्थित होते हैं, चतुर्थ (निपात या वैखरी) रूप को साधारण जन उच्चारण करते हैं।

इस प्रकार भाषा का सामान्य नाम वेद में 'वाक्' नाम से अभिहित हुआ है। सम्भवतः, वागिन्द्रिय के कारण शब्द का नामकरण वाक् हुआ है। इस दृष्टि से देखने पर विना किसी सन्देह के 'वाक्' पद का मूल 'वच्' धातु को माना जा सकता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित प्रतीत होता है कि सामान्य वाणी वाचक नाम होने पर भी यह ऋग्वेद में परिष्कृत वाणी का अभिधान है, इसको मेधावियों की वाणी कहा गया है।

५१. अनुष्टुप्

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'अनुष्टुप्' पद परिगणित है।[२] दैवत-ब्राह्मण में 'अनुष्टुप्' का निम्न निर्वचन प्राप्त होता है:-''**अनुष्टुबनुस्तोभनात्**''[३] कि अनुष्टोभन से यह अनुष्टुप् कहलाता है। इस पक्ष में 'अनु+'स्तुभ्' धातु से 'अनुष्टुप्' शब्द उपपन्न होता है।

आचार्य यास्क 'अनुष्टुप्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अनुष्टुबनुष्टोभनाद् गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोभतीति च ब्राह्मणम्**''[४] कि अनुष्टोभन से इसका नाम अनुष्टुप् है। ब्राह्मण कहता है कि प्रत्येक आठ अक्षर वाले तीन पादों में गायत्री समाप्त होता है, यह अनुष्टुप् छन्द चतुर्थपाद से इस गायत्री का अनुष्टोभन अर्थात् उसमें एक पाद (अष्टाक्षर) की वृद्धि कर देता है। इस पक्ष में 'अनु' पूर्ववाली स्तुत्यर्थक नैघण्टुक 'स्तुभ्' धातु से 'अनुष्टुप्' रूप निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'अनुष्टुप्' का निर्वचन निम्नप्रकार से करते हैं:-''**अनुष्टुप् (वाक्)। अनुपूर्वात् स्तोभतेः। अनुपूर्वेण क्रमेण, पूर्वमाकाशात्मना ततः स्पर्शादिभिर्व्यज्यमाना वर्द्धते। तथा चोपनिषत्-**

---

१ ऋ० १.१६४.४५. ''चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।''

२ निघ० १.११.५१.

३ दै०ब्रा०, ३.७.

४ निरु० ७.१२.

अकारो वै सर्ववाक्, सैव स्पर्शेष्वभिव्यज्यमाना बह्वी नानारूपा परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी इति''[१] कि यह क्रमशः पहले आकाश, उसके पश्चात् स्पर्शादि प्रयत्नों से अभिव्यक्त होती हुई वृद्धि को प्राप्त करती है। उपनिषद् कहती है कि सम्पूर्ण वाक् अकार है, स्पर्शादि के द्वारा अभिव्यक्ति प्राप्त करता हुआ यह अकार परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के माध्यम से अनेकविध हो जाता है। इस पक्ष में वृद्धि अर्थ में 'अनु+'स्तुभ्'+क्विप्' से 'अनुष्टुप्' रूप सिद्ध होता है।

(ख)''**यद्वा, पूर्वं पञ्चाशदक्षरात्मना ततो गद्यपद्यादिरूपेण वर्द्धते। तथाहि-परिमिता वर्णा अपरिमितां वाचो गतिमाप्नुवन्ति-इति भगवानाश्वलायनः**''[२] कि पहले यह वाक् पचास अक्षरों के रूप में और उसके पश्चात् यह गद्यपद्यादिरूप में वृद्धि को प्राप्त करती है, अतः, यह 'अनुष्टुप्' कहलाती है। इस पक्ष में 'अनुष्टुप्' रूप पूर्ववत् सिद्ध होता है।

(ग)''**यद्वा, स्तोभतिरर्चतिकर्मा। आनुपूर्व्येण स्तौति देवताः**''[३] कि क्रमशः देवताओं की स्तुति करता है, अतः, यह 'अनुष्टुप्' कही जाती है। इस पक्ष में 'अनु' पूर्ववाली अर्चतिकर्मा 'स्तुभ्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'अनुष्टुप्' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अनु+'ष्टु'='स्तुभ्' से 'अनुष्टुप् को व्युत्पन्न मानते हैं।[४] मोनियर विलियम्स के अनुसार 'अनु+'स्तुभ्' से 'अनुष्टुप्' पद निष्पन्न होता है।[५] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का मत है कि भारोपीय भाषा की 'स्तु' धातु संस्कृत में 'स्तुभ्' हो गयी है। भारोपीय भाषा 'stu' 'उच्च स्वर से स्तुति करना' अर्थ में तथा अवेस्ता में 'staoiti' 'वह स्तुति करता है' अर्थ में है। उनके अनुसार यह यास्कीय निर्वचन तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने योग्य है।[६]

वैदिक साहित्य में 'अनुष्टुप्' पद का अत्यल्प प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में निहव ऋषि कहते हैं कि अनुष्टुप् युक्त वाणी का अनुसरण करने वाले इन्द्र को क्रान्तदर्शी विद्वान् जानते हैं।[७] एक अन्य स्थान पर ऋषि कहता है कि अग्नि के साथ सम्बद्ध होकर गायत्री छन्द, उष्णिक् छन्द के साथ सम्बद्ध होकर सविता, स्तुत शस्त्रों सहित अनुष्टुप् छन्द से सोम तथा महान् बृहस्पति से बृहती छन्द प्रकट होता है।[८] ऋषि के कथन का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि यज्ञ के देवों और मन्त्रों के विषयों का सम्बन्ध छन्दों से है। प्रथ वासिष्ठ ऋषि कहते हैं कि विस्तृत और सुप्रथित तेज वाले अग्निदेव और अनुष्टुप् छन्दोयुक्त हवनीय हवि को

---

१ निघ०वृ०, १.११.५१.७४८.निघ०वृ०, १.११.५१.

२ निघ०वृ०, १.११.५१.

३ निघ०वृ०, १.११.५१.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ३०. वै०पद०को०, पृ० २५८.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ४०.

६ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ४०.

७ ऋ० १०.१२४.९. ''अनुष्टभमनु चर्चूर्यमाणमिन्द्रं नि चिक्युः कवयो मनीषा।''

८ ऋ० १०.१३०.४. ''अग्नेर्गायत्र्यभवत्सयुग्वोष्णिहया सविता सं बभूव। अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत्।''

यज्ञविद् वसिष्ठ जानता है। वह धाता, द्योतमान सविता तथा विष्णु से रथन्तर साम को ग्रहण करता है।[१] जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है कि वह वाक् ही अनुष्टुप् है। यह वाक् द्विविध है, इससे अन्न का भक्षण भी होता है और बोला भी जाता है।[२] एक अन्य स्थान पर जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है कि गायत्री का उत्पतन हुआ और उसको अनुष्टुप् माता ने देखा।[३] अनेकशः ब्राह्मण वाक् को अनुष्टुप् नाम से अभिहित करता है।[४] कौषीतकि-ब्राह्मण प्रथमा वाक् को अनुष्टुप् कहता है।[५] ऐतरेय-ब्राह्मण अनुष्टुप् को कुहू कहता है।[६] इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि अनुष्टुप् वह वाक् है, जिसमें गेयता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् अनुष्टुप् है, जिसका अनुसरण या उसके आह्वान को सुनकर इन्द्र चला आता है, छन्दों के विकास क्रम में गायत्री के पश्चात् इसका स्थान आता है तथा इस छन्द का देवता सोम है। इसके अतिरिक्त अनुष्टुप् छन्दोयुक्त हवि को जानने वाला वसिष्ठ है। ब्राह्मण वाक् को द्विविध बतलाता है, एक अन्न का भक्षण तथा द्वितीय उच्चारण करने वाली है। इस अनुष्टुप् छन्द का आविर्भाव गायत्री के पश्चात् हुआ है, इस तथ्य से परिचित ब्राह्मण गायत्री के उत्पतन को अनुष्टुप् माता द्वारा देखा हुआ बतलाता है। पद्य का मूल सम्भवतः, अनुष्टुप् से हुआ है, इस दृष्टि से अनुष्टुप् प्रथमा वाक् कही जाती है। इसमें निहित गेयता के कारण यह कुहू भी कही गयी है। इस प्रकार विचार करने पर ज्ञात होता है कि पद्यात्मक वाक् ऋग्वेद में 'अनुष्टुप्' नाम से अभिहित हुई है। सम्भवतः, गायत्री छन्द की अपेक्षा पाद की दृष्टि से बढ़ी तथा उसके पश्चात् अस्तित्व में आने के कारण इसके पूर्व में 'अनु' का प्रयोग हुआ है। इस दृष्टि से 'अनु+'स्तुभ्' को 'अनुष्टुप्' का मूल स्वीकार किया जा सकता है।

५२. धेनुः

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'धेनु' पद पठित है।[७] धेनु पद का निर्वचन करता हुआ ऐतरेय आरण्यक कहता है:-"**आपो वाव धेनवस्ता हीदं सर्वं धिन्वन्ति**"[८] कि उदक ही धेनु है, क्योंकि ये सब को तृप्त करते हैं। इस पक्ष में 'धिन्व्' धातु से 'धेनु' शब्द निष्पन्न होता है।

काण्वीय शतपथ-ब्राह्मण का इस विषय में अभिमत है:-"**धेनुरिव वा इयं (पृथिवी) मनुष्येभ्यः सर्वान् कामान् दुहे**"[९] कि धेनु के समान यह पृथिवी सम्पूर्ण कामनाओं का दोहन करती है, अतः, यह 'धेनु'

---

१ ऋ० १०.१८१.१. "प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टभस्य हविषो हविर्यत्। धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णो रथन्तरमा जभारा वसिष्ठः।"

२ जै०ब्रा०, १.२५४. "अथानुष्टुप् वागेव सा।.....द्वयं वाचा करोति, अन्नं चैनयात्ति वदति च।"

३ जै०ब्रा०, १.२८८. "गायत्र्युदपतत्, तामनुष्टुम् माता प्रत्यन्वैक्षत।"

४ तै०सं० १.७.५.५; मै०सं० ३.९.५; जै०ब्रा०, १.२६९; शत०ब्रा०, ८.५.२.५. "वागनुष्टुप्।"

५ कौ०ब्रा०, १५.३; १६.४. "वागेवासौ प्रथमानुष्टुप्।"

६ ऐत०ब्रा०, ३४७.; ४८. "या कुहूः सानुष्टुप्।"

७ निघ० १.११.५२.

८ ऐ०आ०, १.३.५. (तु०, कौ०, १२.१.)

९ का० शत०ब्रा०, १.२.१.१२.

कही जाती है। इस पक्ष में 'दुह्' धातु से 'धेनु' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'धेनु' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**धेनुर्धयतेर्वा**"[१] कि पान कराने के कारण यह धेनु कही जाती है। इस पक्ष में 'धेट्' पाने' धातु से 'धेनु' पद निष्पन्न होता है।

(ख)"**धिनोतेर्वा**"[२] कि रस से तृप्त करती है, अतः, यह 'धेनु' नाम से अभिहित होती है। इस पक्ष में प्रीणनार्थक 'धिन्व्' धातु से 'धेनु' पद उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'धेनु' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**धेनुः (वाक्)। 'धेट्' पाने'। धयति तामिति धेनुः, पीयते हि वा तत्प्रवृत्तवृष्टिद्वारेण**"[३] कि उसका पान करती है, या उसके द्वारा की गयी वर्षा से उदक पीया जाता है, अतः, यह 'धेनु' कहलाती है। इस पक्ष में 'धेट्' पाने' धातु से औणादिक 'नु' प्रत्यय होकर 'धेनु' पद निष्पन्न होता है। उणादिकोष में उक्त प्रकार से 'धेनु' पद निष्पन्न किया गया है।[४]

(ख)"**धेनुवद् दोग्ध्री सर्वकामान् इति वा**"[५] कि यह धेनु के समान सम्पूर्ण कामनाओं का दोहन करती है। आचार्य दण्डी कहते हैं:-"**गौर्गौः कामदुघा, सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः**"[६] कि सम्यक् रूप से प्रयुक्त अर्थात् कामनाओं का दोहन करने के कारण वाक् विद्वानों के द्वारा गौ कही जाती है। इस पक्ष में 'दुह्' धातु से 'धेनु' पद निष्पन्न होता है। वेद से भी उक्त मत का व्यापक रूप से अनुमोदन हो जाता है।[७]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'धेनुः' पद को गो का विशेषण एवं नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। उणादिकोष 'धे' धातु तथा वेङ्कट और सायण 'धि' प्रीणने' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[८] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स 'धेनु' पद का मूल 'धे' धातु को मानते हैं।[९] मोनियर विलियम्स के अनुसार ऋग्वेद में यह गौ अर्थ में प्रयुक्त है।[१०] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि यह पद भारोपीय भाषा में 'dhei' 'स्तनपान करना या कराने' अर्थ में तथा अवेस्ता में 'daenu' 'चतुष्पाद पशुओं की मादा' अर्थ में पाया जाता है। उनके अनुसार 'धे' धातुमूलक निर्वचन तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने योग्य है, जबकि द्वितीय निर्वचन के विषय में वे अविकसित भाषा-विज्ञान तथा अपर्याप्त वैदिक साहित्य के शोध के अभाव में अभी कुछ कह पाना सम्भव

---

१ निरु० ११.४२.

२ निरु० ११.४२.

३ निघ०वृ०, १.११.५२.

४ उणा०, ३.३४.

५ निघ०वृ०, १.११.५२.

६ निघ०वृ०, १.११.५२.

७ ऋ० १.१३४.४; १३७.३; १६४.२६; १८६.४; २.२.९; ३२.३; ३५.७; ३.५८.१; ४.२३.१०; ५७.२; ५.६९.२; ७.१८.४; ८.१०.१००.

८ वै०पद०को०, पृ० १७४२.

९ ऋ०वै०पद०, पृ० २७७.

१० संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५२०.

नहीं मानते हैं।[१]

वैदिक साहित्य में 'धेनु' पद का व्यापक प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में पराशर ऋषि का कथन है कि ऋत की कामना और उसको धारण करने वाली वाणियाँ प्रकाशित होती हैं।[२] राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि प्रसन्न या प्रिय लगने वाली इन्द्र की वाणियाँ दुर्गुणों का नाश, सोम को सिद्ध और वासक स्वराज्य के अनुकूल होती हैं।[३] मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि मेधावीजन अग्नि और जल से गमन करने वाले सुखकर रथ बनाते हैं और वे ही समस्त ज्ञान-विज्ञान को प्रकाशित करने वाली वाणी को प्रकाशित करते हैं।[४] परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि उस प्रसिद्ध वाणी को देवताओं ने अङ्गिरस् ऋषियों के लिये प्रदान किया, उस वाक् को अर्यमा ने कर्ता के निमित्त अन्य देवों के साथ दोहन किया।[५] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि ब्रह्म जिसे प्रिय है, ऐसे मेधावी को अपना पुत्र मानती हुई वाणियाँ अपने में स्थित विद्या का पान कराती हैं।[६] एक अन्य स्थान पर दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि मैं सरलता से दुहने योग्य धेनुरूप वाणी का आह्वान करता हूँ। सुन्दर हाथों वाला एवं गोदोहन में कुशल इस वाणी का दोहन करे।[७] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि प्रकाशयुक्त, सुख की वर्षा करने वाले, व्यापनशील अग्निदेव की वाणियाँ दिव्य एवं कोमल विज्ञान को वहन करती हुई स्थित होती हैं।[८] प्रस्कण्व ऋषि कहते हैं कि स्वधायुक्त वाणियाँ मेधावीजनों के हृदयों में (विज्ञान का) दान देती हुईं स्वादिष्ठ लगती हैं।[९] मेधातिथि ऋषि इन्द्र का स्तवन करते हुए कहते हैं कि आज शीघ्रता से समस्त ज्ञानविज्ञान का प्रकाशन करने वाली वाक् का आह्वान करता हूँ। यह सुदुघा धेनु, ऐश्वर्यपूर्ण, अलङ्कृत, अनेक विद्याओं वाली वाञ्छनीय पदार्थ प्रदान करने वाली है।[१०] एक स्थान पर ऋषि फल और पुष्प से रहित वाणी को अधेनु बतलाता है।[११] मैत्रायणी-संहिता, गोपथ-ब्राह्मण और ताण्ड्य-महाब्राह्मण वाक् को धेनु बतलाते हैं।[१२] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि वाग्रूपा धेनु की उपासना करनी चाहिये।[१३] एक अन्य स्थान पर उक्त ब्राह्मण कहता है कि उन देवताओं ने वाक् को ही धेनु बनाया।[१४]

---

१ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ४७, ७९.

२ ऋ० १.७३.६. "ऋतस्य हि धेनवो वावशानाः स्मदूध्नी पीपयन्त द्युभक्ताः।"

३ ऋ० १.८४.११. "प्रिया इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम्।"

४ ऋ० १.२०.३. "तक्षन्नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथम्। तक्षन् धेनुं सबर्दुघाम्।"

५ ऋ० १.१३९.७. "यद्ध त्यामङ्गिरोभ्यो धेनुं देवा अदत्तन। वि तां दुह्रे अर्यमा कर्तरी सचाँ एष तां वेद मे सचा।"

६ ऋ० १.१५२.६. "आ धेनवो मामतेयमवन्तीर्ब्रह्मप्रियं पीपयन्त्सस्मिन्नूधन्।"

७ ऋ० १.१६४.२६. "उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्।"

८ ऋ० ३.७.२. "दिवक्षसो धेनवो वृष्णो अश्वा देवीरा तस्थौ मधुमद्वहन्तीः।"

९ ऋ० ८.४९.५. "यं ते स्वधावन्त्स्वदयन्ति धेनव इन्द्र कण्वेषु रातयः।"

१० ऋ० ८.१.१०. "आ त्व१ द्य सबर्दुघां हुवे गायत्रवेपसम्। इन्द्रं धेनुं सुदुघामन्यामिषुमुरुधारामरङ्कृतम्।"

११ ऋ० १०.७१.५. "अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्।"

१२ मै०सं० ४.४.८. गो०ब्रा०, १.२.२१. तां०ब्रा०, १८.९.२१. "वाग्वै धेनुः।"

१३ शत०ब्रा०, १४.८.९.१. "वाचं धेनुमुपासीत।"

१४ शत०ब्रा०, ९.१.२.१७. "वाचमेव तद्देवा धेनुमकुर्वत।"

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'धेनु' है, जो ऋत को धारण करती हैं, ये प्रिय लगने वाली वाणियाँ दुर्गणों का नाश, स्वराज्य के अनुकूल तथा सोम को सिद्ध करती हैं, ये वाणियाँ वे विद्यायें हैं जिनसे सुखकर रथ का निर्माण और विविध विज्ञान अभिव्यक्ति प्राप्त करता है, यह विज्ञान अङ्गिरस् ऋषियों (अपने अङ्गों से रस (स्वेद) प्रवाहित करने वालों) को प्राप्त होता है, ये वाणीरूपा धेनुएँ ब्रह्मप्रिय मेधावी जनों को विद्या का पान कराती हैं, इसका दोहन वही कर सकता है, जो सुहस्त (जिसका हाथ सधा हुआ है) और गोदोहन में कुशल है, अग्निदेव के संरक्षण में रहने वाली ये धेनुएँ प्रकाशयुक्त, सुख की वर्षा करने वाली, दिव्य और कोमल हैं, ये अपनी विद्या का दान मेधावीजनों के हृदयों में करती हुई स्वादिष्ठ लगती हैं, यह समस्त वाञ्छनीय पदार्थ और ऐश्वर्य प्रदान कराने वाली हैं, सम्यक् उपयोग की विधि न जानने वाले के लिये ये अधेनु हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखकर सम्भवत: महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि ने कहा है:-"**एक: शब्द: सम्यग् ज्ञात: सुप्रयुक्त: स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति**"।[१] इस प्रकार जो वाक् समस्त कामनाओं का दोहन करने में समर्थ है, वैदिक ऋषि की दृष्टि में वह 'धेनु' है। इस दृष्टि से 'धेनु' पद का मूल 'दुह्' धातु प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त यह पद वाक् के लिये चतुष्पाद गो पशु की समानता के आधार पर प्रयुक्त हुआ होगा।

५३. वल्गु:

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'वल्गु:' पद समाम्नात है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'वल्गु' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**वल्गु: (वाक्)। 'वल' संवरणे'। संवृणोत्याच्छादयति जगत् व्याप्नोतीति यावत्**"[३] कि यह जगत् को आच्छादित कर लेती है, अत:, वाक् को 'वल्गु' कहते हैं। इस पक्ष में संवरणार्थक 'वल्' धातु से औणादिक 'उ' प्रत्यय और 'गुग्' का आगम होकर 'वल्गु' रूप निष्पन्न होता है। उणादिकोष में उक्त प्रकार से 'वल्गु' पद उपपन्न किया जाता है।[४]

(ख)"यद्वा, वल्गति: शब्दार्थ:। गर्जितादिलक्षणं शब्दं करोतीति वल्गु:"[५] कि यह गर्जना लक्षण वाले शब्द को करती है, अत:, यह वाक् 'वल्गु' कहलाती है। इस पक्ष में 'वल्ग्' धातु से 'वल्गु' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष अव्युत्पन्न 'वल्गु:' पद को आवर्जक, रसवान्, मधुर का विशेषणपद मानता है। पेटरसन वृज्' आवर्जने' से 'वर्गु' और उससे 'वल्गु' रूप को उपपन्न करते हैं।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'वल्गु' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स 'वल्गु' पद का मूल उच्छलन या नर्तन अर्थ

---

१ पत०,महाभाष्य, प्रथमाह्निकम्। निघ०वृ०, १.११.५२.

२ निघ० १.११.५३.

३ निघ०वृ०, १.११.५३.

४ उणा०, १.१९. "वलेर्गुक् च।"

५ निघ०वृ०, १.११.५३.

६ वै०पद०को०, पृ० २७६८.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० ४६३.

वाली 'वल्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद मनोहर, सुन्दर, आकर्षक अर्थ में आया है।[१]

वैदिक साहित्य में 'वल्गु' पद का प्रयोग केवल छः बार हुआ है। ऋग्वेद में भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि हम मनोहर वाणी वाले एवं दर्शनीय अश्विनीदेवों की प्राचीन और नवीन वाणी से सेवा करते हैं।[२] एक अन्य स्थान पर भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि मनोहर वाणी वाले, अनेकों द्वारा आहूत अश्विनीदेव आज कहाँ स्थित होने पर दूत के समान प्रेरित स्तोम को प्राप्त करते हैं।[३] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि मनोहर वाणी वाले अश्विनीदेवों को मेधावी यजमान हवियों के द्वारा वरण करता है।[४] गोपवन आत्रेय ऋषि अश्विनीदेवों से प्रार्थना करते हैं कि मनोहर वचन बोलने आप अत्रि (मातापितृभ्रातृविहीन शिशु) के सन्तापों का निवारण कीजिये।[५] कृष्ण द्युम्नीक ऋषि कहते हैं कि मनोहर वाणी बोलने एवं विविध कर्मों को करने वाले दर्शनीय अश्विनीदेव धारणावती बुद्धि के साथ शीघ्र आयें।[६] नाभानेदिष्ठ ऋषि देवपुत्रों एवं ऋषियों का आह्वान करते हुए कहते हैं कि ये नाभानेदिष्ठ (ध्यानी विद्वान्) की कल्याणकारक वाणी को अपने हृदयरूपी गृह में सुनें।[७] उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि उक्त छः में से पाँच उद्धरण अश्विनीदेवों से सम्बन्धित हैं। वैदिक ऋषि ने इन पाँच स्थानों पर अश्विनीदेवों के विशेषण के रूप में 'वल्गु' पद का प्रयोग किया है। इन स्थानों पर 'वग्लु' पद का अर्थ 'मनोहर वाणी बोलने वाले' अश्विनीदेव माने जा सकते हैं। शेष एक स्थान पर स्पष्टरूप से यह वाणी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ ऋषि कहते हैं कि देव और ऋषिगण नाभानेदिष्ठ की कल्याणकारक वाणी को अपने गृह में ध्यान से सुनें। मात्र इतने कथन से 'वल्गु' का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है। लेकिन अश्विनीदेवों के विशेषण के रूप में आये 'वल्गु' पद के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वल्गु और अश्विनीदेवों में समानता है। इसके अतिरिक्त पाणिनीय धातुवृत्ति में दो 'वल्ग्' धातुयें प्राप्त होती हैं,[८] इनमें से एक गत्यर्थक और द्वितीय पूजा तथा माधुर्य अर्थ वाली है। इस प्रकार वह वाक् 'वल्गु' है, जो अश्विनीदेवों के समान दीन, दुःखियों का कष्ट दूर करने वाली और मधुर है। इस दृष्टि से गत्यर्थक 'वल्ग्' धातु को 'वल्गु' पद का मूल माना जा सकता है।

५४. गल्दा

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'गल्दा' पद परिगणित है।[९] आचार्य यास्क 'गल्दा' पद का

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९२८.

२ ऋ० ६.६२.५. ''ता वल्गू दस्रा पुरुशाकतमा प्रत्ना नव्यसा वचसा विवासे।''

३ ऋ० ६.६३.१. ''क्व१ त्या वल्गू पुरुहूताद्य दूतो न स्तोमोऽविदन्नमस्वान्।''

४ ऋ० ७.६८.४. ''आ वल्गू विप्रो ववृतीत हव्यैः।''

५ ऋ० ८.७३.८. ''वरेथे अग्निमातपो वदते वल्ग्वत्रये। अन्ति षद्भूतु वामवः।''

६ ऋ० ८.८७.६. ''ता वल्गू दस्रा पुरुदंससा धियामश्विना। श्रुष्ट्या गतम्।''

७ ऋ० १०.६२.४. ''अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तच्छृणोतन।''

८. सा०,माध०धातु०, १.१४०. पृ० ५८. अनुक्रमणिका,कण्ड्वादयः, ३.

९ निघ० १.११.५४.

निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**गल्दया, गालनेन**"[१] कि आस्वादन सहित निगलने से गलधमनि को 'गल्दा' कहा जाता है। इस पक्ष में आस्वादनार्थक 'गल्' धातु से 'गल्दा' रूप निष्पन्न होता है।

(ख)"**गल्दा धमनयो भवन्ति गलनमासु धीयते**"[२] कि धमनि को गल्दा कहते हैं, क्योंकि इनमें स्वाद स्थित होता है। इस पक्ष में 'गल्'+'धा' से 'गल्दा' रूप उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गल्दा' पद के अर्थ और व्युत्पत्ति दोनों को सन्दिग्ध मानता है। गेज्डनर, ग्रिफिथ एवं पिशेल उक्तपद को भावपद मानते हुए 'गल्' क्षरणे' धातु से व्युत्पन्न मानते हैं। ओल्डनबर्ग 'गिर्' का विशेषण तथा सम्भवतः, उसे बलवाचक नामपद भी मानते हैं। नवीनभारतीभाषा उक्तपद को मलवाचक मानती है, यह 'गल्दा' शब्द लोकभाषा में 'गर्दा' होगया है।[३] आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'गल्दा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**गल्दा (वाक्)। 'गल' अदने'। गलनं पूरणं कामानां, गलः पूरणार्थः स्कन्दस्वामिनोक्तः, तद्ददाति**"[४] कि कामनाओं को पूर्ण करने से वाक् 'गल्दा' कही जाती है। इस पक्ष में 'गल्' और 'दा' धातुओं से 'गल्दा' रूप निष्पन्न होता है।

ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'गल्दा' को पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'गल्दा' का मूल 'गल्' धातु को मानते हैं।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का यास्कीय ('गल्'+'धा') निर्वचन के विषय में अभिमत है कि यहाँ महाप्राणध्वनि 'ध्' का अल्पप्राणध्वनि 'द्' में परिवर्तन भाषाविज्ञान के नियमों के अनुकूल नहीं है, अतः, वे उक्त निर्वचन को शिथिल मानते हैं।[७]

वैदिक साहित्य में 'गल्दा' पद का मात्र एक बार प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में प्रगाथ घौर ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे इन्द्र! मेरा निवेदन आपको क्रोध दिलाने वाला न हो, एतदर्थ मैं यज्ञों या ऐश्वर्य की प्राप्ति के अवसरों पर सोम की गल्दा से (सोमयुक्त वाणी से) आपकी स्तुति करता हूँ।[८]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि उक्त एकमात्र उद्धरण से 'गल्दा' का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। निःसन्दिग्ध रूप से, उक्त उद्धरण में 'गल्दा' पद वाक् अर्थ में प्रयुक्त नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त आचार्य यास्क, सायण एवं दुर्ग आदि भाष्यकारों ने यहाँ 'गल्दा' का अर्थ 'वाक्' नहीं माना है। वे 'गल्दा' का अर्थ 'सोम से गलधमनि को पूर्ण करना या सोमनिर्मित स्वादिष्ठ भोज्य या पेय' पदार्थ ग्रहण

---

१ निरु० ६.२४.

२ निरु० ६.२४.

३ वै०पद०को०, पृ० १२१९.

४ निघ०वृ०, १.११.५४.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० १८५.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३५१.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १०९.

८ ऋ० ८.१.२०. "मा त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं गिरा। भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत्।"

करते हैं।[१] इस प्रकार 'गल्दा' का स्वरूप अस्पष्ट होने से उक्त पद के निर्वचन के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

५५. सर:

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'सर:' पद परिगणित है।[२] आचार्य यास्क 'सर:' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सर इत्युदकनाम, सर्ते:**"[३] कि सर यह उदक वाचक नाम है, प्रवाहशील होने से उदक को 'सरस्' कहा जाता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'सृ' धातु से 'सरस्' रूप निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'सरस्' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"सर: (वाक्)। 'सृ' गतौ'। सरति जानाति सर्वं देवतात्वात्, ज्ञायते वा विद्वद्भि:, सरति गच्छत्येव वाहूता"[४] कि देवता होने से यह सबको जानता है, या विद्वानों के द्वारा जाना जाता है या आहूत किये जाने पर यह उपस्थित हो जाता है, अत:, वाग्देवता को 'सरस्' कहते हैं। इस पक्ष में 'सृ' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'सरस्' रूप उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सरस्' शब्द को जल, जलाशय वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद की उत्पत्ति विकास प्रक्रिया निम्न रहने की सम्भावना है:-'भृष्वर (क्लेदवाचक भावपद तथा जलवाचक नामपद)=भृष्वरस्=स्वरस्=सरस्'। लेकिन प्राय: आचार्य 'सृ' गतौ धातु से व्युत्पन्न करते हैं।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'सरस्' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स 'सरस्' का मूल 'सृ' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद प्रवाहित होने वाले तरल पदार्थ और तडाग अर्थ में प्रयुक्त है।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का इस विषय में अभिमत है कि भारोपीय भाषा में यह शब्द 'ser' प्रवाह अर्थ में तथा लैटिन में 'sirt' 'समूह में अपने निवासस्थान से अन्य स्थान पर जाना' अर्थ में है। उनके अनुसार यह निर्वचन तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने योग्य है।[८]

वैदिक साहित्य में 'सरस्' पद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार संवत्सर के प्रथम वर्षा वाले दिन इधर-उधर स्थित होकर मण्डूक उच्च स्वर से चारों ओर बोलते हैं। ठीक उसी प्रकार अतिरात्र नामक सोमयज्ञ में ब्राह्मण उच्च स्वर में मन्त्र का उच्चारण करते हैं।[९]

---

१ निरु० ६.२४. दुर्गवृत्ति, निरु० ६.२४. सायण, ऋग्वेदभाष्य, ८.१.२०.

२ निघ० १.११.५५.

३ निरु० ९.२६.

४ निघ०वृ०, १.११.५५.

५ वै०पद०को०, पृ० ३३१९.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ५५९.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ११८२.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ५३.

९ ऋ० ७.१०३.७. "ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्त:। संवत्सरस्य तदह: परि ष्ठ यन्मण्डूका: प्रावृषीणं बभूव।"

मेध्यातिथि ऋषि सोम का आह्वान करते हुए कहते हैं कि सुख देने वाले सोम की आनन्द की धारा मेरे हृदय में उसी प्रकार व्याप्त हो जाये, जिस प्रकार वाक् या ब्रह्म रस से व्याप्त होता है।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाक् 'सरस्' है, जब मण्डूक पूर्ण आनन्द में निमग्न होकर भेकारव करते हैं, यह वाक् हृदय में आनन्द की धारा प्रवाहित कर देती है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि वह वाक् 'सरस्' कहलाने योग्य है, जिसमें वक्ता आनन्द का अनुभव करता है। वेद के ऋषि की दृष्टि में रसपूर्ण, भावमय, एकतानता का निर्माण करने में समर्थ वाक् 'सरस्' है। इस दृष्टि से 'सृ' धातुमूलक निर्वचन को विना किसी सङ्कोच के 'सरस्' शब्द का मूल स्वीकार किया जा सकता है।

५६. सुपर्णी

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'सुपर्णी' पद समाम्नात है।[२] आचार्य यास्क 'सुपर्ण' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**सुपर्णाः सुपतनाः**''[३] कि शोभन अर्थ के उद्देश्य से तमस् का विनाश करती हैं अथवा ये सुशोभित होती हुई पृथ्वी पर आती हैं, अतः, ये सुपर्ण नाम से अभिहित होती हैं। इस पक्ष में 'सु+'पत्' धातु से सुपर्ण रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'सुपर्णी' पद का निर्वचन रश्मि वाचक 'सुपर्ण' पद के समान मानते हैं। उनके अनुसार सुपर्ण पद का निर्वचन निम्न है:-''**सूपसृष्टात् 'पॄ' पालनपूरणयोः'। पर्णं पततेः। शोभनं पृणन्ति पालयन्ति जगत् शीतादिनिवारणात्। पूरयन्ति वा वृष्ट्या। शोभनं पतनं गमनमेषामिति वा**''[४] कि 'सु' उपसर्ग पूर्व वाली 'पृ' धातु से सुपर्ण शब्द उपपन्न होता है। पर्ण पद का मूल 'पत्' धातु है। शोभन प्रकार से शीतादि का निवारण या वृष्टि से पूर्ण करने या शोभन गमनशील होने से ये सुपर्ण कही जाती हैं। इस पक्ष में 'सु+'पृ'+न' से 'सुपर्ण' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''**प्रीणातेर्वा। सुष्ठु प्रीणन्ति तर्पयन्ति जगत् वर्षप्रदानेनेति वा सुपर्णाः**''[५] कि ये शोभन प्रकार से वर्षा से जगत् को तृप्त करती हैं, अतः, ये सुपर्ण नाम से अभिहित होती हैं। इस पक्ष में तृप्ति अर्थ वाली 'प्री' धातु से 'न' प्रत्यय होकर 'सुपर्ण' पद निष्पन्न होता है।

(ग)''**यद्वा, सुर्मत्वर्थः। पतनादिमन्तः सुपर्णाः**''[६] कि पतनशील होने से रश्मियों को 'सुपर्ण' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सु' उपसर्ग को मत्वर्थक माना जाता है।

डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा यास्क के उक्त निर्वचन के सम्बन्ध में कहते हैं कि भारतीय आर्य भाषाओं में 'पत्' का 'पर्ण' के रूप में परिवर्तन असम्भव है। अतः, वे उक्त निर्वचन को असङ्गत मानते हैं।[७] वैदिक-

---

१ ऋ० ९.४१.६. ''परि णः शर्मयन्त्या धारया सोम विश्वतः। सरा रसेव विष्टपम्।''

२ निघ० १.११.५६.

३ निरु० ३.१२; ४.३.

४ निघ०वृ०, १.११.५६.

५ निघ०वृ०, १.११.५६.

६ निघ०वृ०, १.११.५६.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १२२.

पदानुक्रम-कोष के अनुसार 'सुपर्णी' पद तैत्तिरीय-संहिता, मैत्रायणी-संहिता, काठक-संहिता और कपिष्ठल-कठसंहिता में व्यक्तिपरक संज्ञा तथा अन्यत्र विशेषण और नामपद के रूप में प्रयुक्त है।[१]

ऋग्वेद में दो स्थानों पर 'सुपर्णी' पद का प्रयोग हुआ है, एक स्थान पर यह रथ का विशेषण तथा द्वितीय स्थान पर रात्रि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[२] सम्भवत:, इस कारण आचार्य देवराजयज्वन् उक्तपद के विषय में '**निगमोऽन्वेषणीय:**' कहते हैं।[३] ऐतरेय आरण्यक 'सुपर्ण' का वर्णन करता हुआ कहता है कि वाक् माता और प्राण उसका पुत्र है, माता (वाक्) पुत्र को और पुत्र माता को चाटती है।[४] शाङ्खायन आरण्यक से भी उक्त कथन का समर्थन हो जाता है।[५] शतपथ-ब्राह्मण वाक् को 'सुपर्णी' माया बतलाता है।[६] मैत्रायणी-संहिता वाक् को सुपर्णी बतलाती हुई छन्दों को सौपर्ण नाम से अभिहित करती है।[७] उक्त विषय में वाक् से सम्बन्धित वैदिक उद्धरणों का अभाव है और ब्राह्मणग्रन्थों से भी सुपर्णी का विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है। लेकिन फिर भी ब्राह्मणग्रन्थों के उक्त उद्धरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उक्त वाक् का सम्बन्ध छन्दों से है। छन्दोमयी वाणी स्मरण करने में सरल तथा काव्यरूप होने से सुगम होती है, अत: शीघ्र हृदयङ्गम होने से सुखकर प्रतीत होती है। यही सुपतनशीलता वाक् के उक्त नामकरण में मूल रही होगी।

५७. बेकुरा

निघण्टुकोष के वाग्वाचक नामपदों में 'बेकुरा' पद पठित है।[८] आचार्य देवराजयज्वन् वाग्वाचक 'बेकुरा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**भां दीप्तिं (कान्तिं) करोतीति**"[९] कि प्रकाश करने के कारण यह बेकुरा कहलाती है। इस पक्ष में 'भा' और 'कृ' धातुओं से 'भाकर', उससे 'भेकुर' और 'भ' को 'ब' होकर 'बेकुरा' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष के अनुसार 'बेकुरा' पद का प्रयोग वैदिक साहित्य में नहीं हुआ है, परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में 'बेकुरि' पद का प्रयोग अवश्य देखने को मिलता है। यहाँ यह 'अप्सरा विशेष' के लिये आया है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। कोशकार निम्न व्युत्पत्ति की सम्भावना प्रकट करते हैं:-'भ्राजक+भर=भ्राजकभरि=बेकुरि' और इसके विपरीत 'भी+'कृ' से भी 'बेकुरि' पद व्युत्पन्न किया जा सकता है।[१०]

---

१ वै०पद०को०, पृ० ३४०८.

२ ऋ० ९.८६.३७, १०.८८.१९.

३ निघ०वृ०, १.११.५६.

४ ऐ०आ०, ३.१.६. "वाग्वै माता, प्राण: पुत्र:..........एक: सुपर्ण: समुद्रमाविवेश.........तं (प्राणं) माता (वाक्) रेळिह स (प्राण:) उ रेळिह मातरम् (वाचम्)।"

५ शा०आ०, ७.१९. "वाग्वै माता (गौ:), प्राणो (सुपर्ण:) वत्स:।"

६ शत०ब्रा०, ३.६.२.२. "वागेव सुपर्णी (माया)।"

७ मै०सं० ३.७.३. "वाक् सुपर्णी छन्दांसि सौपर्णानि। गायत्री त्रिष्टुब् जगती।"

८ निघ० १.११.५७.

९ निघ०वृ०, १.११.५७.

१० वै०पद०को०, पृ० २३०८.

वैदिक साहित्य में 'बेकुरा' शब्द का प्रयोग सर्वथा उपलब्ध नहीं होता है। ताण्ड्य-महाब्राह्मण वाक् को बेकुरा नाम से पुकारता हुआ कहता है कि बेकुरा नाम की वाक् की आहुति देनी चाहिये।[१] जैमिनीय-ब्राह्मण भी वाक् को 'बेकुरा' कहता है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् भी 'बेकुरा' पद के विषय में ताण्ड्य-महाब्राह्मण के वचन को उद्धृत करते हैं। उनके अनुसार यह मन्त्र छन्दोगों के साम प्रकरण में पठित है।[३] परन्तु इस सबसे 'बेकुरा' का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है।

वैदिक साहित्य में वाग्वाचक नामपदों में अर्थभिन्नता

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के एकादश गण में निघण्टुकार ने सप्तपञ्चाशत् वाग्वाचक पदों का समाम्नान किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	श्लोक: वाग्वाचक निघ०,१.११.१.	वेद में वह वाक् 'श्लोक' है, जो मुख से मेघ की गर्जना के समान प्रकट होती है, यह श्लोकरूपा वाक् निर्बाध द्युलोक तक पहुँचती है, यह वह इन्द्र का स्तुतिरूप घोष है, जो द्युलोक में सुनायी पड़ता है।	'श्रु' श्रवणे' धातु।
२.	धारा वाग्वाचक निघ०,१.११.२.	वह वाक् 'धारा' कहलाती है, जो अद्भुत, परहित में निरत रहने वाली, विश्व का कल्याण करने में समर्थ तथा अमृत की धारा को प्राप्त कराती है। इस प्रकार सत्य विद्या को धारण करने वाली वाणी वेद के मत में 'धारा' है।	'धृ' धातु।
३.	इडा, इळा वाग्वाचक निघ०,१.११.३.	यज्ञकर्म या आध्यात्मिक साधना में प्रयोग की जाने वाली वाणी को वेद 'इडा' नाम से अभिहित करता प्रतीत होता है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए स्तुत्यर्थक 'ईड्' धातु को 'इडा' (इला) पद का मूल माना जा सकता है।
४.	गौ: वाग्वाचक निघ०,१.११.४.	वह वाक् 'गौ' है, जो मेघ पर स्थित होकर माध्यमिका वाक् के रूप में गर्जना करती है, यह गौ अनेकविधा है, अत:, ऋषि इसके रूप तथा प्रकार अनन्त बतलाता है, विद्वान् के द्वारा सर्वजन हिताय किया जाने वाला प्रयोग इसका सर्वोत्तम उपयोग है, यह गौ चार सींग, तीन पैर, दो सिर तथा सात हाथ वाली है।	'गम्' धातु।
५.	गौरी वाग्वाचक	वह वाक् 'गौरी' है, जो स्वादयुक्त एवं मधुरगुण वाली है, यह वाक् अव्याकृत और व्याकृत दोनों रूपों का	स्तुत्यर्थक 'गृ' धातु।

---

१ ता०ब्रा०, ६.७.६. ''तस्यै (वाचे) जुहुयाद् बेकुरा नामासि।''

२ जै०ब्रा०, १.८२. ''वाग्वै बेकुरा।''

३ निघ०वृ०, १.११.५७.

	निघ०,१.११.५.	प्रतिनिधित्व करती है, व्याकृतरूपा होने पर यह व्याकरण के नियमों में आबद्ध होती है।	
६.	गान्धर्वी वाग्वाचक निघ०,१.११.६.	वह वाक् 'गान्धर्वी' है, जो वर्षा ऋतु में गर्जना के माध्यम से उदक की प्राप्ति कराती है।	'गो+'धृ'।
७.	गभीरा वाग्वाचक निघ०,१.११.७.	वेद में 'गभीर' पद प्रमुखरूप से 'गहन' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसमें भी इसकी भूमिका प्रायः विशेषण की रही है। क्वचित् 'गम्भीर वाक्' अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है।	'गह्' धातु।
८.	गम्भीरा वाग्वाचक निघ०,१.११.८.	सम्भवतः, मेघ गर्जना को ऋषि 'गम्भीरा' नाम से सम्बोधित करता है, परन्तु पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। सामान्यरूप से यह 'गहन' का अर्थ का बोध कराता है।	सम्भवतः, गम्' धातु।
९.	मन्द्रा वाग्वाचक निघ०,१.११.९.	वेद में वह वाक् 'मन्द्रा' है, जो मनुष्य जीवन में मधुरता का रस घोल देती है, जो श्रवणीय होने के साथ-साथ आचरणीय भी होती है।	'मद्' धातु।
१०.	मन्द्राजनी वाग्वाचक निघ०,१.११.१०.	वैदिक भाषा में वह वाक् 'मन्द्राजनी' है, जो मति और मधु से सिक्त होती है।	'मन्द्र+'अज्' धातु।
११.	वाशी वाग्वाचक निघ०,१.११.११.	वेद में वह वाक् वाशी है, जो मरुतों (मनुष्यों) की शोभा है, इसी लोग ज्ञानी और मनस्वी हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त अग्नि के समीप उच्चरित होने वाली वाक् भी वेद की दृष्टि में 'वाशी' है। इसकी एक विशेषता इसका अमृत का मार्ग प्रशस्त करना बताया है।	उक्त अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में शब्दार्थक 'वाश्' धातु को 'वाशी' पद का मूल माना जा सकता है।
१२.	वाणी वाग्वाचक निघ०,१.११.१२.	यह सप्तछन्दरूपा वाक् है, जिसमें चारों वेद स्थित हैं, इस सात छन्दों वाली वाणी को ऋषि सनातन युवती के रूप में प्रतिपादित करता है, इसके सात द्वारों में सूक्ष्म पृष्ठ स्थित हैं, इससे सत्य ज्ञान का दोहन किया जाता है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट।
१३.	वाणीची वाग्वाचक निघ०,१.११.१३.	नासिका के माध्यम से प्रकट होने वाला सङ्गीतमय स्वर सम्भवतः, वेद की दृष्टि में 'वाणीची' है।	'वाण+'अञ्च्' धातु।
१४.	वाणः वाग्वाचक निघ०,१.११.१४.	प्रमुखरूप से वेद में धमन क्रिया के द्वारा बजाया जाने वाला वाद्ययन्त्र 'वाण' नाम से अभिहित हुआ है।	'वण' शब्दे' धातु।
१५.	पविः वाग्वाचक निघ०,१.११.१५.	वह वाक् 'पवि' है, जो पवित्र व्यवहार बनाये रखने में सहायक है, यह हितकारी वाक् वृष्टि जल की वृद्धि करने वाली है, यह कभी कुण्ठित नहीं होती और यह घृत अर्थात् स्नेह से युक्त होने से सर्वग्राह्य है। यह सम्भवतः,	इस दृष्टि से पवनार्थक 'पू' धातु को 'पवि' का मूल स्वीकार किया जा सकता है।

		वह वाक् है, जो सभ्य समाज के व्यवहार का विषय बनती है।	
१६.	भारती वाग्वाचक निघ०,१.११.१६.	वह वाक् 'भारती' है, जिसमें प्राणों का होम किया जाता है। इस प्रकार यह वाक् वायु से जनित होने के कारण ध्वनिरूपा है और मनुष्य के व्यवहार का आधार है। इसलिये यह वरणीया और सुन्दर कर्मों को करने वाली बतायी गयी है।	भरण-पोषण वाली 'भृ' धातु।
१७.	धमनिः वाग्वाचक निघ०,१.११.१७.	वेद में 'धमनि' श्वासनलिका है, जो उच्चारणकाल में वायु के प्रभाव से फैल जाती है। यह शब्द की उत्पत्ति में सहायक होने से सम्भवतः, 'धमनि' को वाग्वाचक माना गया है।	'धम्' धातु।
१८.	नाली, नाळी वाग्वाचक निघ०,१.११.१८.	कतिपय वनस्पतियों के वृन्त मध्यगर्भयुक्त (पोले) होते हैं, सम्भवतः, इसलिये 'नाडी' पद नाली' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और इस (पोले होने की) समानता के कारण यह वेद में श्वासनलिका का अभिधान है और सम्भवतः, यह श्वासनलिका शब्दयुक्त होने से वेद में वाग्वाचक नामपद के रूप में अभिहित हुई है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट।
१९.	मेलिः वाग्वाचक निघ०,१.११.१९.	जो वाक् अन्तर्विरोधों से ग्रस्त न हो अर्थात् जिसके द्वारा विरुद्ध प्रतीत होने वाले शास्त्रों में समन्वय स्थापित किया जा सकता है, विद्वान् की ऐसी वाणी या विद्वत्ता वेद की दृष्टि में 'मेळि' नाम से अभिहित हुई है।	सम्भवतः, 'मिल्' धातु।
२०.	मेना वाग्वाचक निघ०,१.११.२०.	वेद की दृष्टि में 'मेना' मध्यमस्थानी वाग्देवता है। इसका कारण यह है कि इसका जन्म इन्द्र से होता है तथा यही मघवा के कुल में रहती है तथा वृषणश्व (वर्षा करने वाले इन्द्र) की पुत्री भी यही है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट।
२१.	सूर्य्या वाग्वाचक निघ०,१.११.२१.	ऋग्वेद में 'सूर्य' या 'सूर्या' पद वाक् अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है।	'सृ' धातु।
२२.	सरस्वती वाग्वाचक निघ०,१.११.२२.	वेद में वह वाक् सरस्वती है, जो अन्न और बल को देने के साथ पवित्र व्यवहारों का उपदेश एवं कर्म के माध्यम से वसु (लौकिक सम्पदा) प्राप्त कराती है, यह सूनृता वाणी की प्रेरयित्री और सुमति को जगाने वाली है।	'सृ'=सरस्, सरस्+मतुप्= सरस्वती।
२३.	निवित् वाग्वाचक निघ०,१.११.२३.	वह वाक् निविदा है, जो इच्छा, बल और आत्मज्ञान की प्राप्ति कराती है, इस निविदा (नित्य वेदविद्या) के माध्यम से ऋषि देवताओं का आह्वान करते हैं, इसी निविदा (वेद) से काव्यत्व का जन्म होता है।	'नि+'विद्' धातु।
२४.	स्वाहा वाग्वाचक	वह वाक् 'स्वाहा' है, जो परमैश्वर्य की प्राप्ति और देवता के आह्वान के लिये प्रयुक्त होती है। इस प्रकार स्वाहा वह	इस दृष्टि से यास्क तथा अन्य आचार्यों के द्वारा

	निघ०,१.११.२४.	वाक् है, जिससे देवता प्रसन्न होते हैं।	किया गया 'सु+आह' निर्वचन सर्वाधिक सम्भव निर्वचन प्रतीत होता है।
२५.	वग्नुः वाग्वाचक निघ०,१.११.२५.	वर्षाकाल में पर्जन्य का शृङ्गार भेकरव है, साधक के मुख से अभिव्यक्ति होने वाली वाक् साधना का सार है, यज्ञ का हृदय मन्त्रपाठ है और जाया का सौन्दर्य उसकी अमृतमयी वाणी है। इस प्रकार वेद के ऋषि की दृष्टि में वग्नु वह वाणी है, जो मधुरता को अपने में समाहित किये हुए है।	'वच्' धातु।
२६.	उपब्दिः वाग्वाचक निघ०,१.११.२६.	उच्च, गम्भीर और कर्कश ध्वनि वेद में 'उपब्दि' नाम से अभिहित हुई है। मधुरता को खण्डित कर देने के कारण यह वाक् 'उपब्दि' है।	इस दृष्टि से 'उप+'दो' अवखण्डने' को 'उपब्दि' का मूल माना जा सकता है।
२७.	मायुः वाग्वाचक निघ०,१.११.२७.	मुख्यतः वेद के ऋषि की दृष्टि में मेघ गर्जना 'मायु' नाम से कही गयी है।	शब्दार्थक 'मि' या 'मा' धातु।
२८.	काकुत् वाग्वाचक निघ०,१.११.२८.	वह वाक् 'काकुत्' है, जिसमें समुद्र का जल, मधुरता की लहरें और नदियों का उदक प्रवाहित होता हो, सम्भवतः, इन विशेषणों के कारण तालु को 'काकुत्' कहा जाता है और जब ये विशेषतायें किसी भाषा में होती हैं, तब वह भाषा, साहित्य या वाणी काकुत्' नाम से अभिहित होती है। इस प्रकार जो सरस वाणी है, वह सम्भवतः, वैदिक ऋषि की दृष्टि में 'काकुत्' है।	'कु'=कोकुवा, कोकुवा+'नुद्' =काकुद्।
२९.	जिह्वा वाग्वाचक निघ०,१.११.२९.	वेद में वह वाक् 'जिह्वा' है, जिसमें मधुरता और मेधा का सङ्गम है। इसको दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जो सरस वाणी है, वह वेद में 'जिह्वा' नाम से अभिहित हुयी है। सम्भवतः, इसके नामकरण के मूल में यह सरसता ही है।	इस दृष्टि से 'लिह' या 'हु' धातु 'जिह्वा' पद का मूल प्रतीत होती हैं। इनमें से 'लिह' धातु के 'जिह्वा' पद का मूल होने की अधिक सम्भावना है।
३०.	घोषः वाग्वाचक निघ०,१.११.३०.	प्रतिज्ञान के रूप में प्रकाशित की जाने वाली वाणी वेद में 'घोष' नाम से अभिहित हुयी है, यह प्रतिज्ञान काव्य के रूप में भी हो सकता है और परमात्मा के समक्ष आत्मनिवेदन के रूप में भी, परन्तु इसका स्वरूप उच्च ध्वनियुक्त होता है, जिससे वह सर्वश्राव्य हो सके।	उक्त स्वरूप को ध्यान में रखते हुए निर्विवाद रूप से 'घुष्' धातु को 'घोष' पद का मूल माना जा सकता है।
३१.	स्वरः वाग्वाचक निघ०,१.११.३१.	वह वाक् 'स्वर' है, जो स्तुति या यज्ञ के रूप में देवता के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, यह एक प्रकार का साहित्य है।	रूप की दृष्टि से 'स्वृ' धातु, परन्तु अर्थ की दृष्टि से यह उपयुक्त नहीं है।
३२.	शब्दः	वैदिक साहित्य में 'शब्द' पद का उल्लेख देखने को नहीं	'शप्' धातु।

	वाग्वाचक निघ०,१.११.३२.	मिलता है। लेकिन ब्राह्मणग्रन्थ में इसके दर्शन अवश्य होते हैं। इस काल में 'शब्द' पद शाप या आक्रोश अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था।	
३३.	स्वनः वाग्वाचक निघ०,१.११.३३.	तीव्र गर्जना या ध्वनि वेद की दृष्टि में 'स्वन' है।	उक्त अर्थ की प्रतीति 'स्वन्' धातु से पूर्णतया नहीं हो पाती है।
३४.	ऋक् वाग्वाचक निघ०,१.११.३४.	वह वाक् 'ऋक्' है, जो अग्नि की वृद्धि अर्थात् यज्ञकर्म को सम्पन्न करती है तथा जिसमें परम ब्रह्म का ज्ञान निहित है। वेद सामान्यतया मन्त्र अर्थ में 'ऋक्' का पाठ करता है।	स्तुत्यर्थक 'ऋच्' धातु।
३५.	होत्रा वाग्वाचक निघ०,१.११.३५.	वह वाक् का क्षेत्र 'होत्रा' है, जिसका प्रयोग व्यवहार में होता है। इसके साथ-साथ यह देवताओं के आह्वान और होम में भी प्रयुक्त होती है।	वाग्व्यवहार और यज्ञमूलक होने के कारण वाग्वाचक 'होत्रा' पद के 'हु' धातुमूलक होने की सम्भावना अधिक है।
३६.	गीः वाग्वाचक निघ०,१.११.३६.	वह वाक् 'गिर्' है, जो प्रमुखरूप से यज्ञ के अवसर पर प्रयुक्त की जाती है, इसका स्वरूप स्तुत्यात्मक, धीर और गम्भीर है।	इस दृष्टि से हम स्तुत्यर्थक 'गृ' या 'गॄ' धातु को उक्त पद का मूल मान सकते हैं।
३७.	गाथा वाग्वाचक निघ०,१.११.३७.	वह वाक् 'गाथा' है, जो कथाप्रधान होने के साथ-साथ गाकर कही जाती है। गेयता को दृष्टि में रखते हुए वाणी की यह विधा 'गाथा' से नाम से अभिहित हुई है।	'गै' धातु।
३८.	गणः वाग्वाचक निघ०,१.११.३८.	वेद में वाक् अर्थ में प्रयुक्त नहीं है।	'गण' सङ्ख्याने' धातु।
३९.	धेना वाग्वाचक निघ०,१.११.३९.	ऋग्वेद में वह वाक् प्रमुख रूप से 'धेना' मानी गयी है, जिसमें इन्द्र को आकर्षित करने की क्षमता है, इन्द्र के आगमन और इस वाणी के प्रभाव से हृदय और मन पवित्र हो जाता है। अतः, कल्याण का इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति इसका पान करना चाहता है।	इस दृष्टि से पानार्थक 'धेट्' धातु 'धेना' पद का मूल प्रतीत होती है।
४०.	ग्नाः वाग्वाचक निघ०,१.११.४०.	वह वाक् 'ग्ना' है, जो अन्धकार का विनाश करते हुए जीवन निर्माण करती है। ग्ना को देवपत्नी कहे जाने का, सम्भवतः, कारण यह है कि यह दिव्य गुणों का पालन करती है।	'गम्' धातु से 'ग्ना' पद के व्युत्पन्न होने की सम्भावना है।
४१.	विपा वाग्वाचक निघ०,१.११.४१.	वेद में 'विपा' पद का प्रयोग 'मेधावी' के अर्थ में हुआ है। यदि विपा पद वाग्वाचक माना जाये तो यह मेधावी की प्रेरक वाक् के अर्थ में वेद में प्रयुक्त माना जा सकता है।	'विप्' प्रेरणे' धातु।

४२.	नग्ना वाग्वाचक निघ०,१.११.४२.	जो विना किसी औपचारिकता के कह दी जाती है, वेद में वह वाक् 'नग्ना' है।	'न+'गम्' धातु।
४३.	कशा वाग्वाचक निघ०,१.११.४३.	वेद में वह वाक् 'कशा' है, जो मधुमती और सूनृतावति है तथा जिसके प्रभाव से मरुत् अन्तरिक्षलोक से नीचे आ जाते हैं।	सर्वाधिक सम्भव निर्वचन प्रकाशनार्थक 'काश्' धातु प्रतीत होती है।
४४.	धिषणा वाग्वाचक निघ०,१.११.४४.	वह वाक् 'धिषणा' है, जो अभ्युदय की प्राप्ति कराती है। इस दृष्टि से विज्ञानात्मक वाक् वेद की दृष्टि में 'धिषणा' सिद्ध होती है।	इस आधार पर धारणार्थक 'धिष्' या 'धृष्' धातु को वेद की दृष्टि में 'धिषणा' पद का मूल माना जा सकता है।
४५.	नौः वाग्वाचक निघ०,१.११.४५.	यह पद वेद में वाक् अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है।	'नू' धातु।
४६.	अक्षरम् वाग्वाचक निघ०,१.११.४६.	वह वाक् 'अक्षर' है, जिससे सात छन्दों का निर्माण होता है और उससे समस्त विश्व [illegible] [illegible] करता है, धनलाभ के लिये इसी का सेवन मेधावीजन करते हैं, यह अविनाशी वाणी है, जिसके परित्याग की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण अक्षरों की सङ्ख्या तीन सौ साठ बतलाता है। इस प्रकार वेद में वाक् की आधारभूता इकाई प्रमुखरूप से 'अक्षर' नाम से अभिहित होती हुई दिखायी देती है।	इस दृष्टि से 'अक्षर' पद का मूल 'अक्ष' शब्द प्रतीत होता है। यह 'अक्ष' (धुरा) वाहन का आधार होने से 'न+'क्षि' क्षये' या 'न+'क्षर्' से व्युत्पन्न है।
४७.	मही वाग्वाचक निघ०,१.११.४७.	वह वाक् मही है, जिसका महत्त्व व्यवहार से लेकर कलाओं और विज्ञान तक व्याप्त है।	इस दृष्टि से पूजार्थक 'मह्' धातु को 'मही' पद का मूल माना जा सकता है।
४८.	अदितिः वाग्वाचक निघ०,१.११.४८.	वह वाक् अदिति है, जो स्वयं अध्यात्मविद्या स्वरूप होने से अविनाशी है और अध्येता को भी अविनाशी स्वरूप उपलब्ध कराती है।	इस दृष्टि से 'न' पूर्व वाली 'दीङ्' क्षये' धातु को 'अदिति' पद का मूल मान सकते हैं।
४९.	शची वाग्वाचक निघ०,१.११.४९.	विशिष्ट कला कौशल सम्पन्न वाक् 'शची' है। इसकी सामर्थ्य से मण्डित देव और मनुष्य सम्पूर्ण बाधाओं को पार कर सकने में समर्थ होते हैं। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इंजीनियरिंग और चिकित्सा विज्ञान का सम्मिलित रूप वेद में 'शची' नाम से अभिहित हुआ है।	आधिभौतिक बाधाओं को पार कर सकने की सामर्थ्य निहित होने के कारण 'शची' पद को 'शक्' धातुमूलक माना जा सकता है।
५०.	वाक् वाग्वाचक	भाषा का सामान्य नाम वेद में 'वाक्' नाम से अभिहित हुआ है। सम्भवतः, वागिन्द्रिय के कारण शब्द का	इस दृष्टि से देखने पर विना किसी सन्देह के

	निघ०,१.११.५०.	नामकरण वाक् हुआ है। यह ऋग्वेद में परिष्कृत वाणी का अभिधान है, इसको मेधावियों की वाणी कहा गया है।	'वाक्' पद का मूल 'वच्' धातु को माना जा सकता है।
५१.	अनुष्टुप् वाग्वाचक निघ०,१.११.५१.	पद्यात्मक वाक् ऋग्वेद में 'अनुष्टुप्' नाम से अभिहित हुई है। सम्भवतः, गायत्री छन्द की अपेक्षा पाद की दृष्टि से बढ़ी तथा उसके पश्चात् अस्तित्व में आने के कारण इसके पूर्व में 'अनु' का प्रयोग हुआ है।	इस दृष्टि से 'अनु+'स्तुभ्' को 'अनुष्टुप्' का मूल स्वीकार किया जा सकता है।
५२.	धेनुः वाग्वाचक निघ०,१.११.५२.	जो वाक् समस्त कामनाओं का दोहन करने में समर्थ है, वैदिक ऋषि की दृष्टि में वह 'धेनु' है।	इस दृष्टि से 'धेनु' पद का मूल 'दुह्' धातु प्रतीत होती है।
५३.	वल्गुः वाग्वाचक निघ०,१.११.५३.	वह वाक् 'वल्गु' है, जो अश्विनीदेवों के समान दीन, दु:खियों का कष्ट दूर करने वाली और मधुर है।	इस दृष्टि से गत्यर्थक 'वल्ग्' धातु को 'वल्गु' पद का मूल माना जा सकता है।
५४.	गल्दा वाग्वाचक निघ०,१.११.५४.	वेद में 'गल्दा' का स्वरूप अस्पष्ट है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
५५.	सरः वाग्वाचक निघ०,१.११.५५.	वह वाक् 'सरस्' कहलाने योग्य है, जिसमें वक्ता आनन्द का अनुभव करता है। वेद के ऋषि की दृष्टि में रसपूर्ण, भावमय, एकतानता का निर्माण करने में समर्थ वाक् 'सरस्' है।	इस दृष्टि से 'सृ' धातुमूलक निर्वचन को 'सरस्' शब्द का मूल स्वीकार किया जा सकता है।
५६.	सुपर्णी वाग्वाचक निघ०,१.११.५६.	ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर उक्त वाक् का सम्बन्ध छन्दों से है। छन्दोमयी वाणी स्मरण करने में सरल तथा काव्यरूप होने से हृदयङ्गम करने में सुगम होती है। यही सुपतनशीलता वाक् के उक्त नामकरण का मूल है।	आर्थिक दृष्टि से 'सु+'पत्' धातु। रूपात्मकता की दृष्टि से उक्त निर्वचन समीचीन नहीं माना जा सकता।
५७.	बेकुरा वाग्वाचक निघ०,१.११.५७.	ब्राह्मण के अनुसार 'बेकुरा' पद वाग्वाचक है, परन्तु प्रमाण के अभाव में स्वरूप निर्धारण सम्भव नहीं है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निघण्टुकार ने उक्त गण में सप्तपञ्चाशत् वाग्वाचक पदों का परिगणन किया है। उक्तपदसमुदाय में से निम्नपदों की वाग्वाचकता सन्दिग्ध है। पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में जिनको प्रमाणित कर सकना सम्भव नहीं हो सका है:-१. गभीरा, २. गम्भीरा, ३. सूर्य्या, ४. गणः, ५. विपः, ६. नौः, ७. गल्दा, ८. बेकुरा।

सप्तम अध्याय

उदकवाचक नामपद

निघण्टुकोष प्रथम अध्याय के उदकवाचक नामपदों में निघण्टुकार ने १०० पदों का परिगणन किया है। हम उनका क्रमशः यहाँ विवेचन करने जा रहे हैं।

१. अर्णः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'अर्णः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'अर्णः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अर्य्यते तत् प्राणिभिरित्यर्थः**''[२] कि प्राणियों के द्वारा वाञ्छित होने के कारण उदक को 'अर्ण' कहा जाता है। इस पक्ष में 'ऋ' धातु से 'नुट्' का आगम तथा 'असुन्' प्रत्यय होकर 'अर्ण' रूप सिद्ध होता है। इस व्युत्पत्ति का समर्थन उणादिकोष से हो जाता है।[३]

(ख) **ऋच्छति निम्नप्रदेशमिति वा**''[४] कि यह निम्नप्रदेश की ओर बहता है, अतः, उदक को 'अर्णः' कहते हैं। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

(ग) **यद्वा, ऋणाति गच्छति दिवो भूमिं वृषमाणम्**''[५] कि यह द्युलोक से भूमि की ओर बरसता हुआ आता है, अतः, उदक को 'अर्णः' कहते हैं। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अर्णस्' पद का मूल 'अर्ण्' गतौ' धातु मानता है। उसके अनुसार यह तरङ्ग, जलप्रवाह, सरित्, समुद्र, अन्तरिक्षवाचक नामपद है।[६]

वैदिक साहित्य में 'अर्णः' पद का प्रयोग व्यापक रूप से हुआ है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि सरस्वती देवता विषयक मन्त्र में कहते हैं कि महान् शब्दरूपी जल वाली सरस्वती ज्ञान के द्वारा अपना परिचय कराती है और सभी प्राणियों की बुद्धियों को प्रकाशित करती है।[७] आङ्गिरस सव्य ऋषि इन्द्रकर्म का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार अन्तरिक्ष से उत्पन्न एवं नाना स्थानों का सेवन करने वाली नदियाँ समुद्र में पहुँचती हैं, उसी प्रकार इन्द्र के लिये सोम प्राप्त होता है।[८] मेधातिथि ऋषि अग्नि और मरुत् देवों का स्तवन करते हुए कहते हैं कि जो पवन (मरुत्) मेघों को छिन्न-भिन्न और उदक परिपूर्ण समुद्र का तिरस्कार करते हैं,

---

१ निघ० १.१२.१.

२ निघ०वृ०, १.१२.१.

३ उणा०, ४.१९८. ''उदके नुट् च।''

४ निघ०वृ०, १.१२.१.

५ निघ०वृ०, १.१२.१.

६ वै०पद०को० पृ० ५०३.

७ ऋ० १.३.१२. ''महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति।''

८ ऋ० १.५५.२. ''सो अर्णवो न नद्यः समुद्रियः प्रति गृभ्णाति विश्रिता वरीमभिः।''

उन मरुतों के साथ ऋषि अग्नि का आह्वान करता है।[१] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि इन्द्र ने अन्तरिक्ष में हर्षयोग्य कर्मों को करते हुए वृत्र का वध किया और उदक को नीचे समुद्र की ओर प्रवाहित कर दिया है।[२] अगस्त्य ऋषि मरुतों के स्वभाव का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि धर्षक बल से बढ़ते एवं द्वेषादि का परित्याग करते हुए मरुत् उसी प्रकार स्थित होते हैं, जिस प्रकार मलादि को दूर करने वाला उदक स्थित होता है।[३] एक अन्य मन्त्र में मरुतों का वर्णन करते हुए अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि तिनकों के समान शिथिल एवं संहित उदक को मरुत् नीचे समुद्र में गिराते हैं।[४] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि मेघ का हनन करने वाले उस महनीय इन्द्र ने व्यापनशील उदक (आपः) को प्रवाहित अर्थात् सङ्घनित किया।[५] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि नानाविध जगत् को उत्पन्न करने वाले एवं अतिशय बलवान् इन्द्र ने अपने में समाहित किये हुए अहि (मेघ) का वध किया।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'अर्णः' है, जो सरस्वती के समान सरस हो, यह उदक नानाविध स्थानों का सेवन करता हुआ अपनी यात्रा समुद्र में पहुँचकर समाप्त करता है, यह उदक समुद्र में पाया जाता है, ये वे जल हैं, जो सीधे अन्तरिक्ष से समुद्र में गिरते हैं, यह उदक मलादि विकारों के दूर करने वाला है, मरुत् इस उदक को अन्तरिक्ष से नीचे समुद्र में गिराते हैं, सूक्ष्म रूप में व्याप्त इस उदक को इन्द्र सङ्घनित करता है। इसके अतिरिक्त ऋषि ने 'अर्णः' पद के साथ 'समुद्र' पद का अधिक प्रयोग किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में वह उदक 'अर्णः' है, जो बहकर या सीधे अन्तरिक्ष से समुद्र में पहुँचता है। सम्भवतः, ऋषि गतिशीलता के कारण उदक को 'अर्णः' नाम से अभिहित करता है। इस दृष्टि से निःसन्दिग्ध रूप से गत्यर्थक को 'ऋ' धातु को 'अर्णः' पद का मूल माना जा सकता है।

२. क्षोदः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'क्षोदः' पद परिगणित है।[७] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'क्षोदः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**क्षुदिर्' सम्पेषणे'। क्षुद्यते क्षोदः। क्षुणं हि जलं पर्वतादिभ्यः शिलादिष्वधः पतनात्**"[८] कि सम्यक् रूप से पेषण किये जाने से यह 'क्षोद' है। पर्वत शिलादि से नीचे गिरने के कारण यह उदक सम्पेषित हो जाता है, अतः, यह 'क्षोदः' कहलाता है। इस पक्ष में 'क्षुद्' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय करके 'क्षोदः' रूप निष्पन्न होता है।

---

१ ऋ० १.१९.७. "य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम्। मरुद्भिरग्न आ गहि।"

२ ऋ० १.५६.५. "स्वर्मीळ्हे यन्मद इन्द्र हर्ष्याहन्वृत्रं निरपामौब्जो अर्णवम्।"

३ ऋ० १.१६७.९. "ते धृष्णुना शवसा शूशुवांसोऽर्णो न द्वेषो धृषता परि ष्ठुः।"

४ ऋ० १.१६८.६. "यच्च्यावयथ विथुरेव संहितं व्यद्रिणा पतथ त्वेषमर्णवम्।"

५ ऋ० २.१९.३. "स माहिन इन्द्रो अर्णो अपां प्रैरयदहिहाच्छा समुद्रम्।"

६ ऋ० ३.३२.११. "अहन्नहिं परिशयानमर्ण ओजायमानं तुविजात तव्यान्।"

७ निघ० १.१२.२.

८ निघ०वृ०, १.१२.२.

निघण्टुकोष के गत्यर्थक पदों में 'क्षोदति' क्रियापद पठित है।[१] सम्भवतः, 'क्षोदः' पद उक्त नैघण्टुक 'क्षुद्' धातु से व्युत्पन्न है। वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'क्षोदस्' पद को 'क्षुद्' धातु से व्युत्पन्न मानता है। उसके अनुसार यह जलौघ वाचक नामपद है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स 'क्षोदः' पद का मूल 'क्षुद्' धातु को मानते हैं।[३] मोनियर विलियम्स के अनुसार यह पद ऋग्वेद में क्षुब्ध जल, जल से परिपूर्ण समुद्र, प्रवाहयुक्त उदक के अर्थ में प्रयुक्त है।[४]

वैदिक साहित्य में 'क्षोदः' पद का प्रयोग केवल ९ बार हुआ है। पराशर ऋषि अग्नि के गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह अग्नि अभिमत फलों की वृद्धि के समान रमणीय, पृथ्वी के तुल्य विस्तीर्ण, पर्वत के सदृश भोजयिता, उदक के समान सुख देने वाला, सङ्ग्राम में अश्व के समान सतत गमनशील, सृष्टि को समाहित करने वाले उदक के समान स्यन्दनशील है, इसलिये वह सबके द्वारा स्वीकार करने योग्य है।[५] एक अन्य मन्त्र में पराशर ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार स्यन्दनशील नदी में नीचे की ओर बहने वाला उदक सङ्गत होता है, उसी प्रकार नभ में सूर्य की रश्मियाँ सङ्गत होती हैं।[६] राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि सुभगा और पूजनीया उषा ठीक उसी प्रकार तेज का विस्तार करती है, जिस प्रकार गोपालक अरण्य में पशुओं को या जिस प्रकार स्यन्दनशील उदक निम्न प्रदेश में तत्काल व्याप्त हो जाता है।[७] अगस्त्य ऋषि अश्विनीदेवों से निवेदन करते हैं कि वे मधुरगुणयुक्त दिवस तथा प्राणों के समान प्रिय उदक को इच्छुक व्यक्ति को प्राप्त करायें।[८] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार स्यन्दनशील उदकों से पूर्ण नदी अपने तटों का नाश करती है, ठीक उसी प्रकार कर्मशील ब्रह्मणस्पति सत्य की हिंसा करने वाले का बलपूर्वक नाश करता है।[९] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि इन्द्र अत्यधिक स्वीकरणीय, नदियों के उदक का निर्माण एवं उनमें तरङ्गों को उत्पन्न करता है।[१०] वैयश्व ऋषि मित्रावरुणदेवों का स्तवन करते हुए कहते हैं कि अति वेगवान् उदक आगे स्थित वृक्षादि को समूल उन्मूलित कर देता है।[११] बृहदुक्थ वामदेव्य ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार नौका से उदक, दिशाओं से पृथ्वी तथा स्वस्ति कामनाओं से समस्त अमङ्गलों से पार जाया जाता है, उसी प्रकार सूर्य

---

१ निघ० २.१४.३०.

२ वै०पद०कोष, पृ० ११९६.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० १८१.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३३१.

५ ऋ० १.६५.३. "पुष्टिर्न रण्वा क्षितिर्न पृथ्वी गिरिर्न भुज्म क्षोदो न शंभु। अत्यो नाज्मन्त्सर्गप्रतक्तः सिन्धुर्न क्षोदः क ईं वराते।"

६ ऋ० १.६६.५. "सिन्धुर्न क्षोदः प्र नीचीरैनोत्रवन्त गावः स्व१र्दृशीके।"

७ ऋ० १.९२.१२. "पशून्न चित्रा सुभगा प्रथाना सिन्धुर्न क्षोद उर्विया व्यश्वैत्।"

८ ऋ० १.१८०.४. "युवं ह घर्मं मधुमन्तमत्रयेऽपो न क्षोदोऽवृणीतमेषे।"

९ ऋ० २.२५.३. "सिन्धुर्न क्षोदः शिमीवाँ ऋघायतो वृषेव वँध्रीरभि वृष्ट्योजसा।"

१० ऋ० ६.१७.१२. "आ क्षोदो महि व्रतं नदीनां परिष्ठितमसृज ऊर्मिमपाम्।"

११ ऋ० ८.२५.१५. "तिग्मं न क्षोदः प्रतिघ्नन्ति भूर्णयः।"

भी।[१] नाभानेदिष्ठ मानव ऋषि कहते हैं कि त्वरितगति एवं अत्यन्त उद्यत वचन वाला यह मेघ वर्षा में छोड़े जाने वाले जल के समान सर्वत्र अपनी सामर्थ्य बिखेरता है।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'क्षोदः' है, जो अग्नि के समान सुख देने वाला है, सृष्टि को उत्पन्न करने वाले उदक के समान स्यन्दनशील है, नभ में सूर्य की रश्मियों की तरह नीचे की ओर बहने वाला उदक नदी में सङ्गत होता है, उषा की रश्मियों के समान यह उदक निम्न स्थान पर व्याप्त हो जाता है, ऋषि इस उदक को प्राणों के समान प्रिय बतलाता है, यह उदक नदी में प्रवाहित होता हुआ तटों का नाश एवं वृक्षों का समूल उन्मूलन करता है, यह अत्यधिक स्वीकरणीय नदियों का उदक है, इससे पार जाने के लिये नौका की आवश्यकता होती है, इसकी गति त्वरित मानी गयी है। इसके अतिरिक्त वेद में 'क्षोदः' के साथ ऋषि ने 'सिन्धुः' पद का प्रयोग किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह उदक 'क्षोदः' है, जो प्रवाहित हो रहा है अर्थात् जिस उदक में गति है, वह वेद की दृष्टि में 'क्षोदः' है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि नदी का तीव्र गति से प्रवाहित होने वाला जल 'क्षोदः' है। इस दृष्टि से आचार्य देवराजयज्वन् कृत निर्वचन उचित प्रतीत होता है, क्योंकि तीव्रता होने के कारण उस जल में सम्पेषित करने की सामर्थ्य विद्यमान है, नदी की इस तीव्र गति के कारण पाषाण पिसकर सिकता रूप में परिणत हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त नैघण्टुक गत्यर्थक 'क्षुद्' धातु को 'क्षोदः' पद का मूल स्वीकार किया जा सकता है।

३. क्षद्म

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'क्षद्म' पद पठित है।[३] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'क्षद्म' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**क्षद्म (उदकम्)। 'क्षद्' स्थैर्य्ये। स्वकार्य्ये स्थिरं भवति जलाशयं व्याप्यं स्थिरं भवतीति वा**"[४] कि अपने कार्य अथवा जलाशय में पहुँचकर स्थिर हो जाता है, अतः, उदक को 'क्षद्म' कहते हैं। इस पक्ष में 'क्षद्' धातु से औणादिक 'मनिन्' प्रत्यय होकर 'क्षद्म' रूप सिद्ध होता है। उक्त 'क्षद्' धातु पाणिनीय धातुपाठ में उपलब्ध नहीं होती है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'क्षद्म' पद को 'क्षद्' धातु से व्युत्पन्न मानता है। उसके अनुसार वेङ्कट एवं पेटरसन के मत में यह शकलीभाव साधन, परशु, छुरिका अर्थ का वाचक है, जबकि सायण, देवराजयज्वन् एवं निघण्टु के अनुसार यह उदक और अन्न का वाचक है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स 'क्षद्म' पद का मूल 'क्षद्' धातु को मानते हैं।[६] मोनियर विलियम्स के अनुसार ऋग्वेद में 'क्षद्म' का अर्थ काटना, चाकू, भोजन के टुकड़े हैं।[७]

---

१ ऋ० १०.५६.७. "नावा न क्षोदः प्रदिशः पृथिव्याः स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा।"

२ ऋ० १०.६१.२. "तूर्वयाणो गूर्तवचस्तमः क्षोदो न रेत इतऊति सिञ्चत्।"

३ निघ० १.१२.३.

४ निघ०वृ०, १.१२.३.

५ वै०पद०कोष, पृ० ११८७.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० १७९.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३२५.

वैदिक साहित्य में उक्तपद का अत्यन्त अल्प (केवल दो बार) प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि मेघ का नाश करने के लिये इन्द्र (सूर्य) वज्र (किरणों) को दृढ़तापूर्वक धारण करके क्षेपण करने के लिये तीक्ष्ण करता है, ठीक उसी प्रकार जैसे उदक को क्षेपण के लिये तीक्ष्ण (सूक्ष्म) किया जाता है।[१] भूतांश काश्यप ऋषि कहते हैं कि शक्तिशाली के समान गतिशील और उग्र अश्विनीदेव जरायुक्त, मरणशील शरीर को गन्तव्य विषयों में पार लगाते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार उदक पार लगाता है।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'क्षद्म' है, जो किरणों के समान तीक्ष्ण (सूक्ष्म) होता है, जिस प्रकार अश्विनीदेव रोगों से पार ले जाते हैं, उसी प्रकार यह पार ले जाने वाला है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सूक्ष्म वाष्परूप में स्थित उदक को वेद में 'क्षद्म' नाम से अभिहित किया गया है। इस दृष्टि से आचार्य देवराजयज्वन् द्वारा प्रस्तुत निर्वचन अर्थ की दृष्टि से समीचीन नहीं माना जा सकता। लेकिन फिर भी यह कहा जा सकता है कि 'क्षद्म' पद 'क्षद्' धातुमूलक है।

४. नभः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'नभः' पद पठित है।[३] जैमिनीय-ब्राह्मण 'नभः' पद का निर्वचन करता हुआ कहता है:-"**तद् यद्वै तन्नभो नामाभीर्वै सा। न हि तत्प्राप्य कस्माच्चन बिभेति। तस्मात्तन्नभः**"[४] कि जिसको प्राप्त करके फिर कोई भय शेष नहीं रहता है, वह नभ है। इस पक्ष में 'न+'भी' धातु से 'नभः' पद व्युत्पन्न होता है।

आचार्य यास्क आदित्य वाचक 'नभः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**नभ आदित्यो भवति। नेता रसानाम्, नेता भासाम्, ज्योतिषां प्रणयः**"[५] कि रसों का नायक, प्रकाश का प्रापक तथा उद्गम स्थान होने से आदित्य 'नभः' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'नी' धातु से 'नभः' पद निष्पन्न होता है।

(ख)"**अपि वा भन एव स्याद्विपरीतः**"[६] कि भासित होने के कारण यह आदित्य 'नभ' कहलाता है। इस पक्ष में 'भासन' अथवा ज्वलत्यर्थक 'भन्द्' धातु से 'भन' और उसका विपर्यय होकर 'नभः' रूप सिद्ध होता है।

(ग)"**न न भातीति वा**"[७] कि अत्यन्त प्रकाशमान होने से सूर्य को 'नभस्' कहते हैं। इस पक्ष में 'न+न+'भा' से 'नभः' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'नभः' पद का निम्न निर्वचन प्रस्तुत करते हैं:-"**नह्यते हि तन्मेघैर्दिवि भूमौ सेचनादिभिः, नह्यति प्राणिनां मनांसीति वा। प्राणिनो हि यत्रोदकं विद्यते तत्रैव स्थातुं मनः**

---

१ ऋ० १.१३०.४. "दादृहाणो वज्रमिन्द्रो गभस्त्योः क्षद्मेव तिग्ममसनाय सं श्यदहिहत्याय सं श्यत्।"

२ ऋ० १०.१०६.७. "पज्रेव चर्चरं जारं मरायु क्षद्मेवार्थेषु तर्तरीथ उग्रा।"

३ निघ० १.१२.४.

४ जै०ब्रा०, १.३०.

५ निरु० २.१४.

६ निरु० २.१४.

७ निरु० २.१४.

कुर्वते''[१] कि अन्तरिक्ष में मेघों के द्वारा सिञ्चनादि के लिये उदक को बाँधा जाता है, या प्राणियों के मन को अपनी ओर आकर्षित करता है या उदक वाले स्थान पर प्राणी रहने का मन बनाते हैं, अतः, उदक को 'नभस्' कहते हैं। इस पक्ष में 'नह्' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'नभस्' रूप निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा, न न भातीति वा। एकस्य नञो लोपः, इतरस्य नलोपाभावः। भात्येव स्वया दीप्त्या देवतात्वात्''[२] कि देवता होने के कारण यह उदक अपनी दीप्ति से प्रकाशित होता है, अतः, उदक को 'नभस्' कहा जाता है। इस पक्ष में एक 'नञ्' का लोप तथा द्वितीय 'नञ्' का लोपाभाव पूर्वक 'भा' धातु से 'नभस्' पद निष्पन्न होता है।

(ग)''नभ इव नभः''[३] कि आकाश के साथ रूपसाम्य होने से उदक को नभस्' कहा जाता है। इस पक्ष में आकाशवाचक 'नभस्' के साम्य से उदक का नामकरण 'नभस्' हुआ है। अतः, व्युत्पत्ति भी आकाशवाचक 'नभस्' के समान है।

ऋग्वेद नभस्' का आर्थिक निर्वचन करते हुए कहता है कि रूपरहित होने से वह वह 'नभस्' है।[४] इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में एक स्थान पर 'नभस्' का पद मूल 'नभ्' धातु को माना है,[५] जबकि द्वितीय स्थान पर अथर्ववेद का ऋषि 'भा' धातु को 'नभस्' पद का मूल मानता प्रतीत होता है।[६] उणादिकोष एक स्थान पर 'नभस्' शब्द को 'नह्'+असुन्'[७] से और द्वितीय स्थान पर 'नभ्'+असच्' से करता है।[८] इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि नभस्' पद वस्तुतः दो भिन्न-भिन्न मूलों से उत्पन्न हुए हैं। इसलिये इनके अर्थ में भेद प्राप्त होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष दीप्त्यर्थक 'नभ्' धातु से 'नभस्' पद को व्युत्पन्न मानता है। उसके अनुसार यह पद दिव् प्रभृति अर्थों का वाचक है।[९] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स 'नभस्' पद का मूल 'नभ्' धातु को मानते हैं।[१०] मोनियर विलियम्स के अनुसार उक्त 'नभ्' धातु का अर्थ विस्फोटित या विदीर्ण होना है। वे मानते हैं कि ऋग्वेद में 'नभस्' शब्द कुहरा, मेघ, धूम्र (विशेषरूप से सोम से सम्बन्धित) आदि अर्थों में प्रयुक्त है। उनके अनुसार लैटिन में 'nebula' स्लेवोनिक में 'nebo' जर्मन में 'nebul' 'nebel' ऐंग्लो सैक्सन में 'nifol' अन्धकार अर्थ में पाया जाता है।[११] यास्कीय निर्वचनों के सम्बन्ध में डॉ.

---

१. निघ०वृ०, १.१२.४.
२ निघ०वृ०, १.१२.४.
३. निघ०वृ०, १.१२.४.
४ ऋ० १.७१.१०. ''नभो न रूपं जरिमा मिनाति।
५ अथर्व०, ७.१८.१. ''प्र नभस्व पृथिवि भिन्द्धी इदं दिव्यं नभः।''
६ अथर्व०, १८.४.१४. ''तस्मै प्र भाति नभसो ज्योतिषीमान्।''
७ उणा०, ४.२१२. ''नहेर्दिवि भश्च।''
८ उणा०, ३.११७. ''नभितपिपतिपनिपणिमहिभ्योऽसच्।''
९ वै०पद०कोष, पृ० १७६८.
१० ऋ०वै०पद०, पृ० २८२.
११ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५२७.

सिद्धेश्वर वर्मा का मत है कि यास्क ने 'नभस्' शब्द के सामान्य अर्थ की प्रतीति कराने के लिये अपनी कल्पना शक्ति का प्रयोग नहीं किया है, जिसके अनुसार 'नभस्' अर्थात् आकाश सरलता से द्युलोक से सूर्यलोक में परिवर्तित हो सकता है।[१]

वैदिक साहित्य में 'नभस्' पद का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। यजर्वेद में अग्नि का स्तवन करते हुए गोतम ऋषि कहते हैं कि उदक की प्राप्ति कराने वाले अग्नि को मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ, यह जाठररूप से अङ्गों में विद्यमान है तथा पृथ्वी पर अग्नि नाम से प्रसिद्ध है, ऐसा यह अग्नि मुझे अच्छी प्रकार प्राप्त हो।[२] ऋग्वेद में अगस्त्य ऋषि इन्द्र के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उसे सर्वदा नवीन और पुरातन स्तुतियाँ प्राप्त होती हैं और वह प्राणियों की रक्षा करने के लिये मेघों (उदकों) का भेदन करता है।[३] अत्रि ऋषि विश्वदेवों का आह्वान करते हुए कहते हैं कि अन्नों के स्वामी, गतिशील, सर्वत्रव्याप्त एवं उदक को पार ले जाने वाले विश्वदेव हमारे आह्वान को सुनें।[४] एक अन्य मन्त्र में अत्रि ऋषि पर्जन्यदेव के विषय में कहते हैं कि जब वह पर्जन्य वर्षा के योग्य उदक को तैय्यार कर लेता है, तब उसकी दूर से सिंह के समान गर्जना सुनायी पड़ती है।[५] शशकर्ण ऋषि कहते हैं कि ये मेरे स्तोत्र अश्विनीदेवों को उसी प्रकार प्राप्त हों, जिस प्रकार उदक ऊपर से टपकता है।[६] कक्षीवान् ऋषि पवमानदेव के प्रकरण में कहते हैं कि आत्मा के समान सारभूत, क्षरणशील, तृप्तिदायक उदक दुहा जाता है और ऋत की नाभि से अमृत प्रकट होता है।[७] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि नभ और नभस्य ये दो वार्षिक मास हैं। इन्हीं से अन्तरिक्ष से वर्षा होती है, अतः, ये दोनों नभ और नभस्य कहलाते हैं।[८] तैत्तिरीय-संहिता कहती है कि दिव्य नभ को जाओ, ऐसा कहा जाता है, इसलिये प्रजा और प्रजाताओं के लिये वृष्टि होती है।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'नभस्' है, जो अनि के द्वारा प्राप्त होता है, प्राणियों की रक्षा के लिये इन्द्र इनका भेदन करता है, विश्वदेव इन उदकों के पार जाने में समर्थ हैं, पर्जन्यदेव जब वर्षणीय उदक को तैयार कर लेते हैं, तब दूर से सिंह के समान गर्जना सुनायी पड़ती है, जब अश्विनीदेवों को मेघ से टपकने वाले उदक की तरह स्तोम प्राप्त होते हैं, उस समय यह सारभूत उदक दुहा जाता है। शतपथ-ब्राह्मण वर्षा के दो मासों का नाम 'नभ' और 'नभस्य' बतलाता है तथा तैत्तिरीय-संहिता

---

१ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ३८.

२ यजु०, ५.९. ''विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽ अङ्गिरऽआयुना नाम्नेहि योऽस्यां पृथिव्यामसियत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे।''

३ ऋ० १.१७४.८. ''सना ता त इन्द्र नव्या आगुः सहो नभोऽविरणाय पूर्वीः।

४ ऋ० ५.४१.१२. ''शृणोतु न ऊर्जं पतिर्गिरः स नभस्तरीयाँ इषिरः परिज्मा।''

५ ऋ० ५.८३.३. ''दूरात्सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत्पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं१ नभः।''

६ ऋ० ८.९.८. ''आ वां स्तोमा इमे मम नभो न चुच्यवीरत।''

७ ऋ० ९.७४.४. ''आत्मन्वन्नभो दुह्यते घृतं पय ऋतस्य नाभिरमृतं वि जायते।''

८ शत०ब्रा०, ४.३.१.१६. ''एताव् (नभश्च नभस्यश्च) एव वार्षिकौ (मासौ)। अमुतो वै दिवो वर्षति तेनो हैतो नभश्च नभस्यश्च।''

९ तै०सं० ६.४.१.३-४. ''नभो दिव्यं गच्छ स्वाहेत्याह, प्रजाभ्य एव प्रजाताभ्यो वृष्टिं नियच्छति।''

'नभ' के साथ वृष्टि का सम्बन्ध मानती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वह उदक 'नभस्' है, जो वर्षा ऋतु में आकाश से प्राप्त होता है। सम्भवतः, 'नभस्' शब्द मूलतः, आकाश का वाचक है, उसके सम्बन्ध से उदक भी 'नभस्' कहा जाने लगा होगा। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए 'न+'भा' धातु को 'नभस्' पद का मूल माना जा सकता है, क्योंकि आकाश अरूपात्मक होने से शून्य प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार शुद्ध जल भी अरूपवत् होता है, अतः, इस साम्य के कारण उदक का नामकरण 'नभस्' हुआ होगा, यह स्वीकार किया जा सकता है।

५. अम्भः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'अम्भः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'अम्भः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**अम्भः (उदकम्)। 'आप्लृ' व्याप्तौ'। व्याप्नोति सर्वमम्भः**"[२] कि सम्पूर्ण को व्याप्त कर लेता है, अतः, उदक को 'अम्भः' कहते हैं। इस पक्ष में व्याप्ति अर्थ वाली 'आप्' धातु से 'असुन्' प्रत्यय तथा 'नुम्' का आगम होकर 'अम्भः' पद निष्पन्न होता है। उणादिकोष में भी इसी प्रकार 'अम्भः' पद निष्पन्न किया जाता है।[३]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अम्भस्' पद की व्युत्पत्ति को सन्दिग्ध मानते हुए निम्न व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत करता है:-१. **'अन्'+'भस्'+कसुन्'**, २. **'अर्' +'भस्' या 'भृ+डसुन्'** ३. **'अम्'+'भस्'**, ४. **'आप्'+असुन्'**।[४] उसके अनुसार यह पद सलिल, उपचारतः क्षीराज्यादि का वाचक है। ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अम्भस्' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] लेकिन मोनियर विलियम्स उक्तपद का मूल शब्दार्थक 'अम्भ्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद दिव्य उदक के अर्थ में है।[६]

वैदिक साहित्य में 'अम्भस्' शब्द का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में उक्तपद का मात्र एक बार उल्लेख देखने को मिलता है। नासदीय सूक्त का ऋषि कहता है कि सृष्टि से पूर्व न असत् था और न सत्। उस समय न तो लोक थे और न आकाश से परे ही कुछ था। आवरण करने वाला अन्धकार क्या उस समय था? और क्या गहन और गम्भीर उदक भी उस समय विद्यमान था?[७] ऐतरेय आरण्यक और ऐतरेय उपनिषद् में 'अम्भस्' को नीचे रहने वाला तथा द्युलोक को ऊपर स्थित बतलाया है।[८] तैत्तिरीय-संहिता लोकों को

---

१ निघ० १.१२.५.

२ निघ०वृ०, १.१२.५.

३ उणा०, ४.२१०. "उदके नुम्भौ च।"

४ वै०पद०कोष, पृ० ४६८.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ५२.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८४.

७ ऋ० १०.१२९.१. "नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।"

८ ऐत०आ०, २.४.१; ऐत०उप०, १.१.२. "अदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठा।"

'अम्भस्' नाम से अभिहित करती है तथा वसुओं को उनका अधिपति बतलाती है।[१] लोकों को अम्भस्' बतलाने का कारण सम्भवतः, यह है कि विना उदक के लोकों (प्राणियों) की स्थिति सम्भव नहीं है।

उक्त एक मात्र वेद के उद्धरण से 'अम्भस्' पद का विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह उदक 'अम्भंस्' है, जो पृथ्वी के नीचे रहता है। नासदीय सूक्त से भी इस निष्कर्ष की पुष्टि होती दिखायी देती है, वहाँ 'अम्भस्' को गहन और गभीर बताया है। इस आधार पर उपर्युक्त निर्वचन अर्थ की दृष्टि से उचित नहीं माना जा सकता।

६. कवन्धम्/कबन्धम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'कवन्धम्' नामपद परिगणित है।[२] आचार्य यास्क मेघवाचक 'कबन्धम्' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**कबन्धं मेघम्, कवनमुदकं भवति, तदस्मिन् धीयते**''[३] कि 'कबन्ध' का अर्थ मेघ होता है, क्योंकि इसमें उदक स्थित होता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'कव्' धातु से 'कवन' तथा 'कवन+'धा' से 'कवन्ध' पद सिद्ध होता है।[४] आचार्य सायण भी यास्क से प्रभावित होकर 'कबन्ध' पद का इसी प्रकार निर्वचन करते हैं।[५]

(ख)''**उदकमपि कबन्धमुच्यते, बन्धिरनिभृतत्वे, कमनिभृतत्वञ्च**''[६] कि उदक भी कबन्ध कहा जाता है, क्योंकि इसमें सुख स्थिर नहीं रहता है। इस पक्ष में 'कम्+'बन्ध्' से 'कबन्ध' रूप सिद्ध होता है।[७]

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'कबन्ध' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**कबन्धम् (उदकम्)। बन्धिरनिभृतत्वे (निरु०,१०.४.) निभृतं चञ्चलमतोऽन्यदनिभृतमचञ्चलम्, तदनिभृतम्। कबन्धः कमनीयं च तद्बन्धः चेत्यर्थः**''[८] कि कबन्ध का अर्थ उदक होता है। उक्तपद में स्थित 'बन्ध्' का तात्पर्य 'अनिभृतत्व' है। 'निभृत' का अर्थ 'चञ्चल' और उससे विपरीत 'अनिभृत=अचञ्चल' होता है। इस प्रकार जो उदक सुख और बाधा पहुँचाता है, वह 'कबन्ध' है। इस पक्ष में 'कम्+'बन्ध्' से 'कबन्ध' रूप सिद्ध होता है।

(ख)''**यद्वा, कं सुखं बध्नाति स्नानपानादिना**''[९] कि जो स्नानपानादि के रूप में सुख पहुँचाता है, ऐसा उदक 'कबन्ध' है। इस पक्ष में 'क+'बन्ध्' से 'कबन्ध' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष निघण्टु के आधार पर 'कबन्ध' का अर्थ मेघ और उदक मानता है। उसके

---

१ तै०सं० ३.८.१८.१. ''अयं वै (भू)लोकोऽम्भाःसि। तस्य वसवोऽधिपतयः।''

२ निघ० १.१२.६.

३ निरु० १०.४.

४ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ० ८२५.

५ सायण, ऋग्वेदभाष्य, ५.८५.३. ''कवनमुदकम्, तत् धीयतेऽत्रेति कवन्धो मेघः अथवा कवन्धमुदकम्।''

६ निरु० १०.४.

७ निघ०वृ०, १.१२.६.

८ निघ०वृ०, १.१२.६.

९ निघ०वृ०, १.१२.६.

अनुसार इस पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'कबन्ध' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स 'कबन्ध' का मूल वर्णार्थक 'कब्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद और अथर्ववेद में यह एक विशाल उदर वाले पात्र, विशेष रूप से मेघ के लिये प्रयुक्त है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा भी सेंट पीटर्सबर्ग के मत को उद्धृत करते हुए उपर्युक्त मोनियर विलियम्स के मत की पुष्टि करते हैं और मानते हैं कि यह एक विशाल पात्र का वाचक है, जो बाद में मेघ के लिये प्रयुक्त होने लगा है। इसके अतिरिक्त वे उक्त यास्कीय निर्वचन को यान्त्रिक (अविचारित) प्रकृति वाले वर्ग में रखते हैं।[४]

वैदिक साहित्य में उक्तपद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में उक्तपद का मात्र चार बार उल्लेख प्राप्त होता है। श्यावाश्व आत्रेय ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार दृढ़ निश्चयी नर ग्राम को जीतने वाले होते हैं, उसी प्रकार मरुद्गण उदक से युक्त होते हैं।[५] अत्रि ऋषि वरुणदेव की स्तुति करते हुए कहते हैं कि वरुणदेव ने द्यु, अन्तरिक्ष और पृथ्वीलोक के प्रति मेघ विदीर्ण करके उसे नीचे की ओर मुख वाला बना दिया है।[६] पुनर्वत्स ऋषि मरुत् के प्रकरण में कहते हैं कि मरुतों की माताओं ने शक्तिशाली अपने पुत्रों के लिये निम्न तीन सरों को दुहा है: १. उत्साहपात्र २. कवन्ध (धृतिपात्र), ३. उद्रिण (स्नेहपात्र)।[७] कक्षीवान् ऋषि पवमानदेवता की स्तुति करते हुए कहते हैं कि वह पवमानदेव जिसकी उन्नति चाहता है, उसे कर्म में संयुक्त करने वाली बुद्धि से सङ्गत तथा उसके लिये द्युलोक से अत्यधिक उदक वाले मेघ से वर्षा करता है।[८] अथर्ववेद में ऋषभ देवता की स्तुति करता हुआ ऋषि कहता है कि शरीर के अन्तस् में विद्यमान पुरुष स्थिर स्वभाव का है और तृप्ति देने वाला ऋषभ देवता वसु से कबन्ध को भरता है।[९] एक अन्य मन्त्र में अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि चार प्रकार से सटे हुए शिर वाला दोनों जानुओं से ऊपर शिथिल कबन्ध जुड़ता है।[१०]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में उक्तपद की वर्तनी दो प्रकार की प्राप्त होती है: १. कवन्ध, २. कबन्ध। प्रथम प्रकार का पद ऋग्वेद में पाया जाता है, जबकि द्वितीय प्रकार का अथर्ववेद में। ऋग्वेद में प्राय: यह उदक या मेघ के अर्थ में प्रयुक्त है, जबकि अथर्ववेद में यह शिर रहित शरीर के लिये आया है। जहाँ तक उदकवाचक अर्थ में प्रयुक्त होने का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि वह उदक 'कवन्ध' है, जिसका सेवन मरुद्गण करते हैं, इसीको वरुणदेव मेघ को विदीर्ण करके नीचे प्राणियों के लिये प्रदान करते हैं, मरुतों की माताएँ अपने शक्तिशाली पुत्रों के लिये जिन तीन सरों को दुहती हैं, उनमें से

---

१ वै०पद०कोष, पृ० १०८८.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० १६५.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २५१.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ३६.

५ ऋ० ५.५४.८. ''नियुत्वन्तो ग्रामजितो यथा नरोऽर्यमणो न मरुत: कवन्धिन:।''

६ ऋ० ५.८५.३. ''नीचीनबारं वरुण: कवन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्।''

७ ऋ० ८.७.१०. ''त्रीणि सरांसि पृश्नयो दुदुह्रे वज्रिणे मधु। उत्सं कवन्धमुद्रिणम्।''

८ ऋ० ९.७४.७. ''धिया शमी सचते सेमभि प्रवद्दिवस्कवन्धमव दर्षदुद्रिणम्।''

९ अथर्व०, ९.४.३. ''पुमानन्तर्वान्त्स्थविर: पयस्वान् वसो: कवन्धमृषभो बिभर्ति।''

१० अथर्व०, १०.२.३. ''चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम्।''

एक कवन्ध भी है। इसके अतिरिक्त पवमानदेव जिनकी उन्नति चाहते हैं, उनको इस द्युलोक से प्राप्त होने वाले उदक से अनुगृहीत करते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह उदक 'कबन्ध' है, जो मनुष्यों के सुख एवं उन्नति के लिये प्रयुक्त होता है। 'क' शब्द 'शिर' अथवा उदक का वाचक है, जिसका शिर अर्थात् मुख (पानी निकलने का स्थान) बँधा हुआ है, वह उदक 'कबन्ध' है। 'क' के जल अर्थ की पुष्टि 'कहार' (=क=जल+हार=हरण करने वाला।) शब्द से हो जाती है। कहने का आशय यह है कि जो जल नियन्त्रित रूप से उपयोग में आता है, वह 'कवन्ध' है। नियन्त्रित उपयोग वाला उदक मनुष्य को सुख एवं समृद्धि प्रदान कर सकता है। इसके अतिरिक्त उक्त व्युत्पत्ति को स्वीकार कर लेने पर 'कबन्ध' के 'सिर रहित धड़' अर्थ के साथ भी सङ्गति हो जाती है। अतः, 'कवन्ध' पद के उक्त सभी निर्वचन मूल की अर्थ की दृष्टि से असङ्गत प्रतीत होते हैं।

७. सलिलम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'सलिल' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'सलिल' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**सलिलम् (उदकम्)। 'सल' गतौ'। सलति गच्छति निम्नदेशं गम्यते प्राणिभिरिति वा**''[२] कि यह निम्न प्रदेश की ओर गमन करता है अथवा यह प्राणियों के द्वारा निम्नप्रदेश में ले जाया जाता है, अतः, उदक को 'सलिल' कहते हैं। इस पक्ष में 'सल' गतौ' धातु से औणादिक 'इलच्' प्रत्यय होकर 'सलिल' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'सलिल' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**सलिलं सद्भावे लीनम्। सर्वमिदं भावस्योपरि लीनमासीत्**''[३] कि सृष्टि से पूर्व अवस्था में यह सब कुछ अस्तित्व में लीन रहता है, अतः, यह सृष्टि पूर्व अवस्था सलिल कहलाती है। इस पक्ष में 'सत्+लीन' से 'सलिल' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक पदानुक्रम-कोष 'सलिल' को व्यक्तिपरक संज्ञा मानता है तथा उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'सलिल' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'सलिल' पद की तुलना 'सरिर' से करते हैं। उनके अनुसर ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा मैत्रायणी-संहिता में 'सलिल' पद प्रवाह, तरङ्गायित होना, प्रवाह का उतार-चढ़ाव होना, अस्थिर आदि अर्थों में पाया जाता है।[६]

वैदिक साहित्य में 'सलिल' पद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में दीर्घतमस् ऋषि विश्वदेवों का स्तवन करते हुए कहते हैं कि गरणशीला माध्यमिका वाक् वृष्ट्युदक सम्पादित करती है। कहीं यह कार्य एक स्थान पर स्थित होकर करती है और कभी अनेक स्थानों पर स्थित होकर। यह अपरिमित व्याप्ति

---

१ निघ० १.१२.७.

२ निघ०वृ०, १.१२.७.

३ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ० ६२१.

४ वै०पद०कोष, पृ० ३३३५.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ५६०.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ११८९.

वाली माध्यमिका वाक् परम व्योम (उत्कृष्ट अन्तरिक्ष) में निवास करती है।[१] महर्षि दयानन्द सरस्वती उक्त मन्त्र का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि यह गौरी (विदुषी) स्त्री अन्य स्त्रियों के अविद्यादि दोषों को जल के समान दूर करती है।[२] वसिष्ठ ऋषि आप: देवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि समुद्र है ज्येष्ठ जिनका ऐसी एक क्षण को भी न रुकने वाली लहरें पवित्र करती हुई उदक के मध्य से आती हैं।[३] उक्त मन्त्र के व्याख्यान में आचार्य सायण और महर्षि दयानन्द सरस्वती 'सलिल' पद का अर्थ 'अन्तरिक्ष' करते हैं।[४] अदिति दाक्षायणी ऋषिका कहती हैं कि जब देवता अच्छी प्रकार सलिल में स्थित होते हैं, तब रेणु (परमाणु) तीव्र गति से नृत्य अर्थात् सुसङ्गतरूप से सक्रिय होकर, चारों ओर व्याप्त हो जाते हैं।[५] जुहू ब्रह्मजाया ऋषिका कहती हैं कि ब्रह्मकिल्विष (प्रजापति की प्रसन्नता) में सूर्य, उदक और वायु ये तीनों अपनी प्रमुखता बतलाते हैं।[६] कहने का आशय यह प्रतीत होता है कि जिस क्षण प्रजापति के मन में **'एकोऽहं बहु स्याम'** का विचार आता है, उसी क्षण से सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है और उस काल में सूर्य, सलिल और मातरिश्वा ये तीनों तत्त्व सक्रिय हो उठते हैं। नासदीय सूक्त का ऋषि कहता है कि सृष्टि से पूर्व तमस्, तमस् से आच्छादित होता है और उस काल में यह सब कुछ अप्रकट सलिल में विद्यमान रहता है।[७] आचार्य दुर्ग प्रस्तुत स्थल पर 'सलिल' पद का विवेचन करते हुए कहते हैं कि **''सलिलं सद्भावे लीनम्। सर्वमिदं भावस्योपरि लीनमासीत्''**[८] कि सृष्टि पूर्व अवस्था में यह सम्पूर्ण जगत् अस्तित्व में लीन रहता है। इस प्रकार दुर्ग की दृष्टि में 'सलिल' का तात्पर्य 'अस्तित्व लीनता' है। तैत्तिरीय-संहिता, तैत्तिरीय उपनिषद् एवं तैत्तिरीयारण्यक स्पष्टरूप से घोषणा करते हैं कि सृष्टि पूर्व अवस्था में 'आप:' सलिल रूप था।[९] तैत्तिरीयारण्यक कुछ और आगे की बात बताता हुआ कहता है कि वह एकमात्र प्रजापति पुष्करपर्ण पर उत्पन्न हुआ, तब उसके मन में काम उत्पन्न हुआ कि मैं इस सबको उत्पन्न करूँ।[१०] शतपथ-ब्राह्मण भी कहता है कि यह आप: पूर्व में सलिल था। उस आप: ने कामना की कि मैं किस प्रकार प्रजात होऊँ।[११] ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर कहा जा सकता है कि 'आप:' की सृष्टि से पूर्व की स्थिति 'सलिल' है। उपर्युक्त उद्धरण में प्रजापति को पुष्करपर्ण पर

---

१ ऋ० १.१६४.४१. ''गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी। अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्।''

२ दयानन्दभाष्य, ऋ० १.१६४.४१.

३ ऋ० ७.४९.१. ''समुद्रज्येष्ठा: सलिलस्य मध्यात्पुनाना यन्त्यनिविशमाना:।''

४ सायण एवं दयानन्दभाष्य, ऋ० ७.४९.१.

५ ऋ०.१०.७२.६. ''यद्देवा अद: सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत। अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत।''

६ ऋ० १०.१०९.१. ''तेऽवदन्प्रथमा ब्रह्मकिल्विषेऽकूपार: सलिलो मातरिश्वा।''

७ ऋ० १०.१२९.३. ''तम आसीत्तमसा गूळमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।''

८ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, निरु० ७.३. पृ० ६२१.

९ तै०सं० १.१.३.५.''आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्।''
तै०उप०, १.१८.१.१. ''आपो वा इदमग्रे महत् सलिलमासीत्।''

१० तै०आ०, १.२३.१. ''आपो वा इदमासन्सलिलमेव। स प्रजापतिरेक: पुष्करपर्णे समभवत्। तस्यान्तर्मनसि काम: समवर्तत। इदं सृजेयेमिति।''

११ शत०ब्रा०, ११.१.६.१. ''आपो ह वाऽइदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त कथं नु प्रजायेमहीति।''

उत्पन्न होना बतलाया गया है। ब्राह्मण के अनुसार आपः ही पुष्करपर्ण है।[१] पौराणिक मान्यता भी ब्रह्मा को पुष्कर से उत्पन्न होने वाला बतलाती है। ब्रह्मा की बृंहणशीलता तथा प्रजापति के मन में काम का आविर्भाव और दूसरी ओर आपः को पुष्करपर्ण बतलाना- इनके मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्यापनशील, अव्यक्तरूप में विद्यमान, जलीय तत्त्व के संयोग से सृष्टि का प्रारम्भ होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'सलिल' है, जो गरणशीला माध्यमिका वाक् के द्वारा सम्पादित किया जाता है, यह वह उदक है जिसमें समुद्र की लहरें उठती और विलीन होती हैं, इस सलिल में स्थित होने पर अणु-परमाणु नृत्य करते हैं अर्थात् सृष्टि प्रक्रिया का प्रारम्भ हो जाता है, सृष्टि का विचार आते ही जो तीन तत्त्व सक्रिय होते हैं, उनमें से एक सलिल भी है, यह दृश्यमान जगत् उस सलिल में लीन रहता है। इसके अतिरिक्त वेद और ब्राह्मणग्रन्थों के उक्त अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि सलिल का सम्बन्ध सृष्टिपूर्व स्थिति से है। प्रलयकालीन स्थिति में विद्यमान सलिल निश्चितरूप से सामान्य रूप से व्यवहार में आने वाले उदक के समान नहीं है। ब्राह्मणग्रन्थ आपः की पूर्व अवस्था को सलिलरूप में प्रतिष्ठित करते हैं और प्रजापति को पुष्करपर्ण पर उत्पन्न होने वाला बतलाते हैं, इससे यह आशय ग्रहण किया जा सकता है कि प्रलयकाल में ब्रह्माण्ड में सूक्ष्म या अव्यक्तरूप में विद्यमान जलीय तत्त्व वेद और इतर वैदिक साहित्य की दृष्टि में 'सलिल' है। यह जिज्ञसा उठना स्वाभाविक है कि जब अन्य सूक्ष्म भूत भी प्रलयकाल में अव्यक्तरूप में विद्यमान रहते हैं, तब केवल उदक को सलिल (जिसमें सब कुछ लय हो जाता है) कहना कहाँ तक उचित है, इस विषय में कहा जा सकता है कि प्राणिजगत् की सृष्टि का प्रारम्भ और अन्त उदक के कारण होता है। जहाँ प्रथम स्थिति जल के होने से और वहीं दूसरी उसके न होने से होती है। इस दृष्टि से 'सत्+लीन' यह व्युत्पत्ति सलिल का मूल मानी जा सकती है।

८. वाः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'वाः' पद परिगणित है।[२] शतपथ-ब्राह्मण 'वार्' पद का निम्न निर्वचन करता है:-"**यदवृणोत्तस्माद्वाः**"[३] कि स्वीकार किये जाने के कारण यह 'वार्' कहलाता है। इस पक्ष में 'वृ' धातु से 'वार्' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'वार्' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**वृतं हि तदिन्द्रेण**"[४] कि इन्द्र के द्वारा वरण किये जाने से यह उदक 'वार्' कहलाता है। इस पक्ष में 'वृञ्' वरणे' धातु से 'वार्' पद निष्पन्न होता है।

अथर्ववेद का ऋषि 'वार्' पद का निर्वचन करता हुआ कहता है कि वरण या वारण योग्य होने से ये

---

१ तै०सं० ५.१.४.२; २.६.६. "अपां वा एतत्पृष्ठं यत् पुष्करपर्णम्।"
शत०ब्रा०, ६.४.१.९; १०.५.२.६. "आपः पुष्करपर्णम्।"

२ निघ० १.१२.८.

३ शत०ब्रा०, ६.१.१.९.

४ निघ०वृ०, १.१२.८.

उदक 'वार्' हैं।[१] ऐसा ही कथन मैत्रायणी-संहिता में प्राप्त होता है।[२] एक अन्य स्थान पर ऋषि पुनः कहता है कि वरणीय क्रिया में ये विष का वारण करते हैं, अतः, ये 'वार्' हैं।[३] इस प्रकार वेद की दृष्टि में 'वृ' धातु 'वार्' शब्द का मूल है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वार्' पद को जलवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार 'वृष्' वर्षणे'=द्रवणे' धातु से उक्तपद उपपन्न होता है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स के अनुसार 'वार्' शब्द की व्युत्पत्ति 'वृ' धातु से होती है। उनके अनुसार यह पद ऋग्वेद में उदक, विशेषरूप से यह उदक को धारण करने वाले स्थान, समुद्र, अवरुद्ध जल, तडागादि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[६]

वैदिक साहित्य में 'वार्' पद का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में परुच्छेप ऋषि इन्द्र को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम्हारा पूर्व के समान प्रीतिकर, यज्ञ में वरण किया गया, अतिप्रकाशित, ऋत का निवासस्थान यह वार् नाम का उदक है।[७] भार्गव ऋषि अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि यह अग्नि पिपासु को उदक के समान रुचिकर लगता है और जिस प्रकार से कोई रथ से सुख और शीघ्रता से यात्रा करता है, उसी प्रकार वह उदक के मार्ग से गमन करता है।[८] वामदेव ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार वायु बलों से उदकों को संक्षोभित करता है, उसी प्रकार इन्द्र अपने बल से अन्तरिक्ष को संक्षोभित करता है।[९] अपाला नाम की ऋषिका का मत है कि अभिषवण (सारतत्त्व) क्रिया को जानने वाली कन्या सोम की रक्षा करती है।[१०] नृमेध ऋषि का अभिमत है कि जिस प्रकार उदक पहुँचाने वाली नदियों के द्वारा समुद्र वृद्धि को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार स्तुतियाँ इन्द्र की वृद्धि करती हैं।[११] विश्वदेवों के प्रकरण में तान्व पार्थ्य ऋषि उदकों को समस्त भुवनों का स्वामी एवं देवों में महनीय बतलाते हैं।[१२] एक अन्य मन्त्र में हविर्धान ऋषि कहते है कि सभी देव अग्नि के इस दान का गुणगान करते हैं, उसका यह वृष्टिदान वस्तुतः, आकाश से घृत का क्षरण है।[१३] कौत्स ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार क्यारी जल को रोकती है, उसी प्रकार हमारा स्तोत्र क्या इन्द्र को

---

१ अथर्व०, ३.१३.३. "अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम्।"

२ मै०सं० २.१३.१.

३ अथर्व०, ४.७.१. "वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि।"

४ वै०पद०कोष, पृ० २८२२.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ४७४.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९४३.

७ ऋ० १.१३२.३. "तत्तु प्रयः प्रत्नथा ते शुशुक्वनं यस्मिन्यज्ञे वारमकृण्वत क्षयमृतस्य वारसि क्षयम्।"

८ ऋ० २.४.६. "आ यो वना तातृषाणो न भाति वार्ण पथा रथ्येव स्वानीत्।"

९ ऋ० ४.१९.४. "अक्षोदयच्छवसा क्षाम बुध्नं वार्ण वातस्तविषीभिरिन्द्रः।"

१० ऋ० ८.९१.१. "कन्या वारवायती सोममपि स्रुताविदत्।"

११ ऋ० ८.९८.८. "वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि।"

१२ ऋ० १०.९३.३. "विश्वेषामिरज्यवो देवानां वार्महः।"

१३ ऋ० १०.१२.३. "विश्वेदेवा अनु तत्ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः।"

रोकता है?[१] इन्द्राणी ऋषिका पत्नीसबाधादेवता के प्रसङ्ग में कहती हैं कि पति का मन मेरे पीछे उसी प्रकार दौड़े, जिस प्रकार गाय वत्स के पीछे तथा उदक निम्न मार्ग पर दौड़ता है।[२] कक्षीवान् ऋषि अश्विनीदेवों का गुणगान करते हुए कहते हैं कि वे अश्विनीदेव हिंसा और सत्कार करने वाले दोनों प्रकार के लोगों की रक्षा के लिये नीचे कूप से तथा ऊपर अन्तरिक्ष से उदक प्रदान करते हो।[३] अथर्ववेद के आपः सूक्त में ऋषि कहता है कि सुख के लिये इन्द्र (जीव=मनुष्य) अपनी बुद्धि की शक्ति से व्यर्थ में प्रवाहित होते हुए उदकों को रोकता है, इसलिये ये उदक 'वार्' कहलाते हैं।[४] विषदेवता के प्रसङ्ग में अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि वरणीय औषधि या क्रिया के द्वारा यह उदक विष के प्रभाव को दूर करता है।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'वार्' है, जो पूर्व के समान प्रीतिकर, यज्ञ में वरण किया गया, अतिप्रकाशित और ऋत का निवासस्थान है, यह पिपासा में रुचिकर लगने वाले उदक के समान स्वादिष्ठ है और अग्नि इसमें अति तीव्रता से गमन करता है, यह कन्या के द्वारा अभिषुत सोम का रस है, इसके पहुँचने से समुद्र के जल में वृद्धि होती है, यह उदक समस्त भुवनों का स्वामी और देवों का पूज्य है, अन्तरिक्ष से बरसने वाला यह दिव्य दान अग्नि की कृपा से प्राप्त होता है, इसका उपयोग क्यारी आदि के रूप में कृषि में किया जाता है, जिस प्रकार प्रेमी व्यक्ति का मन अपनी प्रियतमा का अनुसरण करता है, उसी प्रकार यह निम्नमार्ग पर गमन करता है, अश्विनीदेवों की अनुकम्पा से इसकी प्राप्ति सबको होती है, सुख के लिये इन्द्र (जीव=मनुष्य) अपनी बुद्धि की शक्ति से व्यर्थ में प्रवाहित होते हुए इन उदकों को रोकता है। इसके अतिरिक्त यह विषनाशक भी माना गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मनुष्य जिस जल का उपयोग रोककर अपने विकास कार्यों में करता है, वह वेद में 'वार्' नाम से अभिहित हुआ है। इस दृष्टि से वारणार्थक 'वृ' धातु को 'वार्' पद का मूल माना जा सकता है।

९. वनम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'वन' पद पठित है।[६] आचार्य यास्क 'वन' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''वनं वनोतेः''[७] कि सम्भजनीय होने से अरण्य 'वन' कहा जाता है। इस पक्ष में सम्भक्तार्थक 'वन्' धातु से 'वन' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''वना, वनानीति वा''[८] कि सेवनीय होने से उदक 'वन' कहा जाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है। यह सम्भवतः, अर्थपरक निर्वचन है।

---

१ ऋ० १०.१०५.१. ''कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आव श्मशा रुधद्वाः।''

२ ऋ० १०.१४५.६. ''मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु।''

३ ऋ० १.११६.२२. ''शरस्य चिदार्चत्कस्यावतादा नीचादुच्चा चक्रथुः पातवे वाः।''

४ अथर्व०, ३.१३.३. ''अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम्। इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम्।''

५ अथर्व०, ४.७.१. ''वारिदं वारयातै वरणावत्यमधि। तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम्।''

६ निघ० १.१२.९.

७ निरु० ८.३.

८ निरु० ५.१६.

(ग)"**वधेनेति वा**"[१] कि ताडन किये जाने से उदकों को 'वन' कहा जाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है। सम्भवतः, यह भी आर्थिक निर्वचन है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'वन' शब्द का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**वन्यते सेव्यते वनम्**"[२] कि सेवनीय होने से उदक 'वन' कहा जाता है। इस पक्ष में 'वन्' धातु से 'घ' प्रत्यय होकर 'वन' शब्द निष्पन्न होता है। वेद से भी उक्त निर्वचन की पुष्टि हो जाती है।[३]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वन्' धातु से 'वनम्' पद को व्युत्पन्न मानता है। यह वृक्ष और उदकवाचक नामपद है, लेकिन निघण्टु (१.५.८.) में रश्मिवाचक अर्थ में भी परिगणित है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स भी उक्तपद का मूल 'वन्' धातु को मानते हैं।[५] मोनियर विलियम्स के अनुसार उक्तपद ऋग्वेद में मुख्यरूप से अरण्य, काष्ठ, वृक्षसमूह, झुरमुट, कमलों या अन्य पौधों के समूह अर्थ में है, लेकिन प्राचीन भाषा में यह एक वृक्ष के लिये भी प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त यह 'सोमरस' अर्थ में भी पाया जाता है।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि यास्क के अनुसार यह पद विजय अर्थ वाली 'वन्' धातु से निष्पन्न होता है। यह पद भारोपीय भाषा में 'uen' अभिलाषा तथा विजय अर्थ में, प्राचीन जर्मन में 'wunna' चरागाह तथा लैटिन में 'venus' प्रेम अर्थ में पाया जाता है। यह निर्वचन तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने के योग्य है।[७]

वैदिक साहित्य में 'वन' शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है, लेकिन प्रायः सर्वत्र आज के वर्तमान वन (अरण्य) के अर्थ में प्रयुक्त है। ऋग्वेद में आङ्गिरस सव्य ऋषि इन्द्र के प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि उस इन्द्र की शक्ति के प्रभाव से नदियाँ क्रन्दन, उदक शब्द और पृथिवी भय से काँप जाती है।[८] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि श्वसन (शब्द) करने वाली वायु एवं कठोर वस्तु को भी मृदु बना देने वाले शोषक आदित्य- इन दोनों की मूर्धा पर गर्जना करते हुए, उदक वृष्टि करने वाला इन्द्र को बतलाता है।[९] भार्गव ऋषि अग्नि का स्तवन करते हुए कहते हैं कि यह अग्नि पिपासु को उदक के समान रुचिकर लगता है और जिस प्रकार से कोई रथ से सुख और शीघ्रता से यात्रा करता है, उसी प्रकार यह उदकमार्ग से गमन करता है।[१०] श्यावाश्व ऋषि अश्विनीदेवों का स्तवन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार पिपासाकुल हारिद्रव पक्षी जलों की

---

१ निरु० ५.१६.

२ निघ०वृ०, १.१२.९.

३ ऋ० ६.६.३. "वना वनन्ति धृषता रुजन्तः।"

४ वै०पद०कोष, पृ० २७४०.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ४५८.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९१७.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० २३३.

८ ऋ० १.५४.१. "अक्रन्दयो नद्यो३ रोरुद्वना कथा क्षोणीर्भियसा समारत।"

९ ऋ० १.५४.५. "नि यद्वृणक्षि श्वसनस्य मूर्द्धनि शुष्णस्य चिद् व्रन्दिनो रोरुद्वना।"

१० ऋ० २.४.६. "आ यो वना तातृषाणो न भाति वार्ण पथा रथ्येव स्वानीत्।"

ओर उड़ते हैं, उसी प्रकार अश्विनीदेव रक्षा के लिये इधर-उधर गमन करते हैं।[१] हर्यत प्रागाथ ऋषि का कथन है कि सर्वातिशायी अग्नि अन्तरिक्ष को अत्यधिक सन्तप्त कर देता है। वह अन्नप्रदाता अग्नि अन्तरिक्षस्थ उदक को बढ़ाता है।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'वन' है, जो शब्द करता है अर्थात् जो अधिक गम्भीर न होने के कारण कलकल ध्वनि करता हुआ प्रवाहित होता है, यह पिपासा में स्वादिष्ठ लगने वाले उदक के समान रुचिकर है, यह वह जल है, जिसकी ओर हारिद्रव पक्षी उड़ते हैं। इसके अतिरिक्त यह उदक अग्नि के प्रभाव से वृद्धि प्राप्त करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह उदक 'वन' है, जो शब्द करता हुआ प्रवाहित होता है। कलकलध्वनि के कारण इसे सम्भवतः, 'वन' कहा गया है। अतः, शब्दार्थक 'वन्' धातु को उक्तपद का मूल माना जा सकता है। वेद में उदक तथा अरण्य दोनों को 'वन' नाम से अभिहित किया गया है। लेकिन यह अस्पष्ट है कि मूलतः, इनमें से सर्वप्रथम किस अर्थ में वन पद का प्रयोग हुआ। फिर भी यह माना जा सकता है कि उदक और अरण्य में निकट का सम्बन्ध है। वन से उदक और उदक से वन की वृद्धि और रक्षा होती है, परन्तु वेद और लोक में इसका अधिक प्रयोग अरण्य के अर्थ में हुआ है और आज भी हो रहा है। अतः, उक्तपद का प्रचलित और सर्वग्राह्य अर्थ अरण्य है, यह माना जा सकता है। सम्भवतः, सेवनीय होने के कारण वृक्षसमूह को 'वन' कहा गया है।

१०. घृतम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'घृत' पद पठित है।[३] मैत्रायणी-संहिता 'घृत' पद का निर्वचन करती हुई कहती है:-"**यदघ्रियत तद् घृतम्**"[४] कि जो क्षरित होता है, वह घृत है। इस पक्ष में क्षरण और दीप्ति अर्थ वाली 'घृ' धातु से 'घृत' शब्द निष्पन्न होता है। ऐसा ही निर्वचन काठक-संहिता में भी प्राप्त होता है।[५]

तैत्तिरीय-संहिता का मत है:-"**यद् ध्रियते तद् घृतमभवत्**"[६] कि जो धारण किया जाता है, वह घृत है। इस पक्ष में धारणार्थक 'धृ' धातु से उक्तपद उपपन्न होता है।

काठक तथा कपिष्ठलकठ संहिताओं में 'घृत' पद का निम्न निर्वचन देखने को मिलता है:-"**स घृङ्ङकरोत् तद् घृतस्य घृतत्वम्**"[७] कि अग्नि में डालते समय 'घृङ्' इस प्रकार की ध्वनि होती है, अतः, यह घृत कहलाता है। इस पक्ष में 'घृङ्' शब्द से 'घृत' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'घृत' पद का निम्न निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**घृतमित्युदकनाम, जिघर्तेः**

---

१ ऋ० ८..३५.७. "हारिद्रवेव पतथो वनेदुप सोमं सुतं महिषेवाव गच्छथः।"

२ ऋ० ८.७२.४. "जाम्यतीतपे धनुर्वयोधा अरुहद्वनम्।"

३ निघ० १.१२.१०.

४ मै०सं० २.३.४.

५ का०सं० ११.७. "यदघ्रियथास्तद् घृतमभवः।"

६ तै०सं० २.३.१०.१.

७ काठ०सं० २४.७; कपि०सं० ३७.८.

सिञ्चतिकर्मण:''[१] कि घृत यह उदकवाचक नामपद है। क्षरित होने के कारण यह उदक 'घृत' कहलाता है। इस पक्ष में क्षरणार्थक 'घृ' धातु से 'घृत' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'घृत' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**सेचयत्यनेन भूमिं वरुण: सिञ्चत्यनेनेति वा**''[२] कि इससे वरुण भूमि को सींचता है अथवा इससे भूमि सींची जाती है, अत:, उदक को 'घृत' कहते हैं। इस पक्ष में सिञ्चन अर्थ वाली 'घृ' धातु से 'घृत' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''जिघर्ति क्षरति मेघात् पर्वतादिभ्यो वा दीप्यते वा स्वया दीप्त्या''[३] कि यह उदक मेघपर्वतादि से क्षरित होता है अथवा यह अपनी दीप्ति से प्रकाशित होता है, अत:, उदक को 'घृत' कहा जाता है। इस पक्ष में क्षरण और दीप्ति अर्थ वाली 'घृ' धातु से 'घृत' पद निष्पन्न होता है।

उणादिकोष से भी उक्त व्युत्पत्ति की पुष्टि हो जाती है एवं वैदिक मन्त्रों से प्राप्त सङ्केत भी 'घृत' पद को घृ' धातुमूलक सिद्ध करते है।[४] वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'घृत' को सर्पिस्' वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद का मूल 'घृ' धातु है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स उक्तपद का मूल 'घृ' धातु को मानते हैं।[६] मोनियर विलियम्स के अनुसार उक्तपद ऋग्वेद में शुद्ध घृत या पाकशाला तथा धार्मिक कार्यों में प्रयुक्त होने वाले ऐसे नवनीत, जो अत्यन्त तप्त किये जाने के पश्चात् उष्णता रहित होगया है, के लिये आया है। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में यह वसा, तरल पदार्थ, मलाई आदि पदार्थों के लिये भी प्रयुक्त हुआ है।[७]

वैदिक साहित्य में 'घृत' शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि मरुद्गण सभी शत्रुओं का वध करते हैं। इनके मार्ग का अनुसरण करता हुआ क्षरणशील उदक बरसता है अर्थात् जहाँ-जहाँ ये जाते हैं, वहाँ-वहाँ वर्षा होती है।[८] एक अन्य मन्त्र में गोतम ऋषि कहते हैं कि मरुतों के रथ से आसक्त मेघ जल की वर्षा करते हैं। इसलिये हे मरुतो! मधु सदृश निर्मल और स्वादिष्ठ उदक से हमें सिञ्चित करो।[९] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि प्रसन्न और पुष्ट होते हुए सब ओर से अन्न और जल की धारायें प्राप्त होती हैं।[१०] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि जो देवों को प्रसन्न करता है, ऐसे पुरुष के

---

१ निरु० ७.२४.

२ निघ०वृ०, १.१२.१०.

३ निघ०वृ०, १.१२.१०.

४ उणा०, ३.८९. ''अञ्जिघृसिभ्य: क्त:।''ऋ० २.१०.४. ''जिघर्म्यग्निं हविषा घृतेन।'' यजु०, ११.२३. ''आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन।''

५ वै०पद०कोष, पृ० १२७४.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० १९५.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३७८.

८ ऋ० १.८५.३. ''बाधन्ते विश्वमभिमातिनमप वर्त्मान्येषामनु रीयते घृतम्।''

९ ऋ० १.८७.२. ''श्चोतन्ति कोशा उप वो रथेष्वा घृतमुक्षता मधुवर्णमर्चते।''

१० ऋ० १.१२५.४. ''पृणन्तं च पपुरिं च श्रवस्यवो घृतस्य धारा उप यन्ति विश्वत:।''

लिये स्यन्दनशील उदक प्रवाहित होते हैं और उसे पृथ्वी सदा सस्यादि फलवती दक्षिणा से तृप्त करती है।[१] दीर्घतमा ऋषि अश्विनीदेवों से प्रार्थना करते हैं कि जब वे वर्षक रथ को युक्त करें, तब वे हमारे क्षत्र (बल) को मधुर उदक से बढ़ायें।[२] एक अन्य मन्त्र में दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि वे रश्मियाँ उदक के स्थान आदित्यमण्डल से नीचे आती हैं, उसके पश्चात् पृथ्वी उदक से क्लिन्न हो जाती है।[३] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि जब मरुत् (मेघ) बरसते हैं, उस समय पृथिवी पर विद्युत् मृदुहास करती हैं।[४] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि अन्तरिक्ष में पुञ्जीभूत एवं अनेक रूपों में सर्वत्र व्याप्त इस अग्नि की रश्मियाँ मधुर उदकों के स्रवित होने पर स्थित रहती हैं।[५] वामदेव ऋषि अग्नि की स्तुति करते हुए कहते हैं कि तीन प्रकार से पापियों के द्वारा छिपाये गये घृत को देवताओं ने गौ में प्राप्त किया।[६] इसी सूक्त एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि हिरण्यवर्ण-विद्युत् उन जलों के मध्य में है, इसलिये मैं घृत (उदक) की धारा को देख रहा हूँ।[७] वह ऋषि कहता है कि ये उदक की लहरें उसी प्रकार तीव्र गति से आ रही हैं, जिस प्रकार व्याध के भय से मृग भागता है।[८] शतपथ-ब्राह्मण 'घृत' को अन्तरिक्ष का रूप बतलाता है।[९] मैत्रायणी-संहिता स्पष्टरूप से पयस् को घृत कहती है।[१०]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'घृत' है, जो मरुद्गण के पदचिह्नों का अनुसरण करता है, जहाँ ये जाते हैं, वहाँ-वहाँ वर्षा होती है, इन मरुतों के रथ से आसक्त मेघ निर्मल और स्वादिष्ठ घृत (उदक) की वर्षा करते हैं, यह वह उदक है जो देवताओं को प्रसन्न करने वाले को प्राप्त होता है, इस उदक से अश्विनीदेव क्षत्र बल को बढ़ाते हैं, यह सूर्यरश्मियों के नीचे आने पर पृथ्वी पर बरसता है, जब इस घृत की वर्षा होती है, उस समय पृथ्वी पर विद्युत् मृदुहास करती हैं, जब ये उदक मेघ में स्थित होते हैं, उस समय इनके मध्य हिरण्यवर्ण-विद्युत् विराजमान रहती है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि जो उदक वर्षा के रूप में बरसता है, वह वेद की दृष्टि में 'घृत' है। इस दृष्टि से देखने पर 'घृ क्षरणदीप्त्योः' धातु को निर्विवाद रूप से 'घृत' पद का मूल माना जा सकता है।

---

१ ऋ० १.१२५.५. ''तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा।''

२ ऋ० १.१५७.२. ''यद्युञ्जाथे वृषणमश्विना रथं घृतेन नो मधुना क्षत्रमुक्षतम्।''

३ ऋ० १.१६४.४७. ''त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते।''

४ ऋ० १.१६८.८. ''अव स्मयन्त विद्युतः पृथिव्यां यदी घृतं मरुतः प्रष्णुवन्ति।''

५ ऋ० ३.१.७. ''स्तीर्णा अस्य संहतो विश्वरूपा घृतस्य योनौ स्रवथे मधूनाम्।''

६ ऋ० ४.५८.४. ''त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्। इन्द्र एकं सूर्य एकं जजान वेनादेकं स्वधया निष्टतक्षुः।''

७ ऋ० ४.५८.५. ''घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम्।''

८ ऋ० ४.५८.१. ''एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगाइव क्षिपणोरीषमाद्यासः।''

९ शत०ब्रा०, ७.५.१.३. ''घृतमन्तरिक्षस्य।''

१० मै०सं० २.१.७; ३.६. ''पयो वै घृतम्।''

११. मधु

निघण्टुकोष उदकवाचक नामपदों में 'मधु' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क 'मधु' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**मधु सोममित्यौपमिकं माद्यतेः। इदमपीतरन्मध्वेतस्मादेव**''[२] कि मधु का अर्थ सोम है। जो तृप्ति मधु (सुरा) से प्राप्त होती है, वही सोम से भी। अतः, समानता के कारण सोम को मधु कहा जाता है। दुःख-हरण करने के कारण माक्षिक को भी 'मधु' कहा जाता है। इस पक्ष में हर्षार्थक णिजन्त 'मद्' धातु से 'मधु' पद निष्पन्न होता है। एक अन्य स्थान पर यास्क मधु का अर्थ उदक भी करते हैं:-''**मत्स्या मधौ जले स्यन्दते**''[३] कि जल में स्यन्दन करने के कारण मीन को मत्स्य कहा जाता है।

(ख)''**मधुर्धमतेर्विपरीतस्य**''[४] कि धमक (आघात) के साथ बरसने के कारण उदक को मधु कहते हैं। इस पक्ष में गत्यर्थक 'धम्'[५] धातु को विपर्यय होकर 'मध्' और उससे 'मधु' शब्द उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'मधु' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**मधु (उदकम्)। मेघोदरवर्ति सलिलं मध्वित्युच्यते। तत्र पुनर्वैद्युतात्मा दह्यमानान् सरः स्वर्णेन तद्गतेनैव वायुना ध्मायमानं धमति। धमतिर्गतिकर्मा वा, अन्तर्णीतण्यर्थो निःकाल्यते द्रष्टव्यः। निर्धाम्यते निःकाल्यते हि तन्मेघात्**''[६] कि मेघ में स्थित सलिल मधु कहा जाता है। यह वहाँ विद्युत् के द्वारा दहन होता हुआ वायु के सहयोग से ध्मात अर्थात् महान् गर्जन करता है। अथवा 'धमति' क्रियापद गत्यर्थक एवं अन्तर्णीत ण्यर्थात्मक है। यह उदक मेघ से निकाला जाता है, अतः, उदक को मधु कहा जाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

(ख)''**यद्वा, 'मद' तृप्तौ'। माद्यन्ति हि तेन पीतेन प्राणिनः**''[७] कि इसको पीने से प्राणी हर्षित होते हैं, अतः, उदक को 'मधु' कहा जाता है। इस पक्ष में 'मद्' धातु से 'मधु' शब्द निष्पन्न होता है।

(ग)''**यद्वा, मधुवत् स्वादुत्वात् मध्वित्युच्यते**''[८] कि मधु के समान स्वादिष्ठ होने से यह उदक मधु कहा जाता है। इस पक्ष में मधु (माक्षिक) की समानता से 'मधु' शब्द निष्पन्न होता है।

(घ)''**यद्वा, 'मन' ज्ञाने'। मन्यते अतिशयेन जनैः इति मधु**''[९] कि यह उदक लोगों के द्वारा अतिशय जाना जाता है, अतः, उदक 'मधु' कहलाता है। इस पक्ष में 'मन्' धातु से औणादिक 'उ' प्रत्यय तथा धकार अन्तादेश होकर 'मधु' शब्द निष्पन्न होता है। यह उणादिकोष सम्मत व्युत्पत्ति है।[१०] भट्टभास्कर मिश्र भी इसी

---

१ निघ० १.१२.११.

२ निरु० ४.८.

३ निरु० ६.२७.

४ निरु० १०.३१.

५ निघ० २.१४.५०.

६ निघ०वृ०, १.१२.११.

७ निघ०वृ०, १.१२.११.

८ निघ०वृ०, १.१२.११.

९ निघ०वृ०, १.१२.११.

१० उणा०, १.१८.''फलिपाटिनमिमनिजनां गुक्पटिनाकिधतश्च।'' उणा०, २.११८. मनेर्धश्छन्दसि।''

प्रकार मधु शब्द को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं:-''**मननीयं मधु**''।[१]

मधु के विषय में वेद से दो प्रकार के सङ्केत प्राप्त होते हैं। प्रथम प्रकार के सङ्केत 'मधु' को 'मिह्'[२] धातु से और द्वितीय प्रकार के सङ्केत 'मद्' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[३] वैदिक-पदानुक्रम-कोष के मत में 'मधु' विशेषण एवं नामपद है तथा इसकी व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। मधुर और क्षौद्र अर्थ में '**मृध्**' या '**मध्' स्वादुभावे**' धातु से, जल अर्थ में '**मध्' उन्दीभावे**' धातु से, मादक सुरा और सोम अर्थ में '**मध्**' या '**मद्' हर्षे**' (**उत्तेजने**') धातु से, चैत्रमास अर्थ में '**मध्' विरोहे**' पक्ष में '**मद्' मादने**' तथा वर्षापात में '**मध्' वर्षणे**' धातु से '**मधु**' पद उपपन्न होता है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'मधु' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] जबकि मोनियर विलियम्स उक्तपद का मूल 'मद्' धातु को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह पद ऋग्वेद और तैत्तिरीय-संहिता में मिष्ट, मधुर, आनन्ददायक, स्वादिष्ठ अर्थ में आया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में यह सोम अर्थ में भी पाया जाता है।[६] उक्त यास्कीय निर्वचनों के विषय में डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि यास्क 'धम्' और 'मद्' धातुओं से 'मधु' शब्द को निष्पन्न करते हैं। लेकिन इन निर्वचनों का निहितार्थ अस्पष्ट है। क्या यह ('धम्' धातु से) बुलबुले के रूप में उदक की अधिकता को बतलाता है। फिर भी, यह वास्तविकता है कि मधु का उदक के अर्थ में प्रयोग लाक्षणिक रूप से हुआ है और निर्वचन करते समय यास्क की कल्पनाशक्ति उक्त आशय को समझने में असमर्थ रही है।[७] एक अन्य स्थान पर वे 'मद्' धातु वाले निर्वचन को स्वर की दृष्टि से शिथिल मानते हैं। उनके अनुसार भारोपीय भाषा में यह शब्द 'medhu' माक्षिक अर्थ में तथा प्राचीन बल्गेरियन में 'medu' मक्षिका अर्थ में प्रयुक्त है।[८] इस प्रकार डॉ. वर्मा के मत में उक्त शब्द मूलतः माक्षिक अर्थ का वाचक है।

वैदिक साहित्य में 'मधु' शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि यह अग्नि इन्द्र, वायु और अन्य समस्त देवों के साथ मित्र (सूर्य) की रश्मियों से अभिषुत होने योग्य मधु अर्थात् उदक का पान करे।[९] एक अन्य सूक्त में मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि प्रज्वलित अग्नि के माध्यम से शुद्ध करने वाले यज्ञीय पदार्थों को वहन करते हुए अग्निदेव मधु का पान करें।[१०] अग्रिम सूक्तों में ऋषि पुनः

---

१ निघ०वृ०, १.१२.११.

२ ऋ० १.३४.३. ''यज्ञं मधुना मिमिक्षितम्।'' ऋ० १.४७.४. ''मध्वा यज्ञं मिमिक्षितम्।''

३ ऋ० १.८५.६. ''मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः।'' ऋ० १.१५४.४. '' यस्य त्री पूर्णा मधुना पदन्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।'' ऋ० ३.५८.६. ''मध्वा मदेम सह न समानाः।'' ऋ० ४.१४.४; ५.३४.२; ७.३६.८; ७.५७.१; ९.६७.१६; १०.९६.१३; अथर्व०, २०.१३.२; यजु०, ९.१८; २१.११.

४ वै०पद०कोष, पृ० २४१८.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ३८४.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ७७९.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १४०.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ११०.

९ ऋ० १.१४.१०. ''विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना पिब मित्रस्य धामभिः।''

१० ऋ० १.१५.११. ''अश्विना पिबतं मधु दीद्यग्नी शुचिव्रता। ऋतुना यज्ञवाहसा।''

कहता है कि हे अग्ने! तुम मरुतों के साथ आओ। जिसका तुम पान कर चुके हो, ऐसे बरसने योग्य मधु (उदक) को मैं तुम्हारे लिये तैय्यार करता हूँ।[१] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि सुन्दर दान देने वाले अश्विनीदेवों ने बुद्धिमान्, व्यवहार कुशल, अपरिमित धनधान्य से युक्त पुरुष के लिये मधु नामक उदक वाले मेघ को बरसाया।[२] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि सक्रिय रहने वाले मनुष्यों के लिये तुम प्रिय उदक सम्पादित करते हो, उसी भावना से हमारी रक्षा करो।[३] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि अपने औरस पुत्र के समान मरुद्गण मधु (उदक) को धारण करते हैं। ये घर्षणशील मरुद्गण सङ्ग्रामों में समीप पहुँचकर क्रीडा करते हैं।[४] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि प्रकर्षता से स्थित शीतल उदक को प्राप्त होओ और उसका पान करो तथा अग्नि को धारण करने वाले अपने भाग से तृप्ति प्राप्त करो।[५] कुशिक ऋषि कहते हैं कि अनेकों को सुख प्रदान करने वाली यह गौ (पृथ्वी) घृत के समान स्वादिष्ठ उदक को धारण करती है और यह जीतने योग्य पृथ्वी विजयी के द्वारा ऐश्वर्य के लिये दुही जाती है।[६] विमद ऐन्द्र ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार वायु वन को कम्पित कर देता है, उसी प्रकार इन्द्र वृष्टि से सभी स्थानों को प्राप्त होता है तथा उदक की वर्षा करता है।[७] वैकुण्ठ इन्द्र ऋषि कहता है कि जिस प्रकार स्पृहणीय दूध गायों के स्तनों और शीघ्रगामी उदक नदियों में प्रवाहित होता है, उसी प्रकार इन दोनों का सार यह सोम शरीर में प्रवाहित होता है।[८] वामदेव ऋषि कहते हैं कि दधिक्रादेव अपने बल से पाँच प्रकार के मनुष्यों के लिये उदक को विस्तारित करता है। अनेकों कार्यों को सिद्ध करने वाली वेगवान् और प्रेरक यह वायु हमारे इन अभिलाषापूर्ण वचनों को जल से संयुक्त करे।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'मधु' है, जो अग्नि, इन्द्र, वायु और अन्य समस्त देवों के द्वारा पान किया जाता है, शुद्ध करने वाले अग्निदेव इस उदक का पान करते हैं, अनेकशः मधु का पान करने के लिये मरुतों के साथ अग्नि का आह्वान किया जाता है, सुदानू अश्विनीदेव बुद्धिमान् के लिये मधु (उदक) से भरे हुए कोश (मेघ) को बरसाते हैं, जो निरन्तर सक्रिय रहता है, उसके लिये अश्विनीदेव मधु को सम्पादित करते हैं, यह वह उदक है, जिसे मरुद्गण औरस पुत्र के समान धारण करते हैं, अग्नि को धारण करने वाले भाग की तृप्ति के लिये शीतल जल की प्राप्ति की जाती है, इस घृत के समान स्वादिष्ठ उदक को यह पृथ्वी धारण करती है तथा नाना प्रकार की सस्यसम्पदा को प्रदान करती है, इसकी

---

१ ऋ० १.१९.९. ''अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु। मरुद्भिरग्न आ गहि।''

२ ऋ० १.११२.११. ''याभिः सुदानू औशिजाय वणिजे दीर्घश्रवसे मधु कोशो अक्षरत्।''

३ ऋ० १.११२.२१. ''मधु प्रियं भरथो यत्सरड्भ्यस्ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्।''

४ ऋ० १.१६६.२. ''नित्यं न सूनुं मधु बिभ्रत उप क्रीळन्ति क्रीळा विदथेषु घृष्वयः।''

५ ऋ० २.३६.४. ''प्रति वीहि प्रस्थितं सोम्यं मधु पिबाग्नीध्रात्तव भागस्य तृष्णुहि।''

६ ऋ० ३.३१.११. ''उरुच्यस्मै घृतवद्भरती मधु स्वाद्म दुदुहे जेन्या गौः।''

७ ऋ० १०.२३.४. ''अव वेति सुक्षयं सुते मधूदिद् धूनोति वातो यथा वनम्।''

८ ऋ० १०.४९.१०. ''स्पार्हं गवामूधःसु वक्षणास्वा मधोर्मधु श्वात्र्यं सोममाशिरम्।''

९ ऋ० ४.३८.१०. ''आ दधिक्राः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान। सहस्रसाः शतसा वाज्यर्वा पृणक्तु मध्वा समिमा वचांसि।''

प्राप्ति से पृथ्वी सुक्षय अर्थात् सुन्दर निवास योग्य बन जाती है, यह उदक गायों के स्तनों में दूध के समान नदियों में प्रवाहित होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह उदक 'मधु' है, जिसके पान से प्राणी तृप्ति का अनुभव करते हैं, वर्षा का जल होने के कारण इसमें क्षारादि अपेय तत्त्वों का अभाव है। स्वादिष्ठ होना इसका प्रमुख गुण है। उक्त विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए 'मद्' धातु 'मधु' शब्द का मूल प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त वेद मधु को 'मिह्' धातु से व्युत्पन्न करने का सङ्केत देता है। उदक और माक्षिक- इन दोनों में एक विशेषता समानरूप से दृष्टिगत होती है कि ये दोनों स्यन्दनशील (टपकने वाले) हैं। माक्षिक मधुमक्षिका के छत्ते से टपकता है, जबकि उदक मेघ से। इस दृष्टि से 'मिह्' धातु भी 'मधु' शब्द का मूल प्रतीत होती है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान से भी इसकी पुष्टि होती दिखायी देती है।

१२. पुरीषम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'पुरीष' पद पठित है।[१] आचार्य यास्क 'पुरीष' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**पुरीषं पृणाते:**"[२] कि पालन या तृषा को शान्त करने के कारण उदक पुरीष कहलाता है। इस पक्ष में पालनार्थक 'पृ' धातु से 'पुरीष' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(ख)"**पूरयतेर्वा**"[३] कि यह सर्वत्र पूर्ण अर्थात् व्याप्त हो जाता है, या यह नदियों को भर देता है, अत:, उदक को 'पुरीष' कहा जाता है। इस पक्ष में आप्यायन अर्थ वाली 'पूर्' धातु से 'पुरीष' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'पुरीष' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**पुरीषम् (उदकम्)। 'पृ' पालनपूरणयो:'। पूरयति जगत् प्रलयकाले पूर्य्यतेऽनेन तडागादि पालकं वा जगत् शस्योत्पत्तिहेतुत्वात्**"[४] कि यह उदक प्रलयकाल में जगत् को भर देता है अथवा इससे तडागादि भर जाते हैं अथवा सस्यादि सम्पत्ति का हेतु होने से यह जगत् का पालन करने वाला है, अत:, यह उदक 'पुरीष' कहा जाता है। इस पक्ष में 'पृ' धातु से औणादिक 'ईषन्' प्रत्यय होकर 'पुरीष' शब्द उपपन्न होता है। यह व्युत्पत्ति उणादिकोष सम्मत है।[५]

(ख)"**प्रीणातेर्वा। प्रीणाति जगत् पुरीषम्**"[६] कि यह उदक जगत् को तृप्त कर देता है, अत:, यह 'पुरीष' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'प्री' धातु से औणादिक 'कीषन्' प्रत्यय होकर 'पुरीष' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'पुरीष' पद को उदक, मृत्तिका, मल वाचक नामपद मानता है। उसके

---

१ निघ० १.१२.१२.

२ निरु० २.२.

३ निरु० २.२.

४ निघ०वृ०, १.१२.१२.

५ उणा०, ४.२८. "शॄपॄभ्यां किच्च।"

६ निघ०वृ०, १.१२.१२.

अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। फिर भी, कुछ आचार्य 'पृ' धातु और कुछ 'पूर्' धातु से 'पुरीष' शब्द को व्युत्पन्न करते हैं।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'पुरीष' को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स 'पुरीष' को 'पृ' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में उक्तपद पृथ्वी के अर्थ में आया है। वाजसनेयि-संहिता, तैत्तिरीय-संहिता एवं शतपथ-ब्राह्मण के मत में यह तरल से विपरीत ठोस का वाचक है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि पुरीष शब्द के उक्त यास्कीय निर्वचन सम्भवतः, तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने योग्य हैं। इसके अतिरिक्त वे 'पुरीष' शब्द की समता भारोपीय भाषा के 'pele, pete' भरने अर्थ में, प्राचीन आइरिश में 'lān' पूर्ण तथा लैटिन में 'plêre' भरने अर्थ में' से करते हैं।[४]

वैदिक साहित्य में 'पुरीष' शब्द का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में दीर्घतमा ऋषि अश्व नामक अग्नि के विषय में कहते हैं कि यह अन्तरिक्ष और उदक से प्रथम अभिव्यक्ति प्राप्त करता हुआ महान् शब्द करता है।[५] अग्रिम सूक्त में ऋषि पुनः कहता है कि क्षण, मुहुर्त, प्रहर, दिवस और पक्ष- इन पाँच पादों वाला, सबका पालनकर्ता, द्वादश मासरूप आकृति से सम्पन्न, उदक से सर्वत्र व्याप्त होने के स्वभाव वाले आदित्य को मनीषी द्युलोक के पर अर्धभाग में स्थित बतलाते हैं।[६] वामदेव ऋषि कहते हैं कि रक्षा के निमित्त इन्द्र द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और उदक में से शीघ्र चला आता है।[७] आत्रेय ऋषि मरुद्गणों से निवेदन करते हैं कि उदक वाली सरयु नदी प्रवाहित होना बन्द न कर दे और हमको आपके आने का सुख प्राप्त हो।[८] एक अन्य मन्त्र में आत्रेय ऋषि कहते हैं कि उदक वाले मरुत् समुद्र से वृष्टि को बरसायें।[९] विश्वदेवों का आह्वान करते हुए आत्रेय ऋषि कहते हैं कि जिस बुद्धि से मनुष्य सुन्दर हनु वाले को जीतता है और जिस बुद्धि और अल्पप्रयास से अधिक धन की कामना करने वाला वणिक् उदक की प्राप्ति करता है, वह बुद्धि हमें प्राप्त हो।[१०] ऋजिष्वा ऋषि कहते हैं कि वृष्टि करने वाले पर्जन्य वायु अन्तरिक्ष से आसव्य उदकों को हमारे लिये प्रेरित करें।[११] वसुक्र ऋषि इन्द्र देवता के प्रकरण में कहते हैं कि दिव्य पदार्थों के निर्माण काल में माध्यमिक देवगण प्रमुखरूप से उपस्थित थे। इन मेघों के छेदन-भेदन से उदक प्राप्त होते हैं। अग्नि, वायु, सूर्य-ये तीन तत्त्व पृथ्वी को अपने-अपने कर्म से अनुकूल होकर अनुगृहीत करते हैं, इनमें से दो (सूर्य और वायु) तृप्ति या पूर्ण

---

१ वै०पद०कोष, पृ० २०४१.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ३२४.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ६३६.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ६४.

५ ऋ० १.१६३.१. ''यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।''

६ ऋ० १.१६४.१२. ''पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।''

७ ऋ० ४.२१.३. ''या यात्विन्द्रो दिव आ पृथिव्या मक्षू समुद्रादुत वा पुरीषात्।''

८ ऋ० ५.५३.९. ''मा वः परि ष्ठात्सरयुः पुरीषिण्यस्मे इत्सुम्नमस्तु वः।''

९ ऋ० ५.५५.५. ''उदीरयथा मरुतः समुद्रमतो यूयं वृष्टिं वर्षयथा पुरीषिणः।''

१० ऋ० ५.४५.६. ''यया मनुर्विशिशिप्रं जिगाय यया वणिग्वङ्कुरापा पुरीषम्।''

११ ऋ० ६.४९.६. ''पर्जन्यवाता वृषभा पृथिव्याः पुरीषाणि जिन्वतमप्यानि।''

करने वाले उदक को धारण करते हैं।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'पुरीष' है, जिससे महान् शब्द करती हुई अश्व नामक अग्नि प्रथम अभिव्यक्ति को प्राप्त करती है, इस उदक के कारण पञ्चपाद एवं द्वादशमासरूप आकृति वाला आदित्य पुरीषी कहलाता है, पुरीष नामक उदक में स्थित इन्द्र रक्षा के निमित्त शीघ्र चला आता है, सरयु नदी को पुरीषिणी बतलाता हुआ ऋषि उसके निरन्तर प्रवाहित रहने की कामना करता है, (सम्भवतः, निरन्तर प्रवाहित रहने के कारण वह नदी सरयु नाम से अभिहित हुई है।) वृष्टि को प्रेरित करने वाले पर्जन्य और वायु इन दोनों देवों से आप्तव्य उदकों की प्राप्ति कराने का निवेदन ऋषि करता है। इसके अतिरिक्त ये वे उदक हैं, जो सृष्टि के निर्माणकाल में मेघों से सर्वप्रथम उत्पन्न हुए और जिनको सूर्य और वायु धारण करते हैं। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सृष्टि के निर्माण और पालन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने के कारण उदक को 'पुरीष' नाम से अभिहित किया गया है। अतः, 'पृ' धातु को निर्विवादरूप से 'पुरीष' का मूल स्वीकार किया जा सकता है।

१३. पिप्पलम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'पिप्पल' पद परिगणित है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् 'पिप्पल' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**पिप्पलम् (उदकम्)। 'पृ' पालनपूरणयोः'। पिपर्ति पिप्पलम्**"[३] कि पालन करने के कारण उदक 'पिप्पल' कहा जाता है। इस पक्ष में 'पृ' धातु से 'कल' औणादिक प्रत्यय होकर 'पिप्पल' पद निष्पन्न होता है।

(ख)"अपि प्लवतेः- इति नैरुक्ताः-इति क्षीरस्वामी। 'प्लुङ्' गतौ'। गच्छत्यपि। अपिशब्दात् तिष्ठतीति च गम्यते। तथाहि- जलं नदीषु प्रवाहवत्वात् गच्छति निम्नं प्रदेशं वा। जलाशयादिषु तीरादिनिरुद्धत्वान्न गच्छति- इति माधवः"[४] कि यह उदक नदी आदि निम्न प्रदेशों में गमन करता है और तडागादि में स्थिर रहने के कारण कहीं भी नहीं जाता है। अतः, यह 'पिप्पल' कहलाता है। इस पक्ष में 'अपि+'प्लु+ड' से पृषोदरादि नियम से 'पिप्पल' रूप निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'पिप्पल' पद को फल (भोजन) और वृष्टि अर्थ का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। प्रथम अर्थ में **'पितु+भर'** से तथा द्वितीय अर्थ में **'पितु+'पृ'** या **'पितु+'प्लु'** या **'पितु+'पा' पाने'** धातु से 'पिप्पल' पद निष्पन्न होता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'पिप्पल' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स भी 'पिप्पल' पद की व्युत्पत्ति को स्पष्ट

---

१ ऋ० १०.२७.२३. "देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्। त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्।"

२ निघ० १.१२.१३.

३ निघ०वृ०, १.१२.१३.

४ निघ०वृ०, १.१२.१३.

५ वै०पद०कोष, पृ० २०१६.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ३२१.

नहीं करते हैं। उनके अनुसार महाभारत और यावल्क्यस्मृति में यह पद पीपल के वृक्ष के लिये आया है।[१] संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ के अनुसार 'पिप्पल' का अर्थ 'पीपल का वृक्ष या फल' है और उक्तपद 'पा' धातु से औणादिक 'अलच्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है।[२]

वैदिक साहित्य में 'पिप्पल' शब्द का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मात्र तीन बार उक्तपद का उल्लेख देखने को मिलता है। दीर्घतमस् ऋषि जीवात्मा और परमात्मा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इन दोनों का परस्पर समान सम्बन्ध है और ये समान वृक्ष का आश्रय लेते हैं। इनमें से एक (जीवात्मा) इस वृक्ष के पके हुए फल खाता है, जबकि दूसरा (परमात्मा) न खाता हुआ सर्वत्र देखता है।[३] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि जिस वृक्ष पर मधु को खाने वाले सुन्दर पक्षों से युक्त भ्रमर आदि पक्षी आश्रय लेते हैं और उसी पर ये अपनी सन्तानों को जन्म देते हैं तथा इसी वृक्ष के फल स्वादु कहे जाते हैं, जो इस प्रकार के पालन करने वाले को नहीं जानता, वह उसके उत्तम फल (मोक्ष) को नहीं प्राप्त कर सकता।[४] श्यावाश्व आत्रेय ऋषि कहते हैं कि गमनशील मरुतो! जिसकी शुद्धता किसी ने ग्रहण नहीं की है, उस दीप्तिमान् उदक को कम्पित करो।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि जो पक्व फल से प्राप्त होता है, वह उदक 'पिप्पल' है। वेद में सम्भवतः, यह पद उदक, विशेषरूप से, फल या फल के रस के अर्थ में आया प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त एक स्थान पर मरुद्गणों से निवेदन किया गया है कि वे ऐसा शुद्ध और पवित्र तथा देदीप्यमान उदक प्रदान करें, जिसकी शुद्धता का किसी ने स्पर्श न किया हो। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में 'पिप्पल' शब्द का 'पीपल' के वृक्ष अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। यह यहाँ प्रमुखरूप से वृक्ष के स्वादिष्ठ रस के लिये व्यवहृत होता हुआ दिखायी देता है। इस अर्थ को ध्यान में रखते हुए 'पा' या पालनार्थक 'पृ' धातु को 'पिप्पल' का मूल माना जा सकता है।

१४. क्षीरम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'क्षीर' पद परिगणित है।[६] जैमिनीय-ब्राह्मण 'क्षीर' पद का निर्वचन करता हुआ कहता है:-"**यदत्यक्षरत् तत् क्षीरस्य क्षीरत्वम्**"[७] कि यह क्षरित (प्रवाहित) हुआ, यही क्षीर का क्षीरत्व है। इस पक्ष में 'क्षर्' धातु से 'क्षीर' शब्द निष्पन्न होता है।

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ६२७.

२ संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ०, ७११.

३ ऋ० १.१६४.२०. "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।"

४ ऋ० १.१६४.२२. "यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे। तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोनशद्यः पितरं न वेद।"

५ ऋ० ५.५४.१२. "तं नाकमर्यो अगृभीतशोचिषं रुशत्पिप्पलं मरुतो वि धूनुथ।"

६ निघ० १.१२.१४.

७ जै०ब्रा०, २.२२८.

आचार्य यास्क 'क्षीर' पद का निर्वचन देते हुए कहते हैं:-"**क्षीरं क्षरते:**"[१] कि यह स्तनों से टपकता या क्षरित होता है, अत:, दुग्ध को 'क्षीर' कहते हैं। इस पक्ष में 'क्षर्' धातु से 'क्षीर' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)"**घसेर्वेरो नामकरण:, उशीरमिति यथा**"[२] कि भक्षणीय होने से यह दुग्ध 'क्षीर' कहलाता है। इस पक्ष में भक्षणार्थक 'घस्' धातु से 'ईरन्' प्रत्यय होकर 'क्षीर' शब्द निष्पन्न होता है। ठीक उसी प्रकार जैसे 'वश' कान्तौ' धातु से 'ईरन्' प्रत्यय होकर 'उशीर' शब्द उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'क्षीर' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**क्षीरम् (उदकम्)। 'घस्लृ' अदने'। अदन्ति तदिति क्षीरम्**"[३] कि भक्षणीय होने के कारण उदक को क्षीर कहते हैं। इस पक्ष में 'घस्' धातु से औणादिक 'ईरन्' प्रत्यय होकर 'क्षीर' शब्द निष्पन्न होता है। यह व्युत्पत्ति उणादिकोष सम्मत है।[४]

(ख)"**क्षरति हि तत् मेघात्**"[५] कि मेघ से बरसने के कारण यह उदक 'क्षीर' कहलाता है। इस पक्ष में 'क्षर' सञ्चलने' धातु से बाहुलकात् 'डीरन्' प्रत्यय तथा टिलोप होकर 'क्षीर' शब्द सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'क्षीर' पद को दुग्धवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। कुछ 'क्षर्' से तथा कुछ विद्वान् 'घस्' धातु से 'क्षीर' पद को व्युत्पन्न मानते हैं।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'क्षीर' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स 'श्यै' या 'घस्' अथवा 'क्षर्' को 'क्षीर' पद को व्युत्पन्न करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद, तैत्तिरीय-संहिता आदि में क्षीर शब्द तरलता रहित दुग्ध के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[८] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि यास्क क्षीर शब्द को 'क्षर्' से व्युत्पन्न करते हैं, लेकिन वे इस बात का विचार नहीं करते कि धातु के स्वरों का शब्द के स्वरों के साथ मेल नहीं है। इसके अतिरिक्त वे 'घस्' धातुमूलक निर्वचन के सम्बन्ध में यह आलोचना करते हैं कि उक्त निर्वचन "**सर्वाणि नामान्याख्यातजानि**" सिद्धान्त से प्रभावित है। उनके अनुसार भारोपीय भाषा में यह 'ksiro' दुग्ध अर्थ में अल्बेनिया भाषा में 'hira' दही द्वारा छोड़ा गया पानी' अर्थ में है।[९]

वैदिक साहित्य में 'क्षीर' शब्द का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में मात्र उक्तपद का पाँच बार उल्लेख प्राप्त होता है। आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार किसी पुरुष की दो स्त्रियाँ कलह करती हुई नदी के तेज प्रवाह में गिरकर मर जाती हैं, उसी प्रकार धर्म और अधर्म को मिलाने वाला पुरुष नष्ट

---

१ निरु० २.५.

२ निरु० २.५.

३ निघ०वृ०, १.१२.१४.

४ उणा०, ४.३५. "घसे: किच्च।"

५ निघ०वृ०, १.१२.१४.

६ वै०पद०कोष, पृ० ११९५.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० १८१.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ३२९.

९ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० २२, ८७.

हो जाता है।[१] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि इस आदित्य के सिर के समान उन्नत या उत्कृष्ट रश्मियाँ उदक को क्षरित करती हैं तथा रूप को अपने तेज से सन्तप्त करने वाली कुछ रश्मियाँ अपने द्वारा विसर्जित उदक का पान करती हैं।[२] मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि हे सोमरस! तुम शुद्ध, अनेक पात्रादि में स्थित, उदक और दधि से संस्कृत हो। शूरवीर इन्द्र को आनन्द देने वाले हो।[३] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि जो परमात्मा के शरणागत होते हैं, उनके लिये मानो सरस्वती स्वयं दुहने वाली बनकर दुग्ध, घृत, मधु और उदक का दोहन करती है।[४] पायु ऋषि कहते हैं कि जो गाय के दुग्ध को हरता है, रक्षोहा अग्नी (राजा और सेनापति) उसके सिर को बलपूर्वक छिन्न कर दें।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'क्षीर' है, जो नदी के तीव्र प्रवाह के रूप में प्रवाहित होता है, यह क्षीर नामक उदक सिर के समान उन्नत आदित्य रश्मियों से क्षरित होता है, इससे सोम रस को संस्कृत किया जाता है, इसकी प्राप्ति सरस्वती के अनुग्रह से सम्भव हो पाती है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में एक स्थान पर अघ्न्या के दुग्ध के अर्थ में भी इसका उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जो उदक अन्तरिक्ष से प्राप्त होकर नदी आदि के रूप में प्रवाहित होता है, वह उदक वेद में 'क्षीर' कहा गया है। जैसाकि उपर्युक्त जैमिनीय-ब्राह्मण के उद्धरण से भी पुष्टि हो जाती है कि क्षरित होने के कारण यह 'क्षीर' नाम से अभिहित हुआ है। अतः, 'क्षर' सञ्चलने' धातु को 'क्षीर' पद का मूल माना जा सकता है।

१५. विषम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'विष' पद परिगणित है।[६] आचार्य यास्क 'विष' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**विषमुत्युदकनाम विष्णातेः। विपूर्वस्य स्नातेः शुद्ध्यर्थस्य**''[७] कि विष यह उदकवाचक नामपद है, क्योंकि यह उदक शुद्धि प्रदान करता है, अतः, यह 'विष' कहलाता है। इस पक्ष में 'वि' पूर्ववाली शुद्ध्यर्थक 'स्ना' धातु से 'विष' उपपन्न होता है।

(ख)''विपूर्वस्य वा सचतेः''[८] कि यह सर्वत्र आसक्त या सबमें समवेत रहता है, अतः, उदक को 'विष' कहा जाता है। इस पक्ष में 'वि' पूर्ववाली 'सच्' धातु से 'विष' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् के अनुसार उदकवाचक 'विष' पद का निर्वचन निम्न प्रकार है:-''**विषम्**

---

१ ऋ० १.१०४.३. ''क्षीरेण स्नातः कुयवस्य योषे हते ते स्यातां प्रवणे शिफायाः।''

२ ऋ० १.१६४.७. ''शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः।''

३ ऋ० ८.२.९. ''शुचिरसि पुरुनिःष्ठाः क्षीरैर्मध्यत आशीर्तः। दध्ना मन्दिष्ठः शूरस्य।''

४ ऋ० ९.६७.३२. ''पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्। तस्मै सरस्वती स्वयं दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्।''

५ ऋ० १०.८७.१६. ''यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च।''

६ निघ० १.१२.१५

७ निरु० १२.२६.

८ निरु० १२.२६.

(उदकम्)। 'विष्लृ' व्याप्तौ'। वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं विषम्''[१] कि यह सबको व्याप्त कर लेता है, अतः, यह उदक 'विष' कहलाता है। इस पक्ष में 'विष्' धातु से 'क' प्रत्यय होकर 'विष' पद व्युत्पन्न होता है। वेद से भी उक्त निर्वचन की पुष्टि हो जाती है।[२]

(ख)''यद्वा, विपूर्वात् 'ष्णा' शौचे'। विशेषेण स्नात्यनेनेति विषम्, तद्धि प्रथमं शौचसाधनम्''[३] कि विशेष रूप से इससे स्नान किया जाता है, अतः, उदक को 'विष' कहा जाता है। इस पक्ष में 'वि+'ष्णा' से 'विष' पद निष्पन्न होता है।

(ग)''यद्वा, विपूर्वात् सचतेः। तद्धि स्नानपानावगाहनार्थिभिः सेव्यते''[४] कि यह स्नान, पानादि करने वालों के द्वारा सेवन किया जाता है, अतः, उदक को 'विष' कहते हैं। इस पक्ष में 'वि+'सच्'+ड' से 'विष' पद उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'विष' शब्द को उदक और गरल अर्थ वाला नामपद मानता है। उसके अनुसार प्रथम अर्थ में 'वृष्' या 'वर्ष्' रसभावे' धातु से तथा द्वितीय अर्थ में 'विष्' व्याप्तौ' धातु से 'विष' पद उपपन्न होता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार 'विष' पद का मूल 'विष्' धातु है।[६] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत से सहमत हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद सेवक, परिचारक के अतिरिक्त विष अर्थ में भी आया है।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि उक्त यास्कीय निर्वचन व्यञ्जन की दृष्टि से शिथिल है। वे सेंट पीटर्सबर्ग के इस निष्कर्ष से सहमति व्यक्त करते हैं कि उक्तपद का मूल 'विष्' धातु है।[८]

वैदिक साहित्य में 'विष' पद का पर्याप्त उल्लेख पाया जाता है। ऋग्वेद में अगस्त्य ऋषि सूर्य देवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सुरा निर्माण करने वाले गृह में चर्ममय सुरापात्र में सुरा रखी जाती है, उसी प्रकार मैं सूर्य में विष को आरोपित करता हूँ।[९] एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि यह विष का हरण करने वाली शकुन्तिका (कपिञ्जली) पक्षिणी तेरे विष का भक्षण कर लेती है। उससे न वह मरती है और न हम मरते हैं।[१०] आगे ऋषि पुनः कहता है कि इक्कीस प्रकार की चिड़ियाँ विष के पोषक पुष्प का भक्षण करती हैं, उससे न वे मरती हैं और न हम।[११] इसी सूक्त में आगे ऋषि कहता है कि हम निन्यानवे प्रकार के विषों के नाम, गुण, कर्म और स्वभावों को जानकर उनका प्रतिषेध करने वाली ओषधियों को भी

---

१ निघ०वृ०, १.१२.१५.

२ ऋ० १०.१०९.५. अथर्व०, ५.१७.५. ''ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः।''

३ निघ०वृ०, १.१२.१५.

४ निघ०वृ०, १.१२.१५.

५ वै०पद०कोष, पृ० २९४४.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ४९७.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ९९५.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ११२,

९ ऋ० १.१९१.१०. ''सूर्ये विषमा सजामि दृतिं सुरावतो गृहे।''

१० ऋ० १.१९१.११. ''इयत्तिका शकुन्तिका सका जघास ते विषम्।''

११ ऋ० १.१९१.१२. ''त्रिः सप्त विष्पुलिङ्गिका विषस्य पुण्यमक्षन्।''

जानें।[१] इसी क्रम में ऋषि कहता है कि जिस प्रकार जलवाहिका घट में उदक को भर कर ले जाती है, उसी प्रकार इक्कीस प्रकार की मयूरियाँ तथा सात नदियाँ विष का हरण करती हैं।[२] विष के प्रकरण में नकुल की भूमिका की चर्चा करता हुआ ऋषि कहता है कि इस छोटे नकुल को मैं पत्थर मारता हूँ। ऐसा करने पर विष दूर चला जाता है।[३] आगे ऋषि कहता है कि पर्वत से आया हुआ छोटा नकुल चेष्टाओं से यह बतलाता है कि वृश्चिक का विष निर्विष हो गया।[४] पायु ऋषि कहते हैं कि पशुओं को दुःख देने वाले ये जन्तु गोशाला में रखे हुए विष का पान करें और ये विषाक्त जन्तुओं से दंशित हों।[५] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि शल्मल और नदियों के प्रवाह में प्राणहरण करने वाले विष का सभी देव हरण करें। उससे होने वाला कुटिल रोग हमें न हो।[६] बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि हे सरस्वति! हमें पृथिवियों में से ऐसे स्थान को प्राप्त कराओ, जो सुरक्षित हो और जिसमें से उदक क्षरित होता हो।[७] वातरशना ऋषि कहते हैं कि रश्मिधारी सूर्य अग्नि और यही द्यावापृथिवी को धारण करता है।[८] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋष्यशृङ्ग ऋषि कहते हैं कि सूर्य रुद्र के साथ जब रश्मिरूम पात्र से विष (उदक) का पान करता है, तब इस सूर्य के लिये वायु समस्त रसों को उपमन्थन करता है तथा माध्यमिका वाक् उस उदक को पीसती है।[९] काठक-संहिता कहती है कि रुद्र ने ओषधियों को विष से लिम्पित कर दिया, इसलिये पशु उसका भक्षण नहीं करते हैं।[१०] ताण्ड्य-महाब्राह्मण कहता है कि विष से वे ओषधियों सिक्त होती हैं।[११]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद में 'विष' शब्द घातक पदार्थ तथा उदक दोनों अर्थों में आया है। जहाँ तक विष अर्थ का प्रश्न है, मन्त्र बहुत स्पष्ट शब्दों में सूर्य, शकुन्तिका, चिड़ियों, ओषधियों, मयूरियों, नदियों एवं अल्पप्रमाण वाले नकुलादि के द्वारा विष को निर्विष करने का विधान करता है। इसलिये ऐसे स्थानों पर निर्विवादरूप से 'विष' का अर्थ प्राण हरण करने वाला पदार्थ है।

जहाँ तक उदकवाचक 'विष' शब्द का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि वह उदक 'विष' है, जो सुरक्षित स्थानों से स्रवित होता है। इसके अतिरिक्त रश्मिधारी सूर्य इस उदक को धारण करता है और यह सूर्य ही रुद्र के साथ रश्मिरूप पात्रों से इसका पान करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विष्णु (सूर्य) के

---

१ ऋ० १.१९१.१३. ''नवानां नवतीनां विषस्य रोपुषीणाम्।''

२ ऋ० १.१९१.१४. ''त्रिः सप्त मयूर्यः सप्त स्वसारो अग्रुवः। तास्ते विषं वि जभ्रिर उदकं कुम्भिनीरिव।''

३ ऋ० १.१९१.१५. ''इयत्तकः कुषुम्भकस्तकं भिनद्म्यश्मना। ततो विषं प्र वावृते पराचीरनु संवतः।''

४ ऋ० १.१९१.१६. ''कुषम्भकस्तदब्रवीद्गिरेः प्रवर्त्तमानकः। वृश्चिकस्यारसं विषमरसं वृश्चिक ते विषम्।''

५ ऋ० १०.८७.१८. ''विषं यवा यातुधाना पिबन्त्वा वृश्च्यन्तामदितये दुरेवाः।''

६ ऋ० ७.५०.३. ''यच्छल्मलौ भवति यन्नदीषु यदोषधीभ्यः परि जायते विषम्। विश्वेदेवा निरितस्तत्सुवन्तु मा मां पद्येन रपसा विदत्त्सरुः।''

७ ऋ० ६.६१.३. ''उत क्षितिभ्योऽवनीरविन्दो विषमेभ्यो अस्रवो वाजिनीवति।''

८ ऋ० १०.१३६.१. ''केश्यग्निं केशीं विषं केशी बिभर्ति रोदसी।''

९ ऋ० १०.१३६.७. ''वायुरस्मा उपामन्थत्पिनष्टि स्मा कुनंनमा। केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेणापिबत्सह।''

१० काठ०सं० ६.५. ''रुद्र ओषधीर्विषेणालिम्पत्, ताः पशवो नालिशन्त।''

११ ता०ब्रा०, ६.९.९. ''विषेण वै ताः समामोषधयोऽक्ता भवन्ति।''

सम्पर्क में आने वाला उदक विष नाम से वेद में अभिहित हुआ है। इस दृष्टि से व्याप्ति अर्थ वाली 'विष्' धातु 'विष' पद का मूल प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त विष के भक्षण को भी 'विषपान' कहा जाता है, सम्भवतः, प्राचीन काल में प्राणघातक पदार्थ तरलता लिये रहा है, इसलिये तरलता के कारण 'विष' पद का उदकवाचक गण में परिगणन कर लिया गया है। प्रमाण के अभाव में यह केवल सम्भावना है।

१६. रेत:

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'रेत:' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उदक वाचक 'रेतस्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''रेत: (उदकम्)। **'रि' 'रीङ्' स्रवणे'। रीयते स्रवति** रेत:''[२] कि प्रवाहित होने के कारण उदक 'रेतस्' कहलाता है। इस पक्ष में 'रि' या 'री' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय तथा 'तुट्' का आगम होकर 'रेत:' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा, वृष्टिलक्षणानामपांदेवानां रेतस्त्वाद्रेत उच्यते''[३] कि वृष्टि लक्षण वाले उदक देवों के रेतस् (वीर्य) रूप होने से ये उदक रेत कहलाते हैं। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है। उपर्युक्त दोनों निर्वचन उणादिकोष सम्मत हैं।[४]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'रेतस्' पद को जल एवं वीर्य वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार 'रित्' या 'री' धातु से 'रेतस्' पद व्युत्पन्न होता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'रेतस्' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स उणादिकोष से प्रभावित होकर 'रि' या 'री' धातु को 'रेतस्' पद का मूल मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद और अथर्ववेद में यह पद प्रवाह, धारा, वर्षा या उदक का सतत प्रवाह, तर्पण आदि अर्थों में प्रयुक्त है। इसके अतिरिक्त उक्तपद का प्रयोग वीर्य प्रवाह, वीर्यसम्बन्धी तरल पदार्थ का प्रवाह, शुक्राणु, बीज आदि अर्थ में हुआ है।[७] संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ के अनुसार रेतस् का निर्वचन निम्न है:- **'रीयते क्षरति=रेत:'**। इनके मत में भी 'री' धातु उक्तपद का मूल है।[८]

वैदिक साहित्य में 'रेतस्' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में पराशर ऋषि कहते हैं कि सस्यादि की निष्पत्ति के लिये मेघ द्वारा वृष्ट शुद्ध एवं पालन करने वाले उदक ने अग्नि के तेज को व्याप्त किया अर्थात् वृष्ट उदक के साथ भौमाग्नि का संयोग होने पर सस्यादि की उत्पत्ति होती है।[९] ऋजाश्व ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार सूर्यरश्मियाँ नभ से निकलकर चारों ओर विकीर्ण हो जाती हैं, उसी प्रकार इन्द्र की बलवती

---

१ निघ० १.१२.१६.

२ निघ०वृ०, १.१२.१६.

३ निघ०वृ०, १.१२.१६.

४ उणा०, ४.२०३. ''स्रुरीभ्यां तुट् च।''

५ वै०पद०कोष, पृ० २६८७.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ४५०.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ८८७.

८ संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० ९८२.

९ ऋ० १.७१.८. ''आ यदिषे नृपतिं तेज आनट्छुचि रेतो निषिक्तं द्यौरभीके।''

रश्मियाँ वृष्टि के उदकों को सब ओर बरसाती हुई द्युलोक से इधर-उधर जाती हैं।[१] परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि यह गमनशील, बार-बार जिसका यशोगान होता है, कामनाओं की वर्षा करने वाला ऐसा अग्नि, पृथिवी सम्बन्धी स्थान पर शीघ्र आता है और उदक के साथ गर्जना करता है।[२] दीर्घतमस् ऋषि वर्षणशील रेतस् के विषय में प्रश्न करते हुए उत्तर देते हैं कि यह रसात्मक सोम वर्षणशील सूर्य के रेतस् के समान है।[३] इस सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि पुनः कहता है कि सर्पणस्वभाव या सात प्रकार की रश्मियाँ संवत्सर के आधे भाग में गर्भस्थानीय उदक को धारण करती हुईं सूर्य के जगत् के धारणरूप व्यापार में स्थित रहती हैं।[४] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि जलों का वर्षक पर्जन्यरूप इन्द्र अन्य दिशाओं में मेघगर्जना करता है, तब यह अन्य दिशाओं में उदक की वर्षा करता है।[५] अत्रि ऋषि पर्जन्य देवता के प्रकरण में कहते हैं कि उदकवृष्टि करने वाला पर्जन्य शीघ्र दान देने वाला है, वह गर्जना करता हुआ ओषधियों में गर्भस्थानीय उदक को स्थापित करता है।[६] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि द्यावापृथिवियो! प्राणिमात्र पर शासन करती हुई, मनुष्यमात्र के लिये हितकारी रेतस् (उदक) से हमें सिञ्चित करो।[७] नाभानेदिष्ठ मानव ऋषि कहते हैं कि जब प्रजापति आदित्य अपनी दुहिता को प्राप्त करता है, तब वह उसके साथ सङ्गत होता हुआ उसे उदक (रेतस्) से सिक्त करता है।[८] मैत्रायणी-संहिता एवं तैत्तिरीयारण्यक कहते हैं कि पर्जन्य रेतस् से पृथिवी की रक्षा करता है।[९] शतपथ-ब्राह्मण 'पयस्' को रेतस् बतलाता है।[१०]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'रेतस्' है, जिसका सस्यादि की उत्पत्ति के लिये वृष्टि के पश्चात् भौमाग्नि के साथ संयोग होता है, ये उदक सूर्यरश्मियों के समान द्युलोक से प्रवाहित होते हैं, अग्नि इस उदक को पाकर गर्जना करता है, यह सोमरूप उदक आदित्य का रेतस् है, सूर्य की सात रश्मियाँ इसी के माध्यम से जगत् धारण रूप व्यापार को सम्पन्न करती हैं, इन्द्र कहीं गर्जना करता है और कहीं रेतस् की वर्षा करता है, पर्जन्य रूप इन्द्र ओषधियों में उदक को स्थापित करता है, द्यावापृथिवियाँ मनुष्य के लिये हितकारी रेतस् से हमें सिक्त करती हैं। इसके अतिरिक्त सङ्गत होता हुआ आदित्य दुहितारूप पृथ्वी को उदक से सिक्त करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह उदक 'रेतस्' है, जो अन्तरिक्ष या द्युलोक से पृथ्वी पर प्राप्त होकर वनस्पतियों के गर्भ में स्थित होता है। वस्तुतः, रेतस् शब्द के मूल में स्रवण क्रिया है, जो उदक अन्तरिक्ष से स्वतः स्रवित होकर सस्यादिरूप में परिणत होते हैं, वे वेद की भाषा में

---

१ ऋ० १.१००.३. "दिवो न यस्य रेतसो दुघाना पन्थासो यन्ति शवसापरीताः।"

२ ऋ० १.१२८.३. "एवेन सद्यः पर्येति पार्थिवं मुहुर्गी रेतो वृषभः कनिक्रदद्दधद्रेतः कनिक्रदत्।"

३ ऋ० १.१६४.३४. "पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः।" ऋ० १.१६४.३५. "अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः।"

४ ऋ० १.१६४.३६. "सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।"

५ ऋ० ३.५५.१७. "यदन्यासु वृषभो रोरवीति सो अन्यस्मिन्यूथे नि दधाति रेतः।"

६ ऋ० ५.८३.१. "कनिक्रदद् वृषभो जीरदानू रेतो दधात्योषधीषु गर्भम्।"

७ ऋ० ६.७०.२. "राजन्ती अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मे रेतः सिञ्चितं यन्मनुर्हितम्।"

८ ऋ० १०.६७.७. "पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन्क्ष्मया रेतः सञ्जग्मानो नि षिञ्चित्।"

९ मै०सं० ४.१२.५. तै०आ०, ६.६.३. "यत्पर्जन्यः पृथिवीꣳ रेतसाऽवति।"

१० शत०ब्रा०, ९.५.१.५६."पयो हि रेतः।"

'रेतस्' नाम से अभिहित हुए हैं। इस दृष्टि से 'री' धातु को 'रेतस्' पद का मूल माना जा सकता है।

१७. कशः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'कशः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'कशः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**कशः (उदकम्)। 'कश' गतौ'। कशति गच्छति निम्नप्रदेशम्**''[२] कि यह निम्न प्रदेश की ओर बहकर जाता है, अतः, उदक को 'कशः' कहते हैं। इस पक्ष में गत्यर्थक 'कश्' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'कशः' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, 'कश' शब्दे'। मेघेभ्यः पतत् शब्दं करोतीति वा कशः**''[३] कि यह उदक मेघ से पतित होते समय शब्द करता है, अतः, यह 'कशः' कहलाता है। इस पक्ष में शब्दार्थक 'कश्' धातु से पूर्ववत् 'कशः' पद उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'कशोजुवम्' में पठित 'कशः' पद को विशेषणपद मानता है। उसके अनुसार इस पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची वाक् तथा ताडनरज्जु वाचक 'कशा' पद का मूल 'कश्' धातु को मानती है, जबकि उसने 'कशोजुवम्' मन्त्रांश में पठित 'कशः' पद को अव्युत्पन्न माना है।[५] मोनियर विलियम्स 'कशः' पद को 'कश्' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार वाजसनेयि-संहिता तथा तैत्तिरीय-संहिता में उक्तपद मूषक या गिलहरी के अर्थ में आया है।[६]

वैदिक साहित्य में 'कशः' पद का उल्लेख अत्यल्प हुआ है। ऋग्वेद में मात्र यह पद एक बार आया है। ऋग्वेद में आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि हे अश्विनीदेवो! आप शम्ब नामक आयुध वाले असुर का हनन करते समय अतिप्रशंसनीय, अतिथियों को प्राप्त होने योग्य, दिव्य विद्याओं को देने वाले और उदक सञ्चालन में समर्थ की रक्षा करो।[७] मैत्रायणी-संहिता कहती है कि द्युलोक में कशों (उदकों) को प्राप्त करता है।[८]

निघण्टुकोष में 'कशः' और 'कशा' ये दो पद प्राप्त होते हैं। कशा पद का परिगणन निघण्टु में वाग्वाचक पदों में हुआ है, जबकि 'कशः' का परिगणन उदकवाचक पदों में।[९] वेद में वाग्वाचक 'कशा' का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है, लेकिन उदकवाचक 'कशः' पद का केवल एक बार प्रयोग हुआ है, वहाँ भी 'कशः' का प्रयोग स्वतन्त्र रूप में न होकर एक अन्य शब्द के साथ हुआ है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि

---

१ निघ० १.१२.१७.

२ निघ०वृ०, १.१२.१७.

३ निघ०वृ०, १.१२.१७.

४ वै०पद०कोष, पृ० ११०४.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० १६७.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, २६५.

७ ऋ० १.११२.१४. ''याभिर्महामतिथिग्वं कशोजुवं दिवोदासं शम्बरहत्य आवतम्।''

८ मै०सं० ३.१४.७. ''दिवे कशान् (आलभते)।''

९ निघ० १.११.४३. निघ० १.१२.१७.

मात्र एक उद्धरण से 'कशः' पद के विशिष्ट अर्थ को निरूपित करना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त वेद में 'कशा' पद का प्रयोग लोकप्रचलित अर्थ (पशुताडनरज्जु) में और हुआ है, जिसकी ओर निघण्टुकार का ध्यान नहीं गया है। लेकिन जिस 'कशः' शब्द के उदकवाचक अर्थ के उदाहरण दुर्लभ हैं, ऐसे 'कशः' शब्द का परिगणन कोषकार ने उदकवाचक गण में किया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कोषकार कशः या कशा के पशुताडनरज्जु वाले अर्थ से परिचित नहीं हैं।

१८. जन्म

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों 'जन्म' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क 'जन्म' पद का निर्वचन निम्न प्रकार करते हैं:-''**जन्मनि जातानि**''[२] कि जो जात हो चुके हैं, उनकी अभिव्यक्ति जन्म कहलाती है। इस पक्ष में 'जन्' धातु से 'जन्म' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'जन्म' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**जायते सृष्टिकाले स्वकारणात्**''[३] कि यह उदक सृष्टि के प्रारम्भ में अपने कारण से उत्पन्न होता है। इस पक्ष में 'जनी' प्रादुर्भावे' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय होकर 'जन्म' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''जायन्ते वास्मिन् जलचारिणो मत्स्यादयः''[४] कि इसमें जल में विचरण करने वाले प्राणी जन्म लेते हैं, अतः, उदक को 'जन्म' कहा जाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'जन्म' पद को 'जन्' धातुमूलक नामपद मानता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के मत में 'जन्म' पद का मूल 'जन्' धातु है।[६] मोनियर विलियम्स भी उपर्युक्त मत से सहमत हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद और अथर्ववेद में यह पद उत्पत्ति, उत्पादन, मूल आदि अर्थों में हुआ है। इसके अतिरिक्त जन्मभूमि और गृह अर्थ में भी इसका उल्लेख प्राप्त होता है।[७]

वैदिक साहित्य में 'जन्म' शब्द का प्रयोग व्यापक रूप से देखने को मिलता है, लेकिन सर्वत्र यह उत्पत्ति अर्थ में आया है। कहीं भी उदक अर्थ में उक्तपद के प्रयोग का निदर्शन प्राप्त नहीं होता है। वर्तमान में प्राप्त वैदिक तथा लौकिक साहित्य के प्रमाण उक्तपद के उत्पत्ति, उद्भव, अस्तित्व आदि अर्थ के समर्थक हैं। यह शब्द उक्त अर्थों में इतना अधिक प्रचलित है कि इसके किसी अन्य अर्थ के वाचक होने की सम्भावना क्षीण प्रतीत होती है।

विज्ञान यह मानता है कि प्राणिमात्र का अस्तित्व उदक के पश्चात् सम्भव हो पाया है और वर्तमान में भी प्राणियों के शरीरों में पानी का प्रतिशत किसी अन्य तत्त्व की अपेक्षा अधिक है, आज भी शरीर का

---

१ निघ० १.१२.१८.

२ निरु० १२.१३.

३ निघ०वृ०, १.१२.१८.

४ निघ०वृ०, १.१२.१८.

५ वै०पद०कोष, पृ० १३५५.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० २०९.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ४११.

लगभग ८० प्रतिशत भाग जल है। इस प्रकार इस युग में भी हम जलचर प्राणी हैं, की इससे पुष्टि होती है। इस आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि प्राणी की उत्पत्ति और उसके अस्तित्व का आधार जल है, अतः, इस कारण जल 'जन्म' नाम से अभिहित हुआ होगा। इसके अतिरिक्त व्याकरण और भाषा-विज्ञान के अनुसार नकार का लकार तथा लकार का नकार में वर्णविपरिणाम हो जाता है। इस दृष्टि से भी 'जन्म' और 'जल' पद समान मूल के प्रतीत होते हैं।

१९. बृबूकम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'बृबूकम्' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क उदकवाचक 'बृबूक' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**बृबूकमित्युदकनाम, ब्रवीतेः शब्दकर्मणः**''[२] कि बृबूक यह उदकवाचक नाम है, क्योंकि उदक शब्द करता है, अतः, वह 'बृबूक' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में शब्दार्थक 'ब्रू' धातु से 'बृबूक' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''**भ्रंशतेर्वा**''[३] कि यह उदक मेघ से नीचे गिरता है, अतः, यह 'बृबूक' कहा जाता है। इस पक्ष में 'भ्रंश्' धातु से 'बृबूक' शब्द उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'बृबूक' पद का निर्वचन निम्नप्रकार करते हैं:-''**बृबूकम् (उदकम्)। ब्रवीतेः शब्दार्थात्, भ्रंशतेर्वा, उभाभ्यां समुदितधातुभ्याम्। तद्धि विपतत् साध्याकारं शब्दं करोति, भ्रश्यति दिवोऽनावरणत्वात्, मेघेभ्यो भ्रश्यति शब्दवच्चेति**''[४] कि यह पतित होता हुआ साध्य जैसे आकार का शब्द करता है, द्युलोक के अनावृत होने से यह भ्रष्ट होता है या मेघों से पतित होता है तथा शब्द भी करता है। अतः, उदक 'बृबूक' कहलाता है। इस पक्ष में 'ब्रू'+'भ्रंश्'- इन दो धातुओं के संयोग से 'ऊक' प्रत्यय होकर 'बृबूक' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'बृबूकम्' को उदकवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। फिर भी, कोशकार 'ब्रू' या 'भ्रंश्' धातु से 'बृबूकम्' पद के निष्पन्न होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'बृबूक' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स के अनुसार उक्तपद का मूल 'बृंह्' धातु है तथा यह पद ऋग्वेद में उदक अर्थ में प्रयुक्त है।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा उक्त यास्कीय निर्वचनों को सन्दूषित वर्ग में रखते हैं।[८]

वैदिक साहित्य में 'बृबूक' पद का अत्यन्त अल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में उक्तपद का एक बार

---

१ निघ० १.१२.१९.
२ निरु० २.२२.
३ निरु० २.२२.
४ निघ०वृ०, १.१२.१९.
५ वै०पद०कोष, पृ० २२८२.
६ ऋ०वै०पद०, पृ० ३६०.
७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ७३५.
८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ३४.

उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में वसुक्र ऐन्द्र ऋषि इन्द्र देवता के प्रकरण में कहते हैं कि दिव्य पदार्थों के निर्माण काल में माध्यमिक देवगण प्रमुखरूप से उपस्थित थे। इन मेघों के छेदन-भेदन से उदक प्राप्त होते हैं। अग्नि, वायु, सूर्य-ये तीन तत्त्व पृथ्वी को अपने-अपने कर्म से अनुकूल होकर अनुगृहीत करते हैं, इनमें से दो (सूर्य और वायु) तृप्ति या पूर्ण करने वाले उदक का पृथिवी पर प्रक्षेपण करते हैं।[१]

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में वह उदक 'बृबूक' है, जो सूर्य और वायु के द्वारा पृथिवी पर प्रेक्षेपित किया जाता है। प्रक्षेपित किये जाते समय उदक शब्द भी करता है और मेघ से नीचे की ओर पृथिवी पर पतित भी होता है। इस दृष्टि से अर्थ की अन्विति को ध्यान में रखते हुए यास्क के उक्त दोनों निर्वचनों को उचित माना जा सकता है अथवा आचार्य देवराजयज्वन् कृत निर्वचन समीचीन है। तदनुसार 'बृबूक' पद 'ब्रू' और 'भ्रंश्' इन दोनों धातुओं के संयोग से व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मेघ से पतित होता हुआ शब्दायमान उदक वेद की दृष्टि में 'बृबूक' है।

२०. बुसम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'बुस' पद समाहित है।[२] आचार्य यास्क कहते हैं:- **''बुसमित्युदकनाम, ब्रवीतेः शब्दकर्मणः''**[३] कि यह उदक शब्द वाला होता है, अतः, यह 'बुस' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'ब्रू' धातु से 'बुस' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''भ्रंशतेर्वा''[४] कि यह उदक मेघ से पतित होता है, अतः, यह 'बुस' कहा जाता है। इस पक्ष में 'भ्रंश्' धातु से 'बुस' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'बुस' पद का निर्वचन निम्न प्रकार करते हैं:-**''बुसम् (उदकम्)। विपूर्वात् स्नातेः। विशेषेण स्नात्यनेनेति बुसम्। तद्धि प्रथमं शौचसाधनम्''**[५] कि विशेष रूप से इससे स्नान करते हैं और यह प्रमुख पवित्रता का साधन है, अतः, उदक 'बुस' कहलाता है। इस पक्ष में 'वि' पूर्व वाली 'स्ना' धातु से 'क' प्रत्यय होकर 'बुस' पद उपपन्न होता है।

(ख)''भ्रंशतेर्वा''[६] कि यह मेघ से पतित होता है, अतः, उदक 'बुस' कहा जाता है। इस पक्ष में 'भ्रंश्' धातु से 'बुस' पद व्युत्पन्न होता है।

(ग)''यद्वा, 'बुस' उत्सर्गे'। बुस्यते उत्सृज्यते मेघैरिति बुसम्''[७] कि यह मेघों से विसर्जित किया जाता है, अतः, उदक को 'बुस' कहा जाता है। इस पक्ष में उत्सर्ग अर्थ वाली 'बुस्' धातु से 'क' प्रत्यय

---

१ ऋ० १०.२७.२३. ''देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्। त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्।''

२ निघ० १.१२.२०.

३ निरु० ५.१९.

४ निरु० ५.१९.

५ निघ०वृ०, १.१२.२०.

६ निघ०वृ०, १.१२.२०.

७ निघ०वृ०, १.१२.२०.

होकर 'बुस' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'बुस' पद को उदकवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। कुछ विद्वान् 'ब्रू' और कुछ 'भ्रंश्' धातु से 'बुस' पद को निष्पन्न मानते हैं।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स 'बुस' पद का मूल 'बुस्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद कुहरे अर्थ में आया है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि सेंट पीटर्सबर्ग के अनुसार 'बुस' का तात्पर्य 'भुस' (तुष) है। अतः, यास्क के दोनों निर्वचन और उनके अर्थ अस्पष्ट हैं।[४] डॉ. वर्मा का मत विचारणीय है।

वैदिक साहित्य में उक्तपद का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मात्र एक बार उक्तपद का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में वसुक्र ऐन्द्र ऋषि कहते हैं कि हे मनुष्य! वह सूर्य तेरा जीवन साधन है, अतः, हमें उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और हमें इसका परित्याग नहीं करना चाहिये। यह आदित्य तेज का प्रकाश, उदक का ग्रहण और अपनी इस गति का परित्याग कभी नहीं करता है।[५]

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जां सकता है कि वह उदक 'बुस' है, जो आदित्य के द्वारा ग्रहण किया जाता है। लेकिन इस अर्थ की प्रतीति यास्क या देवराजयज्वन् के किसी भी निर्वचन से होती दिखायी नहीं देती है, अतः, उक्त सभी निर्वचन असङ्गत हैं। लोकभाषा में आज भी कुछ बीजों के छिलकों को 'भुस' कहा जाता है। सम्भवतः, इसका कारण यह है कि छिलका बीज को छोड़ देता है, अतः, यह 'बुस' या 'भुस' नाम से अभिहित होता है। पाणिनि धातुपाठ में 'बुस' उत्सर्गे' धातु प्राप्त होती है।[६] इससे भी उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। पर इस अर्थ के साथ उदकवाचक 'बुस' पद का सामञ्जस्य होता दिखायी नहीं देता है। इस प्रकार 'बुस' शब्द के उपर्युक्त निर्वचन अस्पष्ट और वेदार्थ के साथ उनकी अन्विति नहीं है, यह माना जा सकता है।

२१. तुग्र्या

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'तुग्र्या' पद परिगणित है।[७] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'तुग्र्या' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**तुग्र्या (उदकम्)। 'तुज' हिंसायाम्'। तुजन्ति हिंसन्ति तम औष्ण्येन जनानीति वा तुजो रश्मयः। तद्वान् तुग्र्यः**"[८] कि उष्णता से अन्धकार अथवा लोगों की

---

१ वै०पद०कोष, पृ० २२८१.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ३६०.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ७३५.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १४१.

५ ऋ० १०.२७.२४. "सा ते जीवातुरुत तस्य विद्धि मा स्मैतादृगपः गूहः समर्ये। आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते।"

६ धातु०, ४.१११.

७ निघ० १.१२.२१.

८ निघ०वृ०, १.१२.२१.

हिंसा करती हैं, अतः, रश्मियाँ 'तुज' कहलाती हैं और उन रश्मियों से युक्त उदक 'तुग्र्य' कहलाता है। इस पक्ष में हिंसार्थक 'तुज्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'तुज' और उससे मत्वर्थीय 'र' प्रत्यय होकर 'तुग्र्या' पद उपपन्न होता है।

(ख)''यद्वा, तुग्र आदित्यः, तत्र भवा तुग्र्या''[१] कि 'तुग्र' का अर्थ आदित्य होता है और उससे उत्पन्न होने के कारण वृष्टि 'तुग्र्या' कहलाती है। इस पक्ष में 'तुग्र' शब्द से भव अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होकर 'तुग्र्या' रूप निष्पन्न होता है।

(ग)''तुग्रशब्देन ग्रीष्म उच्यते। अतिशयेनादित्य किरणवान् हि ग्रीष्मकालः। तत्र साधुः तुग्र्या। 'अग्नेरापः' (तै०उप०) इत्यपां कारणत्वेन अग्नेः श्रुतत्वात्''[२] कि तुग्र शब्द ग्रीष्म वाचक है। ग्रीष्म ऋतु में आदित्य अत्यधिक किरणों से युक्त होता है। ग्रीष्म ऋतु की उष्णता से उत्पन्न होने के कारण उदक 'तुग्र्या' कहलाते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् कहती है कि अग्नि से आप (उदक) उत्पन्न होता है। इस पक्ष में 'तुग्र' शब्द से साधु अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होकर 'तुग्र्या' पद सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'तुग्र्या' पद का अर्थ एवं व्युत्पत्ति दोनों सन्दिग्ध मानता है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'तुग्र्या' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स 'तुग्र' पद से 'तुग्र्या' पद को निष्पन्न करने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में भुज्यु के पिता का नाम तुग्र है, जिनकी अश्विनीदेवों ने रक्षा की थी, इस प्रकार यह कुल या गोत्र का वाचक है।[५]

वैदिक साहित्य में 'तुग्र्या' पद का पर्याप्त प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं कि इन्द्र अन्नादि की प्राप्ति करने के लिये पृथिवी को आच्छादित करने में कुशल, वर्षण स्वभाव वाले एवं शान्त मेघ के उदकों में किरणों को प्रवेश कराता है।[६] मेध्यातिथि काण्व ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार जलपरमाणुओं को किरणें सूर्य की ओर ले जाती हैं, उसी प्रकार दश इन्द्रियाँ मनुष्य को परमात्मा की ओर ले जाती हैं।[७] एक अन्य सूक्त में मेध्यातिथि ऋषि इन्द्र से निवेदन करते हुए कहते हैं कि हे इन्द्र! अपनी धेनुओं एवं उदक में स्थित तथा तुम्हें उद्देश्य बनाकर प्रस्तुत किये गये सोम का तुम्हें पान करना चाहिये।[८] त्रिशोक ऋषि कहते हैं कि शुभकर्मों के प्राप्त होने पर महान् और जलों को बढ़ाने वाले इन्द्र की सोम के साथ विविध स्तोत्रों से युक्त स्तुति करता हूँ।[९] नृमेध ऋषि कहते हैं कि हे मनुष्यो! तुम अपनी रक्षा के लिये

---

१ निघ०वृ०, १.१२.२१.

२ निघ०वृ०, १.१२.२१.

३ वै०पद०कोष, पृ० १४८४.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० २३१.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ४४९.

६ ऋ० १.३३.१५. ''आवः शमं वृषभं तुग्र्यासु क्षेत्रजेषे मघवञ्छ्वित्र्यं गाम्।''

७ ऋ० ८.३.२३. ''यस्मा अन्ये दश प्रति धुरं वहन्ति वह्नयः। अस्तं वयो न तुग्र्यम्।''

८ ऋ० ८.३२.२०. ''पिब स्वधैनवानामुत यस्तुग्र्ये सचा। उतायमिन्द्रः यस्तव।''

९ ऋ० ८.४५.२९. ''ऋभुक्षणं न वर्तव उक्थेषु तुग्र्यावृधम्। इन्द्रं सोमे सचा सुते।''

जरारहित, सबके प्रेरक, स्वतन्त्र, वेगवान्, शत्रुओं को जीतने वाले, गमनशील, रथियों में श्रेष्ठ, अमर, उदक को बढ़ाने वाले इन्द्र की शरण में आओ।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'तुग्र्या' हैं, जिन मेघों के जलों में किरणें प्रवेश करती हैं, ये वे उदक हैं, जिनको सूर्यकिरणें सूर्य की ओर ले जाती हैं, इस उदकरूप सोम का पान इन्द्र करता है। इसके अतिरिक्त दो स्थानों पर इन्द्र को 'तुग्र्यावृध' नाम से पुकारा गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वे उदक वेद में 'तुग्र्या' नाम से अभिहित हुए हैं, जिनका सम्बन्ध सूर्य से है। इन रश्मियों में उष्णता की अधिकता पायी जाती है, अतः, इन जलों का सम्बन्ध ग्रीष्मकालीन सूर्य के साथ है। आदित्य को तुग्र नाम से कहा भी गया है। उससे सम्बन्धित होने से उदक 'तुग्र्या' नाम से अभिहित हुए हैं, यह माना जा सकता है। इस दृष्टि से देवराजयज्वन् कृत निर्वचन समीचीन माने जा सकते हैं।

२२. बुर्बुरम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'बुर्बुर' पद परिगणित है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् 'बुर्बुर' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**बुर्बुरम् (उदकम्)। 'पॄ' पालनपूरणयोः'। वपुषः शरीरस्य पूरकं पालकं वा वपुः पुरं सत्**"[३] कि वपुः (शरीर) का पालक या पूरक होने से यह उदक 'बुर्बुर' कहा जाता है। इस पक्ष में 'पॄ'+क=पुर, वपुस्+पुर' से 'बुर्बुर' से रूप सिद्ध होता है।

वैदिक साहित्य में उक्तपद का सर्वथा उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। अतः, प्रयोग के अभाव में उक्तपद के विषय में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है।

२३. सुक्षेम

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'सुक्षेम' पद पठित है।[४] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'सुक्षेम' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सुक्षेम (उदकम्)। 'क्षि' निवासगत्योः'। क्षियन्ति निवसन्त्यनेन प्राणिनः, गच्छन्त्यनेन पन्थानमिति वा**"[५] कि इस उदक के कारण प्राणी निवास या मार्ग पर गमन करते हैं, अतः, उदक को 'सुक्षेम' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सु+'क्षि'+मक्' से 'सुक्षेम' पद निष्पन्न होता है। उपर्युक्त निर्वचन की पुष्टि वेद से भी हो जाती है।[६]

(ख)"**यद्वा, 'क्षि' क्षये'। उपरिभागेन क्षीयते वा**"[७] कि उदक का उपरिभाग सूर्य किरणों से क्षीण होता रहता है, अतः, उदक को 'सुक्षेम' कहते हैं। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

---

१ ऋ० ८.९९.७. "इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम्। आशुं जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुग्र्यावृधम्।"

२ निघ० १.१२.२२.

३ निघ०वृ०, १.१२.२२.

४ निघ० १.१२.२३.

५ निघ०वृ०, १.१२.२३.

६ ऋ० ८.८४.९. "क्षेति क्षेमेभिः साधुभिर्नकिर्यं घ्नन्ति हन्ति यः।"

७ निघ०वृ०, १.१२.२३.

(ग)''**यद्वा, पूर्वस्माद् धातुद्वयात्**''[१] कि यह पद 'क्षि' क्षये' और 'क्षि' निवासगत्योः' इन दोनों धातुओं से निष्पन्न होता है। जो क्षयशील हो तथा जिसके कारण प्राणी निवास करते हों, वह उदक 'सुक्षेम' है। इस पक्ष में 'क्षि' क्षये+'क्षि' निवासगत्योः'+मनिन्' से 'सुक्षेम' पद सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'क्षेम' पद को कल्याण एवं रक्षावाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति 'क्षि' निवासे' धातु से होती है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद का मूल 'क्षि' निवासे' धातु को मानती है।[३] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद और अथर्ववेद में यह 'क्षेम' पद विश्राम, सुगमता से विश्राम या निवास अर्थ में है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा वाजसनेयि-संहिता में सुरक्षा, शान्ति, प्रसन्नता आदि अर्थों में भी आया है।[४]

वैदिक साहित्य, विशेष रूप से, ऋग्वेद में 'सुक्षेम' पद का प्रयोग सर्वथा उपलब्ध नहीं होता है। लेकिन 'क्षेम' पद अवश्य देखने को मिलता है, परन्तु उसका उदक के अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। वह सर्वत्र प्रायः 'रक्षण' अर्थ में आया है।[५] इस प्रकार अद्यतन उपलब्ध साहित्य में प्रयोग की अनुपलब्धता के कारण उक्तपद के विशिष्ट स्वरूप के विषय में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है।

२४. धरुणम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक पदों में कोषकार ने 'धरुण' पद का परिगणन किया है।[६] जैमिनीय-ब्राह्मण 'धरुण' पद का निर्वचन करता हुआ कहता है:-''**अथ यद् धरुण एकविंश इत्यसौ हि स आदित्यः। एतस्मिन् वा इदं सर्वं धृतम्**''[७] कि यह एकविंश धरुण ही आदित्य है, क्योंकि इसमें यह सब कुछ स्थित है। इस पक्ष में 'धृ' धारणे' धातु से 'धरुण' पद निष्पन्न होता है।

शतपथ-ब्राह्मण 'धरुण' का वर्णन करता हुआ कहता है:-''**असावेवादित्यो धरुण एकविꣳशस्तद्यत्तमाह धरुण इति यदा ह्येवैषोऽस्तमेत्यथेदꣳ सर्वं ध्रियते**''[८] कि यह एकविंश आदित्य ही धरुण है, क्योंकि जब यह अस्त होता है, तब यह सबको धारण करता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

एक अन्य स्थान पर 'धरुण' पद का विवेचन करता हुआ शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-''**धरुणो मातरं धयन्नित्यग्निमेवैतत्पृथिवीं धयन्तमाह**''[९] कि धरुण माता का पान करता है, जब यह कथन किया जाता है, तब पृथिवी का पान करते हुए अग्नि को कहा जाता है। इस पक्ष में पानार्थक 'धेट्' धातु से 'धरुण' पद निष्पन्न होता है।

---

१ निघ०वृ०, १.१२.२३.
२ वै०पद०कोष, पृ० ११९३.
३ ऋ०वै०पद०, पृ० १८१-८२.
४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ३३२.
५ ऋ० १.६६.२; ६७.१; १००.७.
६ निघ० १.१२.२४.
७ जै०ब्रा०, ३.३०९.
८ शत०ब्रा०, ८.४.१.२.
९ शत०ब्रा०, ४.६.९.९.

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'धरुण' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**धरुणम् (उदकम्)। 'धृञ्' धारणे'। धारयति जगत् धरुणम्**''[१] कि जगत् को धारण करने से उदक को 'धरुण' कहा जाता है। इस पक्ष में 'धृ'+णिच्+क्युन्' से 'धरुण' पद निष्पन्न होता है। वेद से प्राप्त सङ्केत भी 'धरुण' का मूल 'धृ' धातु को मानते हैं।[२]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'धरुण' पद को विशेषण एवं नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति 'धृ' धातु से होती है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'धृ' धातु से 'धरुण' पद को व्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स के अनुसार भी 'धरुण' का मूल 'धृ' धातु है। उनके अनुसार ऋग्वेद, वाजसनेयि-संहिता और अथर्ववेद में यह पद धारण करना, पकड़े रहना, भरणपोषणकर्ता आदि अर्थ में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त 'धरुण' पद मन्त्रद्रष्टा ऋषि के अर्थ में भी आया है।[५]

वैदिक साहित्य में 'धरुण' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि हे पूषन् (सूर्यदेव)! जिस प्रकार पशुपालक मार्गभ्रष्ट गमनशील पशु को अन्वेषित करके ले आता है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष को प्रकाश कर देने वाले आप द्युलोक से उदक लेकर आते हैं।[६] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम वृत्र के द्वारा तिरोहित, अविनाशी, सबको धारण करने वाले उदक को विस्तृत दिशाओं में स्थापित करते हो।[७] इसी सूक्त के अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि हे पूजनीय इन्द्र! तुम द्युलोक से पृथिवी प्रदेशों में अपने बल से सम्पूर्ण जगत् को धारण करने वाले उदक को स्थापित करते हो।[८] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि पर्वत के समान सभी धारक उदकों के मध्य अचल होकर स्थित रहता हुआ इन्द्र असङ्ख्यात प्रकारों से रक्षा करने वाले बलों से बढ़ता है।[९] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि द्युलोक को धारण करने वाला इन्द्र किरणसमूह का नेता है। वह विस्तृत रूप से भासित होता हुआ गतिशील उदक को बल व अन्न के लिये सिञ्चित करता है।[१०] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि लोह निर्मित नगरी के समान सरस्वती पेय एवं धारणीय उदकों के साथ शीघ्रता से गमन करती है।[११] हर्यत प्रागाथ ऋषि कहते हैं कि ज्वालाओं से भक्षण करता हुआ अग्निदेव द्युलोक में उदक का निर्माण करता है। ऐसे सुखस्वरूप इन्द्र और अग्नि को हम नमन करते हैं।[१२] उपर्युक्त निर्वचन के प्रसङ्ग में

---

१ निघ०वृ०, १.१२.२४.

२ ऋ० ५.१५.१; १०.१११.४;अथर्व०, १२.३.३५; १८.३.२९.

३ वैं०पद०कोष, पृ० १७३४.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० २७५.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ५१०.

६ ऋ० १.२३.१३. ''आ पूषञ्चित्रबर्हिषमाघृणे धरुणं दिवः। आजा नष्टं यथा पशुम्।''

७ ऋ० १.५६.५. ''वि यत्तिरो धरुणमच्युतं रजोऽतिष्ठिपो दिव आतासु बर्हणा।''

८ ऋ० १.५६.६. ''त्वं दिवो धरुणं धिष ओजसा पृथिव्या इन्द्र सदनेषु माहिनः।''

९ ऋ० १.५२.२. ''स पर्वतो न धरुणेष्वच्युतः सहस्रमूतिस्तविषीषु वावृधे।''

१० ऋ० १.१२१.२. ''स्तम्भीद्ध द्यां स धरुणं प्रुषायदृभुर्वाजाय द्रविणं नरो गोः।''

११ ऋ० ७.९५.१. ''प्र क्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः।''

१२ ऋ० ८.७२.१५. ''उप स्रक्वेषु बप्सतः कृण्वते धरुणं दिवि।''

उद्धृत ब्राह्मणग्रन्थों के वचनों से 'धरुण' आदित्य और अग्नि का वाचक सिद्ध होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'धरुण' है, जिसे पूषादेव पशुपालक के समान अन्वेषित करके ले आते हैं, यह वह उदक है, जो वृत्र के द्वारा तिरोहित, अविनाशी एवं इन्द्र के द्वारा विस्तृत दिशाओं में स्थापित किया जाता है, इस उदक को इन्द्र द्युलोक से पृथिवी के प्रदेशों में स्थापित करता है, इन उदकों के मध्य इन्द्र पर्वत के समान अचलरूप से स्थित रहता है, समय आने पर यह इन्द्र ही इन गतिशील उदकों को बल व अन्न के लिये सिञ्चित करता है, इन पेय और धारणीय उदकों के साथ सरस्वती गमन करती है। इसके अतिरिक्त अग्निदेव अपनी ज्वालाओं से द्युलोक में इन्हीं उदकों का निर्माण करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में वे उदक 'धरुण' हैं, जो अन्वेषित करके लाये जाते हैं तथा जिनसे प्राणिमात्र का पालनपोषण होता है। इस दृष्टि से 'धृ' धातुमूलक निर्वचन को निर्विवाद रूप से 'धरुण' पद का मूल माना जा सकता है।

२५. सिरा

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'सिरा' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'सिरा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सिरा (उदकम्)। 'सृ' गतौ'। सरणशीलास्वासु- इति माधवभाष्यम्**"[२] कि सरणशील होने से उदक 'सिरा' नाम से अभिहित होते हैं। इस पक्ष में 'सृ' धातु से 'अच्' और 'आप्' प्रत्यय होकर 'सरा' और उससे 'सिरा' पद निष्पन्न होता है।

उणादिकोष के अनुसार बन्धनार्थक 'सि' धातु से 'रक्' प्रत्यय करके 'सिरा' पद निष्पन्न होता है, तदनुसार निर्वचन निम्नप्रकार होगा:-"**सिनोति बध्नाति मांसरुधिरादिकमिति सिरा नाडी वा**"।[३]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सिरा' पद को नदीवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार 'स्रु' स्रवणे' धातु से 'सिरा' पद उपपन्न होता है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'सिरा' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स के मत में 'सिरा' पद का मूल 'सृ' धातु है। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद जलधारा तथा उदक के अर्थ में प्रयुक्त है। याज्ञवल्क्यस्मृति तथा महाभारत में यह पद शरीर की धमनी, नाडी, स्नायु आदि अर्थ में पाया जाता है। वराहमिहिर के मत में यह एक नाडी सदृश जलमार्ग है।[६]

वैदिक साहित्य में उक्तपद का अत्यल्प प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! महती बलवती, सर्वत्र विद्यमान द्यावापृथिवी, वृत्रवधादि वाले कार्य में प्रवृत्त होने पर तुमको प्रसन्न करें। उसके पश्चात् इन्द्र ने सर्वत्र शयन करने एवं श्रेष्ठ उदक वाले वृत्र को सरणशील उदकों में बहुत

---

१ निघ० १.१२.२५.

२ निघ०वृ०, १.१२.२५.

३ उणा०, २.१३.

४ वै०पद०कोष, पृ० ३३८०.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ५६८.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १२१७.

बड़े वज्र से मारकर चिर निद्रा में लीन कर दिया।[१]

उपर्युक्त मन्त्र में ऋषि ने 'सिरा' के साथ 'वृत्र' और 'वराहु' का प्रयोग किया है। जो मेघ सर्वत्र विद्यमान होकर विराजमान है, वह यहाँ 'वृत्र' पद का अभिधेय है। श्रेष्ठ उदक का आहरण करने से यह वृत्र नामक मेघ उक्त मन्त्र में 'वराहु' नाम से अभिहित हुआ है। इस प्रकार वे उदक 'सिरा' हैं, जो उक्त वराहु नामक वृत्र से बहने के लिये प्रस्तुत हैं। इस दृष्टि से आचार्य देवराजयज्वन् कृत निर्वचन समीचीन प्रतीत होता है। जहाँ तक उणादिकोषीय व्युत्पत्ति का प्रश्न है, उसको भी असङ्गत नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि उदक की सरणशीलता नदी या नहर आदि में अधिक सम्भव हो पाती है, लेकिन परवर्ती साहित्य में सिरा के जो नाडी, धमनी या नाडी सदृश जलमार्ग आदि अर्थ ग्रहण किये गये हैं, उनकी प्रतीति मन्त्र से होती दिखायी नहीं देती है।

२६. अररिन्दानि

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'अररिन्दानि' पद पठित है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् 'अररिन्दानि' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अररिन्दानि (उदकम्)। 'रा' दाने'। ररिर्दाता। ररिर्यस्य न विद्यते तदररि, अन्यैरदत्तमित्यर्थः। तद्ददाति अररिन्दम्**''[३] कि 'ररि' शब्द का अर्थ है:-'दाता'। जिसका देने वाला न हो, वह 'अररि' कहलाता है अर्थात् जो अन्यों के द्वारा दिया नहीं गया है, उसको देने वाला उदक 'अररिन्द' कहलाता है। इस पक्ष में 'नञ्' पूर्व वाली 'रा' दाने' धातु से 'अररिन्दानि' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''**अथवा ररिः=दत्तम्, न ररिः अररिः=अदत्तम् पृथिव्यादिभिः, किन्तत्? सुखम्। उदकेन यद्दीयते सुखादिकं तद्यान्यैः पृथिव्यादिभिः दातुमशक्यत्वाददत्तमित्युच्यते**''[४] कि जो सुख उदक से प्राप्त होता है, वह पृथिव्यादि के द्वारा देना सम्भव न होने से वह 'अररिन्दम्' कहलाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

आचार्य सायण 'अररिन्दानि' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**ररिर्दाता। नास्त्यन्यो ररिरस्य पिपासोपशमनस्य तादृशं पिपासोपशमनं ददतीत्यररिन्दानि**''[५] कि उस जैसा पिपासा को शमन करने वाला दूसरा न होने से उदक 'अररिन्दानि' कहलाते हैं। इस पक्ष में 'न+ररि+'दा' से 'अररिन्द' रूप सिद्ध होता है।

(ख)''**यद्वा, अररिः इतश्चेतश्च गमनम्। औणादिकः अरिः प्रत्ययः। तद्ददतीत्यरिन्दानि उदकानि। चेष्टाप्रदानीत्यर्थः। 'आपोमयः प्राणः' (छा०,६.५.४.) इति श्रुतेः**''[६] कि 'अररि' का अर्थ है 'इधर-उधर जाना। उससे 'अरि' प्रत्यय तथा 'दा' धातु के संयोग से 'अररिन्दानि' पद निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है:-

---

१ ऋ० १.१२१.११. ''अनु त्वा मही पाजसी अचक्रे द्यावाक्षामा मदतामिन्द्र कर्मन्। त्वं वृत्रमाशयानं सिरासु महो वज्रेण सिष्वपो वराहुम्।''

२ निघ० १.१२.२६.

३ निघ०वृ०, १.१२.२६.

४ निघ०वृ०, १.१२.२६.

५ सायण, ऋग्वेदभाष्य, १.१३९.१०.

६ सायण, ऋग्वेदभाष्य, १.१३९.१०.

'चेष्टा प्रदान करने वाले उदक'। श्रुति भी कहती है कि प्राण आपोमय हैं।

(ग)''**यद्वा, ररिर्दानम्। न विद्यते तादृशं दानमितरभूतेषु तत् अररिः। तद्ददतीत्यररिन्दानि। अन्यैरदेयं लोकोपकारिभोगं ददतीत्यर्थः**''[१] कि 'ररि' पद का अर्थ हैः-'दान'। उस प्रकार का दान अन्य भूतों में विद्यमान नहीं है, इसलिये उदक 'अररि' कहलाता है। ऐसे दान का देने वाला उदक 'अररिन्द' कहा जाता है। इस पक्ष में 'न+'रा'+'दा' 'अररिन्द' उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अररिन्दानि' पद को वेङ्कट एवं सायण के मत में 'उदकवाचक' और पेटरसन तथा ग्रासमैन प्रभृति विद्वानों के मत में 'सोमाभिषवणीयपात्र' मानता है। कोषकार के अनुसार इस पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अररिन्द' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स ने भी उक्तपद के मूल का उल्लेख नहीं किया है। उनके अनुसार ऋग्वेद में उक्तपद सोम निर्माण में प्रयुक्त होने वाले पात्र के अर्थ में प्रयुक्त है।[४]

वैदिक साहित्य में 'अररिन्दानि' पद का प्रयोग नितान्त अल्प हुआ है। ऋग्वेद में उक्तपद का मात्र एक बार उल्लेख देखने को मिलता है। परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि यह देवों का आह्वान करने वाला अग्नि अथवा ऋत्विक् याज्या का पाठ करता है। हवि की कामना करने वाले देव वरणीय सोम को प्राप्त करें, इस उद्देश्य से बृहस्पति अथवा यजमान यज्ञ करता है। यह शोभनकर्मा यजमान यज्ञ के पश्चात् वृष्टि लक्षण वाले उदकों को धारण करता है।[५]

उपर्युक्त मन्त्र में 'अररिन्दानि' के साथ 'सुक्रतुः' का पाठ हुआ है। इससे यह आशय ग्रहण किया जा सकता है कि जो 'सुक्रतुः' अर्थात् शोभनकर्मा (शुभ कर्मों को करने वाला) है, उसे उक्त प्रकार के 'अररिन्द' नामक उदक की प्राप्ति होती है। यह उदक याज्या नामक यज्ञ करने के पश्चात् प्राप्त होता है, इसका भी उल्लेख मन्त्र में किया गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यज्ञ अथवा किसी अन्य प्रकार के शुभकर्मों से प्राप्त होने वाला उदक वेद की दृष्टि में 'अररिन्द' है। इस दृष्टि से विचार करने पर उपर्युक्त सभी निर्वचन अपूर्ण प्रतीत होते हैं। ये निर्वचन व्याकरण और भाषाविज्ञान की निकषा पर भले ही विशुद्ध हों, पर वे अर्थविज्ञान की दृष्टि से एकाङ्गी ही माने जायेंगे।

२७. ध्वस्मन्वत्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'ध्वस्मन्वत्' पद परिगणित है।[६] आचार्य देवराजयज्वन् 'ध्वस्मन्वत्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-'''**ध्वस्मन्वत्' (उदकम्)। 'ध्वंसु' गतौ च'। ध्वस्म ध्वंसनं**

---

१ सायण, ऋग्वेदभाष्य, १.१३९.१०.

२ वै०पद०कोष, पृ० ४८३.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ५३.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ८७.

५ ऋ० १.१३९.१०. ''होता यक्षद्वनिनो वन्त वार्यं बृहस्पतिर्यजति वेन उक्षभिः पुरुवारेभिरुक्षभिः। जगृम्भा दूर आदिशं श्लोकमद्रेरध त्मना। अधारयदररिन्दानि सुक्रतुः पुरू सद्मानि सुक्रतुः।''

६ निघ० १.१२.२७.

मेघेभ्य: पर्वतादिभ्यो वा अध: पतनं निम्नप्रदेशगमनम्''[१] कि मेघों या पर्वतादिकों से नीचे आने के कारण यह उदक 'ध्वस्मन्वत्' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'ध्वंस्' धातु से भाव अर्थ में औणादिक 'मनिन्' प्रत्यय होकर 'ध्वस्मन्वत्' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''जलार्थकर्तृकं वा गमनमस्यास्तीति वा। 'ध्वस्मन्वत् स्यात् ध्वंसनवत्'- इति माधवनिर्वचनानुक्रमणी''[२] कि यह मेघ जल के उद्देश्य से गमन करता है, अत:, यह 'ध्वस्मन्वत्' नाम से अभिहित होता है। आचार्य माधव भी माधवनिर्वचनानुक्रमणी में उक्त प्रकार से निष्पन्न किए जाने का सङ्केत देते हैं। इस पक्ष में पूर्ववत् 'ध्वंस्' धातु से 'ध्वंसन' शब्द और उससे 'मतुप्' प्रत्यय तथा 'नुट्' का आगम होकर 'ध्वस्मन्वत्' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'ध्वस्मन्वत्' पद को अन्नवाचक विशेषण पद मानता है। उसके अनुसार 'ध्वस्' धातु से उक्तपद निष्पन्न होता है।[३] ऋग्वेद वैयाकरणपदसूची उक्तपद को 'ध्वस्' धातु से निष्पन्न करने के पक्ष में है।[४] मोनियर विलियम्स 'ध्वस्मन्वत्' पद का मूल 'ध्वंस्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में उक्तपद आच्छादित तथा अस्पष्ट अर्थ में आया है।[५]

वैदिक साहित्य में 'ध्वस्मन्वत्' पद का अत्यन्त अल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मात्र इसका दो बार उल्लेख प्राप्त होता है और दोनों स्थानों पर उक्त मन्त्र का ऋषि भिन्न है, परन्तु मन्त्र समान है। वीतहव्य भरद्वाज तथा वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! ध्वस्तदोष वाला हवि अच्छी प्रकार प्राप्त हो और स्पृहणीय तथा सम्पूर्ण सुख देने वाला धन और दोषरहित अन्न हमें प्राप्त हो।[६]

उपर्युक्त मन्त्र में ऋषि ने 'ध्वस्मन्वत्' पद के साथ 'पाथ:' पद का प्रयोग किया है। आचार्य यास्क पेय होने के कारण उदक और अन्न दोनों को 'पाथ' नाम से अभिहित मानते हैं।[७] पेयता अन्न की अपेक्षा उदक में अधिक पायी जाती है, अत:, वही यहाँ ऋषि का अभिप्रेतार्थ प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त मन्त्र में 'ध्वस्मन्वत्' पद 'पाथ:' पद के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। इस प्रकार वेद की दृष्टि में पीने योग्य, ध्वस्तदोष वाला (जिसके दोष का परिहार कर दिया गया है, ऐसा) उदक 'ध्वस्मन्वत् पाथ:' है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वर्तमान में उपलब्ध साहित्य में 'ध्वस्मन्वत्' उदकवाचक नहीं है, परन्तु वह उस (उदक) का विशेषण अवश्य माना गया है। यह एक विशिष्ट जल के प्रकार का सङ्केत करता है, यह कहा जा सकता है।

---

१ निघ०वृ०, १.१२.२७.

२ निघ०वृ०, १.१२.२७.

३ वै०पद०कोष, पृ० १७४८.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० २७८.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ५२२.

६ ऋ० ६.१५.१२; ७.४.९. ''सं त्वा ध्वस्मन्वदभ्येतु पाथः सं रयिः स्पृहयाय्यः सहस्री।''

७ निरु० ६.७. ''उदकमपि पाथ उच्यते पानात्। अन्नमपि पाथ उच्यते पानादेव।''

२८. जामि

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'जामि' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क 'जामि' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जामपत्यम्''**[२] कि उसके अपने कुल से भिन्न पुरुष (पति) इसमें अपत्य उत्पन्न करते हैं, अतः, भगिनी (स्त्री) 'जामि' कहलाती है। इस पक्ष में 'जन्' धातु 'जामि' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''जमतेर्वा स्याद्गतिकर्मणो निर्गमनप्राया भवन्ति''[३] कि यह प्रायः मातापिता से भिन्न घर में जाने वाली होती है, अतः, भगिनी को 'जामि' नाम से अभिहित किया जाता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'जम्' धातु से 'जामि' पद निष्पन्न होता है।

(ग)''जाम्यतिरेकनाम। बालिशस्य वा। समानजातीयस्य वोपजनः''[४] कि पद के तीन अर्थ हैं:- १. अतिरेक (पुनरुक्तता), २. बालिश, ३. समानजातीय (बन्धु)। प्रस्तुत स्थल पर आचार्य ने 'जामि' पद का अर्थनिर्देश मात्र किया है। उपर्युक्त के अतिरिक्त निघण्टु में 'जामि' पद 'अङ्गुलि' अर्थ में और परिगणित है।[५] इस ओर पता नहीं क्यों, यास्क का ध्यान नहीं गया है। इससे इस सन्देह की पुष्टि होती है कि निरुक्तकार और निघण्टुकार एक नहीं हैं।

(घ)''तद्यत्सामान्यामृचि समानाभिव्याहारं भवति तज्जामि भवतीत्येकम्।-------य देव समानपादे समानाभिव्याहारं भवति तज्जामि भवतीत्यपरम्''[६] कि प्रथम मत है कि वेद में जो पद एक ही मन्त्र में समानार्थक होता है, वह पुनरुक्त (जामि) होता है।-------- दूसरा मत है कि जो पद मन्त्र में एक ही पाद में समानार्थक होता है, वह पुनरुक्त (जामि) है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'जामि' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''जामि (उदकम्)। जमतेर्गतिकर्मणः। जमति गच्छति निम्नप्रदेशं गम्यते वा जलार्थिभिः''**[७] कि निम्न प्रदेश की ओर गमन करता है या जलार्थियों के द्वारा ले जाया जाता है, अतः, उदक को 'जामि' कहा जाता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'जम्' धातु से औणादिक 'इञ्' प्रत्यय होकर 'जामि' रूप सिद्ध होता है।

(ख)''यद्वा, 'जनी' प्रादुर्भावे'। जायतेऽस्मात् पृथिव्यादि, जायते वा स्वकारणात्''[८] कि इससे पृथिवी आदि उत्पन्न होती हैं अथवा यह अपने कारण से उत्पन्न होता है, अतः, उदक 'जामि' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'जन्' धातु से औणादिक 'इण्' प्रत्यय होकर 'जामि' पद उपपन्न होता है।

---

१ निघ० १.१२.२८.

२ निरु० ३.६.

३ निरु० ३.६.

४ निरु० ४.२०.

५ निघ० २.५.१४.

६ निरु० १०.१६.

७ निघ०वृ०, १.१२.२८.

८ निघ०वृ०, १.१२.२८.

उणादिकोष के अनुसार 'या' धातु से 'मि' प्रत्यय तथा धातु के आदि वर्ण 'य' के स्थान पर 'जकार' आदेश होकर 'जामि' रूप उपपन्न होता है। तदनुसार निर्वचन निम्न है:-"**याति प्रापयतीति कार्याणि यामि:=जामि:।**"[१] लेकिन वेद से प्राप्त सङ्केत 'जामि' पद का मूल 'जन्' धातु सिद्ध करते हैं।[२]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'जामि' को स्वसृ का विशेषण तथा बन्धुवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है, लेकिन वह 'जन्' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना व्यक्त करता है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'जामि' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स भी 'जामि' पद के मूल का उल्लेख नहीं करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद भाई-बहिन के समान बन्धुत्व (सजातीयता) को बतलाता है।[५] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि इसका मूलस्वरूप भारोपीय भाषा में 'gem' 'विवाह करना' तथा ग्रीक में 'gameo' 'विवाह करना' है। उनके अनुसार तुलनात्मक भाषाविज्ञान के पर्याप्त विकास तथा वैदिक ग्रन्थों के शोध के अभाव में उक्त निर्वचन के विषय में अभी कुछ कहना सम्भव नहीं है।[६] वैदिक साहित्य में 'जामि' पद का पर्याप्त उल्लेख पाया जाता है। ऋग्वेद में मेधातिथि काण्व ऋषि कहते हैं कि अध्वर की इच्छा रखने वाले मातृस्थानीय, बार-बार जन्म लेने वाले (जामय:) मधुरगुणयुक्त उदक का स्पर्श करते हुए देवयजन मार्गों से जाते हैं।[७] आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि अग्नि को अत्यन्त मानयुक्त, पालक तथा साथ निवास करने वाला और बन्धु (जामि) बतलाते हैं।[८] पराशर ऋषि कहते हैं कि यह अग्नि स्यन्दनशील उदकों का बन्धु अथवा यही नदियों का जल है, जिस प्रकार बहिनों का भाई हितकारी या आत्मीय होता है, उसी प्रकार यह अग्नि भी नदियों का बन्धु है।[९] राहूगण गोतम ऋषि अग्नि को उदक के समान प्रिय मित्र के रूप में उल्लेख करते हैं।[१०] वत्स ऋषि कहते हैं कि स्तोताओं ने स्तोत्रों के द्वारा इन्द्र को यज्ञ का साधयिता बनाया। उस समय उदक को आयुध कहा जाता है।[११] हर्यत प्रागाथ ऋषि कहते हैं कि अन्नादि को उत्पन्न करने वाला अग्नि उदक को तपाता है, तब वह अन्तरिक्ष में पहुँचता है। उसके पश्चात् अपनी ज्वाला से इस मेघ का वध करता है।[१२] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि वे अपना निवास स्थान जानते हुए उदकों

---

१ उणा०, ४.४४.

२ ऋ० १.७५.३. "कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाश्वध्वर:।" ऋ० १.७५.४. "त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रिय:।"

३ वै०पद०कोष, पृ० १३६६.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० २११.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ४१९.

६ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ७७.

७ ऋ० १.२३.१६. "अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चतीर्मधुना पय:।"

८ ऋ० १.३१.१०. "त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नस्त्वं वयस्कृत्तव जामयो वयम्।"

९ ऋ० १.६५.४. "जामि: सिन्धूनां भ्रातेव स्वस्रामिभ्यान्न राजा वनान्यत्ति।"

१० ऋ० १.७५.४. "त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रिय:।"

११ ऋ० ८.६.३. "कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम्। जामि ब्रुवत आयुधम्।"

१२ ऋ० ८.७२.४. "जाम्यतीतपे धनुर्वयोधा अरुहद्वनम्। दृषदं जिह्वयावधीत्।"

के साथ गमन करते हैं, जिस प्रकार बछड़े अपनी माताओं के साथ गमन करते हैं।[१] त्रिशिर ऋषि कहते हैं कि द्यावापृथिवी की उपस्थ में विद्यमान रहता हुआ अग्नि जामि कहा जाता हुआ बाद में यही आयुधत्व को प्राप्त करता है।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'जामि' है, जिसका बार-बार जन्म और जो देवयजन मार्गों से गमन करता है, यह उदक अग्नि का बन्धु अर्थात् पिता से पुत्र के समान इसका अग्नि से जन्म होता है, जिस प्रकार भाई बहिन का बन्धु है, उसी प्रकार ये उदक नदी के बन्धु हैं, अग्नि उत्पन्न होने वाले प्राणियों का उदक के समान प्रिय मित्र है, जिस समय स्तोता इन्द्र को यज्ञ का साधयिता बनाते हैं, उस समय उदक आयुध कहा जाता है, अग्नि से तपाये जाने पर उदक अन्तरिक्ष में पहुँचता है, जिस प्रकार बछड़े अपनी माँ के साथ गमन करते हैं, उसी प्रकार उदक अग्नि या अग्नि उदकों के साथ गमन करते हैं। इसके अतिरिक्त ऋषि स्पष्टरूप से कहता है कि जामि कहा जाता हुआ यह बाद में आयुध कहा जाता है। कहने का आशय यह प्रतीत होता है कि उदक से वाष्प बनने की प्रक्रिया जामि है तथा उस जामि (वाष्परूप जल) से पुनः वर्षा के रूप में पृथिवी पर आने की प्रक्रिया आयुध है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह उदक 'जामि' है, जो पुनः उत्पन्न होने के लिये वाष्पीकरण की प्रक्रिया से होकर यात्रा करता है। इस दृष्टि से 'जन्' धातु को स्वाभाविक रूप से 'जामि' पद का मूल माना जा सकता है।

२९. आयुधानि

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'आयुध' पद परिगणित है।[३] आचार्य यास्क 'आयुध' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''आयुधमायोधनात्''**[४] कि युद्ध में सहायक होने के कारण यह आयुध कहा जाता है। इस पक्ष में 'आ+'युध्' से 'आयुध' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'आयुध' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''आयुधानि (उदकम्)। 'युध' सम्प्रहारे'। आयुध्यत्यनेनायुधम्''**[५] कि इससे युद्ध किया जाता है, इसलिये ये 'आयुध' कहे जाते हैं। इस पक्ष में 'आ+'युध्'+क' से 'आयुध' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा, आयुध्यते सम्प्रहरति रक्षांसि''[६] कि राक्षसों का सम्प्रहार करता है, अतः, यह 'आयुध' कहा जाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है। वेद से प्राप्त सङ्केत भी 'आयुध' पद को 'युध्' धातुमूलक सिद्ध करते हैं।[७]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष व्युत्पत्ति सन्दिग्ध मानते हुए 'युध्' धातु से 'आयुध' पद के व्युत्पन्न होने की

---

१ ऋ० ८.७२.१४. ''ते जानत स्वमोक्यं३ सं वत्सासो न मातृभिः। मिथो नसन्त जामिभिः।''

२ ऋ० १०.८.७. ''सचस्यमानः पित्रोरुपस्थे जामि ब्रुवाण आयुधानि वेति।''

३ निघ० १.१२.२९.

४ निरु० १०.६.

५ निघ०वृ०, १.१२.२९.

६ निघ०वृ०, १.१२.२९.

७ ऋ० १.६१.१३. ''युधे यदिष्णान आयुधान्यृघायमाणो निरिणाति शत्रून्।''

सम्भावना व्यक्त करता है। पदपाठकार ने भी उक्तपद का विग्रह नहीं किया है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'आयुध' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स के मत में 'आयुध' पद की व्युत्पत्ति 'आ+'युध्' से होती है। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं वाजसनेयि-संहिता में उक्तपद अस्त्र-शस्त्र के अर्थ में आया है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि 'आयुध' में 'आ' की अन्विति भारोपीय भाषा में ê और Ô निकट अर्थ में, ग्रीक में 'eyhèlo' स्वतन्त्र होने अर्थ में है। जबकि 'युध्' धातु भारोपीय भाषा में 'iudh' विश्रामहीन क्रिया के अर्थ में तथा लिथुआनियन में 'judeti' काँपते हुए आगे बढ़ने के अर्थ में है। डॉ. वर्मा उक्त यास्कीय निर्वचन को तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकरणीय मानते हैं।[४]

वैदिक साहित्य में 'आयुध' पद का अनेक स्थानों पर प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि इन्द्र आयुधों (उदकों) को प्रेरित करता हुआ शत्रुओं की हिंसा करता है।[५] घोरपुत्र कण्व ऋषि कहते हैं कि मरुतों के आयुध स्थिर, शत्रुओं को दूर हटाने वाले एवं उनके प्रतिबन्धक हों।[६] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि इन्द्र के वज्र, रथ, अश्व और आयुध- ये सब वर्षा करने वाले हैं।[७] वामदेव ऋषि कहते हैं कि प्रेरक सूर्य के समीप विस्तार को धारण करने पर इन्द्र का अविनाशी रूप और अधिक भासमान होता है। जिस प्रकार गजराज दूसरों के बल को दहन करता हुआ आयुधों को धारण करके सिंह के समान भयङ्कर हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्र आयुधों (उदकों) को धारण करके भयङ्कर हो जाते हैं।[८] बभ्रु ऋषि कहते हैं कि नष्ट होने के स्वभाव वाला मेघ (दास) गर्भ में उदकों (आयुधानि) को धारण करता है और इन्द्र सोचता है कि ये निर्बल सेना मेरा क्या कर लेगी। इसलिये इस मेघ (दास) के घर में दो धेनुयें स्थापित कर देता है।[९] श्यावाश्व ऋषि कहते हैं कि मरुतों ने अपने सिर पर हिरण्यमय उष्णीष आदि, रथों पर आयुधों तथा शरीरों पर कान्ति को धारण किया।[१०] शंयु बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि बल से उत्पन्न होता हुआ सोम इन्द्र के सायुज्य से स्तुति करने योग्य व्यवहार एवं पिता के आयुधों को स्थिर तथा अमङ्गलकारी माया का अपहरण करता है।[११] शतप्रभेदन वैरूप ऋषि कहते हैं कि युद्ध के लिये उदकों को धारण करता हुआ इन्द्र मारने योग्य

---

१ वै०पद०कोष, पृ० ६८५.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ९८.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १४९.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ४१.

५ ऋ० १.६१.१३. ''युधे यदिष्णान आयुधान्यृधायमाणो निरिणाति शत्रून्।''

६ ऋ० १.३९.२. ''स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।''

७ ऋ० २.१६.१६. ''वृषा ते वज्र उत ते वृषा रथो वृषणा हरी वृषभाण्यायुधा।''

८ ऋ० ४.१६.१४. ''सूर उपाके तन्वं१ दधानो वि यत्ते चेत्यमृतस्य वर्पः। मृगो न हस्ती तविषीमुषाणः सिंहो न भीम आयुधानि बिभ्रत्।''

९ ऋ० ५.३०.९. ''स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेनाः। अन्तर्ह्यख्यदुभे अस्य धेने ....।''

१० ऋ० ५.५७.६. ''नृम्णा शीर्षस्वायुधा रथेषु वो विश्वाः वः श्रीरधि तनूषु पिपिशे।''

११ ऋ० ६.४४.२२. ''अयं देवः सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तभायत्। अयं स्वस्य पितुरायुधानीन्दुरमुष्णादशिवस्य मायाः।''

वृत्र के सम्मुख स्थित होता है, यह सब ज्ञान के लिये है।[१] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि जिसका परिपक्व मेघ ही दृढ़ धनुष है, वृष्टिधारा जिसके शीघ्रगामी बाण हैं, जो जल प्रदाता और अन्यों से अजेय है, वृष्टिकर्ता और विद्युत्रूपी तीक्ष्ण आयुधों से युक्त है, उस रुद्र की स्तुति हम लोग सुनें।[२] वत्स ऋषि कहते हैं कि स्तोताओं ने स्तोत्रों के द्वारा इन्द्र को यज्ञ का साधयिता बनाया, उस समय उदक को आयुध कहा जाता है।[३] त्रिशिर ऋषि कहते हैं कि द्यावापृथिवी की उपस्थ में विद्यमान अग्नि जामि कहा जाता हुआ बाद में यही आयुधत्व को प्राप्त करता है।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'आयुध' है, जिसे इन्द्र शत्रुओं से युद्ध के समय वर्षा के लिये प्रेरित करता है, मरुद्गण इन आयुधों (उदकों) को स्थिर करते हैं, ऋषि स्पष्टरूप से इन्द्र वज्र, रथ, अश्व और आयुध– इन सबको वृषभ नाम से अभिहित करता है अर्थात् ये सब कामनाओं की वर्षा करने वाले हैं। इसके अतिरिक्त आयुधों (उदकों) से युक्त होने पर इन्द्र भयङ्कर हो जाता है, मेघ (दास) इन आयुधों को अपने गर्भ में धारण करता है तथा इन्द्र मेघ में दो धेनुयें स्थापित करता है। ऐतरेय आरण्यक के अनुसार तृप्ति देने के कारण उदक ही धेनुएँ हैं।[५] इस प्रकार पूर्वतः स्थापित उदकों में शीघ्र वर्षा के निमित्त भौतिक परिवर्तन के दो हेतुओं को इन्द्र के द्वारा स्थापित होने वाला बतलाया गया है। ऋषि प्रतिपादित करता है कि मरुत् अपने रथ पर आयुधों को स्थापित करते हैं, सोम अपने पिता इन्द्र के आयुधों को स्थिर करता है। एक मन्त्र में ऋषि स्पष्ट करता है कि युद्ध के लिये उदकों को धारण करने वाला इन्द्र मारने योग्य वृत्र के सम्मुख स्थित होता है, यह ज्ञान के लिये है अर्थात् इसका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त ऋषि कहता है कि इन्द्र के साधयिता होने पर जामि (उदक) को आयुध कहा जाता है, द्यावापृथिवी के उपस्थ में विद्यमान अग्नि जामि कहा जाता हुआ बाद में आयुधत्व को प्राप्त करता है। कहने का आशय यह प्रतीत होता है कि उदक से वाष्प बनने की प्रक्रिया जामि है तथा उस जामि (वाष्परूप जल) से पुनः वर्षा के रूप में पृथिवी पर आने की प्रक्रिया को वेद आयुध नाम से कह रहा है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि अन्तरिक्ष से आने वाली वर्षा कई बार ऐसी प्रतीत होती है कि जैसे कि अन्तरिक्ष से बाण बरस रहे हों। सम्भवतः, वेद का ऋषि वर्षा जल के उक्त रूप का निरूपण करने के लिये उसे 'आयुध' नाम से अभिहित कर रहा है। सामान्यतया लोक और वेद दोनों स्थानों पर 'आयुध' शब्द 'अस्त्रशस्त्र' की प्रतीति कराता है। पर यहाँ वेद का ऋषि उदक के ऐसे रूप की चर्चा कर रहा है, जो शरीर को बाण के समान व्यथित कर देता है। इस दृष्टि से 'आ+'युध्' को निर्विवाद रूप से 'आयुध' पद का मूल माना जा सकता है।

---

१ ऋ० १०.११३.३. ''वृत्रेण यदहिना बिभ्रदायुधा समस्थिथा युधये शंसमाविदे।''

२ ऋ० ७.४६.१. ''इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने। अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः।''

३ ऋ० ८.६.३. ''कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम्। जामि ब्रुवत आयुधम्।''

४ ऋ० १०.८.७. ''सचस्यमानः पित्रोरुपस्थे जामि ब्रुवाण आयुधानि वेति।''

५ ऐ०आ०, १.३.५. 'आपो वाव धेनवस्ता हीदं सर्वं धिन्वन्ति।''

३०. क्षपः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'क्षपः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'क्षपः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**क्षपः (उदकम्)। 'क्षप' प्रेरणे'। क्षिपयति प्रेरयति नाशयति पिपासाम्**"[२] कि पिपासा का नाश करने के कारण उदक को 'क्षपः' कहते हैं। इस पक्ष में प्रेरणार्थक 'क्षप्' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'क्षपः' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'क्षपः' पद को रात्रिवाचक स्त्रीलिङ्ग नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद 'क्षप्' धातु से व्युत्पन्न होता है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'क्षपः' पद का मूल 'क्षप्' धातु को मानती है।[४] मोनियर विलियम्स भी 'क्षपः' पद को 'क्षप्' धातु से व्युत्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में उक्तपद रात्रि और अन्धकार के अर्थ में आया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में यह सम्पूर्ण दिवस और रात्रि के २४ घण्टे के समय के माप के लिये भी प्रयुक्त हुआ है।[५]

वैदिक साहित्य में 'क्षपः' पद का प्रयोग व्यापक रूप से पाया जाता है। लेकिन उदकवाचक 'क्षपः' पद के दर्शन प्रायः नहीं होते हैं। आचार्य सायण तथा महर्षि दयानन्द जैसे मनीषी 'क्षपः' के उदकवाचक अर्थ को ग्रहण नहीं करते हैं। सभी व्याख्याकारों ने सर्वसम्मति से 'क्षपः' को रात्रि वाचक मानकर व्याख्यान किया है। आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'क्षपः' शब्द के विवेचन के प्रसङ्ग में निम्नलिखित मन्त्र को उद्धृत करते हैं:- 'ऋग्वेद में गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि मेघ का ज्ञान रखने वाले मरुद्गण अपने बल से सिञ्चन में समर्थ विद्युत् युक्त वायुओं के द्वारा आलोडित करते हुए उदक से सम्पूर्ण जगत् को तृप्त करते हैं और एक साथ पहुँच जाते हैं।[६] पर यहाँ 'क्षपः' का अर्थ 'रात्रि' भी लिया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में प्रायः 'क्षपः' पद का 'उस्र' (दिवस) के साथ उल्लेख प्राप्त होता है।[७] अनेक स्थानों पर उषस् देवता के प्रकरण में भी 'क्षपः' पद आया है।[८] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्वाभाविक रूप से 'क्षपः' पद 'रात्रि' अर्थ का वाचक है, लेकिन प्रयास से किसी एकाध स्थान पर 'उदक' अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है। अतः, प्राप्त वैदिक साहित्य के आधार पर कहा जा सकता है कि 'क्षपः' पद उदकवाचक नहीं है। अतः, देवराजयज्वन् कृत निर्वचन काल्पनिक है। इसके अतिरिक्त उक्त मन्त्रों में उक्त शब्द से निःसन्दिग्ध रूप से उदक अर्थ की प्रतीति नहीं करायी जा सकती है।

---

१ निघ० १.१२.३०.

२ निघ०वृ०, १.१२.३०.

३ वै०पद०कोष, पृ० ११८७.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० १८०.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ३२६.

६ ऋ० १.६४.८. "क्षपो जिन्वतः पृषतीभिर्ऋष्टिभिः समित्सबाधः शवसाहिमन्यवः।"

७ ऋ० १.४४.८; ११६.४; ४.१६.१९; ६.५२.१५. ७.१५.८; ८.४१.३.

८ ऋ० ८.१९.३१.

३१. अहि:

निघण्टुकोष के मेघवाचक नामपदों में 'अहि' पद परिगणित है।[१] शतपथ-ब्राह्मण 'अहि' का निर्वचन करता हुआ कहता है:-''**अथ (वृत्र:) यदपात्समभवत् तस्मादहि:**''[२] कि इसके अनन्तर जो उदकपान करने से उत्पन्न हुआ, इसलिये उसे 'अहि' कहते हैं। इस पक्ष में 'अपात्' से 'अहि' शब्द निष्पन्न होता है।

जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है:-''**अथ यद् (श्वित्र आङ्गिरस: स्वर्गाल्लोकात्) अहीयत तदहीनामहित्वम्**''[३] कि श्वित्र आङ्गिरस स्वर्गलोक से अलग हुए या उससे ऊपर उठ गये, यह अहि का अहित्व है। इस पक्ष में त्यागार्थक 'हा' अथवा गति-वृद्धि अर्थ वाली 'हि' धातु से 'अहि' रूप निष्पन्न होता है। ऐतरेय-ब्राह्मण कहता है:-''**अहीनानि वा एतान्यहानि न ह्येषु किञ्चन हीयते**''[४] कि ये दिवस अहीन हैं, क्योंकि इनमें कुछ भी न्यून नहीं होता है। इस पक्ष में 'न+'हा' त्यागे' धातु से 'अहि' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य यास्क 'अहि' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अहिरयनात्। एत्यन्तरिक्षे**''[५] कि मेघ अन्तरिक्ष में गमन करता है, अत:, उसे 'अहि' कहते हैं। इस पक्ष में गत्यर्थक 'इण्' धातु से 'इन्' प्रत्यय होकर 'अयि' और उससे 'अहि' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'अहि' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अहि: (उदकम्)। गच्छति निम्नप्रदेशम्**''[६] कि यह निम्नप्रदेश की ओर जाता है, अत:, उदक को 'अहि' कहते हैं। इस पक्ष में 'इण्' गतौ' धातु से औणादिक 'इन्' प्रत्यय होकर 'अहि' रूप सिद्ध होता है।

(ख)''यद्वा, आभिमुख्येन हन्ति तापम्''[७] कि यह मुख्य रूप से ताप का हनन करता है, अत:, उदक को 'अहि' कहते हैं। इस पक्ष में 'आ+'हन्' से 'अहि' रूप निष्पन्न होता है।

(ग)''अहिंसकं वा प्राणिनाम्''[८] कि प्राणियों की हिंसा न करने के कारण उदक को 'अहि' कहा जाता है। इस पक्ष में 'न+'हन्' से 'अहि' पद निष्पन्न होता है।

वेद में अनेकश: 'हन्' धातु से 'अहि' पद के व्युत्पन्न होने के सङ्केत प्राप्त होते हैं।[९] वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अहि' पद को सर्प, वृत्र और मेघवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[१०] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अहि' को अव्युत्पन्न मानती है।[११] मोनियर विलियम्स

---

१ निघ० १.१२.३१.

२ शत०ब्रा०, १.६.३.९.

३ जै०ब्रा०, ३.७७.

४ ऐ०ब्रा०, ६.१८.

५ निरु० २.१७.

६ निघ०वृ०, १.१२.३०.

७ निघ०वृ०, १.१२.३०.

८ निघ०वृ०, १.१२.३०.

९ ऋ० १.३२.१, ४, ८०.१३, १०३.२, २.११.५, १२.३, ११, १५.१, १९.१, २८.१, ५.२९.३, ८, ३१.४, ६.७२.३.

१० वै०पद०कोष, पृ० ६५८.

११ ऋ०वै०पद०, पृ० ८५.

'अह्' धातु को 'अहि' शब्द का मूल स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'अहि' का अर्थ सर्प, आकाश का सर्प, वृत्रासुर है।[१] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि भारोपीय भाषा में 'angu̯(h)i' सर्प अर्थ में तथा लिथुआनियन में 'angis' सर्प अर्थ में है। वे यास्क के उक्त निर्वचन को असङ्गत मानते हैं।[२] लेकिन डॉ. वर्मा यास्क के निर्वचन को समझने में असफल रहे हैं। इसका कारण यह है कि यास्क के मत में 'अहि' का मूल 'इण्' धातु है, जबकि डॉ. वर्मा 'इ'+आ+'हन्' मान रहे हैं। इसलिये निर्वचन के सम्बन्ध में निकाला गया उनका निष्कर्ष भ्रामक है।

वैदिक साहित्य में 'अहि' का बहुत प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं कि इन्द्र ने अहि (मेघ) को मारकर उदक को निकल जाने दिया और पर्वतों (मेघों) की नदियों का भेदन किया।[३] आगे वे कहते हैं कि इन्द्र ने अहि का वध करने के पश्चात् असुरों की माया को नष्ट किया।[४] एक अन्य मन्त्र में वे कहते हैं कि पर्वत पर आश्रय लेने वाले अहि का इन्द्र ने वध किया और त्वष्टा (सूर्य) ने इसके लिये गर्जना करने वाले वज्र का निर्माण किया।[५] अहि को मारने की प्रक्रिया को बतलाते हुए ऋषि आगे कहते हैं कि जिस प्रकार कोई कुलिश (कुल्हाड़ी) से शाखाओं को काटकर वृक्ष को धराशायी कर देता है, उसी प्रकार इन्द्र ने अहि के खण्ड-खण्ड कर दिये और अब वह पृथ्वी पर पड़ा हुआ है।[६] इसी क्रम में वे आगे कहते हैं कि जिन उदकों में वृत्र अपनी महिमा से प्रतिष्ठित था, उन्हीं उदकों के चरणों में अब वह अहि (मेघ) सोया हुआ है।[७] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि इन्द्र ने जब बल से आवृत करने वाले (वृत्र) एवं आहन्ता (अहि) मेघ का वध किया, तब सूर्य द्युलोक में दिखायी दिया।[८] रहूगणपुत्र गोतम कहते हैं कि सुवर्ण सदृश केशों वाला एवं शीघ्रगामी अग्नि (विद्युत्) उदक के निरसन काल में वायु के समान अहि को कम्पित कर देता है। ऋषि कहता है कि इस विज्ञान को उषा नहीं जानती है, इसको जानने वाला केवल अग्नि है।[९] एक अन्य मन्त्र में रहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि स्वराज्य की स्थापना करता हुआ बलवान् एवं वज्रवाला इन्द्र अपने ओज से पृथिवी के अहि (मेघ) को पूरी तरह से दूर कर देता है।[१०] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि जब वृत्र ने अशनि तथा इन्द्र ने वज्र से युद्ध किया, उस समय अहि को मारने की इच्छा वाले इन्द्र का बल द्युलोक में व्याप्त था।[११] आङ्गिरस कुत्स ऋषि इन्द्र का स्तवन करते हुए कहते हैं कि वह

---

१ संस्कृत-इंग्लिशकोष, पृ० १२५.

२ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ११८.

३ ऋ० १.३२.१. "अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम्।"

४ ऋ० १.३२.४. "यदिन्द्राहन्प्रथमजामहीनामान्मायिनामामिनाः प्रोत माया।"

५ ऋ० १.३२.२. "अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।"

६ ऋ० १.३२.५. "स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक्पृथिव्याः।"

७ ऋ० १.३२.८. "याश्चिद्वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत्तासामहिः पत्सुतःशीर्बभूव।"

८ ऋ० १.५१.४. "वृत्रं यदिन्द्र शवसावधीरहिमादित्सूर्यं दिव्यारोहयो दृशे।"

९ ऋ० १.७९.१. "हिरण्यकेशो रजसो विसारेऽहिर्धुनिर्वात इव ध्रजीमान्।"

१० ऋ० १.८०.१. "शविष्ठ वज्रमोजसा पृथिव्या निः शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम्।"

११ ऋ० १.८०.१३. "यद्वृत्रं तव चाशनिं वज्रेण समयोधयः। अहिमिन्द्र जिघांसतो दिवि ते बद्बधे शवोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्।"

इन्द्र पृथ्वी को धारण एवं विस्तीर्ण करता है। इसके अतिरिक्त वज्र के प्रहार से वह उदक को बाहर निकालता है। वह अहि का वध करता है तथा रोहिणी नक्षत्र में होने वाले मेघ का भेदन करता है और वह मघवा अपने कर्मों से उसको कबन्ध (धड़) से अलग करता है अर्थात् उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों का छेदन करता है।[१] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि हमारे लिये अन्तरिक्षस्थ मेघ सुख देने वाला हो और हमको रस से तृप्त करती हुई नदी उसी प्रकार हमारी ओर आये, जिस प्रकार दुग्धपान कराने के लिये गौ वत्स के पास आती है।[२] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि उदक पी लेने के कारण वृत्र अहि कहा जाता है, उस (अहि) को दनु और दनायु ने माता-पिता के समान ग्रहण कर लिया, इस कारण मेघ को 'दानव' कहा जाता है।[३] इस प्रकार ब्राह्मण के कथन का अभिप्राय यह है कि अवस्था के भेद से एक मेघ अनेक नाम वाला हो जाता है, आवृत कर देने से वह 'वृत्र', उदक का पान करने से वह 'अहि' एवं दनु तथा दनायु के सम्बन्ध से वह 'दानव' नाम से अभिहित होता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'अहि' है, जो सर्वप्रथम (सृष्ट्युत्पत्ति के समय) उत्पन्न होता है, इस मेघ के वध से माया का नाश और उदक प्रवाहित होता है, इस अहि का नाश करने के लिये त्वष्टा स्वयं वज्र का निर्माण करके इन्द्र को देता है, वध के उपरान्त यह अहि निगृहीत उदकों के चरणों में पड़ा सोया रहता है, वृत्र और अहि के वध के पश्चात् सूर्य द्युलोक में दिखायी देता है, अहि नामक मेघ से उदक निरसित करने की कला केवल अग्नि (विद्युत्) को ज्ञात है, उषा इस रहस्य से अनभिज्ञ है, इन्द्र अपनी शक्ति से अहि को खण्ड-खण्ड करके, उसे पृथ्वी से दूर भगा देता है।

उक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'अहि' पद स्पष्टरूप से उदक अर्थ में नहीं आया है। वह यहाँ सामान्यरूप से 'मेघ' अर्थ का प्रतिनिधित्व करता दिखायी देता है। इसलिये आचार्य देवराजयज्वन् अहि के उदकवाचक उदाहरण को अन्वेषणीय बतलाते हैं।[४] इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वर्तमान में उपलब्ध वैदिक और लौकिक साहित्य में 'अहि' पद उदक अर्थ का वाचक नहीं है। यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि जिस प्रकार मेघ को देखकर कह दिया जाता है कि पानी आ गया है, उसी प्रकार वैदिक काल में 'अहि' (ऐसा मेघ जिसका वध अर्थात् बरसना सुनिश्चित है, ऐसे अहि) नामक मेघ को देखकर यह मान लिया गया होगा कि यह अहि ही उदक है।

३२. अक्षरम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'अक्षरम्' पद परिगणित है।[५] जैमिनीयोपनिषद् में 'अक्षर'

---

१ ऋ० १.१०३.२. ''स धारयत्पृथिवीं पप्रथच्च वज्रेण हत्वा निरपः ससर्ज। अहन्नहिमभिनद्रौहिणं व्यहन्व्यंसं मघवा शचीभिः।''

२ ऋ० १.१८६.५. ''उत नोऽहिर्बुध्न्यो३ मयस्कः शिशुं न पिप्युषी वेति सिन्धुः।''

३ शत०ब्रा०, १.६.३.९ ''अथ (वृत्रः) यदपात्समभवत्तस्मादहिस्तं दनुश्च दनायुश्च मातेव पितेव च परिजगृहतुस्तस्मादानव इत्याहुः।''

४ निघ०वृ०, १.१२.३१.

५ निघ० १.१२.३२.

पद का निर्वचन करते हुए कहा गया है:-''**कतमत्तदक्षरमिति। यत् क्षरन्नाक्षीयतेति। इन्द्र इति**''[१] कि जो क्षरित होते हुए नष्ट नहीं होता है, वह इन्द्र अक्षर है। इस पक्ष में 'क्षर्' या 'क्षि' धातु से 'अक्षर' शब्द निष्पन्न होता है।

इस विषय में शतपथ-ब्राह्मण का अभिमत है:-''**तद्यदक्षरत्तस्मादक्षरम्**''[२] कि जो क्षरित हुआ, वह अक्षर है। इस पक्ष में 'क्षर्' धातु से 'अक्षर' शब्द निष्पन्न होता है। ऐसा ही कथन जैमिनीयोपनिषद् का है:- ''**यदक्षरदेव तस्मादक्षरम्**''[३] कि जो समस्त रूपों में क्षरित हुआ, वह अक्षर है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

एक अन्य स्थान पर जैमिनीयोपनिषद् कहती है:-''**यद्वेवाक्षरं नाक्षीयत तस्मादक्षयम्। अक्षयं ह वै नामैतत्। तदक्षरमिति परोक्षमाचक्षते**''[४] कि वह कभी क्षीण नहीं होता, इसलिये वह अक्षय है और इस (अक्षय) से परोक्ष में 'अक्षर' पद निष्पन्न होता है। इस पक्ष में 'न+'क्षि' क्षये' धातु से 'अक्षय' पद उपपन्न होता है।

'अक्षर' विवेचन करता हुआ ऐतरेय आरण्यक का ऋषि कहता है:-''**स (प्राण:) यदेभ्य: सर्वेभ्यो भूतेभ्य: क्षरति, न चैनमतिक्षरन्ति तस्मादक्षरम्**''[५] कि वह प्राण सभी भूतों से क्षरित होता है, परन्तु भूत इसे क्षरित नहीं होते, अत:, यह अक्षर कहलाता है। इस पक्ष में 'न+'क्षर्' धातु से 'अक्षर' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'अक्षर' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अक्षरं न क्षरति**''[६] कि जो कभी नष्ट नहीं होता है, वह अक्षर है। इस पक्ष में 'न+'क्षर्' से 'अक्षर' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''**न क्षीयते वा**''[७] कि जो कभी क्षीण नहीं होता है, वह 'अक्षर' है। इस पक्ष में 'न+'क्षि' क्षये' धातु से अक्षर पद उपपन्न होता है।

(ग)''**वाक्क्षयो भवति**''[८] कि नाद वर्णलक्षण वाली वाक् का निवासस्थान है, अत:, 'वाक्+क्षय' से अक्षर पद उपपन्न होता है।[९]

(घ)''**वाचोऽक्ष इति वा**''[१०] कि रथ के अक्ष के समान अनुप्रविष्ट होकर यह व्यञ्जन को धारण करता है।[११] अत:, यह अक्षर कहलाता है। इस पक्ष में 'अक्ष' शब्द से 'अक्षर' पद निष्पन्न होता है।

---

१ जै०उप०, १.१४.२.८.
२ शत०ब्रा०, ६.१.३.६.
३ जै०उप०, १.७.२.९.
४ जै०उप०, १.७.२.२.
५ ऐ०आ०, २.२.२.
६ निरु० १३.१२.
७ निरु० १३.१२.
८ निरु० १३.१२.
९ निरुक्त, दुर्गवृत्ति, १३.१२.
१० निरु० १३.१२.
११ निरुक्त, दुर्गवृत्ति, १३.१२.

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'अक्षरम्' शब्द का निम्न निर्वचन प्रस्तुत करते हैं:-"**अक्षरम् (उदकम्)। अश्नुते व्याप्नोति जगत्**"[१] कि यह उदक जगत् को व्याप्त करता है, अतः, यह अक्षर कहलाता है। इस पक्ष में 'अश्' धातु से 'सरन्' प्रत्यय होकर 'अक्षर' पद उपपन्न होता है। उणादिकोष इसी प्रकार 'अक्षर' पद को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[२]

(ख)"यद्वा अश्यते भुज्यते वा प्राणिभि:"[३] कि उदक का प्राणियों के द्वारा भोग किया जाता है, अतः, उदक को 'अक्षर' कहते हैं। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

(ग)"अनक्ति सेचयति भूमिं वा"[४] कि यह उदक भूमि को सिञ्चित करता है, अतः, उदक को 'अक्षर' कहते हैं। इस पक्ष में 'अञ्ज्' धातु से 'सरन्' प्रत्यय होकर 'अक्षर' पद निष्पन्न होता है।

(घ)"न क्षरति क्षीयते कदाचिदपि वा"[५] कि यह कभी भी नष्ट नहीं होता है, अतः, उदक को 'अक्षर' कहते हैं। इस पक्ष में 'न+'क्षर्' से 'अक्षर' पद निष्पन्न होता है।

उणादिकोष के व्याख्याकार 'अक्षर' पद का निर्वचन निम्न प्रकार करते हैं:-"**अश्नुते व्याप्नोतीति अक्षरम्, ब्रह्म वर्णो मोक्षं उदकं वा**"[६] कि व्यापनशील होने के कारण ब्रह्म, वर्ण, मोक्ष और उदक 'अक्षर' नाम से अभिहित होते हैं। इस पक्ष में 'अश्'+सरन्' से 'अक्षरम्' पद उपपन्न होता है।

वेद से प्राप्त सङ्केत भी 'क्षर्' धातु को 'अक्षर' पद का मूल सिद्ध करते हैं।[७] वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अक्षर' पद को 'अश्' अथवा 'अक्ष्' व्याप्तौ' धातु से व्युत्पन्न मानता है।[८] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स 'अक्षर' पद का मूल 'अक्ष' व्याप्तौ' धातु को मानते हैं।[९] मोनियर विलियम्स के अनुसार अक्षर पद का अर्थ अविनाशी, अपरिवर्तनीय है।[१०] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का मत है कि अक्षर अविनाशी है, यह दार्शनिक सङ्कल्पना जनसाधारण की समझ से परे है। अतः, वाणी का अक्ष (धुरा) अर्थात् मुख्य आधार होने से यह अक्षर कहलाता है, यह निर्वचन उचित है। वे उक्त निर्वचनों को सन्दूषित वर्ग में रखते हैं।[११]

वैदिक साहित्य में 'अक्षर' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है, लेकिन प्रायः सर्वत्र यहाँ यह वाक्, परमात्मा आदि के अर्थ में आया है। उदक अर्थ के उदाहरण नगण्य हैं। ऋग्वेद में केवल एक स्थान पर

---

१ निघ०वृ०, १.१२.३२.
२ उणा०, ३.७०. 'अशेः सरन्।"
३ निघ०वृ०, १.१२.३२.
४ निघ०वृ०, १.१२.३२.
५ निघ०वृ०, १.१२.३२.
६ उणा०, ३.७०.
७ ऋ० १.६४.४२; अथर्व०, १३.१.४२.
८ वै०पद०कोष, पृ० १४.
९ ऋ०वै०पद०, पृ० ०४.
१० संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ०३.
११ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ३३.

'अक्षर' पद उदक के अर्थ में आया दिखलायी देता है। दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि वृष्टि के द्वारा उदक को उत्पन्न करती हुई विद्युत् सस्यादि का निर्माण करती है। यह विद्युत् माध्यमिक देव के साथ उत्पन्न होने से एकपदी, माध्यमिक और आदित्य के साथ रहने से द्विपदी, चारों दिशाओं में रहने से चतुष्पदी, चारों दिशाओं एवं चारों उपदिशाओं में रहने से अष्टापदी तथा चार दिशा, चार उपदिशा एवं आदित्य के साथ रहने से नवपदी कही जाती है। इस प्रकार विद्यमान रहती हुई यह विद्युत् उत्कृष्ट सर्वगत आकाश में प्रभूत उदक (सहस्राक्षरा) को धारण करती है।[१] एक अन्य मन्त्र में दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि उस माध्यमिका वाणी के प्रभाव से वृष्ट्युदक से क्लिन्न मेघ (समुद्राः) प्रभूत उदक को विविध प्रकार से क्षरित करते हैं। उस वर्षा से चारों दिशाओं एवं विदिशाओं में रहने वाले प्राणी जीवन धारण करते हैं। उसके पश्चात् वह उदक सस्यादिक को उत्पन्न करता है और उस सस्य को भक्षण करके सम्पूर्ण संसार जीवन धारण करता है।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'अक्षर' है, जिसके क्षरण से चारों दिशायें जी उठती हैं और इसके कारण सम्पूर्ण संसार जीवित रहता है। इस दृष्टि से 'अक्षर' पद का 'न+'क्षर्' मूलक निर्वचन सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि 'अक्षर' पद का अर्थ है कि जो नष्ट न होता हो। उदक स्वयं तो नष्ट नहीं होता है, इसके अतिरिक्त इसका पान करने वाले प्राणी भी नष्ट अर्थात् पिपासा से प्राणों का परित्याग नहीं करते हैं। इसके अतिरिक्त उदक जीवन का अक्ष (धुरा या आधार) होने से भी 'अक्षर' नाम का अधिकारी है। इस दृष्टि से 'अक्ष' शब्द को 'अक्षर' पद का मूल माना जा सकता है।

३३. स्रोतः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'स्रोतः' पद परिगणित है।[३] आचार्य देवराजयज्वन् 'स्रोतः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**स्रोतः (उदकम्)। 'स्रु' गतौ'। स्रवति निम्नं देशम्**"[४] कि यह निम्न प्रदेश की ओर गमन करता है, अतः, उदक को 'स्रोतः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'स्रु' गतौ' धातु से 'तुट्' का आगम तथा 'असुन्' प्रत्यय होकर 'स्रोतः' पद निष्पन्न होता है। यह व्युत्पत्ति उणादिकोष सम्मत है।[५]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'स्रोतः' पद को 'स्रु' धातु से व्युत्पन्न मानता है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची ने भी 'स्रोतः' पद को 'स्रु' धातु से व्युत्पन्न माना है।[७] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में उक्तपद प्रवाह, नदी का तल, नदी की धारा के अर्थ में आया है।[८]

---

१ ऋ० १.१६४.४१. "गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी। अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्।"

२ ऋ० १.१६४.४२. "तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः। ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुपजीवति।"

३ निघ० १.१२.३३.

४ निघ०वृ०, १.१२.३३.

५ उणा०, ४.२०३. "स्रुरीभ्यां तुट् च।"

६ वै०पद०कोष, पृ० ३५०९.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० ५९७.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १२७४.

वैदिक साहित्य में उक्तपद का अत्यल्प प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में 'स्रोतः' पद केवल दो बार आया है। आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि इन्द्र ने गमनशील मेघों से प्रवाहरूप (स्रोतसा) में जलों को बाहर निकाला तथा शोषक असुर के बढ़े हुए निवास स्थानों को बरसने के लिये प्रेरित किया।[१] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि यह अग्नि अन्तरिक्ष में गमनशील उदक समूह को प्रवाहमय (स्रोतः) बनाता है और निर्मल उदक समूहों से भूमि को अभिव्यास करता है अर्थात् अपने तेज से अन्तरिक्ष में उदकसमूह का निर्माण करके वह सम्पूर्ण भूमि पर वर्षा करता है।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'स्रोतः' है, जो मेघों से प्रवाहरूप में बाहर आता है। इस प्रकार वेद में 'स्रोतः' पद का अर्थ 'प्रवाह' है। इस दृष्टि से 'स्रु' गतौ' धातु को निर्विवाद रूप से 'स्रोतः' पद का मूल माना जा सकता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि 'स्रोतः' पद प्रत्यक्षरूप से उदक अर्थ का अभिधायक नहीं है, पर प्रवहणशीलता मुख्यरूप से उदक में पायी जाती है, अतः, निघण्टुकार 'स्रोतः' पद को उदकवाचक नामपदों में परिगणित करते हैं।

३४. तृप्तिः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'तृप्तिः' पद परिगणित है।[३] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'तृप्तिः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**तृप्तिः' (उदकम्)। 'तृप' प्रेरणे'। तृप्यन्ति हि देवतास्तेन तर्पिताः, तृप्यन्ति तेन पीतेन प्राणिन इति वा**''[४] कि इससे तर्पित किये जाने पर देवता या इसके पान से प्राणी तृप्त होते हैं, अतः, उदक को 'तृप्ति' कहा जाता है। इस पक्ष में 'तृप्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय होकर 'तृप्ति' पद उपपन्न होता है। वेद से प्राप्त सङ्केत भी उक्त व्युत्पत्ति का समर्थन करते हैं।[५]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष के अनुसार 'तृप्तिः' पद 'तृप्' धातु से व्युत्पन्न होता है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी 'तृप्ति' पद का मूल 'तृप्' धातु को मानती है।[७] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में 'तृप्ति' पद सन्तोष या सन्तुष्टि अर्थ में आया है।[८]

वैदिक साहित्य में 'तृप्ति' पद का अत्यल्प प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में कुसीदी काण्व ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! मेरे आह्वान को सुनो तथा हमारे द्वारा अभिषुत गोदुग्ध मिश्रित सोम का पान करो और तृप्ति को प्राप्त करो।[९] तैत्तिरीयारण्यक का ऋषि कहता है कि वृष्टि होने पर तृप्ति होती है।[१०]

---

१ ऋ० १.५१.११. ''उग्रोययि निरपः स्रोतसासृजद्वि शुष्णस्य दृंहिता ऐरयत्पुरः।''

२ ऋ० १.९५.१०. ''धन्वन्स्रोतः कृणुते गातुमूर्मिं शुक्रैरूर्मिभिरभि नक्षति क्षाम्।''

३ निघ० १.१२.३४.

४ निघ०वृ०, १.१२.३४.

५ अथर्व०, ९.५.९. ''स दातारं तृप्त्या तर्पयाति।''

६ वै०पद०कोष, पृ० १४९६.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० २३३.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ४५४.

९ ऋ० ८.८२.६. ''इन्द्र श्रुधि सु मे हवमस्मे सुतस्य गोमतः। वि पीतिं तृप्तिमश्नुहि।''

१० तै०आ०, ९.१०.२.

उपर्युक्त प्राप्त उद्धरणद्वय के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद और वैदिक साहित्य में 'तृप्ति' पद उदक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यह सही है कि जो तृप्ति वृष्टि या उदकपान से होती है, वह किसी अन्य पदार्थ से प्राप्त नहीं होती है। परन्तु फिर भी यह पद उदक अर्थ का अभिधान करता है, यह नहीं कहा जा सकता।

३५. रसः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'रसः' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क नदी वाचक 'रसा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**रसा नदी, रसतेः शब्दकर्मणः**"[२] कि कलकल ध्वनि करती हुई यह बहती है, अतः, नदी को 'रसा' कहा जाता है। इस पक्ष में शब्दार्थक 'रस्' धातु से 'रसा' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'रसः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**रसः (उदकम्)। रसतिः शब्दार्थः। रसति हि तन्मेघपर्वतादिभ्यः पतत्**"[३] कि मेघ, पर्वत आदि से शब्द करता हुआ उदक नीचे आता है, अतः, यह 'रसः' कहा जाता है। इस पक्ष में शब्दार्थक 'रस्' धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर 'रसः' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)"यद्वा, 'रस' आस्वादने'। रस्यते आस्वाद्यते जिह्वया लिह्यते इति रसः"[४] कि इसका जिह्वा के द्वारा आस्वाद लिया जाता है, अतः, उदक को 'रस' कहते हैं। इस पक्ष में आस्वादन अर्थ वाली 'रस्' धातु से 'घ' प्रत्यय होकर 'रसः' पद निष्पन्न होता है।

(ग)"यद्वा, रसोऽपां गुणः, गुणगुणिनोरभेदोपचारेणाख्यायते। रसवान् रसः"[५] कि उदक का गुण रस है, अतः, गुण और गुणी के अभेदोपचार से रसवान् होने के कारण उदक को 'रसः' कह दिया जाता है। इस पक्ष में 'रसवान्' से 'रस' शब्द निष्पन्न हुआ है।

(घ)"यद्वा, रसतिरर्चतिकर्मा। अर्च्यते देवतात्वात्, अर्च्यतेऽनेनदेवता इति वा"[६] कि देवता होने से उदक की अर्चना होती है या इससे देवताओं की पूजा होती है, अतः, उदक को 'रसः' कहा जाता है। इस पक्ष में पूजार्थक 'रस्' धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर 'रसः' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'रसः' पद को अव्युत्पन्न मानते हैं।[७] मोनियर विलियम्स के मत में 'रस्' धातु से 'रसः' पद व्युत्पन्न होता है। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'रसः' पद वनस्पतियों और उनके फलों के तरल पदार्थ, या किसी प्रकार के तरल द्रव्य, किसी द्रव्य के सबसे उत्तम या

---

१ निघ० १.१२.३५.

२ निरु० ११.२५.

३ निघ०वृ०, १.१२.३५.

४ निघ०वृ०, १.१२.३५.

५ निघ०वृ०, १.१२.३५.

६ निघ०वृ०, १.१२.३५.

७ वै०पद०कोष, पृ० २६४७. ऋ०वै०पद०, पृ० ४४२.

मुख्य भाग और सारतत्त्व के लिये आया है। लेकिन महाभारत में उदक, पेय पदार्थ, मदिरा के लिये प्रयुक्त है।[१] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि प्राचीन उच्च जर्मन में 'rasta' बोलने अर्थ में पाया जाता है। वे उक्त यास्कीय निर्वचन को तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकरणीय मानते हैं।[२]

वैदिक साहित्य में 'रस:' पद का व्यापक प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार पुत्र की कामना वाली स्त्री पति से संयुक्त होती है, जिस प्रकार अर्थ की इच्छा रखने वाला अर्थ से संयुक्त होता है, ठीक उसी प्रकार श्रेष्ठ अन्नादि को प्राप्त करके मनुष्य रसों का दोहन करता है और दु:खों से दूर हो जाता है।[३] अत्रि ऋषि कहते हैं कि आप दोनों अश्विनीदेवों (या यजमानों) को मेघ अपने जल से सिक्त करता है और दीप्ति से भासमान होते हुए आपके अश्व, पक्षी के सदृश चारों ओर गमन करते हैं।[४] एक अन्य सूक्त में अत्रि ऋषि पुन: कहते हैं कि सुन्दर किरणों वाला प्रसन्न करता हुआ सूर्य किरणों से मेघ में स्थित मधुर रस एवं तेज को दुहता है।[५] शंयु बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि हे कामनाओं की वर्षा करने वाले इन्द्र! आपके पीने के लिये मधु के समान स्वादिष्ठ रस प्रस्तुत है।[६] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! जो हमारे अन्न के रस को नष्ट करना चाहता है और जो अश्वों और गायों के शरीर में स्थित बल को नष्ट करने की इच्छा रखता है, ऐसा दुष्ट अपने शरीर और सन्तानों से रहित हो जाये।[७] मेधातिथि काण्व ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! जब तुमने सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त किये हुए आहननशील वृत्र को अन्तरिक्ष से बाहर निकाला, तब तुमने वृत्रहननयोग्य बल को प्राप्त किया। तीनों स्थानों पर अग्नियाँ, सूर्य और इन्द्र के द्वारा सेव्य रस भी प्रकाशित हुआ।[८] तैत्तिरीयारण्यक कहता है कि वह सुकृत (ब्रह्म) है, वह रस है, यह रस को प्राप्त करके आनन्दित होता है।[९] जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है कि ओङ्कार ही रस है।[१०] एक अन्य स्थान पर जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है कि आदित्य अस्त होता हुआ रस रूप होकर उदक में प्रवेश करता है।[११] मैत्रायणी-संहिता कहती है कि वृष्टि ही रस है।[१२] जैमिनीयोपनिषद् कहती है कि जिह्वा (वाणी) से रसों को जानना ही वेद है।[१३] ऐतरेय आरण्यक कहता है कि उदक के समान ओषधियों का रस होता है।[१] शतपथ-ब्राह्मण रस को

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ८६५.

२ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ६५.

३ ऋ० १.१०५.२. ''अर्थमिद्वा उ अर्थिन आ जाया युवते पतिम्। तुञ्जाते वृष्ण्यं पय: परिदाय रसं दुहे वित्तं मे अस्य रोदसी।''

४ ऋ० ४.४३.६. ''सिन्धुर्ह वां रसया सिञ्चदश्वान्घृणा वयोऽरुषास: परि ग्मन्।''

५ ऋ० ५.४३.४. ''मध्वो रसं सुगभस्तिर्गिरिष्ठां चनिश्चदद्दुदुहे शुक्रमंशु:।''

६ ऋ० ६.४४.२१. ''वृष्ण त इन्दुर्वृषभ पीपाय स्वादू रसो मधुपेयो वराय।''

७ ऋ० ७.१०४.१०. ''यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्।''

८ ऋ० ८.३.२०. ''निरग्नयो रुरुचुर्निरु सूर्यो नि: सोम इन्द्रियो रस:। निरन्तरिक्षादधमो महामहिं कृषे तदिन्द्र पौंस्यम्।''

९ तै०आ०, ८.७.१. ''यद्वै सुकृतम् (ब्रह्म)। रसो वै स:। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।''

१० जै०ब्रा०, २.७८. ''रस ओङ्कार:।''

११ जै०ब्रा०, १.७. ''रसेनाप: (प्रविशति आदित्योऽस्तं यन्)।''

१२ मै०सं० २.५.७. ''रसो वृष्टि:।''

१३ जै०उप०, ४.११.५.३. ''वाचा रसान् वेदेति वेद।''

आप: कहकर पुकारता है।[२] जैमिनीय-ब्राह्मण रस ही मद कहता है।[३] एक अन्य स्थान पर जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है कि मधु रस की सीमा है।[४] इसी आशय को अन्यत्र इस प्रकार कहा गया है कि मधु परम रस है।[५] ऐतरेय-ब्राह्मण ओषधि और वनस्पतियों में विद्यमान मधुरता को रस नाम से पुकारता है।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'रस' है, जो पति से संयुक्त होने की कामना वाली स्त्री कीं तरह शरीर से संयुक्त हो जाता है अर्थात् शरीर का भाग बन जाता है, इससे यजमान या अश्विनीदेव सिक्त होते हैं, सूर्य अपनी किरणों से इस मधुर रस का दोहन करता है, मधु के समान स्वादिष्ठ रस का पान इन्द्र करता है, यह एक ऐसा तत्त्व है, जो अन्न में स्वाद तथा पशुओं में शक्ति रूप में विद्यमान है, ऋषि ऐसे तत्त्व का नाश करने वाले के नाश की कामना करता है, इन्द्र द्वारा अन्तरिक्ष से वृत्र को बहिष्कृत कर देने पर यह उदक प्रकाशित होता है। जहाँ तक ब्राह्मणों का प्रश्न है, वे ब्रह्म को रस रूप में प्रतिपादित करते हैं, क्योंकि उसको पाकर आनन्द अर्थात् ब्रह्मत्व की उपलब्धि होती है और यह ब्रह्म यहाँ ओङ्कार नाम से अभिहित किया गया है, कहीं ब्राह्मणों में अस्त होते हुए आदित्य को रस रूप होकर उदक में प्रवेश करने वाला बताया गया है, कहीं वाणी की मधुरता को रसरूप में निरूपित किया गया है, कहीं वृष्टि रूप में प्राप्त उदक का रस मानकर उल्लेख किया गया है, तो कहीं ओषधियों के सार को, तो कहीं आप: को रस कहा गया है। इसके अतिरिक्त मधु को न केवल रस बल्कि उसकी चरम सीमा बतलाया गया है।

वेद में रस के साथ 'मधु' और 'स्वादु' शब्दों का उल्लेख देखने को मिलता है, इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में 'रस:' पद का सर्वाधिक प्रयोग नवम मण्डल (पवमान सोम देवता के प्रकरण) में हुआ है।[७] इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि मधुरता रस की अपनी विशेषता है, जिसमें यह मधुरता पायी जाती है, कालान्तर में उन सबको 'रस' नाम से अभिहित किया गया है। इसके अतिरिक्त 'रस' शब्द की तृतीय विशेषता यह है कि इससे तरलता का बोध होता है। तरल होने के कारण 'रस' का उदक के साथ निकट का सम्बन्ध है। आज भी लोक भाषा में तरल शाकादि को 'रसा' वाली सब्जी कहकर पुकारा जाता है। जहाँ तक उदक को 'रस' कहे जाने का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि जिह्वा और मन को प्रिय होने के कारण उदक शीघ्र शरीर का भाग बन जाता है, अत:, यह 'रस' नाम से अभिहित हुआ होगा। सोम और मधु को भी सम्भवत:, उक्त कारण से रस कहा गया होगा, क्योंकि ये अन्य भोज्य और पेय पदार्थों की अपेक्षा शीघ्र शरीर का भाग बन जाते हैं। जहाँ तक ब्रह्म को रस कहे जाने का प्रश्न है, वह साक्षात् आत्मस्वरूप होने से रस है। इस प्रकार किसी पदार्थ को रस कहे जाने के मूल में दो कारण रहे प्रतीत होते हैं, प्रथम- मधुरता और द्वितीय- शरीर या आत्मा का भाग बनने की क्षमता। इस दृष्टि से देखने पर उपर्युक्त सभी निर्वचन अपूर्ण प्रतीत

---

१ ऐ०आ०, ५.१.१. ''आप इव रस ओषधयो इव रूपं भूयासम्।''

२ शत०ब्रा०, ३.३.३.१८; ९.४.७.

३ जै०ब्रा०, १.२.१५; २१६; ३.२८; १५९; २२२; २९५. ''रसो वै मद:।''

४ जै०ब्रा०, १.२२४; ३.१६४. ''अन्तो वै रसानां मधु।''

५ जै०ब्रा०, २.४०५. ''परमो वै मधुनि रस:।''

६ ऐ०ब्रा०, ८.२०. (तु०, . शत०ब्रा०, ६.४.३.२; ७.५.१.४.) ''रसो वा एष ओषधिवनस्पतिषु यन्मधु।''

७ ऋ० ९.६.६; १६.१; २३.५; ६२.६; ६३.१३; ६४.२४; १०९.११.

होते हैं। फिर भी 'रस' आस्वादने' धातु को सर्वाधिक सम्भव निर्वचन स्वीकार किया जा सकता है।

३६. उदकम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'उदक' पद परिगणित है।[१] अथर्ववेद का ऋषि 'उदक' शब्द का निर्वचन करता हुआ कहता है:-**''उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते''**[२] कि आपः नामक देवता ने ऊपर श्वास ली, अतः, ऊपर को श्वास लेने के कारण आपः 'उदक' नाम से कहा जाता है। इस पक्ष में 'उद्' पूर्ववाली 'अन' प्राणने' धातु से 'उदक' शब्द निष्पन्न होता है। मैत्रायणी-संहिता में भी उक्त निर्वचन प्राप्त होता है।[३]

आचार्य यास्क 'उदक' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''उदकमुनत्तीति सतः''**[४] कि क्लिन्न कर देने के कारण जल 'उदक' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'उन्द्' धातु से 'उदक' शब्द निष्पन्न होता है। उणादिकोष भी इसी प्रकार 'उन्द्' धातु से 'क्वुन्' प्रत्यय करके 'उदक' शब्द निष्पन्न करने के पक्ष में है।[५]

आचार्य देवराजयज्वन् 'उदक' पद का निर्वचन करते हुए कहते है:-**''उदकम् (जलम्)। उत्खायते तद्वायुना विभज्यमानं कर्म, उत्खनति वा भूमिं स्वेन वेगेन कर्ता''**[६] कि वायु के द्वारा खींचकर बाहर निकाला जाता है या अपने वेग से कर्ता (उदक) भूमि को खोदता है, अतः, यह 'उदक' कहा जाता है। इस पक्ष में 'उत्' पूर्ववाली 'खन्' धातु से औणादिक 'क्वुन्' प्रत्यय होकर 'उदक' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा, उत्पूर्वस्य वाञ्चतेः। उदञ्चतीत्युदकम्''[७] कि यह वाष्प बनकर ऊपर चला जाता हैं, अतः, यह 'उदक' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'उत्' पूर्व वाली 'अञ्च्' धातु से 'उदक' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'उदक' शब्द का मूल 'उन्द्' धातु मानते हैं।[८] मोनियर विलियम्स के मत में भी 'उन्द्' धातु से 'उदक' पद निष्पन्न होता है। उनके अनुसर ऋग्वेद, अथर्ववेद, कात्यायन श्रौतसूत्र, महाभारत, शतपथ-ब्राह्मण आदि में 'उदक' शब्द जल अर्थ में आया है। जबकि गौतम धर्मसूत्र में 'उदक' शब्द मृतक के तर्पण के लिये आया है।[९] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि उक्त यास्कीय निर्वचन तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने योग्य है।[१०]

---

१ निघ० १.१२.३६.

२ अथर्व०, ३.१३.४.

३ मै०सं० २.१३.१. ''एको वो देवो अप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम्। उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते।''

४ निरु० २.२४.

५ उणा०, २.४०. ''उदकश्च।''

६ निघ०वृ०, १.१२.३६.

७ निघ०वृ०, १.१२.३६.

८ वै०पद०कोष, पृ० ८९४. ऋ०वै०पद०, पृ० १३८.

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १८३.

१० दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० २३१.

वैदिक साहित्य में 'उदक' शब्द का पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में दीर्घतमस् ऋषि ऋभु देवों की स्तुति करते हुए कहते हैं कि सुधन्वा के पुत्र इस उदक या मुञ्ज से शुद्ध किये गये जल का पान करें।[१] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि एक विद्वान् सुनने योग्य भूमि के जल को जानता है और दूसरा हिंसा से अच्छे प्रकार धारण किये गये मांस के अवयवों को अलग़-अलग करता है।[२] एक अन्य सूक्त में दीर्घतमस् ऋषि विश्वदेवों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कौन तत्काल इस आदित्य के स्वरूप का वर्णन कर सकता है। इसकी सिर के समान उन्नत या उत्कृष्ट रश्मियाँ (गावः) दुग्ध को दुहती हैं और कुछ सुन्दर रूप को धारण करती हुई अपने पैरों से उदक का पान करती हैं।[३] इसी प्रकरण में ऋषि कहता है कि हे अघ्न्ये! जिस प्रकार गौ घास खाकर एवं शुद्ध उदक का पान कर अपनी सन्तानों को सुख देती है, उसी प्रकार विदुषी स्त्री दानादि उत्तम क्रियाओं का आचरण करती हुई सुख का भोग करे, जिससे हम ऐश्वर्य से युक्त हों।[४] इसी क्रम में आगे ऋषि कहता है कि यह बात समानरूप से पायी जाती है कि ग्रीष्मादि दिवसों में उदक भाप बनकर ऊपर जाता है और वर्षादि दिवसों में नीचे पृथ्वी पर आता है। मेघ पृथ्वी को तृप्त करते हैं तथा अग्नि अन्तरिक्ष को।[५] इसी क्रम में अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार जलवाहिका घट में उदक को भर कर ले जाती है, उसी प्रकार इक्कीस प्रकार की मयूरियाँ तथा सात नदियाँ विष का हरण करती हैं।[६] पवित्र ऋषि पावमानी की स्तुति करते हुए कहते हैं कि जिसमें ऋषियों के द्वारा अध्यात्मविद्या का रस भरा गया है, ऐसी पावमानी ऋचाओं का अध्ययन करने वाले के लिये सरस्वती स्वयं क्षीर, घृत, मधु और उदक का दोहन करती है।[७] मुद्गल ऋषि दुघणदेव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह द्रुघण (यन्त्र) न घास का भक्षण और न जल का पान करता है। यह रथ के धुर (द्रुघण) को आगे ले जाता है और मार्ग दिखलाता है।[८] ऋषभ वैराज ऋषि सपत्नघ्नदेवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मेरे पैर के नीचे दबे हुए तुम जल में पड़े हुए मण्डूक या जल में डूबते हुए के समान बोलोगे।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह 'उदक' जल है, जो सुधन्वा (अन्तरिक्ष) के पुत्रों (प्राणियों) को पीने के लिये दिया जाता है, यह वह जल है, जिसे विशेषज्ञ सुनकर जान लेता है, इस उदक का दोहन रश्मियाँ सूर्य के सिर से करती हैं और सुन्दररूप को धारण करती हुयीं, वे अपने पैरों से इसका पान भी कर लेती हैं, इस उदक का पान अघ्न्या करती है और अपनी सन्तानों को सुख देती है, यह ग्रीष्मादि में वाष्प बनकर ऊपर चला जाता है और वर्षादि ऋतुओं में नीचे पृथ्वी पर आ जाता है, कुम्भिनी (कहारिन)

---

१ ऋ० १.१६१.८. ''इदमुदकं पिबतेत्यब्रवीतनेदं वा घा पिबता मुञ्जनेजनम्।''

२ ऋ० १.१६१.१०. ''श्रोणामेक उदकं गामवाजति मांसमेकः पिंशति सूनयाभृतम्।''

३ ऋ० १.१६४.७. ''इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः। शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः।''

४ ऋ० १.१६४.४०. ''अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती।''

५ ऋ० १.१६४.५१. ''समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः। भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः।''

६ ऋ० १.१९१.१४. ''त्रिः सप्त मयूर्यः सप्त स्वसारो अग्रुवः। तास्ते विषं वि जभ्रिर उदकं कुम्भिनीरिव।''

७ ऋ० ९.६७.३२. ''पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्। तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्।''

८ ऋ० १०.१०२.१०. ''नास्मै तृणं नोदकमा भरन्त्युत्तरो धुरो वहति प्रदेदिशत।''

९ ऋ० १.१६६.५. ''अधस्पदान्म उद्वदत मण्डूकाइवोदकान्मण्डूका उदकादिव।''

इसको घट में भरकर ले जाती है अर्थात् यह जल पेय है, पावमानी ऋचाओं का अध्ययन करने वाले को मधु, उदक आदि की प्राप्ति होती है, द्रुघण (यन्त्र) को न भोजन की आवश्यकता है और न पानी की, मण्डूक जिस जल में रहते हैं, या डूबते हुए के मुख व उदर में जाने वाला जल 'उदक' है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में 'उदक' वह जल है, जो अन्तरिक्ष से लेकर पृथ्वी लोक तक के प्राणियों के पीने के उपयोग में आता है, यह स्वास्थ्य की दृष्टि से अनुकूल, कृषि के लिये उपयोगी एवं घट में भरकर ले जाने योग्य है। इस दृष्टि से 'उत्+'अन्' या 'उन्द्' धातु को 'उदक' पद का मूल माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि प्राणवायु का आधार होने से उदक मनुष्य जीवन के लिये अपरिहार्य है, इस तथ्य का प्रतिपादन अथर्ववेद का ऋषि **'उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते'** के द्वारा करता है। जहाँ तक द्वितीय निर्वचन के औचित्य का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि भिगो देने की क्षमता वाले उदक में भोजन योग्यता होती है, अतः, इस तथ्य का प्रतिपादन 'उन्द्' धातु से होता है। अतः, उक्त धातु को 'उदक' का मूल स्वीकार करना सर्वथा समीचीन है।

३७. प्रयः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'प्रयः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'प्रयः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**प्रयः (उदकम्)। 'प्रीञ्' तर्पणे'। तृप्यन्तेऽनेन देवताः**"[२] कि इससे देवता तृप्त होते हैं, अतः, उदक को 'प्रयः' कहते हैं। इस पक्ष में 'प्री' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'प्रयः' पद निष्पन्न होता है।

(ख)"यद्वा, प्रपूर्वात् यमतेः। प्रकर्षेण गच्छन्ति प्रयः"[३] कि बहुत तीव्रता से गमन करने के कारण उदक 'प्रयः' नाम से अभिहित होते हैं। इस पक्ष में 'प्र' पूर्व वाली 'यम्' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'प्रयः' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'प्र+'यस्' धातु से 'प्रयः' पद को व्युत्पन्न मानता है। लेकिन सायण तथा पेटरसन प्रभृति विद्वान् 'प्री' धातु और स्कन्द प्र+'या' धातु से 'प्रयस्' पद को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'प्रयः' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'प्रयः' पद का मूल 'प्री' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में उक्तपद आनन्द, सुख, प्रसन्न होना आदि अर्थों में है। इसके अतिरिक्त 'प्रयः' पद ऋग्वेद में सुखोपभोग की वस्तु, स्वादिष्ठ भोजन या पेय, तर्पण या मदिरा, नूतन उदक, स्वादिष्ठ भोज्य पदार्थ प्रदान करना, तर्पण करना आदि अर्थों में प्रयुक्त है।[६]

वैदिक साहित्य में 'प्रयः' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में राहूगण गोतम ऋषि मरुद्गणों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि प्रचुरता से पूजनीय मरुतो! जिस पर तुम उदकवृष्टि करते हो, वह मनुष्य

---

१ निघ० १.१२.३७.

२ निघ०वृ०, १.१२.३७.

३ निघ०वृ०, १.१२.३७.

४ वै०पद०कोष, पृ० २१९७.

५ ऋ०वै०पद्द०, पृ० ३४८.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ६८८.

सौभाग्यशाली है।[१] आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! तुम अतितृष्णा से व्याकुल यजमान के दोनों जन्मों के लिये सुख और उदक प्रदान करते हो।[२] प्रस्कण्व ऋषि अग्निदेव का आह्वान करते हुए कहते हैं कि हे अग्ने! अभिषुत सोम तथा उदक (या अन्न) से युक्त विप्र तुम्हारा आह्वान करते हैं।[३] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि सब प्रकार के धनों के प्रदाता अग्नि की मैं अन्नादि हवि या उदक से सेवा और उससे रत्न की याचना करता हूँ।[४] एक अन्य सूक्त में गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि मैं आकार बढ़ाने के स्वभाव वाले, शत्रुओं के विनाशक, महनीय गुणों वाले इन्द्र के लिये स्तोत्र बनाता हूँ, ठीक उसी प्रकार जैसे पिपासाकुल को कोई पानी देता है।[५] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि हे अश्विनीदेवो! अन्तरिक्ष में उत्पन्न, शीघ्र पहुँचाने वाले अश्व, गृध्र के समान आपके लिये हवि या उदक लेकर आते हैं।[६] परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि हे वायो! गमनशील, शीघ्रगामी अश्व इस यज्ञ में 'प्रयः' नामक हवि को तुम्हें प्राप्त करायें।[७] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि सबको शुद्ध करने वाला अग्नि प्रेषित करने के लिये प्रयः को उसी प्रकार धारण करता है, जिस प्रकार उदक (प्रयः) मध्य में स्थित पर्वत को धारण करते हैं।[८] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि अहि (असुर या मेघ) के मारे जाने पर नदी के जल समुद्र की ओर उसी प्रकार चल पड़ते हैं, जैसे पक्षी अपने कुलायों की ओर जाते हैं।[९] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि द्रविणोदस् होत्र नामक यज्ञ से पीता है, पोत्र नामक यज्ञ से पीकर प्रसन्न होता है तथा नेष्ट्र नामक यज्ञ से हितकारी प्रयः का सेवन करता है।[१०] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! सोमयुक्त ऋत्विज् तुम्हारे उद्देश्य से सोम का सवन तथा प्रयस् को धारण करते हैं।[११]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'प्रयः' है, जिसको मरुत् मनुष्यों पर बरसाते हैं, यह वह उदक है, जो अतिपिपासाकुल को अग्निदेव प्रदान करते हैं, अभिषुत सोम के साथ विप्र इसको अग्निदेव के लिये प्रस्तुत करते हैं, जिस प्रकार इन्द्र को स्तोत्र प्रिय हैं, उसी प्रकार यह उदक पिपासाकुल को प्रिय लगता है, जिस प्रकार आपः द्वीप को धारण करते हैं, उसी प्रकार अग्नि प्रयः (उदक या हवि) को धारण करता है, मेघ से बरसने पर ये उदक उसी प्रकार समुद्र की ओर चल पड़ते हैं, जिस प्रकार पक्षी अपने कुलायों की ओर। इसके अतिरिक्त द्रविणोदस् देव होत्र नामक यज्ञ से पान, पोत्र नामक यज्ञ से प्रसन्नता तथा नेष्ट्र नामक यज्ञ से हितकारी प्रयस् का सेवन करते हैं। इसी प्रकार ऋत्विज् इन्द्र के लिये सोम का

---

१ ऋ० १.८६.७. ''सुभगः स प्रयज्यवो मरुतो अस्तु मर्त्यः। यस्य प्रयांसि पर्षथ।''

२ ऋ० १.३७.७. ''यस्तातृषाण उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये।''

३ ऋ० १.४५.८. ''आ त्वा विप्रा अचुच्यवुः सुतसोमा अभि प्रयः।''

४ ऋ० १.५८.७. ''अग्निं विश्वेषामरतिं वसूनां सपर्यामि प्रयसा यामि रत्नम्।''

५ ऋ० १.६१.१. ''अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हर्मि स्तोमं माहिनाय।''

६ ऋ० १.११८.४. ''ये अप्तुरो दिव्यासो न गृध्रा अभि प्रयो नासत्या वहन्ति।''

७ ऋ० १.१३४.१. ''आ त्वा जुवो रारहाणा असि प्रयो वायो वहन्त्विह पूर्वपीतये ।''

८ ऋ० १.१६९.३. ''अग्निश्चिद्धि ष्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीपं दधति प्रयांसि।''

९ ऋ० २.१९.२. ''प्र यद्वयो न स्वसराण्यच्छा प्रयांसि च नदीनां चक्रमन्त।''

१० ऋ० २.३७.४. ''अपाद्धोत्रादुत पोत्रादमत्तोत नेष्ट्रादजुषत प्रयो हितम्।''

११ ऋ० ३.३०.१. ''इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांसि।''

सवन तथा प्रयस् को धारण करते हैं।

उक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद की दृष्टि में जो पिपासा के समय प्रिय लगता है, वह पेय या उदक 'प्रयः' है। इस दृष्टि से 'प्री' धातु को 'प्रयः' पद का मूल माना जा सकता है। इस विषय में यह स्मरण रखने योग्य है कि वेद में 'प्रयः' पद प्रायः 'अन्न' या 'हवि' के लिये आया है। यह एक ऐसी हवि मानी गयी है, जो देवताओं को प्रिय है। अतः, प्रियरूपता 'प्रयः' की अपनी विशेषता है। यह विशेषता उदक की अपेक्षा अन्नादि हवि में अधिक पायी जाती है। सायण आदि आचार्यों ने प्रायः सर्वत्र 'प्रयः' का अर्थ 'अन्न' या 'हवि' लिया है, जिसे प्रसङ्ग की दृष्टि से अनुचित नहीं माना जा सकता।

३८. सरः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'सरः' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क उदकवाचक 'सरः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सर इत्युदकनाम, सर्तेः**"[२] कि सरणशील होने के कारण उदक को 'सरः' कहा जाता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'सृ' धातु से 'सरः' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'सरः' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**सरः (उदकम्)। 'सृ' गतौ'। सरति स्रियते वा सरः**"[३] कि गतिशील रहता है या गतिशील किया जाता है, अतः, उदक को 'सरः' कहा जाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सरस्' पद को जल और जलाशय वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार 'सरस्' पद की उत्पत्ति प्रक्रिया निम्न है:-'**भृष्वर+असुन्=भृष्वरस्=इष्वरस्=स्वरस्= सरस्**'। इसके अतिरिक्त कोषकार प्रायोवाद के अनुसार '**सृ' गतौ**' धातु को 'सरस्' शब्द का मूल बतलाते हैं।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'सरः' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'सरः' पद का मूल 'सृ' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'सरः' पद तरल पदार्थ, द्रव, झील, विस्तृत जलक्षेत्र, तडाग, जलाशय आदि अर्थों में प्रयुक्त है।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि भारोपीय भाषा में 'ser' 'धारा' अर्थ में, लैटिन में 'sirt' 'समूह में घूमना' अर्थ में है। उनके अनुसार उपर्युक्त निर्वचन तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने योग्य है।[७]

वैदिक साहित्य में 'सरः' पद का पर्याप्त उल्लेख पाया जाता है। ऋग्वेद में गौरवीति ऋषि कहते हैं कि वृत्र (मेघ) का नाश करने के लिये इन्द्र तीन (मेघ, अन्तरिक्ष और भूमि) पात्रों का एक साथ पान कर लेता

---

१ निघ० १.१२.३८.

२ निरु० ९.२६.

३ निघ०वृ०, १.१२.३८.

४ वै०पद०कोष, पृ० ३३१९.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ५५९.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ११८२.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ५३.

है।[१] इसी सूक्त के अग्रिम मन्त्र में पुनः ऋषि कहता है कि हे इन्द्र! तुम विशाल आकार वाले तीन सौ पदार्थों का निर्माण करते हो और तुम सोमसदृश गुणसम्पन्न तीन (मेघ, अन्तरिक्ष और भूमि) पात्रों के उदकों का पान करते हो।[२] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि वृत्र का वध करने वाले इन्द्र के तीन (मेघ, अन्तरिक्ष और भूमि) पात्रों को शुद्ध करते हुए पूषा और विष्णु उसके लिये आनन्द देने वाला सोम प्रदान करते हैं।[३] कुमार वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार अतिरात्र नामक यज्ञ में ऋत्विज् मन्त्र पाठ करते हैं, उसी प्रकार पूर्ण सरोवर की कामना से मण्डूक चारों ओर बोलते हुए स्थित होते हैं।[४] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि जब द्युलोक से उदक पृथ्वी पर आता है, उस समय रिक्त पात्र के समान तडाग में सोये हुए मण्डूक पुनः वत्स वाली गायों के समान रंभाने लगते हैं।[५] मेधातिथि ऋषि इन्द्र से निवेदन करते हुए कहते हैं कि साथियों के साथ पान करते हुए तुम अपने विस्तृत बढ़े हुए उदर को सरोवर के समान भर लो।[६] आसङ्ग ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार तडाग के किनारे समूहरूप में घास निकलती है, उसी प्रकार देव मुझे आनन्द की वर्षा करने वाले देदीप्यमान दस वीर पुत्रों को प्रदान करें।[७] त्रिशोक ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार प्यासा उदक को पीता है, उसी प्रकार इन्द्र सरोवर का पान करे।[८] कुरुसुति ऋषि कहते हैं कि इन्द्र एक घूँट से अर्थात् एक ही बार में सोम (उदक) के सैकड़ों जलाशयों को एक साथ पी लेता है।[९] पुनर्वत्स ऋषि कहते हैं कि मरुतों की मातायें अपने शक्तिशाली पुत्रों के लिये तीन सरोवरों को दुहती हैं: १. उत्स (उत्साहपात्र), २. कबन्ध (धैर्यपात्र), ३. उद्रिण (स्नेहपात्र)।[१०] अवत्सार ऋषि कहते हैं कि यह पवमानदेव सूर्य के समान देखने एवं सरोवरों को शुद्ध करने वाला है। सात किरणों वाला सूर्य द्युलोक सहित इसमें स्थित है।[११]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह 'सरस्' है, जिन तीन (मेघ, अन्तरिक्ष और भूमि) में स्थित उदक का पान इन्द्र (सूर्य) करता है, उक्त तीन पात्रों में स्थित उदक को पूषा और विष्णु शुद्ध करते हैं, इसमें मण्डूक उसी प्रकार भेकारव करते हैं, जैसे अतिरात्र नामक यज्ञ में रात्रि के समय ब्राह्मण मन्त्रपाठ करते हैं, इस सरोवर में वर्षा होने पर मण्डूक वत्सिनी गायों के समान रंभाने लगते हैं, इन्द्र सोमरस से अपने विशाल उदर को सरोवर के समान भर लेता है, यह वह उदक का स्थान है, जिसके तट पर नड नामक घास समूह रूप में उग आती है, सैकड़ों जलाशयों को इन्द्र (सूर्य) एक बार में पी लेता है, मरुतों की मातायें अपनी शक्तिशाली पुत्रों के लिये तीन सरोवरों को दुहती हैं। इसके अतिरिक्त पवमानदेव सरोवरों को

---

१ ऋ० ५.२९.७. "त्री साकमिन्द्रो मनुषा सरांसि सुतं पिबद् वृत्रहत्याय सोमम्।"
२ ऋ० ५.२९.८. "त्री यच्छता महिषाणामघो मास्त्री सरांसि मघवा सोम्यापाः।"
३ ऋ० ६.१७.११. "पूषा विष्णुस्त्रीणि सरांसि धावन्वृत्रहणं मदिरमंशुमस्मै।"
४ ऋ० ७.१०३.७. "ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः।"
५ ऋ० ७.१०३.२. "दिव्या आपो अभि यदेनमायन्दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्।"
६ ऋ० ८.१.२३. "सरो न प्रास्युदरं सपीतिभिरा सोमेभिरुरु स्फिरम्।"
७ ऋ० ८.१.३३. "अधोक्षणो दश मह्यं रुशन्तो नळा इव सरसो निरतिष्ठन्।"
८ ऋ० ८.४५.२४. "सरो गौरो यथा पिब।"
९ ऋ० ८.७७.४. "एकया प्रतिधापिबत्साकं सरांसि त्रिशतम्। इन्द्रः सोम्यस्य काणुका।"
१० ऋ० ८.७.१०. "त्रीणि सरांसि दुदुह्रे वज्रिणे मधु। उत्सं कबन्धमुद्रिणम्।"
११ ऋ० ९.५४.२. "अयं सूर्य इवोपदृगयं सरांसि धावति। सप्त प्रवत आ दिवम्।"

शुद्ध करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में 'सरः' पद उदक के अर्थ में प्रयुक्त न होकर, उदकपात्र के अर्थ में व्यवहृत है। ऋषि ने अनेकशः ऐसे तीन सरों का उल्लेख किया है, जिनका पान इन्द्र (सूर्य) करता है। इससे यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि मेघ, भूमि और अन्तरिक्ष इन तीन स्थानों पर उदक सञ्चित होता है। इस प्रकार उदक के ये सरणीय (गन्तव्य) स्थान होने से वेद में 'सरः' नाम से कहे गये हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त निर्वचन को समीचीन माना जा सकता है।

३९. भेषजम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'भेषज' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'भेषज' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**भेषजम् (उदकम्)। 'भिषज्' चिकित्सायाम्'। भिषज्यन्त्यनेन भेषजम्**"[२] कि इससे चिकित्सा की ज़ाती है, अत, उदक को 'भेषज' कहा जाता है। इस पक्ष में 'भिषज्' धातु से 'घ' प्रत्यय होकर 'भेषज' रूप सिद्ध होता है।

(ख)"यद्वा, भेषजमस्मिन्नस्तीति भेषजम्"[३] कि इसमें ओषधि विद्यमान है, अतः, उदक को 'भेषज' कहा जाता है। इस पक्ष में 'भेषज' शब्द से मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय होकर 'भेषज' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'भेषज' पद को औषध वाचक विशेषण एवं नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है, लेकिन वह '**भे(आयुष्य)+'सृज्**', '**भिषज्य**' या '**भिष+'जि**' धातु से 'भेषज' पद के व्युत्पन्न होने की सम्भावना व्यक्त करता है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'भेषज' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'अभि+'सज्' से 'भिषक्' शब्द को व्युत्पन्न मानते हैं और उससे 'भेषज' शब्द को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह 'भेषज' पेद रोगमुक्त और स्वस्थ करना आदि अर्थ में है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में यह ओषधि, उपचार आदि अर्थों में भी पाया जाता है।[६] उणादिकोष के मत में भयार्थक 'भी' धातु से 'षुक्' का आगम तथा 'अजि' प्रत्यय होकर 'भिषक्' उससे गुण होकर 'भेषजम्' रूप उपपन्न होता है।[७]

वैदिक साहित्य में 'भेषज' शब्द का पर्याप्त उल्लेख देखने को मिलता है। ऋग्वेद में मेधातिथि काण्व ऋषि कहते हैं कि जलों के अन्तस् में अमृत है, जलों में ही औषध है। उन्नति के लिये उदक-विज्ञान को जानो।[८] तैत्तिरीय-संहिता भी इसी प्रकार का कथन करती है।[९] अग्रिम मन्त्र में पुनः ऋषि कहता है कि मुझे सोमदेव ने बताया है कि जलों में सभी ओषधियाँ हैं और उसी ने बताया है कि विश्व का कल्याण करने वाली

---

१ निघ० १.१२.३३९.

२ निघ०वृ०, १.१२.३९.

३ निघ०वृ०, १.१२.३९.

४ वै०पद०कोष, पृ० २३३२.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ३६७.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ७५७, ७६७.

७ उणा०, १.१३८. "भियः षुग्घ्रस्वश्च।"

८ ऋ० १.२३.१९. "अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजामपामुत प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः।"

९ तै०स०, १.७.७.१-२. मै०सं० १.११.१. "अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्।"

अग्नि भी जलों में है। इसलिये उदक ही सम्पूर्ण भेषज है।[१] ऐसा ही कथन मैत्रायणी-संहिता में भी प्राप्त होता है।[२] इसी क्रम में आगे ऋषि कहता है कि उदक मेरे शरीर में रोग-निवारण के लिये औषध को पूर्ण करते हैं, जिससे हम नीरोग होकर सूर्य का दर्शन कर सकें।[३] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि आरोचमान, जटाओं वाले, तेज से दीप्यमान मेघ का हम द्युलोक से आह्वान करते हैं। वह आहूत मेघ (रुद्र) हमारे लिये हाथ में सभी वरणीय भेषजों, सुख, कवच और गृह लेकर आये।[४] श्यावाश्व ऋषि कहते हैं कि मरुतों से प्रेरित वर्षा के द्वारा सुख देने वाला आपः तथा गोदुग्ध मिश्रित भेषज हमें प्राप्त हो।[५] यहाँ ऋषि 'भेषज' को वृष्टि का कार्य बता रहा है। सोभरि ऋषि कहते हैं कि सुन्दर अन्तरिक्ष में निवास करने वाले मरुतो! सिन्धु, असिक्नी, समुद्र और पर्वत- इनमें जो भी ओषध हो, वह हमें प्राप्त हो।[६] गौपायन ऋषि कहते हैं कि द्युलोक से दो और तीन के रूप में भेषज नीचे आते हैं।[७] सप्तऋषि कहते हैं कि जल ही भेषज है, जल ही रोगों को दूर करने वाला है। जल ही सब प्राणियों के लिये भेषज है, वे तुम्हारी चिकित्सा करें।[८] मैत्रायणी-संहिता कहती है कि भेषज को तीन स्थानों और तीन भागों में विभाजित करके स्थापित किया, एकभाग अग्नि, द्वितीयभाग ब्राह्मण और तृतीय भाग को उदक में।[९] मैत्रायणी-संहिता कहती है कि उदक ही शान्ति, वही निष्कृति और वही भेषज है।[१०]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'भेषज' है, जिसमें ओषधि विद्यमान है, सम्पूर्ण ओषधियों का आश्रय उदक में है, इसलिये उदक को सम्पूर्ण भेषज कहा जाता है, ये उदक ही शरीर में भेषज की पूर्ति करने वाले हैं, वराह (वराहार) नामक जटाओं वाला मेघ अपने हाथों में शर्म, वर्म (कवच) और च्छर्दि (गृह) के साथ भेषज लेकर आता है। ऋषि के कथन का मन्तव्य यह प्रतीत होता है कि मेघजल के सेवन से सब प्रकार के रोगों से मुक्ति मिल जाती है। मरुद्गण वर्षा के माध्यम से उदक और भेषज प्रदान करते हैं, ये भेषज दो और तीन के रूप में द्युलोक से नीचे आते हैं, यहाँ दो और तीन कहने का आशय स्पष्ट नहीं है। अन्त में ऋषि आपः को ही भेषज बतलाता है। उपर्युक्त अध्ययन में यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि ऋषि प्रमुखतया भेषज के साथ 'आपः' का उल्लेख करता है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि जिन जलों में ये भेषज मिश्रित की जाती थीं, वे 'आपः' नामक उदक होते थे। मूलतः, उदक और भेषज दो तत्त्व हैं। प्राचीनकाल में वनस्पतियों का स्वरस ओषधि के काम लिया जाता था, अतः, उस समय

---

१ ऋ० १.२३.२०. ''अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशंभुवमापश्च विश्वभेषजीः।''

२ मै०सं० ४.१०.४. ''अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। आपश्च विश्वशम्भुवः।''

३ ऋ० १.२३.२१. ''आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम। ज्योक् च सूर्यं दृशे।''

४ ऋ० १.११४.५. ''दिवो वराहमरुषं कपर्दिनं त्वेषं रूपं नमसा नि ह्वयामहे। हस्ते बिभ्रद् भेषजा वार्याणि शर्म वर्म च्छर्दिरस्मभ्यं यंसत्।''

५ ऋ० ५.५३.१४. ''वृष्ट्वी शं योराप उस्रि भेषजं स्याम मरुतः सह।''

६ ऋ० ८.२०.२५. ''या सिन्धौ यदसिक्न्यां यत्समुद्रेषु मरुतः सुबर्हिषः। यत्पर्वतेषु भेषजम्।''

७ ऋ० १०.५९.९. ''अव द्वके त्रिका दिवश्चरन्ति भेषजा।''

८ ऋ० १०.१३७.६. ''आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः। आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्।''

९ मै०सं० ४.६.२. ''तद्वै भेषजं त्रेधा विन्यदधुरग्नौ तृतीयं ब्राह्मणे तृतीयमप्सु तृतीयम्।''

१० मै०सं० १.८.३. ''आपो वै शान्तिरापो निष्कृतिरापो भेषजा।''

भेषज का स्वरूप तरलता लिये होता था, सम्भवतः, इसलिये निघण्टुकार ने भेषज का परिगणन उदकवाचक गण में किया है। उक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर विचार करने पर उपर्युक्त में से कोई भी निर्वचन युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता है, इसका कारण यह है कि ऐसा कोई भी निर्वचन नहीं है, जिससे ओषधि के साथ-साथ उदकत्व की भी प्रतीति होती हो। इसलिये उक्त 'भेषज' पद को अव्युत्पन्न मानना चाहिये।

४०. सहः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'सहः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'सहः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**सहः (उदकम्)। सहिरभिभवार्थः। अभिभवते उष्णमग्निं वा**''[२] कि यह उष्णता या अग्नि को अभिभूत या शान्त कर देता है, अतः, उसे 'सहः' कहते हैं। इस पक्ष में अभिभवार्थक 'सह्' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'सहः' पद उपपन्न होता है। वेद से प्राप्त सङ्केत भी 'सहः' पद को 'सह्' धातुमूलक मानते हैं।[३]

(ख)''यद्वा, सहो बलं तदस्यास्तीति''[४] कि यह बल से युक्त है, अतः, उदक को 'सहः' कहते हैं। इस पक्ष में 'सह' शब्द से मत्वर्थीय प्रत्यय का लुक् होकर 'सहः' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सह्+असुन्' से 'सहः' पद को व्युत्पन्न मानता है। उसके अनुसार यह पद वैदिक साहित्य में अभिभावयिता बल, आग्रहायण मास एवं ओषधिविशेष के अर्थ में आया है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'सहः' पद का मूल 'सह्' धातु को मानती है।[६] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'सहः' पद शक्तिशाली, विजयशील आदि के अर्थ में आया है। इसके अतिरिक्त 'सहसः पुत्रः' 'सहसः सूनु' आदि वाक्यांश अग्नि के नाम रूप में व्यवहृत हुए हैं।[७]

वैदिक साहित्य में 'सहः' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। लेकिन सर्वत्र यह शक्तिशाली के अर्थ में आया है। सायणादि प्राचीन भाष्यकारों एवं महर्षि दयानन्द आदि अर्वाचीन भाष्यकारों ने क्वचित् भी सहः का उक्त अर्थ ग्रहण नहीं किया है। ब्राह्मणग्रन्थ भी 'सहः' का प्रयोग इन्द्र, अग्नि आदि के अर्थों में करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद एवं वैदिक साहित्य में सहः पद उदक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है।

४१. शवः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'शवः' पद परिगणित है।[८] आचार्य यास्क 'शवः' पद का

---

१ निघ० १.१२.४०.

२ निघ०वृ०, १.१२.४०.

३ ऋ० ६.६६.९; ७.६०.१; १०.८३.१; १०.१४५.५. अथर्व०, ४.३२.१; ४.३६.३.

४ निघ०वृ०, १.१२.४०.

५ वै०पद०कोष, पृ० ३३४८.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ५६२.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ११९३.

८ निघ० १.१२.४१.

विवेचन करते हुए कहते हैं:-''**विकारमस्य (शवतिः) आर्येषु भाष्यन्ते शव इति**''[१] कि शवति' धातु के नामपद 'शव' का आर्यावर्त में विकार अर्थ में और उसके गत्यर्थक आख्यातरूप का कम्बोज देश में प्रयोग होता है। एक स्थान पर केवल धातु और दूसरे स्थान पर केवल नामरूप का प्रयोग होता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'शव्' धातु से 'शवः' पद निष्पन्न होता है। पर आचार्य यास्क 'शवः' पद के जिस रूप की चर्चा कर रहे हैं, उसका उल्लेख वैदिक साहित्य में सर्वथा उपलब्ध नहीं है। निघण्टुकार ने उदक एवं बल वाचक गण में 'शवः' पद का परिगणन किया है।[२] वेद में इसमें से द्वितीय रूप की चर्चा हुई है, पर लोक में आज भी 'शवः' पद मृत व्यक्ति के शरीर के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'शवः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**शवः (उदकम्)। 'टुओश्वि' गतिवृद्ध्योः'। श्वयति गच्छति वर्द्धते वा वर्षाकाले**''[३] कि यह गतिशील होता है या वर्षाकाल में बढ़ जाता है, अतः, उदक को 'शवः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'श्वि' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'शवः' पद निष्पन्न होता है। उणादिकोष के अनुसार इसी प्रकार 'शवः' पद निष्पन्न होता है।[४]

(ख)''शवतेर्वा गतिकर्मणः। शवति गच्छति शवः''[५] कि यह गतिशील होता है, अतः, उदक को 'शवः' कहा जाता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'शव्' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'शवः' पद उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'शवस्' पद को बलवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार यह पद 'श्वि' या 'शू' धातु से व्युत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त कोषकार उक्तपद की उत्पत्ति विकास प्रक्रिया निम्न प्रदर्शित करते हैं:-'**वृष्य(बलवत्)=श्यवस्=शवस्**'।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'शवः' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स के मत में 'शवः' पद का मूल 'शु' या 'श्वि' धातु है। उनके अनुसार ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में उक्तपद शक्ति, शौर्य, पराक्रम, वीरता, श्रेष्ठता आदि अर्थों में आया है।[८]

वैदिक साहित्य में 'शवः' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है, परन्तु सर्वत्र प्रायः यह 'बल' के अर्थ में आया है। उदक के अर्थ में इसका प्रयोग दुर्लभ है। यजुर्वेद में मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि इन्द्र ने बरसने वाले उदक को आनन्द के लिये बढ़ाया।[९] इसके अतिरिक्त अन्य कोई उदाहरण प्राप्त नहीं होता, जिससे 'शवः' पद के 'उदक' अर्थ की प्रतीति होती हो। प्रस्तुत स्थल पर भी बल वाचक अर्थ ग्रहण किया जा सकता है। अतः, एक भी ऐसा उदाहरण प्राप्त नहीं होता, जिससे निःसन्दिग्धरूप से 'शवः' पद से उदक अर्थ की प्रतीति होती

---

१ निरु० २.२.

२ निघ० १.१२.४१; २.९.३.

३ निघ०वृ०, १.१२.४१.

४ उणा०, ४.१९४. 'श्वेः सम्प्रसारणं च।''

५ निघ०वृ०, १.१२.४१.

६ वै०पद०कोष, पृ० ३९४५.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० ५२१.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १०५९.

९ ऋ०यजु०, ३३.९७. ''अस्यदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यः शवो मदे सुतस्य विष्णवि।''

हो। इसके अतिरिक्त एक स्थान पर गौतम ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम्हारे देदीप्यमान तेज ने वृत्र का वध किया और उदकों को जीत लिया।[१] उक्त मन्त्र में ऋषि ने 'अपः' का प्रयोग किया है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त मन्त्र में पठित 'शवः' पद उदकवाचक नहीं है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वेद और वैदिक साहित्य में 'शवः' पद उदक के अर्थ में नहीं आया है। इसका यहाँ प्रायः सर्वत्र 'बल' वाचक के अर्थ में प्रयोग हुआ है।

निरुक्त और वैदिक साहित्य के अवलोकन से यह तथ्य अस्पष्ट बना रहता है कि वेद में 'बल' अर्थ में प्रयुक्त होने वाला 'शवः' पद किस कारण से 'मृत शरीर' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। आश्चर्य की बात यह है कि निघण्टुकार ने 'शवति' क्रिया का परिगणन गत्यर्थक पदों में तथा उससे निष्पन्न 'शवः' पद का परिगणन उदक एवं 'बल' वाचक गणों में किया है।[२] इस प्रकार 'शवः' पद जीवन्तता का प्रतीक रहा है, यह माना जा सकता है, परन्तु यदि यास्क निघण्टुकार भी हैं, तो वे क्यों उक्त दो अर्थों को उपेक्षा करते हैं? यास्क के मौन रहने का कारण अस्पष्ट है। सम्भवतः, बल व उदकवाचक 'शवः' पद तथा मृत शरीर वाचक 'शवः' पद दोनों भिन्न-भिन्न मूल के रहे हैं। भाषा में कई बार ऐसा होता है कि रूपात्मकता की दृष्टि से समान दिखायी देने वाले पदों का मूल भिन्न-भिन्न होता है। आचार्य यास्क ने शब्द प्रवृत्तियों के विवेचन में उक्त प्रकार की शब्द प्रवृत्ति का भी उल्लेख किया है।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि बल एवं उदकवाचक 'शवः' पद गत्यर्थक 'शवति' धातु से निष्पन्न हुआ है जबकि 'मृत शरीर' के वाचक 'शवः' पद 'फूलने अर्थ' वाली 'श्वि' धातु से उपपन्न हुआ है। इसका कारण यह है कि फूलना या सड़ना मृतशरीर की स्वाभाविक क्रिया है।

४२. यहः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'यहः' पद परिगणित है।[४] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'यहः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**यहः (उदकम्)। यातेर्ह्वयतेश्च। यातं प्राप्तं पिपासितैः हुतं च यज्ञे देवतात्वात्**"[५] कि प्रातःकाल पिपासुओं को प्राप्त होता है और देवता होने के कारण यज्ञ में इसकी प्राप्ति के लिये आहुति दी जाती है। इस पक्ष में 'या' और 'ह्वे' इन दो धातुओं के संयोग से 'यहः' पद निष्पन्न होता है।

मोनियर विलियम्स 'यहः' पद का मूल 'यह्' धातु को मानते हैं।[६] परन्तु उक्त धातु के दर्शन पाणिनीय धातुपाठ में नहीं होते हैं।

वैदिक साहित्य में 'यहः' पद का प्रयोग सर्वथा नहीं हुआ है। आचार्य देवराजयज्वन् उक्तपद के

---

१ ऋ० १.८०.३. "इन्द्रं नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपः।"

२ निघ० १.१२.४१; २.९.३; २.१४.१७.

३ निरु० २.१. "प्रत्तमवत्तमिति।"

४ निघ० १.१२.४२.

५ निघ०वृ०, १.१२.४२.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ८४९.

उदाहरण के सम्बन्ध में '**निगमोऽन्वेषणीय:**' कहते हैं।[१] अतः, प्रमाण के अभाव में उक्तपद का स्वरूप निर्धारण करना सम्भव नहीं है।

४३. ओजः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'ओजः' पद परिगणित है।[२] आचार्य यास्क 'ओजः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**ओज ओजतेर्वा**''[३] कि वर्धन स्वभाव वाला होने से शक्ति को 'ओजः' कहा जाता है। इस पक्ष में वृद्ध्यर्थक 'ओज्' धातु से 'ओजः' पद निष्पन्न होता है। पाणिनीय धातुपाठ में उक्त धातु परिगणित नहीं है।

(ख)''उब्जतेर्वा''[४] कि अन्यों को अपने सामने अवनत कर देने के कारण शक्ति को 'ओजः' कहा जाता है। इस पक्ष में झुकने अर्थ वाली 'उब्ज्' धातु से 'ओजः' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'ओजः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**ओजः (उदकम्)। 'उब्ज' आर्जवे'। उब्जत्यनेनेत्युर्क्। न्यग्भावयति वा स्ववेगेनानतप्रदेशम्, वर्द्धते वा वर्षासु बलवद्वा**''[५] कि दमन कर देने या बढ़ जाने के कारण यह 'उर्क्' कहलाता है। यह उदक अपने वेग से निम्नप्रदेश को निमज्जित कर देता है अथवा वर्षा के समय यह बहुत बढ़ जाता है, अतः, उदक को 'ओजः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'उब्ज्' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'ओजः' पद निष्पन्न होता है।

उणादिकोष के वृत्तिकार 'ओजः' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**उब्जति कोमलो भवतीति ओजः पराक्रमो वा**''[६] कि कोमल होने से यह 'ओजः' कहलाता है, परन्तु यह निर्वचन बहुत उचित प्रतीत नहीं होता है। ओज की विशेषता कोमलता नहीं है, वरन् उसके सामने अन्य कोमल अर्थात् विनम्र हो जाते हैं।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'ओजस्' को बल, ऊर्जस् प्रभृति अर्थ का वाचक नामपद स्वीकार करता है। यह पद 'उज्' धातु से व्युत्पन्न होता है, परन्तु उक्त धातु का अर्थ सन्दिग्ध है। लेकिन पेटरसन, ग्रासमैन, मैनफ्रेड वाटरबुश प्रभृति विद्वान् 'वज्' वृद्धौ' धातु से उक्तपद को व्युत्पन्न मानते हैं।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'ओजः' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[८] मोनियर विलियम्स 'ओजः' पद का मूल 'वज्' या 'उज्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय-संहिता, ऐतरेय-ब्राह्मण एवं महाभारत में 'ओजः' पद शरीर की शक्ति, उत्साह, सामर्थ्य, ऊर्जा आदि अर्थों में आया है।[९] उणादिकोष के अनुसार बल अर्थ में

---

१ निघ०वृ०, १.१२.४२.

२ निघ० १.१२.४३.

३ निरु० ६.८.

४ निरु० ६.८.

५ निघ०वृ०, १.१२.४३.

६ उणा०, ४.१९३. ''उब्जेर्बले बलोपश्च।''

७ वै०पद०कोष, पृ० ८७०.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० १६२.

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, २३५.

'ओजः' पद की व्युत्पत्ति 'उब्ज्' धातु से होती है। डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा यास्क के प्रथम निर्वचन के सम्बन्ध में कहते हैं कि 'ओज्' धातु यास्क की अपनी उपज है, वैदिक साहित्य में यह कहीं भी उपलब्ध नहीं होती है। भारोपीय भाषा में 'aueg' वृद्धि अर्थ में तथा अवेस्ता में 'aojah' शक्ति के अर्थ में है। वे उक्त निर्वचन को यास्क के '**सर्वाणि नामान्याख्यातजानि**' सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं। जबकि यास्क के द्वितीय निर्वचन को वे असङ्गत कहते हैं।[१]

वैदिक साहित्य में 'ओजः' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि कामनाओं की वर्षा करने वाला इन्द्र ओज (उदक) के साथ मनुष्यों को प्राप्त होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे वृषभ गोयूथों को।[२] एक अन्य सूक्त में मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि स्तोता गण जगत् के स्वामी इन्द्र की उदक के कारण स्तुति करते हैं। उस इन्द्र के सैकड़ों अथवा उससे भी अधिक अनुदान हैं।[३] मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि ये ओज के कारण अतिरस्कृत उग्र मरुत् सूर्य की स्तुति करते हैं। ऐसे ये मरुत् अग्नि के साथ यहाँ आयें।[४] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहते हैं कि अपने ओज (उदक) से पृथिवीस्थ समुद्र का तिरस्कार करने वाले मरुत् सूर्यकिरणों के साथ सम्पूर्ण आकाश में व्याप्त हो जाते हैं। ऐसे मरुत् अग्नि के साथ यहाँ आयें।[५] घोरपुत्र कण्व ऋषि कहते हैं कि हे मरुत्! आप या किसी अन्य मनुष्य के द्वारा प्रेषित शत्रु को अपने उदक रूप (ओजः) बल (शवः) से हमसे दूर कीजिये।[६] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि योद्धा इन्द्र युद्ध करता हुआ शत्रु को प्राप्त करता है और उसके पश्चात् वह अपने धर्षक ओज (उदक) से सर्वप्रथम शत्रु के नगर को सम्यक्‌रूप से नष्ट करता है।[७] एक अन्य स्थान पर आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि यश की इच्छा वाला इन्द्र क्रिया से निर्मित शत्रु सदनों को अपने उदक से नष्ट करता हुआ भूमि के समान बढ़ जाता है।[८] त्रिशिर ऋषि कहते हैं कि सत्तात्मक पदार्थों का स्वामी इन्द्र, अत्यधिक ओज (उदक) से व्याप्त मानने वाले मेघ के तीनों सिरों को शब्द करता हुआ काट डालता है।[९] इन्द्र वैकुण्ठ ऋषि कहते हैं कि मैं (इन्द्र) सूर्य की शीघ्रगामी किरणों से वहन किया जाता हुआ उदक के साथ चारों ओर पहुँच जाता हूँ। मनुष्य के हित के अनुरूप मैं कर्तव्य पूर्ति में मेघ का वध करता हूँ।[१०] बृहदुक्थ वामदेव्य ऋषि कहते हैं कि इन्द्र दिव्य भावनाओं

---

१ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ८७, ११९.

२ ऋ० १.७.८. "वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा। ईशानो अप्रतिष्कुतः।"

३ ऋ० १.११.८. "इन्द्रमीशानमोजसाभि स्तोमा अनूषत। सहस्रं गस्य रातयः उत वा सन्ति भूयसीः।"

४ ऋ० १.१९.४. "य उग्रा अर्कमानृचुरनाधृष्टास ओजसा। मरुद्भिरग्न आ गहि।"

५ ऋ० १.१९.८. "आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा। मरुद्भिरग्न आ गहि।"

६ ऋ० १.३९.८. "युष्मेषितो मरुतो मर्त्येषित आ यो नो अभ्व ईषते। वि तं युयोथ शवसा व्योजसा वि युष्माकाभिरूतिभिः।"

७ ऋ० १.५३.७. "युधा युधमुप घेदेषि धृष्णुया पुरा पुरं समिदं हंस्योजसा।"

८ ऋ० १.५५.६. "स हि श्रवस्युः सदनानि कृत्रिमा क्ष्मया वृधान ओजसा विनाशयन्।"

९ ऋ० १०.८.९. "भूरीदिन्द्र उदि नक्षन्तमोजोऽभिनत्सत्पतिर्मन्यमानाम्। त्वाष्ट्रस्य चिद्विश्वरूपस्य गोनामाचक्राणस्त्रीणि शीर्षा परा वर्क्।"

१० ऋ० १०.४९.७. "अहं सूर्यस्य परि याम्याशुभिः प्रैतशेभिर्वहमान ओजसा। यन्मा सावो मनुष आह निर्णिज ऋधक्

की रक्षा और दासत्व (शोषकत्व) का विनाश और प्रजा के लिये उदक को प्रदान करता है।[१] शिविर औशीनर ऋषि कहते हैं कि वह प्रजाओं की कामनाओं को पूर्ण करने वाला इन्द्र दुःख से बचाने वाले वननीय ओज (उदक) को उत्पन्न करता है।[२] यहाँ स्पष्टरूप से ऋषि इन्द्र को वृषभ कहता हुआ उसे ओज (उदक) की वर्षा करने वाला बतलाता है। मैत्रायणी-संहिता कहती है कि प्रजापति रेतस् ही इन्द्र का ओज है।[३] जैमिनीय-ब्राह्मण मरुतों के वीर्य को ओज कहता है।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'ओजः' है, जो इन्द्र से मनुष्यों को प्राप्त होता है, इस ओजरूप उदक के कारण ही इन्द्र की स्तुति होती है, इस उदक से मरुत् अतिरस्कृत रहते हैं, मरुतों का ओज (उदक) पृथिवीस्थ समुद्र से भी अधिक व्यापक है, इस उदक से मरुत् शत्रुओं का विनाश करते हैं, इन्द्र भी अपने धर्षक ओज (उदक) से सर्वप्रथम शत्रु के पुर और सदनों को नष्ट करता है, अपने को ओज (उदक) से व्याप्त मानने वाले मेघ का इन्द्र भेदन करता है, इन्द्र इस ओज (उदक) के माध्यम से चारों ओर पहुँच जाता है और प्रजा के कल्याण के लिये उदक (ओज) प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण प्रजापति के रेतस् तथा मरुतों के वीर्य को 'ओजस्' कहता है तथा वर्षा करने वाले इन्द्र या मरुतों से जो उदक प्राप्त होता है, वह वेद की दृष्टि में 'ओजस्' है। है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सायणादि आचार्यों ने 'ओजः' का अर्थ सर्वत्र 'बल' लिया है, पर उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेद में 'ओजः' पद का अर्थ 'उदक' भी लिया जा सकता है। इस दृष्टि से विचार करने पर आर्जव अर्थ वाली 'उब्ज्' धातु को 'ओजः' पद का मूल माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि उदक से भरे प्रदेश समतल प्रतीत होते हैं।

४४. सुखम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'सुख' पद परिगणित है।[५] आचार्य यास्क 'सुख' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**सुखं कस्मात्? सुहितं खेभ्यः**''[६] कि जो इन्द्रियों के लिये हितकारी (अनकूल) है, वह सुख कहलाता है। इस पक्ष में 'सु+हित+ख' से 'सुख' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''**सुखमिति कल्याणनाम। कल्याणं पुण्यं सुहितं भवति**''[७] कि सुख यह कल्याण वाचक नाम है। कल्याण अर्थात् पुण्य सुहितकारी होता है। इस पक्ष में 'सु+हित' से 'सुख' शब्द निष्पन्न होता है।

(ग)''**सुहितं गमयतीति वा**''[८] कि यह पुण्य (कल्याण) सुहित की ओर ले जाता है, अतः, यह

कृषे दासं कृत्व्यं हथैः।''

१ ऋ० १०.५४.१. ''प्रावो देवाँ अतिरो दासमोजः प्रजायै त्वस्यै यदशिक्ष इन्द्र।''

२ ऋ० १०.१८०.३. ''इन्द्र क्षत्रमभि वाममोजोऽजायथा वृषभं चर्षणीनाम्।''

३ मै०सं० ४.९.१. ''इन्द्रस्यौजोऽसि प्रजापते रेतः।''

४ जै०ब्रा०, २.२०९. ''ओजो वै वीर्यं मरुतः।''

५ निघ० १.१२.४४.

६ निरु० ३.१३.

७ निरु० ९.२.

८ निरु० ९.२.

'सुख' कहलाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'सुख' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**सुखम् (उदकम्)। सुखावहत्वात् सुखम्**''[१] कि सुख प्रदान करने के कारण उदक को 'सुख' कहा जाता है। इस पक्ष में आचार्य देवराजयज्वन् ने केवल अर्थ का प्रदर्शन किया है।

(ख)''**सुखं कस्मात्? सुहितं खेभ्यः (निरु०,३.१३.) इति भाष्ये स्कन्दस्वामी- सुष्ठु हितं खेभ्यः**''[२] कि यह इन्द्रियों के लिये हितकारी होता है, अतः, उदक को सुख कहा जाता है। इस पक्ष में 'सु+हित+ख' से 'सुख' शब्द निष्पन्न होता है।

(ग)''**यद्वा, खं पुनः खनतेः (निरु०,३.१३.) उत्पूर्वस्य उत्खनति विनाशयति, किम्? परब्रह्मप्राप्तिसुखम्, कथम्? कायसुखप्रवृत्तेरधोगमनात् इति सुखम्**''[३] कि शरीर की सुखप्रवृत्ति परब्रह्म प्राप्ति के आनन्द का विनाश करती है, अतः, उसे सुख कहा जाता है। उक्त देवराजयज्वन् कृत निर्वचन एवं उसका विवेचन प्रकरण के विरुद्ध है। प्रस्तुत प्रकरण के अनुकूल निर्वचन निम्न होगा:-''**सरलतया उत्खननेन यदुदकं प्राप्नोति तत्सुखम्**'' कि विना किसी कठिनाई के उत्खनन से जो उदक प्राप्त होता है, वह 'सुख' है। इस पक्ष में सु+'खन्' से 'सुख' शब्द निष्पन्न होता है।

(घ)''**सुहितं गमयतीति वा**''[४] कि यह पुण्य (कल्याण) सुहित की ओर ले जाता है, अतः, यह 'सुख' कहलाता है। इस पक्ष में 'सु+हित' से 'सुख' शब्द सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सुख' पद को आनन्द अर्थ का वाचक मानता है। पदपाठकार 'सु-ख' इस प्रकार विगृहीत करता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए '**सु+ख**' अथवा '**सुक्ष्'=सुह्=सुख**' पद व्युत्पन्न होता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'सुख' को अव्युत्पन्न बतलाती है।[६] मोनियर विलियम्स कहते हैं कि सुख शब्द को प्रायः 'सु+ख' से व्युत्पन्न किया जाता है। उनके अनुसार इसका तात्पर्य 'सुन्दर धुरा का छिद्र' है। सम्भवतः, यह शब्द 'सु+स्थ' का प्राकृतरूप है, जो ऋग्वेद में शीघ्रता या सरलता से चलने के अर्थ में आया है, विशेषरूप से यान या रथ के लिये व्यवहृत हुआ है। रमणीय अर्थ में वेद में इसका विरल प्रयोग हुआ है।[७]

वैदिक साहित्य में 'सुख' शब्द का अनेकशः उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि त्वष्टादेव ने अश्विनीदेवों के लिये गमनशील, रमणीय रथ का सम्पादन किया।[८] एक अन्य स्थान पर ऋषि उषा

---

१ निघ०वृ०, १.१२.४४.

२ निघ०वृ०, १.१२.४४.

३ निघ०वृ०, १.१२.४४.

४ निघ०वृ०, १.१२.४४.

५ वै०पद०कोष, पृ० ३३९७.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ५७३.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १२२०.

८ ऋ० १.२०.३. ''तक्षन्नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथम्।''

को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि हे उषा! तुम सुन्दर, सुखकर रथ पर बैठी हुई हो।[१] वेद का ऋषि कहता है कि हे जानने वाले इन्द्र! स्थिर सुख देने वाले रथ पर बैठकर सोमपान करने के लिये यहाँ आओ।[२] कहीं ऋषि कहता है कि सुख देने वाला रथ सोम के पीने योग्य है अर्थात् इस पर बैठकर सुखपूर्वक सोमरस पीया जा सकता है।[३] कहीं ऋषि शूरवीर के समान उदक के निमित्त मरुतों को दीप्यमान, सुखकर रथ को संयोजित करने की बात कहता है।[४] यहाँ ऋषि ने 'सुख' का अर्थ 'उदक' नहीं माना, वरन् उसके लिये 'गविष्टिषु' शब्द का प्रयोग किया है। कहीं ऋषि कहता है कि अन्तरिक्षस्थ जलवेग सुखकर किरणों वाले चक्र को अपने साथ जोड़ता है और उससे संसार में अन्न देता है।[५]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उक्त सभी उदाहरणों में ऋषि ने रथ के विशेषण के रूप में 'सुख' शब्द का प्रयोग किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि वेद और वैदिक साहित्य में उदक के अर्थ में 'सुख' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वर्तमान में उपलब्ध साहित्य को देखते हुए 'सुख' शब्द के उदकवाचक गण में परिगणन का आधार अस्पष्ट है। इसके अतिरिक्त लोकभाषा में प्रयुक्त 'सुख' शब्द के अर्थ से भी वैदिक एवं लौकिक साहित्य में उपलब्ध अर्थ की पुष्टि होती है, जबकि निघण्टु में परिगणित उदक अर्थ का समर्थन अपवाद रूप से भी होता हुआ दिखायी नहीं देता है। जहाँ तक मोनियर विलियम्स के इस कथन का प्रश्न है कि वेद में प्रायः 'रमणीय' अर्थ में 'सुख' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, उक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि वेद में प्रायः 'सुख' शब्द रमणीय या उसके समतुल्य अर्थ के वाचक रूप में प्रयुक्त हुआ है और लोक में भी इसी रूप में व्यवहृत होता है।

४५. क्षत्रम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'क्षत्र' पद परिगणित है।[६] शतपथ-ब्राह्मण 'क्षत्र' पद का निर्वचन करता हुआ कहता है:-"**प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः प्र क्षत्रमात्रमाप्नोति क्षत्रस्य सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद**"[७] कि प्राण को 'क्षत्र' कहा जाता है, क्योंकि यह हिंसा से रक्षा करता है। इस पक्ष में 'क्षणु' हिंसायाम्' तथा 'त्रैङ्' पालने' इन दोनों धातुओं के संयोग से 'क्षत्र' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'क्षत्र' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**क्षत्रम् (उदकम्)। 'क्षदि' स्थैर्य्ये'। माधवपक्षे क्षदिः शकलीकरणार्थो हिंसार्थश्च। 'क्षद' गतिहिंसनयोः' इति सुबोधिनीकारः। वर्षाव्यतिरिक्तेषु ऋतुषु सूर्यरश्मिभिराहता ह्यापो मेघेषु घनीभूताः पाषाणवत् स्थिरा भवन्ति जलाशयं प्राप्य वा।**

---

१ ऋ० १.४९.२. "सुपेशसं सुखं रथं यमध्यस्था उषस्त्वम्।"

२ ऋ० ३.३५.४. "स्थिरं रथं सुखमिन्द्राधिष्ठन्प्रजानन्विद्वाँ उप याहि सोमम्।"

३ ऋ० १.१२०.११. "सोमपेयं सुखो रथः।"

४ ऋ० ५.६३.५. "रथं युञ्जते मरुतः शुभे सुखं शूरो न मित्रावरुणा गविष्टिषु।"

५ ऋ० १०.७५.९. "सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वज्रं सनिषदस्मिन्नाजौ।"

६ निघ० १.१२.४५.

७ शत०ब्रा०, १४.८.१४.४.

अश्यते भुज्यते वा। अतिपीतं श्लेष्मादि जनयित्वा प्राणिनो हिनस्ति वा। गच्छति निम्नं गम्यते वा तदर्थिभिः''[१] कि वर्षा से भिन्न ऋतुओं में सूर्यरश्मियों द्वारा आहृत उदक मेघों में घनीभूत या जलाशय को प्राप्त करके पाषाण के समान स्थिर हो जाते हैं। अथवा इस उदक का पान या भोग किया जाता है अथवा अत्यधिक पान करने पर यह श्लेष्मादि को उत्पन्न करके प्राणियों की हिंसा करता है अथवा यह निम्न प्रदेश में बह जाता है या जलार्थियों के द्वारा ले जाया जाता है, अतः, उदक को 'क्षत्र' कहा जाता है। इस पक्ष में 'क्षद्' धातु से 'त्र' प्रत्यय करके 'क्षत्र' पद निष्पन्न होता है। उणादिकोष इसी प्रकार 'क्षत्र' शब्द को व्युत्पन्न करने के पक्ष में है।[२]

(ख)**''यद्वा, क्षत्रशब्दो बलनाम। बलवद्धि जलम्''**[३] कि क्षत्र शब्द बलवाचक है। बलवान् होने के कारण उदक को 'क्षत्र' कहा जाता है। इस पक्ष में 'क्षत्र' शब्द से मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय होकर 'क्षत्र' शब्द उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'क्षत्र' पद को बल, ओजस्, आधिपत्य, राजन्य प्रभृति अर्थ का वाचक मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। लेकिन विद्वान् निम्न व्युत्पत्तियों की सम्भावना प्रकट करते हैं:-१. **'क्षण्' हिंसायाम्=क्षत्+'त्रै'। २. क्षत+'त्रै'। ३. 'क्षद्' हिंसायाम्'। ४. क्षद्' रक्षणे'।**[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'क्षत्र' शब्द को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स के मत में 'क्षि' धातु से 'क्षत्र' शब्द व्युत्पन्न होता है। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद, वाजसनेयि-संहिता एवं शतपथ-ब्राह्मण में 'क्षत्र' शब्द आधिपत्य, प्रभुता, शक्ति, पराक्रम (यह मानवीय या अतिमानवीय, विशेषरूप से वरुण, मित्र और इन्द्र के लिये प्रयुक्त होता है) अर्थ में है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं वाजसनेयि-संहिता में शासन एवं शासनतन्त्र के लिये भी आया है।[६] वेद से प्राप्त सङ्केत भी 'क्षत्र' को 'क्षि' धातुमूलक सिद्ध करते हैं।[७]

वैदिक साहित्य में 'क्षत्र' शब्द का व्यापक प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में दीर्घतमस् ऋषि द्यावापृथिवी की स्तुति करते हुए कहते हैं कि स्तुति किये जाते हुए महान् भूमि और सूर्य हम लोगों के लिये अत्यन्त प्रशंसनीय अन्न और उदक को धारण करें।[८] मन्त्र में आये 'श्रवः' और 'क्षत्र' का आशय क्रमशः 'यश' और 'बल' ग्रहण किया जा सकता है। प्रजापति ऋषि कहते हैं कि इस संसार में गूढ तत्त्वों को धारण करते हुए देवगण उदक के लिये द्यावापृथिवी को सङ्गत करते हैं।[९] सायण उक्त मन्त्र का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि इस भूलोक में गूढ कर्मों को धारण करते हुए कविगण बल या धन के लिये द्यावापृथिवी की

---

१ निघ०वृ०, १.१२.४५.

२ उणा०, ४.१६८. ''गुधृवीपचिवचियमिसदिक्षदिभ्यस्त्रः।''

३ निघ०वृ०, १.१२.४५.

४ वै०पद०कोष, पृ० ११८५.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० १७९.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ३२५.

७ ऋ० ६.५१.४. ''यूनः सुक्षत्रान्क्षयतो दिवो नॄन्।''

८ ऋ० १.१६०.५. ''ते नो गृणाने महिनी महि श्रवः क्षत्रं द्यावापृथिवी धासथो बृहत्।''

९ ऋ० ३.३८.३. ''नि षीमिदत्र गुह्या दधाना उत क्षत्राय रोदसी समञ्जन्।''

सङ्गति करते हैं।[१] इस प्रकार सायण 'क्षत्र' का अर्थ 'बल' ग्रहण करने के पक्ष में हैं, जबकि 'उदक' अर्थ ग्रहण करने में भी किसी प्रकार की असङ्गति दिखलायी नहीं देती है। इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि द्युलोक का पालन करने वाले, अत्यन्त प्रकाशमान इन्द्रावरुण (सूर्य और विद्युत्) नाम के राजा विज्ञानयुक्त कर्मों से उदक को धारण करते हैं।[२] प्रस्तुत मन्त्र में सायण ने 'क्षत्र' का अर्थ 'धन' लिया है।[३] अर्चनानस ऋषि मित्रावरुणदेवों से निवेदन करते हुए कहते हैं कि ये दोनों हमारे लिये उदक और अन्न को धारण करें।[४] यहाँ सायण ने 'क्षत्र' का अर्थ 'बल' ग्रहण किया है, पर उक्त मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि 'उदक' अर्थ भी सरलता से ग्रहण किया जा सकता है। आत्रेय ऋषि कहते हैं कि वरुण, मित्र और अर्यमन्–ये तीन देव वृष्टि वाले उदक को व्याप्त करते हैं।[५] ऋजिश्वन ऋषि कहते हैं कि द्यावापृथिवी उदक को विस्तीर्ण करें अर्थात् चारों ओर उदक उपलब्ध हो, सुख प्रदान करने वाले ये दोनों देव हमें बृहत् गृह प्रदान करें।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'क्षत्र' है, जिसको द्यावापृथिवी धारण करते हैं, उदक के निमित्त द्यावापृथिवी की सङ्गति होती है, इन्द्रावरुण (सूर्य और विद्युत्) विज्ञानयुक्त कर्मों से उदक को धारण करते हैं, मित्रावरुण भी उदक और अन्न को धारण करते हैं, कहीं ऋषि ने वृष्टि वाले उदक को धारण करने वाले के रूप में वरुण, मित्र और अर्यमा का वर्णन किया है। उक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि 'क्षत्र' के साथ तीन युगल देवों का विशेष रूप से उल्लेख प्राप्त होता है:– १. द्यावापृथिवी, २. मित्रावरुण, ३. इन्द्रावरुण। इनमें भी द्यावापृथिवी के साथ 'क्षत्र' का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि युगल देवों के सम्पर्क से प्राप्त होने वाले उदक वेद की दृष्टि में 'क्षत्र' हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि ब्राह्मण 'क्षत्र' का एकाकी प्रयोग न्यून करते हैं। वे भी 'ब्रह्म' और 'क्षत्र' इन दो को संयुक्त करके युगल रूप में इनका वर्णन करते हैं।[७] इसके अतिरिक्त ब्राह्मण 'क्षत्र' और 'वरुण' में एक विशेष सम्बन्ध को देखता है।[८] निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि जिस प्रकार 'क्षत्र' के देवता युगलरूप हैं, उसी प्रकार 'क्षत्र' भी। इस दृष्टि से विचार करने पर 'क्षत्र' शब्द के सभी निर्वचन अप्रासङ्गिक प्रतीत होते हैं। फिर भी 'क्षि' निवासगत्योः' धातुमूलक निर्वचन सर्वाधिक उपयुक्त निर्वचन माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि उक्त निर्वचन में जहाँ 'क्षत्र' की युगलरूपता रेखाङ्कित होती है, वहीं उदक की गतिशीलता भी अभिव्यञ्जित हो जाती है। इसके साथ यह उदक प्राणी के निवास का आधार होने से द्यावापृथिवी की सन्तान माना जाना उचित प्रतीत होता है। यहाँ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि वेद और लोक दोनों स्थानों पर मूल रूप से 'क्षत्र' शब्द 'क्षत्रिय' के

---

१ सायणभाष्य, ऋ० ३.३८.३.

२ ऋ० ३.३८.५. ''दिवो नपाता विदथस्य धीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाथे।''

३ सायणभाष्य, ऋ० ३.३८.५.

४ ऋ० ५.६४.६. ''युवं नो येषु वरुण क्षत्रं बृहच्च बिभृथः।''

५ ऋ० ५.६७.१. ''वरुण मित्रार्यमन्वर्षिष्ठं क्षत्रमाशाथे।''

६ ऋ० ६.५०.३. ''उत द्यावापृथिवी क्षत्रमुरु बृहद्रोदसी शरणं सुषुम्ने।''

७ जै०ब्रा०, ३.२३१; १.२३२.

८ शत०ब्रा०, ५.१.५.३. ऐ०ब्रा०, ८.६. कौ०ब्रा०, ७.१०. गो०ब्रा०, २.६.७. ''क्षत्रं वरुणः।''

लिये प्रयुक्त हुआ दिखायी देता है। ऋग्वेद कहता है कि क्षत्रिय क्षत्रत्व को प्राप्त करें।[१] ब्राह्मण और लौकिक साहित्य इस प्रकार के उद्धरणों से भरे पड़े हैं, जो क्षत्रिय के साथ क्षत्रत्व को जोड़कर देखते हैं। जबकि उदक और धन उसके गौण अर्थ प्रतीत होते हैं, यह सही है कि इन दोनों अर्थों के उदाहरण वेद में देखने को मिल जाते हैं।

४६. आवया:

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'आवया:' पद परिगणित है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'आवया:' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**आवया: (उदकम्)। आङ्पूर्वात् 'वी' गतिव्याप्तिप्रजननकान्त्यसनखादनेषु'। अस्यते वीयते आभिमुख्येन गम्यते इति वा आवया:**''[३] कि इसका क्षेपण किया जाता है या यह सामने की ओर गमन करता है, अत:, उदक को 'आवया:' कहा जाता है। इस पक्ष में 'आ+'वी'+असि' से 'आवया:' रूप निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'आवया:' पद का ऋत्विग्-विशेष अर्थ मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की निम्न तीन व्युत्पत्तियाँ सम्भावित हैं:- १. **'आव+याज्=अव+याज्'**। २. **अव+'या'=अवया= आवय=आवया:**। ३. **आ+ 'वी'**।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'आवया:' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स भी उक्तपद को अव्युत्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद 'युवा' अर्थ में आया है।[६]

वैदिक साहित्य में उक्तपद का नगण्य प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मात्र एक बार उक्तपद देखने को मिलता है। ऋग्वेद में दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि होता और अध्वर्यु प्रमुखरूप से हवियों का अग्नि के साथ संयोग करने वाले हैं। ये स्तुति करने वाले सुन्दर मेधावी प्रशंसा को प्राप्त करते हैं।[७]

उपर्युक्त प्राप्त एकमात्र उद्धरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में 'आवया:' पद उदक अर्थ का वाचक नहीं है। अत:, 'आवया:' पद के विशिष्ट स्वरूप और उसके निर्वचन का निर्धारण करना सम्भव नहीं है।

४७. शुभम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'शुभम्' पद परिगणित है।[८] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक

---

१ ऋ० ८.२५.८.

२ निघ० १.१२.४६.

३ निघ०वृ०, १.१२.४६.

४ वै०पद०कोष, पृ० ७०४.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० १०१.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १५४.

७ ऋ० १.१६२.५. ''होताध्वर्युरावया अग्निमिन्धो ग्रावग्राभ उत शंस्ता सुविप्र:।''

८ निघ० १.१२.४७.

'शुभम्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**शुभम् (उदकम्)। 'शुभ' दीप्तौ'। शोभते दीप्यते स्वेन तेजसादेवतात्वात्**''[१] कि देवता होने से अपने तेज से दीप्तिमान् होता है, अतः, उदक को 'शुभम्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'शुभ्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'शुभम्' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'शुभम्' पद का मूल दीप्त्यर्थक 'शुभ्' धातु को मानता है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'शुभम्' पद का मूल 'शुभ्' या 'शुम्भ्' धातु को मानती है।[३] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद, वाजसनेयि-संहिता एवं तैत्तिरीय-ब्राह्मण में 'शुभम्' पद वैभव, सुन्दरता, आभूषण, मण्डन आदि अर्थों में आया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद, अथर्ववेद और तैत्तिरीय-ब्राह्मण में यह पद चमक, तीव्रगामी पथ पर सरकना अर्थ में भी पाया जाता है।[४]

वैदिक साहित्य में 'शुभम्' पद का प्रयोग व्यापक रूप से पाया जाता है। ऋग्वेद में मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि विजयी योद्धाओं के समान मरुतों का गम्भीर उद्घोष सुनायी पड़ रहा है, क्योंकि वर्षा का नेतृत्व करने वाले मरुत् शुभ (उदक) का अनुवर्तन कर रहे हैं।[५] गौतम ऋषि कहते हैं कि जब ये मरुत् मेघों के भीतर शुभ (उदक) को तैय्यार करते हैं, तब इन मरुतों के प्रस्थान से पृथ्वी काँप जाती है।[६] अग्रिम सूक्त में पुनः गौतम ऋषि कहते हैं कि वे अरुण और पिङ्गलवर्ण के मरुत् शीघ्र रथ के पहुँचने वाले अश्वों के द्वारा वृष्टि के उद्देश्य से आते हैं।[७] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि बलवती, नियम से आलिङ्गन करने वाली युवति (विद्युत्) को युवा मरुत् यज्ञों में वृष्टि के लिये स्थापित करते हैं।[८] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि वेगवाली अग्नियाँ जल के उद्देश्य से जायें और बलयुक्त मरुतों के साथ परस्पर सङ्गत होती हुईं, ये जल में बूँदों का निर्माण करें।[९] श्यावाश्व ऋषि कहते हैं कि वृष्टि का नेतृत्व करने वाले मरुद्गणों ने उदक की प्राप्ति के लिये अपने आप चञ्चल स्वभाव वाली बूँदों का संयोजन किया।[१०] एक अन्य सूक्त में श्यावाश्व ऋषि कहते हैं कि वे मरुत् सुखपूर्वक नियमन करने योग्य, शीघ्रगामी अश्वों से आते हैं और उदक को लक्ष्य बनाकर गमन करने वाले रथों का अनुवर्तन करते हैं।[११] इसी सूक्त के अग्रिम मन्त्र में आगे ऋषि कहते हैं कि वे मरुत् ओज से अन्तरिक्ष को व्याप्त कर लेते हैं और उदक को लक्ष्य बनाकर गमन करने वाले रथों का अनुवर्तन करते हैं।[१२] आगे ऋषि सूर्य

---

१ निघ०वृ०, १.१२.४७.

२ वै०पद०कोष, पृ० ३१२७.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ५२७.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १०८८.

५ ऋ० १.२३.११. ''जयतामिव तन्यतुर्मरुतामेति धृष्णुया। यच्छुभं याथना नरः।''

६ ऋ० १.८७.३. ''प्रैषामज्मेषु विथुरेव रेजते भूमिर्यामेषु युञ्जते शुभे।''

७ ऋ० १.८८.२. ''तेऽरुणेभिर्वरमा पिशङ्गैः शुभे कं यान्ति रथतूर्भिरश्वैः।''

८ ऋ० १.१६७.६. ''आस्थापयन्त युवतिं युवानः शुभे निमिश्लां विदथेषु पज्राम्।''

९ ऋ० ३.२६.४. ''प्र यन्तु वाजास्तविषीभिरग्नयः शुभे संमिश्लाः पृषतीरयुक्षत।''

१० ऋ० ५.५२.८. ''उत स्म ते शुभे नरः प्र सान्द्रा युजत त्मना।''

११ ऋ० ५.५५.१. ''ईयन्ते अश्वैः सुयमेभिराशुभिः शुभं यातामनु रथा अवृत्सत।''

१२ ऋ० ५.५५.२. ''उतान्तरिक्षं ममिरे व्योजसा शुभं यातामनु रथा अवृत्सत।''

की रश्मियों के समान चमकने वाला बतलाता हुआ, उदक का अनुवर्तन करने वाले के रूप में मरुतों का उल्लेख करता है।[१] इसी क्रम को आगे बढ़ाता हुआ ऋषि मरुतों को अमृत को धारण एवं उदक का अनुसरण करने वाला बतलाता है।[२] श्यावाश्व ऋषि पुनः कहते हैं कि शत्रुओं का नाश करने वाले मरुतों के मेघ कभी नहीं सूखते हैं और वे उन उदकों का अनुवर्तन करते हैं।[३] एक अन्य सूक्त में श्यावाश्व ऋषि कहते हैं कि पृश्नि (अन्तरिक्ष या आदित्य) के पुत्र मरुत् पृथ्वी को कँपाते या क्षुब्ध करते हैं। ये उग्र मरुत् जब मेघ को पृषती अर्थात् सिञ्चनकर्म करने वाली जलधाराओं से युक्त करते हैं, तब वे पृथ्वी को क्षुब्ध अर्थात् अस्त-व्यस्त कर देते हैं।[४] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि पृश्नि के पुत्र मरुत् सुन्दर अश्वों, रमणीय रथ और अपने आयुधों सहित उदक के लिये प्रस्थान करते हैं।[५] अर्चनाना ऋषि कहते हैं कि मित्रावरुण की कृपा से मरुत् उदक के लिये सुखकर रथ को उसी प्रकार योजित करते हैं, जिस प्रकार शूरवीर युद्ध के लिये रथ को।[६] सोभरि ऋषि कहते हैं कि उदक का पालन करने वाले अश्विनीदेव ठीक उसी प्रकार आयें, जिस प्रकार नवप्रसूता गौ दुग्धपान कराने के लिये वत्स के पास आती है।[७] घोषा काक्षीवती ऋषिका कहती है कि ये दोनों अश्विनीदेव ऋतुओं के अनुसार आहुति को ग्रहण करते हैं तथा वृष्टि वाले उदक के स्वामी होने से प्रजा के लिये अन्न की प्राप्ति कराते हैं।[८]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'शुभम्' है, जो मरुतों के उद्घोष के पश्चात् प्राप्त होता है, मरुतों द्वारा उदक वृष्टि के लिये मेघों को तैय्यार करने पर भूमि काँप जाती है, अरुण और पिङ्गलवर्ण के मरुत् वृष्टि के उद्देश्य से अश्वों पर आरूढ होकर आते हैं, आलिङ्गन करने वाली युवती (विद्युत्) को ये मरुत् यज्ञ में उदक के लिये स्थापित करते हैं, अग्नियाँ मरुतों के साथ सङ्गत होकर जलकणों का निर्माण करती हैं, वृष्टि का नेतृत्व करने वाले मरुत् चञ्चल बूँदों का संयोजन करते हैं, सुखपूर्वक नियमन करने योग्य और शीघ्रगामी अश्वों से आकर, उदक को लक्ष्य बनाकर प्रस्थान करने वाले मरुत् रथों का अनुवर्तन एवं अन्तरिक्ष को व्याप्त कर लेते हैं, पृश्निपुत्र मरुत् वर्षा से पृथ्वी को क्षुब्ध कर देते हैं, मित्रावरुण की कृपा से ये मरुत् सुखकर रथ को उदक के लिये योजित करते हैं। इसके अतिरिक्त अश्विनीदेव से भी इस शुभ नामक उदक को देने की प्रार्थना की गयी है। ऋषि कहता है कि ये देव नवप्रसूता गौ के समान हमें उदक प्रदान करें तथा अन्न की प्राप्ति करायें।

उक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि वेद में 'शुभम्' नामक उदक के साथ मरुत्, पृषती और अश्विनीदेव का उल्लेख अधिक हुआ है। जिस उदक को मरुत् प्रदान करते हैं और जो मरुत् तथा अग्नि के

---

१ ऋ० ५.५५.३. ''विरोकिणः सूर्यस्येव रश्मयः शुभं यातामनु रथा अवृत्सत।''

२ ऋ० ५.५५.४. ''उत अस्माँ अमृतत्वे दधातन शुभं यातामनु रथा अवृत्सत।''

३ ऋ० ५.५५.५. ''न वो दस्रा उप दस्यन्ति धेनवः शुभं यातामनु रथा अवृत्सत।''

४ ऋ० ५.५७.३. ''कोपयथ पृथिवीं पृश्निमातरः शुभे यदुग्राः पृषतीरयुग्ध्वम्।''

५ ऋ० ५.५७.२. ''स्वश्वाः स्थ सुस्थाः पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम्।''

६ ऋ० ५.६३.५. ''रथं युञ्जते मरुतः शुभे सुखं शूरो न मित्रावरुणा गविष्टिषु।''

७ ऋ० ८.२२.४. ''शुभस्पती आ धेनुरिव धावतु।''

८ ऋ० १०.४०.४. ''युवं होत्रामृतुथा जुह्वते नरेषं जनाय वहथः शुभस्पती।''

संयोग से जलकणों में परिवर्तित होता है, जिसे वेद ने 'पृषती' नाम से सम्बोधित किया है, वह उदक वेद की दृष्टि में 'शुभम्' है। इसके अतिरिक्त वेद में अश्विनीदेवों के लिये 'शुभस्पती' विशेषण का प्रयोग अनेकशः हुआ है। इस दृष्टि से विचार करने पर 'शुभ' दीप्तौ' धातु को 'शुभम्' का मूल माना जा सकता है।

४८. यादुः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'यादुः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'यादुः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**यादुः (उदकम्)। 'या' प्रापणे'। याति निम्नप्रदेशं यादुः**"[२] कि निम्नप्रदेश में बह जाने के कारण उदक को 'यादुः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'या' धातु से 'उ' प्रत्यय तथा 'दुड्' आगम होकर 'यादुः' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'यादुः' पद का मूल 'याद्' धातु को मानते हैं।[३] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के हैं। उनके अनुसार वेद में आये 'यादस्' और 'यादमान' शब्द वैवाहिक (शारीरिक) सम्बन्ध, विलासप्रियता, कामातुरता आदि अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। इसी क्रम वे 'यादुरी' का अर्थ आलिङ्गन, कामातुरता के कारण अत्यधिक वीर्य का स्राव अर्थ ग्रहण करते हैं।[४]

वैदिक साहित्य में 'यादुः' पद का प्रयोग विरल हुआ है। ऋग्वेद में मात्र एक बार उक्तपद का उल्लेख प्राप्त होता है। भावयव्य ऋषि रोमशा नामक पत्नी से कहते हैं कि जिस प्रकार नकुली अपने नकुल का प्रगाढ आलिङ्गन करती है, उसी प्रकार भुजाओं के द्वारा आलिङ्गन करने पर वह मुझे अपने आलिङ्गन पाश में आबद्ध कर लेती है, ऐसा उसका स्वभाव है। प्रभूत रेतस्रूप उदक वाली वह मुझे भुजाओं से चारों ओर लपेटकर सैकड़ों सम्भोग के अवसर प्रदान करती है। इस प्रकार वह मेरी भोज्या (पत्नी) है।[५] उपर्युक्त मन्त्र की व्याख्या सायण दुर्ग एवं स्कन्दस्वामी को मान्य है।[६] उक्त मन्त्र का व्याख्यान निम्न प्रकार से भी किया जा सकता है:- 'जिस प्रकार नकुली प्रगाढ आलिङ्गन में अपने प्रियतम को बाँध लेती है, उसी प्रकार सेवन करने वाले पुरुष को राजनीति अपने आलिङ्गन में आबद्ध कर लेती है और वह यश रूप उदक से सिञ्चित करती हुई उसे व्यापक होने के अनेक अवसर एवं नाना प्रकार के भोग प्रदान करती है।'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वह उदक 'यादुः' है, जो पुरुष या स्त्री में शारीरिक सम्बन्ध के समय रज या वीर्य के रूप में प्रादुर्भूत होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर आलिङ्गन अर्थ वाली 'याद्' धातु को 'यादुः' पद का मूल माना जा सकता है।

---

१ निघ० १.१२.४८.

२ निघ०वृ०, १.१२.४८.

३ वै०पद०कोष, पृ० २५९१.ऋ०वै०पद०, पृ० ४२१.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ८५१.

५ ऋ० १.१२६.६. "आगधिता परिगधिता या कशीकेव जङ्गहे। ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता।"

६ ऋ० सायणभाष्य, १.१२६.६. दुर्ग एवं स्कन्द, निरु० वृ०, ५.१५.

४९. भूतम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'भूतम्' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'भूतम्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**भूतम् (उदकम्)। 'भू' सत्तायाम्'। पूर्वमेव सत् भूतम् प्रथमदृष्टत्वात्**''[२] कि अभिव्यक्ति से पूर्व विद्यमान होने से उदक 'भूतम्' कहलाता है। इस पक्ष में 'भू+क्त' से 'भूत' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''**अथवा 'भू' प्राप्तौ'। प्राप्यं पिपासितैः**''[३] कि तृषा से त्रस्त प्राणियों को प्राप्त होने के कारण उदक को 'भूतम्' कहा जाता है। इस पक्ष में प्राप्त्यर्थक 'भू' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'भूतम्' पद निष्पन्न होता है।

(ग)''**यद्वा, पञ्चसु पृथिव्यादिषु महाभूतेष्वन्तर्भावात् भूतमित्युच्यते**''[४] कि पृथिवी आदि पाँच महाभूतों में अन्तर्भूत होने से उदक को 'भूतम्' कहा जाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'भूत' पद को चेतनाचेतनजगत् एवं काल प्रभृति अर्थ का वाचक विशेषण एवं नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद का मूल 'भू' धातु है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार 'भूतम्' पद का मूल 'भू' धातु है।[६] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में उक्तपद भूतकाल के अतिरिक्त जीवित प्राणी (देव, मनुष्य पशु या वनस्पति) और संसार के लिये प्रयुक्त हुआ है।[७] वेद से प्राप्त सङ्केत भी उक्त निर्वचन की पुष्टि करते हैं।[८]

वैदिक साहित्य में 'भूत' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है, परन्तु प्रायः सर्वत्र भाष्यकारों ने 'भूतम्' का अर्थ 'भवतम्' और क्वचित् 'अभूतम्' किया है।[९] इस प्रकार यह पद प्रमुखरूप से लोट् लकार मध्यमपुरुष द्विवचन और क्वचित् लुङ् लकार मध्यमपुरुष द्विवचन के अर्थ में आया है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि वेद में 'भूतम्' पद का उदक के अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। निघण्टुकार के उक्त गण में परिगणन का आधार अस्पष्ट है। नासदीय सूक्त में सृष्टि पूर्व स्थिति में अप्रकट रूप में विद्यमान सलिल के अस्तित्व को स्वीकार किया है।[१०] कहने का आशय यह है कि प्राणी सृष्टि का प्रारम्भ जल पर निर्भर है, इसलिये उस जल से उत्पन्न होने वाले प्राणी 'भूत' कहलाते हैं और उनकी उत्पत्ति का कारण 'उदक' भी सम्भवतः, इस कारण 'भूत' मान

---

१ निघ० १.१२.४९.
२ निघ०वृ०, १.१२.४९.
३ निघ०वृ०, १.१२.४९.
४ निघ०वृ०, १.१२.४९.
५ वै०पद०कोष, पृ० २३६१.
६ ऋ०वै०पद०, पृ० ३७२.
७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ७६१.
८ अथर्व०, ६.८४.२. ''भूते हविष्मती भवैष।''
९ ऋ० १.९३.७; १८५.११; २.३२.१; ३९.६; ३.५४.३; ६.६३.५.
१० ऋ० १०.१२९.३. 'अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।''

लिया गया है। इसके अतिरिक्त पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों में सम्मिलित होने से उदक को 'भूत' कहा जाता है।

५०. भुवनम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'भुवन' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क 'भुवन' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**भुवनाय, भावनाय**"[२] कि जो भावित अर्थात् विभूति से युक्त करता है, वह 'भुवन' कहलाता है। इस पक्ष में 'भू' धातु से 'भुवन' पद निष्पन्न होता है।

(ख)"**भुवनानि, भूतानि**"[३] कि स्थूलरूप में अभिव्यक्ति प्राप्त करने के कारण संसार को 'भुवन' कहा जाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'भुवन' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**भुवनम् (उदकम्)। 'भू' सत्तायाम्'। भवन्त्यनेन सर्वे पदार्था इति भुवनम्**"[४] कि इससे सम्पूर्ण पदार्थ अस्तित्व में आते हैं, अतः, उदक को 'भुवन' कहा जाता है। इस पक्ष में 'भू' धातु से औणादिक 'क्युन्' प्रत्यय और 'उवङ्' आदेश होकर 'भुवन' पद निष्पन्न होता है। उणादिकोष छन्द विषय में उक्त प्रकार से 'भुवन' पद व्युत्पन्न करने के पक्ष में है।[५]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'भुवन' पद को लोक, भू, मासविशेष का वाचक मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति 'भू' धातु से होती है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची में 'भुवन' पद का मूल 'भू' धातु को माना गया है।[७] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'भुवन' पद अस्तित्व, जीवन, प्राणी, मनुष्य और मानवजाति के अर्थ में आया है। अथर्ववेद एवं शतपथ-ब्राह्मण में यह पद उत्पत्ति एवं निवासस्थान के अर्थ में आया है।[८] वेद से प्राप्त सङ्केत भी 'भुवन' पद का मूल 'भू' धातु को सिद्ध करते हैं।[९]

वैदिक साहित्य में 'भुवन' का व्यापक प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद में आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि ये इन्द्राग्नी (विद्युत् और अग्नि) सिन्धु, पर्वत और यहाँ तक समस्त भुवनों को अतिक्रान्त करके वर्तमान रहते हैं।[१०] यहाँ मन्त्र में आये 'भुवन' पद का आशय लोक भी ग्रहण किया जा सकता है। एक अन्य

---

१ निघ० १.१२.५०.

२ निरु० ७.२५.

३ निरु० ८.१४; १०.११; ३४.

४ निघ०वृ०, १.१२.५०.

५ उणा०, २.८१. "भूसूधूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि।"

६ वै०पद०कोष, पृ० २३५७.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० ३७१.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ७६०.

९ ऋ० २.२४.५; ४.१६.५; ८.९२.६; यजु०, ३६.२.

१० ऋ० १.१०९.६. "प्र सिन्धुभ्यः प्र गिरिभ्यो महित्वा प्रेन्द्राग्नी विश्वा भुवनात्यन्या।"

सूक्त में आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि इन्द्राग्नी देवों का चित्रतम (अतिशय पूजनीय) रथ सम्पूर्ण उदकों (भुवनों) का सम्यक्रूप से अवलोकन करता है।[१] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि यह सारा भुवन (उदक या लोक) अत्यन्त व्यापक और गम्भीर है।[२] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि पवित्र रश्मियों वाला वह्निपुत्र आदित्य धीर (धारण करने में समर्थ) एवं अपनी माया (सामर्थ्य) से उदकों को पवित्र कर देता है।[३] अग्रिम सूक्त में दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि जब ऋभुगण (रश्मियाँ) उदकों के साथ मिलकर आगे बढ़ते हैं, तब वर्षाकालीन मेघों के आकाश को आच्छादित कर देने पर, जगत् का पालन करने वाले सूर्य और चन्द्रमा कहाँ रहते हैं?[४] एक अन्य सूक्त में दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि सर्पण स्वभाव वाली (सप्त) रश्मियाँ एक चक्र वाले आदित्यमण्डल के साथ संयुक्त रहती हैं, नमनशील (शोषकस्वभाव वाली) इन सात रश्मियाँ को व्यापनशील आदित्य (अश्व) वहन करता है। इस सूर्यचक्र की नाभि से तीन प्रकार (तरल, सङ्घात और वाष्प) से बँधा हुआ उदक (या भूत, भविष्य और वर्तमान से बँधा हुआ लोक) इसी में स्थित रहता है, यह क्रम न कभी जीर्ण होता है और न कभी रुकता ही है।[५] दीर्घतमस् ऋषि प्रश्नपूर्वक उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह यज्ञ भुवन (उदक) की नाभि है।[६] ऋषि के नाभि कहने का आशय यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार उदरस्थ शिशु का जीवन माता पर निर्भर है, उसी प्रकार भुवन (उदक या लोक) यज्ञ पर आश्रित है। गृत्समद ऋषि कहते हैं कि इस संसार के पालन करने वाले रुद्र से, उदक को दूर प्रक्षेपित करने वाला बल पृथक् नहीं होता है।[७] उत्कील ऋषि कहते हैं कि यह अग्नि सम्पूर्ण उदकों का निर्माता तथा यही देवताओं के निमित्त हवि वहन करके ले जाता है।[८] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि एकमात्र इन्द्र उदकों का राजा है, वही शत्रुओं से युद्ध करता है तथा प्रजाओं को बसाता है।[९] प्रजापति ऋषि कहते हैं कि सर्वप्रेरक, नानाविधरूप वाला त्वष्टादेव प्रजाओं को अनेक रूपों में उत्पन्न एवं उनका पालन करता है। सम्पूर्ण उदक भी इसी के हैं, देवों में महनीय बलशाली यह एक ही देव है।[१०]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'भुवन' है, जिसे इन्द्राग्नी (विद्युत् और अग्नि) अतिक्रान्त करते हैं, ये इन्द्राग्नी ही सम्पूर्ण उदकों का अवलोकन करते हैं तथा ये उदक अत्यन्त

---

१ ऋ० १.१०८.१. ''य इन्द्राग्नी चित्रतमे रथो वामाभि विश्वानि भुवनानि चष्टे।''

२ ऋ० १.१०८.२. ''यावदिदं भुवनं विश्वमस्त्युरुव्यचा वरिमता गभीरम्।''

३ ऋ० १.१६०.३. ''स वह्निः पुत्रः पित्रोः पवित्रवान्पुनाति धीरो भुवनानि मायया।''

४ ऋ० १.१६१.१२. ''संमील्य यद्भुवना पर्यसर्पत क्व स्वित्तात्या पितरा व आसतुः।''

५ ऋ० १.१६४.२. ''सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा। त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः''

६ ऋ० १.१६४.३४. ''पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः। ऋ० १.१६४.३५. ''अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।''

७ ऋ० २.३३.९. ''ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसुर्यम्।''

८ ऋ० ३.१६.४. ''चक्रिर्यो विश्वा भुवनाभि सासहिश्चक्रिर्देवेष्वा दुवः।''

९ ऋ० ३.४६.२. ''एको विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षयया च जनान्।''

१० ऋ० ३.५५.९. ''देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान। इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम्।

व्यापक और गम्भीर हैं, आदित्य अपनी माया (सामर्थ्य) से उदकों को पवित्र कर देता है, ऋभुगणों के साथ मिलकर उदक सारे आकाश को व्याप्त कर लेते हैं, सात रश्मियों और एक चक्रवाले सूर्य की नाभि से तीन प्रकार (तरल, सङ्घात और वाष्प) से बँधा हुआ उदक निरन्तर गतिशील रहता है। सूर्यचक्र के समान उदकचक्र बिना रुके तीन रूपों में रूपान्तरित होता रहता है। उदरस्थ शिशु के समान उदक यज्ञ पर निर्भर है, उदक को प्रक्षेपित करने वाला बल रुद्र से कभी पृथक् नहीं होता, हवि को वहन करने वाला अग्नि उदकों का निर्माता है, इन उदकों का राजा इन्द्र है, अनेकविध रूप में संसार को उत्पन्न करने वाले त्वष्टादेव उदक में स्थित हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में वह सामान्य उदक 'भुवन' है, जिससे सम्पूर्ण संसार अस्तित्व में आता है और जो तीन (तरल, सङ्घात और वाष्प) रूपों में रूपान्तरित होता रहता है। इस दृष्टि से विचार करने पर सत्तार्थक 'भू' धातु को 'भुवन' पद का मूल मान सकते हैं। जिस प्रकार 'भू' धातु सामान्य का प्रतिनिधित्व करती है, उसी प्रकार 'भुवन' भी सामान्य उदक का बोध कराता है। इसके अतिरिक्त यहाँ यह कह देना उचित होगा कि सायण, दयानन्द आदि वेदभाष्यकारों ने किसी एक स्थान पर भी 'भुवन' का अर्थ 'उदक' मानकर विवेचन नहीं किया है, पर मन्त्र में 'उदक' अर्थ की सङ्गति लगायी जा सकती है, यह एक सत्य है, जो उक्त व्याख्यान से स्पष्ट हो जाता है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि वेद में स्पष्टरूप से कहीं भी 'उदक' अर्थ में 'भुवन' का प्रयोग नहीं हुआ है।

वैदिक साहित्य में उदकवाचक नामपदों में अर्थभिन्नता

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के द्वादश गण में निघण्टुकार ने एकशत उदकवाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	अर्णः उदकवाचक निघ०,१.१२.१.	वेद की दृष्टि में वह उदक 'अर्णः' है, जो बहकर या सीधे अन्तरिक्ष से समुद्र में पहुँचता है। सम्भवतः, ऋषि गतिशीलता के कारण उदक को 'अर्णः' नाम से अभिहित करता है।	इस दृष्टि से निःसन्दिग्ध रूप से गत्यर्थक को 'ऋ' धातु को 'अर्णः' पद का मूल माना जा सकता है।
२.	क्षोदः उदकवाचक निघ०,१.१२.२.	वेद में नदी का तीव्र गति से प्रवाहित होने वाला जल 'क्षोदः' है।	'क्षुद्' धातु।
३.	क्षद्म उदकवाचक निघ०,१.१२.३.	सूक्ष्म वाष्परूप में स्थित उदक को वेद में 'क्षद्म' नाम से अभिहित किया गया है।	रूप की दृष्टि से 'क्षद्' धातु।
४.	नभः उदकवाचक निघ०,१.१२.४.	वह उदक 'नभस्' है, जो वर्षा ऋतु में आकाश से प्राप्त होता है। सम्भवतः, 'नभस्' शब्द मूलतः, आकाश का वाचक है, उसके सम्बन्ध से उदक भी 'नभस्' कहा जाने लगा होगा।	इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए 'न+'भा' धातु को 'नभस्' पद का मूल माना जा सकता है।
५.	अम्भः	ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि	व्युत्पत्ति अस्पष्ट।

	उदकवाचक निघ०,१.१२.५.	वह उदक 'अम्भस्' है, जो पृथ्वी के नीचे रहता है। नासदीय सूक्त से भी इस निष्कर्ष की पुष्टि होती दिखायी देती है, वहाँ 'अम्भस्' को गहन और गभीर बताया है।	
६.	कवन्धम्/ कबन्धम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६.	जो जल नियन्त्रित रूप से उपयोग में आता है, वह 'कवन्ध' है। नियन्त्रित उपयोग वाला उदक मनुष्य को सुख एवं समृद्धि प्रदान कर सकता है।	'क+'बन्ध्' धातु।
७.	सलिलम् उदकवाचक निघ०,१.१२.७.	वह उदक 'सलिल' है, जो गरणशीला माध्यमिका वाक् के द्वारा सम्पादित किया जाता है। प्रलयकाल में ब्रह्माण्ड में सूक्ष्म या अव्यक्तरूप में विद्यमान जलीय तत्त्व वेद और इतर वैदिक साहित्य की दृष्टि में 'सलिल' है।	'सत्+लीन'।
८.	वाः उदकवाचक निघ०,१.१२.८.	मनुष्य जिस जल का उपयोग रोककर अपने विकास कार्यों में करता है, वह वेद में 'वार्' नाम से अभिहित हुआ है।	इस दृष्टि से वारणार्थक 'वृ' धातु को 'वार्' पद का मूल माना जा सकता है।
९.	वनम् उदकवाचक निघ०,१.१२.९.	वह उदक 'वन' है, जो शब्द करता हुआ प्रवाहित होता है। कलकलध्वनि के कारण इसे सम्भवतः, 'वन' कहा गया है।	'वन' पद का मूल शब्दार्थक 'वन्' धातु को माना जा सकता है।
१०.	घृतम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१०.	जो उदक वर्षा के रूप में बरसता है, वह वेद की दृष्टि में 'घृत' है।	'घृ' क्षरणदीप्त्योः' धातु निर्विवाद रूप से 'घृत' पद का मूल है।
११.	मधु उदकवाचक निघ०,१.१२.११.	वह उदक 'मधु' है, जिसके पान से प्राणी तृप्ति का अनुभव करते हैं, वर्षा का जल होने के कारण इसमें क्षारादि अपेय तत्त्वों का अभाव है। स्वादिष्ठ होना इसका प्रमुख गुण है।	'मद्' या 'मिह्' धातु।
१२.	पुरीषम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१२.	सृष्टि के निर्माण और पालन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने के कारण उदक को 'पुरीष' नाम से अभिहित किया गया है।	'पृ' धातु को निर्विवादरूप से 'पुरीष' का मूल स्वीकार किया जा सकता है।
१३.	पिप्पलम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१३.	वेद में 'पिप्पल' शब्द का 'पीपल' के वृक्ष अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। यह यहाँ प्रमुखरूप से वृक्ष के स्वादिष्ठ रस के लिये व्यवहृत होता हुआ दिखायी देता है।	इस अर्थ को ध्यान में रखते हुए 'पा' या पालनार्थक 'पृ' धातु को 'पिप्पल' का मूल माना जा सकता है।
१४.	क्षीरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१४.	जो उदक अन्तरिक्ष से प्राप्त होकर नदी आदि के रूप में प्रवाहित होता है, वह उदक वेद में 'क्षीर' कहा गया है।	'क्षर' सञ्चलने' धातु को 'क्षीर' पद का मूल माना जा सकता है।
१५.	विषम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१५.	विष्णु (सूर्य) के सम्पर्क में आने वाला उदक विष नाम से वेद में अभिहित हुआ है।	इस दृष्टि से व्याप्ति अर्थ वाली 'विष्' धातु 'विष' पद का मूल प्रतीत होती है।
१६.	रेतः	वह उदक 'रेतस्' है, जो अन्तरिक्ष या द्युलोक से पृथ्वी	इस दृष्टि से स्रवणार्थक 'री'

	उदकवाचक निघ०,१.१२.१६.	पर प्राप्त होकर वनस्पतियों के गर्भ में स्थित होता है। जो उदक अन्तरिक्ष से स्वतः स्रवित होकर सस्यादिरूप में परिणत होते हैं, वे वेद की भाषा में 'रेतस्' नाम से अभिहित हुए हैं।	धातु को 'रेतस्' पद का मूल माना जा सकता है।
१७.	कशः उदकवाचक निघ०,१.१२.१७.	उदकवाचक 'कशः' पद का प्रयोग केवल एक बार वह भी स्वतन्त्र रूप में न होकर एक अन्य शब्द के साथ हुआ है। इस प्रकार मात्र एक उद्धरण से 'कशः' पद के विशिष्ट अर्थ को निरूपित करना सम्भव नहीं है।	'कश्' धातु।
१८.	जन्म उदकवाचक निघ०,१.१२.१८.	वेद में 'जन्म' शब्द जल वाचक नहीं है, वह उत्पत्ति, उद्भव आदि अर्थ का वाचक है। प्राणी की उत्पत्ति और उसके अस्तित्व का आधार होने के कारण जल 'जन्म' नाम से अभिहित हुआ होगा।	'जन्' धातु।
१९.	बृबूकम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१९.	मेघ से पतित होता हुआ शब्दायमान उदक वेद की दृष्टि में 'बृबूक' है।	सम्भवतः, 'ब्रू' धातु।
२०.	बुसम् उदकवाचक निघ०,१.१२.२०.	वह उदक 'बुस' है, जो आदित्य के द्वारा ग्रहण किया जाता है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
२१.	तुग्र्या उदकवाचक निघ०,१.१२.२१.	वे उदक वेद में 'तुग्र्या' नाम से अभिहित हुए हैं, जिनका सम्बन्ध सूर्य से है। आदित्य को 'तुग्र' कहा जाता है। उससे सम्बन्धित होने से उदक 'तुग्र्या' नाम से अभिहित हुए हैं।	'तुज्'=तुग्र=तुग्र्या'।
२२.	बुर्बुरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.२२.	'बुर्बुरम्' पद का विवरण वेद में प्राप्त नहीं होता है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
२३.	सुक्षेम उदकवाचक निघ०,१.१२.२३.	ऋग्वेद में 'सुक्षेम' पद का प्रयोग सर्वथा उपलब्ध नहीं होता है, लेकिन 'क्षेम' पद अवश्य देखने को मिलता है, परन्तु वह सर्वत्र प्रायः 'रक्षण' अर्थ में आया है।	'सु+क्षि' धातु।
२४.	धरुणम् उदकवाचक निघ०,१.१२.२४.	वेद की दृष्टि में वे उदक 'धरुण' हैं, जो अन्वेषित करके लाये जाते हैं तथा जिनसे प्राणिमात्र का पालनपोषण होता है। इस दृष्टि से 'धृ' धातुमूलक निर्वचन को निर्विवाद रूप से 'धरुण' पद का मूल माना जा सकता है।	इस दृष्टि से 'धरुण' पद का मूल 'धृ' धातु को माना जा सकता है।
२५.	सिरा उदकवाचक निघ०,१.१२.२५.	वे उदक 'सिरा' हैं, जो वराहु नामक वृत्र से बहने के लिये प्रस्तुत हैं।	'सृ' या 'सि' धातु।
२६.	अररिन्दानि उदकवाचक	यज्ञ अथवा किसी अन्य प्रकार के शुभकर्मों से प्राप्त होने वाला उदक वेद की दृष्टि में 'अररिन्द' है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।

	निघ०,१.१२.२६.		
२७.	ध्वस्मन्वत् उदकवाचक निघ०,१.१२.२७.	वेद की दृष्टि में पीने योग्य, ध्वस्तदोष वाला (जिसके दोष का परिहार कर दिया गया है, ऐसा) उदक 'ध्वस्मन्वत् पाथः' है। यह एक विशिष्ट जल के प्रकार का सङ्केत करता है।	'ध्वंस्' धातु।
२८.	जामि उदकवाचक निघ०,१.१२.२८.	वह उदक 'जामि' है, जो पुनः उत्पन्न होने के लिये वाष्पीकरण की प्रक्रिया से होकर यात्रा करता है।	इस दृष्टि से 'जन्' धातु को 'जामि' पद का मूल माना जा सकता है।
२९.	आयुधानि उदकवाचक निघ०,१.१२.२९.	उदक से वाष्प बनने की प्रक्रिया जामि है तथा उस जामि (वाष्परूप जल) से पुनः वर्षा के रूप में पृथिवी पर आने की प्रक्रिया को वेद आयुध नाम से कह रहा है। अन्तरिक्ष से बाण बरसने के समान प्रतीत होने वाला उदक 'आयुध' है।	'आ+'युध्' धातु।
३०.	क्षपः उदकवाचक निघ०,१.१२.३०.	वेद में 'क्षपः' पद उदक का वाचक नहीं है।	'क्षप्' धातु।
३१.	अहिः उदकवाचक निघ०,१.१२.३१.	वेद में 'अहि' पद स्पष्टरूप से उदक अर्थ में नहीं आया है। वह यहाँ प्रायः 'मेघ' का वाचक है।	उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।
३२.	अक्षरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.३२.	वह उदक 'अक्षर' है, जिसके क्षरण से चारों दिशायें जी उठती हैं और इसके कारण सम्पूर्ण संसार जीवित रहता है।	इस दृष्टि से 'अक्षर' पद का 'न+'क्षर्' मूलक निर्वचन सर्वाधिक उपयुक्त है।
३३.	स्रोतः उदकवाचक निघ०,१.१२.३३.	वह उदक 'स्रोतः' है, जो मेघों से प्रवाहरूप में बाहर आता है। इस प्रकार वेद में 'स्रोतः' पद का अर्थ 'प्रवाह' है।	'स्रु' गतौ' धातु को 'स्रोतः' पद का मूल माना जा सकता है।
३४.	तृप्तिः उदकवाचक निघ०,१.१२.३४.	वेद और वैदिक साहित्य में 'तृप्ति' पद उदक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है।	'तृप्' धातु।
३५.	रसः उदकवाचक निघ०,१.१२.३५.	मधुरता रस की अपनी विशेषता है, जिसमें यह मधुरता पायी जाती है, कालान्तर में उदक सहित उन सबको 'रस' नाम से अभिहित किया गया है।	आस्वादन अर्थ वाली 'रस्' धातु।
३६.	उदकम् उदकवाचक निघ०,१.१२.३६.	वेद की दृष्टि में 'उदक' वह जल है, जो अन्तरिक्ष से लेकर पृथ्वी लोक तक के प्राणियों के पीने के उपयोग में आता है, यह स्वास्थ्य की दृष्टि से अनुकूल, कृषि के लिये उपयोगी एवं घट में भरकर ले जाने योग्य है।	इस दृष्टि से 'उत्+'अन्' या 'उन्द्' धातु को 'उदक' पद का मूल माना जा सकता है।
३७.	प्रयः उदकवाचक निघ०,१.१२.३७.	वेद की दृष्टि में जो पिपासा के समय प्रिय लगता है, वह पेय या उदक 'प्रयः' है।	इस दृष्टि से 'प्री' धातु को 'प्रयः' पद का मूल माना जा सकता है।

३८.	सरः उदकवाचक निघ०,१.१२.३८.	वेद में 'सरः' पद उदकवाचक न होकर, उदक पात्र के अर्थ में व्यवहृत है। ऋषि ने अनेकशः ऐसे तीन सरों का उल्लेख किया है, जिनका पान इन्द्र (सूर्य) करता है। इससे यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि मेघ, भूमि और अन्तरिक्ष ये तीन 'सरः' हैं।	ये सरणीय (गन्तव्य) स्थान होने से वेद में 'सरः' नाम से कहे गये हैं। अतः, 'सरः' पद का मूल 'सृ' धातु है।
३९.	भेषजम् उदकवाचक निघ०,१.१२.३९.	वह उदक 'भेषज' है, जिसमें ओषधि विद्यमान है, सम्पूर्ण ओषधियों का आश्रय उदक में है, इसलिये उदक को सम्पूर्ण भेषज कहा जाता है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
४०.	सहः उदकवाचक निघ०,१.१२.४०.	वैदिक साहित्य में 'सहः' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है, लेकिन सर्वत्र यह शक्तिशाली के अर्थ में आया है।	'सह्' धातु।
४१.	शवः उदकवाचक निघ०,१.१२.४१.	वेद और वैदिक साहित्य में 'शवः' पद उदक के अर्थ में नहीं आया है। इसका यहाँ प्रायः सर्वत्र 'बल' वाचक अर्थ में प्रयोग हुआ है।	'श्वि' या 'शू' धातु।
४२.	यहः उदकवाचक निघ०,१.१२.४२.	वैदिक साहित्य में 'यहः' पद का प्रयोग सर्वथा नहीं हुआ है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
४३.	ओजः उदकवाचक निघ०,१.१२.४३.	वर्षा करने वाले इन्द्र या मरुतों से जो उदक प्राप्त होता है, वह वेद की दृष्टि में 'ओजस्' है।	इस दृष्टि से विचार करने पर आर्जव अर्थ वाली 'उब्ज्' धातु को 'ओजः' पद का मूल माना जा सकता है।
४४.	सुखम् उदकवाचक निघ०,१.१२.४४.	वेद और वैदिक साहित्य में उदक के अर्थ में 'सुख' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
४५.	क्षत्रम् उदकवाचक निघ०,१.१२.४५.	द्यावापृथिवी, मित्रावरुण और इन्द्रावरुण- इन युगल देवों के सम्पर्क से प्राप्त होने वाला उदक वेद की दृष्टि में 'क्षत्र' हैं।	व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। फिर भी 'क्षि' निवासगत्योः' धातु के माने जाने की सम्भावना है।
४६.	आवयाः उदकवाचक निघ०,१.१२.४६.	वेद में 'आवयाः' पद उदक अर्थ का वाचक नहीं है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
४७.	शुभम् उदकवाचक निघ०,१.१२.४७.	जिस उदक को मरुत् प्रदान करते हैं और जो मरुत् तथा अग्नि के संयोग से जलकणों में परिवर्तित होता है, जिसे वेद ने 'पृषती' नाम से सम्बोधित किया है, वह उदक वेद की दृष्टि में 'शुभम्' है।	इस दृष्टि से विचार करने पर 'शुभ' दीप्तौ' धातु को 'शुभम्' का मूल माना जा सकता है।
४८.	यादुः उदकवाचक	वह उदक 'यादुः' है, जो पुरुष या स्त्री में शारीरिक सम्बन्ध के समय रज या वीर्य के रूप में प्रादुर्भूत होता	इस दृष्टि से विचार करने पर आलिङ्गन अर्थ वाली 'याद्'

	निघ०,१.१२.४८.	है।	धातु को 'यादुः' पद का मूल माना जा सकता है।
४९.	भूतम् उदकवाचक निघ०,१.१२.४९.	वेद में 'भूतम्' पद का उदक के अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। प्राणी सृष्टि का प्रारम्भ जल पर निर्भर है, इसलिये उस जल से उत्पन्न होने वाले प्राणी 'भूत' कहलाते हैं और उनकी उत्पत्ति का कारण 'उदक' भी सम्भवतः, इस कारण 'भूत' मान लिया गया है। इसके अतिरिक्त पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों में सम्मिलित होने से उदक को 'भूत' कहा जाता है।	'भू' धातु।
५०.	भुवनम् उदकवाचक निघ०,१.१२.५०.	वेद की दृष्टि में वह सामान्य उदक 'भुवन' है, जिससे सम्पूर्ण संसार अस्तित्व में आता है और जो तीन (तरल, सङ्घात और वाष्प) रूपों में रूपान्तरित होता रहता है। वेद में कहीं भी 'उदक' अर्थ में 'भुवन' का प्रयोग नहीं हुआ है।	इस दृष्टि से विचार करने पर सत्तार्थक 'भू' धातु को 'भुवन' पद का मूल मान सकते हैं।

अष्टम अध्याय

उदकवाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के उदकवाचक नामपदों में निघण्टुकार ने १०१ पदों का परिगणन किया है। अध्ययन की दृष्टि से हमने उक्त उदक वाचक गण में परिगणित नामपदों को दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम १ से ५० तक नामपदों को हम सप्तम अध्याय में प्रस्तुत कर चुके हैं। प्रस्तुत अध्याय में शेष बचे ५१ पदों का विवेचन किया जा रहा है।

५१. भविष्यत्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'भविष्यत्' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'भविष्यत्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**भविष्यत् (उदकम्)। भवतेरेव। जलं हि आगमिन्यपि काले विद्यते, प्रलयेऽपि जलत्वस्य नाशाभावात्**''[२] कि जल भविष्यकाल में विद्यमान रहने वाला है अर्थात् प्रलयकाल में भी जल की सत्ता बनी रहती है, अतः, वह 'भविष्यत्' कहलाता है। इस पक्ष में 'भू' धातु से लृट् लकार में 'स्य' और 'शतृ' प्रत्यय तथा इट् का आगम होकर 'भविष्यत्' पद निष्पन्न होता है।

मोनियर विलियम्स उक्त व्युत्पत्ति से सहमत हैं। उनके अनुसार अथर्ववेद में यह पद निकट भविष्य में होना या होने वाले अर्थ में आया है।[३]

वैदिक साहित्य में 'भविष्यत्' पद का अत्यल्प प्रयोग देखने को मिलता है। यजुर्वेद में वित्तादि ऋषि आत्मा का स्तवन करते हुए कहते हैं कि मेरे वित्त, वेद्य, भूत, भविष्य, सुगम, सुपथ, मति, सुमति आदि यज्ञ से सिद्ध हों।[४] यजुर्वेद में एक अन्य स्थान पर शिवसङ्कल्प ऋषि मनो देवता के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस नाशरहित मन में भूत, वर्तमान और भविष्य व्याप्त हैं, ऐसा मेरा मन शिवसङ्कल्प वाला हो।[५] काठक तथा तैत्तिरीय-संहितायें कहती हैं कि भूत की अपेक्षा भविष्य अधिक होता है।[६] शाङ्खायन आरण्यक का कथन है कि भूत पूर्वरूप, भविष्य उत्तररूप तथा संहिता उसकी कालसन्धि होती है।[७]

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों एवं ब्राह्मण के वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद और वैदिक साहित्य में 'भविष्यत्' पद भविष्यकाल के अर्थ में आया है, न कि उदक के अर्थ में। लोक और लौकिक साहित्य भी

---

१ निघ० १.१२.५१.

२ निघ०वृ०, १.१२.५१.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ७५०.

४ यजु०, १८.११. ''वित्तं च मे वेद्यं च मे भूतं च मे भविष्यच्च मे सुगं च मे सुपथ्यं च मे.................. .....:..........मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।''

५ यजु०, ३४.४. ''येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।''

६ काठ०सं० १९.१०. तै०सं० ५.१.९.२. ''भविष्यद्धि भूयो भूतात्।''

७ शा०आ०, ७.२.१. ''भूतं पूर्वरूपं भविष्यदुत्तररूपं भवत् संहितेति कालसन्धिः।''

'भविष्यत्' के इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि प्राप्त वैदिक साहित्य से 'भविष्यत्' पद के उदक अर्थ की पुष्टि होती दिखायी नहीं देती है। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि उक्तपद की व्युत्पत्ति विवादित नहीं है। सभी सर्वसम्मति से 'भू' धातु को 'भविष्यत्' पद का मूल स्वीकार करते हैं।

५२. महत्

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'महत्' नामपद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क 'महत्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**महान् कस्मात्? मानेनान्यास्माञ्जहातीति शाकपूणिः**"[२] कि आचार्य शाकपूणि का मत है कि अपनी उच्चस्थिति से जो अन्यों को पीछे छोड़ देता है, उसको 'महत्' अर्थात् महान् कहा जाता है। इस पक्ष में 'मान' पूर्ववाली त्यागार्थक 'हा' धातु से 'महत्' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)"मंहनीयो भवतीति वा"[३] कि पूजनीय होने से वह 'महत्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'मंह्' धातु से 'महत्' शब्द उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'महत्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**महत् (उदकम्)। 'मह' पूजायाम्'। महति महयति वा देवतामनेन पुरुषस्येति महत्, मह्यते वा देवतात्वात्**"[४] कि पुरुष इससे देवता की पूजा करता या कराता है अथवा देवता होने के कारण उदक की पूजा होती है, अतः, उदक को 'महत्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'मह्' धातु से निपातन से 'शतृ' अर्थ में 'अति' प्रत्यय होकर 'महत्' रूप सिद्ध होता है। उणादिकोष में इसी प्रकार 'महत्' रूप सिद्ध होता है।[५]

(ख)"यद्वा, मानशब्दाज्जहातेश्च। मानेन स्वगतेन परिमाणेन अन्यान् स्वस्मादूनप्रमाणान् पदार्थान् जहाति अतिक्रामति 'दशोत्तराण्यवराणि सप्त' इत्यत्र विष्णुपुराणे सर्वमहत्त्वं जलतत्त्वस्योक्तम्'"[६] कि अपने परिमाण से ऊनपरिमाण वाले पदार्थों को अतिक्रान्त कर देता है, इसलिये उदक को 'महत्' कहा जाता है। सत्रह पदार्थ जल की अपेक्षा हीन हैं, इस प्रकार विष्णुपुराण में जल का सर्वमहत्त्व प्रदिपादित किया गया है। इस पक्ष में 'मान+'हा' धातु से पृषोदरादि नियम के आधार पर 'महत्' रूप सिद्ध होता है।

व्यक्ति के सम्मान पक्ष को ध्यान में रखते हुए 'महत्' शब्द के निम्न निर्वचन भी किये जा सकते हैं:- "**मानं जहातीति महत्**" कि मान का परित्याग कर देता है, वह महान् है या "**ममत्वं जहातीति वा महत्**" कि जो ममत्व का परित्याग कर देता है, वह 'महान्' है। अध्यात्म की दृष्टि से उक्त निर्वचन उचित माने जा सकते हैं। इस प्रकार 'मान+'हा' या 'मम+'हा' से 'महत्' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'महत्' को विशेषण पद मानता है। उसके अनुसार 'महत्' शब्द 'मंह्'

---

१ निघ० १.१२.५२.

२ निरु० ३.१३.

३ निरु० ३.१३.

४ निघ०वृ०, १.१२.५२.

५ उणा०, २.८५. "वर्त्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च।"

६ निघ०वृ०, १.१२.५२.

धातुमूलक है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'महत्' पद का मूल 'मंह्' धातु को मानती है।[२] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद महान् (स्थान, समय, मात्रा, क्रम की दृष्टि से), विस्तृत, विराट्, विशाल, प्रचुर, व्यापक, महत्त्वपूर्ण, उच्च, श्रेष्ठ आदि अर्थों में आया है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि भारोपीय भाषा में 'megh' महान् अर्थ में तथा ग्रीक में 'megas' महान् अर्थ में है। उनके अनुसार यास्क के प्रथम निर्वचन में एक वर्ण को सङ्कुनित शब्द के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जबकि द्वितीय निर्वचन को वे आदिम बतलाते हैं, उनका इस विषय में अभिमत है कि भाषाविज्ञान के अपर्याप्त विकास या वैदिक साहित्य के अपर्याप्त शोध के कारण उक्त निर्वचन के विषय में अभी कुछ कहना सम्भव नहीं है।[४] इस प्रकार उनकी दृष्टि में उक्त दोनों निर्वचन स्वीकार करने योग्य नहीं हैं। लेकिन डॉ. वर्मा का मत स्वीकरणीय नहीं है, क्योंकि प्रायः सभी कोषकार महत् को 'मंह्' धातुमूलक मानते हैं। इसके अतिरिक्त शब्द के साथ धातु का पूर्णतया रूप एवं अर्थ साम्य विद्यमान है।

वैदिक साहित्य में 'महत्' शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि इन्द्र का आह्वान करते हुए कहते हैं कि वह इस यज्ञ में आकर सोमरस और इन अन्नों से प्रसन्न हो और अपने उदक बल से शत्रुओं को पराजित करे।[५] आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं कि इन्द्र ने उदकरूप संहारक वज्र से अत्यधिक आच्छादक वृत्र का अंस से काटकर वध कर दिया।[६] गोतम ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! उदक ही तेरा वीर्य है, वही तेरी भुजाओं में बल के रूप में विद्यमान है। इस बल से अपने राज्य को प्रकट करो।[७] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि इन्द्र का बल उदक है, वृत्र को मारकर यह उस उदक को विसर्जित कर देता है। इस प्रकार वह अपने राज्य को प्रकट करता है।[८] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि जिस उदकरूप बल से द्यावापृथिवी स्थित रहते हैं, जिस इन्द्र के नियम में जल का देवता वरुण तथा उदक का अनुसरण करने वाला सूर्य रहता है, उस इन्द्र का हम सख्य के लिये आह्वान करते हैं।[९] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि इसके पश्चात् इन्द्र ने सर्वप्रथम उदकरूप पराक्रम उत्पन्न किया और इसके अनन्तर स्तोत्र या अन्न से शत्रुओं को सुखाने वाले बल को प्रकट किया।[१०] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि यह अग्नि द्यावापृथिवी तथा स्वर्लोक को व्याप्त करती है। जल (महत्) से उत्पन्न इस अग्नि को लोग कर्म से धारण करते हैं।[११] इससे पूर्व

---

१ वै०पद०को०, पृ० २३९१.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ३९४.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ७९४.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ८१, ९८.

५ ऋ० १.९.१. "इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः। महाँ अभिष्टिरोजसा।"

६ ऋ० १.३२.५. "अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन।"

७ ऋ० १.८०.६. "महत्त इन्द्र वीर्यं बाह्वोस्ते बलं हितमर्चन्ननु स्वराज्यम्।"

८ ऋ० १.८.१०. "महत्तस्य पौंस्यं वृत्रं जघन्वाँ असृजदर्चन्ननु स्वराज्यम्।"

९ ऋ० १.१०१.३. "यस्य द्यावापृथिवी पौंस्यं महद्यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्यः।"

१० ऋ० २.१७.३. "अधाकृणोः प्रथमं वीर्यं महद्यस्याग्रे ब्रह्मणा शुष्ममैरयः।"

११ ऋ० ३.२.७. "आ रोदसी अपृणदा स्वर्महज्जातं यदेनमपसो अधारयन्।"

सूक्त में ऋषि अग्नि को अन्तरिक्ष में उदक (आप:) को बढ़ाने वाला बतलाता है।[१] एक अन्य सूक्त में विश्वामित्र ऋषि उदक के सहस्थान में इस अग्नि को निश्चल होकर स्थित रहने वाला बतलाते हैं।[२] बृहदुक्थ वामदेव्य ऋषि कहते हैं कि हे बहुतों के द्वारा स्पृहणीय इन्द्र! तेरा महत् (उदक) नाम गूढ है, इसीसे तुम भूत और भव्य को उत्पन्न करते हो।[३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'महत्' है, जो इन्द्र का बल है और जिससे इन्द्र शत्रुओं को पराजित करता है, उदकरूप संहारक वज्र से इन्द्र वृत्र का वध करता है अर्थात् उदक ही इन्द्र का वज्र है। इसी उदक के बल से इन्द्र अपने राज्य की स्थापना और द्यावापृथिवी को स्थित रखता है और इन्द्र इसी उदक से भूत और भव्य को उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त ऋषि जलज बतलाते हुए अग्नि को कर्म के द्वारा धारणीय बतलाता है और अग्नि के निवासस्थान के रूप में उदक का उल्लेख करता है। इस प्रकार 'महत्' नामक उदक इन्द्र का बल और अग्नि का उत्पत्ति एवं निवासस्थान है। दो महान् शक्तियों के साथ संयुक्त होने से वह 'महत्' नाम का अधिकारी है, यह सिद्ध हो जाता है। सम्भवतः, इसीकारण वेद का ऋषि उसे 'महत्' नाम से अभिहित करता है। इस दृष्टि से विचार करने पर 'मंह्' धातुमूलक निर्वचन को 'महत्' पद का मूल माना जा सकता है।

यहाँ स्पष्ट कर देना उचित है कि सायण, दयानन्द आदि वेद भाष्यकारों ने एक स्थान पर भी 'महत्' का अर्थ 'उदक' नहीं किया है, पर सूक्ष्मता पूर्वक अध्ययन करने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि वेद में 'महत्' पद उदक के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। यह सत्य है कि मुख्यतया वेद में 'महत्' पद 'महान्' के अर्थ में आया है और इसी अर्थ में आज भी लोक में प्रचलित है। सम्भवतः, इसी पूर्वाग्रह के कारण वेद भाष्यकार 'महत्' को सर्वत्र इसी अर्थ में देखते हैं। इसके अतिरिक्त उक्त 'महत्' के 'महान्' अर्थ को ग्रहण करने में यह कारण भी है कि सर्वत्र उक्त अर्थ की अन्विति करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है, अतः, आचार्यों ने भाष्य करते समय 'महत्' का अर्थ 'उदक' ग्रहण नहीं किया है।

५३. आपः

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'आप:' पद परिगणित है।[४] 'आप:' पद का निर्वचन करता हुआ शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-''**अद्भिर्वाऽ इदं सर्वमाप्तम्**''[५] कि आपः के द्वारा यह सब व्याप्त है।

जैमिनीय-ब्राह्मण का मत है:-''**आपो भूत्वा सर्वमाप्नोत्**''[६] कि उसने आपः होकर सब को व्याप्त किया, इसलिये वह 'आप:' कहलाता है।

---

१ ऋ० ३.१.११. ''ववर्धापो अग्निम्।'

२ ऋ० ३.६.४. ''महान्त्सधस्थे ध्रुव आ निषत्तोऽन्तर्द्यावा माहिने हर्यमाणाः।''

३ ऋ० १०.५५.२.''महत्तन्नाम गुह्यं पुरुस्पृग्येन भूतं जनयो येन भव्यम्।''

४ निघ० १.१२.५३.

५ शत०ब्रा०१.१.१.१४; २.१.१.४; ४.५.७.७.

६ जै०ब्रा०, १.३१४.''आपो भूत्वा सर्वमाप्नोत्।''

काठक-सङ्कलन में कहा गया है:-"आपो वा इदं सर्वमाप्नुवंस्तदेनमाह सर्वमाप्नुहीति"[१] कि 'आप:' ने यह सब कुछ व्याप्त किया, इसलिए उसको कहा सबको व्याप्त करो।

इस विषय को कुछ और स्पष्ट करता हुआ गोपथ-ब्राह्मण कहता है:-"तद्यदब्रवीद्(ब्रह्म) आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किंचेति, तस्मादापोऽभवंस्तदपामप्त्वमाप्नोति वै स सर्वान् कामान् यान् कामयते"[२] कि उस (ब्रह्म) ने कहा कि जो कुछ भी है, उस सबको मैं इनसे व्याप्त करूँगा, इसलिए जिस-जिसको चाहता है, उन सबको वह 'आप:' होता हुआ 'आप:' के अप्त्व (व्यापकत्व) से व्याप्त करता है। उपर्युक्त सभी निर्वचनों में ब्राह्मणग्रन्थ व्याप्ति अर्थ वाली 'आप्' धातु से 'आप:' पद को व्युत्पन्न करने के पक्ष में है।

आचार्य यास्क उदकवाचक 'आप:' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**आप: आप्नोते:**"[३] कि व्यापनशील होने के कारण 'आप:' को 'आप:' कहा जाता है। ऐसा ही निर्वचन वे अन्यत्र भी करते हैं।[४] आचार्य यास्क भी ब्राह्मणग्रन्थों की तरह 'आप:' को व्याप्ति अर्थ वाली 'आप्' धातु से निष्पन्न करने के पक्ष में हैं।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'आप:' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**आप: (उदकम्)। आप्नोते: सङ्ग्रहकर्मकत्वात्**"[५] कि सङ्ग्रह कर्म वाला होने से उदक 'आप:' कहलाता है। इस पक्ष में 'आप्' धातु से 'आप:' पद निष्पन्न होता है।

(ख)"यद्वा, इन्द्रेण आप्ता आप:, तदाप्नोतीन्द्रो वा"[६] कि इन्द्र के द्वारा जो व्याप्त किये जाते हैं या इन्द्र उनको व्याप्त करता है, इसलिये ये 'आप:' कहलाते हैं। इस पक्ष में 'आप्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'आप:' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'आप:' पद का मूल 'आप्' धातु को मानता है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'आप:' का मूल 'अप्' को मानती है।[८] मोनियर विलियम्स 'आप:' की व्युत्पत्ति के विषय में मौन हैं। उनके अनुसार अन्य भाषाओं में 'आप:' का समकक्ष शब्द निम्न है:- लैटिन में 'aqu' नदी अर्थ में, गौथिक में 'ahva' नदी अर्थ में, प्राचीन जर्मन में 'aha' 'affa' परिसर भूमि के अर्थ में, लिथुआनियन में 'uppi' नदी अर्थ में है। सम्भवत:, लैटिन में 'आपनी' शब्द की समता 'amnis' नदी अर्थ से है।[९] इस प्रकार आप: के समकक्ष माने जाने वाले सभी शब्द नदी अर्थ के वाचक हैं। डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा 'आप:' पद की प्राचीन

---

१ काठ०संक०४९:६-७.

२ गो०ब्रा०१.१.२.

३ निरु० ९.२६; १४.३५.

४ निरु० १२.३७.

५ निघ०वृ०, १.१२.५३.

६ निघ०वृ०, १.१२.५३.

७ वै०पद०को०, पृ० ६५८.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० ३५.

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ४७.

भाषाओं से तुलना करते हुए कहते हैं कि भारोपीय भाषा में 'p' उदक और नदी अर्थ में, प्राचीन प्रुशियन में 'ape' नदी अर्थ में तथा लिथुआनियन में 'upe' उदक अर्थ में है। वे उक्त यास्कीय निर्वचन को '**सर्वाणि नामान्याख्यातजानि**' सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं। उनकी दृष्टि में उक्त निर्वचन पूर्णतया अस्पष्ट तथा उसमें जीवन्तता का अभाव है।[१]

वेद से प्राप्त सङ्केत 'आप्' धातु को 'आपः' पद का मूल मानते प्रतीत होते हैं। ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि 'आपः' भी इन्द्र के बल की अन्तिम सीमा को नहीं प्राप्त कर पाये।[२] अथर्ववेद का ऋषि स्पष्टरूप से 'आपः' पद का निर्वचन करता हुआ कहता है कि इन्द्र ने चलते हुए इनको प्राप्त किया, अतः, उसके पश्चात् प्राप्ति योग्य होने पर ये 'आपः' कहलाते हैं।[३] एक अन्य स्थान पर वृद्धिशील होने के कारण 'प्याय्' धातु से ऋग्वेद 'आपः' पद को निष्पन्न मानता है।[४] इस प्रकार वेद की दृष्टि में 'आपः' पद का मूल मुख्यतया 'आप्' धातु है।

उणादिकोष के अनुसार भी 'आप्' धातु से 'आपः' पद निष्पन्न होता है। उणादिकोष के वृत्तिकार 'आपः' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**आप्नुवन्ति शरीरमिति आपः**'' कि शरीर को प्राप्त करने के कारण ये 'आपः' कहलाते हैं।[५]

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि व्याकरण से लेकर ब्राह्मण और वेद तक की सम्पूर्ण परम्परा 'आपः' पद का मूल 'आप्' धातु को मानती है। अतः, यदि कोई उक्त निर्वचन को अस्पष्ट निर्जीव मानता है, तो यह कथन युक्तिसङ्गत नहीं माना जा सकता।

वैदिक साहित्य में 'आपः' पद का प्रयोग बहुत हुआ है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि अतिशय सोम का पान करने वाला इन्द्र का उदर समुद्र के समान बढ़ता रहता है। जिस प्रकार जिह्वा को उदक प्रिय लगता है, उसी प्रकार इन्द्र के उदर को सोम।[६] मेधातिथि काण्व ऋषि कहते हैं कि जलों के अन्तस् में अमृत है, जलों में ही औषध है। उन्नति के लिये उदकविज्ञान को जानो।[७] तैत्तिरीय-संहिता भी इस प्रकार का कथन करती है।[८] अग्रिम मन्त्र में पुनः ऋषि कहता है कि मुझे सोमदेव ने बताया है कि जलों में सभी ओषधियाँ हैं और उसी ने बताया है कि विश्व का कल्याण करने वाली अग्नि भी जलों में है। इसलिये उदक ही सम्पूर्ण भेषज है।[९] ऐसा ही कथन मैत्रायणी-संहिता में भी प्राप्त होता है।[१०] इसी क्रम में आगे ऋषि कहता है

---

१ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० २२, ८५.

२ ऋ० १.१००.१५. ''न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्चन शवसो अन्तमापुः''

३ अथर्व०, ३.१३.२. ''तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन।''

४ ऋ० १.१५३.४. ''गाव आपश्च पीपयन्त देवीः।'' ऋ० ५.३४.९. ''तस्मा आपः संयतः पीपयन्त।''

५ उणा०, २.५९. ''आप्नोतेर्ह्रस्वश्च।''

६ ऋ० १.८.७. ''यः कुक्षि सोमपातमः समुद्र इव पिन्वते। उर्वीरापो न काकुदः।''

७ ऋ० १.२३.१९. ''अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजामपामुत प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः।''

८ तै०स०, १.७.७.१-२. मै०सं० १.११.१. ''अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्।''

९ ऋ० १.२३.२०. ''अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशंभुवमापश्च विश्वभेषजीः।''

१० मै०सं० ४.१०.४.''अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। आपश्च विश्वशम्भुवः।''

कि उदक मेरे शरीर में रोग निवारण के लिये औषध को पूर्ण करते हैं, जिससे हम नीरोग होकर सूर्य का दर्शन कर सकें।[१] आगे ऋषि पुनः कहता है कि जो कुछ मेरे में दुरित या मैंने किसी से द्रोह अथवा अनृत भाषण या शाप दिया हो, उस सबको यह उदक बहा ले जाये।[२] सप्तऋषि कहते हैं कि जल ही भेषज है, जल ही रोगों को दूर करने वाला है। जल ही सब प्राणियों के लिये भेषज है, वह तुम्हारी चिकित्सा करे।[३] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि उदक ही ओषधियों का रस है।[४] एक अन्य स्थान पर शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि ओषधियाँ उदकों की उद्म हैं। जिस भूमि को उदक क्लिन्न करते हैं, वहीं ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं।[५] आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार वत्स की कामना वाली रंभाती हुई गायें, वत्स की ओर भागी चली आती हैं, उसी प्रकार बहते हुए उदक समुद्र की ओर जाते हैं।[६] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि मन को आकर्षित करने वाले ये उदक पृथिवी पर सोये हुए वृत्र के शरीर पर से होकर उसी प्रकार जा रहे हैं, जिस प्रकार नदी के तटों को तोड़कर उदक जाते हैं।[७] इसी क्रम में आगे ऋषि कहता है कि ये उदक वृत्र के ऊपर होकर प्रवाहित हो रहे हैं, अब इन उदकों में निमग्न वृत्र के नाम को कोई नहीं जानता और वह इन्द्रशत्रु चिरनिद्रा में लीन हो गया है।[८] आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं कि अन्न के उद्देश्य से मेघों से उदक वृष्टि हुई, उस समय नाव से पार करने योग्य उदकों के मध्य वृत्र का शरीर और बढ़ गया अर्थात् मेघों ने और अधिक आकाश को आच्छादित कर दिया।[९] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि जो देवताओं को प्रसन्न करता है, उसे स्यन्दनशील उदक घृत अर्थात् घृत जैसा ओज प्रदान करने वाला स्वादिष्ठ रस प्रदान करते हैं और ऐसे व्यक्ति को पृथ्वी सर्वदा सस्यादिफल प्रदान करके सन्तोष देती है।[१०] अथर्ववेद का ऋषि 'आपः' देवता का वर्णन करता हुआ कहता है कि ये उदक कल्याणकारक, घृत के समान ओज की वृद्धि और अग्नि तथा सोम को धारण करने वाले हैं। मधुरता से सम्पृक्त इस तीव्र रस को हम प्राप्त करें तथा प्राण और वर्चस् को प्राप्त हों।[११] त्रिशिर ऋषि कहते हैं कि ये जल निश्चय से ही सुखकारी हैं। बल प्रदान करने वाले अन्न तथा रमणीय दर्शन के लिये हम इनको धारण करते हैं।[१२] आगे ऋषि कहता है कि जो कुछ भी अत्यन्त कल्याणकारी सारभूत रस है, वह हमको यहीं प्राप्त हो। जिस प्रकार स्नेह करने वाली मातायें सन्तानों को सर्वोत्तम भोजन प्रदान करती हैं,

---

१ ऋ० १.२३.२१. "आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३मम। ज्योक् च सूर्य्यं दृशे।"

२ ऋ० १.२३.२२. "इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि। यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम्।"

३ ऋ० १०.१३७.६."आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः। आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्।"

४ शत०ब्रा०, ३.६.१.७. "आपो ह वाऽओषधीनाꣳ रसः।"

५ शत०ब्रा०, ७.५.२.४७. "ओषधयो वा ऽ अपामोद्म। यत्र ह्याप उन्दन्त्यस्तिष्ठन्ति तदोषधयो जायन्ते।"

६ ऋ० १.३२.२. "वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः।"

७ ऋ० १.३२.८. "नदं भिन्नममुना शयानं मनो रुहाणा अति यन्त्यापः।"

८ ऋ० १.३२.१०. "वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः।"

९ ऋ० १.३३.११. "अनु स्वधामक्षरन्नापो अस्यावर्धत मध्य आ नाव्यानाम्।"

१० ऋ० १.१२५.५. "तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा।"

११ अथर्व०, ३.१३.५. "आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ताः। तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत्।"

१२ ऋ० १०.९.१. "आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे।"

उसी प्रकार ये उदक भी सर्वोत्तम की प्राप्ति हमें करायें।[१] आप: देवता के महत्त्व का प्रतिपादन करता हुआ आगे ऋषि कहता है कि दिव्य गुणयुक्त ये उदक हमें अभीष्ट की प्राप्ति करायें तथा हमारे लिये कल्याणकारी हों और हम पर चारों ओर से कल्याण की वृष्टि हो।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि 'आप:' वह उदक है, जिसमें न केवल अमृत, अपितु सम्पूर्ण भेषज विद्यमान हैं, इस उदक का सेवन करने से रोग निवृत्त होता है, वेद सम्पूर्ण ओषधियों का आश्रय 'आप:' नामक उदक में मानता है और यह उदक ही नीरोग बनाता है। इसके अतिरिक्त यह उदक समस्त दुरित, द्रोह, शाप और अनृत का प्रक्षालन करने वाला है, यह 'आप:' देवता का एक पक्ष है। 'आप:' के दूसरे रूप का उल्लेख करता हुआ ऋषि कहता है कि वह उदक 'आप:' है, जो सोम के समान जिह्वा को प्रिय होता है, रंभाती हुई गायों के समान ये उदक समुद्र की ओर जाते हैं, ऊपर होकर बहने वाले इन उदकों में निमग्न वृत्र के नाम को अब कोई नहीं जानता, ये अन्न के उद्देश्य से मेघ से बरसते हैं, इनके माध्यम से प्राणियों को नानाप्रकार के अन्नों की प्राप्ति होती है, ये उदक घृत के समान स्वादिष्ठ, ओज प्रदाता तथा अग्नि एवं सोम को धारण करने वाले हैं, ये सुख दाता और बल का आधान करने वाले हैं, इनके सेवन से रमणीय दर्शनशक्ति प्राप्त होती है, स्नेह करने वाली माताओं के समान ये उदक प्राणी को सर्वोत्तम की प्राप्ति कराते है, आप: के विशेषण के रूप में ऋषि 'देवी:' पद का उल्लेख करता है, इस प्रकार उसकी दृष्टि में वे उदक आप: हैं, जो दिव्य गुण सम्पन्न हैं। निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में वे उदक आप: नाम से अभिहित हुए हैं, जिनमें ओषधीय तत्त्व विद्यमान हैं या जो ओषध के समान गुणकारी हैं। ये वे उदक हैं जो अन्तरिक्ष से वर्षा के रूप में पृथिवी पर आते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दिव्यगुणों की प्राप्ति अथवा वर्षा से स्वत:, विना प्रयास के प्राप्त होने के कारण इनको वेद का ऋषि 'आप:' नाम से अभिहित करता प्रतीत होता है। अन्य उदकवाचक पदों की तुलना में 'आप:' पद का एक वैशिष्ट्य यह भी है कि ये वेद में देवता रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर 'आप्' धातु को नि:सन्दिग्ध रूप से 'आप:' पद का मूल माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त उदक का एक गुण स्वत: व्याप्त हो जाना है। वर्षा ऋतु में उदक के कण आर्द्रता के रूप में सर्वत्र फैल जाते हैं। यह व्यापनशीलता भी उदक के 'आप:' नामकरण का आधार है।

५४. व्योम

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'व्योमन्' पद परिगणित है।[३] आचार्य यास्क अन्तरिक्षवाचक व्योमन् का निर्वचन '**व्यवने**' से करते हैं।[४] उनके अनुसार 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'अव्' धातु से 'व्यवन' और 'व्यवन' से 'व्योमन्' शब्द निष्पन्न होता है। विशेष रूप से रक्षा करने के कारण अन्तरिक्ष को 'व्योम' कहा जाता है।[५]

---

१ ऋ० १०.९.२. "यो व: शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह न:। उशतीरिव मातर:।"

२ ऋ० १०.९.४. "शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्रवन्तु न:।"

३ निघ० १.१२.५४.

४ निरु० ११.४०; १३.१०.

५ निरु० ११.४०.

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'व्योमन्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**व्यवति प्राणिनः**"[१] कि प्राणियों की रक्षा करता है, अतः, उदक को 'व्योमन्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'वि+'अव्'+मनिन्' से 'व्योमन्' पद निष्पन्न होता है।

(ख)'**संवृणोति भूमिमिति वा**"[२] कि यह उदक पृथिवी को आच्छादित करता है, अतः, उदक को 'व्योमन्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'व्ये' धातु से औणादिक 'मनिन्' प्रत्यय होकर 'व्योमन्' पद निष्पन्न होता है। उणादिकोष में इसी प्रकार निपातन के द्वारा व्योमन् पद व्युत्पन्न किया गया है।[३]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष के अनुसार यह आकाश वाचक नामपद है। कोषकार उक्तपद का विग्रह 'वि+ओमन्' से करते हुए 'ओमन्' का मूल 'अव' रक्षणे=निवासे' धातु को मानते हैं। ग्रासमैन 'व्ये' संवरणे' धातु से 'व्योमन्' पद को निष्पन्न करने के पक्ष में हैं।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'वि+ओमन्' से 'व्योमन्' को उपपन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'व्योमन्' पद की निम्न तीन व्युत्पत्तियाँ प्रदर्शित करते हैं:-'व्ये' या 'वि+'अव्' या 'वे'। उनके अनुसार ऋग्वेद में व्योमन् पद स्वर्ग, आकाश, अन्तरिक्ष और वायु अर्थ में आया है।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा व्योमन् पद के विषय में कहते हैं कि आचार्य दुर्ग ने यास्ककृत 'व्यवन' निर्वचन को अविगृहीत पद माना है। 'व्यवन' को विगृहीत माना जाये या अविगृहीत, दोनों ही स्थितियों में उक्त निर्वचन अस्पष्ट है। सम्भवतः, यास्क का आशय यह है कि 'व्योमन्' वह है जो सर्वत्र व्याप्त हो।[७] इस प्रकार डॉ. वर्मा उक्त यास्कीय निर्वचन को अस्पष्ट मानते हैं।

वैदिक साहित्य में 'व्योमन्' पद का पर्याप्त प्रयोग हुआ है, परन्तु प्रायः सर्वत्र 'व्योमन्' के साथ 'परमे' का उल्लेख देखने को मिलता है।[८] इस प्रकार सप्तमी में स्थित होने के कारण व्योम आधार होने से स्थान के वाचक के रूप में वेद में आया है, जबकि उदक स्थान न होकर एक पदार्थ है। अतः, निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वेद और वैदिक साहित्य में 'व्योमन्' पद उदक के अर्थ में नहीं आया है। आचार्य देवराजयज्वन् 'व्योमन्' के उदकवाचक उदाहरण के विषय में '**निगमोऽन्वेषणीयः**' कथन कहते हैं।[९] इससे भी उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है।

५५. यशः

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'यशस्' पद समाम्नात है।[१०] आचार्य देवराजयज्वन् 'यशस्' पद

---

१ निघ०वृ०, १.१२.५४.

२ निघ०वृ०, १.१२.५४.

३ उणा०, ४.१५२. "नामन्सीमन्व्योमन्रोमन्लोमन्पाप्मन्ध्यामन्।"

४ वै०पद०को०, पृ० ३०४६.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ५१५.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, १०४१.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १४५.

८ ऋ० १.६२.७; १४३.२; १६४.३४, ३५, ३९, ४१; ३.३२.१०.

९ निघ०वृ०, १.१२.५४.

१० निघ० १.१२.५५.

का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**यशः (उ़दकम्)। 'अशू' व्याप्तौ'। अश्नोति व्याप्नोति जगत्**''[१] कि जगत् को व्याप्त करने के कारण उदक को 'यशस्' कहा जाता है। इस पक्ष मे 'अश्' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'यशस्' रूप सिद्ध होता है।

(ख)''**यद्वा, 'अश' भोजने'। अश्यते वा प्राणिभिः**''[२] कि यह उदक प्राणियों के द्वारा भोजन के काम में लाया जाता है, अतः, उदक को 'यशस्' कहते हैं। इस पक्ष में भोजनार्थक 'अश्' धातु से पूर्ववत् 'यशः' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'यशस्' पद का मूल 'यश' दीप्तौ' धातु को मानता है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी 'यशस्' पद को 'यश्' धातु से व्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स व्युत्पत्ति स्पष्ट न करते हुए ऋग्वेद, अथर्ववेद और शतपथ-ब्राह्मण में 'यशस्' पद का अर्थ सुन्दर प्रस्तुति, सौन्दर्य, वैभव, महत्त्व आदि अर्थ मानते हैं। इसके अतिरिक्त सम्मान, प्रशंसनीय गुण, प्रसिद्धि, उत्तम, गौरव आदि अर्थों में 'यशस्' पद ऋग्वेद और अथर्ववेद में आया है।[५] उणादिकोष के अनुसार देवन अर्थ वाली 'अश्' धातु से 'असुन्' प्रत्यय तथा 'युट्' का आगम होकर 'यशस्' रूप सिद्ध होता है। वृत्तिकार 'यशस्' का निम्न निर्वचन करते हैं:-''**अश्यते दीव्यते क्रीडादि क्रियते येन तत्**'' कि जिससे क्रीडा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति आदि सम्पन्न होते हैं, वह 'यशस्' है।[६]

वैदिक साहित्य में 'यशस्' पद का प्रचुर प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि इन्द्र से निवेदन करते हैं हे इन्द्र! तुम्हारे द्वारा दिया गथा चारों ओर प्रसृत, सरलता से प्राप्त होने योग्य यशस् (उदक) विद्यमान है। अब किरणों के समूह को मुक्त करके धन की प्राप्ति कराओ।[७] शनुःशेप ऋषि कहते हैं कि उस वरुणदेव ने मनुष्यों एवं हमारे उदरों के लिये न्यून न पड़ने वाले यशस् (उदक) का निर्माण किया है।[८] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि बाधा रहित, महान्, विस्तृत अन्तरिक्ष में उदक (आपः) बढ़ते हैं और ये प्रचुर उदक (यशस्) अग्नि को बढ़ाते हैं।[९] वामदेव ऋषि कहते हैं कि उस जानने वाली उषा की हम स्तुति करते हैं, उसके पश्चात् अरुण वर्ण की उषा ओसरूप उदक (यशस्) के साथ प्रकट होती है।[१०] आत्रेय ऋषि कहते हैं कि हे अङ्गों में रमण करने वाले अग्निदेव! आप सम्यक् प्रदीप्त होकर अन्नादि सुन्दर पदार्थों का दान देते हुए मनुष्य की उदक (यशस्) के साथ दी गयी हवि का सेवन कीजिये।[११] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि स्यन्दनशील उदकों की

---

१ निघ०वृ०, १.१२.५५.
२ निघ०वृ०, १.१२.५५.
३ वै०पद०को०, पृ० २५८२.
४ ऋ०वै०पद०, पृ० ४१९.
५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ९४८.
६ उणा०, ४.१९२. ''अशेर्देवने युट् च।''
७ ऋ० १.१०.७. ''सुविवृतं सुनिरजमिन्द्र त्वादातमिद्यशः। गवामप व्रजं वृधि कृणुष्व राधो अद्रिवः।''
८ ऋ० १.२५.१५. ''उत यो मानुषेष्वा यशश्चक्रे असाम्या। अस्माकमुदरेष्वा।''
९ ऋ० ३.१.११. ''उरौ महाँ अनिबाधे ववर्धापो अग्निं यशसः सं हि पूर्वीः।''
१० ऋ० ४.१.१६. ''तज्जानतीरभ्यनूषत व्रा आविर्भुवदरुणीर्यशसा गोः।''
११ ऋ० ५.८.४. ''स नो जुषस्व समिधानो अङ्गिरो देवो मर्तस्य यशसा सुदीतिभिः।''

मातृभूता सरस्वती सप्तमी है, यह शब्द करती हुई अन्य नदियों के साथ यहाँ आये।[१] वत्सप्रि ऋषि कहते हैं कि जिस हव्यवाह (हवि को वहन करने वाली) अग्नि को देवता और अनेक कामनाओं वाले मनुष्य धारण करते हैं, वह अग्नि यज्ञ में स्तुति करने वाले देवकाम यजमान को अन्न (वयः) तथा प्रचुर उदक (यशसः) देता है।[२] जरत्कर्ण ऋषि ग्रावा देवों की स्तुति करते हुए कहते हैं कि उत्तम कामना वाली दिव्य वाणी से ग्रावा (मेघ) अन्न और उदक से हमें पूर्ण करें।[३] अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि समस्त रूप जिसमें निहित हैं, ऐसा उदक (यशस्) तिर्यक् बिल वाले अन्तरिक्ष में स्थित चमस (मेघरूप पात्र) में रखा हुआ है। यहाँ पर सात ऋषि विद्यमान हैं, जो इस यश (उदक) के महान् रक्षक हैं।[४] गोपथ-ब्राह्मण कहता है कि वर्षा ही यश है।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वे उदक 'यशस्' हैं, जो इन्द्र के द्वारा प्रदत्त, चारों ओर प्रसृत और सरलता से प्राप्य हैं, ये उदक सभी प्राणियों के लिये पर्याप्त हैं, अन्तरिक्ष में विद्यमान ये उदक अग्नि को बढ़ाते हैं, अरुणवर्ण वाली उषा ओसरूप उदक के साथ प्रकट होती है, अग्निदेव उदक आदि दानों को प्रदान करते हुए मनुष्य को प्राप्त होते हैं, इन स्यन्दनशील उदकों की मातृभूता सरस्वती सप्तमी है, देवकाम यजमानों को अन्न तथा प्रचुर उदक की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त अन्तरिक्षस्थ मेघ में इस उदक को स्थित बताया गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में वे उदक 'यशस्' हैं, जो इन्द्र, वरुण आदि देवों के द्वारा प्रदान किये जाते हैं और जो सब प्राणियों की आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर देवनार्थक 'अश्' धातु 'यशस्' पद का मूल मानी जा सकती है। इस विषय में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि उपर्युक्त उदक अर्थ के अतिरिक्त वेद में 'यशः' पद का तीन अर्थों में और प्रयोग हुआ है:-१. धन, २. अन्न, ३. गुण के कारण प्रसिद्धि। लोक के समान वेद में 'यशः' पद उक्त कीर्ति अर्थ में अधिक प्रयुक्त हुआ है। भाष्यकारों ने किसी एकाध स्थान पर 'यशः' का अर्थ उदक भले ही किया हो, सर्वत्र प्रायः वे धन, अन्न और कीर्ति अर्थ ग्रहण करते हैं।

५६. महः

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'महः' पद पठित है।[६] 'मह' का निर्वचन तैत्तिरीयारण्यक और तैत्तिरीय उपनिषद् में निम्न प्राप्त होता है:-"**मह इत्यन्नम्। अनेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते**"[७] कि 'महः' यह अन्नवाचक नाम है। इससे सभी प्राण महत्त्व प्राप्त करते हैं, अतः, अन्न को 'महः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'मह्' धातु से 'महः' पद निष्पन्न होता है। इसी प्रकार के निर्वचन तैत्तिरीयारण्यक और तैत्तिरीयोपनिषद् ने

---

१ ऋ० ७.३६.६. "आ यत्साकं यशसो वावशानाः सरस्वती सप्तमी सिन्धुमाता।"

२ ऋ० १०.४६.१०. "यं त्वा दधिरे हव्यवाहं पुरुस्पृहो मानुषासो यजत्रम्। स यामन्नग्ने स्तुवते वयो धाः प्र देवयन्यशसः सं हि पूर्वीः।"

३ ऋ० १०.७६.६. "भरन्तु नो यशसः सोत्वन्धसो ग्रावाणो वाचा दिविता दिवित्मता।"

४ अथर्व०, १०.२६.९. "तिर्य्यग्बिलश्चमस ऊद्र्ध्वबुध्नो यस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। अत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः।"

५ गो०ब्रा०, १.५.१५. "वर्षा एव यशः।"

६ निघ० १.१२.५६.

७ तै०आ०, ७.५.३. तै०उप०, १.५.३.

आदित्य, चन्द्रमा और ब्रह्म के सम्बन्ध में दिये हैं।[१]

शतपथ-ब्राह्मण 'महः' का विवेचन करता हुआ कहता है:-''**पशवो वै महस्तस्माद्यस्यैते बहवो भवन्ति भूयिष्ठमस्य कुले महीयन्ते**''[२] कि पशुओं को 'महः' इसलिये कहा जाता है, क्योंकि ये सङ्ख्या में बहुत होते है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्धि होती है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'महः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**महः (उदकम्)। 'मह' पूजायाम्'। महति महयति वा देवतामनेन पुरुषस्येति महत्, मह्यते वा देवतात्वात्**''[३] कि पुरुष इससे देवता की पूजा करता या कराता है अथवा देवता होने के कारण उदक की पूजा होती है, अतः, उदक को 'महः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'मह्' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर निपातन विधि से 'महः' रूप सिद्ध होता है। उणादिकोष में इसी प्रकार 'महः' रूप सिद्ध किया गया है।[४]

(ख)''यद्वा, मानशब्दाज्जहातेश्च। मानेन स्वगतेन परिमाणेन अन्यान् स्वस्मादूनप्रमाणान् पदार्थान् जहाति अतिक्रामति 'दशोत्तराण्यवराणि सप्त' इत्यत्र विष्णुपुराणे सर्वमहत्त्वं जलतत्त्वस्योक्तम्''[५] कि अपने परिमाण से ऊनपरिमाण वाले पदार्थों को अतिक्रान्त कर देता है, इसलिये उदक को 'महः' कहा जाता है। सत्रह पदार्थ जल की अपेक्षा हीन हैं, इस प्रकार विष्णुपुराण में जल का सर्वमहत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इस पक्ष में 'मान+'हा' से पृषोदरादि नियम से 'महः' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'महः' पद की व्युत्पत्ति 'मंह्' धातु से मानता है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'महः' पद का मूल 'मंह्' धातु को मानती है।[७] मोनियर विलियम्स भी उपर्युक्त मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद और तैत्तिरीय-ब्राह्मण में 'महः' पद महत्ता, शक्ति, पराक्रम, वैभव आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त वाजसनेयि-संहिता, अथर्ववेद और तैत्तिरीय-ब्राह्मण में उक्तपद आनन्द, प्रसन्नता, सन्तोष आदि अर्थों में आया है।[८]

वैदिक साहित्य में 'महः' पद का व्यापक प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि प्रभूत उदक वाली नदीरूप सरस्वती प्रवाहरूप कर्म से जानी जाती है, जबकि देवतारूप सरस्वती समस्त बुद्धियों पर शासन करती है।[९] उक्त मन्त्र में देवराजयज्वन् ने 'महः' पद का अर्थ 'उदक' ग्रहण किया है।[१०] मेधातिथि काण्व ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! तुम्हारे उदकरूपी कर्म से न देवता श्रेष्ठ हैं और न मनुष्य।

---

१ तै०आ०, ७.५.२-३. तै०उप०, १.५.३.

२ शत०ब्रा०, ११.८.१.३.

३ निघ०वृ०, १.१२.५२.

४ उणा०, २.८५. ''वर्त्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च।''

५ निघ०वृ०, १.१२.५२.

६ वै०पद०को०, पृ० २३९०.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० ३७७.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ७९४.

९ ऋ० १.३.१२. ''महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति।''

१० निघ०वृ०, १.१२.५६.

इसलिये तुम मरुतों के साथ यहाँ आओ।[१] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि हे अग्ने! अद्रोही, प्रकाशमान और उदकवृष्टि विद्या को जानने वाले मरुतों के साथ यहाँ आओ।[२] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम उदकरूप धन को धारण करने वालों पर शासन करते हो, अतः, तुम पर्वत (मेघ) का भोग नहीं करते हो।[३] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि इस संसार का निर्माण करने वाला इन्द्र (सूर्य) प्रातः, मध्याह्न और सायं- इन तीनों सवनों में सुन्दर अन्नों में स्थित पेय उदक का पान करता है अर्थात् अपक्व फल या वनस्पति में स्थित उदक का शोषण करके उसे पूर्णता प्रदान करता है।[४] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र (सूर्य)! अन्तरिक्ष से उदक को व्याप्त, भक्षण एवं युद्ध करने वाली तुम्हारी किरणें द्युम्न (रश्मि) को सहन करने वाले उदक को अभिभूत करती हैं।[५] अगस्त्य ऋषि मरुतों से निवेदन करते हुए कहते हैं कि वृष्ट्युदक को धारण करने वाले मरुतो! जब तुम वृष्टि के लिये आते हो, उस समय अन्तरिक्ष लोक का परभाग और अधोभाग कहाँ अदृश्य हो जाता है?[६] अग्रिम सूक्त में पुनः अगस्त्य ऋषि इन्द्र से उदकवृष्टि का नेतृत्व करने वाले मेघों की ओर जाने और वहाँ जाकर अन्तरिक्ष (पार्थिव सदन) में वर्षा के लिये प्रयास करने का निवेदन करते हैं।[७] गृत्समद ऋषि अग्नि को दुःखों का विनाशक, अन्तरिक्ष से उदकों का निरसिता और मरुद्गणों का बल बतलाते हैं।[८] एक अन्य सूक्त में गृत्समद ऋषि ब्रह्मणस्पति को सूर्य की किरणों के समान उदक और सम्पूर्ण अन्नों को उत्पन्न करने वाला कहते हैं।[९] ब्राह्मणग्रन्थ अन्तरिक्ष, अन्न, आदित्य, ग्रीष्म, पशु, प्रतीची, प्राण इत्यादि को 'महः' नाम से अभिहित करते हैं, परन्तु उन्होंने एक बार भी उदक को 'महः' नहीं कहा है, इससे यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण 'महः' के उदक अर्थ का समर्थन नहीं करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'महः' है, जो सरस्वती नदी में कलकल ध्वनि के साथ प्रवाहित होता है, ऋषि ने अग्नि के उदक रूपी कर्म को सर्वश्रेष्ठ माना है, इसलिये उसका मरुतों के साथ आह्वान किया गया है, यह अग्नि ही अन्तरिक्ष से उदकों को निरसित करता है, उदकवृष्टिविद्या को केवल मरुत् जानते हैं, उदक पर शासन करने के कारण इन्द्र मेघ का भोग नहीं करता है, इन्द्र (सूर्य) प्रातः, मध्याह्न और सायं इन तीनों सवनों में अपक्व फल के रस का शोषण, उदक को व्याप्त तथा भक्षण करता है एवं युद्ध करने वाली उसकी किरणें उदक को अभिभूत करती हैं, जब मरुत् उदक वृष्टि के लिये आते हैं, उस समय अन्तरिक्ष का पर और अवर भाग अदृश्य हो जाता है, ब्रह्मणस्पति सूर्य की रश्मियों के समान उदक और अन्नों को उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण एक भी स्थान पर 'महः' को उदक का वाचक नहीं बतलाता है तथा उपर्युक्त मन्त्र की व्याख्या करते समय सायण आदि भाष्यकारों ने 'महः' का अर्थ

---

१ ऋ० १.१९.२. ''नहि देवो न मर्त्यो महस्तव क्रतुं परः। मरुद्भिरग्न आ गहि।''
२ ऋ० १.१९.३. ''ये महो रजसो विदुर्विश्वे देवासो अद्रुहः। मरुद्भिरग्न आ गहि।''
३ ऋ० १.५५.३. ''त्वं तमिन्द्र पर्वतं न भोजसे महो नृम्णस्य धर्मणामिरज्यसि।''
४ ऋ० १.६१.७. ''अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ना।''
५ ऋ० १.१२१.८. ''अष्टा महो दिव आदो हरी इह द्युम्नासाहमभि योधान उत्सम्।''
६ ऋ० १.१६८.६. ''क्व स्विदस्य रजसो महस्परं क्वावरं मरुतो यस्मिन्नायय।''
७ ऋ० १.१६९.६. ''प्रति प्र याहीन्द्र मीळ्हुषो नृन्महः पार्थिवे सदने यतस्व।''
८ ऋ० २.१.६. ''त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्वं शर्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे।''
९ ऋ० २.२३.२. ''उस्राइव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि।''

उदक नहीं किया है, पर प्रयास करने पर उक्त अर्थ ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में प्रमुख रूप से 'महः' पद उदक के अर्थ में नहीं आया है। उपर्युक्त मन्त्र विवेचन में येन केन प्रकारेण 'महः' के उदक अर्थ की सङ्गति लगाने का प्रयास किया गया है, उससे भी 'महः' नामक उदक के विशिष्ट स्वरूप का प्रत्यायन नहीं होता है। फिर भी, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सूर्य के सम्पर्क में आने वाला उदक सम्भवतः, वेद में 'महः' नाम से अभिहित हुआ है। इस दृष्टि से विचार करने पर सूर्य की महत्ता से उदक भी 'महः' कहा गया है और निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि महत् के समान 'महः' पद का मूल पूजार्थक 'मह्' धातु है।

५७. सर्णीकम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'सर्णीकम्' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'सर्णीकम्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**सर्णीकम् (उदकम्)। 'सृ' गतौ'। धावति सर्णीकम्**''[२] कि दौड़ने के कारण उदक को 'सर्णीकम्' कहते हैं। इस पक्ष में गत्यर्थक 'सृ' धातु से 'ईकन्' प्रत्यय तथ 'नुम्' का आगम होकर 'सर्णीकम्' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष में उक्तपद को जलवाचक नामपद माना है। कोषकार के मत में 'सर्णीक' पद 'सृ' स्रवणे' धातु से भाव में 'सरण' तथा उससे मत्वर्थीय प्रत्यय (ईकन्) होकर निष्पन्न होता है।[३] मोनियर विलियम्स 'सर्णीकम्' पद का मूल 'सृ' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार शतपथ-ब्राह्मण तथा निघण्टु में उक्तपद उदकवाचक अर्थ में आया है।[४]

वेदों में उक्तपद का सर्वथा प्रयोग नहीं हुआ है। तैत्तिरीय-संहिता में अवश्य उक्तपद का एक बार प्रयोग हुआ है।[५] अतः, पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में 'सर्णीक' पद के विशिष्ट स्वरूप को प्रतिपादित करना सम्भव नहीं है। आचार्य देवराजयज्वन् उक्त 'सर्णीकम्' पद के उदाहरण के रूप में ''**सलिलाय त्वा सर्णीकाय त्वा सतीकाय त्वा**'' इस मन्त्र को उद्धृत करते हैं, परन्तु अपने स्वभाव के विरुद्ध उक्त उद्धरण का पता नहीं देते हैं।[६] अतः, प्रकरणादि के अभाव में उक्त उद्धरण के विषय में कुछ कहना उचित नहीं है। जहाँ तक व्युत्पत्ति का प्रश्न है, रूपात्मक आधार पर कहा जा सकता है कि 'सर्णीक' पद का मूल 'सृ' गतौ' धातु है।

५८. स्वृतीकम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'स्वृतीकम्' पद परिगणित है।[७] आचार्य देवराजयज्वन् 'स्वृतीकम्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**स्वृतीकम् (उदकम्)। 'स्वृ' शब्दोपतापयोः' स्वरतिर्गत्यर्थः**

---

१ निघ० १.१२.५७.

२ निघ०वृ०, १.१२.५७.

३ वै०पद०को०, पृ० ३३२३.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ११८४.

५ तै०सं० ४.४.६.२.

६ निघ०वृ०, १.१२.५७.

७ निघ० १.१२.५८.

(निघ०,२.१४.५४.) **अर्चतिकर्मा च (निघ०,३.१४.४१.)। शब्दं करोति, गच्छति, पूज्यन्तेऽनेन देवताः, पूज्यन्ते वा स्वयं देवतात्वात् इति स्वृतीकम्**''[१] कि यह उदक कलकल ध्वनि करता है अथवा यह बहता है या इससे देवताओं की पूजा होती है अथवा देवता होने के कारण इसकी पूजा होती है, अतः, उदक को 'स्वृतीकम्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'स्वृ' धातु से 'ईकन्' प्रत्यय तथा 'तुक्' का आगम होकर 'स्वृतीकम्' रूप निष्पन्न होता है।

उक्तपद के विषय में आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं कि कुछ 'स्वृतीकम्' के स्थान पर 'सतीनम्' पाठ करते हैं। तदनुसार निर्वचन निम्न प्रकार होगा:-''**गच्छति अवसीदति कुड्यानि अनेनेति वा**''[२] कि भित्ति आदि को निमज्जित कर देने के कारण उदक को 'सतीनम्' कहा जाता है। इस पक्ष में अवसादन अर्थ वाली 'सद्' धातु से औणादिक 'ईकन्' प्रत्यय होकर 'सतीनम्' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक साहित्य में सर्णीकम्' के समान स्वृतीकम्' के उदाहरण प्राप्त नहीं होते हैं। 'स्वृतीकम्' के विषय में आचार्य देवराजयज्वन् '**निगमोऽन्वेषणीयः**' कहते हैं,[३] जबकि 'सतीनम्' के विषय में 'सर्णीकम्' पद के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत निगम को उद्धृत करते हैं:-''**सलिलाय त्वा सर्णीकाय त्वा सतीकाय त्वा**''[४]। पर उक्त निगम का मूल अज्ञात होने से प्रकरण के अभाव में कुछ नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार प्रमाण के अभाव में 'स्वृतीकम्' के विशिष्ट स्वरूप का बोध होना सम्भव नहीं है।

५९. सतीनम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'सतीनम्' पद परिगणित है।[५] आचार्य देवराजयज्वन् 'सतीनम्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**सतीनम् (उदकम्)। 'स्वृ' शब्दोपतापयोः' स्वरतिर्गत्यर्थः (निघ०,२.१४.५४.) अर्चतिकर्मा च (निघ०,३.१४.४१.)। शब्दं करोति, गच्छति, पूज्यन्तेऽनेन देवताः, पूज्यन्ते वा स्वयं देवतात्वात् इति सतीनम्**''[६] कि यह उदक कलकल ध्वनि करता है अथवा यह बहता है या इससे देवताओं की पूजा होती है अथवा देवता होने के कारण इसकी पूजा होती है, अतः, उदक को 'सतीनम्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'स्वृ' धातु से 'ईकन्' प्रत्यय तथा 'तुक्' का आगम होकर ' 'सतीनम्' रूप निष्पन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, सती शोभना असौ, सामर्थ्यान्माध्यमिका वाक्, सा ईना ईश्वरा अस्य तत् सतीनम्**''[७] कि सुन्दर होने से माध्यमिका वाक् 'सती' है, वह माध्यमिका वाक् ईश्वर है, जिसकी ऐसा उदक 'सतीनम्' कहलाता है। इस पक्ष में 'सत्+ईन' से 'सतीनम्' रूप सिद्ध होता है। आचार्य सायण भी 'सतीनम्' का

---

१ निघ०वृ०, १.१२.५८.
२ निघ०वृ०, १.१२.५८.
३ निघ०वृ०, १.१२.५८.
४ निघ०वृ०, १.१२.५८.
५ निघ० १.१२.५९.
६ निघ०वृ०, १.१२.५९.
७ निघ०वृ०, १.१२.५९.

निर्वचन कुछ इसी प्रकार करते हैं:-**''यद्वा, सती माध्यमिका वाक्। सा इना ईश्वरा यस्य तत् सतीनम्''**।[१]

(ग)**''यद्वा, 'षद्लृ' विशरणगत्यवसादनेषु'। गच्छति अवसीदति कुड्यानि अनेनेति वा''**[२] कि भित्ति आदि को निमज्जित कर देने के कारण उदक 'सतीनम्' कहलाता है। इस पक्ष 'सद्' धातु से 'ईकन्' प्रत्यय होकर 'सतीनम्' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य सायण 'सतीनम्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''मेघेषु निषीदतीति सतीनं वृष्ट्युदकम्''**[३] कि मेघ में स्थित होने के कारण वृष्ट्युदक को 'सतीनम्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सद्' धातु से औणादिक 'ईन' प्रत्यय तथा तकार अन्तादेश होकर 'सतीनम्' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सतीन' पद की व्युत्पत्ति को सन्दिग्ध मानता है। वेङ्कट एवं सायण के मत में उक्तपद उदकवाचक है, लेकिन पेटरसन तथा ग्रासमैन प्रभृति 'सत्य' अर्थ मानते हुए 'सत्' से 'सतीन' पद को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'सतीनम्' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स व्युत्पत्ति न देते हुए कठ-संहिता, मैत्रायणी-संहिता एवं सुश्रुत-संहिता में 'सतीनम्' पद वास्तविक, और आवश्यक अर्थ में आया हुआ मानते हैं।[६]

वैदिक साहित्य में 'सतीनम्' पद का प्रयोग अत्यल्प हुआ है। ऋग्वेद में मात्र तीन बार उक्तपद के दर्शन होते हैं। ऋजाश्व ऋषि कहते हैं कि कामनाओं की वर्षा करने वाला महान् इन्द्र अन्तरिक्ष तथा पृथिवी का सम्राट् है। वह वर्षा से सम्पन्न होने वाले पराक्रमों से सङ्गत होकर उदकों की प्राप्ति कराता है। ऐसा इन्द्र हमारी स्तुतियों से आहूत होकर मरुतों के साथ आकर भरण-पोषणरूप कार्यों में हमारी रक्षा करे।[७] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि अल्पविष या महाविष और उदक में विचरण करने वाले विषधारी जीव- ये दोनों प्रकार के जीव दाह उत्पन्न करने वाले हैं। दिखलायी न पड़ने वाले इन क्षुद्र जीवों का विष पूरे शरीर को व्याप्त कर लेता है।[८] नभ प्रभेदन वैरूप ऋषि इन्द्र का स्तवन करते हुए कहते हैं कि मैं इन्द्र के पूर्व किये गये मुख्य पराक्रमों की निश्चय प्रशंसा करता हूँ। जल-प्रवर्षण-विधि को जानने वाला यह इन्द्र मेघ को शिथिल करता है और अन्न के लिये सूर्य किरणों को प्राप्त कराता है।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'सतीनम्' है, जो इन्द्र के वर्षा के

---

१ सायणभाष्य, ऋ० १.१००.१.

२ निघ०वृ०, १.१२.५९.

३ सायणभाष्य, ऋ० १.१००.१.

४ वै०पद०को०, पृ० ३२२७.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ५४४.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ११३५.

७ ऋ० १.१००.१. ''स यो वृषा वृष्ण्येभिः समोका महो दिवः पृथिव्याश्च सम्राट् सतीनसत्वा हव्यो भरेषु मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती।''

८ ऋ० १.१९१.१. ''कङ्कतो न कङ्कतोऽथो सतीनकङ्कतः। द्वाविति प्लुषी इति न्य१ दृष्टा अलिप्सत।''

९ ऋ० १०.११२.८. ''प्र त इन्द्र पूर्व्याणि प्र नूनं वीर्या वोचं प्रथमा कृतानि। सतीनमन्यरश्रथायो अद्रिं सुवेदनामकृणोर्ब्रह्मणे गाम्।''

पराक्रम से सम्पन्न होने वाले कार्यों से सङ्गत होकर प्राप्त होता है, यह वह उदक है, जिसमें विषधारी जीव विचरण करते हैं तथा जल-प्रवर्षण-विधि को जानने वाले इन्द्र के द्वारा मेघ को शिथिल करने पर यह प्राप्त होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में वह उदक 'सतीनम्' है, जो वर्षा से प्राप्त होता है तथा जिसमें विषधारी जीव जन्म ले चुके हैं। निष्कर्ष रूप में कह सकते है कि गड्ढे, तालाब आदि का जल 'सतीनम्' है। इस दृष्टि से विचार करने पर उक्त सभी निर्वचन अपूर्ण प्रतीत होते हैं, फिर भी आचार्य देवराजयज्वन् तथा आचार्य सायण के 'सत्+ईन' वाले निर्वचन को कुछ स्वीकार्य माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि उक्त निर्वचन से 'वृष्ट्युदक' अर्थ की प्रतीति हो जाती है, जबकि 'गड्ढे का उदक' अर्थ अप्रतीत बना रहता है, वस्तुतः, यही 'सतीनम्' पद का मुख्य अर्थ है।

६०. गहनम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'गहनम्' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'गहनम्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**गहनम् (उदकम्)। 'गाहू' विलोडने'। अवगाह्यते प्राणिभिः गहनम्**"[२] कि प्राणियों के द्वारा अवगाहन किये जाने के कारण उदक 'गहनम्' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'गाह्' धातु से 'युच्' प्रत्यय होकर 'गाहन' उससे 'गहन' पद उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गहन' पद को 'गह्' धातु से व्युत्पन्न करते हैं। उसके अनुसार यह 'गहन' और 'गभीर' ये दोनों पद अम्भस् के विशेषण हैं।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी 'गहनम्' पद का मूल 'गह्' धातु को मानती है।[४] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद गहरा गड्ढा या खाई, गहराई अर्थ में आया है। शतपथ-ब्राह्मण तथा महाभारत में उक्तपद अगम्य स्थान, छिपने का स्थान, और गुल्म (झाड़-झंखाड़) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[५]

वैदिक साहित्य में 'गहनम्' पद का अत्यल्प प्रयोग प्राप्त होता है। ऋग्वेद में परुच्छेप ऋषि इन्द्र का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे इन्द्र (सूर्य) और पर्वत (मेघ)! तुम दोनों सामने से युद्ध करने वाले हो, हमें मारने की इच्छा रखने वाले शत्रु का तुम नाश कर देते हो। हे इन्द्र! तुम्हारे वज्र में यह सामर्थ्य है कि वह दूर देश में स्थित शत्रु का नाश कर देता है तथा जो अतिगहन शत्रु है, उसका भी तुम नाश कर देते हो।[६] उपर्युक्त मन्त्रव्याख्या से स्पष्ट है कि यहाँ 'गहनम्' पद उदक अर्थ में न होकर अगम्य स्थान का बोध करा रहा है। प्रजापति परमेष्ठी ऋषि नासदीय सूक्त में प्रलयकालीन स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि बार-बार इस संसार में आने वाले जीव कहाँ और किसके आश्रय में रहते हैं? गहन और गम्भीर जल क्या उस समय

---

१ निघ० १.१२.६०.

२ निघ०वृ०, १.१२.६०.

३ वै०पद०को०, पृ० १२२०.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० १८५.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ३५२.

६ ऋ० १.१३२.६. "युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तंतमिद्धतं वज्रेण तंतमिद्धतम्।"

विद्यमान था ?[१] प्रस्तुत मन्त्र में 'गहन' शब्द अम्भस् के विशेषण के रूप में अगाध अर्थ का प्रतिनिधित्व करता दिखायी देता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में 'गहनम्' पद उदकवाचक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। एक स्थान पर जहाँ वह अगम्यता का बोध करा रहा है तो दूसरे स्थान (नासदीय सूक्त) में वह उदक की अगाधता का। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में यह पद उदक के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस दृष्टि से विचार करने पर सघन अर्थ वाली 'गह्' धातु को 'गहनम्' पद का मूल स्वीकार किया जा सकता है। जहाँ तक देवराजयज्वन् कृत 'गाह्' धातुमूलक निर्वचन का प्रश्न है, उसे स्वीकार्य नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि उक्त धातु विलोडनार्थक है, उससे घनत्व अर्थ का बोध नहीं होता है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि 'गहन' पद का मौलिक अर्थ 'सघन' है, यह (सघनता ही) परवर्ती साहित्य में चलकर अगाध, अथाह आदि अर्थ में परिणत हो गयी है और आगे चलकर उक्तपद का 'अगाध' अर्थ 'अगम्य' अर्थ के प्रत्यायन का आधार बना है, यह स्वीकार किया जा सकता है।

६१. गभीरम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'गभीरम्' पद परिगणित है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् 'गभीरम्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**गभीरम् (उदकम्)। 'गम्लृ' गतौ'। गच्छति यज्ञेष्वाहृतं वसतीवर्य्यादिरूपेण**"[३] कि वसतीवर्य्यादि (सोमयज्ञ की सन्ध्या के समय नदी से लाये गये उदक को रात भर रखे रहने देना) रूप में लाया गया उदक यज्ञ में उपयोग के लिये ले जाया जाता है, अतः, उक्त उदक को 'गभीरम्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'गम्' धातु से औणादिक 'ईरन्' प्रत्यय होकर 'गभीरम्' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गभीर' की तुलना 'गम्भीर' पद से करता है। उसके अनुसार यह अवत, सवन, सुमति प्रभृति पदों का विशेषणपद है। कोषकार उक्तपद की व्युत्पत्ति को सन्दिग्ध मानते हैं। पेटरसन तथा ग्रासमैन प्रभृति विद्वान् उक्तपद को 'गभ' गहने' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं, जबकि उणादिकोष 'गम्' धातु से।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'गभीरम्' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'गभीरम्' पद का मूल 'गभ्' या 'गम्भ्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में उक्तपद 'गाध' के विलोम अर्थ 'गहरा' अर्थ का वाचक है। ऋग्वेद में एक स्थान पर यह गम्भीर ध्वनि, गहरे खाली स्थान से आने वाली ध्वनि के लिये प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में यह पद अथाह, दूरदर्शी, गम्भीर, गुप्त, रहस्यमय, गूढ आदि अर्थों में भी आया है।[६] उणादिकोष के अनुसार 'गम्' धातु से 'ईरन्' प्रत्यय होकर

---

१ ऋ० १०.१२९.१. "किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्।"

२ निघ० १.१२.६१.

३ निघ०वृ०, १.१२.६१.

४ वै०पद०को०, पृ० १२१४.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० १८४.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ३४६.

'गभीरम्' पद व्युत्पन्न होता है।[१]

वैदिक साहित्य में 'गभीरम्' पद का अनेकशः उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में गोतम ऋषि कहते हैं कि हे सोम! तुम्हारा धाम (तेज) अत्यन्त गम्भीर है। हे सोम! तुम्हारे कार्य लोकहितकारी और वरणीय हैं।[२] उक्त मन्त्र में ऋषि 'धाम' के विशेषण के रूप में 'गभीर' का प्रयोग कर रहा है। आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि सम्पूर्ण जगत् सर्वव्यापक और विस्तार की दृष्टि से गम्भीर (महावकाश वाला) है।[३] प्रस्तुत मन्त्र में ऋषि 'गभीर' का प्रयोग 'महावकाश' अर्थ में कर रहा है। विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि गम्भीर सिन्धु (समुद्र) इन्द्र का वारण नहीं कर सकता और न पर्वत ही वारण कर सकते हैं।[४] उपर्युक्त मन्त्र में ऋषि ने समुद्र की अगाधता को बताने के लिये 'गभीरम्' का प्रयोग किया है। एक अन्य सूक्त में विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि सम्पूर्ण जगत् को आच्छादित करने में समर्थ, गम्भीर (महावकाशवान्), जन्म से ही उग्र (शत्रुओं के लिये भयङ्कर), सर्वव्यापक ऐसा इन्द्र स्तुति करने वाले की रक्षा करता है।[५] वामदेव ऋषि कहते हैं कि पापी, मन और वाणी के सत्य से रहित मनुष्य अगाध नरकस्थान को उत्पन्न करते हैं।[६] यहाँ ऋषि 'नरक' की अनन्तता का प्रतिपादन करने के लिये 'गभीरम्' का उल्लेख कर रहा है। अत्रि ऋषि अपने को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे अत्रे! तुम सम्यक् राजमान, सर्वत्र श्रूयमाण वरुणदेव के लिये प्रभूत, गम्भीर (बहुत अर्थों से युक्त), प्रिय स्तोत्र से अर्चना करो।[७] यहाँ ऋषि ने अनेक अर्थ बताने के लिये 'गभीर' का प्रयोग किया है। वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि वासिष्ठ (विद्या में निवास करने वालों) की महिमा सूर्य की ज्योति के समान प्रकाशमान तथा समुद्र के समान गम्भीर है।[८] सप्तगु ऋषि इन्द्र-वैकुण्ठ के समान वेदवेत्ता, देवताओं की अर्चना करने वाले, महान्, विस्तृत, गम्भीर, विशाल मस्तिष्क वाले पुत्ररूप धन प्रदान करने की प्रार्थना करते हैं।[९] उक्त मन्त्र में 'चञ्चलता रहित' अर्थ में 'गभीर' का प्रयोग हुआ है। प्रजापति परमेष्ठी ऋषि नासदीय सूक्त में प्रलयकालीन स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि बार-बार इस संसार में आने वाले जीव कहाँ और किसके आश्रय में रहते हैं? गहन और गम्भीर जल क्या उस समय विद्यमान था?[१०] प्रस्तुत मन्त्र में 'गभीरम्' शब्द अगाध अर्थ का प्रतिनिधित्व करता दिखायी देता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'गभीरम्' पद उदकवाचक के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है। कहीं यह तेज (धाम) की अधिकता का बोध करा रहा है तो कहीं महावकाश की

---

१ उणा०, ४.३६. "गभीरगम्भीरौ।"

२ ऋ० १.९१.३. "राज्ञो नु ते वरुणस्य व्रतानि बृहद्गभीरं तव सोम धाम।"

३ ऋ० १.१०८.२. "यावदिदं भुवनं विश्वमस्त्युरुव्यचा वरिमता गभीरम्।"

४ ऋ० ३.३२.१६. "न त्वा गभीरः पुरुहूत सिन्धुर्नाद्रयः परि षन्तो वरन्त।"

५ ऋ० १.४६.४. "उरुं गभीरं जनुषाभ्युग्रं विश्वव्यचसमवतं मतीनाम्।"

६ ऋ० ४.५.५. "पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्।"

७ ऋ० ५.८५.१. "प्र सम्राजे बृहदर्चा गभीरं ब्रह्म प्रियं वरुणाय श्रुताय।"

८ ऋ० ७.३३.८. "सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः।"

९ ऋ० १०.१७.३. "सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरु गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र।"

१० ऋ० १०.१२९.१. "किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्।"

अनन्तता का, तो कहीं समुद्र की अगाधता का तो कहीं ऋषि नरक की असीमता का, कहीं यह ऐसी वाणी या बुद्धि का विशेषण है, जिसमें अनेक अर्थ समाहित हैं, तो किसी स्थान पर ऋषि ने चञ्चलता के विलोम शान्त और सौम्य अर्थ में इसका प्रयोग किया है, केवल नासदीय सूक्त में ऋषि ने उदक के अगाध और अथाह रूप को बताने के लिये 'गभीरम्' पद का प्रयोग किया है। इस प्रकार वेद में उक्तपद उदक के विशेषण के रूप में आया है, परन्तु उदकवाचक रूप में नहीं आया है, यह स्वीकार किया जा सकता है। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, 'गभीरम्' पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। उक्तपद 'गम्' धातु से विकसित हुआ है, की सम्भावना क्षीण प्रतीत होती है तथा 'गभ्' या 'गम्भ्' धातु पाणिनीय धातुपाठ में उपलब्ध नहीं होती है। अतः, अभी पर्याप्त शोध के अभाव में उक्तपद को अव्युत्पन्न मानना उचित प्रतीत होता है।

६२. गम्भरम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'गम्भर' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'गम्भर' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**गम्भरम् (उदकम्)। 'गम्लृ' गतौ'। गच्छति यज्ञेष्वाहृतं वसतीवर्य्यादिरूपेण**''[२] कि वसतीवर्य्यादि (सोमयज्ञ की सन्ध्या के समय नदी से लाये गये उदक को रात भर रखे रहने देना) रूप में लाया गया उदक यज्ञ में उपयोग के लिये ले जाया जाता है, अतः, उदक को 'गम्भर' कहा जाता है। इस पक्ष में 'गम्' धातु से औणादिक 'ईरन्' प्रत्यय होकर 'गम्भर' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा, 'ग्रह' उपादाने'। गृह्यते वसतीवर्य्यादित्वेन''[३] कि वसतीवर्य्यादि (सोम यज्ञ की सन्ध्या के समय नदी से लाये गये उदक को रात भर रखे रहने देना) रूप में यह ग्रहण किया जाता है, अतः, उदक को 'गम्भर' कहा जाता है। इस पक्ष में 'ग्रह्' धातु से 'अरन्' प्रत्यय होकर 'ग्रभर' और उससे वर्णविपरिणाम होकर 'गम्भर' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गम्भर' पद की तुलना 'गम्भन्' से करता है तथा उसने उक्तपद का मूल 'गम्' धातु को माना है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'गम्भर' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'गम्भर' पद का मूल 'गभ्' या 'गम्भ्' धातु को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में उक्तपद उदक के अर्थ में आया है।[६]

वैदिक साहित्य में 'गम्भर' पद का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में उक्तपद एक बार आया है। भूतांश काश्यप ऋषि अश्विनीदेवों के प्रकरण में कहते हैं कि ये दो बड़े पुरुषों के समान गहन जलों में स्थिति को प्राप्त करते हैं और तैरते हुए दो पुरुषों के समान जल की गहराई को प्राप्त करते हैं।[७]

---

१ निघ० १.१२.६२.
२ निघ०वृ०, १.१२.६२.
३ निघ०वृ०, १.१२.६२.
४ वै०पद०को०, पृ० १२१५.
५ ऋ०वै०पद०, पृ० १८४.
६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ३४६.
७ ऋ० १०.१०६.९. ''बृहन्तेव गम्भरेषु प्रतिष्ठां पादेव गाधं तरते विदाथः।''

उपर्युक्त एकमात्र उद्धरण के आधार पर कहा जा सकता है जिसमें बड़े पुरुष के पैर टिक जाते हैं, वह उदक 'गम्भर' है। इस प्रकार पुरुष प्रमाण वाला उदक 'गम्भर' है, कहा जा सकता है। इस दृष्टि से विचार करने पर 'ग्रह्' धातु को 'गम्भर' पद का मूल माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि पाद भूमि को ग्रहण करने में समर्थ हो जाते हैं।

६३. ईम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'ईम्' पद परिगणित है।[१] अव्यय पद होने के कारण 'ईम्' का निर्वचन प्राप्त नहीं होता है। आचार्य यास्क ने पदपूरणार्थक निपात प्रकरण में उक्तपद का परिगणन किया है। उनके अनुसार यह 'ईम्' अनर्थक निपात है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् भी उक्तपद को अव्यय मानकर मानकर निर्वचन प्रस्तुत नहीं करते हैं।[३]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'ईम्' को अवधारणार्थक निपात मानता है, उसके अनुसार इसका विकास 'ई' से हुआ है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स उक्तपद को अव्युत्पन्न मानते हैं।[५] मोनियर विलियम्स के अनुसार यह एक स्वीकृतिसूचक और निषेधात्मक निपात है (जो प्रायः लघु शब्द के पश्चात् तथा कालावधि के आरम्भ में आता है)। उक्तपद का सामान्यतया अर्थ 'इदानीम्' है, पर सायण ने इसका अर्थ प्रायः 'एनम्' किया है।[६]

वैदिक साहित्य में 'ईम्' का व्यापक प्रयोग प्राप्त होता है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि इन्द्र के प्रकरण में कहते हैं कि हे इन्द्र! शीघ्र पहुँचने के लिये शीघ्रगामी, यज्ञ की शोभा एवं आनन्द देने वाले उदक की प्राप्ति कराओ। यह उदक कर्मों की प्राप्ति कराने वाला तथा इन्द्र का सखा है अर्थात् इन्द्र के साथ रहता है।[७] मधुच्छन्दा ऋषि एक अन्य मन्त्र में कहते हैं कि विश्वानि चक्रये=सम्पूर्ण संसार के निर्माण करने वाले, मन्दिने=आनन्दस्वरूप, इन्द्राय=इन्द्र के लिये, मन्दिम्=आनन्द देने एवं, चक्रिम्=निर्माण को प्रारम्भ करने वाले, सुते=वर्षा के लिये प्रस्तुत, ईम्=उदक को, आसृजत= निष्पन्न करो।[८] घौर काण्व ऋषि कहते हैं कि हे मरुतो! दृढ़ हाथों के साथ निरन्तर प्रवाहमान नदियों के जल के अनुकूल गमन करो।[९] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि रक्षा करने वाले मरुद्गण अन्तरिक्ष को व्याप्त करने वाली शक्ति से संयुक्त होकर अपने अभीष्ट को प्राप्त करते हैं।[१०] एक अन्य मन्त्र में आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि जब वृत्र उदकों को व्याप्त करके अन्तरिक्ष के

---

१ निघ० १.१२.६३.

२ निरु० १.९.

३ निघ०वृ०, १.१२.६३.

४ वै०पद०को०, पृ० ८४९.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० १२९. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, १७०.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, १७०.

७ ऋ० १.४.७. ''एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम्। पतयन्मन्दयत्सखम्।''

८ ऋ० १.९.२. ''एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने। चक्रिं विश्वानि चक्रये।''

९ ऋ० १.३८.११. ''मरुतो वीळुपाणिभिश्चित्रा रोधस्वतीरनु। यातेमखिद्रयामभिः।''

१० ऋ० १.५१.२. ''अभीमवन्वन्त्स्वभिष्टिमूतयोऽन्तरिक्षप्रां तविषीभिरावृतम्।''

उच्चप्रदेश में विश्राम करता है, तब इन्द्र का तेज उदक को चारों ओर से व्याप्त करता है तथा उसका जल भी दीप्त होता है।[१] एक अन्य सूक्त में आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि रूपवान् मेघ के द्वारा धारण की गयी नदियों का जल निम्न प्रदेशों में अनुकूल होकर बहता है।[२] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि जो मित्रावरुण (प्राण और अपान) से द्रोह करता है, वह अपने हृदय में यक्ष्म राजरोग को धारण करता है और जो यज्ञ करने वाला होत्रादि की क्रिया को करता है, वह उदक प्राप्त करता है।[३] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि वृष्टि करने वाला मेघ उदक तत्त्व को नहीं जानता कि यह उदक क्या है और कहाँ से आता है और जो अन्तर्हित अर्थात् अन्तरिक्ष में स्थित होकर वर्षकर्म को केवल देखता है, वह इन्द्र वास्तव में उसको जानता है।[४] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि उदकवती (सतीः) रश्मिरूपा स्त्रियों को ही प्रभूत वृष्ट्युदक का सेक्ता होने से पुरुष कहा जाता है, इस गूढ अर्थ को ज्ञान दृष्टि वाला ही जानता है, अन्धा (स्थूल दृष्टि वाला) इस अर्थ को नहीं जानता। पवित्र, क्रान्तदर्शी उदक ही इसको जानता है। इस सत्य को जानने वाला पिता (आदित्य) का भी पालक होता है।[५]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वह उदक 'ईम्' है, जो मनुष्यों के लिये आनन्दप्रद एवं यज्ञ की शोभा है, यह वह उदक है, जिससे सृष्टि में निर्माण प्रारम्भ होता है, इसी उदक को मरुद्गण अन्तरिक्ष को व्याप्त करने वाली शक्ति से संयुक्त होकर प्राप्त करते हैं, अन्तरिक्ष में इन्द्र इस उदक को व्याप्त करता है, वर्षा के पश्चात् यह उदक निम्न प्रदेशों में बह जाता है, यज्ञ करने वाले को उक्त उदक की प्राप्ति होती है, वर्षक मेघ उदकतत्त्व को नहीं जानता है, वस्तुतः, वर्षा का प्रत्यक्ष करने वाला इन्द्र इस तत्त्व को जानता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में वह उदक 'ईम्' है, जो अन्तरिक्ष से भूमि पर आता है और जिससे निर्माण कार्य का प्रारम्भ होता है। यह आनन्दप्रद और यज्ञ की शोभा है। सर्वव्यापक इन्द्र द्रष्टा होने के कारण उदक तत्त्व का वेत्ता है। सम्भवतः, इन्द्र से सम्बन्धित होने के कारण उक्त उदक का 'ईम्' यह नामकरण हुआ है।

६४. अन्नम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'अन्न' पद परिगणित है।[६] तैत्तिरीयारण्यक एवं तैत्तिरीयोपनिषद् का 'अन्न' के विषय में कथन है:-"**अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यते**"[७] कि प्राणी इसे खाते हैं या यह प्राणियों के द्वारा भक्षण किया जाता है, अतः, इसे अन्न कहा जाता है। इस पक्ष में 'अद्' धातु से 'अन्न' शब्द व्युत्पन्न होता है।

शतपथ-ब्राह्मण प्राण को अन्न बतलाता हुआ कहता है:-"**प्राण एवान्नादः। प्राणेन हीदमन्नमद्यते**"[८]

---

१ ऋ० १.५२.६. "परीं घृणा चरति तित्विषे शवोऽपो वृत्वी रजसो बुध्नमाशयत्।"

२ ऋ० १.५४.१०. "अभीमिन्द्रो नद्यो वव्रिणा हिता विश्वा अनुष्ठाः प्रवणेषु जिघ्नते।"

३ ऋ० १.१२२.९. "स्वयं स यक्ष्मं हृदये नि धत्त आप यदीं होत्राभिर्ऋतावा।"

४ ऋ० १.१६४.३२. "य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।"

५ ऋ० १.१६४.१६. "स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः। कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत्।"

६ निघ० १.१२.६४.

७ तै०आ०, ८.२. तै०उप, २.२.

८ शत०ब्रा०, ११.२.४.५-६.

कि प्राण ही अन्नाद है, क्योंकि प्राण के द्वारा अन्न का भक्षण किया जाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

आचार्य यास्क 'अन्न' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**अन्नं कस्मात्? आनतं भूतेभ्यः**"[१] कि अन्न को अन्न इसलिये कहा जाता है, क्योंकि यह भोजन के लिये अनुकूल होकर प्राणियों के लिये स्वयं प्रस्तुत हो जाता है। आचार्य के कथन का यह आशय प्रतीत होता है कि पकने के पश्चात् गोधूम, यव, तण्डुल आदि की बालियाँ झुक जाती हैं। झुकी हुई ये बालियाँ मानो यह कह रही हैं कि हम आपका भोजन बनने के लिये प्रस्तुत हैं। इस प्रकार यास्क की दृष्टि में केवल वृक्ष, वनस्पति आदि का पका हुआ फल 'अन्न' है। इस पक्ष में 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'नम्' धातु से 'अन्न' शब्द व्युत्पन्न होता है।

उपर्युक्त निर्वचन की एक भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करते हुए आचार्य स्कन्दस्वामी कहते हैं कि जो कर्म के अनुसार प्राणिमात्र को प्राप्त होता है, वह 'अन्न' है।[२] भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में यह व्याख्या भी समीचीन प्रतीत होती है।

(ख)"अत्तेर्वा"[३] कि यह प्राणियों के द्वारा खाया जाता है, वह 'अन्न' है। इस पक्ष में 'अद' भक्षणे' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'अन्न' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'अन्न' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**अन्नम् (उदकम्)। 'अन' प्राणने'। अन्यते प्राण्यते प्रजाभिः, नहि कदाचिदपि जलेन विना जीवन्ति प्राणिनः**"[४] कि प्रजा के द्वारा श्वास ली जाती है, जल के विना प्राणी जीवित नहीं रहते हैं, अतः, उदक को 'अन्न' कहा जाता है। आचार्य देवराजयज्वन् के कथन का आशय यह प्रतीत होता है कि प्राण से उदक का ग्रहण होता है, जो श्वास लेता है, वह अन्न भी खाता है। इस कथन की पुष्टि शतपथ से भी हो जाती है।[५] इस पक्ष में 'अन्' धातु से औणादिक 'न' प्रत्यय होकर 'अन्न' पद निष्पन्न होता है। उक्त व्युत्पत्ति उणादिकोष सम्मत है। उणादि के वृत्तिकार के अनुसार 'अन्न' का निर्वचन निम्न है:-"अनिति जीवयति=अन्नम्" कि जो जीवित रखता है, वह 'अन्न' है।[६]

(ख)"अत्तेर्वा"[७] कि यह प्राणियों के द्वारा भक्षण किया जाता है, अतः, उदक को 'अन्न' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अद्' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'अन्न' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अन्न' को 'अद्' धातु से निष्ठा 'क्त' प्रत्यय होकर व्युत्पन्न मानता है। पतञ्जलि 'आ+'नम्' तथा 'अन' प्राणने' से 'अन्न' को निष्पन्न मानते हैं।[८] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी

---

१ निरु० ३.९.

२ स्कन्द, निरुक्तवृत्ति, भा०२. पृ० १४३.

३ निरु० ३.९.

४ निघ०वृ०, १.१२.६४.

५ शत०ब्रा०, ७.५.१.१७. "तस्मात्प्राणेनान्नं गृहीतं यो ह्येव प्राणिति सोऽन्नमत्ति।"

६ उणा०, ३.१०. "कृवृजृसिद्रूपन्यनिस्वपिभ्यो नित्।"

७ निघ०वृ०, १.१२.६४.

८ पत०,अष्टा०, ५.१.१९. वै०पद०को०, पृ० ११९.

'अन्न' पद का मूल 'अद्' धातु को मानती है।[१] मोनियर विलियम्स उक्त मत से सहमत हैं। उनके अनुसार यह पद भोजन, खाद्य सामग्री, विशेषरूप से उबले हुए चावल, अनाज, प्रतीकात्मक भोजन (वह निम्नतम स्थिति, जिसमें परब्रह्म अभिव्यक्त होता है, परब्रह्म का स्थूल आवरण) में प्रयुक्त है।[२] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा 'अन्न' शब्द के प्रथम यास्कीय निर्वचन के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं कि 'अन्न' शब्द की व्युत्पत्ति यास्क ने बड़े असभ्य ढंग से की है। पाणिनीय व्याकरण को जानने वाला साधारण पण्डित भी बड़ी सरलता से इन्हें पहिचान लेता है। उनकी आपत्ति का कारण यह है कि 'आ+'नम्' में 'आ' दीर्घ से ह्रस्व (अ) तथा 'नम्' से 'न्न' किस प्रकार बन गया है, यह अनुत्तरित है। इसलिये वे प्रथम निर्वचन को असङ्गत तथा द्वितीय निर्वचन को तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्णतया स्वीकार्य बतलाते हैं।[३] वेद से प्राप्त सङ्केत भी सर्वसम्मति से 'अन्न' शब्द को 'अद्' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[४]

वैदिक साहित्य में 'अन्न' शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ है। गृत्समद ऋषि कहते हैं कि इस व्यथित न होने वाले 'अपां नपात्' देव के लिये तीन (इळा, सरस्वती और भारती) नेतृत्व करने वाली देवियाँ सोमरूप अन्न को धारण करती हैं। वह देव वृष्टजल के समान प्रवाहमान एवं पूर्व उदकों के अमृत का पान करता है।[५] अग्रिम मन्त्र में पुनः ऋषि कहता है कि जिसके अपने घर (अन्तरिक्ष) में सुखपूर्वक दुहने योग्य धेनु (माध्यमिका वाक्) है, वह ('अपां नपात्') देव वृष्ट्युदक को बढ़ाता है तथा वृष्टि से उत्पन्न सुन्दर अन्न का भक्षण करता है।[६] इसी क्रम में ऋषि कहता है कि हिरण्यरूप, हिरण्य के समान सम्यक् दर्शन एवं कान्ति वाला 'अपां नपात्' देव हिरण्य (तेज) का देने वाला है। हिरण्यमय स्थान पर स्थित होकर वह प्राणी के लिये अन्न प्रदान करता है।[७] आगे पुनः ऋषि कहता है कि इस 'अपां नपात्' देव का रश्मिसमूह सुन्दर है और इसका नाम भी सुन्दर है (न पातयति विनाशयति) अर्थात् जो नष्ट नहीं करता है, यह मेघों में स्थित होकर वृद्धि प्राप्त करता है। सङ्गमन स्वभाव वाले उदक, हिरण्य के समान तेज वाले जिस 'अपां नपात्' को इस अन्तरिक्ष में सम्यक् दीप्त करते हैं, ऐसे देव का क्षरणशील उदक अन्न है।[८] इस प्रकरण में पुनः ऋषि कहता है कि 'अपां नपात्' के लिये क्षरणशील अन्न (उदकों) को धारण करते हुए प्रभूत उदक स्वयं गमनशील रूपों के द्वारा चारों

---

१ ऋ०वै०पद०, पृ० ३३.

२ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ४५.

३ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ४, ४०, ११८.

४ ऋ० २.३५.७.; ६.४.५; यजु०, २३.८; अथर्व०, ६.६३.१; ७१.३; १५.१४.२, ४, ६, ८, १०, १४-२४.

५ ऋ० २.३५.५. "अस्मै तिस्रो अव्यथ्याय नारीर्देवाय देवीर्दिधिषन्त्यन्नम्। कृताइवोप हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम्।"

६ ऋ० २.३५.७. "स्व आ दमे सुदुघा यस्य धेनुः स्वधां पीपाय सुभ्वन्नमत्ति।"

७ ऋ० २.३५.१०. "हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः। हिरण्ययात्परि योनेर्निषद्या हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै।"

८ ऋ० २.३५.११. "तदस्यानीकमुत चारु नामापीच्यं वर्धते नप्तुरपाम्। यमिन्धते युवतयः समित्था हिरण्यवर्णं घृतमन्नमस्य।"

ओर जाते हैं।[१] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि इन्द्र ने समीप पहुँचकर माता (अन्तरिक्ष) से अन्न (उदक) की याचना की और वहाँ उसने प्रकाशमान सोम (उदक) को देखा।[२] सुमित्र वाध्र्यश्व ऋषि कहते हैं कि बँधे हुए तेज वाले अग्नि को घृत बढ़ाने वाला है, घृत ही अन्न है, घृत ही इसका पोषक है और घृत में ही अग्नि अधिक विस्तार को प्राप्त होता है। घृत की आहुति दिये जाने पर यह अग्नि सूर्य के समान दीप्त होता है।[३] अनेकशः ब्राह्मण अन्न को आपः नाम से सम्बोधित करता है।[४] जैमिनीय-ब्राह्मण देवताओं के राजा सोम को अन्न नाम से अभिहित करता है।[५] काठक-सङ्कलन में कहा गया है कि अन्न में सब कुछ स्थित है, अंन्न ही देवयोनि है, अन्न से ही प्राण उत्पन्न होते हैं, इसलिये अन्न को अमृत कहा जाता है।[६] तैत्तिरीयोपनिषद् एवं तैत्तिरीयारण्यक कहते हैं कि जल ही अन्न है, ज्योति ही अन्नाद है, उदकों में ज्योति प्रतिष्ठित है तथा ज्योति में उदक प्रतिष्ठित हैं।[७] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि दधि, मधु और घृत ये परम अन्न हैं।[८] जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है कि अन्न के दो रूप हैं, प्रथम रूप में अन्न खाद्य है, जबकि द्वितीय रूप में वह पेय है।[९] तैत्तिरीय-संहिता अन्न को रस के समान बतलाती है।[१०] ताण्ड्य-महाब्राह्मण अन्न को पञ्चविध कहता है। प्रस्तुत प्रकरण को स्पष्ट करते हुए सायण अन्न के निम्न पाँच रूॅप प्रतिपादित करते हैं: १. अश्यम्, २. खाद्यम्, ३. चोष्यम्, ४. लेह्यम्, ५. पेयम्।[११]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'अन्न' है, जिसे तीन (इळा, सरस्वती और भारती) देवियाँ 'अपां नपात्' के लिये धारण करती हैं, सुदुघा धेनु वाला 'अपां नपात्' देव स्वधा की वृद्धि तथा सुन्दर अन्न का भक्षण करता है, हिरण्यवर्ण 'अपां नपात्' देव हिरण्यमय स्थान पर स्थित होकर प्राणीमात्र के लिये अन्न प्रदान करता है, रश्मिसमूह वाले 'अपां नपात्' देव का नाम भी सुन्दर है तथा यह मेघों में स्थित होकर बढ़ता है एवं यह क्षरणशील उदकरूप अन्न वाला है, क्षरणशील अन्न को धारण करते हुए उदक स्वयं चारों ओर जाते हैं। इसके अतिरिक्त अन्तरिक्षरूप माता के पास पहुँचकर इन्द्र अन्न की याचना करता है। अन्तरिक्ष में जिस अन्न की याचना इन्द्र कर रहा है, वह उदक से भिन्न नहीं हो सकता। ऋषि कहता

---

१ ऋ० २.३५.१४. "अपां नप्त्रे घृतमन्नं वहन्तीः स्वयमत्कैः परि दीयन्ति यह्वीः।"

२ ऋ० ३.४८.३. "उपस्थाय मातरमन्नमैट्ट तिग्ममपश्यदभि सोममूधः।"

३ ऋ० १०.८९.२. "घृतमग्नेर्वध्र्यश्वस्य वर्धनं घृतमन्नं घृतम्वस्य मेदनम्। घृतेनाहुत उर्विया वि पप्रथे सूर्यइव रोचते सर्पिरासुतिः।"

४ जै०ब्रा०, १.२९७. तै०ब्रा, ३.८.२. शत०ब्रा०, २.१.१.३. तै०आ०, १.२.४.४. 'अन्नं वा आपः।"

५ जै०ब्रा०, १.२३३. "अन्नं ह वै देवानां सोमो राजा।"

६ का०संक०, ७०:५-६. "अन्नेन सर्वं प्रतितिष्ठति, अन्नं वै देवयोनिर्भवति, अन्नं वै प्राणानुपसृजति, तस्मादन्ननममृतं वदन्ति।"

७ तै०आ०, ९.८. तै०उप०, ३.८. "आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः।"

८ शत०ब्रा०, ९.२.१.१२. "एतदु परमन्नं यद्दधि, मधु, घृतम्।"

९ जै०ब्रा०, २.८. "द्वयमु ह वा अन्नस्य रूपं यच्चैवाश्नाति यच्च पिबति।"

१० तै०सं० २.१.७.५. "रस इव खलु वा अन्नम्।"

११ ता०ब्रा०, ५.२.७. "पाङ्क्तं ह्यन्नम्।"

भी है कि अग्नि के लिये घृत ही अन्न है और वही उसका पोषक भी है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन में 'अपां नपात्' देवता के प्रकरण में 'अन्न' के साथ 'घृत' का अधिक प्रयोग हुआ है। आचार्य सायण 'अपां नपात्' का निर्वचन करते हुए कहते हैं ''**(अपां) न पातयति न विनाशयति**' कि जो उदक का विनाश नहीं करता है, वह देवता 'अपां नपात्' है।[१] आचार्य यास्क ने उक्त देवता का परिगणन मध्यस्थानी देवताओं में किया है।[२] तदनुसार उदकों के नाती के नाम 'अपां नपात्' है, यह सम्भवतः, अग्निरूप है और बिना ईन्धन के दीप्त होता है।[३] इस वर्षा के देवता से घृत (क्षरणशील) अन्न (उदक) की प्राप्ति होती है। ब्राह्मण से भी इस सत्य की पुष्टि हो जाती है कि अन्न का अर्थ उदक भी है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि वेद में वह उदक 'अन्न' है, जो 'अपां नपात्' देवता के माध्यम से पृथ्वी पर आता है। इस दृष्टि से विचार करने पर आचार्य यास्क के प्रथम (आ+'नम्') निर्वचन में प्राप्त विसङ्गति का समाधान हो जाता है कि वह, जो भूतों के लिये अपने आप नीचे आ जाता है, 'अन्न' है। सम्भवतः, यास्क ने उक्त निर्वचन को अन्न के उदक स्वरूप को ध्यान में रखकर कल्पित किया है। मूलतः, यास्क का उद्देश्य वेदार्थ को स्पष्ट करना तथा शब्द के साथ अर्थ के सम्बन्धों को बोधगम्य बनाना रहा है, इस निकषा पर परीक्षण करने पर उक्त निर्वचन समीचीन प्रतीत होता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि वेद भाष्यकारों ने सामान्यतया 'अन्न' का अर्थ उदक ग्रहण नहीं किया है, पर कुछ स्थलों पर उदक अर्थ लिया जा सकता है, यह तथ्य उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है।

६५. हविः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'हविः' पद परिगणित है।[४] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'हविः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**हविः (उदकम्)। 'हु' दानादानयोः'। दीयते पिपासितेभ्यः, आदीयते वा जनैरुपभोगाय। अथवा हूयते देवतोद्देशेन, प्रक्षिप्यते वैश्वानरे हविरिदं जुहोमीत्यादिमन्त्रैः**''[५] कि यह पिपासितों को पीने के लिये दिया जाता है या लोगों के द्वारा उपभोग के लिये ग्रहण किया जाता है अथवा देवता के उद्देश्य से इसकी आहुति दी जाती है या मन्त्रों के द्वारा वैश्वानर नामक अग्नि में क्षेपण किया जाता है, अतः, उदक को 'हविः' कहते हैं। इस पक्ष में 'हु' धातु से औणादिक 'इसि' प्रत्यय होकर 'हविः' रूप उपपन्न होता है। उणादिकोष से उक्त व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है।[६]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'हवि' पद को 'हु' धातु से व्युत्पन्न करता है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'हविः' पद का मूल 'हु' धातु को मानती है।[८] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार

---

१ ऋ० २.३५.११.

२ निरु० १०.१८.

३ ऋ० १०.३०.४. 'यो अनिध्मो दीदयत्।''

४ निघ० १.१२.६५.

५ निघ०वृ०, १.१२.६५.

६ निघ०वृ०, १.१२ .६५.

७ वै०पद०को०, पृ० ३५८९.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० ६१२.

ऋग्वेद में उक्तपद आहुति, दग्ध बलि, अग्नि में घी, दुग्ध, सोम और अनाज आदि को अग्नि में समर्पित करने के अर्थ में आया है।[१] वेद से प्राप्त सङ्केत भी 'हविः' पद का मूल 'हु' धातु क्वचित् 'ह्वे' धातु को मानते हैं।[२]

वैदिक साहित्य में 'हविः' पद का व्यापक प्रयोग प्राप्त होता है। वेद में प्रायः 'हविः' पद अग्नि में दी जाने वाली आहुति के अर्थ में आया है, पर क्वचित् प्रयास करने पर उक्तपद का उदक अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है। ऋग्वेद में मेधातिथि ऋषि आपः देवता के प्रकरण में कहते हैं कि जहाँ सूर्य की किरणें दिव्यगुणों को प्राप्त करने वाले उदक का पान करती हैं। नदियों के लिये हवि (उदक) उत्पन्न करने के लिये हम आपः देवता का आह्वान करते हैं।[३] आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि अश्विनीदेवों से निवेदन करते हुए कहते हैं कि हे द्युलोक और अन्तरिक्षलोक को व्याप्त करने वाले अश्विनीदेवो! आप माता के समान सात स्यन्दनशील नदियों, उनके तीन प्रकार के जलमार्गों तथा उनसे तीन प्रकार के किये जाने वाले कार्यों के द्वारा हमारी रक्षा करें।[४] प्रस्कण्व ऋषि कहते हैं कि हे अश्विनीदेवो! तुममें से, अपां जारः=एक आदित्य जल का शोषक, पपुरिः=पालक या तृप्त करने वाला है। पिता=यह पितृस्थानीय प्रत्येक के कुटस्य=कृत कर्म का, चर्षणिः=द्रष्टा है। हविषा पिपर्ति=वह हवि (उदक) के द्वारा सबकी पालना करता है।[५] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि हे ब्रह्मणस्पते! सौभाग्य की प्राप्ति के लिये हवि (उदक) को उत्पन्न करो और रक्षा के लिये हम आपका वरण करते हैं।[६] गृत्समद ऋषि एक अन्य स्थान पर कहते हैं कि हे वसुस्वरूप अग्ने! अभिलाषा रखने वाले, महान् सभी देवों को चाहते हुए ऋतु के अनुसार उन्हें हवि (उदक) का पान कराओ।[७] विश्वामित्र ऋषि अग्नि का आत्मरूप में स्तवन करते हुए कहते हैं कि तीन धातुओं वाले अन्तरिक्षलोक का निर्माण करने वाला वायुरूप अन्तरिक्षस्थानी देवता मैं हूँ। निरन्तर प्रकाशमान आदित्य और उसके द्वारा शोषण की जाने वाली हवि (उदक) भी मैं ही हूँ।[८] वृषाकपि ऐन्द्र ऋषि कहते हैं कि जिस इन्द्र की यह प्रिय हवि (उदक) पृथिवी, वायु आदि देवों को प्राप्त होती है, वह इन्द्र सबसे श्रेष्ठ है।[९] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि वर्षा करने वाला इन्द्र (सूर्य) प्रिय और सुख देने वाली हवि (उदक) को खा जाता है, वह इन्द्र सबसे श्रेष्ठ है।[१०] प्रतर्दन ऋषि कहते हैं कि इन्द्र (सूर्य) की हवि (उदक) सम्यक् रूप से परिपक्व है और वह सूर्य इस समय आकाश के मध्य आ चुका है।[११] पवित्र ऋषि पवमान सोम का वर्णन करता हुआ कहता है कि आप हवि (उदक) हैं और

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, १२९४.

२ ऋ० १.१२.२; २६.६; ७५.१; ११४.३; २.१.१३; ९.३; ३२.७; ३३.५; ६.६०.६; ७.१५.१; ८.२७.२२.

३ ऋ० १.२३.८. ''अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः। सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः।''

४ ऋ० १.३४.८. ''त्रिरश्विना सिन्धुभिः सप्तमातृभिस्त्रय आहावास्त्रेधा हविष्कृतम्।''

५ ऋ० १.४६.४. ''हविषा जारो अपां पिपर्ति पपुरिर्नरा। पिता कुटस्य चर्षणिः।''

६ ऋ० २.२६.२. ''हविष्कृणुष्व सुभगो यथाससि ब्रह्मणस्पते आ वृणीमहे।''

७ ऋ० २.३७.६. ''विश्वेभिर्विश्वाँ ऋतुना वसो मह उशन्देवाँ उशतः पायया हविः।''

८ ऋ० ३.२६.७. ''अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम।''

९ ऋ० १०.८६.१२. ''यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।''

१० ऋ० १०.८६.१३. ''घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।''

११ ऋ० १०.१७९.२. ''श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वनो विमध्यम्।''

आप ही हविष्म (उदक के स्वामी) हैं। आपका दिव्य गुणों वाला नभ (अन्तरिक्ष) उदकमय है, ऐसे नभ में निवास करते हुएं आप अध्वरत्व को प्राप्त करते हैं।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'हविः' है, जो आपः देवता की कृपा से नदियों के लिये उत्पन्न होता है, इस उदक से तीन प्रकार (भोजन, स्नान और कृषि) के कर्म सम्पन्न होते हैं, इन्द्र (सूर्य) जल के द्वारा सबकी पालना करता है, सौभाग्य की प्राप्ति के लिये ब्रह्मणस्पति हवि (उदक) को उत्पन्न करते हैं, यह हवि नामक उदक ऋतु के अनुकूल प्राप्त होता है, अग्नि ही आदित्य है और यही हवि (उदक) भी है, सबसे श्रेष्ठ इन्द्र (सूर्य) की हवि (उदक) पृथिवी आदि देवों को प्राप्त होती है, यह इन्द्र (सूर्य) ही उस हवि (उदक) को खा जाता है, जिस समय इन्द्र (सूर्य) आकाश के मध्य में होता है, उस समय वह हवि (उदक) का भक्षण करता है, परमैश्वर्य देव स्वयं हवि (उदक) हैं और वही हविष्म अर्थात् उदक के स्वामी हैं। इस प्रकार वेद में वह उदक 'हविः' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसका सूर्य के द्वारा ग्रहण और दान निरन्तर होता रहता है, या यह कह सकते हैं कि जिसमें दान और आदान दोनों कर्म एक साथ चल रहे हैं, वह उदक वेद में 'हविः' नाम से जाना जाता है। उक्त विवेचन में हविरूप उदक का कोई विशिष्ट स्वरूप उपलब्ध नहीं होता है। यह एक सामान्य उदक की प्रवृत्ति को परिलक्षित करता है। फिर भी, हम यह कह सकते हैं कि यज्ञ के समान जिसमें देना और लेना ये दोनों प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं, वह उदक 'हविः' है। इस दृष्टि से विचार करने पर निःसन्दिग्धरूप से 'हु' धातु को 'हविः' पद का मूल माना जा सकता है।

यहाँ यह तथ्य विचार करने योग्य है कि आचार्य सायण, महर्षि दयानन्द आदि वेद भाष्यकारों ने एक स्थान पर भी 'हविः' का अर्थ 'उदक' ग्रहण नहीं किया है। आचार्य सायण सर्वत्र 'हविः' पद का (यज्ञ के सन्दर्भ में ग्रहण की जाने वाली चरु, पुरोडाश, सोमादि की) आहुतिरूप अर्थ अन्वित करते हैं। यह सही है कि अधिकांश स्थानों पर अग्नि या यज्ञपरक अर्थ सहजरूप से अभिव्यक्त होता है, लेकिन कतिपय स्थानों पर उदकपरक अर्थ सरलता से अन्वित हो जाता है, अतः, निघण्टुकार द्वारा परिगणित अर्थ में 'हविः' पद का अर्थ अन्वित न करना वेदार्थ के साथ अन्याय है।

६६. सद्म

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'सद्म' पद परिगणित है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'सद्म' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सद्म (उदकम्)। 'षद्लृ' विशरणगत्यवसादनेषु'। विशीर्य्यन्ते शिलादिषु पातात्, विशीर्य्यन्तेऽनेन कुड्यादय इति वा, गच्छति वागच्छति निम्नं, गम्यते वा प्राणिभिः, अवसादयति पिपासायुक्तं वा**"[३] कि शिलादि के ऊपर गिरने से यह विशीर्ण होता है या इससे कुड्यादि विशीर्ण हो जाती हैं, निम्न प्रदेश में यह जाता या आता है या प्राणी इसे प्राप्त करते हैं या पिपासुओं का नाश करता है, अतः, उदक को 'सद्म' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सद्' धातु से औणादिक 'मनिन्' प्रत्यय होकर 'सद्म' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सद्मन्' पद को 'सद्' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय करने से व्युत्पन्न मानता है।

---

१ ऋ० ९.८३.५. "हविर्हविष्मो महि सद्म दैव्यं नभो वसानः परि यास्यध्वरम्।"

२ निघं० १.१२.६६.

३ निघ०वृ०, १.१२.६६.

कोशकार इसकी तुलना 'सदन' और 'सदस्' शब्द से करते हैं।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद का मूल 'सद्' धातु को मानती है।[२] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार रामायण में 'सद्म' का अर्थ निर्धारक, स्थापित रखने वाला, दर्शक आदि है।[३]

वैदिक साहित्य में 'सद्म' पद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। वेद में मुख्यरूप से उक्तपद का प्रयोग 'गृह' के अर्थ में प्राप्त होता है। भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि वे दोनों मित्रावरुण प्राणियों के उदर को भरने के लिये सद्म (उदक) को धारण करते हैं तथा उदर के साथ अन्य अङ्गों को भी तृप्ति देते हैं। विश्व को जीवन देने वाले ये दोनों जब जल को धारण करते हैं, उस समय दिशायें (युवतयः) न धूल से अभिभूत होती हैं और न शुष्कता को धारण करती हैं।[४] गर्ग ऋषि कहते हैं कि उदक प्रदेश (अन्तरिक्ष) से उत्पन्न होने वाला सूर्यरूप इन्द्र, अपने प्रकाशरूप से भिन्न, कृष्णवर्ण की रात्रि को निवर्तित कर देता है।[५] पवित्र ऋषि पवमानसोम का वर्णन करता हुआ कहता है कि आप हवि (उदक) हैं और आप ही हविष्म (उदक के स्वामी) हैं। आपका दिव्य गुणों वाला नभ (अन्तरिक्ष) उदकमय है, ऐसे नभ में निवास करते हुए आप अध्वरत्व को प्राप्त करते हैं।[६] वासुक्र ऋषि कहते हैं कि मनुष्य के द्वारा प्रदत्त हवियों को यज्ञ के द्वारा सेवन करता हुआ अग्नि ज्वाला से युक्त होकर ऊपर प्रक्षेपित होता हुआ सामने स्थित अन्तरिक्ष में उदक को प्राप्त होता है।[७] अयास्य बृहस्पति ऋषि कहते हैं कि यह बृहस्पति (सूर्य) बल, धन, अन्नादि प्रदान करता हुआ अन्तरिक्ष के उच्चप्रदेश में स्थित सद्म (उदक) के ऊपर स्थित होता है।[८]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'सद्म' है, जिसे प्राणीमात्र का उदर भरने के लिये मित्रावरुण धारण करते हैं, रात्रि को निवर्तित कर देने वाला सूर्य उदक प्रदेश से उत्पन्न होता है, पवमानदेव स्वयं हवि और हविष्म हैं तथा उनका निवास स्थान भी उदकमय है, मनुष्य द्वारा प्रदत्त हवियों को सेवन करने वाला अग्नि अन्तरिक्ष में उदक को प्राप्त करता है, वाज को प्रदान करता हुआ बृहस्पति अन्तरिक्ष में स्थित उदक के ऊपर विराजमान होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में वह उदक 'सद्म' है, जो अन्तरिक्षलोक रूपी गृह में विराजमान रहता है, इसका अधिष्ठाता देवता इन्द्ररूप सूर्य या बृहस्पति नामक सूर्य माना गया है। इस दृष्टि से विचार करने पर 'सद्' धातु को निर्विवाद रूप से 'सद्म' पद का मूल माना जा सकता है। यहाँ यह तथ्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि 'सद्म' पद वेद में, मुख्यतः, गृह अर्थ में आया है। जहाँ यह उदक के लिये व्यवहृत हुआ है, वहाँ पर भी मूल अर्थ 'गृह' है। जिस प्रकार गृह में

---

१ वै०पद०को०, पृ० ३२४०.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ५४६.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ११३९.

४ ऋ० ६.६७.७. ''ता विग्रं धैथे जठरं पृणध्या आ यत्सद्म सभृतयः पृणन्ति। न मृष्यन्ते युवतयोऽवाता वि यत्पयो विश्वजिन्वा भरन्ते।''

५ ऋ० ६.४७.२१. ''दिवेदिवे सदृशीरन्यमर्द्धं कृष्णा असेधदप सद्मनो जाः।''

६ ऋ० ९.८३.५. ''हविर्हविष्मो महि सद्म दैव्यं नभो वसानः परि यास्यध्वरम्।''

७ ऋ० १०.२०.५. ''जुषद्धव्या मानुषस्योर्ध्वस्तस्थावृभ्वा यज्ञे। मिन्वन्त्सद्म पुर एति।''

८ ऋ० १०.६७.१०. ''यदा वाजमसनद्विश्वरूपमा द्यामरुक्षदुत्तराणि सद्म।''

प्राणी रहते हैं, उसी प्रकार उदक भी अन्तरिक्षलोक रूपी गृह में निवास करता है, अतः, उसे 'सद्म' नाम से अभिहित किया गया है।

६७. सदनम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'सदन' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'सदन' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सदनम् (उदकम्)। 'षद्लृ' विशरणगत्यवसादनेषु'। विशीर्य्यन्ते शिलादिषु पातात्, विशीर्य्यन्तेऽनेन कुड्यादय इति वा, गच्छति वागच्छति निम्नं, गम्यते वा प्राणिभिः, अवसादयति पिपासायुक्तं वा**"[२] कि शिलादि के ऊपर गिरने से यह विशीर्ण होता है या इससे कुड्यादि विशीर्ण हो जाती हैं, निम्न प्रदेश में यह जाता या आता है या प्राणी इसे प्राप्त करते हैं या पिपासुओं को दुःखी करता है, अतः, उदक को 'सदन' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सद्' धातु से औणादिक 'मनिन्' प्रत्यय होकर 'सदन' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सदन' पद को 'सद्' धातु से अधिकरण में प्रत्यय होकर व्युत्पन्न मानता है। उसके अनुसार यह गृहवाची नामपद है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'सदन' पद का मूल 'सद्' धातु को मानती है।[४] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'सदन' पद स्थिर रूप से निवास करने के अर्थ में आया है। इसके अतिरिक्त यह पद निवासस्थान, गृह आदि अर्थ में भी आया है।[५]

वैदिक साहित्य में 'सदन' का पद का पर्याप्त प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में राहूगण गोतम ऋषि इन्द्र का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे इन्द्र! इस प्रशंसित, दिव्य और आनन्दप्रद अभिषुत उदक का पान करो। दीप्त उदक की धारायें उदक के स्थान अन्तरिक्ष (सादने) में बरस रही हैं।[६] आङ्गिरस कुत्स ऋषि अग्नि का चित्रण करते हुए कहते हैं कि अन्तरिक्ष (सदने) में गमनशील मेघ में स्थित उदकों के द्वारा विद्युत् रूप से संयुक्त होता हुआ अग्नि दिव्यरूप को प्रकट करता है।[७] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि अन्न या यश की इच्छा वाला इन्द्र, शत्रुओं को पराजित कर देने वाले ओज से बढ़ता हुआ, क्रिया से निष्पन्न किये गये सदनों (उदकों या स्थानों) को नष्ट करता है।[८] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि ऋत (उदक) की धारायें द्योतमान आदित्यलोक (सदने) में रश्मियों से व्याप्त होकर अभिनव हो जाती हैं।[९] एक अन्य सूक्त में दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि हरण करने वाली सुपर्ण नामक रश्मियाँ कृष्णवर्ण के गमनशील मेघों में उदकों को भरती हुई

---

१ निघ० १.१२.६७.

२ निघ०वृ०, १.१२.६७.

३ वै०पद०को०, पृ० ३२३७.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ५४६.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ११३८.

६ ऋ० १.८४.४. "इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम्। शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन्धारा ऋतस्य सादने।"

७ ऋ० १.९८.८. "त्वेषं रूपं कृणुत उत्तरं यत्संपृञ्चानः सदने गोभिरद्भिः।"

८ ऋ० १.५५.६. "स हि श्रवस्युः सदनानि कृत्रिमा क्ष्मया वृधान ओजसा विनाशयन्।"

९ ऋ० १.४४.२. "अभीमृतस्य दोहना अनूषत योनौ देवस्य सदने परीवृताः।"

ऊपर स्थित द्युलोक को जाती हैं। वे रश्मियाँ उदक के स्थान आदित्यमण्डल से (सदनात्) नीचे आती हैं, इसके पश्चात् पृथिवी उदक से क्लिन्न हो जाती है।[१] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम महती, अपारा (असीम), अन्नवती एवं सबको समानरूप से उपलब्ध भूमि के सदन (गृह या उदक) में विराजमान हो।[२]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वेद में प्रायः 'सदन' पद गृह, आवास या यज्ञवेदि के अर्थ में आया है। उपर्युक्त अध्ययन में एक दो स्थानों पर 'सदन' का 'उदक' अर्थ अन्वित करने का प्रयास किया है, पर वह प्रयास बहुत सहज प्रतीत नहीं हुआ है। इस विषय में यह अवश्य देखने को मिला है कि अनेकशः उक्त 'सदन' पद उदक के निवास स्थान 'अन्तरिक्ष' के वाचक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में 'सदन' पद उदक अर्थ का वाचक न होकर उदक के आश्रयभूत अन्तरिक्ष के अर्थ में आया है। इस दृष्टि से विचार करने पर निर्विवादरूप से 'सद्' धातु को 'सदन' पद का मूल स्वीकार किया जा सकता है।

६८. ऋतम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'ऋत' पद परिगणित है।[३] आचार्य यास्क 'ऋत' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**ऋतमित्युदकनाम। प्रत्यृतं भवति**"[४] कि 'ऋत' यह उदकवाचक नाम है, क्योंकि यह उदक सर्वत्र प्राप्त हो जाता है, अतः, इसे 'ऋत' कहा जाता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'ऋ' धातु से 'ऋत' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'ऋत' शब्द को 'ऋ' धातु से व्युत्पन्न मानता है। कोषकार के अनुसार यह सत्य, यज्ञ, उदक प्रभृति अर्थों का वाचक है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार 'ऋत' पद का मूल 'ऋ' धातु है।[६] मोनियर विलियम्स 'ऋत' पद के दो भिन्न मूल मानते हैं। प्रथम के अनुसार यह 'ऋ' धातु से निष्पन्न है तथा द्वितीय के अनुसार 'ऋत' का मूल 'इ' धातु है। उनके अनुसार ऋग्वेद और वाजसनेयि-संहिता में 'ऋत' पद का अर्थ उचित, उपयुक्त, न्यायसङ्गत, नीतिपरायण, निष्कपट आदि है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद और अथर्ववेद में 'ऋत' पद सामान्यरूप से सत्य और सदाचरण के लिये आया है।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा यास्क के उपर्युक्त निर्वचन के सम्बन्ध में कहते हैं कि ऋतु, ऋत (शाश्वत नियम) और ऋति ये तीनों शब्द परस्पर सम्बन्धित हैं और वी०के० राजवाडे यास्क द्वारा प्रदत्त 'ऋ' धातुमूलक निर्वचन को उचित मानते हैं। इसी प्रकार एन० डब्ल्यू० भारोपीय भाषा के 'ar' 'उपयुक्त होने' को 'चेष्टा' या 'गति' का आर्थिक विकास मानते

---

१ ऋ० १.१६४.४७. "कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति। त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद्घृतेन पृथिवी व्युद्यते।"

२ ऋ० ३.३०.९. "नि सामनामिषिरामिन्द्र भूमिं महीमपारां सदने ससत्थ।"

३ निघ० १.१२.६८.

४ निरु० २.२५.

५ वै०पद०को०, पृ० ९९४.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० १५२.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, २२३.

हैं। उनके अनुसार भारोपीय और इंडो आर्यन दृष्टि से यह 'अर' का मूल अर्थ है, परन्तु वे यह प्रदर्शित करने में असमर्थ रहे हैं कि किस प्रकार 'चेष्टा' या 'गति' अर्थ का विकास 'उपयुक्त होने' अर्थ में हुआ है। इसलिये डॉ. वर्मा उक्त निर्वचन को ध्वनि की दृष्टि से स्वीकार्य तथा अर्थ की दृष्टि से अस्वीकार्य मानते हैं।[१]

वैदिक साहित्य में 'ऋत' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में पराशर ऋषि कहते हैं कि जो इस गुहा में स्थित अग्नि तथा उसे धारण करने वाले को जानता है, उसे अग्नि वसुप्राप्ति का मार्ग बतलाता है।[२] गोतम ऋषि कहते हैं कि जब यह अग्नि उदक के रस (पयसा) से जगत् को आप्यायित करता हुआ सरलतम मार्गों से उदक को प्राप्त कराता है, उस समय अर्यमा, मित्र, वरुण और चारों ओर गमन करने वाले मरुत् उदक के उत्पत्ति स्थानों को आच्छादित करने वाले मेघ (उपर) रूप आवरणों को अपने आयुधों से उद्घाटित कर देते हैं।[३] राहूगण गोतम ऋषि इन्द्र का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे इन्द्र! इस प्रशंसित, दिव्य और आनन्दप्रद अभिषुत उदक का पान करो। दीप्त उदक की धारायें उदक के स्थान अन्तरिक्ष (सादने) में बरस रही हैं।[४] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि ऋत (उदक) की धारायें द्योतमान आदित्यलोक (सदने) में रश्मियों से व्याप्त होकर अभिनव हो जाती हैं।[५] एक अन्य सूक्त में दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि हरण करने वाली सुपर्ण नामक रश्मियाँ कृष्णवर्ण के गमनशील मेघों में उदकों को भरती हुई ऊपर स्थित द्युलोक को जाती हैं। वे रश्मियाँ उदक के स्थान आदित्यमण्डल से (सदनात्) नीचे आती हैं, इसके पश्चात् पृथिवी उदक से क्लिन्न हो जाती है।[६] दीर्घतस् ऋषि कहते हैं कि हे स्तोताओ! अन्नादि और उदक के कारणरूप वायु को जानो और जन्म से ही उसकी उपासना करो।[७] एक अन्य स्थान पर दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि हे अश्व (व्यापनशील सूर्य)! तुम्हारी कल्याण करने वाली रश्मियाँ मैंने देखी हैं, जो गुप्तरूप से उदक की रक्षा करती हैं।[८] अग्रिम सूक्त में पुनः दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि उदक का चक्र बार-बार आता जाता रहता है, बारह मासों वाला यह चक्र कभी जीर्ण नहीं होता।[९] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे प्रभूत जल वाली नदियो! मेरे शान्त वचनों की पूर्ति के लिये कुछ काल के लिये रुक जाओ।[१०] त्रित ऋषि कहते हैं कि उदक के समान-स्थान (नीड) में वर्तमान रहती हुई अग्नि वर्षकर्म का सम्पादन, क्रान्तदर्शन, सूर्यरूप अग्नि जल के स्थान की रक्षा और अन्तरिक्ष में श्रेष्ठ जलों को

---

१ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ५५.

२ ऋ० १.६७.४. "य ईं चिकेत गुहा भवन्तमा यः ससाद धारामृतस्य च।"

३ ऋ० १.७९.३. "यदीमृतस्य पयसा पियानो नयन्नृतस्य पथिभी रजिष्ठैः। अर्यमा मित्रो वरुणः परिज्मा त्वचं पृञ्चन्त्युपरस्य योनौ।"

४ ऋ० १.८४.४. "इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम्। शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन्धारा ऋतस्य सादने।"

५ ऋ० १.४४.२. "अभीमृतस्य दोहना अनूषत योनौ देवस्य सदने परीवृताः।"

६ ऋ० १.१६४.४७. "कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति। त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद्घृतेन पृथिवी व्युद्यते।"

७ ऋ० १.१५६.३. "तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।"

८ ऋ० १.१६३.५. "अत्रा ते भद्रा रशना अपश्यमृतस्य या अभिरक्षन्ति गोपाः।"

९ ऋ० १.१६४.११. "द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।"

१० ऋ० ३.३०.५. "रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहुर्तमेवैः।"

धारण करती है।[१] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि हम सब देवों में अग्नि सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ है और यह जल की पूर्व अवस्था में वर्षक भी है और उसका पान कराने वाला भी है।[२] वेन ऋषि कहता है कि जल (ऋत) के शिखरभूत अन्तरिक्ष में समान स्थान वाले आदित्य की विद्वान् प्रशंसा करते हैं।[३] जैमिनीय-ब्राह्मण 'ऋत' को अमृत बतलाता है।[४] यह अमृत आपः (उदक) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'ऋत' है, जिसे अग्नि धारण करता है, यह अग्नि ही उदक से जगत् को आप्यायित करता है, अनादि उदकतत्त्व को मूलतः जानने वाला विष्णु है, सूर्य की कल्याण करनेवाली रश्मियाँ इसकी रक्षा करती हैं, उदक के वर्षारूप चक्र को सूर्य सम्पादित करता है, क्रान्तदर्शन सूर्य (अग्नि) उदक के स्थान की रक्षा तथा उसे अन्तरिक्ष में धारण करता है, यह अग्नि ही जल का वर्षक तथा उसका पान कराने वाला है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में वह उदक 'ऋत' नाम से अभिहित हुआ है, जो सृष्टि के शाश्वत नियम में बँधकर रहता है। इसके अतिरिक्त वेद 'ऋत' और अग्नि के मध्य विशेष सम्बन्ध स्वीकार करता है। फिर भी हम यह कह सकते हैं कि व्यापक प्रयोग होने पर भी वेद को 'ऋत' शब्द का उदक अर्थ अधिक अभीष्ट नहीं है। वेद में 'ऋत' शब्द गमनशील, यज्ञ, अन्न, सत्य आदि अर्थों में अधिक प्रयोग हुआ है और भाष्यकारों ने उक्त अर्थों को प्रमुखता से ग्रहण किया है। निष्कर्ष रूप में कह सकते है कि वेद के ऋषि की दृष्टि में उदक में अग्नि का दर्शन और अग्नि से उदक का सम्पादन 'ऋत' है। इससे यह सिद्ध होता है कि वेद का ऋषि इस तथ्य से भलीभाँति परिचित है कि उदक में अग्नि का निवास है और उससे उसका दोहन किया जा सकता है। इस दृष्टि से विचार करने पर 'ऋत' शब्द का मूल सन्दिग्ध प्रतीत होता है। सामान्यतया 'ऋत' शब्द को 'ऋ' गतिप्रापणयोः' धातु से व्युत्पन्न माना जाता है, परन्तु उक्त अर्थ के दर्शन 'ऋत' में होते दिखायी नहीं देते हैं, अतः, उक्त निर्वचन ध्वनिरूप की दृष्टि से स्वीकार्य होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से बहुत उचित नहीं माना जा सकता।

६९. योनिः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'योनिः' पद परिगणित है।[६] आचार्य यास्क अन्तरिक्ष वाचक 'योनिः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**योनिरन्तरिक्षं महानवयवः परिवीतो वायुना। अयमपीतरो योनिरेतस्मादेव। परियुतो भवति**"[७] कि अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश महान् अवयव वाला है, उसका एक प्रदेश

---

१ ऋ० १०.५.२. "समानं नीळं वृषणो वसानाः संजग्मिरे महिषा अर्वतीभिः। ऋतस्य पदं कवयो नि पान्ति गुहा नामानि दधिरे पराणि।"

२ ऋ० १०.५.७. "अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः।"

३ ऋ० १०.१२३.२. "ऋतस्य सानावधि विष्टपि भ्राट् समानं योनिमभ्यनूषत व्राः।"

४ जै०ब्रा०, २.१६०. "ऋतममृतमित्याह।"

५ मै०सं० ४.१.९. काठ०, २९.६. कपि०सं० ४५.७. शत०ब्रा०, १.९.३.७. तै०आ०, १.२६.७. "अमृतं वा आपः।" ऐ०ब्रा०, ८.२०. "अमृतं वा एतदस्मिन् लोके यदापः।"

६ निघ० १.१२.६९.

७ निरु० २.८.

विशेष वायु से संयुक्त उदक वाला होकर योनिभाव को प्राप्त करता है। यह दूसरी स्त्री की योनि भी स्नायु और मांस से संयुक्त होने के कारण 'योनिः' कहलाती है।[१] इस प्रकार दुर्ग की दृष्टि में वायु और उदक से व्याप्त (मिश्रित) अन्तरिक्ष का एक प्रदेशविशेष तथा स्नायु और मांस से संयुक्त होने के कारण स्त्री की योनि 'योनिः' नाम से अभिहित होती है। इस पक्ष में 'यु' धातु से 'योनिः' पद निष्पन्न होता है।

एक अन्य स्थान पर स्त्रीयोनि का निर्वचन करते हुए यास्क कहते हैं:-**''स्त्रीयोनिरभियुत एनां गर्भः''**[२] कि गर्भ से संयुक्त होने के कारण स्त्रीयोनि को 'योनिः' कहा जाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है। इस प्रकार यास्क की दृष्टि में जिसमें दो तत्त्वों का मिश्रण होता है, वह 'योनिः' है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'योनिः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''योनिः (उदकम्)। 'यु' मिश्रणे'। युतं मितं सम्पृक्तं सर्वपदार्थैः''**[३] कि जो सम्पूर्ण पदार्थों से मिश्रित होता है, इसलिये उदक को 'योनिः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'यु' धातु से औणादिक 'नि' प्रत्यय होकर 'योनिः' पद निष्पन्न होता है। उक्त व्युत्पत्ति उणादिकोष सम्मत है। उणादि वृत्तिकार के अनुसार 'योनिः' पद का निर्वचन निम्न है:-**''यौति संयोजयति पृथक् करोति वा स योनिः''** कि जो संयुक्त या पृथक् करती है, इसलिये वह 'योनिः' है।[४]

(ख)''यद्वा, वेतेः परिवीतं हि जलं वायुना तीरेण वा''[५] कि वायु या तीर से व्याप्त होने के कारण उदक को 'योनिः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'वी' धातु के वकार के स्थान में उकार तथा यणादेश होकर 'योनिः' रूप उपपन्न होता है।

(ग)''यद्वा, योनिः कारणमन्नस्य''[६] कि अन्न का कारण होने से उदक को 'योनिः' कहा जाता है। मनुस्मृति में कहा भी गया है कि वृष्टि से अन्न और उससे प्रजा उत्पन्न होती है। इस पक्ष में व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष ने 'योनि' को प्रभव और आश्रय वाचक नामपद माना है। उसके अनुसार उक्तपद 'यु' मिश्रणे' धातु से व्युत्पन्न होता है। लेकिन 'वी' धातु से व्युत्पन्न होने की क्षीण सम्भावना मानी है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'योनिः' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[८] मोनियर विलियम्स 'योनिः' पद का मूल 'यु' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'योनिः' पद गर्भाशय, भग, स्त्रीयोनि, स्त्री का सन्तान उत्पत्ति करने वाले स्थान अर्थ में है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद, अथर्ववेद और शतपथ-ब्राह्मण में यह पद उत्पत्ति का स्थान, मूल, स्रोत, उद्गम, सङ्ग्रह स्थल, आधान पात्र, निवास, गृह, घोंसला, माँद, अस्तबल आदि

---

१ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, २.८. पृ० १५५.
२ निरु० २.१९.
३ निघ०वृ०, १.१२.६९.
४ उणा०, ४.५२. ''वहिश्रिश्रुयुदुग्लाहात्वरिभ्यो नित्।''
५ निघ०वृ०, १.१२.६९.
६ निघ०वृ०, १.१२.६९.
७ वै०पद०को०, पृ० २६१४.
८ ऋ०वै०पद०, पृ० ४३५.

अर्थों में आया है।[१] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि भारोपीय भाषा में 'ieu-ni. iouni' उचित स्थान अर्थ में तथा अवेस्ता में 'yaaonm' स्थान तथा गृह अर्थ में आया है। अतः, वे उक्त निर्वचन को '**सर्वाणि नामान्याख्यातजानि**' सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं।[२] वेद से प्राप्त सङ्केत के अनुसार 'योनिः' पद का मूल 'युज्' धातु है।[३]

वैदिक साहित्य में 'योनिः' पद का पर्याप्त उल्लेख देखने को मिलता है। गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि हे शूरवीर, वर्षक, सहजरूप से सहन करने वाले इन्द्र! आप उदक का शोषण करने वालों को दूर से ही निष्क्रिय कर देते हो।[४] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि वह वृष्टि लक्षण पुत्र, मातुः=अन्तरिक्ष के, योनौ=स्थान में उदक से व्याप्त होकर सस्यनिष्पादन के माध्यम से, निर्ऋतिम्=निरमण साधना भूमि में, आविवेश=प्रवेश कर जाता है।[५] अग्रिम मन्त्र में पुनः दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि द्युलोक मेरा उत्पन्न करने वाला पिता है तथा इसमें भौमरस विद्यमान रहता है, अतः, बन्धुरूपा पृथ्वी मेरी माता है। ऊपर विस्तृत इन दोनों के मध्य समस्त भूतों का निर्माण करने वाला उदक या अन्तरिक्ष है, इसमें पिता (आदित्य, इन्द्र, पर्जन्य) दूर स्थित भूमि के गर्भ में वृष्ट्युदक को स्थापित करता है।[६] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार दो गायें वत्स को चाटने की इच्छा से उसका अनुगमन करती हैं, उसी प्रकार ये नदियाँ समान योनि=समान उदक सङ्घात को प्राप्त करती हैं।[७] अग्रिम मन्त्र में पुनः ऋषि कहता है कि अपने उदक से सन्तृप्त करती हुईं ये नदियाँ देव (इन्द्र) से निर्दिष्ट उदक सङ्घात (समुद्र) को लक्ष्य बनाकर जाती हैं।[८] एक अन्य स्थान पर विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे मघवन्! जिस प्रकार जाया से घर, उसी प्रकार तुम से योनि (उदक) सुशोभित होती है। ऐसे आपको हरि नामक अश्व (रश्मियाँ) ले जायें।[९] वामदेव ऋषि कहते हैं कि देदीप्यमान अन्तरिक्षलोक की योनि (उदक) में यह कृष्णवर्ण का कुटिल मेघ बरसता है।[१०] एक अन्य मन्त्र समुद्र के स्वरूप का वर्णन करता हुआ कहता है कि यह समुद्र सेचक, प्रकाशमान, सुपतनशील और सृष्टि से पूर्व विद्यमान उदक में प्रविष्ट है। इस समुद्र में स्थित द्युलोक के मध्य में सूर्य विराजमान है और सर्वत्र व्याप्त होकर लोकों का पालन करता है।[११] अरुण वैतहव्य ऋषि कहते

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ८५८.

२ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ९१.

३ ऋ० ३.५३.४. ''योनिस्तदित्त्वा युक्ता हरयो वहन्तु।''

४ ऋ० १.६३.४. ''यद्ध शूर वृषमणः पराचैर्वि दस्यूँर्योनावकृतो वृथाषाट्।''

५ ऋ० १.१६४.३२. ''स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश।''

६ ऋ० १.१६४.३३. ''द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्। उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्।''

७ ऋ० ३.३३.३. ''वत्समिव मातरा संरिहाणे समानं योनिमनु सञ्चरन्ती।''

८ ऋ० ३.३३.४. ''एना वयं पयसा पिन्वमाना अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः।''

९ ऋ० ३.५३.४. ''जायेदस्तं मघवन्त्सेदु योनिस्तदित्त्वा युक्ता हरयो वहन्तु।''

१० ऋ० ४.१७.१४. ''आ कृष्ण ईं जुहुराणो जिघर्ति त्वचो बुध्ने रजसो अस्य योनौ।''

११ ऋ० ५.४७.३. ''उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिः पितुराविवेश। मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजस्पात्यन्तौ।''

हैं कि यह अग्नि ऋतु के अनुसार क्षरणशील उदक को पृथ्वी में प्राप्त करता हुआ स्थित होता है।[१] वम्र वैखानस ऋषि कहते हैं कि वह इन्द्र प्रकाशमान विद्युत् के संयोग से मेघरूप विस्तृत उदक को प्राप्त करता है।[२] वत्सप्रि ऋषि का कथन है कि पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक को स्तम्भित करता और ज्वालाओं से घिरा हुआ अग्नि योनि (उदक) के मध्य में स्थित होता है।[३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'योनिः' है, जिसकी दस्युओं से रक्षा इन्द्र करता है, अन्तरिक्ष में स्थित यह उदक पृथ्वी में प्रवेश करके सस्य निष्पादन को सम्पन्न करता है, द्युलोक और पृथ्वी के मध्य में स्थित यह उदक पिता (आदित्य, इन्द्र या पर्जन्य) के द्वारा पृथ्वी के गर्भ में प्रवेश करता है, गायों के समान इन नदियों का जल समान योनि अर्थात् समुद्र को प्राप्त करता है, जाया से गृह के समान इन्द्र से उदक शोभा पाते हैं, यह उदक अग्नि की योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान है, अन्तरिक्षलोक की योनि (उदकस्थान) में कृष्ण मेघ बरसता है, सृष्टि से पूर्व समुद्र उदक (योनि) में विद्यमान रहता है, अग्नि क्षरणशील उदक को पृथ्वी में प्राप्त करता है, विद्युत् के संयोग से इस उदक को इन्द्र प्राप्त करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार स्त्रीयोनि रज, वीर्य का मिलन स्थान होने से गर्भ का कारण और सन्तान को उत्पन्न करती है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष का वह स्थान 'योनिः' है, जिसमें वायु और उदक का मिलन होने से मेघरूप गर्भ अस्तित्व में आता है तथा जिससे वृष्टिरूप पुत्र उत्पन्न होता है। जैसाकि यास्क कहते हैं कि अन्तरिक्ष की समानता से स्त्रीयोनि 'योनि' नाम से अभिहित हुई है, यह कथन युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता है। इसके विपरीत स्त्रीयोनि के कारण अन्तरिक्ष को 'योनिः' कहे जाने की सम्भावना अधिक है। इसका कारण यह है कि अन्तरिक्ष की तुलना में मानव का सम्पर्क स्त्रीयोनि से कहीं अधिक निकट का है। यह नियम है कि प्रसिद्ध वस्तु से अप्रसिद्ध वस्तु की समानता प्रदर्शित की जाती है। अतः, अधिक परिचित स्त्रीयोनि की समानता के आधार पर वेद ने अन्तरिक्ष को 'योनि' नाम से अभिहित किया प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त यह तथ्य भी यहाँ ध्यान रखने योग्य है कि 'योनिः' शब्द उदक का वाचक नहीं है, परन्तु उदक का आश्रय स्थल होने से सम्भवतः, निघण्टुकार ने उसका उदकवाचक गण में परिगणन किया है। इसमें भी स्त्रीयोनि की तरलता सहायक प्रतीत रही होती है। इस प्रकार अन्तरिक्ष का वह प्रदेश विशेष वेद में 'योनि' नाम से अभिहित हुआ है, जिसमें वायु से परिवेष्टित होकर उदक आश्रय लेते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर 'यु' मिश्रणे' धातु को निर्विवादरूप से 'योनि' पद का मूल माना जा सकता है।

७०. ऋतस्य योनिः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'ऋतस्य योनिः' पद परिगणित है।[४] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'ऋतस्य योनिः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**ऋतस्य योनिः (उदकम्)। यज्ञस्य योनिः**

---

१ ऋ० १०.९१.४. "प्रजानन्नग्ने तव योनिमृत्वियमिळायास्पदे घृतवन्तमासदः।"

२ ऋ० १०.९२.२. "स हि द्युता विद्युता वेति साम पृथुं योनिमसुरत्वा ससाद।"

३ ऋ० १०.४६.६. "नि पस्त्यासु त्रितः स्तभयन्परिवीतो योनौ सीददन्तः।"

४ निघ० १.१२.७०.

न ह्युदकेन विना कश्चिदपि यज्ञ: कर्तुं शक्यते''[१] कि उदक के विना कोई भी यज्ञ नहीं किया जा सकता, अत:, उदक को 'ऋतस्य योनि:' कहा जाता है। इस पक्ष में 'ऋत+योनि:' से 'ऋतस्य योनि:' पद निष्पन्न होता है।

(ख)**''ऋतस्य आगामिनो वर्षजलस्य योनिर्वा''**[२] कि आगमी वर्षा जल का कारण होने से उदक को 'ऋतस्य योनि:' कहा जाता है। आदित्य रश्मियों के द्वारा भौमरस का आहरण करता है तथा वर्षाकाल में पुन: उसका प्रतिदान कर देता है। कहा भी है कि सहस्रगुणा वर्षा करने के लिये सूर्य पृथिवीस्थ रस का शोषण करता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक साहित्य में 'ऋतस्य योनि:' अवतरण का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में पराशर ऋषि कहते हैं कि देवताओं ने ऋत के नियम में चलने वाले अग्नि के विभिन्न रूपों का अन्वेषण किया, उस समय पृथ्वी द्युलोक के समान हो गयी। आप: देवता ने उदक में प्रविष्ट अग्नि को स्तोत्र से अच्छी प्रकार स्तुत करके बढ़ाया, उसके पश्चात् अग्नि ऋत (उदक या यज्ञ) की योनि (उदक) के गर्भ (मध्य) से अच्छी प्रकार उत्पन्न हुआ।[३] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि उदक की योनि (अन्तरिक्ष) में स्थित अग्नि अपने आप सरण करने वाले उदक में दान्तमन होकर शयन करता है।[४] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि क्रान्तदर्शी सूर्य उदक की योनि अन्तरिक्ष में वृष्टि के समय प्रकाशित और प्रसन्न होती हुई द्यावापृथिवी को देखता है।[५] एक अन्य सूक्त में विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे सत्य या उदक की अभिवृद्धि करने वाले देवो! सोम की रक्षा करो। प्रज्वलित अग्नि के माध्यम से स्तुति प्राप्त करते हुए उदक की योनि अन्तरिक्ष में विराजमान हो जाओ।[६] वामदेव ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! तुम स्तुति से युक्त होकर उदक की योनि अन्तरिक्ष में, वर्षा करने में समर्थ मेघ के नीड (अन्तरिक्ष) में विद्युत् रूप में वर्तमान होकर प्रथम तेज या बल को प्राप्त करते हो।[७] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि मातु:=भूमि के, गर्भे=गर्भ में निवास करने वाला अग्नि, पितुष्पिता=हवि के माध्यम से आदित्य का भी पालन करता है। वह अग्नि, अक्षरे=नाशरहित, ऋतस्य योनिम्= अन्तरिक्ष की योनि उदक में, आसीदन्=विद्यमान रहता है।[८] वसुकर्ण वासक्र ऋषि कहते हैं कि द्युलोक को व्याप्त करने वाले, अग्निरूपी जिह्वा तथा उदक को बढ़ाने वाले विश्वदेव उदक की योनि अन्तरिक्ष में स्थित होते हैं।[९] अग्रिम मन्त्र में पुन: ऋषि कहता है कि सर्वत्र निवास करने वाले, माता-पिता के समान प्रथम उत्पन्न होने वाले, अन्तरिक्षरूप

---

१ निघ०वृ०, १.१२.७०.

२ निघ०वृ०, १.१२.७०.

३ ऋ० १.६५.२. ''ऋतस्य देवा अनु व्रता गुर्भुवत्परिष्टिर्द्यौर्न भूम। वर्धन्तीमाप: पन्वा सुशिश्विमृतस्य योना गर्भे सुजातम्।''

४ ऋ० ३.१.११. ''ऋतस्य योनावशयद्दमूना जामीनामग्निरपसि स्वसृणाम्।''

५ ऋ० ३.५४.६. ''कविर्नृचक्षा अभि षीमचष्ट ऋतस्य योना विघृते मदन्ती।''

६ ऋ० ३.६२.१८. ''गृणाना जमदग्निना योनावृतस्य सीदतम्। पातं सोममृतावृधा।''

७ ऋ० ४.१.१२. ''प्र शर्ध आर्त प्रथमं विपन्यां ऋतस्य योना वृषभस्य नीळे।''

८ ऋ० ६.१६.३५. ''गर्भे मातु: पितुष्पिता विदिद्युतानो अक्षरे। सीदन्नृतस्य योनिमा।''

९ ऋ० १०.६५.७. ''दिवक्षसो अग्निजिह्वा ऋतावृध ऋतस्य योनिं विमृशन्त आसते।''

समान स्थान वाले द्यावापृथिवी उदक की योनि अन्तरिक्ष में निवास करते हैं।[१] अयास्य ऋषि कहते हैं कि सिक्त करता हुआ बृहस्पति उदक को विकीर्ण करता है, जिस प्रकार द्युलोक अपने से उल्का को अलग कर देता है, उसी प्रकार बृहस्पति (सूर्य) उदक को अपने से पृथक् कर बिखेर देता है।[२] त्रिशिर ऋषि कहते हैं कि इस अग्नि में आहुत किये जाने वाले पदार्थ दीप्तिमान्, शीघ्र व्याप्त होने वाले तथा अपने विस्तार को उदक में लीन कर देते हैं।[३]

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'ऋतस्य योनिः' शब्द लगभग उसी अर्थ में आया है, जिस अर्थ में 'योनिः' पद आया है। प्रायः सर्वत्र मन्त्रार्थ करते समय 'ऋतस्य योनिः' पद का अर्थ 'उदक की योनि अन्तरिक्ष' ग्रहण करना पड़ा है। उक्तपदद्वय में से प्रथम 'ऋतस्य' पद का अर्थ निर्विवाद रूप से 'उदक' है, निघण्टुकार ने दो पद पूर्व उक्त 'ऋत' पद का परिगणन किया है। इसी प्रकार एक पद पूर्व निघण्टुकार ने 'योनिः' पद का भी समाम्नान किया है। उन स्थानों पर 'ऋत' और 'योनि' पदों का जो अर्थ है, वही यहाँ पर भी है। कहने का आशय यह है कि उक्त प्रकरण में 'ऋत' पद 'उदक' तथा 'योनि' पद 'अन्तरिक्ष के प्रदेश विशेष' के अर्थ में आया है। इन दोनों पदों के सम्मिश्रण से बने 'ऋतस्य योनिः' पद का अर्थ भी यही है। इस प्रकार 'ऋतस्य योनिः' ऐसा उदक जिसकी योनि अन्तरिक्ष है अर्थात् जो अन्तरिक्ष से प्राप्त होता है या यह कहना अधिक उचित होगा कि जो अन्तरिक्ष में सञ्चित है। एक विशेष प्रक्रिया से अन्तरिक्ष में व्याप्त उदक घनीभूत होता है, यह घनीभूत होने की स्थिति जिस प्रदेश विशेष में घटित होती है, वह अन्तरिक्ष का प्रदेश तथा उसमें स्थित उदक वेद के ऋषि की दृष्टि में 'ऋतस्य योनिः' है। सम्भवतः, इस पदार्थ विद्या या अन्तरिक्ष विज्ञान का बोध कराने के लिये निघण्टुकार ने 'ऋत' और 'योनि' के परिगणित किये जाने के बाद भी 'ऋतस्य योनिः' पद को एक पद मानकर उदकवाचक गण में समाम्नान किया है।

७१. सत्यम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'सत्य' पद परिगणित है।[४] शाङ्खायन आरण्यक एवं कौषीतकि उपनिषद् 'सत्य' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**किं तद्यत् सत्यमिति, यद्देवेभ्यश्च प्राणेभ्यश्च तत्सदथ यद्देवाश्च प्राणाश्च तत् त्यम्, तदेतया वाचाऽभिव्याह्रियते सत्यमित्येतावदिदं सर्वम्**"[५] कि जो देवों और प्राणों से भिन्न है, वह 'सत्' तथा जो देव और प्राण हैं, वे 'त्यम्' हैं। इस वाणी के द्वारा उक्त विषय में जो कुछ कहा जाता है, वह सब सत्य है। इस पक्ष में 'सत्' तथा 'त्यम्' इन दो शब्दों के संयोग से 'सत्य' पद निष्पन्न होता है।

ऐतरेय आरण्यक 'सत्य' के स्वरूप का विवेचन करता हुआ कहता है:-"**तत्सत्यं सदिति**

---

१ ऋ० १०.६५.८. "परिक्षिता पितरा पूर्वजावरी ऋतस्य योना क्षयतः समोकसा।"

२ ऋ० १०.६८.४. "आप्रुषायन् मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः।"

३ ऋ० १०.८.३. "अस्य पत्मन्नरुषीरश्वबुध्ना ऋतस्य योनौ तन्वो जुषन्त।"

४ निघ० १.१२.७१.

५ शा०आ०, ३.६. कौ०उप०, १.६.

प्राणस्तीत्यन्नं यमित्यसावादित्यस्तदेतत् त्रिवृत्''[१] कि 'सत्' यह प्राण है, 'त्' यह अन्न है और 'यम्' यह आदित्य है, ये तीनों मिलकर 'सत्य' कहलाते हैं। इस पक्ष में 'सत्+त्+यम्' से 'सत्य' शब्द निष्पन्न होता है।

तैत्तिरीयारण्यक तथा तैत्तिरीयोपनिषद् का उक्त विषय में अभिमत है:-**''तदनुप्रविश्य (आत्मा) सच्च त्यच्चाभवत्।--------------यदिदं किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते''**[२] कि उसमें प्रवेश करके आत्मा सत् और त्यत् हो गयी। जो कुछ भी इस जगत् में है, वह 'सत्य' नाम से अभिहित होता है। इस पक्ष में 'सत्+त्यत्' से 'सत्य' शब्द निष्पन्न होता है।

शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-**''तदेतत् त्र्यक्षरꣳ सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरयमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतम्''**[३] कि 'सत्य' शब्द में तीन अक्षर हैं। 'स' प्रथम, 'त' द्वितीय तथा 'यम्' यह अन्तिम अक्षर है। प्रथम और तृतीय अक्षर सत्य हैं तथा मध्य का अक्षर अनृत है। कहने का आशय यह प्रतीत होता है कि जीवन से पूर्व और पश्चात् की स्थिति सत्य है अर्थात् परिवर्तन रहित है, जबकि मध्य की स्थिति परिवर्तनशील होने से अनृत है। इस पक्ष में 'स+त्+यम्' के संयोग से 'सत्य' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'सत्य' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''सत्यं कस्मात्? सत्सु तायते''**[४] कि इसका विस्तार या पालन सज्ञनों में पाया जाता है, आचार्य के कथन के अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि सज्ञनों के समीप अनृत बोलना सम्भव नहीं होता है, अतः, इसे 'सत्य' कहते हैं।[५] इस पक्ष में 'सत्' पूर्व वाली 'तन्' धातु से 'सत्य' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''सत्प्रभवं भवतीति वा''[६] कि यह सज्ञनों में पाया जाता है। जो सज्ञन लोग हैं, वे ही सत्य बोलते हैं। इस पक्ष में 'सत्' शब्द से प्रभव अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होकर 'सत्य' शब्द उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'सत्य' शब्द का निर्वचन निम्न करते हैं:-**''सत्यम् (उदकम्)। सत्सु भवम्''**[७] कि यह सज्ञनों में पाया जाता है, अतः, अनृतभिन्न वाणी को 'सत्य' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सत्' शब्द से भव अर्थ में 'यत्' प्रत्यय करके 'सत्य' शब्द निष्पन्न होता है। आचार्य सायण भी कुछ इस प्रकार का निर्वचन करते हैं:-**''सत्सु भवो वा''**।[८]

(ख)''यद्वा, सत्सु साधु''[९] कि सज्ञनों के मध्य में यह सत्य व्यवहार श्रेष्ठ माना जाता है, अतः, इसे 'सत्य' कहते हैं। इस पक्ष में 'सत्' शब्द से साधु अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होकर 'सत्य' शब्द निष्पन्न होता है।

---

१ ऐ०आ०, २.१.५.
२ तै०आ०, ८.६.१. तै०उप०, २.६.१.
३ शत०ब्रा०, १४.८.६.२.
४ निरु० ३.१३.
५ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ० २४५.
६ निरु० ३.१३.
७ निघ०वृ०, १.१२.७१.
८ सायणभाष्य, ऋ० १.१४५.५.
९ निघ०वृ०, १.१२.७१.

आचार्य सायण ने भी कुछ इस प्रकार का निर्वचन दिया है:-''**सत् क्रियमाणं कर्म तत्र साधुः**''१।

(ग)''**सतोऽर्हमिति वा**''२ कि यह व्यवहार या उदक सज्जनों के योग्य होता है, अतः, उसे 'सत्य' कहते हैं। इस पक्ष में 'सत्' शब्द से अर्ह अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होकर 'सत्य' शब्द सिद्ध होता है। आचार्य सायण से भी उक्त निर्वचन का समर्थन हो जाता है:-''**सत् फलं तदर्हतीति वा। सम्यक् फलप्रद इत्यर्थः।**''३

आचार्य दुर्ग 'सत्य' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**सन्तमर्थमाययति प्रत्याययति गमयतीति सत्यम्**''४ कि जो अपने विद्यमान अर्थ का प्रत्यायन कराता है, वह 'सत्य' है। इस पक्ष में 'अस' भुवि' धातु के शतृप्रत्ययान्त रूप से 'सत्' तथा 'इण्' धातु के णिजन्तरूप 'आययति' से 'य' भाग लेकर 'सत्य' पद निष्पन्न करते हैं। उपर्युक्त सभी निर्वचन उदक परक न होकर अवितथ वाणी और व्यवहार के वाचक हैं।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष शाकटायन के मत में 'सत् ('अस्' भुवि')+य ('इण्' गतौ') तथा पक्ष में सत्+त्य ('ताय' या 'तन्') से 'सत्य' पद को निष्पन्न बतलाता है। उसके अनुसार यह पद साधु, स्थिर, अग्नि, इन्द्र प्रभृति अर्थ में विशेषणपद, ऋत अर्थ में नामपद तथा तत्त्व, स्थैर्य अर्थ में भावपद है।५ ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'सत्य' पद को अव्युत्पन्न मानती है।६ मोनियर विलियम्स उक्तपद को 'अस्' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'सत्य' पद अवितथ, वास्तविक, उचित, निष्कपट, विशुद्ध, भला, सफल, वैध, अमोघ, सदाचारी आदि अर्थ में आया है।७

डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि भारोपीय भाषा में 'sntio' 'विद्यमान से सम्बन्धित' अर्थ में तथा अवेस्ता में 'haithyo' 'सत्य' अर्थ में पाया जाता है। इस कारण वे यास्क के द्वितीय निर्वचन (सत्+यत्) को भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने योग्य मानते हैं। जबकि प्रथम निर्वचन में 'तन्' धातु के 'त्' से 'सत्य' के पद के प्रत्यय का काम चलाया गया है, अतः, वे उक्त निर्वचन को उचित नहीं मानते हैं।८ वेद से प्राप्त सङ्केतों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि 'सत्य' पद का मूल 'अस' भुवि' धातु है।९

वैदिक साहित्य में 'सत्य' शब्द का व्यापक प्रयोग प्राप्त होता है। ऋग्वेद में आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि नदियाँ निरन्तर उदक प्रवाहित करती हैं और सूर्य उदक का विस्तार करता है। द्यावापृथिवी इस सत्य को जानें।१० प्रस्तुत मन्त्र में महर्षि दयानन्द 'सत्य' पद का अर्थ 'उदक' ग्रहण करते हैं, जबकि आचार्य

---

१ सायणभाष्य, ऋ० १.१४५.५.

२ निघ०वृ०, १.१२.७१.

३ सायणभाष्य, ऋ० १.१४५.५.

४ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, १.१३. पृ० ७६.

५ वै०पद०को०, पृ० ३२२८.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ५४४.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ११३५.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ५३, ९५.

९ ऋ० १.८७.४; ९८.३; १६७.७.

१० ऋ० १.१०५.१२. ''ऋतमर्षन्ति सिन्धवः सत्यं तातान सूर्यो वित्तं मे अस्य रोदसी।''

सायण 'सर्वदा विद्यमान' अर्थ लेते हैं। दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि ये द्यावापृथिवी स्थावर-जङ्गमरूप उभयविध जगत् की रक्षा के मार्ग तथा प्राप्त होने योग्य सत्य (उदक) की रक्षा करते हैं।[१] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि मैं स्तुति करने योग्य मरुतों की सत्य (उदक) रूप महिमा को बतलाता हूँ।[२] एक अन्य स्थान पर अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम सत्पति अर्थात् उदकों के पालयिता, मघवा (धनवान्), पापों से उद्धार करने वाले और उदक (सत्य) में निवास करने वाले बलदाता हो।[३] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे द्रोहरहित इन्द्र! तेरा उदक (सत्य) ही तेरी महिमा है, क्योंकि तूने प्रकट होते ही सोम का पान कर लिया है।[४] प्रस्तुत मन्त्र के व्याख्यान में सायण ने 'सत्य' का अर्थ 'यथार्थ' लिया है। वामदेव ऋषि कहते हैं कि सभी मरणरहित देवों ने अग्नि को उत्पन्न किया तथा उस पालन एवं उत्पन्न करने वाले अग्निदेव ने जगत् को उदक (सत्य) से सींचा।[५] एक अन्य स्थान पर वामदेव ऋषि कहते हैं कि धनवान् एवं सरलनीति वाला इन्द्र उदक (सत्य) के साथ आये और उसकी हरण करने वाली रश्मियाँ हमारे समीप दौड़कर आयें।[६] भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि इन्द्र लोकों पर शासन करता है, कामनाओं की वर्षा करने वाला, बलवान्, बहुप्रज्ञ एवं किसी से भी पराजित न होने वाला है।[७] इरिम्बिठि काण्व ऋषि कहते हैं कि वह इन्द्र स्तुत्य, आह्वनीय, उदकप्रदाता (सत्यः सत्वा) एवं बहुकर्मा है। वह एकाकी होता हुआ भी शत्रुओं को पराजित कर देता है।[८] वसुक्र ऋषि कहते हैं कि हे बहुकीर्तिमान् इन्द्र! जब सभी के भरण-पोषण के लिये अन्नादि प्रदान करने में तेरी बुद्धियाँ प्रवृत्त होती हैं, उस समय तू उदक के समान मित्र दिखायी पड़ता है।[९] उक्त सभी स्थानों पर आचार्य सायण ने 'सत्य' पद का अर्थ 'अबाध्य, अमोघ, यथार्थ आदि लिया है। गोपथ और ऐतरेय-ब्राह्मण कहते हैं कि आपः सत्य में प्रतिष्ठित हैं।[१०] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि जो सत्य है, वह उदक है और जो उदक है वह सत्य है।[११] जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है कि सत्य ही उदक है।[१२] इस प्रकार ब्राह्मण की दृष्टि में 'सत्य' पद उदकवाचक है, यह सिद्ध होता है।

---

१ ऋ० १.१५९.३. ''स्थातुश्च सत्यं जगतश्च धर्मणि पुत्रस्य पाथः पदमद्वयाविनः।

२ ऋ० १.१६७.७. ''प्र तं विवक्मि वक्म्यो य एषां मरुतां महिमा सत्यो अस्ति।''

३ ऋ० १.१७४.१. ''त्वं सत्पतिर्मघवा नस्तरुत्रस्त्वं सत्यो वसवानः सहोदाः।''

४ ऋ० ३.३२.९. ''अद्रोघ सत्यं तव तन्महित्वं सद्यो यज्जातो अपिबो ह सोमम्।''

५ ऋ० ४.१.१०. ''धिया यद्विश्वे अमृता अकृण्वन्द्यौष्पिता जनिता सत्यमुक्षन्।''

६ ऋ० ४.१६.१. ''आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी द्रवन्त्वस्य हरयः उप नः।''

७ ऋ० ६.२२.१. ''यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान्त्सत्यः सत्या पुरुमायः सहस्वान्।''

८ ऋ० ८.१६.८. ''स स्तोम्यः स हव्यः सत्यः सत्वा तुविकूर्मि। एकश्चित्सन्नभिभूतिः।''

९ ऋ० १०.२९.४. ''मित्रो न सत्य उरुगाय भृत्या अन्ने समस्य यदसन् मनीषाः।''

१० गो०ब्रा०, २.३.२. ऐ०ब्रा०, ३.६. ''आपः सत्ये (प्रतिष्ठिताः)।''

११ शत०ब्रा०, ७.४.१.१६. ''तद्यत्तत्सत्यमाप एव तदापो हि वै सत्यम्।''

१२ जै०ब्रा०, १.४. ''सत्यं वा आपः।''

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'सत्य' है, जिसका विस्तार सूर्य करता है, इस सत्य नामक उदक से द्यावापृथिवी जगत् की रक्षा करते हैं, ये उदक मरुतों की महिमा बतलाते हैं, उदकप्रदाता होने से इन्द्र सत्पति कहलाता है, कहीं ऋषि ने उदकों को इन्द्र की महिमा बतलाया है, वही उदकों के साथ हमारे यहाँ आता है, देवताओं द्वारा उत्पन्न प्रकाशमान अग्नि इस लोक का पिता, जनक एवं उदक से सिञ्चन करने वाला है, यह उदक मित्र के समान प्रिय लगता है। कहीं ब्राह्मण उदक को सत्य में प्रतिष्ठित बतलाता है तो कहीं वह सत्य और उदक को एक ही कहता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह उदक वेद की दृष्टि में 'सत्य' है, जिससे जगत् की रक्षा होती है। जगत् की सत्ता निर्भर होने के कारण उदक को 'सत्य' नाम से अभिहित किया गया है। इस दृष्टि से विचार करने पर सत्तार्थक 'अस्' धातु को 'सत्य' पद का मूल माना जा सकता है। उक्त अध्ययन से यह तथ्य सामने आता है कि सायण जैसे वेदभाष्यकार ने एक स्थान पर भी 'सत्य' का अर्थ 'उदक' नहीं लिया है। महर्षि दयानन्द केवल एक स्थान पर उक्त अर्थ ग्रहण करते हैं। पर उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेद के मन्त्रों तथा ब्राह्मणग्रन्थों में भी 'सत्य' पद 'उदक' अर्थ में आया है। लेकिन मन्त्र में 'सत्य' पद के आते ही बुद्धि 'सत्य' शब्द के साहित्य और लोक में मान्य अर्थ से भिन्न अर्थ ग्रहण करने में सङ्कोच और द्विविधा का अनुभव करती है। सम्भवतः, सत्य पद के अर्थ के प्रति दृढ़ संस्कार के कारण ऐसा होता है।

७२. नीरम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'नीर' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'नीर' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**नीरम् (उदकम्)। 'णीञ्' प्रापणे'। नयति प्रापयति शुद्धिं नीयते वा पुरुषेण स्वाभिमतकार्य्यसम्पादनाय**''[२] कि यह उदक शुद्धि प्राप्त कराता है या पुरुषों के द्वारा अभिमत कार्य सम्पादन करने के लिये ले जाया जाता है, अतः, उदक को 'नीर' कहा जाता है। इस पक्ष में प्रापणार्थक 'नी' धातु से औणादिक 'रन्' प्रत्यय होकर 'नीर' पद निष्पन्न होता है। उणादिकोष के अनुसार उक्त प्रकार से 'नीर' शब्द व्युत्पन्न होता है वृत्तिकार के अनुसार 'नीर' पद का निर्वचन निम्न है:-''**नयति शरीरमिति नीरं जलं वा**''।[३] सभी कोश 'नीर' पद के 'उदक' अर्थ से सहमत हैं।[४] संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ में 'नीर' पद का निम्न निर्वचन प्राप्त होता है:-''**नयति प्रापयति स्थानात् स्थानान्तरम्**''[५] कि एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाता है, अतः, उदक को 'नीर' कहते हैं।

वैदिक साहित्य में 'नीर' पद का प्रयोग सर्वथा नहीं हुआ है। ऋग्वेद में उक्तपद का एक बार भी

---

१ निघ० १.१२.७२.

२ निघ०वृ०, १.१२.७२.

३ उणा०, २.१३.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ५६६. संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभः, पृ० ६२८.

५ संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ, पृ० ६२८.

प्रयोग दृष्टिगत नहीं होता है। आचार्य देवराजयज्वन् उक्तपद का उदाहरण अन्वेषणीय बतलाते हैं।[१] इस प्रकार उदाहरण के अभाव में 'नीर' पद का विशिष्ट स्वरूप प्रतिपादन करना सम्भव नहीं है।

७३. रयि:

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'रयि' पद परिगणित है।[२] आचार्य यास्क धनवाचक 'रयि' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**रयिरिति धननाम। रातेर्दानकर्मण:**"[३] कि दान किये जाने के कारण धन को 'रयि' कहते हैं। इस पक्ष में दानार्थक 'रा' धातु से 'रयि' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'रयि' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-"**रयि: (उदकम्)। 'रीङ्' गतौ'। रीयते गच्छति रयि:**"[४] कि प्रवाहित होने के स्वभाव वाला होने से उदक को 'रयि' कहा जाता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'री' धातु से औणादिक 'इ' प्रत्यय तथा गुण होकर 'रयि' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष के अनुसार 'रय्' (='ऋध्') ऋद्धौ' धातु से 'रयि' पद निष्पन्न होता है, लेकिन पेटरसन तथा ग्रासमैन प्रभृति विद्वान् 'रा' धातु से 'रयि' पद को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं। उसके अनुसार यह धनवाचक नामपद है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'रयि' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स उक्तपद का मूल 'रा' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद, वाजसनेयि-संहिता, ब्राह्मणग्रन्थ, श्रौतसूत्र एवं छान्दोग्योपनिषद् में 'रयि' पद सम्पत्ति, सामग्री, अधिकृत वस्तु, कोष आदि अर्थों में आया है। इसके अतिरिक्त यह ऋग्वेद में धनवान् के लिये भी आया है।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा उक्त यास्कीय निर्वचन को तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने योग्य मानते हैं।[८] वेद से प्राप्त अनेक सङ्केतों से उक्त कथन का समर्थन होता है।[९]

वैदिक साहित्य में 'रयि' पद का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! रक्षार्थ, वर्षणशील, निरन्तर सेवन करने योग्य, विजयश्री दिलाने में सक्षम, दु:ख सहन कराने में समर्थ रयि (उदक) प्रदान करो।[१०] मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! अतिस्तुति युक्त गायत्र छन्द से स्तुत होते हुए हमारे लिये वीरपुत्रों एवं अन्न वाले रयि (उदक) का सम्पादन करो।[११] प्रस्कण्व ऋषि कहते हैं कि ये

---

१ निघ०वृ०, १.१२.७२.

२ निघ० १.१२.७३.

३ निरु० ४.१७.

४ निघ०वृ०, १.१२.७३.

५ वै०पद०को०, पृ० २६४२.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ४४१.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ८६८.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ५१.

९ ऋ० १.११७.२३; १६६.३; २.११.१३; ४.३६.९; ६.६५.६; ८.४.१६; ८.२३.१२; ९.११.९; १०.१८३.१.

१० ऋ० १.८.१. "एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम्। वर्षिष्ठमूतये भर।"

११ ऋ० १.१२.११. "स न: स्तवान आ भर गायत्रेण नवीयसा। रयिं वीरवतीमिषम्।"

दोनों अश्विनीदेव दर्शनीय, सिन्धुरूप माता वाले, मन के समान गति से सम्पन्न हैं और ये कर्म (या बुद्धि) के बल से उदकों के पार जाने वाले हैं।[१] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि मनुष्यों के लिये सुखकर अग्नि (ज्ञान) को भृगुओं (परिपक्व बुद्धि वालों) ने मनुष्यों में स्थापित किया, ठीक उसी प्रकार जैसे गतिशील या सुन्दर उदक को धारण किया जाता है।[२] एक अन्य मन्त्र में गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार शान्त मन वाला गृहस्वामी गृह में निवास करता है, उसी प्रकार उदकों का स्वामी अग्नि उदकों में निवास करता है।[३] पराशर ऋषि कहते हैं कि उदकों का स्वामी अग्नि उदकों में विद्यमान रहता है तथा साथ ही सम्पूर्ण अमृतों (हिरण्यों) का निर्माण करता है।[४] एक अन्य मन्त्र में पराशर ऋषि कहते हैं कि इस अग्नि में यजमान बहुविध प्रदीप्त करने वाली सामग्री को स्थापित करते हैं। इसके अतिरिक्त यही अग्नि उदकों को धारण करने वाला एवं सम्पूर्ण प्राणियों की आयु है।[५] गोतम ऋषि कहते हैं कि सभी प्रकार के सुख प्रदान करने के साथ-साथ कामनाओं की वर्षा करने वाले हे मरुतो! हमें सुन्दरवीर पुत्रों वाले उदक प्रदान करो।[६] आङ्गिरस ऋषि कहते हैं कि वर्तमान काल और सृष्टि से पूर्व भी वह उदकों का सदन अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का निमित्त है, यही उत्पन्न और उत्पन्न होने वाले का आवास स्थान भी है।[७] परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि उदक वाले इन्द्र! हम लोग होत्र के द्वारा शक्तिसम्पन्न और रमणीय उदक प्राप्त करें।[८] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि यह रयि वैश्वानर उदक है।[९] एक अन्य स्थान पर शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि पुष्ट हो जाना ही रयि है।[१०] मैत्रायणी-संहिता कहती है कि वसिष्ठ ने रयि को देखा, उसको अपनी आत्मा में स्थापित कर लिया।[११] जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है कि प्रजापति ने कहा कि यह रयि मेरे में स्थित हो।[१२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'रयि' है, जो बरसने वाला, निरन्तर सेवन करने योग्य एवं विजयश्री में सहायक है, इस उदक में वीरपुत्रों एवं अन्न को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है, अश्विनीदेव इनसे मन के समान गति से पार हो जाता है, अग्नि (ज्ञान) के समान यह उदक धारण किया जाता है, शान्त गृहपति के समान अग्नि उदक में निवास करता है, सम्पूर्ण प्राणियों की आयुरूप यह अग्नि उदकों

---

१ ऋ० १.४६.२. "या दस्रा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम्। धिया देवा वसुविदा।"

२ ऋ० १.५८.६. "दधुष्ट्वा भृगवो मानुषेष्वा रयिं न चारुं सुहवं जनेभ्यः।"

३ ऋ० १.६०.४. "दमूना गृहपतिर्दम आँ अग्निर्भुवद्रयिपती रयीणाम्।"

४ ऋ० १.७२.१. "अग्निर्भुवद्रयिपती रयीणां सत्रा चक्राणो अमृतानि विश्वा।"

५ ऋ० १.७३.४. "अधि द्युम्नं नि दधुर्भूर्यस्मिन्भवा विश्वायुर्धरुणो रयीणाम्।"

६ ऋ० १.८५.१२. "अस्मभ्यं तानि मरुतो वि यन्त रयिं नो धत्त वृषणः सुवीरम्।"

७ ऋ० १.९६.७. "नू च पुरा च सदनं रयीणां जातस्य जायमानस्य च क्षाम्।"

८ ऋ० १.१२९.७. "वनेम तद्धोत्रया वनेम रयिं रयिवः सुवीर्यं रण्वं सन्तं सुवीर्यम्।"

९ शत०ब्रा०, १०.६.१.५. "एष वै रयिर्वैश्वानरः (आपः)।"

१० शत०ब्रा०, २.३.४.१३. "पुष्टं वै रयिः।"

११ मै०सं० ४.२.९. "वसिष्ठो वै रयिमपश्यत्, तमात्मान्नधत्त, यत्स्थूणाकर्णीः कुरुते, पशुष्वेव रयिं धत्ते।"

१२ जै०ब्रा०, ३.२३०. "सो (प्रजापतिः)ऽब्रवीद् अस्थाद् वा इयं मयि रयिरिति। तद् एव रयिष्ठस्य रयिष्ठत्वम्। तदेतत् पशव्यं साम।"

को धारण करता है, कहीं ऋषि मरुतों को सुन्दर वीर पुत्रों वाले उदक को प्रदान करने वाला कहता है, यह अग्नि वर्तमान और पुराकाल में उदकों का सदन (उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का निमित्त) है, इस उदक को ऋषि रमणीय और वीर्यवान् बतलाता है। ब्राह्मण कहीं इस उदक को वैश्वानर उदक के नाम से पुकारता है तो कहीं इस रयि को पुष्ट करने वाले के रूप में चित्रित करता है किसी अन्य स्थान पर वसिष्ठ इसे आत्मा में तथा प्रजापति अपने में स्थित होने वाला बतलाता है।

इस प्रकार उक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक भावना रयि को धन वाचक से अधिक उदक, वह भी पुष्ट करने वाले उदक, के रूप में निरूपित करती है। इस रयि का अग्नि के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा ऋषि इसको वीरपुत्रों को उत्पन्न करने वाला बतलाता है। उक्त सङ्केतों के निहितार्थ को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि वेद वीर्य को 'रयि' के नाम से अभिहित करता प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि वीर्य को शक्तिसम्पन्न तथा वीरपुत्रों को उत्पन्न करना वाला माना जाता है। इसके अतिरिक्त गर्भाधान के लिये आवश्यक उष्णता विद्यमान होने से इसका अग्नि के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट है। वीर्य ही रयि है, इस कथन की पुष्टि शतपथ-ब्राह्मण के वचन से हो जाती है।[१] निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि जिसमें बलप्रदान करने की सामर्थ्य है, वह उदक (वीर्य) वेद के ऋषि की दृष्टि में 'रयि' है। इस दृष्टि से विचार करने पर 'रयि' पद को 'रा' धातु मूलक माना जा सकता है, क्योंकि सामान्यरूप से वीर्यरूप उदक दान करने के लिये होता है। वेद और वेदार्थ के प्रति गम्भीर निष्ठा रखने वाले आचार्य निघण्टु के एक (धन) अर्थ को ध्यान में रखकर 'रयि' पद का निर्वचन करते हैं, परन्तु दूसरे अर्थ उदक की सर्वथा उपेक्षा कर देते हैं। इससे यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि निघण्टु यास्क की रचना नहीं है। इसके अतिरिक्त यास्क के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए अन्य सायण आदि आचार्य एक स्थान पर भी 'रयि' का उदक अर्थ ग्रहण करने का साहस प्रदर्शित नहीं करते हैं।

७४. सत्

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'सत्' पद परिगणित है।[२] आचार्य यास्क 'सत्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सतः संसृतं भवति**"[३] कि बहकर दूसरे स्थान पर चले जाने से दूरी को 'सत्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सम्+'सृ' से 'सत्' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'सत्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सत् (उदकम्)। 'अस' भुवि'। सर्वदा विद्यमानं प्रलयेऽपि नाशाभावात्**"[४] कि यह उदक सर्वदा विद्यमान रहता है, प्रलय में भी इसका नाश नहीं होता, अतः, उदक को 'सत्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अस्' धातु से 'शतृ' प्रत्यय होकर 'सत्' शब्द सिद्ध होता है।

---

१ शत०ब्रा०, १३.४.२.१३. "वीर्यं वै रयिः।"

२ निघ० १.१२.७४.

३ निरु० ३.२०.

४ निघ०वृ०, १.१२.७४.

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सत्' पद को 'अस्' भुवि' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद का मूल 'अस' भुवि' धातु को मानती है।[२] मोनियर विलियम्स भी उक्त कथन का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'सत्' पद होना, उपस्थित होना, घटित होना आदि अर्थों में आया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में यह वास्तविक, सत्य, उत्तम अर्थ का वाचक भी है, पर क्वचित् प्राणी के लिये भी प्रयुक्त हुआ है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा 'दूर' अर्थ वाले 'सत्' शब्द के निर्वचन को पूर्णतया असङ्गत मानते हैं। उनके अनुसार 'सत्' शब्द का मूल 'अस्' धातु है।[४] वेद से प्राप्त सङ्केत से भी उक्त कथन का समर्थन हो जाता है।[५]

वैदिक साहित्य में 'सत्' शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस ऋषि कहते हैं कि वर्तमान काल और सृष्टि से पूर्व भी वह उदकों का सदन अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का निमित्त है, यही उत्पन्न और उत्पन्न होने वाले का आवास स्थान भी है। जो तन्मात्ररूप और बार-बार उत्पन्न होता है, ऐसे उदक की रक्षा करने वाले अग्नि को देवता धारण करते हैं।[६] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि उदकवती (सतीः) रश्मिरूपा स्त्रियों को ही प्रभूत वृष्ट्युदक का सेक्ता होने से पुरुष कहा जाता है, इस गूढ अर्थ को ज्ञान दृष्टि वाला ही जानता है, अन्धा (स्थूल दृष्टि वाला) इस अर्थ को नहीं जानता। पवित्र, क्रान्तदर्शी उदक ही इसको जानता है। इस सत्य को जानने वाला पिता (आदित्य) का भी पालक होता है।[७] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! उदकों के वृष्टिकर्ता होने से तुम ही इन्द्र, बहुत स्तूयमान होने से तुम ही विष्णु और नमस्करणीय हो।[८] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि ध्यान मन वाले सात मेधावियों ने इन्द्र की स्तुति वाले मन से उदकों को बढ़ाया और बल बढ़ जाने पर उनको नीचे गिरा दिया।[९] अवत्सार ऋषि कहते हैं कि अग्नि व्यापनशील हवि का सेवन, उदक को धारण (सद्म धातु), शरीर को नीरोगता, देवताओं के लिये हवि और यजमानों के लिये अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति तथा बल को धारण करता है।[१०] भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि इन्द्र एक दिन एक कर्म और दूसरे दिन दूसरे कर्म को करता है। कभी वह वर्षा करता है और कभी वह वर्षा नहीं करता है। इस प्रकार इन्द्र कर्मों का कर्ता है।[११] वसुक्र ऐन्द्र ऋषि कहते हैं कि जब मैं अज्ञात सङ्ग्रामों में लगा होता हूँ, उस समय समस्त

---

१ वै०पद०को०, पृ० ३२२६.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ५४४.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ११३४.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १२२.

५ ऋ० २.१.३. ''त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वम्।''

६ ऋ० १.९६.७. ''नू च पुरा च सदनं रयीणां जातस्य जायमानस्य च क्षाम्। सतश्च गोपां भवतश्च भूरेर्देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्।''

७ ऋ० १.१६४.१६. ''स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः। कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत्।''

८ ऋ० २.१.३. ''त्वमग्न इन्द्र वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।''

९ ऋ० ३.३१.५. ''वीळौ सतीरभि धीरा अतृन्दन्प्राचाहिन्वन्मनसा सप्त विप्राः।''

१० ऋ० ५.४४.३. ''अत्यं हविः सचते सद्य धातु चारिष्टगातु· स होता सहोभरिः।''

११ ऋ० ६.२४.५. ''अन्यदद्य कर्वरमन्यदु श्वोऽसद्य सन्मुहुराचक्रिरिन्द्रः।''

ऐश्वर्य एवं उदक मेरे में स्थित होते हैं।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'सत्' है, जिस तन्मात्ररूप उदक की अग्नि रक्षा करता है, उदकवती रश्मिरूपा स्त्रियाँ वृष्टि के समय इसका सिञ्चन करने से पुरुष कही जाती हैं, इन उदकों का वृष्टिकर्ता होने से अग्नि को ही इन्द्र कहा जाता है, ध्यान मन वाले सात विप्र इस उदक को बढ़ाते हैं, अग्नि इस उदक को धारण करता है, कभी इन्द्र वर्षा करता है और कभी वह ऐसा नहीं भी करता है। इन्द्र जब सङ्ग्राम करता है, तब समस्त उदक उसमें समाहित होते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह उदक वेद की दृष्टि में 'सत्' है, जो सूक्ष्मरूप में विद्यमान रहता है। यह सूक्ष्मरूप में स्थित अन्तरिक्षस्थ उदक भी हो सकता है या यह तन्मात्ररूप में अस्तित्व बनाये रखने वाला उदक भी हो सकता है। सम्भवतः, रूपान्तरण के स्वभाव से परे जो उदक है, वह 'सत्' है। इस दृष्टि से विचार करने पर निर्विवाद रूप से 'अस्' भुवि' धातु को 'सत्' पद का मूल माना जा सकता है। यहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि वेद भाष्यकारों ने एक भी स्थान पर 'सत्' का अर्थ 'उदक' नहीं दिया है, पर उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि वेद में 'सत्' शब्द 'उदक' अर्थ में भी पाया जाता है।

७५. पूर्णम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'पूर्ण' पद परिगणित है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'पूर्ण' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**पूर्णम् (उदकम्)। 'पृ' पालनपूरणयोः'। रक्षितं सेत्वादिना, तदर्थिभिः पूरितं वा कटहादिषु**''[३] कि सेतु आदि के द्वारा इसकी रक्षा की जाती है या जल के इच्छुक लोगों के द्वारा कटह आदि में भर लिया जाता है, अतः, उदक को 'पूर्ण' कहा जाता है। इस पक्ष में 'पृ' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'पूर्ण' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, 'पूरी' आप्यायने'। उपभोगक्षीणं आप्यायितम्**''[४] कि यह उपभोग के द्वारा क्षीण होने पर भी पुनः भर जाता है, अतः, उदक को 'पूर्ण' कहा जाता है। इस पक्ष में 'पूर्' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'पूर्ण' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष की दृष्टि में 'पृ' पालनपूरणयोः' धातु से 'पूर्ण' शब्द को व्युत्पन्न मानता है, जबकि पाणिनीय प्रक्रिया में 'पूर्' आप्यायने' धातु से।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद का मूल 'पृ' धातु को मानती है।[६] मोनियर विलियम्स के मत में 'पूर्' धातु से 'पूर्ण' शब्द सिद्ध होता है। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'पूर्ण' शब्द भरा हुआ या पूरी तरह से भरे हुए अर्थ में आया है।[७]

---

१ ऋ० १०.२७.४. ''यदङ्गाने वृजनेष्वासं विश्वे सतो मघवानो म आसन्।''

२ निघ० १.१२.७५.

३ निघ०वृ०, १.१२.७५.

४ निघ०वृ०, १.१२.७५.

५ वै०पद०को०, पृ० २०८५.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ३३०.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ६४२.

वैदिक साहित्य में 'पूर्ण' शब्द का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि हारियोजन पूर्ण पात्र को इन्द्र जानता है, वही इन्हें ले जाने के लिये अपने हरियों (अश्व या रश्मियों) को संयुक्त करता है।[१] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि विष्णु के मधु से पूर्ण तीन पाद-प्रक्षेपण कभी न क्षीण होते हुए स्वधा के कारण आनन्द देते हैं।[२] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि मधु (उदक या अमृत) से भरे हुए रथ को ले जाने वाले ये दोनों अश्विनीदेव, देने वाले रथ से हमारे यहाँ आयें।[३] श्यावाश्व ऋषि कहते हैं कि मरुतों के भय से पृथ्वी उसी प्रकार काँपती है, जिस प्रकार भरी हुई नौका उदक के मध्य में काँपती है।[४] कुमार वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार अतिरात्र नामक यज्ञ में ऋत्विज् मन्त्र पाठ करते हैं, उसी प्रकार पूर्ण सरोवर की कामना से मण्डूक चारों ओर बोलते हुए स्थित होते हैं।[५] वसुक्र ऋषि इन्द्र के लिये मधुपूर्ण पात्र देने को कहते हैं।[६] कृष्ण ऋषि कहते हैं कि उदक से भरे हुए पात्र के समान सम्पत्ति प्राप्त करने योग्य शूरवीर को पूर्ण वसु प्रदान करो।[७] दुवस्यु ऋषि कहते हैं कि जिसका पान करने के लिये द्युलोक में उदक भरा हुआ है और जिससे सब वस्तुओं का विस्तार होता है, ऐसी अदिति का हम वरण करते हैं।[८] अथर्ववेद का ऋषि आत्मा देवता का वर्णन करता हुआ कहता है कि पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण जगत् का उदय होता है, उस पूर्ण ब्रह्म से उस पूर्ण जगत् को सींचा जाता है।[९]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वेद में 'पूर्ण' शब्द उदक अर्थ में नहीं आया है। आचार्य देवराजयज्वन् अथर्ववेद के उपर्युक्त मन्त्र को 'पूर्ण' शब्द के उदक अर्थ का उदाहरण मानते हैं, परन्तु यहाँ पर भी 'पूर्ण' शब्द उदक के अर्थ में नहीं आया है, वह यहाँ ब्रह्म और जगत् का अभिधायक है। वेद में ऋषि ने 'पूर्ण' शब्द का उल्लेख प्रायः मधु, कोश, पात्र आदि के विशेषण के रूप में किया है। ये पद उदक अर्थ के अभिधायक माने जा सकते हैं, क्योंकि इनमें से 'कोश' शब्द मेघ अर्थ में और 'मधु' पद उदकवाचक गण में परिगणित है।[१०] इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि यह पद प्रायः उदक के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, इसलिये सम्भवतः, निघण्टुकार ने 'पूर्ण' पद का परिगणन उदकवाचक गण में किया है। उक्त मन्त्रों के अध्ययन से स्पष्ट है कि यह पूर्णता आप्यायन रूप होती है। अतः, पूर्णता का स्वरूप तरलता लिये माना जा सकता है सम्भवतः, इस कारण निघण्टुकार ने उक्तपद का परिगणन उदकवाचक गण में किया है। इस दृष्टि से विचार करने पर 'पूर्' धातु को 'पूर्ण' पद का मूल माना जा सकता है।

---

१ ऋ० १.८२.४. ''यः पात्रं हारियोजनं पूर्णमिन्द्र चिकेतति योजा न्विन्द्र ते हरी।''
२ ऋ० १.१५४.४. ''यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।''
३ ऋ० १.१८२.२. ''पूर्णं रथं वहेथे मध्व आचितं तेन दाश्वांसमुप याथो अश्विना।''
४ ऋ० ५.५९.२. ''अमादेषां भियसा भूमिरेजति नौर्न पूर्णा क्षरति व्यथिर्यती।''
५ ऋ० ७.१०३.७. ''ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः।''
६ ऋ० १०.२९.७. ''आ मध्वो अस्मा असिचन्नमत्रमिन्द्राय पूर्णं स हि सत्यराधाः।''
७ ऋ० १०.४२.२. ''कोशं न पूर्णं वसुना न्यृष्टमा च्यावय मघदेयाय शूरम्।''
८ ऋ० १०.१००.११. ''पूर्णमूधर्दिव्यं यस्य सिक्तय आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे।''
९ अथर्व०, १०.८.९. ''पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते। उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते।''
१० निघ० १.१०.३०; १२.११.

७६. सर्वम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'सर्व' पद परिगणित है।[१] शतपथ-ब्राह्मण 'सर्व' शब्द का निर्वचन करता हुआ कहता है:-''**आपो वै सर्व (शर्वः) अद्भ्यो हीदं सर्वं जायते**''[२] कि उदक ही सर्व (शर्व) है, क्योंकि उदक से ही सब कुछ उत्पन्न होता है। इस पक्ष में 'शर्व' से 'सर्व' शब्द सिद्ध होता है।

आचार्य यास्क 'सर्व' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**सर्वं संसृतम्**''[३] कि वह साथ-साथ फैला हुआ या सर्वत्र व्याप्त होता है, अतः, वह 'सर्व' कहा जाता है। इस पक्ष में सम्+'सृ' धातु से 'सर्व' शब्द उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'सर्व' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**सर्वम् (उदकम्)। 'सृ' गतौ'। सृतमनेन। हिनस्ति पिपासामुष्णं वा**''[४] कि इससे गमन करते हैं या यह पिपासा को शान्त करता है, अतः, उदक को 'सर्व' कहा जाता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'सृ' धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर 'सर्व' शब्द निष्पन्न होता है।

उणादिकोष में 'सृ' धातु से 'वन्' प्रत्यय करके निपातन नियम से 'सर्व' शब्द निष्पन्न होता है। उणादिकोष के वृत्तिकार के मत में उक्तपद का निर्वचन निम्न है:-''**सरतीति सर्वः**'' कि सभी वस्तुएँ और प्राणी गतिशील रहने से 'सर्व' नाम से अभिहित होते हैं।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष उणादिकोष के आधार पर 'सृ' गतौ' धातु से 'सर्व' शब्द को व्युत्पन्न मानता है। लेकिन कोषकार के मत में 'भृष्' बन्धे=समूहे सङ्घाते' धातु से भाव में 'भृषर्' मत्वर्थ में 'भृषर्मय'=षसर्व्य= सर्व्व=सर्व' इस प्रकार 'सर्व' शब्द उपपन्न होता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स 'सर्व' शब्द का सम्बन्ध 'शर्व' के साथ मानते हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि में 'सर्व' पद का मूल 'शर्व्' धातु है। उपर्युक्त शतपथ-ब्राह्मण के वचन से भी इसका समर्थन हो जाता है। कोशकारों के अनुसार यह एक सर्वनाम है, जिसका अर्थ है:- 'सम्पूर्ण, समग्र, अखिल, प्रत्येक, प्रत्येक वस्तु या घटना'। कभी इस भाव को और अधिक दृढ़ता प्रदान करने के लिये इसके साथ 'विश्व' का प्रयोग भी किया जाता है।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि भारोपीय भाषा में 'sol(e)uo' तथा ग्रीक में 'holos' सम्पूर्ण अर्थ में है। अतः, वे उक्त निर्वचन को '**सर्वाणि नामान्याख्यातजानि**' सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं।[८]

---

१ निघ० १.१२.७६.

२ शत०ब्रा०, ६.१.३.११.

३ निरु० २.२४.

४ निघ०वृ०, १.१२.७६.

५ वै०पद०को०, पृ० ३३२४.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ५५९.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ११८४.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ९३.

वैदिक साहित्य में 'सर्व' शब्द का व्यापक उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में गोतम ऋषि कहते हैं कि नर ने पणि से सर्व (उदक या सब कुछ) तथा अश्व, गो और अन्य पशुओं को भी प्राप्त किया।[१] प्रस्तुत मन्त्र में प्रयास करके 'सर्व' का अर्थ उदक ग्रहण किया है। ऋषभ ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! तुम सम्पूर्ण सुन्दर रथ (मेघ) को जानते हो। हे अग्ने! उस अमृत रूप उदक का स्वाद लो।[२] इस मन्त्र में भी 'सर्व' पद का अर्थ 'उदक' सहज प्रतीत नहीं होता है। नाभानेदिष्ठ ऋषि विश्वदेवों का स्तवन करते हुए कहते हैं कि यह माध्यमिका वाक् या वायु मेरी नाभि है, यह मेरा समान निवासस्थान है, ये अन्य सब देव मेरे अपने हैं और यह उदक भी मैं ही हूँ।[३] गोपथ-ब्राह्मण कहता है कि उदक ही सर्व है।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'सर्व' शब्द उदक अर्थ में नहीं आया है। ब्राह्मण से इस अर्थ की कुछ पुष्टि होती हुई अवश्य दिखायी देती है, लेकिन उक्त, अस्पष्ट और विवादास्पद कथन के आधार पर 'सर्व' शब्द के विशिष्ट स्वरूप के विषय में कहना उचित प्रतीत नहीं होता है। आचार्य देवराजयज्वन् उक्तपद के उदाहरण के रूप में निम्न निगम उद्धृत करते हैं:-''**सर्वमसि सर्वं मे भूयाः**''[५] परन्तु मूल अज्ञात होने से इसके मन्त्र होने में सन्देह है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल में उक्त 'सर्व' पद उदक अर्थ में प्रचलित नहीं था, सम्भवतः, ब्राह्मण काल में 'सर्व' के साथ उदक अर्थ का प्रचलन प्रारम्भ हुआ है। जहाँ तक 'सर्व' पद की व्युत्पत्ति का सम्बन्ध है, कहा जा सकता है कि उक्तपद का मूल 'सृ' धातु है। इसका कारण यह है कि सभी दृश्य पदार्थ आए और गए का आभास कराते हैं, इसलिये अर्थ की दृष्टि से भी 'सृ' धातु का साम्य 'सर्व' शब्द के साथ है।

७७. अक्षितम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'अक्षितम्' पद परिगणित है।[६] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'अक्षितम्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अक्षितम् (उदकम्)। क्षितं क्षयः, स यस्य न विद्यते, तदक्षितम्। सर्वदा सर्वैरुपभुज्यमानमपि स्वमहत्तया उपर्युपरि वर्षणाद्वा क्षयरहितमित्यर्थः**''[७] कि सर्वदा सब प्राणियों और वनस्पतियों के द्वारा उपभोग किये जाने पर भी इसका क्षय नहीं होता है या ऊपर ही ऊपर बरसने के कारण यह क्षय रहित है, अतः, उदक को 'अक्षित' कहा जाता है। इस पक्ष में 'न+'क्षि' क्षये'+क्त' से 'अक्षित' शब्द निष्पन्न होता है।

कौषीतकि-ब्राह्मण 'अक्षिति' पद का विवेचन करता हुआ कहता है:-''**श्रद्धैव सकृदिष्टस्याक्षितिः स**

---

१ ऋ० १.८४.४. ''सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः।''

२ ऋ० ३.१४.७. ''त्वं विश्वस्य सुरथस्य बोधि सर्वं तदग्ने अमृत स्वदेह।''

३ ऋ० १.०.६१.१९. ''इयं मे नाभिरिह मे सधस्थमिमे मे देवा अयमस्मि सर्वः।''

४ गो०ब्रा०, १.५.१५. ''आप एव सर्वम्।''

५ निघ०वृ०, १.१२.७६.

६ निघ० १.१२.७७.

७ निघ०वृ०, १.१२.७७.

य: श्रद्धानो यजते तस्येष्टं न क्षीयते''[१] कि जो श्रद्धापूर्वक यजन करता है, उसका इष्ट क्षीण नहीं होता है। इस पक्ष में 'न+'क्षि' से 'अक्षिति' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'न+क्षि' क्षये'+क्तिच्' से 'अक्षिति' पद को व्युत्पन्न मानता है। उसके अनुसार यह आदित्य और श्रवस् का विशेषणपद है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स सम्भवत:, 'अक्षित' का मूल 'न+'क्षि' क्षये' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार यह पद ऋग्वेद में क्षय या हानिरहित अर्थ में आया है।[४]

वैदिक साहित्य में 'अक्षित' का प्रयोग बहुत अधिक नहीं हुआ है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! हमारे लिये गो, अश्व आदि विस्तृत धन (या अन्न) तथा पूर्ण आयु देने वाला उदक धारण कराओ।[५] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार अश्वारोही अश्व को युद्ध की शिक्षा देने के लिये ले जाता है, उसी प्रकार मरुत् वेगवान् मेघ को वर्षा के लिये ले जाते हैं और फिर गरजते हुए क्षीण न होने वाले मेघ के उदक को दुह लेते हैं।[६] परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि इन्द्र की कृपा से गतिशील नदियाँ समान प्रयोजन वाले उदक से संयुक्त होती हैं।[७] पुनर्वत्स ऋषि कहते हैं कि कभी क्षीण उदक न होने वाले मेघ को दुहते हुए मरुत् उदक की बूँदों के समान द्यावापृथिवी को व्याप्त कर लेते हैं।[८] गोतम ऋषि पवमानदेवता के प्रकरण में कहते हैं कि हे सबका भरण-पोषण करने वाले देव! जब आप अतिशय वर्षा के लिये उच्च शिखर पर विराजमान होते हैं, तब तुम्हारे लिये या तुम्हारी कृपा से घृत, पय और उदक दुहा जाता है।[९] हरिमन्त ऋषि कहते हैं कि कर्मशील, क्रान्तदर्शी, मनीषी गर्जना करते हुए पारदर्शी अक्षीण सोम का दोहन करते हैं।[१०] बुध सौम्य ऋषि कहते हैं कि उत्तम जलप्रपा से युक्त, उत्तम रस्सियों वाले, सुन्दर प्रकार से सेचन करने योग्य अक्षीण उदक वाले कूप से सिंचाई की जाती है।[११] कौषीतकि-ब्राह्मण कहता है कि इन लोकों में व्याप्त उदक ही अक्षिति है।[१२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'अक्षित' है, जो पूर्ण आयु को

---

१ कौ०ब्रा०, ७.४.

२ वै०पद०को०, पृ० १८.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ०४.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०,०४.

५ ऋ० १.९.७. ''सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत्। विश्वायुर्धेह्यक्षितम्।''

६ ऋ० १.६४.६. ''अत्यं न मिहे वि नयन्ति वाजिनमुत्सं दुहन्ति स्तनयन्तमक्षित:।''

७ ऋ० १.१३०.५. ''इत ऊतीरयुञ्जत समानमर्थमक्षितम्।''

८ ऋ० ८.७.१६. ''ये द्रप्सा इव रोदसी धमन्त्यनु वृष्टिभि:। उत्सं दुहन्तो अक्षितम्।''

९ ऋ० ९.३१.५. ''तुभ्यं गावो घृतं पयो बभ्रो दुदुह्रे अक्षितम्। वर्षिष्ठे अधि सानवि।''

१० ऋ० ९.७२.६. ''अंशुं दुहन्ति स्तनयन्तमक्षितं कविं कवयोऽपसो मनीषिण:।''

११ ऋ० १०.१०१.६.''इष्कृताहावमवतं सुवरत्रं सुषेचनम्। उद्रिणं सिञ्चे अक्षितम्।''

१२ कौ०ब्रा०, ७.४. ''आपोऽक्षितिर्या इमा एषु लोकेषु याश्चेमा अध्यात्मम्।''

प्रदान करता है, इस क्षीण न होने वाले मेघ के उदक को मरुत् दुहते हैं, इन्द्र की कृपा से यह उदक नदियों में आता है, अश्वारोही के समान इन अक्षीण मेघों पर नियन्त्रण करके मरुत् उदक दुहते हैं, उच्च शिखर पर विराजमान देव की कृपा से घृत, मधु और उदक की वृष्टि होती है, क्रान्तदर्शी मनीषी इस अक्षीण सोम का दोहन करते हैं, कभी न सूखने वाले कूप से लोग सिंचाई करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में वह उदक 'अक्षित' है, जो मुख्यतया मेघ से प्राप्त होता है। यह उदक समय आने पर मिलता रहता है, अतः, ऋषि इसे 'अक्षित' के नाम से पुकारता है। उपर्युक्त अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि उदकवाचक की अपेक्षा यह उदक का एक विशेषण है। इस दृष्टि से विचार करने पर 'न+'क्षि' क्षये' को 'अक्षित' पद का मूल माना जा सकता है।

७८. बर्हिः

निघण्टुकोष के उदकवाची नामपदों में 'बर्हिः' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क 'बर्हिस्' का निर्वचन करते हुए कहते हैं-:''**बर्हिः परिबर्हणात्**''[२] जो चारों ओर से बढ़ती है, ऐसी घास का नाम 'बर्हिस्' है। उक्त निर्वचन के सम्बन्ध में आचार्य दुर्ग कहते हैं कि यह प्रसिद्ध कुशनिर्मित यज्ञाङ्ग है। यास्ककृत निर्वचन की व्याख्या दुर्ग '**परिच्छेदनात्**' से करते हैं, क्योंकि वह घास लूनकर्म में कुशल अथवा बढ़ने के स्वभाव वाली होती है।[३] इस प्रकार आचार्य यास्क और दुर्ग की दृष्टि में 'बर्हिस्' एक घास विशेष है, जिससे यज्ञ में काम आने वाला आसन निर्मित होता है।

आचाार्य देवराजयज्वन् अन्तरिक्ष अर्थ में 'बर्हिस्' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**बृंहते वर्द्धतेऽनेन प्राणिजातम्, सर्वे हि प्राणिनः आकाशे वर्द्धन्ते**''[४] कि इससे प्राणी समूह बढ़ता है अर्थात् सब प्राणी आकाश में वृद्धि को प्राप्त करते हैं। इसलिए अन्तरिक्ष को 'बर्हिस्' कहते हैं।

(ख)''**परिवृद्धं वा स्वयं विभुत्वात्**''[५] कि वह अपने विभुत्व से बढ़ा हुआ होता है। उपर्युक्त दोनों पक्षों में वृद्धि अर्थ वाली 'बृंह्' धातु से बर्हिस् शब्द व्युत्पन्न होता है। उणादिकोष से भी उक्त मत की पुष्टि होती है।[६]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'बृह्' धातु से 'बर्हिस्' पद को निष्पन्न मानता है। कोशकार के मत में अधिष्ठित दर्भासन, देव, पितृ प्रभृति अर्थों का यह विशेषणपद है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार भी 'बर्हिस्' का मूल 'बृह्' धातु है।[८] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में

---

१ निघ० १.१२.७८.
२ यास्क, निरु० ८.८.
३ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति ८.८.
४ निघ०वृ०, १.१२.७८.
५ निघ०वृ०, १.१२.७८.
६ उणा०२.१११. ''बृंहेर्नलोपश्च''।
७ वै०पद०को०, पृ० २२८२.
८ ऋ०वै०प०सू०,पृ०३६०.

यह पद यज्ञवेदी की घास, कुशासन, (सामान्यरूप से यह घास यज्ञवेदी पर बिछाई जाती है, जिस पर यजमान और देवता आसीन होते हैं,) के अर्थ में है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में 'बर्हिस्' का देवता के रूप में मूर्तीकरण हुआ है और इसकी गणना प्रयाज और अनुयाज नामक देवताओं में होती है।[१] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि यास्क ने 'बर्हिस्' का निर्वचन **'परिबर्हणात्'** किया है। सैन्ट पीटर्सबर्ग के अनुसार **'परिबर्हण'** का अर्थ विस्तार, वृद्धि है, लेकिन आचार्य दुर्ग **'परिबर्हणात्'** की व्याख्या **'परिच्छेनात्'** करते हैं और दुर्ग **'परिच्छेदन'** का अर्थ करते हैं:-**'लूनं हि तद्भवति परिवृद्धं वा'** जो काटने पर बढ़ती है, वह 'बर्हिस्' है।[२] इस प्रकार डॉ. वर्मा के मत में उक्त निर्वचन तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा स्वीकार किये जाने की पूर्ण सम्भावना है।

वैदिक साहित्य में 'बर्हिस्' का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि जिस अन्तरिक्ष में उदक का दर्शन होता है, मनीषी उस जल से भरे हुए 'बर्हिस्' (अन्तरिक्ष के प्रदेश विशेष) को विस्तृत करते हैं।[३] प्रस्कण्व ऋषि कहते हैं कि जिसमें भूमि, पवन और उदक स्थित हो सकते हैं, ऐसे अन्तरिक्ष में सर्वविद्याओं के ज्ञाता अश्विनीदेव मधुररस से यज्ञ (विज्ञान) को सङ्गत करते हैं।[४] मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि ये सोम के क्लेदनयुक्त बूँदें अन्तरिक्ष में अभिषुत हुई हैं, उनको इन्द्र बल के लिये पीता है।[५] गोतम ऋषि कहते हैं कि वह पूज्य इन्द्र द्यु(अन्तरिक्ष)लोक में गर्जना करता है और अपनी सन्तान के लिये उदक (बर्हिस्) को मेघ से छोड़ता है, उस समय मेघस्तुति (गर्जना) और उदकप्राप्ति से इन्द्र प्रसन्न होता है।[६] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि हिंसा न करने योग्य धेनुओं के समान किरणें अन्तरिक्ष में विराजमान होती हुई द्युलोकस्थ प्राणियों की सेवा करती हैं।[७] एक अन्य मन्त्र में अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि जिस अन्तरिक्ष में असङ्ख्य आदित्य विराजमान हैं, उस प्राचीन, सहस्रवीरों वाले अन्तरिक्ष को देवताओं ने अपने ओज से विस्तीर्ण किया।[८]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'बर्हिस्' पद उदक अर्थ में लगभग अप्रयुक्त है। वेद में यह प्राय: मुख्यरूप से कुशासन तथा कुछ गौणरूप से अन्तरिक्ष के अर्थ में आया है। जहाँ तक अन्तरिक्ष का सम्बन्ध है, यह ऐसे अन्तरिक्ष का प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है, जिसमें मेघ बनने से पूर्व उदक निवास करते हैं। निरुक्त के वृत्तिकारों के अनुसार आचार्य यास्क ने उक्तपद का निर्वचन 'कुश' के अर्थ में किया है। लेकिन उस निर्वचन की अन्तरिक्ष अर्थ के साथ भी सङ्गति लगायी जा सकती है। इस

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ७२२.

२ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ६०.

३ ऋ० १.१३.५. ''स्तृणीत बर्हिरानुषग्घृतपृष्ठं मनीषिणः। यत्रामृतस्य चक्षणम्।''

४ ऋ० १.४७.४. ''त्रिषधस्थे बर्हिषि विश्ववेदसा मध्वा यज्ञं मिमिक्षतम्।''

५ ऋ० १.१६.६. ''इमे सोमास इन्दवः सुतासो अधि बर्हिषि। ताँ इन्द्र सहसे पिब।''

६ ऋ० १.८३.६. ''बर्हिर्वा यत्स्वपत्याय वृज्यतेऽर्को वा श्लोकमाघोषते दिवि। ग्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्य१स्तस्येदिन्द्रो अभिपित्वेषु रण्यति।''

७ ऋ० १.१७३.१. ''गावो धेनवो बर्हिष्यदब्धा आ यत्सद्मानं दिव्यं विवासम्।''

८ ऋ० १.१८८.४. ''प्राचीनं बर्हिरोजसा सहस्रवीरमस्तृणम्। यत्रादित्या विराजथ।''

अन्तरिक्ष में तीनों लोक, तीनों धातुएँ और आदित्य विराजमान हैं। यह एक ऐसा अन्तरिक्ष है, जिसमें निरन्तर अणु का आकार बढ़ता रहता है। सम्भवतः, इसलिए आचार्य बृंहण अर्थ वाली 'बृंह्' धातु से 'बर्हिस्' को निष्पन्न करते हैं। इस प्रकार वृद्धि अर्थ वाली 'बृंह्' धातु को 'बर्हिस्' पद का मूल माना जा सकता है। जहाँ तक उदकवाचक गण में 'बर्हिस्' के परिगणित करने का प्रश्न है, ऐसा प्रतीत होता है कि उदक को धारण करने के कारण अन्तरिक्ष के प्रदेश विशेष को निघण्टुकार 'बर्हिस्' नाम से अभिहित कर रहे हैं।

७९. नाम

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'नाम' पद समाम्नात है।[१] आचार्य यास्क 'नाम' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं **''इदमपीतरन्नामैतस्मादेव। अभिसन्नामात्''**[२] कि गुण से अन्वित होने के कारण किसी वस्तु या व्यक्ति की संज्ञा को 'नाम' कहा जाता है। आचार्य के कथन का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि नाम वह है, जिसके उच्चारण करते ही वस्तु या व्यक्ति का स्वरूप ठीक उसी प्रकार स्पष्ट हो जाये, जिस प्रकार अनुचर नाम लेते ही हाथ जोड़कर उपस्थित हो जाता है। यह तत्काल अर्थप्रतीति ही आचार्य की दृष्टि में शब्द की नमनशीलता है। इस पक्ष में 'नम्' धातु से 'नाम' शब्द उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'नाम' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''नाम (उदकम्)। नमतेः। नम्यते पुरुषैर्देवतात्वात् नमयति नदीतीरनिकटवर्तिनो वेतसादीन्''**[३] कि देवता होने के कारण पुरुष इसके आगे झुकते हैं अथवा नदी के तट पर स्थित वेतस आदि को यह झुका देता है, अतः, उदक को 'नाम' कहा जाता है। इस पक्ष में 'नम्' धातु से औणादिक 'मनिन्' प्रत्यय होकर 'नाम' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''अथवा 'अम' गत्यादिषु' या 'अम' रोगे'। न अमन्ति गच्छन्त्यनेन। न हि स्नानपानोपयोगिजले विद्यमाने प्राणिनोऽन्यत्र गच्छन्ति''[४] कि दैनिक उपयोग के लिये आवश्यक जल वाले स्थान को छोड़कर लोग दूसरे स्थान पर नहीं जाते हैं, अतः, उदक को 'नाम' कहा जाता है। इस पक्ष में 'न+'अम्' से 'नाम' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष व्युत्पत्ति को सन्दिग्ध मानते हुए 'नाम' पद को 'नम्' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना व्यक्त करता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स कहते हैं कि यह 'नाम' पद का मूल न तो 'ज्ञा' धातु है और न 'म्ना'। इस प्रकार वे भी उक्तपद को अव्युत्पन्न मानने के पक्ष में हैं। मोनियर विलियम्स के अनुसार ऋग्वेद में 'नाम' पद संज्ञा के अर्थ में आया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद, अथर्ववेद और वाजसनेयि-संहिता में यह चरित्रगत विशेषता, चिह्न, प्रकृति, प्रकार,

---

१ निघ० १.१२.७९.

२ निरु० ४.२७.

३ निघ०वृ०, १.१२.७९.

४ निघ०वृ०, १.१२.७९.

५ वै०पद०को०, पृ० १७९०.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० २८६.

आकृति, मूलभूत चारित्रिक गुण आदि अर्थ में पाया जाता है।[१] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि भारोपीय भाषा में यह 'nomen' नाम के लिये तथा लैटिन में 'nomen' नाम के अर्थ में आया है। वे उक्त यास्कीय निर्वचन को '**सर्वाणि नामान्याख्यातजानि**' सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं।[२] वेद जहाँ 'नाम' पद का मूल 'नम्' और 'मन्' धातु को मानने का सङ्केत देता है,[३] वहीं उणादिकोष उक्तपद का उद्गम 'म्ना'+मनिन्' धातु को मानता है।[४] इस प्रकार 'नाम' पद की व्युत्पत्ति के विषय में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है।

वैदिक साहित्य में 'नाम' पद का व्यापक प्रयोग प्राप्त होता है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि यज्ञ के योग्य नाम (उदक) को धारण करते हुए मरुत् (वायु) ने स्वधा (स्वयं धारण किये जाने वाले उदक) को गर्भरूप में स्थित होने के लिये प्रेरित किया। इसके अनन्तर वर्षा होती है।[५] पराशर ऋषि कहते हैं कि मनुष्यों ने यज्ञ से उत्पन्न उदकों को धारण किया और उससे सुन्दर उत्पन्न शरीरों को प्राप्त किया।[६] ऋषि कहता है कि जब इस इन्द्र को स्तुतियुक्त कर्म प्राप्त होते हैं, उसके पश्चात् मनुष्य यज्ञिय उदकों को धारण करते हैं।[७] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहता है कि वह इन्द्र मनुष्यों के वर्षों (युगों) को बतलाता हुआ यश के कारण मघवा नाम को धारण करता है। शोषक (दस्यु) मेघों का वध करने के लिये उनके समीप जाता हुआ इन्द्र सन्तान और अन्न के लिये उदक (नाम) को धारण करता है।[८] उक्त मन्त्र में एक 'नाम' पद 'संज्ञा' अर्थ में आया है तथा द्वितीय 'उदक' के अर्थ में है। एक अन्य मन्त्र में आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि वृत्र का हनन करने वाले इन्द्र और अग्नि एक साथ प्रकट होकर, वृत्रवध के लिये एक साथ गमन करते हुए कल्याणकारी उदककर्म को सम्पन्न करते हैं।[९] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि जहाँ आदित्य से निर्गत होने वाली सप्त रश्मियाँ परस्पर सङ्गत होती हैं और जहाँ सर्पणस्वभाव वाला नाम (उदक) स्थित है, वह आदित्यमण्डल है।[१०] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि वह द्योतमान, कीर्तिमान्, अतिशय दर्शनीय इन्द्र मनुष्य के लिये ऊपर मेघ में स्थित उदक को प्रदान करने में प्रवृत्त हो।[११] एक अन्य मन्त्र में गृत्समद ऋषि कहते हैं कि सङ्गत होते हुए

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ३५६.

२ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ८९, १३६.

३ ऋ० १.५३.७. ''नम्या यदिन्द्र सख्या परावति निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम्।'' यजु०, ७.२९. ''कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि। यस्य ते नामामन्महि।''

४ उणा०, ४.१५२. ''नामन्सीमन्व्योमन्रोमन्लोमन्पाप्मन्ध्यामन्।''

५ ऋ० १.६.४. ''आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। दधाना नाम यज्ञियम्।''

६ ऋ० १.७२.३. ''नामानि चिद्दधिरे यज्ञियान्यसूदयन्त तन्वः१ सुजाताः।''

७ ऋ० १.८७.५. ''यदीमिन्द्रं शम्यृक्वाण आशतादिन्नामानि यज्ञियानि दधिरे।''

८ ऋ० १.१०३.४. ''तदूचुषे मानुषे मा युगानि कीर्तेन्यं मघवा नाम बिभ्रत्। उपप्रयन्दस्युहत्याय वज्री यद्ध सूनुः श्रवसे नाम दधे।''

९ ऋ० १.१०८.३. ''चक्राथे हि सध्र्य१ङ्नाम भद्रं सध्रीचीना वृत्रहणा उत स्थः।''

१० ऋ० १.१६४.३. ''सप्त स्वसारो अभि सं नवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम।''

११ ऋ० २.२०.६. ''स ह श्रुत इन्द्रो नाम देव ऊर्ध्वो भुवन्मनुषे दस्मतमः।''

द्यावापृथिवी यजमान को सौभाग्यकारिणी द्युलोक की वृष्टि से पोषण करते हैं।[१] एक अन्य स्थान पर गृत्समद ऋषि कहते हैं कि इस 'अपां नपात्' देव का रश्मिसमूह सुन्दर है और इसका उदक (नाम) भी सुन्दर है। यह मेघों में स्थित होकर वृद्धि प्राप्त करता है। सङ्गमन स्वभाव वाले उदक हिरण्य के समान तेज वाले जिस 'अपां नपात्' को इस अन्तरिक्ष में सम्यक् दीप्त करते हैं, ऐसे देव का क्षरणशील उदक अन्न है।[२] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि सम्पूर्ण ज्ञातव्य पदार्थों को जानने वाला महान् अग्नि स्तुत्य मनोहर जल का निर्माण करता है।[३] प्रजापति ऋषि कहते हैं कि वृष्टि करने वाला बलशाली इन्द्र इन उदकों का स्वामी है तथा ये अमृतरूप उदक उस विश्वरूप इन्द्र में स्थित हैं।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'नाम' है, जिसे मरुत् यज्ञ के द्वारा दिये जाने के लिये धारण करते हैं, मनुष्य यज्ञ से उत्पन्न उदकों को धारण करके सुन्दर शरीर को प्राप्त करते हैं, स्तुति होने पर इन्द्र यज्ञीय उदकों को प्रदान करता है, दस्यु का वध करने के लिये अग्रसर होता हुआ इन्द्र सन्तान और अन्न के लिये उदक को धारण करता है, इन्द्र और अग्नि एक साथ मिलकर उदक कर्म को सम्पन्न करते हैं, सर्पण स्वभाव वाले उदक (नाम) का निवास आदित्यमण्डल में है, यह उदक इन्द्र की कृपा से मेघ से प्राप्त होता है, द्यावापृथिवी यजमान को सौभाग्यकारिणी द्युलोक की वृष्टि से पोषण करते हैं, कहीं ऋषि ने 'अपां नपात्' देव के रश्मिसमूह तथा उदक को सुन्दर बताया है, सर्वज्ञ अग्नि मनोहर जलों का निर्माण करता है, इस उदक को अमृतरूप कहा गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ऋषि की दृष्टि में 'नाम' के साथ यज्ञ और मेघ का विशेष सम्बन्ध दृष्टिगत होता है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि वेद की दृष्टि में वह उदक 'नाम' है, जो यज्ञ के द्वारा प्राप्त होता है। यज्ञ के प्रभाव से वर्षा के लिये प्रवृत्त होते हुए मेघों के नम्र हो जाने के कारण उदक को 'नाम' पद से अभिहित किया गया है। इस दृष्टि से विचार करने पर विना किसी सङ्कोच के 'नम्' धातु को 'नाम' पद मूल माना जा सकता है।

८०. सर्पिः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'सर्पिस्' पद परिगणित है।[५] काठक एवं कपिष्ठलकठ-संहितायें 'सर्पिस्' के मूल में निहित आशय को स्पष्ट करती हुई कहती हैं:-''**यत्सृप्तमिति तत्सर्पिषः सर्पिष्ट्वम्**''[६] कि बह जाना यह 'सर्पिस्' का सर्पित्व है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'सृप्' धातु से 'सर्पिस्' शब्द निष्पन्न होता है।

---

१ ऋ० २.२७.१५. ''उभे अस्मै पीपयतः समीची दिवो वृष्टिं सुभगो नाम पुष्यन्।''

२ ऋ० २.३५.११. ''तदस्यानीकमुत चारु नामापीच्यं वर्धते नप्तुरपाम्। यमिन्धते युवतयः समित्था हिरण्यवर्णं घृतमन्नमस्य।''

३ ऋ० ३.५.६. ''ऋभुश्चक्र ईड्यं चारु नाम विश्वानि देवो वयुनानि विद्वान्।''

४ ऋ० ३.३८.४. ''महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ।''

५ निघ० १.१२.८०.

६ काठ०सं० २४.७. कपि०कठ०सं० ३७.८.

तैत्तिरीय-संहिता कहती है:-''**यदसर्पत् तत् सर्पिरभवत्**''[१] कि जो सरक ज़ाता है, वह 'सर्पिस्' है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है। कुछ इसी प्रकार का निर्वचन मैत्रायणी-संहिता में भी प्राप्त होता है।[२]

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'सर्पिस्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**सर्पिः (उदकम्)। 'सृप' गतौ'। सर्पति द्रवद्रव्यत्वात्**''[३] कि द्रव्य होने के कारण तरल पदार्थ बह जाता है, अतः, उदक को 'सर्पिस्' कहा जाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष ने व्युत्पत्ति को सन्दिग्ध मानते हुए 'सृप्' धातु से 'सर्पिस्' पद के व्युत्पन्न होने की सम्भावना प्रकट की है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'सर्पिस्' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'सर्प' से 'सर्पिस्' पद उपपन्न करने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद 'घृत' अर्थ में आया है।[६]

वैदिक साहित्य में 'सर्पिस्' पद का पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में पवित्र ऋषि पावमानी की स्तुति करते हुए कहते हैं कि ऋषियों द्वारा अध्यात्मविद्या से पूर्ण पावमानी ऋचाओं का अध्ययन करने वाले के लिये सरस्वती स्वयं क्षीर, घृत, मधु और उदक का दोहन करती है।[७] सङ्कुसुको वामायन ऋषि कहते हैं कि पतियुक्त ये स्त्रियाँ उत्तम पत्नी होकर काजल और घृत आदि से सुशोभित होती हुई अपने घर जायें।[८] वसुक्र ऐन्द्र ऋषि कहते हैं कि सविता (सबके प्रेरक) देव ने यह कहा है कि काष्ठ और घी को अन्नवत् खाने वाला अग्नि हवि का भोक्ता है।[९] सुमित्र वाध्र्यश्व ऋषि कहते हैं कि घृत से हुत अग्नि अधिक विस्तार को प्राप्त होता है तथा घृत की आहुति दिये जाने पर यह अग्नि सूर्य के समान दीप्त होता है।[१०] वैवस्वत मनु ऋषि कहते हैं कि सम्यक्रूप से द्युलोक में विराजमान मित्रावरुण एक दूसरे की उपमा हैं। घृत की आहुति प्राप्त करने वाले इन दोनों (मित्रावरुण) ने अपना स्थान बना लिया है।[११] गोपवन आत्रेय ऋषि कहते हैं कि घृतादि साधनों से सम्पन्न मनुष्य घृत वाली स्तुतियों से मित्र के समान अग्नि की स्तुति करते हैं।[१२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'सर्पिस्' है, जिससे स्त्री सुशोभित होती है, काष्ठ के समान अग्नि इसका भोक्ता है, इसको पाकर अग्नि सूर्य के समान दीप्त हो जाता है, घृत की

---

१ तै०सं० २.३.१०.४.
२ मै०सं० २.३.४. ''यदसर्पत् तत् सर्पिः।''
३ निघ०वृ०, १.१२.८०.
४ वै०पद०को०, पृ० ३३२४.
५ ऋ०वै०पद०, पृ० ५५९.
६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ११८४.
७ ऋ० ९.६७.३२. ''पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्। तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्।''
८ ऋ० १०.१८.७. ''इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु।''
९ ऋ० १०.२७.१८. ''अयं देव सविता तदाह द्रवन्नः इद्वनवत्सर्पिरन्नः।''
१० ऋ० १०.६९.२. ''घृतेनाहुत उर्विया वि पप्रथो सूर्यइव रोचते सर्पिरासुतिः।''
११ ऋ० ८.२९.९. ''सदा द्वा चक्राते उपमा दिवि सम्राजा सर्पिरासुती।''
१२ ऋ० ८.७४.२. ''यं जनासो हविष्मन्तो मित्रं सर्पिरासुतिम्। प्रशंसन्ति प्रशस्तिभिः।''

आहुति प्राप्त करने के कारण मित्रावरुण 'सर्पिरासुती' (घृत की आहुति प्राप्त करने वाले) नाम से अभिहित होते हैं, अग्नि को भी वेद 'सर्पिरासुति' नाम से पुकारता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में 'घृत' को 'सर्पिस्' नाम से अभिहित किया गया है। उष्णता के प्रभाव से स्वतः पिघलने के कारण घृत को 'सर्पिस्' कहा जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर गत्यर्थक 'सृप्' धातु को 'सर्पिस्' पद का मूल माना जा सकता है। सम्भवतः, निघण्टुकार 'घृत' को भी उदक मानने के पक्ष में हैं। इसलिये वे 'सर्पिस्' का परिगणन उदकवाचक गण में करते हैं। इस कथन के समर्थन में 'क्षीर, घृत आदि शब्दों को प्रस्तुत किया गया है।

निघण्टुकार ने हिरण्यवाचक गण में प्रायः अन्य धातुओं का भी समाहार कर लिया है, ठीक इसी प्रकार वे उदकवाचक गण में तरल पदार्थों का अभिधान करने वाले शब्दों का परिगणन करते दिखायी देते हैं। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि निघण्टुकार ने प्रस्तुत प्रकरण में उदक से भिन्न पर उदक के समान तरल पदार्थों के वाचक शब्दों का समाम्नान किया है। इसे विसङ्गति न मानकर निघण्टुकार की शैली माना जाना चाहिये।

८१. अपः

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'अपः' पद परिगणित है।[१] इससे पूर्व निघण्टुकार ने उक्त गण में 'आपः' पद का भी परिगणन किया है।[२] व्याकरण तथा कोशकारों के मत को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि मूलतः, ये दो शब्द न होकर एक शब्द है, अतः, जो निर्वचन और व्युत्पत्ति 'आपः' की है, वही 'अपः' की भी है।

वैदिक साहित्य में 'अपः' का व्यापक प्रयोग देखने को मिलता है। यहाँ तक कि इसका 'आपः' की अपेक्षा अधिक प्रयोग पाया जाता है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि शत्रुवध करते हुए इन्द्र को द्युलोक और पृथ्वीलोक अपनी महिमा से व्याप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार का इन्द्र द्युलोक से जलों एवं गायों को हमारे लिये प्रेरित करे।[३] मेधातिथि ऋषि आपः देवता के प्रकरण में कहते हैं कि जहाँ सूर्य किरणें (गावः) समुद्र और नदियों के दिव्यगुण वाले जलों को पीती हैं, वहाँ मैं हवन करने के लिये इन्द्र का आह्वान करता हूँ।[४] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि उदकादि में गर्भरूप से अन्तर्हित रहने वाले इस अग्नि को कौन जानता है? ऐसा यह अग्नि मेघस्थ उदकों का वैद्युत अग्नि के रूप में पुत्रस्थानीय होता हुआ मातृस्थानीय उदकों को अपनी स्वधा से उत्पन्न करता है। प्रचुर उदकों के गर्भ से उत्पन्न होने से यह स्वधावान् अग्नि महान् क्रान्तदर्शी होकर निरन्तर गतिशील बना रहता है।[५] विश्वामित्र ऋषि अग्निदेवता के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह महान् अग्नि बाधारहित अन्तरिक्ष में उदकों को बढ़ाता है तथा प्रचुर, व्यापनशील उदक इस अग्नि को

---

१ निघ० १.१२.८१.

२ निघ० १.१२.५३.

३ ऋ० १.१०.८. "नहि त्वा रोदसी उभे ऋघायमाणमिन्वतः। जेषः स्वर्वतीरपः सं गा अस्मभ्यं धूनुहि।"

४ ऋ० १.२३.१८. "अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः। सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः।"

५ ऋ० १.९५.४. "क इमं वो निण्यमा चिकेत वत्सो मातॄर्जनयत स्वधाभिः। बह्वीनां गर्भो अपसामुपस्थान्महान्कविर्निश्चरति स्वधावान्।"

बढ़ाते हैं। यह दान मन वाला अग्नि उदक की योनि अन्तरिक्ष में स्वयं सरणशील एवं उत्पन्न करने के स्वभाव वाले उदकों में शयन करता है।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋषि ने 'अप:' और 'आप:' का एक साथ और एक ही मन्त्र में प्रयोग किया है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि वेद की दृष्टि में 'अप:' और 'आप:' ये भिन्न मूल के दो शब्द न होकर अर्थ और ध्वनिरूप की दृष्टि से एक ही हैं। अत:, निघण्टुकार ने किस कारण 'आप:' का परिगणन हो जाने के पश्चात् भी 'अप:' का समाम्नान उक्त गण में किया है, समझ से परे है। इससे पूर्व के अन्य गणों के गठन में निघण्टुकार की उक्त शैली के दर्शन नहीं होते हैं। इसे निघण्टुकार की अज्ञानता माना जाये या इसके मूल में कोई अन्य रहस्य अन्तर्निहित है। जहाँ तक उक्त समस्या का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि प्रथम सम्भावना क्षीण है। सम्भवत:, निघण्टुकार ने अधिक स्पष्टता के लिये 'अप:' का पुन: परिगणन किया है।

८२. पवित्रम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'पवित्र' पद परिगणित है।[२] शतपथ-ब्राह्मण 'पवित्र' शब्द का निर्वचन करता हुआ कहता है:-''**अयं वै पवित्रं योऽयं (वायु:) पवते**''[३] कि पवित्र स्वभाव की होने से वायु को 'पवित्र' कहा जाता है। इस पक्ष में 'पू' धातु से 'पवित्र' शब्द निष्पन्न होता है।

काठक-सङ्कलन कहता है:-''**येन देवा: पवित्रेणात्मानं पुनते सदा सहस्रधारेण पवमान: पुनातु मा**''[४] कि जिस पवित्र सहस्रधारा से देवता अपने को पवित्र करते हैं, वह पवमानदेव मुझे पवित्र करें। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

आचार्य यास्क 'पवित्र' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**पवित्रं पुनाते:**''[५] कि जो शुद्ध है या जिससे शुद्ध किया जाता है, वह पवित्र है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'पवित्र' शब्द का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**पवित्रम् (उदकम्)। 'पूञ्' पवने'। पुनात्यनेनात्मानं स्नात:**''[६] कि इससे स्नान करके अपने को पवित्र करते हैं, अत:, उदक को 'पवित्र' कहा जाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'पू' धातु से 'पवित्र' शब्द को व्युत्पन्न मानता है। उसके अनुसार उक्तपद का

---

१ ऋ० ३.१.११. ''उरौ महाँ अनिबाधे ववर्धापो अग्निं यशस: सं हि पूर्वी:। ऋतस्य योनावशयद्दमूना जामीनामग्निरपसि स्वसृणाम्।''

२ निघ० १.१२.८२.

३ शत०ब्रा०, १.१.३.२, ७.१.१२.

४ काठ०संक०, ९६.२.

५ निरु० ५.६.

६ निघ०वृ०, १.१२.८२.

विशेषण एवं नाम दोनों रूपों में प्रयोग होता है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स भी 'पवित्र' शब्द की उक्त व्युत्पत्ति से सहमत हैं।[२] मोनियर विलियम्स के अनुसार ऋग्वेद में 'पवित्र' शब्द शुद्धि के साधन, अशुद्धि निवारण उपकरण, छलनी, छानने का वाला पट (धागा, बाल या पुआल से निर्मित छानने का पट जो फल, विशेषरूप से, सोम को शुद्ध करने के काम में आता है।)। इसके अतिरिक्त यह ऋग्वेद में बुद्धि को शुद्ध करने वाले साधन के अर्थ में भी आया है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि भारोपीय भाषा में 'pu' शुद्ध करने के अर्थ में तथा लैटिन में 'purus' शुद्ध के अर्थ में है। अत:, उनके अनुसार उक्त यास्कीय निर्वचन तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार किये जाने योग्य है।[४] वेद से प्राप्त सङ्केतों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि 'पवित्र' शब्द 'पू' धातुमूलक है।[५]

वैदिक साहित्य में 'पवित्र' शब्द का प्रचुर प्रयोग उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि जलादि पदार्थों से बढ़ने वाले तिर्यक् (दुष्प्राप्य) पवित्र इन्द्र को प्राप्त कर हम आनन्द प्राप्त करें।[६] एक अन्य स्थान पर मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि हे दिव्यगुण सम्पन्न सोम! हमें शीघ्र पवित्र करो।[७] असित काश्यप ऋषि कहते हैं कि हे क्रीडनशील परमात्मन्! आप यज्ञ के समान दान करने वाले हैं और पवित्र व्यक्ति को प्राप्त होते हैं।[८] एक अन्य सूक्त में असित काश्यप ऋषि कहते हैं कि हे परमात्मन्! आप पवित्र अन्त:करण में निवास करते हो।[९] दृळ्हच्युत आगस्त्य ऋषि कहते हैं कि हे आनन्दस्वरूप भगवन्! आप हमें आनन्द की धारा से पवित्र करें।[१०] भार्गव ऋषि कहते हैं कि हे परमात्मन्! आप ज्ञान और क्रिया की प्राप्ति के लिये हमारे हृदय को पवित्र आनन्द की धारा से शुद्ध करें।[११] उचथ्य ऋषि कहते हैं कि हे सर्वज्ञ परमात्मन्! हमें अभिषुत धारा से पवित्र बनाओ।[१२] अमीहयु ऋषि कहते हैं कि हे परमात्मन्! आपकी पवित्र ऊर्मियाँ (आच्छादक शक्तियाँ) धारा के रूप में क्षरित हो रही हैं। हे सोम! उनके द्वारा हमें सुख प्रदान कीजिये।[१३] जमदग्नि ऋषि कहते हैं कि रक्षा के लिये प्रवहमान आनन्द की वर्षा करने वाली पवित्र धाराओं से मुझे अनुगृहीत करो।[१४] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में जमदग्नि ऋषि कहते हैं कि हे पवमानदेव! आप सत्य को धारण करने वाले क्रान्तदर्शी एवं

---

१ वै०पद०को०, पृ० २०६७.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ३२९. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ६११.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ६११.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ४७.

५ ऋ० ३.१.५; २६.८; ३१.१६; ३६.७; ९.२४.६; ६७.२४; ७३.७; यजु०, १.३; ३१; ४.४; १९.३.

६ ऋ० ८.१.१५. ''तिर: पवित्रं ससृवांस आशवो मन्दन्तु तुग्र्यावृध:।''

७ ऋ० ९.२.१. ''पवस्व देववीरति पवित्रं सोम रंह्या।''

८ ऋ० ९.२०.७. ''क्रीळुर्मखो न मंहयु: पवित्रं सोम गच्छसि।''

९ ऋ० ९.२४.५. ''इन्दो यदद्रिभि: सुत: पवित्रं परिधावसि। अरमिन्द्रस्य धाम्ने।''

१० ऋ० ९.२५.६. ''आ पवस्व मदिन्तम पवित्रं धारया कवे।''

११ ऋ० ९.४९.४. ''स न ऊर्जे व्य१व्ययं पवित्रं धाव धारया।''

१२ ऋ० ९.५१.८. ''अभ्यर्ष विचक्षण पवित्रं धारया सुत:।''

१३ ऋ० ९.६१.५. ''ये ते पवित्रमूर्मयोऽभिक्षरन्ति धारया। तेभिर्न: सोम मृळय।''

१४ ऋ० ९.६२.७. ''यास्ते धारा मधुश्चुतोऽसृग्रमिन्द्र ऊतये। ताभि: पवित्रमासद:।''

सौम्य हैं, आप पवित्र को प्राप्त होते हैं।[१] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि यह परमात्मा सब प्रकार से स्तुति किये जाने पर अज्ञान निवृत्ति हेतु पवित्र हृदय में प्रकाशित होता है।[२] काठक-संहिता तथा जैमिनीय-ब्राह्मण आपः को पवित्र बतलाता है।[३] शतपथ-ब्राह्मण से भी उक्त कथन का समर्थन हो जाता है।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में अनेकशः पवित्र शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। कहीं यह इन्द्र का विशेषण है तो कहीं यह सोम और उसकी धारा का। वेद के शब्दों से यह आनन्द की धारा अधिक प्रतीत होती है। जो भी आनन्द की धारा में अवगाहन कर लेता है, फिर उसके अपवित्र रह जाने का कोई प्रश्न नहीं है। ऋग्वेद के प्रथम आठ मण्डलों में 'पवित्र' शब्द का प्रयोग दो चार बार हुआ है, जबकि पवमान सोम देवता से सम्बन्धित नवम मण्डल में उक्तपद का प्रयोग अधिसङ्ख्य बार हुआ है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि सोम और पवित्रता का परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में सोम की धारा पवित्र मानी गयी है और जो सोम को प्राप्त कर लेता है, वह पवित्र हो जाता है अर्थात् सोम साधन है और पवित्रता उसकी परिणति है। इस विषय में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'पवित्र' शब्द 'उदक' का वाचक नहीं है, परन्तु वह सोम या परमात्मा का विशेषण अवश्य है। ब्राह्मणग्रन्थ उदक को 'पवित्र' कहते हैं, लेकिन वहाँ भी वह नामकरण न होकर उदक के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करता है। सम्भवतः, निघण्टुकार ने रसरूप होने के कारण सोम (पवित्र) को उदक माना है और उस सोम के साथ 'पवित्र' शब्द का निकट सम्बन्ध है, अतः, 'पवित्र' शब्द का परिगणन उदकवाचक गण में किया है, परन्तु यहाँ यह अस्पष्ट है कि निघण्टुकार ने पवित्र की तरह 'सोम' का परिगणन उदकवाचक गण में क्यों नहीं किया? इस विषय में केवल यह कहा जा सकता है कि निघण्टुकार की शैली अनिश्चित और अस्पष्ट है। इसलिये उसके विषय में अन्तिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि 'पवित्र' शब्द 'पू' धातुमूलक है।

८३. अमृतम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'अमृत' पद परिगणित है।[५] आचार्य यास्क 'अमृत' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अमरणधर्माणौ**''[६] कि जो मरण धर्म से रहित है, वह 'अमृत' है। इस पक्ष में 'न+'मृ' से 'अमृत' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'अमृत' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अमृतम् (उदकम्)। नञ् पूर्वात् म्रियतेः। न म्रियन्ते हि प्राणिनोऽनेन पीतेन**''[७] कि इसका पान करने से प्राणी मरते नहीं

---

१ ऋ० ९.६२.३०. ''पवमान ऋतः कविः सोमः पवित्रमासदत्।''

२ ऋ० ९.६७.२२. ''एष तुन्नो अभिष्टुतः पवित्रमतिगाहते।''

३ काठ०सं० ८.८. ''आपो वै पावकाः।''जै०ब्रा०, १.१२१. ''आपो वै पवित्रम्।''

४ शत०ब्रा०, १.१.१.१; ३.१.२.१०. ''पवित्रं (मेध्या) वाऽआपः।''

५ निघ० १.१२.८३.

६ निरु० २.२०.

७ निघ०वृ०, १.१२.८३.

हैं, अतः, उदक को 'अमृत' कहते हैं। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'न+'मृ'+क्त' से 'अमृत' पद को व्युत्पन्न मानता है। उसके अनुसार वेद में उक्तपद का विशेषण, नामपद एवं भावपद के रूप में प्रयोग हुआ है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अमृत' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स 'अमृत' पद को 'न+मृत' से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद और वाजसनेयि-संहिता में यह पद शाश्वत, अविनाशी, अनश्वर अर्थ में आया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में यह ईश्वर अधिष्ठाता अर्थ का वाचक भी है।[३] वेद से प्राप्त सङ्केत भी मृत्यु और अमृत को समान धातुमूलक सिद्ध करते हैं।[४]

वैदिक साहित्य में 'अमृत' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि जिस अन्तरिक्ष में उदक (अमृत) का दर्शन होता है, मनीषी उस जल से भरे हुए 'बर्हिस्' (अन्तरिक्ष के प्रदेश विशेष) को विस्तृत करते हैं।[५] एक अन्य स्थान में मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि जलों के अन्तस् में अमृत है, जलों में ही औषध है। उन्नति के लिये उदकविज्ञान को जानो।[६] प्रस्कण्व ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! तुम सम्पूर्ण अमृत (उदक) का भोजन (पालन) करने वाले हो, इसलिये मैं तुम्हारी स्तुति करूँगा।[७] पराशर ऋषि कहते हैं कि सुन्दर व्यवहार करने वाले मित्रावरुण राजा किरणों में अमृत (उदक) की रक्षा करते हुए वर्तमान रहते हैं।[८] एक अन्य मन्त्र में पराशर ऋषि कहते हैं कि उदकों का स्वामी अग्नि उदकों में विद्यमान रहता है तथा साथ ही सम्पूर्ण अमृतों (उदकों) का निर्माण करता है।[९] राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार कामना करने वाला काव्य को प्राप्त करता है, उसी प्रकार इन्द्र रश्मियों को प्राप्त करता है। यम (सूर्य) के साथ उत्पन्न अमृत (उदक) का हम आह्वान करते हैं।[१०] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि हे अश्विनीदेवो! तुम दोनों द्युलोक में उत्पन्न होने वाले वृष्ट्युदक से सम्पूर्ण प्रजाओं को उदक देने में समर्थ होते हो।[११] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि आदित्यमण्डल में सुपतनशील रश्मियाँ उदक के भाग को लेकर निरन्तर ज्ञानपूर्वक उदककर्म सम्पन्न करती हैं।[१२] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि मार्जन आदि के द्वारा अलङ्कृत करने के पश्चात् वेदि

---

१ वै०पद०को०, पृ० ४६०.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ५१.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ८२.

४ यजु०, ३.६०. ''मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्।

५ ऋ० १.१३.५. ''स्तृणीत बर्हिरानुषग्घृतपृष्ठं मनीषिणः। यत्रामृतस्य चक्षणम्।''

६ ऋ० १.२३.१९. ''अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजामपामुत प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः।''

७ ऋ० १.४४.५. ''स्तविष्यामि त्वामहं विश्वस्यामृत भोजनम्।''

८ ऋ० १.७१.९. ''राजाना मित्रावरुणा सुपाणी गोषु प्रियममृतं रक्षमाणा।''

९ ऋ० १.७२.१. ''अग्निर्भुवद्रयिपती रयीणां सत्रा चक्राणो अमृतानि विश्वा।''

१० ऋ० १.८३.५. ''आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे।''

११ ऋ० १.११२.३. ''युवं तासां दिव्यस्य प्रशासने विशां क्षयथो अमृतस्य मज्मना।''

१२ ऋ० १.१६४.२१. ''यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।''

में अग्नि को प्रदीप्त तथा उसमें अमृत (उदक) के प्रज्ञापक यज्ञ का विस्तार करें।[१] एक अन्य मन्त्र में अगस्त्य ऋषि सुन्दररूप वाले द्यावापृथिवी को उदक धारण करने वाला बतलाते हैं।[२] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि अगाध द्यावापृथिवी के विस्तृत अन्तरिक्ष में अमृत (उदक) को दुहती हुई अग्नि स्थित होती है। जिस प्रकार गुहास्थित अग्नि दिखलायी नहीं पड़ती है, उसी प्रकार यह उदक में गूढ रूप से रहती है।[३] देवश्रवा और देववात ऋषि कहते हैं कि नाश या क्षीण होता हुआ भी अग्नि उदकों में जरारहित होकर रहता है तथा यह जातवेद अग्नि अमृत (उदक) को धारण करता है।[४] हविर्धान ऋषि कहते हैं कि अग्निदेव से आवृत अमृत (उदक) जब उत्पन्न होता है, तब वह पृथिवी को धारण करता है।[५] कवष ऐलूष ऋषि कहते हैं कि विद्युत् गर्जना के साथ बरसने वाला उदक धनों का स्थान है, यह उदक कर्म, कल्याण और अमृत को धारण करता है।[६] काठक-सङ्कलन कहता है कि देवताओं और असुरों ने उदक के रस का मन्थन किया, उसके मन्थन से अमृत प्रकट हुआ और उस अमृत से जो रस सब ओर प्रवाहित हुआ वह सोम है, यही सोम का सोमत्व है।[७] गोपथ-ब्राह्मण कहता है कि जो भेषज है, वह अमृत है और जो अमृत है, वह ब्रह्म है।[८] तैत्तिरीय-संहिता तथा मैत्रायणी-संहिता भी उदक में अमृत और भेषज को स्थित मानती हैं।[९] ब्राह्मण आपः को अमृत नाम से पुकारते हैं।[१०]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'अमृत' है, जिसका दर्शन अन्तरिक्ष में होता है, कहीं ऋषि अमृत और भेषज को उदक में स्थित बतलाता है, अग्नि अमृतरूप उदक का पालन कर्ता है, कहीं ऋषि मित्रावरुण को रश्मियों के माध्यम से अमृत की रक्षा करने वाला बतलाता है, उदकों में विद्यमान रहता हुआ अग्नि सम्पूर्ण उदकों (अमृतों) का निर्माण करता है, इस उदक को ऋषि यम के साथ उत्पन्न होने वाला कहता है, द्यावापृथिवी वृष्ट्युदक के बल से प्रजा की रक्षा करते हैं, आदित्य रश्मियाँ अमृत (उदक) का भाग लेकर उदक कार्य को सम्पन्न करती हैं, कहीं ऋषि अमृत का परिचय कराने वाले यज्ञ का विस्तार करने का अनुरोध करता है, इस उदक का दोहन अग्नि करती है, क्षीण होता हुआ भी अग्नि उदकों में

---

१ ऋ० १.१७०.४. ''अरं कृण्वन्तु वेदिं समग्निमिन्धतां पुरः। तत्रामृतस्य चेतनं यज्ञं ते तनवावहै।''

२ ऋ० १.१८५.६. ''दधाते ये अमृतं सुप्रतीको द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्।''

३ ऋ० ३.१.१४. ''गुहेव वृद्धं सदसि स्वे अन्तरपार ऊर्वे अमृतं दुहानाः।''

४ ऋ० ३.२३.१. ''जूर्यत्स्वग्निरजरो वनेष्वत्रा दधे अमृतं जातवेदाः।''

५ ऋ० १०.१२.३. ''स्वावृग्देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी।''

६ ऋ० १०.३०.१२. ''आपो रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च।''

७ काठ०संक०२२:१-२. ''देवाश्च वा असुराश्चापां रसममन्थस्तस्मान्मथ्यमानादमृतमुदतिष्ठत् ततो यः सर्वतो रसः समस्रवत् स सोमस्तत्सोमस्य सोमत्वम्।''

८ गो०ब्रा०, १.३.४. ''यद्भेषजं तदमृतं यदमृतं तद् ब्रह्म।''

९ तै०सं० १.७.७.१-२. मै०सं० १.११.१. ''अप्स्वन्तरममृतमप्सु भेषजम्।''

१० शत०ब्रा०, १.९.३.७. तै०आ०, १.२६.७. कौ०ब्रा०, १२.१. 'अमृतं वा आपः।'' ऐ०ब्रा०, ८.२०. ''अमृतं वा एतदस्मिन् लोके यदापः।'' तै०सं० २.६.८. गो०ब्रा०, २.१.३. तै०ब्रा०, १.७.६.३. शत०ब्रा०, ३.९.४.१६. ''अमृतमापः।''

जरारहित होकर निवास तथा उदकों को धारण करता है, अग्निदेव से आवृत उदक पृथिवी को धारण करता है, इस उदक से कर्म सम्पन्न होते हैं, उससे कल्याण होता है और यह अमृतत्व को धारण करता है। ब्राह्मणग्रन्थ अमृत को देवों और असुरों के समुद्र-मन्थन से उत्पन्न होने वाला बतलाते हैं। कहीं ब्राह्मण का ऋषि भेषज को अमृत और अमृत को ब्रह्म कहता है। अनेक ब्राह्मणग्रन्थ आप: को अमृत नाम से पुकारते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सामान्य रूप से 'अमृत' नामक उदक का स्वरूप ऋग्वेद में अस्पष्ट है। फिर भी हम कह सकते हैं कि वेद प्रजा का कल्याण करने वाले उदक को 'अमृत' नाम से कहने के पक्ष में हैं। इसलिये वह (वेद) इस उदक को पृथिवी को धारण करने वाला बतलाता है। इसके अतिरिक्त उक्त अमृत नामक उदक को ऋषि अग्नि का धारयिता तथा सूर्य किरणों के संयोग से मेघ में स्थित बतलाता है। समुद्र-मन्थन से प्रकट होने वाले 'अमृत' को वेद अमृत कहने के पक्ष में नहीं हैं। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि मेघस्थित विद्युत् अग्नि से युक्त उदक वेद में 'अमृत' कहा गया है। पाणिनि व्याकरण 'न+मृत' से 'अमृत' को व्युत्पन्न करता है, परन्तु वेद में प्रयुक्त 'अमृत' शब्द की प्रकृति भिन्न प्रतीत होती है। इसलिये 'अमृत' शब्द को अव्युत्पन्न मानना उचित प्रतीत होता है।

८४. इन्दुः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'इन्दु' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क 'इन्दु' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**इन्दुरिन्धेः**"[२] यह रात्रि के समय दीप्त होने के कारण चन्द्रमा को 'इन्दु' कहा जाता है। इस पक्ष में 'इन्ध्' धातु से 'इन्दु' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)"उनत्तेर्वा"[३] कि अपनी चन्द्रिका से पदार्थों को आर्द्र कर देने के कारण चन्द्रमा को 'इन्दु' कहा जाता है। इस पक्ष में 'उन्दी' क्लेदने' धातु से 'इन्दु' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'इन्दु' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**इन्दुः (उदकम्)। 'ञिइन्धी' दीप्तौ'। इन्धे दीप्यते स्वेन तेजसा देवतात्वात्**"[४] कि अपने तेज से दीप्त होने के कारण उदक को 'इन्दु' कहा जाता है। इस पक्ष में 'इन्ध्' धातु से 'इन्दु' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)"यद्वा, 'उन्दी' क्लेदने'। उनत्ति भूमिमिन्दुः"[५] कि भूमि को क्लिन्न कर देने के कारण उदक को 'इन्दु' कहा जाता है। इस पक्ष में 'उन्द्' धातु से 'उ' प्रत्यय तथा धातु के उकार के स्थान में इकार आदेश होकर 'इन्दु' शब्द उपपन्न होता है। उणादिकोष में इसी प्रकार 'इन्दु' शब्द सिद्ध किया जाता है।[६]

(ग)"यद्वा, 'इदि' परमैश्वर्ये'। परमेश्वरं हि जलं देवतात्वात् प्राणिनां प्राणनस्य जीवनस्य च

---

१ निघ० १.१२.८४.

२ निरु० १०.४१.

३ निरु० १०.४१.

४ निघ०वृ०, १.१२.८४.

५ निघ०वृ०, १.१२.८४.

६ उणा०, १.१२. "उन्देरिच्चादेः।"

तदायतत्वाद्य''[१] कि प्राणियों का जीवन उदक पर आश्रित होने से उदक को 'इन्दु' कहा जाता है। इस पक्ष में 'इन्द्' धातु से औणादिक 'उ' प्रत्यय होकर 'इन्दु' शब्द सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'इन्दु' की व्युत्पत्ति को सन्दिग्ध मानता है। उणादिकोष उक्तपद को 'उन्द्' धातु से, वाल्ड वॉर्टरबुश 'इन्द्' धातु से तथा पेटरसन 'इन्ध्' धातु से मानने के पक्ष में हैं। उसके अनुसार वेद में 'इन्दु' शब्द सोमबिन्दु और सोम अर्थ में प्रयुक्त है, लेकिन निघण्टु उक्तपद को उदकवाचक भी मानता है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'इन्दु' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स 'इन्दु' पद का मूल 'उन्द्' धातु से होने की सम्भावना प्रकट करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद और वाजसनेयि-संहिता में यह पद 'सोम की बूँद' के अर्थ में आया है। तैत्तिरीय-संहिता में यह देदीप्यमान बूँद 'स्फुलिङ्ग' के अर्थ में है। इसके अतिरिक्त यह ऋग्वेद में चन्द्रमा के सावधिक परिवर्तन, चन्द्रमा की चन्द्रिका और रात्रि के अर्थ में आया है।[४] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि यास्क ऋग्वेद के एक मन्त्र के प्रसङ्ग में निर्वचन करते हुए 'इन्दु' शब्द का अर्थ नहीं देते हैं, जबकि दुर्ग उक्त शब्द का अर्थ 'प्रीत्यर्थम्' करते हैं। यास्क उक्त शब्द को 'इन्ध्' या 'उन्द्' धातु से निर्वचन करते हैं, जो कि ध्वनिरूप की दृष्टि से असङ्गत है। इस कारण डॉ. वर्मा उक्त यास्कीय निर्वचन को अस्पष्ट वर्ग में रखते हैं।[५]

वैदिक साहित्य में 'इन्दु' शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि ये इन्द्र और वायु के संयोग जल से प्रकट होते हैं तथा अन्नादि पदार्थों को लेकर आते हैं। इन्द्र (सूर्य) और वायु की ये कामना करते हैं अर्थात् जल से वाष्प और वाष्प से जल इन दोनों के सहयोग से उदककर्म सम्पन्न होता है।[६] मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि हे विश्वदेवो! आपके लिये तृप्तिकर, आनन्ददायक, बल से पूर्ण या बिन्दुरूप मधुर और मेघों पर स्थित होने वाले उदक धारण कर रक्खे हैं।[७] अग्रिम सूक्त में पुनः मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि इन्द्र (सूर्य) वसन्त आदि ऋतुओं के साथ सोम आदि वनस्पतियों के रस को पीता है। तृप्तिदायक तथा अन्तरिक्ष आदि स्थानों में निवास करने वाला उदक उसे प्राप्त होता है।[८] एक अन्य स्थान पर मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि जिसमें सब पदार्थ वृद्धि को प्राप्त करते हैं, उस अन्तरिक्ष में ये सुख देने वाले उदक उत्पन्न होते हैं। उनको इन्द्र (सूर्य) क्षण-क्षण पीता है।[९] आगे मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार कृषक अन्न को सिद्ध करने के लिये क्षेत्र को बार-बार जोतता है, उसी प्रकार पूषा (सूर्य) देव हमारे लिये जल से युक्त षट् ऋतुओं

---

१ निघ०वृ०, १.१२.८४.

२ वै०पद०को०, पृ० ८०३.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ११८.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, १६६.

५ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ३०, १२७.

६ ऋ० १.२.४. ''इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरागतम्। इन्दवो वामुशन्ति हि।''

७ ऋ० १.१४.४. ''प्र वो भ्रियन्त इन्दवो मत्सरा मादयिष्णवः। द्रप्सा मध्वश्चमूषदः।''

८ ऋ० १.१५.१. ''इन्द्र सोमं पिब ऋतुना त्वा विशन्त्विन्दवः। मत्सरास्तदोकसः।''

९ ऋ० १.१६.६. ''इमे सोमास इन्दवः सुतासो अधि बर्हिषि। ताँ इन्द्र सहसे पिब।''

को बार-बार प्राप्त कराते हैं।[१] प्रस्कण्व ऋषि कहते हैं कि अश्विनीदेव प्रकाशमान और विस्तृत रथ और अरित्र आदि उपकरणों से समुद्रों से पार ले जाते हैं। ये बुद्धियुक्त क्रिया से जल का उपयोग करने वाले हैं।[२] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि हे मेधावी लोगो! समुद्रों के मार्ग में प्रकाशमान अग्नि और जल हैं। समुद्र में यात्रा करते समय सुन्दररूप युक्त धन कहाँ रखते हो?[३] शुनःशेप ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार अन्न उत्पन्न करने के लिये कृषक जल से क्षेत्र को सींचता है, उसी प्रकार असङ्ख्य कर्मों को सम्पन्न करने वाला इन्द्र बढ़ने के स्वभाव वाले उदक से हम प्रजाओं को अभिषिक्त करे।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'इन्दु' है, जिसकी इन्द्र (सूर्य) और वायु कामना करते हैं, इन उदकों को विश्वदेवों के लिये धारण किया जाता है, यह मधुर और अन्तरिक्ष में निवास करने वाला उदक प्रजाओं को प्राप्त होता है, वृद्धिशील अन्तरिक्ष में ये सुखकारक उदक उत्पन्न होते हैं, कृषक के समान पूषा (सूर्य) देव जल से युक्त षट् ऋतुओं को बार-बार प्राप्त कराते हैं, बुद्धियुक्त क्रिया से इनका उपयोग किया जाता है, यह उदक सिन्धुओं के मार्ग में प्राप्त होता है, कृषक के समान अन्न उत्पन्न करने की इच्छा से इन्द्र इन उदकों से प्रजा को अभिषिक्त करते हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में आर्द्रता के रूप में विद्यमान उदक 'इन्दु' है, यही वह उदक है जो षट् ऋतुओं और अन्तरिक्ष में विद्यमान रहता है। इस दृष्टि से विचार करने पर क्लेदनार्थक 'उन्द्' धातु को 'इन्दु' शब्द का मूल माना जा सकता है, परन्तु ध्वनिरूप की दृष्टि से इसका औचित्य सन्दिग्ध प्रतीत होता है।

८५. हेम

निघण्टुकोष के हिरण्यवाचक नामपदों के अतिरिक्त उदकवाचक गण में 'हेम' पद परिगणित है।[५] 'हेम' पद का निर्वचन करते हुए आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं:-"**हिनोति गच्छति निम्नप्रदेशम्**"[६] कि यह बहकर निम्न प्रदेश की ओर चला जाता है, अतः, उदक को 'हेम' कहा जाता है।

(ख)"गम्यते वा तदर्थिभिः"[७] कि यह इच्छुक लोगों के द्वारा प्राप्त किया जाता है, अतः, उदक को 'हेम' कहा जाता है।

(ग)"वर्द्धते वा वर्षासु"[८] कि यह वर्षा ऋतु में बढ़ता है, अतः, उदक को 'हेम' कहते हैं। उपर्युक्त सभी पक्षों में 'हि' गतौ वृद्धौ च' धातु से औणादिक 'मनिन्' प्रत्यय होकर निपातन से 'हेम' रूप सिद्ध होता

---

१ ऋ० १.२३.१५. "उतो स मह्यमिन्दुभिः षड्युक्ताँ अनुसेषिधत्। गोभिर्यवं न चर्कृषत्।"

२ ऋ० १.४६.८. "अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः। धिया युयुज्र इन्दवः।"

३ ऋ० १.४६.९. "दिवस्कण्वास इन्दवो वसु सिन्धूनां पदे। स्वं वव्रिं कुह धित्सथ।"

४ ऋ० १.३०.१. "आ वा इन्द्रं क्रिविं यथा वाजयन्तः शतक्रतुम्। मंहिष्ठं सिञ्च इन्दुभिः।"

५ निघ० १.२.१; १२.८५.

६ निघ०वृ०, १.२.१.

७ निघ०वृ०, १.२.१.

८ निघ०वृ०, १.२.१.

है।

आचार्य दुर्ग एवं स्कन्दस्वामी 'हेम' पद का निम्न निर्वचन देते हैं:-"**हितं ममेदमिति सर्व एवैतन्मन्यते तस्माद्धेम**"[१] कि सभी यह मानते हैं कि मेरा इसमें हित है, इसलिये हिरण्य 'हेम' कहलाता है। इस पक्ष में 'हित+मम' से 'हेम' रूप निष्पन्न होता है। यह निर्वचन नितान्त काल्पनिक है, सम्भवतः, इस कारण देवराजयज्वन् ने इसे प्रस्तुत नहीं किया है, परन्तु लोकसत्य इससे उद्घाटित हो रहा है, अतः, यह स्वीकार किया जा सकता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष प्रवाहवाचक भावपद मानते हुए 'हि' प्रवाहे' धातु से 'हेमन्' शब्द को व्युत्पन्न मानता है।[२] उक्त कथन की ग्रासमैन से तुलना की जा सकती है। जबकि वेङ्कट माधव, सायण एवं विश्वबन्धु 'हेमन्' का अर्थ 'गन्तृ=हिरण्य' मानने के पक्ष में हैं।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'हेम' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[४] इसी प्रकार मोनियर विलियम्स भी इसकी व्युत्पत्ति सन्दिग्ध मानते हैं। उनके अनुसार महाभारत और मनुस्मृति में यह पद सुवर्ण, कुवलयानन्द में सुवर्णनिर्मित आभूषण तथा कथासरित्सागर में सुवर्ण- खण्ड के अर्थ में आया है।[५]

वैदिक साहित्य में 'हेम' का प्रयोग बहुत अल्प हुआ है। ऋग्वेद में मात्र इसका दो बार उल्लेख प्राप्त होता है। एक मन्त्र में वामदेव ऋषि अग्निदेव से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार अपने घर का अश्व नदी आदि से पार ले जाता है, उसी प्रकार धारयिता एवं हविप्रदाता यजमान को यह हेम सदृश अग्नि दरिद्रता आदि पाप से पार ले जाता है।[६] यहाँ पर भी स्पष्टरूप से 'हेम' प्रज्वलित अग्नि के वर्ण वाला प्रतीत होता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि हेम शब्द उदकवाचक नहीं है। वसिष्ठ ऋषि पवमानदेवता के प्रकरण में कहते हैं कि सुवर्ण आदि आभूषणों से पवित्र होता हुआ, प्रिय स्तुतियों से दिव्यभाव वाला देवताओं के सम्पर्क से रस को प्राप्त करता है।[७] यहाँ स्पष्टरूप से हेम पद सुवर्ण का वाचक है। उक्त मन्त्र का अर्थ कुछ भिन्न प्रकार से करते हुए कीथ कहते हैं कि वेगवान् प्रवाह (हेमना) से पवित्र करते हुए सोमदेव इस आत्मा के रस को देवों के साथ सम्पृक्त करता है।[८] यहाँ कीथ ने 'हेमन्' का अर्थ 'प्रवाह' मानते हुए मन्त्रार्थ की सङ्गति अन्वित की है।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में हेम शब्द उदकवाचक नहीं है। यहाँ यह स्पष्टरूप से सुवर्ण अर्थ की प्रतीति करा रहा है, परन्तु द्वितीय मन्त्र में ऋषि ने 'हेमना' (प्रवाह) के साथ 'पूयमानः' शब्द का प्रयोग किया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि पवित्रता का सबसे

---

१ दुर्गवृत्ति,निरु० २.१०. पृ० १६०. स्कन्दस्वामी, भा०, २, पृ० ६९.

२ कीथ, पृ० २२५३. वै०पद०को०, पृ० ३६०२.

३ वै०पद०को०, पृ० ३६०२.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ६१४.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १३०४.

६ ऋ० ४.२.८. "अश्वो न स्वे दमे आ हेम्यावन्तमंहसः पीपरो दाश्वांसम्।"

७ ऋ० ९.९७.१. "अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो देवो देवेभिः समपृक्त रसम्।"

८ कीथ, पृ० २२५३. वै०पद०को०, पृ० ३६०२.

सरल साधन उदकप्रवाह है। सम्भवतः, ऋषि इस ओर इङ्गित कर रहा है। लेकिन वेद भाष्यकार प्रस्तुत स्थल पर उक्तपद का अर्थ सुवर्ण लेने के पक्ष में हैं।[१] उणादिकोष में 'हेमन्' शब्द को निपातन से सिद्ध किया गया है, लेकिन धातु को स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया गया है।[२] इससे यह ज्ञात होता है कि उणादिकोषकार की दृष्टि में 'हेमन्' शब्द की धातु अथवा मूल अस्पष्ट और सन्दिग्ध है। तथापि आचार्य देवराजयज्वन् द्वारा प्रस्तुत प्रथम 'हि' धातुमूलक निर्वचन ध्वनिरूप की दृष्टि से स्वीकरणीय प्रतीत होता है।

८६. स्वः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'स्वः' पद परिगणित है। आचार्य यास्क 'स्वः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सु अरणः**"[३] कि अन्धकार को दूर भगाने वाला होने से आदित्य 'स्वः' कहलाता है। इस पक्ष में 'सु+'ऋ' से 'स्वर्' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(ख)"**स्वरादित्यो भवति। सु ईरणः**"[४] कि यह अच्छी प्रकार अन्धकार को दूर भगाता है, अतः, यह आदित्य 'स्वः' कहलाता है। इस पक्ष में 'सु+'ईर्' से 'स्वर्' शब्द निष्पन्न होता है।

(ग)"**स्वृतो रसान्**"[५] कि यह भूमि और अन्तरिक्ष के रसों के ग्रहण करने के लिए अच्छी प्रकार से गया हुआ है, इसलिए यह आदित्य 'स्वर्' कहलाता है। इस पक्ष में 'सु+'ऋ' से 'स्वर्' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(घ)"**स्वृतो भासं ज्योतिषाम्**"[६] कि यह चन्द्रमा पृथिवी आदि ग्रहों को प्रकाशित करने वाला होने से यह 'स्वर्' कहलाता है। यहाँ पूर्ववत् 'स्वर्' शब्द सिद्ध होता है।

(ङ)"**स्वृतो भासेति वा**"[७] कि प्रकाश से सब ओर से व्याप्त होने के कारण आदित्य 'स्वर्' कहा जाता है। इस पक्ष में भी पूर्व के समान 'स्वर्' शब्द सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् यास्क का अनुसरण करते हुए 'स्वः' के निम्न निर्वचन प्रस्तुत करते हैं:- "स्वः (उदकम्)। सुपूर्वादर्तेरन्तर्भावितण्यर्थात्। अनावृष्ट्यादिजनितं क्लेशं सुष्ठु शोभनं गमयति नाशयतीति स्वः"[८] कि अनावृष्टि आदि से जनित क्लेश को उत्तम प्रकार से दूर करने के कारण उदक 'स्वः' कहलाता है। इस पक्ष में 'सु' पूर्व वाली अन्तर्भावित ण्यन्त 'ऋ' 'धातु से 'विच्' प्रत्यय होकर 'स्वः' शब्द उपपन्न होता है।

(ख)"**यद्वा, अरणं गमनं दोषरहितत्वेन शोभनं यस्य, सुष्ठु गच्छति निम्नं प्रदेशमिति वा। सुष्ठ प्राणिभिर्गम्यते इति वा**"[९] कि यह उदक उत्तम प्रकार से गमन करता है अथवा यह अच्छी प्रकार निम्न प्रदेश

---

१ वेङ्कटमाधव, ऋग्वेदभाष्य, ९.९७.१.
२ उणा०, ४.१५२.
३ निरु० २.१४.
४ निरु० २.१४.
५ निरु० २.१४.
६ निरु० २.१४.
७ निरु० २.१४.
८ निघ०वृ०, १.१२.८६.
९ निघ०वृ०, १.१२.८६.

में गमन करता है या भली प्रकार से प्राणियों के द्वारा ले जाया जाता है। अत:, उदक को 'स्व:' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सु+'ऋ'+विच्' से 'स्व:' शब्द सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'स्वर्' शब्द के दिव्, आदित्य, दीप्ति आदि अर्थ मानता है। उसके अनुसार 'भृष्' उच्छ्रायदीप्त्यादिषु' धातु से भाव में 'भृषुर्' और उससे 'सुर्+भृत्=सूभृत्=सु-अर्' इस प्रकार परिवर्तन होते हुए 'स्वर्' शब्द उपपन्न होता है। जबकि ग्रासमैन 'सु+'ऋ'='सूर्' दीप्तौ' धातु से निष्पन्न करते हैं। पाणिनि उक्तपद को अव्यय मानते हैं, जबकि तैत्तिरीय-संहिता 'सुवर्' कहती है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'स्व:' शब्द को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स 'सुर' या 'स्वृ' धातु को 'स्वर्' का मूल मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद और वाजसनेयि-संहिता में यह पद सूर्य, सूर्य की ज्योति, प्रकाश, कान्ति अर्थ में आया है। ऋग्वेद में क्वचित् यह प्रकाशमान अन्तरिक्ष, स्वर्ग अर्थ में है। महाभारत तथा मनुस्मृति में यह पद सूर्य से ऊपर तथा सूर्य और ध्रुवतारा के मध्य का भाग, ग्रह तथा तारागणों का क्षेत्र 'स्वर्' है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का मत है कि भारोपीय भाषा में यह पद 'suel' सूर्य अर्थ में अवेस्ता में 'hvare' सूर्य अर्थ में है। उनके अनुसार उक्त यास्कीय निर्वचन '**सर्वाणि नामान्याख्यातजानि**' नियम से प्रभावित है।[४]

वैदिक साहित्य में 'स्व:' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि हे देवो! द्युलोक के चारों ओर वह उदक (स्व:) कभी उत्पन्न नहीं होता है।[५] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि रूपवानों के समान स्वयं उत्पन्न होने एवं कँपाने वाले मरुत् उदक के लिये उत्पन्न होते हैं।[६] सोमाहुति भार्गव ऋषि कहते हैं कि अग्नि अपने लिये उदक को धारण करता है, ऋतुओं के अनुकूल चलने वाला ऋतुओं के अनुकूल चलाता है। हम लोग स्तोत्र और यज्ञ का सेवन करें और उसमें रम जायें।[७] वामदेव ऋषि कहते हैं कि मेधातिथि आदि आङ्गिरसों ने यज्ञ से मेघ को विदीर्ण, वाणी से अग्नि की स्तुति, सुखपूर्वक उषा को प्राप्त एवं उदक को प्रकट किया।[८] यहाँ सायण ने 'स्व:' का अर्थ 'सूर्य' किया है।[९] वामदेव ऋषि कहते हैं कि सत्यस्वरूप, स्नेहशील, आर्द्र पदार्थों में रमण करने वाला, गतिमान् दधिक्रावा देव अन्न, बल और उदक (स्व:) को उत्पन्न करता है।[१०] यहाँ सायण ने 'स्व:' का अर्थ 'स्वर्ग' किया है।[११] भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि

---

१ वै०पद०को०, पृ० ३५२६.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ५९७.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२८१.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ०

५ ऋ० १.१०५.३. ''मो षु देवा अद: स्व१रव पादि दिवस्परि।''

६ ऋ० १.१६८.२ ''वव्रासो न ये स्वजा: स्वतवस इषं स्वरभिजायन्त धूतय:।''

७ ऋ० २.५.७. ''स्व: स्वाय धायसे कृणुतामृत्विजम्। स्तोमं यज्ञं चादरं वनेमां ररिमा वयम्।''

८ ऋ० ४.३.११. ''ऋतेनाद्रिं व्यसन्भिदन्त: समाङ्गिरसो नवन्त गोभि:। शुनं नर: परि षदन्नुषसामावि: स्वरभवज्जाते अग्नौ।''

९ सायणभाष्य, ऋ० ४.३.११.

१० ऋ० ४.४०.२. ''सत्यो द्रवो द्रवर: पतङ्गरो दधिक्रवेषमूर्जं स्वर्जनत्।''

११ सायणभाष्य, ऋ० ४.४०.२.

हे इन्द्रसोम! तुम दोनों सूर्य को जानते हो उदक को भी। तुम दोनों सम्पूर्ण अन्धकार और निन्दा करने वाले असुरों का वध करते हो।[१] यहाँ सायण ने 'स्वः' का अर्थ 'उदक' ग्रहण किया है। वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि जब वरुण मेघ के उदक से उत्पन्न अन्न से अच्छी प्रकार पालन करता है, उस समय मैं अपने शरीर को सुन्दर रूप में देखने योग्य होता हूँ।[२] मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि उदक की प्रशंसा करते हुए स्तोताओं ने इस इन्द्र के ऐश्वर्य का पार नहीं पाया।[३] कुरुसति ऋषि कहते हैं कि सोमपान करने के लिये मरुतों से युक्त इन्द्र ने इस उदक को जीत लिया।[४] वसुक्र ऋषि कहते हैं कि इन्द्र उदक को प्रकट करता है, उसका शोषण करता है और वह शोधयिता कभी भी गति का परित्याग नहीं करता है।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'स्वः' है, जो द्युलोक के चारों ओर उत्पन्न नहीं होता है, स्वयं उत्पन्न, बलवान् एवं कँपाने वाले मरुत् अन्न हेतु उदक को प्रकट करते हैं, अग्नि अपने लिये इस उदक को धारण करता है, यज्ञ की अग्नि से यह उदक प्रकट होता है, दधिक्रावा देव अन्न, बल और उदक को उत्पन्न करते हैं, इन्द्रसोम इस स्वः नामक उदक को जानते हैं, वरुण द्वारा मेघ से उत्पन्न अन्न से अच्छी प्रकार पालन करने पर शरीर दर्शनीय होता है, इस उदक के कारण स्तोता इन्द्र की प्रशंसा करते हैं, इन्द्र सोमपान करने के लिये इस उदक को जीत लेता है, वही इसको प्रकट करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में वह उदक 'स्वः' है, जो अन्न, बलादि देने के कारण सुख का कारण है। इस दृष्टि से विचार करने पर 'सु+'ऋ' धातु को 'स्वः' पद का मूल माना जा सकता है।

निघण्टु के व्याख्याकार आचार्य यास्क ने 'स्वः' पद के आदित्य और अन्तरिक्ष परक अर्थ सिद्ध करने वाले अनेक निर्वचन दिये हैं, पर उदक परक अर्थ सिद्ध करने वाला एक भी निर्वचन प्रस्तुत नहीं किया है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि यास्क निघण्टुकोष के सङ्कलन कर्ता नहीं हैं। इसका कारण यह है कि शब्द के जिस अर्थ से वे सहमत हैं, उसको ध्यान में रखकर वे निर्वचन करते हैं और जिस अर्थ से वे असहमत हैं, उसकी वे उपेक्षा कर जाते हैं।

८७. सर्गाः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'सर्गाः' पद परिगणित है।[६] आचार्य देवराजयज्वन् 'सर्गः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सृज्यते मेघैर्विसृज्यत इति सर्गः**"[७] कि यह उदक मेघों से विसर्जित किया जाता है, अतः, उदक को 'सर्ग' कहते हैं। इस पक्ष में 'सृज्'+घञ्' प्रत्यय होकर 'सर्ग' शब्द निष्पन्न होता है।

---

१ ऋ० ६.७२.१. "युवं सूर्यं विविदथुर्युवं स्व१र्विश्वा तमांस्यहतं निदश्च।"

२ ऋ० ७.८८.२. "स्व१र्यदश्मन्नधिपा उ अन्धोऽभि मा वपुर्दृशये निनीयात्।"

३ ऋ० ८.३.१३. "नही न्वस्य महिमानमिन्द्रियं स्वर्गृणन्त आनशुः।"

४ ऋ० ८.७६.४. "अयं ह येन वा इदं स्वर्मरुत्वता जितम्। इन्द्रेण सोमपीतये।"

५ ऋ० १०.२७.२४. "आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते।"

६ निघ० १.१२.८७.

७ निघ०वृ०, १.१२.८७.

(ख)''यद्वा, सर्गो वेगः। अर्शादित्वादच्। वेगवन्ति हि जलानि''[१] कि सर्ग का अर्थ वेग है, वेगवान् उदक सर्ग कहलाते हैं। इस पक्ष में 'सर्ग' शब्द से मत्वर्थ में 'अच्' प्रत्यय होकर 'सर्ग' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सर्ग' शब्द का मूल 'सृज्' धातु को मानता है।[२] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'सर्ग' शब्द घुड़दौड़, दौड़, अश्वशाला से छूटा हुआ पशुसमूह, भीड़, समूह, वायु की शुष्कता, वायु का झोंका अर्थ में आया है। इसके अतिरिक्त यह पद ऋग्वेद में जलधारा, तीव्र प्रवाह, घनघोर वर्षा के अर्थ में भी है।[३]

वैदिक साहित्य में 'सर्ग' शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि मरुत् पृतना (सेना) की इच्छा वाले मेघ को रक्षा के साधन उदकों के साथ उसी प्रकार नीचे गिराते हैं, जिस प्रकार ऋण न चुकाने वाले मनुष्य को राजा या उत्तमर्ण के द्वारा नीचे गिराया जाता है।[४] एक अन्य मन्त्र में अगस्त्य ऋषि बृहस्पति देवता के प्रकरण में कहते हैं कि वर्षा ऋतु से सम्बन्धित माध्यमिका वाक् समीप से बृहस्पति का सेवन करती है, जो देवताओं की कामना करने वाले यजमानों के लिये वृष्ट्युदक का निर्माण भी ('न' समुच्चयार्थक है) करता है।[५] दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि हे मित्रावरुणो! तुम दोनों स्थूल वस्त्रों के समान मेघ को आच्छादित करते हो, आप दोनों से निर्मित, उदक की वर्षा करने वाले मेघ छिद्ररहित माने जाते हैं।[६] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि उदकों का प्रकाशित करने वाला स्रोत प्रतिदिन उपस्थित होता है। इन उदकों की सृष्टि कितने काल में होती है, यह विद्वानों को जानना चाहिये।[७] वामदेव ऋषि कहते हैं कि इस इन्द्र का वपनशील उदक सुदर्शनीय एवं कल्याणकर है। इस उदक सें पृथिवी (गोः) का रूप अत्यन्त सुख प्रदान करने वाले के समान हो जाता है।[८] एक अन्य मन्त्र में वामदेव ऋषि कहते हैं कि कल्याणकारी रश्मियाँ दिखलायी देती हैं। वर्षा की धारा के समान इनका तेज व्याप्त हो जाता है।[९] श्यावाश्व ऋषि कहते हैं कि जैसा पहले कभी नहीं हुआ अपूर्व प्रभूततम मरुतों का समूह उदक की धारा के समान आह्वान करता है।[१०] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि वरुणदेव सूर्य के लिये मार्ग प्रशस्त करते हैं और अन्तरिक्षस्थ वेगवाली नदियों को उदक के लिये रचते हैं और यही दिन महती रात्रि या पृथ्वी का निर्माण करता है।[११] विमद ऋषि कहते हैं कि हमारी स्तुतियाँ सोमदेव

---

१ निघ०वृ०, १.१२.८७.

२ वै०पद०कोष, पृ० ३४५७.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ११८४.

४ ऋ० १.१६९.७. ''ये मर्त्यं पृतनायन्तमूमैर्ऋणावानं न पतयन्त सर्गैः।''

५ ऋ० १.१९०.२. ''तमृत्विया उप वाचः सचन्ते सर्गो न यो देवयतामसर्जि।''

६ ऋ० १.१५२.१. ''युवं वस्त्राणि पीवसा वसाथो युवोरच्छिद्रा मन्तवो ह सर्गाः।''

७ ऋ० २.३०.१. ''अहरहर्यात्यक्तुरपां कियात्या प्रथमः सर्ग आसाम्।''

८ ऋ० ४.२३.६. ''श्रिये सुदृशो वपुरस्य सर्गाः स्व१र्ण चित्रतमिष आ गोः।''

९ ऋ० ४.५२.५..''प्रति भद्रा अदृक्षत गवां सर्गा न रश्मयः। ओषा अप्रा उरु ज्रयः।''

१० ऋ० ५.५६.५. ''मरुतां पुरुतममपूर्व्यं गवां सर्गमिव ह्वये।''

११ ऋ० ७.८७.१. ''रदत्पथो वरुणः सूर्याय प्राणांसि समुद्रिया नदीनाम्। सर्गो न सृष्टो अर्वतीर्ऋतायाञ्चकार महीरवनीरहभ्यः।''

की ओर इस प्रकार गमन करती हैं, जिस प्रकार उदक कूपादि निम्न स्थल की ओर प्रस्थान करते हैं।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'सर्ग' है, जो मरुतों के द्वारा ऊपर से नीचे गिराया जाता है, यह वह उदक है, जो देवताओं की कामना करने वाले यजमानों के लिये बृहस्पति के द्वारा निर्माण किया जाता है, यह उदक अश्विनीदेवों से निर्मित छिद्ररहित मेघों से बरसता है, इस उदक का निर्माण कितने काल में होता है, इस तथ्य को केवल विद्वान् जानते हैं, इस उदक से पृथिवी का रूप अत्यन्त सुख प्रदान करने वाले के समान हो जाता है, वर्षा की धारा के समान रश्मियों का तेज सर्वत्र व्याप्त हो जाता है, उदक की धारा के समान मरुतों के समूह का आह्वान किया जाता है, वरुणदेव अन्तरिक्षस्थ वेगवाली नदियों को उदक के लिये रचते हैं, इसीसे महती पृथ्वी का निर्माण होता है, स्तुतियाँ सोमदेव की ओर उसी प्रकार गमन करती हैं, जिस प्रकार उदक कूपादि निम्न स्थल की ओर प्रस्थान करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में 'सर्ग' शब्द मेघ से प्राप्त होने वाले उदक के अर्थ में हुआ है। यह 'सर्ग' नामक उदक सृष्टि का निर्माण करने वाला है, इससे पृथ्वी का रूप अत्यन्त रमणीय हो जाता है। इस आधार पर हम 'सर्ग' शब्द को निर्माण अर्थ वाली 'सृज्' धातुमूलक मान सकते हैं।

८८. शम्बरम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'शम्बरम्' पद परिगणित है।[२] आचार्य यास्क 'शम्बरम्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**शम्ब इति वज्रनाम। शमयतेर्वा। शातयतेर्वा**"[३] कि शत्रुओं का शमन अथवा भगाने के कारण वज्र शम्ब कहलाता है। इस पक्ष में 'शम्' या 'शातय्' धातु से 'बन्' प्रत्यय होकर 'शम्ब' शब्द निष्पन्न होता है। उणादिकोष से भी उक्त व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है।[४]

आचार्य देवराजयज्वन् 'शम्बरम्' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**शम्बरम् (उदकम्)। सम्पूर्वाद् वृणोतेः। संव्रियते मेघैः**"[५] कि मेघों से आच्छादित करने के कारण मेघ को 'शम्बर' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सम्' उपसर्ग पूर्ववाली 'वृ' धातु से 'अप्' प्रत्यय होकर 'संवर' और उससे 'शम्बर' पद निष्पन्न होता है।

(ख)"यद्वा, शम्बो वज्रः निरुक्तो मेघनामसु। तद्वानपीन्द्रः शम्बः। 'रा' दाने'। शम्बेनेन्द्रेण दीयते शम्बरः"[६] कि निरुक्त में 'शम्ब' यह वज्र का नाम है। उस वज्र से युक्त इन्द्र भी 'शम्ब' है। शम्ब=इन्द्र के द्वारा जो दिया जाता है, वह उदक 'शम्बर' है। इस पक्ष में 'शम्ब+'रा'+क' से 'शम्बर' पद निष्पन्न होता है।

(ग)"यद्वा, शञ्च तद्वरञ्च शम्बरः। शमनं च रोगाणामुत्कृष्टं सर्वपदार्थेषु"[७] कि वह उदक शान्तिदायक तथा कल्याणकारक होने से 'शम्बर' है। सब पदार्थों की अपेक्षा रोगों का शमन करना श्रेष्ठ है। इस

---

१ ऋ० १.२५.४. "समु प्र यन्ति धीतयः सर्गासोऽवताँ इव।"

२ निघ० १.१२.८८.

३ निरु० ५.२४.

४ उणा०, ४.९५. "शमेर्बन्।"

५ निघ०वृ०, १.१२.८८.

६ निघ०वृ०, १.१२.८८.

७ निघ०वृ०, १.१२.८८.

पक्ष में 'शम्+'वृ'+अच्' से 'शंवर' और उससे 'शम्बर' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य सायण 'शम्बर' शब्द का निर्वचन निम्न प्रकार करते हैं:-''**शमयतीति शम्ब आयुधम्, तद्वान् मत्वर्थीयो रप्रत्यय:**''[१] कि शत्रुओं का शमन करने से आयुध शम्ब कहलाता है और जिसके पास यह आयुध है, वह 'शम्बर' है। इस पक्ष में 'शम्ब' शब्द से मत्वर्थीय 'र' प्रत्यय होकर 'शम्बर' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक पदानुक्रम कोष 'शम्बर' पद को दो प्रकार से व्युत्पन्न मानता है। उनके अनुसार मेघ और उदक अर्थ में 'शृ' क्षरणे' तथा वृत्र अर्थ में 'शृ' संवरणे' धातु से भाव अर्थ में 'शर्म' शब्द निष्पन्न होता है। 'शर्म+भर' के संयोग से 'शम्बर' पद निष्पन्न होता है।[२] ऋग्वेद वैयाकरण पदसूची 'शम्बर' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स 'शम्बर' का मूल गत्यर्थक 'शम्ब्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार शम्बर एक असुर है, जिसका शुष्ण, अर्बुद, पिप्रु के साथ प्राय: उल्लेख आया है।[४] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा यास्क के दोनों निर्वचनों को शिथिल मानते हैं। वे 'शम्बर' में स्थित 'ब' को प्रत्यय मानने को तैयार नहीं हैं और न उनको इसके स्थान पर कोई दूसरा विकल्प दिखायी देता है, अत:, वे उक्त निर्वचनों को अस्पष्ट श्रेणी में रखते हैं।[५]

वैदिक साहित्य में 'शम्बर' पद का अनेकश: प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में आङ्गिरस ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम, शुष्णहत्येषु=बल के प्रयोग स्थानों में, कुत्सम्=वज्र को, आविथ=चलाते हो तथा, अतिथिग्वाय=अतिथि की सेवा करने वाले के लिये, शम्बरम्=उदक को, अरन्धय:=सिद्ध करते हो।[६] परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि इन्द्र अतिथि की सेवा करने के लिये पर्वत के उच्च शिखर अर्थात् सूर्य से उदक को धारण करता है।[७] आङ्गिरस ऋषि कहते हैं कि शत्रुओं के धर्षक इन्द्र ने स्वयं शम्बर=मेघ को, विदीर्ण किया।[८] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि स्वयं इन्द्र ने बृंहणशील अन्तरिक्ष से शम्बर (मेघ) का भेदन किया।[९] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि काष्ठा:=वृष्ट्युदक को वैश्वानर ने, अधूनोत्=नीचे गिराया और उस उदकनिरोध कारण शम्बर (मेघ) का भेदन किया।[१०] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि सज्जनों को प्रसन्न कर देने वाले क्रोध से इन्द्र विगतभुज वृत्र का वध करता है एवं नियम पालन न करने वाले एवं उदक से परिपूर्ण शम्बर का वध करता है।[११] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि मेघों (पर्वतेषु) में निवास करते हुए शम्बर (उदक) को इन्द्र ने चालीसवीं

---

१ सायणभाष्य, ऋ० १.१०३.८.

२ वै०पद०कोष, पृ० ३०८८.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ५२०.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १०५५.

५ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १४५.

६ ऋ० १.५१.६. ''त्वं कुत्सं शुष्णहत्येष्वाविथारन्धययोऽतिथिग्वाय शम्बरम्।''

७ ऋ० १.३०.७. ''अतिथिग्वाय शम्बरं गिरेरुग्रो अवाभरत्।''

८ ऋ० १.५४.४. ''अव त्मना धृषता शम्बरं भिनत्।''

९ ऋ० ७.१८.२०. ''अव त्मना बृहत: शम्बरं भेत्।''

१० ऋ० १.५९.५. ''अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत्।''

११ ऋ० १.१०१.२. ''यो व्यंसं जाहृषाणेन मन्युना य: शम्बरं यो अहन्पिप्रुमव्रतम्।''

शरद् ऋतु में प्राप्त किया।[१] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि इन्द्र, चमुरिम्=भोजनयोग्य, पिप्रुम्=व्यापनशील या पीने योग्य, धुनिम्=कलकल ध्वनि के साथ गमन करने वाले या लहरों के द्वारा कम्पनीय, शुष्णम्=बलकारक, शम्बरम्=उदक या मेघ को गमन और पृथ्वी पर फैल जाने के लिये, वृणक्=काटता है।[२] एक अन्य मन्त्र में भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि इन्द्र, गिरि=मेघ के, दासम्=दिये जाने वाले, शम्बरम्=उदक को, अवहन्=नीचे पृथ्वी की ओर गतिशील करते हो तथा, दिवोदासम्=विद्युत् का अनुसरण करने वाले उदक की अनेक प्रकार से रक्षा करते हो।[३] एक अन्य सूक्त में भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! जिस आनन्द देने वाले शम्बर (उदक) को तुम दिवोदास के लिये सिद्ध करते हो, वह शम्बर नामक सोम अभिषुत हो चुका है, उसका हे इन्द्र! तुम पान करो।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'शम्बर' है, जो वज्र के चलाने से अतिथि की सेवा के लिये इन्द्र के द्वारा सिद्ध किया जाता है, अतिथि की सेवा के लिये पर्वत (सूर्य) के उच्च शिखर से इन्द्र उदक को धारण करता है, पर्वत अर्थात् मेघों में निवास करने वाले शम्बर को इन्द्र चालीसवीं शरद् ऋतु में प्राप्त करता है, मेघ को दिए जाने वाले उदक को इन्द्र नीचे पृथ्वी की ओर गिराता है, यह वह शम्बर अर्थात् उदक है, जिसको इन्द्र दिवोदास के लिये सिद्ध करता है। इस प्रकार वह उदक शम्बर है, जो इन्द्र के द्वारा अतिथि की सेवा तथा दिवोदास के लिये प्रदान किया जाता है। ऋषि ने इस उदक को चालीसवीं ऋतु में इन्द्र के द्वारा प्राप्त होने वाला बताया है। इससे यह सङ्केत प्राप्त होता है कि वर्षा ऋतु में बरसने वाला उदक शम्बर है। इसके अतिरिक्त वेद ने शम्बर का सम्बन्ध दिवोदास तथा अतिथि के साथ अनेकशः प्रतिपादित किया है। दिवोदास का यह आशय ग्रहण किया जा सकता है कि जिस काल में दिवः अर्थात् प्रकाश की निरन्तर प्राप्ति होती है, ऐसी वर्षा भिन्न ऋतु में अथवा प्रकाश (ज्ञान) को प्राप्त करने में लगे रहने वाले विद्वान् अतिथि के लिये वर्षा के रूप में प्राप्त होने वाला उदक 'शम्बर' है। इस दृष्टि से विचार करने पर **'शॄ' क्षरणे'**+**'भृ' भरणे'** धातुओं को 'शम्बर' पद का मूल माना जा सकता है। इस प्रकार निष्पन्न 'शम्बर' पद का अर्थ होगा कि वह उदक जो भरण-पोषण के लिये वर्षाभिन्न ऋतु में वर्षा के माध्यम से प्राप्त होता है।

निघण्टुकोष में 'शम्बर' पद का परिगणन मेघ तथा उदकवाचक गणों में हुआ है।[५] वेद में शम्बर पद बहुत अधिक स्थानों पर व्यवहृत नहीं हुआ है। वेद में यह पद लगभग १० स्थानों पर प्राप्त होता है। इनमें से कहाँ शम्बर मेघवाचक है और कहाँ उदकवाचक है? अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि जहाँ 'शम्बर' के साथ 'भिद्' या 'हन्' धातु का प्रयोग हुआ है, वहाँ वह मेघवाचक है और इससे भिन्न स्थानों में यह पद उदकवाचक प्रतीत होता है।

---

१ ऋ० २.७२.११. ''यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।''

२ ऋ० ६.१८.८. ''वृणक् पिप्रुं शम्बरं शुष्णमिन्द्रः पुरा च्यौत्नाय शयथाय नू चित्।''

३ ऋ० ६.२६.५. ''अव गिरेर्दासं शम्बरं हन्प्रावो दिवोदासं चित्राभिरूतिभिः।''

४ ऋ० ६.४३.१. ''यस्य त्यच्छम्बरं मदे दिवोदासाय रन्धयः। अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिब।''

५ निघ० १.१०.१४, १२.८८.

८९. अभ्वम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'अभ्व' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'अभ्व' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**अभ्वम् (उदकम्)। आङ्पूर्वात् भवतेः। आ समन्ताद् भवति विद्यते अभ्वम्**"[२] कि जो सर्वत्र व्याप्त होकर रहता है, वह 'अभ्व' है। इस पक्ष में 'अ+'भू'+क' से 'अभ्व' पद निष्पन्न होता है।

ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अभ्व' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[३] वैदिक-पदानुक्रम-कोष के अनुसार 'अभ्व' पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। कुछ विद्वान् 'आ+'भू'+क' से तथा कुछ 'नञ्+'भू' से मानते हैं। भाववाचक पद होने की स्थिति में 'अभ्व' पद का अर्थ महत्ता, घोरता है तथा नामपद की स्थिति में इस पद का अर्थ घोराकृति, क्रूर, राक्षस, पिशाच प्रभृति है।[४] मोनियर विलियम्स 'अभ्व' की तुलना 'अभूत' से करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद और शतपथ-ब्राह्मण में 'अभ्व' पद विरूपता, राक्षस, पिशाच, भयानक सदृश अर्थ में आया है।[५]

वैदिक साहित्य में 'अभ्व' पद का व्यापक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में अगस्त्य ऋषि मरुत् देवताओं के प्रकरण में कहते हैं कि मरुतों की माता पृश्नि ने गमनशील एवं दीप्त मरुतों के समूह को सङ्ग्राम (मेघ) विजय के लिये उत्पन्न किया। उन हिंसक मरुतों ने अभ्व (मेघ या उदक) को उत्पन्न किया और उसके पश्चात् सभी का अभीष्ट अन्न (स्वधा) सब लोगों को प्राप्त होता है।[६] एक अन्य मन्त्र में अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! वह आपकी प्रसिद्ध ऋष्टि (आयुध विशेष) हमें वृष्टि के लिये मेघ के समीप प्राप्त होती है। इस प्रकार मरुत् भी बहुत दिन से सङ्गृहीत अभ्व (उदक) को बरसाते हैं।[७]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'अभ्व' है, जो मरुतों के प्रयास से उत्पन्न होता है तथा जिसके पश्चात् अन्न की प्राप्ति होती है, इसकी वृष्टि में मरुतों की ऋष्टि का महत्त्वपूर्ण सहयोग है, बहुत दिन से सङ्गृहीत इस उदक को मरुत् बरसाते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अन्तरिक्ष में बहुत दिन से सङ्गृहीत उदक 'अभ्व' है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए **'न+'भू' (न अभूत=न अवर्षत)** को 'अभ्व' पद का मूल माना जा सकता है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि जो बहुत दिन से नहीं बरसा है, ऐसा उदक वेद की दृष्टि में 'अभ्व' है।

---

१ निघ० १.१२.८९.

२ निघ०वृ०, १.१२.८९.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ४९.

४ वै०पद०कोष, पृ० ४५१.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ८०.

६ ऋ० १.१६८.९. "असूत पृश्निर्महते रणाय त्वेषमयासां मरुतामनीकम्। ते सप्सरासोऽजनयन्ताभ्वमादित्स्वधामिषिरां पर्य्यपश्यन्।"

७ ऋ० १.१६९.३. "अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति।"

९०. वपुः

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'वपुस्' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'वपुः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**वपुः (उदकम्)। 'टुवप्' बीजसन्ताने'। उप्यतेऽनेन बीजम्, बीजवपने जलं हि साधकतमं भवति**"[२] कि इससे बीज उगता है, क्योंकि बीजवपनकाल में जल सबसे महत्त्वपूर्ण साधन होता है। इस पक्ष में 'वप्' धातु से औणादिक 'उसि' प्रत्यय होकर 'वपुस्' शब्द निष्पन्न होता है। उणादिकोष से उक्त व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है।[३]

ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'वपुस्' को अव्युत्पन्न मानती है।[४] वैदिक पदानुक्रम कोष के अनुसार 'वपुस्' पद का मूल 'वप्' धातु है। यह पद वेद में 'रूप' अर्थ का वाचक है।[५] अन्यत्र कोशकार कहता है कि वर्पस्, अप्सस्, वपुस्, वप्सस्-ये सब पर्यायवाची हैं। इनके धातु और प्रातिपदिक में अभेद है, केवल इनमें वर्णस्वरूपमात्रज भेद है।[६] मोनियर विलियम्स के मत में भी 'वपुस्' पद 'वप्' धातुमूलक है। ऋग्वेद में यह पद रूप या सुन्दररूप, मूर्तरूप, आकर्षक, सुन्दर या आश्चर्यजनक रूप से सुन्दर अर्थ में आया है। वायुपुराण और मार्कण्डेय पुराण में दक्ष और धर्म की पुत्री के रूप में सुन्दरता का मूर्तीकरण हुआ है। इसके अतिरिक्त वायुपुराण तथा महाभारत में यह एक अप्सरा का नाम है।[७]

वैदिक साहित्य में 'वपुस्' शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि इस इन्द्र के यश को सात नदियाँ धारण करती हैं तथा इसके वपुः (उदक) से द्यु, पृथिवी और अन्तरिक्षलोक दर्शनीय होता है।[८] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि उदक (वपुषे) के लिये मरुद्गण नानाविध मेघों को प्रकट करते हैं। ये अपने वक्षःस्थल पर दीप्त होने वाले (विद्युत्रूप) आभूषणों को धारण करते हैं।[९] दीर्घतमस् पुत्र कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि हे अश्विन् देवताओ! तुम दोनों वपुषे=उदक के लिये अपने रथ के साथ माध्यमिका वाक् को जोड़ते हो तथा बलवान् इस वाक् पर नियन्त्रण करते हो।[१०] आत्रेय ऋषि कहते हैं कि यह उदक (वपुः) लोगों के द्वारा स्तुत्य है, इससे नदियाँ प्रवाहित होती हैं और यही आपः के रूप में स्थित होता है।[११] वामदेव ऋषि कहते हैं कि ऋतस्य=इन्द्र या आदित्य के दृढ़ता से धारण किये

---

१ निघ० १.१२.९०.

२ निघ०वृ०, १.१२.९०.

३ उणा०, २.११९. "अर्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित्।"

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ४६०.

५ वै०पद०कोष, पृ० २७४९.

६ वै०पद०कोष, पृ० २७६६.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ९२०.

८ ऋ० १.१०२.२. "अस्य श्रवसो नद्यः सप्त बिभ्रति द्यावाक्षामा पृथिवी दर्शतं वपुः।"

९ ऋ० १.६४.४. "चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे व्यञ्जते वक्षःसु रुक्माँ अधि येतिरे शुभे।"

१० ऋ० १.११९.५. "युवोरश्विना वपुषे युवायुजं रथं वाणी येमतुरस्य शर्ध्यम्।"

११ ऋ० ५.४७.५. "इदं वपुर्निवचनं जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुरापः।"

जाने वाले स्थानों पर आह्लाद देने वाला प्रभूत उदक विद्यमान है।[१] अवस्यु ऋषि कहते हैं कि आप दोनों अश्विनीदेवों के लिये महान् मृगयिता वह यजमान अन्न की आहुति देता है और मधुर उदक की याचना करने वाली अपनी वाणी को सुनने के लिये आपका आह्वान करता है।[२] भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार धेनु (वाणी) का फल जानने वाले विद्वान् को प्राप्त होता है, उसी प्रकार यह मरुतों का उदक जानने वालों को प्राप्त होता है।[३] प्रियमेध ऋषि कहते हैं कि जब इन्द्र विविध प्रकार से गमन करने में समर्थ रथ पर आरूढ होकर हवि देने वाले यजमान की ओर प्रस्थान करता है, उसी समय वह उदक को छोड़ता है।[४] उक्त मन्त्र को छोड़कर सर्वत्र सायण ने 'वपुस्' का अर्थ शोभार्थ रूप आदि ग्रहण किया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'वपुस्' है, जो द्युलोक, पृथ्वीलोक और अन्तरिक्षलोक को दर्शनीय बना देता है, इस उदक के लिये मरुद्गण नानाविध मेघों को प्रकट करते हैं तथा ये अपने वक्षःस्थल पर विद्युत् रूप आभूषणों को धारण करते हैं, अश्विनीदेव उदक के लिये वाणी (माध्यमिका वाक्) को अपने साथ जोड़ते हैं, यह उदक लोगों के लिये स्तुत्य है, इसीसे नदियाँ प्रवाहित होती है और आपः स्थित होता है, ऋत (आदित्य या इन्द्र) के धारण किये जाने वाले स्थानों पर यह उदक प्रभूत मात्रा में विद्यमान है, यजमान इस उदक को प्राप्त करने के लिये अन्न की आहुति अश्विनीदेवों के लिये प्रदान करता है, यह उदक जानने वाले विद्वान् को प्राप्त होता है, जिस समय इन्द्र हवि देने वाले यजमान के घर की ओर प्रस्थान करता है, उस समय वह इस उदक को बरसाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह उदक वेद की दृष्टि में 'वपुस्' है, जिसके कारण तीनों लोक दर्शनीय हो जाते हैं तथा जिसके बरसने के समय माध्यमिका वाक् और विद्युत् चमकती है। यह यजमान का प्रिय उदक है। इस आधार पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि 'वपुस्' पद का मूल वपन अर्थवाली 'वप्' धातु है, क्योंकि शस्य श्यामला होने पर ही पृथ्वी दर्शनीय होती है। वपन के समय प्राप्त होने वाला उदक होने से सम्भवतः, इसको 'वपुस्' नाम से अभिहित किया गया है।

निघण्टुकोष में 'वपुस्' पद उदक और रूपवाचक गणों परिगणित है।[५] वेद के अध्ययन से यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि अग्नि और आदित्य के प्रकरण में 'वपुस्' पद रूप तथा शरीर के अर्थ का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि अश्विनीदेव एवं इन्द्र के प्रकरण में यह प्रायः उदक अर्थ को द्योतित करता है।

९१. अम्बु

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'अम्बु' पद परिगणित है।[६] आचार्य यास्क उदकवाचक 'अम्बु' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**अरणमम्बु तद्दः**"[७] कि यह जल सर्वत्र प्राप्त होता है, अतः, उसे 'अम्बु'

---

१ ऋ० ४.२३.९. "ऋतस्य दृळहा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।"

२ ऋ० ५.७५.४. "उत वां ककुहो मृगः पृक्षः कृणोति वापुषो माध्वी मम श्रुतं हवम्।"

३ ऋ० ६.६६.१. "तद्विकितुषे चिदस्तु समानं नाम धेनु पत्यमानम्।"

४ ऋ० ८.६९.१३. "यो व्यतींरफाणयत्सुयुक्ताँ उप दाशुषे। तक्वो नेता तदिद्वपुरुपमा यो अमुच्यत"

५ निघ० १.१२.९०, ३.७.४.

६ निघ० १.१२.९१.

७ निरु० ३.१०.

कहते हैं। इस पक्ष में 'ऋ' धातु से 'उ' प्रत्यय होकर 'अर्बु' और उससे 'अम्बु' शब्द उपपन्न होता है। उपर्युक्त निर्वचन के विषय में डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि अर्बुद और अम्बुद ये दोनों शब्द निर्वचन की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध हैं, लेकिन इनका निर्वचन एकदम असङ्गत है।[१]

देवराजयज्वन् उदकवाचक 'अम्बु' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अम्बु (उदकम्)। अर्तेर्धातो:। गच्छति देशाद्देशान्तरं गम्यते वा प्राणिभिरित्यम्बु जलम्**''[२] कि यह एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करता है, अत:, उदक को 'अम्बु' कहते हैं। इस पक्ष में 'ऋ' धातु से औणादिक 'उ' प्रत्यय तथा 'बुक्' का आगम होकर 'अम्बु' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''अमतेरेव वा। गच्छति देशाद्देशान्तरं गम्यते वा प्राणिरित्यम्बु जलम्''[३] कि यह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है, अत:, उदक को 'अम्बु' कहते हैं। इस पक्ष में गत्यर्थक 'अम्' धातु से औणादिक 'उ' प्रत्यय तथा 'बुक्' का आगम होकर 'अम्बु' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद एवं वैदिक साहित्य में 'अम्बु' शब्द का सर्वथा उल्लेख नहीं हुआ है। आचार्य देवराजयज्वन् इसके विषय में '**निगमोऽन्वेषणीय:**' कहते हैं।[४] मोनियर विलियम्स निघण्टुकोष तथा महाभारत के अनुसार 'अम्बु' पद का अर्थ 'उदक' मानते हैं। वराहमिहिर की बृहत्संहिता तथा भावप्रकाश में यह एक प्रकार का Andropogon है। ऋक्प्रातिशाख्य में यह ९० अक्षरों का छन्द माना गया है।[५]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद और वैदिक साहित्य में अप्रयुक्त होने के कारण 'अम्बु' पद के उदक अर्थ के विषय में कुछ कहना सम्भव नहीं है। महाभारत को छोड़कर अन्य किसी पूर्व मध्यकालीन साहित्य में 'अम्बु' का उदकवाचक अर्थ में प्रयोग उपलब्ध नहीं होता है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि वैदिक साहित्य के लिये यह निश्चित रूप से अपरिचित है और उदक अर्थ में भी उसका प्रयोग अधिक प्राचीन नहीं है।

९२. तोयम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'तोयम्' पद परिगणित है।[६] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'तोयम्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**तोयम् (उदकम्)। तवतेर्वृद्धिकर्मण:। वर्द्धते वर्षासु**''[७] कि यह वर्षा में वृद्धि को प्राप्त करता है, अत:, उदक को 'तोयम्' कहा जाता है। इस पक्ष में वृद्ध्यर्थक 'तु' या 'तू' धातु से 'यत्' प्रत्यय होकर 'तोयम्' पद उपपन्न होता है।

---

१ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १२५.

२ निघ०वृ०, १.१२.९१.

३ निघ०वृ०, १.१२.९१.

४ निघ०वृ०, १.१२.९१.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ८३.

६ निघ० १.१२.९२.

७ निघ०वृ०, १.१२.९२.

(ख)''तुदति तोयम्-इति क्षीरस्वामी''[१] कि पिपासा के समय व्यथित कर देने के कारण उदक को 'तोयम्' कहा जाता है, ऐसा क्षीरस्वामी का मत है। इस पक्ष में 'तुद' व्यथने' धातु से 'यत्' प्रत्यय होकर 'तोयम्' पद निष्पन्न होता है।

(ग)''यद्वा, तुदः सौत्र आवरणार्थः''[२] कि (मन और प्राण को) आवृत कर देने के कारण उदक को 'तोयम्' कहा जाता है। इस पक्ष में सौत्र 'तुद्' धातु से 'यत्' प्रत्यय होकर 'तोयम्' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष के अनुसार विशेषणपद 'तूय' से 'तोय' पद व्युत्पन्न हुआ है, लेकिन वे 'तूय' पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध मानते हैं।[३] मोनियर विलियम्स निघण्टुकोष, महाभारत तथा मनुस्मृति[४] के आधार पर 'तोयम्' पद का अर्थ उदक मानते हैं। वे कहते हैं कि '**तोयम्**+'**कृ**' का प्रयोग मृत व्यक्ति को तर्पण के रूप में जल प्रदान करने के लिये होता है।[५] वायुपुराण में यह शल्मली द्वीप में स्थित नदी के लिये आया है।[६]

वेद और वैदिक साहित्य में 'तोयम्' पद का उल्लेख सर्वथा नहीं हुआ है। आचार्य देवराजयज्वन् 'तोयम्' के उदाहरण के रूप में अज्ञात ग्रन्थ का एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। जिसका भाव है कि तोय के कारण जीवित रहते हुए हम भूमि में उत्पन्न हुए।[७] देवीभागवतकार कहता है कि उसीसे यह तोय व्याप्त हुआ है और उसीके आधार पर यह स्थित है।[८] तोय का उल्लेख करता हुआ श्रीमद्भागवतकार कहता है कि जिस प्रकार मछलियों को जल अत्यन्त प्रिय एवं वह उनके जीवन का आधार होता है, उसी प्रकार भगवान् हरि समस्त देहधारियों के प्रियतम आत्मा हैं। उन्हें त्यागकर यदि कोई महत्त्वाभिमानी दम्पती गृह में आसक्त रहता है, तो उसका यह महत्त्व आयु के कारण है, गुण की दृष्टि से नहीं है।[९] हरिवंशपुराण में भगवान् कहते हैं कि मेरी योनि जल है तथा मेरा शरीर उदकमय (तोयमय) है।[१०]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अप्रयुक्त होने के कारण वैदिक साहित्य के आधार पर 'तोयम्' के स्वरूप को स्पष्ट करना सम्भव नहीं है। लेकिन लौकिक साहित्य में यह पद उदक अर्थ का वाचक था, यह अवश्य कहा जा सकता है। यहाँ इसका जीवन के आधारभूत तत्त्व के रूप में उल्लेख हुआ

---

१ निघ०वृ०, १.१२.९२.

२ निघ०वृ०, १.१२.९२.

३ वै०पद०कोष, पृ० १४९३.

४ मनुस्मृति, ५.८. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ४५६.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ४५६.

६ वायुपुराण, २.४.४८. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ४५६.

७ निघ०वृ०, १.१२.९२. ''तोयेन जीवद्भ्यः ससर्ज भूम्याम्।''

८ देवीभागवत, १.६.२९. ''तया ततमिदं तोयं तदाधारं च तिष्ठति।''

९ श्रीमद्भा०, ५.१८.१३. ''हरिर्हि साक्षाद् भगवान् शरीरिणामात्मा झषाणामिव तोयमीप्सितम्। हित्वा महांस्तं यदि सज्जते गृहे तदा महत्त्वं वयसा दम्पतीनाम्।''

१० हरिवंशपुराण, ४५.६०. ''वडवामुखेऽस्य वसतिः समुद्रास्ये भविष्यति। मम योनिर्जलं विप्र तद्य तोयमयं वपुः।''

है। उक्त अध्ययन के आधार पर 'तोयम्' पद के निर्वचन और व्युत्पत्ति को स्पष्ट करना सम्भव नहीं है। इस प्रकार 'तोयम्' पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध मानना उचित प्रतीत होता है।

९३. तूयम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'तूयम्' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'तूयम्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**तूयम् (उदकम्)। तवतेर्वृद्धिकर्मणः। वर्द्धते वर्षासु**"[२] कि वर्षा में बढ़ने के कारण उदक को 'तूयम्' कहा जाता है। इस पक्ष में वृद्धि अर्थवाली 'तु' या 'तू' धातु से 'यत्' प्रत्यय करके 'तूयम्' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रमकोष के अनुसार 'तूयम्' पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। लेकिन ग्रासमैन 'तूयम्' पद को 'तु' धातुमूलक मानते हैं। इसके अतिरिक्त **'त्वर्' त्वरायाम्'** धातु को भी इसका मूल माना जा सकता है। इस पक्ष में **'त्वर्=त्वर्य=तूर्य=तूय'** इस प्रकार व्युत्पत्ति की सम्भावना व्यक्त की जाती है। उक्त कोष के मत में यह पद वेद में क्षिप्रवाचक विशेषण और क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त है।[३] इसके अतिरिक्त वेद में एक स्थान पर 'तूयान्' पद सोम के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है।[४] यहाँ यह सोम की 'रसमयता' का प्रतिपादन करता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'तूयम्' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स 'तूयम्' पद का मूल 'तु' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद शक्तिशाली अर्थ में आया है। निघण्टुकोष के आधार पर वे उक्तपद का अर्थ क्षिप्र और उदक भी बतलाते हैं।[७]

वैदिक साहित्य में 'तूयम्' पद का प्रयोग कतिपय स्थलों पर हुआ है। ऋग्वेद में ऐन्द्र ऋषि इन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम केवल ऐसे यजमानों के सोम का पान करते हो, जो तेरे लिये हर्षदायक, रसम्य्य सोम का पाषाण आदि साधनों से स्वयं सम्पादन करते हैं।[८]

उपर्युक्त मन्त्र के अतिरिक्त वेद में अनेकशः **'तूयम्'** पद का प्रयोग हुआ है, लेकिन सर्वत्र यह क्रिया विशेषण के रूप में आया है। एक स्थूल अनुमान के अनुसार ऋग्वेद में 'तूयम्' पद का प्रयोग १० बार **'या'** धातु के साथ,[९] तीन बार **'आ गहि'** के साथ,[१०] दो बार **'आगतम्'** के साथ[११] तथा एक-एक बार **'एहि'**[१]

---

१ निघ०वृ०, १.१२.९३.

२ निघ०वृ०, १.१२.९३.

३ वै०पद०कोष, पृ० १४९२.

४ ऋ० १०.२८.३.

५ वै०पद०कोष, पृ० १४९३.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० २३३.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ४५२.

८ ऋ० १०.२८.३. "अद्रिणा ते मन्दिन इन्द्र तूयान्त्सुन्वन्ति सोमान् पिबसि त्वमेषाम्।"

९ ऋ० ३.४३.३, २६.५, ६.२२.११, ७.२९.३, ५९.४, ८.५.७, ५६.१, १०.१०.८, १०४.१, ११२.२.

१० ऋ० ८.१.९, ४.३, ६५.९.

११ ऋ० ८.५.१३, २२.१०.

और 'आ ऐतु' के साथ हुआ है।[२] इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि वेद में प्रायः सर्वत्र 'तूयम्' पद क्रिया विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, अतः, वेद में यह उदकवाचक नहीं है। आचार्य देवराजयज्वन् भी सम्भवतः, इस कारण उक्तपद के उदाहरण के लिये '**निगमोऽन्वेषणीयः**' कहते हैं।[३] यह कथन वस्तुपरक मूल्याङ्कन के पश्चात् सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि मात्र एक मन्त्र से 'तूयम्' पद के विशिष्ट स्वरूप का निर्धारण करना सम्भव नहीं है। जहाँ तक 'तूयम्' के निर्वचन और व्युत्पत्ति का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। फिर भी, 'तूयम्' पद के 'त्वर्' धातुमूलक होने की क्षीण सम्भावना को स्वीकार किया जा सकता है।

९४. कृपीटम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'कृपीट' पद परिगणित है।[४] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'कृपीट' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**कृपीटम् (उदकम्)। 'कृपू' सामर्थ्ये। कल्पते तापनिवारणाय**"[५] कि यह ग्रीष्मादि का ताप निवारण करने में समर्थ है, अतः, उदक को 'कृपीट' कहा जाता है। इस पक्ष में '**कृप्**'+**कीटन्**' से '**कृपीट**' शब्द निष्पन्न होता है। उणादिकोष से उक्त व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है।[६]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष में 'कृपीट' पद का मूल महाभाष्य के वार्तिक के अनुसार 'कृप्' धातु है। उनके मत में यह एक तृण, गुल्म वाचक नामपद है, विपरीत अर्थ में इसकी उदक से तुलना की जा सकती है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'कृपीट' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[८] मोनियर विलियम्स 'कृपीट' पद का मूल 'कृप्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद ईंधन के अर्थ में आया है। कोषकार भी इस पद का अर्थ ईंधन, काष्ठ और अरण्य अर्थ मानते हैं।[९]

वैदिक साहित्य में उक्तपद का प्रयोग अत्यल्प हुआ है। चारों वेदों में से केवल ऋग्वेद में इसका एक बार उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में ऐन्द्र ऋषि इन्द्र देवता के प्रकरण में कहते हैं कि इन्द्र से प्रेरित मरुदादि देवगण मेघवध के लिये आगे आते हैं और अपने हाथों में परशुओं (वज्रों) को धारण करते हैं। जिस प्रकार परशुओं से वृक्ष काटे जाते हैं, उसी प्रकार वज्र से मनुष्यों के साथ ये देवगण मेघ को काटते हैं। इसके अतिरिक्त ये देवगण नदियों में बहने वाले उदक को नियमपूर्वक स्थापित करते हैं। जिस-जिस मेघ में उदक

---

१ ऋ० ८.४.८.

२ ऋ० १०.११०.८.

३ निघ०वृ०, १.१२.९३.

४ निघ० १.१२.९४.

५ निघ०वृ०, १.१२.९४.

६ उणा०, ४.१८६. "कृतृकृपिभ्यः कीटन्।"

७ वै०पद०कोष, पृ० ११६३.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० १७६.

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ३०९.

(कृपीट) होता है, उसको ये अपने वज्र से प्रहार से भस्म कर देते हैं।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'कृपीट' है, जिसके कारण मरुदादि देवगण देखते ही मेघ का वध कर देते हैं। इस प्रकार वेद के ऋषि की दृष्टि में वर्षणीय उदक 'कृपीट' नाम से अभिहित हुआ है। लेकिन उपर्युक्त निर्वचन और व्युत्पत्ति से उक्त अर्थ की स्पष्टरूप से प्रतीति होती दिखायी नहीं देती है। निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि यद्यपि 'कृपीट' का मूल 'कृप्' धातु है, लेकिन इसकी पुष्टि उपलब्ध प्रमाणों से नहीं हो पाती है।

९५. शुक्रम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'शुक्र' पद परिगणित है।[२] आचार्य यास्क 'शुक्र' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मण:**"[३] कि उज्ज्वल वर्ण दीप्त होने के कारण 'शुक्र' कहलाता है। इस पक्ष में दीप्त्यर्थक 'शुच्' धातु से 'शुक्र' शब्द व्युत्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'शुक्र' शब्द का निम्न निर्वचन करते हैं:-"**शुक्रम् (उदकम्)। 'शुच' दीप्तौ'। शोचते शुक्र:**"[४] कि दीप्त होने के कारण उदक को 'शुक्र' कहा जाता है। इस पक्ष में दीप्त्यर्थक 'शुच्' धातु से औणादिक 'र' प्रत्यय, निपातन से गुणाभाव तथा ककारान्तादेश होकर 'शुक्र' शब्द उपपन्न होता है। उणादिकोष से उक्त व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है।[५]

(ख)"यद्वा, शोचतेर्ज्वलतिकर्मण:। शुचि तद्यस्य रो मत्वर्थीय:। दीप्तमित्यर्थ:"[६] कि ज्वलनशील होने से उदक (वीर्य) को 'शुक्र' कहा जाता है। इस पक्ष में ज्वलत्यर्थक 'शुच्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'शुक्' और उससे मत्वर्थीय 'र' प्रत्यय होकर 'शुक्र' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष के अनुसार 'शुच्' धातु से औणादिक 'रक्' प्रत्यय होकर 'शुक्र' शब्द व्युत्पन्न होता है। वेद में भाववाचक पद के रूप में प्रयुक्त होने पर इसका अर्थ 'अर्चिस्', विशेषणपद होने पर 'दीप्तिमान्' तथा नामपद होने पर उक्तपद का अर्थ सोम, ज्येष्ठमास, ग्रहविशेष है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी 'शुच्' धातु को 'शुक्र' शब्द का मूल मानती है।[८] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद, वाजसनेयि-संहिता, ब्राह्मणग्रन्थ एवं महाभारत में 'शुक्र' पद दीप्तिमान्, स्वच्छ, निर्मल अर्थ में आया है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, शाङ्खायन- ब्राह्मण में यह उज्ज्वल या शुभ्र वर्ण के अर्थ में आया है। ऋग्वेद तथा ब्राह्मणग्रन्थ में यह निर्दोष एवं शुद्ध अर्थ में देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद एवं

---

१ ऋ० १०.२८.८. "देवास आयन्परशूँरबिभ्रन्वना वृश्चन्तो अभि विड्भिरायन्। नि सुद्रवं१ दधतो वक्षणासु यत्रा कृपीटमनु तद्दहन्ति।"

२ निघ० १.१२.९५.

३ निरु० ८.११.

४ निघ०वृ०, १.१२.९५.

५ उणा०, २.२७.

६ निघ०वृ०, १.१२.९५.

७ वै०पद०कोष, पृ० ३११४.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० ५२५.

वाजसनेयि-संहिता में यह निर्मल तरल द्रव के लिये भी आया है।[१] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में यह पद 'kuq' चमकने के अर्थ में तथा ग्रीक में 'kuknos' हंस के अर्थ में है। वे मानते हैं कि यह तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वार पूर्णरूप से स्वीकार करने योग्य है।[२] वेद से प्राप्त कतिपय सङ्केत भी 'शुक्र' का मूल 'शुच्' धातु मानते हैं।[३]

वैदिक साहित्य में 'शुक्र' शब्द का प्रचुर प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में पराशर ऋषि कहते हैं कि यह आदित्य के समान अग्नि, शुक्रम्=उदक को, सिमस्मात्=सम्पूर्ण जगत् से, उत्=ऊपर, अजते=पहुँचाता है। मातृभ्यः=स्वमातृस्थानीय वृष्ट्युदकों से, नवा=नवीन, वसना=सम्पूर्ण जगत् के आच्छादक तेजों को, जहाति=प्रकट करता है।[४] गोतम ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! इस अभिषुत श्रेष्ठ, अमारक सोम का पान करो। ऋतस्य=उदक के, सदने=स्थान अन्तरिक्ष में वर्तमान, शुक्रस्य=उदक की धारायें, त्वाम्=तुम्हें लक्ष्य बनाकर, अभ्यक्षरन्=बरस रही हैं।[५] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि माता-पिता रूप द्यावापृथिवी को रश्मियों से पवित्र करने वाला, धीमान्, फल को धारण करने वाला पुत्रस्थानीय आदित्य अपनी माया (प्रज्ञा) से लोकों को प्रकाशित करता है। वह पुत्र सर्वदा शुक्लवर्ण वाली भूमि (धेनु) को सुरेतस् (शोभन उदकवती) बनाता है तथा निर्मल (शुक्रम्) पयस् (उदक) को इसके लिये दुहता है।[६] यहाँ 'पयस्' के विशेषण के रूप में 'शुक्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। गृत्समद ऋषि कहते हैं कि हे नियमपूर्वक चलने वाले वायो! तुम यहाँ आओ। यह शुक्र (उदक) तुम्हारे लिये नियत है, क्योंकि तुम अभिषुत होने वाले स्थान (अन्तरिक्ष) में जाने वाले हो।[७] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र (सूर्य)! तेरे आनन्द के लिये हम किरणों से मिश्रित, मथनयुक्त, अभिषुत उदक को देते हैं, उसका तुम पान करो।[८] वामदेव ऋषि कहते हैं कि एक स्थान पर स्थित रहता हुआ भी यह अन्नदाता (वयोधा) अग्नि अपने तेज से सर्वत्र विचरण करता है तथा यह उदकों की वृष्टि करने वाले अन्तरिक्ष के लिये मेघों के उदक (शुक्र) को दुहता है।[९] एक अन्य स्थान पर वामदेव ऋषि कहते हैं कि मघवा इन्द्र सूर्य की किरणों से सम्पृक्त शुभ्र कलश के समान भूमि के अन्न और उदक (शुक्र) की वृद्धि करता है।[१०] अत्रि ऋषि कहते हैं कि चकृवांसः=प्रजा के कल्याण के लिये कार्य करते हुए, अध्वर्यवः=अहिंसक विद्वान् अर्थात् वैज्ञानिक, वायवे=वायुविद्या के लिये, चारु=गमनशील, मधूनि=मधुररसयुक्त, शुक्रम्=उदक का, भरत=सम्पादन

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, १०८०.

२ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ५२.

३ ऋ० १.१२.१२, ४८.१४, ६९.१, अथर्व०, २०.१७.९.

४ ऋ० १.९५.७. "उच्छुक्रमत्कमजते सिमस्मान्नवा मातृभ्यो वसना जहाति।"

५ ऋ० १.८४.४. "इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम्। शुक्रस्य त्वामभ्यक्षन्धारा ऋतस्य सादने।"

६ ऋ० १.१६०.३. "स वह्निः पुत्रः पित्रोः पवित्रवान्पुनाति धीरो भुवनानि मायया। धेनुं च पृश्निं वृषभं सुरेतसं विश्वाहा शुक्रं पयो अस्य दुक्षत।"

७ ऋ० २.४१.२ "नियुत्वान्वायवा गह्ययं शुक्रो अयामि ते। गन्तासि सुन्वतो गृहम्।"

८ ऋ० ३.३२.२. "गवाशिरं मन्थिनमिन्द्र शुक्रं पिबा सोमं ररिमा ते मदाय।"

९ ऋ० ४.३.१०, ६.६६.१. "अस्पन्दमानो अचरद्वयोधा वृषा शुक्रं दुदुहे पृश्निरूधः।"

१० ऋ० ४.२७.५. "अध श्वेतं कलशं गोभिरक्तमापिप्यानं मघवा शुक्रमन्धः।"

करें।[१] तैत्तिरीय-संहिता कहती है कि शुक्र ही आपः है।[२] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि तेज ही शुक्र है और वही अमृत है।[३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'शुक्र' है, जो अग्नि के प्रभाव से ऊपर अन्तरिक्ष में पहुँच जाता है, इन्द्र को लक्ष्य बनाकर उदक के स्थान अन्तरिक्ष से बरसने वाली जलधारायें शुक्र हैं, पृथ्वी के लिये पुत्रस्थानीय आदित्य इस निर्मल उदक को दुहता है, वायुदेव इस उदक का पान करते हैं, सूर्य (इन्द्र) किरणों से मिश्रित उदक का पान करता है, अन्तरिक्ष के लिये इस उदक को अग्नि दुहता है, इन्द्र सूर्य किरणों से सम्पृक्त भूमि के अन्न और उदक की वृद्धि करता है, वायुविद्या के लिये वैज्ञानिक मधुर उदक का सम्पादन करते हैं। यह तथ्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि शुक्र का प्रयोग प्रायः अग्नि और कभी-कभी इन्द्र (सूर्य) के साथ हुआ है। इससे यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि वह उदक 'शुक्र' है, जो अग्नि या सूर्य की किरणों के सम्पर्क में आने से अग्नि गुणयुक्त हो गया है। सम्भवतः, वीर्य को शुक्र नाम से अभिहित करने के मूल में यही कारण है। उष्णस्वभाव होना शुक्र का शुक्रत्व है। इस वैशिष्ट्य को ध्यान में रखते हुए निर्विवादरूप से 'शुच' दीप्तौ' धातु को 'शुक्र' का मूल माना जा सकता है।

९६. तेजः

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'तेजस्' पद परिगणित है।[४] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'तेजस्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**तेजः (उदकम्)। 'तेजृ' पालनयोः'। तेजयति पालयति प्राणिनः पिपासादिनिवारणात्**''[५] कि पिपासादि का निवारण करके प्राणियों का पालन करता है, अतः, उदक को 'तेजस्' कहते हैं। इस पक्ष में 'तेज्' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'तेजस्' रूप निष्पन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, 'तिज' निशाने'। अग्निजत्वादपां कार्य्यकारणयोरभेदोपचारात् तेज इत्युक्तिः**''[६] कि कार्य और कारण में अभेद मानते हुए अग्निज होने के कारण उदकों को 'तेजस्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'तिज्' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'तेजस्' रूप उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष के अनुसार 'तिज्' धातु से भाव अर्थ में औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'तेजस्' पद निष्पन्न होता है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी 'तेजस्' का मूल 'तिज्' धातु को मानती है।[८] मोनियर विलियम्स का भी यही अभिमत है। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'तेजस्' शब्द किनारे से तीक्ष्ण धार

---

१ ऋ० ५.४३.३. ''अध्वर्यवश्चकृवांसो मधूनि प्र वायवे भरत चारु शुक्रम्।''

२ तै०सं० १.७.६.३. ''शुक्रा ह्यापः।''

३ शत०ब्रा०, १.३.१.२८. ''तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि।''

४ निघ० १.१२.९६.

५ निघ०वृ०, १.१२.९६.

६ निघ०वृ०, १.१२.९६.

७ वै०पद०कोष, पृ० १४७६.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० २२९.

वाला, नुकीला, अग्निज्वाला, किरण, दीप्ति, तीव्र प्रकाश, दीप्तिमान्, प्रकाश, अग्नि अर्थ में आया है।[१]

वेदों में 'तेजस्' पद का बहुत न्यून उल्लेख प्राप्त होता है, लेकिन अन्य वैदिक साहित्य में यह प्रचुरमात्रा में उपलब्ध है। पराशर ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार द्युलोक के मध्य में पवित्र रेतस् (उदक) स्थापित है, उसी प्रकार नृपति (नरश्रेष्ठ) में तेज (वीर्य) व्याप्त रहता है।[२] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार पर्वतों को मेघ प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार कन्यायें (वेनाः) कुशल, ज्ञानवान् एवं बलवान् युवक को तेज से प्राप्त करती हैं।[३] भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि बाण के फेंकने वाले के समान यह अग्नि अपनी ज्वाला को धारण करता है और उसको धारण करके अपने तेज को यह उसी प्रकार तीक्ष्ण करता है, जिस प्रकार परशु आदि की धार को तीक्ष्ण किया जाता है।[४] शतपथ-ब्राह्मण आज्य को तेज, शुक्र और अमृत बतलाता है।[५] शाङ्खायन आरण्यक एवं कौषीतकि उपनिषद् का मत है कि जल में तेज प्रतिष्ठित है।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि स्त्री और पुरुष में वीर्य रूप में विद्यमान रहने वाला तत्त्व 'तेजस्' है। आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'तेजस्' के लिये **'निगमोऽन्वेषणीयः'** कहते हैं।[७] सभी कोशकार एक मत से 'तेजस्' के उदक अर्थ का समर्थन नहीं करते हैं। कालिदास ने 'तेजस्' का प्रयोग 'वीर्य' अर्थ में किया है।[८] तरल होने से वीर्य की उदकरूपता स्वीकार की जा सकती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि निघण्टुकार के समय यह भले ही पद उदक अर्थ में प्रचलित हो, लेकिन आज उपलब्ध साहित्य के आधार पर 'तेजस्' को स्पष्टरूप से उदकवाचक मानना सम्भव प्रतीत नहीं होता है। जहाँ तक व्युत्पत्ति और निर्वचन का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि निःसन्दिग्धरूप से 'तिज' निशाने' धातु 'तेजस्' पद का मूल है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि 'तेजस्' पद अग्नि और उसके गुण का अभिधायक है।

९७. स्वधा

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'स्वधा' पद परिगणित है।[९] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'स्वधा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**स्वधा (उदकम्)। स्वशब्दे उपपदे 'डुधाञ्' दानधारणयोः'। स्वमात्मानं सर्वान्तर्यामिनं भगवन्तं नारायणं धारयति। आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः (मनु०,१.१०.)**''[१०] कि सर्वान्तर्यामी भगवान् नारायण को धारण करने के कारण उदक को 'स्वधा' कहा जाता है। मनुस्मति कहती है कि जल को 'नारा' कहते हैं, क्योंकि वह नर

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ४५४.

२ ऋ० १.७१.८. ''आ यदिषे नृपतिं तेज आनट्छुचि रेतो निषिक्तं द्यौरभीके।''

३ ऋ० १.५६.२. ''पतिं दक्षस्य विदथस्य नू सहो गिरिं न वेना अधि रोह तेजसा।''

४ ऋ० ६.३.५. ''स इदस्तेव प्रति धादसिष्यञ्छिशीत तेजोऽयसो न धाराम्।''

५ शत०ब्रा०, १.३.१.२८. ''तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि।''

६ शा०आ०, ६.२, कौ०उप०, ४.२. ''अप्सु तेजः (प्रतिष्ठितम्)।''

७ निघ०वृ०, १.१२.९६.

८ कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ४.४. ''दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः।''

९ निघ० १.१२.९७.

१० निघ०वृ०, १.१२.९७.

(रूप परमात्मा) की सन्तान है। वह 'नारा' (जल) परमात्मा का प्रथम आश्रय (निवासस्थान) है, इस कारण से परमात्मा 'नारायण' कहे जाते हैं। इस पक्ष में 'स्व+'धा'+क' से 'स्वधा' शब्द उपपन्न होता है।

(ख) यद्वा, स्वधनं ददातीति वा''[१] कि यह अपना धन दे देता है, अतः, उदक को 'स्वधा' कहा जाता है। इस पक्ष में 'स्व+'दा'+क' से 'स्वधा' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'स्वधा' पद की तीन व्युत्पत्तियाँ देता है, प्रथम के अनुसार **'स्वध्'**, द्वितीय के अनुसार **'स्व+'धा'** तथा तृतीय के अनुसार **'स्वद्'** धातु से **'स्वधा'** शब्द उपपन्न होता है। इनमें से तृतीय मत अमरकोषीय भानुदीक्षितवृत्ति का है। उनके अनुसार यह भाववाचक एवं नामपद है। वेङ्कट, सायण तथा गेल्डनर 'स्वधा' का अर्थ विशिष्ट गुण एवं बल मानते हैं। ग्रासमैन एवं पेटर्सबर्ग इसका 'स्वायत्तता' अर्थ मानने के पक्ष में हैं, जबकि निघण्टु में यह अन्न और द्यावापृथिवी अर्थ में परिगणित है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'स्वधा' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स 'स्वधा' का विग्रह 'स्व+धा' करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में स्वस्थिति, स्वशक्ति, अन्तःशक्ति (कुछ विद्वानों के मत में यह प्रकृति का नाम है), नियम, प्रथा, पारम्परिक स्थिति अर्थ में है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, वाजसनेयि-संहिता एवं तैत्तिरीय-ब्राह्मण में उक्तपद सुविधा, सरलता, आनन्द, सहजरूप से, स्वतन्त्रतापूर्वक अर्थ में देखने को मिलता है।[४]

वैदिक साहित्य में 'स्वधा' शब्द का व्यापक प्रयोग देखने को मिलता है। अन्य अर्थों के अतिरिक्त इसका उदक अर्थ में भी प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि इन मरुतों के स्कन्धों पर ऋष्टियाँ स्थित थीं, ऐसे अन्तरिक्ष का नेतृत्व करने वाले मरुत् उदक (स्वधा) के साथ उत्पन्न हुए।[५] उक्त मन्त्र में सायण ने 'स्वधा' का अर्थ 'स्वकीय बल' लिया है, जबकि स्वामी दयानन्द पृथिवी, आकाश तथा अन्न लेते हैं।[६] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि इन्द्र (वायु) और अग्नि (विद्युत्) उदय होकर सूर्य और अन्तरिक्ष के मध्य में उदक के साथ प्रसन्न होते हैं।[७] दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि जिस विष्णु के मधुरादि गुण से पूर्ण, कभी न क्षीण होने वाले तीन लोक, स्वधा (अमृत) से आश्रित प्राणियों को आनन्दित करते हैं।[८] यहाँ पेय होने के कारण अमृत को उदक माना जा सकता है। अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि हे मरुतो! तुम्हारा वह उदक कहाँ है, जिसे तुम मेघवर्षण के समय धारण करते हो?[९] उक्त मन्त्र के व्याख्यान में सायण ने 'स्वधा' का अर्थ 'उदक' ग्रहण किया है।[१०] एक अन्य मन्त्र में अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि हे होता! उस इन्द्र की स्तुति करो, जो मनुष्यों

---

१ निघ०वृ०, १.१२.९७.

२ वै०पद०कोष, पृ० ३५२०.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ५९८.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, १२७८.

५ ऋ० १.६४.४. ''अंसेष्वेषां नि मिमृक्षुर्ऋष्टयः साकं जज्ञिरे स्वधया दिवो नरः।''

६ सायण एवं दयानन्दभाष्य, ऋ० १.६४.४.

७ ऋ० १.१०८.१२, १०.१५.१४. ''यदिन्द्राग्नी उदिता सूर्यस्य मध्ये दिवः स्वधया मादयेथे।''

८ ऋ० १.१५४.४. ''यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।''

९ ऋ० १.१६५.६. ''क्व स्या वो मरुतः स्वधासीद्यन्मामेकं समधत्ताहिहत्ये।''

१० सायणभाष्य, ऋ० १.१६५.६.

का एकमात्र सहायक है। उस इन्द्र की वृष्टिरूप अनुग्रह की अपेक्षा से भूमि में यवादि बोया जाता है, वह वर्षक इन्द्र सभी बीजों को बार-बार अङ्कुरित करता है।[१] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि हे विद्वानो! उदकादि में अन्तर्हित इस अग्नि को तुममें से कौन जानता है अर्थात् कोई नहीं। यह विद्युत्‌रूप अग्नि मेघस्थ उदकों का पुत्रस्थानीय होता हुआ मातृस्थानीय उदकों से अन्न उत्पन्न करता है।[२] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि स्वधा (उदक, अन्नादि) के सहयोग अथवा पूर्वकृत संस्कारों के बल से जीव मरणशील शरीर में रहता है। यह अमर्त्य जीव मरणशील योनि में साथ-साथ रहता है।[३] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि हे शोभनदान करने वाले अश्विनीदेवो! जब तुम अश्वों को रथ में संयुक्त करते हो, तब बहुतों को धारण करने वाली पृथ्वी को स्वधा (उदक) से रचते हो।[४] मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि वर्षा के अनन्तर ही, स्वधामनु=उत्पन्न होने वाले उदक को लक्ष्य बनाकर मरुतों ने मेघ के मध्य में गर्भ स्थापित करने वाले पर्जन्य को प्रेरित किया।[५] स्वधा के विषय में शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि स्वधा का तात्पर्य रस होता है।[६] जैमिनीय-ब्राह्मण स्वधा को वृष्टि के रूप में चित्रित करता है।[७]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'स्वधा' है, जो ऋष्टि धारण करने वाले मरुतों के साथ उत्पन्न होता है, इस उदक के साथ अन्तरिक्ष में इन्द्र (वायु) और अग्नि (विद्युत्) प्रसन्न होते हैं, विष्णुलोक में जीव स्वधा (अमृत) से आनन्द प्राप्त करते हैं, मेघवर्षण के समय मरुत् इस स्वधा को धारण करते हैं, इन्द्र के वृष्टिरूप स्वधा से भूमि में यवादि बोया जाता है, स्वधा (उदक) के साथ रहने वाली अग्नि के रहस्य को कोई नहीं जानता, यह पुत्र स्थानीय अग्नि ही मातृस्थानीय उदकों से अन्न को उत्पन्न करता है, स्वधा (उदक) अथवा पूर्वकृत संस्कारों के बल से अमर्त्य जीव मरणशील शरीर में रहता है, अश्विनीदेव पुरंधि (बहुतों को धारण करने वाली) पृथ्वी को उदक से रचते हैं, वर्षा के अनन्तर उत्पन्न होने वाले उदक को लक्ष्य बनाकर मरुत् पर्जन्य को प्रेरित करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में वह उदक 'स्वधा' है, जिससे आनन्द की प्राप्ति होती है, इसीसे अन्न उत्पन्न होता है। इस विशेषता को ध्यान में रखकर कह सकते हैं कि '**स्वयं दधातीति स्वधा**' जो स्वयं धारण कर लेता है जो अथवा स्वयं धारण हो जाता है, वह उदक वैदिक ऋषि की दृष्टि में 'स्वधा' है। इस तथ्य के आधार पर '**स्व**+'**धा**' धातु को '**स्वधा**' पद का मूल माना जा सकता है।

---

१ ऋ० १.१७६.२. ''तस्मिन्ना वेशया गिरो य एकश्चर्षणीनाम्। अनु स्वधा यमुप्यते यवं न चर्कृषद्वृषा।''

२ ऋ० १.९५.४. ''क इमं वो निण्यमाचिकेत वत्सो मातॄर्जनयत स्वधाभिः।''

३ ऋ० १.१६४.३०. ''जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।''

४ ऋ० १.१००.६. ''नि यद्युवेथे नियतः सुदानू उप स्वधाभिः सृजथः पुरंधिम्।''

५ ऋ० १.६.४. ''आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। दधाना नाम यज्ञियम्।''

६ शत०ब्रा०, ५.४.३.७. ''स्वधायै त्वेति रसाय त्वेत्येवैतदाह।''

७ जै०ब्रा०, ३.३७३. ''स्वधा वृष्टिः।''

९८. वारि

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'वारि' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क 'वारि' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**वारि वारयति**"[२] कि वारण किये जाने के कारण इसे 'वारि' कहा जाता है। इस पक्ष में 'वारय्' धातु से 'वारि' रूप सिद्ध होता है। आचार्य ने जिस मन्त्र के प्रसङ्ग में 'वारि' पद का निर्वचन किया है, पदपाठकार के अनुसार वहाँ शब्द 'वा:' या 'वार्' है।[३]

आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'वारि' शब्द का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**वारि (उदकम्)। ऊर्णोते:। वार्य्यते तत् सेत्त्वादिभि: पुरुषै:**"[४] कि सेतु आदि के द्वारा आच्छादित कर दिये जाने से उदक को 'वारि' कहा जाता है। इस पक्ष में 'आच्छादनार्थक 'ऊर्ण्' धातु से औणादिक 'इण्' प्रत्यय होकर 'वारि' शब्द निष्पन्न होता है।

उणादिकोष 'वारय्' धातु से 'इञ्' प्रत्यय करके 'वारि' शब्द व्युत्पन्न करता है। उणादिवृत्तिकार 'वारि' का निम्न निर्वचन देते हैं:-"**वारयति निवारयति वारि:, गजबन्धनी शृङ्खला वा। जले नपुंसकम्-वारि।**[५]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष के अनुसार 'वारि' एक उदकवाचक नामपद है और इसकी व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[६] मोनियर विलियम्स 'वारि' पद का मूल 'वृ' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार मनुस्मृति तथा महाभारत में यह पद उदक, वर्षा, तरल द्रव्य, तरलता के अर्थ में आया है। ऋक्प्रातिशाख्य में यह छन्द का नाम है।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि यास्क उदकवाचक 'वारि' पद को वारण अर्थ वाली 'वारय्' धातु से व्युत्पन्न करते हैं। इसका शाब्दिक अर्थ है:-जो उष्णता, पिपासा और रोगों को दूर करता है। लेकिन भारोपीय भाषा में 'u̯er' आर्द्र अर्थ में तथा ऐंग्लो सेक्सन में 'woer' वृष्टि और उदक अर्थ में है। भाषाविज्ञान के अविकसित तथा वैदिक ग्रन्थों के पर्याप्त शोध के अभाव में वे उक्त निर्वचन को आदिम मानते हैं।[८]

वैदिक साहित्य, विशेषरूप से वेदों, में 'वारि' पद का सर्वथा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। यजुर्वेद में तीन स्थानों पर 'वारितीनाम्' पद का अवश्य प्रयोग देखने को मिलता है।[९] इसके अतिरिक्त पैप्पलाद-संहिता में भी 'वारिवाह' (मेघ) पद का प्रयोग हुआ है।[१०] लेकिन इतने सङ्क्षिप्त विवरण के आधार पर कुछ भी

---

१ निघ०वृ०, १.१२.९८.

२ निरु० ९.२.

३ ऋ० ९.११२.४. "शेपौ रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन्मण्डूक इच्छतीयेन्द्रो परि स्रव।"

४ निघ०वृ०, १.१२.९८.

५ उणा०, ४.१२६. "वसिवपियजिराजिव्रजिसदिहनिवाशिवादिवारिभ्य इञ्।"

६ वै०पद०कोष, पृ० २८२४.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ९४३.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ८३.

९ यजु०, २१.५७, २८.२१, ४४.

१० पै०सं० २०.४९.९.

निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है। जहाँ तक निर्वचन और व्युत्पत्ति का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि 'वारि' पद 'वृ' धातुमूलक है।

संस्कृत 'वारि' और फारसी 'बारिश' में पर्याप्त रूपसाम्यता है। इस रूपसाम्यता के आधार पर यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि वाष्पीकरण के पश्चात् वृष्टि रूप में बरसने वाला, पृथ्वी के प्रदूषणादि सम्पर्कजन्य दोषों से रहित उदक सम्भवतः, प्राचीन काल में 'वारि' कहा जाता होगा। इस प्रकार उदक की शुद्धतम अवस्था वारि है और पूर्णरूप से वरणीय होने के कारण यह 'वारि' अभिधान का अधिकारी हुआ होगा, यह कहा जा सकता है।

९९. जलम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'जल' शब्द परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'जल' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**जलम् (उदकम्)। 'जल' घातने'। जलति शीतं भवति**''[२] कि शीतल होने के कारण उदक को 'जल' कहा जाता है। इस पक्ष में 'जल्' धातु से 'जल' शब्द उपपन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, जायत इति जः। जैः जातैः प्राणिभिः लायते आदीयते इति जलम्**''[३] कि उत्पन्न प्राणियों के द्वारा ग्रहण किया जाता है, अतः, उदक को 'जल' कहा जाता है। इस पक्ष में 'जन्'+ड'=ज' तथा 'ज+'ला'+क' से 'जल' शब्द उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'जल' को वारिवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार 'जल' की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[४] मोनियर विलियम्स के मत में 'जल' शब्द का मूल 'जल्' धातु है। उनके अनुसार निघण्टुकोष, महाभारत तथा याज्ञवल्क्यस्मृति (१.१७.) में यह उदक और किसी भी तरल द्रव्य का वाचक है।[५]

वैदिक साहित्य, विशेषरूप से, वेदों में 'जल' शब्द का सर्वथा उल्लेख नहीं हुआ है। लेकिन पैप्पलाद-संहिता में 'जल' शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद से सम्बन्धित उद्धरण प्राप्त न होने से 'जल' का विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट हो पाना सम्भव नहीं है। आचार्य देवराजयज्वन् का ध्यान भी इस ओर गया है। वे इस विषय में '**निगमोऽन्वेषणीयः**' कहते हैं।[७] जहाँ तक व्युत्पत्ति का प्रश्न है, संस्कृत व्याकरण का एक सामान्य नियम '**डलयोरभेदः**' है अर्थात् 'ड' का 'ल' में और 'ल' का 'ड' में परिवर्तन हो जाता है। इस

---

१ निघ० १.१२.९९.

२ निघ०वृ०, १.१२.९९.

३ निघ०वृ०, १.१२.९९.

४ वै०पद०कोष, पृ० १३६४.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ४१४.

६ पै०सं० ७.११.८, १७.१२.९.

७ निघ०वृ०, १.१२.९९.

नियम के अनुसार 'जड' शब्द के 'ड' को 'ल' होकर 'जल' शब्द निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार निष्पन्न 'जल' शब्द का अर्थ होता है:-'जो अङ्गों को जड अर्थात् जडवत् (अत्यधिक शीतल) बना देता है, वह उदक 'जल' है।' यही कारण है कि जनसामान्य के द्वारा केवल गङ्गा के उदक को 'जल' कहा जाता है, जबकि अन्य यमुना आदि नदियों का उदक 'जल' नाम से अभिहित नहीं होता है। लोकभाषा में प्रचलित उक्त अर्थ की प्रतीति 'जल' घातने' धातु से हो जाती है। इस प्रकार हम 'जल्' धातु को 'जल' शब्द का मूल मान सकते हैं।

१००. जलाषम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक नामपदों में 'जलाष' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'जलाष' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**जलाषम् (उदकम्)। जशब्दोपपदे: लषे:। जै: जातै: लष्यते वाञ्छ्यते इति जलाषम्**''[२] कि उत्पन्न हुए प्राणियों के द्वारा यह वाञ्छित होता है, अत:, उदक को 'जलाष' कहा जाता है। इस पक्ष में **'जन्'+ड+'लष्'+घञ्'** से 'जलाष' शब्द उपपन्न होता है।

(ख)''यद्वा, जलाषमिति सुखनाम, सुखहेतुत्वादपां तद्धेतौ ताच्छब्द्यम्''[३] कि जलाष यह सुखवाचक नामपद है। सुख हेतु होने से उदक को भी 'जलाष' कहा जाता है। इस पक्ष में सुखवाचक 'जलाष' शब्द ही उदक अर्थ में परिणत होगया है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'जलाष' पद के अर्थ और व्युत्पत्ति दोनों सन्दिग्ध मानता है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'जलाष' को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'जल' से 'जलाष' को व्युत्पन्न मानते हैं।[६]

वैदिक साहित्य में 'जलाष' पद का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में गृत्समद ऋषि कहते हैं कि हे रुद्र! जल में उत्पन्न होने वाली ओषधियों से युक्त तुम्हारा सुख देने वाला हाथ कहाँ है? उस हाथ से मेरी रक्षा करो।[७] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि हे सुखस्वरूप रुद्र! दुष्टों को रुलाने वाले गुणों के साथ हमारा कल्याण करो।[८] उक्त मन्त्र में 'जलाष' पद रुद्र के विशेषण (सुखस्वरूप) के रूप में आया है। घोरपुत्र कण्व ऋषि कहते हैं कि हम उस रुद्र से सुख की याचना करते हैं, जो स्तुति और यज्ञकर्ता का पालक तथा उदकरूप औषध से युक्त है।[९] प्रस्तुत मन्त्र में सायण ने 'जलाष' का अर्थ 'उदक' किया है। वे कहते हैं कि रुद्र नाम से

---

१ निघ० १.१२.१००.

२ निघ०वृ०, १.१२.१००.

३ निघ०वृ०, १.१२.१००.

४ वै०पद०कोष, पृ० १३६४.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० २११.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, ४१६.

७ ऋ० २.३३.७. ''क्व१ स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।''

८ ऋ० ७.३५.६. ''शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु।''

९ ऋ० १.४२.४. ''गाथपतिं मेधपतिं रुद्रं जलाषभेषजम्। तच्छंयोः सुम्नमीमहे।''

अभिमन्त्रित होने पर उदक औषध हो जाता है।[१] वैवस्वत मनु ऋषि कहते हैं कि अपने तेज से सर्वत्र प्रकाशमान अथवा शत्रुओं को शोक देने वाला, उग्र (भयङ्कर बलशाली) रुद्र उदकरूप औषध वाला है। वह तीक्ष्ण आयुध अपने हाथ में धारण करता है।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह उदक 'जलाष' है, जिस (जल) से उत्पन्न ओषधियाँ रुद्र के हाथ में स्थित हैं, जिस प्रकार रुद्र की विशेषता स्तुति एवं यज्ञकर्ता की रक्षा मानी जाती है, उसी प्रकार वह उदकरूप या उदक से उत्पन्न होने वाली औषधियों से युक्त है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार रुद्र और औषधियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं, उसी प्रकार 'जलाष' (उदक) और औषधि का अन्योन्य सम्बन्ध है। निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि वह उदक 'जलाष' है, जिससे या जिसमें रुद्र (भिषक्) के लिये औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर 'जल्' एवं 'शी' धातु के संयोग से 'जलाष' पद व्युत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार निष्पन्न 'जलाष' शब्द का अर्थ होगा:-'कि जिस जल में औषधियाँ शयन करती हैं, वह उदक 'जलाष' है।' उपर्युक्त प्रकार से निष्पन्न 'जलाष' पद वेद की भावना के अधिक निकट होगा। फिर भी, सम्भावना मात्र होने से उक्त व्युत्पत्ति को सन्दिग्ध मानना उचित है।

१०१. इदम्

निघण्टुकोष के उदकवाचक गण में 'इदम्' पद परिगणित है।[३] आचार्य देवराजयज्वन् उदकवाचक 'इदम्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**इदम् (उदकम्)। 'इदि' परमैश्वर्ये'। देवत्वादपां परमैश्वर्य्यं विद्यते**"[४] कि देव होने से उदक में परमैश्वर्य विद्यमान है, अतः, उदक को 'इदम्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'इद्' धातु से औणादिक 'कमिन्' प्रत्यय तथा 'नुम्' का आगम होकर 'इदम्' शब्द निष्पन्न होता है। उणादिकोष से उक्त व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है। उणादिवृत्तिकार 'इदम्' का निर्वचन निम्न करते हैं:- "**इन्दति परमैश्वर्यहेतुर्भवतीति इदम्, प्रत्यक्षविषयबोधकः सर्वनामसंज्ञको वा**"[५] कि परमैश्वर्य का हेतु होने से यह 'इदम्' कहा जाता है। उक्त 'इदम्' पद प्रत्यक्षविषय का बोध कराने वाला सर्वनाम है।

(ख)"**इणो दमुञ् श्रीभोजदेवः। ईयते निम्नप्रदेशं गम्यते वा**"[६] कि निम्नप्रदेश की ओर गतिशील रहने के कारण उदक को 'इदम्' कहा जाता है। श्री भोजदेव के अनुसार इस पक्ष में 'इण्' धातु से 'दमुक्' प्रत्यय होकर 'इदम्' शब्द उपपन्न होता है।

(ग)"**यद्वा, इन्धेः। इन्धेः दीप्यते इदम्**"[७] कि प्रज्वलन या प्रकाशनशील होने के कारण उदक को 'इदम्' कहा जाता है। इस पक्ष में दीप्त्यर्थक 'इन्ध्' धातु से औणादिक 'कमिन्' प्रत्यय होकर 'इदम्' रूप

---

१ सायण, ऋ० १.४३.४. "उदकं हि रुद्रनामाभिमन्त्रितं सत् औषधं भवति।"

२ ऋ० ८.२९.५. "तिग्ममेको बिभर्ति हस्त आयुधं शुचिरुग्रो जलाषभेषजः।"

३ निघ० १.१२.१०१.

४ निघ०वृ०, १.१२.१०१.

५ उणा०, ४.१५८. "इन्देः कमिन्नलोपश्च।"

६ निघ०वृ०, १.१२.१०१.

७ निघ०वृ०, १.१२.१०१.

सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष का मत है कि यह पद देश और काल में से किसी एक की समीपता का बोध कराने वाला क्रिया विशेषण है।[१] निघण्टुकोष में यह इसके विपरीत जल अर्थ में परिगणित है। कोषकार 'इदम्' पद की व्युत्पत्ति को सन्दिग्ध मानते हैं। उणादि के अनुसार यह 'इन्द्' धातुमूलक है तथा मिलेट इसे 'इमत्' से सिद्ध हुआ मानते हैं।[२] एक अन्य स्थान पर कोषकार ने वकरनेगल के आधार पर निम्न उत्पत्तिक्रम प्रदर्शित किया है:-'इ=इद्=इद्+अम्'।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'इदम्' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स उक्तपद को 'इद्' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार लैटिन में 'is, ea, id, and idam' है, लेकिन उन्होंने 'इदम्' को उदकवाचक नहीं माना है।[५]

वैदिक साहित्य में 'इदम्' शब्द का व्यापक प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में सोमाहुति ऋषि कहते हैं कि ज्ञान, कर्म और उपासना से स्वीकार करने योग्य वर को प्राप्त करने वाली बहिनें नेतृत्व करने वाले अग्नि के स्वीकरणीय विषय उदक (इदम्) को धेनुओं के समान प्राप्त करती हैं।[६] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि तुम दोनों मित्रावरुण प्राज्ञ, वाणी से सर्वदा जल (इदम्) को माँगते हो और तुम दोनों का यज्ञ में आगमन मायारहित होता है।[७] उक्त मन्त्र के व्याख्यान में सायण कहते हैं कि पूर्व ऋचा में जल का विषय चल रहा था, अतः, बुद्धि में विपरिवर्तमान जल को 'इदम्' शब्द से ग्रहण किया जाता है।[८] लेकिन आचार्य देवराजयज्वन् उक्त मन्त्र में 'इदम्' पद को उदकवाचक मान रहे हैं।[९] अत्रि ऋषि कहते हैं कि सेचन करने वाला इन्द्र या पर्जन्य दुहितृस्थानीय पृथ्वी के लिये नदियों में रूपों को प्रकट करता हुआ हमारे लिये उदक की वृष्टि करे।[१०] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम्हारा वह बल पुराकाल में श्रेष्ठ कवियों ने धारण किया। पृथ्वीस्थ जल का रूप अन्य तथा अन्तरिक्षस्थ जल का रूप अन्य होता है। जिस प्रकार सङ्ग्राम में ध्वजा से ध्वजा सम्पृक्त होती हैं, उसी प्रकार दोनों स्थानों का उदक एकत्र स्थित होता है।[११] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि हे यजमानो! इन्द्र का वह उदक पुष्ट और चारों ओर विस्तीर्ण हुआ देखो तथा

---

१ तु०,वकारनेगल, ३.२४५ब, वै०पद०कोष, पृ० ७६२.

२ वै०पद०कोष, पृ० ७६२.

३ वै०पद०कोष, पृ० ७८४.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ११५.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ०, १६५.

६ ऋ० २.५.५. ''ता अस्य वर्पमायुवो नेष्टुः सचन्त धेनवः। कुवित् तिसृभ्य आ वरं स्वसारो वा इदं ययुः।''

७ ऋ० ६.६७.८. ''ता जिह्वया सदमेदं सुमेधा आ यद्वां सत्यो अरतिर्ऋते भूत्।''

८ सायणभाष्य, ऋ० ६.६७.८. ''पूर्वस्यामृचि जलस्य प्रकृतत्वात् बुद्धौ विपरिवर्तमानं जलमिदं शब्देन परामृश्यते।''

९ निघ०वृ०, १.१२.१०१.

१० ऋ० ५.४२.१३. ''य आहना दुहितुर्वक्षणासु रूपा मिनानो अकृणोदिदं नः।''

११ ऋ० १.१०३.१. ''तत्त इन्द्रियं परमं पराचैरधारयन्त कवयः पुरेदम्। क्षमेदमन्यद्दिव्य१न्यदस्य समी पृच्यते समनेव केतुः।''

बलशाली होने के लिये उसे धारण करो।[१] दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि ऋभवगण अगोह्यस्य=अगोपनीय उस, गृहे=अन्तरिक्ष में, यत्=जितने समय तक, असस्तन=वृष्टि न करते हुए शयन करते हैं, तत्=उतने समय तक, अद्य=इस. वर्षा के समय में, इदम्=वृष्टिप्रवाहरूप कर्म को, न=नहीं, अनुगच्छथ=करते हैं।[२] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि वर्षा के लिये शयन करते हुए ऋभव पूछते हैं कि हे अगोह्य (अगोपनीय आदित्य) कौन हमारे कर्म को जानता या प्रेरित करता है?[३] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि जिसका ब्रह्म (ज्ञान) वर्धनशील है, जिसका सोम और उदकरूपी धन है, वह इन्द्र है।[४] यजुर्वेद में शङ्ख ऋषि कहते हैं कि इन्द्र बल, उदक, पयस्, अमृत और मधु के स्वामी हैं।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में वह उदक 'इदम्' नाम से अभिहित हुआ है, जिसे ज्ञान, कर्म और उपासना के बल से वर को प्राप्त करने वाली बहिनें धेनुओं के समान प्राप्त करती हैं, मित्रावरुण से इस जल की याचना की जाती है, दुहितृस्थानीय पृथ्वी के लिये इन्द्र इस उदक का निर्माण करता है, पुराकाल में इन्द्र के इस उदक को क्रान्तदर्शी लोगों ने धारण किया, पृथ्वी पर इसका रूप अन्य है और अन्तरिक्ष में अन्य। इन्द्र के इस चतुर्दिक् विस्तीर्ण उदक को पुष्ट एवं बलशाली होने के लिये धारण किया जाता है, इस उदक की वृष्टि करने के लिये ऋभव अन्तरिक्ष में रहते हैं और इस उदक के रहस्य को ऋभवों के अतिरिक्त कोई नहीं जानता। इसके अतिरिक्त इन्द्र को ब्रह्म, सोम और उदकरूपी धन वाला माना जाता है। इस प्रकार उदकों का स्वामी होना इन्द्र की सबसे प्रमुख विशेषता है।

सामान्यतया वेद में 'इदम्' पद प्रत्यक्षबोधक सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है, कतिपय स्थलों पर यह भी सम्भव है कि प्रकृत विषय होने से व्याख्याकार 'इदम्' का अर्थ उदक लेने को विवश हुए हों। परन्तु कुछ स्थल ऐसे अवश्य मिल जाते हैं, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'इदम्' पद उदकवाचक रूप में प्रयुक्त है। जिस प्रकार अन्य पदों का रूप मन्त्रों के अध्ययन स्पष्ट हो जाता है, उस प्रकार की स्पष्टता का 'इदम्' पद के विषय में अभाव है। उक्तपद किस प्रकार के उदक का प्रतिनिधित्व करता है, यह कह पाना उपर्युक्त अध्ययन से सम्भव नहीं हो पाया है। फिर भी, उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'इन्द्र' और 'इदम्' में न केवल रूपसाम्य है, अपितु ये एक दूसरे के अनुपूरक भी हैं। जिस प्रकार 'इन्द्र' पद का मूल 'इन्द्' या 'उन्द्' धातु है, उसी प्रकार 'इदम्' पद का भी। इन दोनों धातुओं में भी अर्थ को दृष्टिगत रखते हुए 'उन्द्' धातु को 'इदम्' पद का मूल मानना उचित प्रतीत होता है।

वैदिक साहित्य में उदकवाचक नामपदों में अर्थभिन्नता

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के द्वादश गण में निघण्टुकार ने एकशत उदकवाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत

---

१ ऋ० १.१०३.५. ''तदस्येदं पश्यता भूरि पुष्टं श्रदिन्द्रस्य धत्तन वीर्याय।''

२ ऋ० १.१६१.११. ''अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे तदद्यदमृभवो नानु गच्छथ।''

३ ऋ० १.१६१.१३. ''सुषुप्वांस ऋभवस्तदपृच्छतागोह्य क इदं नो अबूबुधत्।''

४ ऋ० २.१२.१४. ''यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः।''

५ यजु०, १९.७२, ७८. ''इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु।''

की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
५१.	भविष्यत् उदकवाचक निघ०,१.१२.५१.	वेद और वैदिक साहित्य में 'भविष्यत्' पद भविष्यकाल के अर्थ में आया है, न कि उदक के अर्थ में।	'भू' धातु।
५२.	महत् उदकवाचक निघ०,१.१२.५२.	'महत्' नामक उदक इन्द्र का बल और अग्नि का उत्पत्ति एवं निवासस्थान है। दो महान् शक्तियों के साथ संयुक्त होने से वह 'महत्' नाम का अधिकारी है।	इस दृष्टि से विचार करने पर 'मंह्' धातुमूलक निर्वचन को 'महत्' पद का मूल माना जा सकता है।
५३.	आप: उदकवाचक निघ०,१.१२.५३.	वेद की दृष्टि में वे उदक आप: नाम से अभिहित हुए हैं, जिनमें ओषधीय तत्त्व विद्यमान हैं या जो ओषध के समान गुणकारी हैं। ये वे उदक हैं जो अन्तरिक्ष से वर्षा के रूप में पृथिवी पर आते हैं।	इस दृष्टि से 'आप्' धातु को नि:सन्दिग्ध रूप से 'आप:' पद का मूल माना जा सकता है।
५४.	व्योम उदकवाचक निघ०,१.१२.५४.	वेद और वैदिक साहित्य में 'व्योमन्' पद उदक के अर्थ में नहीं आया है।	'वि+'अव्' धातु।
५५.	यश: उदकवाचक निघ०,१.१२.५५.	वेद की दृष्टि में वे उदक 'यशस्' हैं, जो इन्द्र, वरुण आदि देवों के द्वारा प्रदान किये जाते हैं और जो सब प्राणियों की आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त हैं।	इस दृष्टि से विचार करने पर देवनार्थक 'अश्' धातु 'यशस्' पद का मूल मानी जा सकती है।
५६.	मह: उदकवाचक निघ०,१.१२.५६.	सूर्य के सम्पर्क में आने वाला उदक सम्भवत:, वेद में 'मह:' नाम से अभिहित हुआ है। इस दृष्टि से विचार करने पर सूर्य की महत्ता से उदक भी 'मह:' कहा गया है।	निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि महत् के समान 'मह:' पद का मूल पूजार्थक 'मह्' धातु है।
५७.	सर्णीकम् उदकवाचक निघ०,१.१२.५७.	वेदों में उक्त पद का सर्वथा प्रयोग नहीं हुआ है। तैत्तिरीय-संहिता में अवश्य उक्त पद का एक बार प्रयोग हुआ है।	रूपात्मक आधार पर 'सर्णीक' पद का मूल 'सृ' गतौ' धातु है।
५८.	स्वृतीकम् उदकवाचक निघ०,१.१२.५८.	वैदिक साहित्य में सर्णीकम्' के समान स्वृतीकम्' के उदाहरण प्राप्त नहीं होते हैं।	'स्वृ' धातु।
५९.	सतीनम् उदकवाचक निघ०,१.१२.५९.	वेद की दृष्टि में वह उदक 'सतीनम्' है, जो वर्षा से प्राप्त होता है तथा जिसमें विषधारी जीव जन्म ले चुके हैं। निष्कर्ष रूप में कह सकते है कि गड्ढे, तालाब आदि का जल 'सतीनम्' है।	इस दृष्टि से विचार करने पर 'सत्+ईन' वाले निर्वचन को कुछ स्वीकार्य माना जा सकता है।
६०.	गहनम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६०.	ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में 'गहनम्' पद उदकवाचक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। वेद में यह पद उदक के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है।	इस दृष्टि से सघन अर्थ वाली 'गह्' धातु 'गहनम्' पद का मूल प्रतीत होती है।

६१.	गभीरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६१.	वेद में 'गभीर' पद उदक के विशेषण के रूप में आया है, परन्तु उदकवाचक रूप में नहीं आया है।	'गभीरम्' पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।
६२.	गम्भरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६२.	जिसमें बड़े पुरुष के पैर टिक जाते हैं, वह उदक 'गम्भर' है। इस प्रकार पुरुष प्रमाण वाला उदक 'गम्भर' है।	इस दृष्टि से 'ग्रह्' धातु को 'गम्भर' पद का मूल माना जा सकता है।
६३.	ईम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६३.	वेद में वह उदक 'ईम्' है, जो अन्तरिक्ष से भूमि पर आता है और जिससे निर्माण कार्य का प्रारम्भ होता है।	सम्भवतः, इन्द्र से सम्बन्धित होने के कारण उदक का 'ईम्' यह नामकरण हुआ है।
६४.	अन्नम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६४.	वेद में वह उदक 'अन्न' है, जो 'अपां नपात्' देवता के माध्यम से पृथ्वी पर आता है।	'अद्' या 'आ+'नम्' धातु।
६५.	हविः उदकवाचक निघ०,१.१२.६५.	वेद में वह उदक 'हविः' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसका सूर्य के द्वारा ग्रहण और दान निरन्तर होता रहता है, या यह कह सकते हैं कि जिसमें दान और आदान दोनों कर्म एक साथ चल रहे हैं।	'हु' धातु।
६६.	सद्म उदकवाचक निघ०,१.१२.६६.	वेद की दृष्टि में अन्तरिक्षलोक रूपी गृह में विराजमान रहने वाला उदक 'सद्म' है। इसका अधिष्ठाता इन्द्र या बृहस्पतिरूप सूर्य है।	इस दृष्टि से 'सद्' धातु को 'सद्म' पद का मूल माना जा सकता है।
६७.	सदनम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६७.	वेद में 'सदन' पद उदक अर्थ का वाचक न होकर उदक के आश्रयभूत अन्तरिक्ष के अर्थ में आया है।	इस दृष्टि से 'सद्' धातु को 'सदन' पद का मूल स्वीकार किया जा सकता है।
६८.	ऋतम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६८.	वेद में वह उदक 'ऋत' नाम से अभिहित हुआ है, जो सृष्टि के शाश्वत नियम में बँधकर रहता है। फिर भी हम यह कह सकते हैं कि वेद को 'ऋत' शब्द का उदक अर्थ अधिक अभीष्ट नहीं है।	अर्थ की दृष्टि से 'ऋ' धातु से व्युत्पन्न होना सन्दिग्ध प्रतीत होता है।
६९.	योनिः उदकवाचक निघ०,१.१२.६९.	अन्तरिक्ष का वह प्रदेश विशेष वेद में 'योनि' नाम से अभिहित हुआ है, जिसमें वायु से परिवेष्टित होकर उदक आश्रय लेते हैं।	इस दृष्टि से 'यु' मिश्रणे' धातु को 'योनि' पद का मूल माना जा सकता है।
७०.	ऋतस्य योनिः उदकवाचक निघ०,१.१२.७०.	'ऋतस्य योनिः' ऐसा उदक जिसकी योनि अन्तरिक्ष है अर्थात् जो अन्तरिक्ष से प्राप्त होता है या यह कहना अधिक उचित होगा कि जो अन्तरिक्ष में सञ्चित है।	'ऋत+योनिः=ऋतस्य योनिः।
७१.	सत्यम् उदकवाचक निघ०,१.१२.७१.	वह उदक वेद की दृष्टि में 'सत्य' है, जिससे जगत् की रक्षा होती है। जगत् की सत्ता निर्भर होने के कारण उदक को 'सत्य' नाम से अभिहित किया गया है।	इस दृष्टि से विचार करने पर सत्तार्थक 'अस्' धातु को 'सत्य' पद का मूल माना जा सकता है।
७२.	नीरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.७२.	वैदिक साहित्य में 'नीर' पद का प्रयोग सर्वथा नहीं हुआ है।	प्रापणार्थक 'नी' धातु।

७३.	रयिः उदकवाचक निघ०,१.१२.७३.	जिसमें बल प्रदान करने की सामर्थ्य है, वह उदक (वीर्य) वेद के ऋषि की दृष्टि में 'रयि' है।	इस दृष्टि से विचार करने पर 'रयि' पद को 'रा' धातु मूलक माना जा राकता है।
७४.	सत् उदकवाचक निघ०,१.१२.७४.	वेद के ऋषि की दृष्टि में सूक्ष्मरूप या तन्मात्ररूप में विद्यमान रहने वाला उदक 'सत्' है। सम्भवतः, रूपान्तरण के स्वभाव से परे जो उदक है, वह 'सत्' है।	इस दृष्टि से विचार करने पर निर्विवाद रूप से 'अस्' भुवि' धातु को 'सत्' पद का मूल माना जा सकता है।
७५.	पूर्णम् उदकवाचक निघ०,१.१२.७५.	वेद में 'पूर्ण' शब्द उदक अर्थ में नहीं आया है। वेद में ऋषि ने 'पूर्ण' शब्द का उल्लेख प्रायः मधु, कोश, पात्र आदि के विशेषण के रूप में किया है।	'पूर्' धातु को 'पूर्ण' पद का मूल माना जा सकता है।
७६.	सर्वम् उदकवाचक निघ०,१.१२.७६.	वेद में 'सर्व' शब्द उदक अर्थ में नहीं आया है। ब्राह्मण से इस अर्थ की कुछ पुष्टि होती हुई अवश्य दिखायी देती है।	सभी दृश्य पदार्थ आए और गए का आभास कराते हैं, अतः, 'सर्व' पद का मूल 'सृ' धातु है।
७७.	अक्षितम् उदकवाचक निघ०,१.१२.७७.	वेद की दृष्टि में मुख्यतया मेघ से प्राप्त होने वाला उदक 'अक्षित' है। इसके अतिरिक्त यह उदकवाचक की अपेक्षा उदक का एक विशेषण है।	इस दृष्टि से 'न+'क्षि' क्षये' को 'अक्षित' पद का मूल माना जा सकता है।
७८.	बर्हिः उदकवाचक निघ०,१.१२.७८.	वेद में 'बर्हिस्' पद उदक अर्थ में लगभग अप्रयुक्त है। वेद में यह प्रायः मुख्यरूप से कुशासन तथा कुछ गौणरूप से अन्तरिक्ष के अर्थ में आया है।	वृद्धि अर्थ वाली 'बृंह्' धातु को 'बर्हिस्' पद का मूल माना जा सकता है।
७९.	नाम उदकवाचक निघ०,१.१२.७९.	वेद की दृष्टि में वह उदक 'नाम' है, जो यज्ञ के द्वारा प्राप्त होता है। यज्ञ के प्रभाव से वर्षा के लिये प्रवृत्त होते हुए मेघों के नम्र हो जाने के कारण उदक को 'नाम' पद से अभिहित किया गया है।	इस दृष्टि से विचार करने पर विना किसी सङ्कोच के 'नम्' धातु को 'नाम' पद मूल माना जा सकता है।
८०.	सर्पिः उदकवाचक निघ०,१.१२.८०.	वेद में 'घृत' को 'सर्पिस्' नाम से अभिहित किया गया है। उष्णता के प्रभाव से स्वतः पिघलने के कारण घृत को 'सर्पिस्' कहा जाता है।	इस दृष्टि से गत्यर्थक 'सृप्' धातु को 'सर्पिस्' पद का मूल माना जा सकता है।
८१.	अपः उदकवाचक निघ०,१.१२.८१.	वेद की दृष्टि में 'अपः' और 'आपः' ये भिन्न मूल के दो शब्द न होकर अर्थ और ध्वनिरूप की दृष्टि से एक ही हैं।	व्याप्त्यर्थक 'आप्' धातु।
८२.	पवित्रम् उदकवाचक निघ०,१.१२.८२.	सोम और पवित्र का परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध है। वेद में सोम की धारा पवित्र मानी गयी है और जो सोम को प्राप्त कर लेता है, वह पवित्र हो जाता है वेद में 'पवित्र' शब्द 'उदक' वाचक नहीं है।	'पू' धातु।
८३.	अमृतम् उदकवाचक निघ०,१.१२.८३.	सामान्य रूप से 'अमृत' नामक उदक का स्वरूप ऋग्वेद में अस्पष्ट है। सम्भवतः, वेद प्रजा का कल्याण करने वाले उदक को 'अमृत' नाम से कहने के पक्ष में हैं।	'न+मृत'।

८४.	इन्दुः उदकवाचक निघ०,१.१२.८४.	वेद की दृष्टि में आर्द्रता के रूप में विद्यमान उदक 'इन्दु' है, यही वह उदक है जो षट् ऋतुओं और अन्तरिक्ष में विद्यमान रहता है।	क्लेदनार्थक 'उन्द्' धातु को 'इन्दु' शब्द का मूल माना जा सकता है, परन्तु ध्वनिरूप की दृष्टि से इसका औचित्य सन्दिग्ध है।
८५.	हेम उदकवाचक निघ०,१.१२.८५.	वेद में हेम शब्द उदक अर्थ का वाचक नहीं है। यहाँ यह स्पष्टरूप से सुवर्ण अर्थ की प्रतीति करा रहा है।	ध्वनिरूप की दृष्टि से 'हि' धातु।
८६.	स्वः उदकवाचक निघ०,१.१२.८६.	वेद की दृष्टि में वह उदक 'स्वः' है, जो अन्न, बलादि देने के कारण सुख का कारण है।	इस दृष्टि से 'सु+'ऋ' धातु को 'स्वः' पद का मूल माना जा सकता है।
८७.	सर्गाः उदकवाचक निघ०,१.१२.८७.	वेद में 'सर्ग' शब्द मेघ से प्राप्त होने वाले उदक के अर्थ में हुआ है। यह 'सर्ग' नामक उदक सृष्टि का निर्माण करने वाला है, इससे पृथ्वी का रूप अत्यन्त रमणीय हो जाता है।	इस आधार पर हम 'सर्ग' शब्द का मूल निर्माण अर्थ वाली 'सृज्' धातु को मान सकते हैं।
८८.	शम्बरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.८८.	वेद में भरण-पोषण के लिये वर्षा-भिन्न ऋतु में वर्षा के माध्यम से प्राप्त होने वाला उदक 'शम्बर' है।	इस दृष्टि से 'शॄ' क्षरणे'+'भृ' भरणे' धातुओं के संयोग से 'शम्बर' पद व्युत्पन्न होता है।
८९.	अभ्वम् उदकवाचक निघ०,१.१२.८९.	अन्तरिक्ष में बहुत दिन से सङ्गृहीत उदक 'अभ्व' है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि जो बहुत दिन से नहीं बरसा है, ऐसा उदक वेद की दृष्टि में 'अभ्व' है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'न+'भू' (न अभूत=न अवर्षत) को 'अभ्व' पद का मूल माना जा सकता है।
९०.	वपुः उदकवाचक निघ०,१.१२.९०.	वह उदक वेद की दृष्टि में 'वपुस्' है, जिसके कारण तीनों लोक दर्शनीय हो जाते हैं। यह यजमान का प्रिय उदक है। वपन के समय प्राप्त होने वाला उदक होने से सम्भवतः, इसको 'वपुस्' नाम से अभिहित किया गया है।	इस प्रकार वपन अर्थवाली 'वप्' धातु 'वपुस्' पद का मूल है।
९१.	अम्बु उदकवाचक निघ०,१.१२.९१.	वेद और वैदिक साहित्य में अप्रयुक्त होने के कारण 'अम्बु' पद के उदक अर्थ के विषय में कुछ कहना सम्भव नहीं है। उदक अर्थ में भी उसका प्रयोग अधिक प्राचीन नहीं है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
९२.	तोयम् उदकवाचक निघ०,१.१२.९२.	अप्रयुक्त होने के कारण वैदिक साहित्य के आधार पर 'तोयम्' के स्वरूप को स्पष्ट करना सम्भव नहीं है। लेकिन लौकिक साहित्य में यह पद जीवन के आधारभूत तत्त्व उदक अर्थ का वाचक रहा है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
९३.	तूयम् उदकवाचक निघ०,१.१२.९३.	वेद में प्रायः सर्वत्र 'तूयम्' पद क्रिया विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, अतः, वेद में यह उदकवाचक नहीं है।	'त्वर्' धातु से व्युत्पन्न होने की क्षीण सम्भावना प्रतीत होती है।

९४.	कृपीटम् उदकवाचक निघ०,१.१२.९४.	वह उदक 'कृपीट' है, जिसके कारण मरुदादि देवगण देखते ही मेघ का वध कर देते हैं। इस प्रकार वेद के ऋषि की दृष्टि में वर्षणीय उदक 'कृपीट' नाम से अभिहित हुआ है।	'कृपीट' का मूल 'कृप्' धातु है।
९५.	शुक्रम् . उदकवाचक निघ०,१.१२.९५.	वह उदक 'शुक्र' है, जो अग्नि या सूर्य की किरणों के सम्पर्क में आने से अग्नि गुणयुक्त हो गया है। सम्भवतः, वीर्य को शुक्र नाम से अभिहित करने के मूल में यही कारण है। उष्णस्वभाव होना शुक्र का शुक्रत्व है।	इस वैशिष्ट्य को ध्यान में रखते हुए निर्विवादरूप से 'शुच' दीप्तौ' धातु को 'शुक्र' का मूल माना जा सकता है।
९६.	तेजः उदकवाचक निघ०,१.१२.९६.	जो स्त्री और पुरुष में वीर्य रूप में विद्यमान रहता है, वह तत्त्व 'तेजस्' है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि 'तेजस्' पद अग्नि और उसके गुण का अभिधायक है।	निःसन्दिग्धरूप से 'तिज' निशाने' धातु 'तेजस्' पद का मूल है।
९७.	स्वधा उदकवाचक निघ०,१.१२.९७.	वेद में जिससे आनन्द की प्राप्ति और अन्न उत्पन्न होता है, वह उदक 'स्वधा' है। इस विशेषता को ध्यान में रखकर कह सकते हैं कि '**स्वयं दधातीति स्वधा**' जो स्वयं धारण कर लेता है जो अथवा स्वयं धारण हो जाता है, वह उदक वैदिक ऋषि की दृष्टि में 'स्वधा' है।	इस तथ्य के आधार पर 'स्व+'धा' धातु को 'स्वधा' पद का मूल माना जा सकता है।
९८.	वारि उदकवाचक निघ०,१.१२.९८.	वेद में 'वारि' पद का सर्वथा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है।	'वारि' पद 'वृ' धातुमूलक है।
९९.	जलम् उदकवाचक निघ०,१.१२.९९.	वेद में 'जल' शब्द का सर्वथा उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।	'जल्' धातु को 'जल' शब्द का मूल मान सकते हैं।
१००.	जलाषम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१००.	वह उदक 'जलाष' है, जिससे या जिसमें रुद्र (भिषक्) के लिये औषधियाँ उत्पन्न होती हैं।	इस दृष्टि से 'जल्' एवं 'शी' धातु के संयोग से 'जलाष' पद व्युत्पन्न हुआ प्रतीत होता है।
१०१.	इदम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१०१.	सामान्यतया वेद में 'इदम्' पद प्रत्यक्षबोधक सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु कुछ स्थलों पर वेद में 'इदम्' पद उदकवाचक रूप में प्रयुक्त है। लेकिन स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया है।	जिस प्रकार 'इन्द्र' पद का मूल 'इन्द्' या 'उन्द्' धातु है, उसी प्रकार 'इदम्' पद का भी।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उक्त उदकवाचक गण के निम्नलिखित पद वेद और वैदिक साहित्य के आधार पर उदकवाचक सिद्ध नहीं होते हैं:-**१. जन्म, २. क्षपः, ३. अहिः, ४. सरः, ५. सहः, ६. शवः, ७. सुखम्, ८. आवयाः, ९. भूतम्, १०. व्योम, ११. गहनम्, १२. गम्भरम्, १३. सदनम्, १४. योनिः, १५. पूर्णम्, १६. सर्वम्, १७. बर्हिः, १८. हेम, १९. तूयम्, २०.**

तेजः। निघण्टुकार ने कुछ पदों को तरलता के कारण उक्त उदकवाचक गण में परिगणित किया गया है:-१. **पिप्पलम्** (वृक्ष का स्वादिष्ठ रस), २. **यादुः** (स्त्रीपुरुष से प्रादुर्भूत होने वाला रजवीर्य), ३. **सर्पिः** (घृत), ४. **शुक्रम्** (वीर्य)। निम्नलिखित पद ऐसे हैं, जिनका वेद में उल्लेख प्राप्त नहीं होता है:-१. **बुर्बुरम्**, २. **सुक्षेम**, ३. **यहः**, ४. **सर्णीकम्**, ५. **नीरम्**, ६. **तोयम्**, ७. **वारि**, ८. **जलम्।**

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उदकवाचक गण के १०१ पदों में से निश्चितरूप से २८ पद ऐसे हैं, जिनको किसी भी प्रकार से उदकवाचक सिद्ध नहीं किया जा सकता है। निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि उदकवाचक गण के तीस प्रतिशत शब्द उदकवाचक नहीं है। इस विषय में यह आकलन प्रस्तुत किया जा सकता है कि जिस वैदिक साहित्य में निघण्टुकार ने उक्तपदों का परिगणन किया था, वह आज अनुपलब्ध है, लेकिन उपर्युक्त विश्लेषण से यह सिद्ध होता दिखायी देता है कि वैदिक साहित्य में अधिकांश पद प्रयुक्त हैं, परन्तु जिस अर्थ में परिगणित किये गये हैं, उनका उनसे भिन्न अर्थ में प्रयोग हुआ है। उपलब्ध वैदिक साहित्य और निघण्टुकोष को देखते हुए किसी तर्कसङ्गत निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव प्रतीत नहीं होता है।

नवम अध्याय

नदीवाचक नामपद

निघण्टुकोष प्रथम अध्याय के १३वें गण में निघण्टुकार ने नदीवाचक ३७ नामपद परिगणित किये हैं। प्रस्तुत अध्याय में उक्त नदीवाचक नामपदों का अध्ययन प्रारम्भ किया जा रहा है।

१. अवनिः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में सर्वप्रथम 'अवनिः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'अवनिः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अवनिः (नदी)। अवन्ति जगत् स्वोदकेन, अव्यन्ते प्राणिभिस्तीरादिनिर्माणेन**''[२] कि यह अपने उदक से जगत् की रक्षा करती है अथवा तीरादि निर्माण के द्वारा प्राणी इसकी रक्षा करते हैं, अतः, नदी को 'अवनिः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अव्'' धातु से औणादिक 'अनि' प्रत्यय होकर 'अवनिः' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अवनिः' पद को नदीवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार यह पद 'अव्' धातु से औणादिक 'अनि' प्रत्यय होकर व्युत्पन्न होता है। जबकि वाल्ड वॉटरबुश आद्य अकार को उच्चारणार्थक मानते हुए 'वन्' धातु से 'अवनिः' पद को निष्पन्न करते हैं।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार भी 'अवनिः' पद का मूल 'अव्' धातु है।[४] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के समर्थक हैं। उसके अनुसार ऋग्वेद में यह पद नदी का पथ, नदी की धारा, नदी के अर्थ में आया है।[५]

वैदिक साहित्य में 'अवनिः' पद का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि यजमान के साथ समान चित्त वाला इन्द्र अन्न के निमित्त बाड़े से छोड़ी गयी गायों के समान नदी को बहने के लिये मुक्त करता है।[६] उक्त मन्त्र में पठित 'अवनीः' का अर्थ सायण 'अपः' तथा स्वामी दयानन्द 'पृथिवी' करते हैं। एक अन्य मन्त्र में गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि सनात्=बहुत समय से, सनीळा=समुद्ररूप समाननिवास स्थान वाली, अवातः=गहरी होने के कारण गतिरहित या निश्चल, अवनीः= नदियाँ, अमृताः=उदकों के साथ, व्रताः=इन्द्र के कर्मों की रक्षा करती हैं।[७] अगस्त्य ऋषि बृहस्पति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि रुके हुए अर्थात् न्यून गति से चलने वाली नदियों (अवनयः) और समुद्र की ओर बहने वाली नदियों (रोधचक्राः) के समान वह विद्वान् व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार के विज्ञान का उपदेश

---

१ निघ० १.१३.१.

२ निघ०वृ०, १.१३.१.

३ वै०पद०कोष, पृ० ५२५.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ५९.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १००.

६ ऋ० १.६१.१०. ''गा न व्राणा अवनीरमुञ्चदभि श्रवो दावने सचेताः।''

७ ऋ० १.६२.१०. ''सनात् सनीळा अवनीरवाता व्रता रक्षन्ते अमृताः सहोभिः।''

करता है तथा वह दूरद्रष्टा (गृध्रः) जलों के समान अन्तः और बाह्य दोनों प्रकार के आचरण को पवित्र करता है।[१] आत्रेय ऋषि कहते हैं कि उदक का आसेचन करती हुई अनेक नदियाँ भी उस एक समुद्र को उदक से पूर्ण नहीं कर पाती हैं।[२] श्यावाश्व ऋषि कहते हैं कि जब मरुत् चारों ओर गमन करते हैं तथा विद्युत् के साथ चलते हैं, उस समय तीनों स्थानों पर गर्जना होती है और उदक भूमि पर गिरते हैं अथवा नदियों में बहते हैं।[३] सुतंभर आत्रेय ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार बड़ी-बड़ी नदियाँ समुद्र को जल से पूर्ण करती हैं और उसे जल से बढ़ाती हैं, उसी प्रकार हे अग्ने! स्तुतियाँ तुम्हें पूर्ण करती हैं और बल से बढ़ाती हैं।[४] भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि हे सरस्वति! तुम मनुष्यों के लिये नदी उपलब्ध कराती हो और उसमें मनुष्यों के लिये अन्न उत्पन्न करने वाले जल को प्रवाहित करती हो।[५] वम्र वैखानस ऋषि कहते हैं कि वह मेघों पर चढ़ाई करने वाला महान् इन्द्र बहुत धन प्रदान करने वाली भूमियों में नदियों को प्रवाहित करता है।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह नदी 'अवनि' है, जो इन्द्र के द्वारा बाड़े से मुक्त की गयी गायों के समान बहने के लिये छोड़ी जाती है, ये नदियाँ बहुत प्राचीनकाल से प्रवहमान हैं, जिनका अन्तिम पड़ाव समुद्र है और गहरी होने के कारण जिनकी गति न्यून प्रतीत होती है, उदक का आसेचन करती हुई ये नदियाँ समुद्र में पहुँचती हैं, लेकिन समुद्र को कभी जल से पूर्ण नहीं कर पाती हैं, इनके जल से अन्न उत्पन्न होता है, और विपुल धन की प्राप्ति होती है। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कह सकते हैं कि वेद में मार्ग के क्षेत्रों को अपने जल से सिञ्चित करती हुई समुद्र तक की यात्रा करने वाली नदी 'अवनि' नाम से अभिहित हुई है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए निर्विवादरूप से 'अव्' धातु को 'अवनिः' पद का मूल माना जा सकता है।

२. यह्व्यः

निघण्टुकोष के नदीवाचक गण में 'यह्वी' पद परिगणित है।[७] आचार्य यास्क 'यह्व' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**यह्व इति महतो नामधेयम्। यातश्च हूतश्च भवति**"[८] कि अग्नि जाकर और देवताओं को बुलाकर ले आती है, अतः, उसको 'यह्व' कहा जाता है। इस पक्ष में 'या'+'ह्वे' इन दो धातुओं के संयोग से 'यह्व' पद उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'यह्वी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**यह्व्यः (नद्यः)। 'या' प्रापणे'**।

---

१ ऋ० १.१९०.७. "सं यं स्तुभोऽवनयो न यन्ति समुद्रं न स्रवतो रोधचक्राः। स विद्वाँ उभयं चष्टे अन्तर्बृहस्पतिस्तर आपश्च गृध्रः।"

२ ऋ० ५.८५.६. "एकं यदुद्ना न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम्।"

३ ऋ० ५.५४.२. "सं विद्युता दधति वाशति त्रितः स्वरन्त्यापोऽवना परिज्रयः।"

४ ऋ० ५.११.५. "त्वां गिरः सिन्धुमिवावनीर्महीरा पृणन्ति शवसा वर्धयन्ति च।"

५ ऋ० ६.६१.३. "उत क्षितिभ्योऽवनीरविन्दो विषमेभ्यो अस्रवजो वाजिनीवति।"

६ ऋ० १०.९९.४. "स यह्व्योऽवनीर्गोष्वर्वा जुहोति प्रधन्यासु सस्त्रिः।"

७ निघ० १.१३.२.

८ निरु० ८.८.

यति तांस्तान् प्रदेशान् प्राप्यन्ते वा प्राणिभिः''[१] कि उन-उन प्रदेशों को जाती है या प्राणियों के द्वारा ले जायी जाती है, अतः, नदी को 'यह्वी' कहा जाता है। इस पक्ष में 'या' प्रापणे' धातु से निपातन के द्वारा 'यह्वी' रूप सिद्ध होता है।

(ख)''**यह्वा, 'यह्वः' इति महन्नाम (निघ०,३.३.१३.)। यह्व्यः महत्यो नद्यः**''[२] कि 'यह्व' यह महत् वाचक नामपद है। विशाल नदी 'यह्वी' कही जाती है। इस पक्ष में 'यह्व' शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय होकर 'यह्वी' रूप सिद्ध होता है।

(ग)''**द्विधातुजं वा इदं नामः-यातेर्ह्वेञः, पृषोदरादिः। याताश्च प्राणिभिः हूताश्च यज्ञेष्वित्यर्थः**''[३] कि प्राणी इससे गमन करते हैं तथा यह यज्ञों में नदी देवता के रूप में आहूत की जाती है, अतः, नदी को 'यह्वी' कहा जाता है। इस पक्ष में 'या'+'ह्वे' इन दोनों धातुओं के संयोग से पृषोदरादि नियम के द्वारा 'यह्वी' रूप सिद्ध होता है।

उणादिकोष 'यज्' धातु से 'वन्' प्रत्यय करके निपातन के द्वारा 'यह्व' पद को उपपन्न करता है। उणादि-वृत्तिकार 'यह्व' का निर्वचन निम्न प्रकार करते हैं:-''**यजतीति यह्वः, यजमानो वा।**''[४] वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'यह्वी' पद को नदीवाचक विशेषण एवं नामपद मानता है। उसके अनुसार मूल 'यह्' धातु से 'यह्वी' पद उपपन्न होता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं।[६] मोनियर विलियम्स के अनुसार उक्तपद ऋग्वेद में सक्रिय, गतिशील अर्थ में आया है, जो अग्नि, इन्द्र और सोम पर चरितार्थ होता है। इसके अतिरिक्त यह पद ऋग्वेद में उदक के निरन्तर प्रवहमान अर्थ को द्योतित करने के लिये भी आया है। बहुवचनान्त 'यह्वी' पद का प्रयोग द्युलोक और पृथ्वीलोक के अर्थ में भी हुआ है।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में 'jagon' पीछा करना तथा प्राचीन उच्च जर्मन में 'jagh' अन्वेषण करने अर्थ में आया है। डॉ. वर्मा यास्क के उक्त निर्वचन को सङ्कुनित वर्ग में रखते हैं।[८]

वैदिक साहित्य में 'यह्वी' पद का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में पराशर ऋषि कहते हैं कि सम्पूर्ण अन्नादि ठीक उसी प्रकार अग्नि को प्राप्त होते हैं, जिस प्रकार प्रवहमान सात नदियाँ समुद्र को।[९] अग्रिम सूक्त में पुनः पराशर ऋषि कहते हैं कि सम्यक् प्रकार से धारण करने वाली सात नदियाँ सबके कल्याण के लिये द्युलोक के धनमार्ग को जानती हैं।[१०] दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि उदक की मातायें नदियाँ स्वयं अन्तरिक्ष

---

१ निघ०वृ०, १.१३.२.

२ निघ०वृ०, १.१३.२.

३ निघ०वृ०, १.१३.२.

४ उणादि०, १.१५४. ''शेवायह्वजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवाः।''

५ वै०पद०कोष, पृ० २५८४.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ४२०. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ८४९.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ८४९.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ९८.

९ ऋ० १.१७.७. ''अग्निं विश्वा अभि पृक्षः सचन्ते समुद्रं न स्रवतः सप्त यह्वीः।''

१० ऋ० १.७२.८. ''स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजग्मन्।''

में स्थित हों।[१] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि उस वर्षणशील 'अपां नपात्' के श्रेष्ठतम माहात्म्य को वहन करती हुई हिरण्यवर्ण (निर्मल वर्ण) की नदियाँ चारों ओर फैल जाती हैं अर्थात् बाढ़ आ जाने से उनका रूप विकराल हो जाता है।[२] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में गृत्समद ऋषि कहते हैं कि प्राणरूप पौत्र के लिये उदक और अन्न को वहन करती हुई नदियाँ अपनी गति से प्रवाहित होती हैं।[३] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि सौभाग्यशाली, आरोचमान जलों में स्थित, उत्पन्न होते ही शुभ्र वर्ण के अग्नि को सप्त अर्थात् सर्पण स्वभाव वाली अथवा सात नदियाँ अपनी महिमा से बढ़ाती हैं।[४] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार विद्वान् सात (परा, पश्यन्ती, वैखरी, मध्यमा, आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) प्रकार की वाणियों को धारण करता है, उसी प्रकार भक्षण और हिंसा न करती हुई, रक्षा करने वाली, द्युलोक में नग्न आँखों से न दिखलायी देने वाली नदियाँ सदा तरुण, समान योनि उदक को अपने गर्भ में धारण करती हैं।[५] गौरवीति ऋषि कहते हैं कि जब इन्द्र वज्र को अपने हाथ में ग्रहण करके अहि (वृत्र) का वध करता है, तब वह बहने के लिये उदक नदी में छोड़ता है।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह नदी 'यह्वी' है, जो बहती हुई समुद्र को प्राप्त होती है, ये नदियाँ द्युलोक के धन के मार्ग को जानती हैं, उदक की मातायें ये नदियाँ स्वयं अन्तरिक्ष में स्थित रहती हैं, ये 'अपां नपात्' देव के माहात्म्य को धारण करती हुई निर्मल उदक के साथ चारों ओर फैल जाती हैं, ये प्राणरूप पौत्र के लिये उदक और अन्न को धारण करती हैं, ये नदियाँ अपनी महिमा से अग्नि को बढ़ाती हैं, विद्वान् के समान सदा तरुण रहने वाली ये नदियाँ अपने गर्भ में समान तत्त्व (उदक) को धारण करती हैं, इन्द्र के वज्र का प्रहार होने पर ये नदियाँ भूमि पर बहती हैं। उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि वेद में 'यह्वी' के साथ 'सप्त' विशेषण का अधिक प्रयोग हुआ है। 'यह्वी' के प्रसङ्ग में सायण सप्त का अर्थ 'सर्पण स्वभाव वाली नदी' और 'सप्त' सङ्ख्या ये दोनों अर्थ ग्रहण करते हैं।[७] इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण जा सकता है कि वेद का ऋषि कुछ विशेष नदियों को 'यह्वी' नाम से पुकारने के पक्ष में है। वेद ने अनेकशः इसकी विशेषता 'सदा तरुण रहने वाली' बतायी है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ये नदियाँ वर्षभर बहती रहती हैं अर्थात् कभी सूखती नहीं हैं। निघण्टुकार ने 'यह्व' पद का परिगणन महत् वाचक नामपदों में किया है तथा यास्क 'यह्व' का महत् परक निर्वचन देते हैं। इससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि मूलतः, 'यह्व' पद महत् अर्थ का वाचक रहा है। नदी के साथ इसके जुड़ने का कारण भी नदी की महत्ता रही

---

१ ऋ० १.१४२.७. "यह्वी ऋतस्य मातरा सीदतां बर्हिरासुमत्।"

२ ऋ० २.३५.९. "तस्य ज्येष्ठं महिमानं वहन्तीर्हिरण्यवर्णाः परि यन्ति यह्वीः।"

३ ऋ० २.३५.१४. "आपो नप्त्रे घृतमन्नं वहन्तीः स्वयमत्कैः परि दीयन्ति यह्वीः।"

४ ऋ० ३.१.४. "अवर्धयन्सुभगं सप्त यह्वीः श्वेतं जज्ञानमरुषं महित्वा।"

५ ऋ० ३.१.६. "वभ्राजा सीमनदतीरदब्धा दिवो यह्वीरवसाना अनग्नाः। सना अत्र युवतयः सयोनीरेकं गर्भं दधिरे सप्त वाणीः।"

६ ऋ० ५.२९.२. "आदत्त वज्रमभि यदहिं हन्नपो यह्वीरसृजत्सर्तवा उ।"

७ सायणभाष्य, ऋ० ३.१.४.

है। महद्रूप होने के कारण कुछ विशिष्ट नदियों को 'यह्वी' नाम दिया गया होगा, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए महत् अर्थ वाली 'यह्' धातु को 'यह्वी' पद का मूल माना जा सकता है।

२. यव्या:

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'यह्वी' के विकल्प में कुछ आचार्य **'यव्या:'** (**यवी**) पद मानते हैं।[१] आचार्य देवराजयज्वन् नदी वाचक 'यव्या:' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**यव्या: (नद्य:)। केषुचित्कोशेषु ''यव्या:' इतीदं नाम दृष्टम्। 'यु' मिश्रणे'। वर्षासु मेघैरुदकेन मिश्रणीया:, अन्येषु सूर्य्यरश्मिभिराकृष्टेन पृथग्भवन्तो वा**''[२] कि वर्षा ऋतु में मेघों के द्वारा उदक मिश्रित अथवा अन्य स्थानों में उदक सूर्यरश्मियों के द्वारा आकृष्ट होकर पृथक् किये जाने से नदी को 'यव्या' कहा जाता है। इस पक्ष में 'यु' मिश्रणे' धातु से 'यत्' प्रत्यय होकर 'यव्या' रूप उपपन्न होता है।

(ख)''अथवा 'युञ्' बन्धने'। बध्यते आसु सेतुरिति यव्या:''[३] कि इन पर सेतु बाँधा जाता है, अत:, नदियों को 'यव्या' कहा जाता है। इस पक्ष में बन्धनार्थक 'यु' धातु से 'यक्' प्रत्यय होकर 'यव्या' रूप सिद्ध होता है।

(ग)''यवेभ्यो धान्यविशेषेभ्यो हिता। नदीजलेनापि वर्द्धन्ते यव्या:''[४] कि नदी के जल से ये यवादि धान्य विशेष वृद्धि को प्राप्त करते हैं। अत:, यव के लिये आवश्यक होने के कारण नदी को 'यव्या' कहा जाता है। इस पक्ष में 'यव' शब्द से 'यत्' प्रत्यय होकर 'यव्या' पद निष्पन्न होता है। पाणिनि इसी प्रकार 'यव्या' रूप निष्पन्न करने के पक्ष में हैं।[५]

वैदिक-निर्वचन-कोष 'यवी' पद को नदीवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद 'यु' मिश्रणे' धातु से व्युत्पन्न होता है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'यव्या' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स पाणिनि मत का अनुसरण करते हुए 'यव' शब्द से तद्धित 'यत्' प्रत्यय करके 'यव्या' पद को उपपन्न मानते हैं। उनके अनुसार निघण्टु तथा ऋग्वेद में उक्तपद नदी के अर्थ में आया है।[८]

वैदिक साहित्य में 'यव्या' पद का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में मात्र इस पद का दो बार उल्लेख प्राप्त होता है। अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि नदी के समान इस महान्, सिञ्चन करने में समर्थ, हवियुक्त

---

१ निघ० १.१३.२.
२ निघ०वृ०, १.१३.२.
३ निघ०वृ०, १.१३.२.
४ निघ०वृ०, १.१३.२.
५ अष्टा०, ५.१.७.
६ वै०पद०कोष, पृ० २५८१.
७ ऋ०वै०पद०, पृ० ४१९.
८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ८४८.

मरुत् की वाणी की स्तुति करती हैं।[१] नृमेध आङ्गिरस ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! जिस प्रकार जल नीचे की ओर नदियों में प्रवाहित होते हैं, उसी प्रकार स्तुतियाँ आपको प्राप्त होती हैं।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह नदी 'यव्या' है, जिसमें मरुत् की स्तुति के समान जलधारा प्रवाहित होती हैं, ये वे नदियाँ हैं, जिनमें धरातल निम्न होने के कारण वर्षा का जल बहकर चला आता है। इस प्रकार वेद की दृष्टि में जिनमें धरातल निम्न होने के कारण अधिक मात्रा में उदक प्रवाहित होता है, वे नदियाँ 'यव्या' हैं। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, अर्थ की दृष्टि से उपर्युक्त किसी निर्वचन को स्वीकार नहीं किया जा सकता। लेकिन रूपात्मकता के आधार पर 'यु' मिश्रणे' धातु को 'यव्या' पद का मूल माना जा सकता है।

३. खाः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'खाः' पद परिगणित है।[३] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'खाः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**खाः (नद्यः)। 'खन' अवदारणे'। वृत्रहननादिन्द्रेण खाताः**"[४] कि वृत्र का वध करके इन्द्र ने इनको विदारित किया, अतः, नदियों को 'खाः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'खन्'+डा+टाप्' से 'खाः' पद निष्पन्न होता है।

(ख)"**यद्वा, खनन्ति भूमिं वेगेन वहन्त्यः**"[५] कि वेगपूर्वक बहकर ये भूमि को खोदती हैं, अतः, नदियों को 'खाः' कहा जाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

(ग)"**अथवा 'खै' स्थैर्ये हिंसायाञ्च'। खायन्ति स्थिरा भवन्ति वृत्रेण रुद्धाः, हिंस्यन्ते वा तेन खाः**"[६] कि वृत्र के द्वारा रोके जाने पर ये रुद्ध हो जाती हैं अथवा उस वृत्र के द्वारा हिंसित की जाती हैं, अतः, नदियों को 'खाः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'खै'+क+टाप्' से 'खाः' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'खाः' पद को 'आकर' अर्थ वाला नामपद मानता है। निघण्टु, वेङ्कट एवं सायण उक्तपद को नदीवाचक मानते हैं। उक्तपद का 'शृङ्खला' अर्थ सन्दिग्ध है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति भी सन्दिग्ध है, लेकिन प्रायः यह पद 'खन्' धातुमूलक माना जाता है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[८] मोनियर विलियम्स उक्तपद को 'खन्' धातुमूलक मानने के पक्ष में हैं।[९]

---

१ ऋ० १.१७३.१२. "महश्चिदस्य मीळ्हुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः।"

२ ऋ० ८.९८.८. "वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि। वावृध्वांसं चिदद्रिवो दिवेदिवे।"

३ निघ० १.१३.३.

४ निघ०वृ०, १.१३.३.

५ निघ०वृ०, १.१३.३.

६ निघ०वृ०, १.१३.३.

७ वै०पद०कोष, पृ० १२०२.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० १८२.

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ३३७.

आचार्य पाणिनि 'खन्'+विट्' से 'खाः' पद को व्युत्पन्न करते हैं।[१]

वैदिक साहित्य में 'खाः' शब्द का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में गृत्समद ऋषि कहते हैं कि हे वरुण! हम जल से पूर्ण तुम्हारी नदी को प्राप्त कर सकें, इसलिये हमें रज्जु के समान कृतपाप से मुक्त करो।[२] नर ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम स्तुत होते हुए अनेकों को आह्लाद एवं निवास देने वाले धन की (नदी) धारा को प्रवाहित कर दो।[३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वे नदियाँ 'खाः' हैं, जो वरुण द्वारा पापमुक्त किये जाने पर प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त ऋषि 'खाः' नामक नदियों की एक विशेषता आह्लाद और बसाने की क्षमता मानता है। उपर्युक्त दो उद्धरणों से 'खाः' नामक नदियों का कोई विशिष्ट स्वरूप उभरकर सामने नहीं आता है। सामान्यतया 'खाः' पद को 'खन्' धातुमूलक माना जा सकता है। इसका समर्थन ब्राह्मण से भी हो जाता है कि 'ख' नाम छिद्र का है।[४] विना विदारण के छिद्र सम्भव नहीं है। इस प्रकार निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि वैदिक काल में भूमि को खोदकर बनायी गयी नदी सम्भवतः, 'खाः' नाम से अभिहित हुई होगी। यह अर्थ धात्वर्थ को ध्यान में रखकर कल्पित किया गया है, परन्तु इसकी पुष्टि वेद से नहीं हो पाती है।

४. सीराः

निघण्टुकोष के नदीवाचक गण में 'सीराः' पद परिगणित है।[५] शतपथ-ब्राह्मण 'सीर' पद का निर्वचन करता हुआ कहता है:-"**सेरं३ हैतद् यत्सीरमिरामेवास्मिन्नेतद्दधाति**"[६] कि 'सीर' का तात्पर्य है कि इसमें इरा (अन्न) को रखा जाता है। इस प्रकार ब्राह्मण की दृष्टि में 'स+इरा' से 'सीर' व्युत्पन्न होता प्रतीत होता है।

आचार्य यास्क 'सीर' शब्द का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**सीर आदित्यः सरणात्**"[७] कि नित्य गतिशील होने के कारण आदित्य को 'सीर' कहा जाता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'सृ' धातु से 'सीर' शब्द उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् नद्यर्थक 'सीराः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सीराः (नद्यः')। 'षिञ्' बन्धने'। सीयन्ते बध्यन्ते आसु सेत्वादितः शिलादिभिरवतारा वा**"[८] कि सेतु आदि से बाँधे जाने अथवा शिला आदि रखे जाने के कारण नदियों को 'सीराः' कहा जाता है। इस पक्ष में बन्धनार्थक 'सि' धातु से औणादिक 'र' प्रत्यय होकर 'सीर' पद निष्पन्न होता है।

---

१ अष्टा०, ३.२.६७. "जनसनखनक्रमगमो विट्।"

२ ऋ० २.२८.५. "मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य।"

३ ऋ० ६.३६.४. "स रायस्खामुप सृजा गृणानः पुरुश्चन्द्रस्य त्वमिन्द्र वस्वः।"

४ गो०ब्रा०, २.२.५. "छिद्रं खमित्युक्तम्।

५ निघ० १.१३.४.

६ शत०ब्रा०, ७.२.२.२.

७ निरु० ९.४०.

८ निघ०वृ०, १.१३.४.

(ख)''**सरणात् सीरः**''[१] कि गतिशील रहने के कारण नदियों को 'सीराः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सृ' गतौ' धातु से औणादिक 'ईरन्' प्रत्यय[२] होकर 'सीराः' पद निष्पन्न होता है।

उणादिकोष 'सि' धातु से 'क्रन्' प्रत्यय करके 'सीर' पद को व्युत्पन्न करता है। तदनुसार 'सीर' पद का निम्न निर्वचन होता है:-''**सिनाति बध्नाति सीरं हलं वा।**''[३] वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सीराः' पद को नदीवाचक स्त्रीलिङ्ग नामपद मानता है। उसके अनुसार 'सीराः' पद की व्युत्पत्ति-विकास-प्रक्रिया निम्न है:- 'स्रु' स्रवणे=स्रवीरा=सईरा=सीरा। ग्रासमैन तथा देवराजयज्वन् 'सृ' गतौ' धातु से व्युत्पन्न मानते हैं, जबकि 'सि' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना को कोशकार सन्दिग्ध मानता है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानने के पक्ष में है।[५] मोनियर विलियम्स का अभिमत है कि 'सीर' शब्द 'सीता' के समान 'सी' से व्युत्पन्न हुआ है, लेकिन यह 'सी' शब्द अपने धातुज अर्थ को खो चुका है। 'सीता' का अर्थ है-'सीधी सरल रेखा खींचना। ऋग्वेद में 'सीर' शब्द 'हल' अर्थ में आया है।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि यास्क का 'सीर' पद का निर्वचन आधारहीन है, लेकिन इसकी अपेक्षा किसी अन्य श्रेष्ठ निर्वचन का निश्चय करना भी कठिन है।[७] ऋग्वेद से प्राप्त सङ्केत से 'सीर' शब्द 'स्रु' धातुमूलक प्रतीत होता है।[८]

वैदिक साहित्य में 'सीराः' पद का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में मात्र चार बार उक्तपद का उल्लेख प्राप्त होता है। अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम शत्रुओं को कँपाने वाले हो, अतः, तरङ्गायित जलों को भूमि पर बरसाओ, जिस प्रकार नदियाँ जल को प्रवाहित करती हैं।[९] वामदेव ऋषि कहते हैं कि चारों ओर स्थित, अपने उद्रेक से तटों को तोड़ती हुई नदियों को भूमि पर प्रवाहित करने के लिये इन्द्र मेघों का नाश करता है।[१०] इन्द्र वैकुण्ठ ऋषि कहते हैं कि मैं वर्षक होने के कारण पृथ्वी के मध्य में प्रवहमान सात नदियों को धारण करता हूँ।[११] यहाँ वेद नदी के विशेषण के रूप में 'स्रवतः, द्रवित्व्वः तथा सीराः'- इन तीन पदों का प्रयोग करता है। ये तीनों पद एक अर्थ (प्रवहणशीलता) का समर्थन करते हैं। आथर्वण भिषक् ऋषि कहते हैं कि इन ओषधियों की माता 'इष्कृति' (अन्न आदि को उत्पन्न करने वाली है) नाम की है और तुम सब ओषधियाँ रोग को बाहर निकालने वाली होने से 'निष्कृति' हो। ये ओषधियाँ देह में स्थित नाड़ियों (सीराः) में

---

१ निघ०वृ०, १.१३.४.

२ उणा०, ४.३१. ''कृशृपृकटिपटिशौटिभ्य ईरन्।''

३ उणा०, २.२६. ''शुसिचिमीनां दीर्घश्च।''

४ वै०पद०कोष, पृ० ३३८३.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ५६८.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १२१८-१९.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १४७.

८ ऋ० १.१७४.९. ''अपः सीराः न स्रवन्तीः।''

९ ऋ० १.१७४.९. ''त्वं धुनिरिन्द्र धुनीमतीर्ऋणोरपः सीरा न स्रवन्तीः।''

१० ऋ० ४.१९.८. ''परिष्ठिता अतृणद्बद्बधाना सीरा इन्द्रः स्रवितवे पृथिव्याः।''

११ ऋ० १०.४९.९. ''अहं सप्त स्रवतो धारयं वृषा द्रवित्न्वः पृथिव्यां सीरा अधि।''

गति करने वाली होती हैं, जो पदार्थ शरीर को रोग से पीड़ित करता है, उसे ये बाहर निकाल देती हैं।[१] तैत्तिरीय-संहिता इन्द्र को सीरपति और शतक्रतु नाम से सम्बोधन करती है।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वे नदियाँ 'सीराः' हैं, जिनमें तरङ्गें उठती हैं और जो अत्यधिक जल के उद्रेक से तटों को तोड़ देती हैं, वर्षक होने के कारण इन्द्र पृथ्वी के मध्य प्रवाहित होने वाली सात नदियों को धारण करता है। इसके अतिरिक्त वेद पृथ्वी को इष्कृति, ओषधियों को निष्कृति और इन ओषधियों को 'सीराः' (नाडी) में प्रवाहित होने वाली बतलाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद लहरों एवं जल के उद्रेक से तटों को विध्वंसित करने वाली नदी को 'सीराः' नाम से अभिहित करता प्रतीत होता है। नदी के आधार पर शरीर में रुधिर को प्रवाहित करने वाली नाडी को वेद में 'सीराः' नाम से कहा गया है। सम्भवतः, इसका कारण यह है कि नदी तथा नाडी के कार्य और आकृति में साम्य है। एक में उदक प्रवाहित होता है और दूसरे में रक्त। उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि गत्यर्थक 'सृ' अथवा स्रवणार्थक 'स्रु' धातु को 'सीराः' पद का मूल माना जा सकता है। द्वितीय सम्भावना की पुष्टि ब्राह्मण के वक्तव्य से भी हो जाती है।[३] वह 'स+इरा' से 'सीर' पद को व्युत्पन्न करता हुआ दिखायी देता है। 'स+इरा' को विश्लेषण करने पर हम 'स्रु'+इरा' की कल्पना कर सकते हैं। इस प्रकार जिसका प्रवाह अन्न को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता है, वह नदी वेद में 'सीराः' है।

५. स्रोत्याः

निघण्टुकोष के नदीवाचक गण में 'स्रोत्याः' पद परिगणित है।[४] आचार्य देवराजयज्वन् 'स्रोत्याः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैंः-"**स्रोत्याः (नद्यः)। स्रोतसि भवाः। स्रोतोऽनुसरणाद्धि नद्यो भवन्ति**"[५] कि स्रोत का अनुसरण करने के कारण नदियों को 'स्रोत्याः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'स्रोतस्' शब्द से भव अर्थ में 'ड्य' प्रत्यय होकर 'स्रोत्याः' रूप उपपन्न होता है। पाणिनि व्याकरण में इसी प्रकार उक्तपद को व्युत्पन्न किया जाता है।[६]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'स्रोत्याः' पद को नदीवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार 'स्रु' धातु से 'स्रोतस्' शब्द निष्पन्न होता है, उससे भव अर्थ में 'ड्य' प्रत्यय होकर 'स्रोत्याः' रूप सिद्ध होता है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्तपद को 'स्रु' धातुमूलक मानती है।[८] मोनियर विलियम्स भी इसी मत का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं तैत्तिरीय-संहिता में 'स्रोत्याः' पद प्रवहमान उदक, तरङ्ग,

---

१ ऋ० १०.९७.९. "इष्कृतिर्नाम वो माताथो यूयं स्थ निष्कृतीः। सीराः पतत्रिणीः स्थन यदामयति निष्कृथ।"

२ तै०सं० २.४.८.७. "इन्द्र आसीत्सीरपतिः शतक्रतुः।"

३ शत०ब्रा०, ७.२.२.२. "सेरः हैतद् यत्सीरमिरामेवास्मिन्नेतद्दधाति"

४ निघ० १.१३.५.

५ निघ०वृ०, १.१३.५.

६ अष्टा०, ४.४.११३.

७ वै०पद०कोष, पृ० ३५०९.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० ५९७.

तरङ्गायित होना, धारा, नदी आदि अर्थों में आया है।[१]

वैदिक साहित्य में 'स्रोत्याः' पद का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में इसका उल्लेख अवश्य मिलता है, परन्तु वह अल्पमात्रा में ही है। अथर्ववेद में कृत्यादूषण देवता का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है कि इस मार्ग में नाव से पार करने योग्य नवति नदियाँ हैं, अतः, उस मार्ग से अपने को आहत न करते हुए अन्य मार्ग से बचकर निकल जाओ।[२] एक अन्य स्थान पर अथर्ववेद का ऋषि ओषधि देवता का वर्णन करता हुआ कहता है कि गायों और पुरुषों का यक्ष्मरोग ठीक उसी प्रकार दूर हो जाये, जिस प्रकार अतिदुस्तर नदी को नाव से पार कर लेते हैं।[३] ब्रह्मा ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार नदियाँ समुद्र को सरस बनाती हैं, उसी प्रकार सूर्य और भूमि गतिशील रहते हुए जिस रस को उत्पन्न करते हैं, वह रस आज भी है और सदा से विद्यमान है।[४] द्यावापृथिवी का वर्णन करता हुआ अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि ये दोनों द्यावापृथिवी अमृत, हवियों, नदियों और मनुष्यों को धारण करते हैं।[५] इन्द्र देवता का उल्लेख करता हुआ अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि जिस स्थान पर जलधारायें चलती हैं, वह स्थान तेरा जीता हुआ है। वर्षक और आहवनीय यह इन्द्र दक्षिणदिशा की ओर से पहुँचता है।[६] ऋग्वेद में अष्टक वैश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे शत्रु नगरों को छिन्न-भिन्न करने वाले इन्द्र! जिन सुरमणीय सात जलधाराओं के द्वारा तुम समुद्र को बढ़ाते हो, वे आपके द्वारा निर्मित हैं। हे इन्द्र! तुम ९९ क्षुद्र नदियों को देवों और मनुष्यों के लिये प्रदान करते हो।[७] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे स्वयं सरण करने वाली नदियो! दूर से चलकर शकट और रथ से आने वाले स्तोता के वचनों को सुनो। हे नदियो! ये रथ आदि स्रवणशील नदियों से पार हो सकें, अतः, तुम रथ के अक्ष से भी निम्न जल वाली हो जाओ।[८] तैत्तिरीय-संहिता कहती है कि समुद्र नदियों (स्रोत्यानाम्) का अधिपति है।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वे नदियाँ 'स्रोत्याः' हैं, जिनको केवल नाव से पार किया जा सकता है, अन्य किसी प्रकार से पार करने पर व्यक्ति आहत हो सकता है, जिस प्रकार रोग ओषधि से दूर होते हैं, उसी प्रकार ये नदियाँ नाव से पार की जाती हैं, समुद्र को पूर्ण करने वाली सात जलधाराओं से भिन्न ९९ नदियों को इन्द्र देवों और मनुष्यों के लिये प्रदान करते हैं। अतः, महान् जलधाराओं से भिन्न नदियों को ऋग्वेद 'स्रोत्याः' नाम से अभिहित करता है। ये नदियाँ इतनी गहन हैं कि जब तक ये स्वयं

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १२७४.

२ अथर्व०, १०.१.१६. ''परेणेहि नवतिं नाव्या३ अति दुर्गाः स्रोत्या मा क्षणिष्ठाः परेहि।''

३ अथर्व०, ८.७.१५. ''गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या एतु स्रोत्याः।''

४ अथर्व०, १.३२.३. ''यद् रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम्। आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः।''

५ अथर्व०, ४.२६.४. ''ये अमृतं बिभृथो ये हवींषि ये स्रोत्या बिभृथो ये मनुष्यान्।''

६ अथर्व०, ६.९८.३. ''यत्र यन्ति स्रोत्यास्तज्जितं ते दक्षिणतो वृषभ एषि हव्यः।''

७ ऋ० १०.१०४.८. ''सप्तापो देवीः सुरणा अमृक्ता याभिः सिन्धुमतर इन्द्र पूर्भित्। नवतिं स्रोत्या नव च स्रवन्तीर्देवेभ्यो गातुं मनुषे च विन्दः।''

८ ऋ० ३.३३.९. ''ओ षु स्वसारः कारवे शृणोत ययौ वो दूरादनसा रथेन। नि षू नमध्वं भवता स्वसारः सुपारा अधोअक्षाः सिन्धवः स्रोत्याभिः।''

९ तै०सं० ३.४.५.१. ''समुद्र : स्रोत्यानाम् (अधिपतिः)।

रास्ता नहीं देती हैं, तब तक पैदल इनको पार नहीं किया जा सकता है। उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम कह सकते हैं कि गहनता 'स्रोत्या:' नदियों की पहिचान है। इसके अतिरिक्त इससे यह भी सूचित होता है कि ये नदियाँ सर्वदा जल से परिपूर्ण रहती हैं। सम्भवत:, जल से परिपूर्ण होकर प्रवाहित रहने के कारण इनको वेद 'स्रोत्या:' नाम से अभिहित करता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'स्रु' स्रवणे' धातु को 'स्रोत्या:' पद का मूल माना जा सकता है।

६. एन्य:

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'एन्य:' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'एन्य:' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**एन्य: (नद्य:)। 'इण्' गतौ'। यन्ति एभ्य: गमनस्वभावा हि नद्य: गम्यन्ते वा प्राणिभि:**''[२] कि गमनस्वभाव वाली होने के कारण इनसे यात्रा की जाती है अथवा प्राणियों के द्वारा गमनीय होने के कारण नदियों को 'एन्य:' कहा जाता है। इस पक्ष में 'इण्' गतौ' धातु से औणादिक 'नि' प्रत्यय और उससे 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'एनी' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'एनी' का सम्बन्ध 'एत' शब्द से मानता है। लेकिन उसके अनुसार 'एत' शब्द की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स 'एत' शब्द का मूल 'इ' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय-संहिता एवं वाजसनेयि-संहिता में यह पद दौड़ना, झपटना, शबलता, वर्णों की शबलता, चमकना, दीप्तिमान् आदि अर्थों में आया है। इसके अतिरिक्त एक प्रकार के मृग और उसकी चर्म के लिये भी व्यवहृत हुआ है।[५] उणादिकोष 'इण्' धातु से 'तन्' प्रत्यय करके 'एत' शब्द को व्युत्पन्न मानता है। उसके वृत्तिकार के अनुसार उक्तपद का निर्वचन निम्न है:-''**एति प्राप्नोति यं स एत: विचित्रवर्णो वा, स्त्रियां एनी, एता।**[६]

वैदिक साहित्य में 'एनी' का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में श्यावाश्व ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार अश्व मार्ग से मुक्ति दिलाने के लिये गमन करते हैं, उसी प्रकार शीघ्र गमन करने वाली नदियाँ विविध प्रकार से उपयोग में आती हैं।[७] प्रियमेध ऋषि कहते हैं कि जब ये शुभ्रवर्ण की अत्यन्तप्रवृद्ध और सुन्दर दुहने योग्य नदियाँ चारों ओर प्रवाहित होती हैं, उस समय इन्द्र के पान करने के लिये सोम ग्रहण करो।[८] आत्रेय ऋषि कहते हैं कि गतिशील और उदक का सेचन करती हुई अनेक नदियाँ भी उस एक समुद्र को उदक

---

१ निघ० १.१३.६.

२ निघ०वृ०, १.१३.६.

३ वै०पद०कोष, पृ० १०३८.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० १५९.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, २३१

६ उणा०, ३.८६. ''हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूसधूर्विभ्यस्तन्।''

७ ऋ० ५.५३.७. ''स्यन्त्रा अश्वाइवाध्वनो विमोचने वि यद्वर्तन्त एन्य:।''

८ ऋ० ८.६९.१०, अथर्व०, २.९२.७. ''आ यत्पतन्त्येन्य: सुदुघा अनपस्फुर:। अपस्फुरं गृभायत सोममिन्द्राय पातवे।''

से पूर्ण नहीं कर पाती हैं।[१] अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि सभी देव उस पूजनीय अग्नि के कर्म का अनुसरण करते हैं, वही इस गतिशील नदी के लिये दिव्य क्षरणशील उदक का दोहन करता है।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह नदी 'एनी' है, जो अश्व के समान गमनरूप कर्म को सम्पन्न करती है, इनको ऋषि 'अनपस्फुरः' विशेषण से सम्बोधित करता है अर्थात् जो स्फुरणरहित हैं, जिनमें उदक समान गति से गमन करता है। कहने का आशय यह है कि समतल प्रदेश में बहने वाली नदियाँ यात्रा करने योग्य होने के कारण वेद में 'एनी' नाम से अभिहित हुई हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'इण्' गतौ' धातु को 'एनी' पद का मूल माना जा सकता है।

७. धुनयः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'धुनिः' पद परिगणित है।[३] आचार्य यास्क 'धुनि' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**धुनिर्धूनोतेः**"[४] कि शत्रुओं को कँपाने के कारण इन्द्र या सोम को 'धुनिः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'धूञ्' कम्पने' धातु से 'धुनिः' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'धुनिः' पद का निम्न निर्वचन देते हैं:-"**धुनयः (नद्यः)। 'धूञ्' कम्पने'। धुन्वन्ति कम्पयन्ति तीरवृक्षादीनि, कम्पन्ते वा स्वयं गमनशीलत्वात्**"[५] कि तट पर स्थित वृक्षादि अथवा गमनशील होने से स्वयं कम्पित होने के कारण नदी को 'धुनिः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'धूञ्' कम्पने' धातु से औणादिक 'नि' प्रत्यय होकर 'धुनिः' पद सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'धू' धातुमूलक मानते हुए 'धुनिः' को विशेषण, नाम और व्यक्तिपरक संज्ञापद स्वीकार करता है, लेकिन कुछ विद्वान् उक्तपद को 'ध्वन्' धातु से सिद्ध करने के पक्ष में हैं। उक्तपद का यथावसर अर्थ कम्पन, गमन, प्रवाह आदि है। वेद में क्वचित् यह पद नदी, मरुत् और क्वचित् असुर विशेष का वाचक है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को 'धु' धातुमूलक मानती है।[७] मोनियर विलियम्स 'धुनिः' पद को 'ध्वन्' धातु से उपपन्न मानते हैं। उनके अनुसार यह पद ऋग्वेद में मरुत्, नदियों और सोम आदि के गर्जन, ध्वनि करना, झंझावात आदि की उग्रता के अर्थ में आया है।[८] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में यह पद 'dhes' धार्मिक रूप से कार्य करना तथा ग्रीक में 'theos' देवता या भगवान् अर्थ में है।[९]

---

१ ऋ० ५.८५.६. "एकं यदुद्रा न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम्।"

२ अथर्व०, १८.१.३२, ऋ० १०.१२.४. "विश्वे देवा अनु तत् ते यजुर्गुर्दुहे यदेनीं दिव्यं घृतं वाः।"

३ निघ० १.१३.७.

४ निरु० ५.१२.

५ निघ०वृ०, १.१३.७.

६ वै०पद०कोष, पृ० १७२८.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० २७४.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ५१७.

९ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ४७.

वैदिक साहित्य में 'धुनिः' पद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। गृत्समद ऋषि कहते हैं कि वह इन्द्र इस धुनि (परुष्णी) नदी के जल को ऋषियों को पार जाने के लिये शान्त करता है अर्थात् उसे महोदका से अल्पोदका बनाता है। उसके पश्चात् तैरकर पार करने में समर्थ ऋषियों को कुशलतापूर्वक पार पहुँचा देता है।[१] एक अन्य सूक्त में गृत्समद ऋषि कहते हैं कि इन्द्र की इच्छा का अनुसरण करके मार्गों को बनाती हुईं नदियाँ प्रतिदिन गन्तव्य समुद्र की ओर जाती हैं।[२] श्यावाश्व ऋषि कहते हैं कि सब कुछ जानने वाले मरुत् और अग्नि अन्तरिक्ष से भी ऊपर शिखरों पर नदियों को वहन करते हैं। ऐसी प्रसन्न और हिंसा न करती हुई नदियाँ यज्ञ करने वाले यजमान के लिये वननीय धन को धारण करें।[३] एवायमरुत् आत्रेय ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार प्रेरणा से मरुतों को अपने निवासस्थान से हिलाया नहीं जा सकता, जिस प्रकार स्वयं प्रकाशित होने वाली विद्युत् को कोई प्रकाशित नहीं कर सकता, ठीक उसी प्रकार नदियाँ विना किसी की प्रेरणा के स्वतः प्रवहमान हैं।[४] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में 'धुनिः' पद अनेकशः मरुत्[५] तथा क्वचित् इन्द्र[६] के विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त है। कतिपय स्थानों पर यह 'चमुरि' के साथ भी पठित है।[७] सायण 'चमुरि' को एक असुर विशेष मानते हैं, तदनुसार 'धुनि' भी एक असुर है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह नदी 'धुनिः' है, जिसे विस्तृत आकार और अथाह गहराई के कारण पार कर सकना सम्भव नहीं है, यह वह नदी है, जो इन्द्र की इच्छा से अपने मार्ग का स्वयं निर्माण करती है, इस नदी को विश्ववेदस् मरुद्गण और अग्नि अन्तरिक्ष के उच्चप्रदेशों में अर्थात् पर्वत पर वहन करते हैं, मरुत् और विद्युत् के समान ये नदियाँ स्वतः प्रवहमान हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में पर्वत के उच्चशिखरों से भूमि पर अवतरित होती हुई नदी 'धुनिः' है। उस प्रपात प्रदेश में विकराल होने के कारण नदी दुस्तर होती है तथा उस समय इसमें कम्पन की भी अधिकता होती है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कम्पनार्थक 'धू' या 'धु' धातु को 'धुनिः' पद का मूल माना जा सकता है।

८. रुजानाः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों 'रुजानाः' पद परिगणित है।[८] आचार्य यास्क 'रुजानाः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**रुजानाः नद्यो भवन्ति, रुजन्ति कूलानि**"[९] कि तटों को विध्वंसित करने के कारण नदी को 'रुजानाः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'रुज्' धातु से 'रुजानाः' पद निष्पन्न होता है।

---

१ ऋ० २.१५.५. "स ईं महीं धुनिमेतोररम्णात्सो अस्नातॄनपारयत्स्वस्ति।"

२ ऋ० २.३०.२. "पथो रदन्तीनु जोषमस्मै दिवेदिवे धुनयो यन्त्यर्थम्।"

३ ऋ० ५.६०.७. "अग्निश्च यन्मरुतो विश्ववेदसो दिवो वहध्व उत्तरादधि ष्णुभिः। ते मन्दसाना धुनयो रिशादसो वामं धत्त यजमानस्य सुन्वते।"

४ ऋ० ५.८७.३. "न येषामीरी सधस्थ ईष्ट आँ अग्नयो न स्वविद्युतः प्र स्पन्द्रासो धुनीनाम्।"

५ ऋ० १.६४.५, ७९.१, ८७.३.

६ ऋ० १.१७४.९, ५.३४.५.

७ ऋ० ७.१९.४.

८ निघ० १.१३.८.

९ निरु० ६.४.

आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'रुजाना:' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-"**रुजाना: (नद्य:)। 'रुजो' भङ्गे'। रुजन्ति कूलानि**"[१] कि कूलों को नष्ट करने के कारण नदी को 'रुजाना:' कहा जाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है। आचार्य सायण भी इसी प्रकार का निर्वचन करते हैं:-"**रुजन्ति कूलानीति रुजाना नद्य:।**"[२]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'रुजाना:' पद का मूल रदन (खनन) अर्थ वाली 'रुज्' धातु को मानता है। उसके अनुसार उक्त शब्द नदीवाचक नामपद है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची तथा मोनियर विलियम्स से भी इसका समर्थन हो जाता है।[४] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में यह पद 'lug' तोड़ने में तथा ग्रीक में 'lugros' दु:खपूर्ण अर्थ में है। अत:, उक्त यास्कीय निर्वचन तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा आंशिक रूप से स्वीकार करने योग्य है।[५]

वैदिक साहित्य में 'रुजाना:' पद का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। चारों वेदों में से केवल ऋग्वेद में इसका एक बार प्रयोग हुआ है। आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं कि बुरी तरह से मद में डूबे हुए, युद्ध की इच्छा न करने वाले पुरुष के समान वृत्र (मेघ) महाबलशाली, बहुत शत्रुओं का वध एवं रस का सङ्ग्रह करने वाले इन्द्र का युद्ध के लिये आह्वान करता है। लेकिन वह वृत्र इन्द्र के पराक्रमों को सहन नहीं कर पाया, उस वृत्र (मेघ) के वध से नदियाँ पिस जाती हैं अर्थात् पर्वत, टीले आदि पाषाणों को पीसती हुई बहने लगती हैं। कहने का आशय यह है कि वृत्र उदकरूप होकर नदी में बहने लगता है।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह नदी 'रुजाना:' है, जो अपने तटों को तोड़ती और पाषाणों को पीसती हुई प्रवाहित होती है। सम्भवत:, इसी आशय को स्पष्ट करने के लिये वेद ने मन्त्र में 'पिष्' धातु का प्रयोग किया है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए विना किसी सन्देह के 'रुज्' धातु को 'रुजाना:' पद का मूल माना जा सकता है।

९. वक्षणा:

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'वक्षणा:' पद परिगणित है।[७] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'वक्षणा:' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**वक्षणा: (नद्य:)। 'वक्ष' रोषे'। वक्षन्ति क्रुध्यन्तीव हि ता: वर्षासमये वेगेन गच्छन्त्य:**"[८] कि वर्षाकाल में वेगपूर्वक गमन करने वाली नदियाँ क्रोध करती हुई

---

१ निघ०वृ०, १.१३.८.

२ सायणभाष्य, ऋ० १.३२.६.

३ वै०पद०कोष, पृ० २६७४.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ४४८. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ८८२.

५ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ६०.

६ ऋ० १.३२.६. "अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे महावीरं तुविबाधमृजीषम्। नातारीदस्य समृतिं वधानां सं रुजाना: पिपिष इन्द्रशत्रु:।"

७ निघ० १.१३.९.

८ निघ०वृ०, १.१३.९.

प्रतीत होती हैं, अतः, उनको 'वक्षणाः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'वक्ष्' धातु से 'युच्' प्रत्यय होकर 'वक्षणाः' रूप सिद्ध होता है।

(ख)''यद्वा, 'वह' प्रापणे'। स्वयं प्रवहन्ति हि ताः''[१] कि स्वयं प्रवाहित होने के कारण नदियों को 'वक्षणाः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'वह्' धातु से पूर्ववत् 'युच्' प्रत्यय होकर 'वक्षणाः' पद निष्पन्न होता है।

(ग)''यद्वा, वक्षतिः प्राप्तकर्मणः स्यात्- इति माधवः। प्राप्यन्ते हि ताः प्राणिभिः, प्राप्नुवन्ति वा समुद्रं निम्नं वा''[२] कि प्राणी इसको प्राप्त करते हैं अथवा यह समुद्र या निम्न स्थान को प्राप्त करती हैं, अतः, नदियों को 'वक्षणाः' कहा जाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

आचार्य सायण 'वक्षणाः' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-**''वक्ष्यन्ते यासूदकानीति वक्षणा नद्यः''**[३] कि उदकों को वहन करने के कारण नदियों को 'वक्षणाः' कहा जाता है। इस पक्ष में सायण 'वह्' धातु से 'वक्षणाः' पद को व्युत्पन्न मान रहे हैं, लेकिन वे उक्तपद की व्युत्पत्ति 'वक्ष' रोषे+युच्' से मानते हैं।[४]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वक्षणाः' को स्त्रीलिङ्ग नदी एवं पार्श्ववाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार 'वक्ष्' धातु से 'वक्षणाः' पद व्युत्पन्न होता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'वक्षणाः' पद को अव्युत्पन्न मानने के पक्ष में है।[६] मोनियर विलियम्स के मत में 'वक्षणाः' पद का मूल 'वक्ष्' धातु है। उनके अनुसार ऋग्वेद में उक्तपद बलशाली बनाना, नवीन शक्ति प्रदान करना, अनुप्राणित करने आदि अर्थ में आया है। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में यह पद उदर, छिद्र, पार्श्व, आभ्यन्तर, और बगल अर्थ में आया है। इसके अतिरिक्त यह पद ऋग्वेद में नदी अर्थ में भी प्राप्त होता है।[७]

वैदिक साहित्य में 'वक्षणाः' पद का अनेकशः प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं कि मैं इन्द्र के पराक्रमयुक्त कर्मों को कहता हूँ। वह इन्द्र अहि (मेघ) का वध करता है, यह उसका प्रथम पराक्रम है। तत्पश्चात् वह मेघस्थ उदक को भूमि पर गिराता है, यह उसका द्वितीय पराक्रम है और उसके पश्चात् नदियों के बहने के लिये पर्वतों (मेघों या पर्वतों) का भेदन करता है।[८] परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि अन्तरिक्ष के प्रकाशमान प्रदेश से मरुद्गण बहने वाली किरणों से नदियों को प्रवाहित करते हैं।[९] दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि होता आदि सुन्दर विप्रों के द्वारा उत्तम प्रकार से पूर्ण किये गये यज्ञ से नदियों को पूर्ण

---

१ निघ०वृ०, १.१३.९.

२ निघ०वृ०, १.१३.९.

३ सायणभाष्य, ऋ० ३.३०.१४.

४ सायणभाष्य, ऋ० १.३२.१, ३.३०.१४. अष्टा०, ३.२.१५१. ''क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च।''

५ वै०पद०कोष, पृ० २७१३.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ४५३.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ९११.

८ ऋ० १.३२.१. अथर्व०, २.५.५. ''इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री। अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम्।''

९ ऋ० १.१३४.४. ''अजनयो मरुतो वक्षणाभ्यो दिव आ वक्षणाभ्यः।''

करो।[१] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि अन्नादि शोभनधन से युक्त नदियाँ जल से सम्यक् पालन करती हुई शीघ्रता के साथ प्रस्थान करें।[२] यहाँ सायण ने 'वक्षणाः' का अर्थ 'कुल्याः' किया है। इस प्रकार उनके अनुसार 'कृत्रिम (नहर) नदी' 'वक्षणाः' है।[३] एक अन्य मन्त्र में विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि इन्द्र के द्वारा नदियों में महान् ज्योतिरूप उदक स्थापित किया जाता है, यह उदक उसी प्रकार नदियों में स्थित है, जिस प्रकार नवप्रसूता गौ पक्व (भोजन योग्य) दुग्ध को धारण करती है। उस्रिया (नदी) में स्थित स्वादिष्ठ उदक को इन्द्र ने भोजन के लिये स्थापित किया है।[४] अत्रि ऋषि कहते हैं कि उस सेक्ता इन्द्र ने पुत्री पृथ्वी के रूप का मान करते हुए नदियों में इस उदक को हमारे लिये उत्पन्न किया।[५] मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि गायों को आवृत करने वाले वस्त्रों के समान आकाश को मेघों से आच्छादित करते हुए मरुद्गण नदियों के लिये उदकों का दोहन करते हैं।[६] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार इन्द्र और सोम गायों के स्तनों में दुग्ध को धारण करते हैं, उसी प्रकार वे नदियों और पृथिवियों के मध्य में विना किसी से बँधे हुए देदीप्यमान (रुशत्) उदक को धारण करते हैं।[७] वसुक्रपत्नी ऋषिका कहती है कि गमनशील उदकों को नदियों में स्थापित करते हुए मरुद्गण, जिस मेघसमूह में उदक (कृपीट) को प्राप्त करते हैं, उसको अपने वज्र से चूर्ण कर देते हैं।[८] वैकुण्ठ इन्द्र ऋषि कहते हैं कि स्पृहणीय पयस् को गायों के ऊधस् में तथा जब तक वर्षा नहीं होती, तब तक नदियों को मैं ही धारण करता हूँ। इसके अतिरिक्त सोम और आशिर को भी मैं ही धारण करता हूँ।[९] उपर्युक्त सायणकृत व्याख्या से भिन्न मन्त्र की निम्न व्याख्या भी की जा सकती है:-'स्पृहणीय गायों के स्तनों में दूध, नदियों में शीघ्रगामी जल तथा मधु (उदक) की अपेक्षा भी अधिक मधु (मादक या उत्तेजक वीर्य) एवं शरीर के आश्रयभूत सोम को भी मैं ही धारण करता हूँ।'

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह नदी 'वक्षणाः' कहलाती है, जो पर्वतों के छेदन-भेदन से प्रकट होती है, अन्तरिक्ष में स्थित पर्वत के उच्चप्रदेश से यह नदी प्रवाहित होती है, सुन्दर प्रकार से सम्पन्न किये गये यज्ञ से ये नदियाँ जल से परिपूर्ण होती हैं, ये वे नदियाँ हैं, जो सम्यक् प्रकार से आराधित अर्थात् निर्मित होकर अन्नादि को उत्पन्न करती हैं, इन नदियों का उदक नवप्रसूता गौ के दुग्ध के समान स्वादिष्ठ है, पुत्री पृथ्वी के रूप का मान करते हुए इन्द्र नदियों में उदकों का दोहन करते हैं, जिस प्रकार वस्त्रों से गाय को आच्छादित किया जाता है, उसी प्रकार नदियों में उदकों का दोहन करने के लिये मरुत् मेघों को

---

१ ऋ० १.१६२.५. यजु०, २५.२८. ''तेन यज्ञेन स्वरंकृतेन स्विष्टेन वक्षणा आ पृणध्वम्।''

२ ऋ० ३.३३.१२. ''प्र पिन्वध्वमिषयन्तीः सुराधा आ वक्षणाः पृणध्वं यात शीभम्।''

३ सायणभाष्य, ऋ० ३.३३.१२.

४ ऋ० ३.३०.१४. ''महि ज्योतिर्निहितं वक्षणास्वामा पक्वं चरति बिभ्रती गौः। विश्वं स्वाद्म संभृतमुस्रियायां यत्सीमिन्द्रो अदधाद्भोजनाय।''

५ ऋ० ५.४२.१३. ''य आहना दुहितुर्वक्षणासु रूपं मिनानो अकृणोदिदं नः।''

६ ऋ० ८.१.१७. ''गव्या वस्त्रेव वासयन्त इन्नरो निर्धुक्षन्वक्षणाभ्यः।''

७ ऋ० ६.७२.४. ''इन्द्रसोमा पक्वमास्वन्तर्नि गवामिद्दधुर्वक्षणासु। जगृभथुरनपिद्धमासु रुशच्चित्रासु जगतीष्वन्तः।''

८ ऋ० १०.२८.८. ''नि सुद्र्वं१ दधतो वक्षणासु यत्रा कृपीटमनु तद्दहन्ति।''

९ ऋ० १०.४९.१०. ''स्पार्हं गवामूधःसु वक्षणास्वा मधोर्मधु श्वात्र्यं सोममाशिरम्।''

आच्छादित करते हैं, ये वे नदियाँ हैं, जिनमें नवप्रसूता गौ के समान इन्द्रसोम उदक को धारण करते हैं, इन नदियों को पूर्ण करने के लिये मरुत् उदकयुक्त मेघ को चूर्णीकृत कर देते हैं, इन्द्र स्वयं गायों के ऊधस् और नदियों में जल को धारण करते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि वे नदियाँ 'वक्षणा:' हैं, जिनका पर्वतभेदन करके निर्माण किया जाता है। वेद का ऋषि इनके लिये 'सुराधा' और 'इषयन्ती:' का प्रयोग करता है। ये नदियाँ मनुष्य द्वारा निर्मित होने से 'सुराधा' हैं और ये क्षेत्र की ऊँचाई तक जाकर जल पहुँचाती हैं, अत:, अन्न उत्पन्न करने में सहायक होने के कारण इनको वेद 'इषयन्ती:' कहता है। इन नदियों की एक विशेषता की ओर वेद ने और ध्यान आकर्षित किया है कि ये पुन: वर्षा आने तक निरन्तर प्रवहमान रहती हैं। वेद इनको यज्ञ से पूर्ण की जाने वाली मानता है। कहने का आशय यह है कि वह शिल्प क्रिया यज्ञ है, जिससे किसी एक स्थान पर सञ्चित उदक नदीरूप में प्रवाहित होकर कृषकों के क्षेत्रों तक चला आता है। इसके अतिरिक्त सायण ने भी 'वक्षणा:' को 'कुल्या:' के रूप में प्रतिपादित किया है।[१] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में 'वक्षणा:' कृत्रिम नदी के लिये व्यवहृत हुआ है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'वक्ष' रोषे' धातु को 'वक्षणा:' पद का मूल माना जा सकता है। यह व्युत्पत्ति रूप की दृष्टि से तो अनुकूल है ही, अर्थ की दृष्टि से भी इसमें पर्याप्त अनुकूलता है। मनुष्यकृत प्रयास और उदक का आवश्यकता से अधिक भण्डार क्रोध के समान है, मानो उसको न सह सकने के कारण ये नदियाँ प्रवाहित होना प्रारम्भ कर देती हैं।

१०. स्वादोअर्णा:

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'स्वादोअर्णा:' पद परिगणित है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'स्वादोअर्णा:' पद का निर्वचन निम्न प्रकार करते हैं:-''**स्वादोअर्णा: (नद्य:)। 'स्वाद' भक्षणे'। अर्णशब्दोऽकारान्तोऽपि निरुक्त उदकनामसु। स्वाद: भक्ष्यमाण:। भक्षणेन चात्र बाधनं लक्ष्यते, तेन कूलं बाधमानोऽर्णो जलं यासामिति स्वादोअर्ण:, वेगवज्जला इत्यर्थ:। स्वादोअर्णा जलान्विता:। स्वादो वेगवज्जलं यासां तास्तथोक्ता: भक्षितकूलोदका:**''[३] कि वेग के कारण जिन नदियों का जल तट को बाधित करता है, वे नदियाँ 'स्वादोअर्णा:' कहलाती हैं। कहने का आशय यह है कि अत्यधिक वेगवान् जलों वाली नदियाँ अधिक प्रवाह के कारण अपने तट का भक्षण कर लेती हैं, अत, उनको 'स्वादोअर्णा:' कहा जाता है। इस पक्ष में 'स्वाद्+असुन्+अर्ण=स्वादोअर्ण:' रूप निष्पन्न होता है।

वैदिक साहित्य में 'स्वादोअर्णा:' पद का एक बार भी प्रयोग नहीं हुआ है। आचार्य देवराजयज्वन् उक्तपद के प्रयोग के उदाहरण के रूप में निम्न मन्त्र को प्रस्तुत करते हैं:-''**धन्वर्णसो नद्य:१ खादोअर्णा: स्थूणेव सुमिता दृंहित द्यौ:**''[४] सदापृण आत्रेय ऋषि विश्वदेवों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिनमें जल

---

१ सायणभाष्य, ऋ० ३.३३.१२.

२ निघ० १.१३.१०.

३ निघ०वृ०, १.१३.१०.

४ ऋ० ५.४५.२.

बहकर आता है तथा जो अपने तटों का भक्षण कर लेती हैं, ऐसी कूलङ्कषा नदियों और गृह में स्थापित स्तम्भ के समान द्युलोक- इनको सूर्य की आज्ञा से विश्वदेवों ने दृढ़ किया।' उपर्युक्त मन्त्र में वेद के ऋषि ने 'खादोअर्णाः' का प्रयोग किया है, परन्तु देवराजयज्वन् सम्भवतः, अर्थ समानता के आधार पर 'स्वादोअर्णाः' को 'खादोअर्णाः' मानने की भूल कर रहे हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में अप्रयुक्त होने के कारण 'स्वादोअर्णाः' पद के विशिष्ट स्वरूप तथा उसके निर्वचन को निर्धारण कर पाना सम्भव नहीं है।

११. रोधचक्राः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'रोधचक्राः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'रोधचक्राः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**रोधचक्राः (नद्यः)। 'रुधिर्' आवरणे'+'डुकृञ्' करणे'। रोधस्य निरोधस्य चक्रं करणं वृत्तिरासां विद्यते इति रोधचक्राः। नद्यो वृष्ट्या प्राणिनां स्वैरसञ्चरणनिरोधकारिणः**''[२] कि जिनका रोकने का स्वभाव होता है, वे 'रोधचक्राः' कहलाते हैं। वर्षा ऋतु में नदियाँ प्राणियों के स्वैर सञ्चरण को निरुद्ध कर देती हैं, अतः, उनको 'रोधचक्राः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'रुध्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर 'रोध' तथा 'कृ' धातु से 'क' प्रत्यय होकर 'चक्र' रूप निष्पन्न होता है। इस प्रकार 'रोध+चक्र' से 'रोधचक्राः' पद व्युत्पन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, रोधः तीरं तस्य करणं निर्माणमासां विद्यते तीरवत्यो हि नद्यः**''[३] कि ये अपने तट का निर्माण करने वाली होती हैं, अतः, नदियों को 'रोधचक्राः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'रोधस्+'कृ' से 'रोधचक्राः' पद निष्पन्न होता है।

(ग)''**यद्वा, रुधेः। रुध्यतेऽनेन जलप्रवाह इति रोधः शब्दः करणं निर्माणमासां विद्यते**''[४] कि नदी के किनारों से जलप्रवाह रोका जाता है, उससे यह कलकल ध्वनि करती हैं, अतः, नदियों को 'रोधचक्राः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'रुध्'+घञ्+'कृ' से 'रोधचक्राः' पद उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'रुध्'+चक्र से 'रोधचक्रः' पद को व्युत्पन्न मानता है। उसके अनुसार यह पद ऋग्वेद में नदी अर्थ में प्रयुक्त है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स उक्तपद का मूल 'रुध्' को मानते हैं। उनके अनुसार यह पद ऋग्वेद और अथर्ववेद में तट पर भँवर निर्माण अर्थ में आया है।[७]

---

१ निघ० १.१३.११.

२ निघ०वृ०, १.१३.११.

३ निघ०वृ०, १.१३.११.

४ निघ०वृ०, १.१३.११.

५ वै०पद०कोष, पृ० २६७९.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ४४९.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ८८४.

वैदिक साहित्य में उक्तपद का प्रयोग अत्यल्प हुआ है। ऋग्वेद में अगस्त्य ऋषि बृहस्पति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि रुके हुए अर्थात् न्यून गति से चलने वाली नदियों (अवनयः) और समुद्र की ओर बहने वाली नदियों (रोधचक्राः) के समान वह विद्वान् व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार के विज्ञान का उपदेश करता है तथा वह दूरद्रष्टा (गृध्रः) जलों के समान अन्तः और बाह्य दोनों प्रकार के आचरण को पवित्र करता है।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वे नदियाँ 'रोधचक्राः' है, जो समुद्र की ओर बहकर जाती हैं। सम्भवतः, धाराओं में बँधकर उदक समुद्र तक चला जाता है, इस कारण नदियों को 'रोधचक्राः' कहा जाता है। परन्तु 'रोधचक्राः' शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, मन्त्र से प्राप्त अर्थ से उसका समर्थन स्पष्टरूप से होता दिखायी नहीं देता है। पर्याप्त प्रमाण के अभाव में अभी उक्त नदी के स्वरूप को निर्धारित कर पाना सम्भव नहीं है।

१२. हरितः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'हरितः' पद परिगणित है।[२] आचार्य यास्क रश्मिवाचक 'हरितः' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**हरितः हरणानादित्यरश्मीन्**''[३] कि हरणशील होने के कारण आदित्यरश्मियों को 'हरितः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'हृ' धातु से 'हरितः' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''हरितोऽश्वानिति वा''[४] कि हरण करके ले जाने के कारण अश्वों को 'हरितः' कहा जाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'हरितः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**हरितः (नंद्यः)। 'हृञ्' हरणे'। हरन्ति वृक्षगुल्मादीनि वेगेन**''[५] कि वृक्ष, गुल्मादि को बहा ले जाने के कारण नदियों को 'हरितः' कहा जाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

(ख)''यद्वा, 'हृ' प्रसह्यकरणे'। प्रसह्य हरन्ति वा''[६] कि बलपूर्वक हरण करके ले जाती हैं, अतः, नदियों को 'हरितः' कहा जाता है। इस पक्ष में प्रसह्यकरण अर्थ वाली 'हृ' धातु से 'हरितः' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'हृञ्' हरणे' धातु को 'हरितः' पद का मूल मानता है। उसके अनुसार यह पद ऋग्वेद में अश्व, रश्मि प्रभृति अर्थों में प्रयुक्त है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती

---

१ ऋ० १.१९०.७. ''सं यं स्तुभोऽवनयो न यन्ति समुद्रं न स्रवन्ते रोधचक्राः। स विद्वाँ उभयं चष्टे अन्तर्बृहस्पतिस्तर आपश्च गृध्रः।''

२ निघ० १.१३.१२.

३ निरु० ४.११.

४ निरु० ४.११.

५ निघ०वृ०, १.१३.१२.

६ निघ०वृ०, १.१३.१२.

७ वै०पद०कोष, पृ० ३५५९.

है।[१] मोनियर विलियम्स के मत में उक्तपद 'हृ' धातुमूलक है। उसके अनुसार ऋग्वेद में यह पद पीला-सा, पीत, पाण्डुर, हलका लाल, डर से पीला, हरित, हरिताभ अर्थ में आया है।[२] निघण्टुकोष में नदी के अतिरिक्त दिशा, आदिष्टोपयोजन और अङ्गुलि अर्थ में आया है।[३] वेद से प्राप्त सङ्केत 'हरितः' को भृ, और हर्य् धातुमूलक होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं।[४] इनमें भी प्रथम व्युत्पत्ति की पुष्टि कुछ अधिक प्रमाणों से होती है। उणादिकोष 'हरितः' पद को 'हृ' धातुमूलक मानता है।[५]

वैदिक साहित्य में 'हरितः' पद का अनेकशः प्रयोग हुआ है। यहाँ यह प्रायः अश्व[६], रश्मि[७], दिशा आदि अर्थों का प्रतिनिधित्व करता है। आचार्य देवराजयज्वन् का अभिमत है कि वेद में 'हरितः' पद नदीवाचक अर्थ में अप्रयुक्त है, अतः, वे '**निगमोऽन्वेषणीयः**' कहते हैं।[८] लेकिन प्रयास करने पर 'हरितः' पद की नदी अर्थ के साथ भी सङ्गति बैठ जाती है। प्रस्तुत विवेचन में ऐसा ही प्रयास किया गया है। कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम ही सूर्यरूप होकर नदियों को रमाते हो और अश्वों से रथचक्र को चलाते हो। नाव से पार करने योग्य नब्बे नदियों के पार पहुँचाते हो तथा विषय का सङ्ग न करने वालों के लिये कूप खुदवाते हो।[९] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि रश्मियों वाले द्युलोक, वनस्पतियों से हरित् पृथ्वी, नदियों के भोजन उदक और जिन द्यावापृथिवियों के मध्य हरि विचरण करता है, उन सबको इन्द्र धारण करता है।[१०] एक अन्य मन्त्र में विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि जब सूर्य का तेज आकाश में आरूढ होता है, तब वह कान्तिमय पृष्ठ वाले नदियों के जल से संयुक्त होता है। जिस प्रकार बुद्धिमान् जन उदक से नाव को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार जल इन्द्र की आज्ञा का अनुसरण करते हुए नीचे मुख किये स्थित होते हैं।[११] निध्रुवि काश्यप ऋषि कहते हैं कि उन दस नदियों को गमन करने के लिये गतिशील इन्द्र ने संयुक्त किया है। वे गमन करती हुई नदियाँ इन्द्र से ही इन्दु (उदक) है, यह कहती हुई बहती हैं।[१२] काठक-संहिता कहती है कि अग्नि का सिक्त करने वाला

---

१ ऋ०वै०पद०, पृ० ६०६.

२ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १२९१.

३ निघ० १६.८, १.१५३, २.५.१२.

४ ऋ० १.१२१.१३, १०.९६.४., यजु०, ३३.३८.

५ उणा०, १.९७. ''हसृरुहियुषिभ्य इति।''

६ ऋ० १.१४.१२, ५७.३, ११५.३.

७ ऋ० १.५०.८.

८ निघ०वृ०, १.१३.१२.

९ ऋ० १.१२१.१३. ''त्वं सूरो हरितो रामयो नृन्भरच्चक्रमेतशो नायमिन्द्र। प्रास्य पारं नवतिं नाव्यानामपि कर्तमवर्तयोऽयज्यून्।''

१० ऋ० ३.४४.३. ''द्यामिन्द्रो हरिधायसं पृथिवीं हरिवर्पसम्। अधारयद्धरितोर्भूरि भोजनं ययोरन्तर्हरिश्चरत्।''

११ ऋ० ५.४५.१०. ''आ सूर्यो अरुहच्छुक्रमर्णोऽयुक्त यद्धरितो वीतपृष्ठाः। उद्रा न नावमनयन्त धीरा आशृण्वतीरापो अर्वागतिष्ठन्।''

१२ ऋ० ९.६३.९. ''उत त्या हरितो दश सूरो अयुक्त यातवे। इन्दुरिन्द्र इति ब्रुवन्।''

रेतस् हरित था।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह नदियाँ 'हरितः' हैं, जो इन्द्र की कृपा से रमण करती हुई प्रवाहित होती है, इन्द्र नदियों के उदकरूप भोजन को प्रदान करता है, गतिशील पृष्ठ वाली नदियों के उदक से इन्द्र संयुक्त होता है, जिन दश नदियों को समुद्र की ओर यात्रा करने के लिये इन्द्र ने संयुक्त किया है, वे गमन करती हुई नदियाँ इन्द्र से 'इन्दु' (उदक) है, कहती हुई प्रवाहित होती हैं। उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद की दृष्टि में हरि अर्थात् इन्द्र के नाम के आधार पर नदियों को 'हरितः' कहा गया है। सम्भवतः, भरण-पोषण करने के कारण इन्द्र को 'हरि' कहा जाता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'भृ' धातु को से 'भरित' उससे वर्णपरिवर्तन होकर 'हरितः' पद निष्पन्न हुआ है।

१३. सरितः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'सरितः' पद परिगणित है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् 'सरित्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सरितः (नद्यः)। 'सृ' गतौ'। एन्य इत्यनेन समानार्थः**"[३] कि गमन करने के कारण नदियों को 'सरितः' कहा जाता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सरितः' पद का मूल 'सृ' धातु को मानता है। उसके अनुसार यह नदीवाचक नामपद है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'सरितः' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स का मत है कि यह पद 'सृ' धातु से व्युत्पन्न है। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद नदी, धारा, श्रेष्ठ नदी के अर्थ में आया है।[६] उणादिकोष भी उक्तपद को 'सृ' धातु से व्युत्पन्न करता है।[७] वेद से प्राप्त सङ्केत 'सरित्' को 'स्रु' धातुमूलक मानते प्रतीत होते हैं।[८]

वैदिक साहित्य में 'सरितः' पद का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में वामदेव ऋषि कहते हैं कि अन्तर्हृदय और मन से पवित्र की हुई वाणियाँ नदी के समान सहज प्रवाह से प्रकट होती हैं।[९] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि हे याज्ञिक लोगो! तुम लोग उत्तम बुद्धि द्वारा यज्ञ का सेवन करो, क्योंकि तप से उत्पन्न हुआ स्वेद मानो सरिताओं का रूप धारण करके तुम्हारे मनोरथ रूपी समुद्र को पूर्ण करता है।[१०] यजुर्वेद में गृत्समद ऋषि कहते हैं कि समान प्रवाहवाली पाँच (ज्ञानेन्द्रियाँ) नदियाँ सरस्वती (वाणी) को प्राप्त होती हैं। वह सरस्वती

---

१ काठ०सं० ८.५. "यदग्ने रेतोऽसिच्यत, तद्धरितम्।"

२ निघ० १.१३.१३.

३ निघ०वृ०, १.१३.१३.

४ वै०पद०कोष, पृ० ३३२२.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ५५९.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ११८२.

७ उणा०, १.९७. "हसृरुहियुषिभ्यः इति।"

८ ऋ० ४.५८.६. यजु०, १३.३८, १७.९४. "सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना।"

९ ऋ० ४.५८.६, यजु०, १३.३८, १७.९४. "सम्यक्स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानः।"

१० ऋ० ७.७०.२. "अतापि घर्मो मनुषो दुरोणे। यो वां समुद्रान्त्सरितः पिपर्त्येतग्वा चित्र सयुजा युजानः।"

अपने देश में पाँच (विषयों वाली) प्रकार की सरित् हो जाती है।[१] कहने का आशय है कि जिस प्रकार नदी में जल प्रवाहित होता है, उसी प्रकार सरस्वती (वाणी) से पाँच विषय प्रकाशित होते हैं। अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि बरसने वाले पर्वत के पृष्ठ के ऊपर से प्रकट होने वाली नूतन नदियाँ पुरानी नदियों के साथ मिलकर बड़ी हो जाती हैं।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वे नदियाँ 'सरितः' हैं, जो हृदय से पवित्र हुई वाणी के समान निर्मल और सहज रूप से प्रवाहित होती हैं, याज्ञिक लोगों के तप के स्वेद के समान नदियाँ मनोरथ को पूर्ण करती हैं, वाणी से प्रकट होने वाले विषयों के समान नदियों में उदक प्रवाहित होता है, ये वे नदियाँ हैं, जिनमें नवीन नदियाँ आकर मिल जाती हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में सहज और निर्मलरूप से प्रवाहित होने वाली नदियाँ 'सरितः' हैं। ऐसा प्रतीत होता 'सरित्' नामकरण नदी के विशेष प्रकार के प्रवाह के कारण हुआ है। नदी की निर्मल धारा और उसकी सहजगति उक्त नामकरण का आधार रही है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'सृ' धातु को 'सरितः' पद का मूल मानना अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है।

१४. अग्रुवः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'अग्रुवः' पद परिगणित है।[३] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'अग्रुवः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अग्रुवः (नद्यः)। गच्छन्ति तास्तान् प्रदेशान्**''[४] कि वे उन-उन प्रदेशों को जाती हैं, अतः, नदियों को 'अग्रुवः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अह्'+रु+उवङ्' से 'अग्रुवः' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य सायण 'अग्रुवः' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-''**अग्रुवो गमनात् नद्यः**''[५] कि आगे जाने के कारण नदियों को 'अग्रुवः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'गम्' धातु से 'अग्रुवः' पद उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष का मत है कि यह 'अग्रू' पद कुमारी, अङ्गुलि और नदी का वाचक है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है, लेकिन वे 'अज्' क्षेपणे' या 'अग्' गतौ' की सम्भावना स्वीकार करते हैं।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स भी उक्तपद को अव्युत्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद कुमारी, अङ्गुलि और नदी अर्थ का वाचक है। कुमारी अर्थ की पुष्टि अथर्ववेद से भी हो जाती है।[८]

---

१ यजु०, ३४.११. ''पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः। सरस्वती तु पञ्चधा सो देशोऽभवत् सरित्।''

२ अथर्व०, १२.२.४१. ''पर्वतस्य वृषभस्याधि पृष्ठे नवाश्चरन्ति सरितः पुराणीः।''

३ निघ० १.१३.१४.

४ निघ०वृ०, १.१३.१४.

५ निघ०वृ०, १.१३.१४. ऋ० ७.२.५.

६ वै०पद०कोष, पृ० ५३.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० ०८.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०,०६.

वैदिक साहित्य में 'अग्रुवः' पद का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि इक्कीस मयूरियाँ और सात स्वयं प्रवहमान नदियाँ तेरे विष का उसी प्रकार हरण करें, जिस प्रकार कहारिन घट में पानी भरकर ले जाती है।[१] वामदेव ऋषि कहते हैं कि शत्रुओं की हिंसक सेना के समान अपने तटों को ध्वंस करने वाली जलमिश्रित अन्नदात्री नदी को इन्द्र उदक से पूर्ण करता है।[२] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में वामदेव ऋषि कहते हैं कि हे उत्तम अश्वों वाले राजन्! जिस प्रकार अपने पर्वतरूप स्थान से वमन की गयीं नदियाँ तट आदि का भक्षण कर लेती हैं, उसी प्रकार दान न देने वाले पुरुष के पुत्र का इन्द्र हरण कर लेते हैं।[३] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार गौ अपने बछड़े को चाटती है, या नदियाँ खेत को उदक से तृप्त करती हैं, उसी प्रकार अध्वर्यु आज्य से अग्नि को तृप्त करते हैं।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वे नदियाँ 'अग्रुवः' हैं, जो मयूरियों के समान विष का हरण करती हैं, ये नदियाँ अपने तटों का भक्षण एवं अन्न प्रदान करती हैं, जिस प्रकार दान न देने वाले के पुत्र का इन्द्र अपहरण कर लेता है, उसी प्रकार ये नदियाँ अपने तटों का भक्षण कर लेती हैं, नदियों के उदक से क्षेत्र उसी प्रकार तृप्त होते हैं, जिस प्रकार आज्य से अग्नि। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तटों का भक्षण कर लेने वाली नदियाँ वेद के ऋषि की दृष्टि में 'अग्रुवः' हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त निर्वचनों को युक्तिसङ्गत नहीं माना जा सकता। उक्तपद के 'अद्' धातुमूलक होने की क्षीण सम्भावना को स्वीकार किया जा सकता है।

१५. नभन्वः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'नभन्वः' पद परिगणित है।[५] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'नभन्वः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**नभन्वः (नद्यः)। 'णभ' हिंसायाम्'। नभन्ते, नभ्यन्ति, नभ्नन्ति इति नभन्वः। नद्यो हि बाधकाः कूलादीनाम्**''[६] कि कूलादि की बाधिका होने से नदियों को 'नभन्वः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'नभ्' धातु से औणादिक 'नु' प्रत्यय होकर 'नभन्वः' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष पुल्लिङ्ग 'नभनून्' पद को 'शृङ्ग' वाचक नामपद मानता है। सामान्यतया 'नभस्' पद 'नभ्' धातु से व्युत्पन्न होता है, लेकिन उक्तपद की व्युत्पत्ति कोशकार के मत में सन्दिग्ध है। ऋग्वेद में उक्तपद सायण के मत में उदक तथा पेटरसन प्रभृति विद्वानों के मत में जलप्रपात, निर्झर आदि अर्थ का वाचक है। कोशकार स्त्रीलिङ्ग 'नभन्वः' पद को स्तोत्री (ऋषिका) वाचक मानता है। ओल्डनबर्ग उक्तपद का अर्थ 'विकसित यौवना' करते हैं, निघण्टु में यह पद 'नदी' अर्थ का वाचक है, जबकि पेटरसन 'स्त्री' तथा

---

१ ऋ० १.१९१.१४. ''त्रिः सप्त मयूर्यः सप्त स्वसारो अग्रुवः। तास्ते विषं वि जभ्रिर उदकं कुम्भिनीरिव।''

२ ऋ० ४.१९.७. ''प्राग्रुवो नभन्वो३ न वक्वा ध्वस्रा अपिन्वद्युवतीर्ऋतज्ञाः।''

३ ऋ० ४.१९.९. ''वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानन्निवेशनाद्धरिव आ जभर्थ।''

४ ऋ० ७.३.५. ''पूर्वी शिशुं न मातरा रिहाणे समग्रुवो न समनेष्वञ्जन्।''

५ निघ० १.१३.१५.

६ निघ०वृ०, १.१३.१५.

वेङ्कट 'सेना' अर्थ का वाचक मानते हैं। उक्तपद का सामान्य विशेषण परक अर्थ 'हिंसित सेना' है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद का मूल 'नभ्' धातु को मानती है।[२] मोनियर विलियम्स भी उक्तपद की व्युत्पत्ति 'नभ्' धातु से मानने के पक्ष में है। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद 'आगे बढ़ना' अर्थ में प्रयुक्त है।[३]

वैदिक साहित्य में 'नभन्वः' पद का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। यहाँ यह पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग में एक-एक बार प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में वामदेव ऋषि कहते हैं कि शत्रुओं की हिंसक सेना के समान अपने तटों को ध्वंस करने वाली जलमिश्रित अन्नदात्री नदी को इन्द्र उदक से पूर्ण करता है।[४] सायण के अनुसार उक्त मन्त्र में 'नभन्वः' पद 'हिंसक सेना' के अर्थ में आया है।[५] श्यावाश्व आत्रेय ऋषि कहते हैं कि पक्षियों की पङ्क्ति के समान ये मरुत् बल से अन्तरिक्ष या आदित्य की अन्तिम सीमा, उच्च आकाश के चारों ओर पहुँच जाते हैं। इनके अश्व मेघ के उदकों को बरसाते हैं। इस सत्य को देवता और मनुष्य जानते हैं।[६] उक्त मन्त्र में 'नभनून्' पद सायण के मत में 'उदक' अर्थ में आया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में 'नभन्वः' पद 'नदी' के अर्थ में नहीं आया है। एक स्थान पर यह उदक अर्थ का वाचक है, जबकि द्वितीय स्थान पर यह 'हिंसक सेना' अर्थ को ज्ञापित कर रहा है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में प्राप्त उद्धरणों से उक्तपद नदीवाचक सिद्ध नहीं होता है। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि यह पद 'नभ्' धातुमूलक प्रतीत होता है।

१६. वध्वः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'वध्वः' पद परिगणित है।[७] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'वध्वः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**वध्वः (नद्यः)। 'वह' प्रापणे'। वहन्ति उह्यन्ते वा भूम्याम्**"[८] कि भूमि पर वहन की जाती हैं, अतः, नदियों को 'वध्वः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'वह्' धातु से औणादिक 'ऊ' प्रत्यय होकर 'वध्वः' रूप उपपन्न होता है।

(ख)"**यद्वा, समुद्रस्य भार्य्यात्वात् वध्व इत्युच्यन्ते**"[९] कि समुद्र की भार्या होने से नदियों को 'वध्वः' कहा जाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वधू' पद को पतिंवरा, पत्नी वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार यह

---

१ वै०पद०कोष, पृ० १७६७.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० २८२.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ५२७.

४ ऋ० ४.१९.७. "प्राग्रुवो नभन्वो३ न वक्वा ध्वस्रा अपिन्वद्युवतीर्ऋतज्ञाः।"

५ सायणभाष्य, ऋ० ४.१९.७.

६ ऋ० ५.५९.७. "वयो न ये श्रेणी पप्तुरोजसान्ताद्दिवो बृहतः सानुनस्परि। अश्वास एषामुभये यथा विदुः प्र पर्वतस्य नभनूँरचुच्यवुः।"

७ निघ० १.१३.१६.

८ निघ०वृ०, १.१३.१६.

९ निघ०वृ०, १.१३.१६.

पद 'वृध्' वृद्धौ' धातु से व्युत्पन्न होता है। तदनुसार 'वधू' पद की विकास प्रक्रिया निम्न है:- ''वृध्=वर्धुस्+वृति= वर्धुष्वति=वधुष्टि=वधूटि=वधू''। कोशकार के मत में 'वह' प्रापणे' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना सन्दिग्ध है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'वधू' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स के मत में 'वध्=वह्' धातु से 'वधू' पद उपपन्न होता है। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद नवविवाहिता स्त्री, युवा पत्नी, किसी भी पशु की मादा के अर्थ में आया है।[३] उणादिकोष 'वह्' धातु से 'वधू' पद को निष्पन्न मानता है।[४] वेद से प्राप्त सङ्केतों से भी इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि 'वधू' पद 'वह्' धातुमूलक है।[५]

वैदिक साहित्य में 'वध्वः' पद का अनेकशः प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में अत्रि ऋषि कहते हैं कि यह वधू (नदी) पति की कामना करती हुई समुद्र की ओर जाती है। इन्द्र इस अन्नवती एवं महती नदी को प्रवाहित करता है।[६] सायण ने उक्त मन्त्र में वधू का अर्थ लोक में प्रचलित 'बहू' अर्थ लिया है, परन्तु मन्त्र में आये 'इषिराम्' और 'वहाते' पद इसके 'नदी' होने को सूचित कर रहे हैं। सोभरि काण्व ऋषि कहते हैं कि मंहिष्ठः=अतिशय दाता, अर्य्यः=पूज्य, सत्पतिः=सज्जनों का पालन एवं, त्रसदस्युः=अकाल आदि के त्रास से रक्षा करने वाले, पौरुकुत्स्यः=सकल जीवपालक उदकदेव ने, मे=हमारे लिये, पञ्चाशतं वधूनाम्=पाँच सौ नदियों को, अदात्=दिया है।[७] उक्त मन्त्र में 'पञ्चाशतं वधूनाम्' यह वाक्य पत्नियों के सन्दर्भ में उचित प्रकार से अन्वित नहीं हो पाता है, अतः, यहाँ 'नदी' अर्थ ग्रहण करना समीचीन है। प्रतिरथ ऋषि कहते हैं कि वर्षक इन्द्र के सम्पर्क से प्रसन्न होती हुई नदियाँ क्रीडा करती हुई सामने प्रस्थान करती हैं।[८] आत्रेय ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार वव्र (विद्युत्) से रूप का परित्याग होता है, उसी प्रकार मेघ च्युत होकर जीर्णावस्था को प्राप्त करता है। उसे अश्विनीदेव पुनः युवा बनाते हैं, तब नदियाँ कमनीय रूप को प्राप्त करती हैं।[९] अथर्ववेद का ऋषि दम्पती देवता का वर्णन करता हुआ कहता है कि मैं तुझे वरुण के पाश से मुक्त करता हूँ, जिसके साथ तुझे सुख देने वाले सवितादेव ने बाँधा है। तुझे अपने पति समुद्र के साथ वर्तमान होने के लिये विस्तृत और सुगम पथ को बनाता हूँ।[१०] एक अन्य स्थान पर अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि यह वह नदी है जो प्रथम प्रकट होकर दूसरी नदियों में प्रविष्ट होकर विचरण करती है। इसकी महिमायें महान् हैं। यह नवीन गति वाली

---

१ वै०पद०कोष, पृ० २७५७.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ४५८.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ९१७.

४ उणा०, १.८३. ''वहेर्धश्च।''

५ अथर्व०, १०.१.१. ''यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव।''

६ ऋ० ५.३७.३. ''वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम्।''

७ ऋ० ८.१९.३६. ''अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम्। मंहिष्ठो अर्य्यः सत्पतिः।''

८ ऋ० ५.४७.६. ''उपप्रक्षे वृषणे मोदमाना दिवस्पथा वध्वो यन्त्यच्छ।''

९ ऋ० ५.७४.५. ''प्र च्यवनाज्जुजुरुषो वव्रिमत्कं न मुञ्चथः। युवा यदी कृथः पुनरा काममृण्वे वध्वः।''

१० अथर्व०, १४.१.५८. ''प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवः। उरुं लोकं सुगमत्र पन्थां कृणोमि तुभ्यं सहपत्न्यै वधु।''

नदी अन्न आदि को उत्पन्न करके अकाल आदि को जीत लेती है।[१] ब्रह्म देवता का वर्णन करता हुआ अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि वह देवी उस प्रकार भूमि पर आरूढ होती है, जिस प्रकार लम्बी यात्रा करने से श्रान्त वधू (नदी या पत्नी) वहन करने वाले पति या क्षेत्र के साथ एकाकार हो जाती है।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद की दृष्टि में वह नदी 'वधू' है, जो महती नदी समुद्र की ओर प्रस्थान करती हुई अन्न आदि प्रदान करती है, त्रास से रक्षा करने वाला उदकदेव प्राणियों के लिये पाँच सौ नदियाँ प्रदान करता है, इन्द्र के सम्पर्क से प्रसन्न होती हुई नदियाँ क्रीडा करती हुई जाती हैं, अश्विनीदेवों की कृपा से च्यवन (मेघ) पुनः युवा होते हैं, तब नदियाँ कमनीय रूप को धारण करती हैं, सवितादेव नदियों को वरुणपाश से बाँध देते हैं, उनको प्रवाहित होने के लिये विस्तृत और सुगम पथ का निर्माण किया जाता है, यह वह नदी है, जो प्रथम प्रकट होकर अन्य नदियों के साथ विचरण करती है और अकाल आदि को जीत लेती है, लम्बी यात्रा करके आने वाली नदी क्षेत्र को प्राप्त होकर एकाकार हो जाती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद ने महती और अन्नादि को उत्पन्न करने वाली तथा जिनके पथ को विस्तृत और सुगम बनाया जाता है, ऐसी नदियों (नहरों) को 'वध्वः' नाम से सम्बोधित किया है। जिस प्रकार 'वधू' को लेकर आया जाता है, उसी प्रकार जिन नदियों को लाया जाता है, वे 'वध्वः' हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'वह्' धातु को 'वध्वः' पद का मूल माना जा सकता है। आचार्य देवराजयज्वन् ने 'वधू' पद के नदी अर्थ के उदाहरण को अन्वेषणीय बतलाया है। आचार्य सायण आदि विद्वानों ने 'वध्वः' का क्वचित् भी 'नदी' अर्थ ग्रहण नहीं किया है। लेकिन उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि वेद अनेकशः नदियों को 'वध्वः' पद से अभिहित करता है। जहाँ वेद में 'वध्वः' पद से 'पत्नी' अर्थ अभिप्रेत है, वहाँ 'वध्वः' के साथ प्रायः मर्यः, योषा, सुमङ्गली आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि पत्नी के समान वहनीय होने के कारण नदियों को वेद में 'वध्वः' कहा गया है।

१७. हिरण्यवर्णाः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'हिरण्यवर्णाः' पद परिगणित है।[३] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'हिरण्यवर्णाः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**हिरण्यवर्णाः (नद्यः)। हर्य्यतेः+'वृञ्' वरणे'। वृणोति व्रियते वाऽसाविति वर्णः श्वेतादिः। हिरण्यः कान्त इष्टो वर्णो यासां ताः**"[४] कि जो वरण कर लेता है अथवा जिसका वरण किया जाता है, वह 'वर्ण' है। हिरण्य अर्थात् कमनीय अर्थात् अभीष्ट वर्ण है, जिनका वे नदियाँ 'हिरण्यवर्णाः' कहलाती हैं। इस पक्ष में 'हर्य्' धातु से 'कन्यन्' प्रत्यय होकर 'हिरण्य' तथा 'वृ' धातु से औणादिक 'रन्' प्रत्यय होकर 'वर्ण' शब्द निष्पन्न होते हैं। 'हिरण्य+वर्ण' इन दोनों के संयोग से 'हिरण्यवर्णाः' रूप उपपन्न होता है।

---

१ अथर्व०, ३.१०.४. "इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा। महान्तो यस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री।"

२ अथर्व०, ४.२०.३. "सा भूमिमा रुरोहिथ वह्यं श्रान्ता वधूरिव।"

३ निघ० १.१३.१७.

४ निघ०वृ०, १.१३.१७.

(ख)''यद्वा, हिता घर्मादौ रमणीया मनः प्रह्लादजनयित्र्यः वारिकाश्च तापादेर्भूम्या वा इति''[१] कि घर्म आदि के समय हितकारी, मन में आह्लाद उत्पन्न करने वाली तथा भूमि के तापादि का निवारण करने वाली नदियाँ 'हिरण्यवर्णाः' कहलाती हैं। इस पक्ष में 'हित+रमणीय=हिरण्य, हिरण्य+'वारय्' से 'हिरण्यवर्णाः' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'हृ' या 'हर्य्य्' से हिरण्य तथा 'हिरण्य+वर्ण' से 'हिरण्यवर्ण' को उपपन्न मानता है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'हिरण' से 'हिरण्य' तथा 'हिरण्य+वर्ण' से 'हिरण्यवर्ण' शब्द को निष्पन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स हरि, हरित, हिरि शब्दों को 'हिरण्य' से सम्बन्धित मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद अथर्ववेद और तैत्तिरीय-ब्राह्मण में यह पद सुवर्णवर्ण, सुवर्ण सदृश वर्ण के लिये आया है। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय-संहिता, कौशिकसूत्र तथा बौधायन-धर्मसूत्र में यह पद नदी के लिये भी आया है।[४]

वैदिक साहित्य में 'हिरण्यवर्णाः' पद का प्रयोग अनेकशः हुआ है, लेकिन यह प्रायः नदी के अर्थ में नहीं आया है। ऋग्वेद में गृत्समद ऋषि कहते हैं कि उस वर्षा करने वाले 'अपां नपात्' देव के श्रेष्ठतम माहात्म्य को वहन करती हुई महती एवं हिरण्य के समान निर्मलरूप वाली नदियाँ चारों ओर प्रवाहित होती हैं।[५] 'अपां नपात्' ने हमारे लिये महती वृष्टि की है, इस कृतज्ञता से उसके माहात्म्य को प्रकट करती हुई मानो नदियाँ प्रवाहित होती हैं।[६] उक्त सूक्त में ऋषि ने 'अपां नपात्' देव को हिरण्यरूप, हिरण्य संदृक्, हिरण्यवर्ण, हिरण्ययोनि आदि विशेषणों से सम्बोधित किया है।[७] अतः, उस 'अपां नपात्' देव की कृपा से प्राप्त नदियाँ को भी सम्भवतः, ऋषि 'हिरण्यवर्णाः' बतला रहा है। अथर्ववेद में शंताति ऋषि आपः देवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि शुद्ध, पवित्र और हिरण्यवर्ण के उदक में सविता तथा अग्निदेव प्रकट होते हैं। जिन उदकों ने अपने गर्भ में अग्नि को धारण किया है, वे सुन्दर वर्ण के उदक हमें सुख देने वाले हों।[८] उक्त मन्त्र में ऋषि ने उदक को 'हिरण्यवर्णाः' नाम से अभिहित किया है। नदी भी उदकरूप होती है, अतः, नदी का नाम भी 'हिरण्यवर्णाः' माना जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि जो हिरण्य के समान निर्मलवर्ण एवं 'अपां नपात्' देव की कृपा से प्रवाहित होती हैं, वे नदियाँ 'हिरण्यवर्णाः' हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'हिरण्य+वर्ण' को 'हिरण्यवर्णाः' पद का मूल माना जा सकता है। जहाँ तक 'हिरण्य' का सम्बन्ध है, नदी के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि निर्मलरूपता नदी का हिरण्यत्व है। यहाँ सुवर्ण की पीताभ कान्ति से उदक

---

१ निघ०वृ०, १.१३.१७.

२ वै०पद०कोष, पृ० ३५८४-८५.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ६१२.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १२९९-१३००.

५ ऋ० २.३५.९. ''तस्य ज्येष्ठं महिमानं वहन्तीर्हिरण्यवर्णाः परि यन्ति यह्वीः।''

६ सायणभाष्य, ऋ० २.३५.९.

७ ऋ० २.३५.

८ अथर्व०, १.३३.१. ''हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः। या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु।''

का कोई सम्बन्ध नहीं है।

१८. रोहितः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'रोहितः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'रोहितः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**रोहितः (नद्यः)। 'रुह' बीजजन्मनि'। रोहन्त्याभिर्बीजानि, तज्जलेन हि बीजानि प्ररोहन्ति**"[२] कि इन नदियों के जल से बीज उग आते हैं, अतः, इनको 'रोहितः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'रुह्' धातु से औणादिक 'इति'[३] प्रत्यय होकर 'रोहितः' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'रोहितः' पद को लोहितवर्ण वाचक विशेषण तथा हरिण प्रभृति वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार यह पद 'रुधिर' और 'रुरु' से तुलनीय है।[४] सम्भवतः, कोशकार इसका मूल 'रुध्' धातु में देखने के पक्ष में प्रतीत होते हैं। ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'रोहित' की 'लोहित' से तुलना करते हैं। सम्भवतः, उनके अनुसार 'रोहित' से 'लोहित' अथवा 'लोहित' से 'रोहित' पद निष्पन्न हुआ है। ऋग्वेद में यह पद रक्तवर्ण, रक्ताभ अर्थ में आया है। इसके अतिरिक्त यह ऋग्वेद और तैत्तिरीय-संहिता में लाल या रक्ताभ अश्व के लिये भी आया है।[६] वेद से प्राप्त सङ्केत 'रोहित' पद का मूल 'रुह्' धातु को मानते प्रतीत होते हैं।[७] उणादिकोष से भी इस कथन की पुष्टि हो जाती है।[८]

वैदिक साहित्य में 'रोहितः' पद का प्रयोग पर्याप्त हुआ है, परन्तु नदी अर्थ में एक भी स्थान पर प्रयुक्त हुआ हो, ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। यह वेद में प्रायः रक्तवर्ण और उसके रोहित, धूम्ररोहित, कर्कन्धु रोहित आदि विभिन्न भेदों के लिये प्रयुक्त होता हुआ मिलता है।[९] इसके अतिरिक्त यह अश्व के लिये भी प्रयुक्त हुआ है।[१०] लेकिन प्रयास करने पर भी यह नदी के लिये व्यवहृत होता हुआ नहीं प्राप्त होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'रोहितः' पद नदी अर्थ का वाचक नहीं है। जहाँ तक व्युत्पत्ति का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि 'रोहितः' का सम्बन्ध 'लोहित' से अधिक स्पष्ट है। वर्णपरिवर्तन नियम भी इस विषय में सहायक हैं। रेफ का विनिमय लकार में तथा लकार का वर्ण विनिमय

---

१ निघ० १.१३.१८.

२ निघ०वृ०, १.१३.१८.

३ उणा०, १.९७. "हसृरुहियुषिभ्य इतिः।"

४ वै०पद०कोष, पृ० २६९५.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ४५२.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ८९०.

७ अथर्व०, १३.१.४-३४.

८ उणा०, ३.९४. "रुहेरश्च लो वा।"

९ ऋ० १.३९.६, ९४.१०, ४.२.३, ५.६१.९, ८.३.२२, २४. यजु०, २४.२.

१० ऋ० ३.६.६, ५.३७.५.

रेफ में होता है। पाणिनि व्याकरण से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है।[१] इसके अतिरिक्त 'अयस्' तथा 'रक्त' को भी 'लोह' कहा जाता है, जंग (मण्डूर) की अवस्था में 'अयस्' और स्वाभाविक रूप से 'रुधिर' लाल होता है। इस प्रकार लोह' शब्द अयस् और रुधिर के लौहित्य का अभिधान करता है। अतः, 'लुह्' धातु को 'रोहितः' पद का मूल माना जा सकता है।

१९. सस्रुतः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'सस्रुतः' पद परिगणित है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'सस्रुतः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**सस्रुतः (नद्यः)। सम्पूर्वात् 'स्रु' गतौ'। सङ्गताः सस्रुतः क्षुद्रनद्यो महानद्यश्च परस्परं सङ्गता भवन्ति ततः सस्रुत इत्युच्यन्ते**''[३] कि जब छोटी और बड़ी नदियाँ परस्पर मिल जाती हैं, तब वे 'सस्रुतः' कही जाती हैं। इस पक्ष में 'सम्+'स्रु'+क्विप्' से 'सस्रुतः' पद निष्पन्न है।

(ख)''यद्वा, स्रवतेः। स्रवणं स्रुतजलप्रवाहः स्रोत इत्यर्थः, तया सह वर्तन्ते इति सस्रुतः''[४] कि भूमि से स्वयं निकलने वाले स्रोत से युक्त नदियाँ 'सस्रुतः' कहलाती हैं। इस पक्ष में 'स्रु' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'सस्रुतः' रूप निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सस्रुतः' पद को धारावाहिनी वाचक वाणी और उदक का विशेषण मानता है। उसके अनुसार 'सस्' सङ्गे=अव्यवच्छेदे' धातु से 'सस्रुतः' पद निष्पन्न होता है, उक्तपद की उत्पत्ति विकास प्रक्रिया निम्न प्रकार है:-**'सस्'=सस्र+'भृ'=सस्रभृत्=सस्रवत्=सस्रुत्'**।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स 'सस्रुतः' पद का मूल 'सस्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद प्रवाहित होने के अर्थ में आया है।[७]

वैदिक साहित्य में 'सस्रुतः' पद का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि मेरी बुद्धि अग्नि के समीप जाती है तथा उसके तेज से अपने अभीष्ट को सिद्ध करती है। उस उदक की नदी में अन्य छोटी-बड़ी नदियाँ आकर मिलती हैं।[८] उक्त मन्त्र के 'धेना' पद का अर्थ वैदिक-पदानुक्रम-कोष में 'नदी' माना गया है।[९] वामदेव ऋषि कहते हैं कि हे सोम! तुम्हारे साथ मित्रता होने पर, तुम्हारी सहायता से इन्द्र बहने वाले उदकों को मनुष्य के लिये उत्पन्न करता है।[१०]

---

१ अष्टा०, ८.२.१८. ''कृपो रो लः।''

२ निघ० १.१३.१९.

३ निघ०वृ०, १.१३.१९.

४ निघ०वृ०, १.१३.१९.

५ वै०पद०कोष, पृ० ३३४५.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ५६१.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ११९२.

८ ऋ० १.१४१.१. ''यदीमुप ह्वरते साधते मतिर्ऋतस्य धेना अनयन्त सस्रुतः।''

९ वै०पद०कोष, पृ० ३३४५.

१० ऋ० ४.२८.१. ''त्वा युजा तव तत्सोम सख्य इन्द्रो अपो मनवे सस्रुतस्कः।''

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह नदी 'सस्रुतः' है, जिसमें अन्य नदियाँ आकर मिल जाती हैं और सोम की सहायता से इन्द्र जिसका मनुष्यों के लिये निर्माण करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अन्य नदियों के स्रोत जिसमें आकर मिलते हैं, वे नदियाँ वेद की दृष्टि में 'सस्रुतः' हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'सह+'स्रु' धातु को 'सस्रुतः' पद का मूल माना जा सकता है।

२०. अर्णाः

निघण्टुकोष के नदीवाचक गण में 'अर्णाः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'अर्णाः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अर्णाः (नद्यः)। 'ऋण' गतौ'। अर्णन्ति गच्छन्त्यर्णाः**''[२] कि निरन्तर गतिशील रहने के कारण नदियों को 'अर्णाः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'ऋण्' धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर 'अर्णाः' रूप निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा, अर्ण इत्यकारान्तमप्युदकनामेत्युक्तम्। जलवत्यो हि नद्यः''[३] कि 'अर्ण' यह अकारान्त नामपद उदकवाचक गण में परिगणित है। जल से पूर्ण होने के कारण नदियों को 'अर्णाः' कहा जाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

आचार्य सायण 'अर्णः' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-''**अर्यते प्रार्थ्यते तत्पिपासुभिरित्यर्णः**''[४] कि पिपासुओं के द्वारा यह चाहा जाता है, अतः, उदक को 'अर्णः' कहा जाता है। इस पक्ष में '**ऋ' गतौ**' धातु से 'असुन्' प्रत्यय तथा 'नुट्' का आगम होकर 'अर्णः' रूप निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अर्णाः' पद को उदक की गतिशीलता का विशेषणपद तथा तरङ्ग, जलप्रवाह प्रभृति अर्थों का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार 'ऋ' धातु को 'अर्' और उससे औणादिक 'नन्' प्रत्यय करके 'अर्णाः' पद व्युत्पन्न होता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स भी उक्तपद को अव्युत्पन्न मानने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद तरङ्ग, बाढ़, धारा आदि अर्थों में आया है।[७] उणादिकोष 'ऋ' धातु से 'असुन्' प्रत्यय तथा 'नुट्' आगम का करके 'अर्णः' पद को उपपन्न करता है।[८]

वैदिक साहित्य में 'अर्णः' पद का अनेकशः प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में कौशिक ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! तुम द्युलोक में वर्तमान उदक को लक्ष्य बनाकर जाते हो और धारण करने योग्य बुद्धि से देवताओं की

---

१ निघ० १.१३.२०.

२ निघ०वृ०, १.१३.२०.

३ निघ०वृ०, १.१३.२०.

४ सायणभाष्य, ऋ० ३.३२.३.

५ वै०पद०कोष, पृ० ५०२.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ५६.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ९०.

८ उणा०, ४.१९८. ''उदके नुट् च।''

स्तुति करते हो।[१] उक्त मन्त्र में 'अर्णः' पद उदक के लिये आया है। गातुरात्रेय ऋषि कहते हैं कि उग्र और महान् इन्द्र जल से पूर्ण, मेघ से आवृत, गतिशील, मधुर उदक के पालयिता, आच्छादक और उसमें शयन करने वाले वृत्र को पकड़ता है।[२] उक्त मन्त्र में 'अर्णः' पद उदक की गतिशीलता को बतला रहा है। विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम मनुष्य के समान यज्ञ का सेवन करते हुए शाश्वत सामर्थ्य वाले इस सोम का पान करो। हे हर्यश्व (उदकों का हरण करने वाले) इन्द्र! तुम सरणशील उदकों (से नदियों) को प्रवाहित करो।[३] उक्त मन्त्र में 'अर्णः' पद उदक के विशेषण के रूप में आया है। इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि पृथिव्यादि अनेकों पदार्थों को उत्पन्न करने वाला इन्द्र अतिशय बलशाली है। उसने उदक के अन्दर-बाहर व्याप्त, बलवान् के समान आचरण करने वाले अहि (मेघ) को उदक को प्रेरित करने के लिये मारा।[४] अत्रि ऋषि कहते हैं कि अपने अर्थ को प्रकाशित एवं आह्लादित करने वाली स्तुतियाँ बढ़ें और उदक के कारण सेवनीय नदियाँ समृद्ध हों।[५] उक्त मन्त्र में स्पष्टरूप से 'अर्णाः' पद नदी के लिये व्यवहृत हुआ है।[६] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि हे अनिन्द्य इन्द! उदक से पूर्ण नदियों को प्रवाहित और अत्यधिक गर्जना करने वाले वृत्र का वध करो।[७]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'अर्णाः' पद प्रायः उदक के लिये आया है। एक दो स्थानों पर अवश्य यह पद नदी अर्थ की प्रतीति कराता है। लेकिन उससे 'अर्णाः' नामक नदियों का कोई विशिष्ट स्वरूप उभरकर नहीं आता है। सम्भवतः, तीव्र गति का अभिधान करने के लिये नदियों को 'अर्णाः' नाम से अभिहित किया गया है। उदक भी गतिशीलता के कारण 'अर्णः' कहे जाते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गतिशील नदी और उदक वेद की दृष्टि में 'अर्णाः' नाम से अभिहित हुए हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए गत्यर्थक 'ऋ' धातु को 'अर्णाः' पद का मूल माना जा सकता है।

२१. सिन्धवः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'सिन्धवः' पद परिगणित है।[८] जैमिनीयोपनिषद् 'सिन्धु' पद का निर्वचन करती हुई कहती है:-"**तद्यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः**"[९] कि इससे सब कुछ बँधा हुआ होता है, अतः, नदी को 'सिन्धु' कहा जाता है। इस पक्ष में बन्धनार्थक 'सि' धातु से 'सिन्धु' शब्द उपपन्न होता है।

---

१ ऋ० ३.२२.३. यजु०, १२.४९. "अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ ऊचिषे धिष्ण्या ये।"

२ ऋ० ५.३२.८. "त्यं चिदर्णं मधुपं शयानमसिन्वं वव्रं मह्याददुग्रः।"

३ ऋ० ३.३२.५. "स आ ववृत्स्व हर्यश्व यज्ञैः सरण्युभिरपो अर्णा सिसर्षि।"

४ ऋ० ३.३२.११. "अहन्नहिं परिशयानमर्ण ओजायमानं तुविजात तव्यान्।"

५ ऋ० ५.४१.१४. "वर्धन्तां द्यावो गिरयश्चन्द्राग्रा उदा वर्धन्तामभिषाता अर्णाः।"

६ सायणभाष्य, ऋ० ५.४१.१४.

७ ऋ० १.१७४.२. "ऋणोरपो अनवद्यार्णा यूने वृत्रं पुरुकुत्साय रन्धीः।"

८ निघ० १.१३.२१.

९ जै०उप०, १.९.२.९.

आचार्य यास्क 'सिन्धु' का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**सिन्धुः स्रवणात्**"[१] कि प्रवहणशील होने के कारण नदी को 'सिन्धु' कहा जाता है। इस पक्ष में 'स्रु' धातु से 'सिन्धु' पद निष्पन्न होता है।

(ख)"**सिन्धुः स्यन्दनात्**"[२] कि स्यन्दनशील होने के कारण नदी को 'सिन्धु' कहा जाता है। इस पक्ष में 'स्यन्द्' धातु से 'सिन्धु' शब्द उपपन्न होता है। एक अन्य स्थान पर यास्क इसी प्रकार का निर्वचन और करते हैं:-"**सिन्धूनाम्, स्यन्दमानानाम्**'।[३]

आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'सिन्धु' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सिन्धवः (नद्यः)। 'स्यन्दू' प्रस्रवणे'। स्यन्दन्ते इत्यर्थः**"[४] कि प्रवाहित होने के कारण नदियों को 'सिन्धवः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'स्यन्द्' धातु से औणादिक 'उ' प्रत्यय तथा सम्प्रसारण होकर 'सिन्धु' शब्द उपपन्न होता है। उणादिकोष में इसी प्रकार 'सिन्धु' निष्पन्न होता है।[५]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सिन्धु' शब्द को जल, स्रोतस्, नौका प्रभृति अर्थों का वाचक नामपद तथा नद, नदी अर्थ में व्यक्तिपरक संज्ञापद मानता है। उसके अनुसार 'सिन्धु' पद की उत्पत्ति-विकास प्रक्रिया निम्नप्रकार है:-'वृष्' वर्षणे=स्रवणे'=वष्मयन्ध=सिन्ध'। उणादिकोष तथा सायण उक्तपद को 'स्रु' और 'स्यन्द्' से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं। ग्रासमैन प्रभृति विद्वान् 'सिन्ध्' या 'सिध्' धातु से 'सिन्धु' को व्युत्पन्न मानते हैं।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स 'सिन्धु' पद का मूल गत्यर्थक 'सिध्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद नदी, विशेषरूप से 'इन्दुस्', के लिये आया है। इसके अतिरिक्त यह ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में बाढ़, यहाँ तक कि अन्तरिक्षस्थ उदक और समुद्र के लिये भी आया है।[८] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि यास्क का द्वितीय निर्वचन 'द्' के स्थान पर 'ध्' वर्ण परिवर्तन किये जाने के कारण शिथिल है। जबकि प्रथम निर्वचन को वे असङ्गत मानते हैं।[९] वेद से प्राप्त सङ्केत 'सिन्धु' पद का मूल 'स्रु' धातु मानते प्रतीत होते हैं।[१०]

वैदिक साहित्य में 'सिन्धु' शब्द का प्रयोग व्यापक रूप से हुआ है। ऋग्वेद में पराशर ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार अग्नि से निर्मित नदियाँ प्रवाहित होती हैं, उसी प्रकार अग्नि की ज्वालायें सभी दिशाओं में जाती हैं।[११] अग्रिम सूक्त में पराशर ऋषि कहते हैं कि अग्निदेव के अनुग्रहरूप बुद्धि की याचना करती हुई

---

१ निरु० ५.२७.

२ निरु० ९.२६.

३ निरु० १०.५, १४.३३.

४ निघ०वृ०, १.१३.२१.

५ उणा०, १.११. "स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च।"

६ वै०पद०कोष, पृ० ३३७८.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० ५६७.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १२१७.

९ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ११३, १२२.

१० अथर्व०, १.१३.१. "सं सं स्रवन्तु सिन्धवः।"

११ ऋ० १.७२.१०. "अध क्षरन्ति सिन्धवो न सृष्टाः प्र नीचीरग्ने अरुणीरजानन्।"

नदियाँ मेघ के समीप से चलकर दूरदेश में बहकर आती हैं।[१] गोतम ऋषि कहते हैं कि ऋत (सत्य) का आचरण करने वालों के लिये वायु, नदियाँ और औषधियाँ माधुर्यगुणयुक्त हो जाती हैं।[२] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि नदियाँ आलस्यादि से रहित होकर उदक को प्रेरित करती हैं अर्थात् प्रवाहित करती हैं। सूर्य सत्य का विस्तार करता है, मेरे इस स्तोत्र को जानो।[३] दीर्घतमस् पुत्र कक्षीवान् ऋषि कहता है कि वर्तमान और भविष्य में यज्ञ करने वाले दम्पतियों को सुख देने वाली गायें और नदियाँ समीप में स्थित होकर सुख की वर्षा करती हैं।[४] यज्ञ के महत्त्व का प्रतिपादन करता हुआ कक्षीवान् ऋषि आगे कहता है कि जो यज्ञादि देवताओं को प्रसन्न करता है, वह नाकलोक के उन्नत प्रदेश में स्थित होता है और देव बन जाता है। उस यज्ञ करने वाले पुरुष के लिये नदियाँ घृत के समान सारयुक्त उदक को निरन्तर प्रवाहित करती हैं तथा यह पृथ्वी सर्वदा उदारता पूर्वक सस्यादिफलों को प्रदान करती है।[५] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! धन की कामना वाले यजमान तुम्हारी ऊर्जा को घृतादि के द्वारा उसी प्रकार बढ़ाते हैं, जिस प्रकार नदियाँ प्रवाहित होती हैं।[६] एक अन्य मन्त्र में गृत्समद ऋषि कहते हैं कि उस यजमान के लिये सभी नदियाँ चलती हैं अर्थात् उसे अभीष्ट फल प्रदान करने के लिये प्रवाहित होती हैं और छिद्र(न्यूनता)रहित अनेक सुखों को धारण करती हैं।[७] आगे पुनः गृत्समद ऋषि कहते हैं कि सेतु के समान जलधारण करने वाले आदित्य (वरुण) ने नदी के उपादनभूत उदक को चारों ओर उत्पन्न किया। उस वरुण के उदक से स्यन्दनशील नदियाँ प्रवाहित होती हैं, वे न कभी विश्राम करती हैं और न कभी उपरत अर्थात् आलस्य करती हैं। वे शीघ्रगामी पक्षियों के समान पृथ्वी पर गमनशील रहती हैं।[८] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार रथी शीघ्रता से पहुँचता है, उसी प्रकार मेघ (प्रसव) नदियों को तथा नदियों का जल समुद्र को प्राप्त होता है।[९] काठक-संहिता कहती है कि जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार शक्तिशाली स्तुतियाँ देवता को प्राप्त होती हैं।[१०]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वे नदियाँ वेद में 'सिन्धवः' नाम से अभिहित हुई हैं, जो अग्नि के समान सभी दिशाओं में फैल जाती हैं, ये नदियाँ पर्वत (मेघ) के समीप से चलकर दूरदेश में आती हैं, सत्य का आचरण करने वाले के लिये ये नदियाँ माधुर्यगुण युक्त होती हैं, ये नदियाँ विना आलस्य के निरन्तर प्रवहमान रहती हैं, यज्ञ करने वाले दम्पतियों के समीप ये नदियाँ सुख की वर्षा करती हैं

---

१ ऋ० १.७३.६. ''परावतः सुमतिं भिक्षमाणा वि सिन्धवः समया सस्रुरद्रिम्।''

२ ऋ० १.९०.६. ''मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।''

३ ऋ० १.१०५.१२. ''ऋतमर्षन्ति सिन्धवः सत्यं तातान सूर्यो वित्तं मे अस्य रोदसी।''

४ ऋ० १.१२५.४. ''उप क्षरन्ति सिन्धवो मयोभुव ईजानं च यक्ष्यमाणं च धेनवः।''

५ ऋ० १.१२५.५. ''नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति। तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा।''

६ ऋ० २.११.१. ''इमा हि त्वामूर्जो वर्धयन्ति वसूयवः। सिन्धवो न क्षरन्तः।''

७ ऋ० २.२५.५. ''तस्मा इद्विश्वे धुनयन्त सिन्धवोऽच्छिद्रा शर्म दधिरे पुरूणि।''

८ ऋ० २.२८.४. ''प्र सीमादित्यो असृजद्विधर्ताँ ऋतं सिन्धवो वरुणस्य यन्ति। न श्राम्यन्ति न वि मुचन्त्येते वयो न पप्तू रघुया परिज्मन्।'

९ ऋ० ३.३६.६. ''प्र यत्सिन्धवः प्रसवं यथायन्नापः समुद्रं रथ्येव जग्मुः।''

१० काठ०सं० ''समुद्रं न सिन्धव उक्थशुष्मा उरुव्यचसं गिर आ विशन्ति।''

तथा उनके लिये इन नदियों का जल घृत के समान हो जाता है, ये नदियाँ उस यजमान को अभीष्ट फल एवं न्यूनतारहित सुख प्रदान करती हैं, वरुण द्वारा प्रदत्त उदक से निरन्तर प्रवहणशील नदियाँ पक्षियों के समान पृथ्वी पर गमन करती हैं, रथी के समान ये नदियाँ शीघ्र समुद्र को प्राप्त करती हैं।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि ऋषि ने 'सिन्धवः' के साथ 'क्षरन्ति' क्रिया, 'यज्ञ' एवं 'निरन्तर प्रवहणशीलता' की ओर विशेष ध्यान आकर्षित किया है। इस प्रकार वे नदियाँ 'सिन्धवः' नाम से अभिहित होती हैं, जो निरन्तर क्षरित होती रहती हैं, जिनका स्रोत कभी सूखता नहीं है तथा इनका प्रवाह तीव्रता लिये होता है। इसके अतिरिक्त यज्ञ करने वालों के लिये ये अधिक मधुर होती हैं। निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि तीव्र गति से पूरे वर्ष प्रवहमान नदियाँ वेद में 'सिन्धवः' हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर 'स्यन्द्' धातु को 'सिन्धु' पद का मूल माने जाने की प्रबल सम्भावना है।

२२. कुल्याः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'कुल्याः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'कुल्याः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**कुल्याः (नद्यः)। 'कुल' संस्त्याने'। कोलन्ति संस्त्यायन्त्यस्मिन् शिलादय इति कुलं पर्वतः। कुले प्रधानभूते पर्वते भवः कुल्याः**"[२] कि इसमें शिलादियों के समूह का विस्तार होता है, अतः, पर्वत को 'कुल' कहा जाता है। उस प्रधानभूत पर्वत (कुल) से उत्पन्न होने वाली नदियाँ 'कुल्याः' कही जाती हैं। इस पक्ष में 'कुल्' धातु से 'कुल' शब्द, उससे भव अर्थ में तद्धित 'यत्'[३] प्रत्यय होकर 'कुल्याः' रूप सिद्ध होता है।

(ख)"**कुलिशनिर्वचने 'कूलशातनः' (निरु०,६.१७.) मेघस्य पर्वतस्य वा समुच्छ्रिताः प्रदेशाः कुलाः। मेघस्य पर्वतस्य वा समुच्छ्रिते प्रदेशे कुले भवन्तीति कुल्याः**"[४] कि मेघ या पर्वत का उन्नत प्रदेश 'कुल' है। मेघ या पर्वत के उन्नत प्रदेश से होने वाली नदियाँ 'कुल्याः' हैं। इस पक्ष में 'कुल+यत्' से 'कुल्याः' शब्द निष्पन्न होता है।

(ग)"**यद्वा, कुल्याऽल्पा कृत्रिमा सरित्। कुले साधु**"[५] कि अमरकोष के अनुसार अल्पा सरित् 'कुल्या' है। इस पर क्षीरस्वामी कहते हैं-'**कृत्रिमा अल्पा च क्षेत्रसेकार्था कुल्या**'[६] कि क्षेत्र का सिञ्चन करने वाली अल्पा नदी 'कुल्या' है। इस पक्ष में 'कुल' शब्द से साधु अर्थ में 'यत्'[७] प्रत्यय होकर 'कुल्याः' रूप निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'कुल्याः' को 'अल्पा सरित्' अर्थ वाला स्त्रीलिङ्ग नामपद मानता है। उसके

---

१ निघ० १.१३.२२.

२ निघ०वृ०, १.१३.२२.

३ अष्टा०, ४.४.११०. "भवे छन्दसि।"

४ निघ०वृ०, १.१३.२२.

५ निघ०वृ०, १.१३.२२.

६ निघ०वृ०, १.१३.२२.

७ अष्टा०, ४.४.९८. 'तत्र साधुः।'

मत में 'कुल्या:' पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। भट्टभास्कर निम्नप्रकार 'कुल्या:' पद को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं-'कुल (कूल)+(तत्रभवीय:)य=कुल्या:। अमरकोषीयभानुदीक्षितवृत्ति 'कुल' शब्द से तथा उणादिकोष 'कुल्' धातु से 'कुल्या:' पद निष्पन्न करने के पक्ष में है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स के अनुसार 'कुल्' धातु से 'कुल' और उससे 'कुल्या' पद उपपन्न होता है। वे मानते हैं कि ऋग्वेद, वाजसनेयि-संहिता और अथर्ववेद में 'कुल्या:' पद छोटी नदी, नहर, सिंचाई के लिये नाली, खाई, बाँध आदि के लिये आया है। महाभारत में यह एक नदी का नाम है।[३]

वैदिक साहित्य में 'कुल्या:' पद का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! जिस प्रकार तुम अथाह समुद्र को उदकों से पुष्ट करते हो, गोप जिस प्रकार यवस से गायों का पोषण करता है, या कुल्या जिस प्रकार महान् जलाशय को प्राप्त करती है, उसी प्रकार तुम कर्म करने वाले का पालन करते हो।[४] अत्रि ऋषि कहते हैं कि हे पर्जन्य! तुम महान् मेघ को उलीचो और नीचे बरसा दो, जिससे नदियाँ निर्मित मार्ग से प्रवाहित हों।[५] कृष्ण ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार उदक नदी की ओर, नहरें या नाले बड़े जलाशय की ओर, उसी प्रकार सोम इन्द्र की ओर जाते हैं।[६] यजुर्वेद में मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि हे विद्वन्! सर्प के समान कुटिलगामी और व्याघ्र के समान हिंसक मत बन। जिस प्रकार जल कुल्या को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार ऋत के पथ का अनुसरण कर।[७] अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि जिन्होंने ब्राह्मणों को निकाल दिया है या उन पर शुल्क लगाया है, ऐसे लोग रुधिर की नदी के बीच केश (क्लिष्ट या अखाद्य) पदार्थों को खाते हुए रहते हैं।[८] पितर देवताओं का वर्णन करता हुआ अथर्ववेद कहता है कि जो तेरे प्राचीन और अर्वाचीन पितर हैं, उनके लिये सैकड़ों धाराओं वाली कुल्या (कृत्रिम नाली) तृप्त करती हुई प्रवाहित हो।[९] एक अन्य स्थान पर अथर्ववेद कहता है कि जो जीवित, मृत, उत्पन्न और पूज्य पुरुष हैं, उनके लिये सैकड़ों धाराओं वाली कुल्या (कृत्रिम नाली) तृप्त करती हुई प्रवाहित हो।[१०]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह नदी 'कुल्या' है, जो किसी महाह्रद को प्राप्त होती है, इन नदियों में निर्मित मार्ग से जल प्रवाहित होता है, जिस प्रकार सोम इन्द्र को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार कुल्या (नाले या नहर) बड़े जलाशय को प्राप्त होते हैं, जिस प्रकार जीवन पथ ऋत के अनुकूल होता है,

---

१ वै०पद०कोष, पृ० ११३०.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० १७१.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, २९६. महा०, १३.१७४२.

४ ऋ० ३.४९.३. "गम्भीराँ उदधीँरिव क्रतु पुष्यसि। प्र सुगोपा यवसं धेनवो यथा ह्रदं कुल्याइवाशत।"

५ ऋ० ५.८३.८. "महान्तं कोशमुदचा नि षिञ्च स्यन्दन्तां कुल्या विषिताः पुरस्तात्।"

६ ऋ० १०.४३.७. "आपो न सिन्धुमभि यत्समक्षरन्त्सोमास इन्द्रं कुल्याइव ह्रदम्।"

७ यजु०, ६.१२. "माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्तऽआतानानर्वा प्रेहि। घृतस्य कुल्याऽउप ऋतस्य पथ्याऽअनु।"

८ अथर्व०, ५.१९.३. "ये ब्रह्माणं प्रत्यष्ठीवन् ये वास्मिञ्छुल्कमीषिरे। अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान् खादन्त आसते।"

९ अथर्व०, १८.३.७२. "ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये। तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती।"

१० अथर्व०, १८.४.५७. "ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः। तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती।"

उसी प्रकार जल कुल्या के अनुकूल होकर प्रवाहित होते हैं, प्राचीन और अर्वाचीन पितरों को तृप्त करती हुई यह कुल्या प्रवाहित होती है। इसके अतिरिक्त जीवित, मृत, उत्पन्न और यज्ञिय पुरुषों को यह कुल्या की धारा तृप्त करती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में वह जल की धारा 'कुल्याः' है, जिसका अन्त महाह्रद में होता है। इसका जल पितरों, जीवित, मृत, यज्ञिय आदि सभी को तृप्ति देता है। सङ्क्षेप में कह सकते हैं कि निर्मित कृत्रिम नदी या नाले वेद की दृष्टि में 'कुल्याः' हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त में से किसी भी निर्वचन को समीचीन नहीं माना जा सकता। अतः, अभी 'कुल्याः' को अव्युत्पन्न मानना उचित है।

२३. ऋतावरीः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में कुल्याः' के पश्चात् 'वर्य्यः' पद परिगणित है।[१] वैदिक साहित्य में एक भी स्थान पर 'वर्य्यः' पद प्रयुक्त नहीं हुआ है। सम्भवतः, इसकारण आचार्य सायण तथा देवराजयज्वन् प्रभृति विद्वान् उक्तपद के स्थान पर 'ऋतावरीः' पद परिगणित मानते हैं।[२] हम भी यहाँ 'वर्य्यः' के स्थान पर 'ऋतावरीः' पद का विवेचन करने के लिये अग्रसर हो रहे हैं।

आचार्य देवराजयज्वन् ने नदीवाचक 'वर्य्यः' पद का निर्वचन निम्न दिया हैः-"**वरणीयाः सम्भजनीयाः वा वर्य्यः**"[३] कि वरणीय होने से नदियाँ 'वर्य्यः' हैं। इस पक्ष में 'वृ' धातु से औणादिक 'इ' प्रत्यय तथा स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होकर 'वरी' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'ऋतावरीः' पद का निर्वचन निम्न देते हैंः-"ऋतमित्युदकनाम। 'छन्दसीवनिपौ च' (अष्टा०,५.२.१२२.वा०) इति मत्वर्थीयो 'वनिप्, वनो र च (अष्टा०,४.१.७.) इति ङीब्रेफौ। अन्येषामपि दृश्यते (अष्टा०६.३.१३७.) इति दीर्घः, 'ऋतावर्य्यः'"[४] कि 'ऋत' यह उदकवाचक नाम है। ऋत अर्थात् उदक वाली होने से नदियाँ 'ऋतावरीः' नाम से अभिहित होती हैं। इस पक्ष में 'ऋत+वनिप्+ङीप्' से 'रेफ' का आगम होकर 'ऋतावरीः' पद उपपन्न होता है।

आचार्य यास्क 'ऋत' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैंः-"**ऋतमित्युदकनाम। प्रत्यृतं भवति**"[५] क्योंकि यह प्रत्येक देश में गमन करता है, अतः, उदक को 'ऋत' कहा जाता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'ऋ' धातु से 'ऋत' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष के अनुसार 'ऋ' धातु से 'ऋत' शब्द व्युत्पन्न होता है, उससे 'ङीप्' तथा 'रेफ' अन्तादेश होकर 'ऋतावरीः' पद निष्पन्न होता है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी 'ऋतावरीः' पद को 'ऋ' धातुमूलक मानती है।[७]

---

१ निघ० १.१३.२३.

२ निघ०वृ०, १.१३.२३.

३ निघ०वृ०, १.१३.२३.

४ निघ०वृ०, १.१३.२३.

५ निरु० २.२५.

६ वै०पद०कोष, पृ० १०००.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० १५४.

वैदिक साहित्य में अनेकशः 'ऋतावरीः' पद का प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में गृत्समद ऋषि कहते हैं कि अन्नवती और उदकवती सरस्वती मेरे इन अन्नरूप हवियों का सेवन करे। जो स्तुतियाँ देवताओं के मध्य में सरस्वती को प्रिय हैं, उनको मैं सरस्वती के लिये प्रस्तुत कर रहा हूँ।[१] दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि संसार को सुख देने वाले द्यावापृथिवी उदक या नदियों से युक्त लोकों को धारण करते हैं।[२] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि विद्यमान पदार्थों में ऋत के अनुसार उत्पन्न हुए, सुन्दर रूप वाले रोदसी (द्यावापृथिवी) प्राक्तनकाल से नष्ट न करने योग्य यज्ञ के समान उदक को धारण करके स्थित हैं।[३] एक अन्य मन्त्र में विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि उदक अर्थात् अवश्याययुक्त यह उषा द्युलोक के प्रकाश से जानी जाती है। उस ऋतयुक्त उषा से धनवती रोदसी (द्यावापृथिवी) नानाविध रूपों वाली हो जाती है।[४] वामदेव ऋषि भी उषा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि अश्व के समान पूजनीय, प्रकाशमान रश्मियों की माता, अवश्याय से पूर्ण उषा अश्विनीदवों की सखा है।[५] एक अन्य स्थान पर वामदेव द्यावापृथिवियों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उदकयुक्त, किसी से भी द्रोह न करने वाले, देवताओं रूपी पुत्रों तथा यज्ञ अर्थात् संसार के लोकव्यवहार का सञ्चालन करने वाले द्यावापृथिवी प्रकाश से पवित्र होते हैं।[६] भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार गमन करता हुआ सूर्य दिवस को शीघ्र पहुँचाता है, उसी प्रकार अन्य उदकवती नदियों के साथ सरस्वती हमें शत्रुओं से दूर पहुँचा दे।[७] लुश धानाक ऋषि कहता है कि प्रकृष्ट प्रज्ञान वाले उदक से युक्त द्युलोक और पृथिवीलोक पाप और हिंसालु लोगों से हमारी रक्षा करें।[८] प्रजापति ऋषि अपने विज्ञान का वर्णन करता हुआ नदियों से कहता है कि हे जलरूप नदियो! आप सृष्टि के रहस्यों की साक्षी हैं। ये तीन लोक प्रत्येक तीन-तीन और देवताओं के निवासस्थान हैं। इन लोकों का निर्माता सूर्य यज्ञों में सम्यक् दीप्यमान होता है। इळा, सरस्वती और भारती ये तीन परस्पर मिलने वाली (योषणा) नदियाँ हैं। दिवस के तीनों सवनों में देव आते हैं।[९] उपर्युक्त मन्त्र का व्याख्यान निम्नप्रकार किया जा सकता है-'तीन साथ-साथ रहने वाली नदियाँ हैं, तीन देवताओं के साथ-साथ रहने वाले स्थान हैं और तीनों की माता अर्थात् निर्माण करने वाला वह ज्ञानवानों में सम्राट् परमात्मा है। तीन परस्पर मिलने वाली नदियाँ हैं, उनके उदक तीन प्रकार के हैं। ये उदक अन्तरिक्ष के जानने योग्य स्थानों पर विचरण करने वाले हैं।' वामदेव ऋषि कहते हैं कि उदक से पूर्ण ये नदियाँ उच्च स्वर के साथ वेगपूर्वक गमन करती हैं। इनसे पूछो कि ये क्या कहती हैं? ये उदक मेघ की किस सीमा को तोड़ते हैं?[१०]

---

१ ऋ० २.४१.१८. ''इमा ब्रह्म सरस्वति जुषस्व वाजिनीवति। या ते मन्म गृत्समदा ऋतावरि प्रिया देवेषु जुह्वति।''

२ ऋ० १.१६०.१. ''ते हि द्यावापृथिवी विश्वशंभुव ऋतावरी रजसो धारयत्कवी।''

३ ऋ० ३.६.१०. ''प्राची अध्वरेव तस्थतुः सुमेके ऋतावरी ऋतजातस्य सत्ये।''

४ ऋ० ३.६१.६. ''ऋतावरी दिवो अर्कैरबोध्या रेवती रोदसी चित्रमास्थात्।''

५ ऋ० ४.५२.२. ''अश्वेव चित्रारुषी माता गवामृतावरी। सखाभूदश्विनोरुषाः।''

६ ऋ० ४.५६.२. ''ऋतावरी अद्रुहा देवपुत्रे यज्ञस्य नेत्री शुचयद्भिरर्कैः।''

७ ऋ० ६.६१.९. ''सा नो विश्वा अति द्विषः स्वसॄरन्या ऋतावरी। अतन्नहेव सूर्यः।''

८ ऋ० १०.३६.२. ''द्यौश्च नः पृथिवी च प्रचेतस ऋतावरी रक्षतामंहसो रिषः।''

९ सायणभाष्य, ऋ० ३.५६.५. ''त्री षधस्था सिन्धवस्त्रिः कवीनामुत त्रिमाता विदथेषु सम्राट्। ऋतावरीर्योषणास्तिस्रो अप्यास्त्रिरा दिवो विदथे पत्यमानाः।''

१० ऋ० ४.१८.६. ''एता अर्षन्त्यललाभवन्तीर्ऋतावरीरिव संक्रोशमानाः। एता वि पृच्छ किमिदं भनन्ति कमापो अद्रिं

विश्वामित्र ऋषि नदीदेवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे उदक से पूर्ण नदियो! मेरे वचनों को सुनो और कुछ देर के लिये रुक जाओ।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह नदी 'ऋतावरी:' है, जिसे संसार को सुख देने वाले द्यावापृथिवी धारण करते हैं, इसको अध्वर के समान रोदसी धारण करके स्थित होते हैं, ऋतावरी (अवश्याययुक्त) उषा से रोदसी नानाविध रूपों वाली हो जाती है, विचित्र, प्रकाशमान उषा ऋतावरी है, किसी से द्रोह न करने वाली द्यावापृथिवी ऋतावरी है, अन्य उदक वाली (ऋतावरी) नदियों के साथ सरस्वती शत्रुओं से पार पहुँचाने वाली है, ऋतावरी वाले द्युलोक और पृथिवी पाप और हिंसालु से रक्षा करने वाले हैं, परस्पर मिलने वाली तीन नदियाँ 'ऋतावरी:' हैं, ये नदियाँ उच्चस्वर से गर्जन करती हुई तीव्र वेग से गमन करती हैं, तीव्र वेग और अथाह गहराई के कारण विश्वामित्र इन नदियों को रुकने के लिये कहते हैं। उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'ऋतावरी:' का प्रयोग वेद में प्राय: सरस्वती, रोदसी, द्यावापृथिवी और उषा के साथ विशेषरूप से हुआ है। सरस्वती और स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त 'ऋतावरी:' पद जहाँ नदी या नदी के विशेषण अर्थ में प्रयुक्त है, वहाँ रोदसी, द्यावापृथिवी और उषा के साथ प्रयुक्त 'ऋतावरी:' पद नदी से भिन्न उदक के अस्तित्व का बोध करा रहा है। प्राय: वेद में 'ऋतावरी:' विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। जहाँ तक नदी अर्थ वाले 'ऋतावरी:' पद का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि अथाह गहराई और तीव्र वेग के कारण नदी को वेद ने 'ऋतावरी:' नाम से सम्बोधित किया है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए गत्यर्थक 'ऋ' धातु को 'ऋतावरी:' पद का मूल माना जा सकता है।

२४. उर्व्य:

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'उर्व्य:' पद परिगणित है।[२] शतपथ-ब्राह्मण 'उर्वी' का वर्णन करता हुआ कहता है:-''**यथेयं पृथिव्युर्वी एवमुरुर्भूयासम्**''[३] कि जिस प्रकार यह पृथिवी 'उरु' है, उसी प्रकार मैं 'उरु' हो जाऊँ। इस पक्ष में 'उरु' से 'उर्वी' रूप को सिद्ध किया गया है।

आचार्य यास्क 'उर्वी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-'**उर्व्य: ऊर्णोते:**''[४] कि अच्छादित करने के कारण पृथ्वी को 'उर्वी' कहा जाता है। इस पक्ष में आच्छादनार्थक 'ऊर्णुञ्' धातु से 'उर्वी' रूप सिद्ध होता है।

(ख)'वृणोतेरित्यौर्णवाभ:''[५] कि वरण किये जाने के कारण पृथ्वी को 'उर्वी' कहा जाता है, ऐसा आचार्य और्णवाभ का मत है। इस पक्ष में 'वृ' धातु से 'उर्वी' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'उर्व्य:' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-''**उर्व्य:' (नद्य:)।**

परिधिं रुजन्ति।''

१ ऋ० ३.३३.५. ''रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहुर्तमेवै:।''

२ निघ० १.१३.२४.

३ शत०ब्रा०, २.१.४.२८.

४ निरु० २.२६.

५ निरु० २.२६.

'ऊर्णुञ्' आच्छादने' । महत्यो नद्यः, छादयित्र्यो वा भूमेः स्वेनोदकेन''[१] कि महान् नदियाँ अपने उदक से भूमि का आच्छादन करती हैं, इसलिये उनको 'उर्व्यः' कहा जाता है।

(ख)**''वृणोतेश्च''**[२] कि वरणीय होने के कारण नदियों को 'उर्व्यः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'वृ' धातु से 'उर्व्यः' रूप सिद्ध होता है।

डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में इस शब्द की धातु या प्रातिपदिक 'ur, uru, uer' विस्तृत अर्थ वाली तथा अवेस्ता में 'uru' विस्तृत अर्थ वाली है। अतः, वर्मा यास्कीय निर्वचनों को ध्वनिरूप की दृष्टि से युक्तिसङ्गत और अर्थ की दृष्टि से अस्वीकार्य मानते हैं।[३] मोनियर विलियम्स 'उरु' पद का मूल 'वृ' या 'ऊर्णुञ्' धातु को मानते हैं और 'उर्वी' को 'उरु' के वर्ग में रखते हैं।[४] वैदिक-पदानुक्रम-कोष के मत में 'उरु' पद से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'उर्वी' रूप उपपन्न होता है। उक्त 'उरु' पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। फिर भी, कोशकार 'ऊर्ण्' या 'वृ' धातु से 'उरु' पद के व्युत्पन्न होने की सम्भावना व्यक्त करता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची के अनुसार भी 'उर्वी' के मूल में 'उरु' है।[६] शतपथ-ब्राह्मण भी कहता है कि जैसे यह पृथिवी 'उरु' है, वैसे मैं भी 'उरु' हो जाऊँ।[७] इससे भी 'उर्वी' उरुमूलक है, यह प्रमाणित होता है। आचार्य सायण 'उरु' पद का मूल 'ऊर्णुञ्' धातु को मानते हैं।[८] **''ऊर्णोत्याच्छादयत्यल्पानिति उरु महत्''**[९] कि अल्पों को आच्छादित करने के कारण महत् को 'उरु' कहते हैं। स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय कर देने मात्र से 'उरु' से 'उर्वी' बन जाता है। इस प्रकार सिद्ध कर लेने पर डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा की आपत्ति का भी निराकरण हो जाता है तथा ध्वनिरूप की सङ्गति भी बैठ जाती है। अतः, उपर्युक्त निर्वचन निर्णयात्मक रूप से स्वीकार किया जा सकता है। निघण्टु में 'उर्वी' पद पृथिवी, द्यावापृथिवी तथा नदीवाचक के रूप में परिगणित है।[१०] पृथिवी एवं द्यावापृथिवी की महत्ता तथा उदक के व्यापक स्वरूप को ध्यान में रखते हुए 'ऊर्णुञ्' आच्छादने' धातु से निर्वचन करना समीचीन माना जा सकता है।

वैदिक साहित्य में नदीवाचक अर्थ में 'उर्व्यः' पद का प्रयोग नहीं हुआ है। आचार्य देवराजयज्वन् 'उर्व्यः' से लेकर आने वाले पदों के निगम अन्वेषणीय बतलाते हैं।[११] प्रमाण के अभाव में नदी के विशिष्ट स्वरूप को निरूपित करना सम्भव नहीं है। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, निर्विवाद रूप से 'ऊर्णुञ्' धातु को

---

१ निघ०वृ०, १.१३.२४.

२ निघ०वृ०, १.१३.२४.

३ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ५५.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २१७-१८.

५ वै०पद०कोष, पृ० ९६७-६८.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० १४७.

७ शत०ब्रा०, २.१.४.२८. ''यथेयं पृथिव्युर्वेवमुरुर्भूयासम्।''

८ माध०धातु०, २.२८; पृ० २४३.

९ अष्टा०, ४.१.४४.

१० निघ० १.१.१०; १३.२४; ३.३०.१९.

११ निघ०वृ०, १.१३.२४.

'उर्व्यः' पद का मूल माना जा सकता है।

२५. इरावत्यः

निघण्टुकोष के उदक वाचक नामपदों में 'इरावत्यः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'इरावत्यः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**इरावत्यः (नद्यः)। 'इण्' गतौ'। इरा बलं तदासामस्ति**"[२] कि जिनमें इरा अर्थात् बल है, वे नदियाँ 'इरावत्यः' हैं। इस पक्ष में 'इण्' गतौ' धातु से औणादिक 'रन्' प्रत्यय होकर 'इरा' उससे मत्वर्थ 'मतुप्' तथा स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होकर 'इरावती' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'इरावत्यः' पदं को रोदसी, धेनु और वाक् अर्थ का विशेषणपद मानते हैं। अथर्ववेद में यह 'गो' अर्थ का वाचक नामपद है। उसके अनुसार 'इरावत्यः' पद 'इर्' धातु से व्युत्पन्न होता है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद का मूल 'इर्' धातु को मानती है।[४] मोनियर विलियम्स भी उक्तपद को 'इर्' धातु से सम्बद्ध मानते हैं। उनके अनुसार यह पद 'इडा' और 'इला' से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। यह पद ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा शतपथ-ब्राह्मण में किसी भी पेय पदार्थ, विशेषरूप से शुष्क दुग्ध-निर्मित व्यञ्जन के लिये आया है। अथर्ववेद, शतपथ-ब्राह्मण एवं ऐतरेय-ब्राह्मण में यह पद भोजन, अल्पाहार, आनन्दोपभोग के लिये प्रयुक्त हुआ है।[५]

वैदिक साहित्य में 'इरावत्यः' पद का अनेकशः प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में अर्चनाना आत्रेय ऋषि कहते हैं कि हे मित्रावरुण! आपके अनुग्रह से पर्जन्य इरा (अन्न) वाली, दीप्तियुक्त, पूजनीय वाणी को बोलता है।[६] उरुचक्रि आत्रेय ऋषि कहते हैं कि हे वरुण! हे मित्र! आप दोनों की आज्ञा से गायें इरा (क्षीर)युक्त तथा नदियाँ मधुर उदक का दोहन करती हैं।[७] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि स्तुतिमान् मनुष्य को देने के लिये द्यावापृथिवी इरावती (अन्नवती) धेनुमती और सुन्दर यवस से सम्पन्न हो जाती है।[८]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'इरावत्यः' पद नदी के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। निघण्टुकोष में 'इरा' अन्न वाचक नामपदों में परिगणित है।[९] वेद में भी 'इरावत्यः' पद उक्त अर्थ को ध्वनित कर रहा है। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि गत्यर्थक 'इर्' धातु को 'इरा' पद का मूल माना जा सकता है।

---

१ निघ० १.१३.२५.

२ निघ०वृ०, १.१३.२५.

३ वै०पद०कोष, पृ० ८३३.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० १२५.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १६८.

६ ऋ० ५.६३.६. "वाचं सु मित्रावरुणाविरावतीं पर्जन्याश्चित्रां वदति त्विषीमतीम्।"

७ ऋ० ५.६९.२. "इरावतीर्वरुण धेनवो वां मधुमद्वां सिन्धवो मित्र दुह्रे।"

८ ऋ० ७.९९.३. यजु०, ५.१२. "इरावती धेनुमती हि भूतं सूयवसिनी मनुषे दशस्या।"

९ निघ० २.७.१२.

२६. पार्वत्य:

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'पार्वत्य:' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'पार्वती' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**पार्वत्य: (नद्य:)। पर्वतशब्दो निरुक्ते मेघपर्वतानां नामत्वेन (निघ०,१.१०.९.) तस्यापत्यम्**''[२] कि पर्वतशब्द निरुक्त में मेघ और पर्वत के अर्थ में परिगणित है। उस मेघ या पर्वत की सन्तान होने से नदी 'पार्वती' कहलाती है। इस पक्ष में 'पर्वत' शब्द से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय और उससे स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'पार्वती' रूप उपपन्न होता है।

मोनियर विलियम्स निघण्टु के आधार पर 'पार्वती' शब्द का अर्थ 'नदी' मानते हैं। इसके अतिरिक्त वायुपुराण में यह एक नदी का नाम है।[३]

वैदिक साहित्य में 'पार्वती' या 'पार्वत्य:' पद का सर्वथा उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। यह न केवल वेद में अप्रयुक्त है, अपितु अन्य वैदिक साहित्य में भी इसका उल्लेख नहीं हुआ है। आचार्य देवराजयज्वन् उक्तपद के निगम को अन्वेषणीय बतलाते हैं।[४] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद और वैदिक साहित्य में अप्रयुक्त रहने के कारण 'पार्वती' नामक नदी के विशेष स्वरूप को स्पष्ट करना सम्भव नहीं है। उक्तपद के वैदिक साहित्य में प्रयुक्त होने की सम्भावना क्षीण दिखायी देती है। फिर भी, निघण्टुकार के नदीवाचक गण में उक्तपद के परिगणन का कारण अस्पष्ट है। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि इसका सम्बन्ध 'पर्वत' शब्द से है।

२७. स्रवन्त्य:

निघण्टुकोष के नदीवाचक गण में 'स्रवन्त्य:' पद परिगणित है।[५] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'स्रवन्त्य:' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**स्रवन्त्य: (नद्य:)। 'स्रु' गतौ'। सर्वदा गमनस्वभाव:**''[६] कि सर्वदा प्रवाहित रहने के कारण नदियों को 'स्रवन्त्य:' कहा जाता है। इस पक्ष में 'स्रु' धातु से 'शतृ' प्रत्यय और उससे स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'स्रवन्ती' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'स्रवन्त्य:' पद को 'स्रु' धातुमूलक विशेषण और नामपद मानता है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्त मत का समर्थन करती है।[८] मोनियर विलियम्स भी 'स्रवन्त्य:' पद को 'स्रु' धातुमूलक मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद प्रवहणशील जल तथा नदी के लिये हुआ है।[९]

---

१ निघ० १.१३.२६.

२ निघ०वृ०, १.१३.२६.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ६२२.

४ निघ०वृ०, १.१३.२६.

५ निघ० १.१३.२७.

६ निघ०वृ०, १.१३.२७.

७ वै०पद०कोष, पृ० ३५०८.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० ५९६.

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १२७४.

वैदिक साहित्य में 'स्रवन्ती' या 'स्रवन्त्यः' पद का कतिपय स्थानों पर उल्लेख देखने को मिलता है। ऋग्वेद में आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार श्येन से डरा हुआ पक्षी दूर भाग जाता है, उसी प्रकार इन्द्र (सूर्य) से भयभीत होकर मेघ (वृत्र) निन्यानवे अर्थात् अनन्त नद-नदियों के पार चला जाता है अर्थात् उन्हें जल से परिपूर्ण कर देता है।[१] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम शत्रुओं को कँपाने वाले हो, अतः, तरङ्गायित जलों को भूमि पर बरसाओ, जिस प्रकार नदियाँ जल को प्रवाहित करती हैं।[२] उक्त मन्त्र में 'स्रवन्तीः' पद 'सीरा' के विशेषण के रूप में आया है। यहाँ ऋषि नदी की प्रवहणशीलता का प्रतिपादन कर रहा है। अष्टक वैश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे शत्रु नगरों को छिन्न-भिन्न करने वाले इन्द्र! जिन सुरमणीय सात जलधाराओं के द्वारा तुम समुद्र को बढ़ाते हो, वे आपके द्वारा निर्मित हैं। हे इन्द्र! तुम ९९ क्षुद्र नदियों को देवों और मनुष्यों के लिये प्रदान करते हो।[३] उक्त मन्त्र में देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि ९९ नदियों को 'स्रोत्या' तथा ९ नदियों को 'स्रवन्तीः' कहकर पुकार रहा है। यजुर्वेद में प्रजापति ऋषि कहते हैं कि उदकों को आहरण करने से नदियों की, कुक्षि से जलाशयों की, विशाल उदर से समुद्र की तथा भस्म करने की शक्ति से वैश्वानर की पहिचान होती हैं।[४] एक अन्य मन्त्र में प्रजापति ऋषि कहते हैं कि सामान्य, स्वीकार करने योग्य, वाष्प में ऊपर जाने वाला, स्थिर, नदी रूप में तथा अन्य शनैः शनैः प्रवाहित होने वाला, भलीभाँति भिगोने वाला, धारण करने योग्य, प्रचुर जलवान् अर्णव, नद-नदी आदि को अपने में समाहित करने वाला समुद्र -इन समस्त प्रकार के उदकों की रक्षा एवं शुद्धता के लिये वैज्ञानिक विधि का अनुपालन करना चाहिये।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'स्रवन्त्यः' वे नदियाँ हैं, जो मेघ से पूर्ण होकर बहने लगती हैं, ये नदियाँ देवों तथा मनुष्यों के लिये हैं, जलों को आहरण करने के कारण यजुर्वेद इन्हें 'स्रवन्तीः' कहता है, ये नदियाँ निरन्तर प्रवाहित रहने वाली हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में वे नदियाँ 'स्रवन्त्यः' हैं, जिनको वर्षा में प्रवाह के कारण पार कर सकना सम्भव नही होता और जो निरन्तर प्रवाहित रहती हैं। वेद ने 'नव च नवतिम्' का सम्बन्ध 'स्रवन्तीः' से माना है। इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि ९९ नदियों के नाम से जानी जाने वाली नदियाँ वेद में 'स्रवन्त्यः' हैं। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि निर्विवादरूप से यह पद 'स्रु' धातुमूलक है।

२८. ऊर्जस्वत्यः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'ऊर्जस्वत्यः' पद परिगणित है।[६] आचार्य देवराजयज्वन्

---

१ ऋ० १.३२.१४. ''नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरो रजांसि।''

२ ऋ० १.१७४.९. ''त्वं धुनिरिन्द्र धुनीमतीर्ऋणोरपः सीरा न स्रवन्तीः।''

३ ऋ० १०.१०४.८. ''सप्तापो देवीः सुरणा अमृक्ता याभिः सिन्धुमतर इन्द्र पूर्भित्। नवतिं स्रोत्या नव च स्रवन्तीर्देवेभ्यो गातुं मनुषे च विन्दः।''

४ यजु०२५.८. ''हिराभिः स्रवन्तीर्ह्रदान् कुक्षिभ्याᳬं समुद्रमुदरेण वैश्वानरं भस्मना।''

५ यजु०, २२.२५. ''अद्भ्यः स्वाहा वार्भ्यः स्वाहोदकाय स्वाहा तिष्ठन्तीभ्यः स्वाहा स्रवन्तीभ्यः स्वाहा स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा कूप्याभ्यः स्वाहा सूद्याभ्यः स्वाहा धार्याभ्यः स्वाहार्णवाय स्वाहा समुद्राय स्वाहा सरिराय स्वाहा।''

६ निघ० १.१३.२८.

नदीवाचक 'ऊर्जस्वत्यः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**ऊर्जस्वत्यः (नद्यः)। 'ऊर्ज' बलप्राणनयोः'। ऊर्जयतीत्यूर्जो बलं तेन तद्वत्यः**"[१] कि बलवती होने के कारण नदियों को 'ऊर्जस्वत्यः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'ऊर्ज्' धातु से 'ऊर्क्' और उससे 'मतुप्' प्रत्यय होकर 'ऊर्जस्वत्यः' पद सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'ऊर्जस्वत्यः' पद को 'ऊर्ज्' धातु से व्युत्पन्न मानता है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची से भी उक्त मत का समर्थन हो जाता है।[३] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद, शतपथ-ब्राह्मण तथा ऐतरेय-ब्राह्मण में यह पद ओजयुक्त, रसमय, शक्तिशाली अर्थ में आया है।[४]

वैदिक साहित्य में कतिपय स्थानों पर 'ऊर्जस्वत्यः' पद का प्रयोग देखने को मिलता है। यजुर्वेद में गायत्र ऋषि कहते हैं कि यज्ञ पृथ्वी को सुन्दर बनाने वाला, कल्याणकर, सुखकर, अच्छे प्रकार स्थित करने वाला तथा इस पृथ्वी को अन्नवती और उदकवती बनाने वाला है।[५] उक्त मन्त्र में 'ऊर्जस्वती' पद 'अन्नवती' अर्थ में आया है। कुमारहारित ऋषि कृषीवल देवों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उदक से सिञ्चित किये जाने पर पृथ्वी अन्नवती होती है उसमें हल और जल से व्यवहार करना चाहिये।[६] उक्त मन्त्र में ऋषि पृथ्वी को 'ऊर्जस्वती' पद से पृथ्वी को 'अन्नवती' बता रहा है। वरुण ऋषि आपः देवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि देवों ने उदक से पृथ्वी को मधुमती और ऊर्जस्वती (शक्तिमती) बनाया और हरीतिमा रूप चेतनता प्रदान कर सुशोभित किया।[७] उक्त मन्त्र में 'ऊर्जस्वती' पद पृथ्वी की प्राणशक्ति का अभिधान कर रहा है। ऋग्वेद में शबरकाक्षीवात ऋषि 'गो' देवों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सुखद वायु चारों ओर प्रवाहित हो तथा ऊर्जस्वती ओषधियों को गायें चरें।[८] अथर्ववेद का ऋषि कृषीवल देवों का वर्णन करता हुआ कहता है कि वह बलवती पृथ्वी घृतादि से सींचती हुई दूध या उदक के साथ हमारे अभिमुख हो।[९] एक अन्य स्थान पर शाला देवता का वर्णन करता हुआ अथर्ववेद कहता है कि हे शाले! तू पृथ्वी पर परिमाणयुक्त बनायी गयी, पराक्रम आदि को बढ़ाने वाली, जल, दुग्ध आदि से परिपूर्ण, सम्पूर्ण अन्नादि को धारण करती हुई शाला निर्माण करने वालों को मत मार।[१०] अथर्ववेद इन्द्र का वर्णन करता हुआ कहता है कि हे ऊर्जस्वति! हमारे में ऊर्जा भर दे, हे पयस्वति! हमारे लिये पयस् को धारण कर। द्यावापृथिवी हमारे लिये बल को धारण करें समस्त देव तथा

---

१ निघ०वृ०, १.१३.२८.

२ वै०पद०कोष, पृ० ९८७.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० १५१.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, २२१.

५ यजु०, १.२७. "सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती च।"

६ यजु०, १२.७०. "ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान्त्सीते पयसाभ्या ववृत्स्व।"

७ यजु०, १०.१. "अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः।"

८ ऋ० १०.१६९.१. "मयोभूर्वातो अभि वातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधीरा रिशन्ताम्।"

९ अथर्व०, ३.१७.९. "सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना।"

१० अथर्व०, ९.३.१६. "ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता। विश्वस्य बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः।"

मरुद्गण हमारे लिये उदक को धारण करें।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'ऊर्जस्वत्यः' पद प्रायः 'अन्नवती' क्वचित् 'बलवती' अर्थ का प्रतिनिधित्व करता दिखायी देता है। निघण्टु में 'ऊर्क्' शब्द अन्न अर्थ में पठित है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् का 'उर्व्यः' नदीवाचक नामपद के विवेचन के प्रसङ्ग में यह कहना कि आगे आने वाले नामपदों के निगम अन्वेषणीय हैं, सत्य प्रतीत होता है। वेद में प्रयुक्त होने पर भी उक्तपद नदीवाचक अर्थ में नहीं हैं, यह कहा जा सकता है। यह स्थिति निघण्टु के गठन के विषय में यह प्रश्न उपस्थित करती है कि क्या निघण्टु में वेद के शब्दों का ही सङ्कलन किया गया है अथवा इतर साहित्य से भी उसमें शब्द समाहित किये गये हैं? 'उर्व्यः' से प्रारम्भ होने वाला नदीवाचक शब्दों का परिगणन तथा अन्य पर्यायवाची शब्दों के समूह में परिगणित शब्द कुछ और ही सङ्केत देते हैं। इसके अतिरिक्त एक तथ्य और अपनी ओर ध्यान आकर्षित करता है कि निघण्टुकार ने 'ऊर्जस्वत्यः' इस बहुवचनान्त शब्द का पाठ किया है, लेकिन वेद में एक भी स्थान पर बहुवचनान्त पद का पाठ देखने को नहीं मिलता है। जहाँ तक 'ऊर्जस्वत्यः' पद की व्युत्पत्ति का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि उक्तपद प्रत्यक्षवृत्ति शब्द है, अतः, बिना किसी विवाद के 'ऊर्ज्' धातु को 'ऊर्जस्वत्यः' पद का मूल स्वीकार किया जा सकता है।

२९. पयस्वत्यः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'पयस्वत्यः' पद परिगणित है।[३] आचार्य यास्क 'पयस्' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**पयः पिबतेर्वा**''[४] कि 'पयस्' पद पानार्थक 'पा' धातु से व्युत्पन्न होता है। पेय होने के कारण उदक को 'पयस्' कहा जाता है।

(ख)''**प्यायतेर्वा**''[५] कि इसके पान करने से प्राणी बढ़ जाते हैं, अतः, उदक को 'पयस्' कहा जाता है। तैत्तिरीय-संहिता कहती है कि पयस् से गर्भ वृद्धि को प्राप्त होते हैं।[६] इस पक्ष में वृद्ध्यर्थक 'प्या' धातु से 'पयस्' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'पयस्वत्यः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**पयस्वत्यः (नद्यः)। 'पा' पाने'। पीयते इति पयः=उदकं तद्वत्यः**''[७] कि पेय होने के कारण उदक को 'पयस्' कहा जाता है, उस उदक से युक्त होने के कारण नदियों को 'पयस्वत्यः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'पा' पाने' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय और उससे 'मतुप्' प्रत्यय होकर 'पयस्वत्यः' रूप निष्पन्न होता है।

---

१ अथर्व०, २.२९.५. ''ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम्। ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुत ऊर्जमापः।''

२ निघ० २.७.१५.

३ निघ० १.१३.२९.

४ निरु० .२.५.

५ निरु० .२.५.

६ तै०सं० ६.२.५.३. ''पयसा वै गर्भा वर्धन्ते।''

७ निघ०वृ०, १.१३.२९.

(ख)"प्यायतेर्वा वर्द्धतेऽनेन पीतेन प्राणिन इति पयः। उदकं तद्वत्यः"[१] कि इसके पान करने से प्राणी वृद्धि को प्राप्त करते हैं, अतः, उदक को 'पयस्' कहा जाता है। उस 'पयस्' से युक्त होने के कारण नदियों को 'पयस्वत्यः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'प्या' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'पी+अयस्=पयस्' और उससे 'मतुप्' प्रत्यय होकर 'पयस्वत्यः' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'पयस्वत्यः' पद को उदक, क्षीर प्रभृति अर्थों का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। कुछ आचार्य 'पय्' उन्दने' तथा ग्रासमैन प्रभृति विद्वान् 'पा' पाने' या 'प्याय्' वृद्धौ' धातु से 'पयस्' शब्द को व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची अव्युत्पन्न 'पयस्' शब्द से 'पयस्वत्यः' पद को सिद्ध मानती है।[३] मोनियर विलियम्स उक्तपद का मूल 'पी' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में यह पद उदक या दुग्ध या वीर्य या रस, रसयुक्त, शक्तिशाली अर्थ में आया है।[४] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि 'पयस्' का मूलरूप भारोपीय भाषा में 'poi, poia' शब्द 'स्थूल' अर्थ में तथा अवेस्ता में 'paeman' शब्द 'माता के दुग्ध' के अर्थ में है। डॉ. वर्मा उक्त यास्कीय निर्वचन को तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा आंशिक रूप से स्वीकरणीय मानते हैं।[५] वेद से प्राप्त सङ्केत 'पयस्' शब्द को 'पय्' या 'प्या' धातुमूलक होने का समर्थन करते हैं।[६]

वैदिक साहित्य में 'पयस्वत्यः' पद का अनेकशः उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में गृत्समद ऋषि कहते हैं कि अहोरात्र बुनने वाले दो पुरुषों के समान एक-दूसरे का सहयोग करते हुए यज्ञ के विस्तृत रूप को प्रकट करते हैं और दोहन करने वाले ये अहोरात्र यज्ञ के माध्यम से उदक का दोहन करते हैं।[७] वामदेव ऋषि सीता देवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इन्द्रदेव हल को ग्रहण, पूषा उसका नियमन और उदकयुक्त पृथ्वी वर्षानुवर्ष सस्यादि का दोहन करे।[८] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि पृथक्-पृथक् वर्तमान, अनेक धाराओं वाले, उदक से पूर्ण द्यावापृथिवी सस्यादि समृद्धि के लिये उदक का दोहन करते हैं और ये शोभनकर्म तथा पवित्र व्रत का पालन करने वाले हैं।[९] देवश्रवा यामायन ऋषि कहते हैं कि हे उदको! ओषधियों तथा मेरे वृष्टिप्रार्थना वचन को उदकयुक्त बनाओ और वृष्टि वाले उदक को भूमिष्ठ उदक से संयुक्त करो।[१०] यजुर्वेद में गायत्र ऋषि कहते हैं कि यज्ञ पृथ्वी को सुन्दर बनाने वाला, कल्याणकर, सुखकर, अच्छे प्रकार स्थित करने

---

१ निघ०वृं०, १.१३.२९.

२ वै०पद०कोष, पृ० १९०६-१९०९.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ३०६.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ५८६.

५ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ११, १८, ६०.

६ ऋ० १.७९.३, १५३.४, १६४.२८, २.१३.१, ४.३.९, ७.३६.६, ९.६.७, १०.६४.१२, १३३.७.

७ ऋ० २.३.६. "तन्तुं ततं संवयन्ती समीची यज्ञस्य पेशः सुदुघे पयस्वती।"

८ ऋ० ४.५७.७. "इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्।"

९ ऋ० ६.७०.२. "असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती घृतं दुहाते सुकृते शुचिव्रते।"

१० ऋ० १०.१७.१४. "पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः। अपां पयस्वदित्पयस्तेन मा सह शुन्धत।"

वाला तथा इस पृथ्वी को अन्नवती और उदकवती बनाने वाला है।[१] एक अन्य स्थान पर यजुर्वेद का ऋषि कहता है कि पृथिवी, ओषधियाँ, द्युलोक और अन्तरिक्षलोक जल को धारण करें। सभी दिशायें मेरे लिये नदियों से युक्त हों।[२] अथर्ववेद का ऋषि अप्सरा देवता का वर्णन करता हुआ कहता है कि वह पृथ्वी हमें उदकवती होकर प्राप्त हो और शत्रु हमारा धन न जीत पायें।[३] अन्यत्र अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि द्यावापृथिवी उदक से उदकवती हों और पवित्र और ऋत के अनुसार चलने वाले ये हमें पवित्र करें।[४] एक अन्य स्थान पर शाला देवता का वर्णन करता हुआ अथर्ववेद कहता है कि हे शाले! तू पृथ्वी पर परिमाणयुक्त बनायी गयी, पराक्रम आदि को बढ़ाने वाली, जल, दुग्ध आदि से परिपूर्ण, सम्पूर्ण अन्नादि को धारण करती हुई शाला निर्माण करने वालों का मत मार।[५] पृथिवी देवता का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है कि शान्ति, ऐश्वर्य, सुख ओर उदक वाली यह पृथिवी उदक के साथ मेरे लिये बोले।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'पयस्वती' शब्द प्रायः पृथिवी और द्यावापृथिवी के विशेषण के रूप में आया है और क्वचित् नदी के लिये भी व्यवहृत हुआ माना जा सकता है। सर्वत्र द्यावापृथिवी को 'पयस्वती' कहा गया है। द्यावापृथिवी की यह उदकवत्ता नदी से भी हो सकती है और उदक के अन्यरूपों से भी सम्भव है। अतः, निर्विवाद रूप से यह कहना सम्भव नहीं है कि वेद में 'पयस्वती' शब्द नदी अर्थ में व्यवहृत हुआ है। इसके अतिरिक्त निघण्टुकार ने 'पयस्वत्यः' बहुवचनान्त पाठ किया है, लेकिन बहुवचनान्त 'पयस्वत्यः' का पाठ एक बार भी न वेदों और न इतर वैदिक साहित्य में होता हुआ दिखायी देता है। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि 'पय्' धातु को 'पयस्वत्यः' पद का मूल माना जा सकता है।

३०. सरस्वत्यः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'सरस्वत्यः' पद परिगणित है।[७] आचार्य यास्क 'सरस्वती' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सरस्वती। सर इत्युदकनाम। सर्तेस्तद्वती**"[८] कि सर यह उदक का नाम है और जो उस उदक से युक्त है, वह सरस्वती कहलाती है। इस पक्ष में 'सृ' धातु से 'सर' शब्द उपपन्न होता है और उससे मत्वर्थक 'मतुप्' होकर सरस्वती रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सरस्वती' को 'गो' शब्द का (दीप्तिमत्यर्थक) विशेषणपद तथा नदी, देवता अर्थ वाला नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। विद्वान् 'सृ' क्षरणे=द्रवीभावे'

---

१ यजु०, १.२७. "सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती च।"

२ यजु०, १८.३६. "पयः पृथिव्यां पयऽओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयो धाः। पयस्वतीः प्रदिशः सुन्तु मह्यम्।"

३ अथर्व०, ४.३८.३. "सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम्।"

४ ऋ० ६.६२.१. "द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी यज्ञिये नः पुनीताम्।"

५ अथर्व०, ९.३.१६. "ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता। विश्वस्य बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः।"

६ अथर्व०, १२.१.५९. "शान्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती। भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह।"

७ निघ० १.१३.३०.

८ निरु० ९.२६.

और 'स्वृ' शब्दे' से 'सरस्वती' पद को निष्पन्न करना समीचीन मानते हैं।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'सरस्वती' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स का इस विषय में अभिमत है कि 'सृ=सरस्=सरस्वती' इस प्रकार 'सरस्वती' पद निष्पन्न होता है। उनके अनुसार सरस्वती एक नदी का नाम है। ऋग्वेद में यह देवी के रूप में प्रतिष्ठित है, जिसकी पहिचान विवादित है। अनेक विद्वान् इसे अवेस्ता में वर्णित एवं अफगानिस्तान में स्थित हरक्वेती 'Harqaiti' नदी मानते हैं, लेकिन सामान्यरूप से इसका ऋग्वेद में आशय 'इन्दुस्' से है और यही केवल मध्यदेश की पवित्र नदी है। इस नदीरूपा देवता की सात बहिनें हैं और यह स्वयं सात स्तर या तल वाली है। इसको नदियों की माता कहा जाता है, यह नदियों की सर्वश्रेष्ठ माँ है और ऋषियों ने सर्वत्र इसका सम्बन्ध नदियों से माना है तथा आकाश से अवतरित होने के लिये इसका आह्वान किया है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि उदकवाचक 'सरस्' शब्द भारोपीय भाषा में 'ser' 'धारा' अर्थ में तथा लैटिन में 'sirt' 'झुण्ड बनाकर अपना स्थान छोड़ना' अर्थ में है। उनके अनुसार यह निर्वचन तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने के योग्य है।[४]

वैदिक साहित्य में 'सरस्वती' पद का व्यापक रूप से उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि हे भारति इळे और सरस्वति! इन तीन तथा जिन अन्य देवताओं की मैं स्तुति करता हूँ, उन सबको लक्ष्मी के लिये प्रेरित करो।[५] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि माताओं, नदियों और देवियों में श्रेष्ठ हे सरस्वति! हम निर्धनों को धनवान् बनाओ।[६] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि अन्नवती और उदकवती सरस्वती मेरे इन अन्नरूप हवियों का सेवन करे। जो स्तुतियाँ देवताओं के मध्य में सरस्वती को प्रिय हैं, उनको मैं सरस्वती के लिये प्रस्तुत कर रहा हूँ।[७] आचार्य सायण कहते हैं कि सरस्वती दो प्रकार की है, एक विग्रहवती देवतारूपा तथा द्वितीय नदीरूपा। देवतारूपा 'सरस्वती' की स्तुति करने के अनन्तर नदीरूपा 'सरस्वती' की स्तुति करते हुए मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि यह 'सरस्वती' महान् प्रवाहरूप उदककर्म से अपना बोध कराती है, जबकि देवतारूपा 'सरस्वती' सम्पूर्ण प्राणियों की बुद्धि को प्रकाशित करती है।[८] प्रस्तुत मन्त्र में भी देवतारूपा 'सरस्वती' की स्तुति करने के पश्चात् नदीरूपा 'सरस्वती' की स्तुति करते हुए भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि कमल को खोदने वाले के समान यह नदीरूपा सरस्वती अपने महान् तरङ्ग रूप बल से पर्वतों के शिखरों को काटती है। अपने दोनों तटों को नष्ट करने वाली सरस्वती नदी की हम स्तुति और कर्म से रक्षा करने के लिये प्रार्थना करते हैं।[९] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि सात गङ्गा आदि नदियों में सबसे

---

१ वै०पद०कोष, पृ० ३३१९.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ५५९.

३ संस्कृत-इंग्लिशकोष, पृ० ११८२.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ५३.

५ ऋ० १.१८८.८. ''भारतीळे सरस्वति या वः सर्वा उपब्रुवे। ता नश्चोदयत श्रिये।''

६ ऋ० २.४१.१६. ''अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति। अप्रशस्ताइव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि।''

७ ऋ० २.४१.१८. ''इमा ब्रह्म सरस्वति जुषस्व वाजिनीवति। या ते मन्म गृत्समदा ऋतावरि प्रिया देवेषु जुह्वति।''

८ ऋ० १.३.१२. ''महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति।''

९ ऋ० ६.६१.२. ''इयं शुष्मेभिर्बिसखाइवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः। पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा

अधिक प्रिय एवं पुरातन ऋषियों से सेवित हे सरस्वति! आप ही स्तुति के योग्य हैं।[१] उक्त सूक्त के अन्त में ऋषि कहता है कि हे सरस्वति! हमको प्रशस्त धन प्राप्त कराओ। अपने आकार को मत बढ़ाओ और उदक की अधिकता से हमें बाधित मत करो।[२] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि गङ्गा आदि नदियों में उदकों की मातृभूता सरस्वती सप्तमी है। ये सभी नदियाँ कामनाओं का दोहन करने में समर्थ एवं सुन्दर धाराओं के साथ प्रवाहित होती हैं। अपने उदक का पान एवं हमारा पालन करती हुई ये अन्न प्रदान के उद्देश्य से एक साथ आयें।[३] एक अन्य मन्त्र में वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि हे वसिष्ठ! तुम नदियों में बलवती सरस्वती को प्रसन्न करने के लिये स्तुति का गान करते हो। द्यावापृथिवी देवता और नदीरूप में निवास करती हुई सरस्वती की दोषरहित स्तोत्रों से अर्चना करो।[४] मैत्रायणी-संहिता कहती है कि एक सरस्वती ही सभी नदियों में शुद्ध-पवित्र है और यह पर्वत से प्रकट होकर समुद्र पर्यन्त यात्रा करती है। लोकों को यह धन प्रदान करती है और नाहुष के लिये उदक का दोहन करती है।[५] तैत्तिरीय-संहिता सरस्वती को उदकों का पृष्ठ बतलाती है।[६] मैत्रायणी-संहिता कहती है कि वरुण द्वारा सिञ्चन किये जाने पर इन्द्र का वीर्य प्रकट हुआ, वह तीन भागों में विभाजित हो गया, एक तृतीय अंश भृगु, दूसरा तृतीय अंश श्रायन्तीय तथा अन्तिम तृतीय अंश सरस्वती में प्रवेश कर गया।[७] ब्राह्मण के ऋषि के कथन का मन्तव्य यह प्रतीत होता है कि वर्षा का जल तीन भागों में विभाजित होता है, एक भाग सूर्य के किरणों के प्रभाव से भृगु (वाष्प) बन जाता है, द्वितीय भाग भूमि (भूमिगत होकर और तडागादि के रूप) में विश्राम करता है, जबकि तृतीय भाग नदी के रूप में प्रवाहित हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह नदी 'सरस्वती' है, जिसे भारती और इळा देवियों के साथ समृद्धि प्रदान करने के लिये आह्वान किया जाता है, मातृतम, देवितम और और नदीतम कहकर ऋषि इसे निर्धनता दूर करने के लिये पुकारता है, अन्नदात्री और उदकवती होने के कारण ऋषि प्रिय स्तोत्रों से इसकी स्तुति करता है। वेद का ऋषि सरस्वती को द्विविध बतलाता है, नदीरूपा सरस्वती की पहिचान उसके महत् उदक से होती है, जबकि वाक्रूपा सरस्वती की पहिचान बुद्धियों के प्रकाशित करने से। नदीरूपा सरस्वती उदक के बल से पर्वतों के शिखरों का भेदन करती है, अतः, तटभञ्जन सरस्वती की कर्म से स्तुति की जाती है। यह सात बहिनों में सबसे अधिक प्रिय है और इसे ऋषि 'सप्तमी' कहता है, सम्भवतः,

---

विवासेम धीतिभिः।''

१ ऋ० ६.६१.१०. ''उत नः प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा। सरस्वती स्तोम्या भूत्।''

२ ऋ० ६.६१.१४. ''सरस्वत्यभि नो नेषि वस्यो माप स्फरीः पयसा मा न आ धक्।''

३ ऋ० ७.३६.६. ''आ यत्साकं यशसो वावशानाः सरस्वती सप्तथी सिन्धुमाता। याः सुष्वयन्त सुदुघाः सुधारा अभि स्वेन पयसा पीप्यानाः।''

४ ऋ० ७.९६.१. ''बृहदु गायिषे वचोऽसुर्या नदीनाम्। सरस्वतीमिन्महया सुवृक्तिभिः स्तोमैर्वसिष्ठ रोदसी।''

५ मै०सं० ४.१४.७. ''एका चेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्। रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय।''

६ तै०सं० १.७.५.५. ''एषा वां अपां पृष्ठं यत्सरस्वती।''

७ मै०सं० ४.३.९. ''वरुणस्य वा अभिषिच्यमानस्येन्द्रियः३ वीर्यमपाक्रमत्, तत् त्रेधाभवद्, भृगुस्तृतीयमभवत्, श्रायन्तीयं तृतीयः३ सरस्वतीं तृतीयं प्राविशत्।''

सर्पणशील अथवा छः नदियों के पश्चात् अस्तित्व में आने के कारण इसे सप्तमी कहा गया है। अपने आकार को विस्तृत न करने की ऋषि इससे प्रार्थना करता है और यह अन्य नदियों से बलवती मानी गयी है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अन्य नदियों की अपेक्षा अधिक उदकवाली तथा अन्नादि उत्पन्न करने में सहायक होने से वेद इसे 'सरस्वती' नाम से अभिहित करता है। सरसता इसकी ऐसी विशेषता है, जो इसे अन्य नदियों से पृथक् करती है। यही कारण है कि जहाँ अन्य नदियाँ केवल नदी अर्थात् कलकलध्वनि करने वाली रह गयी हैं, वहाँ 'सरस्वती' कलकल की अस्पष्टता से ऊपर उठकर वाग्देवी के पद पर प्रतिष्ठित हो गयी है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि उपर्युक्त सभी निर्वचन 'सरस्वती' के चरित्र से मेल नहीं खाते हैं। 'सरस्वती' का निर्वचन आस्वादन अर्थ वाली 'रस्' धातु से मानना उचित प्रतीत होता है। उक्त अर्थ वाली धातु निघण्टु तथा पाणिनि धातुपाठ में उपलब्ध नहीं है, परन्तु वास्तविकता यह है कि 'सरस्वती' चाहे वाग्रूपा हो या नदीरूपा, दोनों स्थानों पर इसमें आस्वादन की मुख्यता पायी जाती है। 'आ+सु या स्व+'अद्'+अन=आस्वादन'=जिसमें पूर्णता लिये हुए सुन्दर प्रकार से भोजन योग्यता है, वह उदकवती नदी सरस्वती है तथा जिसमें स्व भावों के भोजन की योग्यता अर्थात् रसरूप में परिणत कर देने की शक्ति है, वह वाग्रूपा देवी 'सरस्वती' है। निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि सरसता 'सरस्वती' का आधार है।

३१. तरस्वत्यः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'तरस्वत्यः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'तरस्वत्यः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**तरस्वत्यः (नद्यः)। 'तॄ' प्लवनतरणयोः'। तरन्त्यनेनापदमिति तरो बलं तद्वत्यः**"[२] कि जिससे आपत्तियों से पार जाते हैं, वह बल 'तरस्' कहलाता है, उस बल से युक्त नदियाँ 'तरस्वत्यः' नाम से अभिहित होती हैं। इस पक्ष में 'तॄ' प्लवनतरणयोः' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय और उससे 'मतुप्' तथा 'ङीप्' प्रत्यय होकर 'तरस्वत्यः' पद उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'तरस्' पद का मूल 'तॄ' धातु को मानते हैं।[३] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार हरिवंश पुराण में १४वें मनु का नाम 'तरस्वान्' है तथा निघण्टु के अनुसार 'तरस्वती' नदीवाचक पद है।[४]

वैदिक साहित्य में 'तरस्वती' या 'तरस्वत्यः' पद का पाठ सर्वथा नहीं हुआ है। मैत्रायणी-संहिता में एक बार अवश्य 'तरस्वान्' पद का उल्लेख हुआ है, वहाँ पर भी 'तरस्वती' पाठ नहीं है। उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में अप्रयुक्त रहने के कारण 'तरस्वत्यः' पद के विशिष्ट स्वरूप को निरूपित कर पाना सम्भव नहीं है। निघण्टुकार ने किस आधार पर उक्तपद का परिगणन नदीवाचक गण में किया है, कहा नहीं जा सकता। जहाँ तक व्युत्पत्ति का प्रश्न है, निस्सन्देह प्रत्यक्षवृत्ति होने से 'तरस्वती' पद की व्युत्पत्ति स्पष्ट है।

---

१ *निघ० १.१३.३१.*

२ *निघ०वृ०, १.१३.३१.*

३ वै०पद०कोष, पृ० १४९९. ऋ०वै०पद०, पृ० २३४.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ४३९.

३२. हरस्वत्यः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'हरस्वत्यः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'हरस्वत्यः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**हरस्वत्यः (नद्यः)। 'हृञ्' हरणे'। 'उदकं हर उच्यते'-इति निरुक्तम् (निरु०,४.१९.)। तद्धि बहवो हरन्ति, सर्वं ह्रियते वा प्राणिभिरुपभोगाय तद्वत्यः**"[२] कि 'उदक' को 'हरस्' कहा जाता है। बहुत लोग उदक का आहरण करते हैं या उपभोग के लिये सब प्राणियों के द्वारा उस उदक का हरण किया जाता है, अतः, उदकवती नदियाँ 'हरस्वत्यः' नाम से अभिहित होती हैं। इस पक्ष में 'हृ' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय तथा उससे 'मतुप्' तथा 'ङीप्' प्रत्यय होकर 'हरस्वत्यः' रूप उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'हृ' धातु से 'हरस्वत्यः' पद को उपपन्न मानते हैं।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची में अव्युत्पन्न 'हरस्' शब्द से 'हरस्वत्यः' पद को निष्पन्न माना है।[४] मोनियर विलियम्स 'हृ=हरस्=हरस्वती' इस प्रकार उपपन्न करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में उक्तपद छीनने या प्रज्वलित अर्थ में आया है।[५]

वैदिक साहित्य में 'हरस्वती' पद का मात्र एक बार प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में गृत्समद ऋषि कहते हैं कि जो मनुष्य हमारे प्रति कुक्कुर के समान दुर्व्यवहार करता है, तुम उसकी उस उग्र बुद्धि का हरण करते हो।[६]

उपर्युक्त एक मात्र उद्धरण के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'हरस्वती' पद 'उग्रता' का बोध कराने के लिये आया है। निश्चित रूप से यहाँ यह बलवाचक है, नदीवाचक नहीं है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में 'हरस्वत्यः' पद नदी अर्थ में अप्रयुक्त है और प्रयुक्त रहे होने की सम्भावना क्षीण प्रतीत होती है। वेद और वैदिक साहित्य में बहुवचनान्त 'हरस्वत्यः' पद का पाठ भी उपलब्ध नहीं होता। फिर भी, निघण्टुकार ने उक्तपद का नदीवाचक गण में परिगणन किया है, इस विषय में यह कहा जा सकता है कि निघण्टुकार की परिगणन-शैली अनेक स्थानों पर अस्पष्ट है और वही स्थिति यहाँ पर भी है। जहाँ तक व्युत्पत्ति का प्रश्न है, निर्विवाद रूप से 'हरस्वती' पद का मूल 'हृ' है।

३३. रोधस्वत्यः

निघण्टुकोष के नदीवाचक गण में 'रोधस्वत्यः' पद परिगणित है।[७] आचार्य यास्क 'रोधस्' का पद

---

१ निघ० १.१३.३२.

२ निघ०वृ०, १.१३.३२.

३ वै०पद०कोष, पृ० ३५५४.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ६०५.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १२८९.

६ ऋ० २.२३.६. "बृहस्पते यो नो अभि ह्वरो दधे स्वा तं मर्मर्तु दुच्छुना हरस्वती।"

७ निघ० १.१३.३३.

का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**रोधः कूलं निरुणद्धि स्रोतः**"[१] कि स्रोत (प्रवाह) को रोकने के कारण कूल को 'रोधस्' कहते हैं। इस पक्ष में 'रुध्' धातु से 'रोधस्' शब्द व्युत्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'रोधस्वती' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**रोधस्वत्यः (नद्यः)। रोधसा तीरेण तद्वत्यः**"[२] कि तट के द्वारा प्रवाह को अवरुद्ध किये जाने के कारण नदियों को 'रोधस्वत्यः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'रुध्'+असुन्+मतुप्+ङीप्' से 'रोधस्वत्यः' पद निष्पन्न होता है। इसी प्रकार का निर्वचन आचार्य सायण भी करते हैं:-"**रुणद्धि स्रोतः इति रोधः कूलम्। रोधः कूलं निरुणद्धि स्रोतः (निरु०,६.१.) तद्युक्ता रोधस्वत्या।**"[३]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'रोधस्' पद को कूल, अवरोधन, अपिधान वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार 'रुध्=रुह् (आरोहे) इति कृत्वा=उच्छ्रितप्रदेशः अर्थात् तटादिरूप उच्चस्थान 'रोधस्' है। 'रोधस्वती' पद निघण्टु के अनुसार नदीवाचक नामपद है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी 'रोधस्वती' पद का मूल 'रुध्' धातु को मानती है।[५] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद उच्चतट अर्थ में प्रयुक्त है। भारतीतीर्थ की पञ्चदशी के अनुसार यह एक नदी का नाम है।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में उक्तपद का समानार्थक पद प्राप्त नहीं होता है, परन्तु प्राचीन आर्यभाषा से उक्त तथ्य की पुष्टि हो जाती है। अतः, यास्कीय निर्वचन पूर्णतया तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा स्वीकार करने योग्य है।[७]

वैदिक साहित्य में 'रोधस्वती' पद का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। केवल ऋग्वेद में एक बार इसका प्रयोग देखने को मिलता है। घोरपुत्र कण्व ऋषि कहते हैं कि हे मरुतो! निरन्तर क्रियाशील, अपने दृढ़ हाथों से चयन करने योग्य (चित्राः) रोधस्वती के तट की ओर प्रस्थान करो।[८]

उपर्युक्त एकमात्र उद्धरण के आधार पर कहा जा सकता है कि जिसके तटों का निर्माण मनुष्यों के द्वारा किया जाता है, वेद में वह नदी 'रोधस्वती' है। सीमा को अतिक्रान्त करके नगर या ग्राम में प्रवेश को रोकने के लिये नदियों पर तटबन्ध बनाये जाते रहे हैं। सम्भवतः, इस प्रकार के तटबन्ध वाली नदी वैदिक साहित्य में 'रोधस्वती' नाम से अभिहित हुई है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'रुध्' धातुमूलक निर्वचन को मौलिक माना जा सकता है। निघण्टुकार ने बहुवचनान्त 'रोधस्वत्यः' पद का प्रयोग किया है, परन्तु एक भी स्थान पर उक्त बहुवचनान्त रूप के दर्शन नहीं होते हैं। इससे निघण्टुकार की शैली सुगठित और सुसङ्गत न होने की पुष्टि होती है।

---

१ निरु० ६.१.

२ निघ०वृ०, १.१३.३३.

३ सायणभाष्य, ऋ० १.३८.११.

४ वै०पद०कोष, पृ० २६८०.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ४४९.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ८८४.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ५१.

८ ऋ० १.३८.११. "मरुतो वीळुपाणिभिश्चित्रा रोधस्वतीरनु। यातेमखिद्रयाभिः।"

३४. भास्वती

निघण्टुकोष के नदीवाचक गण में 'भास्वती' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'भास्वती' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**भास्वत्यः (नद्यः)। 'भा' दीप्तौ'। भा दीप्तिः, तद्वत्यः, दीप्तिमतो हि नद्यः**"[२] कि 'भा' का अर्थ 'प्रकाश' है। दीप्तिमती होने के कारण नदियों को 'भास्वत्यः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'भा' दीप्तौ'+असुन्+मतुप्+ङीप्' से 'भास्वती' रूप सिद्ध होता है। आचार्य सायण भी इसी प्रकार 'भास्वती' पद को व्युत्पन्न करते हैं।[३] नदियों के साथ प्रकाश के सम्बन्ध का औचित्य सन्दिग्ध है।

ताण्ड्य-महाब्राह्मण 'भास' का स्वरूप प्रतिपादित करता हुआ कहता है:-"स्वर्भानुर्वा आसुर आदित्यं तमसाविध्यत् स न व्यरोचत तस्यात्रिर्भासेन तमोऽपहन् स व्यरोचत यद्वै तद्भा अभवत्तद्भासस्य भासत्वम्"[४] कि स्व अथवा भानु ने आसुर आदित्य को तमस् से विद्ध कर दिया है, इससे वह आदित्य प्रकाशित नहीं हुआ, अत्रि नामक प्रकाश से तमस् को दूर करता हुआ वह प्रकाशमान हुआ, यह जो प्रकाशित हुआ यही उस आदित्य का भासत्व है। यहाँ ब्राह्मण का ऋषि तमस् के अनन्तर प्रकाशित होते हुए सूर्य की आभा को 'भास' बतला रहा है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष एवं ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'भास्वती' पद का मूल 'भास्' धातु को स्वीकार करती हैं।[५] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में 'भास्वती' पद प्रकाशमान, वैभवपूर्ण अर्थ में प्रयुक्त है।[६]

वैदिक साहित्य में 'भास्वती' पद का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में गोतम ऋषि उषा देवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि प्रिय एवं सत्य व्यवहारों को प्रकाशित एवं सम्पन्न करने वाली द्युलोक की पुत्री उषा स्तुति में कुशल ऋषियों के द्वारा स्तुत होती है। ऐसी उषा पुत्र-पौत्रादि, मनुष्य, शीघ्र जानने योग्य, विद्याओं में अग्रणी वेदविद्या को हमें प्राप्त कराये।[७] यजुर्वेद में वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि द्युलोक, पृथिवीलोक और विस्तृत अन्तरिक्ष में उषा प्रकाशित होती है, ऐसी उषा रश्मि और प्रकाश से युक्त है।[८]

उपर्युक्त प्राप्त मात्र दो उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'भास्वती' पद 'दीप्तिमती' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह यहाँ उषा के विशेषण के रूप में आया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में 'भास्वती' पद नदीवाचक नहीं है। जहाँ तक व्युत्पत्ति का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि उक्तपद 'भा' या

---

१ निघ० १.१३.३४.

२ निघ०वृ०, १.१३.३४.

३ सायणभाष्य, ऋ० १.९२.७.

४ ता०ब्रा०, १४.११.१४.

५ वै०पद०कोष, पृ० २३२९. ऋ०वै०पद०, पृ० ३६७.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ७५६.

७ ऋ० १.९२.७. "भास्वती नेत्री सूनृतानां दिवः स्तवे दुहिता गोतमेभिः। प्रजावतो नृवतो अश्वबुध्यानुषो गोअग्राँ उप मासि वाजम्।"

८ यजु०, १५.६३. "रश्मिवतीं भास्वतीमा या द्यां भास्या पृथिवीमोर्वन्तरिक्षम्।"

'भास्' धातुमूलक है। निघण्टु में उक्तपद नदी के अतिरिक्त 'उषा' वाचक अर्थ में और परिगणित है।[१] वेद से उषावाचक अर्थ की पुष्टि स्पष्टरूप से होती दिखायी देती है, जबकि नदीवाचक अर्थ के पुष्ट होने की सम्भावना लगभग नहीं है।

३५. अजिरा:

निघण्टुकोष के नदीवाचक गण में 'अजिरा:' पद परिगणित है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'अजिरा:' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अजिरा: (नद्य:)। 'अज' गतिक्षेपणयो:'। अजन्ति गच्छन्ति क्षिप्यन्ते प्रेर्य्यन्ते आसु नाव इति**''[३] कि नाव चलाये जाने के कारण नदियों को 'अजिरा:' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अज्'+किरच्' से 'अजिरा:' पद निष्पन्न होता है। उक्त निर्वचन निघण्टुसम्मत है।[४] मोनियर विलियम्स का भी यही अभिमत है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अजिरा:' पद को मनस्, रुद्र प्रभृति का विशेषण पद मानते है। उसके अनुसार 'अज्' धातु से 'अजिरा:' पद उपपन्न होता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची से भी उक्त मत का समर्थन हो जाता है।[६] उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा वाजसनेयि-संहिता में यह पद क्षिप्र अर्थ में प्रयुक्त है।[७]

वैदिक साहित्य में 'अजिरा:' पद का अनेकश: उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि कभी यह वायु रोहित (भूरे) वर्ण के अश्वों को और कभी अतिभारवहन के लिये अतिभारधारण करने में समर्थ क्षिप्रगामी (अजिरा) अरुण (लाल) वर्ण के अश्वों को लगाता है।[८] एक अन्य सूक्त में परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि क्षिप्रगामी (अजिरम्) आपको मैं ठीक उसी प्रकार बुलाता हूँ, जिस प्रकार शीघ्रगामी अश्व आता है या जिस शीघ्रता से वीर सङ्ग्राम में जाते हैं।[९] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि कर्म में व्याप्त, दूत, शीघ्रगामी (अजिरम्), पुरातन एवं स्तुति करने योग्य अग्निदेव की शीघ्र पूजा करो।[१०] अजमीळ और पुरुमीळ ऋषि कहते हैं कि अश्विनीदेवों का यान शीघ्रता से जान लेता है, जिससे ये दोनों सूर्या के पति होते हैं।[११] भरद्वाज

---

१ निघ० १.८.३.

२ निघ० १.१३.३५.

३ निघ०वृ०, १.१३.३५.

४ उणा०, १.५३. ''अजिरशिशिरशिथिलस्थिरस्फिरस्थविरखदिरा:।''

५ वै०पद०कोष, पृ० ७२.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ११.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, १०.

८ ऋ० १.१३४.३. ''वायुर्युङ्क्ते रोहिता वायुररुणा वायू रथे अजिरा धुरि वोळहवे वहिष्ठा धुरि वोळहवे।''

९ ऋ० १.१३८.२. ''प्र हि त्वा पूषन्नजिरं न यामनि स्तोमेभि: कृण्व ऋणवो यथा मृध उष्ट्रो न पीपरो मृध:।''

१० ऋ० ३.९.८. ''आशुं दूतमजिरं प्रत्नमीड्यं श्रुष्टी देवं सपर्यत।''

११ ऋ० ४.३.६. ''तदू षु वामजिरं चेति यानं येन पती भवथ: सूर्याया:।''

ऋषि कहते हैं कि शीघ्र क्षेपण में समर्थ शूरवीर के समान यह उषा अन्धकार को दूर फैंक देती है।[१] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि हवियुक्त यजमान हवि वहन करने के लिये शीघ्रगामी अग्नि की स्तुति करते हैं।[२] जमदग्नि ऋषि कहते हैं कि देवों में क्षिप्रगामी दूत बनकर मित्रावरुण दौड़ता है और यह सुवर्णशीर्ष वाला आनन्द को प्राप्त करता है।[३] यजुर्वेद का ऋषि मन का वर्णन करता हुआ कहता है कि हृदय में स्थित, क्षिप्रगामी, युवा मेरा मन शिवसङ्कल्प वाला हो।[४] अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि हे इन्द्र! तुम्हारे साथ उत्पन्न होने वाले तुम्हारा आह्वान करें और क्षिप्रगामी दूत अग्नि तुम्हारे आसपास विचरण करे।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'अजिरा:' पद 'क्षिप्रवाची' अर्थ में प्रयुक्त है तथा निघण्टु में उक्त अर्थ में परिगणित है।[६] नदीवाचक अर्थ का उदाहरण न प्राप्त होने से यह माना जा सकता है कि वेद और वैदिक साहित्य में 'अजिरा:' पद नदीवाचक नहीं है। उक्तपद के नदीवाचक गण में परिगणित करने का कारण अस्पष्ट है और बहुवचनान्त 'अजिर' पद का सर्वथा वेद में प्रयोग नहीं हुआ है। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि उक्तपद 'अज्' धातुमूलक है।

३६. मातर:

निघण्टुकोष के नदीवाचक गण में 'मातर:' पद परिगणित है।[७] आचार्य यास्क 'मातृ' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''माताऽन्तरिक्षं निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि''**[८] कि यह अन्तरिक्ष अवकाश प्रदान करके भूतों के निर्माण में विशेष उपकार करता है, अत:, अन्तरिक्ष को 'माता' कहा जाता है। इस पक्ष में 'मा' धातु से 'मातृ' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)**''मातरो भासो निर्मात्र्य:''**[९] कि प्रभातकालीन सूर्यप्रकाश का निर्माण करने के कारण उषायें 'मातर:' नाम से अभिहित होती हैं। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् नदीवाचक 'मातर:' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''मातर: (नद्य:)। 'माङ्' माने'। निर्मीयते प्रजापतिना, मान्ति आसु आप इति वा, मातृवल्लोकस्य रक्षिका इति वा, नदीमातृक इति ह देशस्य व्यपदेश:''**[१०] कि प्रजापति के द्वारा इसका निर्माण किया जाता है अथवा इसमें उदक को मापा जाता है या यह माता के समान लोक की रक्षिका अर्थात् पालन करने वाली है, अत:, नदी को 'माता' कहा

---

१ ऋ० ६.६४.३. ''अपेजते शूरो अस्तेव शत्रून्बाधते तमो अजिरो न वोळहा।''

२ ऋ० ७.११.२. ''त्वामीळते अजिरं दूत्याय हविष्मन्त: सदमिन्मानुषास:।''

३ ऋ० ८.१०.३. ''प्र यो वां मित्रावरुणाजिरो दूतो अद्रवत्। अय:शीर्षा मदेरधु:।''

४ यजु०, ३४.६. ''हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मन: शिवसङ्कल्पमस्तु।''

५ अथर्व०, ३.४.३. ''अच्छ त्वा यन्तु हविन: सजाता अग्निर्दूतो अजिर: सञ्चरातै।''

६ निघ० २.१५.१३.

७ निघ० १.१३.३६.

८ निरु० २.८.

९ निरु० १२.७.

१० निघ०वृ०, १.१३.३६.

जाता है। इस पक्ष में 'मा'+तृन् या तृच्' से 'मातृ' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'मातृ' शब्द को जननी अर्थ का नामपद तथा सिन्धु=नद अर्थ का विशेषण पद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है, लेकिन कोशकार ने 'जननी' अर्थ में 'मा'+तृच्' धातु तथा नद के विशेषण में 'मृध्' उन्दने' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना प्रकट की है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'मातृ' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स 'मा' धातु के निर्वचन को अत्यन्त सन्दिग्ध मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद माता, किसी पशु आदि की माता के लिये भी व्यवहृत हुआ है। इसके अतिरिक्त यह जलों अर्थात् नदी के लिये भी आया है। परवर्ती साहित्य में देवताओं की माता (कभी कभी यह सात सङ्ख्या के साथ पहिचानी जाती है) मानी गयी है। लैटिन में यह शब्द 'mater' लिथुआनियन में 'mate' स्लेवोकियन में 'mati' जर्मन में 'muotar' तथा इंग्लिश में 'mother' है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में 'me' तथा अवेस्ता में 'ma' 'मापने' अर्थ में पाया जाता है। अतः, वे यास्क के प्रथम निर्वचन को अस्पष्ट तथा द्वितीय निर्वचन को यान्त्रिक मानते हैं।[४] वेद से प्राप्त सङ्केत भी 'मातृ' शब्द को 'माङ्' धातुमूलक सिद्ध करते हैं।[५]

वैदिक साहित्य में 'मातरः' पद का अनेकशः प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में नृमेध और पुरुषमेध ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! नदियों में उदक वेगपूर्वक दौड़ें। वृत्र (आवरणशक्ति) का वध करके सम्पूर्ण प्राणियों को जीत लो।[६] तिरश्ची ऋषि कहते हैं कि इन्द्र तथा मनुष्यों के लिये उदक से पूर्ण प्रवहमान सात या सर्पणशील नदियाँ सुख से पार करने के योग्य हों।[७] त्रित आप्त्य ऋषि कहते हैं कि ब्रह्म (वेदवाणी) से स्तुत नदियाँ जल की माताएँ हैं। ये द्युलोक के शिशु का शोधन करती हैं।[८] त्रय ऋषि पवमानदेवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सात या सर्पणशील नदियाँ नवीन, जानने योग्य, जयशील, बुद्धिमान्, उदकों के गन्धर्व, अन्तरिक्ष से उत्पन्न होने वाले, मनुष्यों के द्रष्टा, सोमरूप शिशु को लोकों में प्रकाशित होने के लिये धारण करती हैं।[९] त्रित ऋषि पवमानदेवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि प्रकट होती हुई सर्पणशील नदियाँ शोभा के लिये सोम का आश्रय लेती हैं। यह सोम निश्चित रूप से धनों का ज्ञाता है।[१०] देवश्रवा यामायन ऋषि कहते हैं कि ये

---

१ वै०पद०कोष, पृ० २४७७-७९.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ३९६.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ०, ८०७.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ३८, १४२.

५ ऋ० १.३८.८, १६४.२८, ३.२९.११, अथर्व०, ८.९.५.

६ ऋ० ८.८९.४. ''अर्षन्त्यापो जवसा वि मातरो हनो वृत्रं जया स्वः।''

७ ऋ० ८.९६.१. ''अस्मा आपो मातरः सप्त तस्थुर्नृभ्यस्तराय सिन्धवः सुपाराः।''

८ ऋ० ९.३३.५. ''अभी ब्रह्मीरनूषत यह्वीर्ऋतस्य मातरः। मर्मृज्यन्ते दिवः शिशुम्।''

९ ऋ० ९.८६.३६. ''सप्त स्वसारो अभि मातरः शिशुं नवं जज्ञानं जेन्यं विपश्चितम्। अपां गन्धर्वं दिव्यं नृचक्षसं सोमं विश्वस्य भुवनस्य राजसे।''

१० ऋ० ९.१०२.४. ''जज्ञानं सप्त मातरो वेधामशासत श्रिये। अयं ध्रुवो रयीणां चिकेत यत्।''

दिव्यगुण युक्त सम्पूर्ण पापों को हमसे दूर करें और उनसे पवित्र होकर हम पवित्र हो जायें।[१] गयप्लात ऋषि कहते हैं कि महती से महती ऊर्मियों से युक्त उदक-वहन करने वाली सरस्वती और सरयु नदियाँ रक्षा करने के लिये आयें। उत्तम गुणों वाली मातृभूता, स्फूर्तिदायक, घृत के समान बलवर्द्धक और मधुर उदक हमें प्रदान करें।[२] सिन्धुक्षित् प्रियमैध ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार मातायें अपने शिशु के पास शीघ्रता से आती हैं या अपने वत्स को दुग्धपान कराने के लिये गायें रंभाती हुयीं भागी चली आती हैं, उसी प्रकार नदियाँ शब्द करती हुई उदकपान कराने के लिये दौड़ी चली आती हैं।[३] अरुण वैतहव्य ऋषि कहते हैं कि ऋतु में प्राप्त होने वाले उस गर्भभूत अग्नि को ओषधियाँ धारण करती हैं। मातृभूत उदक भी उस अग्नि को उत्पन्न करते हैं।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में वह नदी 'मातृ' है, जिसके उदक तीव्रता से दौड़ते हैं, इन नदियों की सङ्ख्या वेद सप्त बतलाता है, सप्त का अर्थ सर्पणशीलता भी होता है, इस दृष्टि से प्रवहमान होने के कारण नदियों का 'मातरः' या 'सप्त मातरः' कहा जाता है, कहीं ऋषि ने नदी को उदकों की माता कहा है, ये सात स्वसारूप मातायें (नदियाँ) सोम(उदक)रूप शिशु को धारण करती हैं, ये सप्त मातायें समुद्र का आश्रय लेती हैं, कहीं ऋषि ने उदक को ही माता के नाम से पुकारा है और घृत से उत्पन्न बतलाते हुए ऋषि इन उदकों से घृत के समान पवित्र करने का निवेदन करता है, ऋषि इन माताओं से घृत के समान बलवर्द्धक और मधुर उदक देने की प्रार्थना करता है, ये नदियाँ रंभाती हुयी गाय के समान शीघ्रता से उदक पान कराने हेतु हमारे पास दौड़ी चली आती हैं। इसके अतिरिक्त ये मातृभूत उदक अग्नि को उत्पन्न करते हैं।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कह सकते हैं कि वेद में उदकों को दो प्रकार से 'माता' कहा गया है, प्रथम प्रकार में ये नदियाँ हितकारिणी माता के समान उदक पान कराने हेतु दौड़ी चली आती हैं, द्वितीय प्रकार में उदकों को ही माता कह दिया गया है। प्रथम स्थान पर जहाँ उदक नदीरूप हैं, वहीं दूसरी ओर दुग्ध के साथ समानता होने के कारण उदकों को 'मातरः' कहा गया है। इसके अतिरिक्त वेद में पृथिवी,[५] द्यावापृथिवी,[६] उषा[७] और माता[८] को 'माता' नाम से अभिहित किया गया है। उक्त तत्त्वों को माता कहे जाने का कारण यह है कि ये सभी भौतिक पदार्थ माता के समान सुख पहुँचाते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में माँ के अतिरिक्त अनेक पदार्थों को मातृवत् हितकारिणी होने के कारण 'माता' नाम से अभिहित किया

---

१ ऋ० १०.१७.१०. ''आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु।''

२ ऋ० १०.६४.९. ''सरस्वती सरयुरूर्मिभिर्महो महीरवसा यन्तु वक्षणीः। देवीरापो मातरः सूदयित्न्वो घृतवत् पयो मधुमन्नो अर्चत।''

३ ऋ० १०.७५.४. ''अभि त्वा सिन्धो शिशुमिन्न मातरो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः।''

४ ऋ० १०.९१.६. ''तमोषधीर्दधिरे गर्भमृत्वियं तमापो अग्निं जनयन्त मातरः।''

५ ऋ० ६.५१.५.

६ ऋ० १.१८५.११.

७ ऋ० १.९२.१, ५.४७.६.

८ ऋ० ३.४१.५, ६.४५.२५, ८.९५.१.

गया है। जहाँ तक नदियों को 'मातरः' कहे जाने का प्रश्न है, इसका आधार अन्य पदार्थों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। वेद स्पष्टरूप से नदियों को रंभाती हुयी गाय के समान अथवा शिशु वाली माता के समान बतलाता है, जिस प्रकार ये दोनों अपने वत्स के लिये दौड़ी चली आती हैं, उसी प्रकार नदियाँ भी। इसके अतिरिक्त ये नदीस्थ उदक माता के समान अग्नि को गर्भ में धारण करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि माता जैसे चरित्र के कारण नदियों को 'मातरः' कहा गया है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त सभी निर्वचन अपूर्ण प्रतीत होते हैं। माँ और पुत्र के बीच जिस प्रकार के मधुर और आत्मीय सम्बन्ध होते हैं, उक्त निर्वचनों से उसकी प्रतीति कराना सम्भव नहीं है। अतः, यह कहा जा सकता है कि 'मातृ' शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से अस्पष्ट है। उपलब्ध साहित्य और चिन्तन के आधार पर किसी निर्विवाद व्युत्पत्ति को प्रस्तुत कर पाना सम्भव नहीं है। फिर भी, आह्वान अर्थ वाली 'मा' धातु से 'मातृ' शब्द व्युत्पन्न हुआ होगा कि कल्पना की जा सकती है।

३७. नद्यः

निघण्टुकोष के नदीवाचक नामपदों में 'नद्यः' पद परिगणित है।[१] अथर्ववेद का ऋषि 'नद्यः' पद का निर्वचन करता हुआ कहता है:-"**यददः संप्रयतीरहावनदता हते। तस्मादा नद्यो नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः**"[२] कि उदक प्रयाण करते समय परस्पर एक-दूसरे से टकराकर कलकल ध्वनि करते हैं, इसलिये सिन्धु (नदी) को 'नदी' कहा जाता है। इस पक्ष में अव्यक्त शब्दार्थक 'नद्' धातु से 'नदी' रूप उपपन्न होता है। इसी प्रकार का निर्वचन मैत्रायणी-संहिता में भी प्राप्त होता है।[३]

आचार्य यास्क 'नद्यः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**नद्यः कस्मान्नदना इमा भवन्ति, शब्दवत्यः**"[४] कि शब्दवती होने के कारण नदियों को 'नद्यः' कहा जाता है। इस पक्ष में अव्यक्त अर्थ वाली 'नद्' धातु से 'नदी' रूप उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् भी यास्क के समान 'नदी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**नद्यः (नद्यः)। 'णद' अव्यक्ते शब्दे'। नदन्ति नद्यः**"[५] कि कलकल ध्वनि किये जाने के कारण नदियों को 'नद्यः' कहा जाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'नदी' पद का मूल 'नद्' धातु को मानते हैं।[६] मोनियर विलियम्स का भी यही अभिमत है। उनके अनुसार ऋग्वेद में उक्तपद बहने वाले जल, नदी (जिसका स्त्री के रूप में मूर्तीकरण हुआ है) के अर्थ में आया है। इसके अतिरिक्त 'नद' का प्रयोग ऋग्वेद

---

१ निघ० १.१३.३७.

२ अथर्व०, १.१३.१.

३ मै०सं० २.१३.१. "यददः सम्प्रयतीरहा अनदता हते। तस्मादा न३द्यो नामस्थ ता वो नामानि सिन्धवः।"

४ निरु० २.२४.

५ निघ०वृ०, १.१३.३७.

६ वै०पद०को०, पृ० १७६४. ऋ०वै०पद०, पृ० २८२.

तथा शतपथ-ब्राह्मण में गर्जन, बैल की हुँकार करने के अर्थ में भी आया है।[१] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का मत है कि यास्क 'नदी' को 'नद्' दहाड़ना अर्थ वाली धातु से व्युत्पन्न करते हैं। यह एक प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का रूप है। भारोपीय भाषा में इसका मूलस्वरूप 'nedo' शब्द 'बाँसुरी (नरकुल, सरकंडा)' अर्थ में है। इसीके समानान्तर आर्मेनियन भाषा में 'net' शब्द 'तीर' के अर्थ में पाया जाता है। आधुनिक पर्शियन भाषा में 'nai' शब्द 'बाँस, सरकंडा' के अर्थ में है। इस बात की सम्भावना है कि नदी के पास उगने वाले सरकंडे की ध्वनि को नदी का गर्जन मान लिया हो। अतः, डॉ. वर्मा उक्त यास्कीय निर्वचन को तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा स्वीकार किये जाने की सम्भावना व्यक्त करते हैं।[२]

वैदिक साहित्य में 'नदी' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार अत्यधिक शब्द करते हुए उदकों से नदियाँ कलकलध्वनि वाली हो जाती हैं, उसी प्रकार इन्द्र की गर्जना से पृथ्वी भय से आक्रान्त हो जाती है।[३] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि जिन उदकों को मेघों ने आच्छादित कर रक्खा था, उन्हें इन्द्र ने भूप्रदेशों के निम्नभूभाग में प्रवाहित होने के लिये छोड़ दिया।[४] अग्रिम सूक्त में आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि अन्तरिक्ष में उत्पन्न होने वाले प्रचुर उदकों से व्याप्त वह मेघ उसी प्रकार गर्जना करता है, जिस प्रकार समुद्र को प्राप्त होने वाली नदी शब्दायमान होती है।[५] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि पर्वत के कुटिल भूभाग के समीप स्थित मधुर उदक वाली चार नदियों को इन्द्र ने जल से पूर्ण किया।[६] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि इस इन्द्र की कीर्ति को गङ्गा आदि सात नदियों ने धारण किया तथा द्युलोक, पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षलोक ने वर्षा के अनन्तर सुन्दर हो जाने वाले रूप को दिखलाया।[७] परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! जिस प्रकार वेगपूर्वक चलने वाले रथ लक्ष्य की ओर गमन करते हैं, उसी प्रकार विना प्रयास के समुद्र की ओर प्रवाहित होने के लिये तुम नदी को उत्पन्न करते हो।[८] दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि अत्यधिक हितकारिणी माताओं के समान नदियाँ मुझे अपने जल में निमज्जित और अत्यधिक सङ्कोची स्वभाव वाले स्वामी को दास पीड़ित न करें।[९] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि वर्षणशील उदक तथा कुछ पूर्व में स्थित अन्य उदक भूमि पर सञ्चित होते हैं, वे सब मिलकर नदीरूप में परिणत होते हुए समुद्रस्थित अग्नि को तृप्त करते हैं। उसी प्रकार पवित्र 'अपां नपात्' देव के चारों ओर पवित्र उदक स्थित रहते हैं। ऋषि के कथन का आशय यह है कि मेघस्थ उदक वैद्युताग्नि तथा समुद्रस्थ उदक वडवानल के साथ रहते

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५२६.

२ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ६४.

३ ऋ० १.५४.१. ''अक्रन्दयो नद्यो३ रोरुवद्वना कथा न क्षोणीर्भियसा समारत।''

४ ऋ० १.५४.१०. ''अभीमिन्द्रो नद्यो वव्रिणा हिता विश्वा अनुष्ठाः प्रवणेषु जिघ्नते।''

५ ऋ० १.५५.२. ''सो अर्णवो न नद्यः समुद्रियः प्रति गृभ्णाति विश्रिता वरीमभिः।''

६ ऋ० १.६२.६. ''उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन्मध्वर्णसो नद्य१श्चतस्रः।''

७ ऋ० १.१०२.२. ''अस्य श्रवस्य नद्यः सप्त बिभ्रति द्यावाक्षामा पृथिवी दर्शतं वपुः।''

८ ऋ० १.१३०.५. ''त्वं वृथा नद्य इन्द्र सर्तवेऽच्छा समुद्रमसृजो रथाँइव वाजयतो रथाँइव।''

९ ऋ० १.१५८.५. ''न मा गरन्नद्यो मातृतमा दासा यदीं सुसमुब्धमवाधुः।''

हैं। अतः, उदक चाहे अन्तरिक्ष में हो या फिर पृथिवी पर, वह उस पवित्र अग्नि के चारों ओर स्थित रहता है।[१] विश्वामित्र ऋषि के कथन के उत्तर में नदियाँ कहती हैं कि इस उदक से क्षेत्रों को सिञ्चित करती हुई हम देवता इन्द्र से निर्दिष्ट समुद्र की ओर प्रयाण कर रही हैं। उत्पत्ति के साथ प्रारम्भ हुई यह यात्रा रुकने के लिये नहीं है। फिर किस कारण से यह विप्र हम नदियों को रुकने के लिये आह्वान कर रहा है।[२] यजुर्वेद में गृत्समद ऋषि कहते हैं कि स्रोत सहित पाँच नदियाँ सरस्वती को प्राप्त होती हैं। पाँच प्रकार की सरस्वती देश में सरित् बन जाती है।[३] आपः देवता का वर्णन करता हुआ अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि सिन्धुपत्नी, सिन्धुराज्ञी तथा अन्य नदियाँ हमें भेषज प्रदान करें।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में वे उदक 'नद्यः' हैं, जो भूप्रदेशों के निम्नस्थान पर प्रवाहित होते हैं, ये उदक कलकलध्वनि के साथ समुद्र की ओर प्रयाण करते हैं, इन्द्र पर्वत के कुटिल स्थानों के समीप स्थित मधुर उदक वाली चार नदियों को जल से पूर्ण करता है, सप्त या सर्पणशील नदियाँ इन्द्र की कीर्ति को धारण करती हैं, इन्द्र विना प्रयास के ही समुद्र की ओर प्रवाहित होने के लिये नदियों को उत्पन्न करता है, माता के समान हितकारिणी नदियों से ऋषि निमज्जित न करने की प्रार्थना करता है, ये नदियाँ वडवानलरूप अग्नि को तृप्त करने के लिये समुद्र की ओर गमन करती हैं, समुद्र की ओर प्रयाण करती हुई ये उदक से क्षेत्रों को सींचती हैं, पाँच नदियाँ सरस्वती में समाहित होती हैं, यह पाँच प्रकार की सरस्वती सरित् अर्थात् सरणशील हो जाती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद में 'नद्यः' की दो विशेषताओं का उल्लेख प्राप्त होता है, प्रथम-ये शब्द करती हैं तथा द्वितीय-समुद्र की ओर प्रयाण करती हैं। लेकिन शब्द के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि नदी के 'नदी' नामकरण का आधार उसका कलकलध्वनि करना है, जबकि नदी का मूल स्वरूप कलकलध्वनि के साथ गमन करना है। इस प्रकार 'नद्' धातुमूलक निर्वचन ध्वनिरूप की दृष्टि से पूर्णतया तथा आर्थिक दृष्टि से आंशिकरूप से स्वीकार करने योग्य है। नदी के उक्त स्वरूप से परिचित होने के कारण अथर्ववेद 'अनदत्' क्रिया के साथ 'संप्रयती' क्रिया का भी उल्लेख करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद 'नदी' पद का मूल 'नद्' धातु को मानता है, जो तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा स्वीकार किये जाने योग्य है।

वैदिक साहित्य में नदीवाचक पदों में अर्थभिन्नता

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के त्रयोदश गण में निघण्टुकार ने सप्तत्रिंशत् नदीवाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

---

१ ऋ० २.३५.३. "समन्या यन्त्युप यन्त्यन्याः समानमूर्वं नद्यः पृणन्ति। तमू शुचिं शुचयो दीदिवासमपां नपातं परि तस्थुरापः।"

२ ऋ० ३.३३.४. "एना वयं पयसा पिन्वमाना अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः। न वर्तते प्रसवः सर्गतक्तः किंयुर्विप्रो नद्यो जोहवीति।"

३ यजु०, ३४.११. "पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः। सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत् सरित्।"

४ अथर्व०, ६.२४.३. "सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्य१ स्थन। दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहै।"

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	अवनिः नदीवाचक निघ०,१.१३.१.	समुद्र तक के मार्ग के क्षेत्रों को सिञ्चित करने वाली नदियाँ 'अवनिः' हैं।	'अव्' धातु से औणादिक 'अनि' प्रत्यय।
२.	यह्व्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२.	महती नदी	'यह्' धातु।
३.	यव्याः नदीवाचक निघ०,१.१३.२.	जिनमें धरातल निम्न होने के कारण अधिक मात्रा में जल बहता है, वे नदियाँ 'यव्याः' हैं।	'यु' मिश्रणे' धातु।
४.	खाः नदीवाचक निघ०,१.१३.३.	खननकर्म के द्वारा जिनका निर्माण होता है, वे नदियाँ 'खाः' हैं।	'खन्' धातु।
५.	सीराः नदीवाचक निघ०,१.१३.४.	जिसका प्रवाह अन्न को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता है, वह नदी वेद में 'सीराः' है।	'सृ' अथवा 'स्रु' धातु अथवा 'स+इरा'।
६.	स्रोत्याः नदीवाचक निघ०,१.१३.५.	जल से परिपूर्ण होकर प्रवाहित रहने के कारण नदियों को 'स्रोत्याः' कहा जाता है।	'स्रु' स्रवणे धातु।
७.	एन्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.६.	समतल प्रदेश में बहने वाली नदियाँ यात्रा करने योग्य होने के कारण 'एन्यः' कही जाती हैं।	'इण्' गतौ' धातु।
८.	धुनयः नदीवाचक निघ०,१.१३.७.	वेद की दृष्टि में पर्वत के उच्चशिखरों से भूमि पर अवतरित होती हुई नदी 'धुनिः' है। प्रपात प्रदेश में विकराल होने के कारण नदी दुस्तर होती है तथा उस समय इसमें कम्पन की भी अधिकता होती है।	कम्पनार्थक 'धू' या 'धु' धातु को 'धुनिः' पद का मूल माना जा सकता है।
९.	रुजानाः नदीवाचक निघ०,१.१३.८.	जो तटों को तोड़ती और पाषाणों को पीसती हुई प्रवाहित होती हैं, वे नदियाँ 'रुजानाः' हैं।	'रुज्' धातु।
१०.	वक्षणाः नदीवाचक निघ०,१.१३.९.	जिससे किसी एक स्थान पर स्थित जल शिल्प क्रिया से नदीरूप में परिणत होकर कृषकों के खेतों तक चला आता है, वेद में वे नहर 'वक्षणाः' हैं।	'वक्ष' रोषे' धातु।
११.	स्वादोअर्णाः नदीवाचक निघ०,१.१३.१०.	वेद में अप्रयुक्त होने के कारण अर्थ अस्पष्ट है।	निर्वचन अस्पष्ट।
१२.	रोधचक्राः नदीवाचक निघ०,१.१३.११.	धाराओं में बँधकर उदक समुद्र तक जाता है, सम्भवतः, इसकारण नदियों को 'रोधचक्राः' कहा जाता है।	'रुध+चक्र'।

१३.	हरितः नदीवाचक निघ०,१.१३.१२.	पालन करने के कारण इन्द्र का नाम हरि है। सम्भवतः, उक्त कर्म में सहायक होने के कारण नदियों को 'हरितः' कहा गया है।	'हृञ्' हरणे'।
१४.	सरितः नदीवाचक निघ०,१.१३.१३.	सहज और निर्मलरूप से प्रवाहित होने वाली नदियाँ 'सरितः' हैं।	'स्रु' धातु।
१५.	अग्रुवः नदीवाचक निघ०,१.१३.१४.	तटों का भक्षण करने वाली नदियाँ 'अग्रुवः हैं।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट। लेकिन 'अद्' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना है।
१६.	नभन्वः नदीवाचक निघ०,१.१३.१५.	वेद में नदी अर्थ में अप्रयुक्त है।	'नभ्' धातु।
१७.	वध्वः नदीवाचक निघ०,१.१३.१६.	वेद ने महती और अन्नादि को उत्पन्न करने वाली तथा जिनके पथ को विस्तृत और सुगम बनाया जाता है, ऐसी नदियों (नहरों) को 'वध्वः' नाम से सम्बोधित किया है। जिस प्रकार 'वधू' को लेकर आया जाता है, उसी प्रकार जिन नदियों को लाया जाता है, वे 'वध्वः' हैं।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'वह्' धातु को 'वध्वः' पद का मूल माना जा सकता है।
१८.	हिरण्यवर्णाः नदीवाचक निघ०,१.१३.१७.	जो हिरण्य के समान निर्मल वर्ण वाली एवं 'अपां नपात्' देव की कृपा से प्रवाहित होती हैं, वे नदियाँ 'हिरण्यवर्णाः' हैं।	'हिरण्य+वर्ण'।
१९.	रोहितः नदीवाचक निघ०,१.१३.१८.	वेद में नदी अर्थ में अप्रयुक्त है।	लोहित=रोहित। 'लुह्' धातु।
२०.	सस्रुतः नदीवाचक निघ०,१.१३.१९.	जिसमें अन्य नदियों के स्रोत आकर मिलते हैं, वे नदियाँ 'सस्रुतः' हैं।	'सह+'स्रु'।
२१.	अर्णाः नदीवाचक निघ०,१.१३.२०.	'अर्णाः' पद मुख्यरूप से उदक के लिये व्यवहृत हुआ है। सम्भवतः, तीव गति का अभिधान करने के लिये नदियों को 'अर्णाः' कहा गया है।	'ऋ' धातु।
२२.	सिन्धवः नदीवाचक निघ०,१.१३.२१.	तीव्रगति से पूरे वर्ष प्रवहमान नदियाँ वेद में 'सिन्धवः' हैं।	'स्यन्द्' धातु।
२३.	कुल्याः नदीवाचक निघ०,१.१३.२२.	जिसका अन्त महाह्रद में होता है, ऐसी नहर, नाले वाली जलधारायें वेद में 'कुल्याः' नाम से कही गयी हैं। इनका जल पितरों, जीवित, मृत, यज्ञिय आदि सभी को तृप्ति देता है।	अव्युत्पन्न।
२४.	ऋतावरीः नदीवाचक निघ०,१.१३.२३.	अथाह गहराई और तीव्र वेग के कारण नदी को 'ऋतावरीः' कहा जाता है।	'ऋ' धातु।

२५.	उर्व्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२४.	'उर्व्यः' पद वेद में अप्रयुक्त है। अतः, प्रमाण के अभाव में विशिष्ट स्वरूप निरुपित कर पाना सम्भव नहीं है।	'ऊर्ण्' से 'उरु' और उससे 'उर्वी'।
२६.	इरावत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२५.	वेद में नदी अर्थ में अप्रयुक्त है। वेद में सर्वत्र अन्नवाचक अर्थ में प्रयुक्त है।	'इर्' धातु।
२७.	पार्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२६.	वेद और वैदिक साहित्य में अप्रयुक्त है। कभी प्रयुक्त रहे होने की सम्भावना क्षीण है।	'पर्वत=पार्वती'।
२८.	स्रवन्त्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२७.	जिनके प्रवाह को वर्षा ऋतु में पार कर सकना सम्भव नहीं है और जो निरन्तर प्रवाहित रहती हैं, वेद में वे नदियाँ 'स्रवन्त्यः' हैं। इनकी सङ्ख्या वेद ने ९९ बतायी है।	'स्रु' धातु।
२९.	ऊर्जस्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२८.	वेद में नदीवाचक अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। वेद में यह पद प्रायः 'अन्नवती' और क्वचित् 'बलवती' अर्थ का वाचक है।	'ऊर्ज्' धातु।
३०.	पयस्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२९.	निःसन्दिग्ध रूप से यह पद नदी अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। वेद में द्यावापृथिवी को पयस्वती कहा गया है।	'पय्' धातु।
३१.	सरस्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.३०.	उदक की अधिकता और स्वादयुक्त होने के कारण नदी को 'सरस्वती' कहा गया है। सरसता के कारण इसका उक्त नामकरण हुआ प्रतीत होता है।	'रस' आस्वादने' धातु। आद्यन्तविपर्यय से 'सर्' और उससे 'सरस्वती'।
३२.	तरस्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.३१.	वेद और वैदिक साहित्य में 'तरस्वती' पद अप्रयुक्त है।	'तॄ' धातु।
३३.	हरस्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.३२.	नदी अर्थ में वेद में अप्रयुक्त है। वेद में यह पद उग्रता अर्थ का वाचक है।	'हृ' धातु।
३४.	रोधस्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.३३.	जिसके तटों का निर्माण मनुष्यों द्वारा किया जाता है, वे नदियाँ 'रोधस्वत्यः' हैं।	'रुध्' धातु।
३५.	भास्वती नदीवाचक निघ०,१.१३.३४.	वेद में नदी अर्थ में अप्रयुक्त है। लेकिन यह पद यहाँ 'दीप्तिमती' अर्थ का वाचक है।	'भा' या 'भास्' धातु।
३६.	अजिराः नदीवाचक निघ०,१.१३.३५.	वेद में नदीवाचक अर्थ में अप्रयुक्त है, लेकिन वेद में यह 'क्षिप्रवाची अर्थ में अवश्य प्रयुक्त है।	'अज्' धातु।
३७.	मातरः नदीवाचक निघ०,१.१३.३६.	माता जैसे चरित्र के कारण वेद में नदियों और उदकों को माता कहा गया है।	व्युत्पत्ति सन्दिग्ध। फिर भी कल्पित 'मा' आह्वये धातु।
३८.	नद्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.३७.	कलकलध्वनि के साथ प्रयाण करना नदियों की चरित्रगत विशेषता है।	'नद्' धातु।

उपर्युक्त वर्गीकृत विवेचन से स्पष्ट है कि ३७ नदीवाचक पदों में से निम्न पद वेद और वैदिक साहित्य के अध्ययन के आधार पर नदीवाचक नहीं माने जा सकते:-१. **नभन्वः**, २. **रोहितः**, ३. **इरावत्यः**,

४. पयस्वत्यः, **५. हरस्वत्यः**, **६. भास्वती**, **७. अजिराः**। इसके अतिरिक्त कुछ निम्नलिखित पद ऐसे भी उक्तगण में परिगणित हैं, जिनका वेद में सर्वथा प्रयोग उपलब्ध नहीं होता है:-**१. स्वादोअर्णाः**, **२. उर्व्यः**, **३. पार्वत्यः**, **४. ऊर्जस्वत्यः**, **५. तरस्वत्यः**। इस प्रकार सप्तत्रिंशत् नदीवाचक पदों में से १२ पद ऐसे हैं, जिनको आज नदीवाचक नहीं माना जा सकता।

निघण्टुकार ने नदीवाचक गण में ३७ नामपदों का परिगणन किया है। उक्तपदों में से निम्न पद नदीवाचक नहीं हैं:-**१. वक्षणाः**, **२. नभन्वः**, **३. रोहितः**, **४. उर्व्यः**, **५. इरावत्यः**, **६. पार्वत्यः**, **७. ऊर्जस्वत्यः**, **८. पयस्वत्यः**, **९. तरस्वत्यः**, **१०. हरस्वत्यः**, **११. भास्वत्यः**, **१२. अजिराः**। इसके अतिरिक्त कुछ पद ऐसे हैं कि निघण्टुकार ने उनका बहुवचन में प्रयोग किया है, जबकि वेद या वैदिक साहित्य में बहुवचनान्त उल्लेख नहीं हुआ है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि निघण्टुकार की परिगणन शैली सुगठित नहीं है। उसमें जहाँ एकरूपता का अभाव है वहाँ उसमें विना पर्याप्त कारणों के शब्द परिगणित कर लिये गये हैं।

दशम अध्याय

अश्ववाचक नामपद

निघण्टुकोष के अश्व वाचक गण में निघण्टुकार ने २६ नामपदों का परिगणन किया है। यहाँ हम उन पदों का क्रमशः विवेचन करने के लिये अग्रसर हो रहे हैं।

१. अत्यः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में सर्वप्रथम 'अत्यः' पद परिगणित है।[१] तैत्तिरीय-संहिता 'अत्यः' पद का निर्वचन करती हुई कहती है:-''**अत्योऽसीत्याह। तस्मादश्वः सर्वान् पशूनत्येति, तस्मादश्वः सर्वेषां पशूनाः श्रैष्ठ्यं गच्छति**''[२] कि अश्व को 'अत्यः' कहा जाता है। समस्त पशुओं को अतिक्रान्त कर देने के कारण अश्व को पशुओं में श्रेष्ठ माना जाता है। इस पक्ष में 'अति+'इ' धातु से 'अत्यः' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'अत्यः' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-''**अत्या अतनाः**''[३] कि गतिशील होने के कारण सूर्यरश्मियों को 'अत्याः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अत' सातत्यगमने' धातु से 'अत्यः' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् अश्व वाचक 'अत्यः' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-''**अत्यः (अश्वः)। 'अत' सातत्यगमने'। अतति गच्छति, गच्छत्यनेनास्वारोह इति वा**''[४] कि यह अश्व गमन करता है अथवा इस पर आरूढ़ होकर आरोही गमन करता है, अतः, अश्व को 'अत्यः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अत्' धातु से 'यत्' प्रत्यय होकर 'अत्यः' पद उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अत्यः' पद को सप्ति प्रभृति का (गमनशील, वेगवान् वाचक) विशेषण पद तथा अश्ववाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार 'अत्यः' पद 'अत्' धातु से व्युत्पन्न होता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उपर्युक्त कथन का समर्थन करती है।[६] मोनियर विलियम्स भी 'अत्' धातु को 'अत्यः' पद का मूल मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद पक्षी और अश्व अर्थ में आया है।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में 'at' गमन अर्थ में तथा लैटिन में 'atnos=annus' वर्ष अर्थ में है। अतः, वे उक्त यास्कीय निर्वचन को तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने योग्य मानते हैं।[८]

---

१ निघ०.१.१४.१.

२ तै०सं० ३.८.९.१. (तु०, शत०ब्रा०, १३.१.६.१.)

३ निरु० ४.१३.

४ निघ०वृ०, १.१४.१.

५ वै०पद०को०, पृ० ८६.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० १४.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १६.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क पृ० ४०.

वैदिक साहित्य में 'अत्यः' पद का प्रयोग व्यापक रूप से हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि पालन-पोषण करने वाला इन्द्र (सूर्य) भोगयोग्य प्रचुर उदक को ठीक उसी प्रकार ग्रहण करता है, जिस प्रकार अश्व भोग के लिये वडवा को।[१] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार अश्व इधर-उधर दौड़ता हुआ सुशोभित होता है, उसी प्रकार अग्नि की ज्वाला सर्वत्र विचरण करती हुई सुशोभित होती है या जिस प्रकार मेघ से प्रकट होने वाली विद्युत् गम्भीर गर्जना करती है, उसी प्रकार अग्नि दहन करता हुआ ध्वनि करता है।[२] शक्तिपुत्र पराशर ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार आरोही से प्रेषित किये जाने पर अश्व वध्य के समीप शीघ्र चला जाता है, उसी प्रकार अग्नि स्तोताओं द्वारा प्रेषित किये जाने पर शीघ्र वध करने के लिये जाता है या जिस प्रकार निम्न भूमि में प्रवहमान उदक को रोकना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार अग्नि के प्रहार को रोकना सम्भव नहीं है।[३] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार अश्व उत्तमसुख प्रदान करता है, उसी प्रकार बृहस्पति (विद्वान्) की वाणी पृथ्वी पर दिव्य व्यवहार उत्पन्न करती है, पूजनीय जनों का पालन करने वाला यह बृहस्पति उत्तमज्ञान का प्रदाता है।[४] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार शीघ्रगामी अश्व रथ को ले जाते हैं, उसी प्रकार दुःख निवारण एवं रक्षा के निमित्त इन्द्र (विद्युत्) का उपयोग किया जाता है।[५] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार अश्वारोही शिक्षा देने के लिये अश्व को ले जाते हैं, उसी प्रकार मरुत् वर्षा कराने के लिये मेघ को ले जाते हैं और गरजते हुए उस मेघ से अपरिमित उदक दुहते हैं।[६] सोमाहुति भार्गव ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार रथ के योग्य अश्व पूँछ के बालों को हिलाता है, उसी प्रकार ओषधियों को धारण करने वाला अग्नि अपनी ज्वाला को कम्पित करता है।[७] त्रित आप्त्य ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार सर्पणशील अश्व बिना श्रान्त हुए भागता रहता है, उसी प्रकार मित्र के समान अग्नि विना किसी हिंसा के गन्तव्य तक पहुँचा देता है।[८] यजुर्वेद में विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि अश्व के समान अग्नि वेग का सेवन, पृथ्वी स्थित अन्नादि के लिये हितकारी और विना कष्ट के वहन करके ले जाने वाला है।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह अश्व 'अत्यः' है, जो वडवा को पकड़ने के लिये आतुर है, अग्नि के समान यह अश्व इतस्ततः दौड़ता हुआ सुशोभित होता है तथा वध्य के समीप शीघ्र पहुँच जाता है, यह अश्व बृहस्पति (विद्वान्) के समान उत्तम सुख प्रदाता है, यह शीघ्रगामी अश्व रथ का वोढा है, इसको अश्वारोही शिक्षा देने के लिये ले जाते हैं, अग्नि की ज्वाला के समान अश्व की पुच्छ कम्पित होती है, यह विना श्रान्त हुए दूरदेश में ले जाने में समर्थ है। इसके अतिरिक्त यह सर्वदा वेग का सेवन करता है।

---

१ ऋ० १.५६.१. "एष प्र पूर्वीरव तस्य चम्रिषोऽत्यो न योषामुदयंस्त भुर्वणिः।"

२ ऋ० १.५८.२. "अत्यो न पृष्ठं प्रुषितस्य रोचते दिवो न सानु स्तनयन्नचिक्रदत्।"

३ ऋ० १.६५.३. "अत्यो नाज्मन्त्सर्गप्रतक्तः सिन्धुर्न क्षोदः क ईं वराते।"

४ ऋ० १.१९०.४. "अस्य श्लोको दिवीयते पृथिव्यामत्यो न यंसद्यक्षभृद्विचेताः।"

५ ऋ० १.५२.१. "अत्यं न वाजं हवनस्यदं रथमेन्द्रं ववृत्यामवसे सुवृक्तिभिः।"

६ ऋ० १.६४.६. "अत्यं न मिहे वि न यन्ति वाजिनमुत्सं दुहन्ति स्तनयन्तमुक्षितम्।"

७ ऋ० २.४.४. "वि यो भरिभ्रदोषधीषु जिह्वामत्यो न रथ्यो दोधवीति वारान्।"

८ ऋ० १०.६.२. "आ यो विवाय सख्या सखिभ्योऽपरिह्वृतो अत्यो न सप्तिः।"

९ यजु०, ३३.७५. "सोऽध्वराय परि णीयते कविरत्यो न वाजसातये चनोहितः।"

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कह सकते हैं कि जो अश्व अग्नि के समान सुख प्रदाता, गन्तव्य तक पहुँचाने वाला एवं सर्वदा सक्रिय रहता है, वह वेद की दृष्टि में 'अत्यः' है। उक्त विशेषताओं में भी वेद ने 'अत्यः' नामक अश्व की प्रमुख विशेषता निरन्तर गमनशीलता माना है, सम्भवतः, इस कारण उसे प्रायः सर्वत्र अग्नि के उपमान रूप में प्रस्तुत किया है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए निर्विवादरूप से 'अत्' धातु को 'अत्यः' पद का मूल मान सकते हैं।

२. हयः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में निघण्टुकार ने 'हयः' पद का परिगणन किया है।[१] शतपथ-ब्राह्मण 'हयः' पद का निर्वचन करता हुआ कहता है:-"**हयो भूत्वा देवानवहत**"[२] कि वह हय (अश्व) होकर देवताओं का वहन किया, अतः, अश्व को 'हयः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'वह्' से आद्यन्त- विपर्यय होकर 'हव' और उससे 'हयः' रूप उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् अश्व वाचक 'हयः' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-"**हयः (अश्वः)। 'हय' गतिविक्रान्ते'। हयति गच्छत्यध्वानं विक्रमते वा**"[३] कि यह मार्ग को पार अथवा युद्ध में पराक्रम करता है, अतः, अश्व को 'हयः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'हय्' धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर 'हयः' रूप बनता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'हयः' पद को 'हि' धातुमूलक अश्व वाचक नामपद मानता है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्त मत का समर्थन करती है।[५] मोनियर विलियम्स भी 'हयः' पद को 'हि' धातु से व्युत्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद अश्व अर्थ में आया है।[६]

वैदिक साहित्य में 'हयः' पद का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में प्रतिक्षत्र ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार प्रशिक्षित अश्व स्वयं कार्य में संलग्न हो जाता है, उसी प्रकार विद्वान् स्वयं पार लगाने एवं रक्षा करने वाली विद्या की प्राप्ति में लग जाता है।[७] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि हे अश्विनीदेवो! आप दोनों हवि देने एवं शुभ गुणों को धारण करने वाले यजमान के गृह पर अश्व से पधारकर अनुगृहीत करें। शीघ्रगामी अश्वों के द्वारा नेतृत्व करने वाले आप दोनों अश्विनीदेव हमें चाहते हुए हमारे घर पधारें।[८] सप्तर्षि पवमानदेवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मनुष्यों को सुख देने वाले एवं इन्द्रियों से युक्त अश्व बुद्धिमान् और द्रुतगति वाले होते हैं।[९] यजुर्वेद में प्रजापति ऋषि कहते हैं कि अग्नि वायु के समान व्यापक और समर्थ, अश्व के समान द्रुतगामी,

---

१ निघ० १.१४.२.

२ शत०ब्रा०, १०.६.४.१.

३ निघ०वृ०, १.१४.२.

४ वै०पद०को०, पृ० ३५७५.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ६१०.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२८८.

७ ऋ० ५.४६.१. "हयो न विद्वाँ अयुजि स्वयं धुरि तां वहामि प्रतरणीमवस्युवम्।"

८ ऋ० ७.७४.४. "अश्वासो ये वामुप दाशुषे गृहं युवां दीयन्ति बिभ्रतः। मक्षूयुभिर्नरा हयेभिरश्विना देवा यातमस्मयू।"

९ ऋ० ९.१०७.२५. "मरुत्वन्तो मत्सरा इन्द्रिया हया मेधामभि प्रयांसि च।"

प्रशिक्षित अश्व (हयः) के समान कुशल, अन्य सभी को अतिक्रान्त (अत्यः) तथा सुख प्रदान करने वाला है।[१] प्रजापति ऋषि एक अन्य मन्त्र में कहते हैं कि रश्मि से नियन्त्रित रथ कुशलता पूर्वक एवं रश्मि से संयत अश्व विशिष्ट क्रियाओं को करता हुआ चलता है। जल से उत्पन्न होने वाला वाष्प नियन्त्रित करने पर उपयोगी हो जाता है। इसी प्रकार सोम और ओषधियों वाला ब्रह्मा (विद्वान्) कुशल होता है।[२] ताण्ड्य-महाब्राह्मण कहता है कि हे अश्व! तुम हय हो।[३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह अश्व 'हयः' है, जो विद्वान् के समान प्रशिक्षित होता है, यह शीघ्रगामी अश्व अश्विनीदेवों को लेकर आता है, इनको ऋषि ने मेधावी और द्रुतगामी माना है, नियन्त्रित अग्नि को ऋषि 'हयः' नाम से पुकारता है, रश्मि से संयत अश्व विशिष्ट क्रियाओं को कुशलता पूर्वक करता है। उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम कह सकते हैं कि अश्वों में मेधासम्पन्न अश्व, जिसे प्रशिक्षित किया जाता है, 'हयः' है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए आर्थिक दृष्टि से उपर्युक्त में से किसी निर्वचन को युक्तिसङ्गत नहीं माना जा सकता। रूप की दृष्टि से 'हि' या 'हय्' धातु को समीचीन माना जा सकता है। यह सम्भव प्रतीत होता है कि इंग्लिश का 'horse' शब्द 'हयः' का विकसित रूप हो।

३. अर्वा

निघण्टुकोष के अश्ववाचक नामपदों में 'अर्वा' पद परिगणित है।[४] तैत्तिरीय-संहिता 'अर्वा' पद का निर्वचन करती हुई कहती है:-"**यच्छ्वयदरुरासीत्तस्मादर्वा नाम**"[५] कि यह वृद्धि को प्राप्त करता हुआ अरु हुआ, इसलिये यह 'अर्वा' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अरु' से 'अर्वा' पद उपपन्न होता है।

आचार्य यास्क 'अर्वा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**अर्वेरणवान्**"[६] कि प्रेरक होने से वायु (दधिक्रा=अश्व) को 'अर्वा' कहा जाता है। इस पक्ष में 'ईर्' धातु से 'अर्वा' पद उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् अश्व वाचक 'अर्वा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**अर्वा (अश्वः)। 'ऋ' गतिप्रापणयोः'। गच्छत्यध्वानं प्रापयत्यध्वनः पारमिति वा**"[७] कि यह मार्ग पर गमन करता है अथवा यह मार्ग से पार ले जाता है, अतः, अश्व को 'अर्वा' कहते हैं। इस पक्ष में 'ऋ' धातु से औणादिक 'वनिप्' प्रत्यय होकर 'अर्वा' रूप उपपन्न होता है। उणादिकोष में उक्त प्रकार से 'अर्वा' रूप सिद्ध किया जाता है।[८]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अर्वा' पद को क्षिप्रगामी वाचक अश्व तथा वाज प्रभृति शब्दों का

---

१ यजु०, २२.१९. "विभूर्मात्रा प्रभूः पित्राश्वोऽसि हयोऽस्यत्योऽसि मयोऽस्यर्वासि सप्तिरसि वाज्यसि वृषासि नृमणाऽअसि।"

२ यजु०, २३.१४. "सꣳशितो रश्मिना रथः सꣳशितो रश्मिना हयः। सꣳशितो अप्स्वप्सुजा ब्रह्मा सोमपुरोगवः।"

३ ता०ब्रा०, १.७.१. "(हे ऽश्व त्वं) हयोऽसि।"

४ निघ० १.१४.३.

५ तै०सं० ३.९.२१.२.

६ निरु० १०.३१.

७ निघ०वृ०, १.१४.३.

८ उणा०, ४.११४. "स्नामदिपद्यर्तिपृशकिभ्यो वनिप्।"

विशेषणपद मानता है। उसके अनुसार यह पद 'अर्' गतौ' या 'अर्व्'+वनिप्' से उपपन्न होता है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अर्वा' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स 'अर्वा' पद का मूल 'अर्व्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद भागने तथा शीघ्रता (अग्नि और इन्द्र को 'अर्वा' कहा गया है) अर्थ में आया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा शतपथ-ब्राह्मण में यह अश्व के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि यास्क ने 'अर्वा' पद को 'ईर्' धातु से व्युत्पन्न किया है, यह निर्वचन आदिम एवं भ्रान्तिपूर्ण है। उनके अनुसार भारोपीय भाषा में 'er' क्रियाशील तथा ग्रीक में 'ersei' तीव्र वेग से आगे बढ़ने के अर्थ में है। अतः, वे 'ऋ' धातु को 'अर्वा' पद का मूल मानते हैं।[४]

वैदिक साहित्य में 'अर्वा' पद का व्यापक प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! जिस प्रकार अश्व भागा चला आता है, उसी प्रकार तुम बैठने के लिये नियत किये गये स्थान पर आकर बैठ जाओ।[५] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि हे अश्व (अग्ने)! तुम्हारा जन्म सबके द्वारा स्तुतियोग्य है, क्योंकि तुम अन्तरिक्ष (समुद्र) या पुरीष (पूर्ण परमात्मा अथवा उदक) से उदित होते हुए सूर्य के समान प्रथम क्रन्दन करते हो। तुम्हारे श्येन के समान पङ्ख तथा हिरण के समान शक्तिशाली बाहू हैं।[६] कहने का आशय यह है कि 'अर्वा' नामक अश्व के श्येन के समान पक्ष (गति और शक्ति) तथा हिरण की भुजाओं के समान शक्तिशाली पाद होते हैं। इसी क्रम में आगे ऋषि कहता है कि तीन गूढ व्रतों का पालन करने के कारण वह अग्नि ही यम, आदित्य और अर्वा है।[७] ऋषि पुनः कहता है कि हे अर्वन्! तीन द्युलोक, तीन उदक और तीन अन्तरिक्ष के बन्धन हैं। हे वरणीय! अश्व तेरा इस प्रकार का यह जन्म उत्तम कहा जाता है।[८] सम्भवतः, ऋषि यहाँ 'त्रीणि' से स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की चर्चा कर रहा है। प्रस्तुत प्रकरण में आगे ऋषि कहता है कि हे अश्व! तेरे पीछे ही रथ, मनुष्य और कन्याओं का सौभाग्य चलता है। सत्यव्रत का पालन करने वाले विद्वज्जन इस अश्व (अग्नि) के साथ मित्रता और इसकी वीरता की स्तुति करते हैं।[९] इस क्रम को आगे बढ़ाता हुआ ऋषि कहता है कि हे अश्व! तुम्हारा शरीर व्यापनशील है, तुम्हारा चित्त वायु के समान गतिमान्, तुम्हारे शृङ्गस्थानीय तेज अनेक स्थानों में स्थित और तुम अरण्यों में वनस्पतियों का पालन करते हुए

---

१ वै०पद०को०, पृ० ५१३.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ५८.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९३.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क पृ० ११५.

५ ऋ० १.१०४.१. "योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि तमा नि षीद स्वानो नार्वा।"

६ ऋ० १.१६३.१. "यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्। श्येनस्य पक्षा हिरण्यस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन्।"

७ ऋ० १.१६३.३. "असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।"

८ ऋ० १.१६३.४. "त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे। उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन्यत्रा त आहुः परमं जनित्रम्।"

९ ऋ० १.१६३.८. "अनु त्वा रथो अनु मर्यो अर्वन्ननु गावोऽनु भगः कनीनाम्। अनु व्रातासस्तव सख्यमीयुरनुदेवा ममिरे वीर्यं ते।"

विचरण करते हो।[१] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार अश्व शत्रुओं के बल के पार चला जाता है, उसी प्रकार यह बलवान् इन्द्र सङ्ग्रामों में शत्रुओं के पार चला जाता है।[२] वामदेव ऋषि कहते हैं कि देवताओं से प्रेरित सुख देने वाले अग्नि से धन उत्पन्न होता है और उसीसे अर्वा उत्पन्न होता है।[३] तैत्तिरीय-संहिता एवं शतपथ-ब्राह्मण का मत है कि अर्वा असुरों का वहन करके ले जाता है।[४] शतपथ-ब्राह्मण पुरुषों को अर्वावान् कहता है।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह अश्व 'अर्वा' है, जो हिनहिनाता हुआ भागा चला आता है, जिसके श्येन के समान पक्ष अर्थात् गति तथा हिरण के समान शक्तिशाली भुजायें हैं, वह अग्नि के समान स्फूर्तियुक्त है, अर्वा का जन्म वरणीय कहा गया है, रथ, मनुष्य, गायें और कन्याओं का सौन्दर्य अर्वा का अनुसरण करता है अर्थात् अर्वा के कारण ये सब अपनी यात्रा निर्विघ्न पूर्ण करते हैं, अर्वा का शरीर व्यापनशील, चित्त वायु के समान चञ्चल शृङ्गस्थानीय तेज अनेक स्थानों पर स्थित है। सम्भवतः, ऋषि का सङ्केत अग्नि की ओर है। इसके अतिरिक्त अर्वा शत्रुओं के पार ले जाता है तथा यह अग्नि से उत्पन्न होता है। उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि 'अर्वा' का सम्बन्ध अग्नि के साथ है और अग्नि तथा गति का विशेष सम्बन्ध है। वेद उसे अग्नि से उत्पन्न होने वाला बतलाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह अश्व 'अर्वा' है, जो अग्नि के समान गति से मार्ग को पार कर जाता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'ऋ' धातु को 'अर्वा' पद का मूल माना जा सकता है।

४. वाजी

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'वाजी' पद परिगणित है।[६] तैत्तिरीय-संहिता 'वाजी' पद का निर्वचन करती हुई कहती है:-"**यत्सद्यो वाजान्त्समजयत्। तस्मात् वाजी नाम**"[७] कि वाजों को जीतने के कारण अश्व को 'वाजी' कहा जाता है। इस पक्ष में 'जि' धातु से 'वाजी' पद उपपन्न होता है।

आचार्य यास्क 'वाजी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**वाजी वेजनवान्**"[८] कि दूसरों को भय प्रदान करने अथवा चलने वाला होने से अश्व को 'वाजी' कहा जाता है।[९] इस पक्ष में भय और चलन अर्थ वाली 'विज्' धातु से 'वाजी' रूप निष्पन्न होता है।

---

१ ऋ० १.१६३.११. "तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन्तव चित्तं वातइव ध्रजीमान्। तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति।"

२ ऋ० ३.४९.३. "सहावा पृत्सु तरणिर्नार्वा व्यानशी रोदसी मेहनावान्।"

३ ऋ० ४.११.४. "त्वद्रयिर्देवजूतो मयोभुस्त्वदाशुर्जूजुवाँ अग्ने अर्वा।"

४ तै०सं० ७.५.२५.३. शत०ब्रा०, १०.६.४.१. "अर्वाऽसुरान् (अवहत्)।"

५ शत०ब्रा०, ३.३.४.७. "पुमाꣳसोऽर्वन्तः।"

६ निघ० १.१४.४.

७ तै०सं० ३.९.२१.२.

८ निरु० २.२८, ३.३.

९ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, २.२८. पृ० १९९.

'वाजी' पद का एक अन्य निर्वचन करते हुए यास्क कहते हैं:-"**वाजिनेषु, वाग्यज्ञेषु**"[१] कि वाग्यज्ञों अर्थात् वाणी के व्यवहार या प्रयोग में जो कुशल होते हैं, वे यास्क की दृष्टि में 'वाजी' हैं। इस पक्ष में 'वाच्+यज्ञ' से 'वाजिन्' रूप निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् अश्ववाचक 'वाजी' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-"**वाजी (अश्वः)। 'वज' गतौ'। वाजो वेगः। वाजोऽस्यास्तीति वाजी**"[२] कि 'वाज' का अर्थ 'वेग' है। जो वाज (वेग) से युक्त है, वह 'वाजी' है। इस पक्ष में 'वज्'+घञ्+=वाज, वाज+इनि=वाजिन्' इस प्रकार 'वाजी' पद निष्पन्न होता है।

(ख)"यद्वा, वाजोऽन्नं, देवतात्वे हविर्लक्षणेन, अश्वजातीयत्वे तज्ञात्युचितमुद्गाद्यन्नेन तद्वान्"[३] कि 'वाज' का अर्थ 'अन्न' है। देवता होने से जाति के अनुरूप अश्व को मुद्ग आदि अन्न की हवि दी जाती है, अतः, अन्न (वाज) को प्राप्त करने के कारण अश्व को 'वाजी' कहा जाता है।

(ग)"यद्वा, वाजाः पक्षाः अभूवन्नस्येति वाजी इति क्षीरस्वामी"[४] कि 'वाज' का अर्थ 'पक्ष' होता है। पक्षयुक्त होने के कारण अश्वों को 'वाजी' कहा जाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

(घ)"यद्वा, 'ओविजी' भयचलनयोः'(रु०प०२२)। वेजनवान् वा। वेजनं कम्पनं कम्पितः स्वयं कम्पयिता वा परेषामित्यर्थः"[५] कि स्वयं काँपता है तथा आरोह या शत्रुओं को कँपाता है, अतः, अश्व को 'वाजी' कहा जाता है। इस पक्ष में 'विज्' धातु से पृषोदरादि नियम से 'वाजी' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वाजी' पद को वाजवत् वाचक विशेषण तथा अश्व वाचक नामपद मानता है। कोशकार के मत में उक्तपद अव्युत्पन्न है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स 'वाजी' पद का मूल 'वज्' धातु को मानते हैं तथा वे 'वाजी' की तुलना 'वज्र' और 'ओजस्' से करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह शब्द साहसपूर्ण, वीर, योद्धा आदि अर्थ में है। ऋग्वेद, तैत्तिरीय-संहिता तथा अन्य ब्राह्मणग्रन्थों में यह पद युद्ध का रथ, प्रजननशील, शक्तिशाली अर्थ में है। इसके अतिरिक्त यह मनुस्मृति तथा महाभारत में अश्व अर्थ में भी पाया जाता है।[८] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि यास्कीय निर्वचन स्वर की दृष्टि से शिथिल है। इसका काररण यह है कि भारोपीय भाषा में 'ueg' सक्रिय या शक्तिशाली होना अर्थ में तथा अवेस्ता में 'vazra' मिथ्र के शस्त्र अर्थ में है। इसलिये वे उक्तपद की सम्भावित धातु 'वज्' मानते हैं।[९] वेद से प्राप्त सङ्केत 'वाजी' को 'वज्' धातुमूलक सिद्ध करते हैं।[१०]

---

१ निरु० १.२०.
२ निघ०वृ०, १.१४.४.
३ निघ०वृ०, १.१४.४.
४ निघ०वृ०, १.१४.४.
५ निघ०वृ०, १.१४.४.
६ वै०पद०को०, पृ० २८१५.
७ ऋ०वै०पद०, पृ० ४७३.
८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९३८.
९ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क पृ० १०८.
१० ऋ० १.४.९०. "तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः।ऋ० ३.६०.७. "इन्द्र ऋभुभिर्वाजिभिर्वाजयन्निह।"

वैदिक साहित्य में 'वाजी' पद का व्यापक प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में पराशर ऋषि कहते हैं कि वह विद्वान् अग्नि के समान तेजस्वी, ऋषि के समान स्तुतियोग्य, मनुष्यों में प्रसिद्ध, अश्व के समान कमनीय और दीर्घायु धारण करता है।[१] एक अन्य सूक्त में पराशर ऋषि कहते हैं कि वह अग्नि के समान गृह में उत्पन्न, पुत्र के समान रमणीय, अश्व के समान तृप्ति देने वाला है, वह प्रजाओं को दुःखों से मुक्ति दिलाता है।[२] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि अश्विनीदेवों के द्वारा दिया गया दान महनीय कीर्ति देने वाला, आवागमन (यात्रा) करने वाले (पैद्वः) का साधन वह वाजी सर्वदा स्वामी (अर्य) को ले जाने वाला होता है।[३] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि कुशल पुरुष शीघ्र व्याप्त होने वाले अश्व के साथ इस दिव्यगुणों में उत्तम पुष्टिभागरूप छाग को पहले पहुँचाते हैं।[४] आगे वे कहते हैं कि अश्व की ग्रीवा, पाद और सिर पर बाँधने वाली रज्जु तथा इसके मुख में अच्छी प्रकार से ग्रहण की गयी तृणादि घास- ये सब पदार्थ देवत्व को प्राप्त करें।[५] इसी क्रम में ऋषि कहता है कि जो पूर्ण लक्षण वाले अश्व की पहिचान जानते हैं और जो इस अश्वविद्या को प्राप्त करने के लिये कहते हैं और जो इस विद्या में कुशल अश्व के मांस की कमी को दूर करने की विद्या सीखते हैं, इन सबका यह प्रयास सफलता को प्राप्त हो।[६] यान्त्रिक वाजी का उल्लेख करता हुआ ऋषि कहता है कि देवताओं को प्रिय, शीघ्र व्याप्त होने वाले वाजी की ३४ प्रकार की टेढ़ी-मेढ़ी गति होती है और यह वाजी स्फूर्ति (स्वधितिः) से युक्त होता है। प्रत्येक अवयव (परुष्परु) पर अनुकूल शब्द प्रकट करके विज्ञान (वयुन) से उसके गात्र (शरीर) को छिद्ररहित बनाओ।[७] इस सूक्त का उपसंहार करने से पूर्व ऋषि कहता है कि इस पर बैठकर यात्रा करने से न तो यह वाजी (यान) नष्ट होता है और न इस पर बैठने वाला मरता है। यह देवों (वैज्ञानिकों) के पथ को सुगम बनाता है। तुमको ले जाने वाले ये अश्व (हरी) सिञ्चन करने वाले जल से समर्थ होते हैं। इनके शब्द करने वाले भाग के अग्रिम स्थान पर वाजी स्थित होता है।[८] सूक्त के अन्तिम मन्त्र में ऋषि कहता है कि यह वाजी हमें सुन्दर प्रकार और शीघ्रता से ले जाने वाला हो तथा यह हमारे पुरुषों, पुत्रों और समस्त अन्य पदार्थों को पुष्ट करने वाला धन उत्पन्न करके दे।[९] तैत्तिरीय-संहिता कहती

---

१ ऋ० १.६६.२. ''ऋषिर्न स्तुभ्वा विक्षु प्रशस्तो वाजी न प्रीतो वयो दधाति।''

२ ऋ० १.६९.३. ''पुत्रो न जातो रण्वो दुरोणे वाजी न प्रीतो विशो वि तारीत्।''

३ ऋ० १.११६.६. ''तद्वां दात्रं महि कीर्तेन्यं भूत्पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः।''

४ ऋ० १.१६२.३. ''एष छागः पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः।''

५ ऋ० १.१६२.८. ''यद्वाजिनो दाम संदानमर्वतो या शीर्षण्या रशना रज्जुरस्य। यद्वा घास्य प्रभृतमास्ये३ तृणं सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु।''

६ ऋ० १.१६२.१२. ''ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति। ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु।'''

७ ऋ० १.१६२.१८. ''चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रीरश्वस्य स्वधितिः समेति। अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परुष्परुरनुघुष्या वि शस्त।''

८ ऋ० १.१६२.२१. ''न वा एतन्म्रियसे न रिष्यति देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः। हरी ते युञ्जा पृषती अभूतामुपस्थाद्वाजी धुरि रासभस्य।''

९ ऋ० १.१६२.२२. ''सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुंसः पुत्राँ उत विश्वापुषं रयिम्।''

है कि अग्नि, वायु और सूर्य ये सब वाजी हैं।[१] ऐतरेय-ब्राह्मण तार्क्ष्य को वाजी कहता है।[२] गोपथ तथा कौषीतकि-ब्राह्मण देवों के अश्व को वाजी कहते हैं।[३] जैमिनीय-ब्राह्मण अन्न को अच्छी प्रकार धारण करने वाले गौ, अश्व और पुरुष को वाजी नाम से अभिहित करता है।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह अश्व 'वाजी' है, जो अग्नि के समान कमनीय (प्रीतः) है, इसे ऋषि अग्नि के समान तृप्ति (प्रीतः) देने वाला बतलाता है, यह वाजी स्वामी को सर्वदा सुखपूर्वक ले जाता है, वाजी की ग्रीवा, पाद, सिर और मुखादि में रज्जु का प्रयोग किया जाता है, अश्वविद्या विशेषज्ञ अश्वलक्षण के ज्ञाता होते हैं, यह वाजी ३४ प्रकार की कुटिल गतियों को जानता है, स्पर्श करने पर इसके अवयवों से अनुकूल ध्वनि होती है तथा इसके गात्रों को छिद्ररहित बनाया जाता है, इस पर यात्रा करने से न तो यह मरता है और न आरोही की मृत्यु होती है, बल्कि इससे यात्रा अतीव सुगम हो जाती है एवं इसके अश्व सिञ्चन करने वाले जल से युक्त होते हैं। उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कह सकते हैं कि वेद के उपर्युक्त वर्णित अश्वदेवता वाचक सूक्त में दो प्रकार के वाजियों का उल्लेख देखने को मिलता है। एक वाजी प्राणी है, जबकि दूसरा यान्त्रिक वाजी प्रतीत होता है। जहाँ ऋषि सूक्त के आरम्भ के कुछ मन्त्रों में प्रथम का उल्लेख कर रहा है, वहीं अन्तिम कुछ मन्त्र यान्त्रिक वाजी का वर्णन कर रहे प्रतीत होते हैं। जहाँ तक प्राणी वाचक अश्व को 'वाजी' कहने का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि अश्व के उक्त नामकरण का आधार 'बल' है। अन्य पशुओं की अपेक्षा बलवान् या युद्ध में बल का प्रदर्शन करने के कारण विशिष्ट अश्व को 'वाजी' कहा जाता होगा। यह सम्भवतः, किसी स्थान विशेष के अश्व का अभिधान रहा हो सकता है। वाजी नामकरण के मूल में यान्त्रिक अश्व का अत्यधिक बलवान् होना कारण रहा प्रतीत होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वाजी नामकरण का आधार 'बल' है। आयुर्वेद में बलवर्द्धक ओषधियों के द्वारा वाजीकरण (वीर्य को पुष्ट करने वाली ओषधियों का) का विधान है। वैदिक साहित्य में इन्द्र का आयुध भी अपनी विशिष्ट शक्ति के कारण 'वज्' धातुमूलक 'वज्र' नामपद से अभिहित होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए बल अर्थ वाली 'वज्' धातु को 'वाजी' पद का मूल माना जा सकता है। लेकिन पाणिनीय धातुपाठ में बल अर्थ वाली 'वज्' धातु नहीं है, परन्तु वेद में 'वज्' धातु से निष्पन्न क्रियापदों और नामपदों का उल्लेख देखा जा सकता है।[५]

५. सप्तिः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'सप्तिः' पद परिगणित है।[६] आचार्य यास्क 'सप्तिः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**सप्तेः सरणस्य**''[७] कि सरणशील होने से अश्व को 'सप्तिः' कहा जाता है। इस

---

१ तै०सं० १.६.३.९. ''अग्निर्वायुः सूर्य्यः। ते वै वाजिनः।''

२ ऐ०ब्रा०, ४.२०. ''एष (तार्क्ष्यः) वै वाजी देवजूतः।''

३ गो०ब्रा०, २.१.२०. कौ०ब्रा०, ५.२. ''देवाश्वा वै वाजिनः।''

४ जै०ब्रा०, ३.२९९. ''यदा वै गौरश्वः पुरुषोऽन्नस्य सुहितो भवत्यथ स वाजी भवति।''

५ ऋ० १.४.९०. ''तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः।ऋ० ३.६०.७. ''इन्द्र ऋभुभिर्वाजिभिर्वाजयन्निह।''

६ निघ० १.१४.५.

७ निरु० ९.३.

पक्ष में 'सृ' गतौ' धातु से 'सप्तिः' पद उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् अश्ववाचक 'सप्तिः' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**सप्तिः (अश्वः)। 'षप' समवाये'। सपति सङ्ग्रामेषु सहसामेवैति**''[१] कि यह सङ्ग्रामों में सहसा ही पहुँच जाता है, अतः, अश्व को 'सप्तिः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सप्' धातु से औणादिक 'तिप्' प्रत्यय होकर 'सप्तिः' रूप निष्पन्न होता है।

(ख)''यद्वा, 'सृप' गतौ'। सर्पति सप्तिः''[२] कि सर्पणशील होने के कारण अश्व को 'सप्तिः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सृप्' धातु से औणादिक 'तिप्' प्रत्यय होकर 'सप्तिः' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सप्तिः' पद को मरुत् का आशुगतिमान् वाचक विशेषण, अश्ववाचक नामपद तथा वेगवाचक भावपद मानता है। कोशकार के मत में उक्तपद अव्युत्पन्न है। अमरकोषीय भानुदीक्षितवृत्ति तथा पेटरसन उक्तपद को 'सप्' गतिदीप्त्योः' धातु से व्युत्पन्न करते हैं, जबकि वेङ्कट प्रभृति विद्वान् 'सृप्' गतौ' धातु से निष्पन्न करने के पक्ष में हैं।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स कहते हैं कि सम्भवतः, 'सप्तिः' पद का सम्बन्ध 'सप्' धातु से है। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद अश्व अर्थ में प्रयुक्त है।[५]

वैदिक साहित्य में 'सप्तिः' पद का उल्लेख अनेकशः देखने को मिलता है। ऋग्वेद में प्रस्कण्व ऋषि अश्विनीदेवों से निवेदन करते हैं कि वे अध्वर (अन्तरिक्ष) का आश्रय करने वाले अश्वों से सवन में आयें।[६] देवातिथि ऋषि भी इन्द्र के सम्बन्ध में इसी प्रकार का वक्तव्य देते हैं।[७] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार जाने की इच्छा से अश्व के सामने चारा डाला जाता है, उसी प्रकार मैं अन्न की इच्छा से इस इन्द्र के लिये स्तुतिरूप मन्त्र को प्रस्तुत करता हूँ।[८] दीर्घतमस् ऋषि अश्व देवता के प्रकरण में देवों (विद्वानों) के द्वारा उत्पन्न, बलवान् सप्ति नामक अश्व के सङ्ग्राम में किये गये पराक्रमों का वर्णन करते हैं।[९] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार बल की कामना वाला अन्न की इच्छा से कर्म में लिप्त होता है, उसी प्रकार रथ की कामना वाला अश्व की इच्छा से कर्म करता है।[१०] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि मैं बहुतों के द्वारा बुलाये जाने वाले इन्द्र के शीघ्रगामी रथ में आहरण करने वाले अश्व को धुरभागों में जोड़ता हूँ।[११] नारद ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! सूर्य के उदित होने पर प्रातःसवन तथा दिवस के मध्यभाग माध्यन्दिन सवन में मैं तुम्हारा आह्वान करता

---

१ निघ०वृ०, १.१४.५.

२ निघ०वृ०, १.१४.५.

३ वै०पद०को०, पृ० ३२७४.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ५५२.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ११५०.

६ ऋ० १.४७.८. ''अर्वाञ्चा वां सप्तयोऽध्वरश्रियो वहन्तु सवनेदुप।''

७ ऋ० ८.४.१४. ''अर्वाञ्चं त्वा सप्तयोऽध्वरश्रियो वहन्तु सवनेदुप।''

८ ऋ० १.६१.५. ''अस्मा इदु सप्तिमिव श्रवस्येन्द्रायार्कं जुह्वा३ समञ्जे।''

९ ऋ० १.१६२.१. ''यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि।''

१० ऋ० २.३१.७. ''श्रवस्यवो वाजं चकानाः सप्तिर्न रथ्यो अह धीतिमश्याः।''

११ ऋ० ३.३५.२. ''उपाजिरा पुरुहूताय सप्ती हरी रथस्य धूर्ष्वा युनज्मि।''

हूँ। हे इन्द्र! प्रसन्न होते हुए सप्ति नामक अश्वों से हमारे यज्ञ में आओ।[१] असित काश्यप ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार अश्व रथ में स्थित होते हैं, उसी प्रकार पवित्र होता हुआ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड परमात्मा में निवास करता है।[२] सप्ति ऋषि कहते हैं कि बल को धारण करने वाला अग्नि सप्ति (अश्व) तथा वही वीर, यशस्वी और कर्मनिष्ठ पुत्र को प्रदान करता है।[३] हे मरुतो (मनुष्यो)! तुमको शीघ्रगामी अश्व सब ओर ले जायें और तुम भुजाओं (शिल्पकौशल) के बल से तीव्रता से आगे बढ़ो।[४] यजुर्वेद में प्रजापति ऋषि अग्नि को वायु के समान व्यापक और समर्थ, अश्व के समान द्रुतगामी, प्रशिक्षित अश्व (हयः) के समान कुशल, अन्य सभी को अतिक्रान्त करने वाला (अत्यः), सुख प्रदान करने वाला, सुखस्वरूप और सप्ति कहते हैं।[५] इसी क्रम में आगे ऋषि राष्ट्र की समृद्धि की कामना करता हुआ कहता है कि राष्ट्र में दूध देने वाली गाय, भारवहन करने में समर्थ अनड्वान्, शीघ्रगामी अश्व, बहुतों का पालन करने वाली स्त्री, शत्रुओं को जीतने वाला रथी एवं सभ्य युवा उत्पन्न हों।[६] तैत्तिरीय-संहिता आशु (शीघ्रता या अश्व) को सप्ति बतलाती है।[७] तैत्तिरीय-ब्राह्मण आशु को ही सप्ति कहता है। अश्व ही वेग से दौड़ता है। इस कारण पुराकाल में आशु ही सप्ति (अश्व) हो गया।[८] शतपथ-ब्राह्मण वायु को आशु कहता है। उसके अनुसार यह आशु त्रिवृत् है, क्योंकि यह तीनों लोकों में वर्तमान है।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह अश्व 'सप्तिः' है, जो अध्वर (अन्तरिक्ष) का आश्रय लेता है, जिस प्रकार इन्द्र को बुलाने के लिये स्तुति प्रस्तुत की जाती है, उसी प्रकार अश्व को बुलाने के लिये चारा डाला जाता है, ऋषि इस सप्ति नामक अश्व को देवों से उत्पन्न बतलाता है, रथी इस अश्व की कामना करता है, यह अश्व रथ के धुरभागों में जोड़ा जाता है, इन्द्र सप्ति नामक अश्वों से प्रातः और माध्यन्दिन सवनों में पहुँचता है, ये अश्व रथ में स्थित होते हैं, इस अश्व की उत्पत्ति अग्नि से होती है, मनुष्यों को शीघ्रगामी अश्व सब ओर ले जाते हैं, यजुर्वेद अग्नि को ही हयः, अत्यः, सप्तिः और वाजी कहता है। इसके अतिरिक्त ऋषि राष्ट्र को दोग्ध्री गो, वोढा अनड्वान् के समान 'आशुः सप्तिः' (शीघ्रगामी अश्व) से युक्त होने वाला बतलाता है। ब्राह्मणग्रन्थ आशु को ही सप्ति कहने लगे। उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कह सकते हैं कि सप्ति नामक अश्व की मुख्य विशेषता आशुत्व है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए सर्पण अर्थ वाली 'सृप्' धातु को 'सप्तिः' पद का मूल माना जा सकता है। सर्प की सर्पणशीलता के समान जो सरपट दौड़ता है, वेद

---

१ ऋ० ८.१३.१३. "हवे त्वा सूर उदिते हवे मध्यंदिने दिवः। जुषाण इन्द्र सप्तिभिर्न आ गहि।"

२ ऋ० ९.२१.४. "एते विश्वानि वार्या पवमानास आशत। हिता न सप्तयो रथे।"

३ ऋ० १०.८०.१. "अग्निः सप्तिं वाजंभरं ददात्यग्निर्वीरं श्रुत्यं कर्मनिष्ठाम्।"

४ अथर्व०, २.१३.२. "आ वो वहन्तु सातयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः।"

५ यजु०, २२.१९. "विभूर्मात्रा प्रभूः पित्राश्वोऽसि हयोऽस्यत्योऽसि मयोऽस्यर्वासि सप्तिरसि वाज्यसि वृषासि नृमणाऽअसि।"

६ यजु०, २२.२२. "दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्।"

७ तै०सं० ७.५.१८.१. "आशुः सप्तिः (आजायताम्)।"

८ तै०ब्रा०, ३.८.१३.२. "आशुः सप्तिरित्याह। अश्व एव जवं दधाति। तस्मात्पुराशुरश्वोऽजायत।"

९ शत०ब्रा०, ८.४.१.९. "वायुर्वाऽआशुस्त्रिवृत्। स एषु त्रिषु लोकेषु वर्तते।"

के ऋषि की दृष्टि में वह अश्व 'सप्तिः' है। सम्भवतः, हिन्दी भाषा के 'सरपट' शब्द के साथ 'सप्तिः' पद का सम्बन्ध है। 'सृप्तिः' शब्द ही कालान्तर में 'सप्तिः' और 'सरपट' कहा जाने लगा होगा। उक्त वैशिष्ट्य जिस अश्व में पाया जाता है, वह 'सप्तिः' है।

६. वह्निः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'वह्निः' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क 'वह्निः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**वह्नयो वोढारः**"[२] कि वहन करने के कारण अग्नि को 'वह्निः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'वह्' धातु से 'वह्निः' पद निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् अश्ववाचक 'वह्निः' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-"**वह्निः (अश्वः)। 'वह' प्रापणे**"[३] कि जो एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाता है, वह अश्व 'वह्निः' है। इस पक्ष में 'वह्' धातु से औणादिक 'नि' प्रत्यय करके 'वह्निः' रूप उपपन्न होता है। उक्त व्युत्पत्ति का उणादिकोष से समर्थन हो जाता है।[४]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'वह्निः' पद को वाहक अर्थ का विशेषण तथा अश्व, सोम, अग्नि, भर्तृ, देवसामान्य पदों का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार 'वह्निः' पद का मूल 'वह्' धातु है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्त मत का समर्थन करती है।[६] मोनियर विलियम्स भी 'वह्निः' पद को 'वह्' धातुमूलक मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद, वाजसनेयि-संहिता एवं तैत्तिरीय-ब्राह्मण में 'वह्निः' शब्द आहरण या वहन करने वाले पशु, शुष्क क्षेत्रीय पशु, अश्व, हल या गाड़ी में योजित किये जाने वाले पशुओं की जोड़ी के लिये आया है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में जो कोई एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाता है अथवा इन्द्र, अग्नि, सवितृ और मरुत् को ले जाता है या देवताओं तक हवि पहुँचाने का कार्य करता है, वह 'वह्निः' है। इसके अतिरिक्त सोम को भी 'वह्निः' कहा गया है।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में 'uegh' तथा लैटिन में 'veho' ले जाना अर्थ में है। अतः, यास्कीय निर्वचन के तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार किये जाने की सम्भावना है।[८] वेद से प्राप्त अनेक सङ्केत 'वह्निः' पद का मूल 'वह्' धातु मानते हैं।[९]

---

१ निघ० १.१४.६.

२ निरु० ८.३.

३ निघ०वृ०, १.१४.६.

४ उणा०, ४.५२. "वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्।"

५ वै०पद०को०, पृ० २७९५.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ४६९.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९३३.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क पृ० २३५.

९ ऋ० १.१४.६. "घृतपृष्ठा मनोयुजो ये त्वा वहन्ति वह्नयः।" ऋ० ८.३.२३. "प्रति धुरं वहन्ति वह्नयः।" ऋ० ९.९.६. "अभि वह्निरमर्त्यः सप्त पश्यति वावहिः।" ऋ० १३.३.१९. "अष्टधा युक्तो वहति वह्निः।" यजु०, २९.३.

वैदिक साहित्य में 'वह्निः' पद का अनेकशः उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि घृतपृष्ठ (जिनके आधार में जल है) तथा मन से संयुक्त होकर चलने वाले ये अश्व देवों को सोमपान कराने के लिये लेकर आयें।[१] एक अन्य मन्त्र में मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि ऋभुगण वह्नियों को धारण (पालन) और शुभकर्म के द्वारा देवताओं में निवास करते हुए यज्ञ से सिद्ध होने वाले आनन्द को प्राप्त करते हैं।[२] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि अतिशीघ्रगामी अश्व ब्रह्मणस्पति के अनुशासन का श्रवण करते हैं, इसलिये सभ्य और मेधावी जन मननीय स्तोत्र के द्वारा ब्रह्मणस्पति की स्तुति करते हैं।[३] भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि इन्द्र और पूषा में से एक (पूषा) का वाहक अश्व छाग है, जबकि दूसरे (इन्द्र) का सम्यक्रूप से पोषित हरी (अश्व) वाहक हैं। इन्द्र इन दोनों से वृत्र का वध करता है।[४] मेध्यातिथि ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार सूर्य किरणें सूर्य में जल परमाणुओं को धारण करती हैं, उसी प्रकार अन्य दस अश्व रथ के धुर को धारण करते हैं।[५] पूतदक्ष ऋषि कहते हैं कि ऐश्वर्यवान् मरुतों (मनुष्यों) की माता पृथिवी अन्न की इच्छा से स्वयं का दोहन और वडवा मनुष्यों के रथ को संयोजित करती है।[६] बुध सौम्य ऋषि कहते हैं कि हे अध्वर्यो! इस हरितवर्ण सोम को द्रोणकलश में सिक्त करो। हे पात्र निर्माण करने वाले शिल्पियो! आप पाषाणमयी वसूलियों (वाशीभिः) से इस पात्र का निर्माण करो। दश कलशों में भरे सोम को क्रमशः संस्कृत करो और धुरों के वाहक बैलों को जोड़ो।[७] अग्रिम मन्त्र में पुनः ऋषि कहता है कि दोनों गाड़ी के धुरों से शब्द करता हुआ वह्नि (बैल) आकाश के मध्य में उड़ने वाले पक्षी की भाँति चलता है।[८] यजुर्वेद में आदित्य ऋषि कृषीवल देवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हम सुख के लिये सुरभि की सन्तान अनड्वाह का अनुकूल उपयोग करें। जिस प्रकार देवों को इन्द्र पार पहुँचाता है, उसी प्रकार वह हमें पार पहुँचाये।[९] तैत्तिरीय-संहिता एवं तैत्तिरीय-ब्राह्मण का मत है कि अनड्वान् (बैल) ही वह्नि है।[१०]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह अश्व 'वह्निः' है, जिसके आधार में जल तथा जो चालक के मन के अनुसार चलता है, ऋभुगण इन वह्नियों (अश्वों) को धारण (पालन) करते हैं, अतिशीघ्रगामी ये अश्व ब्रह्मणस्पति के अनुशासन का पालन करते हैं, पूषा के वाहन को ऋषि 'वह्नि' तथा इन्द्र

वह्निं वहतु जातवेदाः।''

१ ऋ० १.१४.६. ''घृतपृष्ठा मनोयुजो ये त्वा वहन्ति वह्नयः।''

२ ऋ० १.२०.८. ''अधारयन्त वह्नयोऽभजन्त सुकृत्यया। भागं देवेषु यज्ञियम्।''

३ ऋ० २.२४.१३. ''उताशिष्ठा अनु शृण्वन्ति वह्नयः सभेयो विप्रो भरते मती धना।''

४ ऋ० ६.५७.३. ''अजा अन्यस्य वह्नयो हरी अन्यस्य संभृता। ताभ्यां वृत्राणि जिघ्नते।''

५ ऋ० ८.३.२३. ''यस्मा अन्ये दश प्रति धुरं वहन्ति वह्नयः। अस्तं वयो न तुग्र्यम्।''

६ ऋ० ८.९४.१. ''गौर्धयति मरुतां श्रवस्युर्माता मघोनाम्। युक्ता वह्नी रथानाम्।''

७ ऋ० १०.१०१.१०. ''आ तू षिञ्च द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः। परि ष्वजध्वं दश कक्ष्याभिरुभे धुरौ प्रति वह्निं युनक्त।''

८ ऋ० १०.१०१.११. ''उभौ धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः।''

९ यजु०, ३५.१३. ''अनड्वाहमन्वारभामहे सौरभेयः स्वस्तये। स न इन्द्र इव देवेभ्यो वह्निः सन्तरणो भव।''

१० तै०सं० २.२.१०.५, ६.१.१०.२. तै०ब्रा०, १.१.६.१०, ८.२.५. ''वह्निर्वा अनड्वान्।''

के वाहन को 'हरी' कहकर पुकारता है, ये दस प्रकार के अन्य अश्व रथ के धुर को धारण करते हैं, वडवा (वह्नी) को रथ में संयोजित होने वाला बतलाया गया है, बैलों (वह्नि) को गाड़ी के दोनों धुरों में जोड़ा जाता है, इन दो वाहक बैलों (वह्नि) वाली गाड़ी आकाश में उड़ने वाले पक्षी के समान प्रतीत होती है, सुरभि (गाय) की सन्तान बैल (वह्नि) का आवश्यकता के अनुरूप उपयोग किया जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कह सकते हैं कि वेद में दो प्रकार की वाहनरूप वह्नियों का उल्लेख प्राप्त होता है। एक वह्नि वह है, जो जिसके आधार में जल है, जो मन के अनुसार चलती है तथा जो अतिशीघ्रगामी है। इस प्रकार की वह्नि (वाहन) यान्त्रिक प्रतीत होती है, जबकि दूसरे प्रकार की वाहन रूप वह्नि को वेद स्पष्टरूप से अनड्वान् बतलाता है। ब्राह्मणग्रन्थ से भी इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। मूलतः, यह द्वितीय प्रकार की वह्नि (वाहन) प्राचीन है और भारवहन की सामर्थ्य उक्त वाहन के वह्नि नामकरण का आधार है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जिस विशिष्ट पशु को लोक अश्व कहता है, वेद में वह अश्व वह्नि नहीं है, यह कहा जा सकता है। यान्त्रिक वह्निरूप परिवहन का उपयोग सोमपानादि के लिये देवतागण तथा बैलगाड़ी रूप परिवहन का उपयोग भारवहन व यात्री परिवहन के लिये मानव द्वारा किया जाता रहा है। वह्नि का लोक प्रचलित अश्व अर्थ न ग्रहण करने का यह कारण है कि अश्व का उपयोग भारवहन के लिये नहीं होता रहा है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वह्नि का मूल 'वह्' धातु है।

७. दधिक्राः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'दधिक्राः' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क 'दधिक्राः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**दधिक्रा इत्येतद् दधत् क्रामतीति वा**"[२] कि आरोही अथवा उदक को धारण करते ही चल पड़ने के कारण माध्यमिक देवता को 'दधिक्राः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'धा'+'क्रम्' से 'दधिक्राः' पद निष्पन्न होता है। आचार्य सायण भी कुछ इसी प्रकार का निर्वचन करते हैं:-"**दधदन्यं क्रामतीति वा दधिक्राः।**"[३]

(ख)"**दधत् क्रन्दतीति वा**"[४] कि आरोही को धारण करते ही ह्रेषाध्वनि करने से अश्व तथा उदक को धारण करते ही गर्जना करने से माध्यमिक देवता को 'दधिक्राः' कहते हैं। इस पक्ष में 'धा'+'क्रन्द्' से 'दधिक्राः' पद निष्पन्न होता है।

(ग)"**दधदाकारी भवतीति वा**"[५] कि आरोही को धारण करते ही अश्व तथा उदक को धारण करते ही माध्यमिक देवता विशेष आकार वाला हो जाता है, अतः, इनको 'दधिक्राः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'धा'+आ+'कृ' से 'दधिक्राः' पद उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'दधिक्राः' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-"**दधिक्राः (अश्वः)। दधत् धारयत्**

---

१ निघ० १.१४.७.

२ निरु० २.२७, १०.३०.

३ सायणभाष्य, ऋ० ४३८.२.

४ निरु० २.२७, १०.३०.

५ निरु० २.२७.

स्वारोहिणं क्रामति, दधत् क्रन्दति हर्षार्थं ह्रेषारवं करोति। दधदित्याकारी भवति अधितिष्ठितम्, ईषदवनतमध्यभागः, उद्धतकन्धरः, कुञ्चितघोणः, स्तिमितवक्षुः, कर्णशुक्तिकारो भवति''[१] कि बैठते ही आरोही को लेकर चल पड़ता है या आरोही को धारण करते ही ह्रेषारव करता है या आरोही के बैठते ही मध्यभाग कुछ अवनत, कन्धे ऊँचे, नासिका कुञ्चित (सिकुड़ जाती है), निश्चल वक्षःस्थल तथा शुक्ति के समान कर्ण होते हैं, ऐसा अश्व 'दधिक्राः' कहा जाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'दधिक्राः' पद को देवता, अश्व प्रभृति का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद का अर्थ तथा व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची अव्युत्पन्न 'दधि' शब्द से 'दधिक्राः' पद को व्युत्पन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स 'दधिक्राः' पद का मूल 'दध्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार यह दैवीय अश्व का नाम है, जिसका ऋग्वेद एवं मैत्रायणी-संहिता में प्रातःकालीन सूर्य के रूप में मूर्तीकरण हुआ है।[४] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा उक्त यास्कीय निर्वचनों को असङ्गत मानते हैं।[५]

वैदिक साहित्य में 'दधिक्राः' पद का अधिक उल्लेख नहीं हुआ है। ऋग्वेद में वामदेव ऋषि दधिक्रादेव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण प्राणियों के रक्षक, बलशाली या अश्वरूप दधिक्रादेव को धारण करो।[६] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि मनुष्यों के पालक और उनको व्याप्त करने वाले दधिक्रादेव के दण्ड और न्याय की लोग स्तुति और सङ्ग्राम में किये गये विशेष कौशल की प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि इस देव ने सहस्रों शत्रुओं को दूर भगा दिया।[७] एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार सूर्य उदक का विस्तार करता है, उसी प्रकार दधिक्रादेव बल से देव, मनुष्य, असुर, राक्षस, पितर और निषाद-इन पाँच वर्णों का विस्तार करते हैं। प्रचुर उदकों का विभाजयिता, बलवान् एवं वर्षा का प्रेरक दधिक्रादेव हमारे स्तुति वाक्यों को उदक से संयुक्त करे।[८] एक अन्य सूक्त में वामदेव ऋषि दधिक्रादेव की स्तुति करते हुए कहते हैं कि दधिक्रादेव की हम शीघ्र स्तुति करें तथा द्युलोक और पृथिवीलोक से शत्रुओं को दूर फैंक दें।[९] उक्त मन्त्र की व्याख्या में सायण 'चर्किराम' पद का अर्थ 'घास फैंकना' मानते हैं।[१०] दधिक्रावा देव का वर्णन करते हुए वामदेव ऋषि कहते हैं कि वह ग्रीवा, कक्ष और मुख में बँधा हुआ अश्वरूप देव जाने

---

१ निघ०वृ०, १.१४.७.

२ वै०पद०को०, पृ० १५४२.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० २४१.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ४६८.

५ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क पृ० १३४.

६ ऋ० ४.३८.२. ''उत वाजिनं पुरुनिष्षिध्वानं दधिक्रामु ददथुर्विश्वकृष्टिम्।''

७ ऋ० ४.३८.९. ''उत स्मास्य पनयन्ति जना जूतिं कृष्टिप्रो अभिभूतिमाशोः। उतैनमाहुः समिथे वियन्तः परा दधिक्रा असरत्सहस्रैः।''

८ ऋ० ४.३८.१०. ''आ दधिक्राः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्यइव ज्योतिषापस्ततान। सहस्रसाः शतसा वाज्यर्वा पृणक्तु मध्वा समिमा वचांसि।''

९ ऋ० ४.३९.१. ''आशुं दधिक्रां तमु नु ष्टवाम दिवस्पृथिव्या उत चर्किराम।''

१० सायणभाष्य, ऋ० ४.३९.१.

वाले को शीघ्र पहुँचाता है। यह बलवान् दधिक्रादेव मार्गों के चिह्नों का अनुसरण करता हुआ कर्म करता है और सर्वत्र पहुँच जाता है।[१] विश्वामित्र ऋषि उषःकाल में अग्नि, उषा, अश्विनी और दधिक्रादेव का मन्त्रों के द्वारा आह्वान करते हैं।[२] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि हे स्तोताओ! आपकी रक्षा के लिये सर्वप्रथम दधिक्रा, उसके पश्चात् अश्विनी, उषा, समिद्ध अग्नि और भग देवता को बुलाता हूँ।[३] इसी सूक्त में आगे ऋषि कहता है कि दधिक्रादेव ऋत का अनुसरण करने में हम लोगों के मार्ग को प्रशस्त करें।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि वह अश्व 'दधिक्रा' है, जो अपने अश्वरूप से सम्पूर्ण प्राणियों की रक्षा करने के कारण धारण करने योग्य है, इस देव के दण्ड और न्याय की लोग प्रशंसा करते हैं और मानते हैं कि यह सङ्ग्राम में हजारों शत्रुओं को भगा देता है, यह देव पाँच प्रकार के मनुष्यों का विस्तार करता है तथा हमारे स्तुति वचनों को उदक से संयुक्त करता है, ऋषि कहता है कि हमें इस देव की शीघ्र स्तुति करनी चाहिये। दधिक्रा के अश्वरूप का स्पष्ट वर्णन करता हुआ ऋषि इसे ग्रीवा, कक्ष, मुख में बँधा हुआ बतलाता है, कभी ऋषि अग्नि, उषा, अश्विनी, भग आदि के साथ और कभी इन सब देवों से पूर्व दधिक्रा का आह्वान करने को कहता है, इसी देव से ऋत के मार्ग को प्रशस्त करने का निवेदन किया जाता है। उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद ने दधिक्रा के साथ वाजी, अर्वा, कृष्टीः आदि का अधिक उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त ऋषि अश्व के स्पष्ट लक्षणों का भी उल्लेख करता है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि दधिक्रा का एक रूप अश्वात्मक है। लेकिन जहाँ दधिक्रा को सम्पूर्ण प्राणियों का रक्षक, उदक प्रदाता एवं सर्वप्रथम स्तुतियोग्य बताया गया है, वहाँ वह देवता रूप में चित्रित होता हुआ दिखायी देता है। इस प्रकार मन्त्रों की वर्णनशैली दधिक्रा को क्वचित् अश्वरूप और क्वचित् विशिष्ट शक्तिसम्पन्न देवतारूप में प्रस्तुत करती है। इस द्विविध स्थिति के कारण निघण्टुकार दधिक्रा को एक स्थान पर अश्ववाचक गण तथा द्वितीय स्थान पर माध्यमिक देवतागण में समाम्नान करते हैं।[५] जहाँ तक अश्वरूप दधिक्रा का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि वह अश्व दधिक्रा है, जो बलवान्, शीघ्रगामी एवं मार्ग के चिह्नों का अनुसरण करता हुआ अपने गन्तव्य तक पहुँच जाता है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि जो अपने मार्ग का स्मरण रखता है, ऐसा बुद्धिमान् अश्व वेद में दधिक्रा नाम से अभिहित हुआ है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'दधि+'कृ' धातुमूलक निर्वचन के स्वीकार किये जाने की क्षीण सम्भावना है। शेष सभी निर्वचन विचारयोग्य प्रतीत नहीं होते हैं।

---

१ ऋ० ४.४०.४. ''उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि। क्रतुं दधिक्रा अनु संतवीत्वत्पथामङ्कास्यन्वापनीफणत्।''

२ ऋ० ३.२०.१. ''अग्निमुषसामश्विना दधिक्रां व्युष्टिषु हवने वह्निरुक्थैः।''

३ ऋ० ७.४४.१. ''दधिक्रां वः प्रथममश्विनोषसमग्निं समिद्धं भगमूतये हुवे।''

४ ऋ० ७.४४.५. ''आ नो दधिक्राः पथ्यामनक्त्वृतस्य पन्थामन्वेतवा उ।''

५ निघ० १.१४.७, ५.४.१९.

८. दधिक्रावा

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण मे 'दधिक्रावा' पद परिगणित है।[१] 'दधिक्राः' और 'दधिक्रावा' दोनों पदों में व्याकरणिक दृष्टि से अधिक भेद नहीं है। इस पद में 'वनिप्' प्रत्यय हुआ है, यही विशेष है, शेष सब 'दधिक्राः' के समान है।[२]

वैदिक साहित्य में 'दधिक्रावा' पद का अधिक उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। 'दधिक्राः' और 'दधिक्रावा' इन दोनों पदों का प्रायः समान सूक्त में वर्णन हुआ है। ऋग्वेद में वामदेव ऋषि कहते हैं कि दधिक्रावा मुख्यतम, बलवान्, गमन कर्म में कुशल एवं रथ के आगे संयुक्त किया जाता है।[३] वामदेव ऋषि एक अन्य सूक्त में कहते हैं कि जो अश्वरूप (व्यापनशील) दधिक्रावा देव की उषःकाल में स्तुति करता है, अदिति, मित्र और वरुण उसे पापरहित करते हैं।[४] इसी क्रम में आगे ऋषि कहता है कि अन्न और बल को सिद्ध करने वाले महान् दधिक्रावा देव के कल्याणकारी नाम की मरुत् (मनुष्य) महिमा गाते हैं।[५] अग्रिम मन्त्र में पुनः ऋषि कहता है कि इन्द्र के समान दधिक्रावा देव का युद्ध और यज्ञ के लिये आह्वान किया जाता है। मनुष्यों के प्रेरक अश्वरूप इस दधिक्रावा देव को मित्रावरुण हमारे लिये धारण करें।[६] प्रकरण को आगे बढ़ाता हुआ ऋषि कहता है कि जयशील, व्यापक, बलवान् दधिक्रावा की हमने स्तुति की है। वह हमारी मुखादि इन्द्रियों को सुगन्धित करे और हमारी आयु को बढ़ाये।[७] वामदेव ऋषि अग्रिम सूक्त में कहते हैं कि श्रेष्ठों में श्रेष्ठ, गमनशील, प्रकृष्ट वेगवान्, उत्प्लवनशील दधिक्रावा देव अन्न, बल और सुख को उत्पन्न करें।[८] यजुर्वेद में वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार दधिक्रावा (अश्व) आरोही को धारण करके नम्र हो जाता है, उसी प्रकार उषःकाल में लोग पवित्र, प्राप्त करने योग्य अहिंसक व्यवहार को नम्र होकर ग्रहण करते हैं।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन सूक्तों में 'दधिक्राः' का वर्णन हुआ है, प्रायः उन्हीं सूक्तों में 'दधिक्रावा' का भी उल्लेख पाया जाता है। अतः, ये दो अश्ववाचक पद भले ही हों, मूलतः इनका स्वरूप भिन्न नहीं है। वेद 'दधिक्रावा' को मुख्यतम, बलवान्, गमनकर्म में कुशल एवं रथ के आगे संयुक्त किया जाने वाला मानता है, इस देव की समिद्ध अग्नि में स्तुति की जाती है, मरुत् (मनुष्य) इसके

---

१ निघ० १.१४.८.

२ निघ०वृ०, १.१४.८.

३ ऋ० ७.४४.४. ''दधिक्रावा प्रथमो वाज्यर्वाग्रे रथानां भवति प्रजानन्।''

४ ऋ० ४.३९.३. ''यो अश्वस्य दधिक्राव्णो अकारीत्समिद्धे अग्ना उषसो व्युष्टौ। अनागसं तमदितिः कृणोतु स मित्रेण वरुणेना सजोषाः।''

५ ऋ० ४.३९.४. ''दधिक्राव्ण इष ऊर्जो महो यदमन्महि मरुतां नाम भद्रम्।''

६ ऋ० ४.३९.५. ''इन्द्रमिवेदुभये वि ह्वयन्त उदीराणा यज्ञमुपप्रयन्तः। दधिक्रामु सूदनं मर्त्याय ददथुर्मित्रावरुणा नो अश्वम्।''

७ ऋ० ४.३९.६. अथर्व०, २०.१३७.३. ''दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः। सुरभि नो मुखा करत्प्र ण आयूंषि तारिषत्।''

८ ऋ० ४.४०.२. ''सत्यो द्रवो द्रवरः पतङ्गरो दधिक्रावेषमूर्जं स्वर्जनत्।''

९ यजु०, ३४.३९. अथर्व०, ३.१६.६. ''समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय।''

कल्याणकारी नाम की महिमा गाते हैं, इस देव का युद्ध और यज्ञ के समय आह्वान किया जाता है और इससे आयु बढ़ाने की प्रार्थना की जाती है, यह 'दधिक्रावा' प्रकृष्ट वेगवान् एवं उत्प्लवनशील है। इस प्रकार उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'दधिक्रा:' के समान 'दधिक्रावा' का वर्णन दो प्रकार का प्राप्त होता है। कहीं यह देवतारूप में चित्रित हुआ है तो कहीं अश्वरूप में। इसके अतिरिक्त वेद में दधिक्रावा' से सम्बन्धित मन्त्रों में वाजी, अर्वा, अश्व, रथ आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है तो वहीं दूसरी ओर समिद्ध अग्नि से स्तुति, पाप का नाश, दधिक्रावा के नाम का जप ये सब सङ्केत 'दधिक्रावा' के द्विविध चरित्र का उल्लेख करते हैं। निष्कर्षरूप में हम कह सकते हैं कि शब्दरूप की दृष्टि से ये भले ही दधिक्रा और दधिक्रावा ये दो भिन्न पद हों, पर अर्थ की दृष्टि से ये अभिन्न हैं। अतः, 'दधिक्रावा' का स्वरूप और निर्वचन 'दधिक्रा:' के समान है, यह माना जा सकता है।

९. एतग्वा:

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'एतग्वा' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् अश्ववाचक 'एतग्वा' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**एतग्वा: (अश्वा:)। 'इण्' गतौ'+'गम्लृ' गतौ'। एतं प्राप्तम्। गम्यत इति ग्व:, गन्तव्यो देश:। एत: प्राप्तो गन्तव्यो येन स एतग्व:। एतग्वा: प्राप्तगन्तव्या: इति माधव:**"[२] कि जिससे गन्तव्य देश को प्राप्त किया जाता है, उस अश्व का नाम 'एतग्वा' है। इस पक्ष में 'इण्'+'गम्' इन दोनों धातुओं के संयोग से 'एतग्वा' रूप उपपन्न होता है। आचार्य सायण भी इसी प्रकार का निर्वचन करते हैं- **एतं गन्तव्यं मार्गं गन्तारोऽश्वा:।**"[३]

(ख)"**यद्वा, एतशब्द: शुक्लपर्याय:, गमे:। एतस्य शुक्लवर्णस्यागमनमस्यास्ति। एतग्वा: शुक्लवर्णा अश्वा:**"[४] कि 'एत' शब्द शुक्ल का पर्यायवाची है। जिससे शुक्ल वर्ण का आगमन होता है, ऐसे अश्व 'एतग्वा' कहलाते हैं। इस पक्ष में 'एत+'गम्' से 'एतग्वा' रूप निष्पन्न होता है।

(ग)"**यद्वा, एत शुक्लवर्णोऽस्यास्तीति। मत्वर्थीय: 'व:' प्रत्यय: (अष्टा०,५.२.१०९.)**"[५] कि जिसका शुक्लवर्ण है, वह अश्व 'एतग्वा' है। इस पक्ष में 'एत' शब्द से मत्वथीर्य 'व' प्रत्यय होकर 'एतग्वा' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य सायण 'एतग्वा' पद के निम्न निर्वचन देते हैं:-"**एतं शबलवर्णं वा प्राप्नुवन्तोऽश्वा:**"[६] कि शबल वर्ण को प्राप्त करने वाले अश्व 'एतग्वा' हैं। इस पक्ष में 'इण्' धातु से औणादिक 'तन्' प्रत्यय होकर 'एत' शब्द और उससे 'ड्व' प्रत्यय होकर 'एतग्वा' रूप उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'एतग्वा' पद को अश्व, अश्विन्, हरि पद का विशेषण मानता है। उसके

---

१ निघ० १.१४.९.

२ निघ०वृ०, १.१४.९.

३ सायणभाष्य, ऋ० १.११५.३.

४ निघ०वृ०, १.१४.९.

५ निघ०वृ०, १.१४.९.

६ सायणभाष्य, ऋ० १.११५.३.

अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति 'एत+'गम्' से होती है, लेकिन 'एत' पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'एतग्वा' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स का अभिमत है कि 'एत' शब्द 'इ' धातु से व्युत्पन्न होता है। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद शबलवर्ण, अश्व की चमक अर्थ में आया है।[३] उणादिकोष 'एत:' पद को 'इण्' धातु से 'तन्' प्रत्यय करके व्युत्पन्न करता है।[४] आचार्य पाणिनि उक्तपद को वर्णवाचक मानते हैं।[५]

वैदिक साहित्य में 'एतग्वा' पद का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि कल्याणकर, व्यापनशील, हरण करने वाले, नानावर्ण के (एतग्वा), आनन्द देने वाले सूर्य के अश्व नमन करते हुए या नमन प्राप्त करते हुए अन्तरिक्ष के उपरिप्रदेश में स्थित होते हैं और वहीं से द्यावापृथिवी को शीघ्र व्याप्त कर लेते हैं।[६] वसिष्ठ ऋषि अश्विनीदेवों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सरिताओं से समुद्र पूर्ण होता है या रथ में अच्छे प्रकार जुते हुए अश्व लोक का पालन करते हैं, उसी प्रकार आप दोनों के स्वेद की सरिता तपस्या को सिद्ध करती है।[७] पुरुहन्मा ऋषि कहते हैं कि हे सनातन इन्द्र! जो मनुष्य इन्द्रादि देवों की उपासना नहीं करता, वह किसी प्रकार अन्न को प्राप्त न करे। इन्द्र ही इन नानावर्णयुक्त (एतग्वा) स्थावर और जङ्गम नाम के संसाररूपी अश्वों को रथ में बार-बार जोतता है, वही इन हरणशील (हरी) अश्वों को इस कार्य में नियोजित करता है।[८]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह अश्व 'एतग्वा' है, जो कल्याणकारी, हरण एवं व्यापनशील, चित्र-विचित्र, अन्तरिक्ष के उपरिप्रदेश में रहने वाले और वहीं से द्यावापृथिवी को व्याप्त करते हैं, रथ में अच्छी प्रकार जुते हुए ये अश्व लोक के पालयिता हैं, इन अश्वों को नानावर्ण वाला बताया गया है, इन स्थावर जङ्गमरूप अश्वों को इन्द्र बार-बार जोतता है। उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेद में सूर्य की किरणों को अश्वरूप में चित्रित किया गया है। ये किरणें ही अन्तरिक्ष के उपरिप्रदेश में स्थित होती हैं तथा लोक का पालन करती हैं और इन्हीं से स्थावर-जङ्गम जगत् नानावर्णयुक्त दिखलायी पड़ता है। इस प्रकार निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि वेद में वर्णयुक्त होने के कारण सूर्यरश्मियाँ 'एतग्वा' नाम से अभिहित हुई हैं। ये वर्णयुक्त और गमनशील होती हैं, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए वर्णवाचक 'एत' शब्द और 'गम्' धातु को 'एतग्वा' पद का मूल माना जा सकता है।

---

१ वै०पद०को०, पृ० १०३८.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० १५९.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २३१.

४ उणा०, ३.८६. ''हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधूर्विभ्यस्तन्।''

५ अष्टा०, ४.१.३९. ''वर्णादनुदात्तोपधात्तो नः।''

६ ऋ० १.११५.३. ''भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः। नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः।''

७ ऋ० ७.७०.२. ''यो वां समुद्रान्त्सरितः पिपर्त्येतग्वा चिन्न सुयुजा युजानः।''

८ ऋ० ८.७०.७. ''न सीमदेव आपादिषं दीर्घायो मर्त्यः। एतग्वा चिद्य एतशा युयोजते हरी इन्द्रो युयोजते।''

१०. एतशः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'एतशः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'एतशः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''एतशः (अश्वः)। 'इण्' गतौ'। एतशः गमनकुशलः''**[२] कि गमनकर्म में कुशल होने के कारण अश्व को 'एतशः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'इण्' धातु से औणादिक 'तशन्' प्रत्यय होकर 'एतशः' पद निष्पन्न होता है। उणादिकोष में इसी प्रकार 'एतशः' पद व्युत्पन्न किया गया है।[३]

(ख)''यद्वा, एतशब्दात् लोमादित्वात् (अष्टा०,५.२.१०.) शस्। एतद्वा एतच्छरीरं एतशः''[४] कि वर्णयुक्त अथवा वर्णयुक्त शरीर वाला होने के कारण अश्व को 'एतशः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'एत+शस्' से 'एतशः' रूप उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'एतशः' पद को ब्रह्मणस्पति, रथ प्रभृति का विशेषण तथा सूर्य, अश्वादि का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। लेकिन कुछ विद्वान् 'एत+'शो' गतिदीप्त्योः' से उक्तपद को व्युत्पन्न मानते हैं।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'एतशः' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स 'इण्' धातु से 'एत' शब्द को निष्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद नानावर्णयुक्त, दीप्तिमान्, ब्रह्मणस्पति के प्रकाशमान रूप के लिये आया है। ऋग्वेद में यह शबलवर्ण का सूर्य का अश्व कहा गया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में यह इन्द्ररक्षित व्यक्ति का नाम भी है।[७]

वैदिक साहित्य में 'एतशः' पद का पर्याप्त उल्लेख देखने को मिलता है। ऋग्वेद में आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम रथ, अश्व और सिद्ध करने योग्य धन की रक्षा करते हो तथा तुम शम्बर के ९९ नगरों को नष्ट करते हो।[८] गोतम नोधा ऋषि इन्द्र से सुन्दर अश्वों में से उत्तम अश्व को प्रदान करने एवं सूर्य से स्पर्धा करने वाले एतश नाम के अश्व की रक्षा करने की प्रार्थना करते हैं।[९] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार अन्नप्राप्ति के लिये बहुतों से वाञ्छित अन्तरिक्ष में स्थित उदक आकाङ्क्षा मात्र से प्राप्त होता है या जिस प्रकार न मारने योग्य अश्व शिक्षक के सङ्केत मात्र से शिक्षा प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार मरुतों में स्थित विद्युत् सक्रिय होती है।[१०] श्यावाश्व आत्रेय ऋषि सवितादेव की स्तुति करते हुए कहते हैं कि यह श्वेतवर्णयुक्त

---

१ निघ० १.१४.१०.

२ निघ०वृ०, १.१४.१०.

३ उणा०, ३.१४९. ''इणस्तशन्तशसुनौ।''

४ निघ०वृ०, १.१४.१०.

५ वै०पद०को०, पृ० १०५४.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० १६१.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २३१.

८ ऋ० १.५४.६. ''त्वं रथमेतशं कृत्व्ये धने त्वं पुरो नवतिं दम्भयो नव।''

९ ऋ० १.६१.१५. ''प्रैतशं सूर्ये पस्पृधमानं सौवश्व्ये सुष्विमावदिन्द्रः।''

१० ऋ० १.१६८.५. ''धन्वच्युत इषां न यामनि पुरुप्रैषा अहन्योꣳ नैतशः।''

(एतशः) सवितादेव पृथिव्यादि लोकों को अपनी महिमा से माप लेता है।[१] वामदेव ऋषि कहते हैं कि यह इन्द्र सूर्य के सरणशील, रमण करते हुए अर्थात् समगति से चलते हुए श्वेतवर्ण के चक्र को प्राप्त करता है।[२] एक अन्य सूक्त में वामदेव ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम मनुष्य के लिये सुखस्वरूप सूर्य को प्रेरित करते हो और कर्मों से एतश नामक अश्व की रक्षा करते हो।[३] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि सब लोग देखने में समर्थ हो सकें, इसलिये सूर्यमण्डल को एतवर्ण का अश्व धारण करता है।[४] मेधातिथि और मेध्यातिथि ये दोनों ऋषि कहते हैं कि जब सूर्य एतश (रश्मि) को तीक्ष्ण बनाकर चुभोता है, तब इन्द्र कुटिलगति वाली वायु की पर्णि नामक शक्ति से पृथिव्यादि लोकों के पालयिता सूर्य को आच्छादित करता है।[५] कण्वपुत्र वत्स ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! ये द्यावापृथिवी तुम्हारा उसी प्रकार अनुवर्तन करते हैं, जिस प्रकार चक्र अश्व का अनुवर्तन करते हैं।[६] यजुर्वेद में भारद्वाज ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार न बुझने वाली पिपासा एतश (अश्व) को यात्रा में मार डालती है, उसी प्रकार अजेय योद्धा युद्ध क्षेत्र में शत्रुओं का संहार करता है।[७] तैत्तिरीय तथा काठक-संहितायें एतश से सूर्यदेवता को प्राप्त करने का उल्लेख करती हैं।[८] मैत्रायणी-संहिता कहती है कि सूर्य के साथ स्थित एतश को प्रसन्न करने से सूर्य को ही प्रसन्न किया जाता है।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह अश्व 'एतशः' है, जिसकी रक्षा इन्द्र करते हैं, यह अश्व सङ्केत मात्र से शिक्षक के निर्देशों को ग्रहण करने में सक्षम होता है, इन्द्र कर्मों से एतश नामक अश्व की रक्षा करता है, रथचक्र अश्व का अनुवर्तन करते हैं, मरुस्थलीय यात्रा में पिपासा से अश्व की मृत्यु होती है, उत्तम ऐश्वर्य एवं कान्ति से सूर्य से स्पर्धा करने वाले अश्व की इन्द्र रक्षा करता है, कहीं ऋषि ने सवितादेव को एतशवर्ण का बतलाया है, इन्द्र श्वेतवर्ण (एतश) के सूर्य के चक्र को प्राप्त करता है, समस्त प्राणिजात की दर्शनशक्ति के लिये यह एतश सूर्यमण्डल को धारण करता है, जब सूर्य एतश की तीक्ष्ण किरणों को चुभोता है, तब इन्द्र वायु की पर्णि नामक शक्ति से उसे आच्छादित करता है। उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि 'एतश' शब्द का सम्बन्ध अश्व, सूर्य और इन्द्र के साथ है। जब सूर्य की रश्मियाँ असहनीय हो जाती हैं, उस समय इन्द्र वर्षा के माध्यम से एतश (शुक्लवर्ण) की रक्षा करता है। इस कार्य में वह वायु की पर्णि अर्थात् पालन या पूरण करने वाली शक्ति का सहयोग लेता है। इस प्रकार इन्द्र और सूर्य का एतश के साथ सम्बन्ध है, लेकिन जहाँ रक्षा करने के कारण इन्द्र का 'एतश' के साथ सम्बन्ध है, वहीं अंश

---

१ ऋ० ५.८१.३. ''यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना।''

२ ऋ० ४.१७.१४. ''अयं चक्रमिषणत्सूर्यस्य न्येतशं रीरमत्ससृमाणम्।''

३ ऋ० ४.३०.६. ''यत्रोत मर्त्याय कमरिणा इन्द्र सूर्यम्। प्रावः शचीभिरेतशम्।''

४ ऋ० ७.६६.१४. ''यदीमाशुर्वहति देव एतशो विश्वस्मै चक्षसे अरम्।''

५ ऋ० ८.१.११. ''यत्तुदत्सूर एतशं वङ्कू वातस्य पर्णिना। वहत्कुत्समार्जुनेयं शतक्रतुः त्सरद्गन्धर्वमस्तृतम्।''

६ ऋ० ८.६.३८. ''अनु त्वा रोदसी उभे चक्रं न वर्त्येतशम्।''

७ यजु०, १७.१०. ''तूर्वन्न यामन्नेतशस्य नु रणऽआ यो घृणे न ततृषाणोऽ अजरः।''

८ तै०सं० १.६.४.३. काठ०सं० ५.३. ''एतशेन त्वा सूर्यो देवतां गमयतु।''

९ मै०सं० ३.४.४. ''सजूः सूरा एतशेन इति सूर्यमेव प्रीणाति।''

होने के कारण सूर्य के साथ 'एतश' का अंशाशिभाव सम्बन्ध है। जहाँ तक अश्व को एतश कहे जाने का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि वेद रश्मियों को अश्व मानकर व्यवहार करता है। वेद में प्राप्त 'एतशः' के वर्णन से पार्थिव अश्व का स्पष्ट चित्र उभरकर नहीं आता। कुछ सङ्केत अवश्य इस ओर इङ्गित करते हैं, परन्तु उनसे किसी युक्तिसङ्गत निष्कर्ष पर पहुँचना उचित नहीं है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद ने कहीं सूर्य की तीक्ष्ण रश्मियों को रश्मिरूप में तो कहीं अश्वरूप में उल्लेख किया है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए गमनशील रश्मिवाचक 'एतशः' पद का 'इण्' धातुमूलक निर्वचन समीचीन माना जा सकता है।

११. पैद्वः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'पैद्वः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् अश्ववाचक गण में परिगणित 'पैद्वः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**पैद्वः (अश्वः)। 'पद' गतौ'। पद्यते गच्छति, पद्यतेऽनेनेति वा। पदैः पैद्वो गतिक्रियायाम् इति माधवः**''[२] कि यह गमन करता है, अथवा इससे यात्रा की जाती है, अतः, अश्व को 'पैद्वः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'पद्' धातु से औणादिक 'व' प्रत्यय होकर 'पैद्वः' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'पैद्वः' पद को अश्व वाचक व्यक्तिपरक संज्ञा, विषनाशक भेषजवाचक नामपद तथा हिंसक अर्थ का विशेषणपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'पैद्वः' पद को अव्युत्पन्न मानने के पक्ष में है।[४] मोनियर विलियम्स भी उक्तपद को अव्युत्पन्न मानते प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार पेदु के सर्पनाशक अश्व का नाम 'पैद्वः' है।[५]

वैदिक साहित्य में 'पैद्वः' पद का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि तुम दोनों अश्विनीदेवों के द्वारा दिया गया वह दान महनीय कीर्ति को करने वाला है। सुख पहुँचाने वाला अथवा पेदु नामक व्यक्ति का बलवान् अश्व (पैद्वः) सर्वदा स्वामी (अर्य) को ले जाने वाला होता है।[६] उक्त मन्त्रगत 'पैद्वः' पद का अर्थ आचार्य सायण 'पेदु नामक व्यक्ति का अश्व' करते हैं, जबकि स्वामी दयानन्द 'सुख पहुँचाने वाला' मानते हैं। उशना काव्य ऋषि कहते हैं कि हे सोम! जिस प्रकार 'पैद्वः' अहि अर्थात् सर्पों का हन्ता है, उसी प्रकार आप भी अहि नामक मेघों (अन्धकार) तथा सम्पूर्ण दस्युओं के विनाशक हैं।[७] अथर्ववेद का ऋषि सर्प के विषनाश का उल्लेख करता हुआ अनेकशः 'पैद्वः' का प्रयोग करता है। वह कहता है कि क्षिप्रकारी पुरुष बुरे स्थान में छिपे हुए श्वेत और कृष्ण सर्प को मारता है। वह पैद्व दौड़ती हुई सर्पिणी के सिर

---

१ निघ० १.१४.११.

२ निघ०वृ०, १.१४.११.

३ वै०पद०को०, पृ० २११२.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ३३६.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ६४९.

६ ऋ० १.११६.६. ''तद्वां दात्रं महि कीर्तेन्यं भूत्पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः।''

७ ऋ० ९.८८.४. ''इन्द्रो न यो महा कर्माणि चक्रिर्हन्ता वृत्राणामसि सोम पूर्भूत्। पैद्वो न हि त्वमहिनाम्नां हन्ता *विश्वस्यासि सोमदस्योः।*''

को विदीर्ण करता है।[१] आगे ऋषि उक्त विषय का प्रतिपादन करता हुआ कहता है कि हे क्षिप्रगामी पुरुष! तुम आगे पहुँचो हम पीछे आ रहे हैं। जिस मार्ग से हम आते हैं, उस मार्ग से सर्पों को मारकर दूर फैंको।[२] अग्रिम मन्त्र में पुनः ऋषि कहता है कि यह पैद्व प्रकट हुआ है, यह इसका पराक्रम का मार्ग है। क्षिप्रकारी, बलवान् और सर्पहन्तृत्व ये इसके लक्षण हैं।[३] पुनः ऋषि कहता है कि यह पैद्व घातक व्यापनशील तथा स्वयं उत्पन्न होने वाले- इन दोनों प्रकार के विषों की ओषधि है। इन्द्र मुझे दंशनीय सर्प से बचायें तथा पैद्व इस साँप को कुचल डाले।[४] उक्त सूक्त के अग्रिम मन्त्र में पुनः ऋषि कहता है कि स्थिर स्वभाव और स्थिर तेज वाले पैद्व की हम स्तुति करते हैं। जिसके प्रभाव से फूत्कार मारने वाले सर्प क्रीडा करते हुए हमसे दूर रहते हैं।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद में मात्र दो मन्त्रों में 'पैद्वः' पद उल्लेख प्राप्त होता है। प्रथम मन्त्र में सायण के अनुसार पेदु नामक व्यक्ति का अश्व 'पैद्वः' है तथा स्वामी दयानन्द के अनुसार सुख पहुँचाने वाले अश्व का नाम 'पैद्वः' है। द्वितीय मन्त्र में 'पैद्वः' को अहि नामक प्राणियों का हन्ता बताया गया है। अथर्ववेद के उक्त सूक्त में उक्तपद का प्रयोग लगभग पाँच बार हुआ है, लेकिन सर्वत्र वहाँ 'पैद्वः' सर्पहन्ता अर्थात् शीघ्रता और कुशलता से सर्पहनन करने के वाले के रूप में चित्रित हुआ है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि 'पैद्वः' का कर्म 'अहिहनन' है। उपर्युक्त दोनों प्रकार के चरित्रों का अध्ययन करने से 'पैद्वः' के मूल में यही एक समानता दृष्टिगत होती है। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद दोनों स्थानों पर पैद्वः वर्णन में यह समानता पायी जाती है कि उसका सम्बन्ध हनन क्रिया के साथ है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि सर्प या किसी प्राणी का हनन करने वाले व्यक्ति का यौगिक नाम 'पैद्वः' रहा है। जहाँ तक 'पैद्वः' के अश्व अर्थ का सम्बन्ध है, कहा जा सकता है कि उक्त ऋग्वेद के मात्र एक मन्त्र में 'पैद्वः' का अर्थ सन्दिग्ध है। अतः, उसके आधार पर 'पैद्वः' के विशिष्ट चरित्र का निर्धारण सम्भव नहीं है। जिस प्रकार 'पैद्वः' का चरित्र अस्पष्ट है, उसी प्रकार उसकी व्युत्पत्ति भी अस्पष्ट है। जब तक अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं हो जाते, तब तक 'पैद्वः' के चरित्र का निर्धारण और निर्वचन कर पाना सम्भव नहीं है। एक क्षीण सम्भावना यह प्रतीत होती है कि पैद्वः का सम्बन्ध 'पद' शब्द से है, जो शीघ्रता से पदाति चलने एवं सर्प का वध करने में समर्थ है, वह सम्भवतः, पैद्वः है। इस क्षीण सम्भावना के आधार पर यह पदाति चलने वाले व्यक्ति का विशेषण माना जा सकता है। तदनुसार उक्तपद को 'पद्' धातु से व्युत्पन्न भी माना जा सकता है।

१२ दौर्गहः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'दौर्गहः' पद परिगणित है।[६] आचार्य देवराजयज्वन् 'दौर्गहः' पद

---

१ अथर्व०, १०.४.५. ''पैद्वो हन्ति कसर्णीलं पैद्वः श्वित्रमुतासितम्। पैद्वो रथर्व्याः शिरः सं बिभेद पृदाक्वाः।''

२ अथर्व०, १०.४.६. ''पैद्व प्रेहि प्रथमोऽनु त्वा वयमेमसि। अहीन् व्यस्यतात् पथो येन स्मा वयमेमसि।''

३ अथर्व०, १०.४.७. ''इदं पैद्वो अजायतेदमस्य परायणम्। इमान्यर्वतः पदाहिघ्न्यो वाजिनीवतः।''

४ अथर्व०, १०.४.१०. ''अघाश्वस्येदं भेषजमुभयोः स्वजस्य च। इन्द्रो मेऽहिमघायन्तामहिं पैद्वो अरन्धयत्।''

५ अथर्व०, १०.४.११. ''पैद्वस्य मन्महे वयं स्थिरस्य स्थिरधाम्नः। इमे पश्चा पृदाकवः प्रदीध्यत आसते।''

६ निघ० १.१४.१२.

का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''दौर्गहः (अश्वः)। 'दुर्'+'ग्रह्'। अश्वहृदयानभिज्ञैर्गृहीतुमशक्यत्वात् दुर्गह उच्यते। दुर्गह एव दौर्गहः''[१] कि अश्वहृदय को न समझने वालों के द्वारा अश्व को पकड़ना सम्भव नहीं है, अतः, अश्व को 'दुर्गह' कहा जाता है। यह 'दुर्गह' ही 'दौर्गह' है। इस पक्ष में 'दुर्'+'ग्रह्' से 'दुर्गह' और उससे स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय होकर 'दौर्गहः' रूप सिद्ध होता है।

(ख)''यद्वा, गाहे वा। दुःखेन गहित्वात् दुर्गाहं जलमुच्यते- इति माधवः, तत्र भवो दौर्गहः''[२] कि कठिनाई से अवगाहन करने योग्य होने के कारण जल को 'दौर्गहः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'दुर्'+'गाह्'+खल्' से 'दुर्गाह' और उससे 'दौर्गहः' रूप निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'दौर्गहः' पद को निघण्टु तथा शतपथ-ब्राह्मण के आधार पर अश्ववाचक नामपद मानता है।[३] लेकिन वेङ्कट, सायण एवं ग्रासमैन प्रभृति विद्वान् उक्तपद को व्यक्तिपरक संज्ञापद मानते हैं। कोशकार के मत में उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। परन्तु वे 'दौर्(धावन)+'गह्' गतौ' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना प्रकट करते हैं।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्तपद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स सायण और वेङ्कट के समान 'दौर्गहः' को पुरुकुत्स का वंशज मानते हैं।[६]

वैदिक साहित्य में केवल एक बार ऋग्वेद तथा एक बार खिलपाठ में 'दौर्गहः' पद का उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में पुरुकुत्स पुत्र त्रसदस्यु ऋषि इन्द्रावरुणदेवों की स्तुति करते हुए कहता है कि दौर्गह के बाँध लिये जाने पर इस पृथ्वी पर सात (छः ऋतुएँ तथा एक वायु) ऋषि हमारा पालन करते हैं। उन्होंने इन्द्र के समान बलशाली, वृत्रविनाशक और अर्धदेव त्रसदस्यु का यजन किया।[७] आचार्य सायण उक्त मन्त्र का व्याख्यान करने से पूर्व निम्न लिखित इतिहास प्रस्तुत करते हैं:-'दौर्गह (पुरुकुत्स) के बन्धन में पड़ जाने पर पुरुकुत्स की महिषी ने राष्ट्र के लिये पुत्र की कामना से सहसा आये हुए सप्तर्षियों की स्तुति की। अर्चना से प्रसन्न होकर उन सप्तिर्षियों ने महिषी को इन्द्रावरुण का यजन करने का उपदेश दिया। उसने इन्द्रावरुण का यजन कर त्रसदस्यु को उत्पन्न किया।'[८]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'दौर्गहः' शब्द अश्व अर्थ में प्रयुक्त होता हुआ दिखायी नहीं पड़ता। उक्त मन्त्र में त्रसदस्यु ऋषि है और वही इन्द्रावरुण के यजन से उत्पन्न होता है। दौर्गह के कारागार के निबद्ध रहते समय सप्तर्षियों द्वारा बतायी विधि से किस प्रकार पुत्र उत्पन्न हो गया, यह विवरण कोई तर्कसङ्गत आधार प्रस्तुत नहीं करता, जिससे किसी बुद्धिगम्य निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव हो

---

१ निघ०वृ०, १.१४.१२.

२ निघ०वृ०, १.१४.१२.

३ निघ० १.१४.१२. शत०ब्रा०, ३.५.४.५. वै०पद०को०, पृ० १६७१.

४ वै०पद०को०, पृ० १६७१.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० २६४.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ४९९.

७ ऋ० ४.४२.८. ''अस्माकमत्र पितरस्त आसन्त्सप्त ऋषयो दौर्गहे बध्यमाने। त आयजन्त त्रसदस्युमस्या इन्द्रं न वृत्रमर्धदेवम्।''

८ सायणभाष्य, ऋ० ४.४२.८.

सके। उक्त मन्त्र में दौर्गह के पुत्र को इन्द्र के समान बलशाली तथा अर्धदेव बताया है। यदि दौर्गह को अश्वरूप माना जाये तो त्रसदस्यु किस प्रकार के स्वरूप का हो सकता है, की कल्पना करना जटिल नहीं, अत्यन्त दुरूह भी है। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि 'दौर्गह:' के स्वरूप के समान उसका निर्वचन भी अस्पष्ट है। चरित्र को स्पष्ट किये विना किसी भी सम्भावना को स्वीकार करना कल्पना से अधिक नहीं है।

१३. औच्चैःश्रवसः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'औच्चैःश्रवसः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'औच्चैःश्रवसः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**औच्चैःश्रवसः (अश्वः)। अमृतमन्थने जातोऽश्व उच्चैःश्रवः। उच्चैर्महच्छ्रवः कीर्तिरस्येति। तस्यापत्यम्। तत्कुलीना ह्यश्वाः सर्वे**''[२] कि अमृतमन्थन के समय उत्पन्न होने वाला अश्व 'उच्चैःश्रवः' है। महान् कीर्ति वाले होने के कारण इन्द्र के अश्व को 'उच्चैःश्रवः' कहा जाता है। उस 'उच्चैःश्रवस्' की सन्तान और उसके कुल में उत्पन्न होने वाले अश्व 'औच्चैःश्रवसः' नाम से अभिहित होते हैं। इस पक्ष में 'उच्चैःश्रवः' शब्द से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होकर 'औच्चैःश्रवसः' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'उच्च+श्रवः' से 'औच्चैःश्रवसः' पद को व्युत्पन्न मानता है।[३] मोनियर विलियम्स कहते हैं कि महाभारत, हरिवंश पुराण एवं कुमारसम्भव में समुद्र-मन्थन से निकलने वाले लम्बे कान या उच्चस्वर से हेषारव करने वाले इन्द्र के अश्व का नाम 'उच्चैःश्रवः' है।[४]

वैदिक साहित्य में 'औच्चैःश्रवसः' पद का प्रयोग एक बार हुआ है। प्रजापति या इन्द्र की स्तुति करता हुआ अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि भारवहन करने वाले दो बैल या अश्व पीछे से दौड़ते हुए उच्चैःश्रवा से कहने लगे कि हे कल्याणकर अश्व! जीतने के लिये सुन्दर मालाओं को धारण कर इन्द्र को ले आओ।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में इन्द्र के अश्व का नाम 'औच्चैःश्रवसः' है। परवर्ती पुराण आदि साहित्य में समुद्र-मन्थन से प्राप्त होने वाले जिस इन्द्र के 'उच्चैःश्रवा' अश्व का उल्लेख प्राप्त होता है, सम्भवतः, उसका आधार अथर्ववेद का उपर्युक्त मन्त्र है। महनीय कीर्ति वाला होना उक्त अश्व के 'औच्चैःश्रवसः' नामकरण का आधार प्रतीत होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'उच्चैःश्रवः' पद को 'औच्चैःश्रवसः' पद का मूल माना जा सकता है।

१४. तार्क्ष्यः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'तार्क्ष्यः' पद परिगणित है।[६] आचार्य यास्क 'तार्क्ष्यः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**तार्क्ष्यस्त्वष्टा। तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति**''[७] कि यह सर्वत्र व्याप्त अन्तरिक्ष में निवास

---

१ निघ० १.१४.१३.

२ निघ०वृ०, १.१४.१३.

३ वै०पद०को०, पृ० ८६५.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १७३.

५ अथर्व०, २०.१२८.१५. ''पृष्ठं धावन्तं हर्योरौच्चैःश्रवसमब्रुवन्। स्वस्त्यश्व जैत्रायेन्द्रमा वह सुस्रजम्।''

६ निघ० १.१४.१४.

७ निरु० १०.२७.

करता है, अतः, माध्यामिक देवता को 'तार्क्ष्यः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'तीर्ण+'क्षि' से 'तार्क्ष्यः' पद व्युत्पन्न होता है।

(ख)''**तूर्णमर्थं रक्षति**''[१] कि यह शीघ्र उदकरूप प्रयोजन की रक्षा करता है, अतः, माध्यमिक देवता को 'तार्क्ष्यः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'तूर्ण+'रक्ष्' से 'तार्क्ष्यः' पद उपपन्न होता है।

(ग)''**अश्नोतेर्वा**''[२] कि यह शीघ्र उदक के साथ व्याप्त हो जाता है, अतः, माध्यमिक देवता को 'तार्क्ष्यः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'तूर्ण+'अश्' से 'तार्क्ष्यः' पद व्युत्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् अश्ववाचक 'तार्क्ष्यः' पद का निर्वचन निम्न करते हैं:-''**तार्क्ष्यः (अश्वः)। तूर्णशब्दादश्नोतेः। तूर्णमश्नुते**''[३] कि यह शीघ्र मार्ग को पार कर जाता है, अतः, अश्व को 'तार्क्ष्यः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'तूर्ण+'अश्' से 'तार्क्ष्यः' पद व्युत्पन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियतीति तार्क्ष्यः। तीर्णशब्दात् पूर्वपदम्, क्षियतेरुत्तरपदम्। अश्वो हि वेगवशादाकाशे गच्छन्निव हि दृश्यते प्रेक्षकैः**''[४] कि अश्व वेग के कारण दर्शकों को आकाश में उड़ता हुआ दिखायी देता है, अतः, उसे 'तार्क्ष्यः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'तीर्ण+'क्षि' से 'तार्क्ष्यः' पद निष्पन्न होता है।

(ग)''**यद्वा, वेगेन तार्क्ष्यसादृश्यात् तार्क्ष्य इत्युच्यते**''[५] कि यह वेग में गरुड के समान होता है, अतः, अश्व को 'तार्क्ष्यः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'तार्क्ष्य' की समानता से अश्व 'तार्क्ष्यः' है।

(घ)''**यद्वा, तृक्षस्यापत्यं तार्क्ष्यः-इति क्षीरस्वामी**''[६] कि यह तृक्ष की सन्तान होने से 'तार्क्ष्यः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'तृक्ष' शब्द से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय करके 'तार्क्ष्यः' रूप उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'तार्क्ष्यः' पद को किसी दैव्यविशेषजीव की व्यक्तिपरकसंज्ञा मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। लेकिन 'तृक्ष्' त्वरितगतौ' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'तार्क्ष्यः' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[८] मोनियर विलियम्स भी अव्युत्पन्न 'तार्क्ष' पद से 'तार्क्ष्यः' पद को व्युत्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह एक पौराणिक व्यक्तित्व है, जिसका अरिष्टनेमि उपाधि वाले अश्व के रूप में उल्लेख हुआ है। परवर्ती साहित्य महाभारत, हरिवंशपुराण आदि में इसका गरुड या उसके बड़े भाई के रूप में वर्णन हुआ है। सुश्रुत-संहिता में यह एक प्रकार का पक्षी माना गया है।[९] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि 'तार्क्ष्यः' पद की वास्तविक व्युत्पत्ति अस्पष्ट है। वे उक्त

---

१ निरु० १०.२७.

२ निरु० १०.२७.

३ निघ०वृ०, १.१४.१४.

४ निघ०वृ०, १.१४.१४.

५ निघ०वृ०, १.१४.१४.

६ निघ०वृ०, १.१४.१४.

७ वै०पद०को०, पृ० १४७३.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० २२९.

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ४४४. सुश्रुत संहिता, ४.७४.

यास्कीय निर्वचनों को प्रत्येक वर्ण को धातु मानकर निर्वचन करने वाले सिद्धान्त का उदाहरण मानते हैं।[१]

वैदिक साहित्य में 'तार्क्ष्यः' पद का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि अहिंसित वज्र वाला अथवा जिसके रथचक्र की नेमि हिंसा नहीं करती है अथवा जो वज्र के समान दुःखों का नाश करने वाला है, ऐसा तृक्ष का पुत्र अथवा परमेश्वर हमारा कल्याण करे तथा बृहस्पति भी हमारे कल्याण को धारण करें।[२] उक्त मन्त्र की व्याख्या स्वामी दयानन्द निम्न प्रकार से करते हैं:-'कि सुखों की प्राप्ति कराने वाला अश्व सुख प्रदान करे'।[३] अरिष्टनेमि तार्क्ष्य ऋषि 'तार्क्ष्य' देवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि बलवान्, देवों के समान वेगवान्, सहनशील, शत्रुओं के रथों को पार कर जाने वाले, जिसके रथ की नेमि कभी टूटती नहीं है अथवा अहिंसित आयुध वाले, सेना को जीतने वाले एवं क्षिप्रकारी तार्क्ष्यदेव का हम वाहन के कल्याण के लिये आह्वान करते हैं।[४] यजुर्वेद में परमेष्ठी ऋषि कहते हैं कि उसके उत्तरदिशा में वसु पर नियन्त्रण करने वाले तार्क्ष्य और अरिष्टनेमि के समान सेनापति और ग्रामाध्यक्ष हैं।[५] ऐतरेय-ब्राह्मण कहता है कि स्वर्गलोक का वाहक यह जो वायु चलता है, यही तार्क्ष्य है।[६] शतपथ-ब्राह्मण का अभिमत है कि उस यज्ञ का तार्क्ष्य सेनापति तथा अरिष्टनेमि ग्रामणी है।[७]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में स्पष्टरूप से 'तार्क्ष्य' को अश्ववाचक नहीं माना गया है। वेद 'तार्क्ष्य' को अरिष्टनेमि सम्पन्न और कल्याणकर्ता बतलाता है, उसे देवों के समान वेगवान्, और सेना पर विजय प्राप्त करने वाला माना गया है। तार्क्ष्य और अरिष्टनेमि को यजुर्वेद सेनानी और ग्रामणी के रूप में चित्रित करता है। शतपथ-ब्राह्मण से भी इस मत की पुष्टि हो जाती है। वह कहता है कि तार्क्ष्य यज्ञ की रक्षा करने वाला सेनापति है तथा अरिष्टनेमि ग्रामणी है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेद की दृष्टि में 'तार्क्ष्य' एक वेगवान् दैवीय प्राणी है। सम्भवतः, इसी कारण परवर्ती साहित्य में इसका गरुड के रूप में उल्लेख हुआ है। वेद के वक्तव्य से यह स्पष्ट नहीं होता कि 'तार्क्ष्य' उड़ने वाला अथवा अश्व के समान चतुष्पाद प्राणी है। निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि वेद में 'तार्क्ष्य' का स्वरूप अस्पष्टता लिये हुए है। लेकिन फिर भी इतना कहा जा सकता है कि उसका वाहन से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। इसका कारण यह है कि वेद प्रायः सर्वत्र 'तार्क्ष्यः' के साथ 'अरिष्टनेमिः' (जिसके रथ की नेमि अटूट है) पद का प्रयोग करता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि तनूकरण अर्थ वाली 'तक्ष्' धातु से 'तार्क्ष्यः' पद के व्युत्पन्न होने की सम्भावना क्षीण है। लेकिन उक्तपद को अस्पष्ट मानना अधिक उचित प्रतीत होता है।

---

१ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क पृ० ९६.

२ ऋ० १.८९.६. ''स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।''

३ यजु०, २५.१९. ''स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽ अरिष्टनेमिः।''

४ ऋ० १०.१७८.१. ''त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्। अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम।''

५ यजु०, १५.१८. ''अयमुत्तरात् संयद्वसुस्तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ।''

६ ऐ०ब्रा०, ४.२०. ''अयं वै तार्क्ष्यो योऽयं (वायुः) पवते, एष स्वर्गस्य लोकस्याभिवोढा।''

७ शत०ब्रा०, ८.६.१.१९. ''तस्य (यज्ञस्य) तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौविति शारदौ तावृतू।''

१५. आशुः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'आशुः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् अश्ववाचक 'आशुः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**आशुः (अश्वः)। 'अशू' व्याप्तौ'। अश्नुतेऽध्वानम्**"[२] कि मार्ग को व्याप्त करने के कारण अश्व को 'आशुः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अश्' धातु से औणादिक 'उण्' प्रत्यय होकर 'आशुः' रूप उपपन्न होता है।

(ख)"अश्नातेर्वा। अश्नाति महाशनो भवति"[३] कि यह बहुत अधिक भक्षण करता है, अतः, अश्व को 'आशुः' कहा जाता है। इस पक्ष में भक्षणार्थक 'अश्' धातु से औणादिक 'उण्' प्रत्यय होकर 'आशुः' रूप निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'आशुः' पद को अश्व, इन्द्र, सोम प्रभृति का विशेषण तथा अश्ववाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'आशुः' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स का अभिमत है कि उक्तपद 'अश्' धातुमूलक है। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा शतपथ-ब्राह्मण में उक्तपद तीव्र और तीव्रगामी अर्थ में आया है। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में यह पद तीव्रगामी प्राणी या अश्व के अर्थ में आया है।[६] वेद 'आशु' पद को 'अश्' धातुमूलक मानने का सङ्केत करता है।[७]

वैदिक साहित्य में 'आशुः' पद का व्यापक प्रयोग देखने को मिलता है। घोरपुत्र कण्व ऋषि कहते हैं कि हे मरुतो (मनुष्यो)! बुद्धिमान् लोगों में सम्मान प्राप्त करने के लिये तुम शीघ्रगामी अश्वों से अच्छे प्रकार गमन और आनन्द को प्राप्त करो।[८] राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि होम के लिये किस देव का अश्वसहित आह्वान करें और कौन यज्ञ में आये देवता के स्वरूप को जानता है।[९] दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि भिन्न-भिन्न वर्ण के शीघ्रगामी, अत्यन्त तीव्रगामी, वायु के वेग से चलने वाले अश्व योजित किये जाते हैं।[१०] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार अश्व के वहनप्रदेश (पृष्ठभाग) का हस्त से मार्जन किया जाता है, उसी प्रकार बुद्धि या कर्म को सुवासित एवं हविरूप अन्न को धारण करने वाले अग्नि का हम प्रातःकाल शीघ्र आने के लिये मार्जन करते हैं।[११] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार शीघ्रगामी पैरों से अश्व पृथिवी को पार कर

---

१ निघ० १.१४.१५.

२ निघ०वृ०, १.१४.१५.

३ निघ०वृ०, १.१४.१५.

४ वै०पद०को०, पृ० ७२२.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० १०४.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १५७.

७ ऋ० १.४.७. "एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम्।" ऋ० २.१६.३. "न ते वज्रमन्वश्नोति कश्चन यदाशुभिः।"

८ ऋ० १.३७.१४. "प्र यात शीभमाशुभिः सन्ति कण्वेषु वो दुवः। तत्रो षु मादयध्वै।"

९ ऋ० १.८४.१८. "कस्मै देवा आ वहानाशु होम को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः।"

१० ऋ० १.१४०.४. "असमना अजिरासो रघुष्यदो वातजूता उप युज्यन्त आशवः।"

११ ऋ० १.६०.५. "आशुं न वाजंभरं मर्जयन्तः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्।"

जाते हैं, उसी प्रकार वैज्ञानिक यन्त्र को हाथ से प्रहार करते हुए पृथ्वी के उच्चप्रदेशों को पार कर लेते हैं।[१] एक अन्य सूक्त में गृत्समद ऋषि कहते हैं कि जब इन्द्र शीघ्रगामी अश्वों से अनेक योजनों को पार करता है, उस समय उसके वज्र को कोई भी परिभावित करने में समर्थ नहीं है।[२] गृत्समद ऋषि अन्यत्र कहते हैं कि जिस प्रकार श्रम का हरण करने के लिये अश्व को उदक से सिञ्चित किया जाता है, उसी प्रकार लोगों को उदक से सिञ्चित करने के लिये गर्जना करते हुए मरुत् शीघ्र वृष्टि के लिये जाते हैं।[३] वामदेव ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार तीव्रगामी अश्व वायु का सेवन करता है, उसी प्रकार दहन क्रिया में वायु के बल का सेवन करता हुआ अग्नि अपनी ज्वालाओं को बलवान् बनाता है।[४] ताण्ड्य-महाब्राह्मण कहता है कि दिवस विलीन होगया, उसे आशु के द्वारा अन्वेषित किया गया, यही आशु का आशुत्व है।[५] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि तीव्रगामी वायु ही त्रिवृत् है, क्योंकि यह तीनों लोकों में वर्तमान है।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह अश्व 'आशुः' है, जिस पर सम्मान प्राप्त करने के लिये बैठकर गमन किया जाता है, होम में अश्वसहित इन्द्र का आह्वान किया जाता है, ये अश्व भिन्न-भिन्न वर्णा के, अतिद्रुतगामी एवं वायु के वेग से चलते हैं, अश्व के पृष्ठभाग का मार्जन किया जाता है, यन्त्र पर प्रहार करते हुए वैज्ञानिक पर्वत के उच्चप्रदेशों को पार कर जाते हैं, उसी प्रकार शीघ्रगामी अश्व पैरों से पृथ्वी को पार करते है, इन्द्र शीघ्रगामी अश्वों से अनेक योजनों को पार कर जाता है, श्रम का हरण करने के लिये अश्व को उदक से सिञ्चित किया जाता है, तीव्रता से दौड़ता हुआ अश्व वायु का सेवन करता है। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कह सकते हैं कि वेद में द्रुतगामी होने के कारण अश्व को 'आशुः' कहा गया है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए व्याप्ति अथवा शीघ्रता अर्थ वाली 'अश्' धातु को 'आशुः' पद का मूल माना जा सकता है।

१६. ब्रध्नः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'ब्रध्नः' पद परिगणित है।[७] आचार्य देवराजयज्वन् अश्ववाचक 'ब्रध्नः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**ब्रध्नः (अश्वः)। ब्रध्नं परिवृढम्**"[८] कि सर्वत्र वृद्धि को प्राप्त होने के कारण अश्व को 'ब्रध्नः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'बृह्' धातु से 'ब्रध्नः' पद निष्पन्न होता है।

उणादिकोष में 'बन्ध्' धातु से 'नक्' प्रत्यय होकर 'ब्रध्नः' पद व्युत्पन्न होता है। वृत्तिकार "**बध्नातीति ब्रध्नः महान् सूर्यो वा**" कि बाँधने के कारण महान् अथवा सूर्य को 'ब्रध्नः' कहा जाता है।[९]

---

१ ऋ० २.३१.२. "यदाशव पद्याभिस्तित्रतो रजः पृथिव्या सानौ जङ्घनन्त पाणिभिः।"

२ ऋ० २.१६.३. "न ते वज्रमन्वश्नोति कश्चन यदाशुभिः पतसि योजना पुरु।"

३ ऋ० २.३४.३. "उक्षन्ते अश्वाँ अत्याँइवाजिषु नदस्य कर्णैस्तुरयन्त आशुभिः।"

४ ऋ० ४.८.११. "वातस्य मेळिं सचते निजूर्वन्नाशुं न वाजयन्ते हिन्वे अर्वा।"

५ ता०ब्रा०, १४.९.१०. "अहर्वा एतदल्लीयत तद्देवा आशुनाभ्यधिन्वꣳस्तदाशोराशुत्वम्।"

६ शत०ब्रा०, ८.४.१.९. "वायुर्वाऽआशुस्त्रिवृत्। स एषु त्रिषु लोकेषु वर्तते।"

७ निघ० १.१४.१६.

८ निघ०वृ०, १.१४.१६.

९ उणा०, ३.५. "बन्धेर्ब्रधिबुधी च।"

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'ब्रध्नः' पद को सोम और मरुत् का विशेषण तथा सूर्यवाचक (शत०ब्रा०,१३.२.६.१.) नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। लेकिन 'बृह् दीप्तौ वृद्धौ च' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'ब्रध्नः' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स उक्तपद के मूल को सन्दिग्ध मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद एवं तैत्तिरीय-संहिता में यह पद पीलापन लिये हुए रक्तवर्ण, पीत, लाल, पीताभ, विशेषरूप से अश्व का वर्ण, लेकिन यह सोम और पुरोदास पर भी चरितार्थ होता है। ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं मनुस्मृति (मनु०,४.२३१) में यह महद्वाचक के अतिरिक्त सूर्य का वाचक भी है।[३]

वैदिक साहित्य में 'ब्रध्नः' पद का अनेकशः उल्लेख हुआ है। मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि वायुरूप में सर्वत्र विरचरण एवं आदित्यरूप (ब्रध्नम्) में सर्वत्र अवस्थित इन्द्र को हम अपने कर्म से सम्बद्ध करते हैं। इसी इन्द्र के प्रकाशक नक्षत्र द्युलोक में प्रकाशित होते हैं।[४] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि स्तोत्र से दधिक्रादेव का उद्बोधन करता हुआ मैं अग्नि, उषा, सूर्य और गो (वाक् या भूमि) की स्तुति करता हूँ तथा अभिमानी जनों का नाश करने वाले वरुण के महान् (ब्रध्नम्) पिङ्गल (बभ्रु) वर्ण के अश्व का आह्वान करता हूँ। ये देव मुझसे समस्त दुरितों को दूर करें।[५] देवातिथि काण्व ऋषि कहते हैं कि अन्तरिक्ष (ब्रध्नम्) मार्ग में, अन्तरिक्षगामी वृषणनामक हरणशील अश्व (शक्तियाँ) इन्द्र को यज्ञकर्म में लायें।[६] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि वायु के समान तीव्रगामी ब्रध्न (आदित्य या अश्व) तथा बहुत यज्ञों वाला इन्द्र मुझे सन्तान प्रदान करे।[७] विमद ऋषि कहते हैं कि जनयिता ने इस हिरण्यवर्ण अग्नि को उत्पन्न किया। यह अग्नि कृष्ण, श्वेत, रक्त दीप्ति वाला होता है। इसकी गति अत्यन्त (ब्रध्नः) सीधी और तापमयी होती है।[८] प्रियमेध ऋषि कहते हैं कि जब हम सूर्य (ब्रध्नस्य) के विस्तृत स्थान को प्राप्त हों, वहाँ मधुर रसपान करते हुए हम एक साथ रहें।[९] कश्यप मारीच ऋषि कहते हैं कि जहाँ कामनायें निष्काम हो जाती हैं, जहाँ आदित्य का स्थान है, जहाँ स्वधा और तृप्ति है, वहाँ मुझे अमृतत्व प्रदान करें।[१०] अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि रात्रि अश्व का मूल, पुरुष का समर आह्वान

---

१ वै०पद०को०, पृ० २३०९.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ३६३.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७३७.

४ ऋ० १.६.१. ''युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि।''

५ ऋ० ७.४४.३. ''दधिक्रावाणं बुबुधानो अग्निमुप ब्रुव उषसं सूर्यं गाम्। ब्रध्नं मँश्चतोर्वरुणस्य बभ्रुं ते विश्वस्मादुरिता यावयन्तु।''

६ ऋ० ८.४.१४. ''उप ब्रध्नं वावाता वृषणा हरी इन्द्रमपसु वक्षतः।''

७ ऋ० ९.९७.५२. ''ब्रध्नश्चिदत्र वातो न जूतः पुरुमेधश्चित्तकवे नरं दात्।''

८ ऋ० १०.२०.९. ''कृष्णः श्वेतोऽरुषो यामो अस्य ब्रध्न ऋज्र उत शोणो यशस्वान्। हिरण्यरूपं जनिता जजान।''

९ ऋ० ८.६९.७. ''उद्यद् ब्रध्नस्य विष्टपं गृहमिन्द्रश्च गन्वहि। मध्वः पीत्वा सचेवहि त्रिः सप्त सख्युः पदे।''

१० ऋ० ३.११३.१०. ''यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्। स्वधा यत्र च तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रोयेन्दो परि स्रव।''

और अन्य नानारूपों को धारण करके प्रकाशित करती है।[१] रोहित देवता का वर्णन करता हुआ ऋषि कहता है कि यह ब्रध्न का विष्टप् है, जिसने स्वर्लोकों को व्याप्त कर रक्खा है।[२] यजुर्वेद में विश्वदेव ऋषि यज्ञ का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ब्रध्न का विष्टप् ३४वाँ है।[३] शुनःशेप ऋषि कहते हैं कि हम स्वयं श्रेष्ठ नाकलोक में आरूढ होते हुए ब्रध्न के विष्टप् को प्राप्त करें।[४] ब्रध्न के विष्टप् के स्वरूप को स्पष्ट करता हुआ कौषीतकि-ब्राह्मण कहता है कि जहाँ सूर्य तपता है, वही ब्रध्न का विष्टप् है।[५] जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है कि वही ब्रध्न का विष्टप् है, उसमें यह सम्पूर्ण कामनाओं का दोहन करता है।[६] ऐतरेय-ब्राह्मण कहता है कि स्वर्गलोक ही ब्रध्न का विष्टप् है।[७] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि संवत्सररूप ब्रध्न के ३४ विष्टप् निम्न हैं-२४ पक्ष, सात ऋतु, दो अहोरात्र और एक संवत्सर।[८]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'ब्रध्नः' पद आदित्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, कुछ स्थलों पर ऋषि ने इस पद का 'महत्' अर्थ में, क्वचित् विस्तृत अन्तरिक्ष के अर्थ में प्रयोग किया है। कतिपय स्थलों पर ऋषि ब्रध्न के साथ 'विष्टप्' का प्रयोग करता है, परन्तु यह विष्टप् भी ब्रध्न को आदित्यवाचक सिद्ध करता है। केवल एक दो स्थानों पर आदित्य के विकल्प के रूप में ब्रध्न का अर्थ 'अश्व' लिया जा सकता है। उक्त स्थल पर मन्त्र ब्रध्न (अश्व) को वायु के समान वेगवान् बतलाता है।[९] लेकिन इस विवादास्पद व्याख्या के आधार पर 'ब्रध्नः' के विशिष्ट स्वरूप को निर्धारित कर पाना सम्भव नहीं है। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, प्राणी का जीवन सूर्य से बँधा हुआ होने के कारण सूर्य वाचक 'ब्रध्नः' पद को 'बन्ध्' धातुमूलक माना जा सकता है।

१७. अरुषः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक नामपदों में 'अरुषः' पद परिगणित है।[१०] आचार्य यास्क 'अरुषः' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-"**अरुषीरोचनात्**"[११] कि प्रकाशमान होने से उषा को 'अरुषी' कहा जाता है। इस

---

१ अथर्व०, १९.४९.४. "अश्वस्य ब्रध्नं पुरुषस्य मायुं पुरु रूपाणि कृणुषे विभाती।"

२ अथर्व०, १३.१.१६. "अयं ब्रध्नस्य विष्टपि स्वर्लोकान् व्यानशे।"

३ यजु०, १४.२३. "ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिꣳशः।"

४ यजु०, १८.५१. "तेन॑ व॒यं ग॑मेम ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टपꣳ॒ स्वो रुहा॑णा॒ ऽ अधि॒ नाक॑मुत्त॒मम्।"

५ कौ०ब्रा०, १७.३. "अदो वै ब्रध्नस्य विष्टपं यत्रासौ (सूर्य्यः) तपति।"

६ जै०ब्रा०, ३.३२९. "तदेव ब्रध्नस्य विष्टपम्। तस्मिन्न् एतद् देवास् सर्वान् कामान् दुह्रे।"

७ ऐ०ब्रा०, ४.४. "स्वर्गो लोको ब्रध्नस्य विष्टपम्।"

८ शत०ब्रा०, ८.४.१.२३. "संवत्सरो वाव ब्रध्नस्य चतुस्त्रिꣳशस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासाः सप्तऽर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रि ꣳशस्तद्यत्तमाह ब्रध्नस्य विष्टपमिति स्वाराज्यं वै ब्रध्नस्य विष्टपꣳ स्वाराज्यं चतुस्त्रिꣳशः।"

९ ऋ० ९.९७.५२.

१० निघ० १.१४.१७.

११ निरु० १२.७.

पक्ष में 'आ+'रुच्' से 'अरुषी' पद उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'अरुषः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अरुषः (अश्वः)। 'ऋ' गतिप्रापणयोः'। ऋणाति अभ्यामुखं गच्छति, अर्य्यते वा तदर्थिभिः**''[१] कि यह सामने जाता है या इच्छुक लोगों के द्वारा इसका ग्रहण किया जाता है, अतः, अश्व को 'अरुषः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'ऋ' गतिप्रापणयोः' धातु से 'अरुषः' पद उपपन्न होता है।

(ख)''यद्वा, अरुषमिति रूपनाम (निघ०,३.७.१५.) मत्वर्थीयोऽकारः, प्रशस्तरूप इत्यर्थः''[२] कि प्रशस्तरूप वाला होने के कारण अश्व को 'अरुषः' कहा जाता है। इस पक्ष में रूपवाचक 'अरुषः' पद से मत्वर्थीय 'अ' प्रत्यय होकर 'अरुषः' रूप उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अरुषः' पद को (ताम्रवर्णवाचक) अग्नि, सोम प्रभृति का विशेषण तथा उदित होते हुए सूर्य का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। लेकिन उणादिकोष 'अर्' तपनदीप्त्योः'+उषन्' से तथा सायण 'न+'रुष्' हिंसायाम्+कर्तरि+'क' प्रत्यय से 'अरुषः' निष्पन्न करते हैं।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अरुषः' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स 'अरुषः' पद को 'अ+'रुष्' से व्युत्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद एवं वाजसनेयि-संहिता में यह पद रक्त, रक्ताभ (अग्नि और उसके अश्वों, गायों, उषा का दल, और अश्विनीदेवों के) वर्ण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में यह पद सूर्य, दिवस, अग्नि के रक्तवर्ण के अश्व के अर्थ में आया है।[५] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि उक्त यास्कीय निर्वचन के आदिम, भाषा-विज्ञान के अविकसित तथा वैदिक साहित्य के अपर्याप्त शोध के अभाव में इस विषय में कुछ कह पाना अभी सम्भव नहीं है।[६] उणादिकोष 'अरूषः' पद को 'ऋ'+ऊषन्' से व्युत्पन्न करता है।[७] वेद से प्राप्त सङ्केत 'रुश्' दीप्तौ' धातु से 'अरुषः' पद को व्युत्पन्न मानते हैं।[८]

वैदिक साहित्य में 'अरुषः' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार चर्मपात्र से निकलने वाली जलधारायें भूमि को क्लिन्न कर देती हैं, उसी प्रकार आरोचमान विद्युत् से निकलने वाली उदक की धारायें भूमि को आर्द्र कर देती हैं।[९] यहाँ ऋषि ने विद्युत् के विशेषण के रूप में 'अरुषः' पद का प्रयोग किया है। कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि सूर्य की दुहितासहित घर के समीप से उड़ने में

---

१ निघ०वृ०, १.१४.१७.

२ निघ०वृ०, १.१४.१७.

३ वै०पद०को०, पृ० ४९५.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ५४.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८८.

६ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क पृ० ७३.

७ उणा०, ४.७४. ''ऋहनिभ्यामूषन्।''

८ ऋ० १.९२.२. ''रुशन्तं भानुमरुषीरशिश्रयुः।''

९ ऋ० १.८५.५. ''उतारुषस्य वि ष्यन्ति धाराश्चर्मेवोदभिर्व्युन्दन्ति भूम।''

समर्थ तुम दोनों (अश्विनीदेवों) को आरोचमान अश्व लक्ष्य तक पहुँचायें।[१] उक्त मन्त्र में ऋषि ने अश्व के विशेषण के रूप में 'अरुषः' पद का प्रयोग किया है। दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि यह अग्नि (सूर्य) विस्तृत पृथ्वी के उच्चतम शिखर पर अपने चरण रखती है और इसके अश्व या आरोचमान ज्वालायें (अरुषासः) ऊधस्थानीय अन्तरिक्ष को चाटती हैं।[२] एक अन्य सूक्त में दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार रज्जु, कील आदि से निर्मित रथ को अश्व आहरण कर ले जाते हैं, उसी प्रकार आरोचमान ज्वालारूप अङ्ग अग्नि को ले जाते हैं।[३] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि अध्वर्यु आदि ऋत्विजों की भुजाओं से उत्पन्न यह बलवान् एवं आरोचमान रूप वाला अग्नि अश्व के समान काष्ठा (उदक या वन) में सुशोभित होता है।[४] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि ऋत्विजों के द्वारा आहूत किये जाने पर श्याव (धूसर) या रोहित (लोहित) अथवा श्वेत (अरुष) वर्ण के अश्व रथवहन करते हैं।[५] एक अन्य मन्त्र भी अश्वों को रोहित और अरुष वर्ण का बतलाता है।[६] वामदेव ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार बलवान् या गमनशील अश्व भेदन और सिञ्चन करता हुआ चला जाता है, उसी प्रकार उदक की धारायें दिशाओं का भेदन एवं सिञ्चन करती हुई चली जाती हैं।[७] एक अन्य मन्त्र में वामदेव ऋषि कहते हैं कि अन्न और उदक की वर्षा करने वाले अग्नि के समान मन से भी अधिक वेगवान् रक्त (रोहित) वर्ण के अश्वों की मैं (ऋषि) स्तुति करता हूँ। आरोचमान ये अश्व रथ में योजित होते हुए देवताओं, प्रजाओं और मनुष्यों के बीच जाते हैं।[८] हरिमन्त आङ्गिरस ऋषि कहते हैं कि यह पवमानदेव दुःखों को दूर करने वाले अश्व के समान युक्त होता है तथा दुग्धादि द्रव्य के साथ मिश्रित कलश में स्थित सोम को प्राप्त करता है।[९] तैत्तिरीय-ब्राह्मण कहता है कि अग्नि ही अरुष है और यही अर्वा (गतिशील) है।[१०]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह अश्व 'अरुषः' हैं, जो (अग्नि के अश्व) ऊधस्थानीय अन्तरिक्ष को चाटते हैं, रज्जु, कीलादि से निर्मित रथ को ये अश्व आहरण कर ले जाते हैं, ये अश्व वन में सुशोभित होते हैं, श्याव, रोहितादि अनेक वर्ण के अश्वों में से श्वेतवर्ण के अश्व को ऋषि 'अरुषः' कहता है, यह शक्ति के कारण दिशाओं का भेदन और सिञ्चन करता हुआ चला जाता है, ये अश्व देवता, प्रजाओं और मनुष्यों के बीच जाते हैं, ये अश्व दुःखों को दूर करने वाले हैं। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि 'अरुषः' की प्रमुख विशेषता उसका आरोचमानरूप वाला होना है। 'अरुषः' पद विशेषण या

---

१ ऋ० १.११८.५. ''परि वामश्वा वपुषः पतङ्गा वयो वहन्त्वरुषा अभीके।''

२ ऋ० १.१४६.२. ''उर्व्याः पदो नि दधाति सानौ रिहन्त्यूधो अरुषासो अस्य।''

३ ऋ० १.१४१.८. ''रथो न यातः शिक्वभिः कृतो द्यामङ्गेभिररुषेभिरीयते।''

४ ऋ० ३.२९.६. ''यदी मन्थन्ति बाहुभिर्वि रोचतेऽश्वो न वाज्यरुषो वनेष्वा।''

५ ऋ० २.१०.२. ''श्यावा रथं वहतो रोहिता वोतारुषाह चक्रे विभृत्राः।''

६ ऋ० ४.६.९. ''तव त्ये घृतस्ना रोहितास ऋज्वञ्चः स्वञ्चः। अरुषासो वृषण ऋजुमुष्का आ देवतातिमह्वन्त दस्माः।''

७ ऋ० ४.५८.७. ''घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः।''

८ ऋ० ४.२.३. ''अत्या वृधस्नू रोहिता घृतस्नू ऋतस्य मन्ये मनसा जविष्ठा। अन्तरीयसे अरुषा युजानो युष्मांश्च देवान्विश आ च मर्तान्।''

९ ऋ० ९.७२.१. ''हरिं मृजन्त्यरुषो न युज्यते सं धेनुभिः कलशे सोमो अज्यते।''

१० तै०ब्रा०, ३.९.४.१. ''अग्निर्वा अरुषः।'' तै०ब्रा०, १.३.६.४. ''अग्निर्वा अरुषः अर्वा।''

नामपद के रूप में प्रयुक्त हुआ हो, सर्वत्र प्रायः यह उज्ज्वलता का अभिधान करता है। आरोचमान रूप वाला होने के कारण अग्नि, सोम, सूर्य और अश्व-इनका 'अरुषः' विशेषण या अभिधान है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'रुश्' या 'रुच्' दीप्तौ' धातु को 'अरुषः' पद का मूल माना जा सकता है। इस व्युत्पत्ति को स्वीकार करने में 'अरुषः' के आदि अकार को सिद्ध करने की समस्या बनी रहती है।

१८. माँश्चत्वः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'माँश्चत्वः' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'माँश्चत्वः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**माँश्चत्वः (अश्वः)। 'मन' ज्ञाने'। मक्षु चरतीति। अश्वैः क्रियमाणे युद्धे बाहुयुद्धे, वधत्रे शत्रूणां हिंसनशीले भवतः। सोऽयं अस्वापयच्छत्रून्त्स्नेहयच्च**"[२] कि युद्ध में विचरण करता है, अतः, अश्व को 'माँश्चत्वः' कहा जाता है। भुजाओं और अश्व से किये जाने वाले- ये दोनों प्रकार के युद्ध शत्रुओं की हिंसा करते हैं। यह युद्ध कुछ शत्रुओं को रणभूमि में सुला देता है और कुछ को रणभूमि से भगा देता है। इस पक्ष में 'मन्'+'चर्' से पृषोदरादि नियम से 'माँश्चत्वः' पद उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'माँश्चत्वः' पद के अर्थ और व्युत्पत्ति दोनों को सन्दिग्ध मानता है। सायण तथा पेटरसन उक्तपद को 'सरस्' का विशेषण मानते हैं। ग्रासमैन उक्तपद को सत्=प्रातर्वेला अर्थ का अभिधान मानते हैं। कुछ विद्वान् महागतिमान् अभिधेय का वाचक एवं अश्व का विशेषण मानते हैं। उक्तपद की सम्भावित विकास प्रक्रिया निम्न है:-'मंहस्+'चर्'=मंहस्+चरस्=मँहश्चरस्=माँश्चत्व'।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'माँश्चत्वः' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स भी उक्तपद को अव्युत्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार सम्भवतः, यह पद ऋग्वेद में हल्का पीला, धूसर वर्ण के अर्थ में है।[५]

वैदिक साहित्य में उक्तपद का अत्यल्प प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस कुत्स ऋषि पवमानदेवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे देव! इस पवित्र करने वाली वृष्टि से हमारे वसुओं को पवित्र करें और अभिमानी चातक के उदर में उदक पहुँचने दें।[६] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि इस वध करने वाले अश्वयुद्ध या स्पर्शसाध्य बाहुयुद्ध में वर्षणशील पवमानदेव के महती शक्तिशाली बाण आते हैं।[७] वसिष्ठ ऋषि दधिक्रादेव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि अभिमानी जनों का नाश करने वाले उस वरुण के महान् (ब्रध्नम्) पिङ्गल (बभ्रु) वर्ण के अश्व का आह्वान करने के लिये हम स्तुति करते हैं। ये देव समस्त दुरितों को हमसे दूर करें।[८] आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं कि उक्त मन्त्र में सायण के अनुसार 'मँश्चतुः' पद

---

१ निघ० १.१४.१८.

२ निघ०वृ०, १.१४.१८.

३ वै०पद०को०, पृ० २४७५.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ३९६.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८०५.

६ ऋ० ९.९७.५२. "अया पवा पवस्वैना वसूनि माँश्चत्व इन्दो सरसि प्र धन्व।"

७ ऋ० ९.९७.५४. "महीमे अस्य वृषनाम शूषे माँश्चत्वे वा पृशने वा वधत्रे।"

८ ऋ० ७.४४.३. "दधिक्रावाणं बुबुधानो अग्निमुप ब्रुव उषसं सूर्यं गाम्। ब्रध्नं मँश्चतोर्वरुणस्य बभ्रुं ते विश्वस्माद्दुरिता

का अर्थ 'अश्व' है।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि उपर्युक्त तीन मन्त्रों में से प्रथम मन्त्र में 'माँश्चत्वः' पद चातक के अभिमानित्व का प्रतिपादन कर रहा है। द्वितीय मन्त्र में युद्ध में प्रयुक्त किये जाने वाले अश्व का वर्णन है तथा तृतीय मन्त्र में, जहाँ शब्द 'मँश्चतुः' है, यह अश्व के विशेषण के रूप में आया है। इस प्रकार केवल द्वितीय मन्त्र के आधार पर मात्र इतना कहा जा सकता है कि युद्ध में प्रयुक्त होने वाला अश्व 'माँश्चत्वः' है। लेकिन यह भी सम्भावना मात्र है। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि अर्थ के समान उक्तपद की व्युत्पत्ति भी सन्दिग्ध है।

१९. अव्यथयः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'अव्यथयः' पद परिगणित है।[२] आचार्य देवराजयज्वन् अश्ववाचक 'अव्यथयः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**अव्यथयः (अश्वः)। 'व्यथ' भयचलनयोः'। न व्यथन्तेऽभिसङ्ग्रामेषु अव्यथयः, दृष्टे भयेऽप्यव्यथयः**"[३] कि जो सङ्ग्रामों में व्यथित नहीं होते, वे अश्व 'अव्यथयः' कहलाते हैं। इस पक्ष में 'न+'व्यथ्+इन्' 'अव्यथिन्' शब्द निष्पन्न होता है। पाणिनि व्याकरण में इसी प्रकार 'अव्यथिन्' रूप सिद्ध किया जाता है।[४]

(ख)"**यद्वा, व्यथिरिति क्रोधनाम (निघ०,२.१३.११.) आरोहणताडनबन्धनादिभिर्न क्रुध्यन्तीत्यर्थः**"[५] कि आरोहण, ताडन और बन्धन से भी क्रोध न आने के कारण अश्व को 'अव्यथयः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'न+'व्यथ्'+इन्' 'अव्यथिन्' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अव्यथयः' पद को 'न+'व्यथ्' से व्युत्पन्न मानता है। उनके अनुसार उक्तपद वेद में ऊति, पतत्रिन् प्रभृति के विशेषण रूप में प्रयुक्त है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी 'अव्यथयः' पद का मूल 'न+'व्यथ्' को मानती है।[७] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में उक्तपद भयरहित, स्थिर, सुरक्षित, निश्चितरूप से सहायता प्राप्त करने वाले के अर्थ में आया है।[८]

वैदिक साहित्य में 'अव्यथयः' पद का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि हे अश्विनीदेवो! तुम दोनों सङ्ग्राम में दुःखनाशक, शत्रुओं के हिंसक, प्रजा के पालक व्यक्ति की

यावयन्तु।"

१ निघ०वृ०, १.१४.१८.

२ निघ० १.१४.१९.

३ निघ०वृ०, १.१४.१९.

४ अष्टा०, ३.२.१५७.

५ निघ०वृ०, १.१४.१९.

६ वै०पद०को०, पृ० ५६६.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० ६६.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १११.

व्यथारहित उपाय से रक्षा करो।[१] उक्त मन्त्र में सायण ने 'अव्यथिभिः' का अर्थ 'नौका' ग्रहण किया है, जबकि 'व्यथारहित उपाय' अधिक तर्कसङ्गत है। कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि बलवान्, उत्तमता से प्राप्त, निरन्तर गमन करने वाला, विना किसी कष्ट के समुद्र को पार करने के लिये तुम दोनों का आह्वान करता है।[२] उक्त मन्त्र में सायण 'अव्यथिः' का अर्थ 'विना किसी कष्ट' के करते हैं। वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि हे अश्विनीदेवो! विना श्रम और कष्टों के गतिशील समुद्र से पार निकालने वाली नौका से हमें पार पहुँचाओ।[३] उक्त मन्त्र में 'अव्यथिभिः' पद का प्रयोग 'नौका' के लिये हुआ है। कण्वपुत्र मेधातिथि तथा आङ्गिरस पुत्र प्रियमेध ऋषि कहते हैं कि सुख से स्तुति करने वालों में सबसे अधिक प्रसिद्ध इन्द्र स्तोताओं को अश्व, गाय आदि वाला धन एवं बल प्रदान करता है।[४] उक्त मन्त्र में ऋषि ने इन्द्र के विशेषण के रूप में 'अव्यथिषु' पद का प्रयोग किया है। भार्गव ऋषि पवमानदेव की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे सुन्दर प्रज्ञ! आप द्युलोक के धन को सुपर्ण (अश्व) के समान विना कष्ट के प्राप्त कराते हो।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि उपर्युक्त सभी मन्त्रों में 'अव्यथिः' पद 'कष्ट या दुःखरहित उपाय' के अर्थ में आया है। यह दुःखरहित उपाय नौका या अश्व भी हो सकते हैं और कोई देवता भी। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि वेद में 'अव्यथयः' पद अश्व अर्थ में नहीं आया है। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि निर्विवादरूप से 'न+'व्यथ्' को 'अव्यथयः' पद का मूल माना जा सकता है।

२०. श्येनासः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'श्येनासः' पद परिगणित है।[६] गोपथ-ब्राह्मण 'श्येन' पद का निर्वचन करता हुआ कहता है:-"**यदाह श्येनोऽसीति सोमं वा एतदाहैष ह वा अग्निर्भूत्वाऽस्मिंल्लोके संश्यायति। तद्यत्संश्यायति तस्माच्छ्येनस्तच्छ्येनस्य श्येनत्वम्**"[७] कि जब यह कहा जाता है कि तुम श्येन या सोम हो, तब यह अग्नि होकर इस लोक में गमन करता है। जो यह गमन करता है, यही श्येन का श्येनत्व है। इस पक्ष मे 'श्यै' धातु से 'श्येन' पद उपपन्न होता है।

आचार्य यास्क 'श्येन' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**श्येनः शंसनीयं गच्छति**"[८] कि प्रशंसनीय गति वाला होने के कारण अश्व को 'श्येन' कहा जाता है। इस पक्ष में 'शंस्'+'इ' धातु से 'श्येन' पद उपपन्न होता है।

---

१ ऋ० १.११२.६. "याभिरन्तकं जसमानमारणे भुज्युं याभिरव्यथिभिर्जिजिन्वथुः।"
२ ऋ० १.११७.१५. "अजोहवीदश्विना तौग्र्यो वां प्रोळ्हः समुद्रमव्यथिर्जगन्वान्।"
३ ऋ० ७.६९.७. "पतत्रिभिरश्रमैरव्यथिभिर्दंसनाभिरश्विना पारयन्ता।"
४ ऋ० ८.२.२४. "यो वेदिष्ठो अव्यथिष्वश्वावन्तं जरितृभ्यः। वाजं स्तोतृभ्यो गोमन्तम्।"
५ ऋ० ९.४८.३. "अतस्त्वा रयिमभि राजानं सुक्रतो दिवः। सुपर्णो अव्यथिर्भरत्।"
६ निघ० १.१४.२०.
७ गो०ब्रा०, १.५.१२.
८ निरु० ४.२४.

(ख)''श्येन आदित्यो भवति श्यायतेर्गतिकर्मण:। --------------श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मण:''[१] कि गतिमान् होने के कारण आदित्य तथा ज्ञानवान् होने के काराण आत्मा को 'श्येन' कहा जाता है। इस पक्ष में गत्यर्थक या ज्ञानार्थक 'श्यै' या 'श्या' धातु से 'श्येन' पद उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् अश्ववाचक 'श्येनास:' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**श्येनास: (अश्वा:)। श्येन: शंसनीयं गच्छति (निरु०,४.२४) जसि 'आज्जसेरसुक्' (अष्टा०,७.१.५०)**''[२] कि प्रशंसनीय गति से जाता है, अत:, अश्व को 'श्येनास:' कहा जाता है। इस पक्ष में 'शंस्' धातु से 'श्येन' शब्द निष्पन्न होने पर बहुवचन में 'असुक्' आगम होकर 'श्येनास:' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'श्येनास:' पद को हिंस्रपक्षी का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की उत्पत्ति-विकास-प्रक्रिया निम्न होने की सम्भावना है:-''वृष्य=वृश्य, मि=मयन, वृश्य+मयन=श्यमयन=श्य-अयन=श्येन'। गोपथ-ब्राह्मण (१.५.१२.) 'सम्+'श्यै' गतौ' धातु से 'श्येन' पद को व्युत्पन्न मानता है। उक्त व्युत्पत्ति का समर्थन यास्क तथा उणादिकोष से हो जाता है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'श्येनास:' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स का अभिमत है कि 'श्वि' धातु से निष्पन्न 'श्वेत' के साथ 'श्येत' और 'श्येन' शब्द के सम्बन्ध होने की सम्भावना है। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद बाज पक्षी, गरुड, हिंसक पक्षी, विशेषरूप से गरुड जो मनुष्य के लिये सोम नीचे लेकर आता है, के लिये प्रयुक्त है।[५] उणादिकोष 'श्या'+इनच्' से 'श्येन' पद को व्युत्पन्न मानता है।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह 'श्येन' पद 'श्येत(श्वेत)+एन(शबल)' इन दो पदों का सन्दूषितरूप है।[७]

वैदिक साहित्य में कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि हे अश्विनीदेवो! रथ में सारथि के द्वारा योजित, शीघ्रगामी, उड़ने में समर्थ अश्व (श्येनास:) तुमको हमारी ओर लायें।[८] वामदेव ऋषि कहते हैं कि अग्नि की रश्मियाँ अश्व के समान गन्तव्य तक पहुँचती हैं। जिस प्रकार वेगवान् वायु शब्द करती है, उसी प्रकार रश्मियाँ भी।[९] सोभरि काण्व ऋषि कहते हैं कि हे नेतृत्व करने वाले मरुतो! हमारे हवि की रक्षा के लिये आप श्येन की गति से आयें।[१०] स्यूमरश्मि भार्गव ऋषि कहते हैं कि ये मरुद्गण श्येन या अश्व के समान स्वपराक्रम से यश

---

१ निरु० १४.१३.

२ निघ०वृ०, १.१४.२०.

३ वै०पद०को०, पृ० ३१५५.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ५३३.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १०९५, ११०६.

६ उणा०, २.४७. ''श्यास्त्याहृञविभ्य इनच्।''

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क पृ० ९९.

८ ऋ० १.११८.४. ''आ वां श्येनासो अश्विना वहन्तु रथे युक्तास आशव: पतङ्गा:।''

९ ऋ० ४.६.१०. ''श्येनासो न दुवसनासो अर्थं तुविष्वणसो मारुतं न शर्ध:।''

१० ऋ० ८.२०.१०. ''आ श्येनास न पक्षिणो वृथा नरो हव्या नो वीतये गत।''

को अर्जित करने वाले एवं हिंसक होते हैं। प्रवासी के समान तीव्रगति वाले और प्राप्त करने की आशा से बँधे हुए होते हैं।[१] शार्यात मानव ऋषि कहते हैं कि रुद्रपुत्र मरुत् सम्पूर्ण प्रजा के लिये कार्य करते हुए द्युलोक के अश्व के समान गतिमान् एवं और मेघरूपी निवास स्थान वाले हैं।[२] कुशिक सौभरि ऋषि कहते हैं कि रात्रि के आने पर ग्राम के सभी लोग, पशु-पक्षी और शीघ्रगमन करने वाले श्येन (अश्व) भी सो जाते हैं।[३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह अश्व 'श्येनासः' है, जो सारथि के द्वारा रथ में नियुक्त किये जाने पर पतङ्ग (पक्षी) के समान उड़ सकता है, यह अग्नि की रश्मियों के समान गन्तव्य तक पहुँचता है, यह हिंसक एवं स्वपराक्रम से यश को अर्जित करता है, इन अश्वों की द्युलोक के अश्व से उपमा दी गयी है, ये रात्रि में शयन करने वाले होते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कह सकते हैं कि श्येन या श्येन के समान उड़ने वाले किसी वाहन को वेद 'श्येन' नाम से अभिहित करता है। उपर्युक्त प्रथम मन्त्र में 'श्येनासः' को रथ में योजित होने वाला पतङ्ग अर्थात् पक्षी बताया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता यह श्येन के समान, पर श्येन से भिन्न किसी वाहन का नाम है। लेकिन यह बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि वेद में 'श्येन' पद श्येन पक्षी के लिये अधिक व्यवहृत हुआ है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'श्या' या 'श्यै' धातु को 'श्येन' पद का मूल माना जा सकता है।

२१. सुपर्णा:

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'सुपर्णाः' पद परिगणित है।[४] जैमिनीय-ब्राह्मण 'सुपर्ण' का व्याख्यान करता हुआ कहता है:-"**सोमं वै राजानं सुपर्ण आजहार, तस्य यत् पर्णमपतत् स एव पर्णोऽभवत्**"[५] कि सोम राजा के लिये सुपर्ण का आहरण किया गया, उसका जो पर्ण गिरा, वह पर्ण कहलाया। इस पक्ष में 'पत्' धातु से पर्ण शब्द व्युत्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'सुपर्ण' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सुपर्णाः सुपतनाः**"[६] कि सुपतनशील होने से रश्मियाँ 'सुपर्ण' कहलाती हैं। यास्क भी ब्राह्मण की तरह 'सु+'पत्' से सुपर्ण को निष्पन्न मान रहे हैं।

आचार्य देवराजयज्वन् अश्ववाचक 'सुपर्णाः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**सुपर्णाः (अश्वाः)। 'पृ' पालनपूरणयोः'। सुपाल्यते यवसादिप्रदानेन, पूरयन्ति वा नभः ह्रेषारवादिना सङ्ग्रामसाधनत्वात्**"[७] कि यवसादि प्रदान करके अश्व का पालन किया जाता है अथवा सङ्ग्राम का साधन होने से यह ह्रेषारवादि से आकाश को आपूरित कर देता है, अतः, अश्व को 'सुपर्णः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'सु+'पृ' से 'सुपर्णः' पद व्युत्पन्न होता है।

---

१ ऋ० १०.७७.५. "श्येनासो न स्वयशसो रिशादसः प्रवासो न प्रसितासः परिप्रुषः।"

२ ऋ० १०.९२.६. "ऋाणा रुद्रा मरुतो विश्वकृष्टयो दिवः श्येनासो असुरस्य नीळयः।"

३ ऋ० १०.१२७.५. "नि ग्रामासो अविक्षत नि पद्वन्तो नि पक्षिणः। नि श्येनासश्चिदर्थिनः।"

४ निघ० १.१४.२१.

५ जै०ब्रा०, १.३५५.

६ निरु० ३.१२; ४.३.

७ निघ०वृ०, १.१४.२१.

(ख)''पततेर्वा। शोभनगमना इत्यर्थ:''[१] कि इससे सुन्दर प्रकार से गमन किया जाता है, अत:, अश्व को 'सुपर्ण:' कहा जाता है। इस पक्ष में 'पत्' धातु से 'न' प्रत्यय होकर 'सुपर्ण:' पद उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'सुपर्णा:' पद को आदित्य, रश्मि, अग्नि प्रभृति का विशेषण एवं नामपद मानता है। उसके अनुसार 'सु+पर्ण' से 'सुपर्ण' पद व्युत्पन्न होता है।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी 'सुपर्णा:' पद को उक्त प्रकार से व्युत्पन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स भी 'सु+पर्ण' से 'सुपर्ण' पद को निष्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार राजवाडे 'सुपर्ण:' पद को सुन्दर पत्ता, कोशकार 'सुन्दर पत्तियों वाला' तथा ऋग्वेद में 'सुन्दर पक्षों वाला' माना गया है। ऋग्वेद, तैत्तिरीय-संहिता, काठक-संहिता और महाभारत में यह विशाल आकार के हिंसक पक्षी (गृध्र, गरुड, सुन्दर रश्मियों वाला होने से सूर्य या चन्द्रमा, सोम और मेघ पर भी पर चरितार्थ होता है), एक अतिप्राकृतिक पौराणिक पक्षी (प्राय: यह गरुड से अभिन्न माना गया है और कभी-कभी ऋषि, देव, गन्धर्व और असुर के रूप में भी इसका मूर्तीकरण हुआ है।) के अर्थ में आया है।[४] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि 'पत्' का 'पर्ण' के रूप में परिवर्तन असम्भव है। अत:, वे उक्त निर्वचन को असङ्गत मानते हैं।[५]

वैदिक साहित्य में 'सुपर्णा:' पद का अनेकश: और अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में यह पद आदित्य,[६] रश्मि,[७] श्येन,[८] श्येन का विशेषण,[९] अश्विनी[१०] और इन्द्र के विशेषण[११] के रूप में व्यवहृत हुआ है। ऋग्वेद में नेम ऋषि कहते हैं कि मन के वेग से जाने वाला सुपर्ण जाता हुआ अयसनिर्मित नगर को पार कर जाता है।[१२] भार्गव ऋषि पवमानदेव की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे सुन्दर प्रज्ञ! आप द्युलोक के धन को सुपर्ण (अश्व) के समान विना कष्ट के प्राप्त कराते हो।[१३] ऋषभ ऋषि पवमानदेव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह द्युलोक में उत्पन्न हुआ आदित्य (या पवमान) पृथिवी तथा सोम अपनी प्रज्ञा से प्रजा को देखता है।[१४] अजा पृश्नि ऋषि कहते हैं कि हे पवमानदेव! सम्पूर्ण ज्ञानों से परिष्कृत तुमको सुपर्ण (अश्व या

---

१ निघ०वृ०, १.१४.२१.
२ वै०पद०को० पृ० ३४०७.
३ ऋ०वै०पद० पृ० ५७५.
४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२२७.
५ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १२२.
६ ऋ० १.१६४.२१, ४६, ५.४७.३.
७ ऋ० १.३५.७, ७९.२, १०५.१, १६४.४७,
८ ऋ० २.४२.२, ४.२६.४.
९ ऋ० १०.२८.१०.
१० ऋ० ४.४३.३.
११ ऋ० १०.५५.६.
१२ ऋ० ८.१००.८. ''मनोजवा अयमान आयसीमतरत्पुरम्।''
१३ ऋ० ९.४८.३. ''अतस्त्वा रयिमभि राजानं सुक्रतो दिव:। सुपर्णो अव्यथिर्भरत्।''
१४ ऋ० ९.७१.९. ''दिव्य: सुपर्णोऽव चक्षत क्षां सोम: परि क्रतुना पश्यते जा:।''

पक्षी) द्युलोक से लेकर आया है।[१] कवष ऐलूष ऋषि कहते हैं कि जिन जलों को अरुण वर्ण का अश्व (सूर्य) देखता है, उन जलों को आज अपने सुन्दर हाथों से चारों ओर प्रक्षेप करो।[२] वैरूप सध्रि ऋषि कहते हैं कि जहाँ देवता अपने भागधेय को प्राप्त करते हैं, ऐसी यज्ञवेदिरूप युवति में शक्तिशाली सुपर्ण (सूर्य और अग्नि) बैठते हैं।[३] ताक्ष्र्यपुत्र सुपर्ण ऋषि कहते हैं कि सौ चक्रों वाले रथ का प्रेरक श्येनपुत्र सुपर्ण दूरदेश से उस सोम को लेकर आया है।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह अश्व 'सुपर्ण' है, जो मन के समान वेगवान् तथा अयसनिर्मित नगर को पार कर जाता है, यह अश्व द्युलोक के धन को विना किसी कष्ट के प्राप्त कराता है, द्युलोक में उत्पन्न होने वाला यह अश्व (आदित्य) पृथिवी को देखता है, यह सुपर्ण पवमान को द्युलोक से लेकर आता है, इस अश्व को ऋषि ने अरुणवर्ण का बतलाया है, जहाँ देवता भागधेय प्राप्त करते हैं, उस यज्ञवेदि में सूर्य और अग्नि- ये दोनों सुपर्ण बैठते हैं, सौ चक्रों वाले रथ का प्रेरक श्येन पुत्र सुपर्ण दूरदेश से सोम लेकर आता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कह सकते हैं कि वेद में अश्वरूप में प्रतिपादित होने वाला सुपर्ण लोक प्रसिद्ध अश्व न होकर घूम-घूमकर सारे संसार को अपने आलोक से आभा मण्डित करने वाला आदित्य है। वह आदित्य अरुण नामक सारथि के साथ रथ पर आरूढ होकर लोकयात्रा पर निकलता है, इस धारणा के सङ्केत वेद में देखे जा सकते हैं। यह आदित्य मन की गति से भी तीव्र गति वाला माना गया है तथा इसे अयसनिर्मित अर्थात् अन्धकार से आच्छादित पृथ्वी के पार निकल जाने वाला बताया गया है। यह आदित्य ही आकाश में स्थित में होकर पृथ्वी को देखता है, ऋषि इस आदित्य को अरुणवर्ण का बतलाते हैं। यज्ञ के समय प्रातःकाल यह अग्नि के साथ यज्ञवेदि में आकर अपना आसन ग्रहण करता है। इस प्रकार वेद सुदूर पृथ्वी पर प्रकाश पहुँचाने वाले सूर्य का अश्व के रूप में उल्लेख करता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए सु+'पृ' या 'पत्' को 'सुपर्ण' पद का मूल माना जा सकता है। शीघ्र व्याप्त कर लेने के कारण अश्व को अश्व कहा जाता है, यह तथ्य जितना अच्छी प्रकार से सूर्य पर घटित होता है, उतना सम्भवतः, लोक प्रसिद्ध अश्व पर नहीं। निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि सुपतनशील होने के कारण वेद ने सूर्य का अश्वरूप में उल्लेख किया है। इस आधार पर निघण्टुकार का अश्ववाचक गण में 'सुपर्ण' पद का परिगणन सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है।

२२. पतङ्गः

निघण्टुकार ने अश्ववाचक गण में 'पतङ्ग' पद का परिगणन किया है।[५] जैमिनीयोपनिषद् 'पतङ्ग'

---

१ ऋ० ९.८६.२४. ''त्वां सुपर्ण आभरद्दिवस्परीन्दो विश्वाभिर्मतिभिः परिष्कृतम्।''

२ ऋ० १०.३०.२. ''अव याश्चष्टे अरुणः सुपर्णस्तमास्यध्वमूर्मिमद्या सुहस्ताः।''

३ ऋ० १०.११४.३. ''तस्यां सुपर्णा वृषणा निषेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम्।''

४ ऋ० १०.१४४.४. ''यं सुपर्णः परावतः श्येनस्य पुत्र आभरत्। शतचक्रं योऽह्यो वर्तनिः।''

५ निघ० १.१४.२.२.

शब्द का निर्वचन करती हुई कहती है:-''पतन्निव ह्येष्वङ्गेष्वति रथमुदीक्षते। पतङ्ग इत्याचक्षते''[१] कि यह प्राण अङ्गों में गमन करता हुआ रथ जैसा प्रतीत होता है, अतः, यह 'पतङ्ग' कहलाता है। इस पक्ष में 'पत्'+अङ्ग' से 'पतङ्ग' शब्द उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् अश्ववाचक 'पतङ्ग' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''पतङ्गाः (अश्वाः)। 'पत्लृ' गतौ''[२] कि गमनशील होने के कारण अश्व को 'पतङ्ग' कहा जाता है। इस पक्ष में 'पत्' धातु से औणादिक 'अङ्गच्' प्रत्यय होकर 'पतङ्ग' शब्द निष्पन्न होता है। उणादिकोष पक्षी अर्थ में 'पतङ्ग' शब्द को निष्पन्न करता है।[३]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'पतङ्ग' शब्द को अश्व का विशेषण तथा सूर्य प्रभृति अर्थ का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'पतङ्ग' शब्द को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स का अभिमत है कि 'पतङ्ग' शब्द का मूल 'पत्' धातु है। उनके अनुसार उक्तपद ऋग्वेद में उड़ने वाले पदार्थ के अर्थ में आया है। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में यह पद सूर्य के अर्थ में है। तैत्तिरीयारण्यक तथा वायुपुराण में सात सूर्यों में से एक सूर्य का यह अभिधान है।[६]

वैदिक साहित्य में 'पतङ्ग' शब्द का अनेकशः प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि द्युलोक में गमन करने वाली तेरी आदित्यरूप आत्मा को मैं मन से दूर जानता हूँ। धूल से रहित, उत्तम प्रकार से गमन करने योग्य मार्गों से पक्षी के समान जाते हुए मैंने इसके सिर को देखा है।[७] उक्त मन्त्र के व्याख्यान में स्वामी दयानन्द 'पतङ्ग' का अर्थ 'अग्निरूप अश्व' तथा आचार्य सायण 'आदित्य' ग्रहण करते हैं। कक्षीवान् ऋषि अश्विनीदेवों के प्रकरण में कहते हैं कि हे अश्विनीदेवो! रथ में सारथि के द्वारा योजित, शीघ्रगामी, उड़ने में समर्थ अश्व (श्येनासः) तुमको हमारी ओर लायें।[८] अग्रिम मन्त्र में पुनः कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि हे नेतृत्व करने वाले अश्विनीदेवो! सूर्य की युवा पुत्री प्रसन्नता से आप दोनों के रथ पर आरूढ होती है। अहिंसित शरीर वाले अश्व तुम्हारे रथ को घर के समीप पहुँचायें।[९] उक्त मन्त्र की व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है:-'इस सङ्ग्राम में गमन करते हुए रक्तवर्ण पक्षियों के समान शीघ्रगामी अश्व (अग्नि) तुम दोनों को सब ओर पहुँचायें।' एक अन्य सूक्त में कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि सत्यधर्म का आचरण करने वाले अश्विनीदेव तीन

---

१ जै०उप०, ३.६.७.२.

२ निघ०वृ०, १.१४.२२.

३ उणा०, १.११९. ''पतेरङ्गच्।''

४ वै०पद०को० पृ० १८८९.

५ ऋ०वै०पद० पृ० ३०३.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५८१.

७ ऋ० १.१६३.६. यजु०, २९.१७. ''आत्मानं ते मनसारादजानमवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम्।''

८ ऋ० १.११८.४. ''आ वां श्येनासो अश्विना वहन्तु रथे युक्तास आशवः पतङ्गाः।''

९ ऋ० १.११८.५. ''आ वां रथं युवतिस्तिष्ठदत्र जुष्ट्वी नरा दुहिता सूर्यस्य। परि वामश्वा वपुषः पतङ्गा वयो वहन्त्वरुषा अभीके।''

रात, तीन दिन निरन्तर चलते हुए उड़ने में समर्थ छः अश्वों, सैकड़ों पद अर्थात् चक्रों वाले तीन रथों से जल, थल और नभ में पालन करने वाले को पार ले जाते हैं।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में 'पतङ्ग' वह अश्व है, जिसका धूलरहित, सुन्दर मार्गों से गमन करते हुए केवल सिर दिखलायी पड़ता है, यह पतङ्ग नामक अश्व उड़ने में समर्थ है, अश्विनीदेवों के इस रथ पर सूर्य की युवा पुत्री (आभा=प्रकाश) विराजमान होती है, यह ऐसा विलक्षण रथ है, जिसके सैकड़ों चक्र, छः अश्व और तीन रथ हैं, यह तीन रात, तीन दिन निरन्तर चलने की सामर्थ्य रखता है तथा जल, थल और नभ में जा सकता है। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि उक्त प्रकार के उपकरणों से सुसज्जित यह एक वाहन प्रतीत होता है। वर्णनशैली को ध्यान में रखते हुए 'पतङ्ग' का अर्थ 'सूर्य' भी ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु अधिक सम्भावना इस बात की है कि यह सूर्य के साथ-साथ एक जल, थल, नभगामी एक वाहन विशेष का नाम हो। वेद की वर्णनशैली को ध्यान में रखते हुए 'पतङ्ग' का मूल 'पत्' धातु को माना जा सकता है।

२३. नरः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक नामपदों में 'नरः' पद परिगणित है।[२] आचार्य यास्क 'नरः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**नराः मनुष्याः, नृत्यन्ति कर्मसु**"[३] कि विविध कर्मों में निरत रहने के कारण मनुष्य को 'नरः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'नृत्' धातु से 'नरः' पद उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् अश्ववाचक 'नरः' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-"**नरः (अश्वः)। 'णीञ्' प्रापणे'। नयन्ति आरोहिणम्, कर्मणां नेतारो वा नराः**"[४] कि आरोही को ले जाने अथवा कर्मों का नेतृत्व करने के कारण अश्व को 'नरः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'नी'+ऋन्' से 'नरः' रूप सिद्ध होता है। उणादिकोष में इसी प्रकार 'नरः' पद व्युत्पन्न किया जाता है।[५]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'नरः' पद को नेतृ, शूर, मनुष्य, देव प्रभृति का विशेषण एवं नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'नरः' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स ऋग्वेद में 'नरः' पद को मनुष्य, नेता (देवताओं के लिये भी प्रयुक्त है), व्यक्ति, मनुष्यजाति, प्रजाजन के अर्थ में प्रयुक्त मानते हैं।[८]

---

१ ऋ० १.११६.४. "तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः। समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षळश्वैः।"

२ निघ० १.१४.२३.

३ निरु० ५.१.

४ निघ०वृ०, १.१४.२३.

५ उणा०, २.१०२. "नयतेर्डिच्च।"

६ वै०पद०को० पृ० १८५६.

७ ऋ०वै०पद० पृ० २९७.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५६७.

वैदिक साहित्य में 'नरः' पद का व्यापक प्रयोग देखा जाता है। ऋग्वेद में कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम सूर्यरूप में वर्तमान होकर हरिद् वर्ण के नृन्=ले जाने वाले अश्वों या सूर्यरश्मियों को रमण कराते हो और एतश (सूर्य के अश्व) के चक्र को आगे बढ़ाते हो।[१] आङ्गिरस कुत्स ऋषि सूर्य देवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जहाँ प्रकाश को प्राप्त करने के इच्छुक अश्व सूर्यरथ के जुए को आहरण कर ले जाते हैं। कल्याण करने वाले सूर्य की हम स्तुति करते हैं।[२] दीर्घतमा ऋषि विष्णु की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हम सूर्य (विष्णु) के उस अन्तरिक्ष को प्राप्त करें, जहाँ प्रकाश को प्राप्त कराने के इच्छुक अश्व हर्ष का अनुभव करते हैं।[३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में स्पष्टरूप से अश्व अर्थ में 'नरः' पद का प्रयोग नहीं हुआ है। वेद एवं वैदिक साहित्य में 'नरः' पद का प्रयोग प्रायः मरुत्, इन्द्र और मनुष्य के अर्थ में हुआ है।[४] उपर्युक्त व्याख्यात मन्त्रों में प्रयुक्त 'नरः' पद को अश्ववाचक मान लेने पर यह अश्व सूर्य या सूर्यरश्मिरूप सिद्ध होता है। सम्भवतः, वेद का ऋषि सूर्यरश्मियों का अश्व मानकर वर्णन करता है। उदकहरण करके ले जाने के कारण इन 'नरः' नामक अश्वों के रूप को हरिद्वर्ण बताया गया है। प्रकाश के इच्छुक ये अश्व सूर्यरथ को आहरण कर ले जाते हैं और इन अश्वों को अन्तरिक्ष के उस प्रदेश में आनन्द का अनुभव होता है, जहाँ प्रकाश की प्राप्ति होती है। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि उदक का हरण एवं सूर्य के रथ का आहरण करने के कारण इनको 'नरः' नाम से अभिहित किया गया है अथवा यह भी कह सकते हैं कि ये प्रकाश का नेतृत्व करते हैं, अतः, ये उक्त नामकरण के अधिकारी हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'नी' धातु को 'नरः' पद का मूल माना जा सकता है।

२४. ह्वार्याणाम्

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'ह्वार्याणाम्' पद परिगणित है।[५] आचार्य देवराजयज्वन् अश्ववाचक 'ह्वार्याणाम्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**ह्वार्याणाम् (अश्वाः)। 'ह्वृ' कौटिल्ये'। खलीनाद्याकर्षणे मुखादिष्वङ्गेषु कुटिलीक्रियन्ते ह्यश्वाः**"[६] कि लगाम आदि के आकर्षण से अश्वों के मुखादि अङ्ग कुटिल हो जाते हैं, अतः, अश्वों को 'ह्वार्याणाम्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'ह्वृ' धातु से 'ण्यत्' प्रत्यय होकर 'ह्वार्य' रूप सिद्ध होता है।

(ख)"यद्वा, ह्वरतिरत्तिकर्मा (निघ०,२.८.१०.)। ह्वरत्यर्थमश्वाः ह्वार्याः। 'ह्वरि' गतौ'- इति

---

१ ऋ० १.१२१.१३. "त्वं सूरो हरितो रामयो नृन्भरच्चक्रमेतशो नायमिन्द्र।"

२ ऋ० १.११५.२. "यत्रा नरो देवयवो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम्।"

३ ऋ० १.१५४.५. "तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।"

४ ऋ० १.६४.४, ६७.२, ६३.१०, ८५.८, १२१.२. मनुष्यङ्गृ१.६३.६, ७०.५, ७३.४, ८३.४, १००.८, १०४.२, १२४.१२.

५ निघ० १.१४.२४.

६ निघ०वृ०, १.१४.२४.

माधवः''[१] कि अर्थ का भक्षण करने के कारण अश्वों को 'ह्वार्याः' कहा जाता है। आचार्य माधव ह्वृ' धातु को गत्यर्थक मानते हैं, तदनुसार 'ह्वार्याः' पद का अर्थ होगा:-'कि पृथिवी पर गमन करने के कारण अश्वों को 'ह्वार्याः' कहा जाता है।' इस पक्ष में भी पूर्ववत्‌रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'ह्वार्याणाम्' पद को 'ह्वृ' धातुमूलक मानता है। उसके अनुसार इसका पर्यायवाची 'ह्वारी' है। वेङ्कट एवं सायण उक्तपद को अश्व वाचक नामपद तथा पक्ष में सायण उक्तपद का अर्थ 'सर्प' एवं ग्रासमैन 'पक्षी' अर्थ स्वीकार करते हैं।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'ह्वार्याणाम्' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स उक्तपद का मूल 'ह्वृ' धातु मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद सर्प, कुण्डलन अर्थ में है।[४]

वैदिक साहित्य में 'ह्वार्याणाम्' पद का मात्र एक बार उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में आत्रेय ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने तुम कुटिल सर्प या चञ्चल (आस्कन्दित गतिविशेष के कारण) अश्व के पुत्र के समान दुःख से वश में किये जाते हो।[५]

उपर्युक्त एकमात्र उद्धरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुटिलता अर्थात् वश में किया जाना कष्टसाध्य होने के कारण अश्व को वेद 'ह्वार्यः' नाम से अभिहित करता है। इस तथ्य के आधार पर 'ह्वार्यः' पद का मूल 'ह्वृ' कौटिल्ये' धातु मानी जा सकती है।

२५. हंसासः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक नामपदों में 'हंसासः' पद परिगणित है।[६] आचार्य यास्क 'हंस' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**हंसा हन्तेर्घ्नन्त्यध्वानम्**''[७] कि अपने खुरों से मार्ग को आहत करने के कारण अश्व को 'हंस' कहा जाता है। इस पक्ष में 'हन्' धातु से 'हंस' शब्द उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् अश्ववाचक 'हंसासः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**हंसासः (अश्वाः)। 'हन्' हिंसागत्योः'। घ्नन्ति गच्छन्त्यध्वानम्, गच्छन्तः पद्भिरध्वानं हिंसन्ति वा (ऐ०ब्रा०,५.१.१.)**''[८] कि यह मार्ग पर गमन करता है अथवा गमन करते हुए मार्ग को पैरों से आहत करता है, अतः, अश्व को 'हंसासः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'हन्' धातु से 'स' प्रत्यय होकर 'हंसासः' रूप उपपन्न होता है। उणादिकोष में इसी प्रकार 'हंस' शब्द व्युत्पन्न किया जाता है।[९]

---

१ निघ०वृ०, १.१४.२४.

२ वै०पद०को० पृ० ३६०८.

३ ऋ०वै०पद० पृ० ६१५.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १३०८.

५ ऋ० ५.९.४. ''उत स्म दुर्गृभीयसे पुत्रो न ह्वार्याणाम्।''

६ निघ० १.१४.२५.

७ निरु० ४.१३.

८ निघ०वृ०, १.१४.२५.

९ उणा०, ३.६२. ''वृतृवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः सः।''

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'हंसासः' पद को पक्षीविशेष का वाचक मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की उत्पत्ति विकास प्रक्रिया निम्न है:-"भृष् (=भृज्, मृज्) शुद्धौ, दीप्तौ=भृष्य-(श्वेत)=+वयंस्-(=वयस्)भृष्यवयंस्=रव्यंस्=हंस'।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'हंसासः' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स 'हंस' पद का मूल 'हन्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह 'हंसासः' पद राजहंस के अर्थ में आया है। यह एक पारगमन करने वाला जलीय पक्षी है, इसका उल्लेख केवल काव्य अथवा पौराणिक पक्षी के रूप में हुआ है। यह वैदिक साहित्य में सोम और पानी को अलग कर सकने की क्षमता वाला माना जाता रहा है। जबकि परवर्ती साहित्य में दूध और पानी को अलग करने वाले के रूप में इसका उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में यह अश्विनीदेवों का वाहन है, जबकि परवर्ती साहित्य में यह ब्रह्मा का वाहन माना गया है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में 'ghans' हंस (goose) अर्थ में तथा प्राचीन उच्च जर्मन में 'gans' हंस (swan) अर्थ में है। उनके मत में उक्त यास्कीय निर्वचन **'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि'** सिद्धान्त से प्रभावित है।[४]

वैदिक साहित्य में 'हंसासः' शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में पराशर ऋषि कहते हैं कि हंस के समान अग्नि जल में स्थित होता है।[५] दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार हंस पङ्क्तिबद्ध होकर उड़ते हैं, उसी प्रकार अश्व भी दिव्यमार्ग को व्याप्त करते हैं।[६] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि पङ्क्तिबद्ध होकर चलते हुए हंसों के समूह के समान स्वरयुक्त जलों को आच्छादित करते हुए देव हमें प्राप्त हों।[७] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार हंस अपने आश्रय स्थलों की ओर लौटते हैं, उसी प्रकार समान मन वाले मनुष्य मधुर आनन्द के लिये अपने घरों को लौटते हैं।[८] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि मेघ की गर्जना से आनन्द का अनुभव करते हुए सत्य व्यवहार रूप यज्ञ में हंस के समान मधुर वाणी का उच्चारण करो।[९] वामदेव ऋषि कहते हैं कि शीघ्रगमनशील (हंसासः), माधुर्ययुक्त, कष्टरहित, हिरण्यपक्षयुक्त, वाहक, प्रातःकाल जागने वाले, उदक चलाने वाले, प्रसन्न होने वाले, आनन्द या सोम का स्पर्श करने वाले- इस प्रकार के अश्व मधुमक्खियों के समान हमारे यज्ञ में आयें।[१०] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि अपने अङ्गों को अलङ्करण से सुशोभित करते हुए

---

१ वै०पद०को० पृ० ३५४६.

२ ऋ०वै०पद० पृ० ६०३.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२८६.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ९३.

५ ऋ० १.६५.५. "श्वसित्युप्सु हंसो न सीदन् क्रत्वा चेतिष्ठो विशामुषर्भुत्।"

६ ऋ० १.१६३.१०. "हंसाइव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः।"

७ ऋ० ३.८.९. "हंसाइव श्रेणिशो यतानाः शुक्रा वसानाः स्वरवो न आगुः।"

८ ऋ० २.३४.५. "आ हंसासो न स्वसराणि गन्तन मधोर्मदाय मरुतः समन्यवः।"

९ ऋ० ३.५३.१०. "हंसाइव कृणुथ श्लोकमद्रिभिर्मदन्तो गीर्भिरध्वरे सुते सचा।"

१० ऋ० ४.४५.४. "हंसासो ये वां मधुमन्तो अस्रिधो हिरण्यवर्णा उहुव उषर्बुधः। उदप्रुतो मन्दिनो मन्दिनिस्पृशो मध्वो न मक्षः सवनानि गच्छथः।"

नीलपृष्ठ मरुद्गण हंसों के समान हमारे यहाँ आयें।[१] वृषगण ऋषि कहते हैं कि हंसों के समान विचरण करते हुए ये वृषगण शीघ्र ही दुष्टों का दमन करने वाले पवमानदेव को प्राप्त होते हैं।[२] अयास्य आङ्गिरस ऋषि कहते हैं कि हंसों के समान मित्र के साथ स्तुति किया जाता हुआ बृहस्पति पाषाण के समान कठोर बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर देता है।[३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि अग्नि के समान हंस का वास जल में है, हंस पङ्क्तिबद्ध होकर आकाश में उड़ते हैं, ये हंस मनुष्यों के समान आश्रयस्थलों की ओर लौटते हैं, मेघ गर्जना के समान हंस को मधुरवाणी करने वाला बताया गया है, ये हंस माधर्युयुक्त, कष्ट न पहुँचाने वाले, हिरण्यपक्षयुक्त, वाहक, प्रातःकाल जागने वाले, उदक चलाने वाले, प्रसन्न एवं आनन्द का भोग करने वाले हैं, ऋषि इनको नीलपृष्ठ मरुतों के समान बतलाता है, वृषगण के समान ये हंस विचरण करने वाले हैं, ये हंस बृहस्पति के समान स्तुति को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कह सकते हैं कि वेद ने हंस को पङ्क्तिबद्ध होकर आकाश में उड़ना, अपने आश्रयस्थलों की ओर लौटना, मधुरवाणी करना, वहन करने वाला एवं हिरण्यमय पक्षों से युक्त बताया है। उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि वेद हंस को लोकप्रचलित अश्व के अर्थ में नहीं मानता है। यदि अश्व का अर्थ वाहन है, तो निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि वेद में हंस को वाहन माना गया है। जिस प्रकार 'गो' पद सामान्य पशु का वाचक है और पशुओं के बाँधने के स्थान को 'गोशाला' या उनके मल को 'गोबर' कहा जाता है, उसी प्रकार प्राचीनकाल में अश्व भी सामान्य वाहनवाचक नाम रहा प्रतीत होता है। कम से कम निघण्टुकार की शैली के आधार पर कहा जा सकता है कि अश्व एक सामान्य वाहनवाचक नामपद है और उन्होंने इसी रूप में इसका परिगणन किया है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि मार्ग को पैरों से आहत करने के कारण हंस उक्त नामकरण का अधिकारी रहा होगा, को स्वीकार नहीं किया जा सकता। हंस के चरित्र की प्रमुख तीन प्रमुख विशेषतायें हैं:- प्रथम-मधुरवाणी वाला होना, द्वितीय-पङ्क्तिबद्ध होकर चलना तथा तृतीय-सोम और जल को अलग करने की सामर्थ्य वाला होना। वस्तुतः, हंस नामकरण का आधार हंस की मधुरवाणी रही प्रतीत होती है। जिस प्रकार कोयल अपने स्वरमाधुर्य के कारण 'कोकिल' कही जाती है, उसी प्रकार 'हंस' भी। उक्त चरित्रगत विशेषता को ध्यान में रखते हुए 'हन्' धातुमूलक निर्वचन को बहुत समीचीन नहीं माना जा सकता। अतः, अभी यह शब्द शोध की अपेक्षा रखता है।

२६. अश्वाः

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में 'अश्वाः' पद परिगणित है।[४] शतपथ-ब्राह्मण 'अश्व' का निर्वचन करता हुआ कहता है:-"**अथ यदश्रु सङ्क्षरितमासीत्सोऽश्रुरभवदश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोऽक्षम्**"[५] कि

---

१ ऋ० ७.५९.७. "सस्वश्चिद्धि तन्व१ः शुम्भमाना आ हंसासो नीलपृष्ठा अपप्तन्।"

२ ऋ० ९.९७.८. "प्र हंसासस्तृपलं मन्युमच्छामादस्तं वृषगणा अयासुः।"

३ ऋ० १०.६७.३. "हंसैरिव सखिभिर्वावद्भिरश्मन्मयानि नहना व्यवस्यन्।"

४ निघ० १.१४.२६.

५ शत०ब्रा०, ६.१.१.११.

सङ्कुरित होते हुए अश्रु ही परोक्ष में 'अश्व' कहे जाते हैं। इस पक्ष में 'अश्रु' से 'अश्व' शब्द उपपन्न होता है। एक अन्य स्थान पर भी शतपथ-ब्राह्मण इसी प्रकार 'अश्व' पद का निर्वचन करता है।[१]

काठकसङ्कलन में कहा गया है:-''**अश्रुष्वेव (प्रजापतेः) अश्वोऽजायत**''[२] कि प्रजापति के अश्रुओं से ही अश्व उत्पन्न हुआ, अतः, वह 'अश्व' कहा जाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'अश्व' पद सिद्ध होता है।

तैत्तिरीय-संहिता का कथन है:-''**प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्तत्परापतत् तदश्वोऽभवत् तदश्वस्याश्वत्वम्**''[३] कि प्रजापति के अश्रुपूर्ण चक्षु से नीचे गिरने वाले अश्रु से अश्व उत्पन्न हुआ, यही अश्व का अश्वत्व है। इस पक्ष में 'श्वि' धातु से 'अश्व' रूप उपपन्न होता है।

मैत्रायणी-संहिता कहती है:-''**प्रजापतेर्वै चक्षुरश्वयत्, तस्य यः श्वयथा आसीत्, सोऽश्वोऽभवत्**''[४] कि प्रजापति की अक्षि अश्रु से पूर्ण होगयी, उसका जो बढ़ा हुआ रूप था, वही अश्व होगया। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'अश्व' रूप सिद्ध होता है।

शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-''**वरुणो ह वै सोमस्य राज्ञोऽभीवाक्षि प्रतिपिपेष तदश्वयत्ततोऽश्वः समभवत्तद्यच्छ्वयथात् समभवत् तस्मादश्वो नाम**''[५] कि वरुण ने सोम राजा की अक्षि को दुःखित कर दिया, उससे वह अश्रु से भर गयी, उससे अश्व उत्पन्न हुआ। प्रजापति की भरी आँख से उत्पन्न होने के कारण यह 'अश्व' कहलाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है:-''**प्रजापतिरक्ष्यश्वयत् तत् परापतत्। तदपः प्राविशत्। ततोऽश्वस्समभवत्। यदश्वयत् तस्मादश्वः**''[६] कि प्रजापति की आँख भर गयी, उससे अश्रु गिरा, वह जल में प्रवेश कर गया। उससे अश्व उत्पन्न हुआ। अश्रु या जल के वृद्धिरूप से उत्पन्न होने के कारण यह 'अश्व' कहा जाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'अश्व' पद उपपन्न होता है।

ऐतरेय-ब्राह्मण कहता है:-''**तान् (असुरान् देवाः) अश्वा भूत्वा पद्भिरपाघ्नत, यदश्वा भूत्वा पद्भिरपाघ्नत, तदश्वानामश्वत्वमश्नुते यद्यत्कामयते य एवं वेद**''[७] कि देवताओं ने उन असुरों को अश्वरूप होकर पैरों से मारा, जो पैरों से मारा, जो इस प्रकार जानता है, वह अश्वों के अश्वत्व को प्राप्त कर लेता है। इस पक्ष में 'अश व्याप्तौ' धातु से 'अश्व' पद उपपन्न होता है।

तैत्तिरीय-संहिता कहती है:-''**आशुः सप्तिरित्याह। अश्व एव जवं धावति। तस्मात् पुराशुरश्वोऽजायत**''[८] कि अश्व को 'आशुः' और 'सप्तिः' कहा जाता है। अश्व ही वेगपूर्वक दौड़ता है, इस कारण पुराकाल में आशु से ही 'अश्व' उत्पन्न हुआ। इस पक्ष में 'आशु' से 'अश्व' शब्द सिद्ध होता है।

---

१ शत०ब्रा०, ६.३.१.२८. ''यद्वै तदश्रु सङ्कुरितमासीदेष सोऽश्वः।''

२ काठ०संक०, १७:७.

३ तै०सं० ५.३.१२.१.

४ मै०सं० १.६.४.

५ शत०ब्रा०, ४.२.१.११.

६ जै०ब्रा०, २.२६८. (तुल०, तै०सं० ५.३.१२.१. मै०सं० १.६.४.)

७ ऐ०ब्रा०, ५.१.

८ तै०सं० ३.८.१३.८.

आचार्य यास्क 'अश्व' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-**''अश्वः कस्माद्? अश्नुतेऽध्वानम्''**[१] कि मार्ग को शीघ्रता से व्याप्त करने के कारण अश्व को 'अश्व' कहा जाता है। इस पक्ष में व्याप्ति अर्थ वाली 'अश्' धातु से 'अश्व' शब्द व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार का निर्वचन यास्क ने कुछ अन्य स्थानों पर भी किया है।[२]

(ख)''महाशनो भवतीति वा''[३] कि बहुत अधिक भक्षण करने के कारण अश्व को 'अश्व' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अश' भोजने' धातु से 'अश्व' शब्द निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् यास्क का अनुसरण करते हुए 'अश्व' शब्द के निम्न निर्वचन देते हैं:- **''अश्नोतेर्वा''**[४] कि मार्ग को व्याप्त करने के कारण अश्व को 'अश्व' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अश्' व्याप्तौ'+क्वुन्' से 'अश्व' शब्द सिद्ध होता है। उणादिकोष इसी प्रकार 'अश्व' शब्द को व्युत्पन्न करता है।[५]

(ख)''अश्नुवतेऽध्वानं महाशना भवन्तीति वा''[६] कि ये मार्ग को व्याप्त तथा अत्यधिक भक्षण करते हैं, अतः, इनको 'अश्व' कहा जाता है। इस पक्ष में भोजनार्थक या व्याप्त्यर्थक 'अश्' धातु से पूर्ववत् 'अश्व' शब्द उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अश्व' पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध मानता है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अश्व' शब्द को अव्युत्पन्न मानती है।[८] मोनियर विलियम्स 'अश्व' को 'अश्' धातुमूलक मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद अश्व और साँड़ अर्थ में आया है।[९] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में 'ekuo' अश्व अर्थ में तथा लैटिन में 'equus' अश्व अर्थ में है। वे उक्त निर्वचन को '**सर्वाणि नामान्याख्यातजानि**' सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं।[१०] वेद से प्राप्त सङ्केत 'अश्व' को 'अश्' धातुमूलक सिद्ध करते हैं।[११]

वैदिक साहित्य में 'अश्व' शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में शुनःशेप ऋषि कहते हैं कि हे वरुण! सुख के लिये हम तेरे मन को इस प्रकार बाँधते हैं, जिस प्रकार रथ का स्वामी दूरगमन से श्रान्त अश्व को घास आदि के द्वारा प्रसन्न करता है।[१२] अग्रिम सूक्त में पुनः शुनःशेप ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार उत्तम

---

१ निरु० २.२६.
२ निरु० १.१२, ७.२०.
३ निरु० २.२६.
४ निघ०वृ०, १.१४.२६.
५ उणा०, १.१५१. ''अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्।''
६ निघ०वृ०, १.१४.२६.
७ वै०पद०को० पृ० ५७९.
८ ऋ०वै०पद० पृ० ६७.
९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ११४.
१० दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ८६.
११ ऋ० १.११३.८, १६३.१०, यजु०, २५.३२, २९.२१, सा०उ०, ९५०.
१२ ऋ० १.२५.३. ''वि मृळीकाय ते मनो रथीरश्वं न संदितम्। गीर्भिर्वरुण सीमहि।''

केश वाला अश्व वन्दनीय होता है, उसी प्रकार यज्ञों के सम्राट्‌रूप अग्नि की हम हवि आदि से स्तुति करते हैं।[१] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि अश्विनीदेव शीघ्र और विना कष्ट पहुँचने के लिये श्वेत अश्व अर्थात् विद्युत्‌रूप अश्व प्रदान करते हैं, वह अश्व नित्य कल्याण करने वाला हो।[२] एक अन्य सूक्त में पुनः कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि हे नेतृत्व करने वाले अश्विनीदेवो! सूर्य की युवा पुत्री प्रसन्नता से आप दोनों के रथ पर आरूढ होती है। अहिंसित शरीर वाले अश्व तुम्हारे रथ को घर के समीप पहुँचायें।[३] उक्त मन्त्र की व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है:-'इस सङ्ग्राम में गमन करते हुए रक्तवर्ण पक्षियों के समान शीघ्रगामी अश्व (अग्नि) तुम दोनों को सब ओर पहुँचायें।' इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि हे अश्विनीदेवो! तुम दोनों इन्द्र से भी अधिक वेगवान् एवं मेघवध करने वाले श्वेत अश्व को पेदु (आवागमन करने वाले) को प्रदान करते हो।[४] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि अग्निरूप दूत को अश्व (इंजन) का निर्माण करने वाला कहा गया है और यही यान (रथ) का भी निर्माण करने वाला है।[५] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है कि अन्तरिक्ष विद्या में कुशल शिल्पी (सौधन्वनः) अश्व अर्थात् वेगवान् पदार्थ विद्युत् आदि से अश्व का निर्माण करते हैं और उसको रथ में जोड़कर दिव्यपदार्थों को प्राप्त करते हैं।[६] एक अन्य सूक्त में दीर्घतमस् ऋषि अश्वरूप अग्नि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि नियमन करने वाला अग्नि इस अश्वविद्या को प्रदान करता है। तीनों स्थानों में रहने वाला वायु इसे रथ में नियोजित करता है। सबसे मुख्य इन्द्र इस पर अधिष्ठित होता है। गन्धर्व (सोम) रशना को ग्रहण करते हैं और वसुगण सूर्य से अश्व का निर्माण करते हैं।[७] इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में ऋषि कहता है कि ये अन्त तक कम्पनशील, मध्यभाग कुछ हटा हुआ, अत्यधिक वेगवान् और ये दिव्य पदार्थों से निर्मित किये जाते हैं। जिस प्रकार हंस पङ्क्तिबद्ध होकर उड़ते हैं, उसी प्रकार ये अश्व भी दिव्यमार्ग को व्याप्त करते हैं।[८] ब्रह्मातिथि ऋषि अश्विनीदेवों को श्येन के समान द्रुतगामी अश्वों से आने का निवेदन करते हैं।[९] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि अग्नि श्वेत अश्व है।[१०] एक अन्य स्थान पर शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि अश्व

---

१ ऋ० १.२७.१. ''अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः। सम्राजन्तमध्वराणाम्।''

२ ऋ० १.११६.५. ''यमश्विना ददथुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति।''

३ ऋ० १.११८.५. ''आ वां रथं युवतिस्तिष्ठदत्र जुष्ट्वी नरा दुहिता सूर्यस्य। परि वामश्वा वपुषः पतङ्गा वयो वहन्त्वरुषा अभीके।''

४ ऋ० १.११८.९. ''युवं श्वेतं पेदव इन्द्रजूतमहिहनमश्विनादत्तमश्वम्।''

५ ऋ० १.१६१.३. ''अग्निं दूतं प्रति यदब्रवीतनाश्वः कर्त्वो रथ उतेह कर्त्वः।''

६ ऋ० १.१६१.७. ''सौधन्वन अश्वादश्वमतक्षत युक्त्वा रथमुप देवाँ अयातन।''

७ ऋ० १.१६३.२. ''यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्। गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्सूरादश्वं वसवो निरतष्ट।''

८ ऋ० १.१६३.१०. ''ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः। हंसाइव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः।''

९ ऋ० ८.५.७. ''आ नः स्तोममुप द्रवत्तूयं श्येनेभिराशुभिः यातमश्वेभिरश्विना।''

१० शत०ब्रा०, ३.६.२.५. ''अग्निर्वा अश्वः श्वेतः।''

देवताओं का वाहन नहीं है, इसलिये यह अग्नि ही अश्व होकर सब देवताओं के लिये यज्ञ को वहन करता है।[१] जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है कि इन अङ्गिरसों के लिये आदित्य ही श्वेत अश्वरूप धारण किये आदित्य को बनाकर ले आये।[२] तैत्तिरीय-ब्राह्मण कहता है कि वे अङ्गिरस आदित्यों के लिये इस श्वेतरूप धारण किये हुए आदित्यरूप अश्व को दक्षिणा में ले आयें।[३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में वह अश्व है, जिसे रथ का स्वामी घास आदि प्रदान करके प्रसन्न करता है, उत्तम केशवाला अश्व अग्नि के समान सम्राट् होने से वन्दनीय होता है, अश्विनीदेव जिस श्वेत अश्व को प्रदान करते हैं, वह नित्य कल्याण करने वाला है, अश्विनीदेव के जिस रथ पर सूर्य की युवा पुत्री प्रसन्नता से आरूढ होती है, उसको ये अश्व घर के समीप ले जाते हैं, अश्विनीदेव (वैज्ञानिक) आवागमन करने वाले के लिये श्वेत अश्व प्रदान करते हैं, अग्नि ही अश्व और वही रथ का भी निर्माण करने वाला है, कहीं ऋषि यम (अग्नि) को अश्वविद्या का प्रदाता, वायु को नियोक्ता, इन्द्र को अधिष्ठाता, गन्धर्व (सोम) को सारथि और वसुओं को सूर्य से अश्व का निर्माण करने वाला बतलाता है, ये अश्व अन्त तक कम्पनशील, मध्यभाग कुछ हटा हुआ, वेगवान् और दिव्य पदार्थों से निर्मित होते हैं, हंसों के समान श्रेणी में चलते हुए ये दिव्य मार्ग को व्याप्त करते हैं, इनकी गति ऋषि ने श्येन के समान बतलायी है। ब्राह्मणग्रन्थ अग्नि का श्वेत अश्व के रूप में उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि यह अग्नि ही अश्व बनकर यज्ञभाग उन तक पहुँचाता है, अङ्गिरस या अङ्गिरसों के लिये आदित्य ही आदित्य को श्वेत अश्व बनाकर ले आते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में वर्णित अश्व तीन प्रकार के हैं:-प्रथम-लोकप्रचलित अश्व, द्वितीय-अग्निरूप श्वेत अश्व, तृतीय-आदित्यरूप श्वेत अश्व। वेद स्पष्टरूप से अश्व के लिये 'अतक्षत' (निर्माण किया) और 'निरतष्ट' (निर्माण किया) क्रिया का प्रयोग करता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि द्वितीय तथा तृतीय वर्ग के अश्वों को निर्माण किया जाता था। द्वितीय वर्ग के अश्वों के निर्माता ऋभुगण माने गये हैं। निघण्टुकार ने 'ऋभु' को मेधावी नाम में परिगणित किया है।[४] इस प्रकार ऋभु नामक वैज्ञानिकों के द्वारा अग्नि के सहयोग से निर्मित होने वाला यान वेद की दृष्टि में 'अश्व' हैं। इनके निर्माताओं को वेद 'सौधन्वनः' नाम से भी पुकारता है। निघण्टुकोष के अन्तरिक्षवाचक नामपदों में 'धन्व' पद परिगणित है।[५] अन्तरिक्षविद्या में कुशल ऋषि का नाम 'सुधन्वा' है, उसके शिष्य या सन्तानों को वेद सम्भवतः, 'सौधन्वनः' नाम से अभिहित कर रहा है। उक्त ऋषियों के द्वारा निर्मित अश्व श्वेतवर्ण, विना कष्ट के गन्तव्य तक ले जाने और नित्य कल्याण करने वाले बतलाये गये हैं। इसकी गति इन्द्र (विद्युत्) से भी

---

१ शत०ब्रा०, १.४.१.३०. ''अश्वो न देववाहन इति। अश्वो ह वाऽएष (अग्निः) भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति।''

२ जै०ब्रा०, ३.१८८. ''एतेभ्य (अङ्गिरोभ्यः) एतमादित्या एतमादित्यमेवाश्वं श्वेतं भूतम्.....................आनयन्।''

३ तै०ब्रा०, ३.९.२१.१. ''तेऽङ्गिरस आदित्येभ्य अमुमादित्यमश्वं श्वेतं भूतं दक्षिणामनयन्।''

४ निघ० ३.१५.८.

५ निघ० १.३.५.

तीव्र मानी गयी है। कहीं उक्त प्रकार के यानों का निर्माण करने वाले के रूप में वेद अश्विनीदेवों का भी उल्लेख करता है। अश्विनीदेव देवशिल्पी माने जाते हैं। सम्भवतः, अश्व-निर्माण-विद्या में कुशल होने के कारण अश्विनीदेवों का उक्त नामकरण हुआ है। तृतीय प्रकार के अश्वों (यानों) का निर्माण करने वालों के रूप में ब्राह्मणग्रन्थ अङ्गिरस ऋषियों का उल्लेख करते हैं। इन्होंने सूर्य से श्वेत अश्व का निर्माण किया है, ये अश्व सौर ऊर्जा से सञ्चालित रहे प्रतीत होते हैं। सम्भवतः, इसलिये वेद ने इनको सूर्य से निर्मित होने वाला बतलाया है। इसके अतिरिक्त अन्तरिक्षीय पदार्थों से निर्मित होने के कारण इनको ऋषि 'दिव्य' बतलाता है। यह अश्व (यान) यमविद्या के अनुसार निर्मित, वायु से नियुक्त, इन्द्र से अधिष्ठित, गन्धर्व द्वारा नियन्त्रित और सूर्य से सञ्चालित हैं। उपर्युक्त तीनों प्रकार के अश्वों में एक समान विशेषता पायी जाती है कि ये शीघ्रता से गन्तव्य तक पहुँच जाते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए व्याप्ति अर्थ वाली 'अश्' धातु को 'अश्व' पद का मूल माना जा सकता है।

वैदिक साहित्य में अश्ववाचक नामपदों में अर्थभिन्नता

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के चतुर्दश गण में निघण्टुकार ने २६ अश्ववाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	अत्यः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१.	जो अश्व अग्नि के समान सुख प्रदाता, गन्तव्य तक पहुँचाने वाला एवं सर्वदा सक्रिय रहता है, वह वेद की दृष्टि में 'अत्यः' है।	'अत्' धातु
२.	हयः अश्ववाचक निघ०,१.१४.२.	जिसे प्रशिक्षित किया जाता है, ऐसा मेधासम्पन्न अश्व, 'हयः' है।	रूप की दृष्टि से 'हि' या 'हय्' धातु।
३.	अर्वा अश्ववाचक निघ०,१.१४.३.	जो अग्नि के समान गति से मार्ग पार करता है, वह अश्व 'अर्वा' है।	'ऋ' धातु।
४.	वाजी अश्ववाचक निघ०,१.१४.४.	बलवान् होने के कारण प्राणीवाचक तथा यान्त्रिक अश्व को वेद 'वाजी' नाम से अभिहित करता है।	बलार्थक वैदिक 'वज्' धातु।
५.	सप्तिः अश्ववाचक निघ०,१.१४.५.	जो सर्प की सर्पणशीलता के समान सरपट दौड़ता है, वह अश्व वेद के ऋषि की दृष्टि में 'सप्तिः' है।	'सृप्' धातु।
६.	वह्निः अश्ववाचक निघ०,१.१४.६.	यान्त्रिक एवं बैलगाड़ी रूप वाहन को वेद 'वह्नि' नाम से पुकारता है। इस प्रकार यन्त्रवाहन और बैल 'वह्नि' है।	'वह्' धातु।
७.	दधिक्राः अश्ववाचक निघ०,१.१४.७.	जो अपने मार्ग का स्मरण रखता है, ऐसा बुद्धिमान् अश्व ' वेद में दधिक्राः ' नाम से स्मरण किया गया है।	'दधि+'कृ' धातुमूलक निर्वचन के क्षीणरूप से स्वीकार किये जाने की सम्भावना है। शेष सभी निर्वचन असङ्गत हैं।

८.	दधिक्रावा अश्ववाचक निघ०,१.१४.८.	अर्थ 'दधिक्राः' के समान।	व्युत्पत्ति भी 'दधिक्राः' के समान अस्पष्ट है।
९.	एतग्वा अश्ववाचक निघ०,१.१४.९.	वर्णयुक्त होने से सूर्यरश्मियाँ वेद में 'एतग्वा' नाम से अभिहित हुई हैं।	'एत+'गम्' धातु से।
१०.	एतशः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१०.	कहीं वेद सूर्य की तीक्ष्णरश्मियों को रश्मिरूप में तो कहीं अश्वरूप में 'एतशः' पद का उल्लेख करता है।	'इण्' गतौ' धातु।
११.	पैद्वः अश्ववाचक निघ०,१.१४.११.	'पैद्वः' का अश्व अर्थ सन्दिग्ध है। सम्भवतः, पादों से शीघ्र चलने एवं सर्प का वध करने में समर्थ है, पुरुष का यौगिक नाम वेद में 'पैद्वः' है।	सम्भवतः, 'पद्' धातु।
१२.	दौर्गहः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१२.	'दौर्गहः' पद का स्वरूप अस्पष्ट है।	अस्पष्ट।
१३.	औच्चैःश्रवसः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१३.	महनीय कीर्ति वाला होने से इन्द्र के अश्व को वेद सम्भवतः, 'औच्चैःश्रवसः' नाम से अभिहित करता है।	''उच्चैःश्रवस्'' से 'औच्चैःश्रवसः' पद निष्पन्न हुआ है।
१४.	अश्ववाचक निघ०,१.१४.१४.	यह स्पष्ट नहीं है कि 'तार्क्ष्य' उड़ने वाला या चतुष्पाद प्राणी है। फिर भी वाहन से उसका कुछ सम्बन्ध अवश्य है।	'तक्ष्' धातु से व्युत्पन्न होने की क्षीण सम्भावना है।
१५.	आशुः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१५.	द्रुतगामी होने के कारण को अश्व को 'आशुः' कहा जाता है।	व्याप्ति अर्थ वाली 'अश्' धातु।
१६.	ब्रध्नः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१६.	प्राणी का जीवन सूर्य से बँधा हुआ होने के कारण सूर्य ही 'ब्रध्नः' है।	'बन्ध्' धातु।
१७.	अरुषः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१७.	आरोचमान रूप वाला होने के कारण वेद अग्नि, सोम, सूर्य और (श्वेत) अश्व को 'अरुषः' नाम से अभिहित करता है।	'रुश्' दीप्तौ' धातु, लेकिन 'अ' को व्युत्पन्न करने की समस्या बनी रहती है।
१८.	माँश्चत्वः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१८.	वेद में युद्ध में प्रयुक्त होने वाला अश्व सम्भवतः, माँश्चत्वः है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
१९.	अव्यथयः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१९.	वेद में कष्ट या दुःखरहित उपाय 'अव्यथयः' है। यह दुःखरहित उपाय नौका और अश्व भी हो सकते हैं।	'न+'व्यथ्'।
२०.	श्येनासः अश्ववाचक निघ०,१.१४.२०.	वेद में श्येन पक्षी और श्येन के समान किसी वाहन का नाम 'श्येनासः' है।	'श्यै' या 'श्या' धातु।
२१.	सुपर्णाः अश्ववाचक निघ०,१.१४.२१.	वेद सुदूर पृथ्वी पर प्रकाश पहुँचाने वाले सूर्य का सुपर्ण नामक अश्व के रूप में उल्लेख करता है।	'सु+'पृ' या 'पत्'।
२२.	पतङ्गाः अश्ववाचक निघ०,१.१४.२२.	वेद में जल, थल, नभ में तीन दिन, तीन रात निरन्तर चलने की सामर्थ्य वाला एक वाहन विशेष 'पतङ्ग' है। यह सूर्य का भी अभिधान है।	'पत्' धातु।
२३.	नरः अश्ववाचक निघ०,१.१४.२३.	उदक का हरण और सूर्य का आहरण किये जाने के कारण सूर्य या सूर्यरश्मियों को 'नरः' कहा गया है। प्रकाश का	'नी' धातु।

		नेतृत्व करने से भी सूर्य या रश्मियाँ 'नरः' नाम का अधिकारी हैं।	
२४.	ह्वार्याणाम् अश्ववाचक निघ०,१.१४.२४.	कुटिलता अर्थात् वश में किया जाना कष्टसाध्य होने के कारण अश्व या सर्प को वेद 'ह्वार्यः' नाम से अभिहित करता है।	'ह्वृ' कौटिल्ये' धातु।
२५.	हंसासः अश्ववाचक निघ०,१.१४.२५.	वेद वाहनरूप में प्रयुक्त होने वाले हंस नामक पक्षी को 'हंसासः' कहता है। सम्भवतः, मधुरवाणी के कारण यह हंस नाम से अभिहित हुआ है।	'हन्' धातु को मूल मानना उचित नहीं। अभी और शोध की अपेक्षा है।
२६.	अश्वाः अश्ववाचक निघ०,१.१४.२६.	वेद में तीन प्रकार के अश्वों का उल्लेख प्राप्त होता है:- प्रथम-लोक प्रचलित अश्व, द्वितीय-अग्नि की शक्ति से सञ्चालित अश्व तथा तृतीय सूर्य की शक्ति से सञ्चालित अश्व।	'अश' व्याप्तौ' धातु।

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में निघण्टुकार ने २६ पद परिगणित किये हैं। इनमें से केवल निम्न ११ नामपद स्पष्टरूप से लोक प्रचलित अश्व के वाचक हैं-**अत्यः**, **हयः**, **अर्वा**, **सप्तिः**, **दधिक्राः**, **दधिक्रावा**, **औचैः श्रवसः**, **आशुः**, **अरुषः**, **माँश्चत्वः**, **ह्वार्याणाम्**। उक्त गण के निम्न १५ पद अश्ववाचक नहीं हैं:- **वाजी**, **वह्निः**, **एतग्वा**, **एतशः**, **पैद्वः**, **दौर्गहः**, **तार्क्ष्यः**, **ब्रध्नः**, **अव्यथयः**, **श्येनासः**, **सुपर्णाः**, **पतङ्गाः**, **नरः**, **हंसासः**, **अश्वाः**। इनमें से **एतग्वा**, **एतशः**, **ब्रध्नः**, **सुपर्णाः**, **पतङ्गाः**, **नरः**- ये छः शब्द सूर्य या सूर्यरश्मियों के वाचक हैं। वाजी पद यान्त्रिक वाहन तथा अश्व दोनों के लिये व्यवहृत होता है। अव्यथयः नौका या अश्व किसी के लिये भी प्रयुक्त किया जा सकता है। अश्व शब्द लोकप्रचलित अर्थ के अतिरिक्त अग्नि और सूर्य की शक्ति से सञ्चालित वाहन का नाम भी है। इस प्रकार **वाजी, अव्यथयः अश्वः**- ये तीनों पद अश्व तथा किसी अन्य वाहन के लिये भी प्रयुक्त होते हैं। यान्त्रिक एवं बैलगाड़ी रूप वाहन '**वह्निः**' है। **श्येनासः** श्येन पक्षी और श्येन के समान वाहन का नाम है। **हंसासः** शब्द हंस के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार **वह्निः**, **श्येनासः**, **हंसासः** ये तीन पद अन्य पशु या पक्षीवाचक हैं। **पैद्वः** पैदल चलने वाले व्यक्ति का नाम है। **तार्क्ष्यः** का रूप अस्पष्ट तथा **दौर्गहः** का अर्थ अस्पष्ट है। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि वेद अश्व को लोकप्रचलित अर्थ तक सीमित नहीं मानता। उसके अनुसार समस्त प्रकार के वाहन '**अश्व**' हैं। निघण्टुकार ने भी सम्भवतः, इसी कारण अन्य वाहन वाचक पदों का समाहार अश्ववाचक गण में किया है।

अश्ववाचक गण में निघण्टुकार ने प्रारम्भ के १८ पदों का प्रथमा विभक्ति एकवचन में पाठ किया है और '**ह्वार्याणाम्**' को छोड़कर शेष सभी शब्द प्रथमा विभक्ति बहुवचन में उद्धृत किये हैं। तथा '**ह्वार्यः**' पद को षष्ठी विभक्ति बहुवचन में पढ़ा है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि निघण्टुकार की शैली अनिश्चित है।

जहाँ तक अर्थ का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि निघण्टुकार ने ११ नामपद लोकप्रचलित अश्व अर्थ में, छः पद सूर्य या सूर्यरश्मि से सम्बद्ध अर्थ में, तीन पद अश्व और किसी अन्य वाहन के अर्थ में, तीन पद अन्य पशु-पक्षी वाचक हैं और तीन पद अस्पष्ट हैं, जिनके विषय में अभी कुछ कहना सम्भव नहीं है। उक्त तथ्यों के आधार पर कह सकते हैं कि प्रमुखता से अश्व वाचक पदों का परिगणन करने के कारण निघण्टुकार ने उक्त गण का नामकरण अश्व के नाम से किया है।

आदिष्टोपयोजन वाचक नामपद

निघण्टुकोष के आदिष्टोपयोजन वाचक गण में निघण्टुकार ने दस शब्दों का परिगणन किया है। प्रस्तुत गण में निघण्टुकार ने दो या उससे अधिक पदों का युगल रूप में समाम्नान किया है। इनमें से एक पद देवता वाचक है तथा द्वितीय सामान्य पद है। हम यहाँ इस द्वितीय पद का विवेचन करने के लिये अग्रसर हो रहे हैं।

१. हरी इन्द्रस्य

निघण्टुकार ने आदिष्टोपयोजन गण के प्रथम स्थान पर 'हरी इन्द्रस्य' पद का परिगणन किया है।[१] षड्विंश ब्राह्मण 'हरी' पद का निर्वचन करता हुआ कहता है:-''**पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी ताभ्याꣳ हीदꣳ सर्वं हरति**''[२] कि मास के पूर्वपक्ष और अपरपक्ष इन्द्र के दो अश्व (हरी) हैं, इनसे वह सबकी आयु का हरण करता है। यहाँ ऋषि इन्द्र का अर्थ 'सूर्य' मानकर व्याख्यान कर रहे प्रतीत होते हैं। इस पक्ष में 'हृ' धातु से 'हरि' रूप सिद्ध होता है।

जैमिनीय-ब्राह्मण भी उपर्युक्त कथन का समर्थन करता हुआ कहता है:-''**अहोरात्रौ वा अस्य हरी। तौ हीदं सर्वं हर्त्तारौ हरत:**''[३] कि इस इन्द्र (सूर्य) के दिवस तथा रात्रि हरी हैं, ये दो सब हरण करने वालों के हर्त्ता हैं। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

जैमिनीयोपनिषद् कहती है:-''**युक्ता ह्यस्य (इन्द्रस्य) हरयश्शता दशेति सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मय:। तेऽस्य युक्तास्तैरिदं सर्वं हरति। तद्यदेतैरिदं सर्वं हरति। तस्माद्धरय:**''[४] कि इन्द्र अर्थात् सूर्य की असङ्ख्य रश्मियों का होना उचित है। वे इससे युक्त होकर समस्त वस्तुजात का हरण करती हैं, क्योंकि ये सब कुछ हरण करती हैं, इसलिये इनको 'हरि' कहा जाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है:-''**प्राणापानौ वा अस्य (इन्द्रस्य) हरी तौ हीदं सर्वं हर्त्तारौ हरत:**''[५] कि प्राण और अपान ही इस इन्द्र के हरी हैं, ये दोनों समस्त हर्त्ताओं का हरण करते हैं। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

आचार्य यास्क 'हरि' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**हरि: सोमो हरितवर्ण:। अयमपतीरो हरिरेतस्मादेव**''[६] कि हरितवर्ण का होने से सोम को 'हरि' कहा जाता है। यह शुक भी हरितवर्ण के कारण 'हरि' कहलाता है। दुर्ग शुक के स्थान पर मर्कट अर्थ ग्रहण करते हैं और मानते हैं कि रामायण कालीन वानर

---

१ निघ० १.१५.१.

२ ष०ब्रा०, १.१.

३ जै०ब्रा०, २.७९.

४ जै०उप०, १.१४.३.५.

५ जै०ब्रा०, २.७९.

६ निरु० ४.१९.

पिङ्गलक प्रभा के होने से 'हरि' हैं।[१]

(ख)''हरयः----------हरणा आदित्यरश्मयः''[२] कि हरणशील होने के कारण आदित्य रश्मियाँ 'हरि' कही जाती हैं। इस पक्ष में 'हृ' धातु से 'हरि' रूप उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् आदिष्टोपयोजन वाचक 'हरी' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं-''**हरी (आदिष्टोपयोजनानि)। 'हृञ्' हरणे'। हरतो रथम्। अत्र ताण्ड्यकम्- पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी, ताभ्यां हीदं सर्वं हरति (ता०ब्रा०,६.१.१.)। ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी (ऐ०ब्रा०)**''[३] कि रथ का हरण करने के कारण अश्वों को 'हरि' कहा जाता है। ताण्ड्य-महाब्राह्मण कहता है कि पूर्वपक्ष और अपरपक्ष इन्द्र के हरी हैं, इन दोनों से यह समस्त वस्तुजात का हरण करता है। ऐतरेय ब्राह्मण ऋक् और साम को हरी बतलाता है, क्योंकि ये हरण के साधन हैं। इस पक्ष में 'हृ' धातु से औणादिक 'इ' प्रत्यय होकर 'हरि' रूप सिद्ध होता है। उणादिकोष से भी उक्त व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है।[४]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष हरि पद को हरितवर्ण (अंशु, वज्र प्रभृति) का विशेषण तथा अश्व, रश्मि, सूर्य, सोम प्रभृति वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार 'हृ' ('घृ' क्षरणदीप्त्योः) धातु से 'हरि' पद निष्पन्न होता है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्त पद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स 'हरि' पद को 'हृ' धातुमूलक मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद मृगशावक के वर्ण, रक्ताभ, बभ्रु, पिङ्गल, पाण्डु, पीत, हलका भूरा या हलका लाल अर्थ में है, जो विशेषरूप से अश्व पर चरितार्थ होता है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में यह शब्द अश्व, युद्धाश्व के अर्थ में भी प्रयुक्त है।[७] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का मत है कि भारोपीय भाषा में 'ghel' हरित या पीत वर्ण के अर्थ में तथा लैटिन में 'helvus' पीत अर्थ में है। अतः, वे उक्त यास्कीय निर्वचन को तुलनात्मक भाषाविज्ञान के द्वारा पूर्णरूप से स्वीकार करने के योग्य मानते हैं।[८] वेद से प्राप्त सङ्केत 'हरी' पद को 'हर्य्' धातु से व्युत्पन्न मानते प्रतीत होते हैं।[९]

वैदिक साहित्य में 'हरी इन्द्रस्य' का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में मधुच्छन्दा ऋषि कहते हैं कि हे सोम का पान करने वाले इन्द्र! अपने उत्तम केशों वाले एवं शक्तिशाली अश्वों को नियोजित करो और हमारी स्तुतियों को समीप से सुनने के लिये चले आओ।[१०] मधुच्छन्दा ऋषि एक अन्य सूक्त में कहते हैं कि युद्ध में जिस इन्द्र के रथ में जुते हुए अश्वों को देखकर शत्रु पलायन कर जाते हैं, उस इन्द्र को प्रसन्न करने के

---

१ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, ४.१९. पृ० ३५३.

२ निरु० ७.२४.

३ निघ०वृ०, १.१५.१.

४ उणा०, ४.१२०. ''हृपिषिरुहिवृतिविदिछिदिकीर्तिभ्यश्च।''

५ वै०पद०को०, पृ० ३५५५.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ६०५.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२८९.

८ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ५४.

९ ऋ० १.१६५.४, यजु०, ३३.७८, सा०पू०, ५.८.८. सा०उ०, १६८१.

१० ऋ० १.१०.३. ''युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा। अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर।''

लिये हम स्तुति करें।[१] काण्व मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि घृत से स्निग्ध धान याग के लिये वेदि में उपस्थित है। सुखतम रथ पर बैठाकर अश्व इन्द्र को लेकर आयें।[२] काण्व मेधातिथि ऋषि एक अन्य स्थान पर कहते हैं कि ऋभुगण इन्द्र के लिये वाणीमात्र से रथ में नियोजित होने वाले हरी नामक अश्वों का निर्माण करते हैं, ऐसे ऋभुगण विज्ञानसम्मत कर्मों से यज्ञ को व्याप्त करें।[३] आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि हे सोमपान करने वाले इन्द्र! तेरा मन हमें अभीष्ट फल प्रदान करने के लिये हो। हे स्तुतियों का श्रवण करने वाले इन्द्र! अपने अश्वों को हमारी ओर अभिमुख करो। हे इन्द्र! तुम्हारे अश्वनियमन में कुशल और पोषण करने वाले सारथि तुम्हें अपने ज्ञान से कष्ट न पहुँचायें।[४] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! जब विविध कर्म करते समय तुम्हारे अश्व रथ को ले जाते हैं, तब स्तोता तुम्हारे हाथ में वज्र स्थापित कर देते हैं अर्थात् स्तुति सुनते ही तुम हाथ में वज्र धारण कर लेते हो।[५] राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! मैं उत्तम केशयुक्त तुम्हारे अश्वों को स्तोत्ररूप मन्त्र से रथ में संयुक्त करता हूँ, तुम हाथों में अश्वरश्मियों को धारण किये हुए प्रस्थान करो।[६] एक अन्य मन्त्र में राहूगण गोतम ऋषि कहते हैं कि ये दोनों अश्व अप्रतिधर्षित बल वाले इन्द्र को ऋषियों और मनुष्यों के स्तुति और यज्ञ में पहुँचाते हैं।[७] तैत्तिरीय एवं काठक-संहितायें कहती हैं कि हरि नामक अश्वों से इन्द्र देवताओं को प्राप्त होता है।[८] तैत्तिरीय-संहिता द्यावापृथिवी को पक्षरहित हरी मानती है।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वे अश्व हरि हैं, जो उत्तम केश, शक्तिशाली तथा इन्द्र को रथ में बैठाकर ले आते हैं, इन अश्वों को रथ में संयुक्त देखकर शत्रु पलायन कर जाते हैं, घृत से क्लिन्न धान यज्ञवेदि में स्थित होने पर इन अश्वों से इन्द्र को लाने के लिये कहा जाता है, वाणीमात्र के सङ्केत से रथ में नियोजित होने वाले अश्वों का निर्माण ऋभुगण करते हैं, इन्द्र के सारथि अश्वनियमन में कुशल होते हैं, ये अश्व इन्द्र के रथ को ले जाते हैं। इसके अतिरिक्त ऋषि इन अश्वों को स्तोत्ररूप मन्त्र के द्वारा रथ में संयुक्त करता है और रश्मियों को हाथ में पकड़े हुए इन्द्र प्रस्थान करता है तथा ये हरि नामक अश्व इन्द्र को ऋषियों एवं मनुष्यों के स्तुति और यज्ञ में पहुँचाते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि यह अश्व शक्तिशाली, उत्तम केशयुक्त, मन्त्र से ही रथ में नियोजित होने वाले होते हैं। ब्राह्मणग्रन्थ प्रायः सर्वत्र इन्द्र से सूर्य और हरी नामक अश्वों से रश्मियों का ग्रहण करने का सङ्केत करते हैं। निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि वेद कहीं रश्मि को और

---

१ ऋ० १.५.४. ''यस्य संस्थेन वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः। तस्मा इन्द्राय गायत।''

२ ऋ० १.१६.२. ''इमा धाना घृतस्नुवो हरी इहोप वक्षतः। इन्द्रं सुखतमे रथे।''

३ ऋ० १.२०.२. ''य इन्द्राय वचोयुजा ततक्षुर्मनसा हरी। शमीभिर्यज्ञमाशत।''

४ ऋ० १.५५.७. ''दानाय मनः सोमपावन्नस्तु तेऽर्वाञ्चा हरी वन्दनश्रुदा कृधि। यमिष्ठासः सारथयो य इन्द्र ते न त्वा केता आ दभ्नुवन्ति भूर्णयः।''

५ ऋ० १.६३.२. ''आ यद्धरी इन्द्र विव्रता वेरा ते वज्रं जरिता बाह्वोर्धात्।''

६ ऋ० १.८२.६. ''युनज्मि ते ब्रह्मणा केशिना हरी उप प्र याहि दधिषे गभस्त्योः।''

७ ऋ० १.८४.२. ''इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम्। ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम्।''

८ तै०सं० १.६.४.३. काठ०, ५.३. ''हरिभ्यां त्वेन्द्रो देवतां गमयतु।''

९ तै०सं० ३.९.४.२. ''इमे (द्यावापृथिव्यौ) वै हरी विपक्षसा।''

कहीं विशेष वाहन को 'हरी' नाम से अभिहित करता है। 'हरी' के द्विवचनान्त प्रयोग के आधार पर कहा जा सकता है कि सम्भवतः, किन्हीं दो विशिष्ट रश्मियों का नाम 'हरी' है। उदक तथा जगत् की आयु का शोषण करने के कारण वेद इन्हें 'हरी' नाम से पुकारता है। इस (हरण, लेजाना या पहुँचाना) तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'हृ' धातु को 'हरि' पद का मूल माना जा सकता है।

२. रोहिताऽग्नेः

निघण्टुकोष के आदिष्टोपयोजन गण में 'रोहिताऽग्नेः' शब्दद्वय परिगणित हैं।[१] उपर्युक्त शब्दद्वय में से 'रोहित' का निर्वचन करते हुए आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं:-"**रोहितः (आदिष्टोपयोजनानि)। 'रुह्'। रोहन्ति आरोहन्ति रथं वहन्त्यादिवमिति रोहितः**"[२] कि रथ को द्युलोक तक ले जाते हैं, वे अश्व 'रोहित' हैं। इस पक्ष में 'रुह्' धातु से औणादिक 'इति' प्रत्यय होकर 'रोहित' रूप उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'रोहितः' को लोहितवर्ण वाला विशेषण पद तथा हरिण प्रभृति अर्थ वाला नामपद मानता है। उसके अनुसार यह पद 'रुधिर' और 'रुरु' से तुलनीय है।[३] सम्भवतः, कोशकार इसका मूल 'रुध्' धातु में देखने के पक्ष में प्रतीत होते हैं। ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्त पद को अव्युत्पन्न मानती है।[४] मोनियर विलियम्स 'रोहित' की 'लोहित' से तुलना करते हैं। सम्भवतः, उनके अनुसार 'रोहित' से 'लोहित' अथवा 'लोहित' से 'रोहित' पद निष्पन्न हुआ है। ऋग्वेद में यह पद रक्तवर्ण, रक्ताभ अर्थ में आया है। इसके अतिरिक्त यह ऋग्वेद और तैत्तिरीय-संहिता में लाल या रक्ताभ अश्व के लिये भी आया है।[५] वेद से प्राप्त सङ्केत 'रोहित' पद का मूल 'रुह्' धातु को मानते प्रतीत होते हैं।[६] उणादिकोष से भी इस कथन की पुष्टि हो जाती है।[७]

वैदिक साहित्य में 'रोहितः' पद का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में घोरपुत्र कण्व ऋषि कहते हैं कि हे मरुतो! अपने रथों में पृषती को संयुक्त करो। रोहित प्रष्टि का वहन करता है। जब यह रथ चलता है, तब पृथ्वी इसकी गर्जना को सुनती है तथा मनुष्य इसकी चलने की ध्वनि को सुनकर भयभीत हो जाते हैं।[८] सायण 'पृषती' का अर्थ 'मृगी' तथा स्वामी दयानन्द 'वायु' ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार सायण 'रोहितः' का अर्थ 'मृगविशेष' तथा स्वामी दयानन्द 'अग्नि' करते हैं।[९] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि जब अग्नि

---

१ निघ० १.१५.२.

२ निघ०वृ०, १.१५.२.

३ वै०पद०कोष, पृ० २६९५.

४ ऋ०वै०पद०, पृ० ४५२.

५ संस्कृत-इंग्लिशकोष, पृ०, ८९०.

६ अथर्व०, १३.१.४-३४.

७ उणा०, ३.९४. "रुहेरश्च लो वा।"

८ ऋ० १.३९.६. "उपो रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं प्रष्टिर्वहति रोहितः। आ वो यामाय पृथिवी चिदश्रोदबीभयन्त मानुषाः।" तु०, ऋ० ८.७.२८.

९ द्रष्टव्य, सायण एवं दयानन्द, ऋग्भाष्य, १.३९.६.

(विद्वान्) आरोचमान वर्ण वाले रोहित को रथ में संयुक्त करता है, तब उसका वेग वायु से तीव्र और गर्जना वृषभ के समान होती है। धूम के चिह्न वाला वह गतिशील अग्नि मार्ग को व्याप्त करता है। विद्वान् और अग्नि की इस मित्रता से हमें कष्ट प्राप्त न हो।[१] परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि कभी यह वायु रोहित वर्ण, कभी अरुणवर्ण और कभी अजिर वर्ण के अश्वों को रथ के अग्रभाग में भारवहन के लिये नियुक्त करता है।[२] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि अग्नि के रथ को कभी श्याववर्ण, कभी रोहितवर्ण और कभी आरोचमान शुक्लवर्ण के अश्व वहन करते हैं।[३] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे जातवेद अग्ने! प्रशस्त केशवाले, जोड़ने की साधनभूत रस्सियों से युक्त, घृत की वर्षा करने वाले रोहित नामक अश्वों को यज्ञ के अग्रभाग में स्थापित करो।[४] वामदेव ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! ऋत के सम्बन्धी, मन से भी वेगवान्, अन्न की वृद्धि और उदक की वृष्टि करने वाले रोहितवर्ण के अश्वों की मैं स्तुति करता हूँ।[५] काण्व मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि हे अग्निदेव! आरोचमान और हरण करने में समर्थ रोहित को रथ में नियुक्त करो और उससे देवताओं को लेकर आओ।[६] जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है कि जो पशु प्रथम उत्पन्न हुए वे रोहित हैं।[७] तैत्तिरीय एवं काठक-संहितायें रोहित से ही अग्नि को देवताओं तक पहुँचाने वाला बतलाती हैं।[८] जैमिनीय एवं ताण्ड्य-महाब्राह्मण कहते हैं कि पशुओं को यह रोहितरूप बहुत अधिक प्रिय है।[९] मैत्रायणी-संहिता पशुओं के रूप को रोहित बतलाती है।[१०] काठक-संहिता व्रीहि, पृथिवी और द्युलोक इन तीनों को ही रोहित जैसा बतलाती है।[११]

वैदिक साहित्य के विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह अश्व 'रोहितः' है, जो प्रष्टि नामक वाहन को खींचकर ले जाता है, तथा इसके चलने की ध्वनि से पृथिवीस्थित मनुष्य भयभीत हो जाते हैं, आरोचमान वर्ण वाले रोहित को नियुक्त करने पर वेग वायु से तीव्र, गर्जना वृषभ के समान, धूम के चिह्न वाला यह रथ के मार्ग को व्याप्त करता है, ये रोहितवर्ण के अश्व भारवहन करने के लिये रथ के अग्रभाग में नियुक्त किये जाते हैं, ये अश्व प्रशस्त केशवान्, जोड़ने योग्य साधनों से युक्त, घृत की वर्षा करने वाले होते हैं, इन अश्वों का वेग मन से भी अधिक तीव्र और ये उदक की वृष्टि करने वाले माने गये हैं, वहन करने में समर्थ

---

१ ऋ० १.९४.१०. "यदयुक्था अरुषा रोहिता रथे वातजूता वृषभस्येव ते रवः। आदिन्वसि वनिनो धूमकेतुनाग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव।"

२ ऋ० १.१३४.३. "वायुर्युङ्क्ते रोहिता वायुररुणा वायू रथे अजिरा धुरि वोळहवे वहिष्ठा धुरि वोळहवे।" तु०, ऋ० ५.५६.६.

३ ऋ० २.१०.२. "श्यावा रथं वहतो रोहिता वोतारुषाह चक्रे विभृत्रः।"

४ ऋ० ३.६.६. "ऋतस्य वा केशिना योग्याभिर्घृतस्नुवा रोहिता धुरि धिष्व।"

५ ऋ० ४.२.३. "अत्या वृधस्नू रोहिता घृतस्नू ऋतस्य मन्ये मनसा जविष्ठा।"

६ ऋ० १.१४.१२. "युक्ष्वा हि ह्यरुषी रथे हरितो देव रोहितः। ताभिर्देवाँ इहा वह।"

७ जै०ब्रा०, ३.२६३. "ये (पशवः) प्रथमेऽसृज्यन्त ते रोहिताः।"

८ तै०सं० १.६.४.३. काठ०, ५.१. "रोहितेन त्वाऽग्निर्देवतां गमयतु।"

९ जै०ब्रा०, २.१८२. "एतद्वै पशूना प्रियं रूपं यद् रोहितम्। ता०ब्रा०, १६.६.२. "एतद्वै पशूना प्रियं भूयिष्ठꣳ रूपं यद् रोहितम्।

१० मै०सं० ३.७.४. "पशूनाꣳ रोहितं रूपम्।"

११ काठ०सं० १२.४. "रोहिता इव वै व्रीहयो रोहित इवायं (पृथिवी) लोको, रोहित इवासौ (द्युलोकः)।"

यह इन अश्वों से अग्निदेवताओं को लेकर आता है। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कह सकते हैं कि मुख्यत:, अग्नि की ज्वालाओं को वेद अग्नि के अश्व मानकर उल्लेख कर रहा है। आचार्य देवराजयज्वन् भी कहते हैं कि नित्यपक्ष में व्याप्त करने वाली ज्वालायें ही अग्नि के अश्व हैं।[१] लेकिन कुछ स्थलों पर रोहित को प्रष्टि को खींचने वाला, इसके चलने से पृथिवीस्थित मनुष्य भयभीत, इसकी गति वायु और मन से भी तीव्र, वृषभ के समान गर्जना करने वाला, धूम के चिह्न वाला-इस प्रकार रोहित का चित्रण एक वाहन के रूप में हुआ है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि यह एक अग्नि सञ्चालित वाहन विशेष है। जो आकाश में आरोहण करने में समर्थ है, वह 'रोहित' है। यह 'रोहित' नामकरण भी उक्त निष्कर्ष का समर्थन करता हुआ दिखायी देता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'रुह्' धातु को 'रोहित' पद का मूल माना जा सकता है।

३. हरित आदित्यस्य

निघण्टुकोष के आदिष्टोपयोजन गण में 'हरित आदित्यस्य' पद परिगणित है।[२] उक्त पदद्वय में से आदित्य से सम्बद्ध 'हरित:' पद का विवेचन करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं:-"**हरित:, हरणानादित्यरश्मीन्**"[३] कि रस का हरण करने के कारण आदित्य रश्मियों को 'हरित:' कहा जाता है। इस पक्ष में 'हृ' धातु से 'हरित:' पद उपपन्न होता है।

(ख)"**हरितोऽश्वानिति वा**"[४] कि ऐतिहासिक पक्ष में हरण करने के कारण अश्वों को 'हरित:' कहा जाता है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् 'हरित:' पद सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'हरित:' पद का निम्न निर्वचन करते हैं:-"**हरित: (आदिष्टोपयोजनानि)। 'हृञ्' हरणे'। हरन्ति रथं तमो वा स्वभासा**"[५] कि रथ का हरण अथवा अपने प्रकाश से तमस् का अपहरण करने के कारण अश्व या आदित्यरश्मियों को 'हरित:' कहा जाता है। इस पक्ष में 'हृ' धातु से औणादिक 'इतन्' प्रत्यय होकर 'हरित:' रूप सिद्ध होता है।

(ख)"**यद्वा, हरिच्छब्द: पीतवर्णवचनो हरिद्वर्णो वा**"[६] कि पीत या हरिद्वर्ण होने के कारण आदित्य से सम्बद्ध अश्व को 'हरित:' कहा जाता है। इस पक्ष में पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'हरित:' पद को हरिद्वर्ण वाचक अश्व का विशेषण तथा अश्व=रश्मि वाचक नामपद मानता है। यास्क प्रभृति विद्वानों के मत में 'हरित:' पद का मूल 'हृञ्' हरणे' धातु है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'हरित:' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[८] मोनियर विलियम्स 'हृ' धातु को 'हरित:' पद का

---

१ निघ०वृ०, १.१५.२. "नित्यपक्षे ज्वाला अश्वा व्याप्तिमत्य:।"

२ निघ० १.१५.३.

३ निरु० ४.११.

४ निरु० ४.११.

५ निघ०वृ०, १.१५.३.

६ निघ०वृ०, १.१५.३.

७ वै०पद०को०, पृ० ३५५९.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० ६०६.

मूल मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद मृगशावक के वर्ण, रक्ताभ, बभ्रु, पिङ्गल, पाण्डु, पीत, हलका भूरा या हलका लाल, हरित और हरिताभ अर्थ में है।[१] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि यास्क के निर्वचन में रश्मिवर्ण का उल्लेख है, जो प्रायः पीत अथवा स्वर्णिम बतायी गयी हैं। भारोपीय भाषा में 'gher' पीत वर्ण तथा लैटिन में 'helvus' पीत अर्थ में है। उनके अनुसार उक्त निर्वचन में यास्क की अनुर्वर कल्पना परिलक्षित होती है।[२] वेद से प्राप्त सङ्केत 'हरितः' पद को 'भृ' या 'हर्य्' धातु से व्युत्पन्न मानते प्रतीत होते हैं।[३]

वैदिक साहित्य में 'हरितः' पद का अनेकशः उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में प्रस्कण्व ऋषि सूर्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे द्योतमान और सबके प्रकाशक सूर्य! रस हरण करने वाली सात रश्मियाँ ज्वालारूप केशों वाले रथ पर स्थित तुमको ले जाती हैं।[४] आङ्गिरस कुत्स ऋषि कहते हैं कि कल्याणकर, व्यापनशील, हरिद्वर्ण (स्वर्णिम), द्रुतगामी (एतग्वा), आनन्द देने वाले सूर्य के अश्व नमन करते हुए या नमन प्राप्त करते हुए अन्तरिक्ष के उपरिप्रदेश में स्थित होते हैं और वहीं से द्यावापृथिवी को शीघ्र व्याप्त कर लेते हैं।[५] अग्रिम मन्त्र में पुनः ऋषि कहते हैं कि यह सूर्य का देवत्व और माहात्म्य है कि कर्म करने वाला सूर्य को अस्त होता हुआ देखकर कार्य को बीच में ही विराम दे देता है। जिस समय यह सूर्य रसहरणशील रश्मियों या हरिद्वर्ण के अपने अश्वों को इस पृथिवीलोक से अन्यत्र संयुक्त करता है, उस समय रात्रि समस्त प्राणियों के लिये अपने अन्धकाररूप वस्त्र को विस्तारित करती है।[६] सूर्य का वर्णन करता हुआ ऋषि इसी क्रम में आगे कहता है कि सूर्य की रस हरणशील रश्मियों (अश्वों) का श्वेतवर्णीय देदीप्यमान अनन्तबल रात्रि के कृष्णवर्ण को दूर भगा देता है।[७] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! तुम सूर्यरूप में वर्तमान होकर हरिद्वर्ण के नृन्=ले जाने वाले अश्वों या सूर्यरश्मियों को रमण कराते हो और एतश (सूर्य के अश्व) के चक्र को आगे बढ़ाते हो।[८] वामदेव ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! नासापुटादि से उदक क्षरित करने वाले, रोहितवर्ण, ऋजु और उत्तमगति वाले तुम्हारे उन प्रसिद्ध अश्वों को ऋत्विज हमारे यज्ञ में बुला रहे हैं।[९] मैत्रायणी-संहिता कहती है कि देवताओं ने यज्ञ और अमृत को सुवर्णमय (हरितेन) पात्र के द्वारा उस गाय से दुहा।[१०] काठक-संहिता कहती है कि अग्नि

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२९१.

२ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ३९.

३ ऋ० १.१२१.१३, १०.९६.४. यजु०, ३३.३८.

४ ऋ० १.५०.८. "सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य। शोचिष्केशं विचक्षण।"

५ ऋ० १.११५.३. "भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः। नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः।"

६ ऋ० १.११५.४. "तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार। यदेदयुक्त हरितः सधस्थाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै।"

७ ऋ० १.११५.५. "अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति।"

८ ऋ० १.१२१.१३. "त्वं सूरो हरितो रामयो नृन्भरच्चक्रमेतशो नायमिन्द्र।"

९ ऋ० ४.६.९. "तव त्ये अग्ने हरितो घृतस्ना रोहितास ऋज्वञ्चः स्वञ्चः।"

१० मै०सं० ४.२.१३. "तां (गां) देवा अदुह्र हरितेन (सुवर्णमयेन) पात्रेण यज्ञं चाऽमृतं च।"

ने जिसे अपने वीर्य (रेतस्) से सींचा, वही हरित (अग्नि) वर्ण का हो गया।[१] जैमिनीय-ब्राह्मण कहता है कि उस हिरण्मय अण्ड का अधर कपाल हरित (स्वर्णिम या रक्तिम) तथा उत्तर कपाल रजत (श्वेत) था।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह अश्व 'हरितः' है, जो सप्तरश्मियों से युक्त होकर ज्वालारूप केशों वाले सूर्य का वहन करता है, सूर्य के अश्वों का वर्ण हरित (स्वर्णिम) बताया गया है और ये अन्तरिक्ष के उपरिप्रदेश में स्थित होकर सम्पूर्ण द्यावापृथिवी को व्याप्त कर लेते हैं, जब इन हरिद्वर्ण (स्वर्णिम) रश्मियों को सूर्य अन्यत्र संयुक्त करता है, तब रात्रि अपने वस्त्र को विस्तारित करती है, सूर्य की रसहरणशील, अनन्त बल से सम्पन्न, श्वेत रश्मियाँ या अश्व कृष्णवर्ण के तमस् को दूर भगा देते हैं, सूर्यरूप इन्द्र हरिद्वर्ण के सूर्य के अश्वों से रमण कराता है, वही सूर्य के रथ को आगे बढ़ाता है, इन अश्वों के नासापुटादि से उदक क्षरित होता है। ब्राह्मणग्रन्थ सूर्य और अग्नि के वर्ण को हरिद्वर्ण बतलाते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद निर्विवादरूप से रश्मियों को 'हरितः' बतलाता है। आचार्य देवराजयज्वन् भी कहते हैं कि प्रातःकालीन आदित्य की रश्मियाँ हरिद्वर्ण की होती हैं।[३] कहीं यह 'हरितः' रश्मियों का नाम है और क्वचित् यह हरिद्वर्ण (स्वर्णिम) वाचक रश्मियों का विशेषण है। रसहरणशील होने के कारण रश्मियों को वेद 'हरितः' नाम से अभिहित करता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'हृ' धातु को 'हरितः' पद का मूल माना जा सकता है। विशेषण रूप में प्रयुक्त होने वाला 'हरितः' पद शोषित अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। कहने का आशय यह है कि शुष्कपर्णादि की पीतता रश्मिजन्य है। पीतवर्ण रसहरणकर्म की सम्पन्नता को द्योतित करता है, अतः, पीतवाचक 'हरितः' पद को भी 'हृ' धातुमूलक मानना सर्वथा उचित है और डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा की आपत्ति तर्कसङ्गत नहीं है।

यह प्रश्न अनुत्तरित बना रहता है कि लोक में प्रचलित हरे रंग का वाचक 'हरित' शब्द किस प्रकार पीतवर्ण या स्वर्णिम आभा अर्थ का परित्याग करके वृक्ष की 'हरीतिमा' या उसके सदृश अर्थ में परिवर्तित हो गया। सम्भावना यह प्रतीत होती है कि प्राचीनकाल से ही स्वर्ण या स्वर्णिम आभा समृद्धि का प्रतीक मानी जाती रही है, परन्तु इस समृद्धि से प्राणी की क्षुधा शान्त नहीं की जा सकती। यह हरित क्रान्ति कालान्तर में समृद्धि का प्रतीक बन गयी और समृद्धि का प्रतीक शब्द 'हरितः' पद वानस्पतिक हरीतिमा के लिये भी प्रयुक्त होने लगा। यह भी सम्भव है कि फल और अन्नादि के रूप में उपलब्ध होने वाले वानस्पतिक जगत् की प्रारम्भिक और अवसान की अवस्था दोनों एक-दूसरे की पूरक होने से 'हरितः' मानी गयीं। प्रथम स्वर्ण की आभा को धारण किये हुए सभी पदार्थ 'हरितः' कहे गये होंगे, तत्पश्चात् क्षुधा और अकाल से त्रस्त प्राणी को शस्यसम्पदा सुखदायक प्रतीत हुई। इस प्रकार क्षुधाहरण करने के कारण वानस्पतिक हरीतिमा को भी 'हरितः' नाम से अभिहित किया जाने लगा होगा। परन्तु तुलनात्मक भाषाविज्ञान एवं वैदिक साहित्य के अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रथम रसहरण करने के कारण सूर्य की रश्मियाँ, तत्पश्चात् रसहरणसम्पन्नता

---

१ काठ०सं० ८.५. ''यदग्ने रेतोऽसिच्यत, तद्धरितम् (अभवत्)।''

२ जै०ब्रा०, ३.३६१. ''तस्य (हिरण्मयस्याण्डस्यद्ध हरितमधरं कपालमासीद् रजतमुत्तरम्।''

३ निघ०वृ०, १.१५.३.

के द्योतक पीतवर्ण और उसके अनन्तर क्षुधाहरण के सूचक हरिद्वर्ण को 'हरितः' कहा गया है, की कल्पना की जा सकती है।

४. रासभावश्विनोः

निघण्टुकोष के आदिष्टोपयोजन गण में 'रासभावश्विनोः' पद परिगणित है।[१] शतपथ-ब्राह्मण 'रासभ' का निर्वचन करता हुआ कहता है:-"**यत्तदरसदिवैष रासभः**"[२] कि जो शब्द करता है, वह 'रासभ' है। इस पक्ष में शब्दार्थक 'रस्' धातु से 'रासभ' पद निष्पन्न होता है। शतपथ-ब्राह्मण इसी प्रकार का वक्तव्य अन्यत्र भी देता है।[३]

आचार्य देवराजयज्वन् आदिष्टोपयोजन गण में परिगणित 'रासभ' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**रासभौ (आदिष्टोपयोजनानि)। 'रासृ' शब्दे'। रासते शब्दं करोतीति रासभः, तौ रासभौ**"[४] कि शब्द करने के कारण 'रासभ' (वाहनविशेष) को 'रासभ' कहा जाता है। इस पक्ष में 'रास्' धातु से औणादिक 'अभच्' प्रत्यय करके 'रासभ' शब्द निष्पन्न होता है। उणादिकोष से उक्त व्युत्पत्ति का समर्थन हो जाता है।[५]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'रासभ' पद को वाजी और अश्व का वाहकवाचक विशेषण तथा अश्व और रथ का वाचक नामपद मानता है। उनके अनुसार रास (भार)+'भृ' वहने' से 'रासभ' शब्द निष्पन्न होता है। पेटरसन प्रभृति विद्वान् गर्दभ अर्थ में 'रास्' शब्दे' से तथा ग्रासमैन 'रस्'(='ऋष्' गतौ') धातु से 'रासभ' पद को व्युत्पन्न मानते हैं।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'रासभ' शब्द को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स 'रासभ' का मूल 'रास्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद रेंकने वाला प्राणी, गर्दभ, शृगाल अर्थ में आया है।[८]

वैदिक साहित्य में 'रासभ' शब्द का कतिपय स्थानों पर उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में हिरण्यस्तूप आङ्गिरस ऋषि अश्विनीदेवों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि अश्विनीदेवो! जिस रथ में आसीन होकर तुम यज्ञ में जाते हो, उस रथ के तीन चक्र और तीन बैठने के स्थानों वाले तीन वन्धुर कहाँ स्थित हैं? बलवान् रासभ नाम का वाहन रथ में कब संयुक्त किया जाता है?[९] कक्षीवान् ऋषि कहते हैं कि हे अश्विनीदेवो! उत्पतन की

---

१ निघ० १.१५.४.

२ शत०ब्रा०, ६.३.१.२८.

३ शत०ब्रा०, ६.१.१.११. "यदरसदिव स रासभोऽभवत्।"

४ निघ०वृ०, १.१५.४.

५ उणा०, ३.१२५. "रासिवल्लिभ्यां च।"

६ वै०पद०को०, पृ० २६६३.

७ ऋ०वै०पद०, पृ० ४४६.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८७९.

९ ऋ० १.३४.९. "क्व१ त्री चक्रा त्रिवृतो रथस्य क्व१ त्रयो वन्धुरो ये सनीळाः। कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथः।"

दृष्टि से बलवान्, शीघ्रगामी, देवताओं से बार-बार प्रेरित, रासभ ने यम के सङ्ग्राम में सहस्रों को जीत लिया।[१] पराशर ऋषि कहते हैं कि इस पर बैठकर यात्रा करने से न तो यह वाजी (यान) नष्ट होता है और न इस पर बैठने वाला मरता है। यह देवों (वैज्ञानिकों) के पथ को सुगम बनाता है। तुमको ले जाने वाले ये अश्व (हरी) सिञ्चन करने वाले जल से समर्थ होते हैं। इनके शब्द करने वाले भाग के अग्रिम स्थान पर वाजी स्थित होता है।[२] कृष्ण आङ्गिरस ऋषि कहते हैं कि हे धन की वर्षा करने वाले अश्विनीदेवो! दृढ़ अङ्ग वाले तुम दोनों मधुर सोम का पान करने के लिये रथ में रासभ को संयुक्त करो।[३] तैत्तिरीय-संहिता कहती है कि गर्दभ को रासभ (रेंकने वाला) कहा जाता है।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाहन 'रासभ' है, जो तीन चक्र, तीन वन्धुर वाले रथ में बैठाकर अश्विनीदेवों को यज्ञ में ले जाता है, यह शीघ्रगामी एवं बलवान् पैरों वाला है और देवों से प्रेरित होकर यह यमराज के युद्ध में सहस्रों को मारकर जीत लेता है, इसकी एक विशेषता यह भी है कि यह चलते हुए शब्द करता है, अश्विनीदेव इसे अपने रथ में संयुक्त करते हैं। इस प्रकार निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि रासभ अश्विनीदेव के जिस रथ को खींचता है, वह तीन चक्र, तीन वन्धुर और शब्द करने वाला है। इसके अतिरिक्त युद्ध में भी इसका उपयोग होता था। अश्विनीदेवशिल्पी माने जाते हैं, सम्भवत:, यह उनके द्वारा निर्मित कोई वाहन विशेष है, सामान्यतया बैलगाड़ी आदि में दो चक्र और एक ही बैठने का स्थान होता है, लेकिन रासभ के द्वारा वहन किये जाने वाले रथ में वेद तीन चक्र और अनेक बैठने के मण्डप बतला रहा है। इससे यह विदित होता है कि यह किसी वाहन विशेष का नाम है। सम्भवत:, चलते समय अत्यधिक ध्वनि किये जाने वाला होने के कारण इसका नामकरण 'रासभ' किया गया है। इस दृष्टि से 'रासृ' शब्दे' धातु को 'रासभ' पद का मूल माना जा सकता है।

५. अजा: पूष्ण:

निघण्टुकोष के आदिष्टोपयोजन गण में 'अजा: पूष्ण:' पद परिगणित है।[५] शतपथ-ब्राह्मण 'अजा' का वर्णन करता हुआ कहता है:-''**आजा ह वै नामैषा यदजैतया ह्येनं (सोमम्) अन्तत आजति तामेतत्परोऽक्षमजेत्याचक्षते**''[६] कि यह सोम को अन्तत: अज रूप में प्राप्त करता है, इसलिये परोक्ष में 'अज' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अज्' धातु से 'अजा' रूप निष्पन्न होता है।

---

१ ऋ० १.११६.२. ''वीळुपत्मभिराशुहेमभिर्वा देवानां वा जूतिभिः शाशदाना। तद्रासभो नासत्या सहस्रभाजा यमस्य प्रधने जिगाय।''

२ ऋ० १.१६२.२१. ''न वा एतन्म्रियसे न रिष्यति देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः। हरी ते युञ्जा पृषती अभूतामुपस्थाद्वाजी धुरि रासभस्य।''

३ ऋ० ८.८५.७. ''युञ्जाथां रासभं रथे वीड्वङ्गे वृषण्वसू। मध्व: सोमस्य पीतये।''

४ तै०सं० ५.१.५.५. ''रासभ इति ह्येतम् (गर्दभम्) ऋषयोऽवदन्।''

५ निघ० १.१५.५.

६ शत०ब्रा०, ३.३.३.९.

तैत्तिरीय-संहिता कहती है:-"**अजा ह्यग्नेरजनिष्ट गर्भात्**"[१] कि अजा ने गर्भ से अग्नि को उत्पन्न किया। इस पक्ष में 'अ+'जन्' धातु से 'अजा' रूप व्युत्पन्न होता है।

आचार्य यास्क 'अजा' का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**अजा अजना:**"[२] कि अजन्मा होने के कारण छाग को 'अजा' कहा जाता है। इस पक्ष में गत्यर्थक 'अ+'जन्' धातु से 'अजा' रूप निष्पन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् आदिष्टोपयोजन गण के 'अजा:' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**अजा: (आदिष्टोपयोजनानि)। 'अज' गतिक्षेपणयो:'। अजन्ति गच्छन्ति सर्वत: क्षिपन्ति वा तम:**"[३] कि सर्वत्र गमन करती हैं अथवा अन्धकार का सर्वत्र क्षेपण करती हैं, अत:, पूषा के वाहन को 'अजा:' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अज्' धातु से 'अजा' रूप निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अज' पद को अद्भुतमाया वाला विशिष्टदेव ब्रह्म, पशुविशेष मानता है। पाणिनि 'अज्'+कर्तरि 'अच्' से निष्पन्न करते हैं। पशुभिन्न प्रकरण में भाष्यकार 'अ+'जन्' से व्याकृत करते हैं।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'अज' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[५] मोनियर विलियम्स 'अजा' पद को 'अज्' धातुमूलक मानते हैं। उनके अनुसार अथर्ववेद में यह पद मरुत् दल, सशस्त्र सेना के झुण्ड के अर्थ में आया है। ऋग्वेद में यह वाहक, चालक, प्रेरक, नेता, इन्द्र या रुद्र का नाम है। ऋग्वेद में यह पद समूह का नेता, छाग, मेष का चिह्न, अग्नि का वाहन, सूर्य की रश्मि के अर्थ में है।[६] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि छाग को अजन्मा नहीं माना जा सकता, इसलिये यास्क का उक्त निर्वचन असङ्गत है।[७]

वैदिक साहित्य में 'अज' शब्द का अनेकश: प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में दीर्घतमस् ऋषि अश्व देवता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि रूप और धन से आच्छादित अश्व को मुख की ओर से भोज्यपदार्थ देते हैं, गमन कर्म में कुशल और समस्त रूपों वाला यह अजाश्व हिनहिनाता हुआ इन्द्र और पूषा के प्रिय पाथ (अन्न) को प्राप्त करता है।[८] अग्रिम मन्त्र में उक्त विषय का प्रतिपादन करता हुआ ऋषि कहता है कि यह छाग (शृङ्गरहित अज) शीघ्र व्यापक, वाजी के साथ सब देवताओं के द्वारा भजनीय (सेवनीय) है, इस पूषा देवता के वाहन अज को आगे ले जाया जाता है। प्रसन्न कर देने वाले पुरोडाश (पुरस्ताद् दातव्यम्) रूप अज को सुन्दर अन्न बनाने के लिये त्वष्टा (अग्नि) देव शीघ्रगामी अश्व के साथ प्रसन्नता से ग्रहण करता है।[९] अग्रिम

---

१ तै०सं० ४.२.१०.४.

२ निरु० ४.२५.

३ निघ०वृ०, १.१५.५.

४ वै०पद०को०, पृ० ७३-७४.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० १२.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ०९.

७ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० १२३.

८ ऋ० १.१६२.२. "यन्निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य रातिं गृभीतां मुखतो नयन्ति। सुप्राङजो मेम्यद्विश्वरूप इन्द्रापूष्णो: प्रियमप्येति पाथ:।"

९ ऋ० १.१६२.३. "एष छाग: पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्य:। अभिप्रियं यत्पुरोळाशमर्वता त्वष्टेदेनं सौश्रवसाय जिन्वति।"

मन्त्र में पुनः ऋषि कहता है कि ग्रहण करने योग्य, सर्वत्र व्यापनशील, देवताओं के यान को, प्रत्येक ऋतु में तीन बार स्वीकार करने वाले, मनुष्य का वह पोषक अग्नि का भाग, अज पुरोगामी होकर चलता है तथा देवताओं को यज्ञ की सूचना देता है।[१] अग्रिम सूक्त में पुनः दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि गमन में कुशल वाजी मन से देवताओं का ध्यान करता हुआ विशसन (हिंसा या ताडन) को प्राप्त करता है। इसके साथ बँधा हुआ आगे ले जाया जाता है और उसके पीछे-पीछे कवि (मेधावी) और रेभ (स्तोतागण) चलते हैं।[२] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि नित्य सम्बन्ध रखने या नित्य हिंसित होने वाला अज (छाग या सूर्य के रश्मिरूप अश्व) स्तोताओं के समूह का आश्रय बनने वाले पूषादेव को रथ में बैठाकर ले आयें।[३] विमद ऐन्द्र ऋषि पूषा को समस्त याचकों का सखा, नित्य विद्यमान तथा अधिकार युक्त बतलाते हैं। पूषा के रथ की धुरा को अज नामक अश्व अथवा गतिशील भौतिक शक्तियाँ वहन करती हैं।[४] काठक-संहिता 'अज' के स्वरूप का वर्णन करती हुई कहती है कि अश्व के समान सिर, गर्दभ के समान कर्ण, पुरुष के समान श्मश्रु, गौ के समान आगे के दोनों पाद, मेष के समान पीछे के दोनों पाद तथा श्वान के समान अज के लोम होते हैं।[५] शतपथ-ब्राह्मण अज को प्रजापति के तप से उत्पन्न होने वाला बतलाता है।[६] जैमिनीय-ब्राह्मण अज को प्रजापति के शीर्ष स्थान मुख से उत्पन्न हुआ मानता है।[७] ब्राह्मणग्रन्थ कहते हैं कि अजा अग्नि का प्रिय शरीर है।[८] मैत्रायणी-संहिता का मत है कि अग्नि द्वारा गायत्री के लिये प्रदत्त तेज ही 'अज' रूप में परिणत हो गया।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में वह वाहन 'अजा' है, जो समस्तरूपों से युक्त, हिनहिनाने वाला, गमनकर्म में कुशल एवं इन्द्र और पूषा के प्रिय भोजन को प्राप्त करता है, ऋषि इसे वाजी से भी आगे जाने वाला समस्त देवों का सेवनीय पुरोगामी छाग बतलाता है, यह पुरोडाश (मिष्टान्न) रूपी छाग को त्वष्टा (अग्नि) देव प्रसन्नता से ग्रहण करते हैं, जो मनुष्य अज को प्रत्येक ऋतु में तीन बार स्वीकार करता है, उसके यज्ञ की सूचना को यह अजरूप देवयान पुरोगामी होकर देवताओं तक पहुँचाता है, मन से देवताओं का ध्यान करते हुए विशसन स्थान पर ले जाये जाते हुए वाजी से आगे अज चलता है और पीछे-पीछे कवि और स्तोता चलते हैं, नित्य सम्बन्ध वाले पूषा का (पोषक) यह अज देवताओं को लेकर

---

१ ऋ० १.१६२.४. ''यद्धविष्यमृतुशो देवयानं त्रिर्मानुषाः पर्यश्वं नयन्ति। अत्रा पूष्णः प्रथमो भाग एति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्नजः।''

२ ऋ० १.१६३.१२. ''उप प्रागाच्छसनं वाज्यर्वा देवद्रीचा मनसा दीध्यानः। अजः पुरो नीयते नाभिरस्यानु पश्चात्कवयो यन्ति रेभाः।''

३ ऋ० ६.५५.६. ''आजासः पूषणं रथे निशृम्भास्ते जनश्रियम्। देवं वहन्तु बिभ्रतः।''

४ ऋ० १०.२६.८. ''आ ते रथस्य पूषन्नजा धुरं ववृत्युः। विश्वस्यार्थिनः सखा सनोजा अनपच्युतः।''

५ काठ०सं० १३.१. ''अश्वस्येव वा एतस्य (अजस्य) शिरो गर्दभस्येव कर्णौ पुरुषस्य श्मश्रूणि गौरिव पूर्वौ पादा अवेरिवापरौ शुन इव लोमान्यजो भवति।''

६ शत०ब्रा०, ३.३.३.८. ''तपसो ह वाऽएषा प्रजापतेः सम्भूता यदजा तस्मादाह तपसस्तनूरसीति।''

७ जै०ब्रा०, १.६८. ''अजं पुशम् (प्रजापतिः शीर्षत एव मुखतोऽसृजत)।''

८ तै०सं० ५.१.६.२. काठ०सं००१९.५. कपि०सं० ३०.३. तै०आ०, ५.२.१३. ''एषा वा अग्नेः प्रिया तनूर्यदजा।''

९ मै०सं० १.६.४. ''तस्या (गायत्र्यै) अग्निस्तेजः प्रायच्छत्, सोऽजोऽभवत्।''

आता है, यह अज पूषा के रथ के अग्रभाग में नियुक्त किया जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि वेद अज को एक विशेष प्रकार की हवि मान रहा है, कर्मकाण्ड के क्षेत्र में इस हवि को पुरोडाश कहा जाता है। इस हवि का अग्नि के साथ नित्य सम्बन्ध है। देवताओं का आह्वान किये जाते समय सर्वप्रथम यह पुरोडाश रूप हवि चलती है और उन्हें यज्ञ की सूचना देती है, यह हवि देवताओं का पोषक भाग है, ऋषि इसे इन्द्र और पूषा के प्रिय पाथ (अन्न) के रूप में चित्रित करता है, इसी को ऋषि ने छाग नाम से अभिहित किया है तथा त्वष्टा (अग्नि) देव अत्यन्त प्रसन्नता से इस पुरोडाश रूप अज को स्वीकार करते हैं, यह एक शक्तिशाली (वाजी) और तत्काल व्याप्त (अश्व) होने वाला पुरोगामी देवयान है, इस अज को वाजी (शक्तिशाली स्तुति) के साथ मन से देवताओं का ध्यान करते हुए विशसन स्थान (यज्ञवेदि) पर लाया जाता है, कवि और स्तोतागण आगे जाते हुए अज का अनुसरण करते हैं, यह अज पूषा (अग्नि) के रथ के अग्रभाग में चलता है। इस प्रकार हम निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि पूषा का पोषण जिस पुरोडाश रूप हवि से होता है, वेद की दृष्टि में वह 'अज' है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि अज का गमनक्रिया से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः, गति और क्षेपण अर्थ वाली 'अज्' धातु को 'अज' पद का मूल मान सकते हैं।

६. पृषत्यो मरुताम्

निघण्टुकोष के आदिष्टोपयोजन गण में 'पृषत्यो मरुताम्' पदद्वय परिगणित हैं।[१] उक्तपदद्वय में से 'पृषती' का निर्वचन करते हुए आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं:-''**पृषत्यः (आदिष्टोपयोजनानि)। 'पृषु' सेचने'। प्रावृषि सर्वतः पृषत्यो विचित्रा मेघमाला मरुताम्**''[२] कि वर्षा ऋतु में चारों ओर नानावर्णयुक्त मेघमालायें वृष्टि करती हैं, अतः, उनको 'पृषत्यः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'पृष्' धातु से पृषोदरादि नियम से 'पृषती' रूप सिद्ध होता है। उणादिकोष 'पृष्' धातु से 'अति' प्रत्यय करके निपातन नियम से 'पृषत्' रूप को उपपन्न मानता है।[३]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'पृषती' पद को हरि और गो पदों का विशेषण तथा मरुद्वाहन वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद का मूल 'पृष्' धातु है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्त मत का समर्थन करती है।[५] मोनियर विलियम्स भी 'पृषती' पद का मूल 'पृष्' धातु को मानते हैं। उनके अनुसार अथर्ववेद, वाजसनेयि-संहिता एवं ब्राह्मणग्रन्थों में यह पद शबल, बिन्दुयुक्त, चितकबरा विशेषरूप से कृष्ण और श्वेत, नानावर्णयुक्त अर्थ में आया है।[६]

वैदिक साहित्य में उक्त पद का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में घोरपुत्र कण्व ऋषि कहते हैं कि हे मरुतो! अपने रथों में पृषती को संयुक्त करो। रोहित प्रष्टि को वहन करता है। जब यह रथ चलता है,

---

१ निघ० १.१५.६.

२ निघ०वृ०, १.१५.६.

३ उणा०, २.८५. ''वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च।''

४ वै०पद०को०, पृ० २१०७.

५ ऋ०वै०पद०, पृ० ३३६.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ६४७.

तब पृथ्वी इसकी गर्जना को सुनती है तथा मनुष्य इसकी चलने की ध्वनि को सुनकर भयभीत हो जाते हैं।[१] उक्त मन्त्र में सायण 'पृषती' का अर्थ 'बिन्दुयुक्ता मृगी' मानते हैं।[२] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि हे मरुतो! मन के समान वेगवान्, वृष्ट्युदक से सेचन में समर्थ आप सब अपने रथों में श्वेत बिन्दुओं वाली पृषती को नियोजित करो।[३] अग्रिम मन्त्र में पुनः ऋषि कहता है कि अन्न के उद्देश्य से मेघ को प्रेरित करने के अनन्तर मरुत् अपने रथों में पृषती को नियोजित करते हैं। उसके पश्चात् आरोचमान विद्युत् के समीप से चर्मपात्र से निकलने वाली जलधारा के समान उदकवती धारा भूमि को आर्द्र कर देती है।[४] घोरपुत्र कण्व ऋषि कहते हैं कि वर्षा के उद्देश्य से मरुद्गण वाहनभूत पृषती, आयुधविशेष ऋष्टि, गर्जना और अलङ्कृत होकर अपनी दीप्ति के साथ प्रकट होते हैं।[५] गोतम नोधा ऋषि कहते हैं कि शत्रुओं का नाश और स्तोताओं को प्रसन्न करते हुए बल, उत्कृष्ट बुद्धि, पृषती और ऋष्टियों से युक्त होकर यजमानों की रक्षा करने के लिये मरुत् तत्काल आ जाते हैं।[६] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि वेगवान् अग्नियाँ जल को लक्ष्य बनाकर जायें और मरुतों के साथ जल में सङ्गत होकर बिन्दुओं का निर्माण करें अर्थात् जल को बिन्दु बनायें।[७] श्यावाश्व ऋषि कहते हैं कि जब मरुत् शीघ्र व्यापनशील, पृषती (वडवा) को रथ के अग्रभाग में नियोजित और हिरण्यवर्ण के कवचों का परित्याग करते हैं, तब वर्षा होती है।[८] एक अन्य सूक्त में पुनः ऋषि कहते हैं कि जब पृश्निपुत्र मरुत् उग्र होकर उदक के लिये पृषती को नियोजित करते हैं, तब पृथ्वी वृष्टि से क्षुब्ध होती है।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाहन 'पृषती' है, जिसे मरुत् अपने रथ में संयुक्त करते हैं, वृष्ट्युदक से सिञ्चित और अन्न की प्राप्ति के लिये मरुत् इस पृषती को अपने रथ में नियोजित करते हैं, वर्षा के समय ये मरुत् पृषती के अतिरिक्त ऋष्टि (आयुध), वाशी (गर्जना), और अञ्जि (अलङ्करणों) से संयुक्त हो जाते हैं, वेगवान् अग्नियाँ मरुतों के साथ संयुक्त होकर पृषती (जल की बूँदों) का निर्माण करती हैं, जब पृषती रथ में नियोजित की जाती है, उस समय मरुत् हिरण्यवर्ण के कवचों का परित्याग करते हैं और पृथिवी को जल से क्षुब्ध कर देते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि जो वर्षकर्म में सबसे अधिक सहायक हैं, वे नानावर्ण के मेघ वेद की भाषा में 'पृषती' हैं। इन पृषतियों

---

१ ऋ० १.३९.६. ''उपो रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं प्रष्टिर्वहति रोहितः। आ वो यामाय पृथिवी चिदश्रोदबीभयन्त मानुषाः।'' तु०, ऋ० ८.७.२८.

२ सायणभाष्य, ऋ० १.३९.६.

३ ऋ० १.८५.४. ''मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम्।''

४ ऋ० १.८५.५. ''प्र यद्रथेषु पृषतीयुग्ध्वं वाजे आर्द्रं मरुतो रंहयन्तः। उतारुषस्य वि ष्यन्ति धाराश्चर्मेवोदभिर्व्युन्दन्ति भूम।''

५ ऋ० १.३७.२. ''ये पृषतीभिर्ऋष्टिभिः साकं वाशीभिरञ्जिभिः। अजायन्त स्वभानवः।''

६ ऋ० १.६४.८. ''क्षपो जिन्वतः पृषतीभिर्ऋष्टिभिः समित्सबाधः शवसाहिमन्यवः।''

७ ऋ० ३.२६.४. ''प्र यन्तु वाजास्तविषीभिरग्नयः शुभे संमिश्लाः पृषतीरयुक्षत।''

८ ऋ० ५.५५.६. ''यदश्वान्धूर्षु पृषतीरयुग्ध्वं हिरण्ययान्प्रत्यत्काँ अमुग्ध्वम्।''

९ ऋ० ५.५७.३. ''कोपयथ पृथिवीं पृश्निमातरः शुभे यदुग्राः पृषतीरयुग्ध्वम्।''

पर आरूढ तथा ऋष्टि (विद्युत्) से संयुक्त होकर मरुत् वृष्टिकर्म सम्पन्न करते हैं। वर्षा के समय दो तत्त्व सबसे अधिक सहायक सिद्ध होते हैं, प्रथम-मेघ तथा द्वितीय-विद्युत्। इन्हींको वेद क्रमशः 'पृषती' और 'ऋष्टि' नाम से अभिहित करता है। आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं कि वर्षा के समय मरुतों की सर्वत्र दृष्टिगत होने वाली नानावर्ण की मेघमालायें 'पृषत्यः' हैं।[१] आचार्य सायण भी कहते हैं कि ऐतिहासिक पक्ष में 'पृषत्यः' का अर्थ 'श्वेत बिन्दुओं वाली मृगियाँ' तथा नैरुक्तपक्ष के अनुसार नानावर्णों की मेघमालायें हैं।[२] 'पृषती' का अर्थ मेघमालायें हैं, का समर्थन 'पृषती' पद की ('पृषु' सेचने') धातु से भी हो जाता है।[३] इस प्रकार जो सेचन में समर्थ है, वह 'पृषती' है और इस कर्म को केवल मेघमालायें ही कर सकती हैं, अतः, यौगिक आधार पर मेघमालाओं को 'पृषत्यः' कहना सर्वथा समीचीन है।

७. अरुण्यो गाव उषसः

निघण्टुकोष के आदिष्टोपयोजन गण में 'अरुण्यो गाव उषसः' पदत्रय परिगणित हैं।[४] उपर्युक्त पदत्रय में से 'गो' पद का निर्वचन करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं:-"**सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते**"[५] कि गमनशील होने के कारण समस्त रश्मियों को 'गावः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'गम्' या 'गा' धातु से 'गावः' पद उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् रश्मिवाचक 'गो' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**गच्छन्ति सर्वतस्तमो विहन्तुं भौमं रसं वा हर्तुम्**"[६] कि सूर्यरश्मियाँ अन्धकार का नाश या भूमि के रस का आहरण करने के लिए जाती हैं, इसलिए ये 'गो' नाम से अभिहित होती हैं। इस पक्ष में 'गम्' धातु से 'गो' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(ख)"यद्वा, गीयन्ते स्तूयन्ते स्वाभिमतसाधनाद् यजमानैरश्वपालैश्च"[७] कि अपने अभिमत का साधन होने से यजमान और अश्वपालों के द्वारा स्तुति की जाती है, अतः रश्मियों को 'गो' कहा जाता है। इस पक्ष में स्तुत्यर्थक 'गा' धातु से औणादिक 'डो' प्रत्यय होकर 'गो' पद सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'गो' पद को धेनु, पृथिवी, वाक्, ग्रावा प्रभृति अर्थों का वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है, परन्तु यास्क एवं उणादिकोषकार 'गम्' गतौ' और 'गा' गतौ' धातु से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं।[८] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'गो' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[९] मोनियर विलियम्स 'गो' पद को 'गम्' धातुमूलक मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद गाय, पशु,

---

१ निघ०वृ०, १.१५.६. "प्रावृषि सर्वतः पृषत्यो विचित्रा मेघमाला मरुताम्।"

२ सायणभाष्य, ऋ० १.६४.८. "पृषत्यः श्वेतबिन्द्वङ्किता मृग्य इत्यैतिहासिकाः। नानावर्णमेघमाला इति नैरुक्ताः।"

३ माधवीया, धातु०, १.६९२.

४ निघ० १.१५.७.

५ निरु० २.६.

६ निघ०वृ०, १.५.३.

७ निघ०वृ०, १.५.३.

८ वै०पद०को०, पृ० १२४९.

९ ऋ०वै०पद०, पृ० १९०.

पशुओं के समूह अर्थ में आया है। ऋग्वेद में यह पद गाय या वृषभ से उत्पन्न होने वाले या उससे सम्बन्धित द्रव्य जैसे-दुग्ध, मांस, चर्म के लिये व्यवहृत हुआ है।[१] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में 'guou' पशु अर्थ में, ग्रीक में 'bous' लैटिन में 'guovs' गाय अर्थ में है। अतः, वे उक्त यास्कीय निर्वचन को **'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि'** सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं।[२] वेद से प्राप्त अनेक सङ्केत 'गो' को 'गम्' धातु से व्युत्पन्न मानते प्रतीत होते हैं।[३]

वैदिक साहित्य में 'गावः' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। वामदेव ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! स्तोताओं ने सर्वप्रथम धेनु (वाक्) को जाना, उसके पश्चात् गायत्री, अतिजगती आदि इक्कीस उत्तम छन्दों को प्राप्त किया। इसके अनन्तर इन्होंने अरुणवर्ण की व्यापनशील, रश्मियों के साथ प्रकट होने वाली, उषा की स्तुति की।[४] एक अन्य सूक्त में वामदेव ऋषि कहते हैं कि यज्ञ में स्तुति करने वाले अन्धकार का विनाश करते हुए अरुणवर्ण वाली उषा की रश्मियों को प्राप्त करते हैं।[५] अन्यत्र वामदेव ऋषि कहते हैं कि धन, अरुणवर्ण के तेज एवं अनन्त रश्मियों से युक्त उषा ज्ञान कराती हुई आती है। यह देवी उषा सुन्दर रथ पर आरूढ होकर सोते हुए प्राणियों को जगाती हुई सुख देने के लिये आती है।[६] नाभानेदिष्ठ ऋषि कहते हैं कि जब कृष्णवर्ण की रात्रि अरुणवर्ण की उषा की रश्मियों से नष्ट हो जाती है, तब मैं पालक अश्विनीदेवों का आह्वान करता हूँ।[७] दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि अरुणवर्ण की उषा की रश्मियों से सङ्गत होते हुए हम सर्वदा अन्नादि को प्राप्त करें।[८] मैत्रायणी-संहिता कहती है कि जो अरुणवर्ण की गौ पोषक होती है।[९] ऐतरेय-ब्राह्मण कहता है कि अरुणवर्ण की रश्मियों से उषा ने सङ्ग्राम क्षेत्र में दौड़ लगायी।[१०]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह अरुणवर्ण का वाहन 'गो' है, जिसके साथ उषा लोक में व्याप्त होती हुई स्तुति को प्राप्त करती है, अरुणवर्ण की रश्मियों पर आरूढ उषा कृष्णवर्ण की रात्रि को नष्ट करती हुई आती है। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद का ऋषि प्रातःकालीन सूर्य की आभा को रश्मिरूपी रथ पर आरूढ होकर आते हुए अनुभव करता है। ये रश्मियाँ ही उषा के रथ का वाहन हैं, जिन पर आरुढ होकर आती हुई उषा अन्धकार को दूर भगा देती है।

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३६३.

२ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ८७.

३ ऋ० १.८३.१, ८६.३, ११२.१८, ३.५६.२, ६.२८.१, ८.२०.१९, ४५.१०, ५१.५, ७१.५.

४ ऋ० ४.१.१६. ''ते मन्वत प्रथमं नाम धेनोस्त्रिः सप्त मातुः परमाणि विन्दन्। तज्जानतीरभ्यनूषत व्रा आविर्भुवदरुणीर्यशसा गोः।''

५ ऋ० ४.२.१६. यजु०, १९.६९. ''शुचयन्दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन्।''

६ ऋ० ४.१४.३. ''आवहन्त्यरुणीर्ज्योतिषागान्मही चित्रा रश्मिभिश्चेकिताना। प्रबोधयन्ती सुविताय देव्युषा ईयते सुयुजा रथेन।''

७ ऋ० १०.६१.५. ''कृष्णा यद्गोष्वरुणीषु सीदद् दिवो नपातमश्विना हुवे वाम्।''

८ ऋ० १.१४०.१३. ''गव्यं यव्यं यन्तो दीर्घाहेषं वरमरुण्यो वरन्त।''

९ मै०सं० ४.२.१४. ''याऽरुणा (गौः) सा पोषयिष्णुः।''

१० ऐ०ब्रा०, ४.९. ''गोभिररुणैरुषा आजिमधावत्।''

आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं कि उषःकाल में तमस् के अभिभूत हो जाने पर अरुणवर्ण की रश्मियाँ आती हैं, ये ही उषा की अरुणवर्ण की गायें हैं।[१] निघण्टुकार ने 'गो' पद का रश्मिवाचक गण में परिगणन किया है।[२] इससे भी उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। इस प्रकार हम निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि जो ऐतिहासिक पक्ष में वाहन है, वही नैरुक्तपक्ष में सूर्यरश्मियाँ हैं। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि 'गो' शब्द का मूल 'गम्' धातु है। जिस प्रकार दूर तक यात्रा करने के कारण गाय को 'गो' कहा जाता है, उसी प्रकार रश्मियाँ एक लोक से दूसरे लोक तक की यात्रा करती हैं, अतः, इनको 'गो' नाम से अभिहित किया जाना अधिक उचित है। यह सिद्धान्त गो प्राणी की अपेक्षा रश्मिवाचक 'गो' शब्द पर कहीं अधिक अच्छी तरह घटित होता है।

८. श्यावा: सवितु:

निघण्टुकोष के आदिष्टोपयोजन गण में 'श्यावाः सवितुः' पद परिगणित है।[३] उक्तपदद्वय में से 'श्याव' पद का निर्वचन करते हुए आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं:-''**श्यावाः (आदिष्टोपयोजनानि)। 'श्यैङ्' गतौ'। श्यावो धूसरारुणो वर्णः, तद्वन्तोऽपि श्यावाः**''[४] कि धूसर अरुणवर्ण 'श्याव' है, उस श्याववर्ण से युक्त भी 'श्याव' नाम से अभिहित होते हैं। इस पक्ष में 'श्यै' धातु से औणादिक 'व' प्रत्यय होकर 'श्याव' शब्द निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'श्याव' पद को विशेषण, नामपद और व्यक्तिपरकसंज्ञापद मानता है। उसके अनुसार यह पद 'श्यै' धातुमूलक है, परन्तु अर्थ सन्दिग्ध है।[५] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'श्याव' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[६] मोनियर विलियम्स 'श्याव' का सम्बन्ध 'श्याम' शब्द से मानते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा ब्राह्मणग्रन्थों में यह शब्द गहरा भूरा, बभ्रु, गहरा रंग, गहरे अर्थ में आया है।[७]

वैदिक साहित्य में 'श्याव' पद का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है, परन्तु सविता के साथ इसका उल्लेख केवल एक दो स्थानों पर ही हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं कि श्याव नामक सूर्य के श्वेत पादयुक्त अश्व सुवर्णमय युगबन्धन वाले रथ को वहन करते हुए प्राणियों को प्रकाशित करते हैं। समस्त प्रजायें एवं भुवन सवितादेव की उपस्थ में विद्यमान रहते हैं।[८] श्यावाश्व आत्रेय ऋषि कहते हैं कि हे सविता! आप सम्पूर्ण भूतजात को धारण करने में समर्थ हैं। यह श्यावरूप अश्व वाला सूर्य तुम्हारी स्तुति से

---

१ निघ०वृ०, १.१५.७. ''उषसःकाले तमोऽभिभवे अरुणिमायामागन्त्र्यः।''

२ निघ० १.५.३.

३ निघ० १.१५.८.

४ निघ०वृ०, १.१५.८.

५ वै०पद०को०, पृ० ३१५३.

६ ऋ०वै०पद०, पृ० ५३३.

७ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १०९५.

८ ऋ० १.३५.५. ''वि जनाञ्छ्यावाः शितिपादो अख्यन् रथं हिरण्यप्रउगं वहन्तः। शश्वद्विशः सवितुर्दैव्यस्योपस्थे विश्वा भुवनानि तस्थुः।''

व्याप्त है।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाहन 'श्याव' है, जो श्वेत पाद एवं हिरण्यमय युगबन्धन को धारण करता है। आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं कि सविता के काल में सूर्य की आभा श्यामवर्ण की होती है।[२] आचार्य यास्क कहते हैं कि जिस समय पृथ्वी पर अन्धकार होता है, लेकिन द्युलोक में अन्धकार के समाप्त हो जाने पर रश्मियाँ फैल जाती है, वह 'सविता' देवता का काल है।[३] 'सविता' देवता के काल को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं कि कुक्कट के बाँग देने का समय ही सवितादेवता का काल है, इसलिये कुक्कुट को 'सावित्र' कहा जाता है।[४] इस विषय में आचार्य सायण कहते हैं कि उदित होने से पूर्व की आदित्य की अवस्था का नाम 'सविता' है।[५] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सवितादेव के उदित होने के समय पृथ्वी की स्थिति श्याव अर्थात् श्याम वर्ण की है, वेद पृथ्वी की इस श्यामरूपता को सविता के प्रकट होने का कारण मान रहा है, इसलिये उस स्थिति का वह श्याववर्ण के वाहन के रूप में उल्लेख कर रहा है। ब्राह्ममुहुर्तकालीन पृथ्वी की स्थिति को वेद श्याव वाहन के हिरण्यमय युगबन्धन तथा श्वेत पादों के रूप में कल्पना कर रहा है, जो उस समय की स्थिति से साम्य रखती है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि 'श्याव' पद का 'श्याम' पद के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यास्क 'शिति' और 'श्याम'-इन दोनों शब्दों को गत्यर्थक 'श्या' धातु से व्युत्पन्न मानते हैं।[६] लेकिन रूप की दृष्टि से श्वेत और श्याम शब्दों का मूल भले ही एक दिखायी देता हो, परन्तु अर्थ की दृष्टि से दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है और दोनों एक-दूसरे के विलोम हैं। यास्क का उपर्युक्त दोनों शब्दों को गत्यर्थक 'श्या' धातु से व्युत्पन्न मानने का कारण यह प्रतीत होता है कि सूर्य के उदय की सम्भावना से श्यामवर्ण श्वेतवर्ण में गमन करने लगता है, इसी प्रकार सूर्य के अस्त होने पर दिवस की श्वेतता कृष्णवर्ण में परिवर्तित होने लगती है। (सम्भवत:, इसीकारण प्रातः और सायङ्कालीन प्रकाश और अन्धकार के मिश्रण की अवस्था को वेद सवितादेव का काल मानता है। मन्त्रों में जहाँ इसके प्रातःरूप की आराधमा की गयी है, वहाँ इसकी सायं रूप की स्तुति भी देखने को मिलती है।[७] मैक्डॉनल का विचार है कि कभी-कभी सवितृ को निद्रा प्रदान करने वाला भी कहा गया है,[८] अत:, इन्हें निश्चितरूप से प्रातः तथा सायं दोनों से सम्बद्ध किया जाना चाहिये।[९]) अत:, 'श्याव' को गत्यर्थक 'श्या' धातु से व्युत्पन्न मानना उचित प्रतीत होता है।

---

१ ऋ० ५.८१.५. ''उतेदं विश्वं भुवनं वि राजसि श्यावाश्वस्ते सवितः स्तोममानशे।''

२ निघ०वृ०, १.१५.८.

३ निरु० १२.१२. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ० ९५३.

४ निरु० १२.१३. ''कृकवाकु सावित्रः इति विज्ञायते। कस्मात् सामान्यादिति कालानुवादं परीत्य।''

५ सायणभाष्य, ऋग्वेदभाष्य, २, पृ० ९८०. ''

६ निरु० ६.३.

७ ऋ० २.३८.३. ''अह्यर्षूणां चिन्न्ययाँ अविष्यामनु व्रतं सवितुर्मोक्यागात्।''

८ ऋ० ४.५३.६, ७.४५.१.

९ वैदिक माइथौलोजी, पृ० ६२.

९. विश्वरूपा बृहस्पतेः

निघण्टुकोष के आदिष्टोपयोजन गण में 'विश्वरूपा बृहस्पतेः' पदद्वय का परिगणन हुआ है।[१] उक्तपदद्वय में से 'विश्वरूपा' के विषय में आचार्य देवराजयज्वन् कहते हैं:-"**नानावर्णाश्वाः। बृहस्पतिश्च सविता च विश्वरूपैरिहागतम्**"[२] कि नानावर्णों के अश्व 'विश्वरूप' कहलाते हैं। बृहस्पति और सवितादेव नानारूपों के साथ इस लोक में आते हैं। उक्त निर्वचन में मात्र अर्थ प्रदर्शन किया गया है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'विश्वरूप' पद को अज, रथ, सवितृ प्रभृति का अनेकरूप वाचक विशेषण, धेनुवाचक नामपद एवं त्रिशिरस् की व्यक्तिपरकसंज्ञा मानता है। यह पद 'विश्व+रूप' से निष्पन्न हुआ है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'विश्वरूप' पद को 'विश्व+रूप' से निर्मित मानती है।[४] मोनियर विलियम्स ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में 'विश्वरूप' को अनेकवर्ण, नानावर्णवाचक मानते हैं। ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा तैत्तिरीय-संहिता में उक्त पद का अर्थ समस्त रूप, विभिन्न आकृतियों के अर्थ में प्रयुक्त है। ऋग्वेद और तैत्तिरीय-संहिता त्वष्टा के पुत्र का नाम है, (जिसके तीन सिरों को इन्द्र ने काट दिया था।)[५]

वैदिक साहित्य में 'विश्वरूप' शब्द का प्रयोग कतिपय स्थानों पर हुआ है, परन्तु बृहस्पति के सन्दर्भ में केवल तीन स्थानों पर देखने को मिलता है। ऋग्वेद में दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि इन्द्र ने हरी नामक अश्वों को नियुक्त किया, अश्विनीदेवों ने अश्विनियों को और बृहस्पति ने नानारूपों वाली गाय को वाहन के रूप में स्वीकार किया।[६] उक्त मन्त्र में 'विश्वरूपा' पद के सम्बन्ध में आचार्य सायण कहते हैं कि यद्यपि उक्त मन्त्र में 'गो' पद उद्धृत नहीं है, फिर भी चतुर्थ मण्डल में कहा गया है:-"**ये धेनुं विश्वजुवं विश्वरूपाम्**" (ऋ०,४.३८.८.), इसलिये यहाँ 'विश्वरूपा' को 'गो' मानकर व्याख्यान किया गया है। कुछ विद्वान् 'विश्वरूपा' का अर्थ 'अश्वपङ्क्ति' करते हैं, यह उचित नहीं है।[७] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि मनुष्यों के लिये अभिमत फल की वर्षा करने वाला, विश्वरूप नामक गोवाहन से युक्त तथा किसी अन्य से अहिंसित बृहस्पति ही सबके द्वारा वरण करने के योग्य है।[८] वामदेव ऋषि कहते हैं कि मनुष्यों के बैठने वाले सुन्दर रथों का ऋभुगणों ने निर्माण किया है। ये ऋभुगण ही हैं, जिन्होंने विश्व को प्रेरणा करने वाली गाय की रचना की। ये (ऋभुगण) सुरक्षित, कुशलहस्त एवं सुन्दर कर्म करने वाले हैं।[९] काठक-संहिता सम्यक्प्रकार से स्थित गौ को

---

१ निघ० १.१५.९.

२ निघ०वृ०, १.१५.९.

३ वै०पद०को०, पृ० २९३७.

४ ऋ०वै०पद०. पृ० ४९६.

५ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९९३.

६ ऋ० १.१६१.६. "इन्द्रो हरी युयुजे अश्विना रथं बृहस्पतिर्विश्वरूपामुपाजत।"

७ सायणभाष्य, ऋ० १.११६.६.

८ ऋ० ३.६२.६. "वृषभं चर्षणीनां विश्वरूपमदाभ्यम्। बृहस्पतिं वरेण्यम्।"

९ ऋ० ४.३३.८. "रथं ये चक्रुः सुवृतं नरेष्ठां ये धेनुं विश्वजुवं विश्वरूपाम्। त आ तक्षन्त्वृभवो रयिं नः स्ववसः स्वपसः सुहस्ताः।"

'विश्वरूपा' बतलाती है।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वाहन 'विश्वरूपा' है, जिस प्रकार इन्द्र अपने रथ में हरी तथा अश्विनीदेव अश्विनियों को नियुक्त करते हैं, उसी प्रकार बृहस्पति अपने रथ में 'विश्वरूपा' नामक गाय को वाहन के रूप में धारण करते हैं। कहने का आशय यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार इन्द्र का मुख्य कर्म हरण करना और अश्विनीदेवों को व्याप्त होना है, उसी प्रकार बृहस्पति का मुख्य कर्म समस्तरूपों को उत्पन्न या प्रकट करना है। अन्धकार के सागर में विलीन रूप बृहस्पति नामक सूर्य के उदित होने पर प्रकट हो जाते हैं। विश्वरूप गोवाहन वाला बृहस्पति सबके द्वारा वरण करने योग्य है, इसकी विश्वरूपा गाय का निर्माण करने वालों के रूप में वेद ऋभुगणों का उल्लेख करता है। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम कह सकते हैं कि ऋभुगणों के सहयोग से नानारूपों को आविष्कृत करने वाला बृहस्पति का वाहक अथवा बृहस्पति नामक सूर्य की रश्मियाँ वेद में 'विश्वरूपा' नाम से अभिहित हुई हैं।

१०. नियुतो वायोः

निघण्टुकोष के आदिष्टोपयोजन गण में अन्तिम पदद्वय 'नियुतो वायोः' परिगणित हैं।[२] आचार्य यास्क 'नियुतः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**नियुतो नियमनाद्वा**''[३] कि नियन्त्रित होने के कारण अश्वों को 'नियुतः' कहा जाता है। आचार्च दुर्ग उक्त अवतरण की व्याख्या करते हुए कहते हैं:-''**नीचैर्हि ते यम्यन्ते**''[४] कि ये नीचे की ओर से नियन्त्रित किये जाते हैं, अतः, अश्वों को 'नियुतः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'नि+'यम्' धातु से 'नियुतः' पद उपपन्न होता है।

(ख)''**नियोजनाद्वा**''[५] कि रथ में नियोजित किये जाने के कारण अश्वों को 'नियुतः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'नि+'युज्' से 'नियुतः' पद उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् 'नियुतः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**नियुतः (आदिष्टोपयोजनानि)। निपूर्वात् 'यु' मिश्रणे'। नियुवन्ति मिश्रयन्ति तृणपर्णादीनि, आत्मानं रथेन वा**''[६] कि अपने से या रथ से तृण, पर्ण आदि को मिश्रित करने के कारण अश्वों को 'नियुतः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'नि+'यु' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होकर 'नियुत्' पद निष्पन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, निपूर्वात् 'यमु' उपरमे'। नियम्यन्ते सारथिना नियुतः**''[७] कि सारथि के द्वारा नियन्त्रित किये जाने से अश्व 'नियुतः' कहे जाते हैं। इस पक्ष में 'नि+'यम्'+उति' से 'नियुत्' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'नियुतः' पद को स्त्रीवाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार 'नि+'यु'

---

१ काठ०सं० ७.७. ''स हिता विश्वरूपा गौः।''

२ निघ० १.१५.१०.

३ निरु० ५.२८.

४ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, ५.२८. पृ० ४८७.

५ निरु० ५.२८.

६ निघ०वृ०, १.१५.१०.

७ निघ०वृ०, १.१५.१०.

धातु से 'नियुतः' पद व्युत्पन्न होता है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्त मत का समर्थन करती है।[२] मोनियर विलियम्स भी 'नि+'यु' को 'नियुतः' पद का मूल मानते हैं। उनके अनुसार वाजसनेयि-संहिता तथा तैत्तिरीय-संहिता में यह वायु के अश्वसमूह का नाम है। ऋग्वेद में यह पद स्तुति, कविता, निवेदन अर्थ में आया है। इसके अतिरिक्त यह पद ऋग्वेद में वायु, इन्द्र और मरुत् के लिये अश्वसमूह के द्वारा खींचे जाने वाले वाहन के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में यह शब्द 'iu' जोड़ना तथा लैटिन में 'jutis' एक जोड़ अर्थ में है। अतः, वे यास्क के उक्त दोनों निर्वचनों को आदिम और भ्रान्तिपूर्ण मानते हैं।[४] वेद से प्राप्त सङ्केत 'नियुतः' पद को 'नि+'यु' से व्युत्पन्न करते प्रतीत होते हैं।[५]

वैदिक साहित्य में 'नियुतः' पद का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि हे वायो! सेवा एवं रक्षा करने में कुशल साथ जाते हुए नियुत् नामक अश्व दान एवं कर्म को समीपता से कहते हैं।[६] परुच्छेप ऋषि अग्रिम सूक्त में पुनः कहते हैं कि हे वायो! मनुष्य में यष्टव्यरूप में स्थित सोम प्रथम तुमको दिया जाता है। इसके अतिरिक्त हे वायो! उस सोम को नियुत् संज्ञक अश्वों से वहन करके ले जाओ। उसके पश्चात् हम पर अनुग्रह करते हुए द्युलोक को जाओ।[७] अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि इन मरुतों के नियुत् नामक उत्कृष्ट अश्व समुद्र के पार धन धारण करते हैं, वहाँ से वे हमारे लिये धन लेकर आयें।[८] एक अन्य मन्त्र में अगस्त्य ऋषि कहते हैं कि सुन्दर दान करने वाले अश्विनीदेव जब नियुत् संज्ञक अश्वों को एक-दूसरे से संयुक्त करते हैं, उस समय वे पुरंधि (पृथ्वी) से अन्नों को उत्पन्न करते हैं।[९] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! मैं तुम्हारे सामर्थ्यरूप मित्रता की कामना करता हूँ। वृत्र का वध करते समय अनादिकाल से तुम्हें नियुत् नामक अश्व वहन करते हैं।[१०] एक अन्य स्थान पर विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र! जिस प्रकार वायु नियुत् को नियुक्त किये जाते समय कुछ देर के लिये रुकता है और फिर शीघ्रता से आ जाता है, उसी प्रकार तुम भी हमारी ओर आ जाओ।[११] ऋजिश्वन भारद्वाज ऋषि कहते हैं कि हे प्रकृष्टरूप से यष्टव्य वायो! तुम सर्वत्र प्रदीप्तयान और नियुत् अश्वों से पहुँचती और शब्द करती हुई स्तोता की धन से अर्चना करो।[१२] वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि वायु के अपने अश्व वायु के साथ सङ्गत होते हैं और श्वेत (निष्कलङ्क) धन को दरिद्रता दूर

---

१ वै०पद०को०, पृ० १८१३.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० २९०.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ५५२.

४ दि एंटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ११६.

५ ऋ० १.१८०.६. "नि यद्युवेथे नियुतः सुदानू।"

६ ऋ० १.१३४.२. "यद्ध क्राणा इरध्यै दक्षं सचन्त ऊतयः। सध्रीचीना नियुतो दावने धिय उप ब्रुवत ईं धियः।"

७ ऋ० १.१३५.२. "तवायं भाग आयुषु सोमो देवेषु हूयते। वह वायो नियुतो याह्यस्मयुर्जुषाणो याह्यस्मयुः।"

८ ऋ० १.१६७.२. "अध यदेषां नियुतः परमाः समुद्रस्य चिद्धनयन्त पारे।"

९ ऋ० १.१८०.६. "नि यद्युवेथे नियुतः सुदानू उप स्वधाभिः सृजथः पुरंधिम्।"

१० ऋ० ३.३१.१४. "मह्या ते सख्यं वश्मि शक्तिरा वृत्रघ्ने नियुतो यन्ति पूर्वीः।"

११ ऋ० ३.३५.१. "तिष्ठा हरी रथ आ युज्यमाना याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छ।"

१२ ऋ० ६.४९.४. "द्युतद्यामा नियुतः पत्यमानः कविः कविमियक्षसि प्रयज्यो।"

करने के लिये देते हैं।[१] अग्रिम सूक्त में पुनः वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि हे स्पृहणीय इन्द्रवायू देवताओ! अपने नियुत् नामक अश्वों को मिश्रित करते हुए समान रथ पर आरूढ होकर हमारी ओर आओ।[२] अग्रिम मन्त्र में आगे ऋषि कहता है कि सबके द्वारा वरणीय शत अथवा सहस्रसङ्ख्याक नियुत् अश्व तुम दोनों के साथ सङ्गत होते हैं।[३] ताण्ड्य एवं शतपथ-ब्राह्मण का मत है कि पशु ही नियुत् हैं।[४] काठक-संहिता कहती है कि देवताओं की प्रजा वायु तथा वायु की प्रजा नियुत् हैं।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह वायु का वाहन नियुत् है, जो वायु के साथ जाता हुए नियुत् नामक दान एवं रक्षा करने में कुशल हैं, वायु सोम को नियुत् नामक अश्वों से वहन करके ले जाता है, ये अश्व समुद्र के पार धन धारण करते हैं, अश्विनीदेव जब इन अश्वों को एक-दूसरे से मिलाते हैं, तब पृथ्वी से विविध अन्न उत्पन्न होते हैं, वृत्र का वध करते समय ये नियुत् संज्ञक अश्व इन्द्र का वाहन बनते हैं, नियुत् नामक अश्वों पर आरूढ होकर वायु हमारी ओर चली आती है, नियुत् अश्वों पर आरूढ वायु महारव और स्तोता को धन प्रदान करती हुई आती है, वायु की सेवा करते हुए ये अश्व प्रजा को श्वेत धन प्रदान करते हैं, यह वायु सैकड़ों और हजारों नियुत् नामक अश्वों पर आरूढ होकर आती है। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कह सकते हैं कि वर्षा की वाहक वायु को वेद 'नियुत्' नाम से अभिहित कर रहा है। यह वायु ही वर्षा का दान एवं अकाल से रक्षा करने में कुशल है, जब वायु परस्पर मिश्रित होती हैं, तभी वर्षा और पृथ्वी पर अन्न उत्पन्न होता है, वृत्र का वध करते समय इसीलिये नियुत् नामक वायु को इन्द्र वाहन बनाता है, यह स्तोताओं को विद्युत् गर्जनारूप श्वेत धन प्रदान करती है। इस प्रकार निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि वायु और जल का मिश्रण नियुत् नामक वायु का कर्मक्षेत्र है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'नि+'यु' मिश्रणे' धातु को 'नियुतः' पद का मूल माना जा सकता है।

वैदिक साहित्य में आदिष्टोपयोजन नामपदों में अर्थभिन्नता

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के पञ्चदश गण में निघण्टुकार ने दश आदिष्टोपयोजन वाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	हरी इन्द्रस्य-आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.१.	वेद में कहीं रश्मि और कहीं विशेष वाहन को रश्मि नाम से अभिहित किया गया है। हरी द्विवचनान्त प्रयोग किन्हीं दो रश्मियों के 'हरी' होने का सङ्केत देता है।	'हृ' धातु।

१ ऋ० ७.९०.३. "अध वायुं नियुतः सश्चत स्वा उत श्वेतं वसुधितिं निरेके।"

२ ऋ० ७.९१.५. "नियुवाना नियुतः स्पार्हवीरा इन्द्रवायू सरथं यातमर्वाक्।"

३ ऋ० ७.९१.६. "या वां शतं नियुतो याः सहस्रमिन्द्रवायू विश्ववाराः सचन्ते।"

४ ता०ब्रा०, ४.६.११. शत०ब्रा०, ४.४.१.१७. "पशवो वै नियुतः।"

५ काठ०सं० १२.१३. "वायुर्देवानां विशो नेता, नियुतो देवानां विशः।"

२.	रोहिताऽग्नेः आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.२.	यह एक आकाश में आरोहण करने में समर्थ अग्नि सञ्चालित वाहन विशेष है। इसकी पुष्टि 'रोहित' नाम से भी हो जाती है।	'रुह्' धातु।
३.	हरित आदित्यस्य आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.३.	प्रातःकाल की स्वर्णिम आदित्य रश्मियाँ वेद में 'हरितः'.नाम से अभिहित हुई हैं। रसहरण करने के कारण रश्मियों को 'हरितः' कहा गया है।	'हृ' धातु।
४.	रासभावश्विनोः आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.४.	रासभ द्वारा वहन किये जाने वाले रथ में वेद तीन चक्र और और अनेक बैठने के मण्डप बतला रहा है। चलते समय अत्यधिक ध्वनि किये जाने वाले होने से इसका नाम रासभ है। इस प्रकार यह एक वाहन विशेष है।	'रासृ' शब्दे' धातु।
५.	अजा पूष्णोः आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.५.	वेद 'अज' को पुरोडाश नामक हवि मान रहा है। देवताओं के आह्वान करते समय यह हवि चलती है और उन्हें यज्ञ की सूचना देती है। यही छाग है, जिसे त्वष्टा (अग्नि) देव प्रसन्नता से ग्रहण करते हैं।	'अज्' गतिक्षेपणयोः' धातु।
६.	पृषत्यो मरुताम् आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.६.	वर्षकर्म में सबसे अधिक सहायक नानावर्ण के मेघ वेद की भाषा में 'पृषती' हैं। वर्षकर्म में सहायक मेघ और विद्युत् को वेद क्रमशः 'पृषती और 'ऋष्टि' नाम से अभिहित करता है।	'पृपु' सेचने' धातु।
७.	अरुण्यो गाव उषसः आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.७.	ऐतिहासिक पक्ष में 'गो' एकवाहन है, जबकि नैरुक्तपक्ष में यह सूर्यरश्मियों का अभिधान है। एक लोक से दूसरे लोक तक की यात्रा करने के कारण रश्मियों को 'गावः' कहा गया है।	'गम्' धातु।
८.	श्यावाः सवितुः आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.८.	सवितादेव के उदित होते समय पृथ्वी श्याव (श्याम) वर्ण की होती है। इसका वाहन के रूप में उल्लेख किया गया है। इस समय का प्राकृतिक वातावरण श्वेत पाद एवं सुवर्णमय युगबन्धन वाले वाहन के रूप में प्रतीत होता है। यही वेद में सविता का 'श्याव' वाहन है।	'श्या' धातु।
९.	विश्वरूपा बृहस्पतेः आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.९.	ऋभुगणों के सहयोग से नानारूपों को आविष्कृत करने वाला बृहस्पति का वाहन अथवा सूर्य की रश्मियाँ 'विश्वरूपा' वाहन हैं।	'विश्व+रूप'।
१०.	नियुतोः वायोः आदिष्टोपयोजन निघ०१.१५.१०.	वर्षा की वाहक वायु को वेद नियुत् नाम से अभिहित कर रहा है। वायु और विद्युत् का मिश्रण 'नियुत्' नामक वायु का कर्मक्षेत्र है।	'नि+'यु' मिश्रणे' धातु।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि निघण्टुकार ने आदिष्टोपयोजन गण में निम्न प्रकार के पदों का परिगणन किया है:-१. सूर्य, २. अग्नि, ३. वाहन, ४. मेघ- ५. वायु। **हरी इन्द्रस्य, हरित आदित्यस्य, अरुण्यो गाव उषसः, श्यावाः सवितुः, विश्वरूपा बृहस्पतेः**- ये पाँच पद सूर्य से सम्बद्ध हैं। इनके माध्यम से निघण्टुकार ने सूर्य की रश्मियों का वाहन के रूप में उल्लेख किया है। **'रोहिताऽग्नेः'** तथा

'अजा पूष्णः'-ये दो पद अग्नि से सम्बद्ध हैं। इनमें से प्रथम 'रोहित' अग्नि से सञ्चालित, आरोहण करने में समर्थ वाहन है, जबकि द्वितीय 'अजा' पुरोडाशरूप हवि है। इस हवि से देवताओं की यज्ञ की सूचना मिलती है और वे इसके माध्यम से यज्ञ में चले आते हैं। **'रासभावश्विनोः'**-यह पद अश्विनीदेवता के वाहन के रूप में निघण्टुकार ने परिगणित किया है। इसमें तीन चक्र और तीन बैठने के मण्डप हैं और शब्द करता हुआ चलता है, अतः, यह एक वाहन प्रतीत होता है। **'पृषत्यो मरुताम्'** में मरुत् के वाहन के रूप में निघण्टुकार ने 'पृषती' का उल्लेख किया है। यह 'पृषती' जिसे वेदभाष्यकार 'श्वेतबिन्दु वाली मृगी' कहते हैं, वस्तुतः, वेद में मेघ के रूप में वर्णित हुई है। मरुतों के वर्षकर्म को सम्पन्न करने में सहायक या वाहक होने से इसे वेद में मरुतों का वाहन माना गया है। **'नियुतो वायोः'**- यह वायुदेवता के वाहन के रूप में समाम्नात किया गया है। वायु ही जब वर्षा या मेघ की वाहक बन जाती है, तब वह वेद में नियुत् संज्ञा वाली हो जाती है। इस वायु में विद्युत् का मिश्रण भी होता है, अतः, इसको 'नियुत्' नाम से अभिहित किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि निघण्टुकार ने आदिष्टोपयोजन गण में देवविशेष के वाहनवाचक नामपदों का परिगणन किया है। उक्त गण में परिगणित दश पदों में से प्रायः सभी को विभिन्न विभक्तियों में परिगणित किया गया है। यह निघण्टुकार की शैली का एक सामान्य दोष है।

ज्वलद्वाचक नामपद

निघण्टुकोष प्रथम अध्याय के १७वें गण में निघण्टुकार ने ज्वलद्वाचक एकादश नामपद परिगणित किये हैं। प्रस्तुत खण्ड में हम उक्त ज्वलद्वाचक नामपदों का विवेचन करने के लिये अग्रसर हो रहे हैं।

१. जमत्

निघण्टुकोष के ज्वलद्वाचक गण में 'जमत्' पद परिगणित है।[१] आचार्य यास्क 'जमदग्नि' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा**''[२] कि प्रभूत अग्नि वाली होने से वह 'जमदग्नि' कहलाती है। इस पक्ष में 'जम्' धातु से 'अति' औणादिक प्रत्यय होकर 'जमत्' और 'जमत्+अग्नि' से 'जमदग्नि' रूप निष्पन्न होता है।

(ख)''प्रज्वलिताग्नयो वा''[३] कि प्रज्वलित अग्नि वाला होने से वह 'जमदग्नि' कहलाता है। इस पक्ष में भी पूर्वरूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'जमत्' पद को 'जम्' धातुमूलक मानता है। लेकिन 'जमत्' पद का प्रयोग एकाकी नहीं हुआ है। वैदिक साहित्य में 'अग्नि' पद का योग होकर 'जमदग्नि' व्यक्तिपरक संज्ञा के रूप में 'जमत्' का प्रयोग हुआ है।[४] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची भी उक्त मत का समर्थन करती है।[५] मोनियर विलियम्स भी इसी मत के हैं। उनके अनुसार वैदिक साहित्य में 'जमत्' का प्रयोग जमदग्नि के रूप में हुआ है।[६]

वैदिक साहित्य में 'जमत्' पद का प्रयोग एकाकी रूप में उपलब्ध नहीं होता है, प्रायः 'जमत्' का प्रयोग 'जमदग्नि' के रूप में हुआ है। विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि हे मित्रावरुणदेवो! प्रज्वलित अग्नि से स्तूयमान तुम दोनों ऋत की योनि अर्थात् जल की उत्पत्ति के कारण में स्थित हो। उदक की वृद्धि करने वाले तुम दोनों सोम का पान करो।[७] जमदग्नि भार्गव ऋषि कहते हैं कि प्राची मुख एवं प्रज्वलित अग्नि से बढ़े हुए आप दोनों अश्विनीदेव इधर आयें।[८] एक अन्य स्थान पर जमदग्नि ऋषि कहते हैं कि हे पवमानदेव! प्रज्वलित अग्नि से सर्वतः स्तूयमान होते हुए गवादि प्राणियों सहित अन्न की प्राप्ति कराओ।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस प्रज्वलित अग्नि से देवता की स्तुति की

---

१ निघ० १.१७.१.

२ निरु० ७.२४.

३ निरु० ७.२४.

४ वै०पद०को० पृ० १३६३.

५ ऋ०वै०पद० पृ० २११.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ४१२.

७ ऋ० ३.६२.१८. ''गृणाना जमदग्निना यौनावृतस्य सीदतम्। पातं सोममृतावृधा।''

८ ऋ० ८.१०१.८. ''प्राचीं होत्रां प्रतिरन्तावितं नरा गृणाना जमदग्निना।''

९ ऋ० ९.६२.२४. ''उत नो गोमतीरिषो विश्वा अर्ष परिष्टुभः। गृणानो जमदग्निना।''

जाती है, वह अग्नि 'जमत्' है। यह अग्नि हवि का भोग करती है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'जमु' अदने' धातु से 'जमत्' पद को व्युत्पन्न करना उचित प्रतीत होता है।

२. कल्मलीकिनम्

निघण्टुकोष के ज्वलद्वाचक गण में 'कल्मलीकिनम्' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'कल्मलीकिनम्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**कल्मलीकं भवेत्-इति माधवः**''[२] कि मल को दूर करने के कारण प्रज्वलित अग्नि को 'कल्मलीकिनम्' कहा जाता है। इस पक्ष में पृषोदरादि नियम से 'कल्मलीकिनम्' रूप उपपन्न होता है।

आचार्य सायण 'कल्मलीक' शब्द निर्वचन निम्न करते हैं:-''**कलयति अपगमयति मलमिति कल्मलीकं तेजः**''[३] कि जो मल को दूर कर देता है, वह तेजस् पदार्थ 'कल्मलीक' है। इस पक्ष में 'कल'+मल' से 'कल्मलीक' रूप सिद्ध होता है।

आचार्य दुर्ग 'कल्मलीकिनम्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**कमहं मलिनं शोधयामीति कल्मलीकिनम्**''[४] कि मैं किस मलिनता को शुद्ध करूँ, इस प्रकार मलिनता को शुद्ध करने वाली अग्नि दुर्ग के अनुसार 'कल्मलीकिनम्' है। दुर्ग के अनुसार 'कम्' शब्द उपपद में रखकर 'मल' धारणे' धातु से मकार के स्थान में 'ईकन्' प्रत्यय होकर 'कल्मलीकिनम्' रूप उपपन्न होता है।

वाचस्पत्यम् कोश के अनुसार-''**कलयति अपगमयति मलम्**''[५] कि जो मल को दूर कर देती है, उस अग्नि का नाम 'कल्मलीकिनम्' है। इसके अनुसार 'कल्' और 'मल्' धातु से 'कल्मलीकिनम्' पद उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'कल्मलीकिनम्' पद के 'कल्मलि' शब्द के अर्थ और व्युत्पत्ति दोनों को सन्दिग्ध मानता है। 'कल्मलीकिन' भाववाचक पद है। उसके अनुसार उक्त पद की विकास प्रक्रिया के विषय में निम्न कल्पना की जा सकती है:-''**कल्म (दीप्ति) 'कल्'+(राध्' संसिद्धौ' भावे 'ण्वुच्' प्रत्यय) राधक, कल्म+राधक=कल्मरायक=कल्मरीक=कल्मलीक**'।[६] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्त पद को अव्युत्पन्न मानती है।[७] मोनियर विलियम्स 'कल्मलीकिन' पद को 'कल्'+मल' से व्युत्पन्न करने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में उक्त पद प्रदीप्त, दहन अर्थ में है।[८]

वैदिक साहित्य में 'कल्मलीकिनम्' पद का मात्र एक बार प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद में

---

१ निघ० १.१७.२.

२ निघ०वृ०, १.१७.२.

३ सायणभाष्य, ऋ० २.३३.८.

४ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ० २०१.

५ वाचस्पत्यम्, भा०६, पृ० ४१३९.

६ वै०पद०को० पृ० १०९८.

७ ऋ०वै०पद० पृ० १६५.

८ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २६३.

गृत्समद ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार मल को दूर करने वाली अग्नि तेज से युक्त होकर हवि के योग्य अथवा नमस्करणीय होती है, उसी प्रकार हम प्रदीप्त तेज वाले रुद्रदेव का नमन अथवा हवि के द्वारा स्तवन करें।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में मल को दूर करने वाली अग्नि का नाम 'कल्मलीकिनम्' है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'कल्'+मल' से 'कल्मलीकिनम्' पद को हम व्युत्पन्न कर सकते हैं।

३. जञ्झणाभवन्

निघण्टुकोष के ज्वलद्वाचक गण में 'जञ्झणाभवन्' पद समाम्नात है।[२] 'जञ्झणाभवन्' पद का निर्वचन न तो यास्क ने दिया है और न ही निघण्टु के वृत्तिकार आचार्य देवराजयज्वन् ने ही देने का प्रयास किया है। वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'जञ्झणाभवन्' पद को प्रज्वलित अग्नि की ध्वनि की अनुकृति मानता है। उसके अनुसार उक्त पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[३] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'जञ्झणाभवन्' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[४]

वैदिक साहित्य में 'जञ्झणाभवन्' पद का मात्र एक बार उल्लेख देखने को मिलता है। आङ्गिरस विरूप ऋषि कहते हैं कि ज्वालाओं से ही अग्नि वनस्पतियों को झुकाता है और अपने तेज से उन्हें जलाता हुआ वन में प्रकाशित होता है।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में अपने तेज से वनस्पतियों को झुलसाने और जलाने वाला अग्नि 'जञ्झणाभवन्' है। उक्त नाम प्रज्वलित अग्नि की ध्वनि की अनुकृति प्रतीत होता है। फिर भी, 'जञ्झणा+'भू' से 'जञ्झणाभवन्' पद को व्युत्पन्न करने का प्रयास किया जा सकता है।

'जञ्झणाभवन्' शब्द के विषय में सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि पंजाबी भाषा में विवाह को 'जंज' कहा जाता है, दूसरी ओर युद्ध के लिये भी उक्त शब्द से समरूपता वाले 'जंग' (फारसी) शब्द का प्रयोग होता है। विवाह और युद्ध का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि विवाह और युद्ध के समय होने वाली ध्वनि जिस अग्नि से या जिस अग्नि के कारण होती है, वह भयानक अग्नि का ताण्डव सम्भवतः, 'जञ्झणाभवन्' है।

४. मल्मलाभवन्

निघण्टुकोष के ज्वलद्वाचक गण में 'मल्मलाभवन्' पद परिगणित है।[६] आचार्य यास्क तथा आचार्य देवराजयज्वन् इनमें से किसी ने भी उक्त पद का निर्वचन नहीं किया है। वैदिक-पदानुक्रम-कोष

---

१ ऋ० २.३३.८. "नमस्या कल्मलीकिनं नमोभिर्गृणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम।"

२ निघ० १.१७.३.

३ वै०पद०को० पृ० १३४०.

४ ऋ०वै०पद० पृ० २०६.

५ ऋ० ८.४३.८. "जिह्वाभिरिह नन्नमदर्चिषा जञ्झणाभवन्। अग्निर्वनेषु रोचते।"

६ निघ० १.१७.४.

'मल्मलाभवन्' पद को 'भ्रष्टभ्रष्टा इष्टका' का विशेषण मानता है। उसके अनुसार 'अत्यन्ततप्त हो जाना' 'मल्मलाभवन्' पद का अर्थ है।[१] मोनियर विलियम्स के अनुसार तैत्तिरीय-संहिता एवं मैत्रायणी-संहिता में यह पद कौंधना, जगमगाना अर्थ में आया है।[२]

वैदिक साहित्य में से केवल ब्राह्मणग्रन्थों में अवश्य एक दो स्थानों पर 'मल्मलाभवन्' पद का प्रयोग हुआ है, लेकिन चारों में से किसी भी वेद में उक्त पद का प्रयोग नहीं हुआ है। वैदिक-पदानुक्रम-कोष के अनुसार तैत्तिरीय-संहिता, मैत्रायणी-संहिता एवं काठक-संहिता में एक-एक स्थान पर उक्त पद का प्रयोग हुआ है।[३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रयोग की उपलब्धता न होने के कारण 'मल्मलाभवन्' पद के विषय में अभी कुछ कहना सम्भव नहीं है। सम्भवतः, 'जञ्जणाभवन्' के समान यह पद भी प्रज्वलित अग्नि की ध्वनि की अनुकृति के आधार पर अग्नि का नाम प्रसिद्ध हुआ है।

५. अर्चिः

निघण्टुकोष के ज्वलद्वाचक नामपदों में 'अर्चिः' पद परिगणित है।[४] आचार्य देवराजयज्वन् ज्वलद्वाचक 'अर्चिस्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**अर्चिः (ज्वलतो नामधेयम्)। 'अर्च' पूजायाम्'। अर्च्यते देवताद्यर्चनसाधनत्वाद्वा अर्चिरग्न्यादिज्वालादिः**''[५] कि देवता अर्चन का साधन होने से अग्नि की पूजा होती है, अतः, अग्नि आदि ज्वालाओं को 'अर्चिस्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'अर्च्' धातु से औणादिक 'इसि' प्रत्यय होकर 'अर्चिस्' रूप उपपन्न होता है। उक्त व्युत्पत्ति उणादिकोष पर आधारित है।[६]

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'अर्चिस्' पद का मूल 'अर्च्' धातु को मानता है। उसके अनुसार यह पद प्रभा, दीप्ति, ज्वाला प्रभृति का वाचक नामपद है।[७] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची एवं मोनियर विलियम्स भी उक्त मत का समर्थन करते हैं।[८] मोनियर विलियम्स के अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा शतपथ-ब्राह्मण में यह पद प्रकाश की किरणें, अग्निशिखा, प्रकाश, द्युति, आभा अर्थ में है।[९] वेद से प्राप्त सङ्केत 'अर्चिस्' का मूल 'अर्च्' धातु को मानते हैं।[१०]

वैदिक साहित्य में 'अर्चिस्' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में गोतम ऋषि कहते हैं कि इस

---

१ वै०पद०को० पृ० २४६७.

२ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७९२.

३ वै०पद०को० पृ० २४६७.

४ निघ० १.१७.५.

५ निघ०वृ०, १.१७.५.

६ उणा०, २.११०. ''अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः।''

७ वै०पद०को०, पृ० ५०१.

८ ऋ०वै०पद०, पृ० ५६. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९०.

९ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ९०.

१० अथर्व०, २.१९.३, २३.३. ३.२२.३, २०.३.२१, ३.२२.३,

उषा का दीप्यमान तेज पूर्व दिशा में सबको दिखायी देता है, सभी दिशाओं को व्याप्त करता है और कृष्णवर्ण को दूर भगाता है।[१] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि यज्ञवेदि का प्रज्वलित अग्नि, उदित सूर्य एवं पूज्या उषा प्रकृष्ट तेज से प्राणियों को आह्लादित करती हुई तमस् को दूर भगाती है।[२] गृत्समद ऋषि कहते हैं कि क्षीण न होने वाला एवं ज्वाला के रश्मिसमूह से नानावर्ण का यह अग्नि सूर्यकिरणों के समान प्रकाशित होता है।[३] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि देवताओं की कामना करने वाली मानुषी प्रजा हवि से युक्त होकर प्रदीप्त अग्नि की स्तुति करती है।[४] वामदेव ऋषि कहते हैं कि सामने तेज को धारण किये हुए अग्नि का मार्ग कृष्णवर्ण का एवं सञ्चरणशील तेजों में वह सबसे मुख्य है।[५] सत्यश्रवस् आत्रेय ऋषि द्युलोक की पुत्री उषा से अन्धकार को दूर भगाने एवं विना विलम्ब के आने का निवेदन करते हैं और कहते हैं कि जिस प्रकार राजा स्तेनादि को दण्डित करता है, उस प्रकार सूर्य उसे न तपाये।[६] बृहस्पति शंयु ऋषि अग्नि को कामनओं की वर्षा करने वाला, जरारहित, गुणों की दृष्टि से महान् एवं अपनी दीप्ति से प्रकाशित होने वाला बतलाते हैं।[७] भरद्वाज ऋषि अपनी ज्वालाओं से समस्त वनों को सब ओर से आलिङ्गन एवं उन वनों का अपनी ज्वालारूपी जिह्वा से कृष्णवर्ण का बना देने वाले अग्नि की स्तुति करने के लिये कहते हैं।[८] आङ्गिरस विरूप ऋषि कहते हैं कि ज्वालाओं से ही अग्नि वनस्पतियों को झुकाता है और अपने तेज से उन्हें जलाता हुआ वन में प्रकाशित होता है।[९] एक अन्य मन्त्र में आङ्गिरस ऋषि कहते हैं कि आहुति दिये जाने पर अग्नि की अर्चिस् प्रकाशित होती है।[१०] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि जब यह **'अजस्रेण भानुना दीद्यतम्'** (अविच्छन्न आभा से प्रकाशित हो) यह कहा जाता है तो इसका तात्पर्य **'अजस्रेणार्चिषा दीप्यमानम्'** (अविच्छन्न ज्वालाओं से प्रकाशित होना) होता है।[११]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि अग्नि का वह रूप 'अर्चिस्' है, जो पूर्वदिशा में अन्धकार को दूर भगाता हुआ उषा के रूप में दृष्टिगोचर होता है, यह महनीया उषा के रूप में प्राणियों को आह्लादित करने वाला है, यह अग्नि के रूप में सूर्य की किरणों के समान प्रकाशित होता है, देवताओं की कामना करने वाली प्रजा अग्नि के अर्चिस् का पूजन करती है, अग्नि का मार्ग कृष्णवर्ण का तथा मुख दीप्ति से युक्त होता है, राजा के कठोर दण्ड के समान सूर्य की तीक्ष्ण किरणों को ऋषि 'अर्चिस्' कहता है, यह

---

१ ऋ० १.९२.५. "प्रत्यर्ची रुशदस्या अदर्शि वि तिष्ठते बाधते कृष्णमभ्वम्।"

२ ऋ० १.१५७.१. "अबोध्याग्निर्ज्म उदेति सूर्यो व्यु१षाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा।"

३ ऋ० २.८.४. "आ यः स्व१र्ण भानुना चित्रो विभात्यर्चिषा। अञ्जानो अजरैरभि।"

४ ऋ० ३.६.३. "यदी विशो मानुषीर्देवयन्तीः प्रयस्वतीरीळते शुक्रमर्चिः।"

५ ऋ० ४.७.९. "कृष्णं त एम रुशतः पुरो भाश्चरिष्णव१र्चिर्वपुषामिदेकम्।"

६ ऋ० ५.७९.९. "व्युच्छा दुहितर्दिवो मा चिरं तनुथा अपः। नेत्त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति सूरो अर्चिषा सुजाते अश्वसूनृते।"

७ ऋ० ६.४८.३. "वृषा ह्यग्ने अजरो महान्विभास्यर्चिषा।"

८ ऋ० ६.६०.९. "तमीळिष्व यो अर्चिषा वना विश्वा परिष्वजत्। कृष्णा कृणोति जिह्वया।"

९ ऋ० ८.४३.८. "जिह्वाभिरिह नन्नमदर्चिषा जञ्जणाभवन्। अग्निर्वनेषु रोचते।"

१० ऋ० ८.४३.१०. "उदग्ने तव तद्घृतादर्ची रोचत आहुतम्। निसानं जुह्वो मुखे।"

११ शत०ब्रा०, ६.४.१.२. "अजस्रेण भानुना दीद्यतमित्यजस्रेणार्चिषा दीप्यमानमित्येतत्।"

कामनाओं की वर्षा करने वाले अग्नि का प्रकाश है, यह अपनी ज्वालाओं से सम्पूर्ण वन का आलिङ्गन करता है तथा घृत की आहुति दिये जाने पर यह अग्नि ज्वालाओं के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कह सकते हैं कि वेद में प्रमुखतया उषा के प्रकाश और यज्ञ की अग्नि की ज्वालाओं को 'अर्चिस्' नाम से अभिहित किया है। इन दोनों के मूल में पूजायोग्यता रूप धर्म की समानता पायी जाती है। प्रात:कालीन उषा और यज्ञ की अग्नि सर्वदा से साधकों के श्रद्धा का केन्द्र रहे हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'अर्च्' पूजायाम्' धातु को निर्विवादरूप से 'अर्चिस्' पद का मूल माना जा सकता है।

६. शोचि:

निघण्टुकोष के ज्वलद्वाचक गण में 'शोचि:' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'शोचि:' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**शोचि: (ज्वलतो नामधेयम्)। शोचतेर्ज्वलतिकर्मण: (निघ०,१.१६.५.) शोचति शोचि:**''[२] कि प्रज्वलित होने के कारण अग्नि को 'शोचि:' कहा जाता है। इस पक्ष में 'शुच्' धातु से 'शोचि:' पद निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष एवं ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'शोचि:' पद का मूल 'शुच्' दीप्तौ' धातु को मानते हैं।[३] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद हरिवंशपुराण में यह पद ज्वाला, दीप्ति, कान्ति, प्रकाश अर्थ में आया है। काव्यप्रकाश में वर्ण तथा भागवतपुराण में वैभव, सुन्दर अर्थ में प्रयुक्त है।[४] वेद से प्राप्त सङ्केत 'शोचि:' पद को 'शुच्' धातु से व्युत्पन्न मानते हैं।[५]

वैदिक साहित्य में 'शोचि:' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में घोरपुत्र कण्व ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार सूर्य अपने तेज को भूमि पर प्रेक्षिपत करता है, उसी प्रकार मरुत् अपनी विद्युत् (शोचि:) को प्रक्षेपित करते हैं।[६] कण्वपुत्र मेधातिथि ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! अपनी श्वेतवर्ण की दीप्ति से समस्त देवताओं को आह्वान करने वाले स्तोत्रों से युक्त होकर हमारे स्तोत्र का सेवन करो।[७] प्रस्कण्व ऋषि कहते हैं कि रक्षा के लिये प्रौढकर्मा, प्रियमेधा ऋषि यज्ञों में शुद्ध प्रकाश से प्रकाशित होने वाली अग्नि का आह्वान करते हैं।[८] एक अन्य सूक्त में प्रस्कण्व ऋषि उषा से प्रदत्त हविरूप धन एवं अन्धकार को दूर करने में समर्थ तेज से युक्त होकर स्तोत्र स्वीकार करने की प्रार्थना करते हैं।[९] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि ईंधन से सम्यक् प्रकार से

---

१ निघ० १.१७.६.

२ निघ०वृ०, १.१७.६.

३ वै०पद०को०, पृ० ३१२१. ऋ०वै०पद०, पृ० ५२६.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १०९१.

५ ऋ० ६.४८.३; ७.५.४, १३.२; १०.२२.८. अथर्व०, २.१९.४; २०.४; २१.४; २२.४; २३.४; ३६.८.

६ ऋ० १.३९.१. ''प्र यदित्था परावत: शोचिर्न मानमस्यथ।''

७ ऋ० १.१२.१२. ''अग्ने शुक्रेण शोचिषा विश्वाभिर्देवहूतिभि:। इमं स्तोमं जुषस्व न:।''

८ ऋ० १.४५.४. ''महिकेव ऊतये प्रियमेधा अहूषत। राजन्तमध्वराणामग्निं शुक्रेण शोचिषा।''

९ ऋ० १.४८.१४. ''सा न: स्तोमाँ अभि गृणीहि राधसोष: शुक्रेण शोचिषा।''

बढ़ा हुआ एवं बलवान् अग्नि ज्वालादि व्यापार से द्युलोक और पृथ्वीलोक को आलोकित करता है।[१] एक अन्य सूक्त में दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि दावानलरूप अग्नि दन्तस्थानीय ज्वालाओं से बहुत सारे वृक्षादि को नष्ट करता है और उसके पश्चात् वन में विविध प्रकाश से युक्त होकर प्रकाशित होता है। जिस प्रकार धनुषधारी के बाण तीव्र गति से जाते हैं, उसी प्रकार यह अग्नि वायु के सहयोग से दूर-दूर तक फैल जाता है।[२] दमन यामायन ऋषि कहते हैं कि अज (आत्मा) को तप से, तप को शोचिस् (अग्नि) से और शोचिस् को अर्चिस् (ज्वाला) से तपाना चाहिये।[३] द्रोण ऋषि कहते हैं कि जब वायु अग्नि के अनुकूल होकर प्रवाहित होता है, उस समय अग्नि नापित के समान पृथ्वी का मुण्डन कर देता है।[४] वत्सप्रि ऋषि कहते हैं कि हवि की कामना करने वाला, शोधक, गमनशील, उत्तम ज्ञान का विषय- ऐसा अमरणधर्मा अग्नि मरणशील मनुष्यों में स्थित है। यह धूम को प्रेरित, रूप को धारण और प्रदीप्त प्रकाश से द्युलोक को व्याप्त करता है।[५] पायु ऋषि कहते हैं कि यह अग्नि तीक्ष्ण तेज (ताप) एवं तपनशील अग्रभाग वाली ऋष्टियों से राक्षसों का दहन करता है।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह अग्नि का रूप 'शोचिः' है, जिसे मरुद्गण अन्तरिक्ष से भूमि पर प्रेक्षिपित करते हैं, यह देवहूति अग्नि की श्वेत दीप्ति, शुद्ध प्रकाश है, इस तेजोरूप को धारण कर उषा अन्धकार को दूर करती है, ईधन से बढ़ा हुआ अग्नि द्युलोक और पृथिवीलोक को आलोकित करता है, कभी यह दन्तस्थानीय ज्वालाओं से वन के जलने से उठी हुई आभा से मण्डित होता है, अज (आत्मा) को तपाने वाले तप को भी जो तपाता है, वह अग्नि शोचिस् है, यह वायु के अनुकूल होने पर भूमि का मुण्डन अर्थात् सब कुछ दहन कर देता है, यह प्रदीप्त प्रकाश से द्युलोक को व्याप्त करता है, यह तीक्ष्ण ताप से राक्षसों का दहन करता है। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद प्रचण्ड अग्नि को 'शोचिस्' नाम से अभिहित करता है। इस अग्नि में आलोक की अधिकता के साथ-साथ दहन करने की विशेष क्षमता को वेद ने रेखाङ्कित किया है। इसे नापित के समान मुण्डन करने वाला बताया है। वेद ने 'शोचिषा' के साथ प्रायः 'शुक्र' शब्द का प्रयोग किया है। 'शोचिस्' नामक अग्नि में प्रकाश की अधिकता होती है, का प्रतिपादन करने के लिये सम्भवतः, वेद ने 'शोचिषा' के साथ 'शुक्र' शब्द का प्रयोग किया है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए निर्विवादरूप से 'शुच्' दीप्तौ' धातु को 'शोचिः' पद का मूल माना जा सकता है।

---

१ ऋ० १.१४३.४. "अस्य क्रत्वा समिधानस्य मज्मना प्र द्यावा शोचिः पृथिवी अरोचयत्।"

२ ऋ० १.१४८.४. "पुरूणि दस्मो नि रिणाति जम्भैराद्रोचते वन आ विभावा। आदस्य वातो अनु वाति शोचिरस्तुर्न शर्यामसनामनु द्यून्।"

३ ऋ० १०.१६.४. "अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।"

४ ऋ० १०.१४२.४. "यदा ते वातो अनुवाति शोचिर्वप्तेव श्मश्रु वपसि प्र भूम।"

५ ऋ० १०.४५.७. "उशिक्पावको अरतिः सुमेधा मर्तेष्वग्निरमृतो नि धायि। इयर्ति धूममरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन्।"

६ ऋ० १०.८७.२३. "अग्ने तिग्मेन शोचिषा तपुरग्राभिर्ऋष्टिभिः।"

७. तपस्

निघण्टुकोष के ज्वलद्वाचक गण में 'तपस्' पद परिगणित है।[१] तपस् का वर्णन करता हुआ शतपथ-ब्राह्मण कहता है:-''**संवत्सरो वाव तपो नवदशस्तस्य द्वादश मासाः षड् ऋतवः संवत्सर एव तपो नवदशस्तद्यत्तमाह तप इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि तपति**''[२] कि संवत्सर ही १९ प्रकार का तप है:- उसके १२ मास, ६ ऋतुएँ और एक संवत्सर है। यह संवत्सर सबको तपाता है, इसलिये यह 'तपस्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'तप्' धातु से 'तपस्' रूप उपपन्न होता है

काठक-संहिता कहती है:-''**अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रतितप**''[३] कि अग्नि के ताप को तपना अर्थात् सहन करना तप है। इस पक्ष में भी पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् ज्वलद्वाचक 'तपस्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**तपः (ज्वलतो नामधेयम्)। 'तप' सन्तापे' अथवा 'तप' दाहे'। तपतीति शरीरादि**''[४] कि शरीरादि को सन्तापित करने के कारण प्रज्वलित अग्नि को 'तपस्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'तप्' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'तपस्' रूप सिद्ध होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष तथा ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'तपस्' पद को 'तप्' धातुमूलक मानते हैं।[५] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं वाजसनेयि-संहिता में यह पद उष्ण, ताप के अर्थ में आया है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में यह पद धार्मिक अनुष्ठान, शारीरिक आत्मदमन, तपस्या, कठोर समाधि, विशेष प्रथा का अनुपालन अर्थ में है। वाजसनेयि-संहिता, तैत्तिरीय-संहिता एवं शतपथ-ब्राह्मण में यह पद शरद् ऋतु और वसन्त के बीच में आने वाले मास का नाम है।[६] वेद से प्राप्त सङ्केत 'तपस्' का मूल 'तप्' धातु मानते हैं।[७]

वैदिक साहित्य में 'तपस्' पद का व्यापक रूप से उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि हे अत्यन्त तप्त अग्ने! तप से अविनाशी और अपने वर्षकरूप से शत्रुओं को तपाओ अर्थात् उनका दहन कर दो।[८] सुपर्ण काण्व ऋषि कहते हैं कि यज्ञ का विस्तार करते हुए मेधावीजन जिस स्थान का निर्माण करते हैं, मैं तप से उनका साक्षात्कार कर सकूँ, ऐसा अनुग्रह करो।[९] भर्ग प्रागाथ ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! दान

---

१ निघ० १.१७.७.

२ शत०ब्रा०, ८.४.१.१४.

३ काठ०सं० ६.९.

४ निघ०वृ०, १.१७.७.

५ वै०पद०को०, पृ० १४६४. ऋ०वै०पद०, पृ० २२७.

६ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ४३७.

७ ऋ० ६.५.४; १०.१६.४; १६७.१; यजु०, १.१८. अथर्व०, २.१९.१; २०.१; २१.१; २२.१; २३.१; ३.१०.१२; ७.६१.१-२; ११.१.१६; १८.२.८.

८ ऋ० ६.५.४. ''तमजरोभिर्वृषाभिस्तव स्वैस्तपा तपिष्ठ तपसा तपस्वान्।''

९ ऋ० ८.५९.६. ''यानि स्थानान्यसृजन्त धीरा यज्ञं तन्वानास्तपसाभ्यपश्यम्।''

देने और अक्षय होने के कारण सात होता तेरी ही स्तुति करते हैं! हे अग्ने! तू तप के तेज से मेघ का नाश करता है और मनुष्यों के समीप स्थित होता है।[१] विश्वजित् ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! समस्त शत्रुओं एवं परुष वाक्य बोलने वालों को अपने तेज से भस्म कर दो।[२] यमी ऋषि कहती है कि जो तपस्वी, अपराजित और तप से स्वर्लोक प्राप्त करने वाले और महातपस्वी हैं, उनको तू प्राप्त कर।[३] विश्वामित्र और जमदग्नि ऋषि कहते हैं कि इन्द्र बहुसन्ततियुक्त धन देता है, वही ताप से तपाकर अन्तरिक्ष को प्रकाशित करता है।[४] प्रजापति परमेष्ठी ऋषि कहते हैं कि यह सारा संसार तुच्छ अन्धकार से आच्छादित था, उस समय वह एक तप के प्रभाव से प्रकट हुआ।[५] प्राजापत्य ऋषि कहते हैं कि हे यजमान! मैं यजमान पत्नी दीक्षारूप तप से पुनः उत्पन्न और यज्ञरूप तप से व्याप्त मन से तुझे देखती हूँ। इस लोक में सन्तति एवं धन में रमण करते हुए पुत्रादि रूप में उत्पन्न हो।[६] अघमर्षण मधुच्छान्दस ऋषि कहते हैं कि परमेश्वर के सर्वतो व्याप्त तप से ऋत और कार्यरूप प्रकृति उत्पन्न हुई और उसीसे प्रलयरूपी अन्धकारमयी रात्रि तथा अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ।[७] तप की महिमा का वर्णन करता हुआ तैत्तिरीयारण्यक कहता है कि तप से सृष्टि के आदि में देवता उत्पन्न हुए, तप से ही ऋषियों ने स्वर्लोक को प्राप्त किया और तप से शत्रुओं को दूर किया, तप में सब कुछ प्रतिष्ठित है, अतः, तप को परम (सर्वश्रेष्ठ) कहा जाता है।[८] काठक-संहिता कहती है कि तप यज्ञ का श्लेष्म है, जिस प्रकार रथ का श्लेष्म (Lubricant=स्नेहक) होता है, उसी प्रकार यज्ञ का भी श्लेष्म होता है। जो अतपस्वी होता है, उसका यज्ञ भी असंश्लिष्ट होता है। तपस्वी ही यज्ञ का संश्लेष करता है।[९]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह अग्नि का रूप 'तपस्' है, जो शत्रुओं को भस्म कर देता है, तप के प्रभाव से मेधावियों के द्वारा निर्मित स्थान का प्रत्यक्ष किया जा सकता है, अग्नि तप (उष्णता) के तेज (प्रभाव) से मेघ एवं समस्त शत्रुओं का नाश करता है, तप के प्रभाव से अपराजित, स्वर्लोक को प्राप्त और महातपस्वियों तक पहुँचा जा सकता है, तप के प्रभाव से इन्द्र अन्तरिक्ष को प्रकाशित करता है, प्रलयकाल में तप के प्रभाव से वह एक ब्रह्म अनेक रूपों में प्रकट होता है, तप का ही यह माहात्म्य

---

१ ऋ० ८.६०.१६. "सप्त होतारस्तमिदीळते त्वाग्ने सुत्यजमह्रयम्। भिनत्स्यद्रिं तपसा वि शोचिषा प्राग्ने तिष्ठ जनाँ अति।"

२ ऋ० ७.१.७. "विश्वा अग्नेऽप: दहारातीर्येभिस्तपोभिरदहो जरूथम्।"

३ ऋ० १०.१५४.२. "तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः। तपो ये चक्रिरे महस्ताँश्चिदेवापि गच्छतात्।"

४ ऋ० १०.१६७.१. "त्वं रयिं पुरुवीरामु नस्कृधि त्वं तपः परितप्याजयः स्वः।"

५ ऋ० १०.१२९.३. "तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्।"

६ ऋ० १०.१८३.१. "अपश्यं त्वं मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्। इह प्रजामिह रयिं रराणः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकाम।"

७ ऋ० १०.१९०.१. "ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः।"

८ तै०आ०, १०.६३.१. "तपसा देवा देवतामग्र आयन् तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन्, तपसा सपत्नान्प्रणुदामारातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्तपः परमं वदन्ति।"

९ काठ०सं० ३४.९. "तपो वै यज्ञस्य श्लेष्म, यथा वै रथस्य श्लेष्मैवं यज्ञस्य तपो योऽतपस्वी भवत्यसंश्लिष्टोऽस्य यज्ञस्तपस्वी स्याद्यज्ञमेव संश्लेषयते।"

है कि यजमान पुनः उत्पन्न होता है और उसकी पत्नी उसके पूर्वजन्म को देख पाती है, परमेश्वर के तप से ऋत (सृष्टि नियम) और सत्य (व्यक्त प्रकृति) प्रकट होते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि तप शत्रुओं का नाश करता है और उसी तप के बल से व्यक्ति नर से नारायण भी बन सकता है। मूलतः, तप का अग्नि से सम्बन्ध रहा है, अग्नि की उष्णता को सहन करना यह एक प्रकार का तप है और अग्नि के उपयोग से शत्रुओं को दहन करना यह दूसरे प्रकार का तप है। प्रथम तप में शरीर का तप है, जबकि द्वितीय प्रकार का तप अग्नि का तप अर्थात् प्रभाव है। अग्नि के ताप को सहन करने के समान विशिष्ट उद्देश्य के लिये साधनारूप तप का अनुष्ठान करना यह उक्त दोनों प्रकार की तपस्या से भिन्न तप है। वेद में विशेषरूप से इस तृतीय प्रकार के तप का उल्लेख हुआ है। इस तप के बल से व्यक्ति पुनर्जन्म की घटनाओं का प्रत्यक्ष कर सकता है तथा महातपस्वी तपस्या के बल से जिस स्थान को प्राप्त कर सके हैं, का भी इससे प्रत्यक्ष किया जा सकता है। इस प्रकार निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि वेद केवल अग्नि के ताप को ही तप नहीं मानता, वह आयुधरूप में अग्नि के उपयोग को भी तप कहता है और वहीं दूसरी ओर साधनारूप तपस्या का भी तप मानकर उल्लेख किया गया है। प्रथम दो तप जहाँ 'तपस्' के मुख्यावृत्ति के प्रयोग हैं, वहीं तृतीय प्रकार के तप को गौणीवृत्ति के आश्रय से 'तपस्' कहा गया है। प्रथम दो में ताप को सहन करना अपेक्षित है, जबकि तृतीय प्रकार के 'तपस्' में शीतलता-उष्णता, पाप-पुण्य आदि सभी प्रकार के द्वन्द्वों को सहन करना होता है। इन सबमें सहनशीलतारूप धर्म की समानता है। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि 'तपस्' पद का मूल 'तप्' धातु है।

८. तेजः

निघण्टुकोष के ज्वलद्वाचक गण में 'तेजस्' पद परिगणित है।[१] आचार्य देवराजयज्वन् 'तेजस्' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**तेजः (ज्वलतो नामधेयम्)। 'तिज' निशाने'। निश्यति तनूः करोति तमं पापं वा**"[२] कि यह तमस् या पाप को क्षीण करता है, अतः, यह 'तेजस्' कहलाता है। इस पक्ष में 'तिज्' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'तेजस्' रूप उपपन्न होता है।

(ख)"यद्वा, 'तेज' पालने'। तेजयति पालयति प्राणिनां प्रकाशप्रदानेन"[३] कि यह अग्नि प्राणियों को प्रकाश प्रदान करके पालन करता है, अतः, यह 'तेजस्' कहलाता है। इस पक्ष में 'तेज्' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'तेजस्' रूप उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष एवं ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'तेजस्' पद का मूल 'तिज्' धातु को मानते हैं।[४] मोनियर विलियम्स भी उक्त मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद (चाकू के) तीक्ष्ण किनारा, ज्वाला या रश्मियों के अग्रभाग या उपरिभाग, दीप्ति, उद्दीप्ति, चमक, प्रकाश, अग्नि के अर्थ में है।

---

१ निघ० १.१७.८.

२ निघ०वृ०, १.१७.८.

३ निघ०वृ०, १.१७.८.

४ वै०पद०को०, पृ० १४७६. ऋ०वै०पद०, पृ० २२९.

वाजसनेयि-संहिता तथा ऐतरेय-ब्राह्मण में आँखों की शुद्धता अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।[१]

वैदिक साहित्य में, विशेषरूप से वेदों में, 'तेजस्' पद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार वृषभ युद्ध के लिये सींगों को तीक्ष्ण करता है, उसी प्रकार भयङ्कर, बलवान्, प्रजाओं के लिये तापकारी इन्द्र तेज के लिये वज्र को तीक्ष्ण करता है।[२] एक अन्य सूक्त में आङ्गिरस सव्य ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार स्त्रियाँ पुष्पोपचय के लिये पर्वत की शिला पर आरूढ होती हैं, उसी प्रकार प्रवृद्ध, यज्ञ के पति, बलवान् इन्द्र को तेजस् अर्थात् स्तोत्र से प्राप्त करो।[३] उपर्युक्त मन्त्र की व्याख्या निम्नप्रकार भी की जा सकती है:-'वेनाः=स्त्रियाँ, दक्षस्य=कुशल, विदथस्य=ज्ञानवान् और, सहो न गिरिम्=पर्वत के समान बलवान्, पतिम्=पति को अपने तेज से प्राप्त करें अर्थात् उसके अनुकूल योग्यता अर्जित करें।' पराशर ऋषि कहते हैं कि नृपति (श्रेष्ठ पुरुष) में इच्छा की पूर्णता के लिये व्याप्त शुद्ध एवं दीप्त रेतस् रूप तेज गर्भस्थान में निषिक्त होता है।[४] विश्वामित्र ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार असि को उपयोग में लाने के लिये तीक्ष्ण किया जाता है, उसी प्रकार प्रजाओं का पालक, क्रान्तदर्शी यह अग्नि तीक्ष्ण अर्थात् सूक्ष्मरूप में उपयोग में लिये जाने पर मनुष्यों की इच्छाओं को पूर्ण करता है।[५] भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि हे राजमान जरारहित अग्ने! जिस प्रकार कुठार से काटकर वृक्ष को नीचे गिरा दिया जाता है, उसी प्रकार अपने तीक्ष्ण वज्र से शत्रुओं का संहार करो।[६] भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि हमारे गृहस्थ से सम्बन्धित पुत्रपशुधन आदि के कार्य परिपूर्ण हों और आप अपने तीक्ष्ण तेज से हमको भी तीक्ष्ण अर्थात् शिक्षित कीजिये।[७] एक अन्य मन्त्र में भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार की अयस् की धारा को तीक्ष्ण किया जाता है, उसी प्रकार यह अग्नि क्षेप्ता के समान ज्वाला को धारण करता हुआ और उसके प्रक्षेप से अपने तेज को तीक्ष्ण करता है।[८] यजुर्वेद में सविता ऋषि यज्ञ के प्रसङ्ग में कहते हैं कि यह देवयजनरूप यज्ञ तेजोरूप (प्रकाश), शुक्र (शुद्धि का हेतु), मोक्ष का दाता, देवताओं को प्रिय और अखण्डनीय है।[९] आभूति ऋषि कहते हैं कि ब्रह्म का क्षत्र और तेज इन्द्रियों को पवित्र करता है तथा आनन्द के लिये निकाला गया सोम सुन्दर क्रिया से पवित्र होता है।[१०] यजुर्वेद का ऋषि एक अन्य मन्त्र में कहता है कि हे अग्ने! आप तेजरूप हैं, मुझे तेज प्रदान कीजिये, आप वीर्यवान् हैं, मेरे में भी शक्ति का आधान कीजिये, आप बलस्वरूप हैं, मुझे बलवान् बनाओ, आप ओजरूप हैं, मेरे में भी ओज का आधान करो, आप मन्युरूप हैं, मुझे भी अपना मन्युरूप प्रदान करो, आप

---

१ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ४५४.

२ ऋ० १.५५.१. ''भीमस्तुविष्माञ्चर्षणीभ्य आतपः शिशीते वज्रं तेजसे न वंसगः।''

३ ऋ० १.५६.२. ''पतिं दक्षस्य विदथस्य नू सहो गिरिं न वेना अधि रोह तेजसा।''

४ ऋ० १.७१.८. ''आ यदिषे नृपतिं तेज आनट्छुचि रेतो निषिक्तं द्यौरभीके।''

५ ऋ० ३.२.१०. ''विशां कविं विश्पतिं मानुषीरिषः सं सीमकृण्वन्त्स्वधितिं न तेजसे।''

६ ऋ० ६.८.५. ''पव्येव राजन्नघशंसमजर नीचा नि वृश्च वनिनं न तेजसा।''

७ ऋ० १.५.१९. ''अस्थूरि नो गार्हपत्यानि सन्तु तिग्मेन नस्तेजसा सं शिशाधि।''

८ ऋ० ६.३.५. ''स इदस्तेव प्रति धादसिष्यञ्छिशीत तेजोऽयसो न धाराम्।''

९ यजु०, १.३१. ''तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि।''

१० यजु०, १९.५. ''ब्रह्म क्षत्रं पवते तेज इन्द्रियꣳ सुरया सोमः सुत आसुतो मदाय।''

सहिष्णु हैं, मुझमें सहिष्णुता का आधान करो।[१] तैत्तिरीय-ब्राह्मण कहता है कि लोक में स्थित तप तेज की प्रतिष्ठा है।[२] उक्त वक्तव्य को और अधिक स्पष्ट करता हुआ तैत्तिरीय-ब्राह्मण कहता है कि तेज तप में आश्रित है और यह समुद्र की प्रतिष्ठा है।[३] शतपथ-ब्राह्मण आज्य को तेज, शुक्र और अमृत कहता है।[४] तैत्तिरीय-संहिता कहती है कि प्रात:कालिक यज्ञ में आत्मा में तेज को धारण करना चाहिये।[५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वह अग्नि का रूप 'तेजस्' है, जिस पराक्रम के लिये इन्द्र अपने वज्र को तीक्ष्ण करता है, कान्तायें तेज से पति को प्राप्त करती हैं, यह शरीर में व्याप्त तेजस् ही रेतस्रूप में गर्भ में स्थापित होता है, अग्नि के तेज का उपयोग मनुष्य अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये करता है, यह तेज कुठार के समान शत्रुओं को धराशायी बना देता है, इस तीक्ष्ण तेज (विद्या) से शिक्षित होने की कामना की जाती है, अग्नि ज्वालाओं के माध्यम से अपने तेज को तीक्ष्ण करता है, देवयजन रूप यज्ञ को तेजोमय बताया गया है, ब्रह्म से क्षत्र तथा तेज से इन्द्रियाँ पवित्र होती हैं, तेजोरूपा अग्नि से तेजस्वी बनाने की यजमान प्रार्थना करता है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि वेद में तेजस् प्रमुखरूप से निम्न रूपों में अभिव्यक्त हुआ है:-१. पराक्रम, २. शारीरिक व आध्यात्मिक सौन्दर्य, ३. रेतस्, ४. अग्नि का वैज्ञानिक उपयोग, ५. आयुध, ६. विद्या, ७. शारीरिक बल, ८. यज्ञ, ९. अग्नि। उपर्युक्त प्रकारों के अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि जो आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक बल के रूप में प्राप्त होता है, वह अग्नि का रूप 'तेजस्' है। इसमें व्यक्ति और वस्तु में निहित क्षमता को बढ़ाया जाता है, यह एक प्रकार का परिष्कार है, जिससे व्यक्ति और वस्तु पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो जाते हैं। इस प्रकार निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि निहित शक्ति की अभिव्यक्ति तेजस् है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए तनूकरण अर्थ वाली 'तिज्' धातु से 'तेजस्' को व्युत्पन्न किया जा सकता है। तनूकरण का अर्थ होता है:- 'सूक्ष्मीकरण'। वस्तु सूक्ष्म होकर अधिक शक्तिशाली और प्रभावी बन जाती है। इस प्रकार जो सूक्ष्म होकर शक्तिशाली और प्रभावी रूप में प्रकट हो रहा है, वह 'तेजस्' है।

९. हर:

निघण्टुकोष के ज्वलद्वाचक गण में 'हरस्' पद परिगणित है।[६] आचार्य यास्क 'हरस्' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**हरो हरते:। ज्योतिर्हर उच्यते। उदकं हर उच्यते। लोका हरांस्युच्यन्ते। असृगहनी हरसी उच्येते**"[७] कि हरण करने के कारण ज्योति, उदक, लोक, रुधिर एवं रातदिन को 'हर:' कहा जाता है।

---

१ यजु०, १९.९. "तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेह्योजोऽस्योऽजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युर्मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि।"

२ तै०ब्रा०, ३.११.१.२. "तपोऽसि लोके श्रितम्। तेजसः प्रतिष्ठा।"

३ तै०ब्रा०, ३.११.१.३. "तेजोऽसि तपसि श्रितम्। समुद्रस्य प्रतिष्ठा।"

४ शत०ब्रा०, १.३.१.२८. "तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि (आज्य!)।"

५ तै०सं० ३.२.९.२. "तेज: प्रात:सवन आत्मन् दधीत।"

६ निघ० १.१७.९.

७ निरु० ४.१९.

इस पक्ष में 'हृ' धातु से 'हरस्' पद उपपन्न होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् प्रज्वलित अग्नि के वाचक 'हरस' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**हर: (ज्वलतो नामधेयम्)। 'हृञ्' हरणे'। हरति तम:**''[१] कि तमस् का हरण करने के कारण प्रज्वलित अग्नि को 'हरस्' कहा जाता है। इस पक्ष में 'हृ' धातु से औणादिक 'असुन्' प्रत्यय होकर 'हरस्' रूप निष्पन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'हरस्' पद को 'हृ' या 'घृ' या 'धृ' दीप्तौ' धातु से निष्पन्न भावपद मानता है। वाटरबुश (१.६८७.) 'हरस्' पद की ग्रीक में 'theros' तथा लैटिन में 'formus' से तुलना करते हैं।[२] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'हरस्' शब्द को अव्युत्पन्न मानती है।[३] मोनियर विलियम्स 'हृ' धातु को 'हरस्' शब्द का मूल मानते हैं। उनके अनुसार अथर्ववेद में यह पद पकड़, समझ अर्थ में आया है। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में यह पद अनावृष्टि, पेय, अर्थ में है। निघण्टुकोष में यह ज्वाला, अग्नि क्रोध अर्थ में भी पठित है।[४] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि भारोपीय भाषा में यह शब्द 'guher' उष्ण अर्थ में तथा ग्रीक में 'theros' ग्रीष्म ऋतु की उष्णता के अर्थ में है। वे उक्त यास्कीय निर्वचन को '**सर्वाणि नामान्याख्यातजानि**' सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं।[५] वेद से प्राप्त सङ्केत 'हरस्' पद को 'हृ' धातु से व्युत्पन्न करते प्रतीत होते हैं।[६]

वैदिक साहित्य में 'हरस्' पद का बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में दमन यामायन ऋषि प्रार्थना करते हैं कि प्रचण्ड तेज से तीव्र हुआ यह कठोर अग्नि इस जीव के शरीर को जलाता हुआ पुन: भस्मीभूत न करे अर्थात् बार-बार जन्म न लेना पड़े, इसलिये मोक्ष प्रदान करो।[७] पायु ऋषि कहते हैं कि वह अग्नि जन्तुओं के चर्म का भेदन करता है और हिंसनशील अग्नि के ताप से उन्हें मारता है।[८] इस क्रम में आगे ऋषि कहता है कि अग्नि उस राक्षस (रोगाणु) के पार्श्व में स्थित जन्तुओं को भी नष्ट करता है, वह तीन प्रकार से यातुधान (पीडादायक) जन्तु के मूल को काट देता है।[९] ऋषि पुन: कहता है कि यह अग्नि तीक्ष्ण होता हुआ ताप से पीडादायक जन्तुओं तथा उष्णता से राक्षस (रोगाणुओं) को मारता है।[१०] इस सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऋषि निर्देश देता हुआ कहता है कि जो वत्स की उदरपूर्ति किए विना गाय के दूध का हरण करता है, यह अग्नि (राजा) उनके शिरों को तेज से काट दे।[११] सूक्त के अन्त में ऋषि कहता है कि यह अग्नि अपने

---

१ निघ०वृ०, १.१७.९.

२ वै०पद०को०, पृ० ३५५४.

३ ऋ०वै०पद०, पृ० ६०५.

४ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १२८९.

५ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ९४.

६ अथर्व०, २.१९.२; २०.२; २१.२; २२.२; २३.२.

७ ऋ० १०.१६.७. ''नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधग्विधक्ष्यन् पर्यङ्खयाते।''

८ ऋ० १०.८७.५. ''अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरस हन्त्वेनम्।''

९ ऋ० १०.८७.१०. ''तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च।''

१० ऋ० १०.८७.१४. ''परा शृणीहि तपसा यातुधानान्पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि।''

११ ऋ० १०.८७.१६. ''यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसासि वृश्च।''

तेज से प्राणियों के हरणशील बल को नष्ट करता है। राक्षस (रोगाणु) और यातुधान (पीडादायक जन्तु) के बल को भङ्ग करता है।[१] चक्षुः सौर्य ऋषि कहते हैं कि हे सवितादेव! आपका तेज सैकड़ों यज्ञों को प्राप्त होता है और आप हमारे द्वारा प्रदत्त हवियों का सेवन करते हैं। ऐसे आप आयुध के साथ आने वाले शत्रु या विपत्ति से हमारी रक्षा करें।[२] यजुर्वेद में विरूप ऋषि कहते हैं कि हे अग्ने! अपने तेज से रोगों और शत्रुओं को दूर करो और वृद्धि को प्राप्त होते हुए हमें शतायुष करो और हममें अभिमान कभी न आये।[३] शतपथ-ब्राह्मण कहता है कि वीर्य का नाम 'हरस्' है। इस हरस् से इन्द्र ने असुर शत्रुओं को काट दिया।[४]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि अग्नि का वह रूप 'हरस्' है, जिससे शरीर भस्म हो जाता है, प्राणियों की हिंसा करने वाले अग्नि की ज्वाला का यह ताप है, यह अग्नि का वह तेज है, जिससे रोगाणुरूप राक्षसों तथा उनके समीप स्थित जन्तु नष्ट हो जाते हैं, यह अग्नि का तेज वत्स की उदरपूर्ति के विना गाय के दूध का हरण करने वाले के सिर को काट देता है, यह प्राणियों के बल का हरण करता है, सवितादेव का तेज सैकड़ों यज्ञों को प्राप्त होता है, अग्नि अपने तेज से रोगों और शत्रुओं को नष्ट करता है। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में प्रमुखरूप से दहन करने वाले अग्नि को 'हरस्' नाम से अभिहित किया गया है। यह 'हरस्' रूप अग्नि की हरणशीलता है कि वह कहीं शरीर का हरण करता है तो कहीं बल या किसी अङ्ग का। जहाँ तक चिकित्सा के रूप में प्रयुक्त होने वाली अग्नि का प्रश्न है, वेद रोगाणुओं और पीडादायक जन्तुओं को समाप्त करने की अग्नितापोपचारविधि को मानता है। आज का चिकित्सा विज्ञान भी ऐसी अनेक प्रकार की विधियों का प्रयोग करता है। इस विधि में भी रोगाणुओं का हरण अर्थात् उन्मूलन किया जाता है, हरणशीलता के कारण उक्त प्रकार की अग्नि 'हरः' नाम से अभिहित होती है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि उक्त प्रकार की अग्नि की एक सामान्य विशेषता उसका हरण करने का स्वभाव वाला होना है, अतः, 'हृ' धातु को 'हरस्' शब्द का मूल माना जा सकता है।

१०. घृणिः

निघण्टुकोष के ज्वलद्वाचक नामपदों 'घृणिः' पद परिगणित है।[५] आचार्य देवराजयज्वन् 'घृणिः' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**घृणिः (ज्वलतो नामधेयम्)। 'घृ' क्षरणदीप्त्योः'। जिघर्ति दीप्यते**"[६] कि प्रकाशनशील होने के कारण अग्नि को 'घृणिः' कहा जाता है। इस पक्ष में 'घृ' धातु से औणादिक 'नि' प्रत्यय होकर 'घृणिः' रूप उपपन्न होता है। यह उणादिकोष सम्मत व्युत्पत्ति है।[७]

---

१ ऋ० १०.८७.२५. "प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि विश्वतः प्रति। यातुधानस्य रक्षसो बलं वि रुज वीर्यम्।"

२ ऋ० १०.१५८.२. "जोषा सवितर्यस्य ते हरः शतं सवाँ अर्हति। पाहि नो दिद्युतः पतन्त्याः।"

३ यजु०, १३.४१. "परिवृङ्धि हरसा माभि मꣳस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः।"

४ शत०ब्रा०, ४.५.३.४. "वीर्यं वै हर इन्द्रोऽसुराणाꣳ सपत्नानाꣳ समवृङ्क्त।"

५ निघ० १.१७.१०.

६ निघ०वृ०, १.१७.१०.

७ उणा०, ४.५३. "घृणिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णयः।"

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'घृणिः' पद को आतप, दीप्ति वाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्त पद का मूल 'घृ' धातु है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची उक्त पद का समर्थन करती है।[२] मोनियर विलियम्स भी 'घृणिः' पद का मूल 'घृ' धातु स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद चमकने अर्थ में है। वाजसनेयि-संहिता में यह पद एक प्रकार का पशु है।[३]

वैदिक साहित्य में 'घृणिः' पद का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार घर्मार्त जन छाया में जाते हैं, उसी प्रकार हम हिरण्य के समान प्रदीप्त अग्नि के शरण में जायें।[४] सूनुरार्भव ऋषि कहते हैं कि यह अग्निदेवताओं की कामना से यज्ञ के लिये होता के द्वारा लाया जाता है। रथ (सूर्य) के समान दीप्तिमान् ऋत्विजों से परिवृत अग्नि स्वयं देवों को सूचित या प्राप्त करता है।[५] आदित्य ऋषि कहता है कि वायु कल्याणकर, अग्नि की दीप्ति मङ्गलमय तथा यज्ञवेदि की इष्टकायें कल्याण करने वाली हों।[६]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि अग्नि का वह रूप 'घृणिः' है, जो हिरण्य के समान और जिसका आश्रय हम घर्मार्त में छाया के समान प्राप्त करना चाहते हैं, इस घृणि (दीप्ति) से युक्त अग्निदेवों को सूचना देता है, यह घृणि (दीप्ति) मङ्गलमय है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यज्ञ की प्रज्वलित अग्नि को वेद 'घृणिः' नाम से अभिहित करता है। देवयजन की कामना से मनुष्य यज्ञाग्नि की शरण प्राप्त करना चाहता है, कल्याणकर यह अग्निदेवों का आवहन करती है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'घृ क्षरणदीप्त्योः' धातु को 'घृणिः' पद का मूल मान सकते हैं। इसका कारण यह है कि यज्ञ की प्रज्वलित अग्नि में घृत क्षरित होता है, अतः, उसको 'घृणिः' नाम से अभिहित किया जाना समीचीन है।

११. शृङ्गाणि

निघण्टुकोष के ज्वलद्वाचक नामपदों में 'शृङ्गाणि' पद परिगणित है।[७] आचार्य यास्क 'शृङ्ग' पद का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-"**शृङ्गं श्रयतेर्वा**"[८] कि सिर के आश्रय से रहने के कारण इन्हें 'शृङ्ग' कहा जाता है। इस पक्ष में 'श्रि' धातु से 'शृङ्ग' शब्द उपपन्न होता है।

(ख)"शृणातेर्वा"[९] कि इसके द्वारा हिंसा की जाती है, अतः, सींग को 'शृङ्ग' कहा जाता है। इस पक्ष में हिंसार्थक 'शृ' धातु से 'शृङ्ग' शब्द उपपन्न होता है।

---

१ वै०पद०को०, पृ० १२७४.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० १९९.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३७९.

४ ऋ० ६.१६.३८. "उपच्छायामिव घृणेरगन्म शर्म ते वयम्। अग्ने हिरण्यसंदृशः।"

५ ऋ० १०.१७६.३. "अयमु ष्य प्र देवयुर्होता यज्ञाय नीयते। रथो न योरभीवृतो घृणीवाञ्चेतति त्मना।"

६ यजु०, ३५.८. "शं वाता शः हि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः।"

७ निघ० १.१७.११.

८ निरु० २.७.

९ निरु० २.७.

(ग)''**शम्नातेर्वा**''[1] कि इससे वध किया जाता है, अतः, सींग को 'श्रृङ्ग' कहा जाता है। इस पक्ष में नैघण्टुक वधार्थक 'शम्' धातु से 'श्रृङ्ग' पद निष्पन्न होता है।

(घ)''**शरणयोद्गतमिति वा**''[2] कि यह रक्षा के लिये ऊपर उठा हुआ होता है, अतः, सींग को 'श्रृङ्ग' कहा जाता है। इस पक्ष में 'शरण+उद्गत' से 'श्रृङ्ग' पद निष्पन्न होता है।

(ङ)''**शिरसो निर्गतमिति वा**''[3] कि यह सिर से निकला हुआ होता है, अतः, सींग को 'श्रृङ्ग' कहा जाता है। इस पक्ष में 'शिरस्+निर्गत' से 'श्रृङ्ग' शब्द सिद्ध होता है।

आचार्य देवराजयज्वन् ज्वलद्वाचक 'श्रृङ्ग' शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं:-''**श्रृङ्गाणि (ज्वलतो नामधेयम्)। 'श्रृगि' शब्दे'। अत्र श्रृङ्गस्थानीयत्वाद् दीप्तय उच्यन्ते**''[4] कि शब्द करने के कारण श्रृङ्गस्थानीय अग्नि की ज्वालाओं को 'श्रृङ्ग' कहा जाता है। इस पक्ष में शब्दार्थक 'श्रृग्' धातु से 'श्रृङ्ग' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख)''**यद्वा, 'श्रिञ्' सेवायाम्', 'श्रृञ्' हिंसायाम्'। श्रितं हि तदाश्रितं मण्डले हिनस्ति तद् ग्रीष्मेण प्राणिनः**''[5] कि आश्रय लेने वाले प्राणियों को ग्रीष्म के द्वारा मुखमण्डल पर कष्ट पहुँचाने के कारण अग्नि को 'श्रृङ्ग' कहा जाता है। इस पक्ष में हिंसार्थक 'श्रृ' धातु से 'श्रृङ्ग' शब्द सिद्ध होता है। यह निर्वचन उणादिकोष सम्मत है।[6]

(ग)''**यद्वा, द्विधातुजं रूपम्। शरणाय हिंसायै गतं मस्तकादेरुद्गतमूर्ध्वगतमित्यर्थः। अथवा शरणं रक्षणं तदर्थमुद्गगतं रक्षति तत्**''[7] कि हिंसक प्राणियों के सिर के ऊपर यह उठा हुआ होता है, अथवा यह उन प्राणियों की रक्षा करने के लिये ऊपर निकला हुआ होता है, अतः, सींग को 'श्रृङ्ग' कहा जाता है। इस पक्ष में 'श्रृ' हिंसायाम्'+'गम्' इन दोनों धातुओं के संयोग से 'श्रृङ्ग' शब्द व्युत्पन्न होता है।

(घ)''**यद्वा, शिर उपपदे गमेः। प्राणिनस्तस्य निष्पत्त्यादिना शिरसो निर्गतमिति वा। शिरशब्दान्निर्गमेश्च श्रृङ्गम्, शिरस आदित्यान्निर्गतमित्यर्थः**''[8] कि प्राणी की निष्पत्ति के अनुकूल शिर से निकला हुआ होता है अथवा आदित्य के अग्रभाग से निकला हुआ होता है, अतः, रश्मियों को 'श्रृङ्ग' कहा जाता है। इस पक्ष में 'शिरस्+'गम्' से 'श्रृङ्ग' शब्द उपपन्न होता है।

वैदिक-पदानुक्रम-कोष 'श्रृङ्ग' पद को विषाण, रश्मि, शिखर प्रभृति तथा निघण्टु के अनुसार

---

१ निरु० २.७.

२ निरु० २.७.

३ निरु० २.७.

४ निघ०वृ०, १.१७.११.

५ निघ०वृ०, १.१७.११.

६ उणा०, १.१२६. ''श्रृणातेर्ह्रस्वश्च।''

७ निघ०वृ०, १.१७.११.

८ निघ०वृ०, १.१७.११.

ज्वालावाचक नामपद मानता है। उसके अनुसार उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।[१] ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची 'शृङ्ग' पद को अव्युत्पन्न मानती है।[२] मोनियर विलियम्स का मत है कि सम्भवतः, 'शृङ्ग' शब्द शिरस् और शीर्ष से सम्बद्ध है। उनके अनुसार ऋग्वेद में यह पद पशुओं के सींग, अनेक कार्यों में प्रयुक्त होने वाले सींग के अर्थ में है।[३] डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा का अभिमत है कि यास्क के प्रथम तीन निर्वचनों में से 'शम्' धातुमूलक निर्वचन स्पष्टरूप से असङ्गत है। वे कहते हैं कि भारोपीय भाषा में 'कृ' 'kere' सिर, शिखर अर्थ में है तथा गोथिक 'haurn' सींग अर्थ में ग्रीक 'keras' में सिर अर्थ में है। अतः, वे उक्त तीनों निर्वचनों को **'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि'** सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं। जबकि अन्तिम दो निर्वचनों के प्रथम भाग 'शिरस्' को उचित मानते हैं।[४] वेद से प्राप्त सङ्केत 'शृङ्ग' पद को 'श्रि' या 'शृ' धातु से व्युत्पन्न मानते प्रतीत होते हैं।[५]

वैदिक साहित्य में 'शृङ्ग' शब्द का अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद में उचथ्यपुत्र दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि यह बल के समान आचरण करता हुआ, धूमादि के विना केवल तेजोरूप से स्वशरीरभूत ज्वालाओं को पोषण करता है। जिस प्रकार किसी के भी वश में न आने वाला भयङ्कर मृग अपने सींगों को चलाता है, उसी प्रकार यह वश में न किया जाने वाला अग्नि ज्वालारूप शृङ्गों को अत्यधिक चलाता है।[६] दीर्घतमस् ऋषि कहते हैं कि अग्नि की शृङ्गरूप ज्वालायें अनेक स्थानों में स्थित हैं, यह वनों में पुष्टि प्राप्त करता हुआ विचरण करता है।[७] वामदेव ऋषि कहते हैं कि आदित्य की चार दिशायें ही चार सींग हैं, तीन वेद इसके तीन पाद हैं, दिन और रात ये दो इसके सिर हैं, सप्त रश्मियाँ ही इसके सात हाथ हैं, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक या ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त-इन तीन स्थानों से यह बँधा हुआ है, यह वृष्टि आदि के द्वारा गर्जना करता है। ऐसा महान् सूर्यरूप आत्मा नियन्ता के रूप में मनुष्यों में आविष्ट है।[८] कुमार आत्रेय ऋषि कहते हैं कि यह अग्नि अपने महान् तेज से प्रकाशित होता है और अपनी महिमा से सब पदार्थों को प्रकट करता है। इसके प्रज्वलित होने से दुःख देने वाली अदेवी माया दूर हो जाती है। इसके अतिरिक्त यह अपने शृङ्गस्थानीय ज्वालाओं को राक्षसों के विनाश के लिये तीक्ष्ण करता है।[९] प्रगाथपुत्र भर्ग ऋषि कहते हैं कि बल का पुत्र एवं सुन्दर दंष्ट्रा वाला यह अग्नि अपनी शृङ्गस्थानीय वश में न की जा सकने वाली ज्वालाओं को तीक्ष्ण करता है।[१०]

---

१ वै०पद०को०, पृ० ३१४६.

२ ऋ०वै०पद०, पृ० ५३२.

३ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १०८७.

४ दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क, पृ० ९२, ९९.

५ ऋ० ५.५९.३. अथर्व०, २.३२.६.

६ ऋ० १.१४०.६. ''ओजायमानस्तन्वश्च शुम्भते भीमा न शृङ्गा दविधाव दुर्गृभिः।''

७ ऋ० १.१६३.११. ''तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति।''

८ ऋ० ४.५८.३. ''चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश।''

९ ऋ० ५.२.९. ''वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महि त्वा। प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे।''

१० ऋ० ८.६०.१३. ''शिशानो वृषभो यथाग्निः शृङ्गे दविध्वत्। तिग्मा अस्य हनवो न प्रतिधृषे सुजम्भः सहसो यहुः।''

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि अग्नि का वह रूप 'शृङ्ग' है, जो शृङ्ग के समान अग्नि के ऊपर ज्वालारूप में स्थित होता है, जिस प्रकार वृषभ या सींग वाले पशु अपने सींग को चलाते हैं, उसी प्रकार अग्नि की ज्वालायें कम्पित होती हैं। वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह तथ्य पुष्ट हो जाता है कि मुख्यरूप से पशुशृङ्ग को 'शृङ्ग' कहा गया है, उसकी समता के आधार पर गौणीवृत्ति से किसी भी अन्य वस्तु के शिखर को 'शृङ्ग' अभिधान से अभिहित किया गया होगा। आचार्य यास्क के निर्वचनों से भी इस तथ्य को पुष्टि हो जाती है। ये शृङ्ग सिर के आश्रय से रहने वाले हों अथवा हिंसक प्राणियों से सुरक्षा करने के लिये प्रकृति ने इन्हें दिया हो या फिर ये शिर से प्रकट हुए हों, सभी निर्वचन पशु को ध्यान में रखकर कल्पित किये गये हैं। वेद भाष्यकार भी अग्नि के सन्दर्भ में 'शृङ्ग' शब्द का अर्थ 'शृङ्गस्थानीय ज्वालायें' कहकर व्याख्यान करते हैं। इस प्रकार निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि 'शृङ्ग' का मूल सम्बन्ध पशु और पशु के सिर से है, अतः, 'शिरस्+'गम्' से इसके व्युत्पन्न किये जाने की सम्भावना है।

वैदिक साहित्य में ज्वलद्वाचक नामपदों में अर्थभिन्नता

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के सप्तदश गण में निघण्टुकार ने एकादश ज्वलद्वाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	जमत् ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.१.	जिस प्रज्वलित अग्नि से देवता की स्तुति की जाती है और जो हवि का भोग करती है, वह अग्नि वेद में 'जमत्' है।	'जमु' अदने' धातु।
२.	कल्मलीकिनम् ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.२.	वेद में मल को दूर करने वाली अग्नि का नाम 'कल्मलीकिन' है।	'कल्'+मल'।
३.	जञ्जणाभवन् ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.३.	वेद में अपने तेज से वनस्पतियों को झुलसाने वाला अग्नि 'जञ्जणाभवन्' है।	प्रज्वलित अग्नि की ध्वनि की अनुकृति।
४.	मल्मलाभवन् ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.४.	प्रयोग उपलब्ध न होने से कुछ कहना सम्भव नहीं है।	सम्भवतः, प्रज्वलित अग्नि की ध्वनि को अनुकृति।
५.	अर्चिः ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.५.	उषा का प्रकाश और यज्ञ की ज्वालाओं को 'अर्चिः' नाम से कहा गया है। इन दोनों में पूजायोग्यतारूप समानधर्मता पायी जाती है।	'अर्च' पूजायाम् धातु।
६.	शोचिः ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.६.	वेद प्रचण्ड अग्नि को 'शोचिस्' नाम से अभिहित करता है। इस अग्नि में आलोक की अधिकता के साथ-साथ दहन करने की विशेष क्षमता होती है।	'शुच्' दीप्तौ' धातु।
७.	तपस् ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.७.	वेद केवल अग्नि के ताप को सहन करने को ही तप नहीं मानता, अपितु आयुधरूप में अग्नि के उपयोग को भी तप कहता है, वहीं साधनारूप तपस्या का भी तप मानकर उल्लेख किया गया है।	'तप्' धातु।

८.	तेजः ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.८.	१. पराक्रम, २. शारीरिक व आध्यात्मिक सौन्दर्य, ३. रेतस्, ४. अग्नि का वैज्ञानिक उपयोग, ५. आयुध, ६. विद्या, ७. शारीरिक बल, ८. यज्ञ, ९. अग्नि-इन उक्त रूपों में तेजस् का प्रयोग हुआ है। वस्तु और व्यक्ति में निहित शक्ति की अभिव्यक्ति 'तेजस्' है।	'तिज' निशाने' धातु।
९.	हरः ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.९.	प्रमुखरूप से दहन करने वाले अग्नि को 'हरः' नाम से अभिहित किया गया है। वैदिक चिकित्सा विज्ञान में रोगाणुओं को समाप्त करने की विधि 'हरः' है।	हरणशीलता रूप धर्म के कारण अग्नि को 'हरः' कहा जाता है।
१०.	घृणिः ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.१०.	देवयजन की कामना से मनुष्य यज्ञ की शरण में जाता है। यह यज्ञ की प्रज्वलित अग्नि वेद में 'घृणिः' नाम से अभिहित हुई है।	यज्ञ में घृत क्षरित होने के कारण 'घृ' क्षरणदीप्त्योः' धातु।
११.	शृङ्ग ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.११.	वेद में मुख्यरूप से पशुशृङ्ग को 'शृङ्ग' कहा गया है। उसकी समानता से किसी भी अन्य वस्तु के शिखर को 'शृङ्ग' कहे जाने की सम्भावना है।	सिर से उद्गत होने से 'शिरस्+'गम्'।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर ज्वलद्वाचक नामपदों को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है:- १. यज्ञाग्नि, २. चिकित्सा में उपयोग की जाने वाली अग्नि, ३. तपस्या, ४. विविध रूपों में प्रयोग की जाने वाली अग्नि। उक्त गण में निघण्टुकार ने यज्ञाग्नि से सम्बन्धित निम्न तीन नामपदों का परिगणन किया है:- **१. जमत्, २, अर्चिः, ३. घृणिः।** जमत् नामक अग्नि में देवता की स्तुति की जाती है। उषा का प्रकाश और यज्ञ की अग्नि की अर्चना की जाती है, इस कारण वेद इन्हें 'अर्चिः' कहता है तथा यज्ञाग्नि में धारारूप में घृत का उपयोग किया जाता है, इसलिये वह 'घृणिः' नाम से अभिहित हुई है। जिस अग्नि के ताप का चिकित्सा में प्रयोग होता है, वह **'हरः'** है। तपस्यामूलक दो शब्द हैं:-**१. तपः, २. तेजः।** अग्नि के ताप सहित अन्य सभी प्रकार की तपस्याओं को वेद 'तपः' कहता है। तपस्या के द्वारा वस्तु और व्यक्ति में निहित क्षमता की वृद्धि करना 'तेजः' है। अग्निवाचक तीन पद हैं:- **१. कल्मलीकिनम्, २. जञ्झणाभवन्, ३. शोचिः।** मल को शुद्ध करने वाली अग्नि 'कल्मलीकिन'; तेज से झुलसाने वाला अग्नि 'जञ्झणाभवन्' तथा प्रचण्ड अग्नि को 'शोचिः' कहा जाता है। प्रमाण के अभाव में **'मल्पलाभवन्'** के विषय में अभी कुछ कहना सम्भव नहीं है। पशुशृङ्ग के आधार पर अग्निशिखा को वेद **'शृङ्ग'** कहता है। इस प्रकार निघण्टुकार ने उक्त गण में विभिन्न अग्निरूपों का समावेश किया है।

एकादश अध्याय

उपसंहार

भारतीय मनीषा की सर्वोच्च प्रतिभा का प्रतिफलन वेद के रूप में हमें परम्परा से प्राप्त होता है। आचार्य यास्क कहते हैं कि साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने अपने परवर्ती पीढ़ी (असाक्षात्कृतधर्मा लोगों) को उपदेशपूर्वक मन्त्रविद्या प्रदान की और एक समय ऐसा आया कि जब लोग उपदेश ग्रहण करने में असमर्थ होगये, उस समय वेद और वेदाङ्गों का समाम्नान किया गया।[१] इस प्रकार निरुक्त और उसकी मूलभूत सामग्री के रूप में विद्यमान निघण्टुकोष पुरातन भारतीय मनीषा को उसके मूलरूप में समझने का एक महनीय प्रयास है। वेद कहता है कि जो इस वाणी के साथ सख्य स्थापित कर लेता है, वह गम्भीरतम विषयों में भी विचलित नहीं होता है तथा उसे याज्ञदैवत (विज्ञान और अध्यात्म) रूप फल की प्राप्ति होती है।[२]

प्राचीन भारतीय मनीषा शब्द को ब्रह्म मानकर उस पर विचार करती रही है। यजुर्वेद स्पष्टरूप से कहता है:-''**गोस्तु मात्रा न विद्यते**'' (यजु०,२३.४८.) कि शब्द ब्रह्म को सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है। उक्त अध्याय के एक अन्य मन्त्र में ऋषि कहता है:-''**ब्रह्मायं वाच: परमं व्योम**''(यजु०,२३.६२) कि यह वाक् परम व्योम अर्थात् परम ब्रह्म है। उक्त वेद वचनों से अनुप्राणित होकर, शब्द के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि कहते हैं:-''**एक: शब्द: सम्यग् ज्ञात: सुप्रयुक्त: स्वर्गे लोके कामधुग्भवति**'' (पस्पशाह्निकम्) कि सम्यक् ज्ञात और सुप्रयुक्त एक शब्द भी स्वर्गलोक में अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति करने वाला होता है। इस महावाक्य को चरितार्थ करने के लिये प्राचीन भारतीय मनीषियों ने सतत शब्दसाधना की है और वैदिक भावना को जीवित बनाये रक्खा है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय में परिगणित नामपदों को शोध का विषय बनाया गया है। उक्त शोध-प्रबन्ध ११ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में पृथिवी एवं हिरण्य वाचक नामपदों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उक्त अध्यायों का सार निम्न तालिका के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

पृथिवीवाचक

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के प्रथम गण में निघण्टुकार ने इक्कीस पृथिवीवाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

---

१ निरु० १.२०.

२ ऋ० १०.७१.५. निरु० १.२०. ''उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।''

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	गो पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१.	वेद अनेकशः पृथिवी को 'भूर्णिः' नाम से अभिहित करता है, इससे पृथिवी के गतिशील होने की पुष्टि होती है। इस प्रकार वेद में गतिशील होने के कारण पृथिवी को 'गो' नाम से अभिहित किया गया है।	गतिशील होने के कारण पृथिवी को 'गम्' या 'गा' धातु से व्युत्पन्न मानाा जा सकता है।
२.	ग्मा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.२.	वेद सर्वत्र द्यावापृथिवी के युग्म के समान 'ग्मः' और 'दिवः' के युग्म का प्रयोग करता है। इस प्रकार देवता के आलोक से आलोकित पृथ्वी वेद में 'ग्मा' नाम से अभिहित हुई है।	'ग्मा' पद 'गम्' धातु से व्युत्पन्न प्रतीत होता है।
३.	ज्मा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.३.	जिसमें प्राणी नानाविध कर्म में संलग्न रहते हैं, ऐसी पृथिवी वेद की दृष्टि में 'ज्मा' है। इसके अतिरिक्त ऋषि इसे सीमित मानता है।	गत्यर्थक 'जम्' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना है।
४.	क्ष्मा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.४.	वेद में 'क्ष्मा' ऐसी पृथिवी के रूप में चित्रित है, जो प्रजापति आदित्य रेत अथवा इन्द्र के उदक से सिञ्चित है तथा जो वनस्पतियों को दृढ़ता से धारण करती है।	उक्त गुणों वाली पृथिवी निवासयोग्य है, अतः, निवासार्थक 'क्षि' धातु से व्युत्पन्न करना उचित है।
५.	क्षा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.५.	'क्षा' वह पृथ्वी है, जिस पर उदक सङ्घात व्याप्त है, जहाँ पर कभी वृष्टि का अभाव नहीं होता और जो कभी भी अग्नि के कोप से वनस्पतिरहित नहीं होती। इस प्रकार अभावरहित होने से निवासयोग्य पृथ्वी 'क्षा' है।	निवासयोग्य होने योग्य होने के कारण 'क्षा' को 'क्षि' निवासे धातु से व्युत्पन्न किया जाना उचित है।
६.	क्षमा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.६.	मनुष्य के लिये आवश्यक सुखसुविधाओं से सम्पन्न, सुरिक्षत एवं वंशपरम्परा के पालन के अनुकूल पृथिवी वेद की दृष्टि में 'क्षमा' है।	रूप की दृष्टि से 'क्षम्' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से यह व्युत्पत्ति अस्वीकार्य है।
७.	क्षोणिः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.७.	वेद की दृष्टि में वह पृथिवी 'क्षोणिः' है, जिसमें वृद्धावस्था तक रहकर प्राणी उपभोग करते हैं, इस पर न क्रन्दन है और न रुदन। इस पर मरुत् (मनुष्य) जलधाराओं और सूर्य की शक्ति को सम्यक् धारण करते हैं।	क्षयण योग्य होने से यह पृथिवी 'क्षोणि' है। अतः, यह पद 'क्षि' धातुमूलक प्रतीत होता है।
८.	क्षितिः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.८.	वेद में वह पृथिवी क्षिति है, जिस पर मित्रावरुण (सूर्य और वायु) विजय दुन्दुभि बजाते हुए आते हैं। यहाँ प्रजा पुष्टि को तथा पापी पाप से मुक्त हो जाते हैं।	निवासयोग्य होने से पृथ्वी 'क्षिति' कहलाती है। अतः, निवासार्थक 'क्षि' धातु 'क्षितिः' पद का मूल है।
९.	अवनिः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.९.	अन्नादि की प्रचुरमात्रा होने से प्राणी का जीवन इस पर सुरक्षित है, यह नीड के समान समस्त प्राणियों की रक्षा करती है।	रक्षणार्थक 'अव्' धातु से 'अवनिः' रूप उपपन्न होता है।

१०.	उर्वी पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१०.	वेद में वह पृथ्वी 'उर्वी' है, जिसके उच्च प्रदेशों में सूर्य अपने अंश को स्थापित करता है और यह विशालता से सबको अपने अन्दर धारण करती है। इसके अन्तस् में रत्नादि निहित रहते हैं।	विशालता के कारण पृथ्वी को 'उर्वी' कहा जाता है। अतः, 'ऊर्णु' से 'उरु' और उससे 'उर्वी' रूप सिद्ध होता है।
११.	पृथिवी पृथिवीवाचक निघ०,१.१.११.	वेद पृथ्वी की प्रथम विशेषता विस्तृत होना मानता है। जिसमें अनेक पुर समाहित हो सकें, वह पृथ्वी है। इसके अतिरिक्त वेद पृथ्वी की एक विशेषता उसका गहरी होना मानता है। इसी कारण पृथ्वी रत्नादि तथा अन्य सम्पदा को धारण कर पाती है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'पृथ्वी' पद का मूल 'प्रथ्' धातु को माना जा सकता है।
१२.	मही पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१२.	वेद में इळा और सरस्वती के साथ 'मही' का प्रायः उल्लेख हुआ है। मातृभाषा, मातृसंस्कृति और मातृभूमि-इस प्रकार ये तीन देवियाँ हैं। वेद मातृभूमि को 'मही' नाम से अभिहित करता है।	महनीय होने के कारण मातृभूमि को 'मही' कहा जाता है। अतः, 'मह्' धातु को 'मही' पद का मूल माना जा सकता है।
१३.	रिपः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१३.	वेद गतिशील पृथ्वी को 'रिपः' नाम से अभिहित करता है। ऋषि इसकी गतिशीलता का प्रतिपादन करने के लिये इसके साथ 'वेः' का प्रयोग करता है। पर वेद में 'रिप्' धातु लीपने अर्थ में प्रयुक्त है।	लीपने अर्थ वाली 'रिप्' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना है। लीपी जाने के कारण पृथ्वी को सम्भवतः 'रिपः' कहा गया है।
१४.	अदितिः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१४.	वेद में अदिति का अनेक रूपों में उल्लेख हुआ है, पर पृथ्वी के सन्दर्भ में इसका प्रायः माता के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार माता के समान समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली पृथ्वी 'अदिति' है।	अपने में सब कुछ समाहृत कर लेने के कारण पृथ्वी को 'अदिति' कहा जाता है। अतः, 'आ+'दा' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है।
१५.	इला, इळा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१५.	वेद में जो मनुष्य को सभी आवश्यक उपकरण उपलब्ध कराती है, वह पृथ्वी 'इला' है। इसके अतिरिक्त इसका उपयोग देवता भी करते हैं। इस प्रकार यज्ञभूमि को वेद 'इडा' या 'इला' नाम से सम्बोधित करता है।	स्तुति किये जाने से यज्ञवेदि को 'इला' या 'इडा' कहा जाता है। अतः, स्तुत्यर्थक 'इड्' धातु से व्युत्पन्न है।
१६.	निर्ऋतिः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१६.	जिसमें वृद्धावस्था पूर्व शरीर का विसर्जन नहीं होता तथा सुन्दर स्वादिष्ठ भोजन भोग के लिये प्राप्त होते हैं, वह पृथिवी वेद में 'निर्ऋतिः' है। भोग और अपवर्ग इसकी अपनी विशेषतायें हैं।	प्राणियों के लिये रमणीय स्थान होने से यह पृथिवी निर्ऋतिः' है। अतः, 'निर्+'रम्' को 'निर्ऋतिः' का मूल मान सकते हैं।
१७.	भूः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१७.	वेद में 'भू' वह पृथ्वी है, जिससे भू से अग्नि को निमन्त्रण प्राप्त होते रहते हैं एवं इन्द्र इसका सम्राट् है। भू का विकास भूति के रूप में होता है और भूति ही प्रजापति है। भूतिरूप प्रजापति के प्रजनन कार्य को सम्पन्न करने के कारण पृथ्वी को भूः' कहा गया है।	व्यक्त अस्तित्व का आधार होने से यह 'भू' है, अतः, निर्विवादरूप से यह पद 'भू' धातुमूलक है।

१८.	भूमिः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१८.	जो समतल, विस्तृत, अपारा और जिससे नाना प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति होती है तथा जिसमें हल चलता हो। इस प्रकार माता के समान जिस पर चराचर का अस्तित्व निर्भर हो, वेद की दृष्टि में वह 'भूमि' है।	सम्पूर्ण प्राणी जगत् के अस्तित्व का आधार होने से पृथ्वी 'भूमिः' है। अतः, 'भू' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन प्रतीत होता है।
१९.	पूषा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१९.	वेद में पूषा वह पृथिवी है, जो नगरों को धारण एवं पोषण करती है, यह सेवन करने योग्य धन प्रदान करती है। अतः, प्राणियों को शारीरिक और आर्थिक पुष्टि प्रदान करने के कारण इसे पूषा नाम से अभिहित किया गया है।	पोषक होने से पृथ्वी को 'पूषा' कहा जाता है। अतः, 'पुष्' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है।
२०.	गातुः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.२०.	वेद में 'गातु' पद का मार्ग और पृथिवी दोनों अर्थों में उपयोग हुआ है। वह पृथिवी 'गातु' है, जो विद्वानों के उपयोग में लायी जाती है तथा अमृतत्व के उपायभूत स्तोत्र गाये जाते हैं। वह मार्ग 'गातु' है, जिसपर चलकर प्राणी ऊपर जाता है तथा जो बन्धन को खोलता एवं शान्ति प्रदान करता है।	स्तुति अर्थात् ज्ञान के मार्ग की ओर ले जाने वाला स्थान या मार्ग वेद की दृष्टि में गातु है। अतः, 'गा' स्तुतौ' धातु को उक्तपद को व्युत्पन्न करना उचित है।
२१.	गोत्रा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.२१.	वेद में वह पृथ्वी 'गोत्र' है, जहाँ उन्मुक्त वातावरण में गो समुदाय रहता है, एक प्रकार से बन्धनमुक्त गायों के चरने व ठहरने का स्थान गोत्र है। इस प्रकार यह स्वीकार किया जा सकता है कि 'गोत्र' वह भूमि' है, जो गायों के लिये संरक्षित की जाती थी।	घास और जल से रक्षा करने के कारण पृथ्वी को 'गोत्रा' कहा गया है। इसलिये 'गो+'त्रै' धातु 'गोत्रा पद का मूल प्रतीत होती है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि पृथ्वीवाचक गण में कुछ पद पृथ्वी की चरित्रगत विशेषता का प्रतिपादन करते हैं और कुछ केवल सीमित सन्दर्भ में प्रयुक्त हुए हैं। लेकिन निघण्टुकार ने उक्त गण में आदर्श शैली का निर्वाह किया है। यह गण अन्य गणों की अपेक्षा निर्दुष्ट एवं अन्य प्रकार के वर्ग-मिश्रण से रहित है।

हिरण्यवाचक गण

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के द्वितीय गण में निघण्टुकार ने १५ हिरण्य वाचक नामपदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	हेमन् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.१.	वेद हिरण्य के रूप को अग्नि के समान उज्ज्वल तथा पवित्र करने वाला बतलाता है। इस प्रकार जिसके सम्पर्क में आने से प्राणी पवित्र अर्थात् रोगमुक्त हो जाता है, वह 'हेम' है।	ध्वनिरूप की दृष्टि से 'हि' धातु को 'हेमन्' पद का मूल माना जा सकता है।

२.	चन्द्रम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.२.	वेद में चन्द्र को 'चर्षणिप्राः' अर्थात् तन-मन में बसने वाला कहा गया है। ऋषि एक मन्त्र में अश्व, गौ, चन्द्र और हिरण्य देने को कहता है। इससे यह सूचित होता है कि चन्द्र हिरण्य से पृथक् धातु है। सम्भवतः, चन्द्र के समान वर्ण वाली रजत धातु को वेद 'चन्द्र' नाम से अभिहित करता है।	रजत धातु कान्तिमय तथा आह्लादक होने से 'चद्' धातु से 'चन्द्र' पद को व्युत्पन्न करना समीचीन है।
३.	रुक्मम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.३.	वेद में 'रुक्म' विशेषरूप से वक्षःस्थल पर और गौणरूप से भुजा में धारण किये जाने वाले सुवर्ण आभूषण के लिये प्रयुक्त हुआ है।	प्रज्वलित अग्नि सुवर्ण की आभा के समान होती है, अतः निघण्टु की ज्वलत्यर्थक 'रुच्' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है।
४.	अयः हिरण्यवाचक निघ०,१.२.४.	वेद में अयस् (लोह) से निर्मित होने वाले हिरण्य को 'अयस्' नाम से अभिहित किया गया है।	'अय्' अथवा 'इण्' धातु से विकसित होने की सम्भावना है।
५.	हिरण्यम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.५.	वेद में रुचिकर लगने के कारण धातुविशेष को 'हिरण्य' नाम से कहा गया है। इस धातु का कलश के साथ विशेष सम्बन्ध है।	आकर्षक होने के कारण 'हिरण्य' पद के 'हृ' या 'हर्य्' धातु से व्युत्पन्न होने की संभावना है।
६.	पेशः हिरण्यवाचक निघ०,१.२.६.	निर्धनता को दूर करने और यज्ञ में काम आने वाला सुवर्ण का अभिधान 'पेशस्' है। सम्भवतः, रूप की अभिवृद्धि का माध्यम होने से हिरण्य को 'पेशस्' कहा गया होगा।	'पिश्' धातु।
७.	कृशनम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.७.	वेद में 'कृशन' को नक्षत्र के समान कान्ति तथा हिरण्य की कान्ति को शान्त करने वाला माना गया है। इस आधार पर यह प्रतीत होता है कि वेद में 'कृशन' पद मुक्ता अर्थ का वाचक है।	'कृश्' दीप्तौ धातु।
८.	लोहम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.८.	लोहित वर्ण के आधार पर यह माना जा सकता है कि वेद में लोह हिरण्यवाचक नहीं है। सम्भवतः, 'लोह' पद अपरिष्कृत या हीनकोटि के लोह के लिये प्रयुक्त है।	'लुह्' ञ(रुह्) धातु। अन्य धातुओं की अपेक्षा अधिक वृद्धिशील होने के कारण उक्त व्युत्पत्ति समीचीन है।
९.	कनकम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.९.	वेद में 'कनक' पद अप्रयुक्त है। अतः, उसके विशिष्ट स्वरूप का निर्धारण करना सम्भव नहीं है।	कान्तिवाचक 'कन्' धातु।
१०.	काञ्चनम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.१०.	वेद में अप्रयुक्त रहने के कारण 'काञ्चन' के विशिष्ट स्वरूप का निर्धारण करना सम्भव नहीं है, परन्तु धातु के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि आभूषण के काम आने वाला सुवर्ण काञ्चन है, लेकिन शब्द का ध्वनिरूप वर्तमान में प्रचलित 'काँच' का सङ्केत देता है।	दीप्ति और बन्धन अर्थ वाली 'कञ्च्' धातु।

११.	भर्म हिरण्यवाचक निघ०,१.२.११.	वेद में 'भर्म' पद भरण–पोषण अर्थ में आया है। उक्तपद सुवर्ण या किसी अन्य धातु के अर्थ में प्रयोग होता दिखायी नहीं देता है। एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि भृति में दिया जाने वाला सुवर्ण 'भर्म' हो, परन्तु यह अभी कल्पना मात्र है।	'भृ' धारणपोषणयो:' धातु।
१२.	अमृतम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.१२.	ऋग्वेद में 'अमृत' पद हिरण्यवाचक नहीं है, लेकिन अथर्ववेद एवं ब्राह्मण में यह निश्चितरूप से हिरण्यवाचक है। यहाँ हिरण्य की 'अमृत' के रूप में प्रतिष्ठा हो गयी थी और उसके औषधीय गुणों का पहिचान लिया गया था।	'न+'मृ' धातु से।
१३.	मरुत् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.१३.	सम्भवत:, वेद में नदी से प्राप्त होने वाले सुवर्ण को 'मरुत्' नाम से अभिहित किया गया है। एक सम्भावना यह भी है कि अपने को सुवर्ण से मण्डित करने की अभिलाषा रखने करने के कारण मनुष्य 'मरुत्' नाम से अभिहित हुआ हो।	वेद से प्राप्त सङ्केतों के आधार पर सुखवाचक 'मृळ्' या हर्षार्थक 'मद्' धातु से व्युत्पन्न होने की अधिक सम्भावना है।
१४.	दत्रम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.१४.	सामान्य रूप से यह पद वेद में सुवर्ण का वाचक नहीं है। वेद दातव्य धन को 'दत्र' नाम से कहता है, परन्तु यह सम्भव है कि वैदिक काल में सुवर्ण धन का पर्याय रहा हो।	दानार्थक 'दा' धातु।
१५.	जातरूपम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.१५.	वैदिक साहित्य में 'जातरूप' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। अत:, प्रमाण के अभाव में इस विषय में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है।	'जात+रूप'।

हिरण्यवाचक गण

निघण्टुकार ने हिरण्यवाचक गण में १५ पद परिगणित किये हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हिरण्यवाचक वर्ग में परिगणित शब्दों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है:–१. सुवर्ण, २. रजत, ३. लोह, ४. मुक्ता, ५. आभूषण, ६. काँच, ७. अस्पष्ट शब्द। प्रथम सुवर्णवाचक वर्ग में निम्नपद हैं:–१. हेमन्, २. हिरण्य, ३. पेशस्, ४. भर्म, ५. अमृत, ६. मरुत्। द्वितीय रजत वाचक पद केवल 'चन्द्र' है। लोह धातुवाचक दो शब्द हैं:–१. लोह, २. अयस्। प्रथम पद अपरिष्कृत लोह का वाचक है, जबकि द्वितीय परिष्कृत लोह का। हिरण्यवाचक गण में मात्र 'कृशन' पद मुक्ता का वाचक है। उक्त गण में आभूषण के वाचक शब्द के रूप में 'रुक्म' का परिगणन निघण्टुकार ने किया है। प्राचीनकाल में सुवर्ण के आभूषणों के साथ काँच का भी प्रयोग होता था, सम्भवत:, इस कारण निघण्टुकार ने 'काञ्चन' शब्द का प्रयोग किया है। यह तथ्य उक्तपद की धातु से भी पुष्ट हो जाता है।

इसके अतिरिक्त हिरण्यवाचक गण में कुछ ऐसे शब्द परिगणित हो गये हैं, जिनके वैदिक साहित्य में उद्धरण प्राप्त नहीं होते हैं, जैसे–१. कनक, २. जातरूप। उक्तपदों के वैदिक साहित्य में उपलब्ध न होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि जिस साहित्य में उक्तपदों का प्रयोग था, वह आज अनुपलब्ध है। प्रमाण के अभाव में उक्तपदों का स्वरूप-निर्धारण सम्भव नहीं है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि निघण्टुकार ने हिरण्यवाचक गण में केवल सुवर्णवाचक

पदों का परिगणन नहीं किया है, अपितु उन्होंने उसमें अन्य धातुवाचक पदों का भी यथावसर समावेश किया है। यह सही है कि उक्त गण में प्रमुखता सुवर्ण वाचक पदों की है। लेकिन अन्य प्रकार के पद भी उसमें समाहित हैं, यह तथ्य अध्ययन के आधार पर स्वीकार किया जा सकता है।

द्वितीय अध्याय

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में अन्तरिक्ष, साधारण एवं रश्मिवाचक नामपदों का विस्तारपूर्वक विवेचन करने का प्रयास किया गया है। उक्त अध्याय में परिगणित नामपदों का सार निम्न तालिका के माध्यम से प्रस्तुत किया जा रहा है।

अन्तरिक्षवाचकगण

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के तृतीय गण में अन्तरिक्ष वाचक नामपदों में निघण्टुकार ने षोडश पदों का समाम्नान किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	अम्बरम् अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१.	निघण्टु के अनुसार 'अम्बर' पद अन्तरिक्षवाचक है और निर्वचन के आधार पर उक्त अर्थ की प्रतीति हो जाती है, परन्तु वैदिक उद्धरणों से उक्त वक्तव्य पुष्ट नहीं हो पाती है।	'अबिङ्' शब्दे' धातु।
२.	वियत् अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.२.	वेद में 'वियत्' पद के नामरूप का प्रयोग नहीं हुआ है। ब्राह्मण एवं अन्य लौकिक साहित्य में यह पद अन्तरिक्ष अर्थ में अवश्य आया है। निर्वचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिसमें जड़-चेतन जगत् अवकाश के कारण गतिशील रहता है, वह 'वियत्' है।	'वि' उपसर्गपूर्व वाली 'इ' धातु से। पदार्थों के गतिशील रहने के कारण अन्तरिक्ष 'वियत्' है।
३.	व्योम अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.३.	वेद में अन्तरिक्ष का वह स्वरूप 'व्योमन्' है, जिसमें सब स्थित हैं और जो सब में स्थित है।	व्यापन अर्थ वाली 'वि+'अव्' धातु से 'व्योमन्' पद उपपन्न करना समीचीन है।
४.	बर्हिः अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.४.	वेद में 'बर्हिस्' ऐसा अन्तरिक्ष है, जिसमें तीनों लोक, तीनों धातुएँ और आदित्य विराजमान हैं। यह एक ऐसा अन्तरिक्ष जिसमें वस्तुओं का आकार बढ़ता रहता है।	बृंहण अर्थ वाली 'बृंह्' धातु।
५.	धन्वः अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.५.	वेद में 'धन्वन्' शब्द अन्तरिक्ष के प्रदेश विशेष का वाचक प्रतीत होता है। जिसमें जलकण विद्यमान रहते हैं, वह प्रदेश 'धन्वन्' है।	'धन्व्' धातु।
६.	अन्तरिक्षम् अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.६.	वेद में 'अन्तरिक्ष' वह तत्त्व है, जो सबमें है और जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड स्थित है। 'अन्तर्' पद से यह प्रकट होता है कि वह सबका अन्तस् अर्थात् मूल है। यह एक तत्त्व जीवन और जगत् का आधार है।	'अन्तर्+'क्षि' निवासगत्योः' धातु।

७.	आकाशम् अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.७.	वेद में 'आकाश' पद का सर्वथा उल्लेख नहीं हुआ है। इतर वैदिक साहित्य में 'आकाश' वह तत्त्व है, जिसमे सूर्य आदि ग्रह प्रकाशित होते हैं। इन सबका प्रकाशित होने का स्थान होने से यह 'आकाश' कहलाता है।	'आ+'काश्' धातु।
८.	आप: अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.८.	वेद में 'आप:' का अन्तरिक्ष अर्थ में प्रयोग विरल हुआ है। 'आप:' की चरित्रगत विशेषता 'व्याप्त करना' उदक की अपेक्षा अन्तरिक्ष पर कहीं अधिक अच्छी प्रकार चरितार्थ होती है। सम्भवत:, मूलत:, यह अन्तरिक्ष वाचक नाम था, कालान्तर में समान विशेषता के कारण उदक को भी आप:' नाम से अभिहित किया गया होगा।	व्यापनशीलता के कारण 'आप्लृ' व्याप्तौ' धातु।
९.	पृथिवी अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.९.	वेद में अन्तरिक्ष अर्थ में 'पृथिवी' का विरल प्रयोग हुआ है। वेद प्रथित होने के कारण अन्तरिक्ष को 'पृथिवी' नाम से अभिहित करता है और उसको द्युलोक के अन्त तक विस्तृत बतलाता है।	विस्तृत अर्थ वाली 'प्रथ्' धातु से।
१०.	भू: अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१०.	वेद में अन्तरिक्ष अर्थ में 'भू:' पद का प्रयोग नहीं हुआ है। ब्राह्मणग्रन्थ से भी इसका समर्थन नहीं हो पाता है।	'भू' धातु।
११.	स्वयम्भू: अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.११.	वेद में 'स्वयंभू:' पद का प्राय: परमात्मा के सन्दर्भ में उल्लेख हुआ है। केवल एक स्थान पर यह 'मन्यु' के लिये आया है। अन्तरिक्ष अर्थ में उक्तपद का सर्वथा प्रयोग नहीं हुआ है।	'स्वयम्+'भू'।
१२.	अध्वा अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१२.	वेद में 'अध्वा' पद अन्तरिक्ष के मार्ग को प्रतिपादित करता प्रतीत होता है। सम्भवत:, यह ग्रह, नक्षत्रों के परिक्रमा पथ के लिये प्रयुक्त होता रहा है। यह पथ पर भटकने वाला को खा जाता है।	भक्षण अर्थ वाली 'अद्' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है।
१३.	पुष्करम् अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१३.	जिस अन्तरिक्ष में सूर्य, वायु और उदक विद्यमान हैं, वह वेद की भाषा में सबका पोषण तथा धारण करने की सामर्थ्य वाला होने से 'पुष्कर' है।	'पुष्' पुष्टौ' धातु।
१४.	सगर: अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१४.	वेद में वह अन्तरिक्ष 'सगर' है, जिसमें समस्त मूर्त और अमूर्त जगत् लय हो जाता है। इस प्रकार निगीरण की सामर्थ्य से युक्त अन्तरिक्ष सगर है। विज्ञान की भाषा में सम्भवत: इसीको black whole कहा गया है।	'गॄ' निगरणे' धातु।
१५.	समुद्र: अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१५.	वेद में 'समुद्र' पद पृथिवी और अन्तरिक्ष दोनों स्थानों के जलभण्डारों के लिये हुआ प्रतीत होता है। समुद्र में स्थित 'उत्' से यह सूचित होता है कि मूलत:, यह पद अन्तरिक्षवाचक रहा होगा। क्योंकि पृथिवीस्थ समुद्र की तुलना में अन्तरिक्ष उच्च है।	'सम+उत्+'द्रु'–। जिस उच्च स्थान पर भाप बनकर उदक दौड़ते हैं, वह अन्तरिक्ष 'समुद्र' है।
१६.	अध्वरम् अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१६.	अन्तरिक्ष का एक विशेष भाग 'बर्हिस्' है और उसका भी एक विशेषभाग वेद की दृष्टि में 'अध्वर' है। अन्तरिक्ष जिस प्रदेश विशेष में हिंसा वर्जित है, वह प्रदेश विशेष 'अध्वर' है।	'न+'ध्वृ' धातु। यज्ञ और अन्तरिक्ष दोनों 'अध्वर' हैं। दोनों में हिंसावर्जित होने की समानता है।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम अन्तरिक्षवाचक गण के नामपदों को निम्नप्रकार वर्गीकृत कर सकते हैं:-१. अन्तरिक्षवाचक, २. अन्तरिक्षस्थ प्रदेशविशेष के वाचक, ३. अन्तरिक्षीय मार्गवाचक, ४. वैदिक साहित्य में अप्रयुक्त। इसमें से प्रथम वर्ग में निम्न नामपद आते हैं:-**१. व्योम, २. बर्हिः, ३. अन्तरिक्षम्, ४. आपः, ५. पृथिवी, ६. पुष्करम्, ७. सगरः, ८. समुद्रः।** उक्त सभी पद निःसन्दिग्ध रूप से अन्तरिक्ष के विशेष वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करने के कारण अन्तरिक्षवाचक हैं। द्वितीय वर्ग में अन्तरिक्ष के प्रदेश विशेष की विशेषताओं का प्रतिपादन करने वाले शब्द परिगणित किये गये हैं, इस प्रकार के शब्द निम्न हैं:-**१. धन्वः, २. अध्वरम्।** इसके अतिरिक्त उक्त गण में पठित **'अध्वा'** पद अन्तरिक्ष के मार्ग का वाचक है। अन्य गणों के समान इस गण में निम्नशब्द ऐसे हैं, जिनके विषय में वैदिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं:-**१. अम्बरम्, २. वियत्, ३. आकाशम्, ४. भूः, ५. स्वयम्भूः।** अन्तरिक्षवाचक गण में १६ पद परिगणित हैं, उसमें से उक्त ५ पदों के विषय में प्रमाण के अभाव में अभी कुछ कहना सम्भव नहीं है।

निघण्टुकार ने जिस समय निघण्टु का परिगणन किया होगा, उस समय ये सभी शब्द वैदिक साहित्य, विशेष रूप से, वेदों में प्रयुक्त होते रहे होंगे। इससे यह सूचित होता है कि निघण्टुकार के काल में उपलब्ध साहित्य का लगभग २५ या ३० प्रतिशत भाग किसी न किसी कारण से लुप्त होगया है।

निघण्टु पदकोष की परिगणन शैली के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसका मुख्य उद्देश्य पर्यायवाची पदों का परिगणन करना नहीं है। उसमें ऐसे पदों का परिगणन किया गया है, जिनमें समानार्थकता केवल सीमित सन्दर्भ में ही ग्रहण की गयी है। उदाहरण के रूप में हिरण्य वर्ग में पठित पदों को लिया जा सकता है। इस वर्ग में परिगणित सभी शब्द हिरण्य वाचक न होकर धातुवाचक हैं, यही उनकी समानता का आधार है। यहाँ हिरण्य भी धातु है और चन्द्र तथा लौह भी धातुएँ हैं। इसी प्रकार की विशेषता के दर्शन अन्तरिक्ष वाचक पदों में भी होते हैं। यहाँ भी सभी शब्द अन्तरिक्षवाचक न होकर अन्तरिक्ष से सम्बन्धित विशिष्ट विशेषताओं का प्रतिपान करने वाले हैं।

साधारणनामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के चतुर्थ गण में निघण्टुकार ने साधारण वाचक षट् नामपदों का समाम्नान किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	स्वः साधारणवाचक निघ०,१.४.१.	वेद में 'स्वः' पद का स्वरूप बहुत स्पष्ट नहीं है। यह प्रकाश का लोक है और द्युलोक के ऊपर के भाग के लिये इसका व्यवहार हुआ है। इसमें प्रकाश की ज्योति के दर्शन होते हैं।	सम्भवतः, 'सु+'ऋ' धातु।
२.	पृश्निः साधारणवाचक निघ०,१.४.२.	वेद में 'पृश्नि' का सूर्य, अन्तरिक्ष और सूर्यों की माता के रूप में उल्लेख हुआ है। इसका द्युलोक और अन्तरिक्ष के लिये समानरूप से प्रयोग हुआ है, और यह	प्र+'अश्' सूर्य और अन्तरिक्ष की दृष्टि से तथा 'स्पर्श्' व्युत्पत्ति मरुतों की माता की

		समानरूप से मेघ और प्रकाश को प्राप्त करता है। लेकिन यह अन्तरिक्ष के लिये अधिक व्यवहृत हुआ है।	दृष्टि से उचित प्रतीत होती है। सम्भवतः ये दो भिन्न नामपद हैं।
३.	नाकः साधारणवाचक निघ०,१.४.३.	वेद में नाक मुख्यरूप से द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक के लिये प्रयुक्त हुआ है। द्युलोक के सन्दर्भ में यह उस लोक के सर्वोच्च भाग का अभिधान प्रतीत होता है। यह एक ऐसा स्थान है, जिसमें दुःख का लेश भी नहीं है।	'न+अक'। दुःखरहित स्थान।
४.	गौः साधारणवाचक निघ०,१.४.४.	वेद से किसी विशिष्ट चरित्र की प्रतीति नहीं हो पाती है। ब्राह्मणग्रन्थों तथा निरुक्त के आधार पर गतिशीलता को 'गौ' नामक द्युलोक की विशेषता स्वीकार किया जा सकता है।	'गम्' धातु।
५.	विष्टप् साधारणवाचक निघ०,१.४.५.	वेद में अन्तरिक्ष में स्थित समुद्र से ऊपर द्युलोक का एक स्थान 'विष्टप्' है, जिसे सूर्य के गृह के नाम से अभिहित किया गया है। यह आदित्य भी है और आदित्य लोक भी तथा यह जल के ऊपर विद्यमान समान योनि है।	व्याप्त्यर्थक 'विष्' धातु।
६.	नभः साधारणवाचक निघ०,१.४.६.	वेद में आदित्य, द्युलोक और अन्तरिक्ष का यह एक समान नाम है। यह जल की नाभि, जीवन रूपी अमृत को देने वाला, तैरने योग्य, अवकाश स्वरूप तथा प्रकाशमान है।	यह जीवनरूपी नाभि का केन्द्रबिन्दु होने से 'नह्' धातु से निर्वचन उचित है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि उक्त गण में परिगणित नाम समानरूप से आदित्य, द्युलोक और अन्तरिक्ष के लिये व्यवहृत होते हैं। इस दृष्टि से उक्तपदों का 'साधारण' नामकरण उचित माना जा सकता है। निरुक्तकार तथा उसके वृत्तिकार 'साधारण' का आशय आदित्य और द्युलोक ग्रहण करते हैं, परन्तु उक्तपदों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये पद अन्तरिक्ष के लिये भी प्रयुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त आदित्य और द्युलोक एकस्थानवाचक हैं अतः, साधारण नामपद कहना तभी सार्थक है, जब उक्तपदों को अन्तरिक्षवाचक भी माना जाये।

उक्त गण के परिगणन में, उस शिथिलता के दर्शन नही होते, जो निघण्टुकार की शैली की सामान्य विशेषता है। इस गण के सभी शब्द रूप आदि की दृष्टि से समीचीन प्रतीत होते हैं।

रश्मिवाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के पञ्चम गण में निघण्टुकार ने रश्मिवाचक षोडश नामपदों का समाम्नान किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	खेदयः रश्मिवाचक निघ०,१.५.१.	अन्धकार विनाशक और वर्षक रश्मियाँ वेद में 'खेदयः' नाम से अभिहित हुई हैं।	कष्ट पहुँचाने वाली 'खिद्' धातु।

२.	किरणा: रश्मिवाचक निघ०,१.५.२.	वेद में काँपने के स्वभाव वाली किरणों को 'किरण' कहा गया है। सम्भवतः, विक्षेप कम्पन रूप होता है।	विक्षेप अर्थ वाली 'कृ' धातु।
३.	गौ: रश्मिवाचक निघ०,१.५.३.	वेद में भूमिस्थ जलों का पान करने के लिये जाने वाली रश्मियाँ 'गौ:' नाम से अभिहित हुई हैं। इसके अतिरिक्त इनके रहने का स्थान विष्णुलोक बताया गया है।	गत्यर्थक 'गम्' धातु।
४.	रश्मय: रश्मिवाचक निघ०,१.५.४.	वेद रश्मि को सूर्य की केतु, अन्धकार विनाशक, कँपाने वाली और पवित्र मानता है। इसके अतिरिक्त वेद 'सप्त रश्मय:' का प्रयोग भी करता है। प्रकाश रूप में प्राप्त होने वाली रश्मियाँ सात हैं।	व्याप्ति अर्थ वाली 'अश्' या फिर बन्धनार्थक 'रश्' धातु।
५.	अभीशव: रश्मिवाचक निघ०,१.५.५.	वेद में 'अभीशु' पद अश्वरश्मि तथा सूर्यरश्मि दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जगत् पर शासन करने वाली रश्मियों को वेद 'अभीशु' नाम से कहता है।	'अभि+'ईश्'। अन्धकार का अपहरण करने में समर्थ।
६.	दीधितय: रश्मिवाचक निघ०,१.५.६.	वेद में सूर्यरश्मि अर्थ में यह अप्रयुक्त है। वेद इसे प्राण और बल की दात्री तथा दु:खों का नाश करने वाली के रूप में चित्रित करता है। इसको ऋषि विश्व द्वारा वरणीय भी बतलाता है।	रश्मि के सन्दर्भ में 'धीङ् आदाने' धातु उचित प्रतीत होती है।
७.	गभस्तय: रश्मिवाचक निघ०,१.५.७.	वेद 'गभस्ति' नाम की दो रश्मियाँ मानता है। उनमें से एक रस का आहरण करती है और दूसरी जल प्रदान करती है।	आहरण कर्म करने के कारण 'ग्रह्' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है।
८.	वनम् रश्मिवाचक निघ०,१.५.८.	वेद में 'वन' वे रश्मियाँ हैं, जो वरणीय अर्थात् सेवनीय हैं। सम्भवतः, उदक और अन्न की वृद्धि का कारण होने से ये 'वन' नाम से अभिहित हुई हैं।	'वन्' धातु।
९.	उस्रा: रश्मिवाचक निघ०,१.५.९.	वेद में 'उस्रा:' वे रश्मियाँ हैं, जो द्युलोक का मार्ग प्रशस्त करती हैं, रोग को दूर भगाती हैं तथा इनके आने से तीनों लोक प्रकट हो जाते हैं। इनकी सङ्ख्या ९१ है, इनसे ये लोक को आच्छादित करती हैं।	'वस्' धातु। लोक को आच्छादित या उसमें निवास करने के कारण उक्त धातु से निर्वचन समीचीन प्रतीत होता है।
१०.	वसव: रश्मिवाचक निघ०,१.५.१०.	भूलोक से देवलोक तक रहने वाले देव वेद में 'वसव:' हैं। ये रश्मिरूप में सुदानव, रोगापहारक, उदक धारण करने वाले एवं अभयज्योति प्रदान करने वाले हैं।	निवासार्थक 'वस्' धातु। ये वासक होने से 'वसु' कहलाते हैं।
११.	मरीचिपा: रश्मिवाचक निघ०,१.५.११.	वेद के अनुसार सुभव की प्राप्ति 'मरीचिपा' से होती है। सम्भवतः, अदिति के अष्टम पुत्र मार्तण्ड से सम्बन्धों के कारण रश्मियों को 'मरीचि' कहा गया है और सम्भवतः, इसी कारण से मरुत् का उक्त नाम प्रसिद्ध हुआ है।	'मृ'+'पा' इन दो धातुओं के संयोग से।
१२.	मयूखा: रश्मिवाचक निघ०,१.५.१२.	सृष्टिसृजनरूप कर्म करने वाली रश्मियों को वेद 'मयूख' नाम से अभिहित करता है।	प्रेक्षिपित होने के स्वभाव को देखते हुए प्रक्षेपण अर्थ वाली 'मि' धातु से व्युत्पन्न करना उचित है।

१३.	सप्तऋषयः रश्मिवाचक निघ०,१.५.१३.	वेद के अनुसार 'सप्तऋषयः' बृहस्पति की भीमा जाया को परम व्योम में कठिनाई से धारण करते हैं। ये रश्मियाँ आदित्यमण्डल में जाकर एक हो जाती हैं और ऋषि इनके अधिपति के रूप में विश्वकर्मा का उल्लेख करता है। लेकिन वेद प्रतिपादित अर्थ की प्रतीति शब्द से नहीं होती है।	शब्द का अर्थ है:-सर्पण करने वाली रश्मियाँ। इसके अनुसार 'सप्तन्+'ऋष् गतौ' धातु।
१४.	साध्याः रश्मिवाचक निघ०,१.५.१४.	साध्यों को वेद सृष्टि उत्पत्तिकालीन देवों के रूप में चित्रित करता है। ये साध्यदेव यज्ञपुरुष से उत्पन्न होते हैं और यज्ञीय हवि का भक्षण करते हैं। ब्राह्मण इसका सम्बन्ध सूर्य से मानते हैं। यास्क ने इन्हें द्युस्थानी माना है, पर रश्मिवाचक मानना सन्दिग्ध प्रतीत होता है।	कार्य को सिद्ध करने के कारण ये 'साध्य' कहलाते हैं। अतः, 'साध्' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है।
१५.	सुपर्णाः रश्मिवाचक निघ०,१.५.१५.	वेद में 'सुपर्ण' नामक आदित्यरश्मि प्राणप्रद, ऊपर से नीचे की ओर जाने वाली तथा चन्द्रमा के भीतर दौड़ने वाली है। उत्पतन अधःपतन इनकी प्रमुख विशेषता है	पालन करने के स्वभाव वाली होने से इनको 'पृ' पालनपूरणयोः' से धातु व्युत्पन्न करना समीचीन है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि उक्त रश्मिवाचक गण में निघण्टुकार ने १५ पदों का परिगणन किया है। इनको हम अध्ययन की दृष्टि से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं:-१. रश्मिवाचक नामपद, २. अन्यवाचक नामपद। वैदिक साहित्य के अध्ययन के आधार पर निम्न पदों को रश्मिवाचक माना जा सकता है:-१. **खेदयः**, २. **किरणाः**, ३. **गौः**, ४. **रश्मयः**, ५. **अभीशवः**, ६. **गभस्तयः**, ७. **वनम्**, ८. **उस्राः**, ९. **मरीचिपाः**, १०. **मयूखाः**, ११. **सप्तऋषयः**, १२. **सुपर्णाः**। शेष तीन अन्यवाचक नामपदों में '**दीधिति**' पद वेद में प्राण एवं बल की दात्री के रूप में चित्रित हुआ है। '**वसवः**' भूलोक और देवलोक के देव माने गये हैं, उनमें 'सूर्यरश्मि' को भी सम्मिलित किया जा सकता है। '**साध्याः**' वेद में सृष्ट्युत्पत्तिकालीन एवं द्युस्थानी देवों के रूप में चित्रित हुआ है।

इसके अतिरिक्त गठन सम्बन्धी विशेषताओं के ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि उक्तगण का गठन सामान्यरूप से मर्यादित है, रश्मिवाचक गण के सभी पद बहुवचनान्त पठित हैं, लेकिन 'वनम्' पद एकवचनान्त पठित है। केवल इस एक स्थान पर कुछ शिथिलता के दर्शन होते हैं। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि रश्मिवाचक नामपदों में कुछ पद ऐसे हैं, जो देवता वाचक हैं तथा शेष सामान्य पद हैं। कुछ को देवता मानना और शेष को न मानने का कारण अस्पष्ट है। सम्भवतः, कुछ पद अन्य पदों की अपेक्षा ऋषि की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण हैं।

तृतीय अध्याय

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में दिशावाचक एवं रात्रिवाचक नामपदों का परिगणन किया गया है। उक्त अध्याय का शोध सार निम्न तालिका के माध्यम से प्रस्तुत किया जा रहा है।

दिशावाचक नामपद

निघण्टुकोष के षष्ठगण दिशावाचक नामपदों में निघण्टुकार ने आठ पदों का समाम्नान किया है। उक्त

गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	आता: दिशावाचक निघ०,१.६.१.	वेद में 'आता:' पद द्युलोक की दिशाओं के लिये प्रयुक्त होता है। द्युलोक की दिशायें पृथिवीलोक की अपेक्षा विस्तृत होती हैं।	पृथिवी लोक की अपेक्षा द्युलोक के विस्तृत होने से विस्तारार्थक 'तन्' धातु।
२.	आशा: दिशावाचक निघ०,१.६.२.	वेद के ऋषि की दृष्टि में 'आशा' वे दिशायें हैं, जिनसे भय की प्राप्ति होती है, इसलिये वह बार-बार आशाओं से अभय की प्रार्थना करता है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि ऋषि को शून्य दिशायें भयप्रद दिखायी देती हैं।	'अश्' 'व्याप्तौ या 'अश्' भोजने' धातु।
३.	उपरा: दिशावाचक निघ०,१.६.३.	वेद में वे दिशायें 'उपर' हैं, जिनमें द्युलोक आदि समस्त लोक निवास करते हैं। इस प्रकार वेद में 'उपर' शब्द निकटता या दिशाओं की 'उच्च स्थिति' का बोध करा रहा है।	'उपर' शब्द की व्युत्पत्ति अस्पष्ट है। फिर भी सम्भावना यह है कि उक्तपद का 'उप' या 'उपरि' से सम्बन्ध है।
४.	आष्ठा: दिशावाचक निघ०,१.६.४.	'आष्ठा:' पद वेद और वैदिक साहित्य में अप्रयुक्त है।	'आ+'स्था'+क' से व्युत्पन्न किया जा सकता है।
५.	काष्ठा: दिशावाचक निघ०,१.६.५.	वेद में काष्ठा' वे दिशायें हैं, जिनमें दिशाओं के अन्तिम छोर को प्रतिबिम्बित किया जाता है।	'क्रम्'+'स्था' से व्युत्पन्न होने की सम्भावना क्षीण है।
६.	व्योम दिशावाचक निघ०,१.६.६.	वैदिक साहित्य में 'व्योम' पद का दिशा अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। लेकिन ब्राह्मण के एक उद्धरण से यह आभास मिलता है कि नीचे दिशायें 'व्योम' हैं।	'व्येञ्' संवरणे' धातु।
७.	ककुभ: दिशावाचक निघ०,१.६.७.	ऋग्वेद 'ककुभ' की सङ्ख्या आठ मानता है। इसके अतिरिक्त 'ककुभ' का सम्बन्ध सूर्य (वरुण, विष्णु) से है, सम्भवत:, इसलिये ऋषि इसका सम्बन्ध प्राची दिशा से मानता है। 'ककुभ' वे दिशायें हैं, जिनमें उच्चस्थ पदार्थों के आधार पर दिशा निर्धारित की जाती है।	'ककुभ' का सम्बन्ध 'ककुद' से प्रतीत होता है। ये दोनों समान मूल के प्रतीत होते हैं।
८.	हरित: दिशावाचक निघ०,१.६.८.	वेद आनन्द देने और रमणीय लगने वाली दिशाओं को 'हरित:' नाम से सम्बोधित करता है। इस प्रकार जिसमें मन रम जाता है, वे दिशायें 'हरित:' हैं।	रसहरण कर्म करने के कारण सूर्यरश्मियों को 'हरित:' कहा जाता है। अत:, 'हृ' धातु से व्युत्पन्न करना उचित है।

उपर्युक्त दिशावाचक गण में निघण्टुकार ने आठ पदों का परिगणन किया है। वैदिक साहित्य में उक्त गण के निम्नपद दिशावाचक अर्थ में प्रयुक्त हैं-**१. आता:, २. आशा:, ३. उपरा:, ४. काष्ठा:, ५.**

ककुभः, ६. हरितः। लेकिन उक्त गण के दो शब्दों में से '**आष्ठाः**' पद का वैदिक साहित्य में सर्वथा उल्लेख नहीं मिलता है, जबकि '**व्योम**' का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है, परन्तु दिशावाचक अर्थ का उदाहरण प्राप्य नहीं है। उक्तपदद्वय के परिगणन का आधार अस्पष्ट है। इस प्रकार निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि निघण्टुकार ने उक्तगण के परिगणन में विशेष शिथिलता का प्रदर्शन नहीं किया है।

रात्रिवाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के सप्तम गण में निघण्टुकार ने २३ रात्रिवाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	श्यावी रात्रिवाचक निघ०,१.७.१.	वेद में 'श्यावी' रात्रि के विलोम के रूप में 'अरुषी' पद का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त 'श्याव' और 'श्याम' ये दोनों शब्द समान मूल के हैं। अतः, 'श्यावी' पद कृष्णवर्ण की रात्रि का वाचक है।	'श्यै' धातु।
२.	क्षप, क्षपा रात्रिवाचक निघ०,१.७.२.	जिसमें अन्धकार और प्रकाश का मिश्रण है, ऐसी प्रभातकालीन रात्रि वेद में 'क्षपा' नाम से अभिहित हुई है। इसके अतिरिक्त इस रात्रि को वेद परिष्कृत और बल को देने वाली बतलाता है।	'क्षप्' धातु। अवसानोन्मुख रात्रि, जिसने अपने को समेटने का कार्य प्रारम्भ कर दिया है।
३.	शर्वरी रात्रिवाचक निघ०,१.७.३.	जिस समय आकाश में मेघ छाये होते हैं, उस समय की रात्रि वेद में 'शर्वरी' नाम से अभिहित होती हुई दिखायी देती है।	'शृ' हिंसायाम्' धातु।
४.	अक्तुः रात्रिवाचक निघ०,१.७.४.	जिसमें नक्षत्र चोर की तरह विचरण करते हैं, रात्रि की गहन कालिमा के कारण अग्नि का प्रकाश अधिक द्योतित होता है और जड-जङ्गम का भेद तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार की रात्रि 'अक्तुः' है।	कान्त्यर्थक 'अञ्ज्' धातु।। रात्रि के समय अग्नि की कान्ति चारों ओर विकीर्ण होती है।
५.	ऊर्म्या रात्रिवाचक निघ०,१.७.५.	इस 'ऊर्म्या' नामक रात्रि की कामना लोग करते हैं, यह लगे हुए घावों को ठीक करती है और इसकी समाप्ति उषस् प्रकट होने के साथ होती है। इस रात्रिकाल में सुख और ऐश्वर्य की तरंग उठती रहती है।	गत्यर्थक 'ऋ' धातु।
६.	राम्या रात्रिवाचक निघ०,१.७.६.	वैदिक साहित्य के आधार पर प्रभातकालीन रात्रि का नाम 'राम्या' है। यह वह रात्रि है, जिसमें साधक प्रभु से एकाकार होता है। निर्वचननकारों के मत में जिसमें स्त्री के साथ रमण किया जाता है, वह रात्रि 'राम्या' है।	'रम्' धातु।
७.	यम्या रात्रिवाचक निघ०,१.७.७.	वेद में दिवस की भगिनी रूपा रात्रि को 'यम्या' नाम से अभिहित किया गया है।	'यम्' धातु। यह प्राणियों को चेष्टा से उपरत कर देती है।

८.	नम्या रात्रिवाचक निघ०,१.७.८.	जो नमुचि (दुष्कर्म का परित्याग न करने वाले) के समान शय्या का परित्याग नहीं करने देती, वह रात्रि सम्भवतः, वेद में 'नम्या' है।	'न+'मुञ्च्' धातु।
९.	दोषा रात्रिवाचक निघ०,१.७.९.	दिवस के विलोम के रूप में प्रयुक्त होने वाली रात्रि वेद में 'दोषा' है। इसमें मनुष्य उन्नति के सोपान चढ़ता है।	'दुष' वैकृत्ये' धातु से सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। अभी अव्युत्पन्न मानना उचित है।
१०.	नक्ता रात्रिवाचक निघ०,१.७.१०.	कृष्णवर्ण की रात्रि, जिसमें अग्नि का प्रकाश दूर से दिखायी पड़ता है, वेद में 'नक्ता' मानी गयी है। इसमें नाना प्रकार के उत्पातों का भय बना रहता हे। दोषा के समान इसका प्रयोग भी 'दिवा' के साथ होता है।	'न+अक्त ('अञ्ज्' धातु)'।
११.	तमः रात्रिवाचक निघ०,१.७.११.	वेद में 'तमः' पद रात्रि का वाचक न होकर अन्धकार का वाचक है। यह अन्धकार कहीं रात्रि से तो कहीं मेघ के आच्छादित होने से है। वेद इस 'तमस्' को 'कृष्णतमस्' और 'अन्धतमस्' के नाम से अभिहित करता है।	विस्तार अर्थ वाली 'तन्' धातु।
१२.	रजः रात्रिवाचक निघ०,१.७.१२.	वेद में 'रजः' का रात्रि अर्थ सन्दिग्ध है। लेकिन यह अन्धकार का वाचक अवश्य है। निर्वचन की दृष्टि से कहा जा सकता है कि सबको अपने रंग में रंग लेने के कारण अन्धकार 'रजः' है।	'रञ्ज्' धातु।
१३.	असिक्नी रात्रिवाचक निघ०,१.७.१३.	'असिक्नी' वह रात्रि है, जिसमे प्रजा एकान्त में भोग्य पदार्थों का भोग करती है। यह रात्रि से मेघ से आच्छादित होने से अधिक अन्धकारमयी है। यह त्वचा के समान चारों ओर से व्याप्त कर लेती है।	यह पद 'सित' शब्द से विकसित हुआ प्रतीत होता है। 'न+सित'।
१४.	पयस्वती रात्रिवाचक निघ०,१.७.१४.	वेद में रात्रि या अन्धकार अर्थ में अप्रयुक्त है। सर्वत्र 'उदकवती' अर्थ प्राप्त होता है।	'प्या' धातु।
१५.	तमस्वती रात्रिवाचक निघ०,१.७.१५.	विस्तार के कारण जिसका ओर-छोर दिखायी नहीं पड़ता और जो अपने अन्धकार से सबको आवृत कर लेती है, वेद में वह रात्रि 'तमस्वती' है।	'तमस्+मतुप्'।
१६.	घृताची रात्रिवाचक निघ०,१.७.१६.	जिस रात्रि में घृत अग्नि में अर्पित किया जाता है और जिसके परिणामस्वरूप अपरिमित धन दान के रूप में प्राप्त होता है, वह रात्रि 'घृताची' है।	'घृत+'अञ्च्'।
१७.	शिरिणा रात्रिवाचक निघ०,१.७.१७.	वेद में 'शिरिणा' पद अन्धकार अर्थ का वाचक प्रतीत होता है, परन्तु विशिष्ट स्वरूप अभी अस्पष्ट है।	सम्भवतः, 'शृ' हिंसायाम्' धातु।
१८.	मोकी रात्रिवाचक निघ०,१.७.१८.	जब सवितादेव (सूर्य) संसार को रश्मियों से मुक्त करते हैं, वह स्थिति वेद में 'मोकी' नाम से अभिहित हुई है। कहने का आशय यह है कि जब सूर्य अस्त हो जाता है,	'मुच्' धातु।

		वह अन्धकारपूर्ण स्थिति वैदिक साहित्य में 'मोकी' है।	
१९.	शोकी रात्रिवाचक निघ०,१.७.१९.	वेद में उक्तपद अप्रयुक्त है।	'शुच्' शोके या 'शुच्' सन्तापे धातु अस्पष्ट।
२०.	ऊधः रात्रिवाचक निघ०,१.७.२०.	वेद में 'ऊधस्' वह रात्रि है, जिनमें रुद्र पृश्नि से मरुद्गणों को उत्पन्न करता है, इन्द्र के लिये सोम का अभिषवण होता है, जो ओस के बिन्दुओं से सिक्त होती है एवं धेनु के समान सुख प्रदान करने वाली है।	क्लेदनार्थक 'उन्द्' धातु।
२१.	पयः रात्रिवाचक निघ०,१.७.२१.	वेद के आधार पर 'पयः' को रात्रिवाचक नहीं माना जा सकता।	'प्या' धातु।
२२.	हिमा रात्रिवाचक निघ०,१.७.२२.	वेद में 'हिमा' का अर्थ रात्रि सन्दिग्ध है।	सम्भवतः, 'हन्' धातु।
२३.	वस्वी रात्रिवाचक निघ०,१.७.२३.	वेद में वह रात्रि 'वस्वी' है, जिसमें 'वसु' प्राप्ति के लिये कर्म किये जाते हैं, यह वह उषा वेला है, जिसमें रात्रि परमधनयुक्त दक्षिणा के समान होती है, यही वह समय है, जिसमें इन्द्र का प्रशस्त दान एवं अन्य अभीष्ट कामनायें पूर्ण होती हैं।	'वस्' धातु।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर रात्रिवाचक नामपदों को निम्नप्रकार वर्गीकृत किया जा सकता हैः- १. रात्रिवाचक, २. उषाकालीन रात्रिवाचक, ३. मेघाच्छादित रात्रिवाचक, ४. अन्धकारवाचक, ५. सन्दिग्ध, ६ अप्रयुक्त। प्रथम रात्रिवाचक वर्ग में निम्न १२ पद आते हैंः-**१. श्यावी, २. अक्तुः, ३. ऊर्म्या, ४. यम्या, ५. नम्या, ६. दोषा, ७. नक्ता, ८. असिक्नी, ९. तमस्वती, १०. घृताची, ११. मोकी, १२. ऊधः।** उषाकालीन या प्रभातकालीन रात्रि के वाचक निम्न ३ पद हैंः-**१. क्षपा, २. राम्या, ३. वस्वी।** मेघाच्छादित रात्रि का अभिधान करने वाला एकमात्र पद **'शर्वरी'** है। अन्धकार वाचक निम्न दो पद हैंः-**१. तमः, २.शिरिणा।** रात्रिवाचक गण में परिगणित निम्न ३ तीन पद ऐसे हैं, जिनका रात्रिवाचक अर्थ सन्दिग्ध हैः-**१. रजः, २. पयः, ३. हिमा।** इसके अतिरिक्त दो शब्द ऐसे हैं, जिनका वेद में प्रयोग नहीं हुआ है।

चतुर्थ अध्याय

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में उषा एवं दिवस वाचक नामपदों का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया है। उक्त अध्याय का शोध सार निम्नवत् हैः-

उषावाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के अष्टम गण में निघण्टुकार ने १६ उषावाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही हैः-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	विभावरी उषावाचक निघ०,१.८.१.	वेद में उषा विभा से युक्त, मरणधर्मरहिता, चित्रामघा तथा अन्धकार को दूर करने वाली है। यह स्तुति करने वालों के स्वधा की रक्षा एवं उन्हें श्री से युक्त करती है। इसके अतिरिक्त यह अनिष्ट स्वप्नों का नाश करने वाली भी है।	'वि+'भा'+'वृ' धातु।
२.	सूनरी उषावाचक निघ०,१.८.२.	वेद में 'सूनरी' उषा को योषा के समान जगत् का सम्यक् सम्पादन और व्यवस्थापन करने वाला बताया गया है।	सु+'नॄ' नये' धातु। सुन्दर प्रकार से नेतृत्व करने के कारण वह 'सूनरी' है।
३.	भास्वती उषावाचक निघ०,१.८.३.	वेद में उषा देवता का वह रूप 'भास्वती' है, जिसमें 'नेत्री' अर्थात् नेत्रों को पथ दिखाने की क्षमता हो। कहने का आशय यह है कि प्रकाश की इतनी मात्रा जिसमें सुगमता से मार्ग दिखायी दे जाये, 'भास्वती' है।	'भा' धातु।
४.	ओदती उषावाचक निघ०,१.८.४.	मन्त्र के आधार पर उषावाचक 'ओदती' का अर्थ 'उदित होती हुई उषा' है तथा उषा के साथ उदक का कोई सम्बन्ध नहीं है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'ओदती' को 'उद्+'इ' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन प्रतीत होता है।
५.	चित्रामघा उषावाचक निघ०,१.८.५.	उषा का वह रूप 'चित्रामघा' है, जिस काल में वह चित्र-विचित्र रश्मियों से समन्वित होकर पृथिवी का स्पर्श और स्तोताओं को धन प्रदान करती है।	'चित्र ('चिती संज्ञाने')+'मंह्' धातु।
६.	अर्जुनी उषावाचक निघ०,१.८.६.	'उषा' का शुभ्ररूप वेद में सम्भवतः, 'अर्जुनी' नाम से अभिहित हुआ है।	'अर्ज्' धातु।
७.	वाजिनी उषावाचक निघ०,१.८.७.	वेद से 'वाजिनी' का विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। 'वाज' का अर्थ 'अन्न' और 'बल' होता है, मन्त्र से उक्त अर्थ की प्रतीति होती दिखायी नहीं देती है। सम्भवतः, उषाकाल बल और बुद्धि को देने वाला है, इसलिये उषा को 'वाजिनी' कहा गया है, मात्र यह सम्भावना है।	'वज्' गतौ'=वाज, 'वाज+इनि'=वाजिनी'।
८.	वाजिनीवती उषावाचक निघ०,१.८.८.	वेद की दृष्टि में वह उषा 'वाजिनीवती' है, जिसमें सामर्थ्य और प्रेरणा को पाकर पक्षी अपने नीड का परित्याग कर देते हैं, जो हमें अन्न से संयुक्त एवं पुत्रादि का पालन करने के लिये चित्र-विचित्र धन प्रदान करती है।	'वाज+इनि=वाजिनी+ मतुप्=वाजिनीवती।
९.	सुम्नावरी उषावाचक निघ०,१.८.९.	वेद में वह प्रभातकालीन वेला 'सुम्नावरी' है, जिसमें साधक को ध्यान की स्थिति में सूनृता वाणी का साक्षात्कार होता है।	'सुम्न+'वृ' धातु।

१०.	अहना उषावाचक निघ०,१.८.१०.	वेद के अनुसार वह उषा 'अहना' है, जो प्रतिदिन प्रत्येक गृह में जाती है।	इस प्रकार वेद की दृष्टि में 'अहना' पद का मूल गत्यर्थक 'अह' धातु है।
११.	द्योतना उषावाचक निघ०,१.८.११.	वेद में उत्तम पदार्थों का सेवन कराने वाली उषा 'द्योतना' है, लेकिन निर्वचन के आधार पर दीप्तिरूप होने के कारण उषा 'द्योतना' कहलाती है।	'द्युत्' दीप्तौ' धातु।
१२.	श्वेत्या उषावाचक निघ०,१.८.१२.	एकमात्र मन्त्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि द्युतिमान् उषा 'श्वेत्या' है। निर्वचन को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि श्वेत होने के कारण उषा का नामकरण 'श्वेत्या' हुआ है।	'श्वित्' धातु।
१३.	अरुषी उषावाचक निघ०,१.८.१३.	वेद में शुभ्रवर्ण की लालिमा से युक्त उषा 'अरुषी' कहलाती है। इसके अतिरिक्त 'अरुषी' को ऋषि 'सप्तस्वसा' कहता है। इस प्रकार सप्तरश्मियों से जन्य प्रकाश भी 'अरुषी' है।	'न+'रुष्'।
१४.	सूनृता उषावाचक निघ०,१.८.१४.	वेद में 'सूनृता' पद का प्रयोग उषा के साथ अवश्य हुआ है, पर वह उषावाचक नहीं है। उषा के आगमन के साथ यह सम्पूर्ण जगत् जाग जाता है और उसके जागृत होने से उन्नति के पथ उद्घाटित होते हैं, ये उन्नति के स्वर ही वेद में सम्भवतः, 'सूनृता' नाम से अभिहित हुए हैं।	'सु+ऋत'।
१५.	सूनृतावती उषावाचक निघ०,१.८.१५.	'सूनृतावती' पद का अर्थ है:-'प्रिय और सत्य वाणी'। यह पद उषा के अतिरिक्त अश्विनीदेवों के लिये भी प्रयुक्त है।	'सूनृत+मतुप्'।
१६.	सूनृतावरी उषावाचक निघ०,१.८.१६.	सूनृत (प्रिय और सत्यद्ध वाणी से युक्त होने के कारण वेद में उषा देवता 'सूनृतावरि' नाम से अभिहित हुई है।	'सूनृत+'वृ' धातु।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम उषावाचक गण में पठित शब्दों को निम्न दो वर्गों में वर्गीकृत कर सकते हैं:-प्रकाश से सम्बन्धित उषावाचक पद तथा अन्य सम्बन्ध से उषा के लिये प्रयुक्त शब्द। प्रथम वर्ग में निम्नपदों को रख सकते हैं:-१. विभावरी, २. सूनरी, ३. भास्वती, ४. ओदती, ५. चित्रामघा, ६. अर्जुनी, ७. अहना, ८. द्योतना- ९. श्वेत्या, १०. अरुषी। कुछ पद उषा के लिये प्रयुक्त हैं, पर उनका सम्बन्ध प्रकाश से न होकर उषा की कुछ अन्य विशेषताओं से है:-१. वाजिनी, २. वाजिनीवती, ३. सुम्नावरी, ४. सूनृता, ५. सूनृतावती, ६. सूनृतावरी। इस प्रकार हम निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि इससे पूर्व के सभी गणों की तुलना में यह अधिक निर्दोष है।

दिवसवाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के नवम गण में निघण्टुकार ने १२ दिवसवाचक पदों का परिगणन

किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	वस्तोः दिवसवाचक निघ०,१.९.१.	जो दिवस वासयोग्य बन जाये और जिसमें सुख पूर्वक स्थित हुआ जा सके, वह वेद की दृष्टि में 'वस्तोः' है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'वस्तोः' पद का मूल निवासार्थक 'वस्' धातु प्रतीत होती है।
२.	द्यौः दिवसवाचक निघ०,१.९.२.	जिसमें अश्विनीदेवों की कृपा से दिवस तथा सूर्य की रक्षा एवं सौभाग्य प्राप्त कराने वाले धन की प्राप्ति होती है। इस काल में श्रेष्ठ धन प्राप्त होता है तथा जरावस्था में इन्हींके सुखावह होने की कामना की जाती है।	'दिव्' धातु।
३.	भानुः दिवसवाचक निघ०,१.९.३.	वेद में प्रायः इसका प्रकाश अथवा रश्मि के अर्थ में उल्लेख देखने को मिलता है। उषा के साथ जहाँ इसका प्रयोग हुआ है, वहाँ यह पद प्रायः प्रातःकालीन दिवस के रूप में है।	'भा' दीप्तौ' धातु।
४.	वासरम् दिवसवाचक निघ०,१.९.४.	ऋग्वेद के दो मन्त्रों में 'वासर' पद आया है। एक स्थान पर 'वासर' का अथ 'निवास' तथा द्वितीय स्थान पर 'दिवस' है। पर उक्तपद का मूल अर्थ 'बसाने वाला' है।	'ण्यन्त 'वस्' धातु।
५.	स्वसराणि दिवसवाचक निघ०,१.९.५.	वेद की दृष्टि में वे दिवस 'स्वसर' हैं, जिनके आने मात्र से प्राणी अपने आप कर्म में संलग्न हो जाता है।	'स्व+'सृ' धातु।
६.	घ्रंसः दिवसवाचक निघ०,१.९.६.	वेद में 'घ्रंस' वह दिवस है, जिसमें अश्विनीदेव हिम सदृश जल से दाहकता का निवारण करते हैं। ये सम्भवतः, निदाघ ऋतु के अवसान के समय आसन्न वर्षाकालीन निर्वात (उमस) युक्त दिवसों का नामकरण प्रतीत होता है।	'ग्रस्' या 'ग्रह्' धातु।
७.	घर्मः दिवसवाचक निघ०,१.९.७.	वह दिवस 'घर्म' है, जिसकी उष्णता से घृत का विलयन होने लगता है और जो मनुष्य के शरीर में से स्वेद प्रवाहित कर देता है। सङ्क्षेप में कह सकते हैं कि निदाघकालीन मध्याह्न का समय 'घर्म' है।	'घृ' क्षरणदीप्त्योः' धातु।
८.	घृणः दिवसवाचक निघ०,१.९.८.	वेद में मध्याह्नकालीन सुखकर दिवस 'घृण' माना गया हैं। सम्भवतः, यह शरद्कालीन दिवस का नाम है, क्योंकि इस ऋतु में आतप सुखकर लगता है।	'घृ' क्षरणदीप्त्योः' धातु से 'घृण' पद का निर्वचन करना समीचीन प्रतीत होता है।
९.	दिनम् दिवसवाचक निघ०,१.९.९.	वह दिन सुदिन है, जिसमें मनुष्य उन्नति के पथ पर आगे बढ़ता हुआ समृद्धि तथा सुख को प्राप्त करता है, जिस प्रकार दिवस में प्रकाश की मात्रा की अधिकता होती है,	'दो' अवखण्डने' धातु की अपेक्षा 'दिव्' धातु से व्युत्पन्न करना अधिक समीचीन प्रतीत

		उसी प्रकार जिसके जीवन में प्रकाश अधिक होता है, उस व्यक्ति का दिन सुदिन होता है।	होता है।
१०.	दिवा दिवसवाचक निघ०,१.९.१०.	वेद में इसका कोई स्पष्ट स्वरूप उभरकर नहीं आ पाया है। जिसमें प्रकाश की मात्रा अधिक है, वह दिन 'दिवा' है।	'दिव्' धातु।
११.	दिवेदिवे दिवसवाचक निघ०,१.९.११.	वेद में 'दिवेदिवे' प्रतिदिन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और प्रतिदिन सम्पन्न होने वाले लोक कल्याण के कार्य वेद में 'दिवेदिवे' के माध्यम से अभिव्यक्त हुए हैं।	'दिव्' धातु।
१२.	द्यविद्यवि दिवसवाचक निघ०,१.९.१२.	वेद में 'द्यविद्यवि' का विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया है। सम्भवत, यह भी दिवेदिवे' के समान प्रतिदिन का वाचक है।	'दिव्' धातु।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर दिवसवाचक पदों को निम्न रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है:- १. प्रकाश के अभिधायक होने से दिवसवाचक पद:-(क) **द्यौः**, (ख) **दिनम्**, (ग) **दिवा**। २. प्रातःकालीन वाचक पद:-(क) **भानुः**। ३. मध्याह्नकालीन दिवसवाचक पद:-(क) **घृणः**। ४. ग्रीष्म वाचकपद:- (क) **घ्रंसः**। ५. वास योग्य होने से दिवसवाचक पद:-(क) **वस्तोः**, (ख) **वासरम्**। ६. प्रतिदिन के वाचक पद:-(क) **दिवेदिवे**, (ख) **द्यविद्यवि**। ७. कार्य में संलग्न करने के कारण दिवस वाचक पद:-(क) **स्वसराणि**। इस प्रकार निघण्टुकार ने दिवसवाचक पदों के परिगणन में अनेक प्रकार के शब्दों का सफलता पूर्वक समाम्नान किया है।

पञ्चम अध्याय

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के पञ्चम अध्याय में मेघवाचक नामपदों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उक्त अध्याय का शोध सार निम्नवत् है।

मेघवाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के दशम गण में निघण्टुकार ने त्रिंशत् मेघवाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	अद्रिः मेघवाचक निघ०,१.१०.१.	वेद में वह मेघ 'अद्रि' है, जिससे वर्षकर्म सम्पन्न होने वाला होता है। सार रूप में कहा जा सकता है कि विदीर्ण होने की अवस्था को प्राप्त मेघ वेद की दृष्टि में 'अद्रि' है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'अद्रि' का मूल 'दृ' विदारणे' धातु प्रतीत होती है।
२.	ग्रावा मेघवाचक निघ०,१.१०.२.	वेद में वह मेघ 'ग्रावा' है, जो गर्जना करता हुआ वर्षणकर्म सम्पन्न करता है।	वेद की दृष्टि में 'ग्रावा' पद का मूल शब्दार्थक 'गॄ' धातु है।

३.	गोत्रः मेघवाचक निघ०,१.१०.३.	जब शरीर के अङ्गों से रस प्रवाहित होना प्रारम्भ होता है, उस निर्वातकाल में वर्षा करने वाले मेघ सम्भवतः वेद की दृष्टि में 'गोत्र' हैं।	उक्त अर्थ की प्रतीति किसी भी निर्वचन से होती दिखायी नहीं देती, फिर भी 'गो+'त्रा' वाली व्युत्पत्ति समीचीन प्रतीत होती है।
४.	वलः मेघवाचक निघ०,१.१०.४.	'वल' वह मेघ है, जो गायों (सूर्यरश्मियों) को आच्छादित कर लेता है। इसके अतिरिक्त इसमें व्रीह्यादि फल भी अपिहित रहते हैं।	उक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए संवरण अर्थ वाली 'वृ' अथवा 'वल' धातु।
५.	अश्नः मेघवाचक निघ०,१.१०.५.	वेद में वह मेघ 'अश्नः' है, जो मध्यमस्थानी आदित्य का भ्राता तथा आकाश को व्याप्त करने वाला है। इसके अतिरिक्त वह अपिहित स्वभाव वाला है।	'अश' व्याप्तौ' धातु।
६.	पुरुभोजाः मेघवाचक निघ०,१.१०.६.	जो पूर्ण या सब को भोजन प्रदान करने वाला है, वह मेघ वेद में 'पुरुभोजः' है।	'पुरु+'भुज्' धातु।
७.	वलिशानः मेघवाचक निघ०,१.१०.७.	वैदिक साहित्य में अनुपलब्ध है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
८.	अश्मा मेघवाचक निघ०,१.१०.८.	वेद में वे मेघ अश्मा हैं, जिनसे अग्नि या विद्युत् का जन्म होता है और जिनके अन्तस् में स्थित किरणों को इन्द्र प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त ये बहुत उच्चस्थान पर स्थित होने वाले मेघ हैं।	कोई भी निर्वचन बहुत समीचीन नहीं है। फिर भी 'अश' व्याप्तौ' धातु वाला निर्वचन किसी सीमा तक स्वीकार्य हो सकता है।
९.	पर्वतः मेघवाचक निघ०,१.१०.९.	वेद में मेघों का समूह पर्वत नाम से अभिहित हुआ है।	'पृ'=पर्व=पर्वत'।
१०.	गिरिः मेघवाचक निघ०,१.१०.१०.	वेद में वे मेघ गिरि हैं, जो उदक का दान नहीं करते हैं अथवा जो दान करने के स्थान पर उदक का शोषण कर लेते हैं।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए निगरणार्थक 'गॄ' धातु।
११.	व्रजः मेघवाचक निघ०,१.१०.११.	वेद का ऋषि 'व्रज' के साथ 'गो' का प्रायः प्रयोग करता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'व्रज' है, जो गायों के गमन को निरुद्ध करता है।	गत्यर्थक 'व्रज्' धातु।
१२.	चरुः मेघवाचक निघ०,१.१०.१२.	वेद में मेघ अर्थ में 'चरु' का प्रयोग हुआ है, पर विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया है।	'चर्' धातु।
१३.	वराहः मेघवाचक निघ०,१.१०.१३.	वह मेघ 'वराह' है, जिस परिपूर्ण उदक वाले मेघ (वराह) का इन्द्र भेदन करता है, ये वराह (मेघ) स्वर्णमयचक्र एवं अयोमय ऋष्टि से युक्त हैं, इन्द्र सरणशील उदकों में वज्र से इसी का वध करता है, इसकी प्राप्ति इन्द्र की कृपा से होती है।	'वर+आ+'हृ'।

१४.	शम्बर: मेघवाचक निघ०,१.१०.१४.	वेद इन्द्र द्वारा शम्बर के पुरों को विदारित किया जाना शम्बर की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता मानता है।	'शम्' धातु।
१५.	रौहिण: मेघवाचक निघ०,१.१०.१५.	वह मेघ 'रौहिण' है, जो रोहिणी नक्षत्र में उत्पन्न हुआ है। ऋग्वेद से प्राप्त सङ्केत तथा निर्वचन को ध्यान में रखकर कह सकते हैं कि जो आकाश में ऊपर उठने वाला मेघ है, वह 'रौहिण' है।	'रुह्' धातु।
१६.	रैवत: मेघवाचक निघ०,१.१०.१६.	वेद से स्वरूप स्पष्ट नहीं है। लेकिन फिर भी यह कहा जा सकता है। जो मेघ दान देने वाले धन से युक्त है, सम्भवत:, वह वेद की दृष्टि में 'रैवत' है।	'रा' दाने'=रै=रैवत:।
१७.	फलिग: मेघवाचक निघ०,१.१०.१७.	वह मेघ 'फलिग' है, जिसकी वर्षा से सस्यादि सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। कहने का आशय यह है कि जिससे फल की प्राप्ति होती है, वह मेघ वेद में 'फलिग' नाम से अभिहित हुआ है।	'फल्'+गम्' इन दोनों धातुओं के संयोग से।
१८.	उपर:, उपल: मेघवाचक निघ०,१.१०.१८.१९	वेद के अध्ययन से 'उपर' का कोई विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। सम्भवत:, यह लोक भाषा में प्रयुक्त होने वाला 'ऊपर' शब्द है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
१९.	चमस: मेघवाचक निघ०,१.१०.२०.	'चमस' वे मेघ हैं, जिनको ऋभुगण त्वष्टा देव की सहायता से खण्डित करते हैं। सम्भवत:, इसलिये ऋषि बार-बार इनके चतुर्धा विभक्त होने अर्थात् अन्तरिक्ष, वायु, अग्नि और भूमि में बँट जाने का उल्लेख करता है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'चमस' का 'चम्' धातुमूलक निर्वचन युक्तिसङ्गत माना जा सकता है।
२०.	अहि: मेघवाचक निघ०,१.१०.२१.	वह मेघ 'अहि' है, जो सर्वप्रथम (सृष्ट्युत्पत्ति के समय) उत्पन्न होता है, इस मेघ के वध से माया का नाश और उदक प्रवाहित होता है, इसका नाश करने के लिये त्वष्टा स्वयं वज्र का निर्माण करके इन्द्र को देता है।	उक्त विशेषता को ध्यान में रखते हुए 'अहि' का निर्वचन 'आ+'हन्' धातु से युक्तिसङ्गत माना जा सकता है। वेद से भी इस निर्वचन का समर्थन हो जाता है।
२१.	अभ्र: मेघवाचक निघ०,१.१०.२२.	जिस प्रकार ऋषि 'अहि' और 'वृत्र' का प्राय: सर्वत्र वध होते हुए दिखलाता है, वहाँ इसके विपरीत वह 'अभ्र' का स्वागत करता हुआ दिखायी देता है। स्वागतयोग्य मेघ 'अभ्र' है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'अप्+'भृ' निर्वचन सर्वाधिक सङ्गत निर्वचन प्रतीत होता है।
२२.	वलाहक:, बलाहक: मेघवाचक निघ०,१.१०.२३.	वेद में प्रमाण उपलब्ध न होने से उक्तपद के विषय में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट।
२३.	मेघ: मेघवाचक निघ०,१.१०.२४.	वह मेघ 'मेघ' कहलाता है, जिसके बरसने से अभीष्ट की पूर्ति होती है।	'मिह्' धातु।

२४.	दृतिः मेघवाचक निघ०,१.१०.२५.	वह मेघ 'दृति' है, जो अन्तरिक्ष के मध्य मधुरगुणयुक्त है, इसको पर्जन्य देव ऐसे उद्घाटित करते हैं, जैसे कोई चर्मनिर्मित उदक छिड़कने के पात्र को उद्घाटित करता है।	'दृ' विदारणे' धातु।
२५.	ओदनः मेघवाचक निघ०,१.१०.२६.	जो उदकदान की सामर्थ्य के कारण परिपक्व है, वह मेघ वेद की दृष्टि में 'ओदन' है।	'उन्द्' धातु।
२६.	वृषन्धिः मेघवाचक निघ०,१.१०.२७.	वेद में इसका स्वरूप स्पष्ट नहीं है।	'वृषन्+'धा'।
२७.	वृत्रः मेघवाचक निघ०,१.१०.२८.	'वृत्र' के चरित्र की प्रमुख विशेषता उसका वृत्रतर (आवरकतर) होना है, यह कार्य वह कभी अन्धकाररूप होकर और कभी उदकों को निरुद्ध करके सम्पन्न करता है।	इस विशेषता को ध्यान में रखते हुए आवरण अर्थ वाली 'वृ' धातु 'वृत्र' का मूल मानी जा सकती है।
२८.	असुरः मेघवाचक निघ०,१.१०.२९.	वेद में वह मेघ असुर है, जो अहिंसक रीति से उदक का दान करता है, जो बृहत् यश वाला एवं वायु और रश्मियों से वृद्धि को प्राप्त करता है, वह ऐसा मेघ है, जिसका उपभोग उससे प्राप्त होने वाले अन्न के माध्यम से सब करते हैं।	इस अर्थ को दृष्टि में रखते हुए प्राणार्थक 'असु' शब्द से 'असुर' व्युत्पन्न हुआ है, कहा जा सकता है। इस प्रकार 'असु' क्षेपणे' धातु 'असुर' पद का मूल है।
२९.	कोशः मेघवाचक निघ०,१.१०.३०.	ऋषि 'कोश' नामक मेघ को माधुर्यगुणयुक्त एवं कोशगार स्वरूप बतलाता है। कहीं ऋषि इस विशेषता को मधुकोश कहकर स्पष्ट करता है और कहीं मधुवर्ण कहकर प्रतिपादित करता है। इस प्रकार ऋषि कोश का सम्बन्ध मधु के साथ रेखाङ्कित करता है।	'कोश' के निधान या कोशागार स्वरूप को ध्यान में रखते हुए 'कुष्' धातु को 'कोश' का मूल स्वीकार किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि मेघवाचक गण में परिगणित ३० नामपदों में से निम्न ५ पदों के विषय में स्पष्टरूप से कह पाना सम्भव नहीं हो पाया है:-**१. चरुः, २. रैवतः, ३. उपरः, ४. उपलः, ५. ओदनः**। इसके अतिरिक्त **'वलिशानः'** तथा **'बलाहकः'** इन दो पदों का उल्लेख वेदों में नहीं हुआ है, अतः, इनका स्वरूप भी स्पष्ट करना सम्भव नहीं हो सका है। उपर्युक्त मेघवाचक गण में कहीं मेघ मनोहारी प्राणदाता और सुख सौभाग्य देने वाले के रूप में चित्रित हुआ है और तो कहीं आहन्ता स्वभाव के कारण प्राणहर्ता के रूप में वर्णन देखने को मिलता है। उक्त गण में परिगणित सभी पद मेघ का किसी न किसी रूप में उल्लेख करते हैं, जबकि अब तक इससे पूर्व के गणों में उक्त विशेषता के दर्शन नहीं होते थे।

षष्ठ अध्याय

निघण्टुकोष के षष्ठ अध्याय में वाग्वाचक नामपदों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। उक्त अध्याय का शोध सार निम्नप्रकार है:-

वाग्वाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के एकादश गण में निघण्टुकार ने सप्तपञ्चाशत् वाग्वाचक पदों का समाम्नान किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	श्लोक: वाग्वाचक निघ०,१.११.१.	वेद में वह वाक् 'श्लोक' है, जो मुख से मेघ की गर्जना के समान प्रकट होती है, यह श्लोकरूपा वाक् निर्बाध द्युलोक तक पहुँचती है, यह वह इन्द्र का स्तुतिरूप घोष है, जो द्युलोक में सुनायी पड़ता है।	'श्रु' श्रवणे' धातु।
२.	धारा वाग्वाचक निघ०,१.११.२.	वह वाक् 'धारा' कहलाती है, जो अद्भुत, परहित में निरत रहने वाली, विश्व का कल्याण करने में समर्थ तथा अमृत की धारा को प्राप्त कराती है। इस प्रकार सत्य विद्या को धारण करने वाली वाणी वेद के मत में 'धारा' है।	'धृ' धातु।
३.	इडा, इळा वाग्वाचक निघ०,१.११.३.	यज्ञकर्म या आध्यात्मिक साधना में प्रयोग की जाने वाली वाणी को वेद 'इडा' नाम से अभिहित करता प्रतीत होता है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए स्तुत्यर्थक 'ईड्' धातु को 'इडा' (इला) पद का मूल माना जा सकता है।
४.	गौ: वाग्वाचक निघ०,१.११.४.	वह वाक् 'गौ' है, जो मेघ पर स्थित होकर माध्यमिका वाक् के रूप में गर्जना करती है, यह गौ अनेकविधा है, अत:, ऋषि इसके रूप तथा प्रकार अनन्त बतलाता है, विद्वान् के द्वारा सर्वजन हिताय किया जाने वाला प्रयोग इसका सर्वोत्तम उपयोग है, यह गौ चार सींग, तीन पैर, दो सिर तथा सात हाथ वाली है।	'गम्' धातु।
५.	गौरी वाग्वाचक निघ०,१.११.५.	वह वाक् 'गौरी' है, जो स्वादयुक्त एवं मधुरगुण वाली है, यह वाक् अव्याकृत और व्याकृत दोनों रूपों का प्रतिनिधित्व करती है, व्याकृतरूपा होने पर यह व्याकरण के नियमों में आबद्ध होती है।	स्तुत्यर्थक 'गृ' धातु।
६.	गान्धर्वी वाग्वाचक निघ०,१.११.६.	वह वाक् 'गान्धर्वी' है, जो वर्षा ऋतु में गर्जना के माध्यम से उदक की प्राप्ति कराती है।	'गो+'धृ'।
७.	गभीरा वाग्वाचक निघ०,१.११.७.	वेद में 'गभीर' पद प्रमुखरूप से 'गहन' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसमें भी इसकी भूमिका प्राय: विशेषण की रही है। क्वचित् 'गम्भीर वाक्' अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है।	'गह्' धातु।
८.	गम्भीरा	सम्भवत:, मेघ गर्जना को ऋषि 'गम्भीरा' नाम से	सम्भवत:, गम्' धातु।

	वाग्वाचक निघ०,१.११.८.	सम्बोधित करता है, परन्तु पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। सामान्यरूप से यह 'गहन' का अर्थ का बोध कराता है।	
९.	मन्द्रा वाग्वाचक निघ०,१.११.९.	वेद में वह वाक् 'मन्द्रा' है, जो मनुष्य जीवन में मधुरता का रस घोल देती है, जो श्रवणीय होने के साथ-साथ आचरणीय भी होती है।	'मद्' धातु।
१०.	मन्द्राजनी वाग्वाचक निघ०,१.११.१०.	वैदिक भाषा में वह वाक् 'मन्द्राजनी' है, जो मति और मधु से सिक्त होती है।	'मन्द्र+'अज्' धातु।
११.	वाशी वाग्वाचक निघ०,१.११.११.	वेद में वह वाक् वाशी है, जो मरुतों (मनुष्यों) की शोभा है, इसी लोग ज्ञानी और मनस्वी हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त अग्नि के समीप उच्चरित होने वाली वाक् भी वेद की दृष्टि में 'वाशी' है। इसकी एक विशेषता इसका अमृत का मार्ग प्रशस्त करना बताया है।	उक्त अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में शब्दार्थक 'वाश्' धातु को 'वाशी' पद का मूल माना जा सकता है।
१२.	वाणी वाग्वाचक निघ०,१.११.१२.	यह सप्तछन्दरूपा वाक् है, जिसमें चारों वेद स्थित हैं, इस सात छन्दों वाली वाणी को ऋषि सनातन युवती के रूप में प्रतिपादित करता है, इसके सात द्वारों में सूक्ष्म पृष्ठ स्थित हैं, इससे सत्य ज्ञान का दोहन किया जाता है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट।
१३.	वाणीची वाग्वाचक निघ०,१.११.१३.	नासिका के माध्यम से प्रकट होने वाला सङ्गीतमय स्वर सम्भवतः, वेद की दृष्टि में 'वाणीची' है।	'वाण+'अञ्च्' धातु।
१४.	वाणः वाग्वाचक निघ०,१.११.१४.	प्रमुखरूप से वेद में धमन क्रिया के द्वारा बजाया जाने वाला वाद्ययन्त्र 'वाण' नाम से अभिहित हुआ है।	'वण' शब्दे' धातु।
१५.	पविः वाग्वाचक निघ०,१.११.१५.	वह वाक् 'पवि' है, जो पवित्र व्यवहार बनाये रखने में सहायक है, यह हितकारी वाक् वृष्टि जल की वृद्धि करने वाली है, यह कभी कुण्ठित नहीं होती और यह घृत अर्थात् स्नेह से युक्त होने से सर्वग्राह्य है। यह सम्भवतः, वह वाक् है, जो सभ्य समाज के व्यवहार का विषय बनती है।	इस दृष्टि से पवनार्थक 'पू' धातु को 'पवि' का मूल स्वीकार किया जा सकता है।
१६.	भारती वाग्वाचक निघ०,१.११.१६.	वह वाक् 'भारती' है, जिसमें प्राणों का होम किया जाता है। इस प्रकार यह वाक् वायु से जनित होने के कारण ध्वनिरूपा है और मनुष्य के व्यवहार का आधार है। इसलिये यह वरणीया और सुन्दर कर्मों को करने वाली बतायी गयी है।	भरण-पोषण वाली 'भृ' धातु।
१७.	धमनिः वाग्वाचक निघ०,१.११.१७.	वेद में 'धमनि' श्वासनलिका है, जो उच्चारणकाल में वायु के प्रभाव से फैल जाती है। यह शब्द की उत्पत्ति में सहायक होने से सम्भवतः, 'धमनि' को वाग्वाचक माना गया है।	'धम्' धातु।

१८.	नाली, नाळी वाग्वाचक निघ०,१.११.१८.	कतिपय वनस्पतियों के वृन्त मध्यगर्भयुक्त (पोले) होते हैं, सम्भवतः, इसलिये 'नाडी' पद नाली' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और इस (पोले होने की) समानता के कारण यह वेद में श्वासनलिका का अभिधान है और सम्भवतः, यह श्वासनलिका शब्दयुक्त होने से वेद में वाग्वाचक नामपद के रूप में अभिहित हुई है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट।
१९.	मेलिः वाग्वाचक निघ०,१.११.१९.	जो वाक् अन्तर्विरोधों से ग्रस्त न हो अर्थात् जिसके द्वारा विरुद्ध प्रतीत होने वाले शास्त्रों में समन्वय स्थापित किया जा सकता है, विद्वान् की ऐसी वाणी या विद्वत्ता वेद की दृष्टि में 'मेळि' नाम से अभिहित हुई है।	सम्भवतः, 'मिल्' धातु।
२०.	मेना वाग्वाचक निघ०,१.११.२०.	वेद की दृष्टि में 'मेना' मध्यमस्थानी वाग्देवता है। इसका कारण यह है कि इसका जन्म इन्द्र से होता है तथा यही मघवा के कुल में रहती है तथा वृषणश्व (वर्षा करने वाले इन्द्र) की पुत्री भी यही है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट।
२१.	सूर्य्या वाग्वाचक निघ०,१.११.२१.	ऋग्वेद में 'सूर्य' या 'सूर्या' पद वाक् अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है।	'सृ' धातु।
२२.	सरस्वती वाग्वाचक निघ०,१.११.२२.	वेद में वह वाक् सरस्वती है, जो अन्न और बल को देने के साथ पवित्र व्यवहारों का उपदेश एवं कर्म के माध्यम से वसु (लौकिक सम्पदा) प्राप्त कराती है, यह सूनृता वाणी की प्रेरयित्री और सुमति को जगाने वाली है।	'सृ'=सरस्, सरस्+मतुप्= सरस्वती।
२३.	निवित् वाग्वाचक निघ०,१.११.२३.	वह वाक् निविदा है, जो इच्छा, बल और आत्मज्ञान की प्राप्ति कराती है, इस निविदा (नित्य वेदविद्या) के माध्यम से ऋषि देवताओं का आह्वान करते हैं, इसी निविदा (वेद) से काव्यत्व का जन्म होता है।	'नि+'विद्' धातु।
२४.	स्वाहा वाग्वाचक निघ०,१.११.२४.	वह वाक् 'स्वाहा' है, जो परमैश्वर्य की प्राप्ति और देवता के आह्वान के लिये प्रयुक्त होती है। इस प्रकार स्वाहा वह वाक् है, जिससे देवता प्रसन्न होते हैं।	इस दृष्टि से यास्क तथा अन्य आचार्यों के द्वारा किया गया 'सु+आह' निर्वचन सर्वाधिक सम्भव निर्वचन प्रतीत होता है।
२५.	वग्नुः वाग्वाचक निघ०,१.११.२५.	वर्षाकाल में पर्जन्य का शृङ्गार भेकरव है, साधक के मुख से अभिव्यक्ति होने वाली वाक् साधना का सार है, यज्ञ का हृदय मन्त्रपाठ है और जाया का सौन्दर्य उसकी अमृतमयी वाणी है। इस प्रकार वेद के ऋषि की दृष्टि में वग्नु वह वाणी है, जो मधुरता को अपने में समाहित किये हुए है।	'वच्' धातु।
२६.	उपब्दिः वाग्वाचक	उग्र, गम्भीर और कर्कश ध्वनि वेद में 'उपब्दि' नाम से अभिहित हुई है। मधुरता को खण्डित कर देने के कारण	इस दृष्टि से 'उप+'दो' अवखण्डने' को 'उपब्दि'

	निघ०,१.११.२६.	यह वाक् 'उपब्दि' है।	का मूल माना जा सकता है।
२७.	मायुः वाग्वाचक निघ०,१.११.२७.	मुख्यतः वेद के ऋषि की दृष्टि में मेघ गर्जना 'मायु' नाम से कही गयी है।	शब्दार्थक 'मि' या 'मा' धातु।
२८.	काकुत् वाग्वाचक निघ०,१.११.२८.	वह वाक् 'काकुत्' है, जिसमें समुद्र का जल, मधुरता की लहरें और नदियों का उदक प्रवाहित होता हो, सम्भवतः, इन विशेषणों के कारण तालु को 'काकुत्' कहा जाता है और जब ये विशेषतायें किसी भाषा में होती हैं, तब वह भाषा, साहित्य या वाणी काकुत्' नाम से अभिहित होती है। इस प्रकार जो सरस वाणी है, वह सम्भवतः, वैदिक ऋषि की दृष्टि में 'काकुत्' है।	'कु'=कोकुवा, कोकुवा+'नुद्' =काकुद्।
२९.	जिह्वा वाग्वाचक निघ०,१.११.२९.	वेद में वह वाक् 'जिह्वा' है, जिसमें मधुरता और मेधा का सङ्गम है। इसको दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जो सरस वाणी है, वह वेद में 'जिह्वा' नाम से अभिहित हुयी है। सम्भवतः, इसके नामकरण के मूल में यह सरसता ही है।	इस दृष्टि से 'लिह' या 'हु' धातु 'जिह्वा' पद का मूल प्रतीत होती हैं। इनमें से 'लिह' धातु के 'जिह्वा' पद का मूल होने की अधिक सम्भावना है।
३०.	घोषः वाग्वाचक निघ०,१.११.३०.	प्रतिज्ञान के रूप में प्रकाशित की जाने वाली वाणी वेद में 'घोष' नाम से अभिहित हुयी है, यह प्रतिज्ञान काव्य के रूप में भी हो सकता है और परमात्मा के समक्ष आत्मनिवेदन के रूप में भी, परन्तु इसका स्वरूप उच्च ध्वनियुक्त होता है, जिससे वह सर्वश्राव्य हो सके।	उक्त स्वरूप को ध्यान में रखते हुए निर्विवाद रूप से 'घुष्' धातु को 'घोष' पद का मूल माना जा सकता है।
३१.	स्वरः वाग्वाचक निघ०,१.११.३१.	वह वाक् 'स्वर' है, जो स्तुति या यज्ञ के रूप में देवता के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, यह एक प्रकार का साहित्य है।	रूप की दृष्टि से 'स्वृ' धातु, परन्तु अर्थ की दृष्टि से यह उपयुक्त नहीं है।
३२.	शब्दः वाग्वाचक निघ०,१.११.३२.	वैदिक साहित्य में 'शब्द' पद का उल्लेख देखने को नहीं मिलता है। लेकिन ब्राह्मणग्रन्थ में इसके दर्शन अवश्य होते हैं। इस काल में 'शब्द' पद शाप या आक्रोश अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था।	'शप्' धातु।
३३.	स्वनः वाग्वाचक निघ०,१.११.३३.	तीव्र गर्जना या ध्वनि वेद की दृष्टि में 'स्वन' है।	उक्त अर्थ की प्रतीति 'स्वन्' धातु से पूर्णतया नहीं हो पाती है।
३४.	ऋक् वाग्वाचक निघ०,१.११.३४.	वह वाक् 'ऋक्' है, जो अग्नि की वृद्धि अर्थात् यज्ञकर्म को सम्पन्न करती है तथा जिसमें परम ब्रह्म का ज्ञान निहित है। वेद सामान्यतया मन्त्र अर्थ में 'ऋक्' का पाठ करता है।	स्तुत्यर्थक 'ऋच्' धातु।
३५.	होत्रा वाग्वाचक	वह वाक् का क्षेत्र 'होत्रा' है, जिसका प्रयोग व्यवहार में होता है। इसके साथ-साथ यह देवताओं के आह्वान और	वाग्व्यवहार और यज्ञमूलक होने के कारण

	निघ०,१.११.३५.	होम में भी प्रयुक्त होती है।	वाग्वाचक 'होत्रा' पद के 'हु' धातुमूलक होने की सम्भावना अधिक है।
३६.	गीः वाग्वाचक निघ०,१.११.३६.	वह वाक् 'गिर्' है, जो प्रमुखरूप से यज्ञ के अवसर पर प्रयुक्त की जाती है, इसका स्वरूप स्तुत्यात्मक, धीर और गम्भीर है।	इस दृष्टि से हम स्तुत्यर्थक 'गॄ' या 'गृ' धातु को उक्त पद का मूल मान सकते हैं।
३७.	गाथा वाग्वाचक निघ०,१.११.३७.	वह वाक् 'गाथा' है, जो कथाप्रधान होने के साथ-साथ गाकर कही जाती है। गेयता को दृष्टि में रखते हुए वाणी की यह विधा 'गाथा' से नाम से अभिहित हुई है।	'गै' धातु।
३८.	गणः वाग्वाचक निघ०,१.११.३८.	वेद में वाक् अर्थ में प्रयुक्त नहीं है।	'गण' सङ्ख्याने' धातु।
३९.	धेना वाग्वाचक निघ०,१.११.३९.	ऋग्वेद में वह वाक् प्रमुख रूप से 'धेना' मानी गयी है, जिसमें इन्द्र को आकर्षित करने की क्षमता है, इन्द्र के आगमन और इस वाणी के प्रभाव से हृदय और मन पवित्र हो जाता है। अतः, कल्याण का इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति इसका पान करना चाहता है।	इस दृष्टि से पानार्थक 'धेट्' धातु 'धेना' पद का मूल प्रतीत होती है।
४०.	ग्नाः वाग्वाचक निघ०,१.११.४०.	वह वाक् 'ग्ना' है, जो अन्धकार का विनाश करते हुए जीवन निर्माण करती है। ग्ना को देवपत्नी कहे जाने का, सम्भवतः, कारण यह है कि यह दिव्य गुणों का पालन करती है।	'गम्' धातु से 'ग्ना' पद के व्युत्पन्न होने की सम्भावना है।
४१.	विपा वाग्वाचक निघ०,१.११.४१.	वेद में 'विपा' पद का प्रयोग 'मेधावी' के अर्थ में हुआ है। यदि विपा पद वाग्वाचक माना जाये तो यह मेधावी की प्रेरक वाक् के अर्थ में वेद में प्रयुक्त माना जा सकता है।	'विप्' प्रेरणे' धातु।
४२.	नग्ना वाग्वाचक निघ०,१.११.४२.	जो विना किसी औपचारिकता के कह दी जाती है, वेद में वह वाक् 'नग्ना' है।	'न+'गम्' धातु।
४३.	कशा वाग्वाचक निघ०,१.११.४३.	वेद में वह वाक् 'कशा' है, जो मधुमती और सूनृतावति है तथा जिसके प्रभाव से मरुत् अन्तरिक्षलोक से नीचे आ जाते हैं।	सर्वाधिक सम्भव निर्वचन प्रकाशनार्थक 'काश्' धातु प्रतीत होती है।
४४.	धिषणा वाग्वाचक निघ०,१.११.४४.	वह वाक् 'धिषणा' है, जो अभ्युदय की प्राप्ति कराती है। इस दृष्टि से विज्ञानात्मक वाक् वेद की दृष्टि में 'धिषणा' सिद्ध होती है।	इस आधार पर धारणार्थक 'धिष्' या 'धृष्' धातु को वेद की दृष्टि में 'धिषणा' पद का मूल माना जा सकता है।
४५.	नौः वाग्वाचक निघ०,१.११.४५.	यह पद वेद में वाक् अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है।	'नू' धातु।

४६.	अक्षरम् वाग्वाचक निघ०,१.११.४६.	वह वाक् 'अक्षर' है, जिससे सप्त छन्दों का निर्माण होता है और उससे समस्त विश्व उपजीविका प्राप्त करता है, धनलाभ के लिये इसी का सेवन मेधावीजन करते हैं, यह अविनाशी वाणी है, जिसके परित्याग की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण अक्षरों की सङ्ख्या तीन सौ साठ बतलाता है। इस प्रकार वेद में वाक् की आधारभूता इकाई प्रमुखरूप से 'अक्षर' नाम से अभिहित होती हुई दिखायी देती है।	इस दृष्टि से 'अक्षर' पद का मूल 'अक्ष' शब्द प्रतीत होता है। यह 'अक्ष' (धुरा) वाहन का आधार होने से 'न+'क्षि' क्षये' या 'न+'क्षर्' से व्युत्पन्न है।
४७.	मही वाग्वाचक निघ०,१.११.४७.	वह वाक् मही है, जिसका महत्त्व व्यवहार से लेकर कलाओं और विज्ञान तक व्याप्त है।	इस दृष्टि से पूजार्थक 'मह्' धातु को 'मही' पद का मूल माना जा सकता है।
४८.	अदिति: वाग्वाचक निघ०,१.११.४८.	वह वाक् अदिति है, जो स्वयं अध्यात्मविद्या स्वरूप होने से अविनाशी है और अध्येता को भी अविनाशी स्वरूप उपलब्ध कराती है।	इस दृष्टि से 'न' पूर्व वाली 'दीङ्' क्षये' धातु को 'अदिति' पद का मूल मान सकते हैं।
४९.	शची वाग्वाचक निघ०,१.११.४९.	विशिष्ट कला कौशल सम्पन्न वाक् 'शची' है। इसकी सामर्थ्य से मण्डित देव और मनुष्य सम्पूर्ण बाधाओं को पार कर सकने में समर्थ होते हैं। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इंजीनियरिंग और चिकित्सा विज्ञान का सम्मिलित रूप वेद में 'शची' नाम से अभिहित हुआ है।	आधिभौतिक बाधाओं को पार कर सकने की सामर्थ्य निहित होने के कारण 'शची' पद को 'शक्' धातुमूलक माना जा सकता है।
५०.	वाक् वाग्वाचक निघ०,१.११.५०.	भाषा का सामान्य नाम वेद में 'वाक्' नाम से अभिहित हुआ है। सम्भवतः, वागिन्द्रिय के कारण शब्द का नामकरण वाक् हुआ है। यह ऋग्वेद में परिष्कृत वाणी का अभिधान है, इसको मेधावियों की वाणी कहा गया है।	इस दृष्टि से देखने पर विना किसी सन्देह के 'वाक्' पद का मूल 'वच्' धातु को माना जा सकता है।
५१.	अनुष्टुप् वाग्वाचक निघ०,१.११.५१.	पद्यात्मक वाक् ऋग्वेद में 'अनुष्टुप्' नाम से अभिहित हुई है। सम्भवतः, गायत्री छन्द की अपेक्षा पाद की दृष्टि से बढ़ी तथा उसके पश्चात् अस्तित्व में आने के कारण इसके पूर्व में 'अनु' का प्रयोग हुआ है।	इस दृष्टि से 'अनु+'स्तुभ्' को 'अनुष्टुप्' का मूल स्वीकार किया जा सकता है।
५२.	धेनुः वाग्वाचक निघ०,१.११.५२.	जो वाक् समस्त कामनाओं का दोहन करने में समर्थ है, वैदिक ऋषि की दृष्टि में वह 'धेनु' है।	इस दृष्टि से 'धेनु' पद का मूल 'दुह्' धातु प्रतीत होती है।
५३.	वल्गुः वाग्वाचक निघ०,१.११.५३.	वह वाक् 'वल्गु' है, जो अश्विनीदेवों के समान दीन, दु:खियों का कष्ट दूर करने वाली और मधुर है।	इस दृष्टि से गत्यर्थक 'वल्ग्' धातु को 'वल्गु' पद का मूल माना जा सकता है।

५४.	गल्दा वाग्वाचक निघ०,१.११.५४.	वेद में 'गल्दा' का स्वरूप अस्पष्ट है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
५५.	सर: वाग्वाचक निघ०,१.११.५५.	वह वाक् 'सरस्' कहलाने योग्य है, जिसमें वक्ता आनन्द का अनुभव करता है। वेद के ऋषि की दृष्टि में रसपूर्ण, भावमय, एकतानता का निर्माण करने में समर्थ वाक् 'सरस्' है।	इस दृष्टि से 'सृ' धातुमूलक निर्वचन को 'सरस्' शब्द का मूल स्वीकार किया जा सकता है।
५६.	सुपर्णी वाग्वाचक निघ०,१.११.५६.	ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर उक्त वाक् का सम्बन्ध छन्दों से है। छन्दोमयी वाणी स्मरण करने में सरल तथा काव्यरूप होने से हृदयङ्गम करने में सुगम होती है। यही सुपतनशीलता वाक् के उक्त नामकरण का मूल है।	आर्थिक दृष्टि से 'सु+'पत्' धातु। रूपात्मकता की दृष्टि से उक्त निर्वचन समीचीन नहीं माना जा सकता।
५७.	बेकुरा वाग्वाचक निघ०,१.११.५७.	ब्राह्मण के अनुसार 'बेकुरा' पद वाग्वाचक है, परन्तु प्रमाण के अभाव में स्वरूप निर्धारण सम्भव नहीं है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निघण्टुकार ने उक्त गण में सप्तपञ्चाशत् वाग्वाचक पदों का परिगणन किया है। उक्तपदसमुदाय में से निम्नपदों की वाग्वाचकता सन्दिग्ध है। पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में जिनको प्रमाणित कर सकना सम्भव नहीं हो सका है:-१. गभीरा, २. गम्भीरा, ३. सूर्य्या, ४. गण:, ५. विप:, ६. नौ:, ७. गल्दा, ८. बेकुरा।

सप्तम एवं अष्टम अध्याय

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के सप्तम एवं अष्टम अध्यायों में उदकवाचक १०१ नामपदों का विवेचन किया गया है। अधिक विस्तृत होने के कारण उक्तगण को दो भागों में विभाजित करके अध्ययन किया गया है। सप्तम अध्याय में जहाँ उदक वाचक गण के प्रारम्भिक ५० नामपदों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, वहीं अष्टम अध्याय में उक्तगण के अन्त के शेष पदों का विवेचन किया गया है। अत:, हम यहाँ दोनों अध्यायों का एक साथ सार प्रस्तुत कर रहे हैं।

उदकवाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के द्वादश गण में निघण्टुकार ने एकशत उदकवाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	अर्ण: उदकवाचक निघ०,१.१२.१.	वेद की दृष्टि में वह उदक 'अर्ण:' है, जो बहकर या सीधे अन्तरिक्ष से समुद्र में पहुँचता है। सम्भवत:, ऋषि गतिशीलता के कारण उदक को 'अर्ण:' नाम से अभिहित करता है।	इस दृष्टि से नि:सन्दिग्ध रूप से गत्यर्थक को 'ऋ' धातु को 'अर्ण:' पद का मूल माना जा सकता है।

२.	क्षोदः उदकवाचक निघ०,१.१२.२.	वेद में नदी का तीव्र गति से प्रवाहित होने वाला जल 'क्षोदः' है।	'क्षुद्' धातु।
३.	क्षद्म उदकवाचक निघ०,१.१२.३.	सूक्ष्म वाष्परूप में स्थित उदक को वेद में 'क्षद्म' नाम से अभिहित किया गया है।	रूप की दृष्टि से 'क्षद्' धातु।
४.	नभः उदकवाचक निघ०,१.१२.४.	वह उदक 'नभस्' है, जो वर्षा ऋतु में आकाश से प्राप्त होता है। सम्भवतः, 'नभस्' शब्द मूलतः, आकाश का वाचक है, उसके सम्बन्ध से उदक भी 'नभस्' कहा जाने लगा होगा।	इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए 'न+'भा' धातु को 'नभस्' पद का मूल माना जा सकता है।
५.	अम्भः उदकवाचक निघ०,१.१२.५.	ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह उदक 'अम्भस्' है, जो पृथ्वी के नीचे रहता है। नासदीय सूक्त से भी इस निष्कर्ष की पुष्टि होती दिखायी देती है, वहाँ 'अम्भस्' को गहन और गभीर बताया है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट।
६.	कवन्धम्/ कबन्धम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६.	जो जल नियन्त्रित रूप से उपयोग में आता है, वह 'कवन्ध' है। नियन्त्रित उपयोग वाला उदक मनुष्य को सुख एवं समृद्धि प्रदान कर सकता है।	'क+'बन्ध्' धातु।
७.	सलिलम् उदकवाचक निघ०,१.१२.७.	वह उदक 'सलिल' है, जो गरणशीला माध्यमिका वाक् के द्वारा सम्पादित किया जाता है। प्रलयकाल में ब्रह्माण्ड में सूक्ष्म या अव्यक्तरूप में विद्यमान जलीय तत्त्व वेद और इतर वैदिक साहित्य की दृष्टि में 'सलिल' है।	'सत्+लीन'।
८.	वाः उदकवाचक निघ०,१.१२.८.	मनुष्य जिस जल का उपयोग रोककर अपने विकास कार्यों में करता है, वह वेद में 'वार्' नाम से अभिहित हुआ है।	इस दृष्टि से वारणार्थक 'वृ' धातु को 'वार्' पद का मूल माना जा सकता है।
९.	वनम् उदकवाचक निघ०,१.१२.९.	वह उदक 'वन' है, जो शब्द करता हुआ प्रवाहित होता है। कलकलध्वनि के कारण इसे सम्भवतः, 'वन' कहा गया है।	'वन' पद का मूल शब्दार्थक 'वन्' धातु को माना जा सकता है।
१०.	घृतम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१०.	जो उदक वर्षा के रूप में बरसता है, वह वेद की दृष्टि में 'घृत' है।	'घृ' क्षरणदीप्त्योः' धातु निर्विवाद रूप से 'घृत' पद का मूल है।
११.	मधु उदकवाचक निघ०,१.१२.११.	वह उदक 'मधु' है, जिसके पान से प्राणी तृप्ति का अनुभव करते हैं, वर्षा का जल होने के कारण इसमें क्षारादि अपेय तत्त्वों का अभाव है। स्वादिष्ठ होना इसका प्रमुख गुण है।	'मद्' या 'मिह्' धातु।

१२.	पुरीषम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१२.	सृष्टि के निर्माण और पालन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने के कारण उदक को 'पुरीष' नाम से अभिहित किया गया है।	'पृ' धातु को निर्विवादरूप से 'पुरीष' का मूल स्वीकार किया जा सकता है।
१३.	पिप्पलम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१३.	वेद में 'पिप्पल' शब्द का 'पीपल' के वृक्ष अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। यह यहाँ प्रमुखरूप से वृक्ष के स्वादिष्ठ रस के लिये व्यवहृत होता हुआ दिखायी देता है।	इस अर्थ को ध्यान में रखते हुए 'पा' या पालनार्थक 'पृ' धातु को 'पिप्पल' का मूल माना जा सकता है।
१४.	क्षीरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१४.	जो उदक अन्तरिक्ष से प्राप्त होकर नदी आदि के रूप में प्रवाहित होता है, वह उदक वेद में 'क्षीर' कहा गया है।	'क्षर' सञ्चलने' धातु को 'क्षीर' पद का मूल माना जा सकता है।
१५.	विषम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१५.	विष्णु (सूर्य) के सम्पर्क में आने वाला उदक विष नाम से वेद में अभिहित हुआ है।	इस दृष्टि से व्याप्ति अर्थ वाली 'विष्' धातु 'विष' पद का मूल प्रतीत होती है।
१६.	रेतः उदकवाचक निघ०,१.१२.१६.	वह उदक 'रेतस्' है, जो अन्तरिक्ष या द्युलोक से पृथ्वी पर प्राप्त होकर वनस्पतियों के गर्भ में स्थित होता है। जो उदक अन्तरिक्ष से स्वतः स्रवित होकर सस्यादिरूप में परिणत होते हैं, वे वेद की भाषा में 'रेतस्' नाम से अभिहित हुए हैं।	इस दृष्टि से स्रवणार्थक 'री' धातु को 'रेतस्' पद का मूल माना जा सकता है।
१७.	कशः उदकवाचक निघ०,१.१२.१७.	उदकवाचक 'कशः' पद का प्रयोग केवल एक बार वह भी स्वतन्त्र रूप में न होकर एक अन्य शब्द के साथ हुआ है। इस प्रकार मात्र एक उद्धरण से 'कशः' पद के विशिष्ट अर्थ को निरूपित करना सम्भव नहीं है।	'कश्' धातु।
१८.	जन्म उदकवाचक निघ०,१.१२.१८.	वेद में 'जन्म' शब्द जल वाचक नहीं है, वह उत्पत्ति, उद्भव आदि अर्थ का वाचक है। प्राणी की उत्पत्ति और उसके अस्तित्व का आधार होने के कारण जल 'जन्म' नाम से अभिहित हुआ होगा।	'जन्' धातु।
१९.	बृबूकम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१९.	मेघ से पतित होता हुआ शब्दायमान उदक वेद की दृष्टि में 'बृबूक' है।	सम्भवतः, 'ब्रू' धातु।
२०.	बुसम् उदकवाचक निघ०,१.१२.२०.	वह उदक 'बुस' है, जो आदित्य के द्वारा ग्रहण किया जाता है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
२१.	तुग्र्या उदकवाचक निघ०,१.१२.२१.	वे उदक वेद में 'तुग्र्या' नाम से अभिहित हुए हैं, जिनका सम्बन्ध सूर्य से है। आदित्य को 'तुग्र' कहा जाता है। उससे सम्बन्धित होने से उदक 'तुग्र्या' नाम से अभिहित हुए हैं।	'तुज्'=तुग्र=तुग्र्या'।
२२.	बुर्बुरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.२२.	'बुर्बुरम्' पद का विवरण वेद में प्राप्त नहीं होता है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।

२३.	सुक्षेम उदकवाचक निघ०,१.१२.२३.	ऋग्वेद में 'सुक्षेम' पद का प्रयोग सर्वथा उपलब्ध नहीं होता है, लेकिन 'क्षेम' पद अवश्य देखने को मिलता है, परन्तु वह सर्वत्र प्रायः 'रक्षण' अर्थ में आया है।	'सु+क्षि' धातु।
२४.	धरुणम् उदकवाचक निघ०,१.१२.२४.	वेद की दृष्टि में वे उदक 'धरुण' हैं, जो अन्वेषित करके लाये जाते हैं तथा जिनसे प्राणिमात्र का पालनपोषण होता है। इस दृष्टि से 'धृ' धातुमूलक निर्वचन को निर्विवाद रूप से 'धरुण' पद का मूल माना जा सकता है।	इस दृष्टि से 'धरुण' पद का मूल 'धृ' धातु को माना जा सकता है।
२५.	सिरा उदकवाचक निघ०,१.१२.२५.	वे उदक 'सिरा' हैं, जो वराहु नामक वृत्र से बहने के लिये प्रस्तुत हैं।	'सृ' या 'सि' धातु।
२६.	अररिन्दानि उदकवाचक निघ०,१.१२.२६.	यज्ञ अथवा किसी अन्य प्रकार के शुभकर्मों से प्राप्त होने वाला उदक वेद की दृष्टि में 'अररिन्द' है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
२७.	ध्वस्मन्वत् उदकवाचक निघ०,१.१२.२७.	वेद की दृष्टि में पीने योग्य, ध्वस्तदोष वाला (जिसके दोष का परिहार कर दिया गया है, ऐसा) उदक 'ध्वस्मन्वत् पाथः' है। यह एक विशिष्ट जल के प्रकार का सङ्केत करता है।	'ध्वंस्' धातु।
२८.	जामि उदकवाचक निघ०,१.१२.२८.	वह उदक 'जामि' है, जो पुनः उत्पन्न होने के लिये वाष्पीकरण की प्रक्रिया से होकर यात्रा करता है।	इस दृष्टि से 'जन्' धातु को 'जामि' पद का मूल माना जा सकता है।
२९.	आयुधानि उदकवाचक निघ०,१.१२.२९.	उदक से वाष्प बनने की प्रक्रिया जामि है तथा उस जामि (वाष्परूप जल) से पुनः वर्षा के रूप में पृथिवी पर आने की प्रक्रिया को वेद आयुध नाम से कह रहा है। अन्तरिक्ष से बाण बरसने के समान प्रतीत होने वाला उदक 'आयुध' है।	'आ+'युध्' धातु।
३०.	क्षपः उदकवाचक निघ०,१.१२.३०.	वेद में 'क्षपः' पद उदक का वाचक नहीं है।	'क्षप्' धातु।
३१.	अहिः उदकवाचक निघ०,१.१२.३१.	वेद में 'अहि' पद स्पष्टरूप से उदक अर्थ में नहीं आया है। वह यहाँ प्रायः 'मेघ' का वाचक है।	उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।
३२.	अक्षरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.३२.	वह उदक 'अक्षर' है, जिसके क्षरण से चारों दिशायें जी उठती हैं और इसके कारण सम्पूर्ण संसार जीवित रहता है।	इस दृष्टि से 'अक्षर' पद का 'न+'क्षर्' मूलक निर्वचन सर्वाधिक उपयुक्त है।
३३.	स्रोतः उदकवाचक निघ०,१.१२.३३.	वह उदक 'स्रोतः' है, जो मेघों से प्रवाहरूप में बाहर आता है। इस प्रकार वेद में 'स्रोतः' पद का अर्थ 'प्रवाह' है।	'स्रु' गतौ' धातु को 'स्रोतः' पद का मूल माना जा सकता है।

३४.	तृप्तिः उदकवाचक निघ०,१.१२.३४.	वेद और वैदिक साहित्य में 'तृप्ति' पद उदक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है।	'तृप्' धातु।
३५.	रसः उदकवाचक निघ०,१.१२.३५.	मधुरता रस की अपनी विशेषता है, जिसमें यह मधुरता पायी जाती है, कालान्तर में उदक सहित उन सबको 'रस' नाम से अभिहित किया गया है।	आस्वादन अर्थ वाली 'रस्' धातु।
३६.	उदकम् उदकवाचक निघ०,१.१२.३६.	वेद की दृष्टि में 'उदक' वह जल है, जो अन्तरिक्ष से लेकर पृथ्वी लोक तक के प्राणियों के पीने के उपयोग में आता है, यह स्वास्थ्य की दृष्टि से अनुकूल, कृषि के लिये उपयोगी एवं घट में भरकर ले जाने योग्य है।	इस दृष्टि से 'उत्+'अन्' या 'उन्द्' धातु को 'उदक' पद का मूल माना जा सकता है।
३७.	प्रयः उदकवाचक निघ०,१.१२.३७.	वेद की दृष्टि में जो पिपासा के समय प्रिय लगता है, वह पेय या उदक 'प्रयः' है।	इस दृष्टि से 'प्री' धातु को 'प्रयः' पद का मूल माना जा सकता है।
३८.	सरः उदकवाचक निघ०,१.१२.३८.	वेद में 'सरः' पद उदकवाचक न होकर, उदक पात्र के अर्थ में व्यवहृत है। ऋषि ने अनेकशः ऐसे तीन सरों का उल्लेख किया है, जिनका पान इन्द्र (सूर्य) करता है। इससे यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि मेघ, भूमि और अन्तरिक्ष ये तीन 'सरः' हैं।	ये सरणीय (गन्तव्य) स्थान होने से वेद में 'सरः' नाम से कहे गये हैं। अतः, 'सरः' पद का मूल 'सृ' धातु है।
३९.	भेषजम् उदकवाचक निघ०,१.१२.३९.	वह उदक 'भेषज' है, जिसमें ओषधि विद्यमान है, सम्पूर्ण ओषधियों का आश्रय उदक में है, इसलिये उदक को सम्पूर्ण भेषज कहा जाता है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
४०.	सहः उदकवाचक निघ०,१.१२.४०.	वैदिक साहित्य में 'सहः' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है, लेकिन सर्वत्र यह शक्तिशाली के अर्थ में आया है।	'सह्' धातु।
४१.	शवः उदकवाचक निघ०,१.१२.४१.	वेद और वैदिक साहित्य में 'शवः' पद उदक के अर्थ में नहीं आया है। इसका यहाँ प्रायः सर्वत्र 'बल' वाचक अर्थ में प्रयोग हुआ है।	'श्वि' या 'शू' धातु।
४२.	यहः उदकवाचक निघ०,१.१२.४२.	वैदिक साहित्य में 'यहः' पद का प्रयोग सर्वथा नहीं हुआ है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
४३.	ओजः उदकवाचक निघ०,१.१२.४३.	वर्षा करने वाले इन्द्र या मरुतों से जो उदक प्राप्त होता है, वह वेद की दृष्टि में 'ओजस्' है।	इस दृष्टि से विचार करने पर आर्जव अर्थ वाली 'उब्ज्' धातु को 'ओजः' पद का मूल माना जा सकता है।
४४.	सुखम् उदकवाचक निघ०,१.१२.४४.	वेद और वैदिक साहित्य में उदक के अर्थ में 'सुख' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।

४५.	क्षत्रम् उदकवाचक निघ०,१.१२.४५.	द्यावापृथिवी, मित्रावरुण और इन्द्रावरुण– इन युगल देवों के सम्पर्क से प्राप्त होने वाला उदक वेद की दृष्टि में 'क्षत्र' हैं।	व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। फिर भी 'क्षि' निवासगत्योः' धातु के माने जाने की सम्भावना है।
४६.	आवयाः उदकवाचक निघ०,१.१२.४६.	वेद में 'आवयाः' पद उदक अर्थ का वाचक नहीं है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
४७.	शुभम् उदकवाचक निघ०,१.१२.४७.	जिस उदक को मरुत् प्रदान करते हैं और जो मरुत् तथा अग्नि के संयोग से जलकणों में परिवर्तित होता है, जिसे वेद ने 'पृषती' नाम से सम्बोधित किया है, वह उदक वेद की दृष्टि में 'शुभम्' है।	इस दृष्टि से विचार करने पर 'शुभ' दीप्तौ' धातु को 'शुभम्' का मूल माना जा सकता है।
४८.	यादुः उदकवाचक निघ०,१.१२.४८.	वह उदक 'यादुः' है, जो पुरुष या स्त्री में शारीरिक सम्बन्ध के समय रज या वीर्य के रूप में प्रादुर्भूत होता है।	इस दृष्टि से विचार करने पर आलिङ्गन अर्थ वाली 'याद्' धातु को 'यादुः' पद का मूल माना जा सकता है।
४९.	भूतम् उदकवाचक निघ०,१.१२.४९.	वेद में 'भूतम्' पद का उदक के अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। प्राणी सृष्टि का प्रारम्भ जल पर निर्भर है, इसलिये उस जल से उत्पन्न होने वाले प्राणी 'भूत' कहलाते हैं और उनकी उत्पत्ति का कारण 'उदक' भी सम्भवतः, इस कारण 'भूत' मान लिया गया है। इसके अतिरिक्त पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों में सम्मिलित होने से उदक को 'भूत' कहा जाता है।	'भू' धातु।
५०.	भुवनम् उदकवाचक निघ०,१.१२.५०.	वेद की दृष्टि में वह सामान्य उदक 'भुवन' है, जिससे सम्पूर्ण संसार अस्तित्व में आता है और जो तीन (तरल, सङ्घात और वाष्प) रूपों में रूपान्तरित होता रहता है। वेद में स्पष्टरूप से कहीं भी 'उदक' अर्थ में 'भुवन' का प्रयोग नहीं हुआ है।	इस दृष्टि से विचार करने पर सत्तार्थक 'भू' धातु को 'भुवन' पद का मूल मान सकते हैं।
५१.	भविष्यत् उदकवाचक निघ०,१.१२.५१.	वेद और वैदिक साहित्य में 'भविष्यत्' पद भविष्यकाल के अर्थ में आया है, न कि उदक के अर्थ में।	'भू' धातु।
५२.	महत् उदकवाचक निघ०,१.१२.५२.	'महत्' नामक उदक इन्द्र का बल और अग्नि का उत्पत्ति एवं निवासस्थान है। दो महान् शक्तियों के साथ संयुक्त होने से वह 'महत्' नाम का अधिकारी है।	इस दृष्टि से विचार करने पर 'मंह्' धातुमूलक निर्वचन को 'महत्' पद का मूल माना जा सकता है।
५३.	आपः उदकवाचक निघ०,१.१२.५३.	वेद की दृष्टि में वे उदक आपः नाम से अभिहित हुए हैं, जिनमें ओषधीय तत्त्व विद्यमान हैं या जो ओषध के समान गुणकारी हैं। ये वे उदक हैं जो अन्तरिक्ष से वर्षा के रूप में पृथिवी पर आते हैं।	इस दृष्टि से 'आप्' धातु को निःसन्दिग्ध रूप से 'आपः' पद का मूल माना जा सकता है।

५४.	व्योम उदकवाचक निघ०,१.१२.५४.	वेद और वैदिक साहित्य में 'व्योमन्' पद उदक के अर्थ में नहीं आया है।	'वि+'अव्' धातु।
५५.	यशः उदकवाचक निघ०,१.१२.५५.	वेद की दृष्टि में वे उदक 'यशस्' हैं, जो इन्द्र, वरुण आदि देवों के द्वारा प्रदान किये जाते हैं और जो सब प्राणियों की आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त हैं।	इस दृष्टि से विचार करने पर देवनार्थक 'अश्' धातु 'यशस्' पद का मूल मानी जा सकती है।
५६.	महः उदकवाचक निघ०,१.१२.५६.	सूर्य के सम्पर्क में आने वाला उदक सम्भवतः, वेद में 'महः' नाम से अभिहित हुआ है। इस दृष्टि से विचार करने पर सूर्य की महत्ता से उदक भी 'महः' कहा गया है।	निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि महत् के समान 'महः' पद का मूल पूजार्थक 'मह्' धातु है।
५७.	सर्णीकम् उदकवाचक निघ०,१.१२.५७.	वेदों में उक्त पद का सर्वथा प्रयोग नहीं हुआ है। तैत्तिरीय-संहिता में अवश्य उक्त पद का एक बार प्रयोग हुआ है।	रूपात्मक आधार पर 'सर्णीक' पद का मूल 'सृ गतौ' धातु है।
५८.	स्वृतीकम् उदकवाचक निघ०,१.१२.५८.	वैदिक साहित्य में सर्णीकम्' के समान स्वृतीकम्' के उदाहरण प्राप्त नहीं होते हैं।	'स्वृ' धातु।
५९.	सतीनम् उदकवाचक निघ०,१.१२.५९.	वेद की दृष्टि में वह उदक 'सतीनम्' है, जो वर्षा से प्राप्त होता है तथा जिसमें विषधारी जीव जन्म ले चुके हैं। निष्कर्ष रूप में कह सकते है कि गड्ढे, तालाब आदि का जल 'सतीनम्' है।	इस दृष्टि से विचार करने पर 'सत्+ईन' वाले निर्वचन को कुछ स्वीकार्य माना जा सकता है।
६०.	गहनम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६०.	ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में 'गहनम्' पद उदकवाचक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। वेद में यह पद उदक के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है।	इस दृष्टि से सघन अर्थ वाली 'गह्' धातु 'गहनम्' पद का मूल प्रतीत होती है।
६१.	गभीरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६१.	वेद में 'गभीर' पद उदक के विशेषण के रूप में आया है, परन्तु उदकवाचक रूप में नहीं आया है।	'गभीरम्' पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।
६२.	गम्भरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६२.	जिसमें बड़े पुरुष के पैर टिक जाते हैं, वह उदक 'गम्भर' है। इस प्रकार पुरुष प्रमाण वाला उदक 'गम्भर' है।	इस दृष्टि से 'ग्रह्' धातु को 'गम्भर' पद का मूल माना जा सकता है।
६३.	ईम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६३.	वेद में वह उदक 'ईम्' है, जो अन्तरिक्ष से भूमि पर आता है और जिससे निर्माण कार्य का प्रारम्भ होता है।	सम्भवतः, इन्द्र से सम्बन्धित होने के कारण उदक का 'ईम्' यह नामकरण हुआ है।
६४.	अन्नम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६४.	वेद में वह उदक 'अन्न' है, जो 'अपां नपात्' देवता के माध्यम से पृथ्वी पर आता है।	'अद्' या 'आ+'नम्' धातु।

६५.	हविः उदकवाचक निघ०,१.१२.६५.	वेद में वह उदक 'हविः' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसका सूर्य के द्वारा ग्रहण और दान निरन्तर होता रहता है, या यह कह सकते हैं कि जिसमें दान और आदान दोनों कर्म एक साथ चल रहे हैं।	'हु' धातु।
६६.	सद्म उदकवाचक निघ०,१.१२.६६.	वेद की दृष्टि में अन्तरिक्षलोक रूपी गृह में विराजमान रहने वाला उदक 'सद्म' है। इसका अधिष्ठाता इन्द्र या बृहस्पतिरूप सूर्य है।	इस दृष्टि से 'सद्' धातु को 'सद्म' पद का मूल माना जा सकता है।
६७.	सदनम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६७.	वेद में 'सदन' पद उदक अर्थ का वाचक न होकर उदक के आश्रयभूत अन्तरिक्ष के अर्थ में आया है।	इस दृष्टि से 'सद्' धातु को 'सदन' पद का मूल स्वीकार किया जा सकता है।
६८.	ऋतम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६८.	वेद में वह उदक 'ऋत' नाम से अभिहित हुआ है, जो सृष्टि के शाश्वत नियम में बँधकर रहता है। फिर भी हम यह कह सकते हैं कि वेद को 'ऋत' शब्द का उदक अर्थ अधिक अभीष्ट नहीं है।	अर्थ की दृष्टि से 'ऋ' धातु से व्युत्पन्न होना सन्दिग्ध प्रतीत होता है।
६९.	योनिः उदकवाचक निघ०,१.१२.६९.	अन्तरिक्ष का वह प्रदेश विशेष वेद में 'योनि' नाम से अभिहित हुआ है, जिसमें वायु से परिवेष्टित होकर उदक आश्रय लेते हैं।	इस दृष्टि से 'यु' मिश्रणे' धातु को 'योनि' पद का मूल माना जा सकता है।
७०.	ऋतस्य योनिः उदकवाचक निघ०,१.१२.७०.	'ऋतस्य योनिः' ऐसा उदक जिसकी योनि अन्तरिक्ष है अर्थात् जो अन्तरिक्ष से प्राप्त होता है या यह कहना अधिक उचित होगा कि जो अन्तरिक्ष में सञ्चित है।	'ऋत+योनिः=ऋतस्य योनिः।
७१.	सत्यम् उदकवाचक निघ०,१.१२.७१.	वह उदक वेद की दृष्टि में 'सत्य' है, जिससे जगत् की रक्षा होती है। जगत् की सत्ता निर्भर होने के कारण उदक को 'सत्य' नाम से अभिहित किया गया है।	इस दृष्टि से विचार करने पर सत्तार्थक 'अस्' धातु को 'सत्य' पद का मूल माना जा सकता है।
७२.	नीरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.७२.	वैदिक साहित्य में 'नीर' पद का प्रयोग सर्वथा नहीं हुआ है।	प्रापणार्थक 'नी' धातु।
७३.	रयिः उदकवाचक निघ०,१.१२.७३.	जिसमें बल प्रदान करने की सामर्थ्य है, वह उदक (वीर्य) वेद के ऋषि की दृष्टि में 'रयि' है।	इस दृष्टि से विचार करने पर 'रयि' पद को 'रा' धातु मूलक माना जा सकता है।
७४.	सत् उदकवाचक निघ०,१.१२.७४.	वेद के ऋषि की दृष्टि में सूक्ष्मरूप या तन्मात्ररूप में विद्यमान रहने वाला उदक 'सत्' है। सम्भवतः, रूपान्तरण के स्वभाव से परे जो उदक है, वह 'सत्' है।	इस दृष्टि से विचार करने पर निर्विवाद रूप से 'अस्' भुवि' धातु को 'सत्' पद का मूल माना जा सकता है।
७५.	पूर्णम् उदकवाचक निघ०,१.१२.७५.	वेद में 'पूर्ण' शब्द उदक अर्थ में नहीं आया है। वेद में ऋषि ने 'पूर्ण' शब्द का उल्लेख प्रायः मधु, कोश, पात्र आदि के विशेषण के रूप में किया है।	'पूर्' धातु को 'पूर्ण' पद का मूल माना जा सकता है।

७६.	सर्वम् उदकवाचक निघ०,१.१२.७६.	वेद में 'सर्व' शब्द उदक अर्थ में नहीं आया है। ब्राह्मण से इस अर्थ की कुछ पुष्टि होती हुई अवश्य दिखायी देती है।	सभी दृश्य पदार्थ आए और गए का आभास कराते हैं, अत:, 'सर्व' पद का मूल 'सृ' धातु है।
७७.	अक्षितम् उदकवाचक निघ०,१.१२.७७.	वेद की दृष्टिं में मुख्यतया मेघ से प्राप्त होने वाला उदक 'अक्षित' है। इसके अतिरिक्त यह उदकवाचक की अपेक्षा उदक का एक विशेषण है।	इस दृष्टि से 'न+'क्षि' क्षये' को 'अक्षित' पद का मूल माना जा सकता है।
७८.	बर्हि: उदकवाचक निघ०,१.१२.७८.	वेद में 'बर्हिस्' पद उदक अर्थ में लगभग अप्रयुक्त है। वेद में यह प्राय: मुख्यरूप से कुशासन तथा कुछ गौणरूप से अन्तरिक्ष के अर्थ में आया है।	वृद्धि अर्थ वाली 'बृंह्' धातु को 'बर्हिस्' पद का मूल माना जा सकता है।
७९.	नाम उदकवाचक निघ०,१.१२.७९.	वेद की दृष्टि में वह उदक 'नाम' है, जो यज्ञ के द्वारा प्राप्त होता है। यज्ञ के प्रभाव से वर्षा के लिये प्रवृत्त होते हुए मेघों के नम्र हो जाने के कारण उदक को 'नाम' पद से अभिहित किया गया है।	इस दृष्टि से विचार करने पर विना किसी सङ्कोच के 'नम्' धातु को 'नाम' पद मूल माना जा सकता है।
८०.	सर्पि: उदकवाचक निघ०,१.१२.८०.	वेद में 'घृत' को 'सर्पिस्' नाम से अभिहित किया गया है। उष्णता के प्रभाव से स्वत: पिघलने के कारण घृत को 'सर्पिस्' कहा जाता है।	इस दृष्टि से गत्यर्थक 'सृप्' धातु को 'सर्पिस्' पद का मूल माना जा सकता है।
८१.	अप: उदकवाचक निघ०,१.१२.८१.	वेद की दृष्टि में 'अप:' और 'आप:' ये भिन्न मूल के दो शब्द न होकर अर्थ और ध्वनिरूप की दृष्टि से एक ही हैं।	व्याप्त्यर्थक 'आप्' धातु।
८२.	पवित्रम् उदकवाचक निघ०,१.१२.८२.	सोम और पवित्र का परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध है। वेद में सोम की धारा पवित्र मानी गयी है और जो सोम को प्राप्त कर लेता है, वह पवित्र हो जाता है वेद में 'पवित्र' शब्द 'उदक' वाचक नहीं है।	'पू' धातु।
८३.	अमृतम् उदकवाचक निघ०,१.१२.८३.	सामान्य रूप से 'अमृत' नामक उदक का स्वरूप ऋग्वेद में अस्पष्ट है। सम्भवत:, वेद प्रजा का कल्याण करने वाले उदक को 'अमृत' नाम से कहने के पक्ष में हैं।	'न+मृत'।
८४.	इन्दु: उदकवाचक निघ०,१.१२.८४.	वेद की दृष्टि में आर्द्रता के रूप में विद्यमान उदक 'इन्दु' है, यही वह उदक है जो षट् ऋतुओं और अन्तरिक्ष में विद्यमान रहता है।	क्लेदनार्थक 'उन्द्' धातु को 'इन्दु' शब्द का मूल माना जा सकता है, परन्तु ध्वनिरूप की दृष्टि से इसका औचित्य सन्दिग्ध है।
८५.	हेम उदकवाचक निघ०,१.१२.८५.	वेद में हेम शब्द उदक अर्थ का वाचक नहीं है। यहाँ यह स्पष्टरूप से सुवर्ण अर्थ की प्रतीति करा रहा है।	ध्वनिरूप की दृष्टि से 'हि' धातु।

८६.	स्वः उदकवाचक निघ०,१.१२.८६.	वेद की दृष्टि में वह उदक 'स्वः' है, जो अन्न, बलादि देने के कारण सुख का कारण है।	इस दृष्टि से 'सु+'ऋ' धातु को 'स्वः' पद का मूल माना जा सकता है।
८७.	सर्गाः उदकवाचक निघ०,१.१२.८७.	वेद में 'सर्ग' शब्द मेघ से प्राप्त होने वाले उदक के अर्थ में हुआ है। यह 'सर्ग' नामक उदक सृष्टि का निर्माण करने वाला है, इससे पृथ्वी का रूप अत्यन्त रमणीय हो जाता है।	इस आधार पर हम 'सर्ग' शब्द का मूल निर्माण अर्थ वाली 'सृज्' धातु को मान सकते हैं।
८८.	शम्बरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.८८.	वेद में भरण-पोषण के लिये वर्षा-भिन्न ऋतु में वर्षा के माध्यम से प्राप्त होने वाला उदक 'शम्बर' है।	इस दृष्टि से 'शॄ' क्षरणे'+'भृ' भरणे' धातुओं के संयोग से 'शम्बर' पद व्युत्पन्न होता है।
८९.	अभ्वम् उदकवाचक निघ०,१.१२.८९.	अन्तरिक्ष में बहुत दिन से सङ्गृहीत उदक 'अभ्व' है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि जो बहुत दिन से नहीं बरसा है, ऐसा उदक वेद की दृष्टि में 'अभ्व' है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'न+'भू' (न अभूत=न अवर्षत) को 'अभ्व' पद का मूल माना जा सकता है।
९०.	वपुः उदकवाचक निघ०,१.१२.९०.	वह उदक वेद की दृष्टि में 'वपुस्' है, जिसके कारण तीनों लोक दर्शनीय हो जाते हैं। यह यजमान का प्रिय उदक है। वपन के समय प्राप्त होने वाला उदक होने से सम्भवतः, इसको 'वपुस्' नाम से अभिहित किया गया है।	इस प्रकार वपन अर्थवाली 'वप्' धातु 'वपुस्' पद का मूल है।
९१.	अम्बु उदकवाचक निघ०,१.१२.९१.	वेद और वैदिक साहित्य में अप्रयुक्त होने के कारण 'अम्बु' पद के उदक अर्थ के विषय में कुछ कहना सम्भव नहीं है। उदक अर्थ में भी उसका प्रयोग अधिक प्राचीन नहीं है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
९२.	तोयम् उदकवाचक निघ०,१.१२.९२.	अप्रयुक्त होने के कारण वैदिक साहित्य के आधार पर 'तोयम्' के स्वरूप को स्पष्ट करना सम्भव नहीं है। लेकिन लौकिक साहित्य में यह पद जीवन के आधारभूत तत्त्व उदक अर्थ का वाचक रहा है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
९३.	तूयम् उदकवाचक निघ०,१.१२.९३.	वेद में प्रायः सर्वत्र 'तूयम्' पद क्रिया विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, अतः, वेद में यह उदकवाचक नहीं है।	'त्वर्' धातु से व्युत्पन्न होने की क्षीण सम्भावना प्रतीत होती है।
९४.	कृपीटम् उदकवाचक निघ०,१.१२.९४.	वह उदक 'कृपीट' है, जिसके कारण मरुदादि देवगण देखते ही मेघ का वध कर देते हैं। इस प्रकार वेद के ऋषि की दृष्टि में वर्षणीय उदक 'कृपीट' नाम से अभिहित हुआ है।	'कृपीट' का मूल 'कृप्' धातु है।
९५.	शुक्रम् उदकवाचक निघ०,१.१२.९५.	वह उदक 'शुक्र' है, जो अग्नि या सूर्य की किरणों के सम्पर्क में आने से अग्नि गुणयुक्त हो गया है। सम्भवतः, वीर्य को शुक्र नाम से अभिहित करने के	इस वैशिष्ट्य को ध्यान में रखते हुए निर्विवादरूप से 'शुच' दीप्तौ' धातु को

		मूल में यही कारण है। उष्णस्वभाव होना शुक्र का शुक्रत्व है।	'शुक्र' का मूल माना जा सकता है।
९६.	तेज: उदकवाचक निघ०,१.१२.९६.	जो स्त्री और पुरुष में वीर्य रूप में विद्यमान रहता है, वह तत्त्व 'तेजस्' है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि 'तेजस्' पद अग्नि और उसके गुण का अभिधायक है।	नि:सन्दिग्धरूप से 'तिज' निशाने' धातु 'तेजस्' पद का मूल है।
९७.	स्वधा उदकवाचक निघ०,१.१२.९७.	वेद में जिससे आनन्द की प्राप्ति और अन्न उत्पन्न होता है, वह उदक 'स्वधा' है। इस विशेषता को ध्यान में रखकर कह सकते हैं कि 'स्वयं दधातीति स्वधा' जो स्वयं धारण कर लेता है जो अथवा स्वयं धारण हो जाता है, वह उदक वैदिक ऋषि की दृष्टि में 'स्वधा' है।	इस तथ्य के आधार पर 'स्व+'धा' धातु को 'स्वधा' पद का मूल माना जा सकता है।
९८.	वारि उदकवाचक निघ०,१.१२.९८.	वेद में 'वारि' पद का सर्वथा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है।	'वारि' पद 'वृ' धातुमूलक है।
९९.	जलम् उदकवाचक निघ०,१.१२.९९.	वेद में 'जल' शब्द का सर्वथा उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।	'जल्' धातु को 'जल' शब्द का मूल मान सकते हैं।
१००.	जलाषम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१००.	वह उदक 'जलाष' है, जिससे या जिसमें रुद्र (भिषक्) के लिये औषधियाँ उत्पन्न होती हैं।	इस दृष्टि से 'जल्' एवं 'शी' धातु के संयोग से 'जलाष' पद व्युत्पन्न हुआ प्रतीत होता है।
१०१.	इदम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१०१.	सामान्यतया वेद में 'इदम्' पद प्रत्यक्षबोधक सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु कुछ स्थलों पर वेद में 'इदम्' पद उदकवाचक रूप में प्रयुक्त है। लेकिन स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया है।	जिस प्रकार 'इन्द्र' पद का मूल 'इन्द्' या 'उन्द्' धातु है, उसी प्रकार 'इदम्' पद का भी।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उक्त उदकवाचक गण के निम्नलिखित पद वेद और वैदिक साहित्य के आधार पर उदकवाचक सिद्ध नहीं होते हैं:- **१. जन्म, २. क्षपः, ३. अहिः, ४. सरः, ५. सहः, ६. शवः, ७. सुखम्, ८. आवयाः, ९. भूतम्, १०. व्योम, ११. गहनम्, १२. गम्भरम्, १३. सदनम्, १४. योनिः, १५. पूर्णम्, १६. सर्वम्, १७. बर्हिः, १८. हेम, १९. तूयम्, २०. तेजः।** निघण्टुकार ने कुछ पदों को तरलता के कारण उक्त उदकवाचक गण में परिगणित किया गया है:- **१. पिप्पलम्** (वृक्ष का स्वादिष्ठ रस), **२. यादुः** (स्त्रीपुरुष से प्रादुर्भूत होने वाला रजवीर्य), **३. सर्पिः** (घृत), **४. शुक्रम्** (वीर्य)। निम्नलिखित पद ऐसे हैं, जिनका वेद में उल्लेख प्राप्त नहीं होता है:- **१. बुर्बुरम्, २. सुक्षेम, ३. यहः, ४. सर्णीकम्, ५. नीरम्, ६. तोयम्, ७. वारि, ८. जलम्।**

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उदकवाचक गण के १०१ पदों में से निश्चितरूप से २८ पद ऐसे हैं, जिनको किसी भी प्रकार से उदकवाचक सिद्ध नहीं किया जा सकता है। निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि उदकवाचक गण के तीस प्रतिशत शब्द उदकवाचक नहीं है। इस विषय में यह आकलन प्रस्तुत किया जा

सकता है कि जिस वैदिक साहित्य में निघण्टुकार ने उक्तपदों का परिगणन किया था, वह आज अनुपलब्ध है, लेकिन उपर्युक्त विश्लेषण से यह सिद्ध होता दिखायी देता है कि वैदिक साहित्य में अधिकांश पद प्रयुक्त हैं, परन्तु जिस अर्थ में परिगणित किये गये हैं, उनका उनसे भिन्न अर्थ में प्रयोग हुआ है। उपलब्ध वैदिक साहित्य और निघण्टुकोष को देखते हुए किसी तर्कसङ्गत निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव प्रतीत नहीं होता है।

नवम अध्याय

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के नवम अध्याय में नदीवाचक गण के ३७ नामपदों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उक्त अध्याय का शोधसार निम्न तालिका के माध्यम से प्रस्तुत किया जा रहा है।

नदीवाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के त्रयोदश गण में निघण्टुकार ने सप्तत्रिंशत् नदीवाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	अवनिः नदीवाचक निघ०,१.१३.१.	समुद्र तक के मार्ग के क्षेत्रों को सिञ्चित करने वाली नदियाँ 'अवनिः' हैं।	'अव्' धातु से औणादिक 'अनि' प्रत्यय।
२.	यह्व्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२.	महती नदी	'यह्' धातु।
३.	यव्याः नदीवाचक निघ०,१.१३.२.	जिनमें धरातल निम्न होने के कारण अधिक मात्रा में जल बहता है, वे नदियाँ 'यव्याः' हैं।	'यु' मिश्रणे' धातु।
४.	खाः नदीवाचक निघ०,१.१३.३.	खननकर्म के द्वारा जिनका निर्माण होता है, वे नदियाँ 'खाः' हैं।	'खन्' धातु।
५.	सीराः नदीवाचक निघ०,१.१३.४.	जिसका प्रवाह अन्न को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता है, वह नदी वेद में 'सीराः' है।	'सृ' अथवा 'स्रु' धातु अथवा 'स+इरा'।
६.	स्रोत्याः नदीवाचक निघ०,१.१३.५.	जल से परिपूर्ण होकर प्रवाहित रहने के कारण नदियों को 'स्रोत्याः' कहा जाता है।	'स्रु' स्रवणे धातु।
७.	एन्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.६.	समतल प्रदेश में बहने वाली नदियाँ यात्रा करने योग्य होने के कारण 'एन्यः' कही जाती हैं।	'इण्' गतौ' धातु।

८.	धुनय: नदीवाचक निघ०,१.१३.७.	वेद की दृष्टि में पर्वत के उच्चशिखरों से भूमि पर अवतरित होती हुई नदी 'धुनि:' है। प्रपात प्रदेश में विकराल होने के कारण नदी दुस्तर होती है तथा उस समय इसमें कम्पन की भी अधिकता होती है।	कम्पनार्थक 'धू' या 'धु' धातु को 'धुनि:' पद का मूल माना जा सकता है।
९.	रुजाना: नदीवाचक निघ०,१.१३.८.	जो तटों को तोड़ती और पाषाणों को पीसती हुई प्रवाहित होती हैं, वे नदियाँ 'रुजाना:' हैं।	'रुज्' धातु।
१०.	वक्षणा: नदीवाचक निघ०,१.१३.९.	जिससे किसी एक स्थान पर स्थित जल शिल्प क्रिया से नदीरूप में परिणत होकर कृषकों के खेतों तक चला आता है, वेद में वे नहर 'वक्षणा:' हैं।	'वक्ष' रोषे' धातु।
११.	स्वादोअर्णा: नदीवाचक निघ०,१.१३.१०.	वेद में अप्रयुक्त होने के कारण अर्थ अस्पष्ट है।	निर्वचन अस्पष्ट।
१२.	रोधचक्रा: नदीवाचक निघ०,१.१३.११.	धाराओं में बँधकर उदक समुद्र तक जाता है, सम्भवत:, इसकारण नदियों को 'रोधचक्रा:' कहा जाता है।	'रुध+चक्र'।
१३.	हरित: नदीवाचक निघ०,१.१३.१२.	पालन करने के कारण इन्द्र का नाम हरि है। सम्भवत:, उक्त कर्म में सहायक होने के कारण नदियों को 'हरित:' कहा गया है।	'हृञ्' हरणे'।
१४.	सरित: नदीवाचक निघ०,१.१३.१३.	सहज और निर्मलरूप से प्रवाहित होने वाली नदियाँ 'सरित:' हैं।	'सृ' धातु।
१५.	अग्रुव: नदीवाचक निघ०,१.१३.१४.	तटों का भक्षण करने वाली नदियाँ 'अग्रुव: हैं।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट। लेकिन 'अद्' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना है।
१६.	नभन्व: नदीवाचक निघ०,१.१३.१५.	वेद में नदी अर्थ में अप्रयुक्त है।	'नभ्' धातु।
१७.	वध्व: नदीवाचक निघ०,१.१३.१६.	वेद ने महती और अन्नादि को उत्पन्न करने वाली तथा जिनके पथ को विस्तृत और सुगम बनाया जाता है, ऐसी नदियों (नहरों) को 'वध्व:' नाम से सम्बोधित किया है। जिस प्रकार 'वधू' को लेकर आया जाता है, उसी प्रकार जिन नदियों को लाया जाता है, वे 'वध्व:' हैं।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'वह्' धातु को 'वध्व:' पद का मूल माना जा सकता है।
१८.	हिरण्यवर्णा: नदीवाचक निघ०,१.१३.१७.	जो हिरण्य के समान निर्मल वर्ण वाली एवं 'अपां नपात्' देव की कृपा से प्रवाहित होती हैं, वे नदियाँ 'हिरण्यवर्णा:' हैं।	'हिरण्य+वर्ण'।
१९.	रोहित: नदीवाचक निघ०,१.१३.१८.	वेद में नदी अर्थ में अप्रयुक्त है।	लोहित=रोहित। 'लुह्' धातु।

२०.	सस्रुतः नदीवाचक निघ०,१.१३.१९.	जिसमें अन्य नदियों के स्रोत आकर मिलते हैं, वे नदियाँ 'सस्रुतः' हैं।	'सह+'स्रु'।
२१.	अर्णाः नदीवाचक निघ०,१.१३.२०.	'अर्णाः' पद मुख्यरूप से उदक के लिये व्यवहृत हुआ है। सम्भवतः, तीव गति का अभिधान करने के लिये नदियों को 'अर्णाः' कहा गया है।	'ऋ' धातु।
२२.	सिन्धवः नदीवाचक निघ०,१.१३.२१.	तीव्रगति से पूरे वर्ष प्रवहमान नदियाँ वेद में 'सिन्धवः' हैं।	'स्यन्द्' धातु।
२३.	कुल्याः नदीवाचक निघ०,१.१३.२२.	जिसका अन्त महाह्रद में होता है, ऐसी नहर, नाले वाली जलधारायें वेद में 'कुल्याः' नाम से कही गयी हैं। इनका जल पितरों, जीवित, मृत, यज्ञिय आदि सभी को तृप्ति देता है।	अव्युत्पन्न।
२४.	ऋतावरीः नदीवाचक निघ०,१.१३.२३.	अथाह गहराई और तीव्र वेग के कारण नदी को 'ऋतावरीः' कहा जाता है।	'ऋ' धातु।
२५.	उर्व्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२४.	'उर्व्यः' पद वेद में अप्रयुक्त है। अतः, प्रमाण के अभाव में विशिष्ट स्वरूप निरुपित कर पाना सम्भव नहीं है।	'ऊर्णु' से 'उरु' और उससे 'उर्वी'।
२६.	इरावत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२५.	वेद में नदी अर्थ में अप्रयुक्त है। वेद में सर्वत्र अन्नवाचक अर्थ में प्रयुक्त है।	'इर्' धातु।
२७.	पार्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२६.	वेद और वैदिक साहित्य में अप्रयुक्त है। कभी प्रयुक्त रहे होने की सम्भावना क्षीण है।	'पर्वत=पार्वती'।
२८.	स्रवन्त्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२७.	जिनके प्रवाह को वर्षा ऋतु में पार कर सकना सम्भव नहीं है और जो निरन्तर प्रवाहित रहती हैं, वेद में वे नदियाँ 'स्रवन्त्यः' हैं। इनकी सङ्ख्या वेद ने ९९ बतायी है।	'स्रु' धातु।
२९.	ऊर्जस्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२८.	वेद में नदीवाचक अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। वेद में यह पद प्रायः 'अन्नवती' और क्वचित् 'बलवती' अर्थ का वाचक है।	'ऊर्ज्' धातु।
३०.	पयस्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२९.	निःसन्दिग्ध रूप से यह पद नदी अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। वेद में द्यावापृथिवी को पयस्वती कहा गया है।	'पय्' धातु।
३१.	सरस्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.३०.	उदक की अधिकता और स्वादयुक्त होने के कारण नदी को 'सरस्वती' कहा गया है। सरसता के कारण इसका उक्त नामकरण हुआ प्रतीत होता है।	'रस' आस्वादने' धातु। आद्यन्तविपर्यय से 'सर्' और उससे 'सरस्वती'।

३२.	तरस्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.३१.	वेद और वैदिक साहित्य में 'तरस्वती' पद अप्रयुक्त है।	'तृ' धातु।
३३.	हरस्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.३२.	नदी अर्थ में वेद में अप्रयुक्त है। वेद में यह पद उग्रता अर्थ का वाचक है।	'हृ' धातु।
३४.	रोधस्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.३३.	जिसके तटों का निर्माण मनुष्यों द्वारा किया जाता है, वे नदियाँ 'रोधस्वत्यः' हैं।	'रुध्' धातु।
३५.	भास्वती नदीवाचक निघ०,१.१३.३४.	वेद में नदी अर्थ में अप्रयुक्त है। लेकिन यह पद यहाँ 'दीप्तिमती' अर्थ का वाचक है।	'भा' या 'भास्' धातु।
३६.	अजिराः नदीवाचक निघ०,१.१३.३५.	वेद में नदीवाचक अर्थ में अप्रयुक्त है, लेकिन वेद में यह 'क्षिप्रवाची अर्थ में अवश्य प्रयुक्त है।	'अज्' धातु।
३७.	मातरः नदीवाचक निघ०,१.१३.३६.	माता जैसे चरित्र के कारण वेद में नदियों और उदकों को माता कहा गया है।	व्युत्पत्ति सन्दिग्ध। फिर भी कल्पित 'मा' आह्वये धातु।
३८.	नद्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.३७.	कलकलध्वनि के साथ प्रयाण करना नदियों की चरित्रगत विशेषता है।	'नद्' धातु।

उपर्युक्त वर्गीकृत विवेचन से स्पष्ट है कि ३७ नदीवाचक पदों में से निम्न पद वेद और वैदिक साहित्य के अध्ययन के आधार पर नदीवाचक नहीं माने जा सकते:-१. **नभन्वः**, २. **रोहितः**, ३. **इरावत्यः**, ४. **पयस्वत्यः**, ५. **हरस्वत्यः**, ६. **भास्वती**, ७. **अजिराः**। इसके अतिरिक्त कुछ निम्नलिखित पद ऐसे भी उक्तगण में परिगणित हैं, जिनका वेद में सर्वथा प्रयोग उपलब्ध नहीं होता है:-१. **स्वादोअर्णाः**, २. **उर्व्यः**, ३. **पार्वत्यः**, ४. **ऊर्जस्वत्यः**, ५. **तरस्वत्यः**। इस प्रकार सप्तत्रिंशत् नदीवाचक पदों में से १२ पद ऐसे हैं, जिनको आज नदीवाचक नहीं माना जा सकता। निघण्टुकार ने नदीवाचक गण में ३७ नामपदों का परिगणन किया है। उक्तपदों में से निम्न पद नदीवाचक नहीं हैं:-१. **वक्षणाः**, २. **नभन्वः**, ३. **रोहितः**, ४. **उर्व्यः**, ५. **इरावत्यः**, ६. **पार्वत्यः**, ७. **ऊर्जस्वत्यः**, ८. **पयस्वत्यः**, ९. **तरस्वत्यः**, १०. **हरस्वत्यः**, ११. **भास्वत्यः**, १२. **अजिराः**। इसके अतिरिक्त कुछ पद ऐसे हैं कि निघण्टुकार ने उनका बहुवचन में प्रयोग किया है, जबकि वेद या वैदिक साहित्य में बहुवचनान्त उल्लेख नहीं हुआ है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि निघण्टुकार की परिगणन शैली सुगठित नहीं है। उसमें जहाँ एकरूपता का अभाव है वहाँ उसमें विना पर्याप्त कारणों के शब्द परिगणित कर लिये गये हैं।

दशम अध्याय

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के दशम अध्याय में अश्व, आदिष्टोपयोजन तथा ज्वलद्वाचक गणों के पदों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उक्त गणों का सङ्क्षिप्त शोधसार निम्न तालिका के माध्यम से प्रस्तुत किया जा रहा है।

अश्ववाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के चतुर्दश गण में निघण्टुकार ने २६ अश्ववाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	अत्यः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१.	जो अश्व अग्नि के समान सुख प्रदाता, गन्तव्य तक पहुँचाने वाला एवं सर्वदा सक्रिय रहता है, वह वेद की दृष्टि में 'अत्यः' है।	'अत्' धातु
२.	हयः अश्ववाचक निघ०,१.१४.२.	जिसे प्रशिक्षित किया जाता है, ऐसा मेधासम्पन्न अश्व, 'हयः' है।	रूप की दृष्टि से 'हि' या 'हय्' धातु।
३.	अर्वा अश्ववाचक निघ०,१.१४.३.	जो अग्नि के समान गति से मार्ग पार करता है, वह अश्व 'अर्वा' है।	'ऋ' धातु।
४.	वाजी अश्ववाचक निघ०,१.१४.४.	बलवान् होने के कारण प्राणीवाचक तथा यान्त्रिक अश्व को वेद 'वाजी' नाम से अभिहित करता है।	बलार्थक वैदिक 'वज्' धातु।
५.	सप्तिः अश्ववाचक निघ०,१.१४.५.	जो सर्प की सर्पणशीलता के समान सरपट दौड़ता है, वह अश्व वेद के ऋषि की दृष्टि में 'सप्तिः' है।	'सृप्' धातु।
६.	वह्निः अश्ववाचक निघ०,१.१४.६.	यान्त्रिक एवं बैलगाड़ी रूप वाहन को वेद 'वह्नि' नाम से पुकारता है। इस प्रकार यन्त्रवाहन और बैल 'वह्नि' है।	'वह्' धातु।
७.	दधिक्राः अश्ववाचक निघ०,१.१४.७.	जो अपने मार्ग का स्मरण रखता है, ऐसा बुद्धिमान् अश्व ' वेद में दधिक्राः' नाम से स्मरण किया गया है।	'दधि+'कृ' धातुमूलक निर्वचन के क्षीणरूप से स्वीकार किये जाने की सम्भावना है। शेष सभी निर्वचन असङ्गत हैं।
८.	दधिक्रावा अश्ववाचक निघ०,१.१४.८.	अर्थ 'दधिक्राः' के समान।	व्युत्पत्ति भी 'दधिक्राः' के समान अस्पष्ट है।
९.	एतग्वा अश्ववाचक निघ०,१.१४.९.	वर्णयुक्त होने से सूर्यरश्मियाँ वेद में 'एतग्वा' नाम से अभिहित हुई हैं।	'एत+'गम्' धातु से।
१०.	एतशः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१०.	कहीं वेद सूर्य की तीक्ष्णरश्मियों को रश्मिरूप में तो कहीं अश्वरूप में 'एतशः' पद का उल्लेख करता है।	'इण्' गतौ' धातु।
११.	पैद्वः अश्ववाचक निघ०,१.१४.११.	'पैद्वः' का अश्व अर्थ सन्दिग्ध है। सम्भवतः, पादों से शीघ्र चलने एवं सर्प का वध करने में समर्थ है, पुरुष का यौगिक नाम वेद में 'पैद्वः' है।	सम्भवतः, 'पद्' धातु।

१२.	दौर्गहः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१२.	'दौर्गहः' पद का स्वरूप अस्पष्ट है।	अस्पष्ट।
१३.	औच्चैःश्रवसः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१३.	महनीय कीर्ति वाला होने से इन्द्र के अश्व को वेद सम्भवतः, 'औच्चैःश्रवसः' नाम से अभिहित करता है।	''उच्चैःश्रवस्'' से 'औच्चैःश्रवसः' पद निष्पन्न हुआ है।
१४.	तार्क्ष्यः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१४.	यह स्पष्ट नहीं है कि 'तार्क्ष्य' उड़ने वाला या चतुष्पाद प्राणी है। फिर भी वाहन से उसका कुछ सम्बन्ध अवश्य है।	'तक्ष्' धातु से व्युत्पन्न होने की क्षीण सम्भावना है।
१५.	आशुः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१५.	द्रुतगामी होने के कारण को अश्व को 'आशुः' कहा जाता है।	व्याप्ति अर्थ वाली 'अश्' धातु।
१६.	ब्रध्नः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१६.	प्राणी का जीवन सूर्य से बँधा हुआ होने के कारण सूर्य ही 'ब्रध्नः' है।	'बन्ध्' धातु।
१७.	अरुषः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१७.	आरोचमान रूप वाला होने के कारण वेद अग्नि, सोम, सूर्य और (श्वेत) अश्व को 'अरुषः' नाम से अभिहित करता है।	'रुश्' दीप्तौ' धातु, लेकिन 'अ' को व्युत्पन्न करने की समस्या बनी रहती है।
१८.	माँश्चत्वः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१८.	वेद में युद्ध में प्रयुक्त होने वाला अश्व सम्भवतः, माँश्चत्वः है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
१९.	अव्यथयः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१९.	वेद में कष्ट या दुःखरहित उपाय 'अव्यथयः' है। यह दुःखरहित उपाय नौका और अश्व भी हो सकते हैं।	'न+'व्यथ्'।
२०.	श्येनासः अश्ववाचक निघ०,१.१४.२०.	वेद में श्येन पक्षी और श्येन के समान किसी वाहन का नाम 'श्येनासः' है।	'श्यै' या 'श्या' धातु।
२१.	सुपर्णाः अश्ववाचक निघ०,१.१४.२१.	वेद सुदूर पृथ्वी पर प्रकाश पहुँचाने वाले सूर्य का सुपर्ण नामक अश्व के रूप में उल्लेख करता है।	'सु+'पृ' या 'पत्'।
२२.	पतङ्गाः अश्ववाचक निघ०,१.१४.२२.	वेद में जल, थल, नभ में तीन दिन, तीन रात निरन्तर चलने की सामर्थ्य वाला एक वाहन विशेष 'पतङ्ग' है। यह सूर्य का भी अभिधान है।	'पत्' धातु।
२३.	नरः अश्ववाचक निघ०,१.१४.२३.	उदक का हरण और सूर्य का आहरण किये जाने के कारण सूर्य या सूर्यरश्मियों को 'नरः' कहा गया है। प्रकाश का नेतृत्व करने से भी सूर्य या रश्मियाँ 'नरः' नाम का अधिकारी हैं।	'नी' धातु।
२४.	ह्वार्यणाम् अश्ववाचक निघ०,१.१४.२४.	कुटिलता अर्थात् वश में किया जाना कष्टसाध्य होने के कारण अश्व या सर्प को वेद 'ह्वार्यः' नाम से अभिहित करता है।	'ह्वृ' कौटिल्ये' धातु।
२५.	हंसासः अश्ववाचक निघ०,१.१४.२५.	वेद वाहनरूप में प्रयुक्त होने वाले हंस नामक पक्षी को 'हंसासः' कहता है। सम्भवतः, मधुरवाणी के कारण यह हंस नाम से अभिहित हुआ है।	'हन्' धातु को मूल मानना उचित नहीं। अभी और शोध की अपेक्षा है।

२६.	अश्वाः अश्ववाचक निघ०,१.१४.२६.	वेद में तीन प्रकार के अश्वों का उल्लेख प्राप्त होता है:-प्रथम-लोक प्रचलित अश्व, द्वितीय-अग्नि की शक्ति से सञ्चालित अश्व तथा तृतीय सूर्य की शक्ति से सञ्चालित अश्व।	'अश' व्याप्तौ' धातु।

निघण्टुकोष के अश्ववाचक गण में निघण्टुकार ने २६ पद परिगणित किये हैं। इनमें से केवल निम्न ११ नामपद स्पष्टरूप से लोक प्रचलित अश्व के वाचक हैं-**अत्यः, हयः, अर्वा, सप्तिः, दधिक्राः, दधिक्रावा, औच्चैः श्रवसः, आशुः, अरुषः, माँश्चत्वः, ह्वार्याणाम्।** उक्त गण के निम्न १५ पद अश्ववाचक नहीं हैं:- **वाजी, वह्निः, एतग्वा, एतशः, पैद्वः, दौर्गहः, तार्क्ष्यः, ब्रध्नः, अव्यथयः, श्येनासः, सुपर्णाः, पतङ्गाः, नरः, हंसासः, अश्वाः।** इनमें से **एतग्वा, एतशः, ब्रध्नः, सुपर्णाः, पतङ्गाः, नरः-** ये छः शब्द सूर्य या सूर्यरश्मियों के वाचक हैं। वाजी पद यान्त्रिक वाहन तथा अश्व दोनों के लिये व्यवहृत होता है। अव्यथयः नौका या अश्व किसी के लिये भी प्रयुक्त किया जा सकता है। अश्व शब्द लोकप्रचलित अर्थ के अतिरिक्त अग्नि और सूर्य की शक्ति से सञ्चालित वाहन का नाम भी है। इस प्रकार **वाजी, अव्यथयः अश्वः-** ये तीनों पद अश्व तथा किसी अन्य वाहन के लिये भी प्रयुक्त होते हैं। यान्त्रिक एवं बैलगाड़ी रूप वाहन **'वह्निः'** है। **श्येनासः** श्येन पक्षी और श्येन के समान वाहन का नाम है। **हंसासः** शब्द हंस के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार **वह्निः, श्येनासः, हंसासः** ये तीन पद अन्य पशु या पक्षीवाचक हैं। **पैद्वः** पैदल चलने वाले व्यक्ति का नाम है। **तार्क्ष्यः** का रूप अस्पष्ट तथा **दौर्गहः** का अर्थ अस्पष्ट है। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि वेद अश्व को लोकप्रचलित अर्थ तक सीमित नहीं मानता। उसके अनुसार समस्त प्रकार के वाहन 'अश्व' हैं। निघण्टुकार ने भी सम्भवतः, इसी कारण अन्य वाहन वाचक पदों का समाहार अश्ववाचक गण में किया है।

अश्ववाचक गण में निघण्टुकार ने प्रारम्भ के १८ पदों का प्रथमा विभक्ति एकवचन में पाठ किया है और 'ह्वार्याणाम्' को छोड़कर शेष सभी शब्द प्रथमा विभक्ति बहुवचन में उद्धृत किये हैं। तथा 'ह्वार्यः' पद को षष्ठी विभक्ति बहुवचन में पढ़ा है। इस आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि निघण्टुकार की शैली अनिश्चित है।

जहाँ तक अर्थ का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि निघण्टुकार ने ११ नामपद लोकप्रचलित अश्व अर्थ में, छः पद सूर्य या सूर्यरश्मि से सम्बद्ध अर्थ में, तीन पद अश्व और किसी अन्य वाहन के अर्थ में, तीन पद अन्य पशु-पक्षी वाचक हैं और तीन पद अस्पष्ट हैं, जिनके विषय में अभी कुछ कहना सम्भव नहीं है। उक्त तथ्यों के आधार पर कह सकते हैं कि प्रमुखता से अश्व वाचक पदों का परिगणन करने के कारण निघण्टुकार ने उक्त गण का नामकरण अश्व के नाम से किया है।

आदिष्टोपयोजन वाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के पञ्चदश गण में निघण्टुकार ने दश आदिष्टोपयोजन वाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	हरी इन्द्रस्य आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.१.	वेद में कहीं रश्मि और कहीं विशेष वाहन को रश्मि नाम से अभिहित किया गया है। हरी द्विवचनान्त प्रयोग किन्हीं दो रश्मियों के 'हरी' होने का सङ्केत देता है।	'हृ' धातु।
२.	रोहिताऽग्नेः आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.२.	यह एक आकाश में आरोहण करने में समर्थ अग्नि सञ्चालित वाहन विशेष है। इसकी पुष्टि 'रोहित' नाम से भी हो जाती है।	'रुह्' धातु।
३.	हरित आदित्यस्य आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.३.	प्रातःकाल की स्वर्णिम आदित्य रश्मियाँ वेद में 'हरितः' नाम से अभिहित हुई हैं। रसहरण करने के कारण रश्मियों को 'हरितः' कहा गया है।	'हृ' धातु।
४.	रासभावश्विनोः आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.४.	रासभ द्वारा वहन किये जाने वाले रथ में वेद तीन चक्र और और अनेक बैठने के मण्डप बतला रहा है। चलते समय अत्यधिक ध्वनि किये जाने वाले होने से इसका नाम रासभ है। इस प्रकार यह एक वाहन विशेष है।	'रासृ' शब्दे' धातु।
५.	अजा पूष्णोः आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.५.	वेद 'अज' को पुरोडाश नामक हवि मान रहा है। देवताओं के आह्वान करते समय यह हवि चलती है और उन्हें यज्ञ की सूचना देती है। यही छाग है, जिसे त्वष्टा (अग्नि) देव प्रसन्नता से ग्रहण करते हैं।	'अज्' गतिक्षेपणयोः' धातु।
६.	पृषत्यो मरुताम् आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.६.	वर्षकर्म में सबसे अधिक सहायक नानावर्ण के मेघ वेद की भाषा में 'पृषती' हैं। वर्षकर्म में सहायक मेघ और विद्युत् को वेद क्रमशः 'पृषती और 'ऋष्टि' नाम से अभिहित करता है।	'पृषु' सेचने' धातु।
७.	अरुण्यो गाव उषसः आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.७.	ऐतिहासिक पक्ष में 'गो' एकवाहन है, जबकि नैरुक्तपक्ष में यह सूर्यरश्मियों का अभिधान है। एक लोक से दूसरं लोक तक की यात्रा करने के कारण रमिश्यों को 'गावः' कहा गया है।	'गम्' धातु।
८.	श्यावाः सवितुः आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.८.	सवितादेव के उदित होते समय पृथ्वी श्याव (श्याम) वर्ण की होती है। इसका वाहन के रूप में उल्लेख किया गया है। इस समय का प्राकृतिक वातावरण श्वेत पाद एवं सुवर्णमय युगबन्धन वाले वाहन के रूप में प्रतीत होता है। यही वेद में सविता का 'श्याव' वाहन है।	'श्या' धातु।
९.	विश्वरूपा बृहस्पतेः आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.९.	ऋभुगणों के सहयोग से नानारूपों को आविष्कृत करने वाला बृहस्पति का वाहन अथवा सूर्य की रश्मियाँ 'विश्वरूपा' वाहन हैं।	'विश्व+रूप'।
१०.	नियुतोः वायोः आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.१०.	वर्षा की वाहक वायु को वेद नियुत् नाम से अभिहित कर रहा है। वायु और विद्युत् का मिश्रण 'नियुत्' नामक वायु का कर्मक्षेत्र है।	'नि+'यु' मिश्रणे' धातु।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि निघण्टुकार ने आदिष्टोपयोजन गण में निम्न प्रकार के पदों का परिगणन किया है:-१. सूर्य, २. अग्नि, ३. वाहन, ४. मेघ- ५. वायु। **हरी इन्द्रस्य, हरित आदित्यस्य, अरुण्यो गाव उषसः, श्यावाः सवितुः, विश्वरूपा बृहस्पतेः**- ये पाँच पद सूर्य से सम्बद्ध हैं। इनके माध्यम से निघण्टुकार ने सूर्य की रश्मियों का वाहन के रूप में उल्लेख किया है। **'रोहिताऽग्नेः'** तथा **'अजा पूष्णः'**-ये दो पद अग्नि से सम्बद्ध हैं। इनमें से प्रथम 'रोहित' अग्नि से सञ्चालित, आरोहण करने में समर्थ वाहन है, जबकि द्वितीय 'अजा' पुरोडाशरूप हवि है। इस हवि से देवताओं की यज्ञ की सूचना मिलती है और वे इसके माध्यम से यज्ञ में चले आते हैं। **'रासभावश्विनोः'**-यह पद अश्विनीदेवता के वाहन के रूप में निघण्टुकार ने परिगणित किया है। इसमें तीन चक्र और तीन बैठने के मण्डप हैं और शब्द करता हुआ चलता है, अतः, यह एक वाहन प्रतीत होता है। **'पृषत्यो मरुताम्'** में मरुत् के वाहन के रूप में निघण्टुकार ने 'पृषती' का उल्लेख किया है। यह 'पृषती' जिसे वेदभाष्यकार 'श्वेतबिन्दु वाली मृगी' कहते हैं, वस्तुतः, वेद में मेघ के रूप में वर्णित हुई है। मरुतों के वर्षकर्म को सम्पन्न करने में सहायक या वाहक होने से इसे वेद में मरुतों का वाहन माना गया है। **'नियुतो वायोः'**- यह वायुदेवता के वाहन के रूप में समाम्नात किया गया है। वायु ही जब वर्षा या मेघ की वाहक बन जाती है, तब वह वेद में नियुत् संज्ञा वाली हो जाती है। इस वायु में विद्युत् का मिश्रण भी होता है, अतः, इसको 'नियुत्' नाम से अभिहित किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि निघण्टुकार ने आदिष्टोपयोजन गण में देवविशेष के वाहनवाचक नामपदों का परिगणन किया है। उक्त गण में परिगणित दश पदों में से प्रायः सभी को विभिन्न विभक्तियों में परिगणित किया गया है। यह निघण्टुकार की शैली का एक सामान्य दोष है।

ज्वलद्वाचक नामपद

निघण्टुकोष के प्रथम अध्याय के सप्तदश गण में निघण्टुकार ने एकादश ज्वलद्वाचक पदों का परिगणन किया है। उक्त गण के समस्त पदों में सङ्क्षेप में अर्थभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिये निम्न तालिका प्रस्तुत की जा रही है:-

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	जमत् ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.१.	जिस प्रज्वलित अग्नि से देवता की स्तुति की जाती है और जो हवि का भोग करती है, वह अग्नि वेद में 'जमत्' है।	'जमु' अदने' धातु।
२.	कल्मलीकिनम् ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.२.	वेद में मल को दूर करने वाली अग्नि का नाम 'कल्मलीकिन' है।	'कल्'+मल'।
३.	जञ्जणाभवन् ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.३.	वेद में अपने तेज से वनस्पतियों को झुलसाने वाला अग्नि 'जञ्जणाभवन्' है।	प्रज्वलित अग्नि की ध्वनि की अनुकृति।
४.	मल्मलाभवन् ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.४.	प्रयोग उपलब्ध न होने से कुछ कहना सम्भव नहीं है।	सम्भवतः, प्रज्वलित अग्नि की ध्वनि की अनुकृति।

५.	अर्चि: ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.५.	उषा का प्रकाश और यज्ञ की ज्वालाओं को 'अर्चि:' नाम से कहा गया है। इन दोनों में पूजायोग्यतारूप समानधर्मता पायी जाती है।	'अर्च' पूजायाम् धातु।
६.	शोचि: ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.६.	वेद प्रचण्ड अग्नि को 'शोचिस्' नाम से अभिहित करता है। इस अग्नि में आलोक की अधिकता के साथ-साथ दहन करने की विशेष क्षमता होती है।	'शुच्' दीप्तौ' धातु।
७.	तपस् ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.७.	वेद केवल अग्नि के ताप को सहन करने को ही तप नहीं मानता, अपितु आयुधरूप में अग्नि के उपयोग को भी तप कहता है, वहीं साधनारूप तपस्या का भी तप मानकर उल्लेख किया गया है।	'तप्' धातु।
८.	तेज: ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.८.	१. पराक्रम, २. शारीरिक व आध्यात्मिक सौन्दर्य, ३. रेतस्, ४. अग्नि का वैज्ञानिक उपयोग, ५. आयुध, ६. विद्या, ७. शारीरिक बल, ८. यज्ञ, ९. अग्नि-इन उक्त रूपों में तेजस् का प्रयोग हुआ है। वस्तु और व्यक्ति में निहित शक्ति की अभिव्यक्ति 'तेजस्' है।	'तिज' निशाने' धातु।
९.	हर: ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.९.	प्रमुखरूप से दहन करने वाले अग्नि को 'हर:' नाम से अभिहित किया गया है। वैदिक चिकित्सा विज्ञान में रोगाणुओं को समाप्त करने की विधि 'हर:' है।	हरणशीलता रूप धर्म के कारण अग्नि को 'हर:' कहा जाता है।
१०.	घृणि: ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.१०.	देवयजन की कामना से मनुष्य यज्ञ की शरण में जाता है। यह यज्ञ की प्रज्वलित अग्नि वेद में 'घृणि:' नाम से अभिहित हुई है।	यज्ञ में घृत क्षरित होने के कारण 'घृ क्षरणदीप्त्यो:' धातु।
११.	शृङ्ग ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.११.	वेद में मुख्यरूप से पशुशृङ्ग को 'शृङ्ग' कहा गया है। उसकी समानता से किसी भी अन्य वस्तु के शिखर को 'शृङ्ग' कहे जाने की सम्भावना है।	सिर से उद्गत होने से 'शिरस्+'गम्'।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर ज्वलद्वाचक नामपदों को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है:- १. यज्ञाग्नि, २. चिकित्सा में उपयोग की जाने वाली अग्नि, ३. तपस्या, ४. विविध रूपों में प्रयोग की जाने वाली अग्नि। उक्त गण में निघण्टुकार ने यज्ञाग्नि से सम्बन्धित निम्न तीन नामपदों का परिगणन किया है:-१. **जमत्**, २, **अर्चि:**, ३. **घृणि:**। जमत् नामक अग्नि में देवता की स्तुति की जाती है। उषा का प्रकाश और यज्ञ की अग्नि की अर्चना की जाती है, इस कारण वेद इन्हें 'अर्चि:' कहता है तथा यज्ञाग्नि में धारारूप में घृत का उपयोग किया जाता है, इसलिये वह 'घृणि:' नाम से अभिहित हुई है। जिस अग्नि के ताप का चिकित्सा में प्रयोग होता है, वह '**हर:**' है। तपस्यामूलक दो शब्द हैं:-१. **तप:**, २. **तेज:**। अग्नि के ताप सहित अन्य सभी प्रकार की तपस्याओं को वेद 'तप:' कहता है। तपस्या के द्वारा वस्तु और व्यक्ति में निहित क्षमता की वृद्धि करना 'तेज:' है। अग्निवाचक तीन पद हैं:-१. **कल्मलीकिनम्**, २. **जञ्झणाभवन्**, ३. **शोचि:**। मल को शुद्ध करने वाली अग्नि 'कल्मलीकिन'; तेज से झुलसाने वाला अग्नि 'जञ्झणाभवन्' तथा प्रचण्ड अग्नि को 'शोचि:' कहा जाता है। प्रमाण के अभाव में '**मल्मलाभवन्**' के विषय में अभी कुछ कहना सम्भव नहीं है।

पशुशृङ्ग के आधार पर अग्निशिखा को वेद '**शृङ्ग**' कहता है। इस प्रकार निघण्टुकार ने उक्त गण में विभिन्न अग्निरूपों का समावेश किया है।

ज्वलद्वाचक गण में अष्टम स्थान पर '**तेजस्**' पद परिगणित है। वैदिक साहित्य के विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में तेजस् प्रमुखरूप से निम्न रूपों में अभिव्यक्त हुआ है:-१. पराक्रम, २. शारीरिक व आध्यात्मिक सौन्दर्य, ३. रेतस्, ४. अग्नि का वैज्ञानिक उपयोग, ५. आयुध, ६. विद्या, ७. शारीरिक बल, ८. यज्ञ, ९. अग्नि। उपर्युक्त प्रकारों के अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि जो आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक बल के रूप में प्राप्त होता है, वह 'तेजस्' है। इसमें व्यक्ति और वस्तु में निहित क्षमता को बढ़ाया जाता है, यह एक प्रकार का परिष्कार है, जिससे व्यक्ति और वस्तु पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो जाते हैं। इस प्रकार निष्कर्षरूप में कह सकते हैं कि निहित शक्ति की अभिव्यक्ति तेजस् है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए तनूकरण अर्थ वाली 'तिज्' धातु से 'तेजस्' को व्युत्पन्न किया जा सकता है। तनूकरण का अर्थ होता है:- सूक्ष्मीकरण। वस्तु सूक्ष्म होकर अधिक शक्तिशाली और प्रभावी बन जाती है। इस प्रकार जो सूक्ष्म होकर शक्तिशाली और प्रभावी रूप में प्रकट हो रहा है, वह 'तेजस्' है।

ज्वलद्वाचक गण में नवम स्थान पर '**हरस्**' पद परिगणित है। वैदिक साहित्य के विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वेद में प्रमुखरूप से दहन करने वाले अग्नि को 'हरस्' नाम से अभिहित किया गया है। यह 'हरस्' रूप अग्नि की हरणशीलता है कि वह कहीं शरीर का हरण करता है तो कहीं बल या किसी अङ्ग का। जहाँ तक चिकित्सा के रूप में प्रयुक्त होने वाली अग्नि का प्रश्न है, वेद रोगाणुओं और पीडादायक जन्तुओं को समाप्त करने की विधि अग्नि के ताप का उपचार मानता है। आज का चिकित्सा विज्ञान भी ऐसी अनेक प्रकार की विधियों का प्रयोग करता है। इस विधि में भी रोगाणुओं का हरण अर्थात् उन्मूलन किया जाता है, हरणशीलता के कारण उक्त प्रकार की अग्नि 'हरः' नाम से अभिहित होती है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि उक्त प्रकार की अग्नि की एक सामान्य विशेषता उसका हरण करने का स्वभाव वाला होना है, अतः, 'हृ' धातु को 'हरस्' शब्द का मूल माना जा सकता है।

शब्दानुक्रमणिका

क्रम सं०	शब्द	अर्थ	व्युत्पत्ति/निर्वचन
१.	अक्तु: रात्रिवाचक निघ०,१.७.४.	जिसमें नक्षत्र चोर की तरह विचरण करते हैं, रात्रि की गहन कालिमा के कारण अग्नि का प्रकाश अधिक द्योतित होता है और जड-जङ्गम का भेद तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार की रात्रि 'अक्तु:' है।	कान्त्यर्थक 'अञ्ज्' धातु। रात्रि के समय अग्नि की कान्ति चारों ओर विकीर्ण होती है।
२.	अक्षरम् वाग्वाचक निघ०,१.११.४६.	वेद में वाक् की आधारभूता इकाई प्रमुखरूप से 'अक्षर' नाम से अभिहित होती हुई दिखायी देती है।	इस दृष्टि से 'अक्षर' पद का मूल 'अक्ष' शब्द प्रतीत होता है। यह 'अक्ष' (धुरा) वाहन का आधार होने से 'न+'क्षि' क्षये' या 'न+'क्षर्' से व्युत्पन्न है।
३.	अक्षरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.३२.	वह उदक 'अक्षर' है, जिसके क्षरण से चारों दिशायें जी उठती हैं और इसके कारण सम्पूर्ण संसार जीवित रहता है।	इस दृष्टि से 'अक्षर' पद का 'न+'क्षर्' मूलक निर्वचन सर्वाधिक उपयुक्त है।
४.	अक्षितम् उदकवाचक निघ०,१.१२.७७.	वेद की दृष्टि में मुख्यतया मेघ से प्राप्त होने वाला उदक 'अक्षित' है। इसके अतिरिक्त यह उदकवाचक की अपेक्षा उदक का एक विशेषण है।	इस दृष्टि से 'न+'क्षि' क्षये' को 'अक्षित' पद का मूल माना जा सकता है।
५.	अग्रुव: नदीवाचक निघ०,१.१३.१४.	तटों का भक्षण करने वाली नदियाँ 'अग्रुव: हैं।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट। लेकिन 'अद्' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना है।
६.	अजा: पूष्ण: आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.५.	वेद 'अज' को पुरोडाश नामक हवि मान रहा है। देवताओं के आह्वान करते समय यह हवि चलती है और उन्हें यज्ञ की सूचना देती है। यही छाग है, जिसे त्वष्टा (अग्नि) देव प्रसन्नता से ग्रहण करते हैं।	'अज्' गतिक्षेपणयो:' धातु।
७.	अजिरा: नदीवाचक निघ०,१.१३.३५.	वेद में नदीवाचक अर्थ में अप्रयुक्त है, लेकिन वेद में यह 'क्षिप्रवाची अर्थ में अवश्य प्रयुक्त है।	'अज्' धातु।
८.	अत्य: अश्ववाचक निघ०,१.१४.१.	जो अश्व अग्नि के समान सुख प्रदाता, गन्तव्य तक पहुँचाने वाला एवं सर्वदा सक्रिय रहता है, वह वेद की दृष्टि में 'अत्य:' है।	'अत्' धातु
९.	अदिति: पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१४.	वेद में अदिति का अनेक रूपों में उल्लेख हुआ, पर पृथ्वी के सन्दर्भ में इसका प्राय: माता के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार माता के समान	अपने में सब कुछ समाहत कर लेने के कारण पृथ्वी को 'अदिति' कहा जाता है। अत:,

		समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली पृथ्वी 'अदिति' है।	'आ+'दा' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है।
१०.	अदितिः वाग्वाचक निघ०,१.११.४८.	वह वाक् अदिति है, जो स्वयं अध्यात्मविद्या स्वरूप होने से अविनाशी है और अध्येता को भी अविनाशी स्वरूप उपलब्ध कराती है।	इस दृष्टि से 'न' पूर्व वाली 'दीङ्' क्षये' धातु को 'अदिति' पद का मूल मान सकते हैं।
११	अद्रिः मेघवाचक निघ०,१.१०.१.	वेद में वह मेघ 'अद्रि' है, जिससे वर्षकर्म सम्पन्न होने वाला होता है। सार रूप में कहा जा सकता है कि विदीर्ण होने की अवस्था को प्राप्त मेघ वेद की दृष्टि में 'अद्रि' है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'अद्रि' का मूल 'दृ' विदारणे' धातु प्रतीत होती है।
१२.	अध्वरम् अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१६.	अन्तरिक्ष का एक विशेष भाग 'बर्हिस्' है और उसका भी एक विशेषभाग वेद की दृष्टि में 'अध्वर' है। अन्तरिक्ष जिस प्रदेश विशेष में हिंसा वर्जित है, वह प्रदेश विशेष 'अध्वर' है।	'न+'ध्वृ' धातु। यज्ञ और अन्तरिक्ष दोनों 'अध्वर' हैं। दोनों में हिंसा होने की समानता है।
१३.	अध्वा अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१२.	वेद में 'अध्वा' पद अन्तरिक्ष के मार्ग को प्रतिपादित करता प्रतीत होता है। सम्भवतः, यह ग्रह, नक्षत्रों के परिक्रमा पथ के लिये प्रयुक्त होता रहा है।	इस पथ पर भटकने वाला को यह खा जाता है। अतः, 'अद्' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है।
१४.	अनुष्टुप् वाग्वाचक निघ०,१.११.५१.	पद्यात्मक वाक् ऋग्वेद में 'अनुष्टुप्' नाम से अभिहित हुई है। सम्भवतः, गायत्री छन्द की अपेक्षा पाद की दृष्टि से बढ़ी तथा उसके पश्चात् अस्तित्व में आने के कारण इसके पूर्व में 'अनु' का प्रयोग हुआ है।	इस दृष्टि से 'अनु+'स्तुभ्' को 'अनुष्टुप्' का मूल स्वीकार किया जा सकता है।
१५.	अन्तरिक्षम् अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.६.	वेद में 'अन्तरिक्ष' वह तत्त्व है, जो सबमें है और जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड स्थित है। 'अन्तर्' पद से यह प्रकट होता है कि वह सबका अन्तस् अर्थात् मूल है। यह एक तत्त्व जीवन और जगत् का आधार है।	'अन्तर्+'क्षि' निवासगत्योः' धातु।
१६.	अन्नम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६४.	वेद में वह उदक 'अन्न' है, जो 'अपां नपात्' देवता के माध्यम से पृथ्वी पर आता है।	'अद्' या 'आ+'नम्' धातु।
१७.	अपः उदकवाचक निघ०,१.१२.८१.	वेद की दृष्टि में 'अपः' और 'आपः' ये भिन्न मूल के दो शब्द न होकर अर्थ और ध्वनिरूप की दृष्टि से एक ही हैं।	व्याप्त्यर्थक 'आप्' धातु।
१८.	अभीशवः रश्मिवाचक निघ०,१.५.५.	वेद में 'अभीशु' पद अश्वरश्मि तथा सूर्यरश्मि दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जगत् पर शासन करने वाली रश्मियों को वेद 'अभीशु' नाम से कहता है।	'अभि+'ईश्'। अन्धकार का अपहरण करने में समर्थ।
१९.	अभ्रम् मेघवाचक	जिस प्रकार ऋषि 'अहि' और 'वृत्र' का प्रायः सर्वत्र वध होते हुए दिखलाता है, वहाँ इसके	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'अप्+'भृ' निर्वचन

	निघ०,१.१०.२२.	विपरीत वह 'अभ्र' का स्वागत करता हुआ दिखायी देता है। स्वागतयोग्य मेघ 'अभ्र' है।	सर्वाधिक सङ्गत निर्वचन प्रतीत होता है।
२०.	अभ्वम् उदकवाचक निघ०,१.१२.८९.	अन्तरिक्ष में बहुत दिन से सङ्गृहीत उदक 'अभ्व' है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि जो बहुत दिन से नहीं बरसा है, ऐसा उदक वेद की दृष्टि में 'अभ्व' है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'न+'भू' (न अभूत=न अवर्षत) को 'अभ्व' पद का मूल माना जा सकता है।
२१.	अमृतम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.१२.	ऋग्वेद में 'अमृत' पद हिरण्यवाचक नहीं है, लेकिन अथर्ववेद एवं ब्राह्मण में यह निश्चितरूप से हिरण्यवाचक है। यहाँ हिरण्य की 'अमृत' के रूप में प्रतिष्ठा हो गयी थी और उसके औषधीय गुणों का पहिचान लिया गया था।	'न+'मृ' धातु से।
२२.	अमृतम् उदकवाचक निघ०,१.१२.८३.	सामान्य रूप से 'अमृत' नामक उदक का स्वरूप ऋग्वेद में अस्पष्ट है। सम्भवतः, वेद प्रजा का कल्याण करने वाले उदक को 'अमृत' नाम से कहने के पक्ष में हैं।	'न+मृत'।
२३.	अम्बरम् अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१.	निघण्टु के अनुसार 'अम्बर' पद अन्तरिक्षवाचक है और निर्वचन के आधार पर उक्त अर्थ की प्रतीति हो जाती है, परन्तु वैदिक उद्धरणों से उक्त वक्तव्य पुष्ट नहीं हो पाती है।	'अबिड्' शब्दे' धातु।
२४.	अम्बु उदकवाचक निघ०,१.१२.९१.	वेद और वैदिक साहित्य में अप्रयुक्त होने के कारण 'अम्बु' पद के उदक अर्थ के विषय में कुछ कहना सम्भव नहीं है। उदक अर्थ में भी उसका प्रयोग अधिक प्राचीन नहीं है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
२५.	अम्भः उदकवाचक निघ०,१.१२.५.	ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह उदक 'अम्भस्' है, जो पृथ्वी के नीचे रहता है। नासदीय सूक्त से भी इस निष्कर्ष की पुष्टि होती दिखायी देती है, वहाँ 'अम्भस्' को गहन और गभीर बताया है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट।
२६.	अयः हिरण्यवाचक निघ०,१.२.४.	वेद में अयस् से निर्मित होने वाले हिरण्य को 'अयस्' नाम से अभिहित किया गया है।	'अय्' अथवा 'इण्' धातु से विकसित होने की सम्भावना है।
२७.	अररिन्दानि उदकवाचक निघ०,१.१२.२६.	यज्ञ अथवा किसी अन्य प्रकार के शुभकर्मों से प्राप्त होने वाला उदक वेद की दृष्टि में 'अररिन्द' है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
२८.	अरुण्यो गाव उषसाम् आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.७.	ऐतिहासिक पक्ष में 'गो' एकवाहन है, जबकि नैरुक्तपक्ष में यह सूर्यरश्मियों का अभिधान है। एक लोक से दूसरे लोक तक की यात्रा करने के कारण रमिश्यों को 'गावः' कहा गया है।	'गम्' धातु।

२९.	अरुष: अश्ववाचक निघ०,१.१४.१७.	आरोचमान रूप वाला होने के कारण वेद अग्नि, सोम, सूर्य और (श्वेत) अश्व को 'अरुष:' नाम से अभिहित करता है।	'रुश्' दीप्तौ' धातु, लेकिन 'अ' को व्युत्पन्न करने की समस्या बनी रहती है।
३०.	अरुषी उषावाचक निघ०,१.८.१३.	वेद में शुभ्रवर्ण की लालिमा से युक्त उषा 'अरुषी' कहलाती है। इसके अतिरिक्त 'अरुषी' को ऋषि 'सप्तस्वसा' कहता है। इस प्रकार सप्तरश्मियों से जन्य प्रकाश भी 'अरुषी' है।	'न+'रुष्'।
३१.	अर्चि: ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.५.	उषा का प्रकाश और यज्ञ की ज्वालाओं को 'अर्चि:' नाम से कहा गया है। इन दोनों में पूजायोग्यतारूप समानधर्मता पायी जाती है।	'अर्च' पूजायाम् धातु।
३२.	अर्जुनी उषावाचक निघ०,१.८.६.	'उषा' का शुभ्ररूप वेद में सम्भवत:, 'अर्जुनी' नाम से अभिहित हुआ है।	'अर्ज्' धातु।
३३.	अर्ण: उदकवाचक निघ०,१.१२.१.	वेद की दृष्टि में वह उदक 'अर्ण:' है, जो बहकर या सीधे अन्तरिक्ष से समुद्र में पहुँचता है। सम्भवत:, ऋषि गतिशीलता के कारण उदक को 'अर्ण:' नाम से अभिहित करता है।	इस दृष्टि से नि:सन्दिग्ध रूप से गत्यर्थक को 'ऋ' धातु को 'अर्ण:' पद का मूल माना जा सकता है।
३४.	अर्णा: नदीवाचक निघ०,१.१३.२०.	'अर्णा:' पद मुख्यरूप से उदक के लिये व्यवहृत हुआ है। सम्भवत:, तीव गति का अभिधान करने के लिये नदियों को 'अर्णा:' कहा गया है।	'ऋ' धातु।
३५.	अर्वा अश्ववाचक निघ०,१.१४.३.	जो अग्नि के समान गति से मार्ग पार करता है, वह अश्व 'अर्वा' है।	'ऋ' धातु।
३६.	अवनि: पृथिवीवाचक निघ०,१.१.९.	अन्नादि की प्रचुरमात्रा होने से प्राणी का जीवन इस पर सुरक्षित है, यह नीड के समान समस्त प्राणियों की रक्षा करती है।	रक्षणार्थक 'अव्' धातु से 'अवनि:' रूप उपपन्न होता है।
३७.	अवनय: नदीवाचक निघ०,१.१३.१.	समुद्र तक के मार्ग के क्षेत्रों को सिञ्चित करने वाली नदियाँ 'अवनि:' हैं।	'अव्' धातु से औणादिक 'अनि' प्रत्यय।
३८.	अव्यथय: अश्ववाचक निघ०,१.१४.१९.	वेद में कष्ट या दु:खरहित उपाय 'अव्यथय:' है। यह दु:खरहित उपाय नौका और अश्व भी हो सकते हैं।	'न+'व्यथ्'।
३९.	अश्न: मेघवाचक निघ०,१.१०.५.	वेद में वह मेघ 'अश्न:' है, जो मध्यमस्थानी आदित्य का भ्राता तथा आकाश को व्याप्त करने वाला है। इसके अतिरिक्त वह अपिहित स्वभाव वाला है।	'अश' व्याप्तौ' धातु।
४०.	अश्मा मेघवाचक निघ०,१.१०.८.	वेद में वे मेघ अश्मा हैं, जिनसे अग्नि या विद्युत् का जन्म होता है और जिनके अन्तस् में स्थित किरणों को इन्द्र प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त	कोई भी निर्वचन बहुत समीचीन नहीं है। फिर भी 'अश' व्याप्तौ' धातु वाला

		ये बहुत उच्चस्थान पर स्थित होने वाले मेघ हैं।	निर्वचन किसी सीमा तक स्वीकार्य हो सकता है।
४१.	अश्वा: अश्ववाचक निघ०,१.१४.२६.	वेद में तीन प्रकार के अश्वों का उल्लेख प्राप्त होता है:-प्रथम-लोक प्रचलित अश्व, द्वितीय-अग्नि की शक्ति से सञ्चालित अश्व तथा तृतीय सूर्य की शक्ति से सञ्चालित अश्व।	'अश' व्याप्तौ' धातु।
४२.	असिक्नी रात्रिवाचक निघ०,१.७.१३.	'असिक्नी' वह रात्रि है, जिसमे प्रजा एकान्त में भोग्य पदार्थों का भोग करती है। यह रात्रि से मेघ से आच्छादित होने से अधिक अन्धकारमयी है। यह त्वचा के समान चारों ओर से व्याप्त कर लेती है।	यह पद 'सित' शब्द से विकसित हुआ प्रतीत होता है। 'न+सित'।
४३.	असुर: मेघवाचक निघ०,१.१०.२९.	वेद में वह मेघ असुर है, जो अहिंसक रीति से उदक का दान करता है, जो बृहत् यश वाला एवं वायु और रश्मियों से वृद्धि को प्राप्त करता है, वह ऐसा मेघ है, जिसका उपभोग उससे प्राप्त होने वाले अन्न के माध्यम से सब करते हैं।	इस अर्थ को दृष्टि में रखते हुए प्राणार्थक 'असु' शब्द से 'असुर' व्युत्पन्न हुआ है, कहा जा सकता है। इस प्रकार 'असु' क्षेपणे' धातु 'असुर' पद का मूल है।
४४.	अहना उषावाचक निघ०,१.८.१०.	वेद के अनुसार वह उषा 'अहना' है, जो प्रतिदिन प्रत्येक गृह में जाती है।	इस प्रकार वेद की दृष्टि में 'अहना' पद का मूल गत्यर्थक 'अह' धातु है।
४५.	अहि: मेघवाचक निघ०,१.१०.२१.	वह मेघ 'अहि' है, जो सर्वप्रथम (सृष्ट्युत्पत्ति के समय) उत्पन्न होता है, इस मेघ के वध से माया का नाश और उदक प्रवाहित होता है, इस अहि का नाश करने के लिये त्वष्टा स्वयं वज्र का निर्माण करके इन्द्र को देता है।	उक्त विशेषता को ध्यान में रखते हुए 'अहि' का निर्वचन 'आ+'हन्' धातु से युक्तिसङ्गत माना जा सकता है। वेद से भी इस निर्वचन का समर्थन हो जाता है।
४६.	अहि: उदकवाचक निघ०,१.१२.३१.	वेद में 'अहि' पद स्पष्टरूप से उदक अर्थ में नहीं आया है। वह यहाँ प्राय: 'मेघ' का वाचक है।	उक्तपद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।
४७.	आकाशम् अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.७.	वेद में 'आकाश' पद का सर्वथा उल्लेख नही हुआ है। इतर वैदिक साहित्य में 'आकाश' वह तत्त्व है, जिसमे सूर्य आदि ग्रह प्रकाशित होते हैं। इन सबका प्रकाशित होने का स्थान होने से यह 'आकाश' कहलाता है।	'आ+'काश्' धातु।
४८.	आता: दिशावाचक निघ०,१.६.१.	वेद में 'आता:' पद द्युलोक की दिशाओं के लिये प्रयुक्त होता है। द्युलोक की दिशायें पृथिवीलोक की अपेक्षा विस्तृत होती हैं।	पृथिवी लोक की अपेक्षा द्युलोक के विस्तृत होने से विस्तारार्थक 'तन्' धातु।
४९.	आप: अन्तरिक्षवाचक	वेद में 'आप:' का अन्तरिक्ष अर्थ में प्रयोग विरल हुआ है। 'आप:' की चरित्रगत विशेषता 'व्याप्त	व्यापनशीलता के कारण 'आप्लृ' व्याप्तौ' धातु।

	निघ०,१.३.८.	करना' उदक की अपेक्षा अन्तरिक्ष पर कहीं अधिक अच्छी प्रकार चरितार्थ होती है। सम्भवतः, मूलतः, यह अन्तरिक्ष वाचक नाम था, कालान्तर में समान विशेषता के कारण उदक को भी आपः' नाम से अभिहित किया गया होगा।	
५०.	आपः उदकवाचक निघ०,१.१२.५३.	वेद की दृष्टि में वे उदक आपः नाम से अभिहित हुए हैं, जिनमें ओषधीय तत्त्व विद्यमान हैं या जो ओषध के समान गुणकारी हैं। ये वे उदक हैं जो अन्तरिक्ष से वर्षा के रूप में पृथिवी पर आते हैं।	इस दृष्टि से 'आप्' धातु को निःसन्दिग्ध रूप से 'आपः' पद का मूल माना जा सकता है।
५१.	आयुधानि उदकवाचक निघ०,१.१२.२९.	उदक से वाष्प बनने की प्रक्रिया जामि है तथा उस जामि (वाष्परूप जल) से पुनः वर्षा के रूप में पृथिवी पर आने की प्रक्रिया को वेद आयुध नाम से कह रहा है। अन्तरिक्ष से बाण बरसने के समान प्रतीत होने वाला उदक 'आयुध' है।	'आ+'युध्' धातु।
५२.	आवयाः उदकवाचक निघ०,१.१२.४६.	वेद में 'आवयाः' पद उदक अर्थ का वाचक नहीं है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
५३.	आशाः दिशावाचक निघ०,१.६.२.	वेद के ऋषि की दृष्टि में 'आशा' वे दिशायें हैं, जिनसे भय की प्राप्ति होती है, इसलिये वह बार-बार आशाओं से अभय की प्रार्थना करता है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि ऋषि को शून्य दिशायें भयप्रद दिखायी देती हैं।	'अश्' 'व्याप्तौ या 'अश्' भोजने' धातु।
५४.	आशुः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१५.	द्रुतगामी होने के कारण को अश्व को 'आशुः' कहा जाता है।	व्याप्ति अर्थ वाली 'अश्' धातु।
५५.	आष्ठाः दिशावाचक निघ०,१.६.४.	'आष्ठाः' पद वेद और वैदिक साहित्य में अप्रयुक्त है।	'आ+'स्था'+क' से व्युत्पन्न किया जा सकता है।
५६.	इदम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१०१.	सामान्यतया वेद में 'इदम्' पद प्रत्यक्षबोधक सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु कुछ स्थलों पर वेद में 'इदम्' पद उदकवाचक रूप में प्रयुक्त है। लेकिन स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया है।	जिस प्रकार 'इन्द्र' पद का मूल 'इन्द्' या 'उन्द्' धातु है, उसी प्रकार 'इदम्' पद की भी।
५७.	इन्दुः उदकवाचक निघ०,१.१२.८४.	वेद की दृष्टि में आर्द्रता के रूप में विद्यमान उदक 'इन्दु' है, यही वह उदक है जो षट् ऋतुओं और अन्तरिक्ष में विद्यमान रहता है।	क्लेदनार्थक 'उन्द्' धातु को 'इन्दु' शब्द का मूल माना जा सकता है, परन्तु ध्वनिरूप की दृष्टि से इसका औचित्य सन्दिग्ध है।
५८.	इरावत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२५.	वेद में नदी अर्थ में अप्रयुक्त है। वेद में सर्वत्र अन्नवाचक अर्थ में प्रयुक्त है।	'इर्' धातु।

५९.	इला, इळा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१५.	वेद में जो मनुष्य को सभी आवश्यक उपकरण उपलब्ध कराती है, वह पृथ्वी 'इला' है। इसके अतिरिक्त इसका उपयोग देवता भी करते हैं। इस प्रकार यज्ञभूमि को वेद 'इडा' या 'इला' नाम से सम्बोधित करता है।	स्तुति किये जाने से यज्ञवेदि को 'इला' या 'इडा' कहा जाता है। अतः, स्तुत्यर्थक 'इड्' धातु से व्युत्पन्न है।
६०.	इडा, इळा वाग्वाचक निघ०,१.११.३.	यज्ञकर्म या आध्यात्मिक साधना में प्रयोग की जाने वाली वाणी को वेद 'इडा' नाम से अभिहित करता प्रतीत होता है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए स्तुत्यर्थक 'ईड्' धातु को 'इडा' (इला) पद का मूल माना जा सकता है।
६१.	ईम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६३.	वेद में वह उदक 'ईम्' है, जो अन्तरिक्ष से भूमि पर आता है और जिससे निर्माण कार्य का प्रारम्भ होता है।	सम्भवतः, इन्द्र से सम्बन्धित होने के कारण उदक का 'ईम्' यह नामकरण हुआ है।
६२.	उदकम् उदकवाचक निघ०,१.१२.३६.	वेद की दृष्टि में 'उदक' वह जल है, जो अन्तरिक्ष से लेकर पृथ्वी लोक तक के प्राणियों के पीने के उपयोग में आता है, यह स्वास्थ्य की दृष्टि से अनुकूल, कृषि के लिये उपयोगी एवं घट में भरकर ले जाने योग्य है।	इस दृष्टि से 'उत्+'अन्' या 'उन्द्' धातु को 'उदक' पद का मूल माना जा सकता है।
६३.	उपब्दिः वाग्वाचक निघ०,१.११.२६.	उच्च, गम्भीर और कर्कश ध्वनि वेद में 'उपब्दि' नाम से अभिहित हुई है। मधुरता को खण्डित कर देने के कारण यह वाक् 'उपब्दि' है।	इस दृष्टि से 'उप+'दो' अवखण्डने' को 'उपब्दि' का मूल माना जा सकता है।
६४.	उपरः मेघवाचक निघ०,१.१०.१८.	वेद के अध्ययन से 'उपर' का कोई विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। सम्भवतः, यह लोक भाषा में प्रयुक्त होने वाला 'ऊपर' शब्द है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
६५.	उपराः दिशावाचक निघ०,१.६.३.	वेद में वे दिशायें 'उपर' हैं, जिनमें द्युलोक आदि समस्त लोक निवास करते हैं। इस प्रकार वेद में 'उपर' शब्द निकटता या दिशाओं की 'उच्च स्थिति' का बोध करा रहा है।	'उपर' शब्द की व्युत्पत्ति अस्पष्ट है। फिर भी सम्भावना यह है कि उक्तपद का 'उप' या 'उपरि' से सम्बन्ध है।
६६.	उपलः मेघवाचक निघ०,१.१०.१९.	वेद के अध्ययन से 'उपर' का कोई विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। सम्भवतः, यह लोक भाषा में प्रयुक्त होने वाला 'ऊपर' शब्द है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
६७.	उर्वी पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१०.	वेद में वह पृथ्वी 'उर्वी' है, जिसके उच्च प्रदेशों में सूर्य अपने अंश को स्थापित करता है और यह विशालता से सबको अपने अन्दर धारण करती है। इसके अन्तस् में रत्नादि निहित रहते हैं।	विशालता के कारण पृथ्वी को 'उर्वी' कहा जाता है। अतः, 'ऊर्णु' से 'उरु' और उससे 'उर्वी' रूप सिद्ध होता है।
६८.	उर्व्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२४.	'उर्व्यः' पद वेद में अप्रयुक्त है। अतः, प्रमाण कें अभाव में विशिष्ट स्वरूप निरुपित करना सम्भव नहीं है।	'ऊर्णु' से 'उरु' और उससे 'उर्वी'।

६९.	उस्राः रश्मिवाचक निघ०,१.५.९.	वेद में 'उस्राः' वे रश्मियाँ हैं, जो द्युलोक का मार्ग प्रशस्त करती हैं, रोग को दूर भगाती हैं तथा इनके आने से तीनों लोक प्रकट हो जाते हैं। इनकी सङ्ख्या ९१ है, इनसे ये लोक को आच्छादित करती हैं।	'वस्' धातु। लोक को आच्छादित या उसमें निवास करने के कारण उक्त धातु से निर्वचन समीचीन प्रतीत होता है।
७०.	ऊधः रात्रिवाचक निघ०,१.७.२०.	वेद में 'ऊधस्' वह रात्रि है, जिनमें रुद्र पृश्नि से मरुद्गणों को उत्पन्न करता है, इन्द्र के लिये सोम का अभिषवण होता है, जो ओस के बिन्दुओं से सिक्त होती है एवं धेनु के समान सुख प्रदान करने वाली है।	क्लेदनार्थक 'उन्द्' धातु।
७१.	ऊर्जस्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२८.	वेद में नदीवाचक अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। वेद में यह पद प्रायः 'अन्नवती' और क्वचित् 'बलवती' अर्थ का वाचक है।	'ऊर्ज्' धातु।
७२.	ऊर्म्या रात्रिवाचक निघ०,१.७.५.	इस 'ऊर्म्या' नामक रात्रि की कामना लोग करते हैं, यह लगे हुए घावों को ठीक करती है और इसकी समाप्ति उषस् प्रकट होने के साथ होती है। इस रात्रिकाल में सुख और ऐश्वर्य की तरङ्ग उठती रहती है।	गत्यर्थक 'ऋ' धातु।
७३.	ऋक् वाग्वाचक निघ०,१.११.३४.	वह वाक् 'ऋक्' है, जो अग्नि की वृद्धि अर्थात् यज्ञकर्म को सम्पन्न करती है तथा जिसमें परम ब्रह्म का ज्ञान निहित है। वेद सामान्यतया मन्त्र अर्थ में 'ऋक्' का पाठ करता है।	स्तुत्यर्थक 'ऋच्' धातु।
७४.	ऋतम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६८.	वेद में वह उदक 'ऋत' नाम से अभिहित हुआ है, जो सृष्टि के शाश्वत नियम में बँधकर रहता है। फिर भी हम यह कह सकते हैं कि वेद को 'ऋत' शब्द का उदक अर्थ अधिक अभीष्ट नहीं है।	अर्थ की दृष्टि से 'ऋ' धातु से व्युत्पन्न होना सन्दिग्ध प्रतीत होता है।
७५.	ऋतस्य योनिः उदकवाचक निघ०,१.१२.७०.	'ऋतस्य योनिः' ऐसा उदक जिसकी योनि अन्तरिक्ष है अर्थात् जो अन्तरिक्ष से प्राप्त होता है या यह कहना अधिक उचित होगा कि जो अन्तरिक्ष में सञ्चित है।	'ऋत+योनिः=ऋतस्य योनिः।
७६.	ऋतावर्य्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२३.	अथाह गहराई और तीव्र वेग के कारण नदी को 'ऋतावरीः' कहा जाता है।	'ऋ' धातु।
७७	एतग्वः अश्ववाचक निघ०,१.१४.९.	वर्णयुक्त होने से सूर्यरश्मियाँ वेद में 'एतग्वा' नाम से अभिहित हुई हैं।	'एत+'गम्' धातु से।
७८.	एतशः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१०.	कहीं वेद सूर्य की तीक्ष्णरश्मियों को रश्मिरूप में तो कहीं अश्वरूप में 'एतशः' पद का उल्लेख करता है।	'इण्' गतौ' धातु।

७९.	एन्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.६.	समतल प्रदेश में बहने वाली नदियाँ यात्रा करने योग्य होने के कारण 'एन्यः' कही जाती हैं।	'इण्' गतौ' धातु।
८०.	ओजः उदकवाचक निघ०,१.१२.४३.	वर्षा करने वाले इन्द्र या मरुतों से जो उदक प्राप्त होता है, वह वेद की दृष्टि में 'ओजस्' है।	इस दृष्टि से विचार करने पर आर्जव अर्थ वाली 'उब्ज्' धातु को 'ओजः' पद का मूल माना जा सकता है।
८१.	ओदती उषावाचक निघ०,१.८.४.	मन्त्र के आधार पर उषावाचक 'ओदती' का अर्थ 'उदित होती हुई उषा' है तथा उषा के साथ उदक का कोई सम्बन्ध नहीं है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'ओदती' को 'उद्+'इ' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन प्रतीत होता है।
८२.	ओदनः मेघवाचक निघ०,१.१०.२६.	जो उदकदान की सामर्थ्य के कारण परिपक्व है, वह मेघ वेद की दृष्टि में 'ओदन' है।	'उन्द्' धातु।
८३.	औच्चैःश्रवसः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१३.	महनीय कीर्ति वाला होने से इन्द्र के अश्व को वेद सम्भवतः, 'औच्चैःश्रवसः' नाम से अभिहित करता है।	''उच्चैःश्रवस्'' से 'औच्चैःश्रवसः' पद निष्पन्न हुआ है।
८४.	ककुभः दिशावाचक निघ०,१.६.७. .	ऋग्वेद 'ककुभ' की सङ्ख्या आठ मानता है। इसके अतिरिक्त 'ककुभ' का सम्बन्ध सूर्य (वरुण, विष्णु) से है, सम्भवतः, इसलिये ऋषि इसका सम्बन्ध प्राची दिशा से मानता है। 'ककुभ' वे दिशायें हैं, जिनमें उच्चस्थ पदार्थों के आधार पर दिशा निर्धारित की जाती है।	'ककुभ' का सम्बन्ध 'ककुद' से प्रतीत होता है। ये दोनों समान मूल के प्रतीत होते हैं।
८५.	कनकम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.९.	वेद में 'कनक' पद अप्रयुक्त है। अतः, उसके विशिष्ट स्वरूप का निर्धारण करना सम्भव नहीं है।	कान्तिवाचक 'कन्' धातु।
८६.	कबन्धम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६.	जो जल नियन्त्रित रूप से उपयोग में आता है, वह 'कवन्ध' है। नियन्त्रित उपयोग वाला उदक मनुष्य को सुख एवं समृद्धि प्रदान कर सकता है।	'क+'बन्ध्' धातु।
८७	कल्मलीकिनम् ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.२.	वेद में मल को दूर करने वाली अग्नि का नाम 'कल्मलीकिन' है।	'कल्'+मल'।
८८.	कवन्धम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६.	जो जल नियन्त्रित रूप से उपयोग में आता है, वह 'कवन्ध' है। नियन्त्रित उपयोग वाला उदक मनुष्य को सुख एवं समृद्धि प्रदान कर सकता है।	''क+'बन्ध्' धातु।
८९.	कशः उदकवाचक निघ०,१.१२.१७.	उदकवाचक 'कशः' पद का प्रयोग केवल एक बार वह भी स्वतन्त्र रूप में न होकर एक अन्य शब्द के साथ हुआ है। इस प्रकार मात्र एक	'कश्' धातु।

		उद्धरण से 'कशः' पद के विशिष्ट अर्थ को निरूपित करना सम्भव नहीं है।	
९०.	कशा वाग्वाचक निघ०,१.११.४३.	वेद में वह वाक् 'कशा' है, जो मधुमती और सूनृतावति है तथा जिसके प्रभाव से मरुत् अन्तरिक्षलोक से नीचे आ जाते हैं।	सर्वाधिक सम्भव निर्वचन प्रकाशनार्थक 'काश्' धातु प्रतीत होती है।
९१.	काकुत् वाग्वाचक निघ०,१.११.२८.	वह वाक् 'काकुत्' है, जिसमें समुद्र का जल, मधुरता की लहरें और नदियों का उदक प्रवाहित होता हो, सम्भवतः, इन विशेषणों के कारण तालु को 'काकुत्' कहा जाता है और जब ये विशेषतायें किसी भाषा में होती हैं, तब वह भाषा, साहित्य या वाणी काकुत्' नाम से अभिहित होती है। इस प्रकार जो सरस वाणी है, वह सम्भवतः, वैदिक ऋषि की दृष्टि में 'काकुत्' है।	'कु'=कोकुवा, कोकुवा+'नुद्' =काकुद्।
९२.	काञ्चनम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.१०.	वेद में अप्रयुक्त रहने के कारण 'काञ्चन' के विशिष्ट स्वरूप को निर्धारण करना सम्भव नहीं है, परन्तु धातु के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि आभूषण के काम आने वाला सुवर्ण काञ्चन है, लेकिन शब्द का ध्वनिरूप वर्तमान में प्रचलित 'काँच' का सङ्केत देता है।	दीप्ति और बन्धन अर्थ वाली 'कञ्च्' धातु।
९३.	काष्ठाः दिशावाचक निघ०,१.६.५.	वेद में काष्ठा' वे दिशायें हैं, जिनमें दिशाओं के अन्तिम छोर को प्रतिबिम्बित किया जाता है।	'क्रम्'+'स्था' से व्युत्पन्न होने की सम्भावना क्षीण है।
९४.	किरणाः रश्मिवाचक निघ०,१.५.२.	वेद में काँपने के स्वभाव वाली किरणों को 'किरण' कहा गया है। सम्भवतः, विक्षेप कम्पन रूप होता है।	विक्षेप अर्थ वाली 'कॄ' धातु।
९५.	कुल्याः नदीवाचक निघ०,१.१३.२२.	जिसका अन्त महाह्रद में होता है, ऐसी नहर, नाले वाली जलधारायें वेद में 'कुल्याः' नाम से कही गयी हैं। इनका जल पितरों, जीवित, मृत, यज्ञिय आदि सभी को तृप्ति देता है।	अव्युत्पन्न।
९६.	कृपीटम् उदकवाचक निघ०,१.१२.९४.	वह उदक 'कृपीट' है, जिसके कारण मरुदादि देवगण देखते ही मेघ का वध कर देते हैं। इस प्रकार वेद के ऋषि की दृष्टि में वर्षणीय उदक 'कृपीट' नाम से अभिहित हुआ है।	'कृपीट' का मूल 'कृप्' धातु है।
९७.	कृशनम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.७.	वेद में 'कृशन' को नक्षत्र के समान कान्ति तथा हिरण्य की कान्ति को शान्त करने वाला माना गया है। इस आधार पर यह प्रतीत होता है कि वेद में 'कृशन' पद मुक्ता अर्थ का वाचक है।	'कृश्' दीप्तौ धातु।
९८.	कोशः मेघवाचक	ऋषि 'कोश' नामक मेघ को माधुर्यगुणयुक्त एवं कोशगार स्वरूप बतलाता है। कहीं ऋषि इस	'कोश' के निधान या कोशागार स्वरूप को ध्यान में रखते हुए

	निघ०,१.१०.३०.	विशेषता को मधुकोश कहकर स्पष्ट करता है और कहीं मधुवर्ण कहकर प्रतिपादित करता है। इस प्रकार ऋषि कोश का सम्बन्ध मधु के साथ रेखाङ्कित करता है।	'कुष्' धातु को 'कोश' का मूल स्वीकार किया जा सकता है।
९९.	क्षत्रम् उदकवाचक निघ०,१.१२.४५.	द्यावापृथिवी, मित्रावरुण और इन्द्रावरुण- इन युगल देवों के सम्पर्क से प्राप्त होने वाला उदक वेद की दृष्टि में 'क्षत्र' हैं।	व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। फिर भी 'क्षि' निवासगत्योः' धातु के माने जाने की सम्भावना है।
१००.	क्षद्म उदकवाचक निघ०,१.१२.३.	सूक्ष्म वाष्परूप में स्थित उदक को वेद में 'क्षद्म' नाम से अभिहित किया गया है।	रूप की दृष्टि से 'क्षद्' धातु।
१०१.	क्षप, क्षपा रात्रिवाचक निघ०,१.७.२.	जिसमे अन्धकार और प्रकाश का मिश्रण है, ऐसी प्रभातकालीन रात्रि वेद में 'क्षपा' नाम से अभिहित हुई है। इसके अतिरिक्त इस रात्रि को वेद परिष्कृत और बल को देने वाली बतलाता है।	'क्षप्' धातु। अवसानोन्मुख रात्रि। जिसने अपने को समेटने का कार्य प्रारम्भ कर दिया है।
१०२.	क्षपः उदकवाचक निघ०,१.१२.३०.	वेद में 'क्षपः' पद उदक का वाचक नहीं है।	'क्षप्' धातु।
१०३.	क्षमा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.६.	मनुष्य के लिये आवश्यक सुखसुविधाओं से सम्पन्न, सुरिक्षत एवं वंशपरम्परा के पालन के अनुकूल पृथिवी वेद की दृष्टि में 'क्षमा' है।	रूप की दृष्टि से 'क्षम्' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से यह व्युत्पत्ति अस्वीकार्य है।
१०४.	क्षा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.५.	'क्षा' वह पृथ्वी है, जिस पर उदक सङ्घात व्याप्त है, जहाँ पर कभी वृष्टि का अभाव नहीं होता और जो कभी भी अग्नि के कोप से वनस्पतिरहित नहीं होती। इस प्रकार अभावरहित होने से निवासयोग्य पृथ्वी 'क्षा' है।	निवासयोग्य होने योग्य होने के कारण 'क्षा' को 'क्षि' निवासे धातु से व्युत्पन्न किया जाना उचित है।
१०५.	क्षितिः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.८.	वेद में वह पृथिवी क्षिति है, जिस पर मित्रावरुण (सूर्य और वायु) विजय दुन्दुभि बजाते हुए आते हैं। यहाँ प्रजा पुष्टि को तथा पापी पाप से मुक्त हो जाते हैं।	निवासयोग्य होने से पृथ्वी 'क्षिति' कहलाती है। अतः, निवासार्थक 'क्षि' धातु 'क्षितिः' पद का मूल है।
१०६.	क्षीरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१४.	जो उदक अन्तरिक्ष से प्राप्त होकर नदी आदि के रूप में प्रवाहित होता है, वह उदक वेद में 'क्षीर' कहा गया है।	'क्षर' सञ्चलने' धातु को 'क्षीर' पद का मूल माना जा सकता है।
१०७.	क्षोणिः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.७.	वेद की दृष्टि में वह पृथिवी 'क्षोणिः' है, जिसमें वृद्धावस्था तक रहकर प्राणी उपभोग करते हैं, इस पर न क्रन्दन है और न रुदन। इस पर मरुत् (मनुष्य) जलधाराओं और सूर्य की शक्ति को सम्यक् धारण करते हैं।	क्षयण योग्य होने से यह पृथिवी 'क्षोणि' है। अतः, यह पद 'क्षि' धातुमूलक प्रतीत होता है।

१०८.	क्षोदः उदकवाचक निघ०,१.१२.२.	वेद में नदी का तीव्र गति से प्रवाहित होने वाला जल 'क्षोदः' है।	'क्षुद्' धातु।
१०९.	क्ष्मा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.४.	वेद में 'क्ष्मा' ऐसी पृथिवी के रूप में चित्रित है, जो प्रजापति आदित्य रेत अथवा इन्द्र के उदक से सिञ्चित है तथा जो वनस्पतियों को दृढ़ता से धारण करती है।	उक्त गुणों वाली पृथिवी निवासयोग्य है, अतः, निवासार्थक 'क्षि' धातु से व्युत्पन्न करना उचित है।
११०.	खेदयः रश्मिवाचक निघ०,१.५.१.	अन्धकार विनाशक और वर्षक रश्मियाँ वेद में 'खेदयः' नाम से अभिहित हुई हैं।	कष्ट पहुँचाने वाली 'खिद्' धातु।
१११.	गणः वाग्वाचक निघ०,१.११.३८.	वेद में वाक् अर्थ में प्रयुक्त नहीं है।	'गण' सङ्ख्याने' धातु।
११२.	गभस्तयः रश्मिवाचक निघ०,१.५.७.	वेद 'गभस्ति' नाम की दो रश्मियाँ मानता है। उनमें से एक रस का आहरण करती है और दूसरी जल प्रदान करती है।	आहरण कर्म करने के कारण 'ग्रह्' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है।
११३.	गभीरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६१.	वेद में 'गभीर' पद उदक के विशेषण के रूप में आया है, परन्तु उदकवाचक रूप में नहीं आया है।	'गभीरम्' पद की व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है।
११४.	गभीरा वाग्वाचक निघ०,१.११.७.	वेद में 'गभीर' पद प्रमुखरूप से 'गहन' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसमें भी इसकी भूमिका प्रायः विशेषण की रही है। क्वचित् 'गम्भीर वाक्' अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है।	'गह्' धातु।
११५.	गम्भरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६२.	जिसमें बड़े पुरुष के पैर टिक जाते हैं, वह उदक 'गम्भर' है। इस प्रकार पुरुष प्रमाण वाला उदक 'गम्भर' है।	इस दृष्टि से 'ग्रह्' धातु को 'गम्भर' पद का मूल माना जा सकता है।
११६.	गम्भीरा वाग्वाचक निघ०,१.११.८.	सम्भवतः, मेघ गर्जना को ऋषि 'गम्भीरा' नाम से सम्बोधित करता है, परन्तु पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। सामान्यरूप से यह 'गहन' का अर्थ का बोध कराता है।	सम्भवतः, गम्' धातु।
११७.	गल्दा वाग्वाचक निघ०,१.११.५४.	वेद में 'गल्दा' का स्वरूप अस्पष्ट है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
११८.	गहनम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६०.	ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में 'गहनम्' पद उदकवाचक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। वेद में यह पद उदक के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है।	इस दृष्टि से सघन अर्थ वाली 'गह्' धातु 'गहनम्' पद का मूल प्रतीत होती है।

११९.	गातुः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.२०.	वेद में 'गातु' पद का मार्ग और पृथिवी दोनों अर्थों में उपयोग हुआ है। वह पृथिवी 'गातु' है, जो विद्वानों के उपयोग में लायी जाती है तथा अमृतत्व के उपायभूत स्तोत्र गाये जाते हैं। वह मार्ग 'गातु' है, जिसपर चलकर प्राणी ऊपर जाता है तथा जो बन्धन को खोलता एवं शान्ति प्रदान करता है।	स्तुति अर्थात् ज्ञान के मार्ग की ओर ले जाने वाला स्थान या मार्ग वेद की दृष्टि में गातु है। अतः, 'गा' स्तुतौ' धातु को उक्तपद को व्युत्पन्न करना उचित है।
१२०.	गाथा वाग्वाचक निघ०,१.११.३७.	वह वाक् 'गाथा' है, जो कथाप्रधान होने के साथ-साथ गाकर कही जाती है। गेयता को दृष्टि में रखते हुए वाणी की यह विधा 'गाथा' से नाम से अभिहित हुई है।	'गै' धातु।
१२१.	गान्धर्वी वाग्वाचक निघ०,१.११.६.	वह वाक् 'गान्धर्वी' है, जो वर्षा ऋतु में गर्जना के माध्यम से उदक की प्राप्ति कराती है।	'गो+'धृ'।
१२२.	गावः रश्मिवाचक निघ०,१.५.३.	वेद में भूमिस्थ जलों का पान करने के लिये जाने वाली रश्मियाँ 'गौः' नाम से अभिहित हुई हैं। इसके अतिरिक्त इनके रहने का स्थान विष्णुलोक बताया गया है।	गत्यर्थक 'गम्' धातु।
१२३.	गिरिः मेघवाचक निघ०,१.१०.१०.	वेद में वे मेघ गिरि हैं, जो उदक का दान नहीं करते हैं अथवा जो दान करने के स्थान पर उदक का शोषण कर लेते हैं।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए निगरणार्थक 'गृ' धातु।
१२४.	गीः वाग्वाचक निघ०,१.११.३६.	वह वाक् 'गिर्' है, जो प्रमुखरूप से यज्ञ के ०अवसर पर प्रयुक्त की जाती है, इसका स्वरूप स्तुत्यात्मक, धीर और गम्भीर है।	इस दृष्टि से हम स्तुत्यर्थक 'गृ' या 'गॄ' धातु को उक्त पद का मूल मान सकते हैं।
१२५.	गोत्रः मेघवाचक निघ०,१.१०.३.	जब शरीर के अङ्गों से रस प्रवाहित होना प्रारम्भ होता है, उस निर्वातकाल में वर्षा करने वाले मेघ सम्भवतः वेद की दृष्टि में 'गोत्र' हैं।	उक्त अर्थ की प्रतीति किसी भी निर्वचन से होती दिखायी नहीं देती, फिर भी 'गो+'त्रा' वाली व्युत्पत्ति समीचीन प्रतीत होती है।
१२६.	गोत्रा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.२१.	वेद में वह पृथ्वी 'गोत्र' है, जहाँ उन्मुक्त वातावरण में गो समुदाय रहता है, एक प्रकार से बन्धनमुक्त गायों के चरने व ठहरने का स्थान गोत्र है। इस प्रकार यह स्वीकार किया जा सकता है कि 'गोत्र' वह भूमि' है, जो गायों के लिये संरक्षित की जाती थी।	घास और जल से रक्षा करने के कारण पृथ्वी को 'गोत्रा' कहा गया है। इसलिये 'गो+'त्रै' धातु 'गोत्रा पद का मूल प्रतीत होती है।
१२७.	गौः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१.	वेद अनेकशः पृथिवी को 'भूर्णिः' नाम से अभिहित करता है, इससे पृथिवी के गतिशील होने की पुष्टि होती है। इस प्रकार वेद में गतिशील होने के कारण पृथिवी को 'गौ' नाम से अभिहित किया गया है।	गतिशील होने के कारण पृथिवी को 'गम्' या 'गा' धातु से व्युत्पन्न मानाा जा सकता है।

१२८.	गौः साधारणवाचक निघं०,१.४.४.	वेद से किसी विशिष्ट चरित्र की प्रतीति नहीं हो पाती है। ब्राह्मणग्रन्थों तथा निरुक्त के आधार पर गतिशीलता को 'गौ' नामक द्युलोक की विशेषता स्वीकार किया जा सकता है।	'गम्' धातु।
१२९.	गावः रश्मिवाचक निघं०,१.५.३.	वेद में भूमिस्थ जलों का पान करने के लिये जाने वाली रश्मियाँ 'गौः' नाम से अभिहित हुई हैं। इसके अतिरिक्त इनके रहने का स्थान विष्णुलोक बताया गया है।	गत्यर्थक 'गम्' धातु।
१३०.	गौः वाग्वाचक निघं०,१.११.४.	वह वाक् 'गौ' है, जो मेघ पर स्थित होकर माध्यमिका वाक् के रूप में गर्जना करती है, यह गौ अनेकविधा है, अतः, ऋषि इसके रूप तथा प्रकार अनन्त बतलाता है, विद्वान् के द्वारा सर्वजन हिताय किया जाने वाला प्रयोग इसका सर्वोत्तम उपयोग है, यह गौ चार सींग, तीन पैर, दो सिर तथा सात हाथ वाली है।	'गम्' धातु।
१३१.	गौरी वाग्वाचक निघं०,१.११.५.	वह वाक् 'गौरी' है, जो स्वादयुक्त एवं मधुरगुण वाली है, यह वाक् अव्याकृत और व्याकृत दोनों रूपों का प्रतिनिधित्व करती है, व्याकृतरूपा होने पर यह व्याकरण के नियमों में आबद्ध होती है।	स्तुत्यर्थक 'गृ' धातु।
१३२.	ग्नाः वाग्वाचक निघं०,१.११.४०.	वह वाक् 'ग्ना' है, जो अन्धकार का विनाश करते हुए जीवन निर्माण करती है। ग्ना को देवपत्नी कहे जाने का, सम्भवतः, कारण यह है कि यह दिव्य गुणों का पालन करती है।	'गम्' धातु से 'ग्ना' पद के व्युत्पन्न होने की सम्भावना है।
१३३.	ग्मा पृथिवीवाचक निघं०,१.१.२.	वेद सर्वत्र द्यावापृथिवी के युग्म के समान 'ग्मः' और 'दिवः' के युग्म का प्रयोग करता है। इस प्रकार देवता के आलोक से आलोकित पृथ्वी वेद में 'ग्मा' नाम से अभिहित हुई है।	'ग्मा' पद 'गम्' धातु से व्युत्पन्न प्रतीत होता है।
१३४.	ग्रावा मेघवाचक निघं०,१.१०.२.	वेद में वह मेघ 'ग्रावा' है, जो गर्जना करता हुआ वर्षणकर्म सम्पन्न करता है।	वेद की दृष्टि में 'ग्रावा' पद का मूल शब्दार्थक 'गृ' धातु है।
१३५.	घर्मः दिवसवाचक निघं०,१.९.७.	वह दिवस 'घर्म' है, जिसकी उष्णता से घृत का विलयन होने लगता है और जो मनुष्य के शरीर में से स्वेद प्रवाहित कर देता है। सङ्क्षेप में कह सकते हैं कि निदाघकालीन मध्याह्न का समय 'घर्म' है।	'घृ' क्षरणदीप्त्योः' धातु।
१३६.	घृणः दिवसवाचक	वेद में मध्याह्नकालीन सुखकर दिवस 'घृण' माना गया हैं। सम्भवतः, यह शरद्कालीन दिवस का	उक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'घृ' क्षरणदीप्त्योः' धातु से

	निघ०,१.९.८.	नाम है, क्योंकि इस ऋतु में आतप सुखकर लगता है।	'घृण' पद का निर्वचन करना समीचीन प्रतीत होता है।
१३७.	घृणिः ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.१०.	देवयजन की कामना से मनुष्य यज्ञ की शरण में जाता है। यह यज्ञ की प्रज्वलित अग्नि वेद में 'घृणिः' नाम से अभिहित हुई है।	यज्ञ में घृत क्षरित होने के कारण 'घृ' क्षरणदीप्त्योः' धातु।
१३८.	घृतम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१०.	जो उदक वर्षा के रूप में बरसता है, वह वेद की दृष्टि में 'घृत' है।	'घृ' क्षरणदीप्त्योः' धातु निर्विवाद रूप से 'घृत' पद का मूल है।
१३९.	घृताची रात्रिवाचक निघ०,१.७.१६.	जिस रात्रि में घृत अग्नि में अर्पित किया जाता है और जिसके परिणामस्वरूप अपरिमित धन दान के रूप में प्राप्त होता है, वह रात्रि 'घृताची' है।	'घृत+'अञ्च्'।
१४०.	घोषः वाग्वाचक निघ०,१.११.३०.	प्रतिज्ञान के रूप में प्रकाशित की जाने वाली वाणी वेद में 'घोष' नाम से अभिहित हुयी है, यह प्रतिज्ञान काव्य के रूप में भी हो सकता है और परमात्मा के समक्ष आत्मनिवेदन के रूप में भी, परन्तु इसका स्वरूप उच्च ध्वनियुक्त होता है, जिससे वह सर्वश्राव्य हो सके।	उक्त स्वरूप को ध्यान में रखते हुए निर्विवाद रूप से 'घुष्' धातु को 'घोष' पद का मूल माना जा सकता है।
१४१.	घ्रंसः दिवसवाचक निघ०,१.९.६.	वेद में 'घ्रंस' वह दिवस है, जिसमें अश्विनीदेव हिम सदृश जल से दाहकता का निवारण करते हैं। ये सम्भवतः, निदाघ ऋतु के अवसान के समय आसन्न वर्षाकालीन निर्वात (उमस) युक्त दिवसों का नामकरण प्रतीत होता है।	'ग्रस्' या 'ग्रह्' धातु।
१४२.	चन्द्रम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.२.	वेद में चन्द्र को 'चर्षणिप्राः' अर्थात् तन-मन में बसने वाला कहा गया है। ऋषि एक मन्त्र में अश्व, गौ, चन्द्र और हिरण्य देने को कहता है। इससे यह सूचित होता है कि चन्द्र हिरण्य से पृथक् धातु है। सम्भवतः, चन्द्र के समान वर्ण वाली रजत धातु को वेद 'चन्द्र' नाम से अभिहित करता है।	रजत धातु कान्तिमय तथा आह्लादक होने से 'चद्' धातु से 'चन्द्र' पद को व्युत्पन्न करना समीचीन है।
१४३.	चमसः मेघवाचक निघ०,१.१०.२०.	'चमस' वे मेघ हैं, जिनको ऋभुगण त्वष्टा देव की सहायता से खण्डित करते हैं। सम्भवतः, इसलिये ऋषि बार-बार इनके चतुर्धा विभक्त होने अर्थात् अन्तरिक्ष, वायु, अग्नि और भूमि में बँट जाने का उल्लेख करता है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'चमस' का 'चम्' धातुमूलक निर्वचन युक्तिसङ्गत माना जा सकता है।
१४४.	चरुः मेघवाचक निघ०,१.१०.१२.	वेद में मेघ अर्थ में 'चरु' का प्रयोग हुआ है, पर विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया है।	'चर्' धातु।
१४५.	चित्रामघा उषावाचक	उषा का वह रूप 'चित्रामघा' है, जिस काल में वह चित्र-विचित्र रश्मियों से समन्वित होकर	'चित्र ('चिती संज्ञाने')+'मंह्' धातु।

	निघ०,१.८.५.	पृथिवी का स्पर्श और स्तोताओं को धन प्रदान करती है।	
१४६.	जन्म उदकवाचक निघ०,१.१२.१८.	वेद में 'जन्म' शब्द जल वाचक नहीं है, वह उत्पत्ति, उद्भव आदि अर्थ का वाचक है। प्राणी की उत्पत्ति और उसके अस्तित्व का आधार होने के कारण जल 'जन्म' नाम से अभिहित हुआ होगा।	'जन्' धातु।
१४७.	जमत् ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.१.	जिस प्रज्वलित अग्नि से देवता की स्तुति की जाती है और जो हवि का भोग करती है, वह अग्नि वेद में 'जमत्' है।	'जमु' अदने' धातु।
१४८.	जलम् उदकवाचक निघ०,१.१२.९९.	वेद में 'जल' शब्द का सर्वथा उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।	'जल्' धातु को 'जल' शब्द का मूल मान सकते हैं।
१४९.	जलाषम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१००.	वह उदक 'जलाष' है, जिससे या जिसमें रुद्र (भिषक्) के लिये औषधियाँ उत्पन्न होती हैं।	इस दृष्टि से 'जल्' एवं 'शी' धातु के संयोग से 'जलाष' पद व्युत्पन्न हुआ प्रतीत होता है।
१५०.	जातरूपम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.१५.	वैदिक साहित्य में 'जातरूप' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। अतः, प्रमाण के अभाव में इस विषय में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है।	'जात+रूप'।
१५१.	जामि उदकवाचक निघ०,१.१२.२८.	वह उदक 'जामि' है, जो पुनः उत्पन्न होने के लिये वाष्पीकरण की प्रक्रिया से होकर यात्रा करता है।	इस दृष्टि से 'जन्' धातु को 'जामि' पद का मूल माना जा सकता है।
१५२.	जिह्वा वाग्वाचक निघ०,१.११.२९.	वेद में वह वाक् 'जिह्वा' है, जिसमें मधुरता और मेधा का सङ्गम है। इसको दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जो सरस वाणी है, वह वेद में 'जिह्वा' नाम से अभिहित हुयी है। सम्भवतः, इसके नामकरण के मूल में यह सरसता ही है।	इस दृष्टि से 'लिह' या 'हु' धातु 'जिह्वा' पद का मूल प्रतीत होती हैं। इनमें से 'लिह' धातु के 'जिह्वा' पद का मूल होने की अधिक सम्भावना है।
१५३.	ज्मा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.३.	जिसमें प्राणी नानाविध कर्म में संलग्न रहते हैं, ऐसी पृथिवी वेद की दृष्टि में 'ज्मा' है। इसके अतिरिक्त ऋषि इसे सीमित मानता है।	गत्यर्थक 'जम्' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना है।
१५४.	तपः ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.७.	वेद केवल अग्नि के ताप को सहन करने को ही तप नहीं मानता, अपितु आयुधरूप में अग्नि के उपयोग को भी तप कहता है, वहीं साधनारूप तपस्या का भी तप मानकर उल्लेख किया गया है।	'तप्' धातु।
१५५.	तमः रात्रिवाचक निघ०,१.७.११.	वेद में 'तमः' पद रात्रि का वाचक न होकर अन्धकार का वाचक है। यह अन्धकार कहीं रात्रि से तो कहीं मेघ के आच्छादित होने से है। वेद इस 'तमस्' को 'कृष्णतमस्' और 'अन्धतमस्' के नाम से अभिहित करता है।	विस्तार अर्थ वाली 'तन्' धातु।

१५६.	तमस्वती रात्रिवाचक निघ०,१.७.१५.	विस्तार के कारण जिसका ओर-छोर दिखायी नहीं पड़ता और जो अपने अन्धकार से सबको आवृत कर लेती है, वेद में वह रात्रि 'तमस्वती' है।	'तमस्+मतुप्'।
१५७.	तरस्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.३१.	वेद और वैदिक साहित्य में 'तरस्वती' पद अप्रयुक्त है।	'तॄ' धातु।
१५८.	तार्क्ष्यः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१४.	यह स्पष्ट नहीं है कि 'तार्क्ष्य' उड़ने वाला या चतुष्पाद प्राणी है। फिर भी वाहन से उसका कुछ सम्बन्ध अवश्य है।	'तक्ष्' धातु से व्युत्पन्न होने की क्षीण सम्भावना है।
१५९.	तुग्र्या उदकवाचक निघ०,१.१२,२१.	वे उदक वेद में 'तुग्र्या' नाम से अभिहित हुए हैं, जिनका सम्बन्ध सूर्य से है। आदित्य को 'तुग्र' कहा जाता है। उससे सम्बन्धित होने से उदक 'तुग्र्या' नाम से अभिहित हुए हैं।	'तुज्'=तुग्र=तुग्र्या'।
१६०.	तूयम् उदकवाचक निघ०,१.१२.९३.	वेद में प्रायः सर्वत्र 'तूयम्' पद क्रिया विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, अतः, वेद में यह उदकवाचक नहीं है।	'त्वर्' धातु से व्युत्पन्न होने की क्षीण सम्भावना प्रतीत होती है।
१६१.	तृप्तिः उदकवाचक निघ०,१.१२.३४.	वेद और वैदिक साहित्य में 'तृप्ति' पद उदक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है।	'तृप्' धातु।
१६२.	तेजः उदकवाचक निघ०,१.१२.९६.	जो स्त्री और पुरुष में वीर्य रूप में विद्यमान रहता है, वह तत्त्व 'तेजस्' है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि 'तेजस्' पद अग्नि और उसके गुण का अभिधायक है।	निःसन्दिग्धरूप से 'तिज' निशाने' धातु 'तेजस्' पद का मूल है।
१६३.	तेजः ज़्वलद्वाचक निघ०,१.१७.८.	१. पराक्रम, २. शारीरिक व आध्यात्मिक सौन्दर्य, ३. रेतस्, ४. अग्नि का वैज्ञानिक उपयोग, ५. आयुध, ६. विद्या, ७. शारीरिक बल, ८. यज्ञ, ९. अग्नि-इन उक्त रूपों में तेजस् का प्रयोग हुआ है। वस्तु और व्यक्ति में निहित शक्ति की अभिव्यक्ति 'तेजस्' है।	'तिज' निशाने' धातु।
१६४.	तोयम् उदकवाचक निघ०,१.१२.९२.	अप्रयुक्त होने के कारण वैदिक साहित्य के आधार पर 'तोयम्' के स्वरूप को स्पष्ट करना सम्भव नहीं है। लेकिन लौकिक साहित्य में यह पद जीवन के आधारभूत तत्त्व उदक अर्थ का वाचक था।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
१६५.	दत्रम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.१४.	सामान्य रूप से यह पद वेद में सुवर्ण का वाचक नहीं है। वेद दातव्य धन को 'दत्र' नाम से कहता है। परन्तु यह सम्भव है कि वैदिक काल में सुवर्ण धन का पर्याय रहा हो।	दानार्थक 'दा' धातु।
१६६.	दधिक्राः अश्ववाचक निघ०,१.१४.७.	जो अपने मार्ग का स्मरण रखता है, ऐसा बुद्धिमान् अश्व ' वेद में दधिक्राः' नाम से स्मरण किया गया	'दधि+'कृ' धातुमूलक निर्वचन के क्षीणरूप से स्वीकार किये

		है।	जाने की सम्भावना है। शेष सभी निर्वचन असङ्गत हैं।
१६७.	दधिक्रावा अश्ववाचक निघ०,१.१४.८.	अर्थ 'दधिक्राः' के समान।	व्युत्पत्ति भी 'दधिक्राः' के समान अस्पष्ट है।
१६८.	दिनम् दिवसवाचक निघ०,१.९.९.	वह दिन सुदिन है, जिसमें मनुष्य उन्नति के पथ पर आगे बढ़ता हुआ समृद्धि तथा सुख को प्राप्त करता है, जिस प्रकार दिवस में प्रकाश की मात्रा की अधिकता होती है, उसी प्रकार जिसके जीवन में प्रकाश अधिक होता है, उस व्यक्ति का दिन सुदिन होता है।	'दो' अवखण्डने' धातु की अपेक्षा 'दिव्' धातु से व्युत्पन्न करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।
१६९.	दिवा दिवसवाचक निघ०,१.९.१०.	वेद में इसका कोई स्पष्ट स्वरूप उभरकर नहीं आ पाया है। जिसमें प्रकाश की मात्रा अधिक है, वह दिन 'दिवा' है।	'दिव्' धातु।
१७०.	दिवेदिवे दिवसवाचक निघ०,१.९.११.	वेद में 'दिवेदिवे' प्रतिदिन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और प्रतिदिन सम्पन्न होने वाले लोक कल्याण के कार्य वेद में 'दिवेदिवे' के माध्यम से अभिव्यक्त हुए हैं।	'दिव्' धातु।
१७१.	दृतिः मेघवाचक निघ०,१.१०.२५.	वह मेघ 'दृति' है, जो अन्तरिक्ष के मध्य मधुरगुणयुक्त है, इसको पर्जन्य देव ऐसे उद्घाटित करते हैं, जैसे कोई चर्मनिर्मित उदक छिड़कने के पात्र को उद्घाटित करता है।	'दृ' विदारणे' धातु।
१७२.	दीधितयः रश्मिवाचक निघ०,१.५.६.	वेद में सूर्यरश्मि अर्थ में यह अप्रयुक्त है। वेद इसे प्राण और बल की दात्री तथा दुःखों का नाश करने वाली के रूप में चित्रित करता है। इसको ऋषि विश्व द्वारा वरणीय भी बतलाता है।	रश्मि के सन्दर्भ में 'धीङ्' आदाने' धातु उचित प्रतीत होती है।
१७३.	दोषा रात्रिवाचक निघ०,१.७.९.	दिवस के विलोम के रूप में प्रयुक्त होने वाली रात्रि वेद में 'दोषा' है। इसमें मनुष्य उन्नति के सोपान चढ़ता है।	'दुष' वैकृत्ये' धातु से सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। अभी अव्युत्पन्न मानना उचित है।
१७४.	दौर्गहः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१२.	'दौर्गहः' पद का स्वरूप अस्पष्ट है।	अस्पष्ट।
१७५.	द्यविद्यवि दिवसवाचक निघ०,१.९.१२.	वेद में 'द्यविद्यवि' का विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया है। सम्भवत, यह भी दिवेदिवे' के समान प्रतिदिन का वाचक है।	'दिव्' धातु।
१७६.	द्युः दिवसवाचक निघ०,१.९.२.	जिसमें अश्विनीदेवों की कृपा से दिवस तथा सूर्य की रक्षा एवं सौभाग्य प्राप्त कराने वाले धन की प्राप्ति होती है। इस काल में श्रेष्ठ धन प्राप्त होता है तथा जरावस्था में इन्हींके सुखावह होने की कामना की जाती है।	'दिव्' धातु।

१७७	द्योतना उषावाचक निघ०,१.८.११.	वेद में उत्तम पदार्थों का सेवन कराने वाली उषा 'द्योतना' है। लेकिन निर्वचन के आधार पर दीप्तिरूप होने के कारण उषा 'द्योतना' कहलाती है।	'द्युत्' दीप्तौ' धातु।
१७८.	धन्वः अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.५.	वेद में 'धन्वन्' शब्द अन्तरिक्ष के प्रदेश विशेष का वाचक प्रतीत होता है। जिसमें जलकण विद्यमान रहते हैं, वह प्रदेश 'धन्वन्' है।	'धन्व्' धातु।
१७९.	धमनिः वाग्वाचक निघ०,१.११.१७.	वेद में 'धमनि' श्वासनलिका है, जो उच्चारणकाल में वायु के प्रभाव से फैल जाती है। यह शब्द की उत्पत्ति में सहायक होने से सम्भवतः, 'धमनि' को वाग्वाचक माना गया है।	'धम्' धातु।
१८०.	धरुणम् उदकवाचक निघ०,१.१२.२४.	वेद की दृष्टि में वे उदक 'धरुण' हैं, जो प्राणिमात्र का पालनपोषण करते हैं।	इस दृष्टि से 'धरुण' पद का मूल 'धृ' धातु को माना जा सकता है।
१८१.	धारा वाग्वाचक निघ०,१.११.२.	वह वाक् 'धारा' कहलाती है, जो अद्भुत, परहित में निरत रहने वाली, विश्व का कल्याण करने में समर्थ तथा अमृत की धारा को प्राप्त कराती है। इस प्रकार सत्य विद्या को धारण करने वाली वाणी वेद के मत में 'धारा' है।	'धृ' धातु।
१८२.	धिषणा वाग्वाचक निघ०,१.११.४४.	वह वाक् 'धिषणा' है, जो अभ्युदय की प्राप्ति कराती है। इस दृष्टि से विज्ञानात्मक वाक् वेद की दृष्टि में 'धिषणा' सिद्ध होती है।	इस आधार पर धारणार्थक 'धिष्' या 'धृष्' धातु को वेद की दृष्टि में 'धिषणा' पद का मूल माना जा सकता है।
१८३.	धुनयः नदीवाचक निघ०,१.१३.७.	वेद की दृष्टि में पर्वत के उच्चशिखरों से भूमि पर अवतरित होती हुई नदी 'धुनिः' है। प्रपात प्रदेश में विकराल होने के कारण नदी दुस्तर होती है तथा उस समय इसमें कम्पन की भी अधिकता होती है।	कम्पनार्थक 'धू' या 'धु' धातु को 'धुनिः' पद का मूल माना जा सकता है।
१८४.	धेना वाग्वाचक निघ०,१.११.३९.	ऋग्वेद में वह वाक् प्रमुख रूप से 'धेना' मानी गयी है, जिसमें इन्द्र को आकर्षित करने की क्षमता है, इन्द्र के आगमन और इस वाणी के प्रभाव से हृदय और मन पवित्र हो जाता है। अतः, कल्याण का इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति इसका पान करना चाहता है।	इस दृष्टि से पानार्थक 'धेट्' धातु 'धेना' पद का मूल प्रतीत होती है।
१८५.	धेनुः वाग्वाचक निघ०,१.११.५२.	जो वाक् समस्त कामनाओं का दोहन करने में समर्थ है, वैदिक ऋषि की दृष्टि में वह 'धेनु' है।	इस दृष्टि से 'धेनु' पद का मूल 'दुह्' धातु प्रतीत होती है।

१८६.	ध्वस्मन्वत् उदकवाचक निघ०,१.१२.२७.	वेद की दृष्टि में पीने योग्य, ध्वस्तदोष वाला (जिसके दोष का परिहार कर दिया गया है, ऐसा) उदक 'ध्वस्मन्वत् पाथ:' है। यह एक विशिष्ट जल के प्रकार का सङ्केत करता है।	'ध्वंस्' धातु।
१८७.	नक्ता रात्रिवाचक निघ०,१.७.१०.	कृष्णवर्ण की रात्रि, जिसमें अग्नि का प्रकाश दूर से दिखायी पड़ता है, वेद में 'नक्ता' मानी गयी है। इसमें नाना प्रकार के उत्पातों का भय बना रहता हे। दोषा के समान इसका प्रयोग भी 'दिवा' के साथ होता है।	'न+अक्त ('अञ्ज्' धातु)'।
१८८.	नग्ना वाग्वाचक निघ०,१.११.४२.	जो विना किसी औपचारिकता के कह दी जाती है, वेद में वह वाक् 'नग्ना' है।	'न+'गम्' धातु।
१८९.	नद्य: नदीवाचक निघ०,१.१३.३७.	कलकलध्वनि के साथ प्रयाण करना नदियों की चरित्रगत विशेषता है।	'नद्' धातु।
१९०.	नभ: साधारणवाचक निघ०,१.४.६.	वेद में आदित्य, द्युलोक और अन्तरिक्ष का यह एक समान नाम है। यह जल की नाभि, जीवन रूपी अमृत को देने वाला, तैरने योग्य, अवकाश स्वरूप तथा प्रकाशमान है।	यह जीवनरूपी नाभि का केन्द्रबिन्दु होने से 'नह्' धातु से निर्वचन उचित है।
१९१.	नभ: उदकवाचक निघ०,१.१२.४.	वह उदक 'नभस्' है, जो वर्षा ऋतु में आकाश से प्राप्त होता है। सम्भवत:, 'नभस्' शब्द मूलत:, आकाश का वाचक है, उसके सम्बन्ध से उदक भी 'नभस्' कहा जाने लगा होगा।	इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए 'न+'भा' धातु को 'नभस्' पद का मूल माना जा सकता है।
१९२.	नभन्व: नदीवाचक निघ०,१.१३.१५.	वेद में नदी अर्थ में अप्रयुक्त है।	'नभ्' धातु।
१९३.	नम्या रात्रिवाचक निघ०,१.७.८.	जो नमुचि (दुष्कर्म का परित्याग न करने वाले) के समान शय्या का परित्याग नहीं करने देती, वह रात्रि सम्भवत:, वेद में 'नम्या' है।	'न+'मुञ्च्' धातु।
१९४.	नर: अश्ववाचक निघ०,१.१४.२३.	उदक का हरण और सूर्य का आहरण किये जाने के कारण सूर्य या सूर्यरश्मियों को 'नर:' कहा गया है। प्रकाश का नेतृत्व करने से भी सूर्य या रश्मियाँ 'नर:' नाम का अधिकारी हैं।	'नी' धातु।
१९५.	नाक: साधारणवाचक निघ०,१.४.३.	वेद में नाक मुख्यरूप से द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक के लिये प्रयुक्त हुआ है। द्युलोक के सन्दर्भ में यह उस लोक के सर्वोच्च भाग का अभिधान प्रतीत होता है। यह एक ऐसा स्थान है, जिसमें दु:ख का लेश भी नहीं है।	'न+अक'। दु:खरहित स्थान।

१९६.	नाम उदकवाचक निघ०,१.१२.७९.	वेद की दृष्टि में वह उदक 'नाम' है, जो यज्ञ के द्वारा प्राप्त होता है। यज्ञ के प्रभाव से वर्षा के लिये प्रवृत्त होते हुए मेघों के नम्र हो जाने के कारण उदक को 'नाम' पद से अभिहित किया गया है।	इस दृष्टि से विचार करने पर विना किसी सङ्कोच के 'नम्' धातु को 'नाम' पद मूल माना जा सकता है।
१९७.	नाळीः वाग्वाचक निघ०,१.११:१८.	कतिपय वनस्पतियों के वृन्त मध्यगर्भयुक्त (पोले) होते हैं, सम्भवतः, इसलिये 'नाडी' पद नाली' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और इस (पोले होने की) समानता के कारण यह वेद में श्वासनलिका का अभिधान है और सम्भवतः, यह श्वासनलिका शब्दयुक्त होने से वेद में वाग्वाचक नामपद के रूप में अभिहित हुई है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट।
१९८.	नालीः वाग्वाचक निघ०,१.११.१८.	कतिपय वनस्पतियों के वृन्त मध्यगर्भयुक्त (पोले) होते हैं, सम्भवतः, इसलिये 'नाडी' पद नाली' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और इस (पोले होने की) समानता के कारण यह वेद में श्वासनलिका का अभिधान है और सम्भवतः, यह श्वासनलिका शब्दयुक्त होने से वेद में वाग्वाचक नामपद के रूप में अभिहित हुई है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट।
१९९.	नियुतो वायोः आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.१०.	वर्षा की वाहक वायु को वेद नियुत् नाम से अभिहित कर रहा है। वायु और विद्युत् का मिश्रण 'नियुत्' नामक वायु का कर्मक्षेत्र है।	'नि+'यु' मिश्रणे' धातु।
२००.	निर्ऋतिः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१६.	जिसमें वृद्धावस्था पूर्व शरीर का विसर्जन नहीं होता तथा सुन्दर स्वादिष्ठ भोजन भोग के लिये प्राप्त होते हैं, वह पृथिवी वेद में 'निर्ऋतिः' है। भोग और अपवर्ग इसकी अपनी विशेषतायें हैं।	प्राणियों के लिये रमणीय स्थान होने से यह पृथिवी निर्ऋतिः' है। अतः, 'निर्+'रम्' को 'निर्ऋतिः' का मूल मान सकते हैं।
२०१.	निवित् वाग्वाचक निघ०,१.११.२३.	वह वाक् निविदा है, जो इच्छा, बल और आत्मज्ञान की प्राप्ति कराती है, इस निविदा (नित्य वेदविद्या) के माध्यम से ऋषि देवताओं का आह्वान करते हैं, इस निविदा (वेद) से काव्यत्व का जन्म होता है।	'नि+'विद्' धातु।
२०२.	नीरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.७२.	वैदिक साहित्य में 'नीर' पद का प्रयोग सर्वथा नहीं हुआ है।	प्रापणार्थक 'नी' धातु।
२०३.	नौः वाग्वाचक निघ०,१.११.४५.	यह पद वेद में वाक् अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है।	'नू' धातु।

२०४.	पतङ्गा: अश्ववाचक निघ०,१.१४.२२.	वेद में जल, थल, नभ में तीन दिन, तीन रात निरन्तर चलने की सामर्थ्य वाला एक वाहन विशेष 'पतङ्ग' है। यह सूर्य का भी अभिधान है।	'पत्' धातु।
२०५	पय: रात्रिवाचक निघ०,१.७.२१.	वेद के आधार पर 'पय:' को रात्रिवाचक नहीं माना जा सकता।	'प्या' धातु।
२०६	पयस्वती रात्रिवाचक निघ०,१.७.१४.	वेद में रात्रि या अन्धकार अर्थ में अप्रयुक्त है। सर्वत्र 'उदकवती' अर्थ प्राप्त होता है।	'प्या' धातु।
२०७	पयस्वत्य: नदीवाचक निघ०,१.१३.२९.	नि:सन्दिग्ध रूप से यह पद नदी अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। वेद में द्यावापृथिवी को पयस्वती कहा गया है।	'पय्' धातु।
२०८	पर्वत: मेघवाचक निघ०,१.१०.९.	वेद में मेघों का समूह पर्वत नाम से अभिहित हुआ है।	'पृ'=पर्व=पर्वत'।
२०९	पवि: वाग्वाचक निघ०,१.११.१५.	वह वाक् 'पवि' है, जो पवित्र व्यवहार बनाये रखने में सहायक है, यह हितकारी वाक् वृष्टि जल की वृद्धि करने वाली है, यह कभी कुण्ठित नहीं होती और यह घृत अर्थात् स्नेह से युक्त होने से सर्वग्राह्य है। यह सम्भवत:, वह वाक् है, जो सभ्य समाज के व्यवहार का विषय बनती है।	इस दृष्टि से पवनार्थक 'पू' धातु को 'पवि' का मूल स्वीकार किया जा सकता है।
२१०	पवित्रम् उदकवाचक निघ०,१.१२.८२.	सोम और पवित्र का परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध है। वेद में सोम की धारा पवित्र मानी गयी है और जो सोम को प्राप्त कर लेता है, वह पवित्र हो जाता है वेद में 'पवित्र' शब्द 'उदक' वाचक नहीं है।	'पू' धातु।
२११	पार्वत्य: नदीवाचक निघ०,१.१३.२६.	वेद और वैदिक साहित्य में अप्रयुक्त है। कभी प्रयुक्त रहे होने की सम्भावना क्षीण है।	'पर्वत=पार्वती'।
२१२	पिप्पलम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१३.	वेद में 'पिप्पल' शब्द का 'पीपल' के वृक्ष अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। यह यहाँ प्रमुखरूप से वृक्ष के स्वादिष्ठ रस के लिये व्यवहृत होता हुआ दिखायी देता है।	इस अर्थ को ध्यान में रखते हुए 'पा' या पालनार्थक 'पृ' धातु को 'पिप्पल' का मूल माना जा सकता है।
२१३	पुरीषम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१२.	सृष्टि के निर्माण और पालन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने के कारण उदक को 'पुरीष' नाम से अभिहित किया गया है।	'पृ' धातु को निर्विवादरूप से 'पुरीष' का मूल स्वीकार किया जा सकता है।
२१४	पुरुभोजा: मेघवाचक निघ०,१.१०.६.	जो पूर्ण या सब को भोजन प्रदान करने वाला है, वह मेघ वेद में 'पुरुभोज:' है।	'पुरु+'भुज्' धातु।

२१५	पुष्करम् अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१३.	जिस अन्तरिक्ष में सूर्य, वायु और उदक विद्यमान हैं, वह वेद की भाषा में सबका पोषण तथा धारण करने की सामर्थ्य वाला होने से 'पुष्कर' है।	'पुष्' पुष्टौ' धातु।
२१६	पूर्णम् उदकवाचक निघ०,१.१२.७५.	वेद में 'पूर्ण' शब्द उदक अर्थ में नहीं आया है। वेद में ऋषि ने 'पूर्ण' शब्द का उल्लेख प्रायः मधु, कोश, पात्र आदि के विशेषण के रूप में किया है।	'पूर्' धातु को 'पूर्ण' पद का मूल माना जा सकता है।
२१७	पूषा पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१९.	वेद में पूषा वह पृथिवी है, जो नगरों को धारण एवं पोषण करती है, यह सेवन करने योग्य धन प्रदान करती है। अतः, प्राणियों को शारीरिक और आर्थिक पुष्टि प्रदान करने के कारण इसे पूषा नाम से अभिहित किया गया है।	पोषक होने से पृथ्वी को 'पूषा' कहा जाता है। अतः, 'पुष्' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है।
२१८	पृथ्वी पृथिवीवाचक निघ०,१.१.११.	वेद पृथ्वी की प्रथम विशेषता विस्तृत होना मानता है। जिसमें अनेक पुर समाहित हो सकें, वह पृथ्वी है। इसके अतिरिक्त वेद पृथ्वी की एक विशेषता उसका गहरी होना मानता है। इसी कारण पृथ्वी रत्नादि तथा अन्य सम्पदा को धारण कर पाती है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'पृथ्वी' पद का मूल 'प्रथ्' धातु को माना जा सकता है।
२१९	पृथिवी अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.९.	वेद में अन्तरिक्ष अर्थ में 'पृथिवी' का विरल प्रयोग हुआ है। वेद प्रथित होने के कारण अन्तरिक्ष को 'पृथिवी' नाम से अभिहित करता है और उसको द्युलोक के अन्त तक विस्तृत बतलाता है।	विस्तृत अर्थ वाली 'प्रथ्' धातु से।
२२०	पृश्निः साधारणवाचक निघ०,१.४.२.	वेद में 'पृश्नि' का सूर्य, अन्तरिक्ष और सूर्यों की माता के रूप में उल्लेख हुआ है। इसका द्युलोक और अन्तरिक्ष के लिये समानरूप से प्रयोग हुआ है, और यह समानरूप से मेघ और प्रकाश को प्राप्त करता है। लेकिन यह अन्तरिक्ष के लिये अधिक व्यवहृत हुआ है।	प्र+'अश्' सूर्य और अन्तरिक्ष की दृष्टि से तथा 'स्पर्श्' व्युत्पत्ति मरुतों की माता की दृष्टि से उचित प्रतीत होती है।
२२१	पृषत्यो मरुताम् आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.६.	वर्षकर्म में सबसे अधिक सहायक नानावर्ण के मेघ वेद की भाषा में 'पृषती' हैं। वर्षकर्म में सहायक मेघ और विद्युत् को वेद क्रमशः 'पृषती और 'ऋष्टि' नाम से अभिहित करता है।	'पृषु' सेचने' धातु।
२२२	पेशः हिरण्यवाचक निघ०,१.२.६.	निर्धनता को दूर करने और यज्ञ में काम आने वाला सुवर्ण का अभिधान 'पेशस्' है। सम्भवतः, रूप की अभिवृद्धि का माध्यम होने से हिरण्य को 'पेशस्' कहा गया होगा।	'पिश्' धातु।
२२३	पैद्वः अश्ववाचक निघ०,१.१४.११.	'पैद्वः' का अश्व अर्थ सन्दिग्ध है। सम्भवतः, पादों से शीघ्र चलने एवं सर्प का वध करने में समर्थ है, पुरुष का यौगिक नाम वेद में 'पैद्वः' है।	सम्भवतः, 'पद्' धातु।

२२४	प्रय: उदकवाचक निघ०,१.१२.३७.	वेद की दृष्टि में जो पिपासा के समय प्रिय लगता है, वह पेय या उदक 'प्रय:' है।	इस दृष्टि से 'प्री' धातु को 'प्रय:' पद का मूल माना जा सकता है।
२२५	फलिग: मेघवाचक निघ०,१.१०.१७.	वह मेघ 'फलिग' है, जिसकी वर्षा से सस्यादि सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। कहने का आशय यह है कि जिससे फल की प्राप्ति होती है, वह मेघ वेद में 'फलिग' नाम से अभिहित हुआ है।	'फल्'+गम्' इन दोनों धातुओं के संयोग से।
२२६	बर्हि: अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.४.	वेद में 'बर्हिस्' ऐसा अन्तरिक्ष है, जिसमें तीनों लोक, तीनों धातुएँ और आदित्य विराजमान है। यह एक ऐसा अन्तरिक्ष जिसमें वस्तुओं का आकार बढ़ता रहता है।	बृंहण अर्थ वाली 'बृंह्' धातु।
२२७	बर्हि: उदकवाचक निघ०,१.१२.७८.	वेद में 'बर्हिस्' पद उदक अर्थ में लगभग अप्रयुक्त है। वेद में यह प्राय: मुख्यरूप से कुशासन तथा कुछ गौणरूप से अन्तरिक्ष के अर्थ में आया है।	वृद्धि अर्थ वाली 'बृंह्' धातु को 'बर्हिस्' पद का मूल माना जा सकता है।
२२८	वलाहक: मेघवाचक निघ०,१.१०.२३.	वेद में प्रमाण उपलब्ध न होने से उक्तपद के विषय में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट।
२२९	बुर्बुरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.२२.	'बुर्बुरम्' पद का विवरण वेद में प्राप्त नहीं होता है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
२३०	बुसम् उदकवाचक निघ०,१.१२.२०.	वह उदक 'बुस' है, जो आदित्य के द्वारा ग्रहण किया जाता है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
२३१	बृबूकम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१९.	मेघ से पतित होता हुआ शब्दायमान उदक वेद की दृष्टि में 'बृबूक' है।	सम्भवत:, 'ब्रू' धातु।
२३२	बेकुरा वाग्वाचक निघ०,१.११.५७.	ब्राह्मण के अनुसार 'बेकुरा' पद वाग्वाचक है, परन्तु प्रमाण के अभाव में स्वरूप निर्धारण सम्भव नहीं है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
२३३	ब्रध्न: अश्ववाचक निघ०,१.१४.१६.	प्राणी का जीवन सूर्य से बँधा हुआ होने के कारण सूर्य ही 'ब्रध्न:' है।	'बन्ध्' धातु।
२३४	भर्म हिरण्यवाचक निघ०,१.२.११.	वेद में 'भर्म' पद भरण-पोषण अर्थ में आया है। उक्तपद सुवर्ण या किसी अन्य धातु के अर्थ में प्रयोग होता दिखायी नहीं देता है। एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि भृति में दिया जाने वाला सुवर्ण 'भर्म' हो, परन्तु यह अभी कल्पना मात्र है।	'भृ' धारणपोषणयो:' धातु।

२३५	भविष्यत् उदकवाचक निघ०,१.१२.५१.	वेद और वैदिक साहित्य में 'भविष्यत्' पद भविष्यकाल के अर्थ में आया है, न कि उदक के अर्थ में।	'भू' धातु।
२३६	भानुः दिवसवाचक निघ०,१.९.३.	वेद में प्रायः इसका प्रकाश अथवा रश्मि के अर्थ में उल्लेख देखने को मिलता है। उषा के साथ जहाँ इसका प्रयोग हुआ है, वहाँ यह पद प्रायः प्रातःकालीन दिवस के रूप में है।	'भा' दीप्तौ' धातु।
२३७	भारती वाग्वाचक निघ०,१.११.१६.	वह वाक् 'भारती' है, जिसमें प्राणों का होम किया जाता है। इस प्रकार यह वाक् वायु से जनित होने के कारण ध्वनिरूपा है और मनुष्य के व्यवहार का आधार है। इसलिये यह वरणीया और सुन्दर कर्मों को करने वाली बतायी गयी है।	भरण-पोषण वाली 'भृ' धातु।
२३८	भास्वती उषावाचक निघ०,१.८.३.	वेद में उषा देवता का वह रूप 'भास्वती' है, जिसमें 'नेत्री' अर्थात् नेत्रों को पथ दिखाने की क्षमता हो। कहने का आशय यह है कि प्रकाश की इतनी मात्रा जिसमें सुगमता से मार्ग दिखायी दे जाये, 'भास्वती' है।	'भा' धातु।
२३९	भास्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.३४.	वेद में नदी अर्थ में अप्रयुक्त है। लेकिन यह पद यहाँ 'दीप्तिमती' अर्थ का वाचक है।	'भा' या 'भास्' धातु।
२४०	भुवनम् उदकवाचक निघ०,१.१२.५०.	वेद की दृष्टि में वह सामान्य उदक 'भुवन' है, जिससे सम्पूर्ण संसार अस्तित्व में आता है और जो तीन (तरल, सङ्घात और वाष्प) रूपों में रूपान्तरित होता रहता है। वेद में स्पष्टरूप से कहीं भी 'उदक' अर्थ में 'भुवन' का प्रयोग नहीं हुआ है।	इस दृष्टि से विचार करने पर सत्तार्थक 'भू' धातु को 'भुवन' पद का मूल मान सकते हैं।
२४१	भूः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१७.	वेद में 'भू' वह पृथ्वी है, जिससे भू से अग्नि को निमन्त्रण प्राप्त होते रहते हैं एवं इन्द्र इसका सम्राट् है। भू का विकास भूति के रूप में होता है और भूति ही प्रजापति है। भूतिरूप प्रजापति के प्रजनन कार्य को सम्पन्न करने के कारण पृथ्वी को भूः' कहा गया है।	व्यक्त अस्तित्व का आधार होने से यह 'भू' है, अतः, निर्विवादरूप से यह पद 'भू' धातुमूलक है।
२४२	भूः अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१०.	वेद में अन्तरिक्ष अर्थ में 'भूः' पद का प्रयोग नहीं हुआ है। ब्राह्मणग्रन्थ से भी इसका समर्थन नहीं हो पाता है।	'भू' धातु।
२४३	भूतम् उदकवाचक	वेद में 'भूतम्' पद का उदक के अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। प्राणी सृष्टि का प्रारम्भ जल पर निर्भर	'भू' धातु।

	निघ०,१.१२.४९.	है, इसलिये उस जल से उत्पन्न होने वाले प्राणी 'भूत' कहलाते हैं और उनकी उत्पत्ति का कारण 'उदक' भी सम्भवतः, इस कारण 'भूत' मान लिया गया है। इसके अतिरिक्त पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों में सम्मिलित होने से उदक को 'भूत' कहा जाता है।	
२४४	भूमिः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१८.	जो समतल, विस्तृत, अपारा और जिससे नाना प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति होती है तथा जिसमें हल चलता हो। इस प्रकार माता के समान जिस पर चर-अचर का अस्तित्व निर्भर हो, वेद की दृष्टि में वह 'भूमि' है।	सम्पूर्ण प्राणी जगत् के अस्तित्व का आधार होने से पृथ्वी 'भूमिः' है। अतः, 'भू' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन प्रतीत होता है।
२४५	भेषजम् उदकवाचक निघ०,१.१२.३९.	वह उदक 'भेषज' है, जिसमें ओषधि विद्यमान है, सम्पूर्ण ओषधियों का आश्रय उदक में है, इसलिये उदक को सम्पूर्ण भेषज कहा जाता है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
२४६	मधु उदकवाचक निघ०,१.१२.११.	वह उदक 'मधु' है, जिसके पान से प्राणी तृप्ति का अनुभव करते हैं, वर्षा का जल होने के कारण इसमें क्षारादि अपेय तत्त्वों का अभाव है। स्वादिष्ठ होना इसका प्रमुख गुण है।	'मद्' या 'मिह्' धातु।
२४७	मन्द्रा वाग्वाचक निघ०,१.११.९.	वेद में वह वाक् 'मन्द्रा' है, जो मनुष्य जीवन में मधुरता का रस घोल देती है, जो श्रवणीय होने के साथ-साथ आचरणीय भी होती है।	'मद्' धातु।
२४८	मन्द्राजनी वाग्वाचक निघ०,१.११.१०.	वैदिक भाषा में वह वाक् 'मन्द्राजनी' है, जो मति और मधु से सिक्त होती है।	'मन्द्र+'अज्' धातु।
२४९	मयूखाः रश्मिवाचक निघ०,१.५.१२.	सृष्टिसृजनरूप कर्म को करने वाली रश्मियों को वेद 'मयूख' नाम से अभिहित करता है।	प्रेक्षिपित होने के स्वभाव को देखते हुए प्रक्षेपण अर्थ वाली 'मि' धातु से व्युत्पन्न करना उचित है।
२५०	मरीचिपाः रश्मिवाचक निघ०,१.५.११.	वेद के अनुसार सुभव की प्राप्ति 'मरीचिपा' से होती है। सम्भवतः, अदिति के अष्टम पुत्र मार्तण्ड से सम्बन्धों के कारण रश्मियों को 'मरीचि' कहा गया है और सम्भवतः, इसी कारण से मरुत् का उक्त नाम प्रसिद्ध हुआ है।	'मृ'+'पा' इन दो धातुओं के संयोग से।
२५१	मरुत् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.१३.	सम्भवतः, वेद में नदी से प्राप्त होने वाले सुवर्ण को 'मरुत्' नाम से अभिहित किया गया है। एक सम्भावना यह भी है कि अपने को सुवर्ण से मण्डित करने की अभिलाषा रखने करने के कारण मनुष्य 'मरुत्' नाम से उक्त हुआ हो।	वेद से प्राप्त सङ्केतों के आधार पर अधिक सम्भावना सुखवाचक 'मृळ्' या हर्षार्थक 'मद्' धातु से।

२५२	मल्मलाभवन् ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.४.	प्रयोग उपलब्ध न होने से कुछ कहना सम्भव नहीं है।	सम्भवतः, प्रज्वलित अग्नि की ध्वनि की अनुकृति।
२५३	महः उदकवाचक निघ०,१.१२.५६.	सूर्य के सम्पर्क में आने वाला उदक सम्भवतः, वेद में 'महः' नाम से अभिहित हुआ है। इस दृष्टि से विचार करने पर सूर्य की महत्ता से उदक भी 'महः' कहा गया है।	निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि महत् के समान 'महः' पद का मूल पूजार्थक 'मह्' धातु है।
२५४	महत् उदकवाचक निघ०,१.१२.५२.	'महत्' नामक उदक इन्द्र का बल और अग्नि का उत्पत्ति एवं निवासस्थान है। दो महान् शक्तियों के साथ संयुक्त होने से वह 'महत्' नाम का अधिकारी है।	इस दृष्टि से विचार करने पर 'मंह्' धातुमूलक निर्वचन को 'महत्' पद का मूल माना जा सकता है।
२५५	मही पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१२.	वेद में इळा और सरस्वती के साथ 'मही' का प्रायः उल्लेख हुआ है। मातृभाषा, मातृसंस्कृति और मातृभूमि-इस प्रकार ये तीन देवियाँ हैं। वेद मातृभूमि को 'मही' नाम से अभिहित करता है।	महनीय होने के कारण मातृभूमि को 'मही' कहा जाता है। अतः, 'मह्' धातु को 'मही' पद का मूल माना जा सकता है।
२५६	मही वाग्वाचक निघ०,१.११.४७.	वह वाक् मही है, जिसका महत्त्व व्यवहार से लेकर कलाओं और विज्ञान तक व्याप्त है।	इस दृष्टि से पूजार्थक 'मह्' धातु को 'मही' पद का मूल माना जा सकता है।
२५७	माँश्चत्वः अश्ववाचक निघ०,१.१४.१८.	वेद में युद्ध में प्रयुक्त होने वाला अश्व सम्भवतः, माँश्चत्वः है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
२५८	मातरः नदीवाचक निघ०,१.१३.३६.	माता जैसे चरित्र के कारण वेद में नदियों और उदकों को माता कहा गया है।	व्युत्पत्ति सन्दिग्ध। फिर भी कल्पित 'मा' आह्वये धातु।
२५९	मायुः वाग्वाचक निघ०,१.११.२७.	मुख्यतः वेद के ऋषि की दृष्टि में मेघ गर्जना 'मायु' नाम से कही गयी है।	शब्दार्थक 'मि' या 'मा' धातु।
२६०	मेघः मेघवाचक निघ०,१.१०.२४.	वह मेघ 'मेघ' कहलाता है, जिसके बरसने से अभीष्ट की पूर्ति होती है।	'मिह्' धातु।
२६१	मेना वाग्वाचक निघ०,१.११.२०.	वेद की दृष्टि में 'मेना' मध्यमस्थानी वाग्देवता है। इसका कारण यह है कि इसका जन्म इन्द्र से होता है तथा यही मघवा के कुल में रहती है तथा वृषणश्व (वर्षा करने वाले इन्द्र) की पुत्री भी यही है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट।
२६२	मेलिः, मेळिः वाग्वाचक निघ०,१.११.१९.	जो वाक् अन्तर्विरोधों से ग्रस्त न हो अर्थात् जिसके द्वारा विरुद्ध प्रतीत होने वाले शास्त्रों में समन्वय स्थापित किया जा सकता है, विद्वान् की ऐसी वाणी या विद्वत्ता वेद की दृष्टि में 'मेळि' नाम से अभिहित हुई है।	सम्भवतः, 'मिल्' धातु।

२६३	मोकी रात्रिवाचक निघ०,१.७.१८.	जब सवितादेव (सूर्य) संसार को रश्मियों से मुक्त करते हैं, वह स्थिति वेद में 'मोकी' नाम से अभिहित हुई है। कहने का आशय यह है कि जब सूर्य अस्त हो जाता है, वह अन्धकारपूर्ण स्थिति वैदिक साहित्य में 'मोकी' है।	'मुच्' धातु।
२६४	यम्या रात्रिवाचक निघ०,१.७.७.	वेद में दिवस की भगिनी रूपा रात्रि को 'यम्या' नाम से अभिहित किया गया है।	'यम्' धातु। यह प्राणियों को चेष्टा से उपरत कर देती है।
२६५	यव्याः नदीवाचक निघ०,१.१३.२.	जिनमें धरातल निम्न होने के कारण अधिक मात्रा में जल बहता है, वे नदियाँ 'यव्याः' हैं।	'यु' मिश्रणे' धातु।
२६६	यशः उदकवाचक निघ०,१.१२.५५.	वेद की दृष्टि में वे उदक 'यशस्' हैं, जो इन्द्र, वरुण आदि देवों के द्वारा प्रदान किये जाते हैं और जो सब प्राणियों की आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त हैं।	इस दृष्टि से विचार करने पर देवनार्थक 'अश्' धातु 'यशस्' पद का मूल मानी जा सकती है।
२६७	यहः उदकवाचक निघ०,१.१२.४२.	वैदिक साहित्य में 'यहः' पद का प्रयोग सर्वथा नहीं हुआ है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
२६८	यह्व्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२.	महती नदी	'यह्' धातु।
२६९	यादुः उदकवाचक निघ०,१.१२.४८.	वह उदक 'यादुः' है, जो पुरुष या स्त्री में शारीरिक सम्बन्ध के समय रज या वीर्य के रूप में प्रादुर्भूत होता है।	इस दृष्टि से विचार करने पर आलिङ्गन अर्थ वाली 'याद्' धातु को 'यादुः' पद का मूल माना जा सकता है।
२७०	योनिः उदकवाचक निघ०,१.१२.६९.	अन्तरिक्ष का वह प्रदेश विशेष वेद में 'योनि' नाम से अभिहित हुआ है, जिसमें वायु से परिवेष्टित होकर उदक आश्रय लेते हैं।	इस दृष्टि से 'यु' मिश्रणे' धातु को 'योनि' पद का मूल माना जा सकता है।
२७१	रजः रात्रिवाचक निघ०,१.७.१२.	वेद में 'रजः' का रात्रि अर्थ सन्दिग्ध है। लेकिन यह अन्धकार का वाचक अवश्य है। निर्वचन की दृष्टि से कहा जा सकता है कि सबको अपने रंग में रंग लेने के कारण अन्धकार 'रजः' है।	'रञ्ज्' धातु।
२७२	रयिः उदकवाचक निघ०,१.१२.७३.	जिसमें बल प्रदान करने की सामर्थ्य है, वह उदक (वीर्य) वेद के ऋषि की दृष्टि में 'रयि' है।	इस दृष्टि से विचार करने पर 'रयि' पद को 'रा' धातु मूलक माना जा सकता है।
२७३	रश्मयः रश्मिवाचक निघ०,१.५.४.	वेद रश्मि को सूर्य की केतु, अन्धकार विनाशक, कँपाने वाली और पवित्र मानता है। इसके अतिरिक्त वेद **'सप्त रश्मयः'** का प्रयोग भी करता है। प्रकाश रूप में प्राप्त होने वाली रश्मियाँ सात हैं।	व्याप्ति अर्थ वाली 'अश्' या फिर बन्धनार्थक 'रश्' धातु।

२७४	रसः उदकवाचक निघ०,१.१२.३५.	मधुरता रस की अपनी विशेषता है, जिसमें यह मधुरता पायी जाती है, कालान्तर में उदक सहित उन सबको 'रस' नाम से अभिहित किया गया है।	आस्वादन अर्थ वाली 'रस्' धातु।
२७५	राम्या रात्रिवाचक निघ०,१.७.६.	वैदिक साहित्य के आधार पर प्रभातकालीन रात्रि का नाम 'राम्या' है। यह वह रात्रि है, जिसमें साधक प्रभु से एकाकार होता है। निर्वचननकारों के मत में जिसमें स्त्री के साथ रमण किया जाता है, वह रात्रि 'राम्या' है।	'रम्' धातु।
२७६	रासभावश्विनोः आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.४.	रासभ द्वारा वहन किये जाने वाले रथ में वेद तीन चक्र और और अनेक बैठने के मण्डप बतला रहा है। चलते समय अत्यधिक ध्वनि किये जाने वाले होने से इसका नाम रासभ है। इस प्रकार यह एक वाहन विशेष है।	'रासृ' शब्दे' धातु।
२७७	रिपः पृथिवीवाचक निघ०,१.१.१३.	वेद गतिशील पृथ्वी को 'रिपः' नाम से अभिहित करता है। ऋषि इसकी गतिशीलता का प्रतिपादन करने के लिये इसके साथ 'वेः' का प्रयोग करता है। पर वेद में 'रिप्' धातु लीपने अर्थ में प्रयुक्त है।	लीपने अर्थ वाली 'रिप्' धातु से व्युत्पन्न होने की सम्भावना है। लीपी जाने के कारण पृथ्वी को सम्भवतः 'रिपः' कहा गया है।
२७८	रुक्मम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.३.	वेद में 'रुक्म' विशेषरूप से वक्षःस्थल पर और गौणरूप से भुजा में धारण किये जाने वाले सुवर्ण आभूषण के लिये प्रयुक्त हुआ है।	सुवर्ण के समान प्रज्वलितार्थक निघण्टु की ज्वलत्यर्थक 'रुच्' धातु से व्युत्पन्न है।
२७९	रुजानाः नदीवाचक निघ०,१.१३.८.	जो तटों को तोड़ती और पाषाणों को पीसती हुई प्रवाहित होती हैं, वे नदियाँ 'रुजानाः' हैं।	'रुज्' धातु।
२८०	रेतः उदकवाचक निघ०,१.१२.१६.	वह उदक 'रेतस्' है, जो अन्तरिक्ष या द्युलोक से पृथ्वी पर प्राप्त होकर वनस्पतियों के गर्भ में स्थित होता है। जो उदक अन्तरिक्ष से स्वतः स्रवित होकर सस्यादिरूप में परिणत होते हैं, वे वेद की भाषा में 'रेतस्' नाम से अभिहित हुए हैं।	इस दृष्टि से स्रवणार्थक 'री' धातु को 'रेतस्' पद का मूल माना जा सकता है।
२८१	रैवतः मेघवाचक निघ०,१.१०.१६.	वेद से स्वरूप स्पष्ट नहीं है। लेकिन फिर भी यह कहा जा सकता है। जो मेघ दान देने वाले धन से युक्त है, सम्भवतः, वह वेद की दृष्टि में 'रैवत' है।	'रा' दाने'=रै=रैवतः।
२८२	रोधचक्राः नदीवाचक निघ०,१.१३.११.	धाराओं में बँधकर उदक समुद्र तक जाता है, सम्भवतः, इसकारण नदियों को 'रोधचक्राः' कहा जाता है।	'रुध+चक्र'।
२८३	रोधस्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.३३.	जिसके तटों का निर्माण मनुष्यों द्वारा किया जाता है, वे नदियाँ 'रोधस्वत्यः' हैं।	'रुध्' धातु।

२८४	रोहितः नदीवाचक निघ०,१.१३.१८.	वेद में नदी अर्थ में अप्रयुक्त है।	लोहित=रोहित। 'लुह्' धातु।
२८५	रोहिताऽग्नेः आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.२.	यह एक आकाश में आरोहण करने में समर्थ अग्नि सञ्चालित वाहन विशेष है। इसकी पुष्टि 'रोहित' नाम से भी हो जाती है।	'रुह्' धातु।
२८६	रौहिणः मेघवाचक निघ०,१.१०.१५.	वह मेघ 'रौहिण' है, जो रोहिणी नक्षत्र में उत्पन्न हुआ है। ऋग्वेद से प्राप्त सङ्केत तथा निर्वचन को ध्यान में रखकर कह सकते हैं कि जो आकाश में ऊपर उठने वाला मेघ है, वह 'रौहिण' है।	'रुह्' धातु।
२८७	लोहम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.८.	लोहित वर्ण के आधार पर यह माना जा सकता है कि वेद में लोह हिरण्यवाचक नहीं है। सम्भवतः, 'लोह' पद अपरिष्कृत या हीनकोटि के लोह के लिये प्रयुक्त है।	'लुह्' ऽ(रुह्) धातु। अन्य धातुओं की अपेक्षा अधिक वृद्धिशील होने के कारण उक्त व्युत्पत्ति समीचीन है।
२८८	वक्षणाः नदीवाचक निघ०,१.१३.९.	जिससे किसी एक स्थान पर स्थित जल शिल्प क्रिया से नदीरूप में परिणत होकर कृषकों के खेतों तक चला आता है, वेद में वे नहर 'वक्षणाः' हैं।	'वक्ष' रोषे' धातु।
२८९	वग्नुः वाग्वाचक निघ०,१.११.२५.	वर्षाकाल में पर्जन्य का शृङ्गार भेकरव है, साधक के मुख से अभिव्यक्ति होने वाली वाक् साधना का सार है, यज्ञ का हृदय मन्त्रपाठ है और जाया का सौन्दर्य उसकी अमृतमयी वाणी है। इस प्रकार वेद के ऋषि की दृष्टि में वग्नु वह वाणी है, जो मधुरता को अपने में समाहित किये हुए है।	'वच्' धातु।
२९०	वध्वः नदीवाचक निघ०,१.१३.१६.	वेद ने महती और अन्नादि को उत्पन्न करने वाली तथा जिनके पथ को विस्तृत और सुगम बनाया जाता है, ऐसी नदियों (नहरों) को 'वध्वः' नाम से सम्बोधित किया है। जिस प्रकार 'वधू' को लेकर आया जाता है, उसी प्रकार जिन नदियों को लाया जाता है, वे 'वध्वः' हैं।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'वह्' धातु को 'वध्वः' पद का मूल माना जा सकता है।
२९१	वनम् रश्मिवाचक निघ०,१.५.८.	वेद में 'वन' वे रश्मियाँ हैं, जो वरणीय अर्थात् सेवनीय हैं। सम्भवतः, उदक और अन्न की वृद्धि का कारण होने से ये 'वन' नाम से अभिहित हुई हैं।	'वन्' धातु।
२९२	वनम् उदकवाचक निघ०,१.१२.९.	वह उदक 'वन' है, जो शब्द करता हुआ प्रवाहित होता है। कलकलध्वनि के कारण इसे सम्भवतः, 'वन' कहा गया है।	'वन' पद का मूल शब्दार्थक 'वन्' धातु को माना जा सकता है।
२९३	वपुः उदकवाचक	वह उदक वेद की दृष्टि में 'वपुस्' है, जिसके कारण तीनों लोक दर्शनीय हो जाते हैं। यह	इस प्रकार वपन अर्थवाली 'वप्' धातु 'वपुस्' पद का

	निघ०,१.१२.९०.	यजमान का प्रिय उदक है। वपन के समय प्राप्त होने वाला उदक होने से सम्भवतः, इसको 'वपुस्' नाम से अभिहित किया गया है।	मूल है।
२९४	वराहः मेघवाचक निघ०,१.१०.१३.	वह मेघ 'वराह' है, जिस परिपूर्ण उदक वाले मेघ (वराह) का भेदन इन्द्र करता है, ये वराह (मेघ) स्वर्णमयचक्र एवं अयोमय ऋष्टि से युक्त हैं, इन्द्र सरणशील उदकों में वज्र से इसी का वध करता है, इसकी प्राप्ति इन्द्र की कृपा से होती है।	'वर+आ+'हृ'।
२९५	वलः मेघवाचक निघ०,१.१०.४.	'वल' वह मेघ है, जो गायों (सूर्यरश्मियों) को आच्छादित कर लेता है। इसके अतिरिक्त इसमें व्रीह्यादि फल भी अपिहित रहते हैं।	उक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए संवरण अर्थ वाली 'वृ' अथवा 'वल' धातु।
२९६	वलाहकः मेघवाचक निघ०,१.१०.२३.	वेद में प्रमाण उपलब्ध न होने से उक्तपद के विषय में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट।
२९७	वलिशानः मेघवाचक निघ०,१.१०.७.	वैदिक साहित्य में अनुपलब्ध है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
२९८	वल्गुः वाग्वाचक निघ०,१.११.५३.	वह वाक् 'वल्गु' है, जो अश्विनीदेवों के समान दीन, दुःखियों का कष्ट दूर करने वाली और मधुर है।	इस दृष्टि से गत्यर्थक 'वल्ग्' धातु को 'वल्गु' पद का मूल माना जा सकता है।
२९९	वसवः रश्मिवाचक निघ०,१.५.१०.	भूलोक से देवलोक तक रहने वाले देव वेद में 'वसवः' हैं। ये रश्मिरूप में सुदानव, रोगापहारक, उदक धारण करने वाले एवं अभय ज्योति प्रदान करने वाले हैं।	निवासार्थक 'वस्' धातु। ये वासक होने से 'वसु' कहलाते हैं।
३००	वस्तोः दिवसवाचक निघ०,१.९.१.	जो दिवस वासयोग्य बन जाये और जिसमें सुख पूर्वक स्थित हुआ जा सके, वह वेद की दृष्टि में 'वस्तोः' है।	इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'वस्तोः' पद का मूल निवासार्थक 'वस्' धातु प्रतीत होती है।
३०१	वस्वी रात्रिवाचक निघ०,१.७.२३.	वेद में वह रात्रि 'वस्वी' है, जिसमें 'वसु' प्राप्ति के लिये कर्म किये जाते हैं, यह वह उषा वेला है, जिसमें रात्रि परमधनयुक्त दक्षिणा के समान होती है, यही वह समय जिसमें इन्द्र का प्रशस्त दान एवं अन्य अभीष्ट कामनायें पूर्ण होती हैं।	'वस्' धातु।
३०२	वह्निः अश्ववाचक निघ०,१.१४.६.	यान्त्रिक एवं बैलगाड़ी रूप वाहन को वेद 'वह्नि' नाम से पुकारता है। इस प्रकार यन्त्रवाहन और बैल 'वह्नि' है।	'वह्' धातु।

३०३	वा: उदकवाचक निघ०,१.१२.८.	मनुष्य जिस जल का उपयोग रोककर अपने विकास कार्यों में करता है, वह वेद में 'वार्' नाम से अभिहित हुआ है।	इस दृष्टि से वारणार्थक 'वृ' धातु को 'वार्' पद का मूल माना जा सकता है।
३०४	वाक् वाग्वाचक निघ०,१.११.५०.	भाषा का सामान्य नाम वेद में 'वाक्' नाम से अभिहित हुआ है। सम्भवत:, वागिन्द्रिय के कारण शब्द का नामकरण वाक् हुआ है। यह ऋग्वेद में परिष्कृत वाणी का अभिधान है, इसको मेधावियों की वाणी कहा गया है।	इस दृष्टि से देखने पर विना किसी सन्देह के 'वाक्' पद का मूल 'वच्' धातु को माना जा सकता है।
३०५	वाजिनी उषावाचक निघ०,१.८.७.	वेद से 'वाजिनी' का विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। 'वाज' का अर्थ 'अन्न' और 'बल' होता है, मन्त्र से उक्त अर्थ की प्रतीति होती दिखायी नहीं देती है। सम्भवत:, उषाकाल बल और बुद्धि को देने वाला है, इसलिये उषा को 'वाजिनी' कहा गया है, मात्र यह सम्भावना है।	'वज्' गतौ'=वाज. 'वाज+इनि'=वाजिनी'।
३०६	वाजिनीवती उषावाचक निघ०,१.८.८.	वेद की दृष्टि में वह उषा 'वाजिनीवती' है, जिसमें सामर्थ्य और प्रेरणा को पाकर पक्षी अपने नीड का परित्याग कर देते हैं, जो हमें अन्न से संयुक्त एवं पुत्रादि का पालन करने के लिये चित्र-विचित्र धन प्रदान करती है।	'वाज+इनि=वाजिनी+मतुप्= वाजिनीवती।
३०७	वाजी अश्ववाचक निघ०,१.१४.४.	बलवान् होने के कारण प्राणीवाचक तथा यान्त्रिक अश्व को वेद 'वाजी' नाम से अभिहित करता है।	बलार्थक वैदिक 'वज्' धातु।
३०८	वाण: वाग्वाचक निघ०,१.११.१४.	प्रमुखरूप से वेद में धमन क्रिया के द्वारा बजाया जाने वाला वाद्ययन्त्र 'वाण' नाम से अभिहित हुआ है।	'वण' शब्दे' धातु।
३०९	वाणी वाग्वाचक निघ०,१.११.१२.	यह सप्तछन्दरूपा वाक् है, जिसमें चारों वेद स्थित हैं, इस सात छन्दों वाली वाणी को ऋषि सनातन युवती के रूप में प्रतिपादित करता है, इसके सात द्वारों में सूक्ष्म पृष्ठ स्थित हैं, इससे सत्य ज्ञान का दोहन किया जाता है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट।
३१०	वाणीची वाग्वाचक निघ०,१.११.१३.	नासिका के माध्यम से प्रकट होने वाला सङ्गीतमय स्वर सम्भवत:, वेद की दृष्टि में 'वाणीची' है।	'वाण+'अञ्च्' धातु।
३११	वारि उदकवाचक निघ०,१.१२.९८.	वेद में 'वारि' पद का सर्वथा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है।	'वारि' पद 'वृ' धातुमूलक है।
३१२	वाशी वाग्वाचक	वेद में वह वाक् वाशी है, जो मरुतों (मनुष्यों) की शोभा है, इसी लोग ज्ञानी और मनस्वी हो जाते	उक्त अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में शब्दार्थक 'वाश्' धातु को

	निघ०,१.११.११.	हैं। इसके अतिरिक्त अग्नि के समीप उच्चरित होने वाली वाक् भी वेद की दृष्टि में 'वाशी' है। इसकी एक विशेषता इसका अमृत का मार्ग प्रशस्त करना बताया है।	'वाशी' पद का मूल माना जा सकता है।
३१३	वासरम् दिवसवाचक निघ०,१.९.४.	ऋग्वेद के दो मन्त्रों में 'वासर' पद आया है। एक स्थान पर 'वासर' का अथ 'निवास' तथा द्वितीय स्थान पर 'दिवस' है। पर उक्तपद का मूल अर्थ 'बसाने वाला' है।	'ण्यन्त 'वस्' धातु।
३१४	विपा वाग्वाचक निघ०,१.११.४१.	वेद में 'विपा' पद का प्रयोग 'मेधावी' के अर्थ में हुआ है। यदि विपा पद वाग्वाचक माना जाये तो यह मेधावी की प्रेरक वाक् के अर्थ में वेद में प्रयुक्त माना जा सकता है।	'विप्' प्रेरणे' धातु।
३१५	विभावरी उषावाचक निघ०,१.८.१.	वेद में उषा विभा से युक्त, मरणधर्मरहिता, चित्रामघा तथा अन्धकार को दूर करने वाली है। यह स्तुति करने वालों के स्वधा की रक्षा एवं उन्हें श्री से युक्त करती है। इसके अतिरिक्त यह अनिष्ट स्वप्नों का नाश करने वाली भी है।	'वि+'भा'+'वृ' धातु।
३१६	वियत् अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.२.	वेद में 'वियत्' पद के नामरूप का प्रयोग नहीं हुआ है। ब्राह्मण एवं अन्य लौकिक साहित्य में यह पद अन्तरिक्ष अर्थ में अवश्य आया है। निर्वचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिसमें जड़-चेतन जगत् अवकाश के कारण गतिशील रहता है, वह 'वियत्' है।	'वि' उपसर्गपूर्व वाली 'इ' धातु से। अन्तरिक्ष में पदार्थ गतिशील रहते हैं, अतः, अन्तरिक्ष को 'वियत्' कहा गया है।
३१७	विश्वरूपा बृहस्पतेः आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.९.	ऋभुगणों के सहयोग से नानारूपों को आविष्कृत करने वाला बृहस्पति का वाहन अथवा सूर्य की रश्मियाँ 'विश्वरूपा' वाहन हैं।	'विश्व+रूप'।
३१८	विषम् उदकवाचक निघ०,१.१२.१५.	विष्णु (सूर्य) के सम्पर्क में आने वाला उदक विष नाम से वेद में अभिहित हुआ है।	इस दृष्टि से व्याप्ति अर्थ वाली 'विष्' धातु 'विष' पद का मूल प्रतीत होती है।
३१९	विष्टप् साधारणवाचक निघ०,१.४.५.	वेद में अन्तरिक्ष में स्थित समुद्र से ऊपर द्युलोक का एक स्थान 'विष्टप्' है, जिसे सूर्य के गृह के नाम से अभिहित किया गया है। यह आदित्य भी है और आदित्य लोक भी तथा यह जल के ऊपर विद्यमान समान योनि है।	व्याप्त्यर्थक 'विष्' धातु।
३२०	वृत्रः मेघवाचक निघ०,१.१०.२८.	'वृत्र' के चरित्र की प्रमुख विशेषता उसका वृत्रतर (आवरकतर) होना है, यह कार्य वह कभी अन्धकाररूप होकर और कभी उदकों को निरुद्ध करके सम्पन्न करता है।	इस विशेषता को ध्यान में रखते हुए आवरण अर्थ वाली 'वृ' धातु 'वृत्र' का मूल मानी जा सकती है।

३२१	वृषन्धिः मेघवाचक निघ०,१.१०.२७.	वेद में इसका स्वरूप स्पष्ट नहीं है।	'वृषन्+'धा'।
३२२	व्योम अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.३.	वेद में अन्तरिक्ष का वह स्वरूप 'व्योमन्' है, जिसमें सब स्थित हैं और जो सब में स्थित है।	व्यापन अर्थ वाली 'वि+'अव्' धातु से 'व्योमन्' पद उपपन्न करना समीचीन है।
३२३	व्योम दिशावाचक निघ०,१.६.६.	वैदिक साहित्य में 'व्योम' पद का दिशा अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। लेकिन ब्राह्मण के एक उद्धरण से यह आभास मिलता है कि नीचे दिशायें 'व्योम' हैं।	'व्येञ्' संवरणे' धातु।
३२४	व्योम उदकवाचक निघ०,१.१२.५४.	वेद और वैदिक साहित्य में 'व्योमन्' पद उदक के अर्थ में नहीं आया है।	'वि+'अव्' धातु।
३२५	व्रजः मेघवाचक निघ०,१.१०.११.	वेद का ऋषि 'व्रज' के साथ 'गो' का प्रायः प्रयोग करता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि वह मेघ 'व्रज' है, जो गायों के गमन को निरुद्ध करता है।	गत्यर्थक 'व्रज्' धातु।
३२६	शची वाग्वाचक निघ०,१.११.४९.	विशिष्ट कला कौशल सम्पन्न वाक् 'शची' है। इसकी सामर्थ्य से मण्डित देव और मनुष्य सम्पूर्ण बाधाओं को पार कर सकने में समर्थ होते हैं। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इंजीनियरिंग और चिकित्सा विज्ञान का सम्मिलित रूप वेद में 'शची' नाम से अभिहित हुआ है।	आधिभौतिक बाधाओं को पार कर सकने की सामर्थ्य निहित होने के कारण 'शची' पद को 'शक्' धातुमूलक माना जा सकता है।
३२७	शब्दः वाग्वाचक निघ०,१.११.३२.	वैदिक साहित्य में 'शब्द' पद का उल्लेख देखने को नहीं मिलता है। लेकिन ब्राह्मणग्रन्थ में इसके दर्शन अवश्य होते हैं। इस काल में 'शब्द' पद शाप या आक्रोश अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था।	'शप्' धातु।
३२८	शम्बरः मेघवाचक निघ०,१.१०.१४.	वेद इन्द्र द्वारा पुरों को विदारित किया जाना शम्बर की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता मानता है।	'शम्' धातु।
३२९	शम्बरम् उदकवाचक निघ०,१.१२.८८.	वेद में भरण-पोषण के लिये वर्षा-भिन्न ऋतु में वर्षा के माध्यम से प्राप्त होने वाला उदक 'शम्बर' है।	इस दृष्टि से '**शॄ' क्षरणे**'+'**भृ' भरणे**' धातुओं के संयोग से 'शम्बर' पद व्युत्पन्न होता है।
३३०	शर्वरी रात्रिवाचक निघ०,१.७.३.	जिस समय आकाश में मेघ छाये होते हैं, उस समय की रात्रि वेद में 'शर्वरी' नाम से अभिहित होती हुई दिखायी देती है।	'शॄ' हिंसायाम्' धातु।
३३१	शवः उदकवाचक निघ०,१.१२.४१.	वेद और वैदिक साहित्य में 'शवः' पद उदक के अर्थ में नहीं आया है। इसका यहाँ प्रायः सर्वत्र 'बल' वाचक अर्थ में प्रयोग हुआ है।	'श्वि' या 'शू' धातु।

३३२	शिरिणा रात्रिवाचक निघ०,१.७.१७.	वेद में 'शिरिणा' पद अन्धकार अर्थ का वाचक प्रतीत होता है। परन्तु विशिष्ट स्वरूप अस्पष्ट है।	सम्भवतः, 'शॄ' हिंसायाम्' धातु।
३३३	शुक्रम् उदकवाचक निघ०,१.१२.९५.	वह उदक 'शुक्र' है, जो अग्नि या सूर्य की किरणों के सम्पर्क में आने से अग्नि गुणयुक्त हो गया है। सम्भवतः, वीर्य को शुक्र नाम से अभिहित करने के मूल में यही कारण है। उष्णस्वभाव होना शुक्र का शुक्रत्व है।	इस वैशिष्ट्य को ध्यान में रखते हुए निर्विवादरूप से 'शुच' दीप्तौ' धातु को 'शुक्र' का मूल माना जा सकता है।
३३४	शुभम् उदकवाचक निघ०,१.१२.४७.	जिस उदक को मरुत् प्रदान करते हैं और जो मरुत् तथा अग्नि के संयोग से जलकणों में परिवर्तित होता है, जिसे वेद ने 'पृषती' नाम से सम्बोधित किया है, वह उदक वेद की दृष्टि में 'शुभम्' है।	इस दृष्टि से विचार करने पर 'शुभ' दीप्तौ' धातु को 'शुभम्' का मूल माना जा सकता है।
३३५	शृङ्गाणि ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.११.	वेद में मुख्यरूप से पशुशृङ्ग को 'शृङ्ग' कहा गया है। उसकी समानता से किसी भी अन्य वस्तु के शिखर को 'शृङ्ग' कहे जाने की सम्भावना है।	सिर से उद्गत होने से 'शिरस्+'गम्'।
३३६	शोकी रात्रिवाचक निघ०,१.७.१९.	वेद में उक्तपद अप्रयुक्त है।	'शुच्' शोके या 'शुच्' सन्तापे धातु अस्पष्ट।
३३७	शोचिः ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.६.	वेद प्रचण्ड अग्नि को 'शोचिस्' नाम से अभिहित करता है। इस अग्नि में आलोक की अधिकता के साथ-साथ दहन करने की विशेष क्षमता होती है।	'शुच्' दीप्तौ' धातु।
३३८	श्यावाः सवितुः आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.८.	सवितादेव के उदित होते समय पृथ्वी श्याव (श्याम) वर्ण की होती है। इसका वाहन के रूप में उल्लेख किया गया है। इस समय का प्राकृतिक वातावरण श्वेत पाद एवं सुवर्णमय युगबन्धन वाले वाहन के रूप में प्रतीत होता है। यही वेद में सविता का 'श्याव' वाहन है।	'श्या' धातु।
३३९	श्यावी रात्रिवाचक निघ०,१.७.१.	वेद में 'श्यावी' रात्रि के विलोम के रूप में 'अरुषी' पद का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त 'श्याव' और 'श्याम' ये दोनों शब्द समान मूल के हैं। अतः, 'श्यावी' पद कृष्णवर्ण की रात्रि का वाचक है।	'श्यै' धातु।
३४०	श्येनासः अश्ववाचक निघ०,१.१४.२०.	वेद में श्येन पक्षी और श्येन के समान किसी वाहन का नाम 'श्येनासः' है।	'श्यै' या 'श्या' धातु।
३४१	श्लोकः वाग्वाचक निघ०,१.११.१.	वेद में वह वाक् 'श्लोक' है, जो मुख से मेघ की गर्जना के समान प्रकट होती है, यह श्लोकरूपा वाक् निर्बाध द्युलोक तक पहुँचती है, यह वह इन्द्र का स्तुतिरूप घोष है, जो द्युलोक में सुनायी पड़ता है।	'श्रु' श्रवणे' धातु।

३४२	श्वेत्या उषावाचक निघ०,१.८.१२.	एकमात्र मन्त्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि द्युतिमान् उषा 'श्वेत्या' है। निर्वचन को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि श्वेत होने के कारण उषा का नामकरण 'श्वेत्या' हुआ है।	'श्वित्' धातु।
३४३	सगर: अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१४.	वेद में वह अन्तरिक्ष 'सगर' है, जिसमें समस्त मूर्त और अमूर्त जगत् लय हो जाता है। इस प्रकार निगीरण की सामर्थ्य से युक्त अन्तरिक्ष सगर है।	'गॄ' निगरणे' धातु।
३४४	सतीनम् उदकवाचक निघ०,१.१२.५९.	वेद की दृष्टि में वह उदक 'सतीनम्' है, जो वर्षा से प्राप्त होता है तथा जिसमें विषधारी जीव जन्म ले चुके हैं। निष्कर्ष रूप में कह सकते है कि गड़ढे, तालाब आदि का जल 'सतीनम्' है।	इस दृष्टि से विचार करने पर 'सत्+ईन' वाले निर्वचन को कुछ स्वीकार्य माना जा सकता है।
३४५	सत् उदकवाचक निघ०,१.१२.७४.	वेद के ऋषि की दृष्टि में सूक्ष्मरूप या तन्मात्ररूप में विद्यमान रहने वाला उदक 'सत्' है। सम्भवत:, रूपान्तरण के स्वभाव से परे जो उदक है, वह 'सत्' है।	इस दृष्टि से विचार करने पर निर्विवाद रूप से 'अस्' भुवि' धातु को 'सत्' पद का मूल माना जा सकता है।
३४६	सत्यम् उदकवाचक निघ०,१.१२.७१.	वह उदक वेद की दृष्टि में 'सत्य' है, जिससे जगत् की रक्षा होती है। जगत् की सत्ता निर्भर होने के कारण उदक को 'सत्य' नाम से अभिहित किया गया है।	इस दृष्टि से विचार करने पर सत्तार्थक 'अस्' धातु को 'सत्य' पद का मूल माना जा सकता है।
३४७	सदनम् उदकवाचक निघ०,१.१२.६७.	वेद में 'सदन' पद उदक अर्थ का वाचक न होकर उदक के आश्रयभूत अन्तरिक्ष के अर्थ में आया है।	इस दृष्टि से 'सद्' धातु को 'सदन' पद का मूल स्वीकार किया जा सकता है।
३४८	सद्म उदकवाचक निघ०,१.१२.६६.	वेद की दृष्टि में अन्तरिक्षलोक रूपी गृह में विराजमान रहने वाला उदक 'सद्म' है। इसका अधिष्ठाता इन्द्र या बृहस्पतिरूप सूर्य है।	इस दृष्टि से 'सद्' धातु को 'सद्म' पद का मूल माना जा सकता है।
३४९	सप्तऋषय: रश्मिवाचक निघ०,१.५.१३.	वेद के अनुसार 'सप्तऋषय:' बृहस्पति की भीमा जाया को परम व्योम में कठिनाई से धारण करते हैं। ये रश्मियाँ आदित्यमण्डल में जाकर एक हो जाती हैं और ऋषि इनके अधिपति के रूप में विश्वकर्मा का उल्लेख करता है। वेद प्रतिपादित अर्थ की प्रतीति शब्द से नहीं होती है।	शब्द का अर्थ है:-सर्पण करने वाली रश्मियाँ। इसके अनुसार 'सप्तन्+'ऋष्' गतौ' धातु।
३५०	सप्ति: अश्ववाचक निघ०,१.१४.५.	जो सर्प की सर्पणशीलता के समान सरपट दौड़ता है, वह अश्व वेद के ऋषि की दृष्टि में 'सप्ति:' है।	'सृप्' धातु।
३५१	समुद्र: अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.१५.	वेद में 'समुद्र' पद पृथिवी और अन्तरिक्ष दोनों स्थानों के जलभण्डारों के लिये हुआ प्रतीत होता है। समुद्र में स्थित 'उत्' से यह सूचित होता है कि मूलत:, यह पद अन्तरिक्षवाचक रहा होगा। क्योंकि पृथिवीस्थ समुद्र की तुलना में अन्तरिक्ष उच्च है।	'सम+उत्+'द्रु'-इस व्युत्पत्ति से यह सङ्केत प्राप्त होता है कि जिस उच्च स्थान पर भाप बनकर उदक दौड़ते हैं, वह अन्तरिक्ष 'समुद्र' है।

३५२	सरः वाग्वाचक निघ०,१.११.५५.	वह वाक् 'सरस्' कहलाने योग्य है, जिसमें वक्ता आनन्द का अनुभव करता है। वेद के ऋषि की दृष्टि में रसपूर्ण, भावमय, एकतानता का निर्माण करने में समर्थ वाक् 'सरस्' है।	इस दृष्टि से 'सृ' धातुमूलक निर्वचन को विना किसी सङ्कोच के 'सरस्' शब्द का मूल स्वीकार किया जा सकता है।
३५३	सरः उदकवाचक निघ०,१.१२.३८.	वेद में 'सरः' पद उदकवाचक न होकर, उदक पात्र के अर्थ में व्यवहृत है। ऋषि ने अनेकशः ऐसे तीन सरों का उल्लेख किया है, जिनका पान इन्द्र (सूर्य) करता है। इससे यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि मेघ, भूमि और अन्तरिक्ष ये तीन 'सरः' हैं।	ये सरणीय (गन्तव्य) स्थान होने से वेद में 'सरः' नाम से कहे गये हैं। अतः, 'सरः' पद का मूल 'सृ' धातु है।
३५४	सरस्वती वाग्वाचक निघ०,१.११.२२.	वेद में वह वाक् सरस्वती है, जो अन्न और बल को देने के साथ पवित्र व्यवहारों का उपदेश एवं कर्म के माध्यम से वसु (लौकिक सम्पदा) प्राप्त कराती है, यह सूनृता वाणी की प्रेरयित्री और सुमति को जगाने वाली है।	'सृ'=सरस्, सरस्+मतुप्= सरस्वती।
३५५	सरस्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.३०.	उदक की अधिकता और स्वादयुक्त होने के कारण नदी को 'सरस्वती' कहा गया है। सरसता के कारण इसका उक्त नामकरण हुआ प्रतीत होता है।	'रस' आस्वादने' धातु। आद्यन्तविपर्यय से 'सर्' और उससे 'सरस्वती'।
३५६	सरितः नदीवाचक निघ०,१.१३.१३.	सहज और निर्मलरूप से प्रवाहित होने वाली नदियाँ 'सरितः' हैं।	'स्रु' धातु।
३५७	सर्गाः उदकवाचक निघ०,१.१२.८७.	वेद में 'सर्ग' शब्द मेघ से प्राप्त होने वाले उदक के अर्थ में हुआ है। यह 'सर्ग' नामक उदक सृष्टि का निर्माण करने वाला है, इससे पृथ्वी का रूप अत्यन्त रमणीय हो जाता है।	इस आधार पर हम 'सर्ग' शब्द को निर्माण अर्थ वाली 'सृज्' धातुमूलक मान सकते हैं।
३५८	सर्णीकम् उदकवाचक निघ०,१.१२.५७.	वेदों में उक्त पद का सर्वथा प्रयोग नहीं हुआ है। तैत्तिरीय-संहिता में अवश्य उक्त पद का एक बार प्रयोग हुआ है।	रूपात्मक आधार पर 'सर्णीक' पद का मूल 'सृ' गतौ' धातु है।
३५९	सर्पिः उदकवाचक निघ०,१.१२.८०.	वेद में 'घृत' को 'सर्पिस्' नाम से अभिहित किया गया है। उष्णता के प्रभाव से स्वतः पिघलने के कारण घृत को 'सर्पिस्' कहा जाता है।	इस दृष्टि से गत्यर्थक 'सृप्' धातु को 'सर्पिस्' पद का मूल माना जा सकता है।
३६०	सर्वम् उदकवाचक निघ०,१.१२.७६.	वेद में 'सर्व' शब्द उदक अर्थ में नहीं आया है। ब्राह्मण से इस अर्थ की कुछ पुष्टि होती हुई अवश्य दिखायी देती है।	सभी दृश्य पदार्थ आए और गए का आभास कराते हैं, अतः, 'सर्व' पद का मूल 'सृ' धातु है।
३६१	सलिलम् उदकवाचक निघ०,१.१२.७.	वह उदक 'सलिल' है, जो गरणशीला माध्यमिका वाक् के द्वारा सम्पादित किया जाता है। प्रलयकाल में ब्रह्माण्ड में सूक्ष्म या अव्यक्तरूप में विद्यमान	'सत्+लीन'।

		जलीय तत्त्व वेद और इतर वैदिक साहित्य की दृष्टि में 'सलिल' है।	
३६२	सस्रुतः नदीवाचक निघ०,१.१३.१९.	जिसमें अन्य नदियों के स्रोत आकर मिलते हैं, वे नदियाँ 'सस्रुतः' हैं।	'सह+'स्रु'।
३६३	सहः उदकवाचक निघ०,१.१२.४०.	वैदिक साहित्य में 'सहः' पद का व्यापक प्रयोग हुआ है। लेकिन सर्वत्र यह शक्तिशाली के अर्थ में आया है।	'सह्' धातु।
३६४	साध्याः रश्मिवाचक निघ०,१.५.१४.	साध्यों को वेद सृष्टि उत्पत्तिकालीन देवों के रूप में चित्रित करता है। ये साध्यदेव यज्ञपुरुष से उत्पन्न होते हैं और यज्ञीय हवि का भक्षण करते हैं। ब्राह्मण इसका सम्बन्ध सूर्य से मानते हैं। यास्क ने इन्हें द्युस्थानी माना है, पर रश्मिवाचक मानना सन्दिग्ध प्रतीत होता है।	कार्य को सिद्ध करने के कारण ये 'साध्य' कहलाते हैं। अतः, 'साध्' धातु से व्युत्पन्न करना समीचीन है।
३६५	सिन्धवः नदीवाचक निघ०,१.१३.२१.	तीव्रगति से पूरे वर्ष प्रवहमान नदियाँ वेद में 'सिन्धवः' हैं।	'स्यन्द्' धातु।
३६६	सिरा उदकवाचक निघ०,१.१२.२५.	वे उदक 'सिरा' हैं, जो वराहु नामक वृत्र से बहने के लिये प्रस्तुत हैं।	'सृ' या 'सि' धातु।
३६७	सीराः नदीवाचक निघ०,१.१३.४.	जिसका प्रवाह अन्न को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता है, वह नदी वेद में 'सीराः' है।	'सृ' अथवा 'स्रु' धातु अथवा 'स+इरा'।
३६८	सुक्षेम उदकवाचक निघ०,१.१२.२३.	ऋग्वेद में 'सुक्षेम' पद का प्रयोग सर्वथा उपलब्ध नहीं होता है। लेकिन 'क्षेम' पद अवश्य देखने को मिलता है, परन्तु वह सर्वत्र प्रायः 'रक्षण' अर्थ में आया है।	'सु+क्षि' धातु।
३६९	सुखम् उदकवाचक निघ०,१.१२.४४.	वेद और वैदिक साहित्य में उदक के अर्थ में 'सुख' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।	व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।
३७०	सुपर्णाः रश्मिवाचक निघ०,१.५.१५.	वेद में 'सुपर्ण' नामक आदित्यरश्मि प्राणप्रद, ऊपर से नीचे की ओर जाने वाली तथा चन्द्रमा के भीतर दौड़ने वाली है। उत्पतन अधःपतन इनकी प्रमुख विशेषता है	पालन करने के स्वभाव वाली होने से इनको 'पृ' पालनपूरणयोः' से धातु व्युत्पन्न करना समीचीन है।
३७१	सुपर्णाः अश्ववाचक निघ०,१.१४.२१.	वेद सुदूर पृथ्वी पर प्रकाश पहुँचाने वाले सूर्य का सुपर्ण नामक अश्व के रूप में उल्लेख करता है।	'सु+'पृ' या 'पत्'।
३७२	सुपर्णी वाग्वाचक निघ०,१.११.५६.	ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर उक्त वाक् का सम्बन्ध छन्दों से है। छन्दोमयी वाणी स्मरण करने में सरल तथा काव्यरूप होने से हृदयङ्गम करने में सुगम	आर्थिक दृष्टि से 'सु+'पत्' धातु। रूपात्मकता की दृष्टि से उक्त निर्वचन समीचीन नहीं

		होती है। यही सुपतनशीलता वाक् के उक्त नामकरण का मूल है।	माना जा सकता।
३७३	सुम्नावरी उषावाचक निघ०,१.८.९.	वेद में वह प्रभातकालीन वेला 'सुम्नावरी' है, जिसमें साधक को ध्यान की स्थिति में सूनृता वाणी का साक्षात्कार होता है।	'सुम्न+'वृ' धातु।
३७४	सूनरी उषावाचक निघ०,१.८.२.	वेद में 'सूनरी' उषा को योषा के समान जगत् का सम्यक् सम्पादन और व्यवस्थापन करने वाला बताया गया है।	सु+'नृ' नये' धातु। सुन्दर प्रकार से नेतृत्व करने के कारण वह 'सूनरी' है।
३७५	सूनृता उषावाचक निघ०,१.८.१४.	वेद में 'सूनृता' पद का प्रयोग उषा के साथ अवश्य हुआ है, पर वह उषावाचक नहीं है। उषा के आगमन के साथ यह सम्पूर्ण जगत् जाग जाता है और उसके जागृत होने से उन्नति के पथ उद्घाटित होते हैं, ये उन्नति के स्वर ही वेद में सम्भवतः, 'सूनृता' नाम से अभिहित हुए हैं।	'सु+ऋत'।
३७६	सूनृतावती उषावाचक निघ०,१.८.१५.	'सूनृतावती' पद का अर्थ है:-'प्रिय और सत्य वाणी'। यह पद उषा के अतिरिक्त अश्विनीदेवों के लिये भी प्रयुक्त है।	'सूनृत+मतुप्'।
३७७	सूनृतावरी उषावाचक निघ०,१.८.१६.	सूनृत (प्रिय और सत्य) वाणी से युक्त होने के कारण वेद में उषा देवता 'सूनृतावरि' नाम से अभिहित हुई है।	'सूनृत+'वृ' धातु।
३७८	सूर्य्या वाग्वाचक निघ०,१.११.२१.	ऋग्वेद में 'सूर्य' या 'सूर्या' पद वाक् अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है।	'सृ' धातु।
३७९	स्रवन्त्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.२७.	जिनके प्रवाह को वर्षा ऋतु में पार कर सकना सम्भव नहीं है और जो निरन्तर प्रवाहित रहती हैं, वेद में वे नदियाँ 'स्रवन्त्यः' हैं। इनकी सङ्ख्या वेद ने ९९ बतायी है।	'स्रु' धातु।
३८०	स्रोतः उदकवाचक निघ०,१.१२.३३.	वह उदक 'स्रोतः' है, जो मेघों से प्रवाहरूप में बाहर आता है। इस प्रकार वेद में 'स्रोतः' पद का अर्थ 'प्रवाह' है।	'स्रु' गतौ' धातु को 'स्रोतः' पद का मूल माना जा सकता है।
३८१	स्रोत्याः नदीवाचक निघ०,१.१३.५.	जल से परिपूर्ण होकर प्रवाहित रहने के कारण नदियों को 'स्रोत्याः' कहा जाता है।	'स्रु' स्रवणे धातु।
३८२	स्वः साधारणवाचक निघ०,१.४.१.	वेद में 'स्वः' पद का स्वरूप बहुत स्पष्ट नहीं है। यह प्रकाश का लोक है और द्युलोक के ऊपर के भाग के लिये इसका व्यवहार हुआ है। इसमें प्रकाश की ज्योति के दर्शन होते हैं।	सम्भवतः, 'सु+'ऋ' धातु।

३८३	स्वः उदकवाचक निघ०,१.१२.८६.	वेद की दृष्टि में वह उदक 'स्वः' है, जो अन्न, बलादि देने के कारण सुख का कारण है।	इस दृष्टि से 'सु+'ऋ' धातु को 'स्वः' पद का मूल माना जा सकता है।
३८४	स्वधा उदकवाचक निघ०,१.१२.९७.	वेद में जिससे आनन्द की प्राप्ति और अन्न उत्पन्न होता है, वह उदक 'स्वधा' है। इस विशेषता को ध्यान में रखकर कह सकते हैं कि 'स्वयं दधातीति स्वधा' जो स्वयं धारण कर लेता है जो अथवा स्वयं धारण हो जाता है, वह उदक वैदिक ऋषि की दृष्टि में 'स्वधा' है।	इस तथ्य के आधार पर 'स्व+'धा' धातु को 'स्वधा' पद का मूल माना जा सकता है।
३८५	स्वनः वाग्वाचक निघ०,१.११.३३.	तीव्र गर्जना या ध्वनि वेद की दृष्टि में 'स्वन' है।	उक्त अर्थ की प्रतीति 'स्वन्' धातु से पूर्णतया नहीं हो पाती है।
३८६	स्वयम्भूः अन्तरिक्षवाचक निघ०,१.३.११.	वेद में 'स्वयम्भूः' पद का प्रायः परमात्मा के सन्दर्भ में उल्लेख हुआ है। केवल एक स्थान पर यह 'मन्यु' के लिये आया है। अन्तरिक्ष में उक्तपद का सर्वथा प्रयोग नहीं हुआ।	'स्वयम्+'भू'।
३८७	स्वरः वाग्वाचक निघ०,१.११.३१.	वह वाक् 'स्वर' है, जो स्तुति या यज्ञ के रूप में देवता के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, यह एक प्रकार का साहित्य है।	रूप की दृष्टि से 'स्वृ' धातु, परन्तु अर्थ की दृष्टि से यह उपयुक्त नहीं है।
३८८	स्वसराणि दिवसवाचक निघ०,१.९.५.	वेद की दृष्टि में वे दिवस 'स्वसर' हैं, जिनके आने मात्र से प्राणी अपने आप कर्म में स्वयं संलग्न हो जाता है।	'स्व+'सृ' धातु।
३८९	स्वादोअर्णाः नदीवाचक निघ०,१.१३.१०.	वेद में अप्रयुक्त होने के कारण अर्थ अस्पष्ट है।	निर्वचन अस्पष्ट।
३९०	स्वाहा वाग्वाचक निघ०,१.११.२४.	वह वाक् 'स्वाहा' है, जो परमैश्वर्य की प्राप्ति और देवता के आह्वान के लिये प्रयुक्त होती है। इस प्रकार स्वाहा वह वाक् है, जिससे देवता प्रसन्न होते हैं।	इस दृष्टि से यास्क तथा अन्य आचार्यों के द्वारा किया गया 'सु+आह' निर्वचन सर्वाधिक सम्भव निर्वचन प्रतीत होता है।
३९१	स्वृतीकम् उदकवाचक निघ०,१.१२.५८.	वैदिक साहित्य में सर्णीकम्' के समान स्वृतीकम्' के उदाहरण प्राप्त नहीं होते हैं।	'स्वृ' धातु।
३९२	हंसासः अश्ववाचक निघ०,१.१४.२५.	वेद वाहनरूप में प्रयुक्त होने वाले हंस नामक पक्षी को 'हंसासः' कहता है। सम्भवतः, मधुरवाणी के कारण यह हंस नाम से अभिहित हुआ है।	'हन्' धातु को मूल मानना उचित नहीं। अभी और शोध की अपेक्षा है।
३९३	हयः अश्ववाचक निघ०,१.१४.२.	जिसे प्रशिक्षित किया जाता है, ऐसा मेधासम्पन्न अश्व, 'हयः' है।	रूप की दृष्टि से 'हि' या 'हय्' धातु।

३९४	हरः ज्वलद्वाचक निघ०,१.१७.९.	प्रमुखरूप से दहन करने वाले अग्नि को 'हरः' नाम से अभिहित किया गया है। वैदिक चिकित्सा विज्ञान में रोगाणुओं को समाप्त करने की विधि 'हरः' है।	हरणशीलता रूप धर्म के कारण अग्नि को 'हरः' कहा जाता है।
३९५	हरस्वत्यः नदीवाचक निघ०,१.१३.३२.	नदी अर्थ में वेद में अप्रयुक्त है। वेद में यह पद उग्रता अर्थ का वाचक है।	'हृ' धातु।
३९६	हरितः दिशावाचक निघ०,१.६.८.	वेद आनन्द देने और रमणीय लगने वाली दिशाओं को 'हरितः' नाम से सम्बोधित करता है। इस प्रकार जिसमें मन रम जाता है, वे दिशायें 'हरितः' हैं।	रसहरण कर्म करने के कारण सूर्यरश्मियों को 'हरितः' कहा जाता है। अतः, 'हृ' धातु से व्युत्पन्न करना उचित है।
३९७	हरितः नदीवाचक निघ०,१.१३.१२.	पालन करने के कारण इन्द्र का नाम हरि है। सम्भवतः, उक्त कर्म में सहायक होने के कारण नदियों को 'हरितः' कहा गया है।	'हृञ्' हरणे'।
३९८	हरित आदित्यस्य आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.३.	प्रातःकाल की स्वर्णिम आदित्य रश्मियाँ वेद में 'हरितः' नाम से अभिहित हुई हैं। रसहरण करने के कारण रश्मियों को 'हरितः' कहा गया है।	'हृ' धातु।
३९९	हरी इन्द्रस्य आदिष्टोपयोजन निघ०,१.१५.१.	वेद में कहीं रश्मि और कहीं विशेष वाहन को रश्मि नाम से अभिहित किया गया है। हरी द्विवचनान्त प्रयोग किन्हीं दो रश्मियों के 'हरी' होने का सङ्केत देता है।	'हृ' धातु।
४००	हविः उदकवाचक निघ०,१.१२.६५.	वेद में वह उदक 'हविः' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसका सूर्य के द्वारा ग्रहण और दान निरन्तर होता रहता है, या यह कह सकते हैं कि जिसमें दान और आदान दोनों कर्म एक साथ चल रहे हैं।	'हु' धातु।
४०१	हिमा रात्रिवाचक निघ०,१.७.२२.	वेद में 'हिमा' का अर्थ रात्रि सन्दिग्ध है।	सम्भवतः, 'हन्' धातु।
४०२	हिरण्यम् हिरण्यवाचक निघ०,१.२.५.	वेद में रुचिकर लगने के कारण धातुविशेष को 'हिरण्य' नाम से कहा गया है। इस धातु का कलश के साथ विशेष सम्बन्ध है।	आकर्षक होने के कारण 'हिरण्य' पद के 'हृ' या 'हर्य्' धातु से व्युत्पन्न होने की संभावना है।
४०३	हिरण्यवर्णाः नदीवाचक निघ०,१.१३.१७.	जो हिरण्य के समान निर्मल वर्ण वाली एवं 'अपां नपात्' देव की कृपा से प्रवाहित होती हैं, वे नदियाँ 'हिरण्यवर्णाः' हैं।	'हिरण्य+वर्ण'।
४०४	हेम हिरण्यवाचक निघ०,१.२.१.	वेद हिरण्य के रूप को अग्नि के समान उज्ज्वल तथा पवित्र करने वाला बतलाता है। इस प्रकार जिसके सम्पर्क में आने से प्राणी पवित्र अर्थात् रोगमुक्त हो जाता है, वह 'हेम' है।	ध्वनिरूप की दृष्टि से 'हि' धातु को 'हेमन्' पद का मूल माना जा सकता है।

४०५	हेम उदकवाचक निघ०,१.१२.८५.	वेद में हेम शब्द उदक अर्थ का वाचक नहीं है। यहाँ यह स्पष्टरूप से सुवर्ण अर्थ की प्रतीति करा रहा है।	ध्वनिरूप की दृष्टि से 'हि' धातु।
४०६	होत्रा वाग्वाचक निघ०,१.११.३५.	वह वाक् का क्षेत्र 'होत्रा' है, जिसका प्रयोग व्यवहार में होता है। इसके साथ-साथ यह देवताओं के आह्वान और होम में भी प्रयुक्त होती है।	वाग्व्यवहार और यज्ञमूलक होने के कारण वाग्वाचक 'होत्रा' पद के 'हु' धातुमूलक होने की सम्भावना अधिक है।
४०७	ह्वार्याणाम् अश्ववाचक निघ०,१.१४.२४.	कुटिलता अर्थात् वश में किया जाना कष्टसाध्य होने के कारण अश्व या सर्प को वेद 'ह्वार्यः' नाम से अभिहित करता है।	'ह्वृ' कौटिल्ये' धातु।

पुस्तक-सूची

संहिता एवं उनके भाष्य

१.	ऋग्वेद	आर्ष साहित्य मण्डल लि०, अजमेर, सन् १९५२.
२.	यजुर्वेद	वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, वि०सं०२०२७.
३.	ऋग्वेदभाष्य	स्वामी दयानन्द सरस्वती, सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा रामलीला मैदान, नई दिल्ली-१, सन्१९७६.
४.	यजुर्वेदभाष्य	स्वामी दयानन्द सरस्वती, सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा रामलीला मैदान, नई दिल्ली-१, सन् १९७६.
५.	सामवेदभाष्य	सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा रामलीला मैदान, नई दिल्ली-१, वि०सं० २०३०.
६.	अथर्ववेदभाष्य	क्षेमकरण त्रिवेदी, सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा रामलीला मैदान, नई दिल्ली-१, वि०सं० २०३०.
७.	ऋग्वेद सायणभाष्य	वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, सन् १९७६.
८.	ऋग्वेदभाष्य	वेङ्कटमाधव, विश्वेश्वरानन्द-भारत-भारती-ग्रन्थमाला-२५, विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान, होशियारपुर सन् १९६५.

ब्राह्मणग्रन्थ

९.	ऐतरेय-ब्राह्मण	सायणभाष्य, सम्पादित काशीनाथ शास्त्री, आनन्दाश्रम पूना, १८९६ ई०.
१०	ऐतरेय आरण्यक	सायणभाष्यसहित, सम्पादित बाबा शास्त्री फड़के, आनन्दाश्रम पूना, १८९८ ई०.
११.	कपिष्ठलकठसंहिता	सम्पादित रघुवीर, मेहरचन्दलक्ष्मणचन्दसंस्कृतग्रन्थमाला, लाहौर, १९३२ ई०.
१२.	काठकसंहिता	सम्पादित रघुवीर, मेहरचन्दलक्ष्मणचन्दसंस्कृतग्रन्थमाला, लाहौर, १९०९.१० ई०.
१३.	काठक-सङ्कलन	सम्पादित सूर्यकान्त, मेहरचन्दलक्ष्मणचन्दसंस्कृतग्रन्थमाला, लाहौर, १९४३ ई०.
१४.	कौषीतकिब्राह्मण	सम्पादित बी-लिंडनर, जेना १८८७ ई०.
१५.	गोपथब्राह्मण	सम्पादित राजेन्द्रलाल मित्र, कलिकाता १८७२ ई०.
१६.	जैमिनीय-ब्राह्मण	सम्पादित रघुवीर-लोकेशचन्द्र, सरस्वती विहार, नागपुर १९५४ ई०.
१७.	जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण	देवनागरी-प्रतिलिपि, रामदेव दयानन्द महाविद्यालय ग्रन्थमाला, लाहौर, १९२१ ई०.
१८.	ताण्ड्यमहाब्राह्मण	सायणभाष्य, सम्पादित आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश, कलिकाता, १८७० ई०.
१९.	तैत्तिरीयब्राह्मण	सायणभाष्य, सम्पादित नारायण शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना, १९३४ ई०.
२०.	तैत्तिरीयारण्यक	सायणभाष्य, सम्पादित बाबा शास्त्री फड़के, आनन्दाश्रम, पूना, १८९७ ई०.
२१.	तैत्तिरीयोपनिषद्	शाङ्करभाष्य, सम्पादित हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम, पूना, १८९७ ई०.
२२.	तैत्तिरीय-संहिता	सायणभाष्य, सम्पादित काशीनाथ शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना, १९००ई०.
२३.	दैवतब्राह्मण	सायणभाष्य, सम्पादित जीवानन्द विद्यासागर, कलिकाता, १८९१ ई०.
२४.	मैत्रायणी-संहिता	सम्पादित सातवलेकर, भारत मुद्रणालय, औंध सं०१९९८.

२५. शतपथ-ब्राह्मण — सायणभाष्य, सत्यव्रत सामश्रमी, कलिकाता, १९०३.११ ई०.

२६. शाङ्खायन ब्राह्मण — सम्पादित गुलाबराय, व्रजेश शङ्कर, आनन्दाश्रम, पूना, १९२२ ई०.

२७. षड्विंश ब्राह्मण — सायणभाष्य, सम्पादित जीवानन्द विद्यासागर, कलिकाता १८८१ ई०.

निघण्टु तथा निरुक्त

२८. निघण्टु — वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, वि०सं० २०१८.

२९. निरुक्तम् (निघण्टुः) — सम्पादित श्री जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, सरस्वतीयन्त्र, कलिकाता, सन् १८९१.

३०. निघण्टु — देवराजयज्वन्कृत निघण्टुवृत्ति, गुरुमण्डलग्रन्थमालायाः दशमम्पुष्पम्, ५ क्लाइव रो, कलकत्ता १९५२ ई०.

३१. निरुक्तम् — दुर्गाचार्यवृत्ति, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, सन् १९२६.

३२. निरुक्तवृत्ति — स्कन्दमहेश्वर, सम्पादित डॉ. लक्ष्मणसरूप, पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर, सन् १९३४.

३३. निघण्टुनिर्वचनम् — देवराजयज्वन्, सरस्वतीयन्त्र, कलकत्ता, सन् १८६१.

३४. निरुक्तसमुच्चयः — वररुचि, भारतीय प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान, अलवरगेट, अजमेर, सं०२०२२.

३५. दि एटीमोलोजीज ऑफ यास्क — डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा, विश्वेश्वरानन्द भारतभारती ग्रन्थमाला ५, होशियारपुर, पंजाब, सन् १९५३.

३६. निघण्टु और निरुक्त — डॉ. लक्ष्मणसरूप, अनु० सत्यभूषण योगी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् १९६७.

३७. यास्काज निरुक्त — वी०के० राजवाडे, भण्डारकर ओरियेण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना सन् १९४०.

३८. निरुक्तसम्मर्शः — ब्रह्ममुनि परिव्राजक, आर्यसाहित्य मण्डल लि० अजमेर, सन् १९६६.

३९. निरुक्तभाष्य — श्री चन्द्रमणि विद्यालङ्कार, आर्ष कन्या गुरुकुल नरेला, वि०सं० २०३३.

४०. निरुक्तम् — छज्जूराम शास्त्री तथा भगीरथ प्रसाद त्रिपाठी, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दरियागंज, दिल्ली सन् १९६३.

४१. यास्काज निरुक्त — विश्नुपाद भट्टाचार्य, के०एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता, सन् १९५८.

४२. निरुक्तशास्त्रम् — पं० भगवद्दत्त, श्री रामलाल कपूर निक्षेपनिधि (ट्रस्ट. अमृतसर, वि०सं० २०२९)

४३. निरुक्तविवृति — स्वामी श्री ब्रह्मलीनमुनि, अरुण प्रिंटिंग प्रेस, बेगमपुरा, गुजरात सन् १९७१.

४४. निरुक्तम् — आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञान साहित्य मण्डल लि० वाराणसी, सन् १९६६.

४५. निरुक्त के पाँच अध्याय — लक्ष्मी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली, सन् १९७२.

४६. निरुक्त मीमांसा — इण्डोलोजिकल बुक हाउस, वाराणसी, दिल्ली, वि०सं० २०२६.

अन्य वैदिक साहित्य

४७. ऋग्वेद प्रातिशाख्य — शौनक, अनु० डॉ. वीरेन्द्रकुमार वर्मा, काशी हिन्दू विद्यविद्यालय शोध प्रकाशन, सन् १९७०.

४८. बृहद्देवता — शौनक, अनु० रामकुमार राय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी १, सन् १९७०.

४९. वैदिक माइथौलोजी — ए०ए० मैक्डोनल, अनु० रामकुमार राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १, सन् १९६१.

५०. वैदिक इण्डेक्स — मैक्डोनल और कीथ, अनु० रामकुमार राय चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १, सन् १९६२.

५१. स्टडी इन वैदिक इण्टरप्रिटेशन — ए०बी० पुरानी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी १. सन् १९६३.

५२. वैदिक वाङ्मय में भाषा चिन्तन — पं० शिवनारायाण शास्त्री, इण्डोलोजिकल बुक हाउस, वाराणसी-दिल्ली, सन् १९७२.

५३. महर्षि दयानन्द के भाष्य की विशेषताएँ — पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, दयानन्द संस्थान नई दिल्ली, वि०सं० २०३२.

५४. वैदिक साहित्य और संस्कृति — पं० बल्देव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, काशी, सन् १९६७.

५५. वैदिक वाङ्मय का इतिहास — पं० भगवद्दत्त, प्रणव प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् १९७६.

व्याकरणग्रन्थ

५६. अष्टाध्यायी — पाणिनि, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, गुरु बाजार, अमृतसर, सन् १९६१.

५७. उणादिकोष — पाणिनि, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, वि०सं० २०२१.

५८. पाणिनीय शिक्षा — पाणिनि, सम्पादित मनमोहनघोष, कलकत्ता, सन् १९२८.

५९. वर्णोच्चारणशिक्षा — पाणिनि, सम्पादित स्वामी दयानन्द, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, वि०सं० २०२७.

६०. धातुपाठ — पाणिनि, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, सन् १९५७.

६१. वाक्यपदीय — भर्तृहरि, सम्पादित बल्देव उपाध्याय, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी १, सन् १९७४.

६२. काशिका — जयादित्य वामन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९५२.

६३. माधवीया धातुवृत्तिः — चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, सन्१९३४.

६४. व्याकरणदर्शन भूमिका — रामज्ञा पाण्डेय, राजकीय संस्कृत पुस्तकालय, सरस्वती भवन, काशी, वि०सं० २०१०.

कोशग्रन्थ

६५. ऋग्वेद-वैयाकरण-पदसूची — शान्तकुटी-वैदिक-ग्रन्थमाला, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, होशियारपुर, सन् १९६३.

६६. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी — ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, सन् १८९९.

६७. शब्दकल्पद्रुम — श्री वरदप्रसादवसु तथा हरिचरणवसु, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली सन् १९६१.

६८. वाचस्पत्यम् — तारकानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी १, सन् १९६२.

६९. हलायुधकोश — हलायुध भट्ट, सरस्वती भवन प्रकाशन माला-१२, प्रकाशन ब्यूरो सूचना विभाग उत्तरप्रदेश, शकाब्द १८७९.

७०. वैदिककोश — डॉ. सूर्यकान्त, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, सन् १९६३.

७१. संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ — द्वारिकाप्रसाद तथा तारणीश झा, रामनारायणलाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, सन् १९७३.

७२. मेदिनीकोश: — चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सन् १९६८.

७३. अव्ययकोश: — वत्साङ्काचार्य, दि संस्कृत एजूकेशन सोसाइटी, मद्रास, सन् १९७१.

७४. अव्ययार्थ — आर्य साहित्य मण्डल लि०, अजमेर, वि०सं० २०१४.

७५. वैदिककोष: — राजवीरशास्त्री, आर्ष साहित्य ट्रस्ट, कमलानगर, दिल्ली-७, सन् १९७५.

७६. वैदिकनिर्वचनकोष: — डॉ. ज्ञान प्रकाश शास्त्री, परिमल प्रकाश शक्तिनगर, दिल्ली, सन् २०००.